

GOVT. COLLEGE, LIBRARY
KOTA (Raj.)

भारत की सम्पदा

प्राकृतिक पदार्थ
तृतीय खण्ड : ख - न



पब्लिकेशंस एण्ड इन्फार्मेशन डाइरेक्टरेट, हिल्साइड रोड

नई दिल्ली-12

1972

© 1972

पब्लिकेशंस एण्ड इन्फार्मेशन डाइरेक्टोरेट
हिलसाइड रोड, नई दिल्ली-12

वैज्ञानिक एवं भौद्योगिक समुसंधान परिषद्, नई दिल्ली द्वारा
प्रकाशित एवं श्री मरस्वती प्रेस निमिटेड, कलकत्ता-६, द्वारा मुद्रित

प्राक्कथन

‘भारत की सम्पदा, प्राकृतिक पदार्थ’ के प्रथम और द्वितीय खण्ड क्रमशः अगस्त 1971 तथा अक्टूबर 1972 में आपको भेंट किये जा चुके हैं और अब इसका तृतीय खण्ड आपके समक्ष प्रस्तुत है। प्रथम खण्ड अ से लेकर औ तक और द्वितीय खण्ड में क से प्रारम्भ होने वाले समस्त शीर्षकों की सामग्री भेंट की गयी थी। इस खण्ड में इससे आगे ख से न तक के समस्त शीर्षकों की सामग्री संकलित है। इस खण्ड में कुल 450 पृष्ठ हैं। इसमें 11 फलक हैं जिनमें कुछ रंगीन हैं, तथा अन्य 155 चित्र सादे हैं।

हम वैज्ञानिक एवं औद्योगिक अनुसंधान परिषद् के भूतपूर्व महानिदेशक डा. आत्माराम के आभारी हैं जिनके आग्रह पर हिन्दी संस्करण का यह कार्य इस परिषद् ने लिया। हम इस परिषद् के अपने वर्तमान महानिदेशक डा. येलवर्ति नायडुम्मा के परम् अनुगृहीत हैं, जिनके प्रोत्साहन और निदेशन में यह कार्य हम अब सम्पन्न कर रहे हैं। अंग्रेजी संस्करण के भूतपूर्व प्रधान सम्पादक श्री ए. कृष्णमूर्ति एवं वर्तमान प्रधान सम्पादक श्री योगराज चड्ढा का हमें विशेष आभार है, जिनसे हमें इस हिन्दी संस्करण के सम्पादन और प्रकाशन में सदा सहायता मिलती रही। सम्पादक मण्डल के अन्य सदस्यों के भी हम अनुगृहीत हैं जिन्होंने समय-समय पर हमें उचित परामर्श दिये और प्रकाशन कार्य में विशेष रुचि ली। हम श्री आर. एस. चक्रवर्ती, श्रीमती के. रामाचन्द्रन और श्री टी. सी. एस. शास्त्री के विशेष आभारी हैं जिन्होंने विभिन्न वानस्पतिक नामों के प्रचलित तमिल, तेलगू, कन्नड़, और मलयालम नामों के उच्चारण में हमारी सहायता पहुंचायी है। मुद्रण में भरपूर सहयोग के लिये श्री सरस्वती प्रेस, कलकत्ता, के आभारी हैं। अन्त में हम सभी सम्पादन सहायकों तथा सहयोगियों के कृतज्ञ हैं जिन्होंने इस खण्ड के प्रकाशन में सहयोग दिया है।

आशा है कि प्रथम दो खण्डों की भाँति इस खण्ड का भी विज्ञान-जगत में अच्छा स्वागत होगा और अगले खण्ड भी शीघ्र प्रकाशित होंगे।

दीपावली :

नवम्बर 5, 1972

स्वामी डा. सत्य प्रकाश

अध्यक्ष

सम्पादक मण्डल एवं प्रधान सम्पादक

सम्पादक मण्डल

स्वामी डा. सत्य प्रकाश (अध्यक्ष)

डा. एस. बालसुब्रह्मण्यन

डा. एस. डी. लिमये

श्री ए. कृष्णमूर्ति (अवकाश प्राप्त)

श्री योगराज चड्ढा

श्री तुरशन पाल पाठक (सचिव)

प्रधान सम्पादक

स्वामी डा. सत्य प्रकाश

सम्पादक

डा. शिवगोपाल मिश्र, विशेष अधिकारी (भूतपूर्व)

श्री तुरशन पाल पाठक, सहायक सम्पादक एवं अनुभागीय अध्यक्ष

श्री आशीष सिन्हा, वरिष्ठ तकनीकी सहायक

श्री रवीन्द्र मिश्र, सहायक सम्पादक

डा. जटा शंकर द्विवेदी, वरिष्ठ तकनीकी सहायक

प्राँडक्शन

श्री सूरज नारायण सक्सेना

श्री मनोहर विष्णु पन्त

श्री बालकृष्ण कलसी

श्री हनुमान दिगम्बर जोशी

चित्र	पृष्ठ संख्या	चित्र	पृष्ठ संख्या
56. बैलिस्ना कुहूँ-जड़ें	171	91. डालिकास लवलव बैर लिम्बोसस के बीज	264
57. जेलोनियम लान्तिथोलेटम—पुष्पित शाखा	174	92. डालिकैण्डोन सिट्रुलेटा	265
58. जैकारण्डा एक्वेटिकोलिया—पुष्पित शाखा	175	93. डाल्मजिया लैसियोलेरिया	266
59. जैट्रोफा गार्सिफोलिए—पुष्पित शाखा	178	94. डाल्मजिया लैटिफोलिया	267
60. जैट्रोफा मल्टीफिडा—पुष्पित शाखा	180	95. डाल्मजिया लैटिफोलिया	268
61. जैसमिनम ग्राफिसनेस	182	96. डाल्मजिया लैटिफोलिया—काष्ठ की अनुप्रस्थ काट	269
62. जैसमिनम थोरिकुलेटम—पुष्पित शाखा	186	97. डाल्मजिया सीसू—पत्ता जंगल	270
63. जैसमिनम मल्टीफ्लोरम—पुष्पित शाखा	187	98. डाल्मजिया सीसू—गुल्मवन	271
64. जैसमिनम मेसर्प्यी—पुष्पित शाखा	188	99. डाल्मजिया सीसू—काष्ठ की खाड़ी काट ($\times 10$)	273
65. जैसमिनम सम्मक	189	100. डाल्मजिया मेलानोक्सिलान	274
66. जैसमिनम ह्यमाइल किस्म जिम्नोनिएसियम— पुष्पित शाखा	190	101. डिजिटेरिया लॉगिफ्लोरा	276
67. क: हिस्टिनेरिया हैनुलासा, भारतीय गो पशु जोंक; ख: जोंक का खुला हुआ अग्रभूषक, तीन जबड़े दर्शाते हुए; ग: होमैडिप्सा का पृष्ठीय चित्र; घ: होमैडिप्सा का अधरोप चित्र	193	102. डिजिटेरिया सैनिक्नेसिस	276
68. (1) प्रवासो टिट्टी (लोकस्टा माइग्रेटोरिया लिनियस); (2) मर टिट्टी (सिस्टोसेफा ग्रेगोरिया फोस्केल); (3) बम्बइया टिट्टी (पलंगा सक्सेक्टा लिनियस)	206	103. डिजिटेलिस परप्पूरिया	277
69. डेरोकार्पस सेटेलेस	215	104. डिजिटेलिस लैनाटा	280
70. डाइआस्कोरिया अफोजिटोफोलिया	223	105. डिप्टेरोकार्पस इंडिकस	282
71. डाइआस्कोरिया एलाटा	224	106. डिप्टेरोकार्पस इंडिकस—काष्ठ की अनुप्रस्थ काट	283
72. डाइआस्कोरिया एलाटा—विभिन्न कंद प्ररूप	224	107. डिप्टेरोकार्पस मैक्रोकार्पस	286
73. डाइआस्कोरिया एलाटा—कंद	225	108. डिप्टेरोकार्पस एलाटा—काष्ठ की अनुप्रस्थ काट	286
74. डाइआस्कोरिया एल्कुलेण्डा	226	109. डिप्टेरोकार्पस कोस्टाटस	287
75. डाइआस्कोरिया पैटाफिला	227	110. डिप्टेरोकार्पस बृहीरैगिया	288
76. डाइआस्कोरिया हिस्पिडा	229	111. डिप्साकस फूलोनम—टीजिन शीर्ष	290
77. डाइआस्कोरिया काकी—फलित	232	112. डिवागिया इंडिका	291
78. डाइआस्कोरिया पेरेग्रिना	235	113. डिवागिया इंडिका—फलित शाखा	292
79. डाइआस्कोरिया बर्सीफोलिया	236	114. डिवागिया पैटागिना	293
80. डाइआस्कोरिया मेलानोक्सिलोन—बीड़ी पत्तियों के प्रकार	239	115. डुरैटा रेपेंस—फलित शाखा	295
81. डाइऑथस कैरियोफिलस	242	116. डेकालेपिस हेमिल्लोनाइ	297
82. डाइऑथियम पैनुलेटम	243	117. डेण्ड्रोकेलामस लॉगिस्पर्थस	298
83. डाइकोस्टेक्स सिनेरिया	246	118. डेरिस इलिप्टिका	301
84. डाइसोक्सिलम वाइनेवर्टेरियम	248	119. डेरिस इलिप्टिका—पुष्पित शाखा	301
85. डाइसोक्सिलम मलाबारिकम—काष्ठ की अनुप्रस्थ काट	249	120. डेरिस मलाक्केन्सिस	304
86. डादूरा भीटल—पुष्पित	255	121. डेलिफनियम अबासिस	307
87. डादूरा भीटल—फलित	256	122. डेलोमिक्स रोजिया	310
88. डालिकास वाइपलोस—फलित शाखा	260	123. डेलमोडियम गेंजेटिकम	312
89. डालिकास लवलव बैर टिपिकस—फलियों के प्रकार	262	124. डैक्लिनोक्टेनियम इंडिप्टियम	315
90. डालिकास लवलव के बीज — 1-5 : किस्म टिपि- कस; 6 : किस्म टिपिकस \times किस्म जिम्बोसस	263	125. डैप्ले बोलिथ्रायडीस	316
		126. डोडोनिया विल्कोसा—फलित शाखा	318
		127. डोडोनिया विल्कोसा	318
		128. ड्युध्यावंया सोनेरेटियाइडीज—पुष्पित वृक्ष	324
		129. ड्युध्यावंया सोनेरेटियाइडीज—वृक्ष समूह	325
		130. ड्युध्यावंया कोरिन्थोसा	326
		131. ड्युध्यावंया जिबेथिनस	327
		132. नैटेलियम ग्राफिमिनेल—पुष्पित तथा फलित शाखा	341

चित्र	पृष्ठ संख्या	चित्र	पृष्ठ संख्या
133. नाइजेला सैटाइवा—बीज ..	343	145. खैनी तम्बाकू का किण्वन ..	370
134. नाइजेला सैटाइवा—पुष्पित तथा फलित शाखा ..	343	146. निम्फिया स्टेलेटा—पुष्पित ..	386
135. नाडॉस्टैकिस जटामांसी—मूल कांड सहित ..	345	147. निलम्बो न्यूसीफेरा—फलमान पुष्पासन (कमल गट्टा) ..	389
136. निकैण्डा फाइसैलोडीज—फलित तथा पुष्पित शाखा ..	351	148. निलम्बो न्यूसीफेरा—एक कमल ताल ..	390
137. निकोटिआना रस्टिका (हुक्का प्रकार)—पुष्पित ..	352	149. नीमा अटेनुएटा—काष्ठ की अनुप्रस्थ काट ($\times 10$) ..	393
138. निकोटिआना टैवेकम—पौधशाला ..	361	150. नेपेटा हिन्दोस्ताना—पुष्पित शाखा ..	397
139. जती तम्बाकू की फसल, खुटकने के बाद ..	363	151. नेपेन्थीज खासियाना—घटों सहित ..	398
140. निकोटिआना टैवेकम—फसल की कटाई ..	366	152. नेप्चूनिया ओल्लिरेसिया—पुष्प और फलों सहित ..	399
141. तम्बाकू संसाधन कोठार ..	368	153. नेफेलियम लौपोसियम—फलित शाखा ..	399
142. संसाधन के लिए लटकी हुई तम्बाकू की पत्तियाँ ..	368	154. नोटोनिया ग्रैण्डीफ्लोरा—पुष्पित ..	404
143. तम्बाकू की पत्तियों का धूप संसाधन ..	369	155. नौक्लिया सेसिलिफोलिया—काष्ठ की अनुप्रस्थ काट ($\times 10$) ..	406
144. लंका तम्बाकू की पत्तियों का वायु संसाधन ..	369		

संक्षेप ग्रीक संकेत

अं. इ.	अंतर्राष्ट्रीय इकाई	पी. एच.	हाइड्रोजन आयन सांद्रता का लघु
असावु.	असावुमीकृत	त्रि. य. इ.	त्रिदिश धर्मल इकाई
य./प्र.	आयतन/आयतन	मा.	माइक्रो
आ. घ.	आपेक्षिक घनत्व	माघ्रा.	माइक्रोग्राम
आयो. मान	आयोडीन मान	मिघ्रा.	मिलीग्राम
ड.	डहिया	मिमी.	मिलीमीटर
कि.कै./मी. पं.	किलो कैलोरी/मीटर घंटा	मिली.	मिलीलीटर
किग्र.	किलोग्राम	मी.	मीटर
किमी.	किलोमीटर	रू.	रूपये
कै.	कैलोरी	सी.	सीटर
वच. वि.	वचन विन्दु	वर्ग किमी.	वर्ग किलोमीटर
ग. वि.	गलन बिन्दु	वर्ग मी.	वर्ग मीटर
क.	कसडू	वर्ग सेंमी.	वर्ग सेंटीमीटर
गु.	गुजराती	वि. घ.	विशिष्ट घनत्व
त.	तमिल	साव. मान	सावनीकरण मान
ते.	तेलगु	सेमी.	सेंटीमीटर
पं.	पंजाबी	n	अपवर्तनांक
बं.	बंगला	γ	गामा
म.	मराठी	[<D]	शुचित सोडियम चक्रण
मल.	मलयालम	μ	मा. (माइक्रो)
सं.	संस्कृत	ω	ओमेगा, साधारण किरण का अपवर्तनांक
हि.	हिन्दी	<	से कम
ग्रा.	ग्राम	≠	से कम नहीं
घ.	घनत्व	>	से अधिक
घमी.	घन मीटर	≠	से अधिक नहीं

संदर्भ पुस्तकों की सूची

- | | | |
|-----------------------|----|--|
| Alcock, 1901 | .. | A Descriptive Catalogue of Indian Deep-Sea Crustacea, Decapoda-Macrura and Anomala, by A. Alcock (Indian Museum, Calcutta), 1901. |
| Alcock, 1906 | .. | The Prawns of Peneus Group, Catalogue of the Indian Decapod Crustacea, pt 3, fasciculus I, Macrura, by A. Alcock (Indian Museum, Calcutta), 1906. |
| Allen | .. | Allen's Commercial Organic Analysis (The Blakiston Co., Philadelphia), 10 vols., 5th edn, 1948. |
| Allport | .. | Chemistry and Pharmacy of Vegetable Drugs, by N. L. Allport (George Newnes Ltd., London), 1st edn, 1943. |
| Andrews | .. | Cotton Production, Marketing and Utilisation, edited by W. B. Andrews (State College, Mississippi), 1950. |
| Bailey, 1947 | .. | Standard Cyclopaedia of Horticulture, by L. H. Bailey (The Macmillan Co., New York), 3 vols., 1922; reprinted, 1947. |
| Bailey, 1948 | .. | Cottonseed and Cottonseed Products: their Chemistry and Chemical Technology, edited by A. E. Bailey (Interscience Publishers, Inc., New York), 1948. |
| Bailey, 1949 | .. | Manual of Cultivated Plants, by L. H. Bailey (The Macmillan Co., New York), 1949. |
| Bailey, 1951 | .. | Industrial Oil and Fat Products, by A. E. Bailey (Interscience Publishers, Inc., New York), 2nd edn, 1951. |
| Balls, 1915 | .. | The Development and Properties of Raw Cotton, by W. L. Balls (A. & C. Black Ltd., London), 1915. |
| Balls, 1928 | .. | Studies of Quality in Cotton, by W. L. Balls (Macmillan and Co., London), 1928. |
| Barrett | .. | The Tropical Crops, by O. W. Barrett (The Macmillan Co., New York), 1928. |
| Beddome, Indian Ferns | .. | Handbook to the Ferns of British India, Ceylon and Malay Peninsula, by R. H. Beddome (Thacker, Spink & Co. Ltd., Calcutta), 1892. |
| Benthall | .. | The Trees of Calcutta and Its Neighbourhood, by A. P. Benthall (Thacker, Spink & Co. Ltd., Calcutta), 1946. |
| Bentley & Trimen | .. | Medicinal Plants, by R. Bentley & H. Trimen (J. & A. Churchill, London), 4 vols., 1880. |
| Bijawat & Sastry | .. | High Calcium Limestones of India, by H. C. Bijawat & S. L. Sastry (Council of Scientific & Industrial Research, New Delhi), 1957. |
| Blanck | .. | Handbook of Food and Agriculture, edited by F. C. Blanck (Reinhold Publishing Corp., New York), 1955. |
| Blatter | .. | Palms of British India and Ceylon, by E. Blatter (Oxford University Press, London), 1926. |
| Blatter, I, II | .. | Beautiful Flowers of Kashmir, by E. Blatter (John Bale, Sons & Danielsson Ltd., London), 2 vols., 1929. |
| Blatter & d'Almeida | .. | The Ferns of Bombay, by E. Blatter & J. F. d'Almeida (D. B. Taraporevala Sons & Co., Bombay), 1922. |
| Blatter & McCann | .. | Bombay Grasses, by E. Blatter & C. McCann (Imperial Council of Agricultural Research, New Delhi), 1935. |
| Blatter & Millard | .. | Some Beautiful Indian Trees, by E. J. Blatter & W. S. Millard (John Bale Sons & Curnow Ltd., London), 1937. |
| Bor | .. | Manual of Indian Forest Botany, by N. L. Bor (Oxford University Press, London), 1953. |
| Bor & Raizada | .. | Some Beautiful Indian Climbers and Shrubs, by N. L. Bor & M. B. Raizada (The Bombay Natural History Society, Bombay), 1954. |
| Bourdillon | .. | The Forest Trees of Travancore, by T. F. Bourdillon (Govt. of Travancore), 1908; reprinted, 1937. |
| B.P. | .. | British Pharmacopoeia (The Pharmaceutical Press, London), 1953. |
| B.P.C., 1934 | .. | The British Pharmaceutical Codex (The Pharmaceutical Press, London), 1934. |
| B.P.C., 1949 | .. | The British Pharmaceutical Codex (The Pharmaceutical Press, London), 1949. |
| B.P.C., 1954 | .. | The British Pharmaceutical Codex (The Pharmaceutical Press, London), 1954. |
| Brady | .. | Materials Handbook, by G. S. Brady (McGraw-Hill Book Co., Inc., New York), 7th edn, 1951. |
| Bressers | .. | The Botany of Ranchi District, Bihar, by J. Bressers (Catholic Press, Ranchi), 1951. |
| Brooks, J. E. | .. | The Mighty Leaf, by J. E. Brooks (Alvin Redman Ltd., London), 1953. |
| Brown | .. | Minor Products of Philippine Forests, edited by W. H. Brown (Bureau of Forestry, Manila), 3 vols., 1920-21. |
| Brown, 1941, 1946 | .. | Useful Plants of the Philippines, by W. H. Brown (Department of Agriculture & Commerce, Manila), Vol. 1, 1941 (reprinted, 1951); Vol. 2, 1941 (reprinted, 1954); and Vol. 3, 1946. |
| Brown, 1951 | .. | Useful Plants of Philippines, by W. H. Brown (Bureau of Printing, Manila), Vol. 1, 1941; reprinted, 1951. |

- Brown, C. I.
Brown, H. B.
Browne
Burkill
Burkill, 1909
Butler, Bisby & Vasudeva
Cameron
Chandler
Chandrasena
Chatfield
Chittenden
Chopra
Chopra, B. N.
Chopra, 1958
Chopra *et al.*
Coggin Brown & Dey
Collett
Collings
Colthurst
Cooke
Copeland
Corner
Coventry
Cowan & Cowan
Cowen
C.P.
Dallimore & Jackson
Datzel
Dantwala, 1937
Dantwala, 1948
Dastur, Medicinal Plants
Dastur, Useful Plants
Datta & Mukerji
D. E. P.
- .. Egyptian Cotton, by C. I. Brown (Leonard Hill Ltd., London), 1953.
.. Cotton; History, Species, Varieties, Morphology, Breeding, Culture, Diseases, Marketing, and Uses, by H. B. Brown (McGraw-Hill Book Co., Inc., New York), 1938.
.. Forest Trees of Sarawak and Brunei and their Products, by F. G. Browne (Govt. Printer, Kuching, Sarawak), 1955.
.. A Dictionary of Economic Products of Malay Peninsula, by I. H. Burkill (Crown Agents for the Colonies, London), 2 vols., 1935.
.. A Working List of the Flowering Plants of Baluchistan, by I. H. Burkill (Superintendent, Govt. Printing, Calcutta), 1909.
.. The Fungi of India, by E. J. Butler & G. R. Bisby; revised by R. S. Vasudeva (Indian Council of Agricultural Research, New Delhi), 1960.
.. The Forest Trees of Mysore and Coorg, edited by J. Cameron (Govt. Press, Bangalore), 3rd edn, 1894.
.. Evergreen Orchards, by W. H. Chandler (Lea & Febiger, Philadelphia), 1950.
.. The Chemistry & Pharmacology of Ceylon and Indian Medicinal Plants, by J. P. C. Chandrasena (Lucy Chandrasena, Colombo), 1935.
.. Varnish Constituents, by H. W. Chatfield (Leonard Hill Ltd., London), 1947.
.. Dictionary of Gardening: A Practical and Scientific Encyclopaedia of Horticulture, edited by F. J. Chittenden (The Clarendon Press, Oxford), 4 vols., 1951; and supplement, edited by P. M. Syngé, 1956.
.. Indigenous Drugs of India: Their Medical and Economic Aspects, by R. N. Chopra (The Art Press, Calcutta), 1933.
.. Handbook of Indian Fisheries: Crustacean Fisheries, edited by B. N. Chopra (Ministry of Agriculture, Govt. of India, New Delhi), 1951.
.. Chopra's Indigenous Drugs of India, revised and largely re-written by R. N. Chopra, I. C. Chopra, K. L. Handa & L. D. Kapur (U. N. Dhur & Sons Private Ltd., Calcutta), 2nd edn, 1958.
.. Poisonous Plants of India, by R. N. Chopra, R. L. Badhwar & S. Ghosh (Manager of Publications, Delhi), 1949.
.. India's Mineral Wealth, by J. Coggin Brown & A. K. Dey (Oxford University Press), 3rd edn, 1955.
.. Flora Simlensis: A Handbook of Flowering Plants of Simla and the Neighbourhood, by H. Collett (Thacker, Spink & Co., Calcutta), 1921.
.. The Production of Cotton, by G. H. Collings (John Wiley & Sons, Inc., New York), 1926.
.. Familiar Flowering Trees in India, by Ida Colthurst (Thacker, Spink & Co., Ltd., Calcutta), 1937.
.. The Flora of the Presidency of Bombay, by T. Cooke (Taylor & Francis, London), 2 vols., 1901-08.
.. Genera Filicum: The Genera of Ferns, by E. B. Copeland (Chronica Botanica Co., Waltham), 1947.
.. Wayside Trees of Malaya, by E. J. H. Corner (Govt. Printing Office, Singapore), 2 vols., 2nd edn, 1952.
.. Wild Flowers of Kashmir, by B. O. Coventry (Raithby, Lawrence & Co., Ltd., London), Series I-III, 1923-30.
.. The Trees of Northern Bengal, by A. M. Cowan & J. M. Cowan (Govt. of Bengal, Calcutta), 1929.
.. Flowering Trees and Shrubs in India, by D. V. Cowen (Thacker & Co. Ltd., Bombay), 1950.
.. The Commercial Products of India, by G. Watt (John Murray, London), 1908.
.. A Handbook of Coniferae, including Ginkgoaceae, by W. Dallimore & A. B. Jackson (*Edmund Arnold & Co., London*), 3rd edn, 1948.
.. The Useful Plants of West Tropical Africa, by J. M. Datzel (Crown Agents for the Colonies, London), 1937; reprinted, 1948.
.. Marketing of Raw Cotton in India, by M. L. Dantwala (Longmans, Green & Co., Ltd., Bombay), 1937.
.. A Hundred Years of Indian Cotton, by M. L. Dantwala (Orient Longmans Ltd., Bombay), 1948.
.. Medicinal Plants of India and Pakistan, by J. F. Dastur (D. B. Taraporevala Sons & Co., Ltd., Bombay), 1951.
.. Useful Plants of India and Pakistan, by J. F. Dastur (D. B. Taraporevala Sons & Co., Ltd., Bombay), 1951.
.. Pharmacognosy of Indian Root and Rhizome Drugs, by S. C. Datta & R. Mukerji, (Manager of Publications, Delhi), 1950.
.. A Dictionary of the Economic Products of India, by G. Watt (Govt. Press, Calcutta), 6 vols., 1889-1893; Index, 1896.

- Desch, 1954 .. Manual of Malayan Timbers, Vol. II, by H. E. Desch (Malaya Publishing House Ltd., Singapore), Malayan Forest Records, No. 15, 1954.
- Deuel .. The Lipids, by H. J. Deuel, Jr. (Interscience Publishers, Inc., New York), Vol. I, 1951; Vol. II, 1955; Vol. III, 1957.
- Dhingra .. Development of Essential Oil Industry in Uttar Pradesh; a summary of the work done under Essential Oil Scheme at H. B. Technological Institute, Kanpur, under the guidance of D. R. Dhingra; revised edn, 1958.
- Dunlop & Peters .. The Furans, by A. P. Dunlop & F. N. Peters (Reinhold Publishing Corp., New York), 1953.
- Duthie .. Flora of the Upper Gangetic Plain and of the Adjacent Siwalik and Sub-Himalayan Tracts, by J. F. Duthie (Superintendent, Govt. Printing, Calcutta), 3 vols., 1903-29.
- Dutt & Pugh .. Principles & Practices of Crop Production in India, by C. P. Dutt & B. M. Pugh (Allahabad Agricultural Institute, Allahabad), 1940.
- Dymock, Warden & Hooper .. Pharmacographia Indica, by W. Dymock, C. J. H. Warden & D. Hooper (Trubner & Co., London), 1890-99.
- Eckey .. Vegetable Fats and Oils, by E. W. Eckey (Reinhold Publishing Corp., New York), 1954.
- Economic Geology of Orissa .. Economic Geology of Orissa, by Officers of the Geological Survey of India (Orissa Govt. Press, Cuttack), 1943.
- Ellerman & Morrison-Scott .. Checklist of Palaearctic and Indian Mammals, by J. R. Ellerman & T. C. S. Morrison-Scott (The British Museum, London), 1951.
- Encyclopaedia Britannica .. Encyclopaedia Britannica (Encyclopaedia Britannica Ltd., London), 25 vols., 1951.
- Finnemore .. The Essential Oils, by H. Finnemore (Ernest Benn Ltd., London), 1926.
- Firminger .. Firminger's Manual of Gardening for India, by T. A. Firminger (Thacker, Spink & Co. Ltd., Calcutta), 8th edn, 1947.
- Fl. Assam .. Flora of Assam, by U. N. Kanjilal and others (Govt. of Assam, Shillong), 5 vols., 1934-40.
- Fl. Br. Ind .. Flora of British India, by J. D. Hooker (Secretary of State for India, London), 7 vols., 1872-1897.
- Fl. Delhi .. The Flora of Delhi by J. K. Maheshwari (Council of Scientific & Industrial Research, New Delhi), 1963.
- Fl. Madras .. Flora of the Presidency of Madras, by J. S. Gamble & C. E. C. Fischer (Adlard & Son Ltd., London), 3 vols., 1915-36.
- Fl. Malaya .. A Revised Flora of Malaya, Vol. I, Orchids of Malaya & Vol. II, Ferns of Malaya, by R. E. Holttum (Govt. Printing Office, Singapore), 1953-54.
- Fl. Malesiana .. Flora Malesiana: Taxonomic Revisions (Noordhoff-Kolff N. V., Djakarta), Ser. I: Vol. 4, 1948-54.
- Fn. Br. Ind., Hirudinea .. Fauna of British India including Ceylon and Burma, Hirudinea, by W. A. Harding & J. P. Moore (Taylor & Francis Ltd., London), 1927.
- Fn. Br. Ind., Mammalia .. Fauna of British India including Ceylon and Burma, Mammalia, by W. T. Blanford (Taylor & Francis Ltd., London), 1891.
- Fn. Br. Ind., Reptilia & Amphibia, 1935 .. Fauna of British India including Ceylon and Burma, Reptilia and Amphibia, Vol. II: Sauria, by M. A. Smith (Taylor & Francis Ltd., London), 1935.
- Fyson .. Flora of the South Indian Hill Stations, by P. F. Fyson (Superintendent, Govt. Press, Madras), 2 vols., 1932.
- Gamble .. A Manual of Indian Timbers, by J. S. Gamble (Sampson Low, Marston & Co. Ltd., London), 1922.
- Garner .. The Production of Tobacco, by Wightman W. Garner (The Blakiston Co., Philadelphia), 1946.
- Ghosh .. Directory of Indian Mines and Metals, compiled by P. K. Ghosh (Mining, Geological and Metallurgical Institute of India, Calcutta), 1952.
- Gildemeister & Hoffmann .. The Volatile Oils, by E. Gildemeister & Fr. Hoffmann (Longmans, Green & Co., London), Vol. 2, 1916.
- Gildemeister & Hoffmann, 1956 .. Die Ätherischen Öle, by E. Gildemeister & Fr. Hoffmann; revised and edited by W. Treibs (Akademie-Verlag, Berlin), 4th German edn, 7 vols.; Vol. I; 1956.
- Glover .. Lac Cultivation in India, by P. M. Glover (Indian Lac Research Institute, Namkum), 1937.
- Gollan .. Gollan's Indian Vegetable Garden (Thacker, Spink & Co. Ltd., Calcutta), 6th edn, 1945.
- Goodspeed .. The Genus Nicotiana, by T. H. Goodspeed (Chronica Botanica Co., Waltham), 1954.
- Gopalaswamiengar .. Complete Gardening in India, by K. S. Gopalaswamiengar (The Hosali Press, Bangalore), revised edn, 1951.
- Gregory .. Uses and Applications of Chemicals and Related Materials, by T. C. Gregory (Reinhold Publishing Corp., New York), 2 vols., 1939-44.
- Guenther .. The Essential Oils, by E. Guenther (D. Van Nostrand Co., Inc., New York), 6 vols., 1948-52.

- Gupta .. Forest Flora of the Chakrata, Dehra Dun and Saharanpur Forest Divisions, United Provinces, by B. L. Gupta (Central Publications Branch, Govt. of India, Calcutta), 3rd edn, 1928; reprinted 1956.
- Huines .. The Botany of Bihar and Orissa, by H. H. Haines (Govt. of Bihar & Orissa), pts. II-VI, 1921-24.
- Harland .. The Genetics of Cotton, by S. C. Harland (Gonathan Cape, London), 1939.
- Harler .. The Garden in the Plains, by Agnes W. Harler (Oxford University Press, Madras), 1945.
- Harris .. Handbook of Textile Fibres, edited by M. Harris (Harris Research Laboratories, Inc., Washington), 1954.
- Hayes .. Fruit Growing in India, by W. B. Hayes (Kitabistan, Allahabad), 2nd edn, 1953.
- Hector .. Introduction to the Botany of Field Crops, by J. M. Hector (Central News Agency, Johannesburg), 2 vols., 1936.
- Hedrick .. Sturtevant's Notes on Edible Plants, edited by U. P. Hedrick. Report of the N. Y. agric. Exp. Sta. (J. B. Lyon Co., Albany), 1919.
- Heilbron & Bunbury .. Dictionary of Organic Compounds, edited by I. Heilbron, H. M. Bunbury and others (Eyre & Spottiswoode, London), 4 vols., 1953.
- Henry .. The Plant Alkaloids, by T. A. Henry (J. & A. Churchill Ltd., London), 4th edn, 1949.
- Hermans .. Physics and Chemistry of Cellulose Fibres, by P. H. Hermans (Elsevier Publishing Co., New York), 1949.
- Hilditch, 1943 .. The Industrial Chemistry of the Fats and Waxes, by T. P. Hilditch (Bailliere, Tindall and Cox, London), 2nd edn, 1941, reprinted, 1943.
- Hilditch, 1947 .. The Chemical Constitution of Natural Fats, by T. P. Hilditch (Chapman & Hall Ltd., London), 2nd edn, 1947.
- Hilditch, 1956 .. The Chemical Constitution of Natural Fats, by T. P. Hilditch (Chapman & Hall Ltd., London), 3rd edn., 1956.
- Hill .. Economic Botany: A Textbook of Useful Plants and Plant Products, by A. F. Hill (McGraw-Hill Book Co., Inc., New York), 2nd edn, 1952.
- Hocking .. A Dictionary of Terms in Pharmacognosy, by G. M. Hocking (Charles C. Thomas, Springfield, Illinois), 1955.
- Hoppe .. Drogenkunde: Handbuch der Pflanzlichen und Tierischen Rohstoffe, by H. A. Hoppe (Cram, De Gruyter & Co., Hamburg), 7th edn, 1958.
- Howard .. A Manual of the Timbers of the World, Their Characteristics and Uses, by A. L. Howard (Macmillan & Co. Ltd., London), 3rd edn, 1948.
- Howes, 1948 .. Nuts: Their Production and Everyday Uses, by F. N. Howes (Faber & Faber, Ltd., London), 1948.
- Howes, 1949 .. Vegetable Gums and Resins, by F.N. Howes (Chronica Botanica Co., Waltham), 1949.
- Howes, 1953 .. Vegetable Tanning Materials, by F. N. Howes (Butterworths Scientific Publications, London), 1953.
- Hunter & Lenke .. Recent Advances in Agricultural Plant Breeding, by H. Hunter & H. M. Lenke (J. & A. Churchill, Ltd., London), 1933.
- Hutchinson *et al.* .. The Evolution of Gossypium and the Differentiation of the Cultivated Cottons, by J. B. Hutchinson, R. A. Silow & S. G. Stephens (Oxford University Press, London), 1947.
- Indian Tob. Monogr. .. Indian Tobacco: A Monograph (Indian Central Tobacco Committee, Madras), 1960.
- Indian Woods .. Indian Woods: Their Identification, Properties and Uses, by K. A. Chowdhury & S. S. Ghosh, with the assistance of K. Ramesh Rao, S. K. Purkayastha and others (Manager of Publications, Delhi), Vol. I, 1958; Vol. II, 1963.
- Iodine Content of Foods I.P.C. .. Iodine Content of Foods (Chilean Iodine Educational Bureau, London), 1952.
- Jacobs, 1944 .. The Chemistry and Technology of Food and Food Products, edited by M. B. Jacobs (Interscience Publishers, Inc., New York), 2 vols., 1944.
- Jacobs, 1951 .. The Chemistry and Technology of Food and Food Products, edited by M. B. Jacobs (Interscience Publishers, Inc., New York), 3 vols., 2nd edn, 1951.
- Jacobs & Burlage .. Index of Plants of North Carolina with Reputed Medicinal Uses, by M. L. Jacobs & H. M. Burlage, 1958.
- Jacobson .. Insecticides from Plants: A Review of the Literature, 1941-1953, by M. Jacobson (U.S. Department of Agriculture, Washington, D.C.), Agriculture Handbook, No. 154, 1958.
- Jamieson .. Vegetable Fats and Oils, by G. S. Jamieson (Reinhold Publishing Corp., New York), 2nd edn, 1943.
- Jellinek .. The Practice of Modern Perfumery, by Paul Jellinek; translated and revised by A. J. Krijneman (Interscience Publishers, Inc., New York), 1954.
- Jordan *et al.* .. Oils for the Paint Industry, edited by L. A. Jordan and others (Paint Research Station, Teddington, Middlesex), 1951.

- Kale .. Soybean; Its Value in Dietetics, Cultivation and Uses with Three Hundred Recipes, by F. S. Kale (Baroda State Press, Baroda), 1937.
- Kanjilal, P. C. .. A Forest Flora for Pilibhit, Oudh, Gorakhpur and Bundelkhand, by P. C. Kanjilal (Superintendent, Printing & Stationery, U. P., Allahabad), 1933.
- Kanny Lal Dey .. The Indigenous Drugs of India, by Kanny Lal Dey (Thacker, Spink & Co., Calcutta), 3rd edn, 1896.
- Karrer & Jucker .. Carotenoids, by P. Karrer & E. Jucker (Elsevier Publishing Co., Inc., New York), 1950.
- Kent-Jones & Amos .. Modern Cereal Chemistry, by D. W. Kent-Jones & A. J. Amos (The Northern Publishing Co., Ltd., Liverpool), 1947.
- Khedkar .. Mineral Resources of the Damodar Valley and Adjacent Region and their Utilisation for Industrial Development, by V. R. Khedkar (Damodar Valley Corporation, Calcutta), 1st edn, 1950.
- Kierstead .. Natural Dyes, by S. P. Kierstead (Bruce Humphries, Inc., Boston), 1950.
- Kirk & Othmer .. Encyclopaedia of Chemical Technology, edited by R. E. Kirk & D. F. Othmer (The Interscience Encyclopaedia, Inc., New York), 15 vols., 1947-56; First, supplement, 1957; Second supplement, 1960.
- Kirt. & Basu .. Indian Medicinal Plants, by K. R. Kirtikar, B. D. Basu & an I.C.S (retd.); revised by E. Blatter, J. F. Caius & K. S. Mhaskar (Lalit Mohan Basu, Allahabad), 4 vols., 2nd edn, 1935.
- Knott .. Vegetable Growing, by J. E. Knott (Henry Kimpton, London), 5th edn, 1955.
- Koman .. Report on the Investigations of Indigenous Drugs, by M. C. Koman (Govt. Press, Madras), 1st Rep., 1918; 2nd Rep., 1919; 3rd Rep., 1920.
- Krishnamurthi .. Horticultural and Economic Plants of the Nilgiris, edited by S. Krishnamurthi (Coimbatore Co-operative Printing Works, Ltd., Coimbatore), 1953.
- Krishnamurti Naidu .. Commercial Guide to the Forest Economic Products of Mysore, by G. Krishnamurti Naidu (Govt. Press, Bangalore), 1917.
- Krishnan .. Iron Ores of India, by M. S. Krishnan (Indian Association for the Cultivation of Science, Calcutta), 1955.
- Kuppuswamy *et al.* .. Proteins in Foods, by S. Kuppuswamy, M. Srinivasan & V. Subrahmanyam (Indian Council of Medical Research, New Delhi), Special Report Series, No. 33, 1958.
- Lachat .. The Nutritive Value of Vegetables, edited by the Staff of the Heinz Nutritional Research Division in Mellon Institute (U.S.A.), under the supervision of L. L. Lachat, 1945.
- Lager .. The Useful Soybean, by M. Lager (McGraw-Hill Book Co., Inc., New York), 1945.
- Lander .. The Feeding of Farm Animals in India, by P. E. Lander (Macmillan & Co. Ltd., London), 1949.
- La Touche .. A Bibliography of Indian Geology and Physical Geography, by T. H. D. La Touche; pt 1B: Annotated Index of Minerals of Economic Value (Govt. of India), 1918.
- Lewis .. The Vegetable Products of Ceylon, by F. Lewis (The Associated Newspapers of Ceylon Ltd., Colombo), 1934.
- Lucas .. Diseases of Tobacco, by George B. Lucas (The Scare Crow Press, Inc., New York), 1958.
- Macedo .. Lime Industry in India, by N. Macedo (National Building Organisation, New Delhi), 1958.
- Macmillan .. Tropical Planting & Gardening, with special reference to Ceylon, by H.F. Macmillan (Macmillan & Co., Ltd. London), 5th edn, 1946.
- Macmillan, 1914 .. Tropical Planting and Gardening, with special reference to Ceylon, by H. F. Macmillan (Macmillan & Co., Ltd., London), 1914.
- Manske & Holmes .. The Alkaloids: Chemistry and Physiology, edited by R. H. F. Manske & H. L. Holmes (Academic Press, Inc., New York), 7 vols., 1950-60.
- Mantell .. Water-soluble Gums, by C. L. Mantell (Reinhold Publishing Corp., New York), 1947.
- A Manual of Green Manuring .. A Manual of Green Manuring (Department of Agriculture, Ceylon), 1931.
- Markley .. Soybeans and Soybean Products, edited by K. S. Markley (Interscience Publishers, Inc., New York), 2 vols., 1950.
- Markley & Goss .. Soybean Chemistry and Technology, by K. S. Markley & W. H. Goss (Chemical Publishing Co., Inc., Brooklyn, N.Y.), 1944.
- Marsh & Wood .. An Introduction to the Chemistry of Cellulose, by J. T. Marsh and F. C. Wood (Chapman & Hall, Ltd., London), 1942.
- Martindale .. The Extra Pharmacopoeia (Martindale) (The Pharmaceutical Press, London), 2 vols., 1952-55.
- Matthews .. Matthews Textile Fibres: Their Physical, Microscopic and Chemical Properties, edited by H. R. Mauersberger (John Wiley & Sons, Inc., New York), 6th edn, 1954.
- Mayer & Cook .. The Chemistry of Natural Colouring Matters, by F. Mayer; translated and revised by A. H. Cook (Reinhold Publishing Corp., New York), 1943.

- McCance & Widdowson .. The Chemical Composition of Foods, by R. A. McCance & E. M. Widdowson (H.M. S.O., London), 1960.
- McCann .. Trees of India: A Popular Handbook, by C. McCann (D. B. Taraporevala Sons & Co., Bombay).
- McIlroy .. The Plant Glycosides, by R. J. McIlroy (Edward Arnold & Co., London), 1951.
- Medsger .. Edible Wild Plants, by O. P. Medsger (The Macmillan Co., New York), 1954.
- Merck Index .. The Merck Index of Chemicals and Drugs (Merck & Co., Inc., Rahway), 7th edn, 1952.
- Modi .. A Textbook of Medical Jurisprudence and Toxicology, by J. P. Modi (Tripathi Ltd., Bombay), 1945.
- Mollison .. A Textbook on Indian Agriculture, by J. Mollison (Govt. of Bombay, Bombay), 3 vols., 1901.
- Mooney .. Supplement to the Botany of Bihar & Orissa, by H. Mooney (Catholic Press, Ranchi), 1950.
- Morrison .. Feeds and Feeding, by F. B. Morrison (The Morrison Publishing Co., Ithaca, N.Y.), 1956.
- Mudaliar .. Common Cultivated Crops of South India, by V. T. Subbiah Mudaliar (Amudha Nilayam Private Ltd., Madras), 1955.
- Muenschner, 1955 .. Weeds, by W. C. Muenschner (The Macmillan Co., New York), 2nd edn, 1955.
- Muenschner & Rice .. Garden Spice and Wild Pot Herbs, by W. C. Muenschner & M. A. Rice (Comstock Publishing Associates, Ithaca, N.Y.), 1955.
- Nadkarni .. The Indian Materia Medica, by K. M. Nadkarni, revised and enlarged by A. K. Nadkarni (Popular Book Depot, Bombay), 2 vols., 3rd edn, 1954.
- Naik .. South Indian Fruits and their Culture, by K. C. Naik (P. Varadachary & Co., Madras), 1949.
- Naves & Mazuyer .. Natural Perfume Materials, by Y. R. Naves & G. Mazuyer (Reinhold Publishing Corp., New York), 1947.
- Nayar & Chopra .. Distribution of British Pharmacopoeial Drug Plants and their Substitutes Growing in India, by S. L. Nayar & I. C. Chopra (Council of Scientific & Industrial Research, New Delhi), 1951.
- Neal .. In Gardens of Hawaii, by M. C. Neal (Bishop Museum, Honolulu), Special Publication, 40, 1948.
- Nelson, 1951 .. Medical Botany, by A. Nelson (E. & S. Livingstone Ltd., Edinburgh), 1951.
- Nicholls & Holland .. A Textbook of Tropical Agriculture, by H. A. Nicholls & J. H. Holland (Macmillan & Co. Ltd., London), 1940.
- Ochse .. Fruits and Fruit culture in the Dutch East Indies, by J. J. Ochse (J. Kolff & Co., Batavia), 1931.
- Ochse *et al.* .. Tropical and Subtropical Agriculture, by J. J. Ochse, M. J. Soule, Jr., M. J. Dijkman & C. Wehlburg (The Macmillan Co., New York), 2 vols., 1961.
- Oldham .. Brassica Crops and Allied Cruciferous Crops, by Chas. H. Oldham (Crosby Lockwood & Son Ltd., London), 1948.
- Osmaston .. A Forest Flora of Kumaon, by A. E. Osmaston (Superintendent, U.P. Govt. Press, Allahabad), 1927.
- Parker .. A Forest Flora for the Punjab with Hazara and Delhi, by R. N. Parker (Superintendent, Govt. Punjab, Lahore), 1918.
- Parker, 1933. .. Common Indian Trees, by R. N. Parker (Manager of Publications, Delhi), 1933.
- Parkinson .. A Forest Flora of the Andaman Islands, by C. E. Parkinson (Superintendent, Govt. Central Press, Simla), 1923.
- Parry .. The Chemistry of Essential Oils and Artificial Perfumes, by E. J. Parry (Scott, Greenwood & Son Ltd., London), 2 vols., 1921-22.
- Pearson & Brown .. Commercial Timbers of India, by R. S. Pearson & H. P. Brown (Central Publication Branch, Calcutta), 2 vols., 1932.
- Pennell .. The Scrophulariaceae of the Western Himalayas, by F. W. Pennell (The Academy of Natural Sciences of Philadelphia, Philadelphia), Monograph, No. 5, 1943.
- Percy-Lancaster .. An Amateur in an Indian Garden, by S. Percy-Lancaster (S. Percy-Lancaster, 5, Belvedere Road, Calcutta).
- Perkin & Everest .. The Natural Organic Colouring Matters, by A. G. Perkin & A. E. Everest (Longmans, Green & Co., London), 1918.
- Piper & Morse .. The Soybean, by C. V. Piper & W. G. Morse (McGraw-Hill Book Co., New York), 1923.
- Popenoe .. Manual of Tropical and Sub-Tropical Fruits, by W. Popenoe (The Macmillan Co., New York), 1920.
- Poucher .. Perfumes, Cosmetics and Soaps, with special reference to Synthetics, by W. A. Poucher (Chapman & Hall, Ltd., London), 3 vols., 5th edn, 1950.
- Prater .. The Book of Indian Animals, by S. H. Prater (The Bombay Natural History Society, Bombay), 1947.
- Preston .. Fibre Science, by J. M. Preston (Textile Institute, Manchester), 1949.

- Purewal .. Vegetable Gardening in the Punjab, by S. S. Purewal (Govt. of Punjab, Lahore), 1944.
- Pycraft .. The Standard Natural History, by W. P. Pycraft (Frederick Warne & Co., Ltd., London).
- Quisumbing .. Medicinal Plants of the Philippines, by Edwardo Quisumbing (Department of Agriculture and Natural Resources, Manila), Technical Bulletin, No. 16, 1951.
- Ramakrishna Ayyar .. Handbook of Economic Entomology for South India, by T. V. Ramakrishna Ayyar (Govt. Press, Madras), 1940.
- Rama Rao .. Flowering Plants of Travancore, by M. Rama Rao (Govt. Press, Trivandrum), 1914.
- Ranga Achariyar .. A Handbook of Some South Indian Grasses, by K. Ranga Achariyar (Govt. Press, Madras), 1921.
- Record & Hess .. Timbers of the New World, by S. J. Record & R. W. Hess (Yale University Press, New Haven), 1944.
- Reese .. Outlines of Economic Zoology, by A. M. Reese (The Blakiston Co., Philadelphia), 1942.
- Regan .. Natural History, by C. T. Regan (Ward, Lock & Co. Ltd., London).
- Richharia .. Plant Breeding and Genetics in India, by R. H. Richharia (The Patna Law Press, Patna), 1945.
- Robbins *et al.* .. Weed Control: A Textbook and Manual, by W. W. Robbins, A. S. Crafts & R. N. Raynor (McGraw-Hill Book Co., Inc., New York), 2nd edn, 1952.
- Roberts & Kartar Singh .. Textbook of Punjab Agriculture, by W. Roberts & Kartar Singh (Civil & Military Gazette Ltd., Lahore), 1947.
- Rodger .. A Handbook of the Forest Products of Burma, by A. Rodger (Times of India Press, Bombay), 1943.
- Rose .. Crop Protection, by G. J. Rose [Leonard Hill (Books) Ltd., London], 1955.
- Roy .. Monograph on the Gur Industry of India, by S. C. Roy (Indian Central Sugarcane Committee, New Delhi), 1951.
- Santapau .. Plants of Saurashtra: A Preliminary List, by H. Santapau (Saurashtra Research Society, Rajkot), 1953.
- Schindler .. Inhaltsstoffe und Prüfungsmethoden homöopathisch verwendeter Heilpflanzen, by H. Schindler (Editio Cantor/Aulendorf i. Württ), 1955.
- Sherman .. Chemistry of Food and Nutrition, by H. C. Sherman (The Macmillan Co., New York), 7th edn, 1947.
- Shmuk .. The Chemistry of Technology of Tobacco, by A. Shmuk (Pishchepromizdat, Moscow), Vol. 3, 1953.
- Sovani .. The International Position of India's Raw Materials, by N. V. Sovani (Indian Council of World Affairs, New Delhi).
- Steinmetz .. Materia Medica Vegetabilis, by E. F. Steinmetz (Amsterdam), 3 vols., 1954.
- Sterndale .. Sterndale's Mammalia of India, by F. Finn (Thacker, Spink & Co., Calcutta), 1929.
- Stewart, A. B. .. Report on soil fertility investigations in India with special reference to manuring, by A. B. Stewart (Indian Council of Agricultural Research, Delhi), 1947.
- Tadulingam & Venkatanarayana .. A Handbook of some South Indian Weeds, by C. Tadulingam & G. Venkatanarayana (Superintendent, Govt. Press, Madras), 1932.
- Talbot .. Forest Flora of the Bombay Presidency & Sind, by W. A. Talbot (Govt. of Bombay, Poona), 2 vols., 1909-11.
- Tehon .. The Drug Plants of Illinois, by L. R. Tehon (Natural History Survey Division, Urbana, Illinois), 1951.
- Thompson & Kelly .. Vegetable Crops, by H. C. Thompson & W. C. Kelly (McGraw-Hill Book Co., Inc., New York), 4th edn, 1949.
- Thomson .. Thomson's Outlines of Zoology, by J. A. Thomson; revised by J. Ritchie (Oxford University Press, London), 1948.
- Thorpe .. Thorpe's Dictionary of Applied Chemistry (Longmans, Green & Co., London), 12 vols., 4th edn, 1945-56.
- Titmuss .. A Concise Encyclopedia of World Timbers, by F. H. Titmuss (Philosophical Library, Inc., New York), 1949.
- Trease .. A Textbook of Pharmacognosy, by C. E. Trease (Bailliere, Tindall & Co. London), 7th edn, 1957.
- Trotter, 1940 .. Manual of Indian Forest Utilisation, by H. Trotter (Oxford University Press, London), 1940.
- Trotter, 1944 .. The Common Commercial Timbers of India and their Uses, by H. Trotter (Govt. Press, Delhi), 1944.
- Troup .. The Silviculture of Indian Trees, by R. S. Troup (Oxford University Press, Oxford), 3 vols., 1921.
- Tschirsch & Stock .. Dice Harze, by A. Tschirsch & E. Stock (Verlagvan Gebruder Borntraeger, Berlin), 2 vols., 1936.
- Uphof .. Dictionary of Economic Plants, by J. C. Th. Uphof (Hafner Publishing Co., New York), 1959.

Use of Leguminous Plants	..	Use of Leguminous Plants (International Institute of Agriculture, Rome), 1936.
U.S.D., 1947	..	The United States Dispensatory (J. B. Lippincott Co., Philadelphia), 24th edn, 1947.
U.S.D., 1955	..	The United States Dispensatory (J. B. Lippincott Co., Philadelphia), 25th edn, 1955.
U.S.P.	..	The Pharmacopoeia of the United States of America (Mack Printing Co., Easton, Philadelphia), 12th revision, 1942.
Uvarov, 1928	..	Locusts and Grasshoppers, by B. P. Uvarov (Imperial Bureau of Entomology, London), 1928.
Vavilov	..	The Origin, Variation, Immunity and Breeding of Cultivated Plants, by N. J. Vavilov, translated from the Russian by K. Starr Chester (Chronica Botanica Co., Waltham), Chronica Botanica, Vol. 13, No. 1/6, 1954.
Von Loesbecke, 1942	..	Outlines of Food Technology, by H. W. von Loesbecke (Reinhold Publishing Corp., New York), 1942.
Wadia	..	Geology of India, by D. N. Wadia (Macmillan & Co., Ltd., London), 3rd edn, 1953.
Wallis	..	Textbook of Pharmacognosy, by T. E. Wallis (J. & A. Churchill Ltd., London), 3rd edn, 1955.
Warth	..	The Chemistry & Technology of Waxes, by A. H. Warth (Reinhold Publishing Corp., New York), 1947.
Watt & Breyer-Brandwijk	..	The Medicinal and Poisonous Plants of Southern and Eastern Africa, by J.M. Watt & M.G. Breyer-Brandwijk (E. & S. Livingston Ltd., Edinburgh), 2nd edn, 1962.
Wehmer	..	Die Pflanzenstoffe, by C. Wehmer (Verlag von Gustav Fischer, Jena), 2 vols., 1929-31; supplement, 1935.
Whyte <i>et al.</i>	..	Legumes in Agriculture, by R. O. Whyte, G. Nilsson-Leissner & H. C. Trumble (Food and Agriculture Organisation of the United Nations, Rome), 1953.
Williams	..	Useful and Ornamental Plants of Zanzibar and Pemba, by R. O. Williams (Govt. Press, Zanzibar), 1949.
Williams, K. A.	..	Oils, Fats and Fatty Foods, by K.A. Williams (J. & A. Churchill, Ltd., London), 1950.
Willis <i>et al.</i>	..	Cotton Classing Manual, by H. H. Willis, G. Gage & V. B. Moore (The Textile Foundation, Washington, D.C.), 1938.
Winton & Winton	..	The Structure and Composition of Foods, by A. L. Winton & K. B. Winton (John Wiley & Sons, New York), 4 vols., 1935.
Wise & Jahn	..	Wood Chemistry, edited by L. E. Wise & E. C. Jahn (Reinhold Publishing Corp., New York), 2 vols., 2nd edn, 1952.
Witteoff	..	The Phosphatides, by H. Witteoff (Reinhold Publishing Corp., New York), 1951.
With India	..	The Wealth of India—A Dictionary of Indian Raw Materials and Industrial Products (Council of Scientific & Industrial Research, New Delhi), Raw Materials, Vol. I-VII, 1948-66; Industrial Products pts. I-VI, 1948-65.
Wolf	..	Aromatic or Oriental Tobaccos, by F. A. Wolf (Duke University Press, North Carolina), 1962.
Wren	..	Potter's New Cyclopaedia of Botanical Drugs & Preparations, by R. C. Wren; revised by R. W. Wren (Potter & Clarke Ltd., London), 7th edn, 1956.
Yegna Narayan Aiyer	..	Field Crops of India, with special reference to Mysore, by A. K. Yegna Narayan Aiyer (The Bangalore Printing & Publishing Co. Ltd., Bangalore), 3rd. edn, 1950.
Yegna Narayan Aiyer, 1948	..	Principles of Crop Husbandry in India, by A. K. Yegna Narayan Aiyer (Bangalore Press, Bangalore), 1948.
Yegna Narayan Aiyer, 1950	..	Feeds & Fodders, by A. K. Yegna Narayan Aiyer (The Bangalore Printing & Publishing Co. Ltd., Bangalore), 1950.
Youngken	..	Textbook of Pharmacognosy, by H. W. Youngken (The Blakiston Co., Philadelphia), 6th edn, 1950.

संदर्भ अनुसंधान पत्रिकाओं की सूची

<i>Agric. Anim. Husb., Uttar Pradesh</i>	..	Agriculture and Animal Husbandry, Uttar Pradesh. Lucknow.
<i>Agric. Gaz. N.S.W.</i>	..	Agricultural Gazette of New South Wales. Sydney.
<i>Agric. Handb. U. S. Dep. Agric.</i>	..	Agriculture Handbook. United States Department of Agriculture. Washington, D.C.
<i>Agric. J. Bihar-Orissa</i>	..	Agricultural Journal of Bihar and Orissa. Patna.
<i>Agric. J. India</i>	..	Agricultural Journal of India. Pusa.
<i>Agric. Ledger</i>	..	Agricultural Ledger. Calcutta.
<i>Agric. Live-Stock India</i>	..	Agriculture and Live-Stock in India, New Delhi.
<i>Agric. Marketing</i>	..	Agricultural Marketing. Nagpur.
<i>Agric. Situat. India</i>	..	Agricultural Situation in India. New Delhi.
<i>Agric. Surv. Burma</i>	..	Agricultural Surveys, Burma, Rangoon.
<i>Agriculture, Lond.</i>	..	Agriculture. London.
<i>Agron. J.</i>	..	Agronomy Journal. Washington, D.C.
<i>Allahabad Fmr</i>	..	Allahabad Farmer. Allahabad.
<i>American Dyest. Rep.</i>	..	American Dyestuff Reporter, New York.
<i>Andhra agric. J.</i>	..	Andhra Agricultural Journal. Bapatla, Andhra.
<i>Ann. Biochem.</i>	..	Annals of Biochemistry and Experimental Medicine. Calcutta.
<i>Ann. mycol. Berl.</i>	..	Annales mycologici. Berlin.
<i>Ann. N. Y. Acad. Sci.</i>	..	Annals of the New York Academy of Sciences. New York.
<i>Ann. R. bot. Gdn, Calcutta</i>	..	Annals of the Royal Botanic Gardens, Calcutta.
<i>Annu. Rep. Dep. Agric., Assam</i>	..	Annual Report of the Department of Agriculture, Assam, Shillong.
<i>Annu. Rep. Dep. Agric. Punjab</i>	..	Annual Report on the operation of the Department of Agriculture, Punjab. Chandigarh.
<i>Annu. Rep. Indian cent. Sugarcane Comm.</i>	..	Annual Report on Indian Central Sugarcane Committee. Delhi.
<i>Anti-Locust Bull.</i>	..	Anti-Locust Bulletin. London.
<i>Arecan. Bull.</i>	..	Arecanut Bulletin, Kozhikode.
<i>Aust. J. Chem.</i>	..	Australian Journal of Chemistry. Melbourne.
<i>Aust. J. sci. Res.</i>	..	Australian Journal of Scientific Research. Melbourne.
<i>Bibl. genet., Lpz.</i>	..	Bibliotheca genetica, Leipzig.
<i>Biochem. J.</i>	..	Biochemical Journal. Cambridge.
<i>Biol. Abstr.</i>	..	Biological Abstracts, Philadelphia, Pa.
<i>Biol. Rev.</i>	..	Biological Reviews and Biological Proceedings of the Cambridge Philosophical Society, Cambridge.
<i>Bombay Cott. Annu.</i>	..	Bombay Cotton Annual, Bombay.
<i>Bot. Bull. Acad. sinica</i>	..	Botanical Bulletin of Academia Sinica. Shanghai.
<i>Bot. Rev.</i>	..	Botanical Review, Lancaster. Pa.
<i>Brit. chem. Abstr.</i>	..	British Chemical Abstracts. London.
<i>Brit. J. appl. Phys.</i>	..	British Journal of Applied Physics. London.
<i>Bull. Acad. Sci. Unlt. Prov.</i>	..	Bulletin of the Academy of Sciences of the United Provinces of Agra and Oudh. Allahabad.
<i>Bull. agric. Res. Inst. Pusa</i>	..	Bulletin. Agricultural Research Institute, Pusa. Calcutta.
<i>Bull. Calcutta Sch. trop. Med.</i>	..	Bulletin of the Calcutta School of Tropical Medicine. Calcutta.
<i>Bull. cent. Fd technol. Res. Inst., Mysore</i>	..	Bulletin. Central Food and Technological Research Institute. Mysore.
<i>Bull. Cent. Leath. Res. Inst., Madras</i>	..	Bulletin of the Central Leather Research Institute, Madras.
<i>Bull. cent. Res. Inst., Univ. Kerala</i>	..	Bulletin of the Central Research Institute, University of Kerala. Trivandrum.
<i>Bull. Coun. sci. industr. Res. Aust.</i>	..	Bulletin. Council for Scientific and Industrial Research. Australia. Melbourne.
<i>Bull. Dep. Agric. Assam</i>	..	Bulletin. Department of Agriculture, Assam. Shillong.
<i>Bull. Dep. Agric. Bombay</i>	..	Bulletin. Department of Agriculture, Bombay. Bombay.
<i>Bull. Dep. Agric. Burma</i>	..	Bulletin. Department of Agriculture, Burma, Rangoon.
<i>Bull. Dep. Agric. F.M.S.</i>	..	Bulletin of the Department of Agriculture, Federal Malay States. Kuala Lumpur.
<i>Bull. Dep. Agric. Madras</i>	..	Bulletin. Department of Agriculture, Madras. Madras.
<i>Bull. Dep. sci. industr. Res. N. Z.</i>	..	Bulletin. Department of Scientific and Industrial Research, New Zealand. Wellington.
<i>Bull. econ. Indoch.</i>	..	Bulletin. economique de l'Indochine. Hanoi.
<i>Bull. Fl. agric. Exp. Sta.</i>	..	Bulletin. Florida Agricultural Experiment Station. Gainesville.
<i>Bull. geol. Surv. India, Ser. A.</i>	..	Bulletin of the Geological Survey of India, Series A. Economic Geology. Calcutta.
<i>Bull. Hyderabad geol. Ser.</i>	..	Bulletin. Hyderabad Geological Series, Hyderabad.
<i>Bull. imp. Inst., Lond.</i>	..	Bulletin of the Imperial Institute. London.
<i>Bull. Indian Coun. agric. Res.</i>	..	Bulletin. Indian Council of Agricultural Research. Delhi.

- Bull. Jard. bot. Buitenz.* .. Bulletin du Jardin botanique de Buitenzorg. Buitenzorg.
Bull. Minist. Agric. Egypt .. Bulletin. Ministry of Agriculture. Cairo. Egypt.
Bull. Minist. Agric., Lond. .. Bulletin. Ministry of Agriculture and Fisheries. London.
Bull. nat. bot. Gdns, Lucknow .. Bulletin of the National Botanical Gardens, Lucknow. Lucknow.
Bull. Org. sci. Res. Indonesia .. Bulletin of the Organisation for Scientific Research in Indonesia. Djakarta.
Bull. R. trop. Inst., Amst. .. Bulletin of the Royal Tropical Institute, Amsterdam.
Bull. sci. industr. Res. Org., Aust. .. Bulletin of the Commonwealth Scientific and Industrial Research Organisation, Australia. Melbourne.
Bull. U.S. Dep. Agric. .. Bulletin. United States Department of Agriculture, Washington, D.C.
Bur. agric. industr. Chem., U.S. Dep. Agric. .. Bureau of Agricultural and Industrial Chemistry, Agricultural Research Administration. United States Department of Agriculture. Philadelphia, Pa.
Calcutta Rev. .. Calcutta Review. Calcutta.
Candollea .. Candollea. Geneva.
Capital .. Capital. Calcutta.
Cawnpore agric. Coll. Stud. Mag. .. Cawnpore Agricultural College Students Magazine. Kanpur.
Chem. Abstr. .. Chemical Abstracts. Easton, Pa.
Chem. Age India .. Chemical Age of India. Bombay.
Chem. & Ind. .. Chemistry and Industry. London.
Chem. Engng .. Chemical Engineering. Albany, N.Y.
Chem. Engng News .. Chemical and Engineering News, Easton, Pa.
Chem. Rev. .. Chemical Reviews. Baltimore.
Chemurg. Dig. .. Chemurgic Digest. Columbus, Ohio.
Circ. U.S. Bur. Pl. Ind. .. Circular, United States Department of Agriculture, Bureau of Plant Industry. Washington, D.C.
Circ. U.S. Dep. Agric. .. Circular. United States Department of Agriculture. Washington. D.C.
Circ. U.S. nat. Bur. Stand. .. Circular, United States National Bureau of Standards, Washington.
Colon. Pl. Anim. Prod. .. Colonial Plant and Animal Products, London.
Comp. Wood .. Composite Wood. Dehra Dun.
Conf. Cott.-gr. Probl. .. Conference on Cotton-Growing Problems, London.
Conf. Cott.-gr. Probl. India .. Conference on Cotton-Growing Problems in India, Bombay.
Conf. Sci. Res. Workers on Cott. India. .. Conference of Scientific Research Workers on Cotton in India, Bombay.
Contr. Boyce Thompson Inst. .. Contributions. Boyce Thompson Institute for Plant Research. Menasha, Wisconsin.
Cotton in India. .. Cotton in India, Delhi.
Cott. Oil Pr. .. Cotton Oil Press, Washington, D.C.
Cotton Trade J. Yearb. .. Cotton Trade Journal. Yearbook, International Edition, Memphis, Tenn.
CSIR News .. CSIR News. New Delhi.
Curr. Sci. .. Current Science. Bangalore.
Dep. Agric., Fed. Malaya, Sci. Ser. .. Department of Agriculture, Federation of Malaya. Scientific Series, Johore, Bahru.
Def. Sci. J. .. Defence Science Journal. New Delhi.
Discovery .. Discovery. London.
E. Afr. agric. J. .. East African Agricultural Journal. Nairobi.
East. Met. Rev. .. Eastern Metals Review. Calcutta.
Econ. Bot. .. Economic Botany. Lancaster, Pa.
Econ. Geogr. .. Economic Geography, Worcester, Mass.
Emp. Cott. Gr. Rev. .. Empire Cotton Growing Review, London.
Emp. J. exp. Agric. .. Empire Journal of Experimental Agriculture. Oxford.
Farm Bull. Indian Coun. agric. Res. .. Farm Bulletin, Indian Council of Agricultural Research, New Delhi.
Farmer .. Farmer. Bombay.
Fertil. News .. Fertilizer News. New Delhi.
Field Crop Abstr. .. Field Crop Abstracts. Aberystwyth.
Fmg in S. Afr. .. Farming in South Africa. Pretoria.
Fmrs' Bull. U.S. Dep. Agric. .. *Farmers' Bulletin. United States Department of Agriculture, Washington, D. C.*
Food Res. .. Food Research. Champaign, Ill.
Food Sci. Abstr. .. Food Science Abstracts, London.
For. Res. India .. Forest Research in India. Calcutta.
For. Abstr. .. Forestry Abstracts. Commonwealth Agriculture Bureaux. Farnham Royal.
For. Res. India .. Forest Research in India (and Burma). Calcutta.
Gdns' Bull. .. Gardens' Bulletin. Straits Settlements. Singapore.
Handb. Inst. Nutr. Philipp. .. Handbook. Institute of Nutrition, Philippines. Manila.
Helv. chim. acta .. Helvetica chimica acta. Basel, Genf.
Heredity .. Heredity. London.

<i>Hlth Bull.</i>	..	Health Bulletin. New Delhi.
<i>Hort. Abstr.</i>	..	Horticultural Abstracts. East Mallang.
<i>Hort. Abstr., India</i>	..	Horticultural Abstracts. Indian Council of Agricultural Research, New Delhi.
<i>Indian Ceram.</i>	..	Indian Ceramics. Calcutta.
<i>Indian Coffee</i>	..	Indian Coffee. Bangalore.
<i>Indian Cott. Gr. Rev.</i>	..	Indian Cotton Growing Review. Bombay.
<i>Indian Cott. Statist.</i>	..	Indian Cotton Statistics. Delhi.
<i>Indian Cott. Text. Industr.</i>	..	Indian Cotton Textile Industries, Annual. Bombay.
<i>Indian east. Engr</i>	..	Indian and Eastern Engineer. Calcutta.
<i>Indian Fmg</i>	..	Indian Farming. New Delhi.
<i>Indian Fmg, N.S.</i>	..	Indian Farming. New Series. New Delhi.
<i>Indian For.</i>	..	Indian Forester. Dehra Dun.
<i>Indian For. Bull.</i>	..	Indian Forest Bulletin. Dehra Dun.
<i>Indian For. Bull. (N.S.)</i>	..	Indian Forest Bulletin (New Series). Delhi.
<i>Indian For. Leaflet.</i>	..	Indian Forest Leaflets. Dehra Dun.
<i>Indian For. Rec.</i>	..	Indian Forest Records. Dehra Dun.
<i>Indian For. Rec., N.S., Bot.</i>	..	Indian Forest Records. New Series. Botany. Dehra Dun.
<i>Indian For. Rec., N.S., Chem. & Minor. For. Prod.</i>	..	Indian Forest Records. New Series. Chemistry and Minor Forest Products. Dehra Dun.
<i>Indian For. Rec., N.S., Mycol.</i>	..	Indian Forest Records. New Series. Mycology. Dehra Dun.
<i>Indian For. Rec., N.S., Timb. Mech.</i>	..	Indian Forest Records. New Series. Timber Mechanics. Dehra Dun.
<i>Indian For. Rec., N.S., Util.</i>	..	Indian Forest Records. New Series. Utilization. Dehra Dun.
<i>Indian Hort.</i>	..	Indian Horticulture. New Delhi.
<i>Indian J. agric. Sci.</i>	..	Indian Journal of Agricultural Science. New Delhi.
<i>Indian J. Agron.</i>	..	Indian Journal of Agronomy. New Delhi.
<i>Indian J. Dairy Sci.</i>	..	Indian Journal of Dairy Science. Bangalore.
<i>Indian J. Ent.</i>	..	Indian Journal of Entomology. New Delhi.
<i>Indian J. Fish.</i>	..	Indian Journal of Fisheries. New Delhi.
<i>Indian J. Genet.</i>	..	Indian Journal of Genetics and Plant Breeding. New Delhi.
<i>Indian J. Hort.</i>	..	Indian Journal of Horticulture. New Delhi.
<i>Indian J. med. Res.</i>	..	Indian Journal of Medical Research. Calcutta.
<i>Indian J. Pharm.</i>	..	Indian Journal of Pharmacy. Bombay.
<i>Indian J. Physiol.</i>	..	Indian Journal of Physiology and Allied Sciences. Calcutta.
<i>Indian J. vet. Sci.</i>	..	Indian Journal of Veterinary Science and Animal Husbandry. New Delhi.
<i>Indian med. Gaz.</i>	..	Indian Medical Gazette. Calcutta.
<i>Indian med. Res. Mem.</i>	..	Indian Medical Research Memoirs. Calcutta.
<i>Indian Miner.</i>	..	Indian Minerals. Calcutta.
<i>Indian Miner. Ind.</i>	..	Indian Mineral Industries. Bombay.
<i>Indian Miner. Yearb.</i>	..	Indian Minerals Yearbook. Nagpur.
<i>Indian Min. J.</i>	..	Indian Mining Journal. Calcutta.
<i>Indian Phytopath.</i>	..	Indian Phytopathology. New Delhi.
<i>Indian Pr. Pap.</i>	..	Indian Print and Paper. Calcutta.
<i>Indian Pulp Pap.</i>	..	Indian Pulp and Paper. Calcutta.
<i>Indian Seafoods</i>	..	Indian Seafoods. Ernakulam.
<i>Indian Soap J.</i>	..	Indian Soap Journal. Calcutta.
<i>Indian Text. J.</i>	..	Indian Textile Journal. Bombay.
<i>Indian Tob.</i>	..	Indian Tobacco. Madras.
<i>Indian Tr. J.</i>	..	Indian Trade Journal. Calcutta.
<i>Indian zool. Mem.</i>	..	Indian Zoological Memoirs. Lucknow.
<i>Industr. Engng Chem.</i>	..	Industrial and Engineering Chemistry. Easton, Pa.
<i>Industr. India</i>	..	Industrial India. Bombay.
<i>Int. Cott. Bull.</i>	..	International Cotton Bulletin. Manchester.
<i>Iron & Steel Rev.</i>	..	Iron and Steel Review. Calcutta.
<i>J. agric. Res.</i>	..	Journal of Agricultural Research. Washington, D.C.
<i>J. agric. Sci.</i>	..	Journal of Agricultural Science. Cambridge.
<i>J. Amer. chem. Soc.</i>	..	Journal of the American Chemical Society. Easton, Pa.
<i>J. Amer. Oil Chem. Soc.</i>	..	Journal of the American Oil Chemists' Society. Chicago. Ill.
<i>J. Amer. pharm. Ass.</i>	..	Journal of the American Pharmaceutical Association. Scientific Edn. Columbus.
<i>J. Arnold Arbor.</i>	..	Journal of the Arnold Arboretum. Lancaster, Pa.
<i>J. Asiat. Soc. Beng., N.S.</i>	..	Journal and Proceedings of the Asiatic Society of Bengal. New Series. Calcutta.

- J. Aust. Inst. agric. Sci.* .. *Journal of Australian Institute of Agricultural Science.* Sydney.
J. biol. Chem. .. *Journal of Biological Chemistry.* Baltimore, Md.
J. Bombay nat. Hist. Soc. .. *Journal of the Bombay Natural History Society.* Bombay.
J. chem. Soc. .. *Journal of the Chemical Society.* London.
J. Dep. Agric. P.R. .. *Journal of the Department of Agriculture, Porto Rico, San Juan.*
J. econ. Ent. .. *Journal of Economic Entomology.* Geneva, N.Y.
J. exp. Biol. .. *Journal of Experimental Biology.* Cambridge.
J. Genet. .. *Journal of Genetics.* Cambridge.
J. Ind. & Tr. .. *Journal of Industry and Trade.* New Delhi.
J. Indian bot. Soc. .. *Journal of the Indian Botanical Society.* Madras.
J. Indian chem. Soc. .. *Journal of the Indian Chemical Society.* Calcutta.
J. Indian chem. Soc., industr. Edn .. *Journal of the Indian Chemical Society, Industrial and News Edition.* Calcutta.
J. Indian Inst. Sci. .. *Journal of the Indian Institute of Science.* Bangalore.
J. industr. Engng Chem. .. *Journal of Industrial and Engineering Chemistry.* Easton, Pa.
J. Inst. Chem. India .. *Journal and Proceedings of the Institution of Chemists, India.* Calcutta.
J. Leath. Technol. Ass. India .. *Journal of Leather Technologists' Association (India).* Calcutta.
J. Malac. Inst. India .. *Journal of Malaria Institute of India.* Calcutta.
J. Mar. biol. Ass. U.K. .. *Journal of Marine Biological Association of the United Kingdom.* Plymouth.
J.N.Y. bot. Gdn .. *Journal of the New York Botanical Garden.* New York.
J. org. Chem. .. *Journal of Organic Chemistry.* Easton, Pa.
J. Pharm., Lond. .. *Journal of Pharmacy and Pharmacology.* London.
J. Sci. Club, Calcutta .. *Journal of the Science Club.* Calcutta.
J. Sci. Fed Agric. .. *Journal of the Science of Food and Agriculture.* London.
J. Sci. industr. Res. .. *Journal of Scientific and Industrial Research.* New Delhi.
J. Sci. Instrum. .. *Journal of Scientific Instruments (and of Physics in Industry).* London.
J. Sci. Res. Banaras Hindu Univ. .. *Journal of Scientific Research of the Banaras Hindu University.* Varanasi.
J. Sci. Res. Indonesia .. *Journal for Scientific Research in Indonesia.* Djakarta.
J. Soc. chem. Ind., London .. *Journal of the Society of Chemical Industry.* London.
J. Text. Inst. .. *Journal of the Textile Institute.* Manchester.
J. Timb. Dryers' & Pres. Ass. India .. *Journal of the Timber Dryers' and Preservers' Association of India.* Dehra Dun.
J. Univ. Bombay. .. *Journal of the University of Bombay.* Bombay.
J. Zool. Soc. India. .. *Journal of the Zoological Society of India.* Calcutta.
Jt Publ. imp. agric. Bur. .. *Joint Publications, Imperial (Commonwealth) Agricultural Bureau.* Aberystwyth.
Kew Bull. .. *Kew Bulletin.* Royal Botanic Gardens, Kew.
Kew Bull. Addl. Ser. .. *Kew Bulletin. Additional Series.* Royal Botanic Gardens, Kew.
Leaflet, Dep. Agric. Assam .. *Leaflet, Department of Agriculture, Assam.* Shillong.
Leaflet, U.S. Dep. Agric. .. *Leaflet, United States Department of Agriculture.* Washington.
Lloydia .. *Lloydia.* Ohio.
Madras agric. J. .. *Madras Agricultural Journal.* Coimbatore.
Malay. agric. J. .. *Malayan Agricultural Journal.* Kuala Lumpur.
Malay. For. Rec. .. *Malayan Forest Records.* Singapore.
Mem. Dep. Agric. India, Bot. .. *Memoirs of the Department of Agriculture in India, Botanical Series.* Pusa.
Mem. Dep. Agric. India, Chem. .. *Memoirs of the Department of Agriculture in India, Chemical Series.* Pusa.
Mem. geol. Surv. India .. *Memoirs of the Geological Survey of India.* Calcutta.
Mem. Indian Mus. .. *Memoirs of the Indian Museum.* Calcutta.
Min. J. .. *Mining Journal.* London.
Miner. Surv. Rep., Jammu & Kashmir .. *Mineral Survey Report, Jammu & Kashmir Government.* Srinagar.
Miner. Yearb. Wash. .. *Minerals Yearbook.* Washington.
Misc. Bull. Indian Imp. Coun. agric. Res. .. *Miscellaneous Bulletin, Indian Imperial Council of Agricultural Research.* New Delhi.
Misc. Bull. U.S. Dep. Agric. .. *Miscellaneous Bulletin, United States Department of Agriculture.* Washington, D.C.
Misc. Publ. Indian Cott. Comm. .. *Miscellaneous Publication, Indian Central Cotton Committee.* Bombay.
Misc. Publ. U.S. Dep. Agric. .. *Miscellaneous Publication, United States Department of Agriculture.* Washington D.C.
Mysore agric. J. .. *Mysore Agricultural Journal.* Bangalore.
Nature, Lond. .. *Nature.* London.
New Phytol. .. *New Phytologist.* Cambridge.
N.Z.J. Sci. Tech. .. *New Zealand Journal of Science and Technology.* Wellington.
Oils & Oilseeds J. .. *Oils and Oilseeds Journal.* Bombay.
Oilseeds Ser., Indian Oilseeds Comm. .. *Oilseeds Series, Indian Central Oilseeds Committee.* Hyderabad.
Pacif. Sci. .. *Pacific Science.* Honolulu.

<i>Paintindia</i>	..	Paintindia. Bombay.
<i>Pakist. J. Sci.</i>	..	Pakistan Journal of Science. Lahore.
<i>Pakist. J. sci. industr. Res.</i>	..	Pakistan Journal of Scientific and Industrial Research. Karachi.
<i>Perfum. essent. Oil Rec.</i>	..	Perfumery and Essential Oil Record. London.
<i>Philipp. Agric.</i>	..	Philippine Agriculturist. Los Banos.
<i>Philipp. agric. Rev.</i>	..	Philippine Agricultural Review. Manila.
<i>Philipp. J. Agric.</i>	..	Philippine Journal of Agriculture. Manila.
<i>Philipp. J. Sci.</i>	..	Philippine Journal of Science. Manila.
<i>Plant Physiol.</i>	..	Plant Physiology. Lancaster, Pa.
<i>Poona agric. Coll. Mag.</i>	..	Poona Agricultural College Magazine. Poona.
<i>Proc. Acad. Sci. Unit. Prov.</i>	..	Proceedings of the Academy of Sciences of the United Provinces of Agra and Oudh. Allahabad.
<i>Proc. Amer. Soc. hort. Sci.</i>	..	Proceedings. American Society for Horticultural Science. College Park, Md.
<i>Proc. Ass. econ. Biol., Coimbatore</i>	..	Proceedings of the Association of Economic Biologists. Coimbatore.
<i>Proc. Indian Acad. Sci.</i>	..	Proceedings of the Indian Academy of Sciences. Bangalore.
<i>Proc. Indian Sci. Congr.</i>	..	Proceedings of the Indian Science Congress. Calcutta.
<i>Proc. Indo-Pacif. Fish Coun.</i>	..	Proceedings. Indo-Pacific Fisheries Council. Bangkok.
<i>Proc. nat. Acad. Sci. India</i>	..	Proceedings of the National Academy of Sciences. India. Allahabad.
<i>Proc. nat. Inst. Sci. India</i>	..	Proceedings of the National Institute of Sciences of India. New Delhi.
<i>Proc. roy. Soc.</i>	..	Proceedings of the Royal Society. London.
<i>Punjab Fmr</i>	..	Punjab Farmer. Simla.
<i>Quart. J. For.</i>	..	Quarterly Journal of Forestry. London.
<i>Quart. J. geol. Soc. India</i>	..	Quarterly Journal of the Geological, Mining and Metallurgical Society of India. Calcutta.
<i>Rec. bot. Surv. India</i>	..	Records of the Botanical Survey of India. Calcutta.
<i>Rec. geol. Surv. India</i>	..	Records of the Geological Survey of India. Calcutta.
<i>Rec. Indian Mus.</i>	..	Records of the Indian Museum. Delhi.
<i>Rec. Mysore geol. Dep.</i>	..	Records of the Mysore Geological Department. Bangalore.
<i>Reinwardtia</i>	..	Reinwardtia. Kebun Raya.
<i>Rep. Dep. Res. Univ. Travancore</i>	..	Report. Department of Research. University of Travancore. Trivandrum.
<i>Rep. essent. Oils Schimmel</i>	..	Annual Report on Essential Oils, Aromatic Chemicals and Related Materials, Schimmel & Co., New York.
<i>Rep. Indian Cott. Comm.</i>	..	Annual Report. Indian Central Cotton Committee. Bombay.
<i>Rep. Indian Cott. Comm. Lab.</i>	..	Annual Report. Indian Central Cotton Committee. Technological Laboratory. Bombay.
<i>Rep. Res. Oilseed Crops, Indian Oilseeds Comm.</i>	..	Report on Research on Oilseed Crops in India. Indian (Central) Oilseeds Committee. New Delhi.
<i>Res. & Ind.</i>	..	Research and Industry. New Delhi.
<i>Res. Mem. Empire Cott. Gr. Corp.</i>	..	Research Memoirs. Empire Cotton Growing Corporation. London.
<i>Science</i>	..	Science. New York.
<i>Sci. & Cult.</i>	..	Science and Culture. Calcutta.
<i>Sci. Monogr., Coun. agric. Res. India.</i>	..	Scientific Monograph. Imperial (Indian) Council of Agricultural Research. India. Calcutta.
<i>Sci. Monogr. Indian Cott. Comm.</i>	..	Scientific Monograph. Indian Central Cotton Committee. Bombay.
<i>Sci. News Lett., Wash.</i>	..	Science News Letter. Washington, D.C.
<i>Sci. Progr.</i>	..	Science Progress. Washington, D.C.
<i>Seafood Tr. J.</i>	..	Seafood Trade Journal. Cochin.
<i>S. Indian Hort.</i>	..	South Indian Horticulture. Coimbatore.
<i>Streatfield Lect.</i>	..	Streatfield Memorial Lecture. London.
<i>Tanner</i>	..	Tanner. Bombay.
<i>Tech. Bull. Cent. Fd. technol. Res. Inst., Mysore.</i>	..	Technical Bulletin. Central Food and Technological Research Institute. Mysore.
<i>Tech. Bull. U.S. Dep. Agric.</i>	..	Technical Bulletin. United States Department of Agriculture. Washington, D.C.
<i>Technol. Bull. Indian Cott. Comm.</i>	..	Technological Bulletin. Indian Central Cotton Committee. Bombay.
<i>Tetrahedron Lett.</i>	..	Tetrahedron Letter. London.
<i>Text. Mfr., Manchr.</i>	..	Textile Manufacturer. Manchester.
<i>Textile Res. (J)</i>	..	Textile Research (Journal). Lancaster, Pa.
<i>Textile World</i>	..	Textile World. New York.
<i>Tobacco, N.Y</i>	..	Tobacco. New York.
<i>Tocklai exp. Sta. Memot.</i>	..	Tocklai Experimental Station Memorandum. Assam.
<i>Trans. Bose Res. Inst.</i>	..	Transactions of the Bose Research Institute. Calcutta.
<i>Trans. Brit. mycol. Soc.</i>	..	Transactions of the British Mycological Society. London.

Trans. Fed. Inst. Min. Eng.
Trans. Indian ceram. Soc.
Trans. Linn. Soc. Lond. (Bot.)
Trans. Min. geol. Inst. India

Trans. Turkest. Pl. Breed. Sta.
Trop. Agriculture, Trin.
Trop. Agriculturist
W. Ind. Bull.
World Crops
Yearb. Agric. U.S. Dep. Agric.

.. *Transactions of the Federal Institute of Mining and Engineering.*
 .. *Transactions of the Indian Ceramic Society, Calcutta.*
 .. *Transactions of the Linnacan Society of London (Botany). London.*
 .. *Transactions of the Mining and Geological (and Metallurgical) Institute of India.*
 Calcutta.
 .. *Transactions of the Turkestan Plant Breeding Station. Leningrad.*
 .. *Tropical Agriculture. Trinidad.*
 .. *Tropical Agriculturist and Magazine of the Ceylon Agricultural Society. Peradeniya.*
 .. *West Indian Bulletin. Barbados.*
 .. *World Crops. London.*
 .. *Yearbook of Agriculture. United States Department of Agriculture. Washington,*
 D.C.

प्राकृतिक पदार्थ
तृतीय खण्ड : ख—न

खनिज सोते MINERAL SPRINGS

भारत में बहुत से खनिज सोते अथवा भूगर्भी जलाशयों से फूट जल-प्रवाह पाये जाते हैं। इनमें से कुछ तप्त अथवा गर्म सोते हैं। भारत के भू-वैज्ञानिक सर्वेक्षण विभाग ने ऐसे लगभग 300 सोतों का उल्लेख किया है। चाहे गर्म हों, चाहे ठण्डे, सभी खनिज सोतों के जल में लवणों की कुछ न कुछ मात्रा मिली रहती है। इनमें लोग नहाते हैं और औषध के रूप में अथवा वैसे ही इनका जल पीते भी हैं। विश्वास किया जाता है कि इनमें से कुछ शारीरिक रोगों को अच्छा करते हैं अथवा उसमें लाभ पहुँचाते हैं। चंगरीजद में और हिमालय में स्थित गर्म सोतों के निकट पत्थरों पर नहाने और पीने के विषय में जो हिदायतें खुदी हुई मिलती हैं उनसे इस विश्वास की पुष्टि होती है। गुजरात के सूरत जिले में देवकी उनाई, बिहार के मुंगेर जिले में सीताकुण्ड, पश्चिमी बंगाल के वीरभूम जिले में वक्रेश्वर और अन्य स्थानों में पाए जाने वाले कुछ सोतों को सामान्य लोग दैवी मानते हैं। अतः यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि अनेक तीर्थ-स्थल, यथा गढ़वाल जिले में वद्रीनाथ, और देहरी में जमनोत्री गर्म सोतों के निकट स्थित हैं।

बहुत से देशों में खनिज सोते, खनिज जलों और औषधीय तथा पेय जलों का व्यवसाय होता है। किन्तु भारत में, धार्मिक मठाधीशता एवं स्वार्थों और निजी स्वामित्व की कठिनाइयों के कारण ऐसा करना सम्भव नहीं हो सका है। भारत के भू-वैज्ञानिक सर्वेक्षण विभाग ने इन सोतों की व्यावसायिक सम्भावनाओं का अध्ययन करने के लिए द्वितीय विश्व-युद्ध के आरम्भिक दिनों में उनके विधिवत सर्वेक्षण का कार्य प्रारम्भ किया था किन्तु 1941 में वह स्थगित हो गया। कुल मिलाकर 112 सोतों का अध्ययन किया गया। इन सोतों की सबसे अधिक संख्या बिहार और महाराष्ट्र में है और फिर उससे कम पश्चिमी बंगाल, उत्तर प्रदेश, पूर्वी पंजाब और मध्य प्रदेश में है। अन्य राज्यों का सर्वेक्षण नहीं किया जा सका। इस सर्वेक्षण से ज्ञात होता है कि अधिकांश सोते ऐसी चौड़ी पट्टियों में स्थित हैं जो क्षेत्रीय विवर्तनिक प्रवृत्तियों के द्वारा निर्मित हुई हैं। बिहार के कोयला-क्षेत्र में ये सोते कोयला-क्षेत्रों की पूर्व-पश्चिम सीमाओं के समान्तर पाए जाते हैं। ये सीमायें सुस्पष्ट विभ्रंशों के द्वारा लक्षित होती हैं। मुंगेर जिले के सोते उत्तर-उत्तर-पूर्व-दक्षिण-पश्चिम से उत्तरपूर्व-दक्षिणपश्चिम झुकाव की हुई खड़गपुर पहाड़ियों के क्वार्ट्जाइट उभारों का अनुसरण करते हैं। इसी प्रकार राजगिर सोतों का पूर्व-उत्तर-पूर्व-पश्चिम-दक्षिणपश्चिम झुकाव भी क्वार्ट्जाइट उभार के समान्तर है। इन सोतों के रेखीय वितरण से स्वलन तलों का आभास मिलता है। बिहार के सोते आद्य महाकल्पीय भू-भाग में हैं और उनकी संरचना की कुछ विशिष्टताएं हैं जो वहाँ की चट्टानों की प्रकृति के कारण समझी जाती हैं।

महाराष्ट्र के रत्नगिरि, थाना और कोलाबा तथा गुजरात के सूरत जिले के गर्म सोतों का समूह भारत के पश्चिमी तट के उत्तर-दक्षिण झुकाव के साथ चलता है, जिसके सम्बंध में यह विचार है कि ऐसा तृतीय महाकल्प के विक्षोभों से होने वाले स्वलनों द्वारा हुआ होगा। ताप्ती घाटी में डेकन ट्रैप पर जो गर्म सोते हैं उनका उद्भव सम्भवतः समान कारण से हुआ होगा।

हिमालयी पट्टी के सोते पर्वतमाला की विवर्तनिक प्रवृत्ति के साथ मिलते हैं। कुछ सोते विक्षोभ की मुख्य पट्टियों से बाहर भी पाए जाते

हैं और पृथ्वी की पपड़ी के स्वलन के साथ इनका सम्बंध स्थापित करने के लिए विस्तृत जाँच की आवश्यकता है (Ghosh, *Rec. geol. Surv. India*, 1954, 80, 541).

वितरण

असम — कचार जिले में कोपिली (25°30'30" : 92°41') और सिवासागर जिले में नामबोर (26°24' : 93°56') के निकट कई गर्म सोते (ताप लगभग 55°) पाए जाते हैं (La Touche, 373).

आन्ध्र — गोदावरी जिले में एक गर्म सोता (ताप 60°) गोंडाला (17°39' : 81°0') के निकट गोदावरी के तल में निकलता है। इसमें हाइड्रोजन सल्फाइड की हल्की गंध निकलती है। इसके जल में सोडियम सल्फाइड, सोडियम क्लोराइड और कैल्सियम क्लोराइड की अल्प मात्राएं पाई जाती हैं। कुरनूल जिले में लंजावंडा (15°30' : 78°3'30"), महानदी (15°29' : 78°41') और कालवा (15°37' : 78°16') के निकट कई सोते पाए जाते हैं। गुलवर्गा जिले में वुजुल (16°28'30" : 76°36'30") और मुडामूर (16°36' : 76°33') के सोतों से बहुत पानी निकलता है। वारंगल जिले में बैथोरा (17°56' : 80°47') के निकट के सोते से 12 मी. × 9 मी. × 1.5 मी. आकार का एक जलाशय बन गया है। इसका पानी कुछ कुछ कार्बोनेटित है (La Touche, 382-84).

उत्तर प्रदेश — बनारस के वृद्धकाल और गैबी नामक दो कुँओं का पानी क्षारीय खनिजयुक्त है। उनका पानी अपोलिनैरिस और बीजेन-ब्रेनेस के पानी के समान है।

देहरादून जिले में मसूरी (30°27' : 78°4') के निकट चूना-पत्थरयुक्त भूमि में ठंडे सोतों का एक समूह विद्यमान है। इनमें से मोसी झरने का सादा अथवा उदासीन पानी एविजन की तरह का है। सहस्रधारा गंधकी सोता (30°23' : 78°7'), देहरादून से उत्तर-उत्तर-पूर्व 11 किलोमीटर और राजपुर से पूर्व-दक्षिण-पूर्व लगभग 4 किमी. पर स्थित है। यह बल्दी नदी के ऊपरी भाग की कन्दरा में चूना-पत्थर से निकलता है। इसका पानी रोगनाशक कहा जाता है।

गुजरात और महाराष्ट्र — विस्तृत बसाल्टी डेकन ट्रैप से ढके हुए पश्चिमी भारत के विशाल क्षेत्र में उत्तर से दक्षिण की ओर तट रेखा के साथ, समुद्र और पश्चिमी घाटों के बीच स्थित त्रितमाला के अतिरिक्त एक भी खनिज सोता नहीं पाया जाता। इस शृंखला के उत्तरी सिरे पर, गुजरात के सूरत जिले की पुरानी बांसड़ा रियासत में, देवकी उनाई समूह और दक्षिण सिरे पर महाराष्ट्र के रत्नगिरि जिले में राजापुर सोतों का समूह स्थित है।

थाना जिले के वज्रेश्वरी सोतों से आरम्भ होकर इस माला का दक्षिणी भाग थाना, कोलाबा और रत्नगिरि जिलों में फैला हुआ है। थाना जिले में, भिवंडी तालुक के उत्तर-पश्चिमी भाग में टॉसा नदी के मार्ग में 4.8 किमी. तक अनेक खनिज सोते पाए जाते हैं। ये या तो नदी के तल में हैं अथवा उसके किनारों के निकट हैं और वज्रेश्वरी सोते कहलाते हैं (19°29'–19°30' : 73°1'–73°2'). सोतों के तीन समूह : उन्हेरा सोते (18°33' : 73°13'), सोव सोते (18°5' : 73°23') और वाडावली सोते (18°4' : 73°27') कोलाबा जिले में हैं। सोतों के सात समूह : खेड सोते (17°43' : 73°24'), उन्हेरा

सन्धिच सोते

सोते (17°37' : 73°19'), बरामली सोते (17°19' : 73°31'), दुरान सोते (17°17' : 73°32'), राजबादी सोते (17°15' : 73°34'), लमवेसर (फलदायक) सोते (17°12' : 73°35'), और राजपुर (उद्युताय) सोते (16°39' : 73°32') राजगिरि जिले में हैं। उन्हें रा, उन्दारा और बजोखरी सोते का पानी मयकीन है (Ghosh, *Proc. Indian Sci. Congr.*, 1948, pt II, 226; *Rec. geol. Surv. India*, 1954, 80, 545).

पंचाल-वृषियाया – दिल्ली से 54.5 किमी दूर चोहना बाँध में (28°15' : 77°8') एक बर्त सोता प्रथा गया है। इसका पानी महाने और सोने के बाल में धारा है। क्षाल के लिए किसी अशोध करने के उद्देश्य से प्रति वर्ष इसका नौलाय की किया जाता है। इसके पानी में भी मध्य प्रदेश के छोटे झरोहो के पानी के समान बाइकार्बोनेट रहता है। पञ्चालम्बी (31°52' : 76°23') के पास 6 छूँटे सोतो को रिशति बताई गई है। जिनके पानी में बायोडोनिन लक्ष्मी की सल माना होता है। यह जल गलगण्ड के उपचार में लक्षणाक समझा जाता है। खारी और पचरी सोते, सीता (32°23' : 76°5'), ताताबानी (32°7' : 76°46'), दीपा (32°8' : 76°14'), बांछठ (32°16' : 77°15'), पनाली (32°15' : 77°14'), मणिकम (32°2' : 77°25'), और ज्वीर (38°48' : 76°39') में भी पाए जाते हैं (La Touche, 365).

बिहार – बिहार में गालमुष जिले में बरक (24°1' : 86°25'), सराही (23°42' : 86°46'), सिधपुर (23°40' : 86°35') और लाहासी (23°41' : 86°44') तथा पलामु जिले में सारोन (23°50' : 84°30') नामक स्थानों पर बरक के गर्म सोते स्थित हैं। कावा पचबानी सेवी (23°44' : 85°23') के सारोन सोते हजारीनाम जिले में मिलते हैं। ये सोते प्रायः महामन्त्रीय मू-पाय में हैं, जो गोडबाबा क्षेत्र की सीमा के लगभग समान्तर और निम्न है। और पच-नोबलता मिश्रण से सम्बन्धित है (Ghosh, *Proc. Indian Sci. Congr.*, 1948, pt II, 224).

हजारीनाम जिले के दूरजकुण्ड (24°9' : 85°38') और दुबारी (24°8' : 85°9') के गर्म पचक सोते भी प्रायः महाकन्त्रीय मू-पाय में स्थित हैं। इस जिले में दो अन्य सोते, पतालमूर (24°10' : 85°37') में और पारसगाम पहाड़ी के छिछर पर महाकन्त्रीय ग्राहक क्षेत्र में स्थित हैं। इनका प्रवाह जलपाय के समुन्दर भरता-नवता रहता है। इसका पानी सहाई काया निम्न-तलही सोतो से जाता है।

मुबौर जिले में 'बाले' पचपा 'उदासीन' गर्म सोते पाए जाते हैं। क्षालिता भी प्रायः घण्टा सोते के कारण उन्हें दूध नाम दिए गए हैं। ये सोते उदयपुर पहाड़ियों के सहारे 48 किमी या अधिक दूरी पर महाद्वाराष्ट्र की तलहटी में, दीर्घाक्षरल श्रवणों की बेगार के साथ यात्रा महाकन्त्रीय महाद्वाराष्ट्र के निजम क्षेत्र में स्थित हैं। द्विजिन्धकुर और सोताकुण्ड के श्रुतिगत सब सोते खरपुर पहाड़ियों के भीतर हैं। सोतो का यह क्षेत्र दक्षिण की ओर जाता है और मयिकुण्ड, रामेश्वर-कुण्ड, लमोखरकुण्ड और मोबरकुण्ड में होता हुआ दक्षिण-पश्चिम में गीश शर (25°4' : 86°24') और भरारी (25°7' : 86°21') की ओर बह जाता है।

पटना और गया जिले में राजगिरि समूह के गर्म सोते मुबौर के सोतो भी प्राति प्रायः महाकन्त्रीय महाद्वाराष्ट्र के चूड़े हैं। बैतली नदी के सोतो और बैतलीगिरि और विपुलगिरि पहाड़ियों की तलहटी के सहारे राजगिरिकुण्ड रेलवे स्टेशन से लगभग 1.6 किमी. दूर, 60 मी. की ऊँचाई पर एक दर्जन से अधिक छेँटे सोते विद्यमान हैं। गया जिले में लपोन के सोते (24°55' : 85°19') राजगिरि से पश्चिम-

दक्षिण-पश्चिम में लगभग 19.2 किमी. पर 90 मी. की ऊँचाई पर स्थित है। क्षाल, क्षालन, लतनगन्ध और क्षतकुमार या बहुकुण्ड पाय के चार छोटे पूर्व-पश्चिम रेखा में धात्विक क्षालित क्षाद्वाराष्ट्र पहाड़ी की तलहटी के साथ पाए जाते हैं। राजगिरि से लगभग 12.8 किमी. पूर्व-पश्चिम-पूर्व मयिकुण्ड सोते (25°0' : 85°30') 60 मी की ऊँचाई पर एक महाद्वाराष्ट्र उचार की तलहटी में विद्यमान है।

मध्य प्रदेश – छिदवाड़ा जिले में बदा-महोनी (22°35' : 78°36') के निम्न एक गर्म सोता रेकनडून सारचना के ऊपर, छिदवादा-महोनी सड़क पर, मटकुली से लगभग 13 किमी. दूर स्थित है। होशगामय जिले में गुहापुर सदर क्षेत्र में मटकुली बाँध (22°37' : 78°21') के निम्न एक दूसरा गर्म सोता है जो होश-महोनी सोता महुलादा है। दोनों सोतो के पानी में पत्थर की भास धन है। पच-महोनी सोते का पानी जर्मनी के द्विजबेले-सिधदाह के पानी, और होश-महोनी का पानी फ्रांस के तनुकता विषी जल के समान है।

भूँखर – बगलौर जिले (12°58' : 77°38') के एक झुँप के खारी पानी की कुछ थोपनीय गर्मी बता समझा जाता है। ज्वरी जिले में रममुदा (15°7'30' : 76°32') में एक पश्चिम सोता है जिसका पानी कुल-कुल सम्बन्धित है और जलसे वेदुमिना और बूँते की पत्तर माचाए पाई जाती है (La Touche, 364).

रामसहन – उदयपुर जिले में काँर (25°3' : 74°40') के बालुका पत्तर में से एक सोता निकलता है जिसका पानी लूका खारी और बंभकी होता है (La Touche, 367).

सोतामन्त्रों के लक्षण

सारणी 1 में कुछ श्रविक प्रसिद्ध सोतो के अतो के लक्षण दिए जा रहे हैं। ये सोते बिहार, पश्चिमी बंगाल, मध्य प्रदेश, गुजरात, महाराष्ट्र, पंजाब और उत्तर प्रदेश में स्थित हैं।

सोतो के पानी की सरचना और रेडियोरैक्टिवता उनकी भू-जैवार्थिक परिस्थिति से प्रभावित होती है। निम्न यह है कि प्रायः श्रविक में के चूने वाले सोतो में, जैसे कि बिहार, पश्चिमी बंगाल में लोमूरा और हाँसाया में पुरबीज जिले के सोतो में, क्षालि पराबं की मात्रा काफी कम होती है। महाराष्ट्र और मध्य प्रदेश के बलाय के निम्न वाले सोतो में पत्थर पराबं बहुत होता है और उत्तर भारतीय बलाय, मैनीसिन्ध और वल्लेट तथा खोराखर का परावर्तक होमा है। इसके विपरीत पच-मन्त्र के निम्न वाले सोते वैदुरपुर के सोतो में मैनीसिन्ध पराबं और बाइकार्बोनेट की मात्रा अधिक होती है और उनके साथ लैक्टिक विभिन्न मात्राओं में उपस्थित रहता है।

लव – कुल सोतो का पानी गर्म निकलता है और कुछ का कुलपा घबदा ठंडा। बिहार में हजारीनाम के दूरकुण्ड सोते पर 87° है जो भारतीय सोतो में सबसे अधिक है। यह लव काफी स्थिर रहता है। कुछ दूरजकुण्ड सोत, अपने के काफी कम ताप पर निम्न वाले 5 बलो के कुछ किरोमीटर दूरी पर स्थित हैं।

ऊँचे ताप से बात होता है कि सोते का उदयम गहरा है। सोते का पानी ज्यो-ज्यो ऊपर की घाटा है उसका ताप पृथ्वी की परवी के छिछरे भागों में धकने वाले पानी के साथ मिलने के कारण कम हो जाता है। ऊँचे सोतो का उदयम लहदा होता है और ये, गर्म सोतो के विपरीत, पचपा पानी सहाई या क्षामय-सहाई क्षाल से सेने के कारण द्रुपित हो सकते हैं।

प्रवाह – विषेयथा उँचे सोतो में जल का प्रवाह गर्मियों की प्रस्था

सारणी 1 — कुछ भारतीय सोतों के जलों के लक्षण

स्थान	गैस, यदि हैं तो	प्रवाह ली./घं.	ताप	रेडॉन मि. मा. क्यू./ली.	औपघीय उपयोग
उत्तर प्रदेश					
वाराणसी जिला					
बृद्धकाल कुआ	हाइड्रोजन सल्फाइड और कार्बन डाइ-ऑक्साइड	12.19 मी. का एक समान स्तम्भ रहता है	25	0.525	कुष्ठ और अन्य चर्मरोग, स्क्रोफुला गठिया और यकृत रोग
गैदी कुआ	नहीं	"	25	0.250	"
देहरादून जिला					
मसूरी में और मसूरी के चारों ओर के सोते	..	1,816-45,400	17-21	लेशमान से 0.810	..
सहस्रधारा	हाइड्रोजन सल्फाइड	1,13,500	23	0.273	त्वचा रोग और पाचन सम्बंधी विकार
गुजरात और महाराष्ट्र					
धाना जिला					
लक्ष्मणकुण्ड	हाइड्रोजन सल्फाइड और कार्बन डाइ-ऑक्साइड	3,178	50	0.424	त्वचा रोग, गठिया, पक्षाघात, मुटापा, घेंघा और फील- पाँव; क्षुधावर्धक
चन्द्रकुण्ड	हाइड्रोजन सल्फाइड और कार्बन डाइ-ऑक्साइड	1,180	50	0.585	"
बल्लेश्वरी (सोता संख्या 8)	"	272	44	नहीं	"
गंगाकुण्ड	"	908	31	"	"
सूरजकुण्ड	"	2,724	50	"	"
भीमेश्वरकुण्ड	"	1,816	51	"	"
अनुसूचीकुण्ड	"	2,724	56	"	"
अग्निकुण्ड	कार्बन डाइ-ऑक्साइड और निष्क्रिय गैस	4,540	58	"	त्वचा रोग और गठिया; क्षुधावर्धक
कोठावाला का सोता	"	1,407	52	0.066	"
कोलावा जिला					
उन्हारा	कार्बन डाइ-ऑक्साइड	1,861	41.5	नहीं	"
सोव	हाइड्रोजन सल्फाइड और कार्बन डाइ-ऑक्साइड	2,724	41.5	"	"
रत्नगिरि जिला					
खेड	हाइड्रोजन सल्फाइड और कार्बन डाइ-ऑक्साइड	636	35.5	"	"
उन्हारा	"	6,810	69	0.806	"
भरावली	"	4,159	40	नहीं	"
राजवाडी	"	8,490	54	"	"
टूराल	"	4,540	61	"	"
संगमेश्वर (फनसावन)	कार्बन डाइ-ऑक्साइड	..	52	"	"
राजापुर (उन्हाला)	60	"	"
मध्य प्रदेश					
छिंदवाड़ा जिला					
बड़ा-अन्होनी	हाइड्रोजन सल्फाइड और कार्बन डाइ-ऑक्साइड	6,810	56	लेशमान	"
होशंगाबाद जिला					
छोटा-अन्होनी	"	4,994	45	नहीं	त्वचा रोग
हरियाणा					
गुड़गांव जिला					
सोहना	"	3,995	46	2.930	कुष्ठ और अन्य चर्म रोग, स्क्रोफुला, गठिया और यकृत रोग

क्रमशः

खनिज सोते

सारणी 1 — क्रमशः					
स्थान	गैस, यदि है तो	प्रवाह ली./घं.	ताप	रेडॉन मि. भा. क्यू./ली.	औपघीय उपयोग
बिहार और पश्चिमी बंगाल					
मानभूम जिला (पुराना)					
बरक (मुख्य)	हाइड्रोजन सल्फाइड और कार्बन डाइ-ऑक्साइड	2,270	38	1.150	..
शिवपुर (मुख्य)	"	1,135	40	1.227	..
तातलोइ (संख्या 1)	"	18,160	60	0.245	..
उसिर	नहीं	22.7	31	7.779	..
बौरमुम जिला					
बनैवर सोते	कार्बन डाइ-ऑक्साइड	5,448	71	2.805	त्वचा रोग, पाचन रोग और गठिया; क्षुधावर्धक
शसिकुण्ड	नहीं	5,448	42	0.791	"
ब्रह्मकुण्ड	नहीं	5,448	42	0.791	"
हुजारीबाग जिला					
कावा गंधवानी	हाइड्रोजन सल्फाइड	5,221	34-35	8.561- 8.380	"
दुप्रारी	"	2,270	45	3.280	"
हडकोना	नहीं	454	22	0.345	..
सूरजकुण्ड	हाइड्रोजन सल्फाइड और कार्बन डाइ-ऑक्साइड	13,620	87	1.410	त्वचा रोग, पाचन रोग और गठिया; क्षुधावर्धक
पाताल सुर	नहीं	908	27	10.382	..
पारसनाथ (मन्दिर के पूर्व)	"	18,160	20	0.019	..
		(सितम्बर 1941 में) 531 (अप्रैल 1941 में)			
मुंगेर जिला					
भरारी सोते	कार्बन डाइ-ऑक्साइड	31,780	58-65	0.224- 0.290	त्वचा रोग, गठिया; क्षुधावर्धक और शरीरक्रिया शोधक
भीम बंध सोते (1-4)	"	45,400	52-64	0.765- 1.224	"
भोवराह (पश्चिमी)	"	9,080	44	4.450	"
भोवराह (पूर्वी)	"	4,540	40	9.270	"
लक्ष्मीनगरकुण्ड	नहीं	32,688	67	0.983	"
झील (फिलिप्सकुण्ड और सीताकुण्ड के 1.6 किमी. दक्षिण में)	"	स्थायी झील	..	0.308	..
फिलिप्सकुण्ड	कार्बन डाइ-ऑक्साइड	47,670	55	3.046	त्वचा रोग, गठिया; क्षुधावर्धक और शरीरक्रिया शोधक
रामेश्वरकुण्ड	"	16,344	44	7.850	"
ऋषिकुण्ड-समूह I	"	22,700	40	4.920	"
ऋषिकुण्ड (मन्दिर के उत्तर)	"	13,620	45	5.065	"
ऋषिकुण्ड II	"	22,700	39	5.060	"
ऋषिकुण्ड III	"	6,810	46	3.560	"
ऋषिकुण्ड समूह के दक्षिण में	"	22,700	44	4.853	"
शंगी ऋषि (गुहारेदार)-I	नहीं	43,130	31	3.048	त्वचा रोग, गठिया; क्षुधावर्धक और शरीरक्रिया शोधक
शंगी ऋषि के पूर्व में	"	15,890	29	3.052	"
सीताकुण्ड	कार्बन डाइ-ऑक्साइड	1,72,520	57	3.050	"
पालामऊ जिला					
जैरोम	हाइड्रोजन सल्फाइड और कार्बन डाइ-ऑक्साइड	1,135	55.5	17.700	"
संभाल परगना					
बड़मसिया	"	2,270	32	0.925	..
झारीपानी	"	13,620	33	0.336	..

क्रमशः

सारणी 1 - क्रमशः

स्थान	गैस, यदि हैं तो	प्रवाह ली./घं.	ताप	रेडॉन मि. मा. क्यू./ली.	औपघीय उपयोग
कालदाम, बड़ा	नहीं	454	25	0.134	..
रामपुर (जिआजोरी के पश्चिम में)	हाइड्रोजन सल्फाइड और कार्बन डाइ-ऑक्साइड	8,090	31	2.197	..
संदेशवरी	"	22,700	69	2.061	त्वचा रोग; क्षुधावर्धक
तांतलोई	"	22,700	65.5	0.141	"
त्रिकूट पहाड़	नहीं	295	22	0.018	..
पटना और गया जिले					
राजगिरि सोते:					
ब्रह्मकुण्ड	निष्क्रिय गैस (लेशमात्र, सम्भवतः नाइट्रोजन)	36,320	42.5	6.870	त्वचा रोग, गठिया, पक्षाघात, डिसपेप्सिया, मधुमेह
मखदूमकुण्ड	नहीं	6,519	36	4.130	"
चन्द्रमाकुण्ड	"	908	40	6.590	"
सूरजकुण्ड	"	2,610	41	6.200	"
व्यासकुण्ड	"	4,740	41	3.576	"
विश्वामित्रकुण्ड	"	6,519	41.5	1.380	"
गंगाकुण्ड	"	3,450	42	3.580	त्वचा रोग, गठिया और डिसपेप्सिया
जमुनाकुण्ड	"	1,884	41.5	3.600	"
भारकण्डयकुण्ड	"	567	39.5	1.730	"
रामकुण्ड (गर्म फुहारा)	"	250	32	1.003	"
रामकुण्ड (ठण्डा फुहारा)	"	45.4	23.5	लेशमात्र	"
सीताकुण्ड	"	1,317	40	6,200	"
गनेशकुण्ड	हाइड्रोजन सल्फाइड	अप्राप्य	अप्राप्य	अप्राप्य	"
तपोवन सोते:					
अग्निकुण्ड	हाइड्रोजन सल्फाइड और कार्बन डाइ-ऑक्साइड	40,860	50	4.234	त्वचा रोग

* Ghosh, *Rec. geol. Surv. India*, 1954, 80, 554-58.

वर्षा और सदियों के आरम्भ में बढ़ जाता है। सबसे अधिक प्रवाह बिहार के मुंगेर जिले में स्थित सीताकुण्ड का है जो 1,72,520 ली./घण्टे है।

रेडियोएक्टिवता - भू-वैज्ञानिक सर्वेक्षण द्वारा अन्वेषित अधिकांश स्रोतों के पानी की रेडियोएक्टिवता लगभग एक महीने में समाप्त हो जाती है। केवल महाराष्ट्र के कुछ सोते इसके अपवाद हैं। इसका कारण रेडॉन की उपस्थिति है जिसका अर्ध जीवन काल 3.8 दिन है। यह रेडॉन पृथ्वी की पपड़ी के भीतर रेडियोएक्टिव तत्वों के स्वतः-विघटन से उत्पन्न होता है और सोत के पानी में विलेय हो जाता है। रेडियोएक्टिवता के आधार पर भारतीय खनिज स्रोतों को चार वर्गों में बांटा गया है : अत्यन्त तीव्र रेडियोएक्टिव (रेडॉन मात्रा, 17.7 - 6.1 मि. मा. क्यू.), तीव्र रेडियोएक्टिव (रेडॉन मात्रा, 5.06 - 2.80 मि. मा. क्यू.), सामान्य रेडियोएक्टिव (2.19 - 1.00 मि. मा. क्यू.), और मंद रेडियोएक्टिव (0.98 - अत्यल्प मि. मा. क्यू.)। अत्यन्त तीव्र रेडियोएक्टिव सोते अधिकतर बिहार के पालामऊ, हजारीबाग और मुंगेर जिलों में स्थित हैं। पटना और गया जिले की राजगिरि माला के कुछ स्रोतों में भी अत्यन्त तीव्र रेडियोएक्टिवता पाई गई है। 17.7 मि. मा. क्यू. की सर्वोच्च रेडियोएक्टिवता पालामऊ जिले के जैरोम सोते में पाई गई है। महाराष्ट्र और उत्तर प्रदेश (देहरादून) के स्रोतों, भरतपुर (राजस्थान) और बनारस (बृह्मकाल और गैबी) के कुआँ की रेडियोएक्टिवता मंद श्रेणी की है (सारणी 1) (Chatterjee, *Indian Miner.*, 1958, 12, 116).

रासायनिक संरचना - रासायनिक संरचना के विचार से भारतीय स्रोतों के पानी चार प्रकार के हैं : (1) सादे या उदासीन, जिनमें खनिज की मात्रा कम होती है; (2) क्षारीय, जिनमें सोडियम कार्बोनेट और वाइकार्बोनेट होते हैं; (3) गंधकी पानी, जिनमें हाइड्रोजन सल्फाइड और बहुधा सल्फेट होते हैं; और (4) वे पानी जिनमें क्लोराइड अथवा नमक होता है।

सादे जलों में खनिज की मात्रा शायद ही कभी 50 भाग प्रति लाख से अधिक होती हो और प्रायः 4 भाग प्रति लाख तक पाई जाती है। मसूरी के माँसी प्रपात, और पटना तथा गया जिले के राजगिरि और मुंगेर की खड़गपुर पहाड़ियों के सोते इस श्रेणी में आते हैं। माँसी प्रपात का पानी विदेशी जलों के समान है और एवियन प्रकार के पानी के समतुल्य पाया गया है। राजगिरि और खड़गपुर पहाड़ियों के स्रोतों के पानी कुछ अम्लीय अथवा क्षारीय होते हैं और उनमें से कुछ पीने के काम में लाए जाते हैं। माँसी प्रपात (उ. प्र.) और एवियन (फ्रांस) के समान सादे उदासीन जल और ब्रह्मकुण्ड के समान अम्लीय प्रकार के उदासीन जलों के लक्षण और रासायनिक विश्लेषण सारणी 2 में दिए जा रहे हैं। बनारस के बृह्मकाल और गैबी कुआँ के क्षारीय जल अपोलिनेरिस और वीजेनब्रूनेन्स के जलों के साथ समानताएँ प्रदर्शित करते हैं। विशी प्रकार का मृदुजल (हाइड्रोजन सल्फाइड की विभिन्न मात्राओं सहित) हजारीबाग जिले के कावा गंधवानी, होशंगाबाद जिले (म. प्र.) के छोटा-अन्होनी और गुड़गाँव जिले (हरियाणा) के सोहना में मिलता है। इन स्रोतों के जलों तथा तनूकृत विशी जल

सारणी 2 — उदासीन जलों का रासायनिक विश्लेषण*
(भाग प्रति लाख)

	सादे		अम्लीय
	मॉर्सी प्रपात (उ. प्र.)	एवियन (फ्रांस)	ब्रह्मकुण्ड (राजगिरि)
सोडियम	1.3	0.69	0.2
पोटैशियम	लेशमात्र	0.23	अनुपस्थित
मैग्नीशियम	1.22	2.37	लेशमात्र
कैल्सियम	5.06	7.84	1.14
लोह और ऐल्युमिनियम	0.20	0.02	अनुपस्थित
क्लोराइड (Cl)	0.60	0.18	0.40
सल्फेट (SO ₄)	15.20	0.85	लेशमात्र
वाइकाबोनेट (HCO ₃)	17.70	35.68	2.40
सिलिकेट (HSiO ₃)	1.21	1.82	2.56

*Ghosh, Rec. geol. Surv. India, 1954, 80, 547.

सारणी 4 — गर्म गंधकी जलों का रासायनिक विश्लेषण*
(भाग प्रति लाख)

	दुआरी	सूरजकुण्ड	ऐ-ले-वेन्स	टेलर (कैलि- फोर्निया, सं. रा. अ.)
	(भारत)	(भारत)	(फ्रांस)	
सोडियम	12.8	14.6	3.4	9.3
पोटैशियम	0.63
मैग्नीशियम	अनुपस्थित	लेशमात्र	1.9	3.5
कैल्सियम	0.29	0.29	6.4	0.7
लोह	अनुपस्थित	अनुपस्थित	0.42	लेशमात्र
ऐल्युमिनियम	0.424	अनुपस्थित	0.87	0.84
कार्बोनेट और वाइ- कार्बोनेट	12.1	12.3	11.2	3.50
सल्फेट (SO ₄)	3.8	6.5	15.1	22.0
सल्फाइड (S)	2.0	..	3.4	1.3
क्लोराइड (Cl)	7.1	9.2	1.8	5.9
फ्लोराइड (F)	1.8	2.1
सिलिकेट अम्ल (HSiO ₂)	8.726	16.426	0.640	2.560

*Ghosh, Rec. geol. Surv. India, 1954, 80, 552.

सारणी 3 — क्षारीय जलों का रासायनिक विश्लेषण*
(भाग प्रति लाख)

	कावा गंधवानी	सोहना	छोटा- अन्होनी	विशो जल (10 गुणा तनुकृत)
सिलिका	5.60	4.40	1.40	0.46
लोह	अनुपस्थित	अनुपस्थित	0.07	लेशमात्र
ऐल्युमिनियम	1.14	4.67		
कैल्सियम	अनुपस्थित	1.14	1.67	0.7
मैग्नीशियम	अनुपस्थित	0.36	..	0.3
सोडियम	10.90	12.3	18.89	9.7
वाइकाबोनेट (HCO ₃)	18.5	27.0	22.14	23.4
सल्फेट (SO ₄)	0.70	1.1	अनुपस्थित	1.13
क्लोराइड (Cl)	3.90	19.9	5.90	1.82
फ्लोराइड (F)	1.70	अनुपस्थित	अनुपस्थित	0.18

*Ghosh, Rec. geol. Surv. India, 1954, 80, 550.

सारणी 5 — नमकीन जलों का रासायनिक विश्लेषण*
(भाग प्रति लाख)

	उन्हारा (भारत)	सूरजकुण्ड, बप्पेश्वरी (भारत)	लीमिंगटन (इंग्लैंड)	मैरीनकल (जर्मनी)	एरोण्डार्क (अमे- रिका)
सोडियम	66.94	71.01	71.40	97.2	82.7
मैग्नीशियम	7.85	4.0	9.1
कैल्सियम	15.30	15.37	27.26	12.3	2.6
लोह	0.30	..	0.42	0.27	..
क्लोराइड (Cl)	109.09	124.10	125.91	156.60	118.6
सल्फेट (SO ₄)	27.42	15.55	49.86	लेशमात्र	50.4
कार्बोनेट (CO ₂)	0.80	0.92	15.04	22.8	13.6
वाइकाबोनेट (HCO ₃)
फ्लोराइड (F)
सिलिकेट (HSiO ₃)	0.51	0.642	3.29	?	1.18

*Ghosh, Rec. geol. Surv. India, 1954, 80, 553.

का रासायनिक विश्लेषण सारणी 3 में दिया गया है। हजारीबाग जिले के दुआरी और सूरजकुण्ड के स्रोतों का पानी ऐ-ले-वेन्स स्रोत के पानी के समान है; इन स्रोतों के जलों के तुलनात्मक रासायनिक आंकड़े कैलिफोर्निया, सं. रा. अ., के टेलर स्रोत के पानी के विश्लेषण के साथ सारणी 4 में दिए गए हैं। महाराष्ट्र के रत्नगिरि जिले के उन्हारा स्रोत और थाना जिले के बप्पेश्वरी-सूरजकुण्ड स्रोतों के क्लोराइड या नमकीन जल मैरीनकल और लीमिंगटन के जलों के समान है (सारणी 5)। सारणी 2, 3, 4 और 5 में प्रस्तुत तुलनात्मक आंकड़ों का उद्देश्य इन जलों के बीच पाई जाने वाली सामान्य समानता को दर्शाना मात्र है। वास्तव में ऐसे दो जल प्राप्त करना कठिन है, जिनमें विल्कुल एक से रचक एक ही अनुपात में उपस्थित हों।

उपयोग

केवल कुछ ही स्रोत नियमित स्नान के काम में लाए जाते हैं। यद्यपि अधिकतर स्रोतों को आकर्षक स्रोत-स्थानों के रूप में विकसित करने और उनके जलों को पेय और औषधीय जल के रूप में बोतलबंद करने की सम्भावना है। भारत के भू-वैज्ञानिक सर्वेक्षण ने बोतलपानी की लाभप्रदता की परीक्षा की है। यह पाया गया कि ये जल पेय और औषधीय जल के रूप में दूसरे देशों के ऐसे ही जलों के समान गुणकारी हैं। कुछ स्रोतों के जलों के औषधीय गुण सारणी 1 में दिए गए हैं।

खस-खस — देखिए बेटीबेरिया

खात — देखिए कैथा

गजेल (कुरंग), हरिण तथा छाग-मृग GAZELLES, ANTELOPES & GOAT-ANTELOPES

Prater, 224; Sterndale, 217; J. Bombay nat. Hist. Soc., 1934, 37, 65; Ellerman & Morrison-Scott, 377.

यह बोटिडी कुल के रोमंथी खुरधारी प्राणियों का एक वर्ग है, जो आकृति में गाय और बकरी के बीच के होते हैं तथा जिनमें दोनों के ही लक्षण पाए जाते हैं। आकार और रूप में वे अलग-अलग होते हैं और उनका विभाजन अनेक उपकुलों में किया जाता है। ऐण्टेलोपिनी उपकुल में गजेल (कुरंग) तथा प्रतिरूपी मृग सम्मिलित हैं। अन्य मृग विविध उपकुलों में आते हैं। इनका शिकार कई उद्देश्यों से किया जाता है—सिरों के लिए जिनमें से कुछ सिरों से सुन्दर ट्राफी बनाई जाती है, मांस के लिए जो खाने में स्वादिष्ट होता है, खाल के लिए, तथा शिकारियों के आखेट के आनन्द हेतु।

चौसिंघे तथा नीलगाय को अनेक लेखकों ने पृथक् उपकुलों में रखा है : जैसे टूंगेलैफिनी तथा बौसेलैफिनी तथापि कुछ लोग उन्हें बोटिनी उपकुल के अंतर्गत एक पृथक् नस्ल (बौसेलैफिनी) में रखते हैं।

छाग-मृग बकरियों तथा मृगों के बीच स्थान ग्रहण करते हैं और इन्हें कैप्रिनी उपकुल में रखा जाता है। भारत में इस समूह के प्रतिनिधि सेरो, गोरल तथा ताकिन हैं। बकरे-जैसी आकृति के इन पर्वतीय प्राणियों में छल्लेदार छोटे-छोटे सींग होते हैं।

गजेल और मृग अनिवार्यतः खुले मैदानों और घास के मैदानों में पाए जाते हैं। इनका शरीर हल्का और सुडौल होता है तथा ये चाल में बहुत फुर्तीले होते हैं। इनके सींग हो सकते हैं और नहीं भी हो सकते, किंतु जब वे होते हैं तब इनका भीतरी भाग एक छोर से दूसरे छोर तक लगभग ठोस हड्डी का बना होता है और वे गाय, भेड़ और बकरी के सींगों की तरह नहीं होते जिनमें मधुमक्खी के छत्तों जैसे रिक्त-स्थान होते हैं। आँख के नीचे की ओर प्रायः एक ग्रन्थि पाई जाती है जिसके द्वारा इन्हें गायों तथा बकरियों से पहचाना जा सकता है।

भारत में ऐण्टेलोपिनी के मुख्य प्रतिनिधि गजेल हैं। यहाँ इनकी दो जातियाँ पाई जाती हैं : भारतीय जाति तथा तिब्बती जाति। इनमें रेत-जैसे रंग तथा चेहरे के हर पार्श्व पर एक सफेद रंग की धारी बनी होने के कारण विभेद किया जा सकता है। सींग प्रायः नर-मादा दोनों में ही पाए जाते हैं। घुटनों पर उगे हुए वालों के गुच्छे गजेलों की विशेषता है।

भारतीय गजेल या चिकारा (गजेल गजेल बनेटाइ साइक्स)

हि.—चिकारा, कालपंच; म.—कल-सिपि; ते.—बारुदु-जिका; क.—तिस्का, वुदरि, मुदरि।

पतले सुडौल शरीर वाले छोटे चिकारे की कंधों तक की ऊँचाई 65 सेंमी. तथा भार लगभग 22.5 किग्रा. होता है। पीठ का हल्का भूरा-लाल रंग अगल-वगल में पेट के सफेद रंग से आकर मिलने तक गहरा हो जाता है। चेहरे के दोनों ओर एक सामान्य सफेद धारी रहती है। प्रायः नर-मादा दोनों ही में सींग पाए जाते हैं किन्तु मादा में जब सींग होते हैं तो वे 10-12.5 सेंमी. लम्बे, चिकने, शंक्वाकार होते हैं जिनके आधार पर एक स्पष्ट छल्ला बना होता है। नर के सींग 25-30 सेंमी. लम्बे होते हैं और पूरी लम्बाई में छल्ले बने होते हैं।

चिकारा 10 से लेकर 20 तक की संख्या में झुंड बनाता है और भारत के तमाम मैदानी इलाकों में पाया जाता है। यह वंजर भूमि, छितरी झाड़ियों तथा हल्के जंगलों वाले क्षेत्रों में रहता है। यह मरुस्थली क्षेत्र में रेतीले टीलों में सामान्य रूप से पाया जाता है। इसके आहार में घास, पत्ती, विभिन्न फसलें तथा फल जैसे कि तुरई, लौकी, तरबूज, खरबूजे आदि सम्मिलित हैं। प्रजनन के लिए इसका कोई नियमित काल नहीं होता और एक बार में यह एक या दो बच्चे जनता है।

तिब्बती गजेल, प्रोकेप्रा पिक्टिकोइडा हाजसन की कंधों तक की ऊँचाई 60-62.5 सेंमी. होती है और यह तिब्बत, लद्दाख, उत्तर नेपाल तथा सिक्किम में पाया जाता है। मादा के सींग नहीं होते किन्तु नर के सींगों में पास-पास छल्ले बने होते हैं जिनकी लम्बाई 30-37.5 सेंमी. होती है। शीत ऋतु में वालों का आवरण सघन और महीन होता है और मुंह के चारों ओर स्पष्ट वृद्धि पाई जाती है। चेहरे पर धारियाँ नहीं पाई जातीं।

भारतीय मृग, काल्वित (ऐण्टेलोप सर्बिकंप्रा लिनियस)

सं.—एण, हरिण, मृग; हि.—हिरन, हरनी; म.—फंडायत; ते.—इरी, सेडी, जिंका; त.—वेलि-मान; क.—चिगडी, हुलेकरा।

भारत में ऐण्टेलोप वंश का एकमात्र प्रतिनिधि हिरन है जो भारत के अतिरिक्त अन्यत्र नहीं पाया जाता। अपनी नस्ल का यह सबसे सुन्दर सदस्य है। पूर्ण विकसित नर की कंधों तक ऊँचाई लगभग 80 सेंमी. और इसका औसत भार 40 किग्रा. होता है। इसकी तीन या चार उपजातियाँ भी पाई जाती हैं। भारत के दक्षिणी क्षेत्रों में पाई जाने वाली उपजातियाँ उत्तर की प्रजातियों से स्पष्टतः छोटे आकार की होती हैं। लम्बे सींग देखने में सुन्दर और छल्लेदार और साथ ही साथ सपिल होते हैं। इन सींगों की लम्बाई 40 से 50 सेंमी. होती है (सीधी लम्बाई या घुमाव को छोड़ कर अधिकतम लम्बाई 89.7 सेंमी.)। एक वर्ष के नर हिरनोटे के सींग सपिल नहीं होते। मादा और शिशु नर का रंग पीलापन लिए हुए मटमैला होता है, नर का रंग बढ़ने के साथ-साथ गहरा होता जाता है। विभिन्न क्षेत्रों में रंग के गहरेपन की तीव्रता की मात्रा अलग-अलग होती है; दक्षिण भारत में बयस्क नर विरला ही काले रंग का होता है, उसकी खाल गहरी भूरी ही बनी रहती है।

मृग किसी समय मलाबार तट को छोड़ कर समस्त भारत के मैदानी क्षेत्रों में भारी संख्या में पाया जाता था किंतु अब अनियंत्रित विनाश के कारण यह दुर्लभ होता जा रहा है। घास और अनाज की फसलें इसके भोजन हैं। चंचल दृष्टि एवं दौड़ इसके रखवाले हैं। इसमें हर मौसम में प्रजनन होता है किन्तु इसका मदकाल फरवरी तथा मार्च में होता है। इस समय नर-मृग कुछ आवाज करता हुआ एक विशेष चाल से चलता है, जिससे सिर पीछे की ओर तन जाता है, आनन ग्रंथियाँ उलट कर बाहर आ जाती हैं और उनसे एक गंधमय स्राव होता है। एक बार के प्रसव में एक या दो बच्चों का जन्म होता है, और माँ अपने बच्चों को प्रायः ऊँची-ऊँची घास अथवा झाड़ियों में छिपा देती है।

मृगों के सिरों से दीवार पर सजाने वाले आकर्षक स्मृति-प्रतीक बनाए जाते हैं। जिन सिरों में सींगों के सिरे लगभग इतने बड़े हों कि उनसे बनने वाला त्रिकोण लगभग समभुज हो वे सबसे सुन्दर माने

जाते हैं। मृगों का मांस स्वादिष्ट होता है (Phythian-Adams, J. *Bombay nat. Hist. Soc.*, 1951, 50, 1).

चौंसिघा (टेट्रासेरस क्वाड्रीकानिस ब्लैनविले)

हि.—चोका, डोडा; क—कोड-गुरि, कौला-कुरि.

यह दो जोड़ी सींगों वाला एकमात्र हिरण है जो हिमालय पर्वत की तराई में पाया जाता है। सींगों की अगली जोड़ी सदैव छोटी होती है, और अक्सर वे छोटे टूट जैसे लगते हैं और कभी-कभी तो खाल के नीचे बनी हुई हड्डी की गाँठ-जैसे ही होते हैं। पिछली जोड़ी की अधिकतम लम्बाई 11.25 सेमी. तथा अगली जोड़ी की 6.25 सेमी. होती है। पिछली टाँगों के कूट-खुरों के बीच में नर और मादा दोनों में एक जोड़ी सुविकसित ग्रथियाँ होती हैं।

चौंसिघे की ऊँचाई लगभग 62.5 सेमी. और भार लगभग 22.5 किग्रा होता है। खाल का रंग पीठ पर लाल-भूरा तथा पेट की ओर सफेद होता है और बाल कम नर्म होते हैं। पूछ अपेक्षाकृत लम्बी, 12.5 सेमी तक, होती है। यह छोटी पहाड़ियों के क्षेत्रों में रहता है और ऊँची-ऊँची घासों या खुले जंगलों में विश्राम करता है। नर चौंसिघा गर्म मौसम में धीमे स्वर में बार-बार दोहराता हुआ आवाज करता है। मादा चौंसिघा एक तीव्र सचेतक स्वर निकालती है जिसके द्वारा वह दौड़ते समय पेड़ों की आड़ में से अपने शिशुओं को मार्ग-दर्शन का संकेत देती रहती है। इनका प्रिय क्रीडा-स्थल जल का किनारा है। ये प्रायः अकेले-अकेले अथवा जोड़ों में विचरते देखे जाते हैं। शिशुओं का जन्म प्रायः जनवरी-फरवरी में होता है। हरिणों में सबसे अच्छा मांस इसी हरिण का माना जाता है (Phythian-Adams, loc. cit.).

नीलगाय (बोसेलफस ट्रैंगोकेमेलस पल्लास)

हि.—नील, रोज, क—मरवि, मेरु, कर्दु-कदरै, मनु-पोतू.

यह एक असुन्दर हिरण है जो कघों पर 135 सेमी. तथा भार में लगभग 270 किग्रा होता है। वयस्क नर की खाल खुरदरे बालों वाली होती है जिनका रंग कालापन लिए धूसर होता है। पैरों में हर टखने के नीचे एक सफेद छल्ला बना होता है तथा दोनों गालों पर दो-दो सफेद निशान बने होते हैं। होठ, ठोड़ी, कानों की भीतरी सतह तथा पूछ की निचली सतह सफेद होती है। शिशु नरों और मादाओं का रंग पीलापन लिए हुए भूरा होता है। नर-मादा दोनों में अयाल होता है। नर में दो विभेदक लक्षण होते हैं: एक तो कठ पर कड़े बालों का गुच्छा और दूसरे शक्वाकार सींग जो नौतल युक्त होते हैं तथा आधार पर विभुजी एवं सिरों की ओर वृत्ताकार होते जाते हैं। सींगों की औसत लम्बाई लगभग 20 सेमी तथा अधिकतम लम्बाई 29.8 सेमी. होती है।

नीलगाय हिमालय से लेकर मैसूर तक लगभग समस्त भारत में पाई जाती है। यह घने जंगलों से दूर रहती है। इसके प्रिय स्थान या तो ऐसी पहाड़ियाँ हैं जिनमें वृक्षों की सरया बहुत कम हो या फिर ऐसे मैदान हैं जिनमें घास तथा झाड़ियाँ आदि उगी हो। ये छोटे-छोटे झुंडों में, 4-10 की सरया में, या कभी-कभी 20 तक, के झुंडों में रहती पाई जाती है तथा फसलों को नुकसान पहुँचाती है। नीलगाय की खाल से सुन्दर मृगछाले बनाये जाते हैं (Phythian-Adams, loc. cit.).

तिब्बती हरिण, चिरू (पेंथोलाम्पा हाजसोनाई आबेल.)

तिब्बती—चिरू, चुकू, शुस, चुस.

विचित्र फूले हुए शूथन तथा लम्बे सुन्दर सींगों से युक्त यह प्राणी हिमालय की पहाड़ियों पर 3,600-5,400 मी. की ऊँचाई पर पाया

जाता है। इसका एण्टेलोपिनी उपकुल से निकट का सम्बंध है, किन्तु वकरी के समान पाँव एवं अन्य लक्षणों के आधार पर इसे कैप्रिनी उपकुल में रखा जाता है। इसकी देह पर घनी ऊन होती है। इसका रंग भिन्न हो सकता है, जो प्रायः हल्का पीला होता है, पीठ वादामी और पेट सफेद रहता है। चेहरे तथा प्रत्येक टाँग के सामने वाले भाग पर नीचे की ओर चलती हुई धारी नर में काली अथवा गहरी भूरी होती है। इसमें आनन ग्रथियाँ नहीं होती। नर के दोनों सींग पास-पास निकले होते हैं किन्तु उनके अंतिम सिरों एक दूसरे से दूर होते जाते हैं तथा साथ ही उनमें आगे की ओर थोड़ा घुमाव भी आ जाता है। इन सींगों की लम्बाई 60-65 सेमी. तक हो जाती है। मादा में सींग नहीं होते। चिरू की एक अन्य विशेषता है—वक्ष अथवा जंघा ग्रथियों की असाधारण वृद्धि। बड़े आकार की गंध-ग्रथियाँ अगले और पिछले पैरों के खुरों के बीच में भी पाई जाती हैं। यह एक चौकन्ना और चतुर प्राणी होता है जो कभी-कभी उधले गड्डों में अकेला छिपा पड़ा रहता है; इन गड्डों को वह स्वयं खुरच-खुरच कर बनाता है। सूचना है कि इसका मदकाल शीत-ऋतु में और बच्चे जनने का समय मई अथवा जून है।

सेरो (कैप्रिकानिस सुमात्राएन्सिस बेचस्टाइन)

कश्मीर—राम्पू, हाल्ज.

यह एक भट्ठा दोखने वाला प्राणी है जिसका सिर बड़ा, कान गधे जैसे, गर्दन मोटी और पैर छोटे होते हैं। यह हिमालय क्षेत्र में कश्मीर और उससे पूर्व की ओर 1,800-3,000 मी. की ऊँचाई पर पाया जाता है। यह अत्यन्त फुर्तीला प्राणी है जो सघन जंगलों की घाटियों की खोहों में रहता है।

इसकी खाल के बाल खुरदुरे और अपेक्षाकृत पतले होते हैं। खाल का रंग भूरा-काला अथवा काला धूसर-चितकवरा से लेकर लाल तक अनेक प्रकार का होता है। हिमालय में पाई जाने वाली उपजातियों में टाँगें ऊपर से लाल-भूरी तथा नीचे से हल्की सफेद-सी होती हैं। नर-मादा दोनों में सींग काले, शक्वाकार और सघन सलबटो वाले होते हैं। इनका मदकाल अक्टूबर के अंत में प्रारम्भ होता है तथा बच्चे मई और जून में पैदा होते हैं। इनका मांस घटिया होता है। इनके सींग और खाल की ट्राफियाँ अच्छी नहीं होती।

देवछागल या गोरल (नीमोरोडस गोरल हार्डविके)

कश्मीर—पीज, राई, रोम; असम—देव चागल.

यह एक सुगठित शरीर वाला, वकरी जैसा प्राणी है जिसकी कघों पर ऊँचाई 60 सेमी. होती है। खाल पर खुरदरे और गर्दन पर एक शिखर के रूप में फैले हुए बाल होते हैं। सींग अधिक महत्वपूर्ण नहीं होते, वे कुछ-कुछ दूर और पीछे की ओर को घूमे और अधिकांश मात्रा में छल्ला या धारियों से युक्त होते हैं।

भारत में गोरल की तीन उपजातियाँ पाई जाती हैं: कश्मीर और पश्चिमी हिमाचल में पाया जाने वाला भूरा हिमालयी गोरल (नीमोरोडस गोरल गोरल हार्डविके), नेपाल और सिक्किम में पाया जाने वाला भूरा गोरल (नी. गो. हाजसोनाई पोकाक) तथा असम में पाया जाने वाला ब्रह्मीय गोरल (नी. गो. प्रिंसिपस मिलने-ग्रेडवर्ड्स). गोरल सामान्यतः 900-2,400 मी. की ऊँचाई तक पहाड़ी क्षेत्रों में पाए जाते हैं। हिमालय पर्वतों में इन्हें 4,200 मी. की ऊँचाई तक ऊपर चढते पाया गया है तथा हिमालयी जानवरों में यह सर्वाधिक सुपरिचित प्राणी है। ये 4-8 के छोटे-छोटे दलों में रहते हैं और घास से ढकी ऊबड़-खाबड़ पहाड़ियों तथा पथरीली जंगली जमीन में चरते

पाए जाते हैं। खतरे के समय ये मुंह से जोर की सिसकारी भरते हैं। गर्भकाल लगभग छः महीने का होता है तथा बच्चे मई और जून के महीनों में पैदा होते हैं। खाल अपेक्षाकृत खुरदरी होती है। नौसिखिये शिकारियों के लिए गोरल एक उत्तम जानवर है।

गवाज या ताकिन (बुडोर्कास टैक्सीकलर हाजसन)

मिशमी पहाड़ियाँ—ताखोन.

यह एक भारी, भट्ठा-सा दीखने वाला जानवर है जिसका चेहरा उभरा हुआ काफी बड़ा और गर्दन अत्यन्त मोटी होती है। अंतिम सिर पर एक नग्न स्थल को छोड़कर शेष धूँधन वालों से ढका रहता है। टाँगें छोटी और स्थूल, कंधे कुछ-कुछ उभरे और संकीर्ण पीठ बीच से ऊपर को उभरी होती है जहाँ से वह पीछे की ओर दुम की जड़ तक एक ढलान बनाती है।

गवाजों का रंग गहरे भूरे से लेकर सुनहरे पीले तक कई प्रकार का पाया जाता है। कंधों का रंग सुव्यक्त रूप से हल्का, सींग पास-पास से निकले और तीव्रता से बाहर तथा पीछे की ओर को घूमे हुए, देखने में त्रिशूल-जैसे दिखाई पड़ते हैं जिनमें बीच का शूल नहीं होता। वालों का आवरण सघन होता है।

गवाजों की तीन उपजातियाँ पाई जाती हैं: मिशमी ताकिन (बुडोर्कास टैक्सीकलर टैक्सीकलर हाजसन) जो भूटान तथा मिशमी पहाड़ियों में पाया जाता है; तिब्बती ताकिन (बु. टै. तिबेताना मिल्ले-एडवर्ड्स) जो पूर्वी तिब्बत में पाया जाता है, और वेडफोर्ड्स ताकिन (बु. टै. वेडफोर्ड्स थामस) जो पश्चिमी चीन में पाया जाता है।

गवाज खड़ी से खड़ी पहाड़ियों तथा घने से घने जंगलों वाले पर्वतों पर पाया जाता है। मिशमी पहाड़ियों पर इन्हें बहुत नीचे तक, यहाँ तक कि 900-1,200 मी. तक की ऊँचाई पर, भी देखा गया है, किंतु सामान्यतः ये 2,100-3,000 मी. की ऊँचाई पर पाए जाते हैं। ग्रीष्मकाल में ये काफी बड़े झुंडों में, 300 तक की संख्या में एकत्रित हो जाते हैं। सुनहरे पीले गवाज को उसकी सुन्दर खाल के लिए अत्यन्त महत्व प्रदान किया जाता है।

Antelopinae; Tragelaphinae; Boselaphinae; Bovinae; Caprinae; Gazella Gazella bennetti Sykes; *Procapra picticaudata* Hodgson; *Antilope cervicapra* Linn.; *Tetracerus quadricornis* Blainville; *Boselaphus tragocamelus* Pallas; *Pantholops hodgsoni* Abel.; *Capricornis sumatraensis* Bechstein; *Naemorhedus goral* Hardwicke; *Naemorhedus goral goral* Hardwicke; *N.g. griseus* Milne-Edwards; *Budorcas taxicolor* Hodgson; *B.t. tibetana* Milne-Edwards; *B.t. bedfordi* Thomas

गटापार्चा — देखिए पेलाक्विम

गधे — देखिए पशुधन

(पूरक खण्ड 4 : भारत की सम्पदा)

गमाइट — देखिए यूरैनियम अयस्क

गम्बो — देखिए हिबिस्कस

गलगल — देखिए सिद्रस

गांजा — देखिए कैनाबिस

गांठगोभी — देखिए ब्रैसिका

गाजर — देखिए डाकस

गाम्फिया — देखिए औरेटिया

गारनोटिया ब्रोंगनियट (ग्रेमिनी) GARNOTIA Brongn.

ले.—गारनोटिया

D.E.P., III, 483; Fl. Br. Ind., VII, 243; Blatter & McCann, 206, Pl. 136.

यह बहुवर्षी, विरली ही एकवर्षी, घासों का छोटा वंश है जो हिन्द-मलाया क्षेत्र, चीन और जापान में पाया जाता है। भारत में इसकी लगभग आठ जातियाँ मिलती हैं। गा. स्ट्रिक्टा ब्रोंगनियट एक परिवर्तनशील, खड़ी, गुच्छित, 60-90 सेंमी. ऊँची घास है, जिसकी पत्तियाँ चपटी या सम्बलित होती हैं और जो लगभग समस्त भारत में पायी जाती है। चारे के रूप में इस घास का कोई उपयोग नहीं है किन्तु छप्पर बनाने के लिये यह उपयोगी बताई जाती है (Burkill, I, 1061).

Gramineae; G. stricta Brongn.

गार्डीनिया एलिस (रुबिएसी) GARDENIA Ellis

ले.—गारडेनिआ

यह झाड़ियों तथा छोटे वृक्षों का एक वंश है जो पुरानी दुनियाँ के उष्ण तथा उपोष्ण कटिबन्धीय प्रदेशों में पाया जाता है। भारत में लगभग 6 जातियाँ देशज हैं। इसके अतिरिक्त कुछ विदेशी जातियाँ उद्यानों में उगाई जाती हैं। अनेक गार्डीनिया जातियों से प्राप्त लकड़ी घानी लकड़ी का विकल्प है। कुछ जातियों के स्राव से प्राप्त रेजिन ओपधियाँ बनाने के काम आते हैं।

Rubiaceae

गा. कैम्पैनुलैटा रॉक्सवर्ग G. campanulata Roxb.

ले.—गा. काम्पानूलाटा

D.E.P., III, 479; Fl. Br. Ind., III, 118.

असम—विटमार, डोंग-छी, भीमोना.

यह शूलमय बड़ी झाड़ी अथवा लघु वृक्ष है जो भारत के उत्तरी-पूर्वी भागों में पाया जाता है। इसके पत्ते दीर्घवृत्तीय अंडाकार अथवा भालाकार; फूल द्विरूपी, घंटाकार; फल दीर्घवृत्तीय अथवा अर्ध-गोलाकार, 5-कटकीय और गुदेदार होते हैं।

इसके पत्ते और फल पकाने के पश्चात् खाये जाते हैं। फल विरेचक तथा कृमिनाशक है। स्थूलकायता तथा विवर्धित प्लीहा में इस पौधे का रेजिन प्रयुक्त होता है। फलों का 1 : 80 तनुता का विलयन उपयुक्त लारवानाशी है। यह मत्स्य विष के रूप में प्रयोग में लाया जाता है। इसके फलों का प्रयोग घीने में तथा रेशम के दाग छुड़ाने में किया जाता है। इसका सक्रिय पदार्थ एक सैपोनिन, $C_{19}H_{30}O_{10}$ है। इसकी जड़ कुछ-कुछ कपाय है। इसमें 2.4% टैनिन होता है (Fl. Assam, III, 55; Kirt. & Basu, II, 1282; Nadkarni, 386; Manson, J. Malar. Inst., India, 1939, 2, 85; Hooper, Agric. Ledger, 1902, No. 1, 45).

गा. गमीफेरा लिनिअस पुत्र *G. gummifera* Linn. f.

ले.—गा. गुम्मीफेरा

D.E.P., III, 480; Fl. Br. Ind., III, 116.

सं.—पिण्डव, नदी-हिंगु; हि., बं. और म.—दीकमाली; गु.—कमरी, दीकमाली; ते.—यंचीविककी, चित्तामता, तेल-मंगा; त.—कम्बली-पिचिन, दीक-मल्ली; क.—सिट्टू-विकके, कम्बीमेना, दिक्केमल्ली; उ.—गुरुद्व, वृद्धिकोली (इनमें से बहुत से नाम गोंद-रेजिनों के लिये हैं).

यह बड़ी सुन्दर झाड़ी अथवा एक छोटा वृक्ष है जिसका तना प्रायः टेढ़ा (1.5–1.8 मी. ऊँचा, घेरा 30 सेंमी.), शाखायें रुख और मुड़ी होती हैं. यह समस्त दक्षिणी प्रायद्वीप में और उसके उत्तर में वुन्देलखण्ड में तथा बिहार के कुछ भागों में पाया जाता है. इसकी छाल भूरी; पत्ते अवृत्त, फानाकार या अंडाकार; फूल बड़े-बड़े और पीले; तथा फल गुदेदार तथा अंडाभ होते हैं.

इस जाति के और गा. लूसिडा के पत्तों की कलियाँ तथा नये अंकुर रेजिनी-स्राव देते हैं जो व्यापार में दीकमाली या कम्बी गोंद के रूप में जाना जाता है. यह रेजिन बूँद-बूँद मात्रा में निक्षिप्त होता है. इन बूँदों सहित कलियों तथा शाखाओं को तोड़ लिया जाता है. बाजार में इनको इसी रूप में, टिकिया के रूप में अथवा अनियमित टुकड़ों में बेचा जाता है. रेजिन पारदर्शक और रंग में हरा-पीला होता है. इसका स्वाद तीखा होता है तथा इसमें विचित्र प्रकार की अप्रिय गंध रहती है. यह उद्वेष्टरोधी, कफोत्सारक, वातानुलोमक, स्वेदजनक और कृमिनाशक है. बच्चों के तांत्रिकीय विकारों में और दांतों के निकलने के कारण हुये अतिसार में इसका उपयोग होता है तथा उत्तेजना को शांत करने के लिये मसूड़ों पर इसे मला जाता है. गंदे व्रणों को साफ करने के लिये भी इसका प्रयोग किया जाता है. ज्वर में रेजिन का काढ़ा इस्तेमाल करते हैं; आध्मान वाले अग्निमांघ में यह रेजिन लाभकारी सिद्ध हुआ है. बाह्य उपयोग में यह प्रतिरोधक तथा ज्वरीपक का कार्य करता है. पशुचिकित्सा में घावों से मक्खी दूर रखने के लिये, व्रणों में सुई को नष्ट करने के लिये, और भेड़ों के स्नान के लिये इस रेजिन का व्यापक उपयोग किया जाता है (Howes, 1949, 162; Kirt. & Basu, II, 1280; Dymock, Warden & Hooper, II, 208; Nadkarni, 386).

दीकमाली के एक व्यापारिक नमूने से रेजिन, 89.9; वाष्पशील तेल, 0.1; और पीछे के अपद्रव्य, 10% प्राप्त हुए. रेजिन में निम्न-लिखित लक्षण होते हैं: ग. बि., 45–50°; अम्ल मान, 87.1; आयो. मान, 80.8; तथा साव. मान, 172.3. यह एक रंजक द्रव्य, गार्डेनिन (5-हाइड्रॉक्सि-3, 6, 8, 3', 4', 5'-हेक्सामेथॉक्सि फ्लैवोन, $C_{27}H_{22}O_6$; ग. बि., 163–64°) देता है जो रेजिन के गर्म ऐल्कोहल के साथ देर तक संपाचन से (उपलब्धि, 1.4% तक) प्राप्त किया जा सकता है. गहरे पीले रंग के दीकमाली से गार्डेनिन अधिक मात्रा में प्राप्त होता है (For. Res. India, 1949–50, pt 1, 84; Bose, J. Indian chem. Soc., 1945, 22, 233; Balakrishna & Seshadri, Proc. Indian Acad. Sci., 1948, 27A, 91).

गा. गमीफेरा की लकड़ी रंग में हल्की पीली होती है. यह कुछ चिकनी तथा चमकदार होती है. यह ठोस और भारी (आ. घ., 0.74; भार, 768 किग्रा./घमी.), सीधे दानेदार तथा सुन्दर और समान गठन वाली होती है. गार्डोनिया वंश की अन्य लकड़ियों की तरह श्रुत्करण करते समय इसके किनारे महीन भागों में विभाजित हो जाते हैं. वृक्षों को मानसून के तुरन्त बाद काट लेना चाहिये तथा इनकी सूखी हवाओं से बचाना चाहिये. किनारों पर लकड़ी को फटने



चित्र 1 — गार्डोनिया गमीफेरा—पुष्पित शाखा

से रोकने के लिये इसे कोलतार अथवा गाय के गोबर से पोता जाता है तथा इसकी छाल को अलग नहीं किया जाता. यह लकड़ी काफी टिकाऊ है, इस पर पालिश अच्छी चढ़ती है तथा यह खराद के कार्यों के लिये अच्छी है. इसके कंचे, यंत्रों की मूर्ते, लेखनी तथा अन्य छोटी-छोटी वस्तुयें बनाई जाती हैं. यह धानी लकड़ी का एक उपयोगी विकल्प है. इस लकड़ी का ऊष्मा-मान 4,543 कै. या 8,178 ब्रि. थ. इ. है (Pearson & Brown, II, 645; Krishna & Ramaswami, Indian For. Bull., N.S., No. 79, 1932, 17).

गा. जैस्मिनायडीज एलिस सिन. गा. फ्लोरिडा लिनिअस;

गा. आगस्टा मेरिल *G. jasminoides* Ellis केप जैस्मिन

ले.—गा. जास्मिनोइडेस

D.E.P., III, 480; Fl. Br. Ind., III, 115.

सं., हि., बं. और उ.—गन्धराज.

यह एक परिवर्तनशील, सदापर्णी झाड़ी अथवा एक छोटा वृक्ष है जो चीन तथा जापान का मूलवासी है और भारत में प्रायः उद्यानों में लगाया जाता है. इसके पत्ते बड़े, अंडाकार, मोटे, चमकीले और प्रायः चितकवरे; फूल एकल, 7.5 सेंमी. चौड़े, हल्के पीले रंग के, प्रायः दुहरे तथा अत्यधिक सुगन्धयुक्त; फल अंडाभ, लगभग 3.75 सेंमी. लम्बे, नारंगी रंग के, गुदेदार तथा शिरायुक्त होते हैं. इसका प्रवर्धन वर्षा में कलमों द्वारा किया जा सकता है. वाड़ के लिये नये पौधे अच्छे सिद्ध हुये हैं.

यह पौधा उद्वेष्टरोधी, ज्वररोधी, विरेचक तथा कृमिनाशक है. बाह्य रूप में यह प्रतिरोधी है. इसकी जड़ें अग्निमांघ तथा तांत्रिकीय

विकारों में उपयोगी हैं। पानी के साथ इनकी लेई बनाकर सिरदर्द के समय माथे पर लगाते हैं। मलाया में इसके पत्ते प्रायः पुलिस बनाने के काम आते हैं। पत्ते और जड़ें ज्वरहर के रूप में भी उपयोगी हैं। शीतकाल में इसके पत्तों में मैनिटॉल की उपस्थिति बताई जाती है, परन्तु ग्रीष्मकाल में नहीं (Kirt. & Basu, II, 1282; Burkill, I, 1058; *Chem. Abstr.*, 1937, 31, 7937).

इसके फल वामक, मृत्रल तथा उद्दीपक होते हैं। ये कमल रोग में तथा वृक्क और फेफड़ों के विकारों में प्रयुक्त होते हैं। चीन में इसके फल कपड़ों को पीला अथवा सिंदूरी रंगने के लिये प्रयोग किये जाते हैं। इनमें पेक्टिन, क्लोरोजेनिन, टैनिन और एक अक्रिस्टलीय लाल रंजक द्रव्य होता है जो केसर से प्राप्त क्रोसिन के समान है (Burkill, loc. cit.; Perkin & Everest, 621; Thorpe, V, 428).

ताजे फूलों को पेट्रोलियम से सम्मर्दित करके आसवन करने से 0.07% साफ पीला वाष्पशील तेल (आ. घ., 1.009) प्राप्त होता है। इस तेल में बेंजोइल ऐसीटेट, स्टाइरीन ऐसीटेट, लिनेलॉल, लिनेलिल ऐसीटेट, टर्पीनॉल तथा मेथिल ऐन्थ्रानिलेट होता है। शायद बेंजोइक अम्ल भी एस्टर के रूप में रहता है। इसकी गन्ध मुख्यतः स्टाइरीन ऐसीटेट के कारण होती है। इस तेल का निष्कर्षण कम ही किया जाता है। व्यापार में प्रयोग किया जाने वाला गार्डीनिया अधिकतर संश्लिष्ट होता है। चीन बासी इन फूलों को चाय को सुगन्धित करने में उपयोग करते हैं (Parry, I, 273; Guenther, V, 356; *J. chem. Soc.*, 1903, 84, 47; Burkill, loc. cit.).
G. florida Linn.; *G. augusta* Merrill

गा. टर्जिडा राक्सवर्ग *G. turgida* Roxb.

ले.—गा. टूरगिडा

D.E.P., III, 483; Fl. Br. Ind., III, 118.

हि.—थनेला, घुगिया; म.—पेन्द्रा, खुरपेन्द्रा; ते.—येरीविककी, तेल्लाकोक्कीता, मनजुंदा; त.—मलंगारी; क.—बेंगेरी, वूतवंगरी; मल.—मलंकारा, खरकार; उ.—बोमोनिया।

राजस्थान—कस्म्बा; मध्य प्रदेश—करहर।

यह एक छोटा पर्णपाती शूलमय वृक्ष है जिसकी छाल हल्की घूसर अथवा श्वेत और चिकनी होती है। यह भारत के अधिकांश भागों में बाह्य हिमालय के सूखे खुले पर्णपाती वनों में 1,200 मी. की ऊँचाई तक सर्वत्र पाया जाता है। पत्ते दीर्घवृत्तीय, अर्धश्रृंखलाकार, शाखाओं के सिरों पर एकत्रित; फूल बड़े, श्वेत; फल अर्धगोलाकार, हरे घूसर रंग के, कठोर फलभित्ति और काष्ठमय अंतःफलभित्ति के अनेक कोणिक बीजों से युक्त होते हैं। यह पेड़ सूखी पथरीली मिट्टी, पथरीले पहाड़ों के कटक, लेटराइट, कंकड़ तथा कठोर चिकनी मिट्टी वाले स्थानों पर पाया जाता है। इस पर न तो सूखे और पाले का कोई प्रभाव पड़ता है, न इसे पशु ही सुगमता से चर पाते हैं। इसको लगाने के लिये पहले बीजों को संवर्धन कारियॉर्मों में उगाया जाता है, तत्पश्चात् एक वर्ष पुरानी पौधों को दूसरी वर्षा के आरम्भ में लगाते हैं (Troup, II, 629).

इसकी लकड़ी हल्के पीले से हल्के भूरे रंग की होती है तथा अंतःकाष्ठ स्पष्ट नहीं होता। यह चिकनी और चमकीली, कठोर, भारी (आ. घ., 0.89; भार, 912 किग्रा./घमी.), सीधे दानों वाली, महीन और समगठन वाली होती है। ऋतुकर्ण करने पर यह विभाजित हो सकती है। इसे ह्रित रूपान्तरण, आच्छादित संचयन और शुष्क हवा से वचाने की संस्तुति की गई है। आच्छादित अवस्था में यह टिकाऊ

है। इसको सुगमता से काटा और गढ़ा जा सकता है। यह खरादी जा सकती है तथा इस पर पालिश अच्छी चढ़ती है। लकड़ी का ऊष्मान 4,693 कै. या 8,448 ब्रि. थ. इ. है। इससे छड़ी, जूते के फर्मे, संगीत के यंत्र, कंधे तथा खराद की छोटी वस्तुयें बनाई जाती हैं। इसको ईधन के रूप में भी प्रयोग करते हैं। घानी लकड़ी का यह काफी अच्छा विकल्प है, परन्तु यह गा. लैटिफोलिया की लकड़ी से कुछ निम्न कोटि की होती है (Pearson & Brown, II, 650; Krishna & Ramaswami, loc. cit.).

वृक्षों के अजीर्ण रोग में सन्थाल इसकी जड़ों को प्रयोग में लाते हैं। संदलित जड़ें पानी के साथ झाग बनाती हैं जिसे मुंडा लोग सिरदर्द में लगाते हैं। स्तनी ग्रन्थियों की व्याधि में इसके फलों को प्रयोग में लाते हैं। फल पकाकर खाये भी जाते हैं (Kirt. & Basu, II, 1281; Gupta, 275).

इस पेड़ से एक पीला और सुगन्धित गोंद मिलता है जो पानी में पूर्णतया विलेय है। इस गोंद को, तने के ऊपरी भाग को थोड़ा काट कर प्राप्त किया जाता है। इसमें 40% d-मैनिटॉल होता है (Forster & Rao, *J. chem. Soc.*, 1925, 127, 2176; *Chem. Abstr.*, 1913, 7, 681).

गा. कोरोनैरिया वृक्कन-हैमिल्टन एक छोटा वृक्ष है जो सिलहट तथा अण्डमान द्वीपों में पाया जाता है। इसकी लकड़ी भूरे रंग की, कठोर, भारी (भार, 816 किग्रा./घमी.) और सघन दानेदार होती है। इसमें दरारें पड़ सकती हैं। यह कंधे तथा खरादी वस्तुयें बनाने के काम में लाई जाती है। कहते हैं कि इस पेड़ से मोम भी मिलता है।
G. coronaria Buch.-Ham.

गा. लूसिडा राक्सवर्ग=गा. रेजिनिफेरा राथ *G. lucida* Roxb.

ले.—गा. लूसिडा

D.E.P., III, 482; Fl. Br. Ind., III, 115.

हि., म. और गु.—दीकमाली.

गा. गमीफेरा के समान यह एक सुन्दर झाड़ी अथवा छोटा वृक्ष है परन्तु इसकी छाल अधिक गहरे रंग की तथा इसके पत्ते अधिक लम्बे और स्पष्ट वृत्तीय होते हैं। यह मध्य भारत तथा दक्षिणी प्रायद्वीप में पाया जाता है और प्रायः उद्यानों में लगाया जाता है। फूल बड़े-बड़े, श्वेत से पीले, सुगन्धित; फल श्रृंखलाकार अथवा अर्धगोलाकार (2.5-3.75 सेंमी. लम्बे) होते हैं जिनकी अंतःफलभित्ति पपड़ीदार होती है। पौधे का प्रवर्धन वर्षा ऋतु में कलमों द्वारा होता है।

इस जाति से प्राप्त दीकमाली या कम्बी गोंद गा. गमीफेरा से प्राप्त गोंद जैसा ही होता है तथा वह उसी प्रकार प्रयुक्त भी होता है। इसकी लकड़ी (आ. घ., 0.73; भार, 752 किग्रा./घमी.) के गुण भी गा. गमीफेरा की लकड़ी के समान होते हैं। लकड़ी के भंजक आसवन से शुष्क आधार पर निम्नलिखित पदार्थ प्राप्त होते हैं: कोयला, 30.1; पायरोलिमिनियस अम्ल (शुष्क), 39.5; तारकोल, 10.8; पिच, आदि, 1.3; अम्ल, 5.47; एस्टर, 4.67; ऐसीटोन, 3.80; तथा मेथेनॉल, 1.19%; गैस (सा. ता. दा. पर), 0.115 घमी./किग्रा. पत्तों का ईथर निष्कर्ष स्टैफिलोकोकस औरियस तथा एशेरिशिया कोलाई के प्रति प्रतिजीवी क्रिया दर्शाता है (Pearson & Brown, II, 644; Kedare & Tendolkar, *J. sci. industr. Res.*, 1953, 12B, 218; Joshi & Magar, *ibid.*, 1952, 11B, 261).

G. resinifera Roth

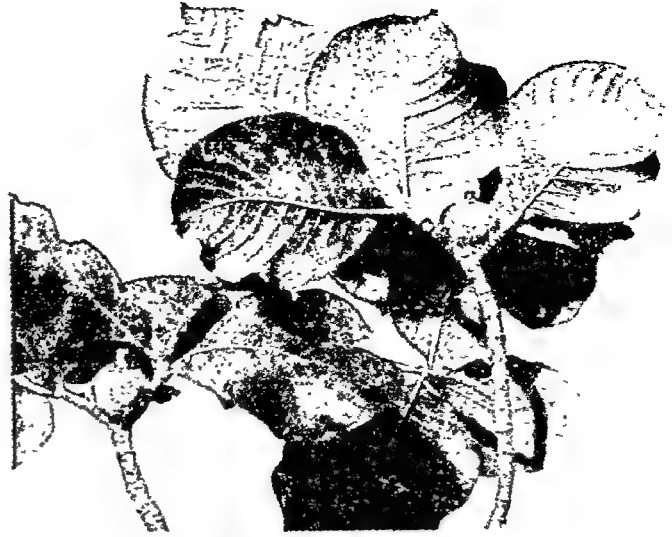
गा. लैटिफोलिया ऐटन *G. latifolia* Ait. वाक्सवुड गार्डीनिया
ले.—गा. लाटिफोलिया
D.E.P., III, 482; Fl. Br. Ind., III, 116.

हि.—पापरा, पाफर, बन पिडालु; म.—धोगरी, पापुर, पांडु;
ते.—पेदेविककी, पेदाकरिगुवा, गैगर; त.—कुम्बै, पेसंगाम्बिल;
क.—कालकम्बी अडवीविकके; उ.—कोटा रंगा, डमकुर्तु, जनतिया.

यह एक छोटा पर्णपाती शोभाकारी वृक्ष है जिसका शिखर नीचा
तथा झाड़ीदार होता है। इसकी छाल घूसर होती है और परतों में
उपड़ती है। यह भारत में सर्वत्र और विशेषतः सूखे वनों में पाया
जाता है। कभी-कभी यह अभिषादप के रूप में भी मिल जाता है।
इसका तना 3.6—4.2 मी. तथा घेरा 0.6—1.2 मी. होता है। इसके
पत्ते बड़े चौड़े, अंडाकार, तथा प्रायः शाखाओं के सिरों पर; फूल
7.5—10 सेंमी. चौड़े, एकल, पीताभ सुगंधित; तथा फल गोलाकार
(2.5 से 5 सेंमी. व्यास के), रोमिल और खाद्य होते हैं।

इसकी लकड़ी हल्के पीले रंग की तथा अंतःकाष्ठ स्पष्ट नहीं होता।
लकड़ी कुछ-कुछ चमकीली तथा चिकनी, कठोर, मजबूत तथा भारी
(घा. घ., 0.85; भार, 864 किग्रा./घमी.), सुन्दर समान गठन
की होती है। यह सुगमतापूर्वक काटी और काम में लाई जा सकती
है। इस पर पालिश अच्छी चढ़ती है। यह सायबान में टिकाऊ रहती
है। इस लकड़ी का ऊष्मा-मान 4,661 कै. अथवा 8,390 ब्रि. थ. इ.
है (Pearson & Brown, II, 648; Krishna & Ramaswami,
loc. cit.).

यह धानी लकड़ी के स्थान पर प्रयुक्त की जाती है। यह कंचे तथा
खराद की वस्तुयें बनाने के काम आती है। उत्खनन, हल्के मेज-कुर्सी,



चित्र 3 — गार्डीनिया लैटिफोलिया—फलित शाखा

तम्बाकू रखने के पात्र, तुरी, मुंगरी, खिलौन तथा गणितीय यन्त्र,
अंडों के पात्र बनाने में इसका उपयोग किया जाता है (Pearson &
Brown, II, 650, 1076; Lewis, 231; Howard, 219).

गार्निआइट — देखिए निकल अयस्क

गार्सिनिया लिनअस (गटोफेरी) *GARCINIA* Linn.

ले.—गार्सिनिया

यह सदावहार वृक्षों और झाड़ियों का एक विशाल वंश है जिसकी
जातियाँ उष्णकटिबंधीय एशिया, अफ्रीका और पोलिनेशिया में पायी
जाती हैं। भारतवर्ष में लगभग 30 जातियाँ पाई जाती हैं।
Guttiferae

गा. इंडिका च्वायसी *G. indica* Choisy

कोकम-बटर ट्री, मँगोस्टीन आयल ट्री, ब्रिडोनिया टैलो ट्री

ले.—गा. इंडिका

D.E.P., III, 466; C.P., 553; Fl. Br. Ind., I, 261.

हि.—कोकम; गु.—कोकन; म.—आमसोल, भिरंड, कटाम्बी,
कोकम, रटाम्बा; त.—मुरगल; क.—मुरगला; मल.—पूतम्पुली.

यह एक कोमल सदापर्णी वृक्ष है जिसकी शाखायें क्लान्तिनत;
पत्तियाँ अंडाकार या दीर्घायत-भालाकार 6.25—8.75 सेंमी. लम्बी
और 2.5—3.75 सेंमी. चौड़ी, ऊपर गहरे हरे रंग की तथा नीचे
की ओर पीले रंग की; फल गोलाकार 2.5—3.75 सेंमी. व्यास
के, पकने पर गहरे नील-लोहित रंग के जिनमें 5—8 बड़े-बड़े बीज
होते हैं। यह पश्चिमी घाट के उष्णकटिबंधीय क्षेत्रों में कोकण से
दक्षिण में मैसूर, कुर्ग और वायनाड तक वरसाती जंगलों में पाया
जाता है। इसे महाराष्ट्र के दक्षिणी जिलों में भी उगाया जाता है।
नीलगिरि पहाड़ियों के निचले ढलानों वाले क्षेत्रों में यह भली भाँति



चित्र 2 — गार्डीनिया लैटिफोलिया

उगता है। यह नवम्बर-फरवरी के महीनों में फूल देता है और अप्रैल-मई के महीनों में इसके फल पक जाते हैं।

फल में एक रुचिकर स्वाद-गंध और मीठा अम्लीय स्वाद होता है। कोंकण में इसे कोकम के रूप में प्रयोग किया जाता है जिसे फल के ऊपरी शल्क को बार-बार फल के गूदे के रस में शोषित करके और धूप में सुखा कर प्राप्त किया जाता है। कोकम में 10% मैलिक अम्ल और टार्टरिक या सिट्रिक अम्लों की थोड़ी-सी मात्रा होती है। सन्निधियों में अम्लीय गंध के लिये तथा गर्मी के महीनों में ठंडे शर्बतों में इसका उपयोग किया जाता है। भारत से कोकम का निर्यात जंजीवार को किया जाता है (Khan & Pandya, *Proc. Indian Sci. Congr.*, 1936, 200; Williams, 1949, 270).

गा. इंडिका का फल कृमिनाशक और हृदय-टानिक है तथा ववासीर, पेचिश, आंतरिक फोड़ों, दर्द और हृदय रोगों में लाभदायक है। फल के रसों का शर्बत पौष्टिक प्रभाव को कम करने के लिये दिया जाता है। जड़ का स्वाद कषाय होता है (Kirt. & Basu, I, 263).

फल के बीजों से एक मूल्यवान खाद्य वसा (बीजों के भार का 23-26% तथा गिरी के भार का 44%) प्राप्त होती है जिसका व्यापारिक नाम 'कोकम-वटर' है। कुटीर उद्योग में गूठली पीसकर लुगदी को जल में उवाल लेते हैं, और मथकर ऊपरी पृष्ठ से वसा को अलग कर लेते हैं या फिर पिसी हुई लुगदी में जल मिलाकर मथ डालते हैं।

वसा के लक्षण इस प्रकार हैं: n_D^{40} , 1.4565-1.4575; साव. मान, 187-191.7; आयो. मान, 25-36; असाव. पदार्थ, 2.3%; आर. एम. मान, 0.1-1.0; ग. वि., 40-43°; और अनुमाप, 60°. कोकम-वटर और गा. मोरेला से प्राप्त वसा के लक्षण तथा संरचना सारणी 1 में दिये गये हैं (Jamieson, 87).



चित्र 4 - गार्सिनिया इंडिका

सारणी 1 - गा. इंडिका और गा. मोरेला वसाओं के लक्षण तथा संघटन*

लक्षण	गा. इंडिका	गा. मोरेला
ग. वि.	39.5-40.0°	32.5-33.0°
साव. तुल्यांक	299.5	287.6
आयो. मान	37.4	40.3
असाव. पदार्थ (%)	1.4	0.9
मुक्त वसा-अम्ल (% ओलीक अम्ल के रूप में)	7.2	7.4
रचक वसा-अम्ल (भार का %)		
पामिटिक	2.5†	0.7‡
स्टीरिक	56.4	46.4
ऐराकिडिक	..	2.5
ओलीक	39.4	49.5
लिनोलीक	1.7	0.9++
रचक ग्लिसराइड (% अनु)		
ट्राइस्टीरिन	1.5	2.0
ओलिओडाइस्टीरिन	68	46
ओलिओपामिटोस्टीरिन	8	..
स्टीरियोडाइओलीन	20	47
पामिटोडाइओलीन	0.5	4
ट्राइओलीन	2	1

* Hilditch & Murti, *J. Soc. chem. Ind., Lond.*, 1941, 60, 16T. † 5.3% Vidyarthi & Rao, *J. Indian chem. Soc.*, 1939, 16, 437. ‡ 7.2% Dhingra et al., *J. Soc. chem. Ind., Lond.*, 1933, 52, 117T. ++ 6.1% Dhingra et al., loc. cit.

वाजार में बेचा जाने वाला कोकम-वटर अंडाकार टुकड़ों या हल्के भूरे अथवा पीले रंग के पिंडों के आकार में मिलता है। यह छूने में चिकना और मिश्रित तेल-जैसा स्वाद देता है। यह मुख्यतः खाद्य-वसा के रूप में उपयोग में आता है। इसे शुद्ध घी में मिलावट के लिये भी काम में लाते हैं। साधारणतया इसमें बीज के छोटे-छोटे कण अशुद्धियों के रूप में उपस्थित रहते हैं। शुद्ध और गंध-विहीन वसा सफेद रंग की और उच्च कोटि की हाइड्रोजनीकृत वसा के समान होती है (Vidyarthi & Rao, *J. Indian chem. Soc.*, 1939, 16, 437).

अन्य गार्सिनिया वसाओं की भांति कोकम-वटर में स्टीरिक और ओलीक अम्लों की बहुलता होती है। इसमें लगभग 75% मोनो-ओलियो द्वि-संतृप्त ग्लिसराइड होते हैं। इसका गलनांक कम और भंगुरता अधिक है। यह मिठाई बनाने में काम आने वाले मक्खन के लिये उपयुक्त है। परन्तु जमने पर इसकी सतहें खुरदुरी हो जाती हैं इसलिए इस दोष को दूर करने के लिये इसमें किसी अन्य वसा का मिलाना आवश्यक हो जाता है। यह साबुन और मोमवत्ती बनाने के लिए भी अनुकूल है। इस वसा से 45.7% स्टीरिक अम्ल प्राप्त करने की एक विधि निकाली गई है। इसके गुण (बेटेरिया इंडिका से प्राप्त) पिनी-चर्वी से मिलते हैं और इसका उपयोग रूई के धागों को चिक्रण करने में किया जा सकता है (Hilditch & Murti, *J. Soc. chem. Ind., Lond.*, 1941, 60, 16T; Williams, K.A., 366; Rao, *J. sci. industr. Res.*, 1948, 7B, 10; Puntambekar & Krishna, *Indian For.*, 1932, 58, 68).



चित्र 5—गासिनिया इंडिका—पुष्पित शाखा

‘कोकम-वटर’ बलदायक, विपायसीकारक, स्तम्भक और प्रदाह प्रशामक माना जाता है। यह मलहम तथा अन्य औषधीय पदार्थ बनाने के लिये उपयोगी है। इसे फोडी, होठी तथा हाथों की दरारों इत्यादि पर स्थानीय रूप से इस्तेमाल करते हैं। बीजों में से तेल निकालने के पश्चात् बची हुई खली को खाद के रूप में प्रयोग किया जाता है (Kirt. & Basu, I, 262; Gayatonde et al., Indian J. Pharm., 1949, 11, 67).

Vateria indica

गा. एकिनोकार्पा थ्वेट्स *G. echinocarpa* Thw.

ले.—गा. एकिनोकार्पा

D.E.P., III, 466; Fl. Br. Ind., I, 264.

त.—माडल; मल.—पारा.

यह 12–15 मी. ऊँचा सुन्दर वृक्ष है जिसमें 1–3 बीज वाले अर्ध-गोलाकार, गहरे लाल रंग के फल होते हैं। यह दक्षिणी ब्रावनकोर और त्रिनेवेली के नम जंगलों में 900–1,500 मी. की ऊँचाई तक और श्रीलंका में पाया जाता है।

गा. एकिनोकार्पा के बीज से एक गाढ़ा श्यान तेल (गिरी के भार के आधार पर, 64.4%; बीजों के भार पर, 49.6%) प्राप्त होता है जो धीरे-धीरे लगभग 26° पर एक मृदु सूरी ठोस बसा के रूप में जम जाता है। तेल कुछ-कुछ दानेदार, चाकलेट रंग का और विशिष्ट

सौरभिक गंधयुक्त होता है। बीजों की गिरी में फीनोलीय पदार्थ रहते हैं जिसके कारण खुला रखने पर इसकी सतह शीघ्र ही काली हो जाती है। संभवतः इसी कारण तेल भी चाकलेट रंग का है। तेल के कुछ स्थिरांक इस प्रकार हैं: आ घ. n_D^{20} , 0.877; n_D^{40} , 1.4690; सावु. मान, 203.4; आयो. मान, 73.0; मुक्त बसा-अम्ल, 7%; और अनुमाप, 55°. बसा-अम्लों में स्टीएरिक, 36%; ओलीक, 43%; और अल्प मात्रा में पामिटिक तथा लिनोलीडिक अम्ल रहते हैं। इसकी अम्लता, रंग और गंध के कारण इसे व्यापारिक रूप से उपयोगी बनाने के पहले अत्यधिक शोधन की आवश्यकता होती है। यह प्रकाश के लिए काम में लाया जा सकता है। यह सावुन बनाने और मोमबत्ती बनाने के लिये स्टीएरीन बनाने में प्रयुक्त किया जा सकता है। निष्कपित सूखी गिरी में N, 1.57; K_2O , 3.0; और राख, 8.46% होती है। खाद के रूप में इसका कोई महत्व नहीं है (Child & Nathanael, Trop. Agriculturist, 1941, 97, 78).

इसकी लकड़ी गहरे लाल रंग की, कठोर और भारी (816 किग्रा/घमी.), हल्के रंग की, मृदु गठन वाली और लगभग सकेन्त्री पट्टियों वाली होती है यह टिकाऊ नहीं है। श्रीलंका में इसे छोटे पटरों के लिये उपयोग में लाते हैं। इसकी पत्तियों और छाल का उपयोग जलशोफ और कृमिनिस्सारक की भाँति होता है (Gamble, 53; Lewis, 13; Child & Nathanael, loc. cit.).

गा. एट्रोविरिडिस ग्रिफिथ *G. atroviridis* Griff.

ले.—गा. अट्रोविरिडिस

Fl. Br. Ind., I, 266; Fl. Assam, I, 109; Corner, I, 314, Fig. 102.

यह एक मध्यम आकार का, 9–15 मी. ऊँचा, सुन्दर वृक्ष है जो ऊपरी असम के उत्तरी-पूर्वी जिलों में पाया जाता है। पत्तियाँ 15–22.5 सेमी. लम्बी और 5–7.5 सेमी. चौड़ी, मोटी, चमिल, अरोमिल, एकाएक लम्बाग्र, आधार सिकुड़ा हुआ; फूल अतस्थ, मादा एकल, बड़े (व्यास, 2.5 सेमी.), हल्के किरमिजी; फल नारंगी-पीले, उप-गोलाकार (व्यास, 7.5–10 सेमी.), खाँडेदार, ऊपरी शल्क कठोर तथा बीजों के चारों ओर पतला और पारभासक गूदा रहता है।

फल का छिलका अत्यधिक खट्टा होता है और आसानी से कच्चा नहीं खाया जा सकता है परन्तु चीनी के साथ पकाने पर इसका स्वाद काफी अच्छा हो जाता है। मलाया में कम पके हुये फलों के छिलकों को फाँकों में काट कर धूप में सुखा कर बाजारों में बेचा जाता है। इसके सूखे खंडों को सज्जियों में अच्छे खट्टे स्वाद के लिये इमली के स्थान पर और मछली के ससाधन में काम में लाते हैं (Burkill, I, 1047; Milsum, Malay. agric. J., 1938, 26, 181).

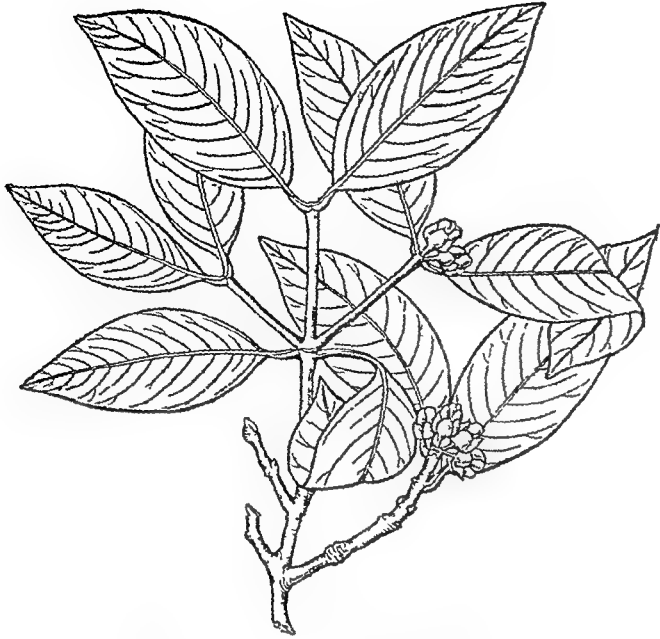
इस फल को रेशम के रगने में फिटकरी के साथ बंधक की भाँति उपयोग में लाते हैं। पत्तियों और जड़ों से प्राप्त काढ़ा कान के दर्द के उपचार में लाभदायक है (Burkill, loc. cit.).

गा. कम्बोजिया डेजरोसो *G. cambogia* Desr.

ले.—गा. काम्बोजिया

D.E.P., III, 464; C.P., 552; Fl. Br. Ind., I, 261.

म.—घराखे; ते.—सिमचिन्त; त.—कोडकापुली, क.—उपगिमरा, सीमे हुणसे; मल.—कडुमपुली, कोडपुली.



चित्र 6 - गार्सिनिया कैम्बोजिया-मुष्पित शाखा

यह एक छोटा या मध्यम आकार का वृक्ष है जिसका शिखर गोलाकार और शाखायें क्षैतिज या क्लांतिनत; पत्तियाँ गहरे हरे रंग की, चमकीली, अधोमुख, अंडाकार 5-12.5 सेमी. लम्बी और 2.5-7.5 सेमी. चौड़ी; फल अंडाभ, 5 सेमी. व्यास के, पकने पर लाल या पीले, 6 या 8 खाँचों से युक्त; बीज 6-8, जिनके चारो ओर रसदार बीजचोल होता है।

यह साधारणतया पश्चिमी घाट के सदापर्णी जंगलों में, कोंकण से दक्षिण में त्रावनकोर तक और नीलगिरि के शोला जंगलों में 1,800 मी. की ऊँचाई तक पाया जाता है। यह गर्मी के मौसम में फूल देता है तथा इसके फल बरसात में पकते हैं। फल खाद्य हैं परन्तु अत्यधिक अम्लता के कारण कच्चे नहीं खाये जा सकते। इन फलों के सूखे हुये छिलको को त्रावनकोर-कोचीन और मालाबार में इमली या नीबू के स्थान पर सब्जियों को हचिकर बनाने के लिये उपयोग में लाते हैं। श्रीलंका में इसके अधपके फलों के गूदे को काटकर धूप में सुखा कर रख लिया जाता है जो भविष्य में काम में लाये जाते हैं। सूखे हुये पदार्थ को नमक के साथ मछली के संसाधन में इस्तेमाल करते हैं। इसमें अम्ल की बहुलता और पूतिरोधी गुण होते हैं। इसमें टार्टरिक अम्ल, 10.6; अपचायक शर्करा (ग्लूकोस के रूप में), 15.0; और फॉस्फोरिक अम्ल (कैल्सियम ट्राइफॉस्फेट के रूप में), 1.52% होते हैं। सम्पूर्ण अम्लीय पदार्थ का लगभग 90% अव्याप्यशील होता है। सूखी छाल सोना और चाँदी पर चमक लाने तथा ऐसीटिक और फॉर्मिक अम्लों के स्थान पर खर लेटेक्स को स्कंदित करने में भी काम में लाई जाती है (Macmillan, 365; Chandraratna, *Trop. Agriculturist*, 1947, 103, 34; Kuriyan & Pandya, *J. Indian chem. Soc.*, 1931, 8, 469)।

गा. कैम्बोजिया के बीजों से 31% खाद्य-वसा प्राप्त होती है जो गा. इंडिका से प्राप्त मक्खन से मिलती-जुलती है। यह वसा दानेदार होती है और इसके स्थिरांक इस प्रकार हैं; ग.वि., 29.5°; अम्ल

मान, 5.0; साव. मान, 203.5; ऐसीटिल मान, शून्य; आयो. मान, 52.5; आर. एम. मान, 0.2; असाव. पदार्थ, 1.0%; और अनुमाप, 51.2°। वसा में ओलीक अम्ल की बहुलता होती है [Krishnamurti Naidu, 70; Rao & Simonsen, *Indian For. Rec.*, 1922, 9 (3), 108]।

इसकी लकड़ी (भार, 640-800 किग्रा./घमी.) भूरे रंग की और घने दानों वाली होती है। यह टिकाऊ नहीं होती यद्यपि पुराने पेड़ों का अंतःकाष्ठ कठोर और टिकाऊ बताया जाता है। इस लकड़ी का उपयोग खम्भों के रूप में होता है; यह दियासलाई के डिब्बे और तीलियाँ बनाने के लिये भी उपयुक्त है (Gamble, 54; Chandraratna, loc. cit.; Lewis, 12; Rama Rao, 29)।

पेड़ से एक पीले रंग का पारभासी रेजिन मिलता है जो जल में पायस नहीं बनाता। इसे तारपीन में घुला कर पीली वार्निश बनाते हैं। आमवात और आंत की बीमारियों में इसके फल के छिलको का काढा दिया जाता है। जानवरों के मुख की बीमारियों में इसे मुह धोने की औषध के रूप में इस्तेमाल करते हैं। इस रेजिन में रेचक गुण होते हैं (Rama Rao, 29; Chandrasena, 35; Chandraratna, loc. cit.)।

गा. कोवा रॉक्सवर्ग सिन. गा. काइडिया रॉक्सवर्ग G. cowa Roxb.

ले.-गा. कोवा

D.E.P., III, 465; C.P., 552; Fl. Br. Ind., I, 262.

हि.-कोवा; वं.-काउ.

नेपाल-काफल; असम-कुजीथकेरा, कौथकेरा.

यह एक लम्बा या मध्यम आकार का एकलिंगाश्रयी वृक्ष है जिसकी छोटी क्लांतिनत शाखायें बहुधा भूमि तक पहुँच जाती हैं। पत्तियाँ लगभग भालाकार, निश्चिताय मोटी और चमकीली; फूल सहायक या अंतस्थ और गुच्छों में; फल गोलाकार, झूके हुये, लगभग 5 सेमी. व्यास के, पीले या लाल रंग के, 6-8 खाँचों से युक्त होते हैं। यह पेड़ भारत के पूर्वी भागों, अर्थात् उड़ीसा, बिहार, बंगाल और असम में तथा अंडमान द्वीपों में पाया जाता है। दक्षिणी भारत में इसकी प्राप्ति सदेहजनक है। यह सदापर्णी या अर्धसदापर्णी जंगलों में और गहरी घाटियों में झरनों के किनारों पर बहुतायत से पाया जाता है। ऊपरी असम में इसके अम्लीय फलों के लिए इसकी खेती आबादी के भीतर की जाती है। यह वृक्ष जनवरी-मार्च के महीनों में फूल देता है और मई-जून के महीनों में इसके फल पक जाते हैं (Parkinson, 89; Fl. Madras, 74; Fl. Assam, I, 105)।

इसके फल खाद्य हैं परन्तु अम्लीय होने के कारण अधिक सुस्वादु नहीं होते। इनको जैम बनाकर या अन्य रूपों में परिरक्षित किया जा सकता है। असम में इस फल के धूप में सुखाये हुये टुकड़ों को पेचिश की बीमारी में काम में लाते हैं। ब्रह्मा में इस वृक्ष की नई पत्तियों को सब्जी की भाँति पकाकर खाते हैं। इसकी छाल कपड़ों को पीले रंग में रंगने में काम आती है (Grant & Williams, *Bull. Dep. Agric. Burma*, No. 30, 1940, 49; Fl. Assam, I, 105; Parkinson, loc. cit.; Burkill, I, 1049)।

इस वृक्ष से एक पीले रंग का रेजिनी गोद प्राप्त होता है जो गेम्बूज से मिलता-जुलता है। रेजिनी गोद में रेजिन, 84.3; गोद, 5.6; अविलेय पदार्थ, 2.5; और राख, 1.1% होती है। यह जल के साथ पायस नहीं बनाता, तारपीन में विलेय है तथा इससे धात्विक-सतहों

के लिए उपयोगी पीले रंग की वार्निश बनाई जाती है (Wehmer, II, 788).

G. kydia Roxb.

गा. जैन्थोकाइमस हुकर पुत्र सिन. गा. टिक्टोरिआ डन
G. xanthochymus Hook. f.

ले.—गा. जैन्थोचिमुस

D.E.P., III, 478; C.P., 555; Fl. Br. Ind., I, 269.

हि.—डैम्पल, तमाल; ने.—चून्थेल; घं.—चालत, तमाल; गु.—करमला, ओता; म.—झरम्बी, ओटा; ते.—इवर्मुदि, तमलमु; त.—कुलवी, मलैपच्चै, मुक्की, तमालम; क.—देवगरिगे; मल.—आल-बाया; उ.—चेओरो, सिताम्बु.

यह मध्यम आकार का सदावहार, झाड़ीदार वृक्ष है जिसका तना सीधा होता है। इसकी शाखायें कोणिक, चर्मीली, चमकदार, 25-37.5 सेमी. लम्बी तथा 3.75-10 सेमी. चौड़ी; फूल कक्षस्थ; फल पकने पर पीले, चिकने और गोलाकार, 5-8.75 सेमी. व्यास के, एक ओर स्पष्ट चोंच युक्त; बीज 1-4 तक और आयतरूप होते

हैं। यह भारत तथा ब्रह्मा का मूलवासी है और पूर्वी हिमालय की नीची पहाड़ियों के वनों में (असम, बंगाल, विहार तथा उड़ीसा) तथा बम्बई, मद्रास, मैसूर, कुर्ग तथा त्रावनकोर-कोचीन में पाया जाता है। यह अनेक प्रकार की मिट्टियों में बढ़ने की क्षमता रखता है। इसमें अत्यधिक मात्रा में फल लगते हैं। कभी-कभी यह वर्ष में दो बार फल देता है। बीजों का अंकुरण शीघ्रता से होता है। 4 वर्ष पुरानी पौध मैगोस्टीन के चढ़ा बाँधने या सामान्य साटा कलम बाँधने के लिये उपयोगी है (Popenoe, 398; Milsum, Bull. Dep. Agric. F.M.S., No. 29, 1919, 99; Naik, 399).

इसके फल का गूदा रसदार होता है जिसमें एक प्रिय अम्लीय गंध होती है। यह परिरक्षित किया जाता है और इसका जैम बनाया जाता है। कढ़ी बनाने में इमली के स्थान पर तथा सिरका बनाने में भी इसका प्रयोग किया जा सकता है। सूखे फल से वना शर्वत पितीय प्रकोप में दिया जाता है (Kirt. & Basu, I, 265; Grant & Williams, Bull. Dep. Agric. Burma, No. 30, 1940, 49).

पेड़ के तने और फल की खाल से एक घटिया गैम्बूज प्राप्त होता है। अघपके फल का निःस्त्राव पीले रंग का होता है। यह निःस्त्राव तथा छाल असम में रँगने के काम आती है।

इस वंश की अन्य जातियों, जो गोंद-रेजिन देती हैं, के नाम हैं : गा. अनोमला, गा. कोनिया लिनियस, गा. स्तिपुलैटा टी. एण्डर्सन, गा. त्रावनकोरिका वेडोम और गा. बाइटाई टी. एण्डर्सन. गा. बाइटाई से प्राप्त गोंद-रेजिन पानी के साथ पायस बनाता है। गा. कोनिया के फल का गूदा अर्ध-अम्लीय तथा प्रिय गन्ध वाला है। इसका प्रयोग गा. मंगोस्टान के लिये मूलकांडों के रूप में किया जा सकता है। गा. स्तिपुलैटा के फलों को लेपचा लोग खाते हैं (Wester, loc. cit.). *G. anomala* Planch. & Triana; *G. cornea* Linn.; *G. stipulata* T. Anders.; *G. travancorica* Bedd.; *G. wightii* T. Anders.; *G. tinctoria* Dunn

गा. डलसिस (रॉक्सवर्ग) कुर्ज *G. dulcis* (Roxb.) Kurz

ले.—गा. डूलसिस

Corner, I, 316; Ochse, Pl. 20.

यह 9-12 मी. ऊँचा, सुन्दर सदावहार वृक्ष है जो मलेशिया में जंगली पाया जाता है। भारत में इसकी खेती प्रारम्भ की गई है और वानस्पतिक उद्यानों में इसे उगाया जाता है। इसका प्रवर्धन बीज या मुकलन द्वारा होता है। इसमें गोलाकार या नाख रूप, 6.3-7.5 सेमी. व्यास के फल होते हैं जो पकने पर चमकीले पीले या नारंगी रंग के हो जाते हैं जिनमें नारंगी रंग का गूदा रहता है। यह इतना खट्टा होता है कि कच्चा नहीं खाया जा सकता। इन फलों में सिट्रिक अम्ल रहता है। यह जैम बनाने या परिरक्षण के लिए उपयुक्त है (Burkill, I, 1049; Ochse, 51; Brown, II, 344).

बीजों में औषधीय गुण हैं तथा इन्हें बाह्य रूप में प्रयोग करते हैं। जावा में इसकी छाल से चटाइयाँ रंगी जाती हैं (Burkill, loc. cit.).

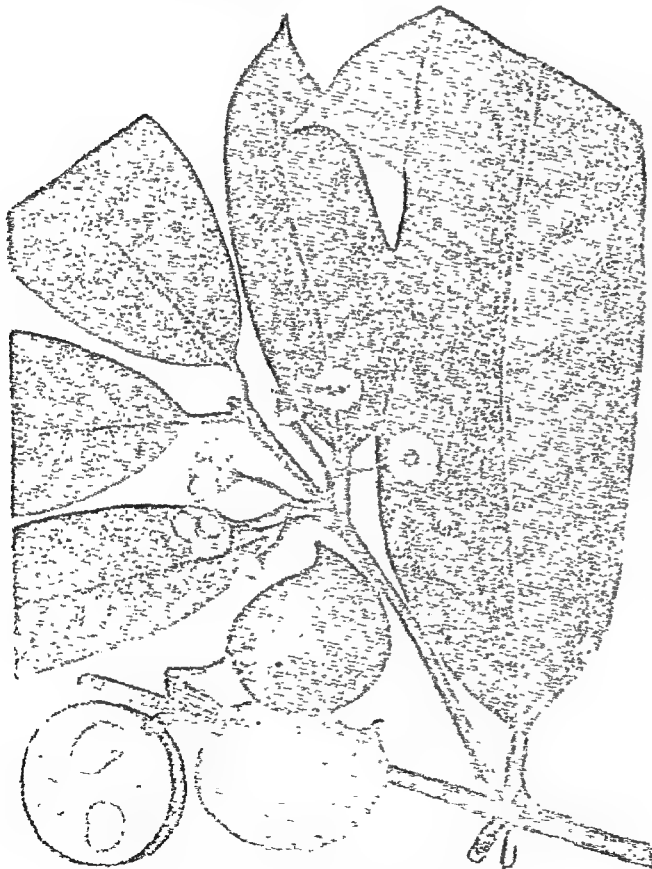
गा. पेडकुलेटा रॉक्सवर्ग *G. pedunculata* Roxb.

ले.—गा. पेडूनकुलैटा

D.E.P., III, 476; Fl. Br. Ind., I, 264.

बंगाल—टिकल, टिकुर; असम—बोर-थेकेरा.

यह 15-18 मी. ऊँचा तथा लम्बा शानदार वृक्ष है जिसका तना झुरीदार और शाखायें छोटी-छोटी तथा फली होती हैं। यह कहीं-कहीं



चित्र 7 — गार्सिनिया जैन्थोकाइमस—पुष्पित तथा फलित शाखा

असम के उत्तर में 900 मी. की ऊँचाई तक तथा मणिपुर में पाया जाता है. कभी-कभी इसकी खेती भी की जाती है. पत्तियाँ अधोमुख अंडाकार या भालाकार, 15-30 सेंमी. लम्बी तथा 7.5-13.75 सेंमी. चौड़ी, चर्मीली और मजबूत मध्यशिरा से युक्त; फल अर्धगोलाकार, 7.5-11.25 सेंमी. व्यास के, पीले, 2.5 सेंमी. मोटे मांसल परिच्छद युक्त; बीज 8-10, गूदेदार बीजचोल में होते हैं.

जनवरी से मार्च तक इस वृक्ष में फूल लगते हैं और मार्च से जून तक इसके फल पकते हैं. यह इस वंश की सबसे बड़े फल देने वाली जातियों में से एक है. यह मैंगोस्टीन के लिये एक उपयुक्त स्कंध है. इसका फल अम्लीय होता है जो कच्चा या पका कर खाया जाता है. इसकी पीली फल-भित्ति सुघटित होती है जिसकी गंध प्रिय होती है परन्तु स्वाद अम्लीय होता है. यह जम्बीर अथवा नींबू के स्थान पर प्रयोग किया जा सकता है. केसर रंग के लिये इसका फल रंगबंधक या स्थायीकर के रूप में प्रयुक्त होता है. फल के गूदे का मुख्य अम्ल मैलिक अम्ल है (13-20%) (Barrett, 207; Wester, loc. cit.; Burkill, I, 1046; Wehmer, II, 788).

ऋतुकरण के बाद इसकी लकड़ी तख्ते, ढंड तथा इमारत बनाने के लिये प्रयुक्त होती है (Gamble, 51).

गा. पैनीकुलेटा रॉक्सवर्ग *G. paniculata* Roxb.

ले.-गा. पानिक्यूलाटा

D.E.P., III, 476; Fl. Br. Ind., I, 266.

असम-सोचोपा-टेंगा.

यह एक सदापर्णी, एकलिंगाश्रयी, 18 मी. ऊँचा वृक्ष है जिसका शिखर अंडाकार और शाखायें आरोही होती हैं. यह पूर्वी हिमालय की तराई में, भूटान, असम तथा खासी और जयन्तिया पहाड़ियों पर पाया जाता है. इसके पत्ते 15-22.5 सेंमी. लम्बे तथा 5-10 सेंमी. चौड़े, चमकीले, लम्बाग्र, कभी-कभी कुंडाग्र; फल गोलाकार (व्यास, लगभग 2.5 सेंमी.) अथवा कुछ लम्बाकार; बीज, 4 जो वृक्काकार होते हैं और गूदेदार बीजचोल में बन्द होते हैं. इसके फल का बीजचोल मैंगोस्टीन के बीजचोल के समान अत्यधिक सुगन्धित होता है तथा चाव से खाया जाता है. यह मैंगोस्टीन के लिये एक उपयुक्त मूलकांड है (Fl. Assam, I, 108).

गा. माइक्रोस्टिग्मा कुर्ज *G. microstigma* Kurz

ले.-गा. मिक्रोस्टिग्मा

Parkinson, 90.

यह मध्य और दक्षिणी अंडमान द्वीपों में पाया जाने वाला, 4.5-7.5 मी. ऊँचा एक छोटा-सा वृक्ष है. फल झुके हुये, गोलाकार, 2.5-3.7 सेंमी. व्यास के, चमकीले और पकने पर गहरे लाल रंग के तथा स्वाद्य होते हैं. ब्रह्मा में नई पत्तियों को पका कर सब्जियों की भाँति खाते हैं.

गा. मैंगोस्टाना लिनियस *G. mangostana* Linn. मैंगोस्टीन

ले.-गा. मांगोस्टाना

D.E.P., III, 470; C.P., 553; Fl. Br. Ind., I, 260.

हि., वं., म., त. और मल.-मंगुस्तान, मंगुस्ता.

यह एक छोटा या मध्यम आकार का 6-13.5 मी. ऊँचा वृक्ष है जिसकी पत्तियाँ गहरे हरे रंग की, 15-25 सेंमी. लम्बी और चर्मीली

होती हैं. फूल अंतस्थ अकेले या युग्म में, 2.5-5 सेंमी. व्यास के, गुलाबी गूदेदार पंखुडियों वाले; फल मुख्यतः वृक्ष के बाहर की ओर की छोटी-छोटी शाखाओं के सिरों पर, दोनों किनारों पर कुछ चपटे, गोलाकार, 5-6.25 सेंमी. व्यास के; बाहरी छिलका चिकना, लाल या नील-लोहित रंग का; बीज 5-8 तक, चपटे, गाढ़ी सफेद जेली के समान बीजचोल से आच्छादित; बीजचोल मीठा और सुगन्धित स्वाद्य पदार्थ होता है.

मैंगोस्टीन का मूल स्थान अज्ञात है परन्तु इसे मलय प्रायद्वीप या द्वीप समूहों का मूलवासी माना जाता है. उष्णकटिबंधीय और अर्ध-उष्णकटिबंधीय क्षेत्रों के अनेक भागों में इसे उगाने की चेष्टा की गई है किन्तु यह सफलतापूर्वक नहीं उगाया जा सका. यह जावा और मलय प्रायद्वीप के एक सीमित क्षेत्र में अत्यधिक मात्रा में उगाया जाता है. ब्रह्मा, इयाम, इण्डोचीन, और श्रीलंका में इसे छोटे-छोटे वगीचों में उगाया जाता है. फिलीपीन्स में यह अर्ध-कृष्य रूप में पाया जाता है. भारत में इसे बंगाल, महाराष्ट्र और तमिलनाडु में उगाने की चेष्टा की गई परन्तु केवल दक्षिणी भारत में, नीलगिरि पहाड़ियों के निचले ढलानों पर 360-1,050 मी. की ऊँचाई तक और तिरुनेवेली जिले में कोर्टेलम के पास ही सफलता प्राप्त हो सकी है. दक्षिणी भारत में मैंगोस्टीन की खेती 10 हेक्टर से अधिक क्षेत्रफल में नहीं होती होगी. यह वृक्ष बाइनाड, अन्नामलाई और पालनिस के क्षेत्रों में (वार्षिक वर्षा 125 सेंमी. या अधिक), जहाँ घनी वनस्पतियाँ वचाव के लिए उगी रहती हैं, उगाया जा सकता है (Popenoe, 392; Corner, I, 318; Wester, J. Dep. Agric. P.R., 1926, 10, 283; Naik, 397; Pillay, Madras agric. J., 1933, 21, 6; 1953, 40, 510).

मैंगोस्टीन एक उष्णकटिबंधी वृक्ष है जिसके लिये अधिक और समान वर्षा वाले प्रदेश भी अनुकूल हैं. इसके लिये गीली तथा अच्छे निकास वाली भूमि तथा नम जलवायु की आवश्यकता है. यह तुपार या सूखा सहन नहीं कर सकता. भारत के पश्चिमी समुद्र तट पर इसके उगाने के प्रयत्न, उच्च ताप और मानसून के अतिरिक्त लम्बे समय तक शुष्क जलवायु के कारण अधिक सफल नहीं हो सके. इसे बीज से उगाया जाता है. इसकी पौधे सच्चे अर्थों में युग्मनज नहीं हैं क्योंकि ये भ्रूण से निकलती हैं और भ्रूण निपेचन द्वारा न वन कर अंडाशय की भीतरी दीवारों पर अपस्थानिकता के फलस्वरूप वनता है. मैंगोस्टीन के बीज अल्प मात्रा में (5.5% तक) बहुभ्रूणीय होते हैं. इसके वृक्षों में अत्यधिक समानता का कारण अलिंगी प्रवर्धन वतलाया जाता है. वास्तव में कुछ को छोड़ कर, समस्त मैंगोस्टीन वृक्ष एक ही क्लोनी उपजाति के माने जाते हैं (Popenoe, 394; Chandler, 309; Naik, 397; Hume, Trop. Agriculture Trin., 1947, 24, 32).

प्रवर्धन के लिए पके हुये फलों से गूदे रहित स्वस्थ और पूर्ण विकसित बीज लेने चाहिये तथा उन्हें 5 दिनों के अन्दर अच्छे जल-निकासवाली और कार्बनिक पदार्थों से भरपूर भूमि में बोना चाहिये. पौध का प्रतिरोपण, लम्बी मूसला जड़ और कम मूल-रोमों के होने के कारण कठिन होता है. पौध के प्रतिरोपण की अनेक विधियाँ वतलाई गई हैं जिनमें से एक में यीस्ट के निष्कर्ष से अभिक्रिया कराते हैं. जब पौध दो वर्ष की हो जाती है तो उसे भूमि के एक बड़े पिण्ड के साथ निकाल कर जुलाई-अगस्त के महीनों में अर्ध छाया वाली कम से कम 8.4×8.4 मी. या 10.5×10.5 मी. के अन्तर से लगाते हैं. प्रथम दो वर्षों तक और विशेषतः गर्मी के महीनों में हल्की छाया आवश्यक है. बार-बार सिंचाई और कार्बनिक खाद देना भी पौधों के लिये लाभदायक पाया गया है. श्रीलंका और मलाया में, विशेषतः शुष्क मौसम में पत्तियों

और नारियल की भूसी के छायावरण से पौधों का वचाव किया जाता है (Naik, 1938; Hume, loc. cit.; Popenoe, 1936).

कलम तथा चरमा द्वारा पौधों के प्रवर्धन की ओर अधिक ध्यान दिया गया है। यद्यपि कलम तथा चरमे द्वारा प्रवर्धन सफल नहीं हो सका परन्तु गा. जैन्थोकाइमस सिन. गा. टिक्टोरिआ की लगभग 4 वर्षीय पौध के साटा कलम वांधने से अच्छे परिणाम प्राप्त हुये हैं। गार्सिनिया और कैलोफिलम की अन्य जातियों को प्रकंद के रूप में साटा कलम और वगली कलम वांधने के लिये उपयोग किया गया है परन्तु इनमें से अधिकांश की वृद्धि असंगत या असमान रही (Naik, 1938; Hume, loc. cit.; Burkill, I, 1053; Gonzalez & Anos, Philipp. Agric., 1951-52, 35, 379).

वगीचों के संवर्धन के लिये समय-समय पर मृत प्ररोहों को तो निकाल देते हैं किन्तु छेदाई नहीं करते और न कार्बनिक खाद देते हैं यद्यपि मैंगोस्टीन के लिये खाद की आवश्यकता के सम्बन्ध में बहुत कम ज्ञान है (Naik, 400; Hume, loc. cit.).

मैंगोस्टीन की वृद्धि-दर कम है और अनुकूलतम अवस्थाओं में 7-10 वर्ष के पहले वृक्षों में फल नहीं लगते। सामान्यतः 15 वर्षों के पश्चात् इसमें फल आते हैं। दक्षिणी भारत में इस वृक्ष से वर्ष में दो फसलें ली जाती हैं जिनमें से पहली मानसून (जुलाई-अक्टूबर) में और दूसरी शीष्म ऋतु (अप्रैल-जून) में। फलों का लगना अनियमित है। यद्यपि इस वृक्ष से लगभग 100 वर्ष तक फल मिलते रहते हैं परन्तु अधिकतम उपज 15 से 30 वर्षों के बीच में होती है। प्रथम वर्ष 200-300 फल प्राप्त होते हैं और धीरे-धीरे बढ़ कर इनकी संख्या प्रतिवर्ष 1,200-1,500 तक पहुँच जाती है। अलग-अलग वर्षों और अलग-अलग उद्यानों में भिन्न-भिन्न उपज होती है और यह जलवायु, भूमि की अवस्था और खेती की मात्रा पर निर्भर करती है। साधारणतः एक वृक्ष से एक वर्ष में 200-500 फल प्राप्त हो जाते हैं परन्तु किन्हीं-किन्हीं वर्षों में 1,000-2,000 फल तक प्राप्त किये गये हैं। अत्यधिक वर्षा और विशेषतः पुष्पन के समय के पहले के काल में अधिक दिनों तक वर्षा होने का बुरा प्रभाव पड़ता है। फल लगने के पूर्व शुष्क जलवायु अच्छी उपज के लिये अनुकूल होती है (Popenoe, 400; Naik, 401; Gregson, Agric. Surv. Burma, No. 23, 1936; Khan, Indian J. Hort., 1946, 4, 39; Pillay, loc. cit.).

फलों को मुख्यतः हाथ से या एक लम्बे बाँध में चाकू बाँध कर तोड़ते हैं। फल-भित्ति चोट के प्रति संवेदनशील है और इनके वचाव के लिये यह ध्यान रखना चाहिये कि फल भूमि पर या एक दूसरे के ऊपर न गिरें (Gregson, loc. cit.).

भारत में मैंगोस्टीन पर नाशक-कीट या फफूँदी जन्य भयंकर रोगों का उल्लेख नहीं मिलता। पत्तियों को खाने वाली इल्लियाँ पेड़ों पर देखी गई हैं। उन्हें हाथ से निकाल कर समाप्त किया जा सकता है। दक्षिणी भारत में मैंगोस्टीन में केवल एक भयंकर रोग देखा गया है जिसमें फल-भित्ति पर गोंद की अपवृद्धि से गेम्बूज कलंक हो जाता है। इस रोग पर मौसम की अवस्थाओं का प्रभाव पड़ता है। वृक्षों में गेम्बूज कलंक की मात्रा अलग-अलग प्रकार के वृक्षों में कम या अधिक होती है। इससे इस रोग के प्रति उच्च प्रतिरोध दिखाने वाले क्लोनीय विभेदों का चयन किया जा सकता है। दक्षिण भारत में एक अन्य रोग लगता है जिससे अपरा द्वारा आर्द्रता के शोषण के कारण फल फट जाते हैं। इन दो रोगों के कारण मालावार में मैंगोस्टीन की खेती का प्रसार सीमित रह गया है। भंडारों में और एक स्थान से दूसरे स्थान तक ले जाने में डिप्थेरोडिया जातियों के द्वारा फल सड़ सकते हैं (Hume, loc. cit.; Naik, 402; Gregson, loc. cit.).

उष्णकटिबंधीय फलों में मैंगोस्टीन (भार, 50 ग्रा.) का फल सर्वाधिक सुस्वादु होता है। फल का गूदा आइसक्रीम की भाँति मुँह में गल जाता है। फल को अधिकतर भोजन के पश्चात् खाते हैं। इसका अचार या मुरब्बा भी बनाया जाता है। इसको टुकड़ों में काटकर डिब्बों में बंद किया जाता है तथा स्क्वैश बनाने के लिये भी इसका प्रयोग करते हैं (Chandler, 308; Popenoe, 392; Siddappa & Bhatia, Bull. Cent. Ed technol. Res. Inst., Mysore, 1954, 3, 296).

फल का खाद्य भाग (31%) कुछ-कुछ अम्लीय होता है तथा इस में शर्कराओं की बहुलता होती है। भारतीय फल के खाद्य भाग के विश्लेषण से निम्नलिखित मान प्राप्त हुए: आर्द्रता, 84.9; प्रोटीन, 0.5; वसा, 0.1; खनिज पदार्थ, 0.2; कार्बोहाइड्रेट, 14.3; कैल्सियम (Ca), 0.01; फॉस्फोरस (P), 0.02%; और लोह (Fe), 0.2 मिग्रा./100 ग्रा. एक अन्य भारतीय फल के गूदे के नमूने में, कार्बनिक अम्ल (निर्जल सिट्रिक अम्ल के रूप में), 0.42; अपचायक शर्कराएँ (प्रतीप शर्करा के रूप में), 3.86; और सम्पूर्ण शर्कराएँ (प्रतीप शर्करा के रूप में), 16.42% प्राप्त हुईं। शर्कराओं में स्यूक्रोस, ग्लूकोस और फ्रक्टोस रहते हैं (Hlth Bull., 1951, No. 23, 46; Siddappa & Bhatia, loc. cit.).

शीत भण्डारों में फलों को अधिक दूर तक ले जाया जा सकता है। फलों के संग्रह और अभिगमन के लिये चोट और रोगरहित लगभग पके हुये फलों को चुना जाता है। प्रयोग के रूप में ब्रह्मा से इंगलैंड तक फलों की एक खेप 10-13° पर ले जायी गयी जिसमें 3-4 सप्ताह का समय लगा। श्रीलंका में किये गये प्रयोगों से ज्ञात हुआ कि 10-13° से. पर फलों का 3 सप्ताह तक संग्रह किया जा सकता है (Popenoe, 401; Gregson, loc. cit.; Wardlaw, Trop. Agriculture Trin., 1937, 14, 233; Joachim & Parsons, Trop. Agriculturist, 1941, 96, 353).

कलकत्ता में सूखे और ताजे फल बड़ी मात्रा में सिगापुर से आयात किये जाते हैं और बाजार में बेचे जाते हैं।

फलों के छिलके (फल का 2/3) में पेक्टिन की बहुलता होती है (ताजे छिलकों से 1% पेक्टिन प्राप्त होता है)। 6% सोडियम क्लोराइड विलयन से उपचारित करके छिलकों का कसैलापन दूर कर देते हैं। इस प्रकार प्राप्त छिलकों से अच्छी जेली बन सकती है। यह जेली नील-वोहित रंग की होती है जिसमें जमने के अच्छे गुण होते हैं (Siddappa & Bhatia, loc. cit.).

फल का छिलका कपाय है। इसमें 7-14% टैनिन (कैटेकॉल) होता है। चीन में इसे टैनि-पदार्थ की भाँति उपयोग में लाते हैं। औपधियों में उपयोग के लिये छिलकों को गा. इंडिका की भाँति टुकड़ों में काटकर सुखा लेते हैं। यह ज्वरनाशी है। इसका काढ़ा प्रवाहिका और वस्तिशोध में दिया जाता है। छिलकों का चूर्ण उष्णकटिबंधीय पेचिश में लाभदायक पाया गया है। इनका सक्रिय पदार्थ एक पीला वर्णक, मैंगोस्टीन है परन्तु औपचारिक प्रयोगों से ज्ञात होता है कि मैंगोस्टीन, छिलकों के चूर्ण की तुलना में, घटिया है। फल-भित्ति को मलहम के रूप में खाज, अपरस, एक्जिमा और त्वचा की अन्य वीमारियों में काम में लाया जाता है (Burkill, I, 1054; Naik, 402; Howes, 1953, 278; U.S.D., 1513; Kirt. & Basu, I, 261; Gregson, loc. cit.).

बीजों में 3% वसीय तेल होता है। पेड़ के विभिन्न भागों से, विशेषतः तना और फल के छिलकों से, गेम्बूज के समान एक रेजिन प्राप्त किया जाता है। इस रेजिन का महत्त्व वर्णक के रूप में बहुत कम है। तने से प्राप्त रेजिन में α - और β -मैंगोस्टीन ($C_{25}H_{24}O_6$), एक



गार्सिनिया मॅंगोस्टाना – फलित शाखा (मॅंगुस्तान)

स्टेरॉल और एक वाष्पशील तैल रहते हैं। ताजे पदार्थ में β -मैंगोस्टीन नहीं होता, सम्भवतः यह सुखाने की क्रिया में बन जाता है। फल के छिलकों से प्राप्त रेजिन में स्टेरॉल या ईथरीय तैल नहीं होता (Burkill, I, 1055; Tschirch & Stock, II, 1562; Winton & Winton, II, 779).

पेड़ की लकड़ी गहरे भूरे रंग की, भारी, अत्यन्त कठोर और काफी टिकाऊ है। यह अलमारी, इमारती सामान, चावल कूटने के औजार तथा भालों के हत्ये बनाने में काम आती है (Burkill, I, 1054).

गा. मोरेला डेज़रोसो *G. morella* Desr. इंडियन गेम्बूज ट्री ले.-गा. मोरेल्ला

D.E.P., III, 472; C.P., 554; Fl. Br. Ind., I, 264.

हिं.-व. और म.-तमाल; ते.-पत्तपुवरणे, रेवल जिन्नी; त.-मक्की, सोलयपुली; क.-हरदाला, देवनवुली, जरीजे; मल.-चिगिरी, डरम्बा, कल्कामपुली, पिन्नारपुली; अ.-कुजी-येकेरा.

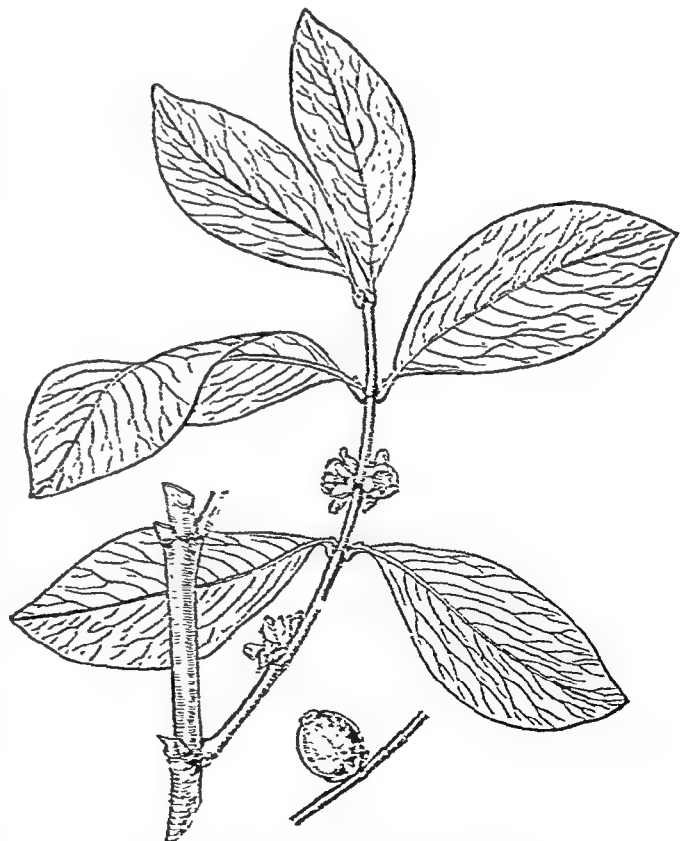
यह एक छोटा या मध्यम आकार का, 9-15 मी. ऊँचा, सदापर्णी वृक्ष है जो असम के सदापर्णी जंगलों, खासी और जयन्तिया पहाड़ियों, बंगाल और पश्चिमी घाटों में उत्तरी कनारा से दक्षिण की ओर प्रायः 900 मी. की ऊँचाई तक पाया जाता है। पत्तियाँ चमिल, 10-15 सेंमी. लम्बी, दोनों किनारों की ओर झुंडाकार; फूल एकलिंगी, मादा फूल नर फूलों से अधिक बड़े; फल गोलाकार, छोटे बर के आकार के, 4-पालियों, 4-कोशिकाओं और 4-बीजों वाले; बीज थोड़े से दबे हुये, गहरे भूरे रंग के, अंडाभ या वृक्काकार होते हैं।

गा. मोरेला गेम्बूज का देशी स्रोत है परन्तु ज्ञात होता है कि व्यापारिक मात्रा में अभी तक इसे एकत्रित करने की कोई चेष्टा नहीं की गई है। गेम्बूज बल्कुट, मज्जा, पत्तियों, फूलों और फलों में एक पीले पायस के रूप में पाया जाता है। व्यापारिक गेम्बूज मुख्यतः गा. हैंनबर्ग हुकर पुत्र से जो एक श्यामी जाति है और जिसे पहले गा. मोरेला की एक उपजाति माना जाता था, प्राप्त किया जाता है। इसे श्याम, कम्बोडिया और कोचिन-चीन से यूरोप और अमेरिका में आयात किया जाता है। यह कम से कम 10 वर्ष पुराने वृक्षों की छाल पर बरसाती मौसम में सपिल चीरा लगाकर प्राप्त किया जाता है। जड़ों में निःस्राव को कटे भाग के नीचे आधार पर रखे गये वाँस के प्यालों या जोड़ों में एकत्रित कर लिया जाता है; फिर निःस्राव को एक महीने तक कठोर होने के लिये छोड़ दिया जाता है। इसके पश्चात् वाँस के वर्तनों को गर्म करके गेम्बूज को बेलनाकार छड़ों (नलिका या बेलनाकार पिण्ड; व्यास 2.0-5.0 सेंमी.) के रूप में प्राप्त कर लिया जाता है। कभी-कभी रेजिन को पट्टिकाओं या पिण्डों के रूप में ढाल लिया जाता है। भारत में गेम्बूज गा. मोरेला के वृक्षों से चीरा के स्थानों पर कतरों या पिण्डों के रूप में प्राप्त किया जाता है। भारत में बेचा जाने वाला गेम्बूज मुख्यतः श्याम से आयात किया जाता है (Gamble, 55; U.S.D., 489).

गेम्बूज लाल-पीले या भूरे-नारंगी रंग का होता है तथा यह चिकना, सनान और शंखाकार आकृतियों में टूटता है। यह गंधहीन और स्वादहीन या कुछ अम्लीय होता है। यह जल में पीले रंग का पायस तथा तनु अमोनिया में गहरे नारंगी रंग का विलयन बनाता है। ऐल्कोहल और जल मिश्रण के क्रमागत मिलाने पर यह उनमें पूर्ण विलेय हो जाता है। भारीय विलयनों में से रेजिन को अम्लों द्वारा अवक्षेपित किया जा सकता है। इसमें से α -, β - और γ -गार्सिनोयिक अम्लों ($C_{23}H_{35}O_6$, $C_{23}H_{35}O_6$ और $C_{23}H_{35}O_5$) को पृथक् किया गया है। विघटित होने पर रेजिन से फ्लोरान्थेन और व्यूटिरिक, बेंज़ोयिक, ऐसीटिक

और इसुनिटिनिक अम्ल प्राप्त होते हैं। व्यापारिक गेम्बूज के लक्षण निम्नलिखित हैं: आ. घ., 1.221; अम्ल मान, 65-90; एस्टर मान, 45-65; साबु. मान, 125-145; राख, 1%; और आर्द्रता, 3-5%। रेजिन के ऐल्कोहलीय विलयन के लक्षण इस प्रकार हैं: अम्ल मान, 85-105; एस्टर मान, 55-75; और साबु. मान, 150-175. गेम्बूज में कम से कम 65% पदार्थ निर्जल-ऐल्कोहल में विलेय, राख का अधिक से अधिक 1% अम्ल में अविलेय और अधिक से अधिक 1% अन्य कार्बनिक विजातीय पदार्थ होते हैं। इसमें गेहूँ और चावल के स्टार्च तथा रेत और वनस्पतियों के टुकड़ों की मुख्य रूप से मिलावट की जाती है। भारतीय गेम्बूज का संघटन श्याम के गेम्बूज के समान है और श्याम से प्राप्त गेम्बूज के स्थान पर इसका उपयोग किया जाता है (U.S.D., 489; Youngken, 572; Thorpe, V, 427; Wehmer, II, 787; Mayer & Cook, 258; Wallis, 427).

अपने चमकीले रंग के कारण गेम्बूज एक अच्छा वर्णक माना जाता है। इससे जल-रंग और धातुओं के लिये सुनहरे रंग की स्पिरिट वार्निश बनाई जाती है। ब्रह्मा में इससे बौद्ध-भिक्शुओं के रेशमी कपड़े रंगे जाते हैं। श्याम में इससे काले कागज पर लिखने के लिये सुनहरी, पीली स्थायी बनाई जाती है। गेम्बूज एक शक्तिशाली विरेचक है जिसे अधिक मात्रा में लिये जाने पर मितली, वमन और मरोड़ पैदा हो जाती है। सामान्यतः इसे अन्य विरेचकों के साथ दिया जाता है। इन प्रभावों का कारण रेजिनिक अम्लों की उपस्थिति बतलायी गयी है जो क्षारों के



चित्र 8-गार्सिनिया मोरेला-मुष्पित शाखा और फल

साथ शीघ्र विलेय यौगिक बनाते हैं और अंतों में सक्रिय हो जाते हैं। इसका प्रभाव कोलोसिय (सिट्रुलस कोलोसियस थ्रेंडर) से मिलता-जुलता है। इसका उपयोग जलशोफीय अवस्थाओं में, कठोर मल-बंध और प्रमस्तिष्कीय जकड़न में, जब रुधिर-दाब शीघ्र कम करना आवश्यक हो जाता है, किया जाता है। अन्य ओषधियों के साथ मिलाकर इसे कुमिनाशक की भाँति काम में लाया जाता है। इसका उपयोग गर्भसाव के रूप में और फोड़ों के उपचार में भी किया जाता है (Howes, 1949, 161; Kirt. & Basu, I, 264; B.P.C., 1934, 264; U.S.D., 489, 1741; Badhwar *et al.*, *Indian J. agric. Sci.*, 1946, 16, 342; Chandraratna, *Trop. Agriculturist*, 1947, 103, 34)।

गा. मोरेला के बीजों से 30% वसा प्राप्त होती है जो गा. इंडिका से प्राप्त होने वाले कोकम-वटर के समान है। यह वसा भूरे-पीले रंग की और सुगंधित होती है। इसे घी के स्थान पर खाना पकाने तथा मिठाई बनाने में काम में लाते हैं। ओषधि के रूप में भी इसका उपयोग होता है। इस वसा के गुण तथा संघटन सारणी 1 में दिये गये हैं। कोकम-वटर की तुलना में इसमें ओलियो द्वि-संतृप्त ग्लिसराइडों की मात्रा कम तथा डाइओलियो एक-संतृप्त ग्लिसराइडों की मात्रा अधिक होती है। इसके परिणामस्वरूप यह सुषट्य है और साधारण ताप पर फटता नहीं, यद्यपि इसका गलनांक कोकम-वटर से कुछ ही अंश कम होता है। मिठाई में वसा की भाँति इसका उपयोग सीमित है। यह वानस्पतिक स्टीऐरिन का अच्छा स्रोत है और इससे अच्छे झागवाला तथा अधिक साफ करने वाला साबुन बनाया जाता है (Dhingra *et al.*, *J. Soc. chem. Ind., Lond.*, 1933, 52, 116T; Hilditch & Murti, *ibid.*, 1941, 60, 16T)।

पीधे के अनेक भाग जैसे बीज, फल-भित्ति, तने की छाल, पत्तियाँ और फल, माइक्रोकोकस पायोजीनस बैर. औरियस के प्रति जीवाणु-नाशक क्रिया दर्शाते हैं। यह क्रिया एक पीले वर्णक, मोरेलिन, के कारण बतलाई जाती है, जिसे क्रोमैटोग्राफी द्वारा तीन अंशों, मोरेलिन-टी, मोरेलिन-एम, मोरेलिन-एल में पृथक् किया गया है। दो अन्य वर्णक, मोरेलिन और गटीफेरिन को बीज की फल-भित्ति से पृथक्कृत किया गया है, जो कीटाणुनाशक हैं। मोरेलिनों के कीटाणुनाशक गुणों और विप्लेपन पर विपरीत मत व्यक्त किये गये हैं। हाल ही में मोरेलिन का सूत्र ($C_{33}H_{38}O_7$; ग. बि., 158–60°) दिया गया है। क्रोमैटोग्राफीय अवशोषण के द्वारा मोरेलिन, आइसोमोरेलिन (ग. बि., 120–21°) में परिवर्तित हो जाता है। अपरिष्कृत मोरेलिन के क्रिस्टलीकरण के पश्चात् बचे हुये हेक्सेन मातृद्रव से डेसाक्सिमोरेलिन ($C_{33}H_{40}O_8$; ग. बि., 113–15°) पृथक् किया गया है (Rao *et al.*, *Indian J. Pharm.*, 1953, 15, 316; Rao, *J. Chem. Soc.*, 1937, 853; Rao & Natarajan, *Curr. Sci.*, 1950, 19, 59; Rao & Verma, *J. sci. industr. Res.*, 1951, 10B, 184; 1952, 11B, 206; Krishnamurti & Rao, *ibid.*, 1953, 12B, 565; Bringi *et al.*, *J. sci. industr. Res.*, 1955, 14B, 135)।

गा. मोरेला की लकड़ी पीली, कठोर और चितकवरी होती है। यह अलमारियाँ बनाने तथा अस्थायी कार्यों के लिये उपयोग में लाई जाती है। *G. hanburyi* Hook. f.; *Citrullus colocynthis* Schrad.; *Micrococcus pyogenes* var. *aureus*

गा. लांसिएफोलिया रॉक्सवर्ग *G. lanceafolia* Roxb.

ले.—गा. लांसिएफोलिया

D.E.P., III, 470; Fl. Br. Ind., 263.

यह 3.6 मी. ऊँची एक झाड़ी या लघु वृक्ष है जो अन्य वृक्षों की घनी छाया के नीचे उगता है। पत्तियाँ भालाकार, 5–12.5 सेंमी. लम्बी और 1.8–3.0 मिमी. चौड़ी, हरी अवस्था में कुछ गूदेदार; फल अंडाकार, व्यास में 2.5 सेंमी., चटक नारंगी-पीले रंग के, 6–8 बीज युक्त होते हैं। यह वृक्ष असम और खासी पहाड़ियों पर 900 मी. ऊँचाई तक के सदापर्णी जंगलों में साधारणतया पाया जाता है। गाँवों में भी फलों के लिये इसकी खेती की जाती है। फल अम्लीय और स्वादिष्ट होते हैं। पत्तियाँ अर्ध-अम्लीय होती हैं और मिकिर लोग इन्हें पका कर खाते हैं (Fl. Assam, I, 107)।

गा. लिविंगस्टोनाइ टी. एण्डरसन *G. livingstonei* T. Anders.

ले.—गा. लिविंगस्टोनेई

Chittenden, II, 858.

यह छोटी-छोटी शाखाओं वाला एक लघु वृक्ष है जिसकी पत्तियाँ दीर्घायत अंडाकार और चमिल होती हैं। इसे पूर्वी अफ्रीका के उष्ण-कटिबंधीय क्षेत्रों से भारतवर्ष में लाकर वानस्पतिक उद्यानों में उगाया गया है। यह 5–6.25 सेंमी. लम्बे और 2.5–3 सेंमी. चौड़े फल देता है जो खट्टे हैं। इसकी मांसल फल-भित्ति और रंगीन गुदे का किण्वन करके एक पेय पदार्थ बनाया जाता है। यह पीचा मैंगोस्टीन के प्रबंधन के लिये एक अच्छा प्रकंद है (Barrett, 208; Popenoe, 398; Watt & Breyer-Brandwijk, 120)।

गा. स्पाइकैटा हुकर पुत्र सिन. गा. ओवैलिफोलिया हुकर पुत्र *G. spicata* Hook. f.

ले.—गा. स्पिकाटा

Fl. Br. Ind., I, 269; Fl. Madras, 74.

म.—हल्दी; ते.—पिदाया; त.—कोकटाई; मल.—मंजा नांगू.

यह एक मध्यम आकार का अथवा ऊँचा वृक्ष है जिसकी लम्बाई 21 मी. तक होती है। इसकी शाखायें सीधी, चिकनी तथा कोणिक होती हैं। यह पश्चिमी घाट के सदापर्णी वनों में कोंकण से दक्षिण त्रावनकोर तक कम ऊँचाई पर तथा पूर्वी तट पर गंजाम से दक्षिण पुडूकोट्टा तक पाया जाता है। इसकी छाल धूसर, मोटी, खुरदुरी तथा शल्कीय; पत्तियाँ अंडाकार अथवा भालाकार, 7.5–20 सेंमी. लम्बी तथा 4.5–8.75 सेंमी. चौड़ी; फल गोलाकार, व्यास में 1.87 सेंमी., चिकने, गहरे हरे तथा 1–3 बीजों से युक्त होते हैं।

इसकी लकड़ी हल्की पीली से भूरे रंग की, मध्यम से महीन गठन की, कठोर तथा भारी (भार, 944 किग्रा./घमी.) होती है। यह फटती है तथा इसमें दरारें पड़ जाती हैं। यह मजबूत लकड़ी है और उन कार्यों में जहाँ मजबूती की आवश्यकता होती है, बहुत उपयोगी है। यह टेक लगाकर मिट्टी से पोत कर बनाई गई इमारतों के बनाने में भी उपयोगी है [Chowdhury & Ghosh, *Indian For. Rec.*, N.S., Util., 1947, 4(3), 12; Lewis, 15]।

जापानी रंजक फूकूजी जो भंगुर आयताकार पिंडों के रूप में मिलता है और भूरे-पीले रंग का होता है, जापान में रंगबंधक के रूप में प्रयुक्त होता है। यह गा. स्पाइकैटा की छाल से निकाला जाता है परन्तु इसका वानस्पतिक मूल अभी निश्चित रूप से निर्धारित नहीं हो सका है। फूकूजी को रंग प्रदान करने वाला पदार्थ फूकूजेटिन ($C_{24}H_{16}O_8$; ग. बि., 288–90°) है जो क्षारों और सान्द्र सल्फ्यूरिक अम्ल में विलेय है, जिसका विलयन पीला होता है। 50% पोटैशियम

हाइड्रॉक्साइड के साथ क्रिया करने से फूकूजेटिन से 3,4-डाइहाइड्रॉक्सि-ऐसीटोफीनोन, गार्सिनॉल ($C_{15}H_{10}O_5$), तथा फूकूजेनेटिन मिलते हैं। इसकी छाल में एक अन्य रंजक गार्सिनिन भी बताया जाता है : यह शायद अशुद्ध फूकूजेटिन ही है। फूकूजेटिन के रंजक गुण ल्यूटिओलिन के समान हैं जो रेसेडा ल्यूटिओला लिनिअस से प्राप्त होता है (Perkin & Everest, 160; Mayer & Cook, 203; Thorpe, V, 380).
G. ovalifolia Hook. f.; *Reseda luteola* Linn.

गा. स्पेसिओसा वालिश *G. speciosa* Wall.

ले.—गा. स्पेसिओसा

D.E.P., III, 477; Fl. Br. Ind., I, 260; Parkinson, 90.

यह मँझोले आकार का वृक्ष है जो 9-15 मी. तक ऊँचा होता है। इसकी छाल गहरे हरे रंग की होती है जो शल्कों के रूप में उपड़ती है। यह अण्डमान द्वीपों के सदापर्णी और अर्ध-सदापर्णी वनों में पाया जाता है। पत्ते 10-15 सेंमी. लम्बे, दीर्घवृत्तीय या आलाकार; और फल गोलाकार, 5 सेंमी. व्यास के, पकने पर लाल होते हैं। इस वृक्ष में जनवरी से मार्च तक खूब फूल लगते हैं और फल वर्षा ऋतु में पकते हैं।

इसकी लकड़ी कठोर, भारी (800-1,120 किग्रा./घमी.), महीन दानेदार तथा लाल-भूरे रंग की होती है। यह घर तथा पुलों के लिये खम्भे बनाने के लिये उपयुक्त है। अण्डमान में इससे धनुष बनाये जाते हैं (Gamble, 53).

गा. होम्ब्रोनिआना पियरे *G. hombroniana* Pierre

ले.—गा. होम्ब्रोनिआना

Corner, I, 318.

यह गा. मँगोस्टाना से मिलता-जुलता एक छोटा-सा वृक्ष है जिसमें गोलाकार (2.5-5 सेंमी. व्यास के), गुलाबी-लाल रंग के फल लगते हैं। यह निकोबार द्वीप समूहों और मलाया में मुख्यतः रेतीले और पथरीले समुद्री किनारों पर पाया जाता है। बीज के चारों ओर का गूदा खाद्य है। इसका स्वाद खट्टा और स्वाद-गंध आड़ की भाँति मधुर होती है। इससे उच्च श्रेणी के फल उत्पन्न किये जा सकते हैं और मँगोस्टीन के साथ इसका संकरण लाभप्रद बतलाया गया है। इस फल को खाने से मल-बंध हो जाता है। मलाया में इसकी जड़ों और पत्तियों को खुजली की बीमारी में उपयोग में लाते हैं। इसकी लकड़ी मकान तथा डोंड बनाने में काम में लाई जाती है (Burkill, I, 1051; Milsum, Bull. Dep. Agric. F.M.S., No. 29, 1919, 99).

गालथेरिया लिनिअस (एरीकेसी) GAULTHERIA Linn.

ले.—गाउल्थेरिया

यह खड़ी या भूशायी झाड़ियों का विशाल वंश है जो उत्तर और दक्षिण अमेरिका, एशिया और ऑस्ट्रेलिया में पाया जाता है। इसमें अनेक ऐसी जातियाँ सम्मिलित हैं जो अपनी सुन्दर, चिरहरित पत्तियों और आकर्षक फूलों तथा फलों के कारण बगीचों में लगाई जाती हैं। भारत में इसकी 7 जातियाँ होती हैं।

गालथेरिया की जातियाँ रेतीली या पीटमय कुछ आर्द्र घरती में और अंशतः छायादार परिस्थितियों में सर्वोत्तम उगती हैं। ये बीजों, दावों या प्रकंदों, खण्डों और कलमों से लगाई जाती हैं (Bailey, 1947, II, 1318; Firminger, 470).

Ericaceae

गा. फ्रैग्रेंटिसिमा वालिश *G. fragrantissima* Wall.

फ्रैग्रेंट विण्टरग्रीन, इंडियन विण्टरग्रीन

ले.—गा. फ्रागराण्टिसिमा

Fl. Br. Ind., III, 457.

नेपाल—मचीनो; लेपचा—कैलोम्बा; खासी पहाड़ियाँ—जीरहप, सोर्हालिंग-थेट.

यह लगभग 3.6 मी. ऊँची, बहुशाखित, सदापर्णी, सौरभिक झाड़ी है जिसकी छाल नारंगी-भूरी होती है और जो मध्य और पूर्वी हिमालय, खासी पहाड़ियों तथा दक्षिण भारत की पहाड़ियों में 1,500-2,400 मी. की ऊँचाई पर पाई जाती है। इसकी पत्तियाँ एकान्तर, आयताकार-आलाकार से दीर्घवृत्तीय चतुर्भुजाकार ($7.5-12.5 \times 2.5-6.25$ सेंमी.), आरावत, दृढ़ चर्मिल, गन्धि-बुन्दिल; फूल हरिताम-श्वेत, छोटे, रोमिल, कक्षीय असीमाक्षों पर; और फल सम्पुटिकीय, उपगोलाकार, वर्धित, गुदेदार, चटक नीले बाह्यदल पुंजों में पूर्णतया बन्द होते हैं। गा. फ्रैग्रेंटिसिमा पहाड़ी बगीचों में उगाया जाने वाला एक आकर्षक पौधा है।

गा. फ्रैग्रेंटिसिमा की पत्तियों के भाप आसवन से जो वाष्पशील तेल प्राप्त होता है वह गालथेरिया का तेल होता है जिसे 'विण्टरग्रीन ऑयल' भी कहते हैं। यह अमेरिका के देशज गा. प्रोकेम्बेन्स लिनिअस से प्राप्त किया जाता है और पहले ओपधि निर्माण में तथा गंधस्वाद लाने के लिये उपयोग में लाया जाता था। इस तेल का मुख्य रचक मेथिल सैलिसिलेट है जो अब संश्लेषित किया जाता है, और जब नुस्खे में विण्टरग्रीन ऑयल लिखा या माँगा जाता है तो उसके स्थान पर दिया जाता है (I.P.C., 179; U.S.D., 707, 1463; B.P., 346).

भारतीय विण्टरग्रीन तेल छोटे पैमाने पर नीलगिरि में जंगली पौधों से आसवित किया जाता है। यहाँ आसवित तेल की उपलब्धि असम के पौधों की तुलना में कम होती है। जाड़ों में नीलगिरि और असम में इकट्टी की गई पत्तियों और टहनियों के आसवन से प्राप्त तेल की तुलनात्मक उपलब्धियाँ निम्नलिखित हैं : नीलगिरि—ताजी, 0.12; सूखी, 0.23%; असम—ताजी, 0.65; सूखी, 1.20%। समझा जाता है कि बसन्त में एकत्रित किये गये पौधों से तेल अधिक मात्रा में प्राप्त होगा। यदि पौधे को आसवन से पहले कुछ समय तक गर्म पानी के साथ मसल लिया जाता है तो तेल की उपलब्धि में वृद्धि हो जाती है। मेथिल सैलिसिलेट जो पत्तियों में ग्लाइकोसाइड के रूप में उपस्थित होता है मसलने की क्रिया में पौधे में प्राकृतिक रूप से उपस्थित एक एंजाइम द्वारा जल अपघटित हो जाता है। यह तेल रंगहीन होता है और उसकी गन्ध और स्वाद रुचिकर होते हैं। असम का तेल (मेथिल सैलिसिलेट की मात्रा, 99.14%) के लक्षण निम्नलिखित हैं : आ. घ. 16° , 1.185; $[\alpha]_D^{25}$, 0° ; n_D^{25} , 1.4000; साव. मान, 362.9; 70% ऐल्कोहल के 6 आयतनों में विलेय। इस तेल में एक ऐल्कोहल, एक कीटोन और एक एस्टर की सूक्ष्म मात्राएँ होती हैं। यह तेल इण्डियन फार्मास्यूटिकल कोडेक्स में दी हुई विण्टरग्रीन तेल की मानक विशिष्टताओं को पूरा करता है [Information from Dep. Industries & Commerce, Madras; Guenther, VI, 4; Puran Singh, Indian For. Rec., 1917, 5(8), 33; I.P.C., loc. cit.].

गालथेरिया का तेल उद्दीपक, वातानुलोमक और पूतिरोधी है। यह गठिया, ग्रन्थी और तन्त्रिकार्ति में लिनिमेंट या लेप के रूप में लगाया जाता है। इसके लगाने से फुंसियाँ सी निकल सकती हैं इसलिये मेथिल सैलिसिलेट पसन्द किया जाता है जो यह दुष्प्रभाव नहीं दर्शाता। यह तेल पिलाया भी जाता है। इस काम के लिए इसका पायस सर्वोत्तम



चित्र 9 - गालथेरिया फ्रैण्डिसिमा-पुष्पित शाखा

रहता है. यह अकुशकृमि के प्रति कृमिनाशी क्रिया दर्शाता है किन्तु यदि इसकी मात्रा अधिक हो जाती है तो उससे यकृत और गुदों को हानि पहुँचती है. यह अनेक कीटनाशियों और कीटविकर्षी योगों में मिलाया जाता है और मिठाइयों, मृदुपेयों तथा दन्त क्रीम, मजन आदि में सुरक्षा के लिए डाला जाता है (Kirt. & Basu, II, 1457; Chopra, 174; B.P.C., 1934, 688; Guenther, VI, 7; Chopra et al., J. Bombay nat. Hist. Soc., 1941, 42, 880; Parry, I, 280; Burkill, I, 1063).

अर्बुद से सहज आक्रान्त होने वाले चूहों पर किये गये प्रयोगों से ज्ञात होता है कि जब उनको थोड़ी मात्राओं में गालथेरिया का तेल दिया जाता है तो कैंसर देर से प्रकट होता है निम्न ताप पर उबलने वाले तेल अथवा में उपस्थित हेप्टिल ऐलिडहाइड चूहों और कुत्तों में अर्बुदों का प्रत्यावर्तन लाता है. हेप्टिल ऐलिडहाइड और मेथिल सैलिसिलेट (3 : 1) और भी अधिक प्रभावशाली पाये गये. जब फेफड़े के कार्सिनोमा के विकास के प्रति सचेदनशील चूहों को हेप्टिल ऐलिडहाइड के टीके समय-समय पर लगाए गए तो इससे अर्बुदों का निर्माण रुक गया. चूहों की स्तर ग्रथियों के सहज अर्बुदों की चिकित्सा में जब हेप्टिल ऐलिडहाइड के अन्तस्त्वचीय इन्जेक्शन अर्बुद से कुछ दूर दिए गए अथवा उन्हें यह पदार्थ भोजन के साथ खिलाया गया तो इससे अर्बुद घुल गए (Chem. Abstr., 1938, 32, 6749; 1939, 33, 4322; 1940, 34, 4142).

गा. फ्रैण्डिसिमा का फल खाद्य है. मलाया में इसकी पत्तियों को एक भेषजीय चाय बनाई जाती है अथवा इसकी पत्तियाँ चवाई जाती हैं. यह पौधा अत्यंत क्षोभक है इसलिए गर्भ-ह्रावक के रूप में इसके उपयोग से मोते होने के उल्लेख हैं (Burkill, I, 1063; Chopra & Badhwar, Indian J. agric. Sci., 1940, 10, 31).

G. procumbens Linn.

गालनट - देखिए कवरकस

गिंकगो लिनियस (गिंकगोएसी) GINKGO Linn.

ले.-गिंकगो

Bailey, 1947, II, 1338; Dallimore & Jackson, 29.

यह एकल प्ररूपी वृक्ष है जिसका प्रतिनिधि गि. विलोवा लिनियस (मेडनहृयर वृक्ष) है जो अधिकतर चीन और जापान में उगाया जाता है. कहा जाता है कि अतीत भू-वैज्ञानिक महाकल्प के वंश का केवल यही उत्तरजीवी है यह सीधा उगने वाला सुन्दर वृक्ष है जो 30 मी. तक ऊँचा होता है. तरुणावस्था में बहुत कम शाखाएँ रहती हैं इसकी पत्तों की आकृति की पत्तियाँ गुच्छों में लगती हैं. फूल एकलिंगाश्रयी; तथा फल गुठलीदार होते हैं जिसमें क्रीम रंग की पतली मीठी गुठलियाँ और बदबूदार गूदा रहता है. चीन और जापान में इस पेड़ को पवित्र मानते हैं और वहाँ के मंदिरों के उद्यानों में इसे उगाते हैं. कुछ पेड़ तो एक हजार वर्ष से भी अधिक पुराने बताये जाते हैं. यह पेड़ भारत में लाया गया है और कहीं-कहीं बगीचों में लगा है (Krishnamurthi, 214).

गि. विलोवा की उद्यान में उगाई जाने वाली अनेक जातियाँ ज्ञात हैं जिनमें कुछ की पत्तियाँ चितकवरी अथवा धारीदार होती हैं पेड़ का प्रवर्धन बीज, कलम लगाकर अथवा कलम बाँध करके किया गया है. पेड़ धीरे-धीरे बढ़ता है, इसकी कलम को जड़ पकड़ने में लगभग दो वर्ष लग जाते हैं. भारत के मैदानों में यह नहीं फूलता-फलता किन्तु लगभग 1,800 मी. की ऊँचाई पर पहाड़ियों में खूब उगता है. भारत में उगाये गये पेड़ अपनी सामान्य ऊँचाई तक नहीं पहुँचे हैं और इन पर कदाचित् ही फल लगे हैं (Parker, 550; Information from the Curator, Govt Bot. Gardens, Ootacamund).

बीज में एक गुठली होती है, जिसे चीन और जापान में भूनकर अथवा पकाकर खाते हैं. कहा जाता है कि इसे कच्चा खाने से नशा चढ़ता है. शुष्क गुठलियों (बीज के भार की 59%) में निम्नांकित अवयव होते हैं : स्फ़ुकोस, 6; स्टार्च, 67.9, प्रोटीन, 13.1; वसा, 2.9; पेटोसन, 1.6; तनु, 1; और राख, 3.4%. इससे एक स्टेरॉल पृथक् किया गया है. गुठली में कुल नाइट्रोजन का 60% ग्लोबुलिन के रूप में रहता है जिसमें प्रचुर ट्रिप्टोफेन होता है. चीन में कपड़े धोने के लिये इन बीजों का इस्तेमाल होता है. इन बीजों को घुरा या तेल में पाचित करके एक अपमार्जक अगाराग तैयार किया जाता है (Howes, 1948, 217; Porterfield, Econ. Bot., 1951, 5, 11; Wehmer, I, 1; II, 1337; Winton & Winton, I, 48).

इसके फल का गूदा कपाय एव कड़वा होता है. इसमें एक वाष्पशील तेल और फॉमिक से लेकर कैप्रिलिक अम्ल तक अनेक ऐलिफैटिक वसा-अम्ल रहते हैं. कुचल कर निकाले गये रस में गिनाँल ($C_{27}H_{56}O$, ग. बि., 82.5°), विलोवाँल ($C_{31}H_{54}O_2$; ग. बि., 36-37°), गिंकगॉल ($C_{21}H_{34}O$; ग. बि., 221-23°/4 मिमी.), गिंकगिक अम्ल ($C_{24}H_{42}O_2$), गिंकगोलिक (हाइड्रॉक्सि) अम्ल ($C_{22}H_{34}O_3$; ग. बि., 42-43°), गिंकगोलिक (सतृप्त ऑक्सि) अम्ल ($C_{21}H_{32}O_3$), गिंकगोलिक अम्ल ($C_{24}H_{48}O_2$), एक $C_{21}H_{42}O_3$ सूत्र वाला अम्ल (ग. बि., 63°), एक अम्लीय तेल, एस्पेरेजीन, अपचायक शर्कराये और फॉस्फोरिक अम्ल रहते हैं. इसके निचोड़ रस से त्वकरकितमा, शोफ, पिटिकाये, पूय-स्फोटिका आदि के साथ तेज खुजली भी पैदा हो जाती है (Winton & Winton, I, 47; Wehmer, II, 1290; Heilbron & Bunbury, II, 592; Chem. Abstr., 1930, 24, 4838; 1931, 25, 4055; 1935, 29, 464; 1939, 33, 7484).

पतझड़ में इसकी पत्तियों में गिनॉल, साइटोस्टेराॉल ($C_{27}H_{44}O$; ग. बि., $138-39^\circ$), इप्परेनाॉल ($C_{33}H_{56}O_6$; ग. बि., 296°), शिकिमिक अम्ल या शिकिमिन ($C_7H_{10}O_5$; ग. बि., 175°) और लिनोलेनिक अम्ल रहते हैं। ऐकौसिटिन, एपिजेनिन और $C_{11}H_{14}O_5$ (ग. बि., 325°) और $C_{11}H_{14}O_8$ (ग. बि., $291-92^\circ$) सूत्र वाले योगिकों की उपस्थिति बताई गई है। झड़ी पत्तियों से गहरा पीला क्रिस्टलीय गिंजर्जेटिन ($C_{32}H_{22}O_{10}$) और एक दूसरा श्वेत पीला सुईनुमा क्रिस्टलीय पदार्थ (ग. बि., 297°) पृथक् किये गए हैं। पत्तीदार टहनियों में सेरिल ऐल्कोहल और स्टेराॉल उपस्थित रहते हैं (Wehmer, II, 1290; Wehmer, suppl., 94; The Merck Index, 860; Chem. Abstr., 1933, 27, 303, 5745; 1940, 34, 7974; 1948, 42, 2398; 1950, 44, 9441).

पेरिस में उगे पेड़ के पुंकेसरी फूलों में 3.27-3.57% (शुष्क भार के आधार पर) डेसॉक्सि राइबोन्यूक्लीडिक अम्ल पाया गया। इसके कुछ नर पुष्पक्रमों में रैफिनोस रहता है (4%, ताजे भार के अनुसार) (Chem. Abstr., 1948, 42, 5088, 2398).

इसकी लकड़ी हल्की, भुरभुरी और पीताभ होती है जिसका उपयोग चीन और जापान में शतरंज की विसात और खिलौने बनाने में होता है। इसमें रैफिनोस और जाइलन (2.5%) पाये जाते हैं। इसकी छाल में टैनिन मिलता है जो पेक्टिनयुक्त इलेष्मा में विलयित रहता है (Chem. Abstr., 1944, 38, 5878, 5881; Wehmer, I, 2).

Ginkgoaceae; *G. biloba* Linn.

गिन्साइट - देखिए बाँसाइट

गिवोटिया ग्रिफिथ (यूफोर्बिएसी) GIVOTIA Griff.

ले.-गिवोटिया

D.E.P., III, 503; Fl. Br. Ind., V, 395.

यह मेडागास्कर, भारत और श्रीलंका में पाये जाने वाले वृक्षों का लघु वंश है। भारत में इसकी एक जाति मिलती है।

गि. रोटलीरफॉमिस ग्रिफिथ (म.-पोल्की; ते.-तेल्ल पुलिकी, पोन्कु; त.-वण्डलै, वण्डारलै, पुडारलै, वण्डरीर बुडली; क.-विली-ताले, पुस्की, पुलकीर; मैसूर-भूताले) छोटे से लेकर सामान्य आकार का घन-रोमिल पेड़ है जिसकी छाल चिकनी भूरी होती है। यह दक्षिणी प्रायद्वीप में मिलता है। इसकी पत्तियाँ एकांतर, 25 सेंमी. तक लम्बी, मुख्यतः अंडाकार या गोल होती हैं। निचली सतह घनी झिल्लीदार सफेद ताराकार घनरोमिल होती हैं। इसके फूल एकलिंगी होते हैं और विरल या घने ससीमाक्ष में लगते हैं। इसकी गुठली हल्की हरी, उप-गोलाकार होती है; तथा बीज एकल, चिकने, वैंगनी भूरे, ऐल्बुमिन युक्त होते हैं। अपनी बड़ी-बड़ी पत्तियों के कारण यह पेड़ आकर्षक दिखता है।

इसकी लकड़ी सफेद या पीली धूसर होती है जिस पर गहरी धारियाँ और धब्बे बने रहते हैं। यह बहुत हल्की (भार, 224-320 किग्रा./घमी.), नर्म एवं सम दानेदार होती है। यह खुदे हुए चित्रों, खिलौनों, नकाशों एवं लैकरयुक्त वस्तुओं के बनाने में काम आती है। इसकी सतह पर पेण्ट सरलता से लग जाता है। नौका निर्माण एवं हल्के खोखे तैयार करने में इसकी लकड़ी उपयोगी है। इसके बीजों से निकला तेल सूक्ष्म मशीनों में स्नेहक के रूप में उपयोगी बताया जाता है।

Euphorbiaceae; *G. rottleriformis* Griff.

गिसेकिया लिनियस (ऐज़ोएसी) GISEKIA Linn.

ले.-गिसेकिया

यह विसरित झाड़ियों का वंश है जो अफ्रीका तथा पश्चिमी और दक्षिणी एशिया में पाया जाता है। भारत में इसकी एक जाति मिलती है। Aizoaceae

गि. फर्नेसियाइडीज़ लिनियस G. pharnaceoides Linn.

ले.-गि. फार्नासेओइडेस

D.E.P., III, 502; Fl. Br. Ind., II, 664; Kirt. & Basu, Pl. 475.

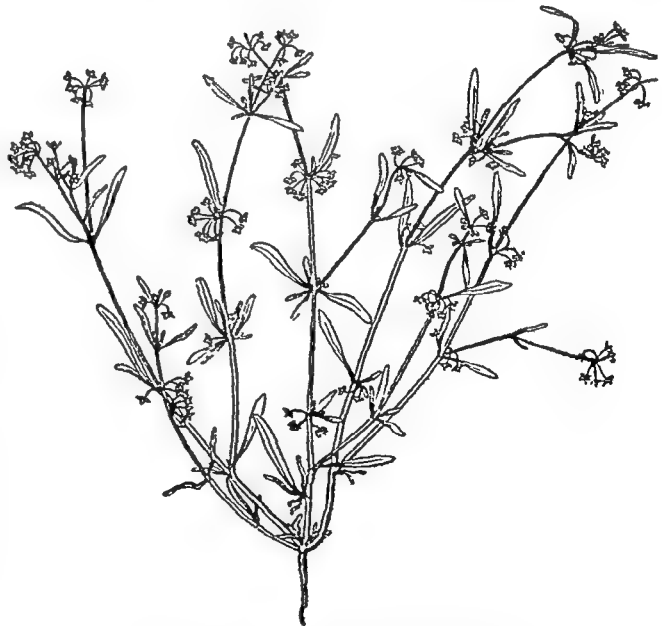
हि.-बालू का साग; म.-बालू की भाजी; ते.-इसकादसरि-कूरा, इसकादतुकूरा; त.-मडलकीरे; मल.-मडलकीरा.

राजस्थान-मोरंग, सरेली.

यह विसरित, कुछ-कुछ रसदार, अरोमिल वृटी है जिसकी टहनियाँ शयान अथवा आरोही होती हैं। यह उत्तरी और पश्चिमी भारत के शुष्क प्रदेशों एवं दक्षिणी प्रायद्वीप में पाई जाती है। इसकी पत्तियाँ उप-सम्मुख, स्पैचुलाकार-आयताकार अथवा दीर्घवृत्तीय भालाकार; फूल छोटे और अधिक संख्या में, लगभग अवृत और कक्षीय पुष्पछत्री ससीमाक्षों में; फल पांच-पांच अस्फुटनशील एकीनों में और बीज काले, उप-वृक्काकार एवं ग्रन्थिल होते हैं।

यह वृटी सगंध, मृदुविरेचक एवं कुमिनाशक है। पत्तियाँ, वृत एवं संपुट सहित ताजी वृटी पानी के साथ पीसकर टीनिया के उपचार में प्रयुक्त की जाती हैं। अफ्रीका में इसे शोथ पर रगड़ते हैं और मवेशी के ब्रणों पर इसकी पुल्टिस बांधते हैं। इसके बीज में कपाय तत्व होते हैं (Dymock, Warden & Hooper, II, 105; Kirt. & Basu, II, 1187; Chopra, 492; Dalziel, 30).

अकाल में इसकी तरकारी बनाते हैं। इसे ऊँट और वकरियाँ खाते हैं।



चित्र 10 - गिसेकिया फर्नेसियाइडीज़-पुष्पित शाखा

गुग्गुल — देखिए कामीफोरा

गुमहर — देखिए मेलिना

गुरजन — देखिए डिप्टेरोकार्पस

गुलंचा — देखिए टिनोस्पेरा

(परिशिष्ट : भारत की सम्पदा)

गूआनिआ लिनियस (रैमनेसी) *GOUANIA* Linn.

ले.—गूआनिआ

यह संसार के उष्णकटिबंधीय तथा उपोष्ण क्षेत्रों में पाया जाने वाला आरोही झाड़ियों का वंश है। इसकी दो जातियाँ भारत में मिलती हैं।

Rhamnaceae

गू. टिलिएफोलिया लामार्क सिन. गू. लेप्टोस्टैकिया द कन्दोल
G. tiliaefolia Lam.

ले.—गू. टिलिएफोलिया

Fl. Br. Ind., I, 643; Kirt. & Basu, Pl. 245.

ते.—पेकीतीगा; उ.—खंता, रक्त पित्तचाली.

कुमायू—कलालग; नेपाल—बटवासी; सिक्किम—तुगचेओंग-मानरिक; असम—ज्वारपात, जमाई-जा-मेन; बिहार—बिटकिल-चाँड.

यह विशाल, आरोही झाड़ी है जिसकी आरोमिल शाखाओं के सिरों पर प्रतान होते हैं। यह काँगडा से पूर्व की ओर, उपहिमालयी क्षेत्रों में 1,800 मी. की ऊँचाई तक तथा असम, बंगाल, बिहार, उड़ीसा तथा आन्ध्र राज्यों के कुछ भागों में पाई जाती है। पत्तियाँ एकान्तर, अण्डाकार-हृदयाकार; फूल श्वेत अथवा हरिताभ, छोटे, बहुसंयमनी, सरल अथवा पुष्प-गुच्छी असोमाक्षों में होते हैं।

पत्तियों को लेपचा लोग व्रणों पर पुल्टिस की तरह प्रयुक्त करते हैं। ज्वर से पीड़ित रोगियों को नहलाने के लिये पानी के साथ कुचली हुयी पत्तियों का उपयोग किया जाता है। जावा में पौधे की लुगदी चर्म-रोगों में लगाई जाती है। छाल तथा जड़, जिनमें सैपोनिन होते हैं, वालों के कष्टप्रद जीवाणुओं को नष्ट करने के लिये प्रयुक्त होते हैं। नई पत्तियाँ खाई जाती हैं। पौधे में एक ऐल्कलायड होता है (Kirt. & Basu, I, 602; Fl. Assam, I, 286; Burkill, I, 1108; Cowan & Cowan, 37; Brown, III, 59; Wehmer, II, 742).

G. leptostachya DC.

गेको — देखिए छिपकलियाँ

गेट्टार्डा लिनियस (रुबिएसी) *GUETTARDA* Linn.

ले.—गूएट्टारडा

यह ऐसी झाड़ियों और वृक्षों का वंश है जिनमें से अधिकांश उष्ण-कटिबंधीय अमेरिका के मूलवासी हैं। भारत में इसकी एक जाति पायी जाती है।

Rubiaceae



चित्र 11 — गेट्टार्डा स्पीसियोसा—पुष्पित शाखा

गे. स्पीसियोसा लिनियस *G. speciosa* Linn.

ले.—गू. स्पीसियोसा

D.E.P., IV, 185; Fl. Br. Ind., III, 126.

ते.—पन्नीरचेदुदु; त.—पक्षीर; क.—बिलिहुविनलक्की; मल.—रावुपु; उ.—हिमपुष्प.

अंडमान—बोमदोमाह.

यह एक छोटा सदाहरित वृक्ष है जो 9 मी. तक ऊँचा होता है और दक्षिण भारत और अंडमान द्वीपों के समुद्रतटीय और ज्वारीय जंगलों में जहाँ-तहाँ पाया जाता है। छाल चिकनी, भूरी, अक्सर गहरे धब्बेदार होती है। पत्ते 15–25 सेमी. लम्बे, चौड़े अंडाकार-मंडलाकार; फूल सफेद सुगंधित, नलिकाकार, अक्षीय बहु-वर्ष्यक्षों में; गुठलीदार फल गोलाकार, काष्ठ जैसे, नारंगी वर्ण के होते हैं और कहा जाता है कि ये खाद्य हैं। यह वृक्ष अक्सर उद्यानों में उगाया जाता है। इसका प्रबंधन दाव कलमों द्वारा होता है जिन्हें जड़ पकड़ने में काफी समय लगता है।

फूल साल भर तक आते रहते हैं और इनमें सुहावनी गंध होती है। ये शाम को खिलते हैं और सुबह होने पर झड़ जाते हैं। ये हार बनाने तथा केशों को सँवारने में भी काम आते हैं। सूचना है कि ब्रावनकोर के बाजारों में फूलों का सत विकता है जो गुलाब जल जैसा होता है।

लकड़ी (भार, 784 किग्रा./घमी.) पीली और लालाभ होती है। सूचना है कि यह बहुत टिकाऊ होती है और फिजी द्वीप में भवन निर्माण में काम आती है। यह भारी फर्नीचरों के लिये भी उपयुक्त है (Gamble, 418; Burkill, I, 1115).

इंडोनेशिया में तने की छाल चिरकालिक पेचिश के उपचार में काम आती है। इंडो-चीन में इसे घावों और फोड़ों पर लगाते हैं (Burkill, loc. cit.).

गेम्बूज — देखिए गार्सिनिया

गेलेओप्सिस लिनियस (लेबिएटी) *GALEOPSIS* Linn.

ले.—गालेओप्सिस

Fl. Br. Ind., IV, 677.

यह वृष्टियों का वंश है जो मुख्यतः पुरानी दुनिया के उत्तरी शीतोष्ण-कटिबंध में पाई जाती हैं। कुछ जातियाँ उत्तरी अमेरिका में उपजाई गई हैं। इनमें से एक जाति भारतवर्ष में भी पाई जाती है।

गै. टेट्राहित लिनियस (कामन हैम्पनेटिल, त्रिस्टलस्टेम हैम्पनेटिल) एक दृढ़लोमी वटी है, जिसकी गाँठें फूली हुई और लगभग 90 सेंमी. ऊँची होती हैं। यह कश्मीर और सिक्किम में 3,300-3,600 मी. की ऊँचाई पर पाई जाती है। पत्तियाँ अंडाकार-भालाकार, दंतुर; फूल सफेद, पीले, नील-लोहित या चितकबरे, छोटे नट गोल और दबे हुये होते हैं।

यह वृष्टी कफ निस्सारक है। इसका फाँट फुफुसी विकारों में दिया जाता है। यह अपमार्जक, शामक और उद्वेष्टरोधी की भाँति भी काम में लायी जाती है। इसमें एक फ्लैवोन रंजक पदार्थ, स्कुटेलेरीन ($C_{15}H_{10}O_6$; ग. वि., 330-50°) उपस्थित रहता है। राख (13.7%) में पोटेस की बहुलता रहती है। छोटे नटों में 35% वसीय तेल होता है (Caius, *J. Bombay nat. Hist. Soc.*, 1941, 42, 390; Mayer & Cook, 179; Wehmer, II, 1030).

Labiatae; G. tetrahit Linn.

गेलीडियम - देखिए शैवाल

गैनोफिलम ब्लूम (सैपिण्डेसी) GANOPHYLLUM Blume

ले.-गानोफिल्लूम

Parkinson, 116; Brown, II, Fig. 50.

यह फिलीपीन्स, जावा और ऑस्ट्रेलिया में पूर्व की ओर पाये जाने वाले वृक्षों का एक छोटा-सा वंश है। इसकी एक जाति अंडमान द्वीपों के समुद्री किनारों पर अत्यन्त सामान्य है।

गै. फालकेटम मध्यम आकार का पेड़ है। इसकी ऊँचाई 12-21 मी., घेरा 1.5-2.4 मी.; छाल रूख, गहरे लाल-भरे रंग की; पत्तियाँ पिच्छाकार, 60 सेंमी. तक लम्बी; फूल छोटे-छोटे और सहायक पुष्प-गुच्छों में; फल 6-12 मिमी. लम्बे, थोड़े नुकीले और केवल एकबीजी होते हैं। इसके पेड़ से कठोर और महीन दानों वाली टिकाऊ लकड़ी प्राप्त होती है जो इमारतें बनाने में उपयोगी है। इसमें सैपोनिन रहता है। इसकी छाल को साबुन के स्थान पर और जुयें मारने के काम में लाते हैं। बीज में एक ठोस वसा होती है जिसे फिलीपीन्स में प्रकाश के लिये और कठोर साबुन बनाने के प्रयोग में लाते हैं (Brown, II, 148; Burkill, I, 1044; Wehmer, II, 733).

Sapindaceae; G. falcatum

गैरु - देखिए पत्थर, इमारती

गैरुगा रॉक्सवर्ग (बर्सेरेसी) GARUGA Roxb.

ले.-गारुगा

यह वृक्षों का एक छोटा वंश है जो दक्षिण-पूर्व एशिया से प्रशान्त द्वीपों तक पाया जाता है। भारत में इसकी दो जातियाँ मिलती हैं।

Burseraceae

गै. पिन्नेटा रॉक्सवर्ग G. pinnata Roxb.

ले.-गा. पिन्नाटा

D.E.P., III, 483; Fl. Br. Ind., I, 528.

हि.-खरपात, घोगर, कैकर; वं.-जूम, डबडावे, तुम खरपात, नील भादी; गु.-खुसिम्ब; म.-काकड़, कुडक, कुरुक; ते.-गरुगा; त.-कारेवेम्बू, अरुनेल्ली; क.-हालावलगी, अरनेल्ली, गोड्डा; मल.-कोसराम्बा, कट्टुकलिजन; उ.-मोही, सोमपोत्री, आरमू।

बिहार और उड़ीसा-कंदवेर, करुर, आरमूदार, केकर; नेपाल-आउले डबडावे; असम-थोटमोला, गेंडली पोमा, रोहीमाला, डीएंग-खिआंग।

यह 15 मी. तक ऊँचा मँडोले आकार का वृक्ष है जो लगभग समस्त भारत में पाया जाता है। इसका तना सीधा, बेलनाकार, कभी-कभी 6-7.5 मी. ऊँचा और घेरे में 1.8 मी. होता है। इसकी छाल धूमिलाभ-भूरी, अनियमित, बड़ी पपड़ियों में उतरती हुई; पत्तियाँ विषम-पिच्छाकार, अक्सर लाल धुँडियोंयुक्त; फूल पीले या हरिताम-श्वेत, बहुलिगी; गुठलीदार फल पीताभ हरे से काले तक, गोलाकार (व्यास में लगभग 8 मिमी.), गूदेदार, 3-4 गुठलियों वाले होते हैं।

यह वृक्ष पतझड़ी, मिश्रित वनों में मिलता है और सागौन तथा साल के साथ आमतौर से पाया जाता है। इसे प्रकाश की बहुत आवश्यकता होती है। यह पाला और सूखा नहीं सह सकता, पर सरलता से नहीं जलता। इसे काटने पर जड़ीय कल्ले अच्छे फूटते हैं। इसके गुल्मवन बन जाते हैं।

इसके फल वर्षा ऋतु में धरती पर गिरते हैं और दूसरी वर्षा ऋतु में उगते हैं। कुछ बीजों में अंकुर दो वर्ष के बाद फूटते हैं। कृत्रिम सम्बर्धन के लिये जुलाई के आसपास पके फल इकट्ठे किये जाते हैं और क्यारियों में गड्डों में रख दिये जाते हैं। उन्हें मिट्टी से हल्का-सा ढक देते हैं और सूखे मौसम में सींचते रहते हैं। अधिकतर बीज अगले वर्ष बरसात के आरम्भ में उग आते हैं। जब पौधे डेढ़-दो महीने के हो जाते हैं तो उनका रोपण किया जाता है।

बीजों को सीधे बोने से अच्छे परिणाम निकलते हैं। बड़ी कलमें भी जल्दी जड़ पकड़ लेती हैं। इसकी वृद्धि की गति, विशेषतया मध्य आयु तक के वृक्षों की, तेज होती है (Troup, I, 176-178).

इसका रसकाष्ठ बड़ा और सफेद होता है। अन्तःकाष्ठ रक्ताभ भूरा, अक्सर संकेन्द्रिक, लहरदार किनारों युक्त, धूमिलाभ काले बलयों से चिह्नित, मजबूत, हल्के से मामूली भारी तक (आ. घ., 0.64; भार, 656 किग्रा./घमी.), असमान दानों और मोटे गठन वाला होता है। अंतःकाष्ठ को हवा में सुखाने से लकड़ी अच्छी तैयार होती है। पर रसकाष्ठ से संतोषजनक फल नहीं मिलते। इस लकड़ी को हरित परिवर्तन या पानी में भिगोकर ऋतुकरण की सलाह दी गई है। अंतःकाष्ठ काफी टिकाऊ होता है, पर रसकाष्ठ यदि अच्छी तरह ऋतुकृत किया हुआ और विशेष रीति से उपचारित किया हुआ नहीं होता तो जल्दी नष्ट हो जाता है। यह लकड़ी आसानी से चोरी और गद्दी जा सकती है। इस लकड़ी की आपेक्षिक उपयुक्तता, सागौन के उन्हीं गुणों के प्रतिशत के रूप में व्यक्त करने पर, निम्नलिखित है: भार, 85; कड़ी के रूप में मजबूती, 70; कड़ी के रूप में कठोरता, 65; खम्भे के रूप में उपयुक्तता, 65; प्रघात प्रतिरोध क्षमता, 80; आकार धारण क्षमता, 85; अपरूपण, 115; और कठोरता, 85 [Pearson & Brown, I, 223; Limaye, *Indian For. Rec.*, N.S., Util., 1944, 3(5), 16].

अंतःकाष्ठ मेज-कुर्सी बनाने के उपयुक्त है और रसकाष्ठ के ऋतुकरण और उपचार के बाद तख्ते बनाये जा सकते हैं। यह लकड़ी तख्ते, डोंगियाँ, बक्से, ढोल, अलमारियाँ और मकान बनाने के काम में आती है। यह व्यापार और चाय पेटियों की परती-लकड़ियाँ, दियासलाई की तीलियाँ और सस्ती पेंसिलें बनाने के लिये भी उपयुक्त है। यह



चित्र 12 - गैरुगा पिन्नेटा-पुष्पित शाखा

लकड़ी जलाने के लिये उपयोग की जाती है (कैलोरी मान: रसकाष्ठ - 4,828 कै., 8,692 ब्रि. थ. इ.; अतःकाष्ठ - 4,909 कै., 8,837 ब्रि. थ. इ.). इससे काफी अच्छा कोयला बनाया जा सकता है (Pearson & Brown, loc. cit.; Rama Rao, 70; *Indian For.*, 1952, 78, 274; Naidu, 72; Rehman & Ishaq, *Indian For. Leaf.*, No. 66, 1945, 6; Rodger, 71; Krishna & Ramaswamy, *Indian For. Bull.*, N.S., No. 79, 1932, 17).

गै. पिन्नेटा की लकड़ी से उदासीन सल्फाइट अर्ध-रासायनिक लुगदी बनाने के जो प्रयोग किये गये हैं, उनसे एक समाग भूरी लुगदी की उपलब्धि 62.5% होती है. इस लुगदी की भोजन-लम्बाई अल्प है. इसकी लकड़ी को लैनिया ग्रैडिस ऐगलर सिन. ओडिना बोडियर रॉक्सवर्ग और बासवेलिया सेराटा रॉक्सवर्ग की लकड़ियों के साथ मिलाकर भूरा लपेटन कागज बनाया जा सकता है (Bhat & Guha, *Indian For.*, 1951, 77, 568).

गै. पिन्नेटा के काष्ठफल कच्चे, पकाकर या अचार बनाकर खाये जाते हैं. वे बहुत खट्टे होते हैं और शीतलतादायक तथा पाचक समझे जाते हैं. इसके तने के रस का नेत्र श्लेष्मला की अपारदर्शिता के लिये उपयोग किया जाता है. इसकी पत्तियों का रस शहद और अन्य भेषजों के साथ मिलाकर दमे में दिया जाता है. इसकी जड़ों का क्वाथ फिलीपीन्स में फेफड़े के विकारों में इस्तेमाल होता है (Kirt. & Basu, I, 525).

इसकी पत्तियाँ और टहनियाँ चारे के तौर पर उपयोग की जाती हैं. कहा गया है कि इसकी छाल और पत्तों की घड़ियाँ चमड़े कमाने के लिये उपयोग की गई हैं, पर इन वस्तुओं में टैनिन की मात्रा अल्प

जान पड़ती है. इस वृक्ष से एक हरिताभ पीला गोंद-रेजिन मिलता है जिसका विशेष व्यापारिक महत्व नहीं है [Benthall, 100; Edwards et al., *Indian For. Rec.*, N.S., Chem. & Minor For. Prod., 1952, 1(2), 159; Howes, 1949, 75].

यह वृक्ष कभी-कभी बोया भी जाता है. अग्निरोधी होने और सरलता से प्रवर्धित होने के गुणों के कारण यह वन लगाने के लिये उपयोगी है (Haines, II, 171; Burkill, I, 1061).

गै. गेंम्बलाइ किंग एक विशाल वृक्ष है जिसका पूर्वी हिमालय, असम और पश्चिमी घाट में होने का उल्लेख है. कदाचित् गै. पिन्नेटा के समान यह भी आर्थिक उपयोगों में लाया जाता है. कुछ वनस्पतिशास्त्रियों द्वारा यह जाति गै. फ्लोरिबंडा डेकायने की एक किस्म समझी जाती है (Fl. Assam, I, 222; Information from the Superintendent, Indian Botanic Garden, Calcutta).

Lannea grandis Engl.; *Odina wodier* Roxb.; *Boswellia serrata* Roxb.; *G. gamblei* King; *G. floribunda* Decne.

गैलिनसोगा रूइज और पैवन (कम्पोज़िट)

GALINSOGA Ruiz & Pav.

ले.-गैलिनसोगा

Fl. Br. Ind., III, 311.

यह उष्णकटिबंधीय दक्षिणी अमेरिका की बूटियों का एक छोटा-सा वंश है, जिसमें से एक जाति गै. पाविप्लोरा कैवेनिलिस भारतवर्ष में उगाई गई है.

गै. पाविप्लोरा एक सीधी अरोमिल, 15-45 सेमी. ऊँची, विपरीत पत्तियों और छोटे पुष्प-शीर्षों वाली बूटी है जो हिमालय में 2,400 मी. की ऊँचाई तक और देश के अनेक अन्य भागों में कृष्य और परती भूमियों में अपतृण के रूप में पायी जाती है. जानवर इसे खाते हैं और जावा में यह सब्जी की भाँति प्रयोग में लाई जाती है. चारे के लिये इस पौधे का विश्लेषण करने पर निम्नलिखित मान प्राप्त हुये: प्रोटीन, 10.93; बसा, 0.76; कार्बोहाइड्रेट, 34.04; अपरिष्कृत रेशे, 38.44; और राख, 15.82%. इस बूटी को विच्छेद-बूटी-दंश पर खाल पर उसी प्रकार रगड़ा जाता है जिस प्रकार यूरोप में रुमेक्स जाति या डॉक को प्रयोग में लाया जाता है (Burkill, I, 1043; Walandouw, *J. sci. Res., Indonesia*, 1952, I, 201).

Compositae; *G. parviflora* Cav.; *Rumex* sp.

गैलियम लिनियस (रुबिएसी) GALIUM Linn.

ले.-गैलिकुम

यह मुख्यतः विश्व के शीतोष्ण क्षेत्रों में पाई जाने वाली, फैलने वाली बूटियों का विशाल वंश है. भारत में इसकी लगभग 20 जातियाँ, मुख्यतः शीतोष्ण-हिमालय के क्षेत्र में, पाई जाती हैं. इनमें से कुछ को सामान्यतया पयाल (बेडस्ट्रा) कहा जाता है और उद्यानों के किनारों पर क्यारियों में सुन्दर तथा आकर्षक पत्तों और फूलों के लिये लगाया जाता है.

Rubiaceae

गै. ऐपेराइन लिनियस *G. aparine* Linn. क्लीवर्स, गूज ग्रास

ले.-गा. आपारीने

Fl. Br. Ind., III, 205.

यह एक कोमल, और ऊपर चढ़ने वाली वृद्धी है जो शीतोष्ण-हिमालय में 3,600 मी. की ऊँचाई तक पाई जाती है। पत्तियों की व्यवस्था 6 या 8 के चक्करों में होती है; मध्य-शिरा और किनारे थोड़े चुभने वाले; फूल अतिरिक्त वृंतों पर हरिताम-रुबेत; फल छोटे (व्यास 3 मिमी.) शूकों से युक्त होते हैं।

पौधा गंधहीन और तीखे अम्लीय स्वाद का होता है। इसका फाण्ट मृदुविरैचक, मूल, प्रशीतक, रूपान्तरक और प्रतिस्कर्षी होता है। पौधे में एक ग्लाइकोसाइड, ऐस्पेरुलोसाइड ($C_{17}H_{24}O_{11}$; ग. बि., 125–27°) और सिट्रिक अम्ल होते हैं। पौधे के निष्कर्ष को जब कुत्तों में अंतःशिरा के द्वारा प्रवेश कराया जाता है तो धमनी-दाब बिना नाड़ी की गति धीमी किये 50% तक कम हो जाता है। इसकी जड़ों से एक नील-लोहित रंजक प्राप्त होता है (U.S.D., 1462; Wren, 92; Tehon, 58; Wehmer, II, 1181; Heilbron & Bunbury, I, 217; Chem. Abstr., 1950, 44, 10174; Perkin & Everest, 41).

गै. वेरम लिनियस *G. verum* Linn.

चीज रेनेट

ले.—गा. वेरुम

D.E.P., III, 462; Fl. Br. Ind., III, 208.

यह 30–90 सेंमी. ऊँची एक कोमल बहुवर्षी वृद्धी है जिसके तने सीधे और कोणीय होते हैं। यह कश्मीर, लाहौर और हिमालय के अन्य पश्चिमी क्षेत्रों में 1,500–3,000 मी. की ऊँचाई पर पाई जाती है। पत्तियाँ बहुधा अपनत और फूल सिरों पर गुच्छों में, स्वर्णपीत रंग के होते हैं। यह पौधा आसानी से उद्यानों में उगाया जा सकता है तथा शीतोष्ण क्षेत्रों में, विशेषतः चट्टानीय स्थानों के लिये अधिक अनुकूल है (Bailey, 1947, II, 1311).

पौधे के तने और ऊपरी भाग से एक पीत रंजक प्राप्त होता है जिसे पहले पनीर और मक्खन को रँगने के लिए प्रयोग में लाते थे। पौधे की जड़ों को जब काट कर जल में डालते हैं तो एक लाल रंजक प्राप्त होता है जो कई स्थानों पर ऊनी वस्त्रों को रँगने में इस्तेमाल किया जाता है। जड़ों में रंजक-पदार्थ गैलिओसिन और रुबियाडिन प्राइमवैरोसाइड ग्लाइकोसाइडों के रूप में उपस्थित रहता है। गैलिओसिन ($C_{26}H_{26}O_{16} \cdot 6H_2O$) पीले रंग की सुइयों के रूप में प्राप्त होता है जो 100° के ऊपर विघटित हो कर तनु क्षार में विलेय हो जाता है और उससे एक गहरा नारंगी रंग प्राप्त होता है। मृदु उपचार से इसका जल अपघटन करने पर परप्पूरिन-3-कार्बोक्सिलिक अम्ल और प्राइमवैरोस (6- β -*d*-जाइलोजिडो-*d*-ग्लूकोस) प्राप्त होते हैं। ताजी जड़ों में रुबियाडिन प्राइमवैरोसाइड ($C_{26}H_{28}O_{13}$; ग. बि., 248–50°) 0.14% तक उपस्थित रहता है जो फीके पीले रंग की समान्तर किनारों वाली प्लेटें बनाता है। तनु (0.4N) सल्फ्यूरिक अम्ल के साथ जल अपघटन करने पर यह *d*-जाइलोजिड और रुबियाडिन-3-ग्लाइकोसाइड देता है। एक तृतीय रंजक-पदार्थ, स्वेरिथ्रिक अम्ल ($C_{25}H_{26}O_{13} \cdot H_2O$; ग. बि., 257°), जो ऐलिजैरिन का एक ग्लाइकोसाइड है, इस पौधे में अत्यंत सूक्ष्म मात्रा में पाया जाता है (Kierstead, 45; U.S.D., 1462; Thorpe, V, 415).

गै. ऐपेराइन की भाँति इस पौधे में सिट्रिक अम्ल और ऐस्पेरुलोसाइड उपस्थित रहता है। इस पौधे में दूध को दही में परिणत करने वाला एक एंजाइम भी रहता है। पौधे से निकाले गये वसीय-तैल (पेट्रोलियम ईथर निष्कर्ष, 3.12%, शुष्क आधार पर) के स्थिरांक इस प्रकार हैं: n_D^{20} , 1.4611; सात्व. मान, 201.5; और आयो. मान, 94.47; ठोस वसा-अम्ल, 59.93%; और द्रव वसा-अम्ल, 35.85%.

फूलती हुई वृद्धी से 0.0065% एक वाष्पशील तेल प्राप्त होता है (Wehmer, II, 1182; Chem. Abstr., 1949, 43, 424).

वे फूल जो कूमैरिन गंधयुक्त होते हैं, पहले दूध को दही बनाने में प्रयुक्त होते थे। पौधे में कषाय तीखा स्वाद होता है और इसे मूल तथा रूपान्तरक माना जाता है। इस पौधे का फाँट छोटी और बड़ी पथरी और मूत्रीय रोगों, हिस्टीरिया तथा अपस्मार में लाभप्रद है (Collett, 234; Clapham et al., 992; Wren, 201; U.S.D., 1462).

गै. रोटंडिफोलियम लिनियस एक बहुवर्षी आरोही वृद्धी है जो सम्पूर्ण हिमालय और खासी पहाड़ियों पर 3,000 मी. की ऊँचाई तक पाई जाती है। यह शुल, गल-क्षत और छाती की बीमारियों में लाभदायक बतलाई जाती है। गै. ट्राइफ्लोरम मिको (स्वीट सेंटेंड वेडस्ट्रा) एक नीचे की ओर फैलने वाला बहुवर्षी पौधा है जो शीतोष्ण-हिमालय के क्षेत्र में कश्मीर से भूटान तक 1,800–3,000 मी. की ऊँचाई पर पाया जाता है। इसमें कूमैरिन रहता है (Watt & Breyer-Brandwijk, 177; Wehmer, II, 1182; Tehon, 58).

G. rotundifolium Linn.; *G. triflorum* Michx.

गैलेना — देखिए सीस

गैलैंगल — देखिए ऐलपीनिया

गैल्बैनम — देखिए फेरुला

गैहनाइट — देखिए स्पिनेल

गोएथाइट — देखिए लोह अयस्क

गोट वीड — देखिए ऐजेरेटम

गोनिथ्रोथैलामस हुकर पुत्र और थाम्सन (अनोनेसी)

GONIOTHALAMUS Hook. f. & Thoms.

ले.—गोनिथ्रोथैलामस

D.E.P., III, 533; Fl. Br. Ind., I, 72.

यह झाड़ियाँ और छोटे वृक्षों का वंश है जो दक्षिणी-पूर्वी एशिया में पाया जाता है। भारतवर्ष में इसकी लगभग 9 जातियाँ ज्ञात हैं।

गो. कार्डियोपेटेलस हुकर पुत्र और थाम्सन विशाल झाड़ी या लघु वृक्ष है जो पश्चिमी घाटों के सदाबहार वनों में उत्तरी कनारा से दक्षिण की ओर तथा शेवराय पहाड़ियों में पाया जाता है। इस जाति की लकड़ी खम्भे बनाने के काम आती है। गो. सेस्क्वीपेडेलिस हुकर पुत्र और थाम्सन (नेपाल—साने; लेपचा—सिंगन्योककुंग; खासी पहाड़ियाँ—सोह-उम-सिनरांग; लुशाई पहाड़ियाँ—खाम; मणिपुर—लाइखाम) कम शाखाओं वाली नीची झाड़ी है तथा पूर्वी हिमालय और असम में 1,500 मी. की ऊँचाई तक पायी जाती है। इसकी सूखी पत्तियाँ मणिपुर के मन्दिरों में सुगन्धित धूप के रूप में जलाई जाती हैं। गो. वाइटाइ हुकर पुत्र और थाम्सन (त.—पुलितल; मल.—मेलमैल्ली) एक झाड़ी या छोटा वृक्ष है जो अनामलाई, नावनकोर तथा तिन्नेवेली के सदाबहार जंगलों में 600 मी. से 1,500 मी. की ऊँचाई पर पाया जाता है। इस पेड़ की छाल काले रंग की होती है जिससे मजबूत रेशा प्राप्त होता है (Fl. Assam, I, 37; Rama Rao, 7). *Annonaceae*; *G. cardiopetalus* Hook. f. & Thoms.; *G. sesquipedalis* Hook. f. & Thoms.; *G. wightii* Hook. f. & Thoms.

गोनीस्टाइलस टाइजमन्न तथा विनेण्डिक (थाईमेलोएसी; गोनीस्टाइलेसी) GONYSTYLUS Teijsm. & Binn.

ले.—गोनिस्टिलस

Fl. Malesiana, Ser. I, 4, 354.

यह वृक्ष और झाड़ियों का एक वंश है जो विशेष रूप से मलेयिया में पाया जाता है। एक जाति निकोबार द्वीपों में मिलती है।

गो. मैक्रोफिलस (मिक्वेले) ऐयरी घा सिन. गो. मिक्वेलिएनस टाइजमन्न तथा विनेण्डिक, गो. बैनकैनस बैलान निकोबार द्वीपों में पाया जाने वाला वृक्ष है जिसकी ऊँचाई 45 मी. तक होती है। पत्तियाँ आकार और रूप में अत्यन्त ही परिवर्तनशील, दीर्घायत, दीर्घवृत्ताकार, अधोमुख-अधोकार तथा ऊर्ध्वभालाकार; फूल सीधे या शाखित अक्ष पर ग्रन्थिल गुच्छों के रूप में; तथा फल गोलाकार, व्यास में लगभग 7 सेमी. एवं 3 से 5 कपाट वाले होते हैं।

इसकी लकड़ी के कुछ भाग कभी-कभी रोग लग जाने के कारण रेजिन से भर जाते हैं और उनसे हल्की सुगन्ध आने लगती है। इसकी लकड़ी ऐलो लकड़ी के स्थान में उपयोग में लाई जाती है। काष्ठ से प्राप्त वाष्पशील तेल, जिसमें गोनीस्टाइलॉल ($C_{15}H_{26}O$) रहता है, सुगन्धित धूप बनाने के काम आता है और यह कहा जाता है कि जलते हुये तेल का धुआँ स्वास रोग में लाभकारी होता है। लकड़ी का उपयोग छोटी-छोटी वस्तुयें बनाने तथा कभी-कभी तख्तों एवं मकान की वल्लियों के बनाने के लिये भी होता है (Burkill, I, 1099; Wehmer, II, 753).

Thymelaeaceae; Gonystylaceae; *G. macrophyllus* (Miq.) Airy Shaw; *G. muquelianus* Teijsm. & Binn.; *G. bancanus* Baill.

गोभी — देखिए ब्रेसिका

गोभी, रोज़ — देखिए रोज़ा

गोम्फ्रेना लिनिअस (अमरैन्थेसी) GOMPHRENA Linn.

ले.—गोम्फ्रेना

Fl. Br. Ind., IV, 732.

यह एकवर्षीय अथवा बहुवर्षीय पौधों का एक विशाल वंश है जो विशेषतया उष्णकटिबंधीय अमेरिका तथा ऑस्ट्रेलिया में पाया जाता है। भारतवर्ष में इसकी दो जातियाँ पाई जाती हैं जिसमें से गो. ग्लोबोसा शोभाकारी वृक्ष के रूप में उगाया जाता है और बिना लगाये कभी-कभी ही मिलता है।

गो. ग्लोबोसा लिनिअस (ग्लोब अमरैथ, वैचलर्स वटन) एक सीधा, रोमिल, द्विभाजी शाखाओं वाला, एकवर्षी, 30–90 सेमी. ऊँचा पौधा है जिसके पुष्पशिखर बड़े, गोलाकार, 2.5–3.75 सेमी. व्यास वाले तथा इनके नीचे दो चौड़े पत्तीदार ब्रैक्ट फँले होते हैं। सम्भवतः यह अमेरिका का मूलवासी है परन्तु यह अपने चटक रंग वाले तथा अत्यधिक संख्या में पाये जाने वाले पुष्पशिखरों के कारण बहुत से देशों में उगाया जाता है। इस पौधे का प्रवर्धन बीजों द्वारा आसानी से किया जाता है। उद्यानों की कई किस्मों के पुष्पशिखर पीलापन लिये हुये सफेद रंग से लेकर लाल और बैंगनी रंग तक के होते हैं। इस पौधे में भारत में वर्षा तथा शीतकाल में फूल निकलते हैं और सूखने के बहुत समय बाद तक फूलों का रंग तथा उनका आकार जैसे-का-तैसा बना रहता है। मोलक्का

द्वीपों में यह पौधा तरकारी की तरह प्रयोग में लाया जाता है। कुछ देशों में जड़े खाँसी के उपचार के लिये भी प्रयुक्त होती हैं। गोम्फ्रेना की कुछ जातियों को पशु घास की अपेक्षा अधिक चाव से खाते हैं (Bailey, 1947, II, 1355; Firminger, 385; Gopalaswamigar, 436; Burkill, I, 1097; Neal, 287; *Jt Publ. imp. agric. Bur.*, No. 10, 1947, 35).

Amaranthaceae; *G. globosa* Linn.

गोम्फोस्टेमा वालिश (लैबिएटी) GOMPHOSTEMMA Wall.

ले.—गोम्फोस्टेम्मा

Fl. Br. Ind., IV, 696.

यह वृष्टियों या अधोझाड़ियों का वंश है जो दक्षिणी तथा पूर्वी एशिया में पाया जाता है। भारतवर्ष में लगभग 16 जातियाँ मिलती हैं।

गो. ल्यूसिडम वालिश असम में पायी जाने वाली सीधी मजबूत वृद्धि है जिसकी ऊँचाई 60–90 सेमी.; पत्तियाँ अधोमुख-भालाकार या दीर्घवृत्तीय-भालाकार; तथा फूल पीले रंग के घने कक्षीय चक्रों में लगे होते हैं। इसकी जड़ न्युयोनिया में उपयोगी बताई जाती है। गो. क्राइ-निटम वालिश हुकर पुत्र (अशतः) एक निकट सम्बन्धी जाति है जो असम में पाई जाती है। मलाया में इसकी जड़ों का काढ़ा प्रसूति में दिया जाता है तथा पत्तियों को कपूर के साथ पीसकर उरुसन्धि की सूजन पर लगाया जाता है (Carter & Carter, *Rec. bot. Surv. India*, 1912, 6, 407; Burkill, I, 1097).

Labiatae; *G. lucidum* Wall.; *G. crinitum* Wall.

गोर्डोनिया एलिस (थियेसी; टर्नस्ट्रोमियेसी) GORDONIA Ellis

ले.—गोर्डोनिया

यह वृक्ष और झाड़ियों का एक वंश है जो दक्षिण और पूर्व एशिया से लेकर प्रशान्त महासागर होता हुआ अमेरिका के कुछ भागों में फैला हुआ है। कुछ जातियाँ अपनी सुन्दर पत्तियों और चटक फूलों के लिए उगायी जाती हैं। भारत में दो जातियाँ पाई जाती हैं।

Theaceae; Ternstroemiaceae

गो. ऑब्दुसा वालिश *G. obtusa* Wall.

ले.—गो. ओबटुसा

D.E.P., III, 533; Fl. Br. Ind., I, 291.

त.—मिथिलाई, अटगी, ओला, नागट्टे, थोरिल्ला; क.—नागेत्ता; मल.—कट्टुकरणा, अटंगी, ओला.

यह एक ऊँचा, घूसर छाल वाला, सदाहरित वृक्ष है जो पश्चिमी घाट में 600 से 2,100 मी. की ऊँचाई तक पाया जाता है। इसकी पत्तियाँ दीर्घ-वृत्ताकार-भालाकार, 7.5–15.0 सेमी. × 3.75–5 सेमी., कुंठदंती, चमकदार; फूल बड़े, सफेद या क्रीम रंग के तथा संपुटिकाये काष्ठमय, लगभग 2.5 सेमी. लम्बी, 5 कोण वाली होती हैं। फूल खिलने पर वृक्ष अत्यन्त सुन्दर लगता है।

लकड़ी गुलाबी सफेद से लेकर लालाभ भूरे रंग की, कठोर, भारी (भार, 688 किग्रा./घमी.), लचीली तथा सम और घने दानों वाली होती है। इसे चिकनाना सरल है, यह अच्छी पालिश लेती है किन्तु

देदी हो जाती है। कभी-कभी इसका उपयोग वेड़ा तथा मकान बनाने में भी किया जाता है (Gamble, 67).

पत्तियों का काड़ा उद्दीपक तथा क्षुधावर्धक है। नीलगिरि में पत्तियाँ चाय के स्थान पर भी प्रयुक्त की जाती हैं। इनमें एक ऐल्कलॉयड (0.04%), टैनिन अम्ल तथा एक सुगन्धित पदार्थ पाये जाते हैं (Kirt. & Basu, I, 281; Dymock, Warden & Hooper, I, 190).

गो. डिप्टेरोस्पेर्मा कुर्ज सिन. गो. एक्सेल्सा ब्लूम (नेपाल-हिमालय; लेपचा-चाऊकुंग) एक विशाल वृक्ष है जो पूर्वी हिमालय तथा असम में 1,200 से 1,800 मी. की ऊँचाई तक पाया जाता है। इसकी लकड़ी जावा में घर बनाने के काम आती है। पत्तियों में एक सैपोनिन होता है (Burkill, I, 1101; Wehmer, II, 777).

G. dipterosperma Kurz syn. *G. excelsa* Blume

गोलकृमि - देखिए परजीवी कृमि

गोल्ड थ्रेड - देखिए काप्टिस

गोल्ड मोहर - देखिए डेलोनिक्स

गोआ साइप्रस - देखिए कुप्रेसस

गॉसीपियम लिनियस (मालवेसी) *GOSSYPIMUM* Linn.

ले.-गास्सिपिऊम

यह एकवर्षीय या बहुवर्षीय झाड़ियों या लघु वृक्षों का वंश है, जो एशिया, अफ्रीका, अमेरिका तथा ऑस्ट्रेलिया के उष्णकटिबंधी एवं उपोष्ण क्षेत्रों में पाया जाता है। जंगली जातियाँ बहुवर्षी होती हैं और सभी महाद्वीपों के उष्णकटिबंधी एवं उपोष्ण भागों में विखरी हुई मिलती हैं। कृष्य जातियाँ असंख्य हैं और वे अपने जन्म स्थान से दूर देशों में मनुष्यों द्वारा ले जाई गई हैं। इनसे कपास मिलती है जो अत्यन्त महत्वपूर्ण प्राकृतिक रेशा है, जिसे विश्व के विभिन्न देश सूती वस्त्र बनाने के लिये प्रयुक्त करते हैं।

गॉसीपियम वंश के अंतर्गत आने वाली विभिन्न जातियों की नाम-पद्धति, उनके वर्गीकरण और उनकी सीमाओं से सम्बंधित साहित्य यथेष्ट मात्रा में है। इनमें न केवल इस वंश की विशिष्ट कोटियों का वर्णन है अपितु सम्पूर्ण वंश की विवेचना की गयी है। पूर्ववर्ती वर्गीकरण मुख्यतः आकारकीय गुणों पर आधारित थे जिससे मनुष्य द्वारा चुने हुए प्ररूपों की शृंखला में भ्रम होने से यह बहुरूपिया फसल अनेक विशिष्ट नामों के अंतर्गत विभक्त हो गई थी। कुछ लेखकों ने कुछ ही जातियों को मान्यता दी जबकि दूसरे लेखकों ने मिलते-जुलते प्रकारों में अन्तर किया और जातियों की संख्या काफी बढ़ाई। कोशिका विज्ञान, आनुवंशिकी तथा पादप-भूगोल सम्बंधी आधुनिक खोजों से इस वंश के विकास पर पर्याप्त प्रकाश पड़ा है और अधिक संतोषजनक वर्गीकरण के लिए उपयोगी ज्ञान प्राप्त हो सका है। अब यह वंश लगभग 20 जातियों में विभाजित कर दिया गया है, जिनमें से केवल 4 जातियाँ आर्थिक दृष्टि से महत्व की समझी जाती हैं। इस समय इस वंश के वर्गीकरण के लिये निम्नलिखित कुछ महत्वपूर्ण लक्षण प्रयुक्त किए जाते हैं : भौगोलिक वितरण, क्रोमोसोम की संख्या, पादप की प्रकृति, पत्तियों की आकृति, सहपत्रिकाओं तथा सहपत्रिका दंतों की प्रकृति, पत्तियों की मोटाई, ढोंडी का विस्तार, आकृति तथा खुरदुरेपन की कोटि, संपुटिकाओं की संघिरेखाओं पर रोमों की उपस्थिति, रोएं एवं

रेशों की प्रकृति, पुंतुओं का विन्यास तथा दीप्तिकालिक अभिक्रियाएँ [Watt, *The Wild & Cultivated Cotton Plants of the World*, Longmans, Lond., 1907, 52-318; Gammie, *Mem. Dep. Agric. India, Bot.*, 1907, 2(2); Zaitzev, *Trans. Turkest. Pl. Breed. Sta.*, 1928, No. 12; Harland, *Bibl. genet., Lpz.*, 1932, 9, 107; Edlin, *New Phytol.*, 1935, 34, 1, 122; Roberty, *Candollea*, 1938, 7, 297; 1950-52, 13, 9; Harland, 18; Hutchinson & Ghose, *Indian J. agric. Sci.*, 1937, 7, 233; Hutchinson *et al.*, 3-53; Hutchinson, *New Phytol.*, 1947, 46, 123].

भौगोलिक वितरण और क्रोमोसोमों की संख्या के आधार पर इस वंश को मुख्य चार समूहों में विभक्त किया गया है : (1) पुरानी दुनिया की कृष्य कपासें जिनमें $n=13$ क्रोमोसोम; (2) नई दुनिया की कृष्य कपासें जिनमें $n=26$ क्रोमोसोम; (3) पुरानी तथा नई दुनिया की जंगली कपासें जिनमें $n=13$ क्रोमोसोम; और (4) पॉलिनेशिया की जंगली कपासें जिनमें $n=26$ क्रोमोसोम होते हैं। नियमतः प्रत्येक क्रोमोसोम समूह में संकरण के कारण उर्वरता होती है, जबकि समूहों के मध्य संकरण होने से वंध्यता आती है। हाल तक यह अन्तर-समूह-वंध्यता पूर्ण समझी जाती थी और अन्तर-समूह-संकरण द्वारा सम्भाव्य आर्थिक महत्व के संकरों के विकास की सम्भावना बहुत कम थी। अब उच्च क्रोमोसोम जनक से अन्तर-समूह-संकरों का पश्व संकरण कराकर अथवा काल्विसिन तकनीक का उपयोग करके उर्वर संकर उत्पन्न करना सम्भव हो गया है। भारत में संकरण पर विस्तृत शोधकार्य चल रहा है जिससे कृष्य कपास की किस्मों में अमेरिकी और जंगली कपासों के उपयोगी गुणों का स्थानान्तरण अभीष्ट है (Hunter & Leake, 301; Amin, *Indian J. agric. Sci.*, 1940, 10, 404; 2nd Conf. Cott.-gr. Probl. India, 1941, 39; Patel *et al.*, 3rd Conf. Cott.-gr. Probl. India, 1946, 69; Patel & Thakar, *Indian Cott. Gr. Rev.*, 1950, 4, 185).

कृष्ट कपासें चार जातियों के अंतर्गत आती हैं। इनमें से दो पुरानी दुनिया की और दो नई दुनिया की हैं : गाँ. आर्बोरियम, गाँ. हर्बेसियम, गाँ. हिर्मुटम तथा गाँ. बाबेंडेन्स. भौगोलिक वितरण एवं संबद्ध आनुवंशिक लक्षणों पर आधारित इन जातियों की अनेक प्रजातियाँ हैं.*

Malvaceae

गाँ. आर्बोरियम लिनियस सिन. गाँ. नार्नकिंग मीयेन;
गाँ. इंडिकम टोडारो; गाँ. नेग्लेक्टम टोडारो; गाँ. सेंवि-
नियम हस्करी; गाँ. इंटरमीडियम टोडारो; गाँ. सर्नूम
टोडारो; तथा गाँ. आब्द्यूसिफोलियम रॉक्सवर्ग (अंशतः)

G. arboreum Linn.

ले.-गा. आरबोरेऊम

D.E.P., IV, 5; C.P., 576, 579; Hutchinson *et al.*, 32, Pl. IV.

* हबिन्सन इत्यादि द्वारा प्रस्तावित तथा आधुनिक शोधपत्रों में इन्हीं के द्वारा सुसंपादित वर्गीकरण ग्राह्य है। इसमें विस्तृत पर्याप्त देने का प्रयास नहीं हुआ है। D.E.P. तथा C.P. नामक पुस्तकों में वर्णित केवल विशिष्ट तथा उपजातीय नाम लिए गए हैं। कपास के व्यापारिक एवं कृष्य नाम उगाई जाने वाली किस्मों से सम्बंधित हैं।

हि., वं., गु., म. और पं.—कपास, रुई, तूल; क.—हत्ति; ते.—पत्ति, कर्पसम्; त. और मल.—परुति, पंजी; उ.—कर्पसी, कोपा*.

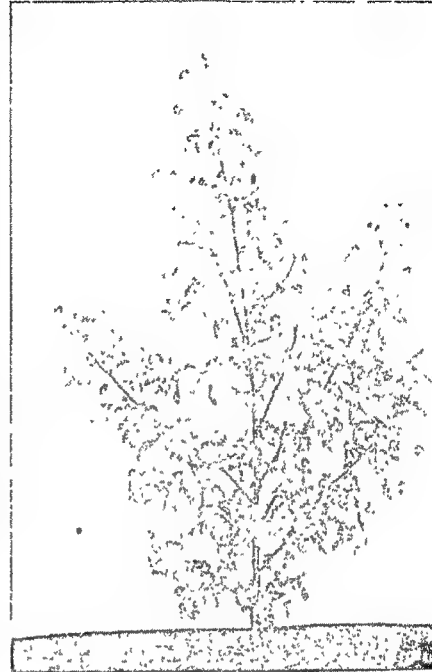
यह $n=13$ क्रोमोसोमों से युक्त, पुरानी दुनिया की द्विगुणित जाति है। इसमें बहुवर्षी या वार्षिक शादियों सम्मिलित हैं जिनकी ऊँचाई 60 सेमी. से 3 मी. तक होती है। इनकी शाखाएँ पतली एवं भूस्तारी और इनका रंग प्रायः वंगनी होता है। दहनियाँ तथा पत्तियाँ सूक्ष्म रोमिल, जीर्णपर्णी या रोमिल, पत्तियाँ 3-7 पालियों में गहरी कटी; पालियाँ, अंडाकार, दीर्घायत, या वक्र-रेखी, निश्चिताय; सहपर्णिकाएँ फूल और कली को समीप से घेरती हुई, चौड़ाई से अधिक लम्बी, त्रिभुजाकार तथा 3-4 मोटे दाँतों से युक्त; फूल नीललोहित, लाल, पीले या सफेद होते हैं और इनकी पंखुडियों का आधार लाल धब्बे से युक्त या बिहीन; संयुटिकाएँ गावदुम, भरपूर गर्तमय तथा 3-4 गह्वरों वाली, पकने पर खुली; बीज छोटे, रोमों की दो तहों से आच्छादित; रेशा सफेद, धूसर या भूरा; रोएँ हरे, धूसर या सफेद और बीज पर समान रूप से वितरित या बीज के दोनों सिरों पर आच्छादित रहते हैं।

पुरानी दुनियाँ की जातियों में से सर्वाधिक उपजने वाली जाति गाँ. आर्बोरियम है जो अफ्रीका से लेकर अरब और भारत से चीन, जापान तथा ईस्ट इंडीज तक वर्षा सिंचित मैदान क्षेत्रों में पाई जाती है। वास्तविक बहुवर्षी जंगली प्ररूप इन जातियों में सर्वत्र विखरे मिलते हैं किन्तु किसी वास्तविक वर्षीय जंगली प्ररूप नहीं देखे जाते। इसका उद्गम स्थान अस्पष्ट है किन्तु स्पष्टतः यह एशिया में ही होगा क्योंकि बंगाल की खाड़ी के चारों ओर के क्षेत्र में इसकी परिवर्तनशीलता अधिकतम होती है (Hutchinson, 1st Conf. Sci. Res. Workers on Cott. India, 1937, 347; Hutchinson et al., 83, Fig. 7).

इस जाति में कई किस्में और प्रजातियाँ सम्मिलित हैं जिनमें से कई की खेती भारत तथा उसके आसपास होती है। इन्हें वर्गीकृत करने के कई प्रयास हुए हैं। हचिन्सन और घोष ने पहले इस जाति को वैर. टाइपिकम तथा वैर. जेगलेबटम नामक दो किस्मों में विभाजित किया जो व्युत्पन्न संयुक्तता की वार्षिक प्रकृति पर आधारित था। उपर्युक्त दोनों किस्मों में से प्रत्येक को चार भौगोलिक रूपों में विभाजित किया गया। बाद में रेशों के रंग और रेशा-विकास से सम्बंधित आनुवंशिक संबंधों में गाँ. आर्बोरियम में भौगोलिक वितरण से सम्बद्ध तीन प्ररूपी विचलन के सबल प्रमाण मिले हैं। किन्तु वह प्रकृति पर आधारित नहीं है। अतः अंतिम लक्षण के आधार पर जातियों के अन्तर प्रारम्भिक अन्तर बताना तर्कसंगत नहीं है। यह जाति छः प्रजातियों में बाँटी गई है और यह विभाजन मुख्यतः भौगोलिक वितरण पर आधारित है जो जाति में आनुवंशिक विचलन से भली-भाँति सम्बंधित है। ये प्रजातियाँ: बंगालेंस, बर्मानिकम, सनूम, इण्डिकम, साइनेन्स तथा सुडानेंस हैं। इनमें से प्रथम चार के अंतर्गत गाँ. आर्बोरियम के सभी कृष्ट प्ररूप आ जाते हैं जिनकी भारत में खेती की जाती है [Gammie, Mem. Dep. Agric. India, Bot., 1907, 2(2); Leake & Ram Prasad, ibid., 1914, 6, 115; Hutchinson & Ghose, Indian J. agric. Sci., 1937, 7, 233; Silow, J. Genet., 1944, 46, 62; Hutchinson et al., 33].

—प्रजाति इंडिकम सिलो के अंतर्गत गाँ. नानकिंग मीयेन वैर. रोबो वाट, वैर. बानी वाट (अंशतः), वैर. नाडम वाट (अंशतः) तथा गाँ. आर्ययूतिफोलियस रॉक्सबर्ग (वाट) अंशतः हैं।

* भारतीय भाषाओं के नाम छोटे की अक्षरा कच्ची कपास की अधिक व्यवहृत करते हैं और ये गांतीपियम की सभी जातियों के लिये सामान्य हैं।



चित्र 13—गांतीपियम आर्बोरियम प्रजाति इंडिकम (कल्लेगरी)

इस प्रजाति के व्यापारिक तथा खेतिहर नाम हैं: कल्लेगरी, तिसेवेली (कभी-कभी गाँ. हर्वेसियम प्रजाति वाइटियानम से मिश्रित); नार्दन; कोकानाड तथा वारंगल; नाडम (गाँ. हर्वेसियम प्रजाति वाइटियानम तथा गाँ. हिंसुटम प्रजाति पंक्टेडम से मिश्रित); रोबी; हैदराबाद गाबोरानी (गाँ. हिंसुटम और कभी-कभी गाँ. आर्बोरियम की प्रजाति बंगालेंस से मिश्रित)।

यह प्रजाति बहुवर्षीय या वर्षीय एकाक्षी या संयुक्तता की रूपों में है। बहुवर्षी रूप कभी-कभी अश्वेआरोही होता है। तने, पर्णवृत्त और पत्तियाँ साधारण रोमिल से अधिकतर तलक होती हैं। बहुवर्षी रूप में रेशा रंगीन, अपर्याप्त और स्थूल होता है। कृष्ट विभेदों में रेशों सख्य लम्बे तथा साधारण पतले होते हैं। ओटाई मान न्यून होता है।

इस जाति के अन्तर्गत गाँ. आर्बोरियम की कुछ उत्तम कोटि की कपासें सम्मिलित हैं। उनमें से कल्लेगरी तथा गाबोरानी के रेशों की लम्बाई वस्त्र, मध्य प्रदेश और पंजाब में उत्पन्न होने वाले गाँ. हिंसुटम प्ररूपों के समान पहुँच जाती है। एकवर्षीय रूपों की बहुवर्षीय प्ररूपों से कुपि आवश्यकताओं की अधिकतर ध्यान में रखते हुए विकसित किया गया है—यथा नाशी जीवनिर्वाण तथा उत्तम गुणों का रेशा। बहुवर्षी वृद्धि के लिये जलवायु की उपयुक्तता महत्वपूर्ण नहीं है। बंगालेंस प्रजाति के विपरीत ये किस्में मध्यम से उच्च रेशा-कोटि तथा निम्न ओटाई मान की होती हैं। ये अधिकतर प्रायद्वीपीय भारत में

तमिलनाडु, आंध्र प्रदेश, मध्य प्रदेश और मध्य भारत में उगाई जाती हैं।

इस प्रजाति के अन्तर्गत बहुत बड़ी संख्या में बहुवर्षी प्ररूप आते हैं, जैसे कि पश्चिमी भारत की रोजी कपास तथा दक्षिण भारत की तिन्नेवेली नाडम। इन प्ररूपों में से कुछ अफ्रीका के मेडागास्कर और तटवर्ती टैंगान्यिका में फैली हुई हैं (Hutchinson *et al.*, 93; Hutchinson, *Emp. Cott. Gr. Rev.*, 1950, 27, 123)।

—प्रजाति बंगालेन्स सिलो* के अंतर्गत निम्नलिखित उपजातियाँ सम्मिलित हैं : गॉ. आर्बोरियम वैर. सैग्विनिया वाट, वैर. नेग्लेक्टा वाट और वैर. रोजिया वाट; तथा गॉ. नानकिंग मीयेन वैर. रुबिकुंडा वाट तथा वैर. बानी वाट (अंशतः)।

बंगालेन्स प्रजाति के व्यापारिक एवं खेतिहर नाम इस प्रकार हैं : बंगाल्स (इसके अन्तर्गत उत्तर प्रदेश, पंजाब और राजस्थान देसी आती हैं); धोलेरा (केवल ग्रैथियो); मध्य प्रदेश वीरम, जरीला, मध्य प्रदेश ऊमरा (कभी-कभी इण्डिकम प्रजाति और गॉ. हिंसुटम की प्रजाति लैटिफोलियम से मिश्रित); मुगलई या हैदराबाद ऊमरा (प्रजाति इण्डिकम से मिश्रित); बर्सीनगर ऊमरा; मध्य भारतीय मालवी; मुंगारी (इण्डिकम प्रजाति तथा गॉ. हर्बेसियम की प्रजाति बाइटियानम से मिश्रित); कोमिल्ला (अंशतः); मालीसोनी।

इस प्रजाति के अनिवार्यतः संयुक्ताक्षी रूप; तने पर्णवृंत; और पत्तियाँ अन्य प्रजातियों की अपेक्षा रोमिल तथा रेशा पूर्णतः सफ़ेद होता है। यह तकनीकी तथा कृषीय दृष्टि से समांगी समूह वाला, शीघ्र होने वाला, छोटे से लेकर मध्यम लम्बाई वाला, मोटे रेशे वाला तथा उच्च ओटाई वाला प्ररूप है जिसके अंतर्गत भारत की व्यापारिक बंगाल और ऊमरा कपास आती हैं।

यह प्रजाति सिन्धु-गंगा के मैदान में अपेक्षाकृत हाल में फैली है और उच्च ओटाई प्रतिशत वाली कपासों की माँग के कारण गत शताब्दी में पूर्वी बंगाल एवं असम से पश्चिम की ओर इसका प्रसार हुआ है। अब भारत में इसकी खेती पंजाब, राजस्थान, उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, गुजरात, महाराष्ट्र, खानदेश, आंध्र प्रदेश तथा तमिलनाडु के कुछ भागों में होती है। यद्यपि असम तथा पूर्वी बंगाल की नान-सर्नूम कोमिल्ला भौगोलिक दृष्टि से बर्मानिकम प्रजाति से सम्बन्धित है किन्तु व्यापारिक एवं तकनीकी कारणों से इन्हें यहाँ बंगालेन्स प्रजाति के अन्तर्गत सम्मिलित किया गया है (Hutchinson *et al.*, 94)।

—प्रजाति बर्मानिकम सिलो के अंतर्गत निम्नलिखित उपजातियाँ सम्मिलित हैं : गॉ. आर्बोरियम वैर. नेग्लेक्टा वाट (अंशतः); गॉ. नानकिंग मीयेन वैर. नाडम वाट (अंशतः) तथा वैर. हिमालयाना वाट; गॉ. आब्दुसिफोलियम रॉक्सवर्ग (वाट) अंशतः।

इस प्रजाति के व्यापारिक एवं खेतिहर नाम हैं : ब्रह्मा; वागेल; बाज़ी। इस प्रजाति में प्रधानतः एकाक्षी रूप हैं, लेकिन संयुक्ताक्षी प्ररूप सामान्य हैं; तना पर्णवृंत और पत्तियाँ प्रायः रोमिल; रेशा प्रायः रंगीन होता है। बहुत विषममांगी समुच्चय के साथ परिवर्तनशील गुण वाले रेशे इस प्रजाति में मिलते हैं; जैसे छोटे और मोटे रेशों वाले प्ररूप से लेकर कुछ महीन तथा लम्बे रेशों वाले प्ररूप।

यह प्रजाति सर्नूम और साइनेन्स प्रजाति के साथ-साथ सम्भवतः एक ही बहुवर्षी मूल से, जो उत्तर-पूर्वी भारत में पाया जाता है, उत्पन्न हुई है। यह असम की मिझमी, लूशाई और अबोर पहाड़ियों में, पूर्वी बंगाल तथा ब्रह्मा में पाई जाती है। इस प्रजाति के कुछ छोटे तथा मोटे



चित्र 14 — गॉसीपियम आर्बोरियम प्रजाति सर्नूम (गारो पहाड़ी कपास)

रेशे वाले प्ररूप कोमिल्ला में सर्नूम प्रजाति के साथ मिलाकर बेचे जाते हैं। व्यापारिक तथा तकनीकी उद्देश्य से ये प्ररूप बंगालेन्स प्रजाति के अंतर्गत रखे जाते हैं (Hutchinson *et al.*, 93; De & Ganguli, 5th Conf. Cott.-gr. Probl. India, 1952, 6; Indian Cott. Gr. Rev., 1953, 7, 202)।

—प्रजाति सर्नूम सिलो के अंतर्गत गॉ. आर्बोरियम वैर. असायिका वाट सम्मिलित है। इस प्रजाति के व्यापारिक एवं खेतिहर नाम हैं : कोमिल्ला (अंशतः); किल; वोकापा; सोरुकापा।

यह प्रजाति लम्बोतरे ढोंडों वाली संयुक्ताक्षी रूप है। ढोंडों की लम्बाई 4 सेंमी. से कुछ अधिक होती है और प्रत्येक कोठे में 13 से लेकर 17 तक बीज होते हैं (अन्य प्रजातियों में अधिकतम सीमा 4 सेंमी. लम्बे ढोंडे तथा प्रत्येक कोठे में 11 बीज होते हैं)। तने पर्णवृंत और पत्तियाँ प्रायः अरोमिल होती हैं। रेशे प्रधानतः सफ़ेद, छोटे, मोटे और उच्च ओटाई गुण वाले होते हैं।

यह कपास वास्तविक पारिस्थितिक प्रजाति है, जो उत्तर-पूर्वी भारत की बहुवर्षी कपासों में सीमित वरण प्रवृत्तियों के फलस्वरूप जन्मे प्ररूपों का प्रतिनिधित्व करती है। यह 375–500 सेंमी. वर्षा वाले क्षेत्रों में फूलती-फलती है और अधिकतर असम के गारो पहाड़ी जिले में होती है। यह खासी, जयंतिया, मिकिर तथा नागा पहाड़ियों में भी उगाई जाती है (Hutchinson *et al.*, 94; De & Ganguli, loc. cit.)।

*गॉ. आर्बोरियम की प्रजातियों के विलुप्त पर्याप्त लक्षणों तथा जीनी संरचना विवरण के लिये देखिए [Silow, *J. Genet.*, 1944, 46, 62 (appendix)]।

—प्रजाति साइनेस सिलो के अंतर्गत निम्नलिखित उपजातियाँ आती हैं : गॉ. आर्बोरियम वैर. नेग्लेक्टा वाट (अंशतः); गॉ. नानकिंग मीयेन (वाट) अंशतः; गॉ. एनोमेलम वाट नान वावरा और पीरित्सा.

यह प्रजाति अनिवार्यतः संयुक्ताक्षी प्ररूपों वाली है. पत्तियाँ, तने एवं पर्णवृंत रोमिल से लेकर अरोमिल तक होते हैं. इसका रेशा प्रवानतः सफ़ेद होता है. नितान्त विपमांगी संकलन में रेखे छोटे तथा मोटे से लेकर लम्बे तथा साधारण वारीक होते हैं. यह प्रजाति चीन, जापान, कोरिया, फ़ारमोसा तथा मंचूरिया में उत्पन्न होती है. यह प्रजाति वापिक प्ररूप के तीन स्वतंत्र विकासों में से एक का प्रतिनिधित्व करती है जो उत्तर-पूर्वी भारत की सामान्य बहुवर्षी नस्ल से उत्पन्न हुआ है. इस क्षेत्र में एक भी बहुवर्षी रूप नहीं रह गया. ये अल्प वृद्धिकाल से प्रेरित शीघ्र फलन प्रकृति के कारण विकसित की गई हैं (Hutchinson et al., 94).

— प्रजाति सूडानेंस सिलो के अंतर्गत निम्नलिखित उपजातियाँ सम्मिलित हैं : गॉ. आर्बोरियम वैर. सेंबिनिया, नेग्लेक्टा और रोडिया वाट (अंशतः) तथा गॉ. सूडानेंस वाट.

इस प्रजाति के रूप मुख्यतः एकाक्षी तथा प्रायः अथोथारोही होते हैं. इसके तने, पर्णवृंत और पत्तियाँ जीर्णपर्णी या पूर्णतः अरोमिल होती हैं. तनों, पत्तियों और पर्णवृंतों में ऐंथोसायनिन वर्णक काफी स्पष्ट रहता है. बीज छोटे और प्रायः हरे रोमों से युक्त होते हैं. रेशा प्रायः अर्थापत, मोटा या साधारण वारीक, प्रायः सफ़ेद तथा विरलतः हल्का भूरा होता है. यह न्यून थोड़ाई किस्म है और बड़े पैमाने पर इसकी खेती कहीं भी नहीं की जाती, परन्तु घरेलू उपयोग के लिए यह उगाई जाती है. भारत में यह लगभग अज्ञात है. यह अफ्रीकी प्रजाति है, जो सूडान और पश्चिमी अफ्रीकी क्षेत्रों में मिलती है (Hutchinson, Emp. Cott. Gr. Rev., 1950, 27, 123).

G. nanking Meyen; *G. indicum* Tod.; *G. neglectum* Tod.; *G. sanguineum* Hassk.; *G. intermedium* Tod.; *G. cernuum* Tod.; *G. obtusifolium* Roxb. (in part); var. *typicum*; var. *neglectum*; race *indicum* Silow; *G. nanking* Meyen var. *roji* Watt, var. *bani* Watt (in part), var. *nadam* Watt (in part); race *bengalense* Silow; var. *sanguinea* Watt, var. *neglecta* Watt, var. *rosea* Watt; *G. nanking* Meyen var. *rubicunda* Watt, var. *bani* Watt; race *burmanicum* Silow; var. *neglecta* Watt (in part); *G. nanking* Meyen var. *nadam* Watt (in part), var. *himalayana* Watt; race *cernuum* Silow; var. *assamica* Watt; race *sinense* Silow; *G. nanking* Meyen (Watt) in part; *G. anomalum* Watt non Wawra & Peyritsch; race *soudanense* Silow; var. *sanguinea*, *neglecta*, *rosea* Watt (in part); *G. soudanense* Watt

गॉ. वावेंडेन्स लिनियस सिन. गॉ. पेरुविएनम कैवर्न; गॉ. ब्रिटफोलियम लामार्क; गॉ. ब्रैसिलिएन्स मैक्फ; गॉ. माइक्रो-कार्पम टोडारो; गॉ. मैरिटिमम टोडारो *G. barbadense* Linn. सी-आइलैंड कॉटन; मिस्री कॉटन; ब्राजिली कॉटन; पेरुई कॉटन; किडनी कॉटन

ले.-गा. वावेंडेन्स

D.E.P., IV, 15; C.P., 588; Hutchinson et al., 48, Pl. VIII & IX.

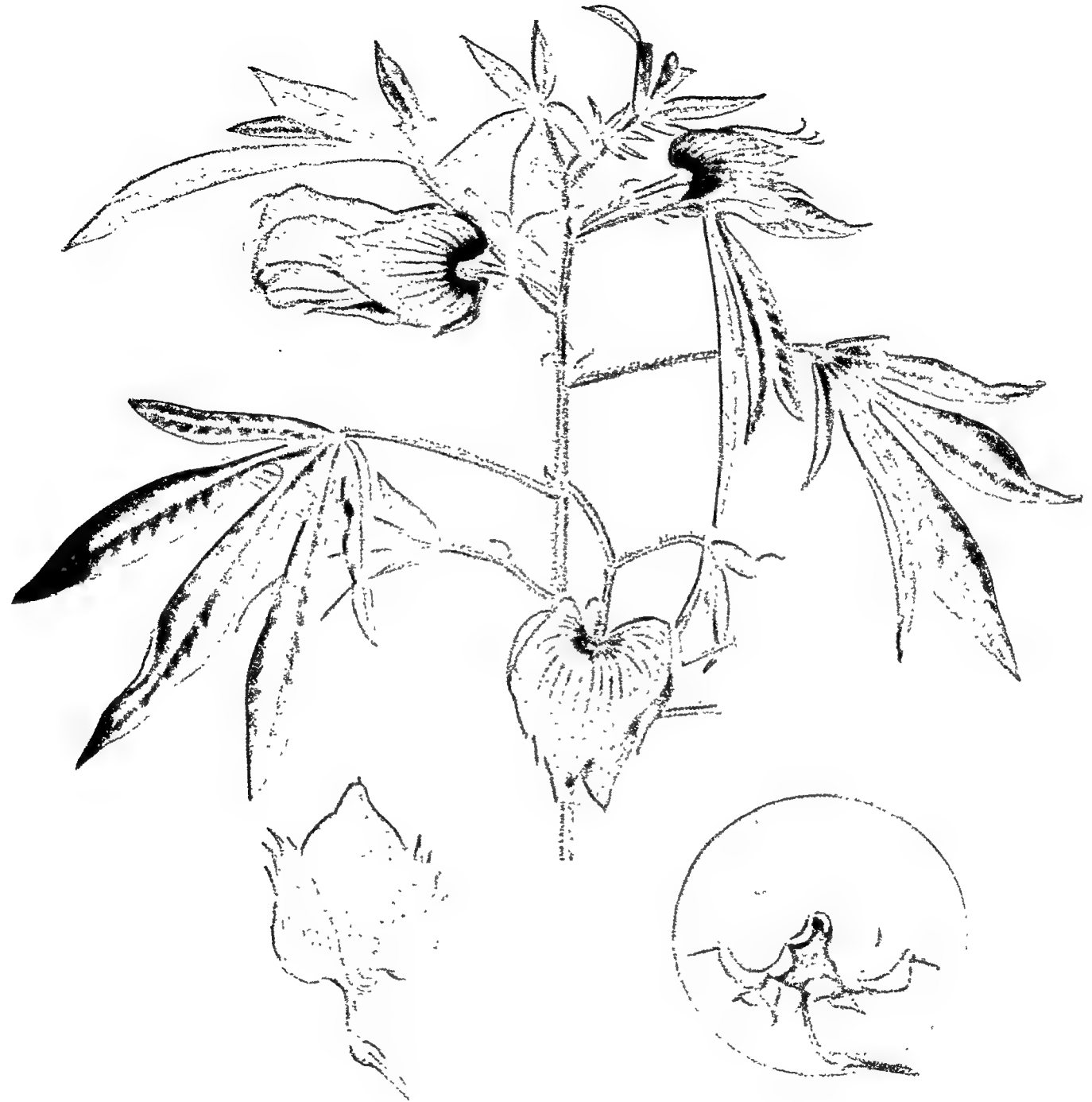
यह $n=26$ क्रोमोसोमों से युक्त नई दुनिया की चतुर्गुणित जाति है. इसके अंतर्गत बहुवर्षी आड़ियाँ या 0.9—4.5 मी. ऊँचाई तक के छोटे वृक्ष या मध्यम ऊँचाई की वापिक आड़ियाँ आती हैं. कपास के वृक्षों की यह अत्यन्त एकाक्षी जाति है लेकिन कुछ वापिक कृष्ट प्ररूप संयुक्ताक्षी या अर्धसंयुक्ताक्षी होते हैं. तने दृढ़ और बड़े प्ररूपों के तनों का विस्तार अधिक होता है. टहनियाँ तथा नई पत्तियाँ अरोमिल से लेकर सघन रोमिल तक होती हैं. पत्तियाँ बड़ी तथा तीन से पाँच पालियुक्त; पालियाँ लम्बी, गावदुम, प्रायः बलियों में घुसे हुए कोटरों सहित, आधार पर अल्प संकीर्णित; सहपत्रिकायें 10 से 15 तक लम्बाय़ दोनों वाली, जितनी लम्बी उतनी ही चौड़ी एवं हृदयाकार होती हैं. फूल बड़े, चौड़ाई में न फैलने वाले दलपुंज से युक्त प्रायः सहपत्रिकाओं से बड़े होते हैं. संपुट लम्बे, 3—4 कोष्ठीय, आधार पर चौड़े निशिताग्र, सिरे पर गावदुम तथा गत्तों की तली पर तेल-ग्रणियों से युक्त होते हैं. प्रत्येक कोष्ठ में 5—8 तक बीज रहते हैं, जो मुक्त या सहजात गुदों की आकृति जैसे तथा प्रचुर एवं समान रेशा आवरण से युक्त होते हैं. रेशा शुद्ध श्वेत या हल्के मकखनी से लेकर गहरे रक्ताभ लाल रंग का होता है. हरे रोम का आवरण पूरा, एक या दोनों सिरों पर अधूरा, या लगभग अनुपस्थित रहता है.

इस समूह का उद्गम केन्द्र उष्णकटिबंधीय दक्षिणी अमेरिका, विशेषतः इसका उत्तरी-पश्चिमी भाग है, जिसके अन्तर्गत कोलंबिया, इक्वेंडोर और पीरू आते हैं, जहाँ प्रमुख जीनों की बहुतायत है. इस समूह से सम्बंधित अनेक सुस्पष्ट प्ररूप हैं, जैसे बहुवर्षी एकाक्षी प्ररूप जिसके अन्तर्गत ब्राजिल एवं पीरू में उत्पन्न होने वाला किडनी कॉटन आता है; अर्धसंयुक्ताक्षी पेरुई प्ररूप जिसके अन्तर्गत सुजात टैम्बुइस कपास और वापिक संयुक्ताक्षी सी-आइलैंड तथा मिस्री कपास आती हैं. अन्तिम दो कपासों की विशेषता यह है कि उनका रेशा अति वारीक तथा लगभग 6 सेंमी. लम्बा होता है (Hutchinson et al., 101, Fig. 9).

गॉ. वावेंडेन्स दक्षिणी अमेरिका में अपने अत्यन्त परिवर्तनशील क्षेत्र में बहुवर्षी रूप में उगायी जाती है. वापिक प्ररूप केन्द्र से दूर के स्थानों में विकसित किए गए हैं जिसका कारण जलवायु की अपेक्षा मानव-प्रवास अधिक है. सबसे महत्वपूर्ण वरणों में से सी-आइलैंड कपास एक है



चित्र 15—गॉसीपियम वावेंडेन्स-पुष्पित तथा फलित शाखा



गॉसीपियम आर्बोरियम प्रजाति बंगालेंस (बंगाल्स देशी कपास)

जिससे गॉसीपियम वंश में अभी तक प्राप्य सम्भवतः सबसे उच्च कोटि का रेशा मिलता है। वेस्ट इंडीज के लेसर एंटिलीज तथा फ़िजी में, जहाँ यह सम लेकिन साधारण उच्च ताप, साधारण वर्षा और अपेक्षाकृत उच्च आर्द्रता में उगती है, इसका सर्वोत्तम विकास हुआ है। रेशे की अधिकतम लम्बाई और वारीकी की विशिष्ट माँग की पूर्ति के कारण उपर्युक्त स्थानों के अतिरिक्त इसकी खेती अन्यत्र नहीं की जाती। इधर पंजाब में सी-आइलैंड प्ररूपों को उगाने तथा परिस्थिति के अनुकूल करने का प्रयास हुआ है लेकिन सफलता नहीं मिली, क्योंकि इन प्ररूपों में दीमक का आक्रमण होता है और ये जलवायु की दशाओं में होने वाले परिवर्तनों से प्रभावित है। यद्यपि बढवार काफी होती थी किन्तु कपास का उत्पादन कम था। इधर सी-आइलैंड प्ररूपों को भारी वर्षा वाले मालाबार तथा दक्षिणी कनारा क्षेत्रों में उगाने का प्रयास, विशेषतः केले और नारियल के बागों में अन्तर्वर्ती फसलों के रूप में किया गया है। अन्य दो प्ररूपों, सेट विन्सेट और मान्सेरेट को भी उगाने का यत्न हुआ जिसमें दूसरे से अच्छी उपज मिली है। इसके रेशे की लम्बाई केवल 4.4 सेंमी. है जबकि मूलस्थान पर होने वाली कपास के रेशों की लम्बाई 5-6.25 सेंमी. तक होती है। सी-आइलैंड कपास जैसिड और कृष्ण शाखिका रोगों के आक्रमण के प्रति संवेदनशील है, अतः अच्छी फसल लेने और रोगों से बचाने के लिए उचित समय पर रोकथाम आवश्यक है (Brown, C. H., 154; Hutchinson, *1st Conf. Sci. Res. Workers on Cott. India*, 1937, 347; Dastur, *Indian Cott. Gr. Rev.*, 1949, 3, 121; Sivaraman, *ibid.*, 1953, 7, 149; *Rep. Indian Cott. Comm.*, 1952, 43; Sen, *Indian Text. J.*, 1951-52, 62, 553; *Indian Cott. Gr. Rev.*, 1951, 5, 234; *Rep. Indian Cott. Comm. Lab.*, 1953, 10).

बहुवर्षी नस्ल से तैयार होने वाले वार्षिक प्ररूपों की परम्परा में मिस्री कपास का दूसरा स्थान है। मिस्री कपास बहुवर्षी गॉ. बावेंडेन्स (जुमेल प्ररूप) और वार्षिक सी-आइलैंड कपास के बीच संकरण से निकली है। यह सी-आइलैंड कपास से पारिस्थितिकी रूप से सर्वथा भिन्न है और उपोष्ण कटिबंधी क्षेत्रों की सिंचाई सम्बंधी दशाओं के अनुकूल है। जल्दी उत्पन्न होने के कारण इसका व्यावहारिक महत्व है। इस समय खेती किये जाने वाले महत्वपूर्ण व्यापारिक प्ररूप इस प्रकार हैं : कार्नेक, मेनाउफी, अश्मनी तथा गीजा। इन प्ररूपों की कपास के रेशे की लम्बाई 2.8 सेंमी. (अश्मनी) से लेकर 3.75 सेंमी. (कार्नेक) तक होती है। लम्बे रेशे वाली देशी कपास की पूर्ति के लिए प्रत्येक वर्ष पर्याप्त मात्रा में इन मिस्री प्ररूपों का भारत में आयात होता है। मिस्र के अतिरिक्त सूडान, संयुक्त राज्य अमेरिका, पीरू, उत्तरी अफ्रीका तथा रूस में इन प्ररूपों का पर्याप्त उत्पादन होता है पंजाब में इन प्ररूपों में से कुछ को उगाने के प्रयत्न किये गये हैं। परन्तु कुछ जलवायु सम्बंधी तथा कायिकी कारणों से यह प्रयत्न व्यापारिक दृष्टि से असफल रहा है। हाल ही में मैसूर में किए गए परीक्षणों से उत्साहवर्धक परिणाम प्राप्त हुए हैं (Hutchinson, *1st Conf. Sci. Res. Workers on Cott. India*, 1937, 362; Hutchinson *et al.*, 103; Brown, C. H., 14, 133, 155; Sankaran, *Indian Cott. Gr. Rev.*, 1947, 1, 107; Afzal, *ibid.*, 1947, 1, 167; Dastur, *ibid.*, 1949, 3, 121; Dorasami & Iyenger, *4th Conf. Cott.-gr. Probl. India*, 1949, 8; *Indian Cott. Gr. Rev.*, 1951, 5, 1; *Rep. Indian Cott. Comm.*, 1952, 49).

गॉ. बावेंडेन्स स्क्वैड से विकसित कपासों के तीसरे समूह में पीरू के अर्ध-संयुक्ताक्षी प्ररूप आते हैं जिनमें से टैग्युइस सबसे महत्वपूर्ण है। टैग्युइस कपास के रेशों की लम्बाई लगभग 3 सेंमी. है। अपनी



चित्र 16 - गॉसीपियम बावेंडेन्स-एक बीजयुत और किडनी बीजयुत कपास के रेशे की लम्बाई

अत्यधिक सफेदी के कारण टैग्युइस कपास होजरी की बुनाई के लिए काफी पसन्द की जाती है। यद्यपि यह प्ररूप बहुवर्षी है, किन्तु प्रत्येक दो वर्ष के बाद नए पीधे लगाए जाते हैं, क्योंकि इस अवधि के बाद कपास की उपज तेजी से घटने लगती है (Brown, H. B., 81; Andrews, 423; *Cotton Tr. J. Yearb.*, 1951-52, 50; Brown, C. H., 155).

किडनी अथवा ब्राजिलीय कपास एक विशिष्ट पारिस्थितिक प्ररूप है और अपनी बड़ी पत्तियों, बड़े फूलों, लम्बे ढोंडों (लगभग 7 सेंमी. लम्बे) तथा सहजात बीजों के द्वारा सामान्य गॉ. बावेंडेन्स से भिन्न होती है। ये एक पृथक् किस्म गॉ. बावेंडेन्स वैर. बैसिलिएन्स (मैक्फ) जे. बी. हचिन्सन के अन्तर्गत आती है। यह पूर्वी उपोष्णकटिबंधी दक्षिणी अमेरिका का देशज है और अब सम्पूर्ण मध्य अमेरिका एवं वेस्ट इण्डो-चीन में पैदा की जाती है और कभी-कभी भारत तथा अफ्रीका में भी इसकी खेती की जाती है। भारत में ये प्रजातियाँ बगीचों या घर के आंगनों में पायी जाती हैं और इनके रेशों से जनेऊ बनाया जाता है जिसके लिए पहले गॉ. आर्वोरियम की देशी कपासे प्रयुक्त की जाती थी (Hutchinson *et al.*, 50).

G. peruvianum Cav.; *G. vitifolium* Lam.; *G. brasiliense* Mac.; *G. microcarpum* Tod.; *G. maritimum* Tod.

गॉ. हर्वेसियम लिनियस सिन. गॉ. *आब्ज्यूसिफोलियम*
रॉक्सवर्ग (अंशतः); गॉ. *वाइटियानम* टोडारो *G.*
herbaceum Linn. लेवण्ट कॉटन

ले.—गा. हेवसेऊम

D.E.P., IV, 25; C.P., 575, 582; Hutchinson *et al.*,
34, Pl. V.

यह पुरानी दुनिया की $n=13$ क्रोमोसोमों से युक्त द्विगुणित जाति है। इसमें मोटे तथा दृढ़ तने वाली 60 सेमी. से 2.4 मी. ऊँची छोटी झाड़ियाँ होती हैं जिनकी टहनियाँ और नई पत्तियाँ कहीं रोमिल तो कहीं अरोमिल होती हैं। पत्तियाँ चौड़ी, आधी फटी और 3-7 पालियों वाली; पालियाँ अंडाकार गोल तथा आधार पर संकीर्णित, सहपत्रिकाओं के कोर पर 6-8 क्रकचीय दाँतो-युक्त, बड़ी त्रिभुजाकार, फूल या संपुट से अधिक फैली हुई प्रायः लम्बाई से अधिक चौड़ी; फूल भेंडोले आकार के पीले और नील-नोहित केन्द्र युक्त तथा बहुत कम श्वेत; संपुट गोल, बिरल उभरे हुए, चंचुमुखी, चिकने पृष्ठ एवं अल्प तेल-ग्रंथि युक्त और 3-4 गह्वरों से युक्त और पकने पर धीरे-धीरे खुलने वाले; बीज पर रोमों के दो आवरण; रेशे के रोमों का रंग सफ़ेद, धूसर या लाल-भूरा; रोएँ लगभग रेशे के रंग के और बीज पर एक समान रूप से वितरित और कुछ में अनुपस्थित रहते हैं।

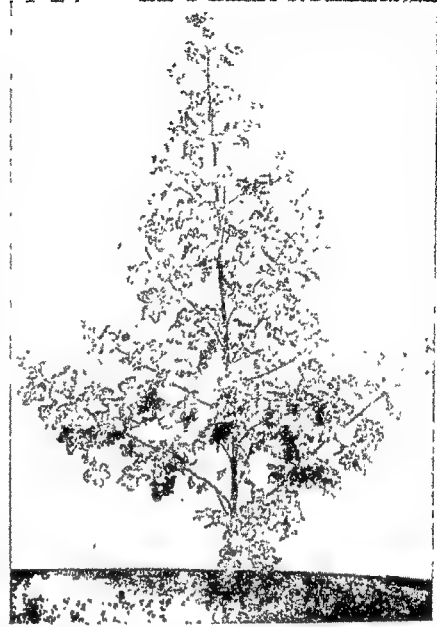
यह जाति अफ्रीका, मध्य पूर्वी देशों, मध्य एशिया और पश्चिमी भारत में मिलती है। बलूचिस्तान, ईरान, अफगानिस्तान और रूसी तुकिस्तान इसके अति परिवर्तनशील क्षेत्र हैं। बलूचिस्तान में आद्य बहुवर्षी प्ररूप मिलने की सूचना है और कहा जाता है कि कृष्ट वाणिज्य प्ररूप का विकास यही हुआ है जो भारत, चीन एवं मध्य पूर्वी देशों के पड़ोसी क्षेत्रों में फैल गया है। इसका कोई भी बहुवर्षी प्ररूप भारत में नहीं मिलता है। भारत में गॉ. हर्वेसियम प्ररूप के उद्भव एवं वर्तमान स्थिति के विस्तरेण से यह संकेत मिलता है कि इस जाति में वाणिज्य प्रकृति गॉ. *आबोेरियम* की अपेक्षा पहले ही उत्पन्न हो चुकी थी (Hutchinson *et al.*, 88, Fig. 8).

व्यापारिक दृष्टि से भारत में उगाई जाने वाली इस जाति की कपासों में मध्यम रेशे वाली कपासों का काफ़ी प्रतिशत होता है। महाराष्ट्र और गुजरात में उत्पन्न होने वाली कपास अधिकतर। इसी जाति की है। गॉ. *आबोेरियम* प्ररूप की तुलना में इस जाति के प्ररूप लम्बी अवधि वाले तथा नमी को सुरक्षित रखने वाली गहरी मिट्टियों के अन्तरूप है। गॉ. *आबोेरियम* की प्रजातियों के विपरीत इस जाति की प्रजातियों की उच्चतम उत्पादन सीमा, रेशे की लम्बाई, रेशों के भार तथा उनकी परिपक्वता घटिया होती है (Ayyar, *Proc. Ass. econ. Biol. Coimbatore*, 1936, 4, 80).

गॉ. *आबोेरियम* की तरह इस जाति के अन्तर्गत कृष्ट प्रजातियों की संख्या काफ़ी है। इनमें से पाँच प्रजातियाँ प्रसिद्ध हैं: दक्षिणी मध्य एशिया की पसिकम, चीनी मध्य एशिया की कुलजियानम, उत्तरी अफ्रीका और अरब की एसीरिफोलियम, पश्चिमी भारत की वाइटियानम और दक्षिणी अफ्रीका की अफ्रीकानम प्रजातियाँ (Hutchinson, *Emp. Cott. Gr. Rev.*, 1950, 27, 123).

—प्रजाति वाइटियानम जे. बी. हचिन्सन सिन. गॉ. *आब्ज्यूसिफोलियम* रॉक्सवर्ग वर. वाइटियाना वाट (अंशतः); गॉ. हर्वेसियम वर. फ्रुटिसेन्स डेलाइल; गॉ. हर्वेसियम वर. एसीरिफोलियम (गिलाडमीन तथा पेरोटेट) कवैलियर (अंशतः).

इस प्रजाति के व्यावसायिक एवं कृषि सम्बंधी नाम इस प्रकार हैं :



चित्र 17 — गोतीपियम हर्वेसियम प्रजाति वाइटियानम (मटौच-9)

धीलेरा (मैथिली के अतिरिक्त); वागाड; भड़ौच विजय; सुरती-सुरोग; कुम्पटा; जयधर; जयवंत; वेस्टन (हगारी-1); उप्पम.

ये बड़ी वाणिज्य झाड़ियाँ हैं जिनके तने मजबूत और प्रायः आरोही, वर्षी शाखाओं वाले; टहनियाँ तथा पत्तियाँ सघन रोमिल होती हैं। पत्तियाँ अपेक्षाकृत बड़ी, प्रायः मोटी सुरीदार, जिनमें से दो-तिहाई पाँच पालियों में बँटी हुई तथा कोटर मोड़दार होते हैं। ठोड़ी बड़ी, समान्तर भुजोय तथा उभरे स्कोंधों से युक्त होती हैं, पकने पर एकदम खुल जाती हैं, चिटख जाती हैं और शेष बन्द रहती हैं (वागाड में). बीज काफ़ी बड़े और रोयेदार; रेशा भरपूर और उच्च कोटि का होता है।

इस प्रजाति में भारत में उगने वाली गॉ. हर्वेसियम के लगभग सब प्ररूप आ जाते हैं। कच्छ से मद्रास तक भारत के कपास उगाये जाने वाले सम्पूर्ण क्षेत्र में यह प्रजाति फैली हुई है। गुजरात इस प्रजाति की परिवर्तनशीलता का केन्द्र है जहाँ सभी प्ररूप मिलते हैं (Hutchinson, *1st Conf. Sci. Res. Workers on Cott. India*, 1937, 347; *Emp. Cott. Gr. Rev.*, 1950, 27, 123).

G. obtusifolium Roxb. (in part); *G. wightianum* Tod.; race *persicum*, *kuljianum*, *acerifolium*, *wightianum*, *africanum*; *G. obtusifolium* Roxb. var. *wightiana* Watt (in part); *G. herbaceum* var. *frutescens* Delile, var. *acerifolium* (Guill. et Perr.) Cheval. (in part)

गॉ. हिर्सुटम लिनियस सिन. गॉ. मेक्सिकानम टोडारो;
गॉ. रेलिजियोसम लिनियस; गॉ. पंकटैटम शुमाखर तथा
थोनिंग; गॉ. परपुरेसेन्स पायर G. hirsutum Linn.

अमेरिकी कॉटन; बूरवान कॉटन; अपलैंड कॉटन

ले.—गॉ. हिर्सुटम

D.E.P., IV, 17; C.P., 585; Hutchinson *et al.*, 40,
Pl. VI & VII.

यह $n=26$ क्रोमोसोमों से युक्त नई दुनिया की चतुर्गुणित जाति है। इसके अन्तर्गत 90 सेंमी. से लेकर 4.5 मी. ऊँची बहुवर्षी या वार्षिक झाड़ियाँ आती हैं। इसके तने प्रायः हरे, भूरे या रक्तभास भूरे होते हैं। पत्तियाँ छोटी या लम्बी, हृदयाकार, आधी से लेकर दो तिहाई पत्तियाँ 3-5 पालियों में कटी, जो खुले या अल्प अतिव्यापी कोटरों से युक्त, चौड़ी, त्रिभुजाकार या अंडाकार लम्बाग्र होती हैं; सहपत्रिकाएँ चौड़ाई से अधिक लम्बी, हृदयाकार तथा 7-12 लम्बाग्र दांतों से युक्त, संपुट कुछ अस्पष्ट तेल-ग्रथियों से युक्त, आकार में परिवर्तनशील, गोल तथा 3-5 गह्वरमय होते हैं। बीज रेशेदार; रेशे गुणों में परिवर्तनशील, सफ़ेद, भूरे या मोर्चई रंग के होते हैं।

इस जाति की परिवर्तनशीलता का केन्द्र मध्य अमेरिका है। इसके अनेक प्ररूप हैं और वे प्रायः समूहों, उपजातियों या प्रजातियों में वर्गीकृत हैं। इनके उचित निर्धारण के सम्बंध में काफी वाद-विवाद हुआ है। मध्य अमेरिका में तैयार किये गये एक नवीन एवं बड़े संग्रह के मूल्यांकन से सिद्ध हुआ है कि इस जाति में भौगोलिक दृष्टि से अंतर्जातीय विभेदन अच्छी तरह हुआ है जैसा गॉ. आर्बोरियम और गॉ. हर्बेसियम में होता है। अब यह जाति सात प्रजातियों में वर्गीकृत हुई है जिनमें से छः मोरिली, रिचमंडो, पालमेरी, पंकटैटम, यूकैटेनेन्स तथा मेरी-गैलेंटी बहुवर्षी हैं और लैटिफोलियम सामान्यतः एकवर्षी है। पंकटैटम, मेरी-गैलेंटी तथा लैटिफोलियम केवल तीन प्रजातियाँ हैं जो मध्य अमेरिका के बाहर तक फैली हुई हैं। कृषि की दृष्टि से लैटिफोलियम अधिक महत्व की है क्योंकि इसके अन्तर्गत अपलैंड कॉटन आती है, जो अमेरिका, अफ्रीका तथा एशिया के बहुत अधिक क्षेत्रों में उपजती है (Hutchinson *et al.*, 104, Fig. 10; Hutchinson, *Heredity*, 1951, 5, 161; *Res. Mem. Emp. Cott. Gr. Corp.*, No. 12, 1951).

—प्रजाति पंकटैटम जे. बी. हचिन्सन

इस प्रजाति के अन्तर्गत गॉ. हिर्सुटम वैर. रेलिजियोसा वाट; तथा गॉ. टैटेन्स पालाटोर सम्मिलित हैं।

इस प्रजाति की झाड़ियाँ विस्तृत शाखाओं वाली और पतले तनों से युक्त होती हैं। तने तथा नई पत्तियाँ पूर्ण अरोमिल या लगभग अरोमिल होती हैं। इसकी पत्तियाँ हृदयाकार तथा तीन हल्की कुंठाग्र पालियों में कटी होती हैं। ढोंडें मध्यम या छोटी होती हैं। रेशा भी छोटा होता है।

गॉ. हिर्सुटम की यह सबसे अधिक ज्ञात बहुवर्षी प्रजाति है। यद्यपि यह मध्य अमेरिका की देशज है लेकिन पुरानी दुनिया में अच्छी तरह अनुकूलित हो गई है और घरेलू वगीचों में प्रायः उगायी जाती है। यह तमिलनाडु की नाडम कपास का बूरवान वंश है। इसमें जलवायु और मिट्टी की प्रतिकूल दशाओं में उगने की क्षमता है तथा कीटों और रोगों का प्रतिरोध करने की इसमें असाधारण क्षमता है। यह कृष्ण शाखिका की प्रतिरोधी है (Hutchinson, *Heredity*, 1951, 5, 161; Hutchinson *et al.*, 43, 46, 107).

—प्रजाति मेरी-गैलेंटी जे. बी. हचिन्सन

इस प्रजाति में बहुवर्षी बड़ी झाड़ियाँ या छोटे वृक्ष होते हैं जिनके मुख्य तने स्पष्ट होते हैं तथा अनेक लम्बी, आरोही एवं वर्षी शाखाएँ

होती हैं। टहनियाँ और पत्तियाँ प्रायः अरोमिल, कभी-कभी विरलतः रोमिल तथा विरल सघन घन रोमिल; पत्तियाँ लम्बी, हृदयाकार, तीन या विरलतः पाँच पालियों में कटी होती हैं। यह प्रजाति पुष्पित दीप्तकालिक है। इसमें छोटे दिनों वाले महीनों अर्थात् जाड़ों में फूल लगते हैं। संपुटों का विस्तार परिवर्तनशील होता है। ये प्रायः निशिताग्र सिरे से युक्त गोल होते हैं। बीज छोटे, कम लम्बे, अधिक तथा प्रायः घूसर रेशों से युक्त होते हैं।

इस प्रजाति में बड़ी से बड़ी और वृक्ष जैसी कपासें सम्मिलित हैं। यह जंगलों में पाई जाती है। वेस्ट इण्डोज, उत्तरी और पूर्वी ब्राजील, दक्षिणी अमेरिका के पश्चिमी किनारे से लेकर इक्वेडोर तक इसकी खेती की जाती है। इसकी पारिस्थितिक सहनशीलता बहुत अधिक है। यह प्रजाति 37.5 सेंमी. से लेकर 250 सेंमी. तक वार्षिक वर्षा वाले भागों में पाई जाती है लेकिन अभिलाक्षणिकतः यह कम वर्षा वाले भागों की कपास है। बहुवर्षी कपास की माँग के कारण इस प्रजाति में पर्याप्त अन्तर आये हैं और इसमें ढोंडों के आकार, बीज प्ररूप, रेशे की लम्बाई और गुण में भिन्नता दिखाने वाले कई प्ररूप पाये जाते हैं। ब्राजील की मोको कपास, जो अब भारत में उपर्युक्त बहुवर्षी कपास के रूप में घरेलू वगीचों में उगाने के लिए लोकप्रिय बनाई जा रही है इसी प्रजाति के अन्तर्गत आती है (Hutchinson *et al.*, 43, 106; Hutchinson, *Heredity*, 1951, 5, 161; *Symposium on Perennial Cottons*, Indian Cott. Comm., 1952).

—प्रजाति लैटिफोलियम जे. बी. हचिन्सन

इस प्रजाति के व्यापारिक एवं खेतिहर नाम इस प्रकार हैं : पंजाब और उत्तर प्रदेश अमेरिकन, धारवाड़ अमेरिकन, बूड़ी, परभणी अमेरिकन, मैसूर अमेरिकन, कम्बोडिया, राजपालयम तथा मद्रास उगांडा।

यह प्रजाति फैलने वाली आरोही शाखाओं से युक्त वार्षिक झाड़ी है। इसके तने प्रायः सीधे किन्तु कभी-कभी टेढ़े-मेढ़े होते हैं। तने का सिरा और पत्तियाँ अरोमिल अथवा विरल या सघन रोमिल होती हैं। पत्तियाँ छोटी हृदयाकार, आधी या इससे कम पत्तियाँ 3-5 अपसारी पालियों में कटी हुई; पालियाँ चौड़ी त्रिभुजाकार निशिताग्र या लम्बाग्र सिरों से युक्त; ढोंडें गोल, अंडाकार या लम्बी या चौड़ाई में खुली; बीज सफ़ेद, हल्के पीले, हल्के भूरे या मोर्चई भूरे रेशों से युक्त रोएँदार या गुच्छेदार तथा रोएँ सफ़ेद, हरे या भूरे होते हैं।

इस प्रजाति के अन्तर्गत मध्यम से लेकर बहुत बड़े ढोंडों और मध्यम से अच्छे-अच्छे गुण वाले सघन रेशों से युक्त प्ररूपों की अनेक कोटियाँ हैं। इस प्रजाति के अन्तर्गत संसार में सबसे अधिक कृष्य प्ररूप आते हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका में उगाई जाने वाली अधिकांश कपासें इसी प्रजाति की हैं। इसी प्रकार मैक्सिको, ब्राजील, अर्जेंटाइना, तुर्की, पाकिस्तान, उगाण्डा, टंगानिका और सूडान में उत्पन्न होने वाले कपास के अधिकांश प्ररूप इस प्रजाति के अन्तर्गत आते हैं।

भारत में इस प्रजाति का प्रवेश दो विभिन्न मार्गों से हुआ। उत्तरी और मध्य भारत में उगाए जाने वाले अपलैंड जाजियन और न्यू आर्लिअन्स प्ररूप अमेरिकी कपास क्षेत्र से बम्बई में प्रचलित हुए हैं जबकि दक्षिण भारत में उगाए जाने वाले कम्बोडिया प्ररूप हिन्द-चीन से होकर, जहाँ वह सीधे मैक्सिको से आये थे। दोनों ही प्ररूपों की काफी छँटनी हुई है और इनसे तीन प्रमुख कृष्य समूह विलग हुए हैं, जिनके नाम हैं : उत्तरी भारत के मैदान के पंजाब और उत्तर प्रदेश अमेरिकन, प्रायद्वीपी भारत का मालवा अपलैंड, बूड़ी और धारवाड़ अमेरिकी तथा दक्षिणी भारत का कम्बोडिया प्ररूप। यद्यपि कम्बोडिया प्ररूप वाद में प्रचलित हुआ है, किन्तु दीर्घकाल तक दक्षिणी-पूर्वी एशिया की दशाओं के अन्तर्गत इसकी छँटनी होती रही है और इस प्रजाति में अब ज्ञात जैसिड

प्रतिरोधकता की उच्चतम सीमा का विकास हुआ है। ये प्ररूप हाल के वर्षों में देश के उत्तरी क्षेत्रों में फैल गए हैं (Afzal, *Indian Fmg.*, 1946, 7, 341, 457, Kottur, *Bull. Dep. Agric. Bombay*, No. 106, 1920, Hilson, *Agric. J. India*, 1921, 16, 235; Hutchinson *et al.*, 109; Hutchinson, *Heredity*, 1951, 5, 161).

इस समय भारत में कृष्ण लम्बे रेशों की कपासों के अधिकांश प्ररूप इस प्रजाति के अन्तर्गत आते हैं। इनका प्रचलन और फिर इनका विस्तार दो कारकों से नियन्त्रित होता है; ये हैं विपरीत जलवायु और भूमि दशाओं को सह लेने की क्षमता तथा नाशक-कीटों एवं रोगों के प्रति प्रतिरोधकता। भारत में उगाई जाने वाली अधिकांश अमेरिकी कपासों गॉ. आर्बोरियम और गॉ. हर्बिसियम की अपेक्षा कम सहिष्णु हैं और काली कपासी मिट्टी के लिए अनुपयुक्त हैं। इन्हें उच्चस्तरीय खेती की आवश्यकता होती है और अधिक वर्षा या सिंचाई के अन्तर्गत इनकी उपज अच्छी होती है। भारतीय जलवायु तथा मिट्टी के अनुरूप उत्कृष्ट जैव प्रकारों के विकास में जो मुख्य बाधा आती है वह वर्तमान प्ररूप में पर्याप्त परिवर्तनशीलता का न पाया जाना है। इन प्ररूपों में जो कुछ परिवर्तनशीलता थी वह पारिस्थितिक अनुकूलन की लम्बी अवधि में विलुप्त हो गई है। यह सुझाव दिया गया है कि उच्च परिवर्तनशीलता वाले प्ररूपों का विशेषतः जो जंगली रूपों में पाये जाते हैं, प्रचलन किया जाए जिससे उनका उपयोग वरण या संकरण के लिए किया जा सके। मध्य अमेरिका से प्राप्त उपर्युक्त प्रकार के प्ररूपों के एक छोटे संग्रह का हाल ही में परीक्षण किया गया है (Ramanatha Ayyar, *Proc. Indian Sci. Congr.*, 1946, pt II, 155; Rajulu, *Indian Cott. Gr. Rev.*, 1953, 7, 308).

जंगली कपासों

गॉसोपियम की जंगली जातियाँ बहुधा उष्ण और उपोष्णकटिबंधों के शुष्क प्रदेशों में पाई जाती हैं तथा नई और पुरानी दुनियाँ के सभी देशों में उनके होने के प्रमाण प्राप्त हैं। पृथक्-पृथक् जातियाँ सीमित क्षेत्रों में पायी जाती हैं और कृष्ण जातियों की अपेक्षा कम भिन्नता प्रदर्शित करती हैं। मोटे तौर पर उन्हें दो वर्गों में विभाजित किया जाता है वे जिनमें $n=13$ क्रोमोसोम और वे जिनमें $n=26$ क्रोमोसोम होते हैं। पहले वर्ग में पुरानी और नई दुनियाँ दोनों में पाये जाने वाले प्ररूप सम्मिलित हैं। पुरानी दुनियाँ में पाये जाने वाले प्ररूप हैं: (1) गॉ. स्टुर्टाई एफ. म्यूलर; (2) गॉ. राबिन्स-नाई एफ. म्यूलर, (3) गॉ. ट्राइफिलम हाखरायेटिनर; (4) गॉ. एनोमेलम वावरा और पीरित्वा (नान वाट) - (5) गॉ. एरीसिएयानम जे. वी. हचिन्सन; (6) गॉ. स्टाकसाई मास्टर्स; और (7) गॉ. सोमालेन्स जे. वी. हचिन्सन। इनमें पहले दो प्ररूप ऑस्ट्रेलिया में पाये जाते हैं। गॉ. ट्राइफिलम और गॉ. एनोमेलम अफ्रीका, अगोला, सूडान, एरिट्रिया और सोमालीलैंड में पाये जाते हैं। गॉ. स्टाकसाई सिन्ध और दक्षिण पूर्व अरब देशों में तथा गॉ. सोमालेन्स सूडान और सोमालीलैंड में पाया जाता है। इनमें गॉ. एनोमेलम अपेक्षाकृत अधिक भागों में पाया जाता है और गॉ. आर्बोरियम के साथ संकरण के काम में लाया गया है। इससे उर्वर संकर प्राप्त हुये हैं। गॉ. आर्बोरियम के साथ गॉ. स्टाकसाई के संकर अनुवंश सिद्ध हुये हैं (Hutchinson *et al.*, 62, Fig. 4; Afzal, *Indian Fmg.*, 1946, 7, 276; Afzal *et al.*, *Indian J. Genet.*, 1945, 5, 82; Deodikar, *Indian J. agric. Sci.*, 1949, 19, 389; Afzal & Trought, *ibid.*, 1933, 3, 334).

नई दुनियाँ के प्ररूप जिनमें $n=13$ क्रोमोसोम हैं, कुछ प्ररूप इस प्रकार हैं: (1) गॉ. एरिडम स्कोव्स्टेड; (2) गॉ. आर्बोरीयानम कीर्नी; (3) गॉ. हार्कनेसाइ ब्राण्डगी; (4) गॉ. क्लोत्सशिफानम एण्डर्सन वैंर. डैविडसोनाई जे. वी. हचिन्सन (सिन. गॉ. डैविडसोनाई केलाग) सहित; (5) गॉ. रैमोण्डाइ उल्लिच, (6) गॉ. थूरबेरी टोडारो; (7) गॉ. ट्राइलोवम कीर्नी; और (8) गॉ. गॉसोपिया-यडोस स्टेंडले। ये सभी प्ररूप मध्य अमेरिका में या तो कैलीफोर्निया के समुद्रतट के साथ अथवा मैक्सिको के कुछ भागों में या दक्षिण में पीरू तक पाये जाते हैं। इनमें से अधिकांश प्ररूप कृष्ण जातियों के साथ संकरण के लिये प्रयुक्त होते हैं। जंगली प्ररूपों के कुछ उपयोगी लक्षणों को कृष्ण प्रकारों में प्रविष्ट करने के उद्देश्य से भारत में अध्ययन किया गया है। उदाहरणार्थ गॉ. थूरबेरी में प्राप्त डोडाकमिरोध और गॉ. रैमोण्डाइ में प्राप्त जैसिड रोध जैसे लक्षणों को कृष्ण प्रकारों में समाविष्ट करने के प्रयत्न किये गये हैं (Hutchinson *et al.*, 57, Fig. 1; Margabandhu, *2nd Conf. Cott.-gr. Probl. India*, 1941, 172; Ganesan, *3rd Conf. Cott.-gr. Probl. India*, 1946, 80; 5th Conf. Cott.-gr. Probl. India, 1952, 21).

$n=26$ क्रोमोसोम वाली जंगली कपासें बहुधा पालिनेशिया में पाई जाती हैं और इनमें निम्न जातियाँ सम्मिलित हैं: (1) गॉ. टोमेण्डोसम नटाल (हवाई द्वीप समूह); (2) गॉ. टैटेंस पालाटोर (फिजी और टाहिटी द्वीपसमूह); और (3) गॉ. डाविनाइ वाट (गालापोगस द्वीप-समूह)। अब यह दिखाया जा चुका है कि गॉ. टैटेंस, गॉ. हिंसुंम की पारिस्थितिक प्रजाति है और गॉ. डाविनाई, गॉ. बाबेंडेन्स की एक किस्म है। सभी जातियाँ $n=26$ क्रोमोसोम वाली कृष्ण कपासों के साथ उर्वर कर देती हैं (Hutchinson *et al.*, 38, 43, 51).

कपास की खेती

कपास की सबसे पहले खेती करने और उसके रेशों से वस्त्र बनाने के कारण भारत का विशेष स्थान है। इस बात के प्रमाण मिले हैं कि कपास की खेती मोहनजोदड़ो काल में की जाती थी। सम्भवतः यह काल 2,750-3,000 ई. पू. था (Brown, H.B. 2; Gulati & Turner, *J. Text. Inst.*, 1929, 20, T1-T9; *Technol. Bull. Indian Cott. Comm.*, Ser. B, No. 3, 1928).

यद्यपि कपास मुख्यतः उष्णकटिबंधीय फसल है किन्तु इसकी खेती उत्तर में 40° और दक्षिण में 28° अक्षांश तक की जाती है। दुनिया के कुछ मुख्य कपास उत्पादक देश निम्नलिखित हैं - एशिया में भारत, पाकिस्तान और चीन, अफ्रीका में मिस्र, सूडान, उगाण्डा और कांगो, यूरोप में रूस और तुर्की; उत्तरी अमेरिका में संयुक्त राज्य अमेरिका, मैक्सिको तथा दक्षिण अमेरिका में ब्राजील और अर्जेंटीना 1947 में विभाजन से पहले दुनिया के कपास उत्पादक देशों में अमेरिका के बाद भारत का दूसरा स्थान था किन्तु अब भारत का चौथा स्थान है यही नहीं, अब तो भारत की अपेक्षा रूस और चीन में अधिक कपास पैदा होती है (*World Fibre Survey*, F.A.O., 1947, 47, *Industrial Fibres*, Commonwealth Econ. Comm., 1954, 16).

भारत में कपास की फसल अपेक्षाकृत शुष्क भागों में होती है। भारत में कुल मिलाकर जितने क्षेत्र में कपास की खेती की जाती है उसका आधा प्रायद्वीपीय भाग में स्थित है जिसके अन्तर्गत महाराष्ट्र, मध्य प्रदेश, आंध्र प्रदेश, तमिलनाडु और मैसूर आते हैं। इसके अलावा कपास की खेती पंजाब, हरियाणा, पश्चिमी उत्तर प्रदेश और असम में भी की जाती

है। यह बंगाल, विहार, उड़ीसा तथा पश्चिमी तट में मुख्य फसल के रूप में नहीं बोई जाती।

भारत में कपास के अनेक प्ररूप उगाये जाते हैं जो गाँ. आर्बोरियम, गाँ. हर्बेसियम और गाँ. हिर्मुटम से सम्बंधित हैं। गाँ. वाबेडेन्स से सम्बंधित प्ररूपों की खेती व्यापारिक मात्रा में कहीं नहीं की जाती, यद्यपि इसके बहुवारिक प्ररूप कई प्रान्तों में घरों के आस-पास उगाये जाते हैं। अधिकांश फसल तो दो एशियाई जातियों से प्राप्त की जाती है जिन्हें सामान्यतः “देशी कपास” कहते हैं। गाँ. हिर्मुटम से सम्बंधित कपास के प्ररूपों

की खेती तमिलनाडु, महाराष्ट्र, मध्य प्रदेश और पंजाब में पर्याप्त मात्रा में की जाती है और इन्हें “अमेरिकी कपास” कहते हैं। व्यापार और कृषि के उद्देश्य से भारत में पैदा की जाने वाली विभिन्न प्रकार की कपासों का वर्गीकरण इन्हीं दो श्रेणियों में किया जाता है और उन्हें क्षेत्रीय अथवा स्थानीय नामों से सम्बंधित किया जाता है। कई नामों के साथ ऐतिहासिक पृष्ठभूमि जुड़ी होती है। सारणी 1 में कपास के विभिन्न प्ररूपों के लक्षण तथा उनके व्यापारिक अथवा कृषि सम्बंधी नाम संक्षेप में दिए हुए हैं (Ramiah, *Description of Cotton*

सारणी 1 — भारत में व्यापारिक कपासों के लक्षण*

व्यापारिक नाम	जाति	प्रदेश जहाँ उगायी जाती है	रेशे की लम्बाई (0.79 मिमी. या 1/32 इंच)	मिल घमन कक्ष में हानि (%)	कटाई क्षमता (समावलन- गणना)	क्षेत्रफल** (1,000 हेक्टर)	उत्पादन** (1,000 गाँठ) ‡
लम्बा रेशा (22 मिमी. या १ इंच या इससे अधिक)							
मैसूर अमेरिकी	गाँ. हिर्मुटम प्रजाति लैटिफोलियम	मैसूर	33-34	6	32's	174.4	139
मद्रास अमेरिकी	„	तमिलनाडु, महाराष्ट्र और उड़ीसा	28-34	5-8	22's/32's	135.2	152
बाम्बे अमेरिकी	„	महाराष्ट्र, आन्ध्र प्रदेश और मैसूर	29-30	6	32's	238.0	89
मध्य प्रदेश अमेरिकी	„	मध्य प्रदेश	28-30	9	28's	139.2	54
पंजाब अमेरिकी	„	उत्तर प्रदेश, पंजाब, तमिलनाडु और हरियाणा	26-30	6-12	24's/32's	326.8	485
हैदराबाद अमेरिकी एच-420	„	आन्ध्र प्रदेश	28	8-10	24's/28's	298.0	72
	गाँ. आर्बोरियम प्रजाति इंडिकम प्रजाति सन्नूम	मध्य प्रदेश और आन्ध्र प्रदेश	28	4	24's/30's	156.0	67
हैदराबाद गावोरानी	गाँ. आर्बोरियम प्रजाति इंडिकम	आन्ध्र प्रदेश	28-30	6-13	24's/28's	426.0	155
सूरती-सुयोग	गाँ. हर्बेसियम प्रजाति बाइडियानम	महाराष्ट्र	28-30	7-8	24's/28's	223.6	186
सदन्स-जयधर और जयवन्त	„	महाराष्ट्र, आन्ध्र प्रदेश और मैसूर	26-29	10-12	26's/30's	245.6	98
सदन्स कर्केंगब्रीस	गाँ. आर्बोरियम प्रजाति इंडिकम	तमिलनाडु	28-29	7	26's/28's	144.4	82
मध्यम रेशा (17.4 -21.4 मिमी. या १ 1/8-१ 1/4 इंच)							
उ. प्र. अमेरिकी	गाँ. हिर्मुटम प्रजाति लैटिफोलियम	उत्तर प्रदेश	24-28	9	22's/26's	14.4	12
मध्य भारत और राजस्थान अमेरिकी	„	मध्य भारत, राजस्थान तथा अजमेर	24-26	7-11	18's/20's	137.2	67
ऊमर-जरीला (विरनार सहित)	गाँ. आर्बोरियम प्रजाति बंगालेन्स	महाराष्ट्र, मध्य प्रदेश, मध्य भारत और आन्ध्र प्रदेश	24-28	9-13	22's/24's	1003.6	486
ऊमर-बोरम	„	मध्य प्रदेश	24-26	9	20's/22's	149.2	65
मालवी	„	मध्य भारत और राजस्थान	22-24	10-12	14's/16's	485.2	258

क्रमशः

सारणी 1 — क्रमशः

व्यापारिक नाम	जाति	प्रदेश जहाँ उगायी जाती है	रेणे की लम्बाई (0.79 मिमी. या 1/32 इंच)	मिल धमन कक्ष में हानि (%)	कताई धमता (समावलन- गणना)	क्षेत्रफल** (1,000 हेक्टर)	उत्पादन** (1,000 गांठ)‡
भड़ीच — विजय	गाँ. हर्वेसियम प्रजाति वाइटियानम	महाराष्ट्र	24-28	5-6	24's-26's	448.8	428
गुजरात, सीराप्ट और कच्छ डोलैरा	गाँ. हर्वेसियम प्रजाति वाइटियानम	महाराष्ट्र और कच्छ	21-26	12-15	14's/18's	431.2	239
कल्याण डोलैरा	"	महाराष्ट्र	26-27	6	20's	219.2	224
सदन्त — कुम्हटा	"	मैसूर और आन्ध्र	22-28	14-16	14's/22's	146.4	31
सदन्त — वेस्टन्त	"	आन्ध्र और मैसूर	22-26	10-13	16's/24's	124.0	31
सदन्त — व्हाइट एंड रेड नार्दन्त	गाँ. आर्बोरियम प्रजाति इंडिकम	आन्ध्र	26-28	8	22's	45.6	12
सदन्त — वारंगल और कोकण	"	आन्ध्र प्रदेश और तमिलनाडु	22-26	6-10	14's	33.6	14
सदन्त — तिन्नेवेलीसा† छोटा रेशा (18 मिमी. या ¾" से कम)	"	तमिलनाडु	24-26	6-8	16's	43.2	27
बंगाल-पंजाब देशी	गाँ. आर्बोरियम प्रजाति बंगालेन्स	पंजाब और हरियाणा	14-18	9-11	8's/10's§	149.2	183
" उ प्र देशी	"	उत्तर प्रदेश, दिल्ली, बिहार, उड़ीसा, प. बंगाल, मध्य भारत और राजस्थान	14-18	9-11	8's/10's§	59.2	37
बंगाल-राजस्थान देशी	"	राजस्थान	12-16	9-11	8's/10's§	13.12	89
मध्य भारत ऊमर	"	मध्य भारत और राजस्थान	16-20	12-13	8's/12's	48.8	25
मध्य प्रदेश (मध्य प्रदेश, बरार और निमाड़) ऊमर	"	मध्य प्रदेश	18-22	7-10	8's/16's	649.2	274
हैदराबाद ऊमर	"	आन्ध्र प्रदेश	18-20	9-11	8's/12's§	188	59
खानदेश और बर्सी नगर ऊमर	"	महाराष्ट्र	18	9-11	10's/12's§	57.2	29
डोलैरा — मैथिली	"	महाराष्ट्र	16-18	15	10's/12's§	120	79
सदन्त — मुगरी	"	आन्ध्र और तमिलनाडु	16-22	..	8's/10's	89.2	32
सदन्त — चिन्नापटी	गाँ. आर्बोरियम प्रजाति इंडिकम	आन्ध्र	16-18	10	..	2.0	(अ)
सदन्त — नाडम, बोरबोन और उप्पम (सेलेन्स)	गाँ. आर्बोरियम प्रजाति इंडिकम; गाँ. हिर्तुडम प्रजाति पंक्टैडम; और गाँ. हर्वेसियम प्रजाति वाइटियानम	तमिलनाडु और मैसूर	22-26	6-8	14's/18's	26.0	10
कोमिल्ला	गाँ. आर्बोरियम प्रजाति सर्तूम	असम और त्रिपुरा	12-14	6-8	8's/10's§	23.2	18

* Based on *Indian Cotton Comm. Statist. Leaflet*, No. 1, 1953-54; *Technol. Rep. Standard Indian Cottons*, Indian Cott. Comm., 1954, 10.

** 1954-55 के लिए अंतिम प्राक्कलन (आंशिकतः संशोधित), *Agric. Situat. India*, 1955-56, 10, 280.

† उप्पम (गाँ. हर्वेसियम प्रजाति वाइटियानम) और मद्रास को कपास के अन्य प्रकारों की भी कुछ मात्रा सम्मिलित है. ‡ एक गांठ का भार, 176.4 किग्रा.

§ रीलिंग (रीलिंग हाथ करवा उद्योग के लिए कता हुआ सूत है जिसका उपयोग ताने-बाने में होता है). (अ) 500 गांठों से कम.

varieties, Indian Cott. Comm., 1948; *Symposium on Perennial Cottons*, Indian Cott. Comm., 1952; *A Guide to Indian Cottons*, Indian Cott. Comm., 1937).

कपास के इन एकवर्षीय व्यापारिक प्ररूपों के अतिरिक्त भारत के अनेक भागों में कपास के बहुवर्षिक प्ररूप भी उगाये जाते हैं क्योंकि वाड़ों, वगीचों, आँगनों और वेकार जमीन पर उगाने के लिए वे ठीक रहते हैं। बतलाया जाता है कि ये प्ररूप कपास न उगाने वाले क्षेत्रों के लिए और हाथ से काती जाने वाली कपास की कमी पूरी करने के लिए उपयोगी हैं। गाँ. हिर्सुटम की मेरी-गैलेण्टी प्रजाति से सम्बंधित मोको, एक बीज वाली गाँ. वाबेंडेन्स से सम्बंधित बेड्डियो और वैंब्राडिनो और किडनी कपास आदि अनेक दक्षिण अमेरिकी प्ररूपों का परीक्षण किया गया है और उनकी तुलना गाँ. आर्बोरियम सम्बंधी बहुवर्षिक पौधों से प्राप्त कपासों के प्ररूपों से की गई है। विभिन्न प्रकार की मिट्टी और जलवायु के प्रति अनुकूलन, उत्पादन-क्षमता, कातने के लिए उसके रेशे की उपयुक्तता की दृष्टि से मोको अत्यन्त आशाजनक है। किडनी कपास का रेशा अपेक्षाकृत मोटा और रूखा है और गाँ. वाबेंडेन्स के एकबीजी प्ररूप की अपेक्षा कटाई के लिए कम उपयोगी है। इसके अलावा बीजों के सहजात गुणधर्म के कारण हाथ या मशीन के द्वारा रेशे से विनौले निकालना भी कठिन होता है (Balasubrahmanyam, *Indian Cott. Gr. Rev.*, 1950, 4, 60; *Symposium on Perennial Cottons*, Indian Cott. Comm., 1952, 11; Singh, *ibid.*, 21; Rao & Iyengar, *ibid.*, 23; Dabral, *ibid.*, 25; Kelkar, *ibid.*, 55; Bhat & Kelkar, *ibid.*, 30; Bederker, *ibid.*, 45).

जलवायु — कपास की फसल तैयार होने में लगभग 200 दिन लगते हैं। बढ़िया खेती के लिए यह आवश्यक है कि इस अवधि में पाला न पड़े, गर्मी खूब पड़े, भूमि में पर्याप्त नमी रहे और फसल काटते समय मौसम शुष्क हो। कपास का पौधा तेज वर्षा से नष्ट हो जाता है और अधिक ऊँचाई पर नहीं उगाया जा सकता। इसकी खेती समुद्रतल से 900 मी. की ऊँचाई तक समतल अथवा ऊँचे-नीचे भू-भाग तक ही सीमित है। भारत में कपास की बढ़वार, उपज और कोटि पर प्रभाव डालने वाले अनेक जलवायु सम्बंधी कारकों में वर्षा और ताप महत्वपूर्ण हैं। बताया जाता है कि कपास की कोटि में आने वाली सम्पूर्ण वार्षिक भिन्नता की $\frac{1}{3}$ से $\frac{1}{2}$ तक केवल वर्षा के कारण होती है। उपज और फसल की कोटि औसत वर्षा पर निर्भर न रहकर फसल की बढ़वार की किसी विशेष अवधि में उसके वितरण पर निर्भर होती है। बढ़वार की आरम्भिक अवस्थाओं में ज्यादा किन्तु समुचित नमी की आवश्यकता होती है। फूल आते समय अपेक्षाकृत सूखा मौसम होना चाहिये तथा फसल के तैयार होने और चुनने के समय वर्षा विलकुल नहीं होनी चाहिये (Brown, H. B., 266; Andrews, 341; Koshal & Ahmad, *1st Conf. Sci. Res. Workers on Cott. India*, 1937, 204).

कपास का पौधा प्रायः उन उष्णकटिबंधीय प्रदेशों में ही उगाया जा सकता है जिनका ताप 21° से कम न हो। कपास का पौधा 43.3° से अधिक ताप नहीं सहन कर सकता। यदि पौधे के बढ़ने और तैयार होने के समय ताप अधिक रहे तो उत्पादकता बढ़ जाती है। मद्रास में यह ज्ञात हुआ है कि यदि कम्बोडियन कपास की फसल जाड़ों की अपेक्षा गर्मियों में उगाई जाए तो प्रति हेक्टर अधिक और अच्छे रेशे की कपास पैदा होती है। इसी प्रकार पंजाब में शीत ऋतु के आरम्भ हो जाने से, जब पाला पड़ने लगता है, कपास की फसल पैदा करने का समय सीमित रह जाता है। यदि वहाँ भी कपास की फसल कुछ पहले बो दी जाए तो प्रति हेक्टर उपज पर्याप्त मात्रा में बढ़ाई जा सकती है, विशेषतः उन स्थानों

में जहाँ सिंचाई की सुविधा है और तिड़क फैलने का डर नहीं होता (Yegna Narayan Aiyer, 325; Kannian & Balasubramanian, *Indian Cott. Gr. Rev.*, 1952, 6, 119).

मिट्टी — मिट्टी की दृष्टि से भारत के कपास उत्पादक क्षेत्रों को तीन प्रमुख भागों में विभाजित किया जा सकता है : (1) सिन्धु-गंगा के मैदान की जलोढ़क मिट्टी; (2) प्रायद्वीपी भारत की कपासी काली मिट्टी अर्थात् रेगुर; तथा (3) दक्षिण भारत की लाल मिट्टी। सिन्धु-गंगा के मैदान की जलोढ़क मिट्टी मटियार या रेतीली होती है तथा वहाँ कपास की खेती प्रायः सिंचाई द्वारा की जाती है। केवल पंजाब, उत्तर-प्रदेश और बिहार के बहुत कम इलाकों में इसकी खेती वर्षा पर निर्भर करती है। कपास की काली मिट्टी वाला क्षेत्र भारत में कपास की खेती का विशालतम क्षेत्र है। वहाँ की मिट्टी गहरी, भारी और काली तथा अपेक्षाकृत मटियार होती है। यह सूखने पर चिटख जाती है किन्तु पूरी तरह फटती नहीं है। वर्षा होने पर वह फूलकर ढीली हो जाती है। इस मिट्टी में कैल्सियम की मात्रा प्रचुर होती है किन्तु कार्बनिक पदार्थ की मात्रा कम रहती है। वह उपजाऊ होती है और उसमें नमी धारण करने की क्षमता पर्याप्त है। इस भाग में कपास की खेती वर्षा पर निर्भर करती है। प्रायद्वीपी भारत में विभिन्न स्थानों की मिट्टी के नमूने के विश्लेषण से प्राप्त परिणाम सारणी 2 में दिये गये हैं।

दक्षिण भारत की लाल मिट्टी हल्की सरल और भुरभुरी होती है। उसमें लोह और ऐल्युमिना की मात्रा काफी अधिक परन्तु कैल्सियम की मात्रा कम होती है। यह मिट्टी सिंचाई द्वारा अमेरिकी कपास पैदा करने के लिए अधिक उपयुक्त मानी जाती है (Yegna Narayan Aiyer, 1948, 64).

भारत में कपास की अधिकांश फसल, लगभग 93%, वर्षा पर निर्भर करती है। कपास पैदा करने वाले भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में वर्षा की मात्रा भिन्न-भिन्न है। पंजाब, राजस्थान, कच्छ, सौराष्ट्र और गुजरात के भागों में 25-30 सेंमी.; मध्य भारत और डेकन में 62.5-75 सेंमी.; बिहार, उड़ीसा और बम्बई के कुछ भागों में 125 सेंमी.; तथा असम की पहाड़ियों में 250 सेंमी. 62.5 सेंमी. तक वर्षा वाले क्षेत्रों में कभी-कभी सिंचाई करने से फसल को काफी लाभ पहुँचता है, विशेष रूप से पंजाब, हरियाणा, राजस्थान और उत्तर प्रदेश के बहुत छोटे भागों में सिंचाई द्वारा कपास की खेती की जाती है।

जुताई — मिट्टी और जलवायु में भिन्नता होने से भारत के विभिन्न भागों में जुताई अलग-अलग ढंग से की जाती है। प्रायद्वीपी भारत के शुष्क काली मिट्टी वाले भाग में साधारणतया भूमि 3-4 वर्षों में एक बार जोती जाती है। भूमि को तैयार करने के लिए सिर्फ 2 या 3 बार उसके ऊपर फल-हेरो चला दिया जाता है। फल-हेरो चलाने का मुख्य उद्देश्य मिट्टी को पलटना नहीं बरन् नमी बनाये रखना है। वर्षा पर निर्भर भागों में किये गये परीक्षणों से ज्ञात हुआ है कि घासपात के दबने के अतिरिक्त गहरी जुताई का कपास की उपज पर कोई प्रत्यक्ष प्रभाव नहीं पड़ता, बल्कि कहा जाता है कि कभी-कभी गहरी जुताई से कपास की उपज पर विपरीत प्रभाव पड़ता है। तमिलनाडु, मैसूर, उत्तर प्रदेश और पंजाब में सिंचित कपास के लिए भूमि को खूब अच्छी तरह जोतते हैं किन्तु इन स्थानों में भी शायद ही कभी चार से अधिक जुताइयाँ की जाती हों (Yegna Narayan Aiyer, 331; Ramanatha Ayyar *et al.*, *Madras agric. J.*, 1940, 28, 69; Panse & Sahasrabudhe, *Indian Cott. Gr. Rev.*, 1947, 1, 10; Roberts & Kartar Singh, 416).

कपास की खेती के लिए बहुत पुराने औजार इस्तेमाल होते हैं। कपास की काली मिट्टी वाले भागों में भूमि तैयार करने के लिए मुख्यतः लकड़ी

सारणी 2 — प्रायद्वीपी भारत की कपास की काली मिट्टी (रेगुर) का विश्लेषण*

	भड़ौच (महाराष्ट्र)	धारवाड़ (महाराष्ट्र)	होशंगाबाद (मध्य प्रदेश)	अकोला (मध्य प्रदेश)	नागपुर (महाराष्ट्र)	अहोनी (आन्ध्र)	कम्बम (आन्ध्र)	कोयम्बटूर (तमिलनाडु)	कापलपटी (तमिलनाडु)
पी-एच	8.1	8.8	7.7	8.5	8.3	9.4	8.3	8.9	8.6
कार्बनिक पदार्थ** (%)	0.7	1.0	1.0	1.0	1.4	0.8	0.6	0.6	0.6
कैल्सियम कार्बोनेट (%)	0.90	0.05	0.45	9.30	0.43	5.25	7.62	5.25	2.19
यान्त्रिक विश्लेषण									
मोटी बालू (%)	0.3	8.5	15.6	0.7	2.3	18.0	2.0	27.8	11.1
महीन बालू (%)	19.2	7.6	27.2	11.4	9.2	16.4	22.3	22.6	14.5
सिल्ट (%)	23.1	17.1	20.6	21.8	20.3	17.2	18.2	8.5	11.4
मृत्तिका (%)	45.6	52.9	29.7	45.2	53.3	33.4	41.1	28.1	47.4
रासायनिक विश्लेषण									
आर्द्रता (%)	8.6	10.6	4.2	8.9	10.1	7.9	7.6	5.5	10.0
ज्वलन-हानि (%)	6.0	6.2	4.5	9.9	7.4	6.7	8.4	5.5	6.5
फॉस्फोरिक अम्ल (P_2O_5) (%)	0.105	0.035	0.061	0.108	0.075	0.076	0.061	0.079	0.054
पोटैश (K_2O) (%)	0.649	0.458	0.612	0.446	0.527	0.320	0.860	0.599	0.453
मैगनीज ऑक्साइड (Mn_2O_4) (%)	0.155	0.050	0.118	0.154	0.182	0.077	0.077	0.053	0.120
नाइट्रोजन (%)	0.035	0.028	0.053	0.030	0.049	0.02	0.041	0.029	0.028
जैव कार्बन (%)	0.413	0.595	0.581	0.570	0.802	0.467	0.338	0.317	0.343
कार्बन/नाइट्रोजन अनुपात	11.8	21.3	11.0	19.0	16.3	14.6	8.3	10.9	12.3
कुल विनिमय क्षारक निष्ठा. तुल्यांक/100 प्रा.	53.95	62.99	30.63	57.00	64.20	43.95	44.73	33.66	54.54

* हासकिंग पर आधारित, *Trans. roy. Soc., S. Aust., 1935, 59, 168, Tables X & XI.*
** जैव कार्बन पर परिकलित.

सारणी 3 — कपास की व्यापारिक किस्मों के बोने, चुनने और बाजार में बेचने का समय*

व्यापारिक नाम	बोने का समय	चुनने का समय	बाजार में बेचने का समय
बंगाल	अप्रैल से जून तक	सितम्बर से जनवरी तक	अक्टूबर से जुलाई तक
अमेरिकी उ. प्र. और पंजाब	अप्रैल से जून तक	अक्टूबर से जनवरी तक	अक्टूबर से जुलाई तक
बूडी	जून	नवम्बर से जनवरी तक	दिसम्बर से जून तक
ऊमर	जून से जुलाई तक	सितम्बर से जनवरी तक	अक्टूबर से अगस्त तक
हैदराबाद गाबोरानी	जून	अक्टूबर से दिसम्बर तक	नवम्बर से अगस्त तक
सेन्ट्रल इंडिया	जून से जुलाई तक	अक्टूबर से जनवरी तक	नवम्बर से अगस्त तक
भड़ौच	जून से जुलाई तक	जनवरी से मार्च तक	फरवरी से जुलाई तक
सूरती	जून से जुलाई तक	दिसम्बर से मार्च तक	मार्च से जुलाई तक
डोलेरा	जून से जुलाई तक	दिसम्बर से मार्च तक	जनवरी से अगस्त तक
कुम्हटा	अगस्त से सितम्बर तक	फरवरी से मई तक	अप्रैल से अगस्त तक
वेस्टर्न	अगस्त से सितम्बर तक	जनवरी से मई तक	जनवरी से अगस्त तक
ह्वाइट एण्ड रेड नार्दर्न	जून से अक्टूबर तक	फरवरी से अप्रैल तक	जनवरी से अगस्त तक
वारंगल एण्ड कोकण	जुलाई से सितम्बर तक	जनवरी से अप्रैल तक	फरवरी से अगस्त तक
सिल्वेस्ली (कल्लेगनी सहित)*	अक्टूबर से नवम्बर तक	मार्च से अगस्त तक	अप्रैल से दिसम्बर तक
कम्बोडिया (शीत) (ग्रीष्म)	सितम्बर से अक्टूबर तक फरवरी से मार्च तक	अप्रैल से जुलाई तक अगस्त से सितम्बर तक	मई से जनवरी तक ..
सलेम	सितम्बर से अक्टूबर तक	अप्रैल से जुलाई तक	अप्रैल से नवम्बर तक
कोमिल्ला	मई	अक्टूबर से दिसम्बर तक	नवम्बर से अगस्त तक

* *Bombay Cott. Annu., No. 35, 1953-54, 30.*

के हल और फल-हैरो तथा पंक्तियों में बीज बोने के लिये लकड़ी के बीज ड्रिल काम में लाए जाते हैं। खरपतवार वाले क्षेत्रों में बड़े-बड़े लकड़ी के और लोहे के मोल्डबोर्ड हल इस्तेमाल किये जाते हैं (Yegna Narayan Aiyer, 331).

देश के विभिन्न भागों में वर्षा की अवधि और मात्रा में काफी अन्तर होने से फसल को बोने और काटने का काम साल में कई महीनों तक चलता रहता है। कपास की महत्वपूर्ण व्यापारिक किस्मों को उगाने और बाजार में बेचने का समय सारणी 3 में दिया गया है।

कपास का प्रवर्धन मुख्य रूप से बीजों द्वारा होता है। कलमों द्वारा भी कायिक प्रवर्धन किया जा सकता है। इजिप्शियन और सी-आइलैंड जैसी विदेशी किस्मों के अनुकूलन के लिए अथवा चश्मा चढ़ाकर या कलम बांधकर उगाये गये कुछ विशेष संकरों की वृद्धि के लिए कायिक प्रवर्धन विशेष रूप से उपयोगी होता है। पौधे के किसी भी भाग पर की गई कलम से जड़ें निकल आती हैं किन्तु मुख्य अक्ष पर एक सेंमी. या अधिक गोलाई की कलम करना अधिक उपयुक्त रहता है। सेराडिक्स-बी आदि हार्मोनों से उपचारित कलमों से अनुपचारित कलमों की अपेक्षा, अधिक जड़ें निकलती हैं [Brown, H.B., 205; Balasubrahmanyan & Kannian, *Indian Cott. Gr. Rev.*, 1952, 6, 184; Patel & Patel, *ibid.*, 1952, 6, 205; Jooloor & Sahasrabudhe, *ibid.*, 1953, 7, 189; Sardar Singh, *Indian Fmg. N.S.*, 1953-54, 3(9), 22].

अंकुरण से पहले कुछ समय तक बीज प्रसुप्तावस्था में रहते हैं। यदि ढोंडे खुलने के 2 या 3 महीने बाद बीज बो दिये जायें तो अंकुरण संतोषजनक नहीं होता। सामान्य रूप से विनौलों को 5 या 6 महीने से अधिक समय तक संग्रह नहीं किया जाता। उपयुक्त अवस्था में संग्रह करने पर सूखे विनौलों की अंकुरणक्षमता कम से कम 2 साल तक बनी रहती है। अमेरिका में हाल में किये गये अध्ययन से ज्ञात हुआ है कि यदि बीजों में 7% से अधिक नमी न हो और उन्हें 32° पर संग्रह किया जाए तो उनकी अंकुरणक्षमता 15 साल तक बनी रहती है (*Madras agric. J.*, 1953, 40, 509; Simpson, *Agron. J.*, 1953, 45, 391).

यह बहुत पहले से मानी हुई बात है कि अच्छी उपज के लिए अच्छे बीज बोने चाहिए। अधिक घनत्व वाले और बड़े आकार के बीज बोने से अंकुरण की प्रतिशत मात्रा बढ़ जाती है और अंकुरों की तेजी से वृद्धि होती है। यह आरम्भिक तीव्रता बाद में भी बनी रहती है जिससे कपास की अधिक उपज प्राप्त होती है। अमेरिकी किस्मों की अपेक्षा देशी किस्मों में बीज-चयन का प्रभाव अधिक स्पष्ट दिखता है। बड़े आकार के बीज छलनी में छानकर और ऊँचे घनत्व के बीज गुरुत्व पृथक्करण द्वारा प्राप्त किये जाते हैं जिसके लिए उन्हें इच्छित घनत्व वाले नमक के विलयन में निलंबित किया जाता है (Panse & Khargonkar, *Indian Cott. Gr. Rev.*, 1948, 2, 17; Ganesan, *ibid.*, 1950, 4, 37).

बीज प्रायः छिटकवाँ या ड्रिलों द्वारा पंक्तियों में बोये जाते हैं। पंक्तियों के बीच की दूरी 30-90 सेंमी. तक होती है जो कपास के प्ररूप, मिट्टी की उर्वरता और मिश्रित फसल के रूप में उगाये जाने पर साथ में उगाई गई फसल के प्रकार पर निर्भर करती है। जब केवल कपास की फसल बोई जाती है तो पंक्तियों के बीच 45 सेंमी. का और पंक्तियों में पौधों के बीच 30 सेंमी. का अन्तर देने से खेत में कोई रिक्त स्थान नहीं बचता है और खेत भरा हुआ दिखलाई देता है। सिंचित अवस्था में अमेरिकी कपासों कुछ अधिक अन्तर देकर बोयी जाती हैं (Yegna Narayan Aiyer, 336).

सामान्यतः बीजों को पहले गीली मिट्टी अथवा गोबर के साथ मिला

लिया जाता है जिससे ड्रिलों द्वारा बीजों को बोने में सुविधा हो। बीजों पर लगे रेशों को हटाना और सल्फ्यूरिक अम्ल, जिक क्लोराइड आदि रासायनिक पदार्थों द्वारा उनका उपचार करना भी अच्छा होता है। 12-24 घंटे तक बीजों को पानी में भिगोने से अंकुरण आसानी से हो जाता है। कहा जाता है कि बीजों पर अमोनियम सल्फेट का लेप लगाने से फसल जल्दी तैयार ही नहीं होती बल्कि पैदावार भी अच्छी होती है। फसल को जल्दी तैयार करने और पैदावार में वृद्धि करने के उद्देश्य से रूस में बीजों के त्वरित-विकासन (वर्नेलाइजेशन) पर परीक्षण किये गये हैं (Yegna Narayan Aiyer, 1948, 271; Brown, H.B., 212, 109; Roberts & Kartar Singh, 417, 418; *Indian Cott. Gr. Rev.*, 1948, 2, 95; Kalamkar, *Curr. Sci.*, 1942, 11, 190; Hurst, *Emp. Cott. Gr. Rev.*, 1936, 13, 99).

बोने के लिए प्रति हेक्टर 5-20 किग्रा. बीज की आवश्यकता होती है जो मिट्टी की उर्वरता, कपास की किस्म और अकेली या मिश्रित फसल पर निर्भर करती है। देशी कपास यदि अकेली बोई जाए तो प्रति हेक्टर 10 किग्रा. और यदि मिश्रित बोई जाए तो प्रति हेक्टर 7 किग्रा. बीज की आवश्यकता पड़ती है। अमेरिकी कपासों और विशेष रूप से रोयेंदार बीज वाले पंजाब-अमेरिकी प्ररूपों को प्रति हेक्टर अधिक बीज की आवश्यकता होती है (Yegna Narayan Aiyer, 334; Roberts & Kartar Singh, 418).

साधारणतया अमेरिकी कपास अकेली और देशी कपास मिश्रित फसल के रूप में उगाई जाती है। मिश्रित रूप में कपास के साथ लगभग 22 फसलें बोई जाती हैं जिनमें सोरघम बल्गेर और सेटारिया इटैलिका अधिक महत्वपूर्ण हैं। कहा जाता है कि मूंगफली के साथ उगाने से कपास की पैदावार बढ़ जाती है। पंजाब के कुछ भागों में कभी-कभी देशी और अमेरिकी कपासों एक साथ उगाई जाती हैं तथा मध्य भारत और तमिलनाडु के कुछ भागों में दो प्रकार की देशी कपासों एक साथ उगाई जाती हैं। यद्यपि शुद्धता की दृष्टि से यह हितकर नहीं है किन्तु विषमांग मिट्टी वाले तथा प्रतिकूल मौसम की सम्भावनाओं वाले क्षेत्रों में कपास को मिश्रित फसल के रूप में बोने से कुछ निश्चित लाभ होते हैं। परन्तु जब लगभग समान लक्षणों वाले एक ही जाति के दो शुद्ध विभेदों को मिश्रित फसल के रूप में उगाया जाता है तो प्राकृतिक संकरण होने तथा उसकी कोटि में ह्रास होने का भय बना रहता है (Yegna Narayan Aiyer, 1948, 302; *Indian J. agric. Sci.*, 1949, 19, 439; *Indian Cott. Gr. Rev.*, 1949, 3, 209; 1950, 4, 124; Sawhney, *ibid.*, 1951, 5, 52; Mason, *Emp. Cott. Gr. Rev.*, 1948, 15, 113; Ramiah & Panse, *2nd Conf. Cott.-gr. Probl. India*, 1941, 92; Sawhney & Narayanayya, *ibid.*, 93; Balasubrahmanyan & Rangaswamy, *3rd Conf. Cott.-gr. Probl. India*, 1946, 296).

साधारणतया कपास की खेती के पहले या बाद में हेरफेर वाली फसल बोई जाती है। पंजाब, हरियाणा, उत्तर प्रदेश और विहार में निम्नांकित फसल-चक्र इस्तेमाल होते हैं : कपास-गेहूँ, कपास-ज्वार, और कपास-गेहूँ-तोरिया। प्रायद्वीपी भारत की काली मिट्टी वाले भाग में प्रायः कपास से पहले ज्वार की फसल ली जाती है। कहा जाता है कि ज्वार की फसल उगाने से मिट्टी में सोडियम के आयनों की सांद्रता बढ़ जाती है जिससे बाद में बोई जाने वाली कपास की फसल पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। इस कुप्रभाव को मूंगफली, सनई, ग्वार अथवा नील आदि किसी फलीदार फसल को उगाकर दूर किया जा सकता है (Yegna Narayan Aiyer, 1948, 292; Ayyar *et al.*, *Curr. Sci.*, 1935, 4, 99; *Indian J. agric. Sci.*, 1941, 11, 37;

वढ़ा देता है। दूसरे प्रकार का लाल पत्ती रोग जैसिड के आक्रमण से सम्बंधित होता है। जैसिड-प्रतिरोधी कपासों इस प्रकार के रोग से मुक्त होती हैं। तीसरे प्रकार का लाल पत्ती रोग मिट्टी में नाइट्रोजन की कमी या जलाक्रांति के कारण होता है। उचित समय पर अमोनियम सल्फेट के उपयोग से इस रोग पर नियंत्रण प्राप्त किया जा सकता है (Ramiah *et al.*, 3rd Conf. Cott.-gr. Probl. India, 1946, 329; Sawhney, *Proc. Indian Sci. Congr.*, 1932, 76)।

तिड़कन अथवा ढोंडों का ठीक से न खुलना एक दूसरी शरीर-क्रियात्मक व्याधि है जो पंजाब में अमेरिकी कपासों को बुरी तरह प्रभावित करती है। इस व्याधि की उग्रता एवं क्षेत्र विस्तार प्रतिवर्ष बदलते रहते हैं। इसका प्रथम लक्षण है पत्तियों का पीला होकर झुकना या गिरना। इससे ढोंडें छोटी रह जाती हैं, एवं समय से पहले चटक जाती हैं तथा बीजों पर जो स्वयं अपरिपक्व होते हैं, बहुत घटिया किस्म की रुई आती है। दो प्रकार की भूमि परिस्थितियों के कारण यह रोग फैलता है ऐसी मिट्टियाँ जिनमें पानी की कमी हो एवं 30-60 सेंमी. नीचे उपमृदा में क्षारीय लवण हों, तथा ऐसी मिट्टियाँ जिनमें पोषकों की विशेषतया नाइट्रोजन की कमी हो ऐसी हल्की बलुई मिट्टियाँ जिनमें नाइट्रोजन की कमी हो, उनमें अमोनियम सल्फेट का उपयोग अत्यन्त लाभप्रद सिद्ध हुआ है; लवणीय उपमृदा वाली मिट्टियों में उगी फसलों पर इसका कोई प्रभाव नहीं होता है। दूसरी परिस्थिति में जून में देर से बुवाई और मध्य अगस्त से थोड़े-थोड़े अन्तर पर भारी सिंचाई के द्वारा इस बीमारी के आपात को काफ़ी सीमा तक कम किया जा सकता है। देरी से बुवाई के कारण एक तो वानस्पतिक वृद्धि काफ़ी कम हो जाती है और जल की कमी को रोकती है। वारम्बार भारी सिंचाई के कारण मिट्टी की ऊपरी क्षार-रहित तहों से पर्याप्त जल प्राप्त होता रहता है जिससे इस रोग के प्रहार की सम्भावना क्षीणप्राय हो जाती है। देर से बुवाई करने से ऐसी मिट्टियों में भी तिड़कन कम हो जाती है जिनमें नाइट्रोजन कम रहती है। किन्तु इससे प्रत्येक पौधे में लगने वाली ढोंडों पर बुरा प्रभाव पड़ता है किन्तु इस हानि को घनी बुवाई द्वारा पूरा किया जा सकता है [Dastur, *Indian Eng.*, 1942, 3, 181; 1944, 5, 254; *The periodic partial failures of American cottons: their causes and remedies*, Indian Cott. Comm. (Revised Edn), 1949; Asana, *Sci. & Cult.*, 1947-48, 13, 415]।

भारत में कपास की फसल को प्रभावित करने वाले कुछ कम महत्व के रोग निम्नलिखित हैं : शुष्क विगलन (सोर शिन) जो मैक्रोफ़ोमिना फेसिओलाई ऐशवी के कारण; स्कलेरोटियम मुरझान कोटिसियम रोलफसाइ (सक्कारडो) कुर्जी के कारण; आर्द्र विगलन या संकुचन फाइटोथोरा पैरासिटिका दस्तूर और पाइथम जातियों के कारण; ढोंड विगलन ऐस्पर-जिलस नाइजर वान टीथ के कारण; ढोंड का भीतरी रोग जो नेमाटोस्पोरा नागपुरी दस्तूर के कारण; भूरा स्पेक (काली फफूंदी) कैंपनोडियम जाति के कारण; कृष्ण शाखिका या कोणीय पर्ण दाग जैन्थोमोनास मालवेसियारम डाउसन के कारण; कपास किट्ट सेरोटोलियम डेल्मियम आर्थ के कारण; भूरी फफूंदी रामुलेरिया ऐरिओला एटकिंसन के कारण तथा जड़ गाँठ एक ईलवर्म के कारण होते हैं। इन समस्त रोगों में से कृष्ण शाखिका रोग विशेष रूप से अमेरिकी कपास में मद्दास, कर्नाटक एवं मध्य प्रदेश में होता है। यह रोग उस बैक्टीरियम के कारण होता है जो मिट्टी में या कपास के बीजों में रहता है। वैसे तो यह रोग कम महत्व का है किन्तु कभी-कभी इससे असीमित हानि हो जाती है। इसके निरोध के लिए प्रतिरोधी विभेद का चुनाव ही एकमात्र व्यावहारिक उपाय है। गॉ. आवॉरियम और गॉ. हर्वेसियम के कुछ विभेद इस रोग से अप्रभावित हैं। मद्दास में मौसम और मिट्टी की विभिन्न

परिस्थितियों में विभेद-2196 अच्छा प्रतिरोधी सिद्ध हुआ है। कवक-नाशकों के प्रयोग से इस रोग का आवेग कुछ कम तो होता है परन्तु इसका समूल विनाश नहीं होता। जंट्रोफा कुरकस लिनियस बैक्टीरियम का संयुक्त परपोषी होता है (Uppal, loc. cit.; Balasubrahmanyam & Raghavan, *Indian Cott. Gr. Rev.*, 1950, 4, 118; Ramakrishnan & Ramakrishnan, *Indian Phytopath.*, 1950, 3, 64; Patel & Kulkarni, *ibid.*, 1950, 3, 51; Kulkarni & Patel, *Indian Cott. Gr. Rev.*, 1951, 5, 148; Rao *et al.*, *ibid.*, 1952, 6, 147; Sundaram, *Curr. Sci.*, 1952, 21, 320)।

कृषिनाशक-कीट — भारतवर्ष में कपास की खेती को प्रभावित करने वाले लगभग 50 कीट ज्ञात हैं जिनमें से धन्वेदार, गुलाबी बालवर्म, जैसिड और डंठल-घुन महत्वपूर्ण हैं। कुछ क्षेत्रों में पर्ण वेल्लक और दो प्रकार के बगों से भी अधिक नुकसान होता है (Nangpal, *Insect Pests of Cotton in India*, Indian Cott. Comm., 1948)।

धन्वेदार ढोंडे कृमि दो प्रकार के होते हैं : एरियस फेबिया और ए. इन्मुलाना वासडुवाल जो आकार तथा रूप में लगभग समान होते हैं। ए. इन्मुलाना एक हरा रीढ़दार इल्ली अवस्था का कीट है जबकि ए. फेबिया आंशिक रूप से हरा कीट है जिसका शरीर इल्ली अवस्था में चिकना होता है। इन दोनों के द्वारा समान रूप से हानि होती है। ये पनपती हुई टहनीयों, पत्तियों, कोंपलों एवं ढोंडों पर प्रहार करते हैं। बदली एवं हल्की वर्षा के मौसम में इन बालवर्मों की वंशवृद्धि खेतों में होती है। इससे प्रभावित नये पौधों में ऊपरी प्ररोह गिरने लगते हैं, परिपक्व पौधों में टहनियाँ, फल और ढोंडें सभी गिरने लगते हैं। नये बालवर्म पनपते प्ररोहों की छोटी कलियों पर आक्रमण करते हैं अथवा ये रसदार पोरों में टहनी के बाहर से 7.5-10 सेंमी. अन्दर तक छेद करके घुस जाते हैं और ज्यों ही कली निकलती है उसे नष्ट कर देते हैं। बढ़ती ढोंडें भी इसके आक्रमण से नहीं बच पाती और वे साधारणतया गिर जाती हैं तथा जो पौधे में लगी रह जाती हैं, वे खुलती नहीं और यदि खुलती भी हैं तो उनमें कपास ही नहीं होती। अनेकानेक परजीवियों एवं परभक्षियों के द्वारा इस नाशक-कीट को वश में रखा जा सकता है। धन्वेदार बालवर्म से क्षति को कम करने के लिए निम्नांकित उपाय करने चाहिए : बाढ़ के मौसम में रोगग्रस्त प्ररोहों को नष्ट करना, फसल ले लेने के बाद समस्त कपास डंठलों को अलग कर देना तथा कपास की दो फसलों के बीच इसके सदाश भिंडी (हिबिस्कुस एस्कुलेंटस) जैसी फसल की उसी क्षेत्र में खेती न करना। एक छोटा-सा यंत्र भी ईजाद किया गया है जिसकी सहायता से खेतों से कपास के डंठलों को निकाला जा सकता है। हाल ही के परीक्षणों से ज्ञात हुआ है कि डी-डी-टी के छिड़काव द्वारा भी संक्रमण से होने वाली हानि कम हो जाती है (Nangpal, loc. cit.; Deshpande & Nadkarny, *Sci. Monogr. Indian Coun. agric. Res.*, No. 10, 1936, 43)।

गुलाबी ढोंडा कृमि (फ्लैटीएड्रा गॉसीपिएला या पेविटनोकोरा गॉसीपिएला) भारत के अधिकांश प्रदेशों में विशेषतया पंजाब, उत्तर-प्रदेश और हैदराबाद में कपास को अत्यधिक हानि पहुँचाता है। अधिक आर्द्रता और 21-27° ताप, इस कीट की वृद्धि के लिए अनुकूल परिस्थितियाँ हैं। ये देशी कपासों की अपेक्षा अमेरिकी कपासों पर अधिक विनाशकारी हैं। इनके द्वारा कलियाँ, पुष्प तथा नई ढोंडें गिर जाती हैं। पुरानी ढोंडें सामान्यतया नहीं गिरती परन्तु वे कम या ज्यादा वेकार हो जाती हैं। आंशिक रूप से क्षत ढोंडों से प्राप्त कपास की ओटाई

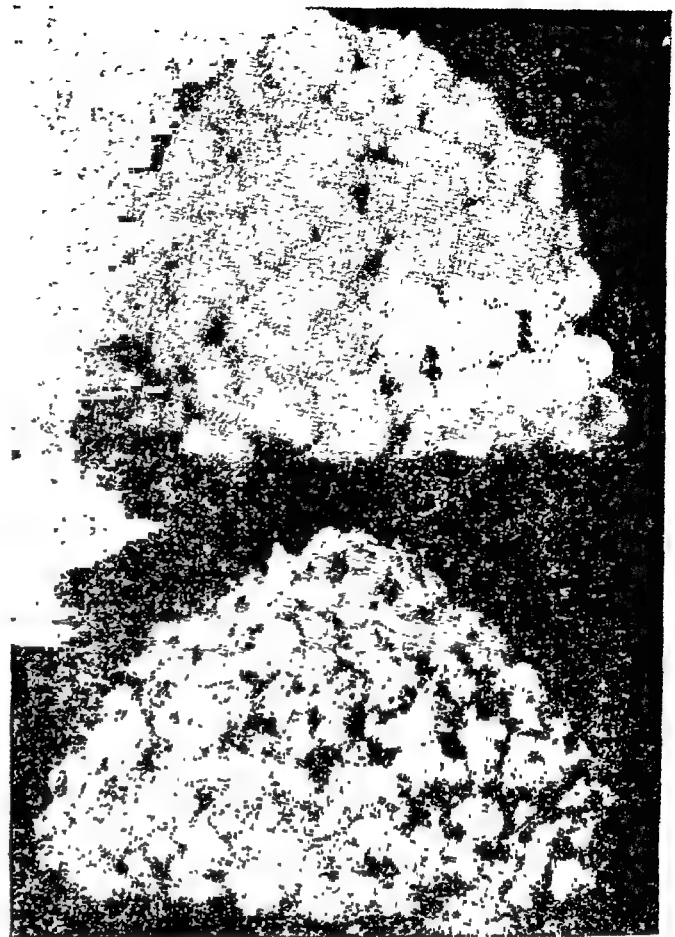
मजदूरों की कार्यकुशलता एवं कार्यक्षमता, अपितु खुली ढोंडों की अधिक संख्या, इनके आकार तथा इनसे प्राप्त कपास के गुण पर भी निर्भर करती है। जिन प्ररूपों में ढोंडें एक समान पकती और खुलती हैं, उनमें जल्दी चुनाई होती है (Brown, H.B., 380; Ramanatha Ayyar, *Proc. Indian Sci. Congr.*, 1946, pt II, 155)।

कपास की चुनाई केवल उसी समय की जानी चाहिये जबकि ढोंडें पूर्णतया पक जाएं, पूरी खुली हों एवं कपास सूर्य के प्रकाश में रहने से पूरी तरह खिल गई हो। अधखुली या अधपकी ढोंडों से कपास की चुनाई करने से प्राप्त कपास में अपरिपक्व रेशों एवं निरर्थक पदार्थ की प्रतिशत मात्रा काफी अधिक होती है। यही नहीं, लगभग सभी कपास-क्षेत्रों में चुनाई के समय शुष्क मौसम होता है। इससे भी चुनी गई कपास में पत्तियों एवं डंठलों के छोटे-छोटे टुकड़े आ जाते हैं। स्वच्छ चुनाई परमावश्यक है क्योंकि कपास में अपरिपक्व रेशों एवं अन्य बाह्य दूषित पदार्थों की उपस्थिति से इसके बाजार-भाव पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। उन क्षेत्रों में जहाँ कि फसल पर ढोंडा कृमि का आक्रमण हो जाता है, क्षतिग्रस्त या धब्बेदार कपास को, ओटाई के पहले ही निकाल लेना चाहिये क्योंकि इससे कपास के बाजार-भाव में कमी आती है।

कपास की औसत उपज न केवल विभिन्न प्रदेशों में बल्कि एक ही प्रदेश में भी बदलती रहती है और यह बोई गई कपास की किस्म तथा कर्षण क्रियाओं पर निर्भर करती है। मानसून की अनिश्चितता



चित्र 19 - कपास की चुनाई



चित्र 20 - चुनी हुई कपास : साफ की हुई (ऊपर);
बिना साफ की हुई (नीचे)

के अनुसार भी वर्ष-प्रतिवर्ष उपज में भिन्नता हो सकती है। इनमें से उदाहरणार्थ आन्ध्र प्रदेश और हरियाणा की औसत ओटी गई कपास की उपज प्रति हेक्टर क्रमशः 50 और 260 किग्रा. है। पहले में वर्षा सिंचित एवं दूसरे में सिंचित परिस्थिति में कपास की खेती की जाती है।

अन्य देशों की तुलना में भारत में प्रति हेक्टर कपास की उपज अपेक्षाकृत कम है। यदि अच्छे बीज के उपयोग के कारण हुई वृद्धि को सम्मिलित न किया जाए तो यह कहा जा सकता है कि कपास की उपज स्थिर रही है। यह तो सर्वविदित ही है कि चाहे आनुवंशिकता के आधार पर उच्च उपज देने वाला कपास का प्ररूप ही क्यों न बोया जाए, वह तभी अच्छी उपज देगा जब उसे उचित समय पर बोया जाए और मिट्टी, मौसम, पौधों के बीच की अनुकूलतम दूरी, खाद तथा कृषि क्रियाओं की अनुकूल परिस्थितियाँ उपलब्ध हों। भारत में कपास की औसत उपज के कम होने का कारण भूमि की न्यून उर्वरता तथा 90% क्षेत्र का वर्षा पर निर्भर होना है। इसके अतिरिक्त कपास उपजाने वाले क्षेत्र जहाँ-तहाँ बिखरे हुए हैं जिससे मौसम के कारण कपास की उपज पर पड़ने वाले कुप्रभाव की सम्भावना बढ़

जाती है। उन्नत विभेदों के उपयोग से कपास की उपज में जो वृद्धि होती है वह प्रायः प्रतिकूल जलवायु परिस्थितियों के कारण प्रति-संतुलित हो जाती है। फलस्वरूप अधिक उच्च उपज देने वाले विभेदों का काफ़ी प्रचार के होने पर भी कपास की प्रति हेक्टर उपज में विशेष परिवर्तन नहीं हुआ है। 'अधिक कपास उपजाओ योजना' के अन्तर्गत प्रति हेक्टर कपास की उपज बढ़ाने के लिए अच्छे बीजों का वितरण, अमोनियम सल्फेट जैसी खाद का उपयोग, सिंचाई व्यवस्था का विस्तार तथा कीड़ों एवं रोगों से सुरक्षा के उपायों के साथ अन्य व्यावहारिक तौर तरीकों को अपनाने जैसे उपाय किये जा रहे हैं (Burns, 85; Stewart, A.B., 7; Ramanatha Ayyar, *Proc. Indian Sci. Congr.*, 1946, pt II, 155; Mahta, *Indian Cott. Gr. Rev.*, 1947, 1, 1; Panse & Sahasrabudhe, *ibid.*, 1947, 1, 10; Afzal, *ibid.*, 1947, 1, 50; Panse & Mokashi, *ibid.*, 1952, 6, 61; *Rep. Indian Cott. Comm.*, 1953, 10, 105).

कपास सुधार

वैसे तो विभिन्न कपासों बहुवर्षी और एकवर्षी रूप में पहचानी जाती हैं परन्तु कपास का पौधा मूलतः विकल्पी बहुवर्षी है। एकवर्षी कपासों का विकास विभिन्न देशों में जलवायु की परिस्थितियों के अनुकूल व्यापारिक फसल बनाने के उद्देश्य से किया गया क्योंकि सूखे मौसम तथा पाले के कारण कपास की वृद्धि ठीक से नहीं हो पाती। यहाँ तक कि जिन क्षेत्रों में बहुवर्षी कपासों संतोपजनक ढंग से बढ़ती हैं, वहाँ भी नाशकजीवों के नियंत्रण को ध्यान में रखते हुये एकवर्षी कपास प्ररूपों की आवश्यकता का अनुभव किया जाता रहा है (Hunter & Leake, 295; Hutchinson, *1st Conf. Sci. Res. Workers on Cott. India*, 1937, 347; Hutchinson *et al.*, 82).

हाल के वर्षों में कपास की विभिन्न जातियों में संकरण सम्बंधों की विस्तारपूर्वक खोज की गई है जिनमें एक ही वंश की विभिन्न श्रेणियों में तथा एक ही श्रेणी के अन्तर्गत विभिन्न जातियों के बीच संकरण भी सम्मिलित हैं। अंतर्जातीय, विशेषतया जंगली प्रकार की कपासों के आनुवंशिक और कोशिकीय अध्ययन के प्रकाश में गॉसीपियम वंश के विकास-इतिहास का स्पष्ट चित्र अंकित किया जा सकता है। इस अध्ययन से यह सामान्य निष्कर्ष निकलता है कि प्रारम्भिक अवस्था से ही जीन प्रतिस्थापन एवं गुप्त संरचनात्मक विभेदन गॉसीपियम में जाति उद्भवन को निर्धारित करते आये हैं। आजकल की कृष्ट और जंगली अमेरिकी चतुर्गुणित कपासों का उद्भव एशियाई एवं अमेरिकी द्विगुणितों की प्रसिद्ध पूर्वज जातियों के संकरण के पश्चात् संकर में क्रोमोसोम द्विगुणन पद्धति से हुआ है। इस बात की पुष्टि गॉ. आर्बोरियम × गॉ. थूरवेरी से नवीन मिश्रित-चतुर्गुणित किस्मों के संश्लेषी विकास द्वारा हुई है। इन खोजों में व्यावहारिक रुचि इस बात में निहित है कि आर्थिक दृष्टि से उपयोगी प्ररूपों में वह महत्वपूर्ण परिवर्तनशीलता स्थानान्तरित की जा सके जो उनसे सम्बद्ध जातियों में इस समय नहीं पाई जाती। इस प्रसंग में उस प्रयास का उल्लेख किया जा सकता है जो केवल जंगली कपासों में पाये जाने वाले कतिपय गुणों को कृष्ट कपासों में स्थानान्तरित करने के सम्बंध में है (Harland, *Biol. Rev.*, 1936, 11, 83; Harland, 57; Silow, *J. Genet.*, 1941, 42, 259; 1944, 46, 62; Stephens, *Bot. Rev.*, 1950, 16, 115; Ganesan, *5th Conf. Cott.-gr. Probl. India*, 1952, 21).

इस समय उपजाई जाने वाली कपासों संकर स्रोत या संरचना की हैं जिनका जन्म विशिष्ट परिस्थितियों के अनुरूप उन्नत प्ररूपों को विकसित करने से सतत प्रयासों के फलस्वरूप हुआ है। प्ररूपों का विकास प्रधानतया तीन विभिन्न दिशाओं में हुआ है : (1) वरण; (2) संकरण; (3) अनुकूलन। भारतवर्ष में जनन सम्बंधी प्रारम्भिक कार्य देशी जातियों में से ही चुनाव एवं वाहर से लाए गए विभिन्न प्ररूपों के प्रचलन एवं अनुकूलन तक ही सीमित था। सम्प्रति नवीन परिवर्तन लाने के उद्देश्य से विभिन्न जातियों अथवा एक ही जाति की विभिन्न प्रजातियों या विभेदों में संकरण कार्य किया जा रहा है। भारतीय कपासों की परिवर्तनशीलता की रूपरेखा तैयार की गई है और कपास जननकर्ताओं को विभिन्नताएँ समझाने में सहायता के लिए न केवल विशिष्ट कार्यक्रम तैयार किये गए हैं, बल्कि साथ ही साथ भारत में पैदा होने वाले विभिन्न कपास प्ररूपों का विस्तृत विवरण भी प्रकाशित किया गया है (Kelkar *et al.*, *3rd Conf. Cott.-gr. Probl. India*, 1946, 24; Patel & Thakar, *Indian Cott. Gr. Rev.*, 1950, 4, 185; Hutchinson & Ramiah, *Indian J. agric. Sci.*, 1938, 8, 567; Ramiah, *Description of Cotton Varieties*, Misc. Publ., Indian Cott. Comm., 1948).

भारत में कपास के सुधार तथा प्रजनन के सम्बंध में जो भी कार्य किया गया उसमें प्रति हेक्टर प्राप्त होने वाली कपास को प्रधानता दी गई है। इधर रेशे की लम्बाई और ओटाई-प्रतिशत पर भी विशेष ध्यान दिया जाने लगा है। गॉ. आर्बोरियम कपासों में ओटाई-प्रतिशत एवं रेशों की लम्बाई में ऋणात्मक सम्बंध पाया जाता है अतएव एक सीमा के परे उच्च ओटाई और लम्बे रेशों को एक साथ प्राप्त कर सकना सम्भव नहीं हो पाया।

कपास की उपज बढ़ाने के लिए यह सुझाव रखा गया है कि मक्के के सद्दृश हेटेरोसिस या संकर ओज का उपयोग किया जाए क्योंकि कम से कम लागत पर अधिक उपज देने के लिए यह विधि सर्वश्रेष्ठ सिद्ध हो चुकी है। यह सर्वविदित है कि गॉ. हिर्सुटम × गॉ. बार्बेडेन्स या गॉ. आर्बोरियम × गॉ. हर्बिसियम जैसे अंतरजातीय संकर अत्यधिक जोरदार बढ़ने वाले और जल्दी पैदा होने वाले तथा कभी-कभी बड़े रेशों वाले जनकों के रेशों की लम्बाई के बराबर रेशे देने वाले होते हैं। यह भी पाया गया है कि अंतरजातीय संकरों में अंतरप्रकारीय संकरों की अपेक्षा हेटेरोसिस पर अधिक बल दिया जाता है और एफ-1 पीढ़ी में यह प्रभाव अधिकतम होता है। हाल ही में संकर ओज घटना को व्यवहृत करने के प्रयास हुए हैं जिसमें लम्बे रेशों वाली कपास की प्राप्ति के लिए Co-2 (गॉ. हिर्सुटम) का सी-आइलैंड कपास (गॉ. बार्बेडेन्स) के साथ संकरण करने और कायिक प्रवर्धन द्वारा विकसित संकरों के प्रवर्धन के प्रयास किये गये हैं। उपयुक्त विनिमय से प्राप्त प्रथम पीढ़ी के संकरों से अच्छे लम्बे रेशों की रई प्राप्त हुई (Loden & Richmond, *Econ. Bot.*, 1951, 5, 387; Ganesan, *Indian J. Genet.*, 1942, 2, 134; Ramanatha Ayyar, *Proc. Indian Sci. Congr.*, 1946, pt II, 155; Balasubrahmanyam & Narayanan, *Indian Cott. Gr. Rev.*, 1948, 2, 125; Patel & Patel, *ibid.*, 1952, 6, 205).

रोग तथा नाशक-कीट प्रतिरोधकता की ओर भी विशेष ध्यान दिया गया है। अधिकांश एशियाई कपासों पर फ्यूजेरियम म्लानि का आक्रमण होता है इसलिए म्लानि-प्रतिरोधकता के लिए जनन करने के फल-स्वरूप म्लानि-प्रतिरोधी विभेद विकसित हुये हैं। गॉ. हिर्सुटम कपासों के लिए जैसिड विनाशकारी होता है और ऐसी किसी भी कपास का जो

इसका कुछ भी प्रतिरोध नहीं कर सकती, इस देश में कोई भविष्य नहीं है। इसलिए स्तम्भ धुन जो दक्षिण भारत में होने वाली गॉ. हिर्मुटम कपासों में उग्र रूप धारण करता है, के प्रतिरोधी विभेदों को उत्पन्न करने के लिये मद्रास में प्रयत्न किये गये हैं (Uppal, 1st Conf. Sci. Res. Workers on Cott. India, 1937, 279; Afzal, ibid., 66; Afzal & Ghani, 3rd Conf. Cott.-gr. Probl. India, 1946, 333).

भारत में कपास की खेती भौगोलिक दृष्टि से काफी विस्तृत क्षेत्र में होती है। जलवायु परिस्थितियाँ, वर्षा की मात्रा तथा वितरण, मिट्टियों की संरचना तथा उर्वरता और रोगों, नाशकजीवों का विस्तार तथा उनकी उग्रता प्रत्येक कपास क्षेत्र में समान न होकर भिन्न-भिन्न होती है। इसीलिए स्थान विशेष की विशिष्ट मांगों के अनुसार विभिन्न प्ररूपों के चुनाव की उपादेयता की आवश्यकता हुई। यही नहीं, भारत में पैदा होने वाली अधिकांश कपासें छोटे या मध्यम लम्बे रेशों वाली होती हैं और इनमें से अधिकतर एशियाई प्ररूप होते हैं। कपास विकास की आधुनिक नीति ही यह है कि छोटे रेशों वाले प्ररूपों को मध्यम रेशों वाले प्ररूपों से और मध्यम रेशे वाले प्ररूपों को लम्बे रेशों वाले प्ररूपों से प्रतिस्थापित कर दिया जाए। छोटे रेशों वाली एशियाई कपासों को उच्च श्रेणी के लम्बे रेशों वाले अमेरिकी प्ररूपों द्वारा विस्थापित करना भी इसी नीति का एक अंग है। प्रकारों के चुनाव,

समस्याओं का निराकरण तथा विभिन्न क्षेत्रों के लिए चुनाव करने का कार्य इतना विविध है कि भारत में कपास उत्पादन सम्बंधी चित्र उपस्थित करने के लिए विभिन्न कपास उत्पादन क्षेत्रों को स्पष्टतः पृथक् किया जाए और प्रत्येक क्षेत्र की कपास फसलों की विशिष्टताओं का विवरण प्रस्तुत किया जाए।

भारत में जितने क्षेत्रफल में कपास बोई और उत्पन्न की जाती है उसका 30% अकेले महाराष्ट्र, गुजरात तथा कच्छ में है। इस क्षेत्र में तीन प्रमुख मंडलों में कपास उगाई जाती है। जिनके नाम हैं: गुजरात, खानदेश तथा कर्नाटक। गुजरात को भी पुनः तीन भागों में बाँटा जा सकता है: दक्षिणी, मध्य एवं उत्तरी गुजरात। इन मंडलों तथा उपमंडलों का संक्षिप्त विवरण सारणी 4 में दिया गया है।

इन प्रान्तों में कपास की खेती वर्षा-जल पर निर्भर करती है। विभिन्न क्षेत्रों में कपास की औसत उपज 250 से 600 किग्रा. प्रति हेक्टर है। धारवाड़ में सर्वाधिक तथा उत्तरी गुजरात में सबसे कम उपज होती है। महाराष्ट्र में कपास को अत्यधिक हानि पहुँचाने वाले कीटों में धब्बेदार एवं लाल ढोंडा कृमि, लाल कपास-बग, ऐफिड एवं रोमिल इल्ली प्रमुख हैं। म्लानि तथा मूल विगलन कपास के दो प्रमुख रोग हैं। पहला दक्षिण भारत की काली मिट्टी वाले क्षेत्रों की उपज पर कुप्रभाव डालता है जबकि दूसरा उत्तरी भाग में होता है। कृष्ण शाखिका, लाल पत्ती अंगमारी, एन्थ्रकनोज एवं आल्टरनेरिया रोग भी यदा-कदा हो जाते हैं।

सारणी 4 — महाराष्ट्र, गुजरात और कच्छ में उगायी जाने वाली कपास के प्रमुख विभेदों की विशेषताएँ

क्षेत्र	विभेद	जातियाँ	रेशे की लम्बाई (25 मिमी. में)	कटाई मान (ताना गणना)	ओटाई- प्रतिशत
दक्षिण गुजरात	सूरती स्थानीय	गॉ. हर्वेसियम प्रजाति वाइटियानम	0.85	20	34.8
	1027-ए. एल. एफ.	"	0.95	31	35.8
	सुयोग (संग. 8-1)	"	0.93	30	38.4
	विजाल्पा (2087)	"	0.94	37	36.0
मध्य गुजरात	भड़ौच स्थानीय	"	0.76	13	41.6
	भड़ौच देसी-8 (B·D-8)	"	0.90	40	33.7
	विजय	"	0.88	38	41.2
उत्तरी गुजरात	स्थानीय बागाड	"	0.79	15	37.2
	बागाड-8	"	0.80	14	39.4
	बागोतार (4-1)	"	0.79	20	41.9
	कल्याण	"	0.85	27	39.9
	स्थानीय भैयिग्रो	गॉ. आर्बोरियम प्रजाति बंगालेंस	0.72	13	31.9
	प्रताप	"	0.82	30	35.3
खानदेश	एन. आर.-6	"	0.65	6	40.5
	बनीला	गॉ. आर्बोरियम प्रजाति बंगालेंस × जाति सन्तूम	0.75	16	38.5
कर्नाटक	जरीला (N. V.-56-3)	गॉ. आर्बोरियम प्रजाति बंगालेंस	0.83	24	35.3
	विरतार (197-3)	जरीला × एन. आर.-5	0.85	22	39.4
	स्थानीय कुम्टा	गॉ. हर्वेसियम प्रजाति वाइटियानम	0.82	24	24.8
	जयवन्त	"	0.86	33	26.9
	जयधर	"	0.91	40	32.1
	स्थानीय धारवाड़-अमेरिकी	गॉ. हिर्मुटम प्रजाति लैटिफोलियम	0.72	20	29.6
	गाडग-1	"	0.83	33	33.4
	लक्ष्मी (0-3)	"	0.94	42	36.8

धारवाड़ जिले में अमेरिकी कपास के क्षेत्र को छोड़कर शेष क्षेत्र में गॉ. आर्बोरियम तथा गॉ. हर्वेसियम देशी किस्में ही बोयी जाती हैं। पिछले कुछ दशकों में स्थानीय किस्मों के स्थान पर कपास की उन्नत किस्मों की खेती शुरू हो जाने से प्रति हेक्टर विनीलों की उपज, रई के गुण, ओटाई तथा म्लानि और अन्य रोगों की प्रतिरोधकता में काफी वृद्धि हुई है।

कर्नाटक क्षेत्र में दो अलग-अलग पट्टियों में दो तरह की कपास बोयी जाती है : कुम्प्टा-धारवाड़ (जोवारी या सनहट्टी) तथा धारवाड़-अमेरिकी (विलायती या डोड्डाहट्टी)। इनके अतिरिक्त कुछ भागों में मद्रास की कम्बोडियाई कपास Co-2 तथा Co-4 भी थोड़ी मात्रा में बोयी जाती है। शोलापुर जिले में मद्रास उगाण्डा-1 (Co-4/B-40) को भी सिंचाई की सुविधा वाले भागों में सफलतापूर्वक उगाया गया है। 1952-53 में यह किस्म 9,600 हेक्टर में बोयी गयी थी। स्थानीय किस्म कुम्प्टा पर म्लानि रोग लगता था अतः इसके स्थान पर इस रोग का प्रतिरोध करने वाली जयवन्त तथा जयधर किस्में विकसित की गयीं। जहाँ-जहाँ 'कुम्प्टा' किस्म बोयी जाती थी वहाँ अब जयधर उगायी जाने लगी है। भारत की परिस्थितियों में ढली हुई पठारी जार्जियन प्ररूप की अमेरिकन कपास शुरू से ही कर्नाटक क्षेत्र में उगायी जा रही है। ऐसी ही किस्मों में से धारवाड़-अमेरिकी अर्थात् विलायती किस्म चुनी गयी जिसका स्थान बाद में गाडान-1 और लक्ष्मी (9-3) किस्मों ने ले लिया। ये दोनों किस्में लालपर्ण अंगमारी, प्रतिरोधी एवं बहुत अच्छी रई वाली हैं। भारत में अमेरिकी कपासों के तमाम प्ररूपों में लक्ष्मी सर्वश्रेष्ठ है। धारवाड़-अमेरिकी कपास क्षेत्र के अतिरिक्त तमिलनाडु, मैसूर, तथा आंध्र में भी यह प्ररूप उगाया जाता है। 1953-54 में कर्नाटक में 2 लाख हेक्टर में जयधर तथा 2.4 लाख हेक्टर में लक्ष्मी प्ररूप उगाये गये थे (Kottur, *Bull. Dep. Agric. Bombay*, No. 106, 1920; Prayag, *Indian Fmg.*, 1942, 3, 483; Pavate, *ibid.*, 1946, 7, 392; *Rep. Indian Cott. Comm.*, 1947, 55; Tippannavar & Patil, *Indian Cott. Gr. Rev.*, 1952, 6, 26)।

उत्तम ओटाई के गुणों वाली ऊँची पैदावार देने वाली कपासों की खेती बहुत पहले से ही खानदेश में की जा रही है। पहले की स्थूल छोटे रेशे और निम्न कताई गुणों वाली किस्मों का स्थान क्रम से N.R.-6 और वनीला इन दो किस्मों ने ले लिया है। इनमें से वनीला अच्छे रेशे वाली किस्म होते हुए भी म्लानि से प्रभावित होती थी, अतः इसके स्थान पर लम्बे रेशे वाली म्लानिरोधी तथा उस क्षेत्र की मौसमी प्रतिकूलताओं को सहने में समर्थ जरीला (N.V.-56-3) विभेद बोई जाने लगी। वनीला और N.R.-6 की तुलना में जरीला का ओटाई-प्रतिशत कम है अतः इसका स्थान अधिक ओटाई-प्रतिशत वाली विरनार किस्म ने ले लिया है जो जरीला और N.R.-5 के संकरण से विकसित मिश्रित किस्म है। 1953-54 में पूरे 29.6 लाख हेक्टर क्षेत्र में विरनार उगायी गयी थी (Prayag, *Mem. Dep. Agric. India, Bot.*, 1927, 15, 1; Khadilkar, *Indian Cott. Gr. Rev.*, 1947, 1, 64, 190; 1950, 4, 212)।

दक्षिण गुजरात में उगायी जाने वाली कपासों बहुत पहले से अपने गुणों के लिए विख्यात रही हैं। 1923 के 'कॉटन ट्रांसपोर्ट ऐक्ट' के अनुसार इस सम्पूर्ण क्षेत्र को आरक्षित क्षेत्र घोषित किया गया है और इसमें अन्य कपासों की खेती या व्यापार पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया है। पुरानी स्थानीय किस्म, सूरती, का स्थान पहले 1027-ए. एल. एफ. ने, फिर बाद में सुयोग ने ले लिया। इन दोनों किस्मों से अच्छी उपज मिलती है, रेशे उत्तम होते हैं और ओटाई-प्रतिशत

अधिक होता है। पश्चिमी खानदेश के थोड़े भाग को छोड़कर जहाँ 1027-ए. एल. एफ. बोयी जाती है इस सम्पूर्ण क्षेत्र में सुयोग ही उगायी जाती है परन्तु इन दोनों किस्मों में म्लानि रोग का आक्रमण होता है इसलिए 1027-ए. एल. एफ. तथा विजय के संकरण से एक नयी म्लानिरोधी उन्नत किस्म 2087 विकसित की गयी है। इस किस्म से अच्छी ओटाई और कताई के साथ ही प्रति हेक्टर 18 किग्रा. विनीले अधिक प्राप्त होते हैं। सम्पूर्ण सूरत-क्षेत्र के सिर्फ थोड़े से ही भाग में अब 1027-ए. एल. एफ. उगायी जाती है और शेष सभी भागों में सुयोग और 2087 किस्मों की खेती की जाती है (Patel, *2nd Conf. Cott.-gr. Probl. India*, 1941, 48; *Indian Cott. Gr. Rev.*, 1947, 1, 19; Patel & Bhat, *ibid.*, 1953, 7, 230)।

किसी समय मध्य गुजरात में उगाई जाने वाली भड़ौच की तुलना में अन्य भारतीय कपासों का मानक निर्धारित किया जाता था, किन्तु बाद में गोधारी किस्म के अधिमिश्रण से जो अच्छी ओटाई के होते हुये भी घटिया किस्म है, इसके गुण कम हो गए और इसमें म्लानि रोग का आक्रमण होने लगा। इसके स्थान पर पहले लम्बे रेशे, उच्च कताई गुण और म्लानिरोधी बी. डी.-8 प्ररूप विकसित किया गया और बाद में इससे भी उन्नत मिश्रित प्ररूप विजय ने जिसमें बी. डी.-8 के सारे गुणों के अतिरिक्त उत्तमतर ओटाई-प्रतिशत का गुण था, यह स्थान ले लिया। 1953-54 में कपास उगाने वाले इस सम्पूर्ण क्षेत्र के लगभग 90% क्षेत्रफल में विजय प्ररूप उगाया जाता था (Patel, *Indian Cott. Gr. Rev.*, 1947, 1, 194)।

उत्तरी गुजरात, सौराष्ट्र और कच्छ में मुख्य रूप से वागाड, लैलियो और मैथिओ कपासों उगाई जाती रही हैं। अधिक ठोंडों वाली वागाड किस्म पर तेज हवा तथा शुष्क जलवायु का असर नहीं पड़ता, लेकिन इसका रेशा काफ़ी मोटा और लम्बाई में छोटा होता है। अब उच्च पैदावार और अच्छे रेशे वाले वागोतार एवं कल्याण उन्नत प्ररूपों ने इसका स्थान ले लिया है। 1953-54 में कपास के कुल क्षेत्र के 82% में अर्थात् 1.6 लाख हेक्टर में कल्याण बोयी गई थी। दक्षिण सौराष्ट्र के मैथिओ प्ररूप का रेशा भी छोटा और मोटा होता है अतः इसके स्थान पर कल्याण तथा अधिक उपज, लम्बे रेशे और अच्छी ओटाई-प्रतिशत वाले प्रताप प्ररूप बोये जाने लगे। 1953-54 में कपास के कुल क्षेत्रफल के लगभग 5% में यह प्ररूप बोया जाने लगा (Patel & Mankad, *Mem. Dep. Agric. India, Bot.*, 1926, 14, 59; Patel, *Indian Cott. Gr. Rev.*, 1949, 3, 84; Patel & Patel, *ibid.*, 1948, 2, 140)।

विभिन्न क्षेत्रों में विकसित स्थानीय किस्मों के स्थान पर एशियाई और अमेरिकी कपासों की अंतर्जातीय संकर किस्में उगाने के प्रयत्न किये गये जिससे अच्छे गुणों का लम्बा रेशा प्राप्त हो सके। ऐसी संकर किस्मों में एक ओर तो गॉ. आर्बोरियम या गॉ. हर्वेसियम की विभिन्न किस्मों से प्राप्त संकरण हैं और दूसरी ओर गॉ. हिस्टम या गॉ. बार्बेन्स से प्राप्त संकरण हैं। लम्बे रेशे वाली इण्डो-अमेरिकी 170-Co-2 तथा 134-Co-2M किस्मों को डेकन के नहरी हल्की मिट्टी वाले और गोरान्ध क्षेत्र में उगाया गया है। अच्छी वर्षा या सिंचाई की सुविधा वाले क्षेत्रों में प्रति हेक्टर कपास की उपज, रेशों के गुण और कताई की दृष्टि से इण्डो-अमेरिकी 170-Co-2 किस्म मद्रास उगाण्डा-1, सुयोग या 2087 के ही बराबर या इससे भी अच्छी सिद्ध हुई। इसके रेशे की लम्बाई 2.7-2.8 सेंमी. तक होती है और यह 42 से 48 काउण्ट तक काती जा सकती है (Patel & Patel, *4th Conf. Cott.-gr. Probl. India*, 1949, 4; *Indian Cott. Gr. Rev.*, 1954, 8, 27; *Rep. Indian Cott. Comm.*, 1954, 46)।

सारणी 5 — महाराष्ट्र में कपास उगाने वाले मुख्य क्षेत्रों की विशेषताएँ

क्षेत्र	व्यापारिक किस्में	उगाने वाले क्षेत्र	मिट्टी	वर्षा (सेमी. में)	उगाई गई या संस्तुत उत्त किस्में
अकोला-अमरावती	ऊमरा और कम्बोडिया	अकोला (अकोला, वालापुर, अकोट, मुतेजापुर और मांगुलपीर तालुके) और अमरावती (दरयापुर, एनिचपुर एवं अमरावती तालुके)	भारी और मध्यम काली मिट्टी	75-87.5	एच-420 तथा बूढ़ी-0394
घाट	ऊमरा	यवतमाल (यवतमाल, घुसाद, पंढरका-वाडा, वुन एवं दरवाहा तालुके) और अकोला (बसीम तालुका)	मध्यम और हल्की; ऊबड़खावड़	87.5-100	एच-420 तथा बूढ़ी-0394
बुल्डाना	ऊमरा	बुल्डाना (भलकापुर, चिखली, मेहकर, खेमगांव और जलगांव तालुके)	अधिकांशतः मध्यम या हल्की मिट्टी, कभी-कभी भारी मिट्टी	75-100	जरोला, बिरनार एवं मालिनी-5ए
नागपुर-वर्धा	ऊमरा और कम्बोडिया	नागपुर, वर्धा, चांदा, अमरावती (भोरसी एवं चान्दुर तालुके) एवं छिन्दवाड़ा (सोसर तालुका)	भारी और मध्यम किस्म की काली मिट्टी	100-125	एच-420 एवं बूढ़ी-0394
निमाड़	ऊमरा और बूढ़ी	निमाड़ (बुरहानपुर, खंडवा एवं हरसुद तहसीलें), होशंगाबाद (हर्दा तहसील) एवं अमरावती (मेलघाट तहसील)	समतल मैदानी भागों में मध्यम और भारी काली मिट्टी, ऊँचे भागों में हल्की मिट्टी	75-100	एच-420 एवं बूढ़ी-0394

महाराष्ट्र — भारत के कपास उगाने वाले क्षेत्रों में महाराष्ट्र का दूसरा स्थान है और कपास के कुल क्षेत्रफल का 20% से भी अधिक यही है। प्रमुख व्यापारिक फसल होने के कारण प्रदेश में कपास की कृषि का अर्थ-व्यवस्था में प्रमुख स्थान है। यहाँ के कपास उगाने वाले पाँच मुख्य क्षेत्र नागपुर-वर्धा, निमाड़, अकोला-अमरावती, घाट तथा बुल्डाना हैं। इन क्षेत्रों की मुख्य विशेषताओं को सारणी 5 एवं विभिन्न जिलों में कपास के क्षेत्र एवं उत्पादन को सारणी 6 में दर्शाया गया है।

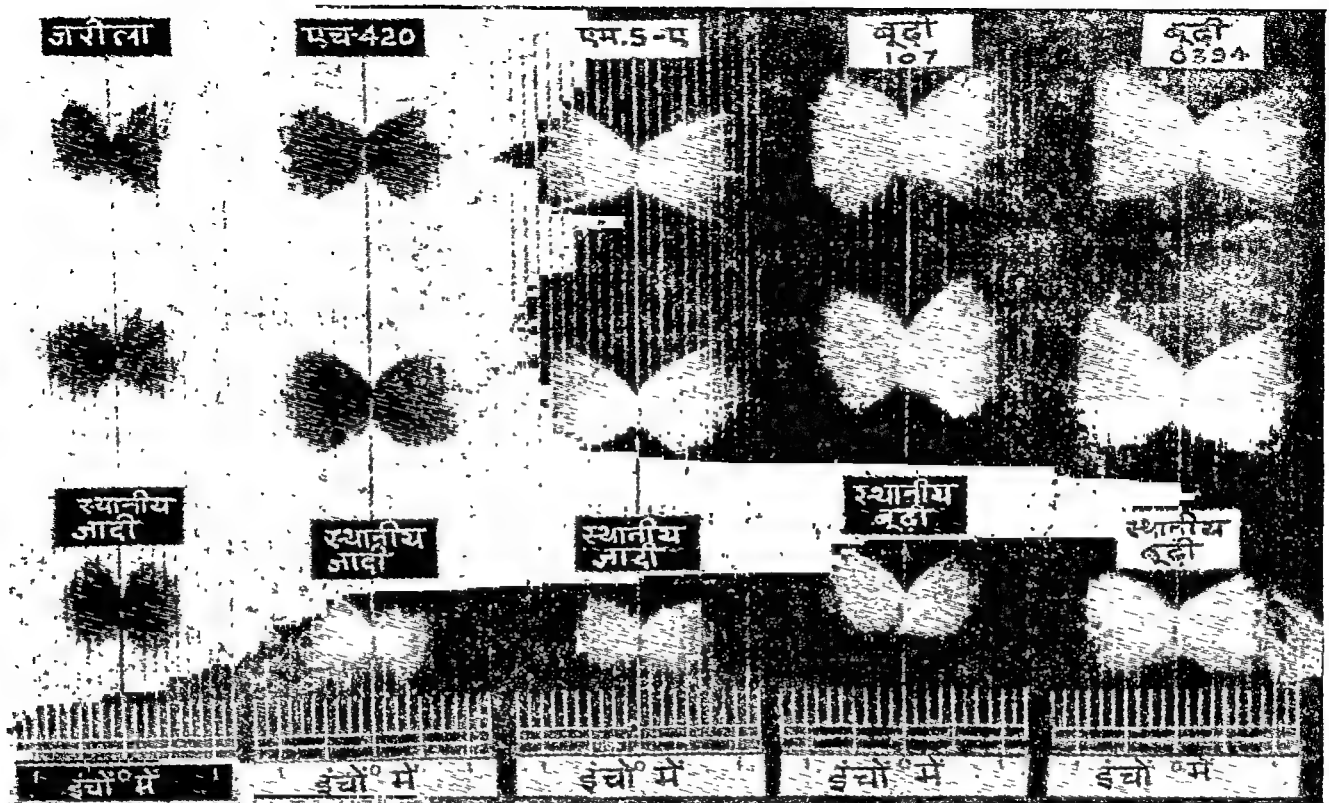
आमतौर पर वर्षा सिंचित भूमि में ही कपास की खेती की जाती है। सारे प्रदेश में प्रति हेक्टर विनीलों की उपज लगभग 310 किग्रा. (रुई 102 किग्रा.) है। उत्तम कृषि विधियों और खादों के प्रयोग से 730 किग्रा. तक उपज भी प्राप्त की गयी है (Panse & Sahasrabudhe, *Indian Cott. Gr. Rev.*, 1947, 1, 10)।

महाराष्ट्र में कपास के प्रमुख नाशकारी कीट गुलाबी और चित्तीदार ढोंडा कृमि, चने की इल्ली, जैसिड, एफिस तथा पर्ण वेल्क हैं। रोगों में धसर फफूंदी और लाल पर्णरोग मुख्य हैं। इनके अतिरिक्त गाँ. आर्वोरियम तथा गाँ. हिस्टम की पौध में राइजोक्टोनिया फफूंद से उत्पन्न होने वाली पौध अंगमारी और कृष्ण शाखिका (एंगुलर लोक स्पॉट) रोगों का भी पता लगा है। महाराष्ट्र में उगाई जाने वाली कपास की किस्में म्लानि रोग-रोधी हैं।

महाराष्ट्र में उगाई जाने वाली कपास का प्रमुख भाग गाँ. आर्वोरियम का है जिसका व्यापारिक नाम ऊमरा है। इसके पूर्व बानी कपास उगायी जाती थी जो भारतीय कपासों में श्रेष्ठ मानी जाती थी। इसकी उपज तथा ओटाई-प्रतिशत बहुत न्यून थे अतः इसका स्थान एक मोटी कपास की मिश्रित किस्म, 'जादी' ने लिया जो जल्दी तैयार होने के साथ ही अधिक ओटाई-प्रतिशत वाली भी थी। बाद में, जादी किस्म के ही वर्ण से रोजियम किस्म विकसित की गयी लेकिन यह म्लानि रोग से

सारणी 6 — महाराष्ट्र में कपास का क्षेत्रफल और उत्पादन

	क्षेत्रफल (हेक्टर)		उत्पादन (टन)	
	1963-64	1964-65	1963-64	1964-65
धुलिया	1,02,949	93,144	73,821	43,027
जलगांव	2,86,915	2,90,873	1,94,203	1,63,497
नासिक	26,678	23,406	27,432	13,600
अहमदनगर	47,685	33,368	71,546	36,341
पूना	10,333	10,333	8,799	7,647
सतारा	2,954	2,954	5,164	4,605
सांगली	7,259	7,954	7,812	4,506
कोल्हापुर	1,403	1,403	616	549
शोलापुर	13,028	10,531	16,720	8,269
औरंगाबाद	1,78,145	1,78,145	76,264	91,253
परभणी	2,39,522	2,55,035	80,568	82,107
भोर	56,944	68,409	26,304	18,540
मानदेद	1,90,578	1,94,230	66,936	44,026
उस्मानाबाद	54,721	54,721	22,450	13,681
बुल्डाना	2,63,210	2,67,427	1,30,367	1,20,668
अकोला	3,29,180	3,19,086	1,43,552	1,30,058
अमरावती	3,54,002	3,49,855	1,96,166	2,14,457
यवतमाल	3,27,478	3,27,333	1,77,571	1,43,469
वर्धा	1,70,024	1,65,125	69,253	55,776



चित्र 21 - महाराष्ट्र की कपासों के रेशे की लम्बाई

प्रभावित होने वाली थी अतः अच्छे रेशे और म्लानिरोधी वीरम-262 तथा वीरम-434 उन्नत किस्मों ने इसका स्थान ले लिया। द्वितीय विश्वयुद्ध से पूर्व जब छोटे रेशे वाली कपास के प्रमुख आयातक देश जापान ने छोटे रेशे वाली कपासों का आयात बन्द कर दिया तो मध्यम रेशे वाली कपासों की मांग बढ़ने लगी। इसकी पूर्ति के लिये खानदेश में जरीला चुनी गई जो मीसम की प्रतिकूल परिस्थितियों के लिए अनुकूल नहीं पायी गयी, विशेष रूप से विलम्ब से होने वाली वर्षा का इस किस्म पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ता था। अतः इसके स्थान पर बानी (गाँ. आर्बोरियम प्रजाति इंडिकम) तथा गारो हिल कपास (गाँ. आर्बोरियम प्रजाति सनूम) के संकरण से विकसित एच-420 किस्म उगायी जाने लगी। यह किस्म अच्छे रेशे वाली थी तथा विभिन्न प्रकार की मिट्टियों और जलवायु के अनुकूल थी। एक और उन्नत किस्म मालिनी (एम-5ए) को जरीला के स्थान पर बुल्डाना क्षेत्र में उगाया जाने लगा। यह किस्म अत्यधिक सहिष्णु, म्लानिरोधी और देर से होने वाली वर्षा के कुप्रभावों को भी जरीला से कहीं अच्छी तरह सह सकने में समर्थ है (Mahta, 1st Conf. Sci. Res. Workers on Cott. India, 1937, 401; Rep. Indian Cott. Comm., 1951, 41; 1952, 45; 1953, 62; Kolte, Indian Cott. Gr. Rev., 1954, 8, 125)।

निमाड़, वर्धा, अमरावती तथा यवतमाल की मध्यम या भारी मिट्टियों तथा दीर्घकालिक वर्षा वाले क्षेत्रों में अमेरिकी कपास (गाँ. हिस्टम प्रजाति लैटिफोलियम) उगायी जाती है। अक्सर इसे मध्य

प्रदेश कम्बोडिया कहते हैं यद्यपि यह मद्रास-कम्बोडिया से बहुत ही कम मिलती-जुलती है। बूढ़ी-107 और बूढ़ी-0394 नामक दो चुनी किस्में इसका स्थान ले रही हैं जिनमें बूढ़ी-0394 अधिक लोकप्रिय हुई है। महाराष्ट्र में उगायी जाने वाली कपासों की विशेषताएँ सारणी 7 में दी गई हैं।

मैसूर तथा आन्ध्र प्रदेश (पूर्व-हैदराबाद) - भारत में कपास उगाने वाले क्षेत्रों में आन्ध्र प्रदेश तथा मैसूर का तीसरा स्थान है जहाँ कुल फसल का 18% उगाया जाता है। इन प्रदेशों की फसलों में कपास को द्वितीय स्थान प्राप्त है, क्योंकि ज्वार (सोरघम वल्नेर) का क्षेत्रफल सब से अधिक है। यहाँ कपास उगाने वाले दो मुख्य क्षेत्र हैं: पश्चिमी (मरहठवाड़ा) तथा पूर्वी (तेलंगाना)। दोनों क्षेत्रों की भूमि और जलवायु में काफी अन्तर है। इन प्रदेशों में कपास की कुल फसल का 88% मरहठवाड़ा में उगाया जाता है और तेलंगाना में मुख्यतः अदीलाबाद में 10% कपास उगायी जाती है। कपास उगाने वाले विभिन्न क्षेत्रों की विशेषताएँ सारणी 8 में प्रदर्शित हैं।

कपास की अधिकांश फसल वर्षा सिंचित क्षेत्रों में ही बोयी जाती है। केवल 0.3% भाग कुँआँ द्वारा सिंचाई करके उगाई जाती है। कपास की फसल मुख्य रूप से खरीफ में बोयी जाती है लेकिन मरहठवाड़ा के गुलवर्गा, रायचूर तथा तेलंगाना के लगभग सभी जिलों में रबी में भी फसल बोई जाती है (Sawhney, Cotton Growing in Hyderabad State, Vol. 1, Indian Cott. Comm., 1939, 15)।

सारणी 7 - महाराष्ट्र की मुख्य किस्मों की विशेषताएँ

किस्म	जाति	रेशे की लम्बाई (इंचों या 25 मिमी. में)	कताई मान (ताना गणना)	ओटाई-प्रतिशत
बानी	गॉ. आर्बोरियम प्रजाति इंडिकम	7/8	35-40	25-26
स्थानीय जादी	गॉ. आर्बोरियम प्रजाति इंडिकम और प्रजाति बंगालेंस	3/8-5/8	8-10	33-35
रोजियम	गॉ. आर्बोरियम प्रजाति बंगालेंस	4/8-11/16	8-10	36-40
वीरम-262	"	13/16	25	32-33
वीरम-434	"	14/16	32	31-32
जरीला	"	12/16-14/16	24	34-35
मालिनी-5ए	"	14/16	34	36
एच-420	गॉ. आर्बोरियम प्रजाति इंडिकम × गॉ. आर्बोरियम प्रजाति सनूम	7/8-15/16	30	33-34
बूड़ी-107	गॉ. हिंसुटम प्रजाति लैटिफोलियम	15/16-1.0	40	28
बूड़ी-0394	"	7/8-15/16	42	34-35

सारणी 8 - आन्ध्र प्रदेश तथा मैसूर में प्रमुख कपास उगाने वाले क्षेत्रों की विशेषताएँ*

व्यापारिक किस्में	क्षेत्र जहाँ बोयी जाती हैं	मिट्टी	वर्षा (सेमी.)	बोयी जाने वाली अथवा क्षेत्र के लिए विकसित उन्नत किस्में
हैदराबाद अमेरिकन	अदीलाबाद	काली मिट्टी	55-100	परभणी अमेरिकन-1
हैदराबाद ऊमरा	औरंगाबाद, परभणी के कुछ भाग, बीर, उस्माना- बाद, अदीलाबाद एवं करीमनगर	"	"	गाबोरानी-12 एवं जरीला
हैदराबाद गाबोरानी	नाण्डेर, बीदर, परभणी के कुछ भाग, उस्मानाबाद, बीर एवं अदीलाबाद का निर्मल तालुक	"	"	गाबोरानी-6 एवं गाबोरानी-12
कुम्प्टा	रायचूर एवं गुलबर्गा का दक्षिणी क्षेत्र	काली और लाल मिट्टी का संमिश्रण	45-75	जयधर, रायचूर-कुम्प्टा-19 एवं लक्ष्मी
कोकानाड	नालगोंडा एवं वारंगल के कुछ क्षेत्र	हल्की बलुई और हल्की काली मिट्टियों का मिश्रण	65-100	कोकानाड-1 एवं कोकानाड-2

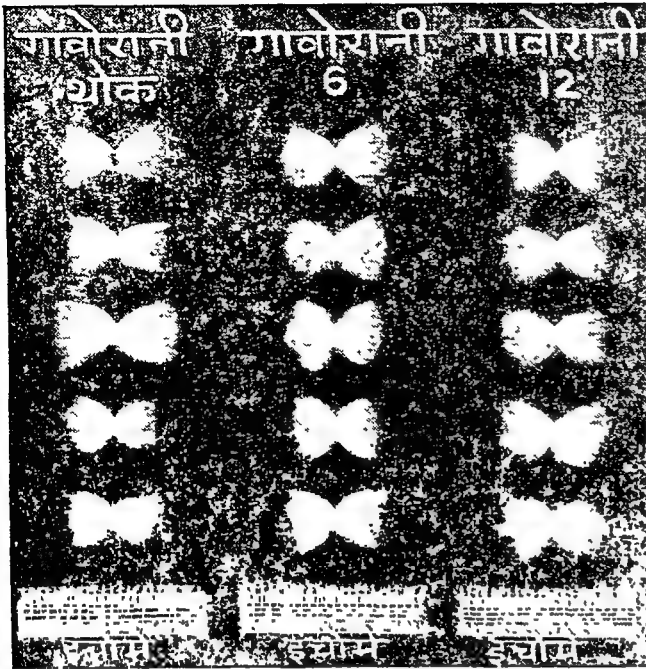
*Sawhney, *Cotton Growing in Hyderabad State*, Vol. 1, Indian Cott. Comm., 1949; Khurshid, *Indian Cott. Gr. Rev.*, 1947, 1, 40; 1949, 3, 27.

कपास के शत्रु कीटों में गुलाबी ढोंडा कृमि और चित्तीदार ढोंडा कृमि विशेष हैं। अमेरिकी कपास को जैसिड बहुत हानि पहुँचाते हैं। फ्यूजेरियम फफूंद से उत्पन्न म्लानि रोग यहाँ गम्भीर रोग है। जड़-गलन का भी पता लगा है लेकिन इसका आक्रमण गम्भीर नहीं होता।

यहाँ की कपास को चुनते समय विशेष ध्यान न देने से व्यापारिक दृष्टि से काफी नुकसान होता है। अलग-अलग जिलों में प्रति हेक्टर अलग-अलग उपज होती है जो बहुत ही कम है (लगभग 150-200 किग्रा. कपास या 62 किग्रा. रेशा प्रति हेक्टर)। खरी की अपेक्षा खरीफ की फसल से अधिक उपज मिलती है।

मैसूर तथा आन्ध्र प्रदेश में उगायी जाने वाली कपासों को व्यापारिक दृष्टि से पाँच मुख्य भागों में रखा गया है : हैदराबाद ऊमरा, हैदराबाद गाबोरानी, हैदराबाद अमेरिकी, कुम्प्टा तथा कोकानाड-वारंगल। पहले विभिन्न किस्में उगायी जाती थीं जिससे उनके अधिमिश्रण बन जाते थे। खरीफ और खरी दोनों मौसमों में फसल बोने से वर्षभर फसल खेतों में रहती थी जिससे गुलाबी तथा चित्तीदार ढोंडा-कीटों पर नियंत्रण करना एक समस्या बन जाता था। यह समस्या 1929 के

“कांटन कल्टिवेशन एण्ड ट्रांसपोर्ट एक्ट” के अनुसार गाबोरानी तथा रायचूर-कुम्प्टा क्षेत्रों को आरक्षित घोषित करने से तथा उन्नत किस्मों की खेती द्वारा हल की जा सकी। गाबोरानी और बानी की देसी किस्मों से गाबोरानी क्षेत्र के लिए गाबोरानी-6, गाबोरानी-6-ई-3 और गाबोरानी-12 किस्में विकसित की गयीं। ये सभी किस्में गॉ. आर्बोरियम प्रजाति इंडिकम के अन्तर्गत आती हैं तथा उच्च उपज, अच्छे रेशे और कताई के गुणों से युक्त होती हैं। इनमें गाबोरानी-12, गाबोरानी-6 से कहीं अधिक म्लानिरोधी किस्म है तथा खरीफ में फसल बोने वाले क्षेत्रों के लिए विशेष रूप से अच्छी है। रायचूर-कुम्प्टा आरक्षित क्षेत्र में उगायी जाने वाली देसी किस्मों का स्थान बम्बई की जयवन्त तथा जयधर किस्मों ने ले लिया है। स्थानीय कुम्प्टा कपास से विकसित की गई एक उन्नत किस्म रायचूर-कुम्प्टा-19 इस क्षेत्र के लिए म्लानि-रोधी, उच्च उपज, अच्छी ओटाई और कताई के गुणों के कारण विशेष रूप से अच्छी है (Sawhney, *1st Conf. Sci. Res. Workers on Cott. India*, 1937, 263; *Agric. Live-Stk India*, 1938, 8, 629; *Cotton Growing in Hyderabad State*, Vol. 1, Indian Cott. Comm.,



चित्र 22 - गावोरानी कपास के रेशे की लम्बाई

1939, 39; Khurshid, *Indian Cott. Gr. Rev.*, 1947, 1, 40; 1949, 3, 27; Narayanayya, *ibid.*, 1949, 3, 187; Baderker, *ibid.*, 1950, 4, 79; *Rep. Indian Cott. Comm.*, 1950, 56; 1951, 68; 1952, 70).

औरंगाबाद और अदीलाबाद के ऊँचे भागों में थोड़ी बहुत गाँ. हिंसुंदम प्रजाति लैटिफोलियम अमेरिकी कपास उगायी जाती है. यह प्ररूप परभणी अमेरिकन-1 कहलाता है. यह जैसिडरोधी है और अच्छी वर्षा वाले भागों के लिए उत्तम है.

इस प्रदेश में कपास के पूरे क्षेत्रफल को देखते हुए आरक्षित क्षेत्र बहुत ही कम है. उन्नत किस्मों के लिए अभी पर्याप्त क्षेत्र है. हैदराबाद ऊमरा जैसे बड़े क्षेत्र में गाँ. आर्बोरियम प्रजाति इंडिकम तथा प्रजाति बंगालेन्स की मिली-जुली किस्में ही बोयी जाती हैं. अभी ऐसे कपास उगाने वाले बड़े क्षेत्रों में उन्नत किस्मों की खेती पर ही बल देना होगा. आन्ध्र प्रदेश तथा मैसूर के साथ लगे प्रदेशों से भी कुछ किस्में यहाँ आ गयी हैं, जैसे उत्तरी जिलों में महाराष्ट्र की जरीला तथा वीरम, और पश्चिमी जिलों में बम्बई की गाडाग-1 तथा लक्ष्मी, सारणी 9 में उन्नत किस्मों की विशेषताएँ दर्शायी गयी हैं.

मैसूर - भारत के कपास उपजाने वाले क्षेत्रों में मैसूर राज्य को उँचा स्थान प्राप्त है. मैसूर के कपास क्षेत्र का दो-तिहाई भाग वेल्लारी में है (सारणी 10). वेल्लारी जिले के अतिरिक्त, इस राज्य के कपास क्षेत्रों को दो मण्डलों में बाँटा जा सकता है : एक तो सन्नहट्टी (देसी कपास) मण्डल और दूसरा डोडाहट्टी (अमेरिकी कपास) मण्डल. पूर्वोक्त में मैसूर और चितलदुर्ग जिले के काली कपासी मिट्टी वाले क्षेत्र और दूसरे में मैसूर, हसन, शिमोगा, चिकमगलूर और चितलदुर्ग के लाल मिट्टी वाले क्षेत्र आते हैं. उत्तरी जिलों में 37.5-62.5 सेंमी. तक और दक्षिणी क्षेत्रों में 62.5 से 100 सेंमी. तक औसत वर्षा होती है.

काली कपासी मिट्टी वाले क्षेत्रों में अधिकांश फसल की उपज वर्षा-पोषित दशाओं में होती है. लाल मिट्टी वाले क्षेत्रों में सिंचाई और वर्षा-पोषित दोनों ही तरह से उपज होती है. काली कपासी मिट्टी के क्षेत्रों में खेती की पद्धति वही है, जो ऐसी ही मिट्टी वाले महाराष्ट्र और आन्ध्र प्रदेश के क्षेत्रों में है (Yegna Narayan Aiyer, 328).

मैसूर राज्य में कपास की फसल को हानि पहुँचाने वाले नाशक-जीवों में गुलाबी सूंडी (ढोंडा कृमि) और चित्तीदार सूंडी मुख्य हैं. कभी-कभी श्यामल वग से अमेरिकी कपास को हानि पहुँचती है. देसी कपास का मुख्य रोग म्लानि है. अमेरिकी कपास कभी-कभी मूल-

सारणी 9 - मैसूर तथा आन्ध्र प्रदेश की कपास की मुख्य किस्मों की विशेषताएँ

किस्म	जाति	रेशे की लम्बाई (इंचों या 25 मिमी. में)	कटाई मान (ताना गणना)	ओटाई-प्रतिशत
गावोरानी-6	गाँ. आर्बोरियम प्रजाति इंडिकम	0.85	36	32
गावोरानी-6-ई-3	"	0.86	35-40	32
गावोरानी-12	"	0.85	30-35	32
परभणी अमेरिकन-1	गाँ. हिंसुंदम प्रजाति लैटिफोलियम	0.92	30	32
रायचूर-कुम्प्टा-19	गाँ. हर्वेसियम प्रजाति वाइटियानम	0.81	24	28-29

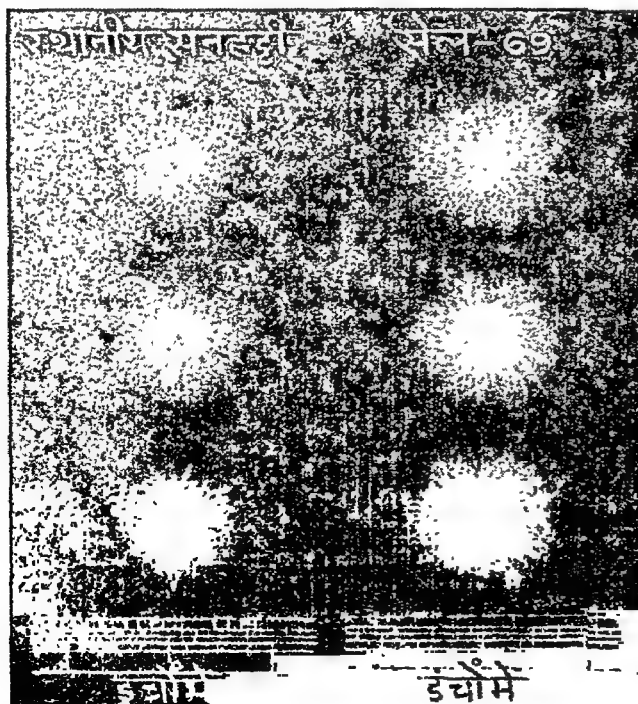
सारणी 10 - मैसूर में कपास का क्षेत्रफल और उत्पादन

	क्षेत्रफल (हेक्टर)		उत्पादन (टन)	
	1963-64	1964-65	1963-64	1964-65
तुमकुर	972	961	329	408
मैसूर	3,732	3,572	1,096	1,021
मांड्या	2	2	1	1
हसन	5,395	5,395	2,958	2,677
शिमोगा	6,797	6,819	5,150	5,002
चिकमगलूर	580	456	219	462
चितलदुर्ग	51,199	51,490	27,257	26,195
वेल्लारी	98,925	1,06,365	59,689	52,852
धारवाड़	2,39,611	2,44,175	92,131	93,885
बेलगांव	75,675	73,980	21,935	23,195
बीजापुर	2,11,538	2,01,954	72,578	58,538
वीरर	7,502	7,501	1,205	1,268
रायचूर	2,86,705	2,84,188	83,104	89,099
गुलबर्गा	47,564	47,767	12,380	12,432
कनारा (द.)	10	10	6	6
कुल	10,36,207	10,34,636	3,80,038	3,67,220

गलन से संक्रमित होती हैं। प्रतिरोधी विभेदों के प्रचलन के कारण, लाल पर्ण अंगमारी अब नियंत्रण में है अन्यथा इससे अमेरिकी कपासों को काफी हानि पहुँचती थी।

देशी प्ररूपों (सन्नहट्टी) से कपास की औसत उपज 300 किग्रा. प्रति हेक्टर होती है। अमेरिकी प्ररूपों (डोडाहट्टी) से वर्षा-पोषित अवस्था में 400 से 500 किग्रा. और सिंचित अवस्था में 600 से 800 किग्रा. प्रति हेक्टर तक कपास की प्राप्ति होती है। यदि समय से जुताई की जाए और ढंग से खाद दी जाए तो 1,200 किग्रा. प्रति हेक्टर तक उपज मिल सकती है (Dorasami & Iyengar, *Indian Cott. Gr. Rev.*, 1948, 2, 9; 1951, 5, 1).

मैसूर में उगने वाली देशी कपासों अधिकतर गाँ. हर्वेसियम प्रजाति वाइटियानम से और अमेरिकी प्ररूप गाँ. हिंसुंम प्रजाति लैटि-फोलियम से निकली हैं। दूसरा प्ररूप बहुत कुछ पठारी जाजियन कपास के समान है, जो बम्बई में धारवाड़ से प्रविष्ट की गई गाँ. हिंसुंम के बहुवर्षी प्ररूपों के एक वार्षिक प्ररूप से संकरण करके मैसूर अमेरिकन के चार विभेदों, एम. ए.-I-IV, का विकास किया गया। इनमें से एम. ए.-II लाल पर्ण अंगमारी प्रतिरोधी है और इससे अच्छी रेशा लम्बाई और ओटाई-प्रतिशतता वाली कपास की उपज भी अधिक होती है। सिचाई सुविधाओं के फलस्वरूप Co-2, 289-F-1, 289-F-38 और उगाण्डा कपासों से चयन और संकरण द्वारा सिंचित क्षेत्रों के लिए उपयुक्त नये विभेदों का विकास हुआ। इनमें से एम. ए.-V जल्दी पकने, सूखा प्रतिरोध, अधिक उपज और वर्षा-पोषित तथा सिंचित दोनों अवस्थाओं में अनुकूलनशीलता के गुणों के कारण विशेष रूप से प्रचलित हुई। यह विभेद अब भारत की लम्बे रेशे वाली श्रेष्ठ कपासों में मद्रास उगाण्डा के समकक्ष है (Yegna Narayan Aiyer, 345;



चित्र 23 - मैसूर देशी कपास के रेशे की लम्बाई

सारणी 11 - मैसूर में कपास के प्रमुख विभेदों की विशेषताएँ

विभेद	जातियाँ	रेशे की लम्बाई (इंचों या 2.5 सेमी. में)	ओटाई-प्रतिशत	कताई मान (ताना गणना)
सेल-69	गाँ. हर्वेसियम प्रजाति वाइटियानम	13/16	30	30
एच-190	सेल-69 × गाँ. ग्रावोरियम प्रजाति इंडिकम	$\frac{7}{8}$	30	32
एम. ए.-II	गाँ. हिंसुंम प्रजाति लैटिफोलियम	$\frac{7}{8}$	30	34
एम. ए.-V	"	$1\frac{1}{8}$	35	36
एम. ए.-VI	"	$1\frac{1}{2}$	35	40
एम. ए.-IX	"	15/16	36	39
गिजा-12	गाँ. वावडेन्स	$1\frac{3}{8}$	34	60
गिजा-7	"	$1\frac{5}{8}$	34	70

Dorasami, *Indian Cott. Gr. Rev.*, 1947, 1, 39; Dorasami & Iyengar, loc. cit.).

प्रारम्भिक वर्षों में मैसूर में उपजने वाली देशी कपासों (अधिकतर गाँ. हर्वेसियम प्रजाति वाइटियानम) प्रायः गाँ. ग्रावोरियम प्रजाति इंडिकम के साथ मिला दी जाती थीं। अतः सर्वप्रथम, इस मिश्रण को स्थानान्तरित करने के लिए उपयुक्त प्ररूप खोजे गये। एक विभेद सेल-69 प्रचलित हुआ जिसके गुण और उपज उत्तम थे किन्तु हाल ही में निकटवर्ती महाराष्ट्र द्वारा प्रचलित जयधर और लक्ष्मी नामक विभेदों ने एक सीमा तक इसका स्थान ले लिया है।

मैसूर और मिस्र की जलवायु समान होने के कारण मिस्री और सी-आइलैण्ड कपासों की मैसूर के कुछ भागों में उगाये जाने तथा जलवायु अनुकूलित करने के प्रयत्न हुये हैं। 1943 से लगातार जाँचों से पता चला है कि मिस्री कपास की कुछ किस्में मैसूर के ऐसे क्षेत्रों में, जहाँ सिचाई की सुविधाएँ हैं या जो वर्षा-पोषित हैं, अच्छी तरह से उगती हैं, गिजा-12 और गिजा-7 विशेष रूप से उपयुक्त हैं। इन कपासों की तथा मैसूर में उगाई जाने वाली अमेरिकी और देशी कपासों की विशेषताएँ सारणी 11 में संक्षेप में दी जा रही हैं (Dorasami & Iyengar, *Indian Cott. Gr. Rev.*, 1951, 5, 1; 1953, 7, 162).

मध्य प्रदेश तथा राजस्थान - मध्य भारत और राजस्थान दोनों में देश के कुल कपास क्षेत्र का 12% और उत्पादन का 10% अन्तर्हित है। यहाँ कपास मुख्यतः चार बड़े क्षेत्रों में बोयी जाती है: निमाड़, मालवा, मेवाड़ तथा गंगनहर कॉलोनी। इन क्षेत्रों की विशेषताओं और इनमें उगायी जाने वाली कपास की व्यापारिक किस्मों का विवरण सारणी 12 में और कपास के क्षेत्रफल और उत्पादन के आँकड़े सारणी 13 तथा 14 में दिए गए हैं।

मध्य भारत में कपास मुख्यतः वर्षा सिंचित फसल के रूप में उगाई जाती है। बहुत थोड़े (0.6%) अंश में इसे सींचकर उगाया जाता है (Gadkari & Simlote, *Indian Cott. Gr. Rev.*, 1949, 3, 19, 75; Kubersingh, *ibid.*, 1950, 4, 106).

सारणी 12 - मध्य भारत एवं राजस्थान के कपास उगाने वाले प्रमुख क्षेत्रों की विशेषताएँ*

क्षेत्र	व्यापारिक किस्में	उगाने वाले क्षेत्र	मिट्टी	वर्षा (सेमी.)	उन्नत किस्में
मध्य भारत					
निमाड़	मध्य भारत ऊमरा (कम्बोडिया × अपलैंड)	खरगोन, इन्दौर एवं धार का कुछ भाग	पानी के निकास वाली समतल, हल्की काली मिट्टी	62.5-75	जरीला, विरनार, वूड़ी-107 एवं निमाड़-2
मालवा	मालवी	देवास, झाबुआ, उज्जैन, शाजा- पुर, राजगढ़, रतलाम, मन्दसौर एवं धार का थोड़ा भाग	गहरी, उर्वर काली मिट्टी	75-100	मालवी-9, भोज (धार-43-5) एवं इन्दौर-2
राजस्थान					
मालवा	मालवी	बूंदी, कोटा, झालावाड़, बांस- वाड़ा एवं टोंक का कुछ भाग	गहरी उर्वर काली मिट्टी	75-100	मालवी-9
मेवाड़	राजस्थान देसी और अमेरिकी	उदयपुर, चित्तौड़ एवं भीलवाड़ा	समतल भारी या हल्की काली मिट्टी वाली भूमि	50-62.5	इन्दौर-1
गंगनहर कॉलोनी	पंजाब देसी और अमेरिकी	गंगानगर	बलुई डुमट से मटियारी डुमट वाला मरुस्थली क्षेत्र	25 से कम	एल. एस. एस. एवं 216-एफ

* Gadkari & Simlote, *Indian Cott. Gr. Rev.*, 1949, 3, 19.

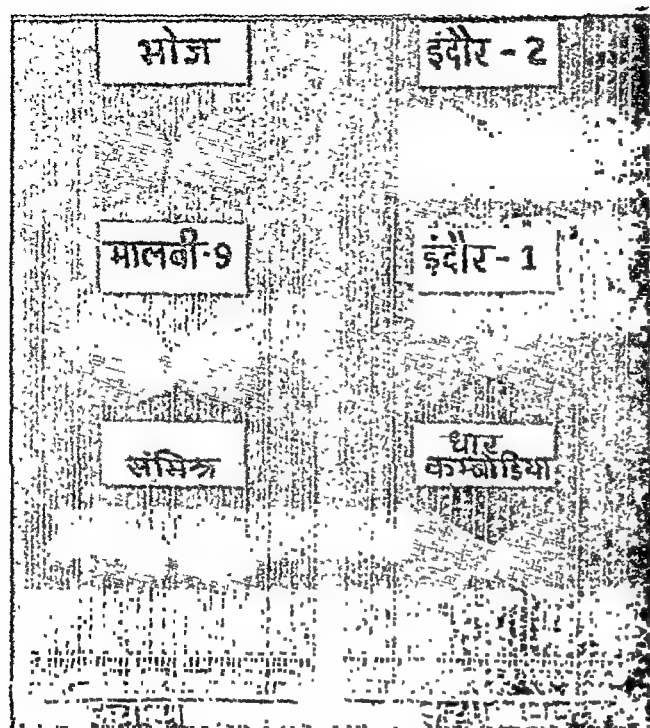
सारणी 13 - मध्य प्रदेश में कपास का क्षेत्रफल और उत्पादन*

	क्षेत्रफल (हेक्टर)		उत्पादन (टन)	
	1963-64	1964-65	1963-64	1964-65
छिदवाड़ा	11,300	10,300	4,800	6,000
रायपुर	100	100	..	100
रायगढ़	1,400	1,200	600	700
सरगुजा	1,800	1,900	800	1,000
गुना	100	100	..	100
विदिशा	100	..	100	..
राजगढ़	44,900	45,700	15,200	18,400
शाजापुर	61,000	66,200	22,900	30,500
उज्जैन	56,800	54,500	22,200	23,700
रतलाम	41,900	44,700	27,600	18,000
मन्दसौर	19,300	20,800	5,900	11,100
देवास	50,900	54,900	19,600	30,000
इंदौर	10,300	11,500	2,600	4,400
खरगोन	1,78,700	1,73,400	1,49,700	1,29,900
धार	64,000	59,500	37,900	25,200
झाबुआ	27,600	28,000	15,000	19,000
सीधी	100	100	..	100
सीहोर	8,500	8,900	2,200	2,900
रायसेन	400	300	100	100
अन्य क्षेत्र	1,87,400	1,95,100	82,700	1,08,000
कुल	7,66,600	7,77,200	4,10,000	4,29,200

सारणी 14 - राजस्थान में कपास का क्षेत्रफल और उत्पादन

	क्षेत्रफल (हेक्टर)		उत्पादन (टन)	
	1963-64	1964-65	1963-64	1964-65
अजमेर	15,381	16,516	12,994	11,416
अलवर	4	21	3	14
बांसवाड़ा	15,633	19,424	6,847	8,831
वाड़मेर	183	128	146	85
भरतपुर	106	83	84	56
भीलवाड़ा	31,644	34,321	22,858	21,372
बीकानेर	2	..	1	..
बूंदी	55	106	43	71
चित्तौड़गढ़	26,975	30,658	15,565	17,246
डुंगरपुर	1,134	1,412	903	947
गंगानगर	1,04,051	1,04,154	1,00,214	96,421
जयपुर	39	182	31	121
जैसलमेर	..	3	..	2
जालोर	736	687	587	461
झालावाड़	15,196	26,328	8,548	12,241
जोधपुर	311	418	248	281
कोटा	60	55	48	37
नागौर	594	579	473	388
पाली	6,915	7,454	3,431	4,379
सवाई माधोपुर	10	31	8	21
सीकर	2	1	2	1
सिरोही	737	1,263	588	849
टोंक	1,037	2,287	179	1,536
उदयपुर	13,272	14,940	8,402	6,916
कुल	2,34,077	2,61,051	1,82,203	1,83,692

* *Agric. Situat. India*, Jan., 1967.



चित्र 24 - मध्य भारत कपास के रेशों की लम्बाई

क्षेत्रों के अनुसार खेती की विधियाँ भी बदलती रहती हैं। मालवा और निमाड़ की वर्षा सिंचित काली कपास की मिट्टी में प्रारम्भिक जुताई का ढंग वैसा ही है जैसा कि मध्य प्रदेश और बम्बई के निकटवर्ती इलाकों का है। मेवाड़ में, जहाँ कि कूपों से पूरक सिंचाई उपलब्ध है, कपास, अधान भूमि में उगाई जाती है। गंगनहर कॉलोनी में, जहाँ कपास, नहर की सिंचाई से उगाई जाती है, खेती का ढंग पंजाब जैसा है।

कपास की उपज गहरी उपजाऊ मिट्टियों में 600-800 किग्रा. प्रति हेक्टर (200-270 किग्रा. हई) से लेकर उथली मिट्टियों में 100-150 किग्रा. तक होती है। समृद्ध सिंचित भूमियों में 800-1,200 किग्रा. तक कपास प्राप्त की जा सकती है। भूमि और जलवायु की विभिन्नता के कारण, विभिन्न प्रदेशों में कई प्रकार की कपासें उगाई जाती हैं। मालवा में मालवी देसी (गॉ. आर्बोरियम प्रजाति बंगालेन्स) और धार-कम्बोडिया या पठारी कपास (गॉ. हिंसुटम प्रजाति लैटिफोलियम) का मिश्रण होता है जिसमें दूसरी का अनुपात 20-80% तक होता है। मालवी कपास का मूल्य भी इसी अंश (गॉ. हिंसुटम) के अनुपात पर निर्भर करता है।

निमाड़ी कपास जो उपर्युक्त दोनों जातियों का मिश्रण होता है, मालवी कपास से निम्न कोटि की होती है, फिर भी उच्च ओटाई-प्रतिशतता वाली होती है। इसकी फसल एक-सी नहीं होती। प्रायः पठारी और देसी कपास मिलाकर बोई जाती है ताकि एक असफल रहे तो दूसरी हो सके। मालवा और निमाड़ी क्षेत्रों में प्रविष्ट और पादप उद्योग संस्थान, इन्दौर, में विकसित मालवी-9 एक उन्नत विभेद है, किन्तु यह म्लानि संवेदी है। म्लानि संक्रमित प्रदेशों के लिए इसके स्थान पर एक और विभेद, भोज (धार-43-5) जो म्लानि प्रतिरोधी है,

विकसित किया गया है। राजकीय फार्म, उज्जैन में विकसित एक अन्य मालवी विभेद, जी-16 भी कहीं-कहीं बोया जाता है। मालवा में गॉ. हिंसुटम रचक के लिए इन्दौर-2 नामक अत्युत्पादक विभेद की संस्तुति की गई है। निमाड़ क्षेत्र में जरीला, बूढ़ी-107 और बूढ़ी-0394 का प्रवेश बम्बई और मध्य प्रदेश से किया गया है और अब कई स्थानों पर इनकी खेती होती है। हाल ही में निमाड़-1 (डी-46-5) और निमाड़-2 (डी-48-154) नामक दो किस्मों का विकास किया गया है, जिनके गुण जरीला से काफी मिलते-जुलते हैं और अब पूरे प्रदेश में वितरण के लिये इसके गुणन किये जाने की योजना है। राज्य में कपास की उन्नत किस्मों की विशेषताओं का संक्षिप्त विवरण सारणी 15 में दिया है (Hutchinson & Panse, *Agric. Live-Stk India*, 1936, 6, 397; Hutchinson & Ghose, *Indian J. agric. Sci.*, 1937, 7, 1; Simlote, *Indian Fmg.*, 1946, 7, 68; Simlote & Kochrekar, *Indian Cott. Gr. Rev.*, 1954, 8, 131; Gadkari & Simlote, loc. cit.; Kubersingh, loc. cit.; Shinde, *Symposium on Cotton Extension Work*, Indian Cott. Comm., 1952, 85).

मध्य प्रदेश की भाँति, राजस्थान की कपासों के भी दो रचक होते हैं: (1) गॉ. आर्बोरियम प्रजाति बंगालेन्स की देसी और (2) गॉ. हिंसुटम प्रजाति लैटिफोलियम की अमेरिकी कपास। मेवाड़ कपास में जब अमेरिकी कपास का अंश अधिक होता है तो उसे वान अथवा मेवाड़ अमेरिकी कहते हैं और जब देसी का अंश अधिक होता है तो वानी अथवा मेवाड़ देसी कहते हैं। जो अमेरिकी कपास उगाई जाती है वह पठारी जार्जियन, कानपुर अमेरिकी-9 की वरेण्य है जो उत्तर

सारणी 15 - मध्य भारत और राजस्थान में कपास के मुख्य विभेदों की विशेषताएँ

विभेद	जाति	रेशा- लम्बाई (1/32 इंच या 25 मिमी. में)	ओटाई (%)	कटाई मान (ताना गणना)
मध्य भारत				
मालवी-9	गॉ. आर्बोरियम प्रजाति बंगालेन्स	24-28	32	19
G-16	"	32-33	29	..
भोज (धार-43-5)	"	26	31	16
निमाड़ी स्थानीय	"	16-22	33	10-12
निमाड़ी-2 (डी-48-154)	"	28	33	20
धार कम्बोडिया	गॉ. हिंसुटम प्रजाति लैटिफोलियम	24-26	29	24
इन्दौर-2	"	28-30	31	30
राजस्थान				
वानी, स्थानीय	गॉ. आर्बोरियम प्रजाति बंगालेन्स	12-20	31	8-10
गंगानगर-1	"	22-23	41	11
वान, स्थानीय	गॉ. हिंसुटम प्रजाति लैटिफोलियम	22-23	30	12-16
इन्दौर-1	"	28	30	20



चित्र 25 - राजस्थान कपास के रेशों की लम्बाई

प्रदेश से लाई गई है। अब इसका स्थान एक उन्नत विभेद, इन्दौर-1 ने ले लिया है जो सहिष्णु तथा जल्दी पकने वाली है। इस क्षेत्र के लिए एक अन्य विभेद, एम-49-398, चुना गया है, जो उपज में इन्दौर-1 के समान किन्तु ओटाई-प्रतिशतता और रेशा-लम्बाई में उससे भी उत्कृष्ट है। गंगनहर कॉलोनी में उत्पन्न कपास पंजाब प्ररूपों से मिलती-जुलती है। इसके पूर्व इस कॉलोनी में 289-एफ-43 जैसी पंजाब अमेरिकी कपासों के साथ-साथ मालीसीनी और कानपुर-520 की भी खूब खेती होती है। देसी किस्म के पसन्द किये जाने का कारण यह था कि एक तो अधिक उपज मिलती थी और दूसरे यह कि राजस्थान की जलवायु में अमेरिकी प्ररूपों की खेती और उपज ठीक से नहीं हो पाती थी। अब देसी किस्मों को प्रोत्साहन न देकर अमेरिकी किस्मों को बढ़ावा दिया जा रहा है, क्योंकि छोटे रेशे वाली किस्मों के उपजाने को बन्द करने की आवश्यकता अनुभव की जाने लगी है। इस क्षेत्र में अब पंजाब अमेरिकी कपासों, जैसे कि एल.एस.एस. और 216-एफ प्रचलित हो रही है (Gadkari & Simlote, loc. cit.; Kuber-singh, loc. cit.; Kala, *Symposium on Cotton Extension Work*, Indian Cott. Comm., 1952, 56).

तमिलनाडु तथा आन्ध्र प्रदेश - तमिलनाडु और आन्ध्र प्रदेश का स्थान क्षेत्रफल और उत्पादन के अनुसार पूर्वचर्चित कपासों की तरह ऊँचा नहीं है किन्तु इन राज्यों का देश की कृषि एवं औद्योगिक अर्थ-व्यवस्था में महत्वपूर्ण स्थान है। तमिलनाडु में पैदा किये जाने वाले, कम्बोडिया

और उगाण्डा प्ररूपों से उत्कृष्ट कोटि की कपास प्राप्त होती है जिसके रेशों की लम्बाई 2.5 सेमी. से भी अधिक होती है।

इन राज्यों में कपास उगाने का कार्य कुछ निर्धारित क्षेत्रों तक (सारणी 16) ही सीमित है। सारणी 17 में विभिन्न जिलों के क्षेत्रों की विशेषताओं, उगाई जाने वाली कपास, क्षेत्रफल और उपज का सारांश दिया गया है। तुंगभद्रा के तट पर और दक्षिण कनारा और मालावार की तटीय पट्टियों में कुछ ऐसे नये क्षेत्र ढूँढ निकालने के यत्न किये जा रहे हैं, जहाँ क्रमशः अमेरिकी और सी-आइलैंड कपासें उगाई जा सकें। तंजौर के डेल्टा क्षेत्र की धान उगाने वाली भूमि की पड़ती में अमेरिकन कपासें उगाने और आन्ध्र के कुछ भागों में कपास को मिर्च, मूंगफली और रागी के साथ मिश्रित फसल पैदा करने के प्रयत्न भी हो रहे हैं (Dharmarajulu, *Indian Cott. Gr. Rev.*, 1947, 1, 84; Balasubrahmanyam, *ibid.*, 1949, 3, 167; 1950, 4, 173; 1952, 6, 70; Rao *et al.*, *ibid.*, 1952, 6, 147; 1953, 7, 48; Sivaraman, *ibid.*, 1953, 7, 149).

तमिलनाडु और आन्ध्र प्रदेश में कपास उगाने का ढंग उत्तरी भारत से कुछ भिन्न है। उत्तरी भारत में कपास, अधिकतर खरीफ अथवा गमी की फसल के रूप में उगाई जाती है। तमिलनाडु और आन्ध्र प्रदेश में कपास की खेती किसी न किसी क्षेत्र में वर्ष भर होती रहती है। यहाँ खेती को प्रभावित करने वाले कारक मौसमी वर्षा और उसकी अवधि तथा सिंचाई के लिए पानी की उपलब्धि है, उत्तर भारत की भाँति ताप के प्रतिबन्ध नहीं। कपास उगाने वाले अधिकांश क्षेत्र वर्षा सिंचित हैं; केवल कुछ ही भाग में कुपों से सिंचाई होती है (Barber, *Emp. Cott. Gr. Rev.*, 1925, 2, 100; Rao & Iyengar, *Madras agric. J.*, 1953, 40, 90).

आन्ध्र के पश्चिमी और उत्तरी क्षेत्रों में खेती की पद्धति वही है जो कि महाराष्ट्र और मध्य प्रदेश के काली कपासी मिट्टी वाले क्षेत्रों में है। मुंगारी क्षेत्र में भली-भाँति जोती और खाद दी गयी भूमि में

सारणी 16 - तमिलनाडु में कपास का क्षेत्रफल और उत्पादन*

	क्षेत्रफल (हेक्टर)		उत्पादन (टन)	
	1963-64	1964-65	1963-64	1964-65
चिगलपेट	200	200	210	200
द. आरकाँट	4,050	3,320	4,940	4,470
उ. आरकाँट	530	490	700	640
सलेम	32,370	30,350	35,120	32,830
कोयम्बटूर	1,31,520	1,27,480	1,29,730	1,31,480
त्रिचुरापल्ली	16,190	15,170	16,520	16,910
शांजावुर	320	200	490	300
मदुराई	53,620	53,820	49,990	54,490
रामनाथपुरम	80,940	89,840	72,600	87,410
तिरुनेलवेली	99,150	1,03,200	88,580	99,420
कन्याकुमारी	200	200	130	130
कुल	4,19,090	4,24,270	3,99,010	4,28,280

* *Agric. Situat. India*, Jan. 1967.

सारणी 17 — तमिलनाडु और आन्ध्र प्रदेश के कपास उत्पन्न करने वाले मुख्य क्षेत्रों की विशेषताएँ*

व्यापारिक किस्में	उपज क्षेत्र	मिट्टी प्रकार	वर्षा (सेमी.)	उगाया या संस्तुत उन्नत प्ररूप
तमिलनाडु				
कम्बोडिया, सिंचित	मुख्यतया कोयम्बतूर, सलेम, तिरुची, मदुराई, रामनाथपुरम, तिरुनेलवेली तथा दक्षिणी आरकाट में	लाल दुमटी और हल्की काली	62.5-87.5	कम्बोडिया-2, कम्बोडिया-3, कम्बोडिया-4, मद्रास उगाण्डा-1 मद्रास उगाण्डा-2
कम्बोडिया, अर्धसिंचित कल्लंगनी और तिरुनेलवेली	" मदुराई, रामनाथपुरम, तिरुनेलवेली और कोयम्बतूर	" काली अथवा हल्की काली	" 62.5-87.5	" कल्लंगनी-2, कल्लंगनी-5
उप्पम	कोयम्बतूर के विलगित गतों में व सलेम और तिरुची	हल्की काली	62.5-75	
नाडम और बोरवान	कोयम्बतूर और तिरुची में सीमित	निष्कृष्ट कोटि की लाल बजरीली भूमि	अल्प	
आन्ध्र प्रदेश				
वेस्टर्न्त	कुडप्पा, अनन्तपुर, बेल्लारी † और कुरनूल	गहरी काली	45-55	पश्चिमी (हगारी)-1
मुंगारी	कुरनूल और अनन्तपुर	हल्की काली तथा लाल	45-55	रायलसीमा-1 (881-F) तथा H-420
श्वेत और लाल उत्तरी कोकानाड	कुरनूल मुख्यतः नेल्लोर, गुंतूर, गोदावरी, कुण्णा और विशाखापटणम में	हल्की काली तथा लाल "	55-70 75-82.5	उत्तरी (नन्द्याल)-14 कोकानाड-1 तथा कोकानाड-2
चिन्नापति	गोदावरी और विशाखापटणम में सीमित	"	102.5	

* Rao et al., Indian Cott. Gr. Rev., 1953, 7, 48.

† अब यह जिला मैसूर राज्य में है.

कपास बोई जाती है और प्रति हेक्टर 600 किग्रा. तक कपास प्राप्त होती है. मद्रास के कल्लंगनी और कम्बोडिया कपास क्षेत्रों में 2 से 6 बार तक भूमि की जुताई करके या तो सीधे कपास की फसल को खाद दी जाती है या इससे पहली वाली फसल में दे दी गई होती है. सिंचित कपास के लिए प्रति हेक्टर 60-80 किग्रा. नाइट्रोजन ठीक रहती है और वर्षा सिंचित क्षेत्रों में जहाँ वार्षिक वर्षा 62 सेंमी. से अधिक होती है वहाँ प्रति हेक्टर 40 किग्रा. नाइट्रोजन, अमोनियम सल्फेट अथवा मूंगफली की खली के रूप में देना लाभकर है. प्रायः कपास शुद्ध फसल के रूप में उगायी जाती है. जहाँ सिंचाई होती है वहाँ कभी-कभी बीजों को 60-75 सेंमी. की दूरी पर बनाई गई मेंडों के पार्श्व में 22.5 सेंमी. की दूरी पर बोते हैं. प्रायः एक फसल बिना सिंचाई के ही उगाई जाती है. जहाँ कुँआँ से सिंचाई होती है वहाँ दो फसलें उगाना सामान्य प्रथा है. तमिलनाडु के कुछ भागों में कम्बोडिया कपास को दो ऋतुओं में, सितम्बर-अक्तूबर और फरवरी-अप्रैल में, बोया जाता है (Mem. Dep. Agric. Madras, No. 36, 1954, 481).

विभिन्न क्षेत्रों में कपास की उपज काफी भिन्न होती है. सिंचित कम्बोडिया क्षेत्र में कपास की औसत उपज 1,000 किग्रा. प्रति हेक्टर है, जबकि इसी क्षेत्र में वर्षा सिंचित होने पर औसत उपज 350-

400 किग्रा. तक है. पश्चिमी और उत्तरी क्षेत्र में औसत उपज 200-400 किग्रा. तक होती है. मुंगारी क्षेत्र में कपास की उपज 600 किग्रा. प्रति हेक्टर तक हुई है.

तमिलनाडु और आन्ध्र प्रदेश में कपास के मुख्य नाशकजीव गुलाबी सूंडी (ढोंडा कृमि), चित्तीदार सूंडी, स्तम्भ घुन, जैसिड और ऐफिस हैं. विदेशी प्रकारों की अपेक्षा देशी कपासों को नाशकजीवों से कम हानि पहुँचती है. प्रारम्भिक वर्षों में कम्बोडिया का महत्वपूर्ण नाशक स्तम्भ घुन था. 'मद्रास कपास नाशकजीव अधिनियम' के अधीन 'कोई कपास नहीं काल' लागू करके इस पर नियन्त्रण प्राप्त किया गया. कपास पर्णवेल्लक और कपास टिट्टा जैसे नगण्य नाशकजीव भी कभी-कभी कपास की फसल को हानि पहुँचाते हैं. टिट्टों की रोकथाम के लिए गेमेक्सेन डी. 120 का छिड़काव प्रभावशाली होता है (Madras agric. J., 1952, 39, 532).

तमिलनाडु और आन्ध्र प्रदेश में कपास के अधिक महत्वपूर्ण और भयंकर कवक रोग म्लानि, मूल विगलन और पीध अंगमारी हैं. काली भुजा से मुख्यतः सिंचित कम्बोडिया को हानि पहुँचती है. इसका संक्रमण मुख्यतया बीज द्वारा होता है. यह कभी-कभी पहले की रोग-ग्रस्त फसल के अवशेष से भी फैलता है. इससे बचने का एकमात्र उपाय है प्रतिरोधी विभेद को चुन करके बोना. कार्य-पारद योगिकों द्वारा

विसंक्रमित करके भी इस रोग की रोकथाम की जा सकती है (Balasubrahmanyam & Raghavan, *Indian Cott. Gr. Rev.*, 1950, 4, 118; Rao *et al.*, *ibid.*, 1952, 6, 147).

मुंगारी कपास क्षेत्र में स्टेनोसिस अथवा लघु पर्ण रोग सामान्य है. अमेरिकी किस्में प्रायः इस (वायरस) की प्रतिरोधी तो होती हैं किन्तु प्रतिरक्षित नहीं अतः यदि फसल देर से बोई जाए तो यह रोग नहीं होता है.

तमिलनाडु और आन्ध्र की व्यापारिक कपासों गाँ. आर्बोरियम, गाँ. हर्वेसियम और गाँ. हिंसुटम से प्राप्त होती हैं. अब पश्चिम-तटीय क्षेत्रों (घाट) में गाँ. बावेंडेन्स प्रचलित किये जाने का प्रयास हो रहा है. प्रमुख कपास उपजाने वाले क्षेत्रों के लिये उपयुक्त उन्नत विभेदों को विकसित करने की दिशा में भी काफी कार्य किया गया है. सारणी 18 में उन्नत विभेदों की विशेषतायें दी हुई हैं (*Mem. Dep. Agric. Madras*, No. 36, 1954, 486-520).

तमिलनाडु की कपासों में कम्बोडिया का प्रथम स्थान है. इसमें हिन्द-चीन से लाई गई जलवायु-अनुकूलित गाँ. हिंसुटम से चुनाव किये जाते हैं. Co-1 और Co-2 जैसे पूर्व चुनावों का स्थान अब Co-3 और Co-4 ने ले लिया है, जो Co-2 और उगाण्डा अफ्रीकी कपास के संकरण से विकसित हुए हैं. इससे भी आगे चुनाव के फलस्वरूप मद्रास उगाण्डा-1 और मद्रास उगाण्डा-2 का विकास और वितरण हुआ. इनमें से दूसरी किस्म उपज, रेशा-लम्बाई, ओटाई-प्रतिशतता और कटाई क्षमता के विचार से श्रेष्ठ है. यह जल्दी पकती भी है. गर्मी में बोये जाने वाले सिंचित क्षेत्रों के लिए इसको वितरित करने की सिफारिश की गई है. सिंचित और वर्षा-पोषित दोनों दशाओं में खेती होने से कम्बोडिया किस्म में जो विविधता पाई जाती है उसके स्थान पर एक सार्वदेशिक प्रकार लाने का प्रयत्न किया जा रहा है, जो समूचे क्षेत्र के लिए उपयुक्त हो (Rao *et al.*, *Indian Cott. Gr. Rev.*, 1953, 7, 48; Sivaraman, *ibid.*, 1953, 7, 149).

तिन्नेवेली क्षेत्र में, कल्लंगन्नी (गाँ. आर्बोरियम प्रजाति इंडिकम) और उप्पम (गाँ. हर्वेसियम प्रजाति वाइटियानम) बोई जाती हैं.

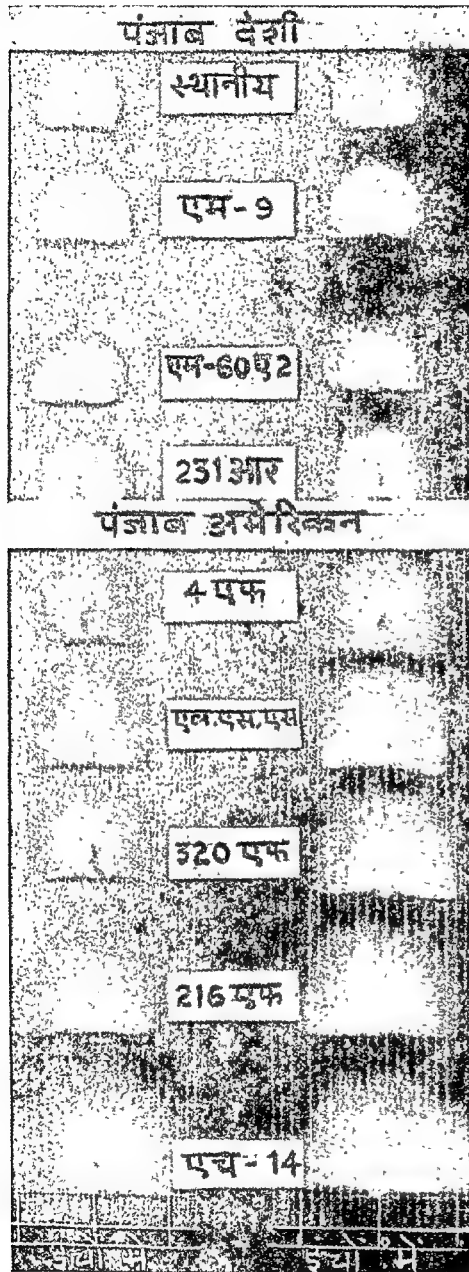
कभी-कभी मौसमी विपत्ति से बचने के लिए इन दोनों प्रकारों को साथ-साथ बोते हैं. इन दोनों प्रकारों को एक ऐसे सार्वदेशिक प्रकार से प्रतिस्थापित करने के प्रयत्न हुए हैं, जिसे मध्य और दक्षिणी जिलों की पश्चिमी और उत्तरी-पूर्वी दोनों मानसूनों से लाभ होता है. इस क्षेत्र के लिये उपयुक्त प्रारम्भिक विभेदों, C-7 और K-1, का स्थान अब K-2 और K-5 विभेदों ने ले लिया है, जो गाँ. आर्बोरियम की इंडिकम और सनूम प्रजातियों के संकरण द्वारा प्राप्त किये गये हैं. इन विभेदों से अधिक कपास की प्राप्ति होती है और इसका रेशा भी देसी प्रकारों से लम्बा होता है. इस कारण ये विभेद अपने उप्पम रचक का स्थान ग्रहण कर रहे हैं, जो स्थूल छोटे रेशे वाली और ओटाई तथा कटाई गुणधर्मों में निष्कृष्ट होती है (Mudaliar & Balasubrahmanyam, *Indian Cott. Gr. Rev.*, 1951, 5, 176; Sivaraman, *ibid.*, 1953, 7, 149).

आन्ध्र के पश्चिमी क्षेत्रों में मुंगारी और हिंगारी (दो कृषि-मौसमों के अनुरूप) प्ररूपों की खेती होती है. इनमें से पहला प्ररूप छोटे रेशे वाला होता है और जुलाई के प्रारम्भ में बोया जाता है. दूसरे प्ररूप से प्राप्त कपास लम्बे रेशे वाली होती है और सितम्बर में बोई जाती है. इन दोनों की साथ-साथ खेती करने के कारण इनका मिश्रण हो जाता है. मुंगारी के स्थान पर रायलसीमा-1 (881-एफ) लाने का प्रयत्न हो रहा है. यह उन्नत प्रकार अपने गुणों में वेस्टर्न्स (हंगारी-1) के समकक्ष है, जो इस क्षेत्र में उगाया जाने वाला मुख्य प्रकार है. बम्बई में विकसित, एक अमेरिकी प्रकार, लक्ष्मी, इस क्षेत्र में सिंचित और वर्षा-पोषित अवस्थाओं में खेती के लिए लाया गया है जो उत्तम कोटि की रूई और अधिक उत्पाद के कारण काफी प्रचलित हो गयी है (Rao & Narasimhamurthy, *Madras agric. J.*, 1952, 39, 215; Sivaraman, *Indian Cott. Gr. Rev.*, 1953, 7, 149; *Madras agric. J.*, 1952, 39, 533; Kalyanaraman, *ibid.*, 1954, 41, 3; Chetty, *Indian Cott. Gr. Rev.*, 1954, 8, 164).

नार्दन्स के क्षेत्र में, लाल और सफ़ेद दो प्रकार की कपासों की खेती होती है. उत्तम कोटि का रेशा वाला नार्दन्स (नन्द्याल)-14

सारणी 18 - तमिलनाडु तथा आन्ध्र प्रदेश की मुख्य कपास विभेदों की विशेषताएँ

क्षेत्र	विभेद	जाति	रेशा-लम्बाई (इंच या 2.5 सेंमी. में)	ओटाई-प्रतिशत	कटाई मान (ताना गणना)
कम्बोडिया	कम्बोडिया (Co - 2)	गाँ. हिंसुटम प्रजाति लेटिफोलियम	0.97	34.5	34
	कम्बोडिया (Co - 3)	"	0.97	37.0	44
	कम्बोडिया (Co - 4)	"	1.03	34.5	35
	मद्रास उगाण्डा-1 (Co - 4/B - 40)	"	1.06	31.8	44
	मद्रास उगाण्डा-2 (विभेद-7682)	"	1.12	33.0	52
कल्लंगन्नी तथा तिन्नेवेली	कल्लंगन्नी (K - 1)	गाँ. आर्बोरियम प्रजाति इंडिकम	0.75	29.6	20
	कल्लंगन्नी (K - 2)	"	0.96	33.0	29
	कल्लंगन्नी (K - 5)	"	0.93	31.0	29
वेस्टर्न्स	पश्चिमी (हंगारी)-1	गाँ. हर्वेसियम प्रजाति वाइटियानम	0.90	29.0	32
मुंगारी	रायलसीमा-1 (881 - F)	"	0.88	34.0	30
नार्दन्स	उत्तरी (नन्द्याल)-14	गाँ. आर्बोरियम प्रजाति इंडिकम	0.91	22.0	44
कोकानाड	कोकानाड-1, कोकानाड-2 (C - 1 तथा C - 2)	"	0.87	28.0	35



चित्र 26 - पंजाब देशी और पंजाब अमेरिकन कपास के रेशों की लम्बाई

नामक उन्नत विभेद इस क्षेत्र में वितरित किया गया है और अब लगभग 17% कपास क्षेत्र में बोया जाता है। इस समय इसकी खेती कुरुक्षेत्र जिले में हल्की भूमि और अधिक वर्षा वाले क्षेत्रों तक सीमित है। इससे भी अधिक सार्वदेशिक प्रकार के विकास के यत्न हो रहे हैं। कोकानाड एक विचित्र प्रकार की रंगीन कपास है, जो कि भारत में पैदा की जाने वाली कपासों में अपनी तरह की अकेली है। भारत, यूरोप महाद्वीप और जापान में खाकी और रंगीन कपड़ों के निर्माण के लिए इसकी सीमित किन्तु स्थायी मांग है। अपने प्राकृतिक रंग, शक्ति और रंजन गुणों के कारण इसका मान है। प्रथम नक्ष में हानि और रंग में विकृति इसके अवगुणों में है। उपज और थोड़ाई-प्रतिशतता में सुधार लाने के विचार और रई के प्राकृतिक हल्के गुलाबी रंग को बनाये रखने के लिए C-1 तथा C-2 (336-B) नामक दो उन्नत विभेदों का विकास और वितरण किया गया है (Balasubrahmanyam *et al.*, 3rd Conf. Cott.-gr. Probl. India, 1946, 175; Rao *et al.*, *Indian Cott. Gr. Rev.*, 1953, 7, 48; Sivaraman, *ibid.*, 1953, 7, 149; Kalyanaraman, *loc. cit.*).

स्थानीय विकसित प्ररूपों के अतिरिक्त इस क्षेत्र में हाल ही में तीन अन्य प्ररूप प्रविष्ट किये गये हैं: पंजाब से पंजाब अमेरिकी-216-F, बम्बई से लक्ष्मी और मध्य प्रदेश से H-420. जल्दी पकने के कारण (4-4½ माह) पहला प्ररूप तंजौर जिले की धान पड़तियों के लिए उपयुक्त है। मुंगारी और चित्रपति क्षेत्रों में मूंगफली, रागी और मिर्च के साथ बीच की फसल के लिए तीनों ही प्रकार उपयुक्त हैं (Balasubrahmanian, *Indian Cott. Gr. Rev.*, 1952, 6, 70; Rao & Iyengar, *Madras agric. J.*, 1953, 40, 90; *Rep. Indian Cott. Comm.*, 1952, 67).

पंजाब और हरियाणा - भारत विभाजन के पूर्व, 1947 में पंजाब एक प्रमुख कपास उगाने वाला प्रदेश था जहाँ कुल क्षेत्रफल का 15.4% और कुल उपज की 28% कपास होती थी। इसी प्रदेश में भारत की मध्यम तथा लम्बे रेशे वाली कपास की कुल उपज का 80% उत्पन्न किया जाता था। विभाजन के फलस्वरूप कुल क्षेत्र का 20% तथा मध्यम और लम्बे रेशे वाली कपास की कुल उपज का 8% से भी कम भारत गणराज्य में रह गया। अब लम्बे रेशे वाली कपास की मांग निरन्तर बढ़ने से यह आवश्यक हो गया है कि लम्बे रेशे वाली कपास को न केवल और अधिक क्षेत्रों में उगाया जाए बल्कि जहाँ कपास की इस समय खेती हो रही हो वहाँ भी मध्यम तथा लम्बे रेशे वाली कपास उपजाई जाए। पिछले कुछ वर्षों के प्रसार कार्य के फल-स्वरूप प्रदेश के कपास उगाने वाले क्षेत्रों में काफी वृद्धि हुई है। पंजाब, जो विभाजन के समय मुख्यतः देशी कपास उत्पादक क्षेत्र था एक बार फिर से मध्यम तथा लम्बे रेशे वाली कपास उगाने वाला मुख्य प्रदेश बन गया है। 1947-48 में लगभग 1 लाख हेक्टर में देशी कपास बोई जाती थी जिससे 76 हजार गाँठों की उपज होती थी किन्तु 1954-55 में ये ही मान क्रमशः 74 हजार तथा 90 हजार हो गये। जहाँ 1947-48 में 16,000 हेक्टर में अमेरिकी कपास बोई जाती थी (उपज 12 हजार गाँठ) वहीं 1954-55 में 2 लाख 30 हजार हेक्टर में बोई जाने लगी (उपज 350 हजार गाँठ) [Sikka, *Punjab Fmr.*, 1949, 1(1), 16; Sekhon, *ibid.*, 1950, 2(2), 39; Singh, *ibid.*, 1950, 2(2), 48; Sikka & Singh, *ibid.*, 1952, 4, 288; Sikka, *Symposium on Cotton Extension Work*, Indian Cott. Comm., 1952, 1].

पंजाब और हरियाणा में कपास (सारणी 19) का अधिक भाग (80 %) सिंचाई करके उगाया जाता है। केवल दक्षिणी-पूर्वी भाग

में कपास की फसल वर्षा जल पर निर्भर करती है। यहाँ की जलवायु दुस्तह होती है, गर्मियों में, जून के महीने में ताप 48° तक पहुँच जाता है, जबकि जाड़ों में ताप शून्य अंश तक नीचे चला जाता है। बहुधा तुपारपात भी होता है। अच्छी उपज लेने के लिए कपास को पहले ही बोना पड़ता है। जमीन को अच्छी तरह से जोत कर काफी मात्रा में गोबर की खाद या अमोनियम सल्फेट डालते हैं। मौसम तथा वर्षा

सारणी 19 - पंजाब-हरियाणा में कपास का क्षेत्रफल और उत्पादन*

	क्षेत्रफल (हेक्टर)		उत्पादन (टन)	
	1963-64	1964-65	1963-64	1964-65
हिसार	98,000	1,19,000	1,95,000	2,15,000
रोहतक	21,000	6,000	27,000	8,000
गुडगाँव	3,000	2,000	4,000	2,000
करनाल	28,000	20,000	36,000	25,000
अम्बाला	10,000	7,000	8,000	6,000
होशियारपुर	6,000	4,000	5,000	4,000
जालंधर	15,000	16,000	20,000	26,000
लुधियाना	39,000	33,000	66,000	64,000
फिरोजपुर	1,89,000	1,79,000	3,60,000	3,30,000
अमृतसर	38,000	45,000	40,000	54,000
गुरदासपुर	5,000	5,000	5,000	5,000
कपूरथला	3,000	3,000	5,000	4,000
भटिन्डा	1,16,000	1,17,000	2,01,000	2,12,000
मोहिन्नागढ़	1,000	..
पटियाला	30,000	29,000	45,000	50,000
संगरूर	89,000	79,000	1,34,000	1,20,000
कुल	6,90,000	6,64,000	11,52,000	11,25,000

*Agric. Situat. India, Jan. 1967.

के अनुसार कभी-कभी सिंचाई भी कर दी जाती है (Roberts & Kartar Singh, 416).

पंजाब तथा हरियाणा में कपास की औसत उपज अन्य प्रदेशों की अपेक्षा अधिक है। इसका कारण, अच्छी उपज वाली अमेरिकी कपास का उपयोग तथा अधिकतम क्षेत्रों में सिंचाई की सुविधा का होना है। औसत उपज प्रति हेक्टर 560 किग्रा. कपास है। साधारणतया अमेरिकी कपास की उपज देशी कपास की अपेक्षा प्रति हेक्टर 80 किग्रा. अधिक होती है। औसत से सात गुनी अधिक उपज तक देखी गई है।

पंजाब में कपास के सबसे भयानक नाशक-कीट हैं - गुलाबी ढोंडा कृमि, चित्तीदार ढोंडा कृमि, जैसिड और पर्ण वेल्लक. ढोंडा कृमि अमेरिकी तथा देशी दोनों प्रकार की कपासों पर आक्रमण करता है। चित्तीदार ढोंडा कृमि को सफाई द्वारा और गुलाबी ढोंडा कृमि को बीजों के उपचार द्वारा रोका जा सकता है। बहुत से जैसिड प्रतिरोधी विभेदों को विकसित करके उनकी बोवाई की जाने लगी है। पंजाब में एक भी भयानक रोग नहीं देखा गया। फिरोजपुर जिले के कुछ क्षेत्रों में यत्र-तत्र मूल विगलन रोग होता है। घटिया और क्षारीय भूमि में उगाई जाने वाली अमेरिकी कपासों में तिड़क लगता है।

पंजाब और हरियाणा की देशी कपासें गाँ. आर्बोरियम प्रजाति बंगालेन्स और अमेरिकी कपास, गाँ. हिर्मुटम प्रजाति लैटिकोलियम के अन्तर्गत आती हैं। दूसरी वाली अधिकतर पठारी जाजियन अथवा न्यू आलियन्स कपासों में से वरित हैं जो पहले बम्बई और फिर पंजाब में उगाई जाती थीं। विभिन्न क्षेत्रों की जलवायु और भूमि के उपयुक्त तथा कीट और रोग प्रतिरोधी अधिक अच्छी कपास की किस्में वरण द्वारा उत्पन्न की गयी हैं। देशी कपासों में से अधिक महत्वपूर्ण वरण मालीसोनी-39, मालीसोनी-60-ए-2 और रोजिया-231 हैं। इनमें से पहला पहले पकने वाला, अधिक उपज वाला तथा अधिक ओटाई वाला है जिसे किसान और व्यापारी दोनों ही पसन्द करते हैं। अच्छे प्रकार की अमेरिकी कपासों में एल. एस. एस., 216-एफ. और 320-एफ. सम्मिलित हैं। इनमें से एल. एस. एस. देर में पकती है, परन्तु यह 40 ताना गणना तक काती जा सकने वाली है। 216-एफ. या हरियाणा कपास, जल्दी पकने तथा सिंचाई की सुविधा वाले एवं

सारणी 20 - पंजाब और हरियाणा में कपास की खेती के प्रमुख क्षेत्रों की विशेषताएँ

क्षेत्र	व्यापारिक किस्में	खेती वाले क्षेत्र	मिट्टी की किस्में	वर्षा (सेमी.)	सुघरी बोई जाने वाली अथवा संस्तुत किस्में
जिला फिरोजपुर	पंजाब अमेरिकन और पंजाब देशी	फिरोजपुर	जलोढ़ मिट्टी, अधिकतर बलुई दुमट	12.5-37.5	एल. एस. एस., 216-एफ., 320-एफ., मालीसोनी-60-ए-2
मध्य जिले	पंजाब देशी	अमृतसर, जालंधर और लुधियाना	जलोढ़ चिकनी मिट्टी से उपजाऊ दुमट	37.5-62.5	मालीसोनी-60-ए-2, 216-एफ. और 320-एफ.
उपपठारी	पंजाब देशी	गुरदासपुर, होशियारपुर और अम्बाला	जलोढ़ मिट्टी, अधिकतर दुमट गाद अथवा चिकनी मिट्टी बहुत अधिक उपजाऊ	> 62.5	320-एफ., मालीसोनी-60-ए-2 तथा 231-रोजिया
हरियाणा	पंजाब देशी	हिसार, रोहतक, करनाल और गुडगाँव	जलोढ़ चिकनी मिट्टी से उपजाऊ दुमट	25-62.5	मालीसोनी-60-ए-2, 216-एफ. और एच-14
अन्य	पंजाब अमेरिकन और पंजाब देशी	भटिन्डा और बरनाला, संगरूर, फतेहगढ़, पटियाला और कपूरथला	जलोढ़, चिकनी दुमट से बलुई मिट्टी	15-62.5	एल. एस. एस., 216-एफ., 320-एफ.

वर्षा वाले दोनों प्रकार के क्षेत्रों के लिए उपयुक्त होने, अच्छे रेशों तथा कटाई गुणों के कारण अधिकाधिक प्रचलित हो रही है। पूर्वी पंजाब में मालीसोनी 60-ए-2 के स्थान पर इसे बोने का प्रस्ताव रखा गया है। एक अन्य विभेद, एच-14, जो 216-एफ. से पुनः वरण द्वारा प्राप्त विभेद है, पैदावार, रेशों के गुणों और पकने में, मूल विभेद से भी उत्तम है। 216-एफ. को हटाने के लिए इसको गुणित किया जा रहा है। 320-एफ. विभेद उपज के हिसाब से 216-एफ. से ज्यादा अच्छा है और मध्यवर्ती तथा उपपठारी क्षेत्रों के लिए अधिक उपयुक्त है। पहले पकने के कारण, 216-एफ. पंजाब के बाहर भी प्रचलित हुआ है। मद्रास में यह धान की फसल के बाद खाली खेतों में सफलता से उगाया गया है। आन्ध्र में, जहाँ फसल की अवधि केवल 4 या 5 माह होती है, इसे मूंगफली तथा अन्य फसलों के साथ-साथ सफलता से बोया गया है। पंजाब और हरियाणा में बोई जाने वाली विभिन्न कपासों की विशेषतायें सारणी 20 में संक्षेप में दी हुई हैं (Afzal, *Indian Fmg*, 1946, 7, 276, 341; *Indian Cott. Gr. Rev.*, 1947, 1, 50, 151; *ibid.*, 1948, 2, 73; Sikka, *Symposium on Cotton Extension Work*, Indian Cott. Comm., 1952, 1; Sikka & Singh, *Punjab Fmr*, 1951, 3, 78; Negi & Singh, *Indian Cott. Gr. Rev.*, 1954, 8, 162).

उत्तर प्रदेश — एक समय जब उत्तर प्रदेश में कपास की खेती विस्तृत क्षेत्रफल में की जाती थी। यह एक मुख्य नगदी फसल थी। यहाँ 1808-09 में 5,50,800 हेक्टर में कपास बोई गई जो कि उस समय का उच्चतम रिकार्ड है। इसके बाद से कपास का क्षेत्रफल लगातार घटता गया। इसका मुख्य कारण था कपास वाले क्षेत्रों में गन्ने अथवा अन्य खाद्य फसलों की खेती का सूत्रपात। फलतः 1954-55 में 58,400 हेक्टर क्षेत्रफल में और 1967-68 में 66,100 हेक्टर में कपास बोई गई।

उत्तर प्रदेश में कपास की खेती अधिकतर गंगा और यमुना नदी के दोआबों की एक टेढ़ी-मेढ़ी पट्टी के आकार में की जाती है, जिसके सिरे रुहेलखंड और बुंदेलखंड हैं। इस क्षेत्र का एक बड़ा भाग (75%) पश्चिमी उत्तर प्रदेश में है, लगभग 20% रुहेलखंड एवं बुंदेलखंड तथा शेष मध्य उत्तर प्रदेश में है। उत्तर प्रदेश के मुख्य जिलों में कपास की खेती वाले क्षेत्र तथा उपज का विवरण सारणी 21 में संक्षेप में दिया गया है [Sewak, *Cawnpore agric. Coll. Stud. Mag.*, 1949, 9(2), 33; Dabral, *Agric. Anim. Husb.*, Uttar Pradesh, 1951, 2(2), 22].

ऊपरी तथा निचले दोआबों तथा रुहेलखंड के कपास के क्षेत्र की मिट्टी जलोढ़ है, दक्षिणी बुंदेलखंड में मिट्टी भारी एवं काली है परन्तु उत्तर में यमुना नदी के किनारे मिट्टी जलोढ़ है। यहाँ कपास खरीफ की फसल के रूप में बोई जाती है। पश्चिमी उत्तर प्रदेश में इसकी सिंचाई कुओं और नहरों से की जाती है। कृषि सम्बंधी प्रयायें बहुत कुछ पंजाब के आसपास के भागों से मिलती-जुलती हैं।

सिंचित कपास की चुनाई सितम्बर के दूसरे सप्ताह से प्रारम्भ हो जाती है। वर्षा द्वारा उत्पन्न फसल की चुनाई अक्टूबर में प्रारम्भ होती है। सिंचाई से 650 किग्रा. और वर्षा-पोषित से 350 किग्रा. प्रति हेक्टर उपज मिलती है। बुंदेलखंड, रुहेलखंड, उन्नाव और हरदोई में कम पैदावार होती है।

उत्तर प्रदेश में कपास के भयानक नाशीकीट गुलाबी ढोंडा कृमि, चित्तीदार ढोंडा कृमि और पर्ण वेल्क हैं। अमेरिकी कपास पर जैसिड आक्रमण करता है। फ्यूज़ेरियम जाति द्वारा उत्पन्न म्लानि का प्रभाव देशी कपासों पर होता है।

उत्तर प्रदेश में बोई जाने वाली कपास छोटे रेशे वाली देशी कपास है। यह गॉ. आर्बोरियम प्रजाति बंगालेन्स के अन्तर्गत है जिसका व्यापारिक नाम बंगालेन्स है। वरण और संकरण द्वारा अच्छे विभेद तैयार करने के प्रयत्न बहुत पहले से होते रहे हैं। अब समस्त कपास उत्पन्न करने वाले क्षेत्रों में विभेद सी-520 और 35/1 की खेती की जा रही है। जहाँ सिंचाई की सुविधा है ऐसे क्षेत्रों में बड़े रेशे वाली अमेरिकी कपास बोई जा सकती है। फारस से लाई गई अमेरिकी किस्मों से वरण द्वारा प्राप्त परसो-अमेरिकी की खेती कुछ समय से की जा रही है। जहाँ सिंचाई की सुविधायें उपलब्ध हैं, सी-520 के स्थान पर इसकी खेती बढ़ाई जा रही है। उत्तर प्रदेश के कुछ भागों में पंजाब की 216-एफ. और एल. एस. एस. किस्में बोई जाने लगी हैं। उत्तर प्रदेश में बोई जाने वाली किस्मों की विशेषतायें सारणी 22 में संक्षेप में दी हुई हैं (Sethi, *Indian Cott. Gr. Rev.*, 1947, 1, 34; Sethi & Ansari, *Indian Fmg*, 1943, 4, 461; 3rd Conf. Cott.-gr. Probl. India, 1946, 292; Dabral, loc. cit.; Ansari, *Indian Cott. Gr. Rev.*, 1950, 4, 149; Arora,

सारणी 21 — उत्तर प्रदेश में कपास का क्षेत्रफल और उत्पादन

	क्षेत्रफल (हेक्टर)		उत्पादन (टन)	
	1963-64	1964-65	1963-64	1964-65
देहरादून	46	31	30	21
सहारनपुर	8,215	4,985	5,380	4,029
मुजफ्फरनगर	5,738	4,947	3,637	4,753
मेरठ	12,767	9,403	8,163	8,823
बुलंदशहर	21,556	13,682	6,602	9,011
अलीगढ़	22,343	15,446	8,985	8,514
मथुरा	11,980	11,364	4,241	5,087
आगरा	3,637	2,138	1,431	1,011
मैनपुरी	220	122	94	79
एटा	3,280	2,389	1,427	1,546
बरेली	45	34	18	36
बिजनौर	2,513	1,153	707	616
बदायूँ	742	470	378	566
मुरादाबाद	1,119	775	366	484
शाहजहाँपुर	1	1

सारणी 22 — उत्तर प्रदेश में कपास के मुख्य विभेदों की विशेषतायें

विभेद	जातियाँ	रेशों की लम्बाई (इंचों या 2.5 सेंमी. में)	ओटाई- प्रतिशत	कटाई मान (हाना गणना)
परसो-अमेरिकी	गॉ. हिर्मुडम प्रजाति लैटिफोलियम	0.88	32.0	32
सी-520	गॉ. आर्बोरियम प्रजाति बंगालेन्स	0.73	35.5	10.5-12
35/1	"	0.82	36.2	13-19

Symposium on Cotton Extension Work, Indian Cott. Comm., 1952, 42; Rep. Indian Cott. Comm., 1952, 70; 1953, 63, 96).

असम — इस प्रदेश में कपास अधिकतर 150 से 900 मी. की ऊँचाई पर पहाड़ियों पर बोयी जाती है। कपास का अधिक भाग (84%) गारो पहाड़ियों पर, जहाँ औसत वार्षिक वर्षा 270 सेंमी. होती है और जो फसल की वृद्धि की अवधि में अर्थात् मई से अगस्त तक होती है, बोई जाती है। मिट्टी लाल लैटेराइट अधिकतर बलुई-दुमट है। असम में कपास की खेती के अन्य क्षेत्र खासी और जयन्तिया पहाड़ियाँ, मिकिर पहाड़ियाँ, तथा लुशाई और नागा पहाड़ियाँ हैं। विभिन्न जिलों में खेती का क्षेत्रफल एवं पैदावार सारणी 23 में दिये गये हैं।

पहाड़ी क्षेत्रों में कपास की खेती करने की विधि (शुम खेती) प्राचीन है। जंगलों को काटकर, लकड़ियों को सुखाने के बाद जला दिया जाता है, तथा राख को खाद की तरह प्रयोग किया जाता है। साफ किये गये पूरे क्षेत्र में धान, मिलेट (ज्वार, बाजरा, आदि), मक्का या तरकारी के बीजों के साथ कपास के बीज भी ऐसे ही 30-45 सेंमी. के अन्तर पर गाड़ दिये जाते हैं। बीज दर 8-10 किग्रा. प्रति हेक्टर होती है। एक ही खेत लगातार दो ऋतुओं से अधिक काम में नहीं लाया जाता तथा उसे 5-20 वर्ष तक पुनः जंगल बन जाने के लिये छोड़ दिया जाता है। इसके विपरीत मैदानी क्षेत्रों में भूमि को हल द्वारा तथा लैडरिंग करके तैयार किया जाता है और कपास को एक अमिश्रित फसल के रूप में बोया जाता है। बीजों को 12-16 किग्रा. प्रति हेक्टर की दर से बोते हैं (De & Ganguli, *Indian Cott. Gr. Rev.*, 1953, 7, 202).

असम में कपास के भयानक नाशीकीट गुलाबी ढोंडा कृमि, स्तम्भ घुन और स्तम्भ व्यूप्रेस्टिड हैं। अन्य साधारण नाशीकीटों में प्ररोह का घुन, सेमीलूपर इल्ली, टिड्डा और लाल-कपास बग मुख्य हैं। सामान्य रोग ऐन्थ्रावनीज, क्लेदगलन और प्लाज्मा हैं।

नवम्बर के बाद से कपास चुनाई के लिए तैयार हो जाती है और चुनाई जनवरी या फरवरी तक चलती है। गारो पहाड़ियों में साधारणतः दिसम्बर या जनवरी में एक ही चुनाई में फसल चुन ली जाती है। इससे उपज कम (कपास की औसतन उपज 200 किग्रा./हेक्टर) होती है। कम उपज का कारण अनिश्चित मानसून के कारण खराब अंकुरण और पुष्पन की अवधि में भारी वर्षा के कारण कलियों, फूलों और ढोंडों का अधिक मात्रा में गिर जाना बताया जाता है (De & Ganguli, loc. cit.).

गारो पहाड़ी की कपास जिसे व्यापार में कोमिल्ला कहते हैं छोटे रेशे (1-1.25 सेंमी.) वाली और घटिया किस्म की होती है परन्तु इसकी ओटाई-प्रतिशतता अधिक (49-50%) होती है। इसको गाँ. आर्बोरियम की प्रजाति सनूम के अन्तर्गत रखते हैं। गाँ. आर्बोरियम की प्रजाति बंगालेन्स अथवा बर्मानिकम असम की पहाड़ियों, विशेषतया लुशाई, मिश्मी और आवोर पहाड़ियों में भी पाई जाती है। इन किस्मों के अन्तर्गत प्राकृतिक पर-परागण के कारण बहुत-सी मध्यवर्ती किस्में उत्पन्न हो गई हैं, और पहाड़ियों पर उगाई जाने वाली वर्तमान फसलों, भिन्न होती हुई भी विभिन्न किस्मों का मिश्रण है। विदेशी बाजारों में, ऊन के साथ मिलाने और किसी सीमा तक कागज बनाने के लिए कोमिल्ला कपास विशेष रूप से मूल्यवान है (De & Ganguli, loc. cit.).

मौसमी परिस्थितियों के कारण अच्छी किस्म की कपास उगाने के प्रयत्न सफल नहीं हुये। कोमिल्ला कपास की निश्चित माँग होने

सारणी 23 — असम और मेघालय में कपास का क्षेत्रफल और उत्पादन*

	क्षेत्रफल (हेक्टर)		उत्पादन (टन)	
	1963-64	1964-65	1963-64	1964-65
कछार	65	73	25	29
गोवाल पारा	279	283	112	114
कामरूप	243	263	97	105
दर	65	69	26	28
नौगाँव	36	49	15	20
शिवसागर	81	67	33	27
लक्ष्मीपुर	40	47	16	19
संयुक्त मिकिर और उत्तरी कछार पहाड़ियाँ	6,475	6,475	2,596	2,596
गारो पहाड़ियाँ	8,701	8,705	3,489	3,470
खासी और जयन्तिया पहाड़ियाँ	40	40	16	16
मिजो पहाड़ियाँ	753	753	302	302
कुल	16,778	16,824	6,728	6,746

*Agric. Situat. India, Jan. 1967.

के कारण इसकी खेती के क्षेत्रों में विस्तार किया जा रहा है। गारो पहाड़ी की कपास के तीन अधिक उपज देने वाले विभेदों, जी-54-1, डी-46-2-1 और जी-123-49 का विकास किया गया है (Barooah & De, *Indian Cott. Gr. Rev.*, 1950, 4, 65; De, *Symposium on Perennial Cottons*, Indian Cott. Comm., 1952, 64; *Rep. Indian Cott. Comm.*, 1951, 43; 1952, 47; 1953, 65).

अन्य प्रदेश — बिहार, उड़ीसा और प. बंगाल में भी कपास की खेती की जाती है। भोपाल (मध्य प्रदेश) में द्वितीय विश्वयुद्ध के पहले बहुत बड़े क्षेत्र में कपास की खेती होती थी किन्तु युद्ध की अवधि में कपास से अच्छे दाम न मिलने के कारण कपास वाले क्षेत्रों में खाद्य फसलों की खेती होने लगी तथा बड़े-बड़े क्षेत्रों में काँस (सैकैरम स्पोण्डे-नियम) उग आने के कारण कपास वाले क्षेत्रों में और कमी आ गई। इस क्षेत्र के लिये मान्यता प्राप्त किस्म मालवी-9 है। यह इन्स्टीट्यूट आफ प्लांट इण्डस्ट्री, इन्दौर, में विकसित एक मध्यम रेशे वाली किस्म है (Singh, *Symposium on Cotton Extension Work*, Indian Cott. Comm., 1952, 64).

बिहार में कपास की खेती वाले मुख्य क्षेत्र, सारन, मुजफ्फरपुर, सन्थाल परगना, हजारीबाग और राँची जिले हैं। इनका कुल क्षेत्रफल 5,600 हेक्टर है और इनसे कुल 3,000 गाँठ कपास उत्पन्न होती है। कपास की बोवाई सामान्यतया जून में और चुनाई अक्टूबर में की जाती है। उत्तरी बिहार में कपास मानसून खत्म होने पर बोई जाती है और गर्मी के मौसम में चुनी जाती है।

उड़ीसा में 1952-53 में 9,600 हेक्टर क्षेत्रफल में कपास की खेती की गई किन्तु 1964-65 में यही क्षेत्रफल 8,13,000 हेक्टर

सारणी 24 — उड़ीसा में कपास का क्षेत्रफल और उत्पादन*

	क्षेत्रफल (हेक्टर)		उत्पादन (टन)	
	1963-64	1964-65	1963-64	1964-65
कटक	28	9	14	4
पुरी	27	20	13	12
बालेश्वर	8	3	4	1
संवलपुर	81	6	40	3
गंजाम	23	12	8	4
कोरापूत	138	198	61	88
ढेंकानल	720	45	351	22
केन्दुझर	111	47	54	23
मयूरभंज	13	5	3	1
सुन्दरगढ़	180	299	32	53
बलांगीर	162	116	43	31
कालाहांडी	88	47	40	22
कुल	1,579	813	663	264

*Agric. Situat. India, 1967.

हो गया। इसमें से मुख्य क्षेत्र कटक, ढेंकानल, सुन्दरगढ़ और कोरापूत जिले हैं (सारणी 24)। उत्तरी जिलों में बोई जाने वाली किस्में अधिकतर गाँ. आर्बोरियम प्रजाति बंगालेन्स हैं, तथा इनके स्थानीय नाम दाखुंगी और दुरटेरी हैं। कम्बोडिया के विभेदों Co-2 और Co-4 तथा परभणी अमेरिकी को लगाने के प्रयत्न किये जा रहे हैं। दक्षिणी जिलों, गंजाम और कोरापूत में बोई जाने वाली किस्म चित्रापत्थी है जो कि गाँ. आर्बोरियम प्रजाति इंडिकम है। इनके अलावा घर के आँगनों में बहुवर्षी कपास की दो किस्में, गाँ. आर्बोरियम और गाँ. बाबेंडस भी लगायी जाती हैं। पहाड़ी जिलों में कपास की खेती वर्षा पर निर्भर करती है, परन्तु कुछ मैदानी क्षेत्रों में इसकी खेती सिंचाई करके की जाती है। शीघ्र पकने वाली देशी कपास जून-जुलाई में बोयी जाती है, और अक्टूबर-नवम्बर में चुनी जाती है। परन्तु अमेरिकी कपास जुलाई में बोई जाती है और दिसम्बर में चुनी जाती है।

लम्बे रेशे वाली कपास पश्चिमी बंगाल में प्रविष्ट की जा रही है। परीक्षण से यह पता चलता है कि प्रदेश के पश्चिमी और उत्तरी भागों के ऊँचे क्षेत्र मिदनापुर, बाँकुरा, नादिया, जैसोर और मुर्शिदाबाद जिले, Co-3 और Co-4 विभेदों की खेती के लिए उपयुक्त हैं। हाल में परभणी अमेरिकी के परीक्षण से पता चला है कि इससे हैदराबाद में उत्पन्न होने वाली कपास के ही समान गुणों वाली रुई मिलती है (Gregory & Ishaque, *Indian Cott. Gr. Rev.*, 1947, 1, 26; *Capital*, 1952, 392; *Rep. Indian Cott. Comm., Lab.*, 1953, 11)।

कपास विपणन

भारत में पैदा की गई कपास का अधिकांश 'कपास' अर्थात् बिना ओटी हुई कपास के रूप में बेचा जाता है। इसको विशेषतया बेल-गाड़ियों या कभी-कभी लद्दू पशुओं पर लाद कर स्थानीय बाजारों अथवा रुई ओटने की मिलों में भेजा जाता है। कृषक अपनी कपास

को ग्रामीण अथवा पास के सामुदायिक बाजार में बेचता है। गाँव के व्यापारी, घूमने वाले व्यापारी, ओटने और कातने की मिलों अथवा विदेश भेजने वाली फर्मों के प्रतिनिधि इस कपास को खरीदते हैं। कुछ प्रदेशों में, विशेष रूप से महाराष्ट्र में, कपास बेचने और खरीदने का कार्य, कृषकों द्वारा गठित सहकारी संघ करते हैं। गुजरात में, ओटने के पश्चात्, लगभग पूरी कपास, बेच दी जाती है। कृषकों से कपास की खरीदारी और कम्पनियों अथवा विदेश भेजने वाली फर्मों को बेचने का कार्य सहकारी विक्रय तथा ओटाई संघ करता है (Dantwala, 1937, 17, 77; *Rep. Cott. Marketing Comm.*, Minist. Food & Agric., India, 1952, 9-21, 47; Mirchandani, *Indian Cott. Gr. Rev.*, 1952, 6, 35)।

यद्यपि कपास एकत्र करने तथा क्रय-विक्रय का कार्य अन्य भारतीय नकद फसलों की अपेक्षा सुनियोजित है तथापि इसमें भी कृषीय वस्तुओं के सामान्य अवगुण और कुप्रथाएँ पाई जाती हैं, जिसके फलस्वरूप कृषक को अपने माल का उचित मूल्य नहीं मिल पाता। मध्य प्रदेश में लगभग 50 वर्ष पहले, कपास के राज्य कानून के अधीन क्रय-विक्रय की सुचारु व्यवस्था संगठित करने का कार्य प्रारम्भ किया गया था ताकि उत्पादक को उचित मूल्य मिल सके। तब से सुव्यवस्थित बाजारों को स्थापित करने के वैधानिक नियम महाराष्ट्र, तमिलनाडु, मध्य प्रदेश, पंजाब और आंध्र प्रदेश में बन गये हैं। इस विधान के अन्तर्गत विक्रय, तौल, नमूना लेने, माल पहुँचाने तथा भुगतान आदि से सम्बंधित नियम हैं तथा इसमें व्यवसाय सम्बंधी कुछ विशेष प्रकार के खर्चों को निश्चित कर दिया गया है। कपास के सुव्यवस्थित बाजार कई केन्द्रों पर कार्य कर रहे हैं तथा प्रत्येक वर्ष इनकी संख्या में वृद्धि हो रही है (*Rep. Cott. Marketing Comm.*, Minist. Food & Agric., India, 1952, 18; *Rep. Indian Cott. Comm.*, 1954, 100)।

निश्चित क्षेत्र में उगाई गई कपास की प्रसिद्धि और गुणों को स्थिर रखने के लिए, भारत सरकार ने 1923 में कपास परिवहन कानून पारित किया। यह कानून राज्य सरकारों को रुई, कपास, कपास के बीज एवं कपास के वेकार पदार्थों का किसी विशेष कार्य के लिए इनकी आवश्यकता होने पर अधिकृत व्यक्ति द्वारा स्वीकृत प्रमाण पत्र के बिना विशेष क्षेत्रों में आयात पर प्रतिबन्ध लगाने का अधिकार प्रदान करता है। कानून के नियमों को आरक्षित क्षेत्रों पर, जिसमें कुछ विशेष प्रदेश सम्मिलित हैं, लागू किया गया है। इन आरक्षित क्षेत्रों से किसी निम्न कोटि की कपास को निर्मूल करने के लिए कुछ राज्यों में कुछ अन्य वैधानिक नियम भी बनाये गये हैं। बम्बई के कपास कंट्रोल एक्ट के अन्तर्गत राज्य सरकार को किसी विशेष प्रदेश में बोयी जाने वाली किस्मों को निश्चित करने तथा अन्य किस्मों की खेती, अधिकार और व्यापार पर प्रतिबन्ध लगाने का अधिकार है। यह कानून, निर्धारित किस्मों को प्रामाणिक किस्मों में मिलाने और एक प्रामाणिक कपास को दूसरे में मिलाने पर भी प्रतिबन्ध लगाता है। इसी प्रकार के वैधानिक नियम तमिलनाडु, मध्य प्रदेश, पंजाब, हरियाणा और आंध्र प्रदेश में भी लागू हैं (Dantwala, 1937, 47; 1948, 55; *Rep. Indian Cott. Comm.*, 1954, 101)।

उन्नत विभेदों के गुणों को बनाये रखना किसी भी विकास योजना का अंग है। कपास के बीजों की बढ़ती और वितरण के लिए विभिन्न राज्यों में आवश्यक व्यवस्था है। इसके अन्तर्गत शोधशालाओं में विकसित बीजों को राजकीय अथवा प्रामाणिक उत्पादकों के खेतों में बढ़ाया जाता है। विभाग की देख-रेख में चुने हुए केन्द्रों—अन्तस्थ सुरक्षित क्षेत्रों को और इसके बाद विभागीय अधिकृत गोदामों और

ओटाई की मिलों द्वारा ग्रामीण क्षेत्रों को वितरित किया जाता है (*Rep. Indian Cott. Comm.*, 1954, 64).

कृषि उत्पाद कानून, 1936 (श्रेणीकरण और अंकन) के नियमों के अन्तर्गत, शुद्ध बीजों के गुणों को बनाये रखने और वितरण से सम्बद्ध, भारत में कपास को ऐगमार्किंग करने की एक योजना है. महाराष्ट्र में 1027 ए. एल. एफ., गाडाग-1, जयवंत, सुयोग आदि और मध्य प्रदेश में वीरम-434 कपासों के एक प्रमुख भाग को ऐगमार्क के स्तर से श्रेणीबद्ध किया जाता है. प्रत्येक उपजातियों के लिए दो श्रेणियाँ निर्धारित की गई हैं: ऐगमार्क प्रमाणित उत्तम तथा ऐगमार्क प्रमाणित. पहले में 98% रेशे और दूसरे में 97% रेशे की शुद्धता सुनिश्चित रहती है. इस योजना के फलस्वरूप न केवल किस्मों की शुद्धि को स्थिर रखा गया है वरन् कपास उत्पादकों को काफी अतिरिक्त आय का भरोसा हो गया है. योजना के लाभों की जाँच से पता चला है कि ऐगमार्क से उन क्षेत्रों में जहाँ कृषि विभाग शुद्ध बीजों को फिर से वितरण करने के लिए संचय करता है, कपास की शुद्धि सुनिश्चित हो गई है (*Mirchandani, Indian Cott. Gr. Rev.*, 1952, 6, 35; *ibid.*, 1953, 7, 304; *Rep. Cott. Marketing Comm.*, *Minist. Food & Agric.*, India, 1952, 18).

कपास की ओटाई और गाँठे बनाना

ओटाई - खेत से चुनी गई कपास में रई और विनौले दोनों ही मिले रहते हैं, साथ ही और भी बाह्य अशुद्धियाँ मिली होती हैं - जैसे सूखी पत्तियों के टुकड़े जो प्रायः चुनाई और वटोरने के समय कपास में चिपक जाते हैं. उद्योग में उपयोग के लिए कपास को साफ करना और रई को विनौले से अलग करना होता है. रई बीज से दूधता-पूर्वक चिपकी रहती है, अतः रेशों को बिना हानि पहुँचाये विलग करते समय अत्यन्त सावधानी बरतनी पड़ती है और उपयुक्त युक्तियाँ काम में लाई जाती हैं. ओटनी के द्वारा कपास के बीज विलगाये जाते हैं. यह एक ऐसा यंत्र है जो कपास के सुखाने, खेलने और साफ करने की भी युक्तियों से सज्जित होता है.

थोड़ी कपास की ओटाई देहातों में ओटने की चर्खी द्वारा की जाती है, किन्तु इसकी ओटाई अधिक मात्रा में फैक्टरियों में शक्ति-चालित यंत्रों द्वारा की जाती है. दो प्रकार की ओटनियाँ प्रयोग में लाई जाती हैं: रोलर और आरी ओटनी. रोलर ओटनी ही अधिक प्रयोग में आती है. आरी ओटनी तो केवल कुम्हटा और धारवाड़ क्षेत्रों में ही इस्तेमाल की जाती है. रोलर ओटनी द्वारा आरी ओटनी की अपेक्षा अधिक ओटाई-प्रतिशतता (रई की तौल का कपास की तौल से अनुपात $\times 100$) होती है, किन्तु आरी ओटनी में रोलर ओटनी की तुलना में कम शक्ति खर्च होती है. रई निकालने की प्रति घंटा गति भी अधिक होती है, किन्तु प्राप्त रई अधिक एक-सी होती है और उसके रेशे से बने घागे अधिक मजबूत होते हैं (*Brown, H.B.*, 392; *Sen & Venkataraman, Technol. Bull. Indian Cott. Comm.*, *Ser. A*, No. 77, 1951; *With India*, II, 213).

रई की उपलब्धि और उसकी गुणता (कोटि) कपास की किस्म और ओटनी के प्रकार पर निर्भर करती है. ऐसी किस्में जिनसे अधिक ओटाई-प्रतिशतता और अच्छे रेशे मिलते हैं, अधिक प्रयुक्त होती हैं, क्योंकि ऐसी कपासों के प्रयोग से उत्पादक को अधिक लाभ की सम्भावना रहती है. कपास की उन्नत किस्मों का चुनाव करते समय इन दोनों ही बातों का ध्यान रखा जाता है. ओटाई-प्रतिशतता रई

और विनौले दोनों ही के भार पर निर्भर करती है. रई और बीज दोनों ही कपास की ढोंडों के भीतर उत्पन्न होते हैं. ढोंडों का आकार आनुवंशिक और वातावरण सम्बंधी कारकों द्वारा निर्धारित होता है. यद्यपि विनौले की सतह पर रोमों के पास-पास होने से ओटाई-प्रतिशतता अधिक होती है तथापि इन दोनों के बीच सीधा आनुपातिक सम्बंध नहीं पाया जाता (*Ahmed & Richardson, Technol. Bull. Indian Cott. Comm.*, *Ser. A*, No. 31, 1936; *Turner, ibid.*, *Ser. B*, No. 2, 1927; *Sen & Venkataraman, ibid.*, *Ser. A*, No. 77, 1951; *Nanjundayya & Iyengar, Indian Cott. Gr. Rev.*, 1954, 8, 92; *Harland*, 126; *Rama Prasad, Indian Text. J.*, 1927, 37, 176; *Leake, J. Genet.*, 1914-15, 4, 42; *Turner, Technol. Bull. Indian Cott. Comm.*, *Ser. B*; No. 4, 1929; *Iyengar & Turner, ibid.*, No. 7, 1930).

गाँ. हर्वेसियम और गाँ. हिंसुटम कपासों की ओटाई-प्रतिशतता को प्रभावित करने वाले कारकों के अध्ययन से पता चलता है कि रोमों (रेशा) के भार में विविधता पाई जाती है और उच्च ओटाई-प्रतिशतता वाले संयोगों को कृत्रिम रूप से तैयार करना सम्भव है. वरण द्वारा ओटाई-प्रतिशतता में लगभग 50% वृद्धि की जा सकती है, किन्तु इससे रई की कटाई के गुण कम होने का भय रहता है. यदि रेशों की संख्या में वृद्धि की जाय तो उनमें परस्पर होड़ लगने से पतली भित्ति वाले रेशे और गठीली रई बनने की सम्भावना रहती है. इसी प्रकार यदि रेशा-भार बढ़ाया जाय तो मोटे रेशे बनेंगे (*Abstr. Brit. Cott. Industr. Res. Ass.*, 1936, 72; *Harland*, 129).

मालवी \times बानी, मालवी \times C-520, और बानी \times C-520 नामक तीन अन्तर-विभेद-संकरों के कृषीय लक्षणों की वंशागति के अध्ययन से ज्ञात हुआ कि ओटाई-प्रतिशतता F_1 पीढ़ी में प्रबल संकरओज दर्शाती है और ओटाई-प्रतिशतता जनकों की औसत-प्रतिशतता से अधिक होती है. F_2 पीढ़ी में ओटाई-प्रतिशतता जनकों की औसत और F_1 की ओटाई-प्रतिशतता के बीच की रहती है (*Hutchinson et al.*, *Indian J. agric. Sci.*, 1938, 8, 757).

भारत की प्रामाणिक कपासों की ओटाई-प्रतिशतताओं के आंकड़े (सारणी 25) यह प्रदर्शित करते हैं कि अधिकांश प्रकारों में मूल्यों की घट-वढ़ हर वर्ष होती रहती है. गाँ. हिंसुटम कपासों में, लक्ष्मी में सर्वाधिक मान प्राप्त होता है (औसत, 37%). गाँ. हर्वेसियम की 6 कपासों में, सुयोग की ओटाई-प्रतिशतता सबसे अधिक (औसत, 36.4) है और जयवंत में सबसे कम (औसत, 26.9). गाँ. आर्वोरियम कपासों में, बिरनार (गाँ. आर्वोरियम प्रजाति बंगालेंस) में सबसे अधिक ओटाई-प्रतिशतता (औसत, 38.0) पाई जाती है और नंद्याल-14 (गाँ. आर्वोरियम प्रजाति इंडिकम) में सबसे कम (औसत, 23.8). रोचक बात तो यह है कि गाँ. आर्वोरियम कपासों के अन्तर्गत इंडिकम प्रजाति का अधिकतम मान (31.2) प्रजाति बंगालेंस के निम्नतम मान (33.0) से कम है (सारणी 25).

गाँठ बनाना - व्यापार में कपास की गाँठें दो प्रकार से बनाई जाती हैं: ढीली और संपीडित गाँठें. ढीली गाँठें संपीडन फैक्टरी तक अंतर्देशीय परिवहन के उद्देश्य से और संपीडित गाँठें ओटो हुई कपास को बाजार ले जाने अथवा मालगोदामों में जमा करने के लिए उपयोग की जाती हैं. प्रत्येक ढीली गाँठ, अर्थात् बोरा या डोकरा, में 90 से 135 किग्रा. तक कपास होती है. संपीडित गाँठें पेंच, द्रव-चालित, गियरचालित अथवा विद्युत चालित संपीडकों द्वारा तैयार

सारणी 25 - प्रामाणिक भारतीय कपासों की ओटाई-प्रतिशतता*

विशेष	श्रुत	परिसर	औसत
गॉ. हिंसुटम प्रजाति लैटिफोलियम			
गाडाग-1	1941-52	31.4-33.9	33.1
लक्ष्मी	1951-52	36.8-37.2	37.0
कम्बोडिया (Co-2)	1941-52	30.0-34.0	33.3
मद्रास-उगाण्डा (Co-4/B-40)	1947-52	31.8-34.0	33.3
एल. एस. एस.	1950-52	30.0-35.0	33.0
गॉ. हर्वेसियम प्रजाति बाइट्रियलम			
जयवंत	1941-52	26.0-29.0	26.9
जयधर	1951-52	32.0	32.0
1027-ए. एल. एफ.	1941-52	31.4-36.1	34.4
सुयोग	1949-52	34.5-38.2	36.4
विजय	1951-52	36.0	36.0
वेस्टर्न्स (हगारी)-1	1941-52	28.0-32.0	29.9
गॉ. आर्बोरियम प्रजाति बंगालेंस			
मालीसोनी-39	1949-52	36.0-38.4	37.6
जरीला	1941-52	34.0-37.0	35.4
बिरनार	1951-52	38.0	38.0
एच-420	1951-52	33.0	33.0
गॉ. आर्बोरियम प्रजाति इंडिकम			
गाचोराणी-6	1941-52	29.7-32.5	31.2
नार्वन्स (नंघाल)-14	1941-52	23.0-26.0	23.8
करुणगोत्री-1	1951-52	29.6	29.6
करुणगोत्री-2	1951-52	31.0	31.0
करुणगोत्री-5	1948-52	29.0-31.0	30.2

* *Technol. Rep. Standard Indian Cottons, Indian Cott. Comm., 1941-52.*

की जाती हैं। 'इस्ट इण्डिया कॉटन एसोसियेशन' के नियमों के अनुसार कपास को इस तरह संपीडित होना चाहिए कि 18,000 किग्रा. (100 गाँठें) कपास 30.2 घमी. से अधिक स्थान न घेरे, अथवा गाँठों का औसत घनत्व 576 किग्रा./घमी. हो। कपास की गाँठों का आकार, उनका भार और घनत्व प्रयोग में लाये गये संपीडक के प्रकार के अनुसार बदलता रहता है। गाँठ की सामान्य कुल तौल 176.4 किग्रा. (हेशियन और पट्टी की तौल जोड़कर कुल तौल 180 किग्रा.) और उसका घनत्व 640 किग्रा./घमी. होता है। गाँठ बाँधने के लिये प्रयोग में लाये गये हेशियन आवरण की सूक्ष्मता और इस्पात पट्टियों अथवा तार के बँडों की संख्या भी बदलती रहती है [Int. Cott. Bull., 1936-37, 15, 213; Ahmad, *Technol. Res. on Cott. in India* (1924-41), Indian Cott. Comm., 1942].

गाँठ बनाने वाले संपीडक या तो ओटाई गृह के अहाते में या उसी शहर या प्रांत में पृथक् फैक्ट्रियों में स्थापित रहते हैं, अथवा वे वंदरगाह वाले शहरों में स्थित होते हैं जहाँ निर्यात के लिये लाई गई गाँठों के खुल जाने पर उन्हें पुनः संपीडित किया जा सके। भारत में निर्यात और देश की आंतरिक खपत के लिए अलग-अलग गाँठें बनाने की

प्रथा नहीं है। कुछ संपीडक केन्द्रों में 6 या 12 पैसे प्रति गाँठ की दर से नगरपालिका कर लगाया जाता है। कपास की उन सभी गाँठों पर, जो विदेशों को निर्यात की जाती हैं या मिलों में भेजी जाती हैं, 25 पैसे प्रति गाँठ (180 किग्रा.) की दर से चुंगी लगती है। बिना गाँठ वाली कपास पर चुंगी की दर कम है।

भारत में गाँठ बनाने के दो पहलुओं पर खोज की गई है। एक का सम्बंध संपीडन घनत्व के कपास की श्रेणी पर प्रभाव से है, और दूसरे का आमतौर पर प्रयोग में लाये जाने वाले जूट के हेशियन आवरण की जगह सूती कपड़े द्वारा गाँठों को लपेटने से है। इन खोजों से कई बातों का पता चला है। 320 किग्रा./घमी. की दर से संपीडित की जाने वाली कपास उस कपास की अपेक्षा जिसका संपीडन 640 किग्रा./घमी. है, कुछ अधिक ऊँची श्रेणी की होती है। व्यवस्था और नौवहन की दृष्टि से हल्का संपीडन सस्ता नहीं पड़ता। कम्बोडिया कपास से निर्मित कुछ निश्चित विशिष्टताओं वाला कपड़ा हेशियन आवरण से अच्छा पड़ता है किन्तु अपेक्षित मजबूती वाला सूती कपड़ा सामान्यतः हेशियन की अपेक्षा अधिक मँहगा पड़ता है (Ahmad, *Technol. Bull. Indian Cott. Comm., Ser. A, No. 40, 1937; Nanjundayya & Ahmad, ibid., No. 60, 1943*).

कपास की ओटाई और उसकी गाँठें बनाने में अनेक कुरीतियाँ हैं जैसे, उत्तम श्रेणी की कपास में निम्न श्रेणी के कपास की मिलावट, रई का भार बढ़ाने के लिए उसे नम करना, और ऐसी ओटाई जिससे ज्यादा बिनौले टूटें और रई में मिले रहें। इन कुरीतियों की रोकथाम के लिए 'कॉटन जिनिंग और प्रेसिंग एक्ट, 1925' बनाया गया है, जिसके अन्तर्गत फैक्ट्रियों को ऐसे खाते रखने पड़ते हैं जिनमें समस्त ओटी गई और संपीडित कपासों का तथा जिनके लिए कपास ओटी गई है उन व्यक्तियों के नामों का पूरा विवरण अंकित किया जाए। इसके अतिरिक्त इस एक्ट के अनुसार प्रत्येक गाँठ पर क्रम संख्या और फैक्टरी के चिह्न की मुहर लगी होनी चाहिये, और उस पर कपास की श्रेणी या उसका व्यापारिक नाम भी निदिष्ट होना चाहिये (Dantwala, 1937, 42-55; *Rep. Cott. Marketing Comm., Minist. Food & Agric., India, 1952, 26*).

कपास का उत्पादन और व्यापार

विश्व बाज़ार में कृषि सामग्रियों में कपास का अग्रगण्य स्थान है। लगभग 60 देश कपास का व्यापारिक स्तर पर उत्पादन करते हैं, किन्तु कुल उत्पादन का 80% से अधिक उत्पादन 6 या 7 देशों में केन्द्रित है, जिनमें अमेरिका, भारत, रूस, चीन, मिस्र, पाकिस्तान और ब्राजील के नाम आते हैं (सारणी 26, 27)।

क्षेत्रफल की दृष्टि से, भारत में कपास सबसे अधिक महत्वपूर्ण व्यापारिक फसल है, विभिन्न राज्यों में नकद फसल के रूप में इसका स्थान अलग-अलग आता है (सारणी 28)। कपास की फसल अन्य व्यावसायिक फसलों से अधिक लाभदायक है जिसके कई कारण हैं, जैसे इसकी खेती करना सरल है, यह वर्षा के उतार-चढ़ाव को सह लेती है और दूसरी कई फसलों की अपेक्षा प्रति मानव-घंटा अधिक उपज देती है। उपयुक्त परिस्थितियों के अन्तर्गत इसे दीर्घकाल तक संचित किया जा सकता है (Ramanatha Ayyar, *Proc. Indian Sci. Congr., 1946, pt II, 155*).

द्वितीय विश्व युद्ध के प्रारम्भ में भारत में कपास की खेती का क्षेत्रफल 80,00,000 हेक्टर था। युद्ध के दौरान इसमें तेजी से गिरावट आई क्योंकि एक तो यूरोप तथा सुदूर पूर्वी देशों में छोटे रेशे वाली कपासों

सारणी 26 - विश्व के प्रमुख देशों में कपास का क्षेत्रफल और उत्पादन*

	क्षेत्रफल (हजार हेक्टर)					उत्पादन (दस लाख किग्रा.)				
	1938-39	1961-62	1962-63	1963-64	1964-65	1938-39	1961-62	1962-63	1963-64	1964-65
भारत	9,396.0	7,885.6	7,754.0	8,065.2	8,059.6	1,107.90	876.60	1,514.70	967.5	1,021.95
पाकिस्तान	..	1,395.2	1,374.0	1,468.8	1,463.6	..	324.90	365.85	418.5	405.0
चीन	3,000.0	4,200.0	4,000.0	4,120.0	4,400.0	480.15	903.15	924.75	1,011.75	1,183.05
सोवियत देश	2,048.8	2,308.0	2,359.2	2,451.2	2,432.4	819.0	1,516.5	1,473.3	1,745.55	1,785.15
ब्राजील	2,322.8	2,200.0	2,200.0	2,300.0	2,400.0	419.40	525.85	486.0	499.95	476.10
सं. अ. गणराज्य	740.8	824.8	688.0	675.0	668.5	371.70	323.0	453.60	438.30	496.80
उगांडा	482.0	828.8	721.2	805.6	860.0	54.90	34.20	44.35	68.85	76.5
मैक्सिको	256.8	785.2	823.2	779.6	779.6	66.15	427.95	518.40	454.85	508.05
अर्जेंटीना	402.0	599.6	561.2	578.4	600.4	70.20	107.55	132.30	97.20	129.15
टर्की	272.0	641.6	652.4	621.2	672.0	63.90	210.60	225.90	254.70	322.65
सूडान	183.2	470.4	442.4	433.2	443.6	59.40	215.10	159.30	102.60	146.70
पीरू	188.4	272.0	257.2	257.2	260.0	84.15	141.75	143.55	139.75	139.55

* Industrial Fibres, Commonwealth Economic Committee, 1966.

सारणी 27 - विश्व के प्रमुख देशों में कपास का क्षेत्रफल और उत्पादन*

	क्षेत्रफल (हजार हेक्टर)			उत्पादन (हजार टन)		
	1962-63	1963-64	1964-65	1962-63	1963-64	1964-65
अमेरिका (उत्तरी और मध्य)	7,520	6,890	6,900	3,990	4,070	4,160
अमेरिका (दक्षिणी)	4,540	4,610	4,790	1,030	1,000	980
यूरोप	660	595	430	230	225	175
सोवियत देश	2,387	2,480	2,461	1,485	1,756	1,800
एशिया	11,120	11,570	11,680	2,030	2,190	2,180
अफ्रीका	3,750	3,820	3,860	930	880	1,010
ओसीनिया	17	15	..	2	6	..

* Production Yearbook, F.A.O., 1965.

सारणी 28 - भारत में प्रमुख व्यापारिक फसलों का क्षेत्रफल तथा उपज*

(क्षेत्रफल : हजार हेक्टर; उपज : हजार टन में)

	1962-63		1963-64		1964-65		1965-66		1966-67	
	क्षेत्रफल	उपज	क्षेत्रफल	उपज	क्षेत्रफल	उपज	क्षेत्रफल	उपज	क्षेत्रफल	उपज
कपास	7,730	5,280	8,220	5,428	6,271	5,663	7,942	4,762	7,834	4,931
मूंगफली	7,283.2	5,064.4	6,886.4	5,298.2	7,216.3	5,887.7	7,428.1	4,230.5	7,250.7	4,484.8
तिल	2,551.9	491.9	2,411.7	439.3	2,512.7	492.8	2,480.0	424.7	2,667.7	403.8
सरसों और तेल	3,126.7	1,302.5	3,046.5	914.4	2,881.3	1,466.4	2,883.5	1,275.7	2,994.6	1,245.2
गन्ना	2,242.0	9,285.7	2,248.5	10,524.3	2,561.8	12,031.2	2,779.7	12,100.1	2,328.8	9,494.2
अलसी	1,903	429.5	1,994.6	378.5	2,059.4	503.1	1,727.5	335.2	1,526.2	274.2
जूट	847.4	5,442.4	868.7	6,078.6	838.5	6,020.5	756.5	4,471.2	797.9	5,348.3
तम्बाकू	404.9	341.1	440.6	359.8	394.3	345.6	371.9	297.7	398.2	350.0
भरंड बीज	469.6	99.4	483.8	102.3	440.1	108.3	408.1	79.8	412.0	80.8

* Estimates of Area & Production of Principal Crops in India, 1965-66, 1966-67.

का बाजार गिर चुका था और दूसरे कपास के क्षेत्रों में अन्न उपजाया जाने लगा था. कपास की खेती में दूसरी बार गिरावट 1947 में आई जब देश विभाजन के फलस्वरूप मध्यम और लम्बे रेशे वाली कपासों को उपजाने वाले विस्तृत सिंचित क्षेत्र पाकिस्तान के हिस्से में चले गये. इससे देश के वस्त्र उद्योग पर बुरा प्रभाव पड़ा. इन उद्योगों को मध्यम और लम्बे रेशे वाली कपास को बाहर से आयात करने के लिए बाध्य होना पड़ा और जब विनिमय कठिनाइयों के कारण कपास का पाकिस्तान से आयात नाममात्र को रह गया तो भारत के वस्त्र उद्योगों के सामने विपन्न परिस्थिति उत्पन्न हुई. इससे छूटकारा पाने के लिए सरकार ने 1949-50 में 'अधिक कपास उपजाओ' अभियान चालू किया और यह आशा की कि भारत एक इंच तक के लम्बे रेशे वाली कपास के सम्बंध में आत्मनिर्भर हो जावेगा. प्रथम पंचवर्षीय योजना के अंतर्गत कई उपाय किये गये जिनसे 1955-56 तक 45 लाख गाँठों के लक्ष्य की पूर्ति की आशा की गई थी. ये उपाय थे : (1) उन्नत बीजों के प्रयोग से उन्नत किस्मों की खेती वाली क्षेत्रों में विस्तार; (2) प्रति हेक्टर उपज में सिंचाई और खाद प्रयोग तथा अन्य विकासित सस्यवैज्ञानिक रीतियों से वृद्धि, जैसे अन्य फसलों के साथ कपास का हेर-फेर; और (3) जहाँ तक सम्भव हो परती भूमि में कपास की खेती करना. विभिन्न राज्यों में किये गये प्रसार कार्यों के फलस्वरूप 1949-50 से मध्यम और लम्बे रेशे वाली कपास की उपज में वास्तविक वृद्धि हुई है [Mahta, *Indian Cott. Gr. Rev.*, 1947, 1, 1; Natesan, *ibid.*, 1948, 2, 159; Sawhney, *ibid.*, 1949, 3, 115; 1950, 4, 129; 1951, 5, 52; Mahta, *Emp. Cott. Gr. Rev.*, 1949, 26, 175; Saraiya, *Indian Cott. Text. Industr. (1851-1950), Centenary Vol.*, 1950, 60; Sawhney, *ibid.*, 66; *Rep. Indian Cott. Comm.*, 1954, 64, 106].

कपास का व्यापार—कपास अंतर्राष्ट्रीय पण्य सामग्रियों में प्रमुख स्थान रखती है. इसके विपणन और व्यापार की पद्धति अत्यन्त विस्तृत और जटिल है. द्वितीय विश्व युद्ध के पूर्व विश्व में कच्ची कपास के व्यापार के तीन मुख्य विनिमय बाजार न्यूयार्क, लिवरपूल और बम्बई के थे. इन विनिमय बाजारों से तत्कालीन और आगे के व्यवसायों को सुविधा मिलती थी, तथा बेचने वालों और खरीदारों के बीच कपास की श्रेणी निर्धारित करने से सम्बंधित सभी प्रकार के झगड़ों को निवटाने के लिए सर्वेक्षण और पंचनिर्णय जैसी सुविधायें भी उपलब्ध थीं. बम्बई के आगामी व्यवसायों का नियंत्रण और नियमन 'ईस्ट इण्डिया कॉटन एसोसियेशन' द्वारा संपादित होता है. विनिमय की कार्यवाही अभी हाल तक 'बम्बई फारवर्ड कार्पेटेड्स कंट्रोल एक्ट, 1947' द्वारा नियंत्रित होती थी. इसके बाद जुलाई 1954 से, बम्बई का कपास व्यवसाय 'फारवर्ड कार्पेटेड्स (रेगुलेशन) एक्ट, 1952' के अन्तर्गत स्थापित 'फारवर्ड मार्केट्स कमिशन' द्वारा नियंत्रित होने लगा [Brown, H. B., 464; Andrews, 337; Dantwala, 1937, 197; 1948, 92; *Rep. Cott. Marketing Comm.*, Minist. Food & Agric., India, 1952, 31; *Agric. Situat. India*, 1954, 9, 266; *Bombay Cott. Annu.*, No. 35, 1953-54, 255; Gandhi, *Indian Cott. Text. Industr. Annu.*, 1953-54, 16, 46].

वर्गीकरण और कोटि निर्धारण—कच्ची कपास की खरीदारी या विक्री उसके गुण के आधार पर की जाती है. कपास का गुण उसकी श्रेणी, रेशे और लक्षण से जाना जाता है. श्रेणी के अन्तर्गत रंग, चमक (व्लूम) और ओटाई की तैयारी तथा अरुई पदार्थ (याहू पदार्थ)

आते हैं. रेशे का तात्पर्य है रुई की लम्बाई और उसके लक्षण को समन्वित करने वाला व्यंजक, और लक्षण के अन्तर्गत उसकी दृढ़ता, समानता, सफ़िलता, अनम्यता, संजकता आदि जैसे गुणों की गणना होती है. रेशा और श्रेणी का निर्धारण अधिकतर अनुभवी श्रेणी या वर्णकर्ताओं द्वारा देख करके अथवा हाथ से स्पर्श करके किया जाता है, यद्यपि इनमें से कई कारकों की माप, यंत्रों द्वारा भी हो सकती है (*Misc. Publ. U.S. Dep. Agric.*, No. 310, 1938; Dantwala, 1937, 142).

विश्व में उत्पन्न कपासों का वर्गीकरण, रेशों की लम्बाई के आधार पर तीन प्रमुख वर्गों में किया जाता है : छोटे रेशे (3-25 मिमी.), मध्यम रेशे (13-29 मिमी.) और लम्बे रेशे (25-63 मिमी.). यद्यपि ये वर्ग एक दूसरे में अति व्याप्त हैं, तथापि विभिन्न देशों में उपजाई गई मुख्य कपासों के वर्गीकरण के लिए सुविधाजनक हैं क्योंकि रेशों की लम्बाई के साथ ही कपास के अन्य गुण भी (यथा सूक्ष्मता और चमक) जुड़े रहते हैं. इन तीनों वर्गों की कपासों में, मध्यम रेशे वाली कपास का विश्व-उत्पादन बहुत अधिक है. संयुक्त राज्य अमेरिका, मैक्सिको, ब्राजील, पूर्वी अफ्रीका, रूस और पाकिस्तान में उपजाई गई कपास अधिकतर इसी वर्ग की हैं. द्वितीय विश्वयुद्ध के पूर्व भारत, चीन और ब्रह्मा में छोटे रेशे वाली कपासों का उत्पादन अधिक था. हाल ही में इन देशों में मध्यम या लम्बे रेशे वाली कपासों को उगाने के प्रयास किये गये हैं. विश्व में लम्बे रेशे वाली कपास की खेती अत्यंत सीमित है. इसके प्रमुख क्षेत्र अफ्रीका में मिस्र और सूडान तथा अमेरिका में संयुक्त राज्य के दक्षिणी प्रांत, पीरू और वेस्ट इंडीज हैं. सारणी 29 में कपास वाले प्रधान देशों में रेशों की लम्बाई के आधार पर कपास के उत्पादन की सूचना का विवरण दिया गया है (Matthews, 111; *Industrial Fibres*, Commonwealth Econ. Comm., 1955, 22).

भारत में उत्पन्न कपास के रेशों की लम्बाई 1.6-2.7 सेंमी. तक बदलती है. तीस या चालीस वर्ष पूर्व उपज का अधिक भाग (74%, 1917-22 में) उस कपास का होता था जिसके रेशे की लम्बाई 2.2 सेंमी. होती थी. 1921 में 'इण्डियन सेन्ट्रल कॉटन कमेटी' की स्थापना के बाद से विभिन्न श्रेणी की कपासों के अधिकाधिक संतुलित उत्पादन के प्रयास हुए हैं. 2.2 सेंमी. तक की लम्बाई के रेशे की कपास का उत्पादन 1917-22 में 26% (कुल उत्पादन का प्रतिशत) से बढ़कर 1937-42 में 38% हो गया. युद्धकाल में सुदूर पूर्व में छोटे रेशे वाली कपास का बाजार ठप्प हो जाने से यह आवश्यक हो गया कि इस कपास की खेती का क्षेत्रफल और कम कर दिया जाए और मध्यम तथा लम्बे रेशे वाली कपासों के उत्पादन में बढ़ोतरी की जाए ताकि घरेलू उद्योगों की आवश्यकताओं की पूर्ति हो सके. लगभग इसी समय चालू किये गये 'अधिक अन्न उपजाओ' अभियान से भी इस दिशा में सहायता मिली क्योंकि इस अभियान के अन्तर्गत छोटे रेशे वाली कपास के क्षेत्रों के कुछ भाग में अनाज पैदा करने से मध्यम और लम्बे रेशे वाली कपासों के उत्पादन में वृद्धि हुई.

भारत में रेशे की लम्बाई के आधार पर कपासों का जो वर्गीकरण किया जाता है वह अमेरिका या अन्य देशों में अपनाये जाने वाले वर्गीकरणों से भिन्न है. 1946-47 तक, भारतीय कपास 6 वर्गों में विभक्त की जाती थी : (1) लम्बे रेशे, 1 इंच से ऊपर; (2) मध्यम रेशे (ए), 1 इंच; (3) मध्यम रेशे (बी), 7/8-31/32 इंच; (4) छोटे रेशे (ए), 11/16-27/32 इंच; (5) छोटे रेशे (बी), 9/16-21/32 इंच; (6) छोटे रेशे (सी), 17/32 इंच और उससे कम. किन्तु अब जिन वर्गों को मान्यता दी जाती है वे इस प्रकार हैं : (1) उत्तम लम्बे रेशे, 1 इंच और उससे ऊपर; (2) लम्बे

सारणी 29 - प्रमुख कपास-प्रधान देशों में कपास का उत्पादन (रेशों के आधार पर)*

(कुल उत्पादन का %)

	1938-39	1946-47	1947-48	1948-49	1949-50	1950-51	1951-52	1952-53	1953-54
भारत (ब)									(अ)
1 इंच और अधिक लम्बे	5.1	4.7	2.8	1.7	1.3	1.6	1.8	2.3	34.7
$\frac{7}{8}$ - $\frac{3}{4}$ इंच	31.6	14.6	13.8	16.3	19.7	21.1	27.5	29.2	
$\frac{7}{8}$ इंच से छोटे	63.3	80.7	83.4	82.0	79.0	77.0	70.7	68.5	
अमेरिका									
$1\frac{1}{8}$ इंच और अधिक लम्बे	8.4	2.9	1.4	2.0	2.5	2.9	2.4	2.2	2.4
$1-1\frac{1}{8}$ इंच	43.0	74.8	65.7	74.2	63.0	73.3	71.1	70.2	73.2
$\frac{7}{8}-\frac{3}{4}$ इंच	44.2	20.3	25.8	19.9	30.6	22.0	24.6	24.1	23.9
$\frac{7}{8}$ इंच से छोटे	4.4	2.0	7.1	3.9	3.9	1.8	1.9	3.4	0.5
मिस्र									
$1\frac{1}{8}$ इंच से अधिक	9.3	69.1	23.6	29.4	43.7	34.5	39.8	45.9	35.4
$1\frac{1}{4}-1\frac{1}{8}$ इंच	26.1	0.4	2.2	10.5	9.1	19.8	15.9	13.7	27.9
$1\frac{1}{4}$ इंच से छोटे	64.6	30.5	74.2	60.1	47.2	45.6	44.3	40.4	36.7
पाकिस्तान									
1 इंच और अधिक लम्बे	12.0	12.0	14.0	63.0	26.0	76.0	81.0
$\frac{7}{8}-\frac{3}{4}$ इंच	49.0	53.0	48.0		33.0		
$\frac{7}{8}$ इंच से छोटे	39.0	35.0	38.0		41.0		

* Industrial Fibres, Commonwealth Econ. Comm., 1954, 23; 1955, 23.

(अ) कच्चा लेखा.

(ब) 1946-47 से पूर्व पाकिस्तान को मिलाकर.

रेशे, 7/8-31/32 इंच; (3) उत्तम मध्यम रेशे, 13/16-27/32 इंच; (4) मध्यम रेशे, 11/16-13/16 इंच; और (5) छोटे रेशे, 11/16 इंच और उससे कम (Saraiya, *Rep. Indian Observer to the Universal Cotton Standards Conference*, 1950, 29; *Statist. Leaflet*, No. 1, Indian Cott. Comm., 1948-49).

भारतीय कपास का श्रेणी निर्धारण रंग, रेशे की लम्बाई और एक-समानता के आधार पर सात वर्गों में किया जाता है: (1) उत्तम चुनौदा, (2) चुनौदा, (3) अतिरिक्त अति महीन, (4) अति महीन, (5) महीन, (6) एकदम बढ़िया, और (7) बढ़िया. विभिन्न श्रेणियों की कपासों के प्रामाणिक नमूने, जिनका व्यापार में चलन होता है, ईस्ट इण्डिया कॉटन एसोसियेशन, बम्बई, द्वारा प्रति वर्ष तैयार किये जाते हैं और सुरक्षित रखे जाते हैं. प्रत्येक मानक और श्रेणी के तीन सेट नमूने सुरक्षित रखे जाते हैं, उदाहरण के लिए नित्यप्रति के उपयोग के कार्यकारी मानक, अपील हेतु अपील मानक तथा आगामी ऋतु के लिए नमूने तैयार करने के निर्देश मानक. कोटि सम्बंधी संदेह अथवा झगड़ों के मामले में मध्यस्थता के लिए 'ईस्ट इण्डिया कॉटन एसोसियेशन' द्वारा नियुक्त उन सर्वेक्षणकर्ताओं को भेजा जाता है जिन्हें कपास की श्रेणी, वर्ग और रेशा सम्बंधी ठोस ज्ञान होता है. फिर भी, भारतीय श्रेणियों का निर्धारण भिन्न-भिन्न देशी और विदेशी अधिकारियों द्वारा भिन्न-भिन्न प्रकार से किया जाता है. भारतीय श्रेणियाँ अमेरिकी तथा अन्य विदेशी बाजारों में प्रयुक्त विश्वव्यापी कपास की प्रामाणिक श्रेणियों से जो अधिक व्यापक हैं और प्रायः सभी सफेद कपासों को अन्तर्विष्ट करती हैं, मेल नहीं खातीं. ऐसा

सुझाव दिया जाता है कि भारत में अमेरिका की भाँति, विश्वव्यापी मान्यता प्राप्त भारतीय मानक स्थापित किये जायें और इन मानकों के आधार पर समूची कपास की खेती के निरन्तर सर्वेक्षण का प्रबन्ध हो. सारणी 30 में संक्षेपतः भारतीय तथा विदेशी कपासों की तुलनात्मक किस्मों की सूचनार्थ दी गई हैं (Dantwala, 1937, 142; Saraiya, *Rep. Indian Observer to the Universal Cotton Standards Conference*, 1950; *Rep. Cott. Marketing Comm.*, Minist. Food & Agric., India, 1952, 30).

निर्यात - भारत से कपास का निर्यात खेती के अनुसार अथवा भारतीय तथा विदेशी कपासों के मूल्य सम्बंधों में अन्तर पड़ने के अनुसार घटता-बढ़ता रहता है. छोटे रेशे वाली किस्मों के निर्यात में पिछले बीस या तीस वर्षों से गिरावट आई है. इसका कारण घरेलू सूती उद्योग में होने वाला विकास है. द्वितीय विश्व युद्ध के पूर्व जापान को सबसे अधिक निर्यात होता था और उसके बाद चीन, ब्रिटेन, फ्रांस, जर्मनी, बेल्जियम तथा इटली को. गत वर्षों से, भारत से निर्यात केवल छोटे रेशे वाली $\frac{1}{16}$ इंच और उससे नीचे की किस्मों जैसे बंगाल, मैथिली, डोलरा, कोकानाड और कोमिल्ला तक सीमित है. इस निर्यात को समय-समय के यथाकल्पित आयात कोटों के आधार पर सरकार की अनुज्ञा प्राप्त होती है. हाल के वर्षों में निर्यात की गई कपास की मात्राएँ सारणी 31 में दी गई हैं. कच्चे कपास के निर्यात पर इण्डियन टैरिफ एक्ट के अन्तर्गत शुल्क लगता है. बंगाल और कोमिल्ला जैसी किस्मों पर शुल्क साधारणतया कम लगता है और कभी-कभी कोमिल्ला का निर्यात शुल्कमुक्त कर दिया जाता है.

सारणी 30 - भारतीय और विदेशी कपासों की तुलनात्मक किस्में*

भारतीय	पूर्वी अफ्रीकी	सूडानी	अमेरिकी	दक्षिणी अमेरिकी
महीन खानदेश जरीला ($\frac{1}{8}$ - $\frac{3}{8}$ इंच.) } अति महीन बरार जरीला ($\frac{1}{8}$ - $\frac{3}{8}$ इंच.) }	लो मिडलिंग ($\frac{1}{8}$ - $\frac{3}{8}$ इंच.)	..
अति महीन पंजाब एल. एस. एस., एस. जी. ($\frac{1}{8}$ - $\frac{3}{8}$ इंच.)	स्ट्रिक्ट लो मिडलिंग ($\frac{7}{8}$ इंच.)	..
अति महीन पंजाब 216-एफ., आर. जी. ($\frac{7}{8}$ - $\frac{1}{2}$ इंच.)	मिडलिंग ($\frac{7}{8}$ इंच.)	..
अति महीन पंजाब 216-एफ., एस. जी. ($\frac{7}{8}$ - $\frac{1}{2}$ इंच.)	मिडलिंग ($\frac{1}{2}$ - $\frac{5}{8}$ इंच.)	..
Co-2 और Co-3 ($\frac{1}{2}$ - $\frac{5}{8}$ - $1\frac{1}{8}$ इंच.)	B. P. 52 ($1\frac{1}{8}$ - $1\frac{3}{8}$ इंच.)	G-65 और G-52 ($1\frac{1}{8}$ - $1\frac{3}{8}$ इंच.)	कैलिफोर्नियन ($1\frac{1}{8}$ - $1\frac{3}{8}$ इंच.)	टैग्स (पीरु) ($1\frac{1}{8}$ - $1\frac{3}{8}$ इंच.)

*Indian Cott. Statist., 1950-51, 29.

सारणी 31 - भारत से विश्व के प्रमुख देशों को कच्ची रुई का निर्यात*

(मात्रा : किग्रा.; मूल्य : रु. में)

	अप्रैल 65-मार्च 66		जून 66-मार्च 67		अप्रैल 67-मार्च 68	
	मात्रा	मूल्य	मात्रा	मूल्य	मात्रा	मूल्य
अमेरिका	4,082	1,00,48,286	2,042	63,66,014	2,336	69,85,241
ऑस्ट्रेलिया	27	73,213	15	49,790	115	4,09,210
जापान	28,122	7,90,50,344	22,058	7,96,90,863	36,302	12,15,54,446
हांगकांग	169	4,67,171	141	4,44,291	36	92,643
बेल्जियम	179	4,31,944	150	4,70,781	238	6,60,425
फ्रांस	1,551	33,92,591	978	31,24,181	1,743	54,17,211
जर्मन फे. रि.	142	3,75,453	102	3,21,352	120	3,77,935
इटली	334	7,93,978	657	21,31,072	419	13,16,532
ब्रिटेन	664	17,08,901	339	10,46,013	486	14,74,454

*Monthly Statistics of Foreign Trade of India, 1966, '67, '68.

सारणी 32 - भारत में विश्व के प्रमुख देशों से विदेशी रुई का आयात*

(मात्रा : किग्रा.; मूल्य : रु. में)

	अप्रैल 65-मार्च 66		जून 66-मार्च 67		अप्रैल 67-मार्च 68	
	मात्रा	मूल्य	मात्रा	मूल्य	मात्रा	मूल्य
केन्या	81	4,43,565	227	13,62,323	41	2,53,761
सूडान	330	12,43,624	24	1
सं. अ. गणराज्य	256	9,90,197	4,118	1,82,372
अमेरिका	13,781	4,48,55,101	..	2,41,28,942	23,007	11,42,93,622
पाकिस्तान (प.)	277	7,56,439	4,432	1,70,65,161
सीरिया	135	4,12,529	13
तंजानिया	62,508	1	3,377
अदन	30	1,69,268
ब्रह्म	23	73,935
इटली	101	7,19,936

*Monthly Statistics of Foreign Trade in India, 1966, '67, '68.

आयात — भारत में प्रति वर्ष 30-40 लाख गाँठों का उत्पादन होता है फिर भी जहाँ तक सूती उद्योग की आवश्यकताओं का सम्बंध है, उत्पादन में असंतुलन मध्यम रेशे की कपास का आवश्यकता से अधिक उत्पादन और लम्बे रेशे वाली कपास की कमी का होना है. भारतीय कपास मिलों में अधिक से अधिक महीन धागे बुनने की प्रवृत्ति देखी जाती है जिसके लिए लम्बे रेशे वाली कपास की अधिक माँग है. किन्तु इस कपास की देश में उपज और उसकी माँग में इतना अन्तर है कि इस कपास को बाहर से आयात करना अनिवार्य हो गया है. यही कारण है कि आयात ऐसी ही कपासों तक सीमित है जिनके रेशों की लम्बाई $1\frac{1}{8}$ इंच से कम न हो. मिस्र, सूडान, पूर्वी अफ्रीका और अमेरिका से मुख्य आयात होता है. सारणी 32 में वार्षिक आयात की गई रुई की मात्राएँ एवं मूल्य अंकित हैं.

भारत में कपास का आयात मुख्यतः बम्बई और मद्रास के बन्दरगाहों से होता है. मैक्सिकन डॉंडा घुन (एन्योनोमस ग्रैंडिस) के प्रवेश की रोकथाम के लिए अमेरिकी कपास का आयात इन दो बन्दरगाहों के अलावा किसी दूसरे बन्दरगाह से वर्जित कर दिया गया है क्योंकि डॉंडा घुन से अमेरिकी कपासों को हानि पहुँचती है. बम्बई और मद्रास के बन्दरगाहों पर इस बात की पूर्ण व्यवस्था रखी गई है कि कपास की गाँठों का भारतीय केन्द्रीय कपास कमेटी की तकनीकी देखरेख में घूमन किया जाये. फरवरी 1953 से, बम्बई बन्दरगाह पर घूमन कार्य 'डायरेक्टरेट आफ प्लांट प्रोटेक्शन एण्ड क्वारेण्टाइन' (खाद्य और कृषि मंत्रालय) के अधीन हो गया है. आयातकर्ताओं को प्रत्येक गाँठ के घूमन का शुल्क देना पड़ता है. कच्ची कपास पर भी आयात कर लगाया जाता था. परन्तु 28 फरवरी, 1954 से यह कर हटा दिया गया है (Indian Cott. Gr. Rev., 1950, 4, 127; Gandhi, Indian Cott. Text. Industr. Annu., 1954-55, 17, xiv; Rep. Indian Cott. Comm., 1953, 103; 1954, 99).

उपभोग — इस समय भारतीय मिलों में लगभग 40 लाख रुई की गाँठों का उपभोग होता है. सारणी 33 में रुई की कुल उपज तथा

निर्यात दिया हुआ है जिससे विभिन्न देशों की तुलना में भारत की स्थिति का अनुमान लगाया जा सकता है.

कारखानों के उपभोग के अलावा हाथ कताई, गद्दे और लिहाफ बनाने के लिए 2,70,000 अतिरिक्त (छोटे रेशों वाली 2,30,000 और मध्यम रेशे वाली 40,000) गाँठों का उपभोग होता है. यह अनुमान 1933-36 में की गई जाँच पर आधारित है अतः वर्तमान परिस्थितियों के अनुसार इसमें संशोधन आवश्यक है. कपास की कुछ मात्रा शल्योपयोगी रुई के उत्पादन हेतु भी काम में आती है.

देश में मिलों के उपभोग पर अथवा भारत से निर्यात होने वाली कपास पर भारत सरकार शुल्क लगाती है. इस शुल्क की राशि का उपभोग केन्द्रीय कपास समिति के व्यय में होता है. यह समिति भारत में रुई के विपणन और उत्पादन आदि कार्यों की उन्नति और सुधार हेतु परामर्श और पर्यवेक्षण समिति के रूप में कार्य करती है (The Indian Central Cotton Committee and its work, Indian Cott. Comm., 1949).

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार — भारत में रुई का गमनागमन मुख्यतः कताई-बुनाई मिलों तथा आयात-निर्यात के बन्दरगाहों की स्थिति पर निर्भर करता है. भारत में महाराष्ट्र कपास मिलों के उद्योग में अग्रणी है. 1945 में भारत की लगभग 400 मिलों में से 179 मिलें इसी राज्य में थीं. इसके अतिरिक्त वहाँ कपास का काफ़ी उत्पादन होता है और आयात भी सबसे अधिक होता है. दूसरा स्थान तमिलनाडु का है जहाँ इसी काल में 81 मिलें थीं. इसके पश्चात् उत्तर प्रदेश तथा पश्चिमी बंगाल के नाम लिए जा सकते हैं. इन दो प्रदेशों की आवश्यकता की पूर्ति अधिकांशतः अन्य क्षेत्रों से किये गये आयात पर निर्भर है. मध्य प्रदेश, पंजाब और आन्ध्र प्रदेश निर्यात के मुख्य प्रदेश हैं.

मूल्य — देश के उत्तरी भागों की मंडियों में कपास की कीमतें बम्बई के भविष्य सौदे और इसके विलोम रूप में भी प्रभावित होती हैं. बम्बई बाजार के मूल्य का निर्धारण संसार के अन्य देशों में, विशेष रूप से

सारणी 33 — विश्व के विभिन्न देशों में कपास का उत्पादन और निर्यात*

[उ.: उत्पादन; नि.: निर्यात (हजार टन में)]

	1959-60		1964-65		1965-66		वार्षिक वृद्धि (%)	
	उ.	नि.	उ.	नि.	उ.	नि.	उ.	नि.
भारत	726	41	1,067	44	997	33	8.1	1.5
पाकिस्तान	295	72	381	106	417	107	5.1	7.8
अफगानिस्तान	17	4	33	22	38	27	14.2	38.2
ब्रह्मा	20	15	20	12	20	11	..	-4.8
ईरान	81	41	121	68	140	103	8.4	10.6
अमेरिका	3,170	1,609	3,305	913	3,235	661	0.8	-10.7
द. अमेरिका	685	205	826	353	863	363	3.8	11.6
प. यूरोप	134	35	152	42	163	47	2.6	4.6
सोवियत देश	1,604	390	1,800	455	1,908	499	2.3	3.1
एशिया और ओसीनिया	3,324	418	3,388	588	3,458	648	0.4	7.1
चीन	1,843	60	1,198	..	1,258	..	-8.3	..
अफ्रीका	885	803	996	724	1,060	759	2.4	2.1

*Economic Survey of Asia and the Far East, 1966, Ch. VIII, P 2216.

न्यूयार्क, लिवरपूल, अलेक्जेंड्रिया आदि में किये गये वायदा बाजार के आधार पर निर्भर होता है। द्वितीय विश्वयुद्ध के पूर्व बम्बई बाजार का व्यापार प्रधानतया त्रिपक्षीय संविदा तक सीमित था। इनके नाम फुली गुड एम. जी. बंगाल, फुली गुड एम. जी. भड़ोच तथा फाइन एम. जी. ऊमरा थे। इनमें कुछ क्षेत्रों के निकटवर्ती स्थानों पर उत्पादित या उत्पादन का दावा की हुई, उस ऋतु की कपास के रेशे की संविदा हेतु उचित कीमत निर्धारित हो जाती थी। 1942 में मध्य यूरोप और जापान में भारतीय कपास के बाजार समाप्त हो जाने पर तथा देश में अच्छे रेशे वाली कपास के उत्पादन होने से त्रिपक्षीय संविदा के स्थान पर एकल संविदा, भारतीय कपास संविदा, का जन्म हुआ। इस संविदा का आधार $\frac{3}{8}$ इंच (18.75 मिमी.) लम्बे रेशे वाली एम. जी. जरीला था जिसे दो श्रेणी ऊपर तक तथा एक श्रेणी नीचे तक ऊपर $\frac{3}{8}$ इंच लम्बे रेशे तक संविदा हेतु लिया जाता था। भारतीय कपास संविदा का 1948 में संशोधन किया गया और जरीला के रेशों की लम्बाई बढ़ा कर $\frac{3}{8}$ इंच आकार के रूप में ली गई और इसकी सहनशीलता सीमा $\frac{1}{8}$ इंच रखकर संविदा हेतु दिये जाने वाले कपास के दो श्रेणी ऊपर ($\frac{3}{8}$ इंच) और एक श्रेणी नीचे ($\frac{1}{8}$ इंच) रेशे की लम्बाई रखी गई। युद्ध काल में रई की कीमतों में अत्यन्त वृद्धि होने के कारण 1942 में सरकार ने भारतीय कपास संविदा के अनुसार लिए जाने वाले अधिकतम मूल्य को निर्धारित कर दिया। बाद में रई की निम्नतम और अधिकतम दरों तथा रई की श्रेणी और रेशों के अनुसार दी जाने वाली अतिरिक्त राशि और कम की जाने वाली राशि में समय-समय पर कपास नियंत्रण आदेश द्वारा संशोधन किया गया है। कपास की कीमतें जब गिरने लगती थीं तो सरकार द्वारा इसका निम्नतम मूल्य स्थिर किया जाता था। इसके साथ ही साथ राज्य शासन द्वारा अधिकतम कीमतों पर कपास क्रय करने के अधिकार को भी अपने पास रखा ताकि कपास की कीमतें अधिकतम सीमा के ऊपर न जा सकें (Sovani, 18, 178; Dantwala, 1948, 98; *Bombay Cott. Annu.*, No. 35, 1953-54, 234)।

उत्तम कपास के उचित मूल्य हेतु कपास नियंत्रण आदेश में मूल रेशे के ऊपर अतिरिक्त मूल्य देने तथा कुछ प्रकार की कपासों के नियंत्रित मूल्य में छूट देने का विधान है। इस प्रकार 1954-55 वर्ष की फसल में जरीला, विजय, सूरती, पंजाब अमेरिकी 216-एफ., वेस्टर्न, कम्बोडिया, कलंगली, बड़ी अमेरिकी, लक्ष्मी तथा एच-420 को $\frac{3}{8}$ इंच तक तथा पंजाब अमेरिकी एल. एस. एस., तथा जयधर को $\frac{3}{8}$ इंच तक और शेष को $\frac{3}{8}$ इंच तक कपास आचार तक से अतिरिक्त मूल्य देने तथा कम्बोडिया Co-4 (मद्रास उगाण्डा-1 तथा मद्रास उगाण्डा-2 सहित), इण्डो-अमेरिकी-170-Co-2 और 134-Co-2-एम. को मूल्य नियंत्रण आदेश से मुक्त करने की अनुमति दी गई, यदि इनकी रेशा-लम्बाई 1 इंच या इनसे अधिक हो और इन्हें आरक्षित क्षेत्र में बोया गया हो और राज्य के कृषि विभाग ने इसे प्रमाणित किया हो। इसी प्रकार शुद्ध बीज प्राप्त करने के लिए आरक्षित क्षेत्रों में बोई जाने वाली कपास के विभिन्न प्रतिरूपों के मूल्य उसी अनुसार बढ़ा दिये गये (*Indian Tr. J.*, 1954, 189, 1297)।

अन्य वस्तुओं के समान कपास का भी मूल्य माँग और पूर्ति के अनुसार निर्धारित होता है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की सामग्री होने के कारण किसी मुख्य उत्पादक या उपभोग करने वाले देश में कपास के उत्पादन, उपभोग तथा पूर्ति का अत्यधिक प्रभाव अन्य देशों पर भी पड़ता है। अन्तर्राष्ट्रीय कपास परामर्श समिति द्वारा कपास के उत्पादकों और उपभोक्ताओं को विश्वभर के समस्त आँकड़ों की जानकारी दी जाती है।

कपास का रेशा

विकास — कपास के रेशे, बीजावरण पर प्रसरित अघिचर्म कोशिकाएँ हैं। ये कोशिकाएँ विकास की तीन अवस्थाओं को पार करती हैं (1) विभेदन, (2) वृद्धि, तथा (3) शृष्णन। कुछ अघिचर्म कोशिकाएँ परागण के पूर्व तन्तु कोशिकाओं में विभेदित हो जाती हैं, परन्तु सक्रिय प्रवर्धन केवल परागण के पश्चात् होता है। अघिचर्म कोशिकाओं का रेशा-कोशिकाओं में परिवर्तित होना अभी विवादग्रस्त विषय है। यह देखा गया है कि सूत्री कोशिका-विभाजन पुष्पन के लगभग दस दिन बाद होता है तथा रेशा कोशिकाओं की संख्या में पुष्पन के लगभग 21 दिन पश्चात् तक वृद्धि होती रहती है। अघिचर्म कोशिकाओं का आचरण प्रधानतः आनुवंशिकता से निश्चित होता है परन्तु वातावरण का निश्चित प्रभाव थंक्रुरित होने वाली कोशिकाओं की प्रतिक्रिया पर पड़ता है (Balls, 1915, 73; Turner, *Agric. J. India*, 1926, 21, 274; Gulati, *J. Text. Inst.*, 1929, 20, T245; *Agric. J. India*, 1930, 25, 313; Farr, *Contr. Boyce Thompson Inst.*, 1931, 3, 441; Ayyar & Ayyangar, *Emp. Cott. Gr. Rev.*, 1933, 10, 21; Barritt, *ibid.*, 1933, 10, 183; Gulati, *Indian J. agric. Sci.*, 1934, 4, 471; Sheffield, *Emp. Cott. Gr. Rev.*, 1936, 13, 277; Lang, *J. agric. Res.*, 1938, 56, 507; Jacob, *Trans. Bose Res. Inst.*, 1942-43, 15, 167; Balls, 1928, 17)।

रोम कोशिका की वृद्धि अघिचर्म कोशिका के बाह्यावरण के ढोहे से प्रारम्भ होती है और वैज्य दैर्घ्यप्रसार तो बाद में होता है। फूल आने के बख़तर पर यह अपना पूर्ण व्यास प्राप्त कर लेता है। दैर्घ्यप्रसार विकास केन्द्र से नली में खंडों के अंतर्विष्ट होने से होता है। दैर्घ्यप्रसार की दर नियमित नहीं है; किसी कपास (गॉ. बाबेंडेन्स) में यह लगभग एक मिमी. प्रतिदिन तथा कम्बोडिया Co-2 (गॉ. हिंसुडम) कपास में 1.4-1.9 मिमी. प्रतिदिन होती है। यह दैर्घ्यप्रसार लगभग 21 दिनों तक चालू रहता है परन्तु यह किसी तथा वातावरण की परिस्थितियों के साथ परिवर्तित होता है। बीज के बीजांडु द्वार के समीप स्थित रोम सबसे अन्त में उगते हैं किन्तु उनकी भित्तियों में गौण सेलुलोस का निक्षेप सबसे पहले होता है (Balls, 1915, 74; Iyengar, *Indian J. agric. Sci.*, 1941, 11, 866; Gulati & Ahmad, *Indian Fmg.*, 1945, 6, 9)।

प्राथमिक भित्ति परिवर्तित सेलुलोस या क्यूटिन की बनी हुई प्रत्यास्थ त्वचा है। प्राथमिक भित्ति के भीतर गौण सेलुलोस का निक्षेप संकेन्द्री परतों में होता है। साधारणतया गौण सेलुलोस की 20-50 परतें होती हैं; प्रत्येक परत की मोटाई 0.12-0.40 मा. होती है जो एक रात में हुये निक्षेप को बताती है। प्रत्येक रेशे की कोशिका भित्ति की मोटाई यहाँ तक कि उसी बीज पर सदैव एक-सी नहीं रहती। यह उसकी परिपक्वता पर निर्भर करती है। यद्यपि गौण सेलुलोस का निक्षेप कुछ रेशों में नहीं होता किन्तु अन्यो में निक्षेपण विभिन्न मोटाइयों में हो सकता है (Denham, *J. Text. Inst.*, 1922, 13, T99; 1923, 14, T86; Balls, *Proc. roy. Soc.*, 1919, 90B, 542; Peirce & Lord, *J. Text. Inst.*, 1939, 30, T173; Flint, *Biol. Rev.*, 1950, 25, 414)।

अन्त में निर्जलीकरण की एक ऐसी अवधि आती है जब नलिकाकार रेशे सिकुड़ते हैं और ल्यूमिन में प्रोटीन युक्त ठोसों का अवशेष मात्र रह जाता है। अनुप्रस्थ काट में वेलनाकार रेशे दीर्घवृत्ताकार अवस्था में हो जाते हैं जो जहरीले या लहरियों की शृंखला बन जाते हैं (Matthews, 183)।

संरचना — कपास के रेशे का आधारीक छोर अपेक्षाकृत चौड़ा तथा शीर्षस्थ सिरा गावडुम होता है। कई किस्मों में सिरा अत्यन्त पतली केन्द्रीय नलिका सहित ऐंठनरहित लम्बाई वाला होता है; इस भाग को पूँछ भी कहते हैं। यह अंश कटाई की प्रारम्भिक क्रिया में टूट जाता है और इसे झड़न के रूप में तिरस्कृत कर देते हैं। यह रेशा पारभासी, सिकुड़ी, पोली नलिका के रूप में होता है जिसमें लहरियाँ होती हैं जो इसकी लम्बान में बार-बार अपनी दिशा बदलती रहती हैं। कपास के प्रकार के अनुसार रेशे की लम्बाई एक ही बीज पर इंच के एक अंश से लेकर दो इंच तक होती है। भारत में उपजने वाली कपासों के रेशों की लम्बाई, चौड़ाई से 1,000 से 1,500 गुनी तक होती है और औसत चौड़ाई 20 और 30 मा. के बीच में होती है; कई किस्मों में वेडोल उभरन, दलपुट तथा प्रशाखायें (विरले ही) मिलती हैं (Turner, *Agric. J. India*, 1926, 21, 274).

रेशे में दिखाई पड़ने वाली लहरियों के मुख्य निर्णायक हैं द्वितीयक सेलुलोस का कुंडलिनी जैसा पैटर्न और तन्तुकों का उत्क्रमण। प्रति रेशे में तथा प्रति लम्बाई इकाई में लहरियों की संख्या के अध्ययन से पता चला कि गॉ. ब्रावॉरियम और गॉ. हर्वेसियम में गॉ. हिस्टम और गॉ. बावेंडेस की अपेक्षा कम लहरियाँ होती हैं (Balls, 1915, 78; Balls & Hancock, *Proc. roy. Soc.*, 1922, 93B, 426; Ahmad, *Technol. Bull. Indian Cott. Comm.*, Ser. A, No. 24, 1933; Matthews, 194).

प्राथमिक भित्ति को आवृत करने वाला उपचर्म वसा, मोम, और रेजिन से बना हुआ होता है जो कि परिपक्वता के समय कोशिका के तल पर निर्मुक्त होता है। प्राथमिक भित्ति का सेलुलोस महीन डोरे के समान सूत्रकों का खुला हुआ पाश होता है जिसकी शाखाओं का मिलन हो जाता है। ये सूत्रक दायें या बायें कुण्डलिनी में मुख्य अक्ष से 65–70° का कोण बनाते हुये व्यवस्थित हो सकते हैं। अनुप्रस्थ सूत्रक रेशे की अक्षि के समकोण पर भी व्यवस्थित पाये जाते हैं। ये सूत्रक पूरी प्राथमिक भित्ति पर बिना पीछे मुड़े एक समान बढ़ते जाते हैं और इसका पता भी नहीं चल पाता कि यह संरचना द्वितीयक भित्ति के आकार को निर्धारित करती होगी। इलेक्ट्रान सूक्ष्मदर्शी की सहायता से किये गये नवीन अध्ययन से पता चला है कि प्राथमिक भित्ति संभवतया 0.2 मा. से कम मोटी होती है तथा स्तरित सूक्ष्म रेशों से बनी होती है जिनका व्यास 100 से 400 Å (Å, आंगस्ट्रॉम इकाई है जो कि 10⁻⁸ सेंमी. या 3.937 × 10⁻⁹ इंच के तुल्य है) तक होता है। तीन दिन के पुराने रेशों में सूक्ष्म तन्तुओं की तीन परतें प्राथमिक भित्ति के जाल में देखी जा चुकी हैं [Flint, *Biol. Rev.*, 1950, 25, 414; Balls, *Proc. roy. Soc.*, 1923, 95B, 72; Anderson & Kerr, *Industr. Engng Chem.*, 1938, 30, 48; Tripp et al., *Text. Res. (J.)*, 1951, 21, 886; Compton, *Amer. Dyest. Rep.*, 1954, 43, 103].

द्वितीयक मोटाई की प्रथम या सबसे बाहर वाली परत कुंडलन परत है जो उन दूसरी परतों से मोटी होती है जो 'वृद्धि बलय' कहलाती हैं। ये वृद्धि बलय संकेन्द्रित होती हैं और उनकी संख्या हर रेशे के अनुसार तथा परिपक्वन की अवधि के अनुसार बदलती रहती है। प्रत्येक परत तन्तुकों की बनी होती है जो कुंडलिनी पथ का अनुसरण करते हैं और वे अपनी दिशा एकाएक बदल देते हैं। रेशे की लम्बाई में यह उत्क्रमण कई बार होता है। तन्तुओं का यह उत्क्रमण बाहरी संवलनों का सम्पाती होता है। यह आवश्यक नहीं कि कुंडलिनी की दिशा सभी वृद्धि बलयों में एक-सी हो। कुण्डलिनी मुख्य अक्ष पर 20°–30° के बीच झुकी रहती है [Flint, *Biol. Rev.*, 1950, 25, 414; Kerr, *Text.*

Res. (J.), 1946, 16, 249; Balls, 1928, 23; Nickerson, *Industr. Engng Chem.*, 1940, 32, 1454].

ये तन्तुक जो अनिवार्यतः शुद्ध सेलुलोस के सूत्रक होते हैं, अनेक सूक्ष्म-तन्तुकों से बने होते हैं तथा क्रिस्टलाणु या मिसेल कहलाते हैं। रेशे को बनाने वाली सेलुलोस शृंखलाएँ हाइड्रॉक्सिल समूहों के मध्य के द्वितीयक बलों द्वारा एक दूसरे के तथा रेशा-अक्षि के समान्तर स्थिर रहती हैं। यह नियमित संरचना बीच-बीच में अनियमित व्यवस्था वाले अक्रिस्टलीय क्षेत्रों में भंग हो जाती है जिसका कारण सम्भवतः यह हो सकता है कि सेलुलोस विभिन्न दशाओं तथा विभिन्न अशुद्धियों की उपस्थिति में बनता है। क्रिस्टलीय तथा अक्रिस्टलीय क्षेत्रों में कोई विशेष अन्तर नहीं दिखाई पड़ता और क्रिस्टलाणु तन्त्र में यादृच्छिक रूप में वितरित रहते हैं। औसत कपास का सेलुलोस अणु (अणुभार लगभग 5,00,000) में लगभग 3,000 ग्लूकोस अवशेष (अनाद्र-β-ग्लूकोस) होते हैं और 1:4 ऑक्सिजन सेतुओं से जुड़कर एक शृंखला बनाते हैं। ऐसी लगभग 60 शृंखलाएँ प्रत्येक 120–200 इकाई (ग्लूकोस अवशेष) लम्बी, एक साथ समूहित रहती हैं जिनसे 600 से 1000 Å लम्बा और 50 से 100 Å चौड़ा क्रिस्टलाणु बनता है (Nickerson, *Industr. Engng Chem.*, 1940, 32, 1454; Matthews, 78).

सूक्ष्मदर्शी से देखने पर रेशे में द्वितीयक भित्ति के साथ-साथ गर्त, सर्पण समतल तथा आकुंचन रेखाएँ दिखाई पड़ती हैं जो अनुदैर्घ्य धारियों में विरूपण तथा ढोंडे में आंतरिक प्रतिबल के कारण होती हैं (Denham, *J. Text. Inst.*, 1923, 14, T86).

ल्यूमेन की आकृति अर्थात् द्वितीयक भित्ति से परिवद्ध केन्द्रीय नलिका, जीवित रेशों में प्रायः नियमित होती है। यदि ल्यूमेन में कोई भी अनियमितता आती है तो वह सेलुलोस के असमान निक्षेपण के कारण होती है जो विभिन्न बिन्दुओं पर बन्नों या दावों के होने के कारण होता है। परिपक्व रेशे इतने विकसित रूप में हो सकते हैं कि ल्यूमेन पूर्णतयः बन्द हो जाय किन्तु कच्चे रेशे एकदम सिकुड़े हो सकते हैं या उनमें असाधारण रूप से बड़े ल्यूमेन देखे जाते हैं। कभी-कभी ल्यूमेन ऐसे पदार्थ से भरा होता है जो रेशे के सूखते समय बचे हुए प्रोटोप्लाज्म का अवशेष रूप हो। रंगीन कपासों में ल्यूमेन में पाये जाने वाले अवशेष अधिक स्पष्ट होते हैं। रेशे का नाइट्रोजन ल्यूमेन के प्रोटीन पदार्थों से निकट सम्बंधित प्रतीत होता है (Matthews, 163).

रासायनिक संघटन — कच्ची कपास में मुख्यतः सेलुलोस रहता है। रेशे का संघटन (शुष्क आधार पर) इस प्रकार है : सेलुलोस, 94; प्रोटीन, 1.3; पेक्टिन पदार्थ, 0.9; राख, 1.2; मोम, 0.6; शर्करायें, 0.3%; और वर्णक, रंच. रेशे की किस्म, वृद्धि की परिस्थितियाँ

सारणी 34 — मानक भारतीय कपासों के असेलुलोसी रचक*

जाति	राख (%)	मोम (%)	नाइट्रोजन (%)	फॉस्फोरिक अम्ल (%)
गॉ. ब्रावॉरियम	0.880–1.490	0.255–0.447	0.124–0.286	0.082–0.136
गॉ. हर्वेसियम	1.320–1.500	0.283–0.384	0.200–0.274	0.088–0.124
गॉ. हिस्टम	0.960–1.500	0.268–0.575	0.157–0.309	0.060–0.116

* भारतीय कपास आयोग बम्बई की तकनीकी प्रयोगशाला से प्राप्त आंकड़े.

तथा परिपक्वता के अनुसार रेशे का संघटन प्रतिशत बदलता है। रासायनिक विश्लेषण द्वारा विभिन्न उत्पत्ति की कपासों के अन्तर्गत को उनके परिवर्तनशील असेलुलोसी रचकों द्वारा स्थापित करने का प्रयत्न किया गया है। सारणी 34 में 18 मानक कपासों को उनकी वान-स्पतिक जातियों के अनुसार असेलुलोसी रचकों की सूचना के आधार पर वर्गीकृत किया गया है (Matthews, 219)।

मोम अधिकतर रेशे की सतह पर पतली परत के रूप में पाया जाता है। कताई तथा परिसज्जा में यह महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। मोम का मुख्य रचक गॉसीपिल ऐल्कोहल (α , β तथा γ) है। नियोमोण्टेनिल, सेरिल तथा गेडिल ऐल्कोहल, एस्टर, ग्लिसराइड, वसा-अम्ल, हाइड्रोकार्बन, रेजिनी पदार्थ, एमीरिन साइटोस्टेरोल तथा साइटोस्टेरोल भी पाये जाते हैं। मोम के लक्षण निम्नलिखित हैं : ग. वि., 68–72°; अम्ल मान, 38; साबु. मान, 121; आयो. मान, 32; तथा असाबु. पदार्थ, 45%। कपास में मोम की मात्रा रेशे के प्रति ग्राम पृष्ठीय क्षेत्रफल से सहसम्बन्धित होती है। घटिया देशी किस्मों के रेशों में मोम का अंश विदेशी किस्मों से कम होता है। रेशे की पूरी सतह पर मोम की मोटाई एक समान होती है तथा हरेक कपास में लगभग एक-सी होती है; इसीलिए कपास के स्पर्श का सम्बन्ध मूलतः उसके रेशे की प्रति लम्बाई इकाई के भार से या पतलेपन से जोड़ा जाता है (Matthews, 220; Warth, 126; Thorpe, V, 141; Ahmad & Sen, *Technol. Bull. Indian Cott. Comm., Ser. B*, No. 18, 1933; Nanjundayya, *ibid.*, No. 36, 1947)।

पेक्टेट अधिकतर प्राथमिक भित्ति में पाये जाते हैं तथा उनकी मात्रा रेशे की परिपक्वता के साथ घटती जाती है। रेशे में पेक्टिक अम्ल तथा वसा-अम्लों के क्षारीय लवण मिलते हैं। ल्यूमेन में प्रोटीन की मात्रा किस्मों के अनुसार बदलती रहती है। राख में K_2O , 34; CaO , 11; MgO , 6; Na_2O , 7; Fe_2O_3 , 2; SiO_2 , 5; SO_3 , 4; P_2O_5 , 5; Cl , 4%। ताँबा तथा मैंगनीज रंच मिलते हैं (Nickerson, *Industr. Engng Chem.*, 1940, 32, 1454; Matthews, 221)।

रेशों के गुण — वस्त्र बनाने के लिए कपास का महत्व उसके कई प्राकृतिक तथा रासायनिक लक्षणों पर निर्भर करता है। जिन गुणों का व्यावहारिक महत्व कताई, बुनाई, मसँरीकरण, विरंजन, रंजन तथा सज्जीकरण में होता है वे इस प्रकार हैं : लम्बाई, लम्बाई अनियमितता का प्रतिशत, लम्बाई की प्रति इकाई का भार (अथवा पतलापन), पुष्टता तथा आन्तर पुष्टता, परिपक्वता, फूले-रोम तथा भित्ति का व्यास, रिवन की चौड़ाई, संवलन प्रति लम्बाई इकाई, दृढ़ता, सुघट्यता, चिपकन-शक्ति अथवा पृष्ठ-तनाव, द्युति, वैद्युत-चालकता, सरंध्रता तथा रंजक अवशोषण। इन लक्षणों को ज्ञात करने के लिए कई सुग्राही यंत्रों की आवश्यकता होती है। इनमें से कुछ भारतीय केन्द्रीय कपास समिति की तकनीकी प्रयोगशाला, लम्बाई में अभिकल्पित तथा विकसित किये गये हैं। कुछ गुणों के सहसम्बन्ध तथा परस्पर सम्बन्ध ज्ञात किये गये हैं और ये रेशों की कताई तथा अन्य विशेषताओं को जानने में महत्वपूर्ण हैं [Turner, *Agric. J. India*, 1926, 21, 274; *Emp. Cott. Gr. Rev.*, 1929, 6, 215; Ahmad, *Technol. Res. on Cott. in India* (1924–41), *Indian Cott. Comm.*, 1942]।

अन्य अनेक गुणों में से कपास की कताई की विशेषता निर्धारित करने के लिए रेशे की लम्बाई महत्वपूर्ण मानी जाती है। भारत में उगाई जाने वाली किसी भी कपास के किसी भी प्रकार के एक बीज पर रेशे की लम्बाई लगभग 0.31 सेंमी. से 2.5 सेंमी. के ऊपर तक होती है। इसे औसत रेशा-लम्बाई कहते हैं किन्तु यह नमूने में उपस्थित रेशों की लम्बाई का सांख्यिकीय औसत नहीं होता, भारीय औसत होता है। रेशे

की लम्बाई से, कपास की कोटि तथा उसका मूल्य निर्धारित होता है, लम्बे रेशे साधारणतया छोटे रेशों से महीन होते हैं; तथा इनमें प्रति इंच मरोड़ों की संख्या अधिक होती है (Turner, *Agric. J. India*, 1926, 21, 274; Ahmad & Nanjundayya, *Technol. Bull. Indian Cott. Comm., Ser. B*, No. 21, 1936; Nanjundayya, *Indian Cott. Gr. Rev.*, 1953, 7, 12; Matthews, 200)।

रेशे की लम्बाई की प्रति इकाई का भार कपास की वारीकी का माप है। इसे माइक्रोग्राम प्रति सेंमी. अथवा प्रति इंच, औंस के दस लाखवें भार के रूप में व्यक्त किया जाता है। यह संख्या जितनी बड़ी होगी रेशा उतना ही मोटा होगा। वारीकी का निर्धारण विशिष्ट पृष्ठ (प्रति इकाई भार का पृष्ठ क्षेत्रफल) के आधार पर भी किया जाता है। वायु के बहाव के प्रतिरोध द्वारा पृष्ठ के क्षेत्रफल की माप की जाती है। व्यापार में प्रयुक्त सामान्य श्रेणीकरण इस प्रकार है : अत्यन्त महीन, महीन, मोटा तथा अत्यन्त मोटा [Matthews, 201, 1221; Andrews, 287; Brown & Graham, *Text. Res. (J.)*, 1950, 20, 418; Collins, *ibid.*, 1950, 20, 426; Hertel & Craven, *ibid.*, 1951, 21, 765; Rajaraman & Sen, *Technol. Bull. Indian Cott. Comm., Ser. B*, No. 46, 1951]।

रेशों की सामर्थ्य अथवा कपास का तनन-सामर्थ्य ऊन तथा सिल्क के रेशा सामर्थ्य-मान के बीच की होती है। रेशे की भित्ति की मोटाई अथवा रेशों की परिपक्वता पर रेशा-सामर्थ्य निर्भर करती है। अर्ध-परिपक्व अथवा अपरिपक्व रेशों की अपेक्षा पूरी तरह पक्व रेशों की भित्ति मोटी तथा केन्द्रीय नाल संकीर्ण होती है। किसी नमूने में परिपक्व रेशों की प्रतिशतता निर्माण के समय होने वाली हानि तथा सूत और कपड़े की आकृति में निकटतम सम्बन्ध होता है। रेशे की परिपक्वता को निश्चित करने के लिए 18% कास्टिक सोडा विलयन से अभिक्रिया करने के पश्चात् फूले हुये रोम अथवा भित्ति के आपेक्षिक व्यास को मापते हैं। यह मान लम्बे रेशे की अपेक्षा छोटे रेशों के लिए साधारणतः अधिक होता है, यद्यपि यह वृद्धि की अवस्थाओं के अनुसार काफ़ी परिवर्तित होता रहता है (Turner, *Agric. J. India*, 1926, 21, 274; Ahmad, *Technol. Bull. Indian Cott. Comm., Ser. A*, No. 25, 1933; Sukthanker *et al.*, *ibid.*, *Ser. B*, No. 26, 1939; Gulati & Ahmad, *ibid.*, No. 20, 1935; Andrews, 292, 299)।

कपास का रेशा द्विअपवर्तन प्रदर्शित करता है, अर्थात् समकोण पर जो अपवर्तनांक होगा वह रेशे के अक्ष से भिन्न होगा। यह देखा गया है कि छोटे घटिया प्रकार के रेशों से बढ़िया प्रकार की कपास के रेशे अधिक द्विअपवर्तन प्रदर्शित करते हैं। रेशे की कुंडलिनी से रेशा-अक्ष का झुकाव मोटी किस्मों की अपेक्षा महीन प्रकार में कम होता है, यद्यपि सभी प्रकार की कपासों के मूल असंवलित रेशों का झुकाव एक ही हो सकता है। कपास की सामर्थ्य तथा आरम्भिक यंग का गुणांक दिग्विन्यास की मात्रा से सम्बन्धित है (Pearson, *J. Text. Inst.*, 1947, 38, T78; Meredith, *Brit. J. appl. Phys.*, 1953, 4, 369)।

कपास-रेशे में सेलुलोस अधिक होता है इसलिये इसका एक्स-किरण विवर्तन आरेख अन्य प्राकृतिक सेलुलोसी रेशों से भिन्न होता है। यही नहीं, कपास के विभिन्न प्रकारों के एक्स-किरण आरेख का सपिल दिग्विन्यास कोण भी अलग-अलग होता है। लम्बे रेशे वाली कपासों में औसतन एक्स-किरण कोणों में 40% कुछ निम्नतर होते हैं (Harris, 88; Matthews, 200, 1166)।

कपास के रेशे का आपेक्षिक घनत्व 1.50–1.55 होता है। यह ऊन और सिल्क से भारी, कम प्रत्यास्थ, तथा कम आद्रताग्राही है। आद्रता बढ़ने से प्रत्यास्थता भी बढ़ती है; शुष्क अवस्था में तन्तु अप्रत्यास्थ

तथा भंगुर होता है। यह उच्च ताप, उबलता पानी तथा बरतने में असावधानी सह सकता है। रेशा कुछ सरंधी होता है और उच्च कोटि का कोशिका-प्रभाव प्रदर्शित करता है (Matthews, 202, 214)।

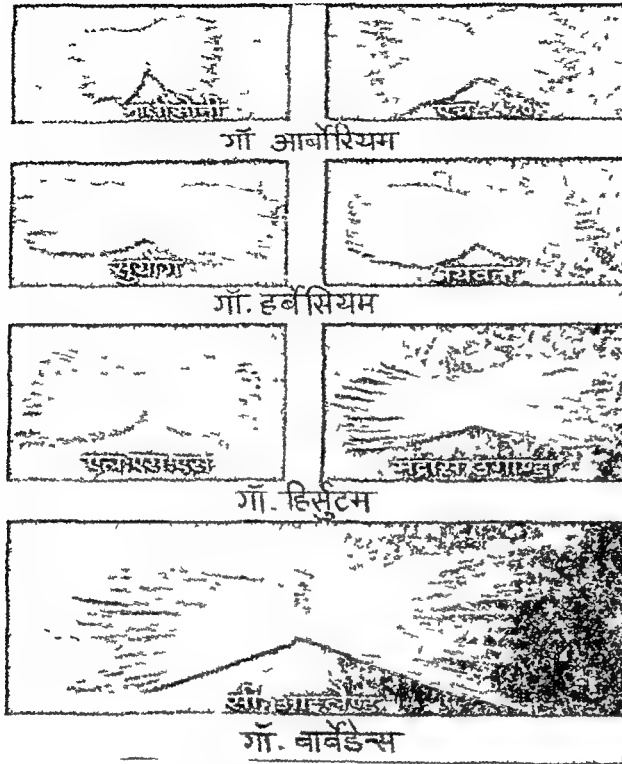
भारत में नव विकसित कपासों के रेशों की विशेषताओं में जो सुधार हुये हैं उन्हें मापने के लिए तथा व्यापार की सहायता के लिए भारतीय केन्द्रीय कपास समिति की तकनीकी प्रयोगशाला, बम्बई, में रेशों, धागों तथा कपास की कटाई की विशेषताओं का परीक्षण किया जाता है। बम्बई और अहमदाबाद के मिल मालिकों के संगठनों द्वारा इस प्रयोगशाला को राजकीय परीक्षण गृह के रूप में मान्यता प्राप्त है। परीक्षण के परिणाम प्रतिवेदन (रिपोर्ट) की दो मालाओं में प्रकाशित होते हैं: (1) मानक भारतीय कपासों: ये प्रयोगात्मक केन्द्रों में विकसित और चुने बीजों से यथासम्भव उन्हीं परिस्थितियों

में उगाई गई उन्नत किस्में हैं जो प्रतिवर्ष मानक का काम देती हैं; (2) व्यापार की किस्में: ये प्रतिनिधि नमूनों से सम्बंधित हैं जो कपास व्यापारी, कारखानों तथा व्यापार संघठनों से प्राप्त होते हैं। मानक भारतीय कपासों के प्रतिवेदन में निम्न सूचनाएँ रहती हैं: (क) राजकीय कृषि विभाग द्वारा दी गई जातियों की सफलता; (ख) वर्ग, रंग, रेशा, लम्बाई इत्यादि के आधार पर मंडी के मूल्यों का अनुमान निर्धारित किया जाता है; (ग) रेशे के गुण; (घ) कटाई परीक्षण, परिणाम; तथा (ङ) विशेष बातें। व्यापार किस्मों के प्रतिवेदन में निम्नांकित आँकड़ों का सारांश रहता है: (अ) ओटाई-प्रतिशत; (आ) कोटि निर्धारक का मूल्यांकन; (इ) कटाई मास्टर का प्रतिवेदन; (ई) कटाई परीक्षण परिणाम; (उ) धागे का गँठीलापन तथा एकरूपता; तथा (ऊ) अन्य विवरण, जैसे बेलन की चाल, तर्कु की चाल तथा

सारणी 35 — मानक भारतीय कपासों के रेशों के गुण (1943-53)*

विभेद	वर्ष अथवा ऋतु	रेशों की लम्बाई (इंच) (2.5 सेंमी.)	रेशों की लम्बाई अनियमितता (%)	रेशा भार प्रति इंच (2.5 सेंमी.) (10 ⁻⁶ आउन्स)	रेशा-सामर्थ्य (आउन्स)	रेशा-सामर्थ्य (आउन्स)/ रेशा भार प्रति इंच (10 ⁻⁶ आउन्स)	परिपक्वता परीक्षण फल (%)			उच्चतम प्रामाणिक संवलन गणनांक
							परिपक्व	अर्ध-परिपक्व	अपरिपक्व	
गॉ. हर्वेसियम										
प्रजाति वाइटियानम										
जयवंत	1943-53	0.84-0.92	11.9-16.5	0.166-0.187	0.152-0.188	0.86-1.02	62-83	6-11	10-31	30-40
जयधर	1950-53	0.90-0.94	15.1-17.2	0.170-0.186	0.152-0.181	0.89-0.98	72-83	6	11-21	40-45
विजय	1951-53	0.88-0.91	12.8-14.0	0.162-0.163	0.150-0.165	0.93-1.01	52-61	6-10	33-38	34-42
1027-ए.एल.एफ.	1943-53	0.88-1.01	14.5-20.3	0.162-0.196	0.156-0.225	0.92-1.27	44-67	8-18	20-44	31-37
सुयोग	1948-53	0.90-1.02	11.0-18.7	0.161-0.205	0.138-0.219	0.83-1.23	52-64	1-11	29-39	30-40
वेस्टर्न (हगारी) -1	1943-53	0.82-0.92	13.9-19.0	0.168-0.217	0.125-0.196	0.77-1.06	60-81	7-16	10-29	25-34
गॉ. आर्बोरियम										
प्रजाति बंगालेन्स										
जरीला	1943-53	0.80-0.86	14.8-22.3	0.149-0.181	0.149-0.190	0.91-1.17	61-77	5-16	12-29	21-34
बिरनार (197-3)	1951-53	0.88	18.4-20.1	0.176-0.183	0.162-0.172	0.89-0.98	67-68	7-9	24-25	28-30
मालीसोनी	1949-53	0.71-0.75	14.1-15.8	0.265-0.307	0.191-0.201	0.64-0.76	77	6-7	16-17	6-9
गॉ. आर्बोरियम										
प्रजाति इंडिकम										
एच-420	1951-53	0.86-0.88	14.6	0.180-0.208	0.182-0.196	0.94-1.01	75-82	6	12-19	24-26
गाबोरानी-6	1943-53	0.80-0.84	14.1-18.6	0.141-0.175	0.170-0.216	1.08-1.37	68-84	5-12	10-27	27-36
नार्दन्स (नंचाल)-14	1943-53	0.86-0.92	14.9-21.9	0.142-0.193	0.210-0.257	1.18-1.54	68-79	5-10	12-22	32-43
कहंगरी-2	1951-53	0.86-0.89	19.6-20.7	0.171-0.172	0.166-0.176	0.97-1.03	69-75	6-7	19-24	28-29
कहंगरी-5	1947-53	0.86-0.92	17.2-20.3	0.167-0.187	0.190-0.210	1.05-1.21	64-80	6-11	12-25	27-35
गॉ. हिस्तम प्रजाति										
लैटिफोलियम										
गाडाग-1	1943-53	0.82-0.90	13.6-19.2	0.140-0.167	0.126-0.163	0.87-1.12	57-81	7-19	9-28	30-42
लदमी (9-3)	1950-53	0.93-0.94	20.3-23.2	0.126-0.134	0.123-0.134	0.94-1.00	47-56	8-10	35-43	43-52
एल. एन. एस.	1949-53	0.88-0.90	15.2-20.5	0.145-0.161	0.136-0.171	0.90-1.06	56-76	7-12	16-32	33-41
कम्बोडिया Co-2	1943-53	0.88-0.96	16.2-25.1	0.132-0.163	0.123-0.157	0.77-1.06	40-63	9-16	22-48	30-40
मद्रास उगाण्डा-1	1947-53	0.93-1.07	20.4-24.9	0.112-0.142	0.108-0.169	0.96-1.23	56-69	7-13	18-37	42-54
(ग्रोप्स ऋतु को फसल)										
मद्रास उगाण्डा-1	1952-53	1.03	21.6	0.153	0.140	0.91	71	11	18	45
(शीत ऋतु को फसल)										

* Technol. Rep. Standard Indian Cottons, Indian Cott. Comm., 1953, Table 20.



चित्र 27 - गॉसीपियम की विभिन्न जातियों के प्रकारों की कपास के रेशों की लम्बाई

प्रयुक्त जाने सारणी 35 में मानक भारतीय कपास (1943-53) के रेशों की विशेषताओं का सारांश दिया गया है (Technol. Rep. Standard Indian Cottons, Indian Cott. Comm., 1927-53; Technol. Rep. Trade Varieties of Indian Cottons, Indian Cott Comm., 1935-53)

विभिन्न रेशों की विशेषताओं के परस्पर सम्बन्ध के अध्ययन से ज्ञात हुआ है कि कपास रेशों का प्रति इकाई भार लम्बाई के साथ परिवर्तित होता है और मध्य भाग दोनों सिरों से भारी और शुद्धाकार सिरों का भार प्रति इकाई लम्बाई पर सबसे कम होता है कपास के एक नमूने में रेशों की प्रति इकाई लम्बाई का भार समूह-लम्बाई के साथ परिवर्तित होता है, गॉ. हिंसुटम प्रकारों में समूह-लम्बाई कम होने से यह भार बढ़ता है तथा यह गॉ. आर्बोरियम, गॉ. हर्बिसियम, सी-आइलैंड तथा मिस्त्री कपास में एक-सा रहता है समूह-लम्बाई में कमी होने के साथ-साथ रिवन की चौड़ाई तथा रेशों का सामर्थ्य भी बढ़ता है रेशों की परिपक्वता समूह-लम्बाई के साथ बदलती रहती है साधारणतः छोटे रेशों में उच्च रेशा परिपक्वता पाई जाती है, जबकि लम्बे रेशों में कम अपरिपक्व (थोड़ा या बिल्कुल ही गौण सेलुलोज स्थूलन-सहित), अर्ध-परिपक्व तथा परिपक्व तन्तुओं के प्रति इकाई लम्बाई भार में 0.4-0.45 : 0.60-0.75 : 1.0 का अनुपात होता है रेशों की अपरिपक्वता निम्न रेशा-सामर्थ्य तथा प्रति इकाई लम्बाई में न्यूनतर सवलन से सम्बन्धित है रेशों के असमान सवलन होने से उसके एक समान सवलन होने की अपेक्षा उनके चिपकने की शक्ति तथा किन्हीं दो रेशों के समुच्चय का घर्षण उच्च होता है यह प्रति इकाई

लम्बाई में सवलनों की सख्या की अपेक्षा पृष्ठीय सिकुड़नों तथा सवलनों के अंतरण से ज्यादा प्रभावित होता है यह मोम हटाने से बढ़ती है तथा रेशों पर क्षार के उपचार से घटती है (Nanjundayya, Technol. Bull. Indian Cott. Comm., Ser. B, No. 47, 1952; Turner, ibid., No. 4, 1929; Iyengar & Turner, ibid., No. 7, 1930; Ahmad & Sen, ibid., No. 18, 1933; Gulati & Ahmad, ibid., No. 20, 1935; Nanjundayya & Ahmad, ibid., No. 24, 1938; Sen & Ahmad, ibid., No. 25, 1938; Nanjundayya, ibid., No. 36, 1947; Iyengar & Ahmad, ibid., No. 40, 1949; Iyengar, Indian J. agric. Sci., 1933, 3, 320; 1939, 9, 305; Rajaraman, ibid., 1941, 11, 177, Peirce & Lord, 2nd Conf. Cott.-gr. Probl., 1934, 223).

रेशों के प्राकृतिक तथा रासायनिक गुण कुछ सीमा तक बीज की सतह के उस क्षेत्र पर जहाँ से ये निकाले जाते हैं, निर्भर करते हैं पार्श्व या आधार (निभाग सिरा) पर से निकाले गये रेशों की तुलना में शिखाय (बीजाङ्ग-द्वार सिरा) पर से हटाये गये तन्तु छोटे, घटिया, पुष्ट और अधिक परिपक्व होते हैं, आधार के तन्तु से शिखाय के तन्तुओं के रिवन की चौड़ाई ज्यादा, प्रति इकाई लम्बाई में कम सवलन तथा उच्च दृढ़ता होती है आधार की अपेक्षा शिखाय के तन्तुओं की कम सख्या तथा द्वितीयक सेलुलोज का जल्दी ही निक्षेपण होने से रेशों के भार तथा परिपक्वता में क्षेत्रीय विभिन्नताएँ हो जाती हैं, इसके फलस्वरूप शिखाय के प्रति रेशों को अधिक पोषण प्राप्त होता है यह अनुमान किया गया है कि आधार पर के रेशों की शिखाय की अपेक्षा $\frac{1}{3}$ पोषण मिलता है (Koshal & Ahmad, Technol. Bull. Indian Cott. Comm., Ser. B, No. 14, 1932; Iyengar, Indian J. agric. Sci., 1941, 11, 886; 1944, 14, 311; Srinagabhushana, ibid., 1947, 17, 305; Gulati & Ahmad, Indian Fmg, 1945, 6, 9)

कपास के गुच्छे में बीज की स्थिति के कारण रेशों के गुणों में विभिन्नता पायी गई है किन्तु एक-जैसे परिणाम प्राप्त नहीं हुये कुछ कपासों के आधार सिरों के गुच्छे से शिखाय सिरों के रेशों की दिशा में इकाई लम्बाई के भार में स्थायी कमी होती है किन्तु अन्य कपासों में यह परिवर्तन सार्थक नहीं है कुछ प्रकरणों में रेशों की लम्बाई में भिन्नता पाई गई है परन्तु दूसरों में नहीं (Sen, Indian J. agric. Sci., 1932, 2, 484; Iyengar, ibid., 1941, 11, 703).

रेशा-लम्बाई, प्रति इकाई लम्बाई रेशा भार और रेशा-परिपक्वता की वशागति के अध्ययन से यह ज्ञात हुआ है कि प्रति इकाई लम्बाई रेशा भार में प्रसरण का अधिकांश भाग आनुवंशिकीय है जबकि रेशा-लम्बाई तथा रेशा-परिपक्वता के सम्बन्ध में सकराज के कारण प्रसरण महत्वपूर्ण है यद्यपि आनुवंशिकीय कारक भी प्रसरण में योगदान देते हैं (Koshal et al., Technol. Bull. Indian Cott. Comm., Ser. B, No. 28, 1940).

एक ही प्रकार के बीज से विभिन्न क्षेत्रों में उगाई गई कपास के रेशों के गुणों में काफी अन्तर पाया जाता है इसमें से रेशा-परिपक्वता सबसे अधिक प्रभावित होने वाला कारक है, इसके फलस्वरूप प्रति इकाई लम्बाई का रेशा भार तथा कुछ अवस्थाओं में औसत रेशा-लम्बाई पर प्रभाव पड़ता है उत्पादित रेशों के गुण पर ऋतु का निश्चित प्रभाव पड़ता है कोयम्बटूर में जाड़े में उगाई गई कपासों की अपेक्षा श्रीविल्लिपुरुर (दक्षिण भारत) में गर्मी में उगाई गई उन्ही कपासों के रेशों अधिक लम्बे, महीन तथा उच्च परिपक्वता वाले होते हैं (Patel & Srinagabhushana, Indian J. agric. Sci., 1936, 6, 63;

Gulati & Ahmad, *Technol. Bull. Indian Cott. Comm., Ser. B*, No. 20, 1935; Gulati, *ibid.*, No. 30, 1940; Iyengar, *Indian J. agric. Sci.*, 1943, 13, 434).

भूमि में डाले गये उर्वरकों का उत्पादित रुई की गुणता पर जो प्रभाव पड़ता है वह भूमि की प्रारम्भिक उर्वरता, भूमि-गठन, नमी की उपलब्धता आदि पर निर्भर करता है। अनुर्वर मिट्टी में उगाये हुए पौधे के रेशों का रासायनिक संघटन खाद डालने से प्रभावित होता है, किन्तु जो मिट्टियाँ पहले से ही उर्वर होती हैं, उनमें खाद डालने से रेशों के रासायनिक संघटन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। ऐसा ही प्रभाव रेशों की लम्बाई पर देखा जाता है। एक परीक्षण में पहले की फसल में प्रति हेक्टर भूमि में 12.5 टन फार्मयार्ड खाद देने से कपास की रेशा-लम्बाई में कुछ सुधार हुआ। एक अन्य परीक्षण में प्रति हेक्टर 40 किय्रा. अमोनियम सल्फेट के रूप में नाइट्रोजन देने से ऐसे ही फल मिले। भेड़ की मँगनी तथा अमोनियम सल्फेट डालने से भी रेशे की परिपक्वता में सुधार हुआ। मूंगफली की खली डालने से रेशे के गुणों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता (Sen & Ahmad, *Proc. Indian Sci. Congr.*, 1934, 77; Iyengar, *Indian J. agric. Sci.*, 1941, 11, 866; Nayak, *ibid.*, 1937, 7, 877; Gulati, *Technol. Bull. Indian Cott. Comm., Ser. B*, No. 30, 1940; Gulati & Ahmad, *3rd Conf. Cott.-gr. Probl. India*, 1946, 245; Gulati, *4th Conf. Cott.-gr. Probl. India*, 1949, 71; *Indian Cott. Gr. Rev.*, 1951, 5, 14; Nayak, *4th Conf. Cott.-gr. Probl. India*, 1949, 72).

सिंचाई से रेशे मोटे होते हैं और परिपक्वता में सुधार होता है। अपर्याप्त सिंचाई होने पर रेशे की लम्बाई घटती है तथा लम्बाई अनियमितता में वृद्धि होती है। अनुकूलतम गुण वाली रुई प्राप्त करने के लिए बीज बोने का समय हर कपास में भिन्न होता है। रेशे की लम्बाई पर बीज की बुवाई विधि का कोई विशेष प्रभाव नहीं होता (Gulati, *Technol. Bull. Indian Cott. Comm., Ser. B*, No. 30, 1940; Ayyar *et al.*, *Indian J. agric. Sci.*, 1940, 10, 493; Rajaraman & Afzal, *ibid.*, 1943, 13, 349; Iyengar, *ibid.*, 1944, 14, 222).

कुछ दशाओं में कपास चुनने की ऋतु में विभिन्न समयों पर चुनी हुई कपास की गुणता परिवर्तित होती रहती है। साधारणतः जल्दी चुनी हुई कपास की अपेक्षा देर से चुनी कपास से जो रुई मिलती है वह अधिक कच्ची रहती है तथा प्रति इकाई लम्बाई रेशा भार कम होता है एवं रेशा-लम्बाई भी अपेक्षाकृत कम होती है। वाद में चुनी गई कपासों में प्रति इकाई लम्बाई में संवलनों की संख्या भी कम होती है। वाद की चुनाई से प्राप्त रेशों की गुणता में ह्रास का कारण पौधे की आयु का प्रभाव, नाशीकीटों तथा रोग के आक्रमण एवं भूमि की नमी में कमी का होना माना जाता है (Sen, *Indian J. agric. Sci.*, 1934, 4, 295; Iyengar, *ibid.*, 1942, 12, 627; Rajaraman & Afzal, *ibid.*, 1943, 13, 349).

1950-52 में तथा इससे भी पहले अनेक प्रकार की भारतीय कपासों पर किये गये परीक्षणों से यह पता चला है कि पादप-गुणन की पाँचवी अवस्था तक गुणों में प्रायः कोई ह्रास नहीं होता है तथा कुछ दशाओं में इस गुणन के बाद की अवस्थाओं में अवन्ति पाई गई है (Rajaraman & Afzal, *Indian J. agric. Sci.*, 1941, 11, 53; Nayak, *ibid.*, 1942, 12, 865; Nanjundayya, *Rep. Indian Cott. Comm., Lab.*, 1953).

रेशे की विशेषताओं पर नाशकजीवों एवं रोगों के प्रभावों का बहुत कम अध्ययन हुआ है। कपास की प्रभावित होने वाली किस्मों पर जैसिड संक्रमण से औसत रेशा-लम्बाई, प्रति इकाई लम्बाई रेशा भार तथा परिपक्व रेशों की प्रतिशतता में कमी आती है परन्तु कपास की प्रतिरोधी किस्मों पर कोई परिवर्तन हुआ नजर नहीं आता (Afzal *et al.*, *Indian J. agric. Sci.*, 1943, 13, 192).

कल्पना के अनुसार किसी धागे की सामर्थ्य उन अलग-अलग रेशों की सामर्थ्य पर निर्भर होनी चाहिए जिनसे वह बना होता है। किन्तु प्रारम्भिक अध्ययनों से यह परिणाम निकला कि धागे की सामर्थ्य तथा रेशे-सामर्थ्य में ऋणात्मक सह-सम्बंध है। इसकी विवेचना इस कल्पना पर आधारित थी कि मजबूत रेशे सदैव मोटे होते हैं अतः किसी भी संख्या के धागे की अनुप्रस्थ काट में स्थित ऐसे रेशों की संख्या कमजोर तथा महीन रेशों की संख्या से कम होती है। धागे की अनुप्रस्थ काट में उपस्थित रेशों की संख्या को ध्यान में रखते हुये दोनों कारकों के बीच यद्यपि कम परन्तु घनात्मक सह-सम्बंध देखा गया। यदि एकल रेशे की सामर्थ्य के स्थान पर रेशे के एक पुलिका के सामर्थ्य को ध्यान में रखकर विचार किया जाए तो इस सह-सम्बंध में काफी सुधार हो जाता है। धागे को बनाने वाले रेशों की समुच्चय-सामर्थ्य रेशों के परस्पर फिसलन के कारण शायद ही अनुभव की जाती हो। धागे में प्रति सेंमी. 12 ऐंठन देने से यह देखा गया है कि 60 प्रतिशत अथवा इससे अधिक रेशे वास्तव में टूट जाते हैं। टूटने अथवा फिसलने वाले रेशों का अनुपात धागे में निहित ऐंठनों तथा कपास के गुणों जैसे कि संलग्न रहने की शक्ति, तन्तु सतह की विशेषताओं, रेशा-लम्बाई, इत्यादि पर निर्भर करती है (Turner, *Technol. Bull. Indian Cott. Comm., Ser. B*, No. 1, 1928; Gulati & Turner, *ibid.*, No. 9, 1930).

ऐसी आशा की जानी चाहिए कि संलग्नी शक्ति अथवा रेशा फिसलन से धागे की सामर्थ्य पर्याप्त सीमा तक प्रभावित होगी। परन्तु परीक्षणों से इन दोनों के बीच किसी निकटतम सम्बंध का पता नहीं चला है। जिन कपासों में लम्बाई तथा महीनता के परिपेक्ष्य में पकड़े रहने की उच्चशक्ति होती है वे अपेक्षाकृत उच्चतर गणना तक काती जा सकती हैं। प्रति इकाई सतह में रेशों की संलग्नी शक्ति कताई-मान से सम्बंधित नहीं होती। छोटे तथा मोटे रेशों वाली कपासों में प्रत्येक रेशे में उच्चतर संलग्नी शक्ति पाई जाती है परन्तु धागे में मोटे रेशों की व्यक्तिगत अधिक संलग्नी शक्ति को महीन तथा अपेक्षाकृत लम्बे रेशों की शक्ति मिटा देती है जिससे वास्तविक रूप में काफ़ी महीन रेशों में उच्चतम योजित संलग्नी शक्ति पाई जाती है (Navkal & Turner, *Technol. Bull. Indian Cott. Comm., Ser. B*, No. 8, 1930).

रेशों की अपरिपक्वता, विशेषतः अधिक लम्बे रेशों की अपरिपक्वता धागे के गठिलेपन के लिए उत्तरदायी होती है। प्रसाधन के समय रेशों की विकृति एवं टटना गठिलेपन को प्रभावित करता है। सूत के निर्माण में बाहरी पदार्थ, जैसे बीज के छिलके, पत्तियों के छोटे टुकड़े तक धागे की आकृति तथा गठिलेपन को प्रभावित करते हैं (Gulati & Ahmad, *Technol. Bull. Indian Cott. Comm., Ser. B*, No. 20, 1935; Gulati, *ibid.*, No. 43, 1949).

25 वर्षों से भी अधिक समय तक एकत्रित सैकड़ों भारतीय कपासों के रेशा गुणों तथा कताई मान सम्बंधी आँकड़ों का उपयोग किसी कपास के रेशा गुणों से उसकी कताई-क्षमता का पता लगाने में किया गया है। कपास की कताई-क्षमता को रेशों के एक या अधिक गुणों से जोड़ने वाले कई सूत्र अथवा समाश्रयण समीकरण दिये गये हैं।

ऐसा समीकरण जो अधिकांश भारतीय कपासों पर लागू होता है निम्नांकित है :

$$X_1 = 78.9 X_2 - 79.2 X_3 - 24.8$$

इसमें:—

X_1 = उच्चतम प्रामाणिक संवलन गणनांक (उ.प्रा.सं.ग.)*; X_2 = औसत रेशा-लम्बाई (इंच); तथा X_3 = औसत रेशा भार प्रति इंच (10⁻⁶ आउन्स).

कुछ विशेष वर्ग की कपासों के लिए भी ऐसे सूत्र निकाले गये हैं जिनकी सहायता से कतई मान उ.प्रा.सं.ग. को अधिक विश्वसनीय सीमा तक आकलित कर पाना सम्भव हो गया है (*Technol. Rep., Standard Indian Cottons*, Indian Cott. Comm., 1927-52; Turner & Venkataraman, *Technol. Bull. Indian Cott. Comm., Ser. B*, No. 17, 1933; Ahmad, 2nd Conf. Cott.-gr. Probl. India, 1941, 41; Ahmad & Navkal, 3rd Conf. Cott.-gr. Probl. India, 1946, 216; Navkal & Sen, *Technol. Bull. Indian Cott. Comm., Ser. B*, No. 41; 1949; Nanjundayya & Navkal, 5th Conf. Cott.-gr. Probl. India, 1952, 84).

आर्द्रता सम्बंध—कपास को शुष्क से आर्द्र वातावरण में स्थानान्तरित करने से आर्द्रता अवशोषित होती है और इसके विपरीत वातावरण में यही आर्द्रता विशोषित होती है. इस प्रकार कपास में होने वाला भार परिवर्तन उस वातावरण की नमी की मात्रा से जिसमें कपास खुली रखी हो, सम्बंधित है. कपास के व्यापार में यह तथ्य बहुत समय से स्वीकार किया जाता रहा है. कपास की आर्द्रता को सामान्यतः कपास के अति-शुष्क भार के रूप में प्रतिशत में व्यक्त किया जाता है. विदेशों में कपास के व्यापारिक लेन-देन में 65% आपेक्षिक आर्द्रता तथा 21.1° पर आर्द्रता की 8.5% की पुनःप्राप्ति को प्रामाणिक माना जाता है. आपेक्षिक आर्द्रता में वृद्धि से रेशों के भार में जो वृद्धि होती है उसे ज्ञात किया गया है और ये मान किसी भी आर्द्रता पर लिए गये भार को 65% आर्द्रता पर परिकलित करने में प्रयुक्त किये जाते हैं. भारत में आर्द्रता पुनःप्राप्ति की औसत स्वीकृत सीमा (खुली ऋतु में 1% सहन सीमा के साथ तथा वर्षा ऋतु में +1.5% सहन सीमा के साथ) 7% है [Ahmad, *Technol. Res. on Cott. in India* (1924-41), Indian Cott. Comm., 1942; Urquhart & Williams, *J. Text. Inst.*, 1926, 17, T38; *Technol. Bull. Indian Cott. Comm., Ser. A*, No. 69, 1949].

किसी दिये हुए कपास के नमूने में आर्द्रता की मात्रा मुख्यतः उसके वातावरण, ताप तथा आपेक्षिक आर्द्रता पर जिसमें वह रखी हो और दूसरे उसके पूर्व इतिहास पर निर्भर करती है. यदि कपास के किसी नमूने को किसी ज्ञात आपेक्षिक आर्द्रता के वातावरण से किसी अन्य भिन्न आपेक्षिक आर्द्रता के वातावरण में लाया जाए तो पहले भार में तुरन्त परिवर्तन होता है परन्तु इसकी साम्यावस्था प्राप्त करने की अवधि लम्बी होती है. प्रामाणिक वस्त्र परीक्षण में सामान्यतया अनुकूलन के लिए 4 घंटे की अवधि दी जाती है. आर्द्रता पुनःप्राप्ति के दो मान सम्भव होते हैं: उच्चतर मान, यदि कपास प्रारम्भ में ही अधिक नम अवस्था में रही हो; तथा निम्नतर मान यदि कपास अपेक्षाकृत अधिक शुष्क अवस्था में रही हो. विभिन्न आपेक्षिक आर्द्रताओं पर

अवशोषण तथा विशोषण की वक्र रेखायें अलग-अलग पथों का अनुसरण करती हैं जैसे कि कुछ जेलियों में होता है; कपास के आर्द्रता-सम्बंधों की विशेषता उनका शैथिल्य प्रभाव है (Urquhart & Williams, *J. Text. Inst.*, 1924, 15, T138).

स्थिर आपेक्षिक आर्द्रता की स्थिति में कपास द्वारा अवशोषित आर्द्रता की मात्रा में लघु ताप परिसर के लिए अधिक अन्तर नहीं पाया जाता किन्तु आपेक्षिक आर्द्रता में अल्प परिवर्तन से कपास द्वारा अवशोषित आर्द्रता की मात्रा में अधिक परिवर्तन आ जाता है. 80% आपेक्षिक आर्द्रता तक ज्यों-ज्यों ताप 10° से 110° तक बढ़ाया जाता है, कपास की आर्द्रता धारण-क्षमता घटती जाती है. 80% से अधिक आपेक्षिक आर्द्रता होने पर आर्द्रता धारण-क्षमता 60° से 110° तक ताप बढ़ने के साथ बढ़ती जाती है. ताप के बढ़ने के साथ-साथ शैथिल्य प्रभाव भी घटता जाता है [Mason, *Proc. roy. Soc.*, 1904, 74, 230; Bancroft & Calkin, *Text. Res. (J.)*, 1934, 4, 371; Urquhart & Williams, *J. Text. Inst.*, 1924, 15, T559].

गाँठ बंधी कपास में आर्द्रता अवशोषण तथा विशोषण की दरें खुली कपास की अपेक्षा कुछ कम होती हैं. आर्द्रता अवशोषण के प्रति गाँठ की क्रियाशीलता कपास की महीनता तथा खुली हुई सतह पर निर्भर करती है. बम्बई के गोदामों में जब बंगाल, भड़ौच तथा बरार कपासों की गाँठें संग्रह की गईं तो उनमें आर्द्रता अवशोषण की विभिन्न दरें पाई गईं. संग्रह के प्रथम छः महीनों में आर्द्रता अवशोषण दर कपास की किस्म के अनुसार बदलती रही किन्तु अगली तीन छमाहियों में सभी किस्मों की कपासों में आर्द्रता की मात्रा में एक-सा परिवर्तन पाया गया (Ahmad, *Technol. Bull. Indian Cott. Comm., Ser. A*, No. 23, 1933; Nanjundayya & Ahmad, *ibid.*, No. 74, 1950).

रेशों की विकृति भी आर्द्रता ग्रहण को प्रभावित करती है. जब धागे अथवा वस्त्र को तनन प्रतिबल में रखा जाता है तो विशोषण क्रिया घट जाती है. जब कच्ची कपास को 110° तक गर्म किया जाता है तो आर्द्र वातावरण में रखने पर उसकी आर्द्रता अवशोषण-क्षमता घट जाती है. धोने वाले सोडे के साथ उबालने अथवा पानी में रगड़ कर धोने की क्रिया से कपास की आर्द्रता अवशोषण-क्षमता कम हो जाती है परन्तु इस उपचार से शैथिल्य-प्रभाव बढ़ जाता है. विरंजन क्रिया से रेशे अधिक अवशोषणशील बनते हैं. कपास के मर्सरीकरण से आर्द्रता-सम्बंधों पर भी प्रभाव पड़ता है. अवशोषित आर्द्रता की मात्रा में जो परिवर्तन होते हैं वे रेशों की विमाओं में परिवर्तन के समानुपाती होते हैं. पूर्ण मर्सरीकरण द्वारा रेशे की आर्द्रता अवशोषण-क्षमता में डेढ़ गुनी वृद्धि हो जाती है. ऐसीटिलोकरण जैसे रासायनिक प्रक्रमों द्वारा सेलुलोज अणु में स्थित हाइड्रॉक्सिल समूहों को अवृद्ध करने से रेशों की शोषण-क्षमता कम हो जाती है (Matthews, 212; Marsh & Wood, 33; Urquhart & Williams, *J. Text. Inst.*, 1924, 15, T138; 1925, 16, T155; Urquhart, *ibid.*, 1927, 18, T55).

रेशे के भौतिक गुणों पर कपास की नमी की मात्रा का बहुत अधिक प्रभाव पड़ता है. आर्द्रता अवशोषण से कपास रेशा फूल जाता है. शुष्क अवस्था से आर्द्र अवस्था में पहुँचने पर रेशों की लम्बाई में 1.2% और व्यास में 14% की वृद्धि होती है. ताप तथा आपेक्षिक आर्द्रता बढ़ने से रेशे और फूल जाते हैं. जिससे 100° ताप और 100% आपेक्षिक आर्द्रता पर सबसे अधिक उत्फुल्लन होता है. रेशों के फूल जाने से रंगाई, जल-अपघटन तथा अन्य रसायन पदार्थों के प्रति आचरण

* (उ.प्रा.सं.ग.) महीनतम सूत संख्या जहाँ तक किसी कपास को ऐंठन गुणक 4 से अधिक रूप में काटा जा सकता है जिससे प्रामाणिक ली सामर्थ्य प्राप्त हो जाय.

सम्बन्धी रासायनिक क्रियाशीलता प्रभावित होती है (Preston, 201; Meredith, *J. Text. Inst.*, 1952, 43, P755).

आर्द्रता अवशोषण से एकल रेशे तथा धागा दोनों ही के सामर्थ्य पर प्रभाव पड़ता है। गीले रेशे की सामर्थ्य सूखे रेशे की सामर्थ्य से 20% अधिक होती है। रासायनिक रूप से उपचारित कपास की सामर्थ्य आपेक्षिक आर्द्रता में वृद्धि के साथ घट जाती है। आर्द्रता अवशोषण बढ़ने से तनन प्रतिरोध में कमी हो जाती है अतः प्रतिबल-विकृति वक्र में परिवर्तन आ जाता है (Meredith, *J. Text. Inst.*, 1952, 43, P755).

गीली अवस्था में रेशों की मरोड़ी दृढ़ता अस्थि-शुष्क अवस्था का केवल $\frac{1}{2}$ होती है। यह प्रभाव मुख्यतः सेलुलोस अणु के हाइड्रॉक्सिल समूहों में जल अणु संलग्न होने के कारण होता है। भोगने से रेशे में आंशिक संवलन तथा उत्क्रमण का विलोपन होने लगता है परन्तु पुनः शुष्क करने पर उनकी मूल अवस्था लौट आती है (Clegg & Harland, *J. Text. Inst.*, 1924, 15, T14).

कपास तन्तुओं के वर्तनांक में आर्द्रता की मात्रा के अनुसार परिवर्तन होता है। यह परिवर्तन 20% पुनःप्राप्ति तक समांगी मिश्रणों के लिए ग्लेडेस्टोन तथा डेल के नियम द्वारा नियंत्रित होता है। इससे अधिक मान पर परिवर्तन विपमतंत्र के अध्यारोपण नियम द्वारा नियंत्रित होता है (Hermans, 111).

आर्द्रता की मात्रा से कपास के रेशे के वैद्युत गुण प्रभावित होते हैं। आर्द्रता बढ़ने से परावैद्युतांक का ह्रास होता है तथा वैद्युत चालकता में वृद्धि होती है। आर्द्रता पुनःप्राप्ति को ज्ञात करने के लिए वैद्युत चालकता में वृद्धि पर आधारित अनेक उपकरणों का अभिकल्पन हुआ है (Walker, *J. Text. Inst.*, 1933, 24, T145; Spencer-Smith, *ibid.*, 1935, 26, T336; Jones, *J. sci. Instrum.*, 1940, 17, 55).

कपास संसाधन की विभिन्न अवस्थाओं पर भी आर्द्रता का प्रभाव पड़ता है। अधिक आर्द्रता वाली कपास को ओटने से जो रुई प्राप्त होती है उसमें रज्जुमयता तथा गठीलापना होता है। नमी से विनीलों के टूटने में सहायता मिलती है। कटाई के समय सूखा वायु मंडल होने से रेशों में उच्चतर घर्षण-प्रतिरोध तथा स्थिर विद्युत उत्पन्न होते हैं जिससे काफी धूल बनती और उड़ती है और वलय ढाँचे में अधिक टूटन होने लगती है। अनुकूलतम आपेक्षिक आर्द्रता तथा ताप बनाये रखने से उत्पादन की मात्रा तथा उत्कृष्टता में वृद्धि होती है। काम करने के लिए संस्तुत आपेक्षिक आर्द्रताएँ इस प्रकार हैं: धुनाई, 45-55%; तुमाई, 60-65%; कर्षण, 45-55%; उपकर्तन, 65-75%; कटाई, 60-70%; बुनाई, 70-80%; तथा वसन-कक्षा, 65-75%। सूती वस्त्र की आर्द्रता की मात्रा प्रत्यास्थन, इस्त्री करने, छपाई और कढ़ाई जैसे शुष्क सज्जक प्रक्रमों को बहुत प्रभावित करती है (Webster, *Text. Mfr. Manchr.*, 1952, 78, 542; Willis *et al.*, 29; Baldry, *J. Text. Inst.*, 1950, 41, P288; Thorndyke & Brearley, *ibid.*, 1953, 44, P794; *Text. World, Yearb.*, 1948-49, 11).

संग्रह-खेत से कारखाने तक की यात्रा की विभिन्न अवस्थाओं में संग्रह के समय प्रकाश-रासायनिक, रासायनिक तथा सूक्ष्मजैविकी प्रक्रियाओं द्वारा कपास को हानि पहुँचने की सम्भावना है। यदि पूरी सावधानी न बरती जाए तो उष्णकटिबन्धीय प्रदेशों में सूक्ष्म-जैविकी प्रक्रियाओं द्वारा सर्वाधिक हानि होती है।

कच्ची रुई में ऐसे संघटक होते हैं जो सूक्ष्मजीवों का भोजन हैं। इन सूक्ष्मजीवों के संदूषण में मिट्टी तथा वायुमंडल प्रमुख हाथ

बटाते हैं। नमी और उष्णता से सूक्ष्मजीवों की वृद्धि में सहायता मिलती है और यदि विशेष संग्रह की अवधि में कुछ काल के लिए प्रतिकूल परिस्थितियाँ भी हों तो सूक्ष्मजीव उस समय तक प्रसुप्त बने रहते हैं जब तक कि अनुकूल परिस्थितियाँ पुनःस्थापित न हो जायें।

अधिकांश फफूंदी कवकों की वृद्धि के लिए 85-95% आपेक्षिक आर्द्रता की आवश्यकता होती है। जीवाणुओं की वृद्धि के लिए अधिक आर्द्र परिस्थितियाँ चाहिये। कवक की वृद्धि के लिए अनुकूलतम ताप 25° है किन्तु कुछ कवक 0° से कम ताप पर भी वृद्धि कर सकते हैं। जीवाणुओं के लिए यही ताप 25-40° है [Galloway, *J. Text. Inst.*, 1935, 26, T123; Chowdhury, *Indian J. agric. Sci.*, 1937, 7, 653; Prindle, *Text. Res. (J.)*, 1937, 7, 445].

कपास में सूक्ष्मजीव टूटे सिरों अथवा कटे हुए स्थान से ल्यूमेन में प्रवेश कर जाते हैं अथवा रेशे की सतह पर क्षतों अथवा गड़दों में आश्रय पा जाते हैं। रेशे पर सूक्ष्मजैविक क्रिया के फलस्वरूप रेशा-सामर्थ्य में कमी, विरंजन एवं दुर्गन्ध उत्पन्न होती है। 90% से कम आर्द्रता पर कपास संग्रह करने से रेशे की सामर्थ्य पर कोई हानिकार प्रभाव नहीं पड़ता परन्तु 92% से अधिक आर्द्रता पर उल्लेखनीय निम्नकोटीकरण होता है। इससे असेलुलोसी रचकों की सान्द्रता में परिवर्तन होता है। प्रारम्भिक अवस्था में सेलुलोस सूक्ष्मजीवों से प्रभावित नहीं होता। लम्बी अवधि तक संग्रह करने से रंग में परिवर्तन होता है तथा रेशे की सतह पर स्थित धब्बों की संख्या एवं उनके आकार में कमी आ जाती है (Fleming & Thaysen, *Biochem. J.*, 1921, 15, 407; Denham, *J. Text. Inst.*, 1922, 13, T240; Gulati, *1st Conf. Sci. Res. Workers on Cott., India*, 1937, 177; Ahmad & Gulati, *Technol. Bull. Indian Cott. Comm., Ser. B*, No. 31, 1942; *Indian J. agric. Sci.*, 1943, 13, 494; Nanjundayya, *Technol. Bull. Indian Cott. Comm., Ser. B*, No. 32, 1944).

जब कपास को अधिक समय तक वायु, वर्षा, और धूल इत्यादि में खुला रहने दिया जाता है तो कपास की श्रेणी में उल्लेखनीय ह्रास हो जाता है। सामान्यतया चटक आभा की श्वेत पीत जैसे सफ़ेद रंग की कपास रखे रहने से धूमिल पड़ जाती है तथा उसमें नीलापन आ जाता है।

गीली अवस्था में कपास को संग्रह करने से बीज तथा रुई दोनों के गुणों पर प्रभाव पड़ता है। ऐसी अवस्था में ताप 80° तक बढ़ता है तथा बीज की जीवन-क्षमता पर बुरा प्रभाव पड़ता है। मिस्त्री-कपास पर गीले संग्रहण के प्रभाव के अध्ययन से पता चला है कि यदि 11% से अधिक आर्द्रता बढ़े तो बीजों की अंकुरण शक्ति गम्भीर रूप से प्रभावित होती है। यदि औसत नमी इससे कम भी रहे तो भी पर्याप्त नमी के छोटे-छोटे क्षेत्र सूक्ष्मजीवों की क्रिया के केन्द्र बन जाते हैं। संग्रह से पूर्व कपास को धूप में सुखाने एवं संग्रहणालयों में संवातन की अच्छी व्यवस्था करके इस क्षति को रोका जा सकता है (Molowan, *Cott. Oil Pr.*, 1921, 4, 47; 1921, 5, 40; Simpson, *J. agric. Res.*, 1935, 50, 449; Brand & Sherman, *Circ. U.S. Bur. Pl. Ind.*, No. 123, 1913; Tempamy, *W. Ind. Bull.*, 1909, 10, 121; Burns, *Bull. Minist. Agric. Egypt*, No. 71, 1927).

ओटाई के पूर्व कपास को 4-6 सप्ताह तक रखने से रुई के गुण में सुधार होता है क्योंकि इससे रेशों की परिपक्वता, रेशों की लम्बाई

तथा रेखा-सामर्थ्य में वृद्धि होती है। भारतीय कपासों के अध्ययन से यह पता चला है कि कपास के संग्रह से औसत रेखा-लम्बाई, रेखा भार प्रति इकाई लम्बाई अथवा सूत कातने की गुणता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता (Taylor & Sherman, *Bull. U.S. Dep. Agric.*, No. 121, 1924, 18; Ahmad, *Technol. Bull. Indian Cott. Comm.*, Ser. B, No. 19, 1935).

खुली जगह में संग्रह की गई गाँठ बँधी कपास की कटाई-क्षमता छाया में रखी गाँठ बँधी कपास की कटाई-क्षमता की तुलना में कम होती है। बम्बई में व्यापारिक संग्रहण की परिस्थितियों में दो वर्षों के संग्रह के बाद रेखा-सामर्थ्य में कुछ क्षति देखी गई और प्रारम्भ से ही रेशे की चमक घटती गई किन्तु दो वर्षों तक संग्रहीत कपास से काते सूत की लच्छी की सामर्थ्य उतनी ही थी जितनी प्रारम्भ में। कुछ कपासों में इस सामर्थ्य में वृद्धि भी पाई गई (Ahmad, *Technol. Bull. Indian Cott. Comm.*, Ser. A, No. 30, 1936; Nanjundayya & Ahmad, *ibid.*, No. 74, 1950).

उपयोग — कपास उत्पादन का अधिकांश या तो अकेले या अन्य रेशों के साथ मिलाकर बुने हुए वस्त्रों के निर्माण में खप जाता है। बुने हुए वस्त्रों में छप्पे कपड़े, चादर, महीन सूती कपड़े, तौलिया, टायर कपड़े तथा अन्य वस्त्र प्रमुख हैं। बागे अथवा रस्ती के रूप में जो माल होता है उनमें बिना बुनी हुई टायर रस्ती, घागे, द्वाइन तथा कृशिया के घागे सम्मिलित हैं। बिना काती हुई रई का उपयोग दर्री तथा गद्दों के बनाने, पैड तथा गद्दों के खोल अथवा पर्दों के उपयोग में होता है। सेलुलोज, प्लास्टिक, रेयन तथा विस्फोटक पदार्थों के व्यवसाय में कपास का प्रयोग प्रमुख कच्चे माल के रूप में होता है। निर्जमित अवशोषक रई का उपयोग चिकित्सा तथा शल्यक्रिया में होता है।

वस्त्रों के उत्पादन में विभिन्न आकार एवं महीनता के धागों की आवश्यकता होती है। छोटे रेशे वाली कपास से मोटे धागे तथा लम्बे अथवा मध्यम रेशे वाली कपास से महीन धागे काते जाते हैं। लम्बे एवं एक समान रेशों का प्रयोग उत्कृष्ट महीन वस्त्रों के बनाने में उच्च गणना के सूत में होता है।

भारत में उगाई जाने वाली अधिकांश कपास छोटे एवं मध्यम रेशे वाली होती है जो 30 संवलन गणना तक के धागे बनाने के उपयुक्त हैं। उच्चतर गणनाओं के धागों की कटाई में लम्बे रेशे वाली कपास की आवश्यकता होती है तथा भारत के सूती वस्त्र व्यवसाय की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए इस प्रकार की अमेरिकी और मिस्री कपासों की बड़ी मात्रा प्रति वर्ष आयात की जाती है। इधर हाल के वर्षों में भारत में लम्बे रेशे की कपासों को उगाने में काफी प्रगति हुई है। भारत में मालावार तथा दक्षिण कनारा में उगाई जाने वाली सी-आइ-लैंड कपास को सिलाई के धागों के व्यावसायिक उत्पादन में उपयोगी पाया गया है और इससे 60 गणना तक के एकल सिलाई धागे का उत्पादन होता है। इसके लिए पहले आयातित मिस्री कपास का प्रयोग होता था। कपास को संश्लिष्ट रेशों से अधिकाधिक होड़ लेनी पड़ रही है। संश्लिष्ट रेशों को जितना भी महीन चाहें बनाया जा सकता है तथा उनकी सामर्थ्य, प्रत्यास्थता जलभेद्यता और सहन सहिष्णुता में आवश्यकता के हिसाब से परिवर्तित किया जा सकता है। रेयन कपास का प्रमुख प्रतिस्पर्धी है जिसका विस्तृत उपयोग पहनने के कपड़ों के बनाने में होता है। कपास के स्थान पर प्रयुक्त होने वाले अन्य पदार्थों में रुमाल तथा पैलों के लिए कागज, एग्रन और वरसाती कोट तथा अन्य वस्त्रों के लिए प्लास्टिक के रेशे तथा प्लास्टिक चादर हैं। वानस्पतिक रेशों में कुछ सीमा तक कपास से

होड़ लेने वालों में पलैक्स, रेमी तथा सनई प्रमुख हैं (Andrews, 384, 394; *Indian Cott. Gr. Rev.*, 1953, 7, 242).

कुछ विशिष्ट गुणों में सुधार करके किन्हीं विशेष उपयोगों के लिए कपास को उपयुक्त बनाने के लिए कभी-कभी कपास का रासायनिक उपचार किया जाता है। इनमें से कुछ उपचार संयोजी होते हैं और कुछ रेशे की विशेषता को प्रभावित किये बिना पूरे सेलुलोज या उसके भाग के रूपान्तरण से सम्बंधित होते हैं। रासायनिक उपचारों में निम्न क्रियाएँ प्रमुख हैं: (1) ऐमीनीकरण जिससे रंजक अवशोषण गुण में सुधार होता है और धुलाई में वस्त्र अधिक टिकाऊ हो जाते हैं; ऐमीनीकरण से कपास ऊन के रंजकों को ग्रहण करने योग्य हो जाती है और ऊन के साथ इसका मिश्रण किया जा सकता है। (2) आंशिक ऐसीटिलीकरण जिससे विगलन तथा फफूँदी के आक्रमण के प्रति अधिक अवरोधकता उत्पन्न होती है। (3) कार्बोक्सिमैथिलीकरण जिससे आर्द्रता अवशोषण गुण में वृद्धि होती है। फॉस्फोरिलीकृत कपास उत्तम वनायन विनिमायक है। खनिज वर्णकों के फिनिश से सूती वस्त्रों में ऋतुसह्यता के गुण आ जाते हैं। ऐसे भी रासायनिक उपचार विकसित किये गए हैं जिनसे सिलवट-प्रतिरोधकता, ऊष्मा-प्रतिरोधकता या अन्य गुण प्राप्त होते हैं और विशेष प्रयोगों के लिए विलेय कपास मिलती है (Reid & Dean, *Yearb. Agric.*, U.S. Dep. Agric., 1950-51, 406-410; Fisher, *Int. Text. Congr.*, Belgium, Commun. No. T14, 1951).

कटाई तथा बुनाई के कारखानों से कपास की रद्दी एक उपोत्पाद के रूप में प्राप्त होती है। यह मुख्यतः धुनाई की मशीनों से प्राप्त छोटे-छोटे रेशों, फर्श के बुहारने से एकाग्रित रेशेदार पदार्थों, बुनते समय टूटे हुए टुकड़ों तथा अन्य बेकार रेशों का समूह होती है। कपास से निकलने वाली रद्दी की मात्रा कपास की कोटि निर्धारण का एक महत्वपूर्ण कारक है। अच्छे स्तर की रद्दी का उपयोग सूती कम्बल, चादर, तौलिया तथा फलालैन बनाने में होता है। बुनने वाली मशीनों से प्राप्त बेलनाकार टुकड़े अच्छी सामर्थ्य वाले रेशों से युक्त होते हैं। उनका प्रयोग ताना, डोरों, रस्सियों और जालों, इत्यादि के बनाने में होता है। गद्दों के भरने, पैड बनाने, रजाई बनाने, इत्यादि में भी इनका उपयोग किया जाता है। मिस्री कपास के टुकड़ों को ऊन के साथ मिलाकर मिश्रित ऊनी वस्त्र बनाये जाते हैं। घटिया रद्दी का उपयोग स्पंज वस्त्र, कालीन के सूत तथा निम्नस्तर के मिश्रित ऊनी वस्त्र बनाने में होता है। कटाई के अयोग्य रेशों तथा फर्श बुहारने से प्राप्त रेशों को विरंजित करके उन्हें गन काटन (विस्फोटक पदार्थ-नाइट्रो सेलुलोज), सेलुलोज तथा कृत्रिम रेशम के बनाने में प्रयुक्त किया जाता है। बचे हुए छोटे टुकड़ों एवं धागों की रद्दी, जिसकी फिर से कटाई नहीं हो सकती, पोछने एवं पालिश करने में प्रयुक्त होते हैं (Brown, H.B., 538; Andrews, 382; Dhingra & Mithel, *Indian Text. J.*, 1948-49, 59, 688).

विनीला

विनीला कपास ओटाई उद्योग का उपोत्पाद है। चर्खों से प्राप्त व्यापारिक विनीलों में वीज के अतिरिक्त अन-ओटाई रई के बचे अंग तथा छोटे रेशों की मोटी पर्त होती है जिसमें रोएँ होते हैं। इससे विनीला सफ़ेद अथवा भूरे रंग का दिखाई पड़ता है। गाँ. वाबेन्स को छोड़कर सभी प्रकार की कपासों में रोएँ (फर्ज) पाये जाते हैं। रोएँ हटा देने के बाद विनीले का रंग गहरा भूरा या काला होता है। विनीले का आकार नुकीला, अण्डाकार तथा इसकी लम्बाई 5-20

मिमी. के बीच होती है। विभिन्न प्रकार के विनौलों में गिरी तथा छिलके की आपेक्षिक मात्राओं में बहुत अन्तर पाया जाता है। भारत में उगाई जाने वाली विभिन्न प्रकार की कपासों से प्राप्त विनौलों में छिलके की मात्रा 37.0 से 54.0, गिरी 32.3 से 52.7, तथा रुई 1.1 से 17.9% सूचित की गई है। भारत में उगाई जाने वाली व्यापारिक विनौलों वाली कपासों के संघटन सारणी 36 में दिए हुए हैं। भारत में उगाई जाने वाली विभिन्न कपासों में तेल की मात्रा 13.1 से 24.5% होती है। लम्बे रेशे वाली अमेरिकी कपासों में सामान्यतया तेल की मात्रा सबसे अधिक होती है [Athawale, *Indian Fmg.*, 1944, 5, 306; Desikan & Murti, *Oils & Oilseeds J.*, 1953-54, 6 (9), 12; 6 (10), 11; Bailey, 1948, 114; Desikan & Murti, *Oils & Oilseeds J.*, 1952-53, 5 (10-12), 24; 1953-54, 6 (10), 11].

विनौले की गिरी में जो कार्बोहाइड्रेट पाये जाते हैं वे हैं: शर्करा (मोनो सेकैराइड, रैफिनोस, स्यूक्रोस तथा अन्य), 7.29; डेक्सट्रिन तथा विलेय पेक्टिन, 0.41; हेमी सेलुलोज तथा पेक्टिन जैसे पदार्थ, 3.30; और सेलुलोज, 21.5%। इसमें स्टार्च प्रायः नहीं होता। विनौले की प्रमुख शर्करा रैफिनोस (पिसे हुए बीज में, 4 से 9%) है (Bailey, 1948, 481-484)।

विनौले के प्रमुख प्रोटीन ग्लोबुलिन (एल्फा-ग्लोबुलिन, 2.6%; बीटा-ग्लोबुलिन, 16%) हैं। इनमें प्रोटीनोसों तथा पेप्टेनों के अतिरिक्त दो फॉस्फोप्रोटीन (3.37%), एक ग्लुटेन (0.73%) तथा एक पेंटोस-प्रोटीन (2.08%) भी पाये जाते हैं। इनमें विशेष ऐलर्जी गुणों वाले प्रोटीनों की उपस्थिति भी बताई जाती है। सम्पूर्ण प्रोटीन में ऐमीनो अम्लों की उपस्थिति इस प्रकार है: आर्जिनीन, 7.4; हिस्टिडीन, 2.6; लाइसीन, 2.7; ट्रिप्टोफेन, 1.3; फेनिल ऐलानीन, 6.8; मेथियोनीन, 2.1; थियोनीन, 3.0; ल्यूसीन, 5.0; आइसोल्यूसीन, 3.4; वैलीन, 3.7; सिल्टीन, 2.0; टाइरोसीन, 3.2; तथा ग्लाइसीन, 5.3%; प्रोटीन में लाइसीन, मेथियोनीन, थियोनीन तथा ल्यूसीन ऐमीनो अम्लों की मात्रा कम होती है किन्तु अन्य अनिवार्य ऐमीनो अम्ल पर्याप्त मात्रा में पाये जाते हैं। विनौले के सम्पूर्ण प्रोटीन का जैव-मान तथा वास्तविक-पचनीयता क्रमशः 91 तथा 78 हैं (Guthrie *et al.*, *Bur. agric. industr. Chem.*, U.S. Dep. Agric., AIC-61, 1949; Bailey, 1948, 414-443; Jacobs, I, 209; Murlin *et al.*, *J. biol. Chem.*, 1944, 156, 785)।

विनौले के खनिज घटक निम्नांकित हैं: फॉस्फोरस (P_2O_5), 1.03-1.33; कैल्सियम (CaO), 0.24-0.44; लोह (Fe_2O_3),

0.02-0.03; पोटैशियम (K_2O), 0.94-1.07; सोडियम (Na_2O), 0.05-0.14; मैग्नीशियम (MgO), 0.44-0.56; मँगनीज (Mn_2O_3), 0.03-0.04; ऐल्युमिनियम (Al_2O_3), 0.01-0.06; सिलिका (SiO_2), 0.12-0.39; गंधक (SO_4), 0.17-0.28; तथा क्लोरिन (Cl), 0.02-0.04%। इनके अतिरिक्त ताँबा, बोरन, जिंक, निकेल, स्ट्रॉन्शियम तथा बेरियम की सूक्ष्म मात्राओं के उपस्थिति होने का उल्लेख है। तेल रहित विनौले के चूर्ण में आयोडीन (23 से 1,400 माग्रा./किग्रा. शुष्क आवार पर) तथा फ्लोरीन (2-3.1 ग्रंश प्रति लक्षांश) पाया जाता है (Lander & Dharmani, *Indian J. vet. Sci.*, 1935, 5, 343; Bailey, 1948, 486-488)।

विनौले में बी-काम्पलेक्स विटामिन प्रचुर मात्रा में पाये जाते हैं (थायमिन, 3.2; राइबोफ्लैविन, 2.3; निकोटिनिक अम्ल, 16; पैन्टोथेनिक अम्ल, 11; पाइरिडोक्सिन, 0.91; बायोटिन, 0.29; इनासिटॉल, 3,400; तथा फोलिक अम्ल, 3.8 माग्रा./ग्रा. शुष्क भार के आधार पर)। विनौले में विटामिन ए, डी तथा ई भी पाये जाते हैं (Bailey, 1948, 490-492)।

विनौले का प्रमुख वर्णक गाँसीपाँल ($C_{30}H_{30}O_{88}$; पीत रूप : ग. बि., 214° ; लाल रूप : ग. बि., $184-185^\circ$) है जो एक फिनोलिक यौगिक है और गिरी में 0.4 से 2.0% होता है। बीज की गाँसीपाँल मात्रा पर आनुवंशिक कारकों का काफी प्रभाव पड़ता है। गाँसीपाँल की मात्रा गाँ. हर्बिसियम जाति के बीजों में कम, गाँ. हिंसुटम के बीजों में उससे अधिक तथा गाँ. बार्बेन्स के बीजों में सबसे अधिक होती है। बीज में पाये जाने वाले अन्य वर्णक पदार्थ गाँसीफुल्विन [$C_{23}H_{34}N_2O_8$; ग. बि., $238-39^\circ$ (अपघटन)], गाँसीपरप्यूरिन (ग. बि., $200-04^\circ$), गाँसीकीरुलिन, कैरोटिनाइड तथा फ्लैवोन, एक पीत वर्णक तथा क्लोरो-फिल का एक रंगहीन प्ररूप हैं (Guthrie *et al.*, loc. cit.; Bailey, 1948, 297-298)।

बीज में पाये जाने वाले एंजाइमों में से लाइपेस, कैटलेस परॉक्सिडेस, तथा फाइटिस का उल्लेख हुआ है। इनके अतिरिक्त बीज में उपस्थित अन्य पदार्थ सैपोनिन, लेक्टिक अम्ल, कोलीन, वोटेइन तथा सल्फाइल यौगिक हैं। अन्य तेल बीजों की तुलना में विनौले में कुल फॉस्फोरस, फाइटिनो तथा फॉस्फेटाइडों की मात्रा अधिक होती है। केवल फाइटिन (लगभग 0.8% तेल रहित विनौले के चूर्ण में) की ही मात्रा सम्पूर्ण फॉस्फोरस की 72% होती है (Guthrie *et al.*, loc. cit.)।

भारत में विनौले का अत्यधिक उपयोग भूसी, दाल तथा चोकर के साथ मिलाकर पशुओं के आहार में किया जाता है। विनौले का

सारणी 36 - व्यापारिक विनौलों का संघटन*

व्यापारिक विनौलों का प्रहप	शुष्क पदार्थ (%)	राख (%)	अपरिष्कृत प्रोटीन (%)	वसा (%)	अपरिष्कृत रेशा (%)	कार्बोहाइड्रेट (%)
पंजाब देसी	93.20	4.70	14.40	17.60	21.70	34.80
पंजाब अमेरिकन (4-एफ.)†	93.30	4.60	17.50	20.70	21.00	29.50
कम्बोडिया	91.39	4.28	19.19	17.11	23.61	27.33
नार्वेन्त	91.48	3.66	19.12	19.81	22.14	26.75
वेस्टर्न्त	91.40	3.84	19.78	17.49	16.75	33.54
तिसेवेल्नी	91.23	3.41	17.81	17.40	22.84	29.78
उष्म	91.57	3.62	16.29	16.96	24.37	30.32

*Cottonseed & its Products, Coun. sci. industr. Res., India, 1954, 9. †Lander, appx I.

संघटन तथा पोषण मान निम्नांकित हैं (औसत मान शुष्क पदार्थ के आधार पर): प्रोटीन, 18.02; ईथर निष्कर्ष, 20.60; नाइट्रोजन रहित निष्कर्ष, 30.98; रेशा, 25.74; तथा राख, 4.66%। पचनीयता गुणांक: प्रोटीन, 69; ईथर निष्कर्ष, 90; रेशा, 63; नाइट्रोजन रहित निष्कर्ष, 59. पचनीय पोषण: प्रोटीन, 12.49; कार्वाहाइड्रेट, 34.65; ईथर निष्कर्ष, 18.50; कुल, 1.1 किग्रा./100 लीटर. पोषक अनुपात: 6.1. अमेरिकी किस्मों से प्राप्त रोएँदार बीजों को पशुओं के खिलाने में कुरखि दिखाई जाती है। डेरी-पशुओं पर परीक्षणों से यह पता चला है कि पशुओं को रोएँदार बीज अधिक दिनों तक खिलाते रहने पर भी उनके स्वस्थ तथा दुग्ध-प्राप्ति पर कोई हानिकर प्रभाव नहीं पड़ता (Yegna Narayan Aiyer, 1950, 81; Sen, *Misc. Bull. Indian Coun. agric. Res.*, No. 25, 1952, 20, 25, 29; Lander & Dharmani, *Mem. Dep. Agric. India Chem.*, 1929, 10, 181; *Indian J. vet. Sci.*, 1935, 5, 343; 1945, 15, 22)।

विनीला शामक, मृदु विरेचक, कफोत्सारक तथा स्तन्यवर्धक होता है। सिर की पीड़ा एवं मस्तिष्क विकारों में इसका प्रयोग तन्त्रिका टानिक के रूप में किया जाता है। विनीले के क्वाथ को अतिसार तथा आंतरायिक ज्वर में दिया जाता है (Kirt. & Basu, I, 345-348)।

संग्रह—यदि विनीलों में 10-11% से अधिक नमी रहती है तो संग्रह की अवधि में विनीले खराब हो जाते हैं। एंजाइमों की क्रिया से उत्पन्न गर्मी संग्रहीत माल में से रोओं के रोधक प्रभाव के कारण जल्दी से निकल नहीं पाती अतः जब तक ताप को बढ़ने से रोकने के लिए पर्याप्त सावधानी नहीं बरती जाती विनीले में प्राप्य ग्लिसराइडों का अपघटन हो जाता है और मुक्त वसा-अम्ल एकत्र होने लगते हैं। संग्रह से विनीलों के विलेय वर्णक पदार्थों तथा तेल की मात्रा बढ़ने लगती है जिससे तेल का शोधन और विरंजन कठिन हो जाता है। तेल निकालने के बाद बची खली भी घटिया किस्म की होती है। संग्रह की अवधि में बीजों की जीवन-क्षमता में ह्रास होता है। ताप बढ़ने से स्वतः-दहन की सम्भावना भी बढ़ जाती है। संग्रह से पूर्व विनीले में से ढोंडे, गाँठें तथा डंठलों को निकाल लेना चाहिये तथा 10% नमी तक सुखा भी लेना चाहिये। विनीले संग्रह-गृहों में ठीक से वायु का आवागमन होना चाहिये या फिर उनमें वायु संचार की व्यवस्था होनी चाहिये। 4.5 किग्रा. प्रति टन के हिसाब से विनीलों पर संग्रह के पूर्व प्रोपिलीन-ग्लाइकोल डाइप्रोप्रियोनेट तथा विस-क्लोरोमेथिलीन के मिश्रण का छिड़काव करने से ताप नहीं बढ़ पाता है। नक्कनील एन आर (सोडियम ऐल्किल ऐरिल सल्फोनेट) के उपचार से भी संतोषजनक फल प्राप्त हुए हैं (Bailey, 1948, 576-587; *Chem. Engng News*, 1949, 27, 99)।

विनीले का तेल—चर्खी से प्राप्त व्यापारिक विनीले में औसतन अपरिष्कृत तेल, 15.95; खली, 45.35; छिलके, 25.40; तथा रुई, 8.0% होती है। इससे 5.3% छीजन होता है। भारत में प्राप्य विनीले में केवल 5% का तेल निकाला जाता है। तेल का वार्षिक उत्पादन अनुमानतः 7,000 टन है। मिला में घानियों और द्रवचालित प्रेसों से लगभग 12-13% तेल मिलता है। तेल की अधिकांश मिलें मध्य प्रदेश, महाराष्ट्र, आन्ध्र प्रदेश तथा गुजरात में स्थित हैं और उनमें से जो बड़े कारखाने हैं वे आधुनिक संसाधन मशीनों से युक्त हैं। देहाती क्षेत्रों में विनीले को बिना रुई अथवा छिलका निकाले हुए घानी में पेरा जाता है। इस प्रकार से प्राप्त तेल घटिया किस्म का होता है। पेरे गये विनीले की मात्रा सम्बंधी अथवा संसाधन सम्बंधी सूचनायें प्राप्त नहीं हैं [Nanjundayya, *Indian Cott. Gr. Rev.*, 1952, 6, 111; Murti, *Oils & Oilseeds J.*, 1952-53, 5(1), 11;

Bailey, 1948, 67; *Cottonseed & its Products*, Coun. sci. industr. Res., India, 1954]।

संयुक्त राज्य अमेरिका में तेल के लिए कपास का जैसा संसाधन होता है उसमें निम्नलिखित चरण होते हैं: बीजों को साफ करना, रुई हटाना, छिलकों से गिरी अलग करना, गिरी को भूतना तथा द्रवचालित या अन्य दावकों के द्वारा तेल निकालना। विलायक निष्कर्षण तथा निष्पीडक एवं विलायक संयुक्त निष्कर्षण जैसे प्रक्रम भी विकसित किये गये हैं। विलायक निष्कर्षण के बिना, बीजों से प्राप्त तेल की औसत उपलब्धि 15% बताई गई है, विलायकों के प्रयोग से अधिक उपलब्धि हो सकती है (Kirk & Othmer, IV, 582-585)।

तेल मिला में प्राप्त अपरिष्कृत तेल, कहरूवा से लेकर गहरे लाल अथवा काले रंग का होता है और इसमें एक लाक्षणिक गंध होती है। अपरिष्कृत तेल के स्थिरांक इस प्रकार हैं: आ. घ.¹⁵⁻⁵⁵, 0.916-0.930; साबु. मान, 192-200; आयो. मान, 100-115; असाबु. पदार्थ, 0.6-2.0%। तेल में उपस्थित कम महत्वपूर्ण अवयवों में मुक्त वसा-अम्ल (0.3-5.6%), गाँसीपॉल (0.05%), रैफिनोस, पेण्टोस, रेजिन, मोम, प्रोटिओस, पेप्टोन, फॉस्फोलिपिन, इनोसाइट फॉस्फेट, फाइटोस्टेरोल, फाइटोस्टेरोलीन, जैन्थोफिल, क्लोरोफिल तथा श्लेष्मी-पदार्थ मुख्य हैं [Jamieson, 218; Eckey, 657; Desikan & Murti, *Oils & Oilseeds J.*, 1953-54, 6 (9), 12]।

अपरिष्कृत तेल को पंप द्वारा टंकियों में भरा जाता है और इसे तब तक के लिये स्थिर रहने दिया जाता है जब तक कि खली बैठ न जाय। तेल को खली के साथ अधिक देर तक रखे रहने से यह खराब हो जाता है। अतः स्वच्छ तेल को शीघ्र ही निर्यमित करके साफ सुथरी टंकियों में भर दिया जाता है। तेल को खाने लायक बनाने के लिए अपरिष्कृत तेल में उपस्थित मुक्त वसा-अम्लों को 45° पर कास्टिक सोडा के तनु विलयन से उदासीन करते हैं। फलस्वरूप बना हुआ साबुन संग्रह अथवा खली नीचे बैठ जाती है और अपने साथ रंजक पदार्थ का एक अंश तथा यदि निलम्बित अशुद्धियाँ हुईं तो उन्हें भी अपने साथ बैठा लेती है। स्वच्छ तेल को अलग करके इसे मुलतानी-मिट्टी तथा सक्रियत कार्बन अथवा चारकोल से विरंजित करते हैं, निर्यमित करते हैं और न्यूनीकृत दाव पर आसवित करके इसमें उपस्थित गंधयुक्त पदार्थ निकाल देते हैं। तेल को परिष्कृत करने पर औसत हानि 6% होती है (Jamieson, 205)।

विनीले का परिष्कृत तेल हल्के पीले रंग का होता है जिसमें हल्का सुगन्धित मधुर स्वाद होता है। यह लगभग गन्धहीन होता है। तेल के लक्षण इस प्रकार हैं: आ. घ.¹⁵, 0.915-0.926; आ. घ.²⁵, 0.9168-0.9181; n_D^{20} , 1.4668-1.4720; n_D^{40} , 1.4643-1.4679; साबु. मान, 191-198; आयो. मान, 103-115; थायोसायनोजन मान, 61-65; अनुमाप, 32-38°; असाबु. पदार्थ, 0.7-1.5%; संतृप्त अम्ल, 21-25%; तथा असंतृप्त अम्ल, 69-74%। परिष्कृत तेल में ग्लिसराइडों के अतिरिक्त, फॉस्फोलिपिन, फाइटोस्टेरोल तथा वर्णकों की भी कुछ मात्रा होती है (Jamieson, 218-220)।

एल्कीहल (विलायक के रूप में) द्वारा विनीलों को निष्कर्षित करने पर जो तेल प्राप्त होता है उसके लक्षण हैं: n_D^{20} , 1.4700; साबु. मान, 199.7; आयो. मान, 112.1; तथा मुक्त वसा-अम्ल, 0.4% (Satyan & Rao, *Bull. Cent. Fd technol. Res. Inst., Mysore*, 1953, 2, 305)।

भारतीय विनीलों के तेल में विभिन्न कार्यकर्ताओं ने निम्नलिखित रंजक वसा-अम्लों की सूचना दी है: मिरिस्टिक, 1.4-3.3; पामि-टिक, 19.9-23.4; स्टीरैरिक, 1.1-2.7; ऐराकिडिक, 0.6-1.3;

ओलीक, 22.9–29.6; तथा लिनोलीक, 45.3–50.4%। इसमें उपस्थित ग्लिसराइड हैं: पामिटोओलियोलिनोलीन, 35–40; पामिटोडाइओलीन, 20; त्रिअसंतुप्त (मुख्यतः ओलियो-डाइलिनोलीन), 28; तथा ओलियो अथवा लिनोलीयो द्विसंतुप्त, 12–13%। असाबुनीकरणीय प्रभाज में बीटा-साइटोस्टेरोल तथा अर्गोस्टेरोल होते हैं। प्रभाजी आणविक आसवन से प्राप्त सान्द्र में विटामिन ई की स्पष्ट सक्रियता देखी जाती है। परिष्कृत तेल में 0.09% टोकोफेरोल (α -, γ - तथा δ -टोकोफेरोल) रहते हैं (Hilditch, 1947, 173, 276; Guthrie *et al.*, loc. cit.).

विनौलों में लेसिथिन (29%) तथा सिफैलिन (71%) नामक फॉस्फैटाइड पाये जाते हैं। सम्पूर्ण फॉस्फैटाइडों के रचक वसा-अम्ल हैं: पामिटिक, 17.3; स्टीऐरिक, 7.3; ऐराकिडिक, 2.8; हेक्सा-डेसेनोइक, 1.5; ओलीक, 20.3; लिनोलीक, 44.4; तथा असंतुप्त C_{20-22} , 6.4% (Wittcoff, 228).

विनौले का तेल अर्ध सूखने वाले तेलों के वर्ग में आता है। जब तेल को अधिक ठंडा किया जाता है तो एक तलछट अलग हो जाती है: ओलीन अथवा द्रव ग्लिसराइडों को ठंडे कमरे में छानकर एकत्र कर सकते हैं। ठोस भाग अथवा स्टीऐरिन (ग. बि., 42–52°; आयो. मान, 90–103) का उपयोग लाई के प्रतिस्थापकों को व्यापारिक स्तर पर तैयार करने में किया जाता है। ठंडा किया हुआ तेल सलाद तेल के रूप में प्रयुक्त किया जाता है (Jamieson, 213–216).

अपरिष्कृत तेल को उसकी अम्लता, परिष्करण में सम्भावित हानि तथा स्वाद के आधार पर श्रेणित किया जाता है। परिष्कृत तेल को रंग, गंध तथा स्वाद के अनुसार श्रेणित किया जाता है। अमेरिकी बाजारों में अपरिष्कृत तेल की आठ श्रेणियाँ तथा परिष्कृत तेल की नौ श्रेणियाँ मान्य हैं। अच्छे बल्कुट रहित बीजों को दबाकर प्राप्त किया गया प्राइम क्रूड कॉटनसीड आयल, स्वाद तथा गंध में मीठा होता है और उसमें पानी तथा अवसाद नहीं रहता। परिष्कृत करने पर यह प्राइम समर येलो ऑयल देता है। परिष्कृत (खाद्य) तेल के लिए भारतीय ऐगमार्क विनिर्देश निम्नांकित हैं: आ. घ. 100 , 0.910–0.920; n^{20}_D , 1.4645–1.4660; साबु. मान, 190–193; आयो. मान (विज), 105–112; अम्ल मान, 0.5; तथा असाबु. पदार्थ अधिकतम, 1.5% [Jamieson, 222; *Oils & Oilseeds J.*, 1953–54, 6 (11), 18].

विनौले के तेल का प्रमुख उपयोग खाने के लिए किया जाता है। निम्न कोटि का तेल साबुन, स्नेहक, सल्फोनीकृत तेल तथा रक्षक लेपों के बनाने में प्रयुक्त होता है। संयुक्त राज्य अमेरिका में संसाधित तेल का मुख्य भाग (लगभग 72%) लाई के प्रतिस्थापकों को तैयार करने में; लगभग 11% खाना पकाने तथा सलाद तेलों के रूप में; 7% मार्गरीन के लिए; तथा शेष भाग, जिसको परिष्कृत नहीं किया जा सकता, साबुन बनाने में काम आता है। परिष्कृत तेल को वनस्पति घी बनाने के लिए हाइड्रोजनीकृत किया जाता है (ग. बि., 35–43°; आयो. मान, 60–75%) (Jamieson, 222; Bailey, 1948, 822).

तेल में वेदनाहारी गुण होता है और इसे लेप बनाने में प्रयुक्त करते हैं। यह कई भेषजीय मिश्रणों के बनाने में जैतून के तेल के स्थान पर प्रयुक्त किया जाता है। कभी-कभी यह बड़ी मात्रा में विरेचक के रूप में लिया जाता है (U.S.D., 336; B.P.C., 587).

विनौले के तेल के परिष्करण के समय उपजात के रूप में प्राप्त साबुन संग्रह अथवा गाद (तलछट) का अधिकतर भाग साबुन बनाने के काम लाया जाता है। बचे हुये भाग से साबुन बनाने में प्रयुक्त होने

वाले वसा-अम्ल तथा ऐल्किड रेजिन इत्यादि तैयार किये जाते हैं। वसा-अम्लों को पृथक् करने के बाद बचे हुए पिच में जल-सह गुणधर्म आ जाता है और इसका उपयोग विशेष पेन्ट, वार्निश, छत बनाने के सामान तथा विद्युत-रोधन संघटनों के बनाने में होता है। गाद के ताप अपघटन से अपरिष्कृत तेल (उपलब्ध, 21%; कैलोरी मान, 17,400 ब्रि. थ. इ.) प्राप्त होता है जिसके प्रभाजी आसवन से गैसोलीन (31–35%) तथा केरोसीन (43–50%) प्राप्त होते हैं (Bailey, 1948, 822–825; Bhushan *et al.*, *J. sci. industr. Res.*, 1953, 12B, 38, 39).

अन्य तेलों के साथ मिला रहने पर विनौले के तेल को हैल्फेन रंग परीक्षण द्वारा पहचाना जा सकता है। परीक्षण इस प्रकार किया जाता है: 1–3 मिली. तेल को ऐमिल ऐल्कोहल के समान आयतन में विलयित करते हैं। इसमें कार्बन डाइसल्फाइड में गंधक-पुष्प का 1–3 मिली. 1% विलयन मिलाते हैं और इस मिश्रण को उबलते हुए लवण जल में दो घंटे तक गर्म करते हैं। यदि लाल रंग आवे तो विनौले के तेल की उपस्थिति सूचित होती है। गर्म करने से पहले अभिक्रिया पात्र को वायुमुक्त कर देने से अच्छे परिणाम प्राप्त होते हैं। हाइड्रोजनीकृत तेल पर यह परीक्षण लागू नहीं होता (Jamieson, 223; Thorpe, III, 413).

विनौलों की खली – विनौलों की खली प्रोटीन सान्द्रण के रूप में पशुओं के खिलाने के लिए उत्तम मानी गई है। दो प्रकार की खलियाँ प्राप्त हैं: एक तो बल्कुट रहित बीजों से तथा दूसरी बल्कुट युक्त बीजों से। खलियों के रासायनिक संघटन तथा पोषण मान निम्नांकित हैं: बल्कुट रहित बीजों की खली – शुष्क पदार्थ, 44.3; प्रोटीन, 36.3; वसा, 8.7; नाइट्रोजन रहित निष्कर्ष, 35.7; अपरिष्कृत रेशा, 5.9; खनिज पदार्थ, 7.7; कैल्सियम (CaO), 0.3; फॉस्फोरस (P_2O_5), 1.40; पोटैशियम (K_2O), 1.63; पचनीय प्रोटीन, 29.1; तथा सम्पूर्ण पचनीय पोषक, 63.8%; पोषक अनुपात, 1.1. बल्कुट सहित बीजों की खली – शुष्क पदार्थ, 92.5; प्रोटीन, 21.1; वसा, 8.5; नाइट्रोजन रहित निष्कर्ष, 34.6; कच्चा रेशा, 22.3; खनिज पदार्थ, 6.0; कैल्सियम (CaO), 0.25; फॉस्फोरस (P_2O_5), 1.20; पोटैशियम (K_2O), 1.50; पचनीय प्रोटीन, 18.0; तथा सम्पूर्ण पचनीय पोषक, 72.5%; पोषक अनुपात, 3.1. दोनों प्रकार की खलियाँ घास अथवा चारे के साथ गायों को खिलाई जा सकती हैं। अधिक तंतु होने के कारण, छोटे पशुओं को बल्कुट रहित खली नहीं खिलाई जाती (Yegna Narayan Aiyer, 1950, 82; Lander, 181, appx I).

सारणी 37 में विनौला, विनौलों की खली, सरसों की खली (ब्रैसिका कैम्पेस्ट्रिस से) तथा तोरिया की खली (ब्रैसिका नैपस से) के तुलनात्मक पोषण मान दिये गये हैं। खिलाने के परीक्षणों से पता चला है कि विनौलों में उपस्थित पोषकों का उपयोग, विनौलों की अपेक्षा, विनौलों की खली खिलाने पर ज्यादा अच्छी तरह होता है। यह देखा गया है कि विनौलों तथा खली में तन्तुओं तथा वसा की पचनीयता वसा की मात्रा से सम्बंधित है। वसा की मात्रा कम होने पर, वसा की पचनीयता लगातार बढ़ती जाती है किन्तु रेशों की पचनीयता में अनियमित वृद्धि होती है। अधिकतम उपयोगिता की दृष्टि से विनौलों तथा खली में अधिक से अधिक 8% वसा होना चाहिये (Lander & Dharmani, *Mem. Dep. Agric. India, Chem.*, 1929, 10, 18; *Indian J. vet. Sci.*, 1937, 7, 225).

प्रयोगों द्वारा प्रदर्शित हुआ है कि विनौलों अथवा खली तथा हरा चारा खाने वाले डेरी-पशुओं के दूध के मक्खन में एक-सा रहने वाला

सारणी 37 — विनीला, विनीलों की खली तथा अन्य खलियों के पोषण मान*

	प्रोटीन (%)	पचनीय प्रोटीन (%)	सम्पूर्ण पचनीय पोषक (%)	पोषण अनुपात
विनीले				
पंजाब देशी	14.4	8.0	73.0	8.6
पंजाब अमेरिकी (4-एफ.)	17.5	10.5	70.6	5.3
खलियाँ				
बल्कुट सहित (विनीले 4-एफ.)	21.1	18.0	72.5	3.1
बल्कुट रहित (विनीले 4-एफ.)	36.3	29.1	63.8	1.1
सरसों	29.6	26.9	81.6	2.3
तोरिया	35.0	30.1	74.0	1.5

* Lander, appx I.

गाढ़ापन पाया जाता है और रखे रहने पर उसमें खराबी नहीं आती। इस मक्खन से बने घी का आयोडीन मान तथा वी. आर. मान अधिक और आर. एम. तथा पोलेंस्के मान न्यून होते हैं। ऑक्सीकरण द्वारा खराब होने की संभावना कम होती है। जब डेरी-पशुओं को विनीला अथवा खली अधिक मात्रा में खिलाई जाती है तो प्राप्त मक्खन में कड़े होने की अवांछनीय प्रवृत्ति पाई जाती है (Bailey, 1948, 834; Patel & Ray, *Indian J. Dairy Sci.*, 1949, 2, 30, 146)।

खिलाने पर विनीले की खली में उपस्थित गॉसीपॉल कुछ पशुओं में विपैला प्रभाव उत्पन्न करता है। गायों तथा भैसों पर इसका प्रभाव नहीं पड़ता। कभी-कभी विनीले अथवा खली खाने वाली गायों तथा भैसों में जो बुरा प्रभाव देखा जाता है वह गॉसीपॉल के कारण न होकर खिलाने में असंतुलन के कारण होता है। गॉसीपॉल का प्रभाव विशेषकर सुघरों, भेड़ों तथा घोड़ों पर पड़ता है। ऐसा बताया गया है कि मुक्त गॉसीपॉल के कारण विनीलों की पचनीयता पर निरोधी प्रभाव उत्पन्न होता है। 1% गॉसीपॉल से युक्त विनीलों के ग्लोबुलिन तथा गॉसीपॉल से मुक्त विनीलों के ग्लोबुलिन की पात्रे पचनीयता में 85:100 का अनुपात होता है। नमी की उपस्थिति में यदि गॉसीपॉल गर्म किया जाय तो यह नष्ट अथवा अक्रिय हो जाता है। व्यापारिक विनीले की खली तथा चूर्ण जिन्हें तेल निकालते समय गर्म किया जाता है, विपैले नहीं होते। गॉसीपॉल का निष्क्रियण सम्भवतः कुछ ऐमीनो अम्लों के साथ संयोग करके, बद्ध गॉसीपॉल बनाने अथवा d-गॉसीपॉल बनाने के कारण होता है और यह अपचनीय होता है। विनीले की खली को यदि भाप में, आटोक्लेव में उपचारित किया जाय अथवा जल के साथ पकाया जाय तो वह अहानिकर बन जाती है (Morrison, 363; Bailey, 1948, 830; Jones & Waterman, *J. biol. Chem.*, 1923, 56, 501)।

विनीले का आटा — विशेष प्रकार से संसाधित खली से प्राप्त विनीले का आटा भोजन की तरह इस्तेमाल होता है। यह आटा हल्के रंग का मन्द रुचिकर स्वादयुक्त होता है। व्यापारिक आटे के एक नमूने का विश्लेषण करने पर निम्नांकित मान प्राप्त हुए हैं: आर्द्रता, 6.3; प्रोटीन, 57.5; वसा, 6.5; रेशा, 2.1; नाइट्रोजन रहित निष्कर्ष, 21.4; राख, 6.2; कैल्सियम, 0.20; फॉस्फोरस, 1.26; तथा लोहा, 0.01%; थायमिन, 10.4γ; राइबोफ्लेविन, 10.2γ;

नायसिन, 84γ; तथा पेण्टोथेनिक अम्ल, 25.5γ/ग्रा. (γ=माग्रा.) आटा प्रोटीन-न्यून अम्लों के आटों के लिए बहुमूल्य पूरक है। खोड़ी मात्रा में लेने पर यह आटा मनुष्यों के लिए विपैला नहीं होता। अमेरिका में बैकरी-उत्पादों में विनीले के आटे का प्रयोग निरन्तर बढ़ रहा है। इसका स्वाद-गंध बदलता नहीं और आक्सीकरण द्वारा इसमें विकृति-गंधिता उत्पन्न होने की सम्भावना नहीं होती। इसमें खनिज तथा वी समूह के विटामिन प्रचुर मात्रा में पाये जाते हैं और यह बैकरी-उत्पादों को कोमल तथा करारा बनाता है (Bailey, 1948, 869-871; Jacobs, I, 212)।

ऊष्मा-संसाधित आटा, जिसमें गहरा लाल-भूरा रंग होता है, बैकरी-उत्पादों तथा मिठाइयों आदि में कोको के प्रतिस्थापक के रूप में तथा संश्लिष्ट सिनामोन के आधार के रूप में प्रयोग किया गया है। विनीले का दूध (आ. घ., 1.02; आर्द्रता, 88.04; प्रोटीन, 4.42; वसा, 4.98; कार्बोहाइड्रेट, 1.71; तथा राख, 0.85%)। विनीलों को पानी में भिगोकर, पीसकर पानी के साथ पायसीकृत करके बनाया जाता है। इसका संघटन गाय के दूध के समान है (Bailey, 1948, 871; Vardarajan, *Madras agric. J.*, 1954, 41, 35)।

विनीले को आसंजकों तथा रेशों के व्यापारिक निर्माण में प्रोटीन के स्रोत के रूप में प्रयुक्त किया जाता है। विनीले की खली, कैसीन, सोयाबीन के आटे तथा संश्लेषित रेजिन से मिलाकर बनाया गया प्लास्टिक का सरेस जल-प्रतिरोधी तथा अनपघर्षी होता है। फीनॉल रेजिन, विनीले के छिलके तथा विनीले के आटे को बराबर-बराबर हिस्से मिलाकर तैयार किये गये प्लास्टिकों में उत्तम प्रवाह गुण, पकाने में कम समय, अच्छा जल-प्रतिरोध तथा अच्छी शक्ति होती है। विनीले के आटे से आग बुझाने के द्रव बनाये गये हैं। विनीले का आटा रेफिनोस (उपलब्धि, 2-4%) का सबसे सस्ता और सुगम स्रोत है। कुछ निम्न कोटि की विनीले की खली खाद के रूप में प्रयुक्त की जाती है; बल्कुट सहित बीजों से प्राप्त खली में नाइट्रोजन, 3.8; फॉस्फोरस (P_2O_5), 2.1; तथा पोटेश (K_2O), 1.5% रहते हैं [Arthur & Karan, *Yearb. Agric. U.S. Dep. Agric.*, 1950-51, 619; Hogan & Arthur, *J. Amer. Oil Chem. Soc.*, 1951, 28(1), 20; Khan, *Oils & Oilseeds J.*, 1952-53, 5(3), 6; Bailey, 1948, 871-872]।

गॉसीपॉल — विलायक निष्कर्षण द्वारा विनीलों को संसाधित करने से प्रति टन 4.5-6.75 किग्रा. गॉसीपॉल प्राप्त होता है। वे उत्पाद जो खाद्य रूप में प्रयुक्त नहीं होते हैं उनके लिए प्रतिआक्सीकारक के रूप में तथा रेशम और ऊन की रंगाई में गॉसीपॉल का प्रयोग किया जा सकता है। प्रतिरोधियों तथा प्लास्टिकों में इसका उपयोग होता है [Chemurg. Dig., 1948, 7(11), 9; Bailey, 1948, 215]।

छिलका — विनीले का छिलका पशुओं को मोटे चारे के रूप में खिलाया जाता है। उसमें आर्द्रता (औसत मान), 4.5; अपरिष्कृत प्रोटीन, 3.9; ईथर निष्कर्ष, 2.08; नाइट्रोजन रहित निष्कर्ष, 43.40; अपरिष्कृत रेशा, 42.20; राख, 3.4; कैल्सियम (CaO), 0.25; फॉस्फोरस (P_2O_5), 0.22; पचनीय प्रोटीन, 0.0-0.38; तथा सम्पूर्ण पचनीय पोषक, 48.68% होते हैं। पशु छिलके को रुचि से खाते हैं। पोषण की दृष्टि से इसकी तुलना गेहूँ के भूसे से की जा सकती है (Hussain et al., *J. agric. Sci.*, 1951, 41, 379)।

छिलके का उपयोग, संस्तरण, खाद तथा ईंधन के लिए किया जा सकता है। इनका उपयोग प्लास्टिकों के लिए पूरक के रूप में, सक्रिय कार्बन के औद्योगिक निर्माण में और जाइलीस तथा फरफ्यूरल (फरफ्यूरल की मात्रा, 18.6%) के स्रोत के रूप में किया जाता है।

सारणी 38 — भारत में विनौलों का अनुमानित उत्पादन*
(हजार टन)

1950-51 1951-52 1952-53 1953-54 1954-55

बम्बई	257	190	239	382	444
मध्य प्रदेश	178	271	220	237	232
तमिलनाडु	153	174	115	93	95
आन्ध्र	104	174	108	141	133
मध्य भारत	81	69	90	113	116
पंजाब	71	87	98	130	154
सौराष्ट्र	64	30	56	71	88
पूर्वी पंजाब	57	48	59	64	80
राजस्थान	43	29	33	40	42
मैसूर	23	46	7	43	49
अन्य	31	33	43	74	71
योग	1,062	1,151	1,068	1,388	1,504

* *Cotton in India*, 1951-52, 14; 1952-53, 7; *Agric. Situat. India*, 1955-56, 10, 282.

छिलके में टैनिन (7%) रहता है। इनके भंजक आसवन से एक गाढ़ा भूरा कोलतार प्राप्त होता है जो मिट्टी के तेल में मिश्र है। यह मच्छरों के लारवा नष्ट करने के लिये भी उपयोग में लाया जाता है (Bailey, 1948, 880-890, 480; Dunlop & Peters, 283; Andrews, 459; *Chem. Abstr.*, 1947, 41, 3249).

उत्पादन तथा व्यापार — भारत में विनौलों के उत्पादन से सम्बंधित आंकड़े प्राप्य नहीं हैं। विनौलों तथा रई के अनुपात को 2:1 मानते हुये यह अनुमान लगाया जाता है कि भारत में 10 लाख टन से अधिक विनौला उत्पन्न होता है (सारणी 38)। इसमें से लगभग 50,000 टन तेल निकालने तथा शेष को गायों तथा भैंसों को खिलाने के काम में लाया जाता है (*Cottonseed & its Products*, Coun. sci. industr. Res., India, 1954).

विनौलों पर के छोटे रेशे — विनौलों पर स्थित सभी रेशे (लिटर्स) ओटनी से अलग नहीं हो पाते। सामान्यतः एशिया तथा अमेरिका की अधिकतर कपासों में लगभग 6 मिमी. लम्बे पतले रेशे बीजावरण के चारों ओर लगे रहते हैं। बीजों से ये रेशे विशेष प्रकार की कपास ओटनियों से अथवा अम्लों द्वारा निष्कर्षण से निकाले जा सकते हैं। भारतीय कपासों में ऐसे रेशों की मात्रा 1.1 से 17.9% तक होती है; गॉ. हिंसुटम प्ररूपों में इनकी प्रतिशतता अधिक होती है। अमेरिका में ऐसे प्ररूप ज्ञात हैं जिनमें भार की दृष्टि से 20% तक अवशिष्ट रेशे होते हैं। ये रेशे साधारणतः मोटे तथा मोटी भित्ति वाले होते हैं और इनका रंग हरे से लेकर पीला वादामी अथवा घूसर होता है। रंगों में इस परिवर्तन का कारण कर्तन की निकटता, बीजावरण, घूल तथा अन्य बाहरी पदार्थों की उपस्थिति होती है [Desikan & Murti, *Oils & Oilseeds J.*, 1953-54, 6(10), 11; Matthews, 167; Brown, H. B., 516; Bailey, 1948, 130].

अमेरिका में ऐसे अवशिष्ट रेशे विनौला तेल व्यापार के महत्वपूर्ण उपजात हैं। ये दो बार में काटे जाते हैं, पहली कटाई में लगभग 25% और दूसरी कटाई में शेष 75% विलग हो जाते हैं। पहली कटाई से प्राप्त रेशे उच्च कोटि के होते हैं और इनका उपयोग औद्योगिक रई, डोरे,

वस्त्रियाँ तथा कालीन आदि के बनाने में होता है। दूसरी कटाई में प्राप्त रेशे मुख्यतः रासायनिक उद्योगों में जैसे रेयन, प्लास्टिक लेकर, फोटोग्राफी की फिल्मों तथा सेल्युलोज विस्फोटक बनाने के काम में लाये जाते हैं। एक बीज की कोटि, जिसे 'मिल रन' लिटर्स कहते हैं, बीजों को विशेष प्रकार की कपास ओटनियों में से दो बार के बजाय एक ही बार में निकालने से प्राप्त होते हैं। इनका उपयोग तोशक, तकिये तथा गद्दियाँ भरने तथा नमदे तैयार करने में होता है (Bailey, 1948, 894-897; Andrews, 445, 460).

फुटकर उत्पाद

समय-समय पर कपास के पौधों के डण्ठलों, पत्तियों तथा फूलों को उपयोग में लाने के प्रयत्न किये गये हैं क्योंकि ये कपास वाले क्षेत्रों में प्रचुर मात्रा में पाये जाते हैं:

डण्ठल — ढोंडें चुन लेने के बाद, खेत में खड़े हुए ठूठों को गायें, भैंसें तथा भेड़ें चरती हैं। ऐसे खेतों में जहाँ ढोंडा कृमि तथा तने का घुन लगने की सम्भावना होती है, ठूठों को ढोंडे चुनने के तुरन्त बाद काट देते हैं क्योंकि इनसे अगली फसलों में नाशकजीव पहुँच सकते हैं। ठूठों को ढंग से हटाने के लिए पेड़ों को उखाड़ने वाले औजार प्रयोग करने चाहिये। डण्ठलों को बहुधा ईंधन के रूप में प्रयोग किया जाता है। उनको कुचलकर अथवा तोड़कर सड़ाया और खाद के रूप में इस्तेमाल किया जा सकता है। कपास के डण्ठलों से बनाई गई खाद के विश्लेषण से (शुष्क पदार्थ के आधार पर) नाइट्रोजन, 1.64; तथा फॉस्फोरस (P_2O_5), 0.57% मिले (Yegna Narayan Aiyer, 338; Deshpande & Nadkarny, *Sci. Monogr. Coun. agric. Res. India*, No. 10, 1936, 100; Sane, *Indian Fmg.*, 1943, 4, 602; Howard & Wad, 79; *Indian Fmg.*, 1940, 1, 235, 335).

कास्टिक सोडा विधि द्वारा कपास के डण्ठलों से कागज की लुगदी बनाने के प्रयास हुये हैं। कच्चे माल के भार के अनुसार 35 से 40% तक लुगदी बनती है। लुगदी को श्वेत-पीत रंग में विरंजित किया जा सकता है। सवाई (यूलेलिओप्सिस बिनाटा) अथवा अन्य घासों की अपेक्षा, इससे लुगदी बनाने में, कास्टिक सोडा की बहुत अधिक मात्रा लगती है। उदासीन सल्फाइड विधि से तैयार गेहूँ के भूसे की लुगदी से इसकी लुगदी कम अच्छी होती है। कपास के डण्ठलों से व्यापारिक लुगदी बनाई जाय. या नहीं वह इनके इकट्ठे करने तथा उन्हें संसाधित करने की सस्ती विधियों के विकास पर निर्भर करेगा (*Bull. imp. Inst.*, Lond., 1921, 19, 13; *Chem. Abstr.*, 1951, 45, 4924).

कपास के डण्ठलों से वास्ट-रेशा निकालने के प्रयास हुए हैं। जूट अथवा सनई से रेशे निकालने जैसी विधियों के प्रयोग से ऐसा रेशा प्राप्त होता है जो रंग तथा स्पर्श में जूट जैसा होता है और इसे घटिया जूट के साथ मिलाकर बोरे बनाये जाते हैं। छोटे रेशे घर के सजाने की वस्तुओं, अथवा कागज बनाने में काम आ सकते हैं। अमेरिका में की गई जाँचों से पता चला है कि बल्लुट विलग करने वाली मशीनों से 5 टन डण्ठलों से 1 टन छाल मिलती है जिससे 675 किग्रा. रेशा निकलता है। इससे कपास की गाँठें बाँधने के लिए बोरे बनाये जा सकते हैं (Kumar & Mensinkai, *J. sci. industr. Res.*, 1953, 12A, 194; *Bull. imp. Inst.*, Lond., 1921, 19, 13).

कपास के डण्ठलों के शुष्क आसवन द्वारा, चारकोल, पाइरोलिग्निवस अम्ल तथा अन्य उत्पाद बनाने का सुझाव दिया गया है। प्रारम्भिक

परीक्षणों में जितनी उपलब्धि (डण्डलों के आधार) मिली वह इस प्रकार है: चारकोल, 35.4; अपरिष्कृत पाइरोलिमिनस अम्ल (जिसमें ऐसीटिक अम्ल, 3.0; विलेय तारकोल, 2.6; तथा अपरिष्कृत नेफ्था, 1.5% है), 41.1; तथा तारकोल (जिसमें 0.4% ऐसीटिक अम्ल रहता है), 7.6%; तारकोल की सम्पूर्ण उपलब्धि, 10.2%; तथा ऐसीटिक अम्ल की सम्पूर्ण उपलब्धि, 3.4%। तारकोल का उपयोग लकड़ी को सुरक्षित रखने में किया जा सकता है (Bull. imp. Inst., Lond., 1921, 19, 13).

गॉ. हिर्सुटम के ताजे पौधों के वाष्प-आसवन से प्राप्त वाष्पशील तेल में रुचिकर और स्थायी सुगन्ध होती है। तेल के लक्षण इस प्रकार हैं: आ. घ. 25° , 0.9261; n_D^{20} , 1.4797; तथा $[\alpha]_D^{20}$, -3.9° । तेल में फरफ्यूरल, मेथिल ऐल्कोहल, ऐमिल ऐल्कोहल, ऐसी-टैलिडाइड, वेनिलीन, फीनोल, एक ध्रुवण अघूर्णक द्विचक्रीय सेस्क्वीटर्पीन ($C_{15}H_{24}$), एक ध्रुवण घूर्णक त्रिचक्रीय सेस्क्वीटर्पीन ($C_{15}H_{24}$) एक हाइड्रोकार्बन, एजुलीन, फॉमिक तथा कॅप्रोइक अम्ल, अमोनिया तथा ट्राइमेथिल ऐमीन पाये जाते हैं। सौरमिक अवयवों में से कुछ सम्भवतः ट्राइमेथिल ऐमीन से ढाँडे के घुन आकर्षित होते हैं। कपास की टहनियों, पत्तियों तथा फूलों से अमोनिया तथा ट्राइमेथिल ऐमीन की गन्ध आती है [Finnemore, 507; Krishna & Badhwar, J. sci. industr. Res., 1947, 6(5), suppl. 64].

पत्तियाँ — गायों, भैंसों तथा भेड़ों के चारे के रूप में कपास की पत्तियाँ काम आ सकती हैं। वायु में सुखाई गई पत्तियों के विश्लेषण से आर्द्रता, 6.78; प्रोटीन, 15.58; ईथर निष्कर्ष, 7.44; अपरिष्कृत रेशा, 9.33; नाइट्रोजन रहित निष्कर्ष, 42.78; तथा राख, 17.49% प्राप्त हुई (Collings, 195).

फूल — तमिलनाडु के कुछ भागों में कपास के फूलों की पंखुडियाँ तरकारी की तरह काम में लाई जाती हैं। इनमें आर्द्रता, 84.88; ईथर निष्कर्ष, 0.88; प्रोटीन, 2.17; रेशा, 1.19; नाइट्रोजन रहित निष्कर्ष, 9.15; राख, 1.62; कैल्सियम, 0.06; तथा फॉस्फोरस, 0.05% पाये गये हैं (Rao, Madras agric. J., 1952, 39, 623).

मधु — मक्खियों के लिए कपास का पौधा चारे का काम देता है। कपास के शहद का संघटन इस प्रकार है: आर्द्रता, 15; प्रतीप शर्करा, 79.40 (लिव्यूलोस, 41.8; डेक्ट्रोस, 37.60); स्क्वोस, 1.11; मुक्त अम्ल, 0.19; तथा राख, 0.49% (Vansell, J. econ. Ent., 1944, 37, 528, 530).

विभिन्न प्रकार की कपासों से प्राप्त फूलों में बहुधा ग्लाइकोसाइड के रूप में फ्लैवोनल वर्णक पाये जाते हैं जो रंग बंधित उन को पीला रंग देते हैं। जिन ग्लाइकोसाइडों की पहचान की गई है वे इस प्रकार हैं: गॉसीपिट्रिन (गॉसीपेटिन-7-ग्लाइकोसाइड, $C_{21}H_{20}O_{13}$: ग. वि., $250-52^\circ$); गॉसीपिन [गॉसीपेटिन का एक जटिल 8-ग्लूकोसाइड; $C_{28}H_{24}O_{18}$: ग. वि., 230° (अपघटन)]; हर्वेसिट्रिन (हर्वेसिटिन का 7-ग्लूकोसाइड; $C_{21}H_{20}O_{12}$: ग. वि., $247-49^\circ$); आइसोक्वेसिट्रिन (क्वेसिटिन का 3-ग्लूकोसाइड; $C_{21}H_{20}O_{12} \cdot 2H_2O$: ग. वि., $217-19^\circ$) तथा क्वेसिमेट्रिन (क्वेसिटिन का 7-ग्लूकोसाइड, $C_{21}H_{20}O_{12} \cdot 3H_2O$: ग. वि., $247-48^\circ$). गॉसीपेटिन (3, 5, 7, 8, 3', 4'-हेक्साहाइड्रॉक्सीफ्लैवोन; $C_{15}H_{10}O_6$: ग. वि., $310-14^\circ$); हर्वेसिटिन (3, 5, 7, 8, 4'-पेन्टाहाइड्रॉक्सी फ्लैवोन; $C_{15}H_{10}O_7$: ग. वि., $280-83^\circ$) तथा क्वेसिटिन (3, 5, 7, 3', 4'-पेन्टाहाइड्रॉक्सी फ्लैवोन; $C_{15}H_{10}O_7$: ग. वि., 314°) भी रहते हैं। कम्बोडिया कपास (गॉ. हिर्सुटम) में काफी वर्णक रहते हैं (लगभग 3% शुष्क

भार के अनुसार) (Perkin & Everest, 224-230; McIlroy, 35; Neelakantam et al., Proc. Indian Acad. Sci., 1934-35, 1A, 887; 1935, 2A, 490; Neelakantam & Seshadri, ibid., 1937, 5A, 357; 1936, 4A, 54; Rao & Seshadri, ibid., 1939, 9A, 177, 365).

कपास के पौधे के कई भाग औषधि के रूप में काम में लाए जाते हैं। जड़ की छाल, गॉसिपाई कार्टेक्स गर्भाशय पर तनु अर्गट-जैसी क्रिया दिखाती है और इसका उपयोग कृच्छार्तव में आर्तवजनक के रूप में तथा गर्भ-स्त्रावक के रूप में होता आया है। जड़ में हल्की स्वापक क्रिया होती है और यह जलीय निष्कर्ष अथवा काढ़े के रूप में दी जाती है। जड़ की छाल में हल्की गंध तथा कुछ-कुछ तीक्ष्ण और कषाय स्वाद होता है; रखने पर यह खराब हो जाती है इसलिए ताजी छाल के ही प्रयोग की सिफारिश की जाती है। इसमें लगभग 8% एक पीला अथवा रंगहीन अम्ल रेजिन होता है जो खुला रखने पर ऑक्सिजन अवशोषित कर लेने से चमकीला लाल-भूरा हो जाता है। छाल के ऐल्कोहलीय निष्कर्ष में, ट्राइहाइड्रॉक्सी बेंजोइक अम्ल, सैलिसिलिक अम्ल, फिनोलीय प्रकृति के दो पदार्थ, बोटैडिन, एक वसीय ऐल्कोहल, फाइटोस्टेरॉल, सेरिल ऐल्कोहल, वसा-अम्लों का मिश्रण तथा शर्करायें होती हैं। विटामिन ई की उपस्थिति भी बताई गई है (Kirt. & Basu, I, 343-349; B.P.C., 1934, 489; U.S.D., 335; Youngken, 568).

रंग भ्रम रोग में कपास के फूलों का शर्वत दिया जाता है। फूलों की बनी हुई पुल्टिस जले पर अथवा गर्म द्रव से जले हुए स्थान पर लगाई जाती है। पत्तियों का रस पेचिश में लाभदायक है। गठिया से पीड़ित जोड़ों पर पत्तियाँ तेल के साथ लगाई जाती हैं (Kirt. & Basu, I, 345).

G. mexicanum Tod.; *G. religiosum* Linn.; *G. punctatum* Schum. et Thonn.; *G. purpurascens* Poir.; race *morrilli*, *richmondi*, *palmeri*, *yucatanense*; race *punctatum* J. B. Hutchins.; *G. hirsutum* var. *religiosa* Watt; *G. taitense* Parl.; race *marie-galante* J. B. Hutchins.; race *latifolium*; *G. sturtii* F. Muell.; *G. robinsonii* F. Muell.; *G. triphyllum* Hochr.; *G. anomalum* Wawra & Peyritsch (non Watt); *G. areysianum* J. B. Hutchins.; *G. aridum* Skovsted; *G. armourianum* Kearney; *G. harknessii* Brandege; *G. klotzschianum* Anderss. var. *davidsonii* J. B. Hutchins. (syn. *G. davidsonii* Kellogg); *G. raimondii* Ulbrich; *G. thurberi* Tod.; *G. trilobum* Kearney; *G. gossypoides* Standley; *G. tomentosum* Nutt.; *G. darwinii* Watt; *Sorghum vulgare*; *Setaria italica*; *Fusarium vasinfectum* Atk.; *Macrophomina phaseoli* (Maubl.) Ashby; *Corticium solani* Bourdet & Galzin; *Phaseolus aconitifolius* Jacq.; *Colletotrichum indicum* Dastur; *Corticium rolfsii* (Sacc.) Curzi; *Phytophthora parasitica* Dastur; *Pythium*; *Aspergillus niger* van Tiegh.; *Nematospora nagpuri* Dastur; *Capnodium* sp.; *Xanthomonas malvacearum* (E.F. Sm.) Dowson; *Cerotelium desmum* Arth.; *Ramularia areola* Atk.; *Jatropha curcas* Linn.; *Earias fabia* Stoll.; *E. insulana* Boisd.; *Hibiscus esculentus*; *Platyedra gossypiiella* Saund.; *Pectinophora gossypiiella* Saund.; *Empoasca devastans* Dist.; *Pemphegulus affinis* Fst.; *Sylepta derogata* F.; *Dysdercus cingulatus* F.; *Oxycarenus laetus* Kby.;

Aiolopus tamulus F.; *Attractomorpha crenulata* F.; *Chrotogonus* sp.; *Amsacta albistriga* M.; *Anomis flava* F.; *Scirtothrips dorsalis* Hood.; *Thrips tabaci* L.; *Eriophyes gossypii* Banks; *Tetranychus telarius* L.; *Aphis gossypii* Glover; *G. thurberi*; *Fusarium*; *Alternaria*; *Rhizoctonia* spp.; *Saccharum spontaneum*; *Anthonomus grandis* Boh.; *Gossypii cortex*

ग्रीनोकाइट - देखिए कैडमियम

ग्रीविया लिनियस (टिलिएसी) GREWIA Linn.

ले.-ग्रेविया

यह वृक्षों तथा झाड़ियों का वंश है जो पुरानी दुनिया के उष्ण भागों में पाया जाता है। भारत में लगभग 40 जातियाँ पायी जाती हैं। कुछ जातियाँ इमारती लकड़ी के लिए प्रसिद्ध हैं। कई जातियों के गुठलीदार फल खाद्य हैं और सामान्यतः खाये जाते हैं; कुछ की छाल से रेशे प्राप्त होते हैं जिनसे रस्सियाँ बनाई जाती हैं।

Tiliaceae

ग्री. आष्टिवा ड्रमण्ड सिन. ग्री. अपोजिटोफोलिया रॉक्सवर्ग एक्स मास्टर्स (फ्लो. ब्रि. इ.) G. optiva Drummond

ले.-ग्रे. ओष्टिवा

D.E.P., IV, 180; C.P., 624; Fl. Br. Ind., I, 384.

हि.-विडल, विडंग, भीमल; क.-थिडसल.

पंजाब-धमन, वेहेल, फरवा; कुमरू-भीमल; लेपचा-तगलर.

यह मंझोले आकार का वृक्ष है जिसकी ऊँचाई 13.5 मी., घेरा 1.35 मी. और साफ तना 3-3.6 मी. होता है। यह पंजाब से बंगाल तक और हिमालय पर 2,100 मी. की ऊँचाई तक पाया जाता है। छाल गहरी भूरी; पत्ते अंडाकार, लंबाग्र, दंतुर और खुरदुरे; फूल फीके पीले और पर्ण-विरोधी ससीमाक्षों में; फल गुठलीदार, लगभग 1.25 सेंमी. व्यास के 1-4 पालि वाले, पकने पर काले और खाद्य होते हैं। इस वृक्ष का रोपण प्रायः बाड़ के लिए किया जाता है।

लकड़ी पीताभ-श्वेत या भूरी और अप्रिय गंधयुक्त, भारी (आ. घ., लगभग 0.75; भार, 668 किग्रा./घमी.), सम और संकीर्णतः अंतर्ग्रन्थित दानेदार और महीन गठन वाली होती है। यह कठोर, चोमड़ और लचीली होती है। लकड़ी के सिरों और सतह पर दरारें पड़ सकती हैं। हरी अवस्था में यह अच्छी तरह पकाई जा सकती है। खुली रहने पर यह टिकाऊ नहीं होती। हरी लकड़ी सुविधापूर्वक चोरी जाती है किन्तु पकाने पर चीरना कठिन होता है। आच्छादित रखने पर काफी टिकाऊ है। डाँडों, जुओं, खाट की पाटियों, धनुष, पैडल, औजारों और कुल्हाड़ियों की मूठ में जहाँ भी शक्ति और लचीलापन अपेक्षित हो यह लकड़ी काम आती है (Pearson & Brown, I, 170).

छाल से घटिया किस्म का रेशा मिलता है (रेशे की अधिकतम लम्बाई 1-1.5 मिमी.; सेलुलोज की मात्रा 72%). यह रेशा रस्ता और कपड़ा बनाने के काम आता है। कागज बनाने के लिए भी यह उपयोगी बताया गया है (Matthews, 345; Cross, Bevan & King, Rep. Indian Fibres, 1887, 9, 39).



चित्र 28 - ग्रीविया आष्टिवा - पुष्पित तथा फलित शाखा

पत्तियों और छोटी टहनियों को चारे के लिए काटा जाता है। कम विकसित पत्तियों को पशु खाना पसंद नहीं करते। पूर्ण विकसित पत्तियों में (शुष्क आधार पर) अपरिष्कृत प्रोटीन, 10.1; वसा, 6.8; अपरिष्कृत रेशा, 14.1; नाइट्रोजन रहित निष्कर्ष, 54.8; कुल कार्बोहाइड्रेट, 68.9; राख, 14.2; कैल्शियम (Ca), 4.18; और फॉस्फोरस (P), 0.25% होता है। पत्तियों में टैनिन पाया जाता है (Momin & Ray, Indian J. vet. Sci., 1948, 13, 183).

G. oppositifolia Roxb. ex Mast.

ग्री. एलास्टिका रॉयल सिन. ग्री. वेस्टिटा वालिश, ग्री. एशियाटिका वैर. वेस्टिटा G. elastica Royle

ले.-ग्रे. एलास्टिका

D.E.P., IV, 178; C.P., 624; Fl. Br. Ind., I, 387.

हि.-फरसिया, धमन, विमला, धमनी; बं.-धामनी; उ.-मिर्गी चारा.

पंजाब-धमन; असम-मान विजाल.

यह 18 मी. ऊँचा, 1.5 मी. घेरे वाला, लगभग 3 मी. साफ तने का पर्णपाती वृक्ष है जो सम्पूर्ण उप-हिमालयी क्षेत्र में, 1,200 मी. की ऊँचाई तक तथा मध्य भारत, पश्चिमी घाट और भालावार में पाया

जाता है। इसकी छाल घूसर-श्वेत; पत्तियाँ तिरछी, आयतरूप-अण्डाकार, दीर्घवृत्तीय लम्बाय, कुण्डलती क्रकची; फूल पीले, कसवती ससीमाक्षों में; गुठली युक्त फल गोल, 6 मिमी. व्यास वाले, अस्पष्ट पालियों वाले, पकने पर काले तथा खाद्य होते हैं। यह वृक्ष पाला तथा सुखा-सह है। इसमें ठीक से कल्ले फूटते हैं और तेजी से बढ़ते हैं (Troup, I, 165).

इसकी लकड़ी घूसर-श्वेत से लेकर हल्की, पीताभ-भूरी चमकीली, छूने में चिकनी, भारी (आ. घ., 0.68; भार, 704-752 किग्रा./घमी.), सम तथा सीधे दाने वाली और मध्यम गठन की होती है। यह चिटख और ऐठ सकती है, इसलिए इसका हरित रूपान्तरण उचित बताया जाता है। खुले में यह टिकाऊ नहीं होती परन्तु आच्छादन में यह काफी टिकाऊ होती है; इसमें कवक तथा कीड़े भी लग सकते हैं। इसे आसानी से चीरा और रंदा जा सकता है। इसमें अच्छी पालिश चढ़ती है और चतुः विभक्त करने पर यह आकर्षक रूप प्रस्तुत करती है। लकड़ी के रूप में इसकी उपयुक्तता के आँकड़े सागौन के जून्हीं गुणों के प्रतिशत रूप में इस प्रकार हैं : भार, 110; कड़ी के रूप में सामर्थ्य, 100; कड़ी के रूप में कठोरता, 105; खम्भे के रूप में अनुकूलता, 95; आघात प्रतिरोध क्षमता, 165; आकार स्थिरण क्षमता, 55; अपरूपण, 155; तथा कठोरता, 130. इसकी लकड़ी अपनी शक्ति तथा प्रत्यास्थता के लिए प्रसिद्ध है। इसका उपयोग शैफ्ट, नाव के डोंड, औजारों के बेंड, पट्टे, कमान तथा ऐसी ही अन्य वस्तुएँ बनाने में होता है। यह मछली मारने के डंडों, बृश के हत्यों तथा मदिरा-पात्रों के लिए भी उपयुक्त होती है।

लकड़ी का ऊष्मा मान 4,920 कै., 8,857 ब्रि. थ. इ. है। यह अच्छा ईंधन है। इसकी दहनियाँ चारे के लिए काटी जाती हैं। छाल से एक मजबूत रेशा निकलता है जिससे स्थानीय लोग रस्तियाँ बनाते हैं (Krishna & Ramaswami, *Indian For. Bull.*, N.S., No. 79, 1932, 18; *Indian For.*, 1948, 74, 279; *Fl. Assam*, I, 164).

G. vestita Wall.; *G. asiatica* var. *vestita*

ग्री. ग्लैब्रा ब्लूम सिन. ग्री. लेविगेटा मास्टर्स (फलो. ब्रि. इ.) नान वाल; ग्री. डिस्पर्मा डूमण्ड, नान राटलर *G. glabra* Blume ले.-ग्रे. ग्लावरा

D.E.P., IV, 179; *Fl. Br. Ind.*, I, 389.

हि.-काठ वेवाल, भिमल, कक्की; बं.-काठ विमला; ते.-अल्लि-पायव, पोतिरिक्के; त.-नारुट्टे, पिरुनु; क.-जवनि गाले, करगाले; उ.-कुलकयी.

असम-सेनम-लागडा; बम्बई-कावरी, गुलगोलोप.

यह वृक्ष 13.5 मी. तक ऊँचा, लगभग 4.5 मी. लम्बाई तक साफ तने का और 0.6-0.9 मी. घेरे का होता है। यह भारत के अधिकांश भागों में और अंडमान द्वीपों में भी पाया जाता है। पेड़ की छाल गहरे घूसर रंग की या भूरी होती है। पत्ते अंडाकार या आयताकार नुकीले और दंतुर, आधार-दंत प्याले जैसी ग्रंथियों में परिवर्तित; फूल कसस्य बहुवर्षीयों में स्थित होते हैं। फल मटर के आकार के, गुठलीदार 1-4 पालियों वाले तथा पकने पर काले रंग के होते हैं।

लकड़ी पीताभ-श्वेत या पीताभ-घूसर रंग की चमकदार, छूने में कोमल और मध्यम भारी होती है (आ. घ., 0.63; भार, 656 किग्रा./घमी.). यह सम तथा सीधे दानेदार और कुछ-कुछ महीन से मध्यम गठन तक की होती है। यह ऐंठती और चपकाकार हो जाती है। अतः

इसे हरी रहने पर ही खुले में चट्टे लगाकर छाया करके हवा में पड़े रहने देना चाहिये। ताजी अवस्था में यह मध्यम कठोर और अतिशय लचीली होती है। खुली रखने पर लकड़ी टिकाऊ नहीं होती किन्तु छाया में रखने पर काफी हद तक टिकाऊ हो जाती है। इसमें कीड़े लग सकते हैं और नम होने पर फफूंद से क्षति भी पहुँच सकती है। इसे आसानी से चीरा जा सकता है। परन्तु रेशेदार संरचना के कारण मशीन द्वारा इसकी सतह बढ़िया नहीं बन पाती। इसका उपयोग खरादने में और सूखे पदार्थों के लिए आधान बनाने में होता है, जैसे सीमेंट के पीपे, रवड़ के वक्स, चलनी के चौखटे और अफीम की पेटियों की भीतरी जुड़ाई आदि (Pearson & Brown, I, 178).

छाल से एक रेशा प्राप्त होता है जो रस्ती बनाने के काम आता है। पत्तियों को चारे के लिए काटा जाता है। इस वृक्ष में भारतीय लाख के कीड़े भी पलते हैं (Benthall, 66; Glover, 137).

ग्री. टिलिडफोलिया वाल *G. tiliifolia* Vahl

ले.-ग्रे. टिलिडफोलिआ

D.E.P., IV, 183; C.P., 624; *Fl. Br. Ind.*, I, 386.

सं.-धमनी, धनुवृक्ष; हि. और बं.-धमनी, धामिन, फारसा; म.-दामन, दामनी; गु.-डालमोन, धमना; ते.-चरची, एतातड़; त.-सदाचि, उन्नू; क.-ताड़साल, वृताले; मल.-चडिचा; उ.-धामन, धमूरी.

व्यापार - धामन.

यह मैदानी से लेकर विशाल आकार का वृक्ष है जो उप-हिमालयी भू-भाग में जमुना से लेकर असम तक और मध्यवर्ती, पश्चिमी और दक्षिणी भारत में पाया जाता है। दक्षिण की पहाड़ी घाटियों एवं ढलानों में यह सबसे अधिक बढ़ता है जहाँ इसका तना 9 मी. लम्बा और घेरा 2.1 मी. या इससे भी अधिक हो जाता है। इसकी छाल घूसर या गहरी भूरी; पत्तियाँ अनुपर्णी, डंठलदार, अंडाकार, लम्बाय और तिरछे आधार वाली कुण्डलती, श्वदंती; फूल छोटे और मोटे सहायक, पुष्पावलि वृंत पर; फल गुठलीदार, गोल, मटर के आकार के, 2-4 पालि के, काले, खाद्य होते हैं।

वृक्ष में गैनेडरमा एप्लानेटम (पर्लून) से श्वेत रस तथा अन्तः-गलन उत्पन्न होता है। बड़े घेरे के वृक्षों के केन्द्र में प्रायः दोष पाया जाता है (*Indian J. agric. Sci.*, 1950, 20, 107).

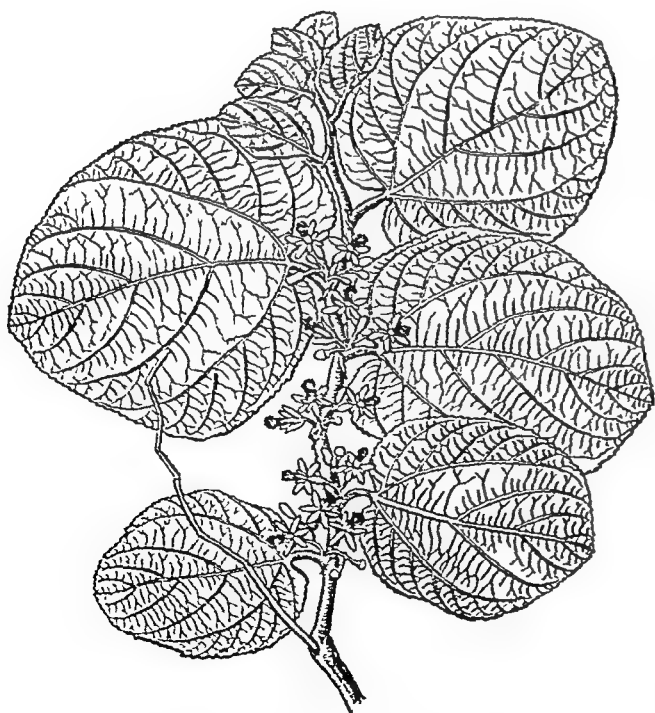
रसकाष्ठ सफेद से लेकर फीके पीले रंग का और अंतःकाष्ठ लालाभ भूरे से लेकर गहरी वर्ण रेखाओं से युक्त भूरे रंग का होता है जिस पर अक्सर सफेद धब्बे होते हैं। यह मन्द रंग का, स्पर्श में मृदु, भारी (आ. घ., 0.72; भार, 736 किग्रा./घमी.), मजबूत, लचीला, सम, सीधा या कभी-कभी अरीय समतल में, लहरदार दानेदार, मध्यम गठन का होता है। इसमें ताजे चमड़े के समान गंध रहती है। लकड़ी में फटने और सतही दरारों के पड़ने की आशंका होती है। परन्तु इसे भलीभाँति पकाया जा सकता है। हरितरूपान्तरण से, पानी में छः सप्ताह तक डुबाये रखकर और फिर छाया में पकाकर उत्तम परिणाम प्राप्त किया जा सकता है। भट्टों में पकायी हुई लकड़ी में मूल चमक अनिश्चित काल तक बनी रहती है।

खुली तथा आच्छादित दोनों ही स्थितियों में लकड़ी टिकाऊ होती है। इसमें प्रतिरोधी उपचार की जरूरत नहीं होती। इसे सरलता से चीरा और गढ़ा जा सकता है। इस पर पालिश भी बढ़िया चढ़ती है। इमारती लकड़ी के रूप में सागौन की तुलना में उपयुक्तता सम्बंधी

प्रतिशत आंकड़े इस प्रकार हैं : भार, 115; कड़ी के रूप में सामर्थ्य, 110; कड़ी के रूप में दृढ़ता, 125; खम्भे के रूप में उपयुक्तता, 125; आघात प्रतिरोधी क्षमता, 145; आकार स्थिरण क्षमता, 60; अपरूपण, 140; कठोरता, 155. लकड़ी की गणना उत्तम ईंधन की लकड़ियों में होती है (कैलोरी मान : रसकाष्ठ, 5,337 कै., 9,607 ब्रि. थ. इ.; अंतःकाष्ठ, 5,246 कै., 9,443 ब्रि. थ. इ.) (Pearson & Brown, I, 172; Limaye, loc. cit.; Krishna & Ramaswami, loc. cit.; *Indian For.*, 1948, 74, 279).

धामन लकड़ी जहाँ भी पायी जाती है, बल्लियों, खम्भों, ढाँचों, फलकों, मस्तूलों, चप्पुओं, औजारों की मूठ, कृषि के साधनों, गाड़ियों एवं वाहनों के मुड़े हुए भागों, अरों, कगारों, क्षैतिज ढाँचों आदि में काम आती है. यह सजावटी लकड़ी है और फर्नीचर के लिए उपयुक्त है. कपड़े की मिलों में संचायक भुजाओं, तुरी, चूल, फिरकी आदि में इसका उपयोग होता है. खान की शौफ्टों और गलियारों में बगली टेकों की भाँति भी इसका उपयोग होता है. पीपा बनाने, गोल्फ के डंडे, विलियर्ड के डंडे, और क्रिकेट के स्टम्प्स और गुल्लियों में भी इसका इस्तेमाल होता है (Pearson & Brown, I, 176; Trotter, 1944, 193, 200, 207, 225, 227; Naidu, 74; Dordi, *Indian Text. J.*, 1948-49, 59, 708; Limaye, *Indian For. Rec.*, N.S., Util., 1943, 1A, 5).

तने की छाल कटुतिक्त तीक्ष्ण मधुर स्वाद की होती है. इसका उपयोग पेचिश में किया जाता है. केवाँच से खुजली होने पर उस स्थान में इसका इस्तेमाल किया जाता है. लकड़ी में वमनकारी गुण होते हैं और शरीर में अफीम का जहर फैलने पर इसका चूर्ण



चित्र 29 - ग्रीविया टिलादकोनिया - पुष्पित शाखा

विष-प्रतिकारक के रूप में प्रयोग किया जाता है (Kirt. & Basu, I, 387).

छाल से रेशा मिलता है जो रस्सा बनाने के काम में आता है. धामन की छाल के रेशे (विरंजित रेशे की उपलब्धि, 43.7%) को अन्य ग्रीविया जातियों की तरह कागज बनाने के लिए उपयोग में लाने का प्रयत्न किया गया है.

इसका फल खाद्य है और उसमें हचिकर अम्लीय गंध होती है. पत्तियाँ और टहनियाँ चारे के रूप में प्रयुक्त होती हैं. पत्तियों में 1% टैनिन होता है. इसका उपयोग साबुन के स्थान पर बाल धोने के लिए किया जाता है [Badhwar et al., *Indian For. Rec.*, N.S., Chem. & Minor For. Prod., 1952, 1(2), 152].

Ganoderma applanatum (Pers.) Pat.

ग्री. माइक्रोकास लिनियस=माइक्रोकास पैनिकुलेटा लिनियस
G. microcos Linn.

ले.-ग्री. मिक्रोकोस

D.E.P., IV, 179; Fl. Br. Ind., I, 392; Talbot, I, Fig. 103.

बं.-आसर; त.-कडंबु, विशालमकुट्टाई; क.-अभ्रंगु, विणीअभ्रंगु; मल.-कोट्टा, कोट्टका.

वम्बई-अंसांले, शीखल, असोलिन; असम-थेंगप्रांके-ओरोंग.

यह एक झाड़ी या वृक्ष है जो 15 मी. तक ऊँचा और 1.5 मी. मोटा होता है. यह भारत के उत्तरी-पूर्वी भागों, पश्चिमी घाट तथा अंडमान द्वीपों में पाया जाता है. छाल गहरी भूरी या लगभग काली; पत्तियाँ अंडाकार-आयताकार, तिर्यक आधार वाली, लम्बाग्र और अरोमिल; सिरे के पुष्पगुच्छ फीके पीले फूलों से युक्त, तथा फल गोलाकार, गुठलीदार नील-लोहित रंग के और खाद्य हैं.

तने से एक रेशा प्राप्त होता है. पत्तों का उपयोग सिगार लपेटने में किया जाता है. इस कार्य के लिए ये अत्यंत उपयोगी पाये गये हैं. हरी कटी हुई टहनियाँ खाद के रूप में काम आती हैं (Prasad, *Indian For. Leaf.*, No. 60, 1944, 5; Gokhale & Habbu, *Bull. Dep. Agric.*, Bombay, No. 141, 1927, 11).

पौधा अपच, अपरस, खुजली, टाइफाइड ज्वर, पेचिश और मुख के सिफलिसी ब्रणोत्पत्ति में उपयोगी है (Kirt. & Basu, I, 394).

Microcos paniculata Linn.

ग्री. विल्लोसा विल्डेनो *G. villosa Willd.*

ले.-ग्री. विल्लोसा

D.E.P., IV, 184; Fl. Br. Ind., I, 388; Kirt. & Basu, Pl. 151A.

गु.-पड़ेखडो, परेखडो; म.-खारमाटी; ते.-वंता, चेनुलु; त.-खुलई; क.-बुत्तिगरगाले, गरकेले, सणुदिप्पे.

पंजाब-जालीदार; राजस्थान-लौकास.

यह झाड़ी उत्तर-पश्चिम तथा मध्य भारत और दक्षिणी प्रायद्वीप में पायी जाती है. पत्ते अंडाकार मंडलाकार, तिरछे हृदयाकार दंतुर; फूल फीके पीले, कक्षस्य या पत्ते के विपरीत बहुवर्धक में; गुठलीदार फल गोलाकार और लगभग 1.2 सेंमी. व्यास के और ताँवे के रंग के होते हैं.

इसका फल खाद्य है। बीज भी खाद्य हैं। बीजों में बढ़िया सुनहरे रंग का एक बसीय तेल, 0.81% होता है जिसके स्थिरांक इस प्रकार हैं: साबु. मान, 184.6; आयो. मान, 113.4; थायोसायनोजन मान, 78.25; असाबु. पदार्थ, 3.9%। तेल के रचक बसा-अम्ल हैं: लिनोलीक, 41.8; ओलीक, 42.3; और स्टीरैरिक तथा पामिटिक, 15.9% (Grindley, *J. Soc. chem. Ind., Lond.*, 1948, 67, 230)।

सूचना है कि उष्णकटिबंधीय पश्चिमी अफ्रीका में तने का उपयोग भाले के डंडे, टहलने की छड़ी और धनुष बनाने में किया जाता है। छाल से रेशा मिलता है जो स्थानीय रूप से रस्से बनाने के काम आता है (Dalziel, 99)।

जड़ का उपयोग अतिसार में किया जाता है। अफ्रीका में चेचक और सिफलिस में इसका उपयोग किया जाता है (Kirt. & Basu, *I*, 391; Dalziel, loc. cit.)।

*ग्री. सुविनेक्वालिस द कन्दोल सिन. ग्री. एशियाटिका मास्टर्स (फ्लो. ब्रि. इ.) अंशतः नान लिनिअस, ग्री. हैनेसियाना होल *G. subinaequalis* DC.

ले.-ग्रे. सुविनेकुआलिस

D.E.P., IV, 177; C.P., 624; Fl. Br. Ind., I, 386.

हि.-फालसा, धमिन, परुषा, शुकरी; बं.-फालसा, शुकरी; गु.-फालसा; म.-फालसी; ते.-जना, नल्लाजना, फुतिकी; त.-पलिसा, तड़ाची; क.-वुत्तियूडिप्पे, ताड़साला; उ.-फारसा-कोली.

यह छोटा वृक्ष या फैलने वाली बड़ी झाड़ी है जो सारे भारत में पायी जाती है और जिसकी खेती फलों के लिए की जाती है। छाल भूरी और खुरदुरी; पत्ते विविध आकार के, स्थूलतः हृदयाकार अंडाकार, तिरछे आधार वाले अनियमित दंतुर; फूल पीले, कक्षस्थ, समूहों में; फल गुठलीदार, गोल, मटर बराबर, लाल या नील-लोहित रंग के खाद्य, एक या दो बीज से युक्त और अस्पष्ट पालि वाले होते हैं।

यह वृक्ष भारत के अनेक भागों में, विशेषतः पंजाब, उत्तर प्रदेश और महाराष्ट्र में फलों के लिए उगाया जाता है पर कहीं भी इसकी खेती बड़े पैमाने पर नहीं होती। फल अधिक समय तक नहीं रखे जा सकते अतः इन्हें स्थानीय बाजारों में ही बेचना पड़ता है (Hayes, 362)।

फालसा मिट्टी और जलवायु की अत्यन्त व्यापक स्थितियों में पनपता है। कलम और दाब-कलम द्वारा इसे सरलता से प्रवर्धित किया जाता है। फिलीपीन्स में चंदमे बांधने के प्रयोग सफल हुये हैं। प्रवर्धन की सामान्य विधि बीज द्वारा है। पौधे शीघ्रता से बढ़ते हैं और प्रतिरोपण से 13-15 माह बाद पहली फसल तैयार हो जाती है। गुठलीदार फलों से बीजों को निकालकर नयारियों में मानसून के दिनों में बो दिया जाता है और जब पौधे एक साल की हो जाती हैं तो उन्हें खेतों में 3-4.5 मी. की दूरी पर लगा दिया जाता है। फालसे की छँटाई हर साल करनी पड़ती है। पौधों को काट कर बरती के समतल कर देने की आम प्रथा

*इस जाति की नाम-पद्धति में काफ़ी भ्रम है। कुछ लोग ग्री. हैनेसियाना को अलग जाति मानते हैं। अनेक लेखक कृष्ट फालसा को ग्री. एशियाटिका लिनिअस बताते हैं।

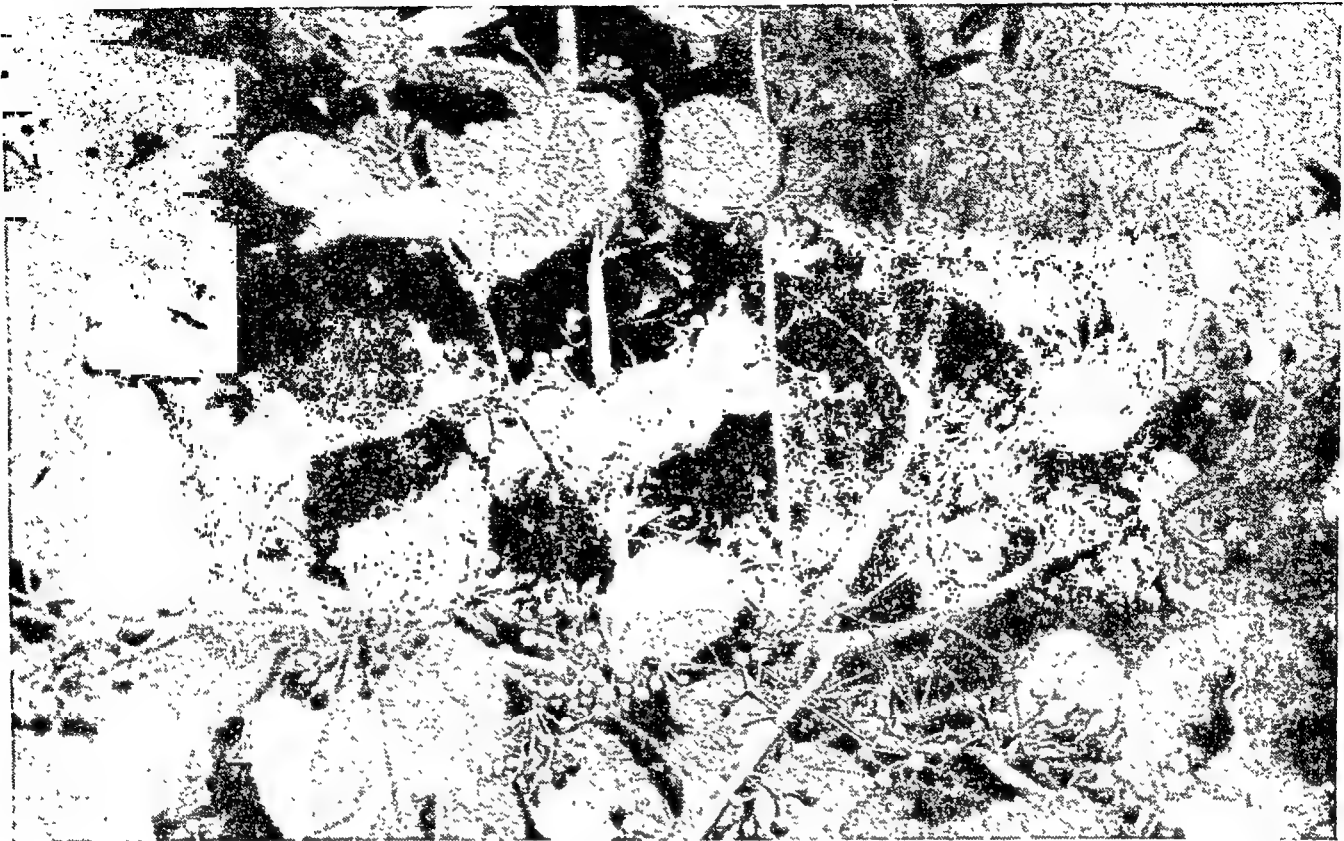
है और कहीं-कहीं डंठलों के सिरों को जला दिया जाता है। 45-60 सेंमी. तक या जमीन तक छँटाई करने की अपेक्षा 1-1.2 मी. ऊँचे तक छाँटना प्ररोहों और फलों की उपज की दृष्टि से अच्छा होता है। छँटाई का काम प्रायः दिसम्बर या जनवरी में किया जाता है। झाड़ियों की पंक्तियों के बीच की जगह साफ और खरपतवार से रहित रखी जाती है। पत्ती से बनी पलवार के प्रयोग करने से झाड़ियों को काफी लाभ होता है (Hayes, 363; Lal Singh & Sham Singh, *Indian J. agric. Sci.*, 1938, 8, 319; Sayer, *Trop. Agriculturist*, 1944, 100, 106)।

पौधों पर पत्ती खाने वाली एक इल्ली हमला करती है जो प्रायः रात में ही खाती है। झाड़ियों पर लेड आर्सेनेट की फुहार करके इसे रोका जा सकता है। उत्तर प्रदेश में फालसा की पत्तियों में सर्कोस्पोरा ग्रीविई श्रीवास्तव तथा मेहता द्वारा उत्पन्न पर्ण धब्बे देखे गये हैं। दीमक भी पौधों को क्षति पहुँचाती है। तोतों और गिलहरियों से भी फलों की रक्षा करनी पड़ती है (Barakzai, *Bull. Dep. Agric. Bombay*, No. 98, 1920, 12; Srivastava & Mehta, *Indian Phytopath.*, 1951, 4, 67)।

फल गर्मी के महीनों में तैयार हो जाते हैं। नील-लोहित रंग के पके फल पौधों से चुन लिए जाते हैं। एक ही दिन में तोड़े जाने योग्य फलों की संख्या कम होने से तोड़ने की क्रिया कई दिनों तक चलती है जिससे चुनाई मँहंगी पड़ जाती है। प्रत्येक पौधे से प्रति फसल 9-11.25 किग्रा. फल मिलते हैं। फलों का आकार काट-छाँट पर निर्भर करता है। अतः जिन पौधों की काट-छाँट काफ़ी की जाती है, उन पर फल भी बड़े लगते हैं। किन्तु फल के आकार में वृद्धि होने के साथ फलों की



चित्र 30 — ग्रीविया सुविनेक्वालिस — पुष्पित शाखा और फल



चित्र 31 - श्रीविद्या सुविनेश्वालिस - फलित

संख्या में गिरावट आती है और उनकी गुणता निम्नकोटि की हो जाती है। साथ ही छोटे फलों का रस बड़े फलों के रस की अपेक्षा आपेक्षिक घनत्व में अधिक होता है (Hayes, 364; Lal Singh & Sham Singh, loc. cit.).

फालसा भोजन के बाद का फलाहार है। इसकी गंध रुचिकर और स्वाद खट्टा होता है। इसमें (सिट्रिक अम्ल के रूप में) अम्ल, 2.8; शर्करा (स्यूकोस के रूप में), 11.7%; और विटामिन सी का लेश और पेक्टिन की मात्रा अल्प होती है। रस की मात्रा 55 से 65% तक रहती है। फालसा का अत्यधिक उपयोग गर्मी के दिनों में ताजगी लाने वाले लोकप्रिय पेय के रूप में है। इसका अचार भी बनता है (Sayer, loc. cit.; Barakzai, loc. cit.).

फल कसैला, शीतलता प्रदायक और क्षुधावर्धक होता है। पौधे की छाल को भिगोकर निकाला गया रस शामक होता है। सूचना है कि संथाली जड़ की छाल को गठिया में इस्तेमाल करते हैं। पत्तों को वे फफोलेदार व्रणों पर लगाते हैं। पत्तियों के ईथर निष्कर्ष में स्टैफिलोकोकस औरियस और एशेरिशिया कोलाई के प्रति प्रतिजीवाण-विक सक्रियता होती है (Kirt. & Basu, I, 389; Joshi & Magar, J. sci. industr. Res., 1952, 11B, 261).

उत्तर प्रदेश में गुड़ उद्योग में गन्ने का रस साफ करने के लिए इसकी छाल का श्लेष्मीय निष्कर्ष काम में लाया जाता है। यह निष्कर्ष छाल के साथ उसके भार के 20 गुने पानी के साथ कूट कर और कपड़े

से छानकर बनाया जाता है। इस निष्कर्ष में (मिश्रा./100 घसेंमी.) अपरिष्कृत प्रोटीन, 97; वास्तविक प्रोटीन, 22; राख, 134; विलेय सिलिका, 8; P_2O_5 , 1; $Al_2O_3 + Fe_2O_3$, 4; MgO , लेश मात्रा में पाये जाते हैं (Roy, 26; Khanna & Chakravarti, Indian J. agric. Sci., 1949, 19, 137).

फालसे की लकड़ी पीली-सफेद, मजबूत, लचीली और सघन दानेदार होती है। इसका उपयोग जुआँ, धनुष, भाले की मूठ आदि बनाने में होता है। छाल से रेशा मिलता है जिससे रस्सियाँ बनती हैं (Rama Rao, 52).

G. asiatica Mast. (Fl. Br. Ind.) in part, non Linn.; *G. hainesiana* Hole; *Cercospora greviae* Srivastava & Mehta; *Staphylococcus aureus*; *Escherichia coli*

ग्री. स्कलेरोफिला राँक्सवर्ग सिन. ग्री. स्केब्रोफिला राँक्सवर्ग
G. sclerophylla Roxb.

ले.-ग्रे. स्कलेरोफिल्ला

D.E.P., IV, 182; Fl. Br. Ind., I, 387; Kirt. & Basu, Pl. 157.

देहरादून-गुड़भेली; कुमायूँ-फरसिया; मुंडारी-गफरी; लेपचा-टगलर.

यह उष्णकटिबंधीय हिमालय प्रदेश की छोटी झाड़ी है जो कुमायूँ से लेकर असम तक 1,200 मी. की ऊँचाई तक पाई जाती है। इसकी छाल भूराभ हरी और खुरदुरी; तना 1.8 मी. लम्बा और काष्ठमय मूलकांड से निकला हुआ; पत्ते चौड़े, दीर्घवृत्तीय या अर्धमंडलाकार, तथा दंतुर; फूल सफेद रंग के, छत्रकी बहुवर्ष्यक्ष में स्थित; फल बड़ी चेरी के आकार के गुठलीदार, अर्धगोलाकार जिनका छिलका क्रस्टेशियाई और गूदा नील-लोहित रंग का भीठा, चिपचिपा और खाद्य होता है।

लकड़ी का इस्तेमाल खेती के औजारों तथा खम्भे बनाने में होता है। तने से रेशा निकलता है जिससे रस्से बनाये जाते हैं। खाँसी और आँत तथा मूत्राशय की उत्तेजना के उपचार में जड़ प्रयुक्त होती है। जड़ का काढ़ा शीतलतादायक एनीमा के रूप में प्रयोग किया जाता है (Kirt. & Basu, I, 390).

G. scabrophylla Roxb.

ग्री. एक्युमिनेटा जुसू सिन. ग्री. अम्बेलाटा रॉक्सवर्ग फैलने वाली झाड़ी है और बंगाल तथा अंडमान द्वीपों में पायी जाती है। इससे एक वास्त-रेशा प्राप्त होता है जो डोरियों और रस्सों के बनाने के काम आता है। पत्तियों को चोट और घावों पर लगाया जाता है (Brown, I, 384; Kirt. & Basu, I, 393).

ग्री. डैमीन गेटैनर सिन. ग्री. साल्वीफोलिया मास्टर्स (फलो. ब्रि. इं.) अंशतः (ते.-अड़विपगरि, नरबुदमा; त.-कवटलुचु; क.-उडिप्पे; उ.-धातोकी; पंजाब-गरगस, बादर; संथाली-सितंगा) झाड़ी या वृक्ष है। यह राजस्थान और पंजाब से लेकर पूर्व में बिहार और दक्षिण में त्रावनकोर तक पाया जाता है। इसके फल गुठलीदार,

छोटे तथा कुछ खट्टे होते हैं और खाद्य हैं। लकड़ी का इस्तेमाल टहलने की छड़ी के लिए होता है (Rama Rao, 52).

ग्री. फ्लैवेसेंस जुसू सिन. ग्री. कार्पीनीफोलिया मास्टर्स (फलो. ब्रि. इं.) नान जुसू ग्री. पिलोसा मास्टर्स (फलो. ब्रि. इं.) अंशतः झाड़ी या छोटा वृक्ष है जो राजस्थान, ऊपरी गंगा के मैदान, बिहार और मध्य भारत और दक्षिण भारत में पाया जाता है। इसका उपयोग चारे के लिए किया जाता है। इसकी चपटी, पतली, शाखाओं का उपयोग टोकरी बुनने में होता है। गुठलीदार फल खाये जाते हैं (Jt Publ. imp. agric. Bur., No. 10, 1947, 111; Talbot, I, 163).

ग्री. हिर्सुटा वाल (ग्री. हेलिक्टेरीफोलिया वालिश सहित) सिन. ग्री. पॉलीगेमा मास्टर्स (फलो. ब्रि. इं.) (हि.-ककरांधा, कुकुरविचा; म.-गोवली; ते.-जिविलिके; त.-तविडु; क.-चिक्कुडिप्पे, जना; उ.-कुलो; असम-हुकट-पट) एक झाड़ी है जिसमें खाद्य फल लगते हैं। यह भारत में सर्वत्र और हिमालय पर 1,350 मी. की ऊँचाई तक पायी जाती है। इसका फल पेशिश और प्रवाहिका में दिया जाता है। घाव को पकाने के लिए इसकी जड़ को पानी में लेप बनाकर और पट्टी के रूप में भी लगाया जाता है (Kirt. & Basu, I, 392).

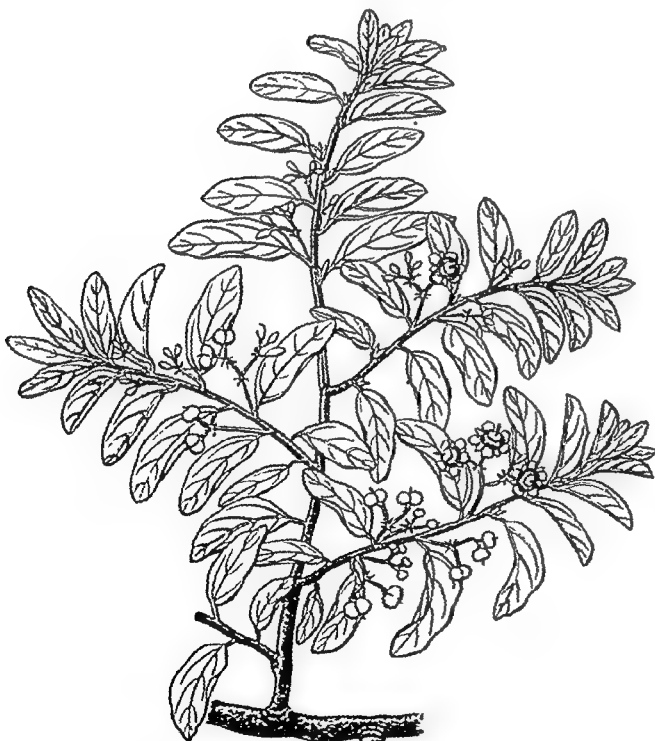
ग्री. रोयाई द कन्दोल सिन. ग्री. एक्सेल्सा मास्टर्स (फलो. ब्रि. इं.) अंशतः (ते.-पुत्तिकि, कोलुपु, सिरियना; त.-अंगोलम; उ.-मिरिचरी, होमोला-पीटो) सुन्दर झाड़ी है जो मध्य, पूर्व और दक्षिणी भारत के भागों में पायी जाती है। इसके गुठलीदार फल खाये जाते हैं। छाल से रेशा मिलता है जो बाँधने के काम में आता है (Haines, 95).

ग्री. सैपिडा रॉक्सवर्ग (नेपाल-कुआइल; वं.-फालसाटेंगा; असम-फुहुरा, थोरा-गुटी) भूशायी झाड़ी है जिसका मूलस्तम्भ काष्ठमय और सदाहरित होता है। यह पंजाब से असम, मध्य प्रदेश, उड़ीसा और पूर्वी घाट तक पायी जाती है। गुठलीदार फल खाने और कभी-कभी शर्वत बनाने में प्रयुक्त होते हैं। यह झाड़ी असम में लोकप्रिय चारा है (Firminger, 243; Fl. Assam, I, 165).

ग्री. सेरुलेटा द कन्दोल सिन. ग्री. मल्दीपलोरा मास्टर्स (फलो. ब्रि. इं.) अंशतः ग्री. डिस्पर्मा राटलर झाड़ी या छोटा वृक्ष है जो उत्तर पूर्वी भारत और पश्चिमी घाट में पाया जाता है। यह बाड़ बनाने के लिए उगाया जाता है। भारतीय लाख कीटों के परपोषी पौधों में यह भी एक है और मिकिर पहाड़ियों में गृह स्थानों के आसपास लाख के लिये उगाया जाता है (Fl. Assam, I, 165).

ग्री. टेनेक्स (फोस्केल) ऐश्चर्सन तथा स्वाइनफुर्थ सिन. ग्री. पापुली-फोलिया वाल (पं.-गंगु-कंगर; राजस्थान-गंगेरू, गंगों; ते.-गुंडुकदिरा, कददरी, कलदि; त.-अच्छु) शुष्क प्रदेशों की छोटी झाड़ी है। यह उत्तर-पश्चिम और मध्य भारत तथा दक्षिणी प्रायद्वीप में पायी जाती है। इसका नारंगी-लाल, गुठलीदार फल खाया जाता है। बीजों में 2% वसा होती है। लकड़ी पीली, कड़ी, सघन दानेदार होती है और इससे टहलने की छड़ी बनाई जाती है। लकड़ी का काढ़ा खाँसी और पसलियों के दर्द में दिया जाता है। यह पौधा ऊँटों और बकरियों के लिये चारे के रूप में काम आता है (Wehmer, II, 1323; Kirt. & Basu, I, 393; Jt Publ. imp. agric. Bur., No. 10, 1947, 111).

G. acuminata Juss. syn. *G. umbellata* Roxb.; *G. damine* Gaertn. syn. *G. salvifolia* Mast.; *G. flavescens* Juss. syn. *G. carpinifolia* Mast.; *G. pilosa* Mast.; *G. hirsuta* Vahl; *G. helicterifolia* Wall. syn. *G. polygama* Mast.; *G. rothii* DC. syn. *G. excelsa* Mast.; *G. sapida* Roxb.; *G. serrulata* DC. syn. *G. multiflora* Mast.; *G. tenax* (Forsk.) Aschers. & Schwf.; *G. populifolia* Vahl



चित्र 32 - ग्रीविया डैमीन - पुरिपत और फलित शाखा

श्रीविलिआ आर. ब्राउन (प्रोटियेसी) GREVILLEA R. Br.

ले.—ग्रेविल्लेआ

यह वृक्षों तथा झाड़ियों का वंश है जो ऑस्ट्रेलिया का मूलवासी है। इसकी एक जाति श्री. रोबस्टा सामान्यतः भारत में उगायी जाती है।

Proteaceae

श्री. रोबस्टा ए. कनिंघम G. robusta A. Cunn.

सिल्वर ओक, सिल्की ओक

ले.—ग्रे. रोबूस्टा

Parker, 1933, 45.

त.—सबकुमारम.

यह लम्बे शंकवाकार शिखर वाला सदाहरित वृक्ष है जो अपने मूल आवास में 45 मी. तक ऊँचा उगता है परन्तु भारत में यह मध्यम आकार का होता है। पत्तियाँ एकान्तर, 15-30 सेंमी. लम्बी, फर्न जैसी गहरी दीर्घ पिच्छाकार, ऊपर गहरी हरी तथा नीचे रुपहली; फूल नारंगी, पुरानी, बिना पत्तियों वाली टहनियों पर, 7.5-10 सेंमी. लम्बे, असीमाक्षों में, अकेले या कई एक साथ; फल तिरछे, फालिकिल चमिल तथा 1 या 2 बीज वाले होते हैं।

यह वृक्ष भारत में लगभग सर्वत्र, 600-1,800 मी. की ऊँचाई तक उगाया जाता है और इसका बीजों से प्राकृतिक जनन होता है। इसे बीजों से सरलता से प्रवर्धित किया जाता है। यह शीघ्रता से बढ़कर तुरन्त ही प्रौढ़ हो जाता है। यह सूखे और पाले का यथेष्ट प्रतिरोधी है, परन्तु यह टूट जाता है; अतः जहाँ तेज वायु लगती हो वहाँ इसे नहीं उगाना चाहिए। नई अवस्था में फर्न-जैसी पत्तियों के कारण यह शोभाकारी होता है परन्तु बड़ा होने पर पत्तियाँ फट जाती हैं जिससे देखने में वृक्ष अच्छा नहीं लगता। वृक्ष का आकार बनाये रखने के लिये 6 या 7 साल में छेँटाई आवश्यक हो जाती है। वृक्ष में मार्च से मई तक फूल आते हैं। चाय तथा काफ़ी के बागानों में इसे छाया-वृक्ष के रूप में उगाया जाता है और सामान्यतः उद्यानों एवं वीथियों में लगाया जाता है। इसके फूल मधु-मक्खियों को आकर्षित करते हैं (Gamble, 576; Parker, 431; Troup, III, 798; Gopalaswamiengar, 244; Firminger, 380; Macmillan, 173; A Manual of Green Manuring, 62, 99).

पौधे में श्वेत स्पंजी से तंतुमय गलन (ट्रैमेटीज सिंगुलेटा वर्कले) तथा श्वेत स्पंजी गलन (ट्रै. परसुनाइ फ्रीज) के आक्रमण होते हैं। श्रीलंका में कतिपय अन्य कवकों से रोग फैलने की सूचना है (Indian J. agric. Sci., 1950, 20, 107; A Manual of Green Manuring, 170).

इस पौधे की पत्तियों से हरी खाद बनाई जाती है। सामान्यतया डालों को न काटकर इधर-उधर गिरी हुई पत्तियों को, खेत में दानेदार औजार से उलट-पुलट कर नीचे कर दिया जाता है या खेत में जोत दिया जाता है। पत्तियों के विश्लेषण से निम्नलिखित भान प्राप्त हुए हैं : आर्द्रता, 50.9; कार्बनिक पदार्थ, 45.9; राख, 3.2; नाइट्रोजन, 0.53; कैल्सियम (CaO), 1.30; पोटैशियम (K₂O), 0.42; तथा फॉस्फोरस (P₂O₅), 0.06% (A Manual of Green Manuring, 42, 62, 13).

पत्तियों में, क्वेब्रेकिटाल (0.4%) तथा आब्युटिन पाये जाते हैं। इनमें से पहले (एक चक्रीय पॉलिएल्कोहल) के गुण, मैनिटॉल, साविटॉल तथा इनासिटॉल जैसे होते हैं और वह लाक्षा द्रवों के बनाने के काम आता है। फलों में β -कैरोटीन (सुखाये हुये पदार्थ के प्रति किलोग्राम में 215 मिग्रा.) होता है, γ - तथा α -कैरोटीन नहीं पाये जाते हैं। अन्य

जैथोफिल वर्णकों में ल्यूटीन तथा क्रिस्टोजेन्थीन मुख्य हैं (Wehmer, I, 256; Alphen, *Industr. Engng Chem.*, 1951, 43, 141; Zechmeister & Polgar, *J. biol. Chem.*, 1941, 140, 1).

पेड़ की छाल से एक पीला गोंद प्राप्त होता है जिसमें आर्द्रता, 15.5; रेजिन, 5-6; राख, 2.7; तथा CaO, 1.4% होता है। गोंद के जल-अपघटन से गैलैक्टोस तथा ऐरेविनोस मिलते हैं। छाल में चर्म-शोधक पदार्थ पाया जाता है (Wehmer, loc. cit.; *Chem. Abstr.*, 1943, 37, 4926).

लकड़ी कठोर, हल्की (576-720 किग्रा./घमी.), लाल-भूरी, प्रत्यास्थ तथा टिकाऊ होती है। इसे सावधानी से सिंशाना चाहिये। इसका उपयोग बक्से बनाने, भजवूत तख्ते बनाने तथा मरम्मत के लिए होता है। यदि लकड़ी को इस ढंग से काटा जाए कि रुपहले दाने स्पष्ट दिखाई दें तो इसका उपयोग सुन्दर चौखटे बनाने, फर्श पर बिछाने, फर्नीचर तथा खिलौने बनाने, दूसरी वस्तुओं पर पत्तर चढ़ाने तथा प्लाईवुड के लिए किया जा सकता है। फिरकी बनाने के लिये भी यह अनुकूल समझी जाती है। ईंधन के लिए यह मध्यम अच्छी लकड़ी है (कै. मान : रस-काष्ठ, 4,904 कै., 8,826 ब्रि.थ.इ.; अंतःकाष्ठ, 4,914 कै., 8,855 ब्रि.थ.इ.) तथा कागज की लुगदी बनाने के लिए भी अनुकूल बताई गई है (Gamble, 576; Burkill, I, 1111; *Indian For.*, 1948, 74, 280; 1952, 78, 348;



चित्र 33 - श्रीविलिआ रोबस्टा - पुष्पित शाखा

Krishna & Ramaswami, *Indian For. Bull.*, N.S., No. 79, 1932, 17; *Chem. Abstr.*, 1923, 17, 3099).

ऑस्ट्रेलिया में अब इस पेड़ से इमारती लकड़ी मिलनी बन्द हो चुकी है और सिल्वी ओक नाम अब कार्डवेलिया सबलिमिस एफ. म्यूलर के लिए प्रयुक्त होता है जो इसी कुल का एक पौधा है (Boas, *Commercial Timbers of Australia*, Coun. sci. industr. Res., Melbourne, 1947, 226).

Trametes cingulata Berk.; *T. personii* Fr.; *Cardwellia sublimis* F. Muell.

ग्रेनाइट — देखिए पत्थर, इमारती

ग्रेनेडाइन — देखिए डाइएथस

ग्रेनेडिल्ला — देखिए पैसीपल्लोरा

ग्रेफाइट GRAPHITE

ग्रेफाइट (कठोरता, 1.0–1.5; आ. घ., 2.0–2.5), जो प्लम्बेगो, काला सीसा, लोह कार्बोरेट के नाम से भी जाना जाता है, विषम लम्बाक्ष सममिति का पटभुजीय तन्त्र में क्रिस्टलित कार्बन का एक अपरूप है। यह अपारदर्शी, इस्पात-धूसर या कृष्ण, द्युतिमान और छूने में चिकना होता है। यह अपक्षय का उच्च प्रतिरोधक है तथा अधिकांश रसायनों से अप्रभावित रहता है। पोटैशियम क्लोरेट और नाइट्रिक अम्ल से अभिकृत करने पर यह ग्रेफाइटिक अम्ल में परिवर्तित हो जाता है। यह ऑक्सीजन की उपस्थिति में 620–70° ताप पर, दाह्य है। फुँकनी की ज्वाला में, प्लैटिनम पत्र पर अनावरित होने पर, ग्रेफाइट, हीरे की अपेक्षा प्रायः अधिक कठिनाई से जलता है। यह चरम दुर्गलनीय है। इसकी गलनीयता का ताप ज्ञात नहीं है, फिर भी अनुमान है कि यह 3000° से ऊपर होगा।

प्राप्ति एवं वितरण

ग्रेफाइट क्रिस्टलीय पिंडों, नलिकाकार या शल्की क्रिस्टलों के रूप में जो आधार तल के समान्तर, पत्रकी स्तरिका में विदरित होते हैं, पाया जाता है। तथाकथित अक्रिस्टलीय ग्रेफाइट में क्रिस्टलीय ग्रेफाइट के सूक्ष्म कण रहते हैं जो कुछ-कुछ कायान्तरित शैलों में, जैसे कि स्लेट या शैल में, अथवा कायान्तरित कोयला संस्तरों के तल में कम या ज्यादा समान रूप से वितरित रहते हैं। पत्रक ग्रेफाइट, नाइस, शिस्ट और क्रिस्टलीय चूना-पत्थर की भाँति कायान्तरित शैल के पतले स्तरों में फैला हुआ पाया जाता है। ये पत्रक बहुत कुछ स्वतंत्र क्रिस्टल के रूप में होते हैं। क्रिस्टलीय या शिरा ग्रेफाइट, कायान्तरित शैल के सुस्पष्ट शिराओं, लेंसों या कोटरिकाओं में खनिज समुच्चय का प्रतिनिधित्व करता है।

भारत में ग्रेफाइट पेमाटाइटों में, क्रिस्टलीय और रूपांतरित शैलों में तथा शिस्टों और नाइसों में मसूराकार पिंडों में मिलता है। उड़ीसा में प्राप्त खोंडालाइट शैल क्वार्ट्ज (सिलीमैनाइट-गार्नेट ग्रेफाइट शिस्ट) का यह एक आवश्यक रचक है। इन परिस्थितियों में पाया जाने वाला ग्रेफाइट आग्नेय उत्पत्ति का होता है। बाह्य हिमालय के अति संदलित गोंडवाना संस्तर में स्थानीय प्राप्ति को छोड़कर भारत में कार्बनमय स्तर के कायान्तरण से बना ग्रेफाइट लगभग अज्ञात है (Wadia, 474).

उड़ीसा — ग्रेफाइट के बहुत से निक्षेप कालाहांडी जिले के खोंडालाइट और नाइसी शैलों में मिलते हैं। प्रमुख प्राप्ति स्थल, कसूरपारा पोरकोम

और दंगसुरजी (20°11' : 83°31') के निकट हैं। दंगसुरजी निक्षेप (कार्बन, 40%; कैल्सियम कार्बोनेट, 43.8%) गाँव से लगभग 800 मी. की दूरी पर है। इस निक्षेप से थोड़ी दूर पश्चिम तथा दक्षिण-पश्चिम में 45 सेंमी.—2.7 मी. चौड़ाई की बहुत-सी ग्रेफाइट पट्टियाँ हैं। इन निक्षेपों के एक नमूने के विश्लेषण से 65% कार्बन मिला है। कसूरपारा के पूर्व के पहाड़ी क्षेत्र में बहुत से छोटे-छोटे निक्षेप मिले हैं। यहाँ और दंगसुरजी क्षेत्र के निकट पुरानी छोड़ी हुई खानें मिलती हैं। ग्रेफाइट का दूसरा निक्षेप रायपुर-पार्वतीपुर मार्ग पर, रायपुर से 269वें किमी. पत्थर से 180 मी. दूर स्थित कोलाडीघाट (19°56'30" : 83°26') में मिलता है (Walker, *Mem. geol. Surv. India*, 1902, 33, pt 3, 14).

बोलनगीर जिले में, ग्रेफाइट के कार्यक्षम निक्षेप टिटिलागढ़, पटना और बोलनगीर तहसीलों में मिलते हैं। इनमें से अधिक प्रसिद्ध टिटिलागढ़ तहसील के चारभाटा, पितापारा और मूरी बहल; पटना तहसील के लोहाखान और बोलनगीर तहसील के वारघाटी निक्षेप हैं। मुख्य शिरा वारघाटी खान में खुलती है। यह लगभग 6 मी. लम्बी और दक्षिणी किनारे पर 3.6 मी. तथा उत्तरी किनारे पर 60 सेंमी. मोटी है। यह खान 27 मी. की गहराई तक पहुँच चुकी है। इन खानों के अपरिष्कृत पदार्थ में 43.8% कार्बन होता है। लोहाखान में स्थित निक्षेप का प्रमुख पिंड उत्तर-दक्षिण 30 मी. तक है। इसमें लगभग 12 मी. गहराई तक खुदाई होने पर भी खनिज में किसी प्रकार की कमी नहीं जान पड़ती है। अपरिष्कृत पदार्थ में औसतन 55–70% कार्बन है। मूरी बहल रेलवे स्टेशन के 1.6 किमी. के भीतर खुदाई योग्य कई शिरायें मिलती हैं। इस क्षेत्र के अपरिष्कृत पदार्थ में औसतन 49% कार्बन रहता है। अन्य निक्षेप धर्मगढ़ (20°24' : 83°18'), डुंडेल और मारना (पटना से 3.2 किमी. पश्चिम) में मिले हैं। इन निक्षेपों के पदार्थ में 40–80% कार्बन मिलता है (Gupta, *Indian Minerals*, 1949, 3, 17).

बौद्ध-खोंडमाल जिले में ग्रेफाइट, 1.5 मी. चौड़ी एक शिरा के रूप में जहाँ ग्रेनाइट और पेग्माटाइट, खोंडालाइट शैल में अंतर्वेधित होते हैं, दंडातपा (20°48' : 84°36') में मिलता है। यह खान उत्तर से दक्षिण की दिशा में 31.5 मी. लम्बी और 13.5 मी. चौड़ी है। यह भूमि की सतह से 36 मी. गहराई तक पहुँच गई है। इस शिरा के पदार्थ में 96.74% कार्बन पाया जाता है। इसी जिले में टीलेश्वर (20°53' : 84°37') के पूर्व पहाड़ी के पश्चिमी पार्श्व में ग्रेफाइट मिलने की सूचना है (Chakravarty, *Rec. geol. Surv. India*, 1949, 82, 53; 1950, 83, pt I, 123).

कोरापुट जिले में, विस्समेंटक रेलवे स्टेशन से 4 किमी. द. द. प. माजीकेलम (19°28' : 83°27') और कुमघीकोटा (19°7' : 83°15') से जाने वाले मोटर मार्ग से लगभग 3.6 किमी. उत्तर-पूरुबकोना (19°9' : 83°15') में ग्रेफाइट मिलता है। माजीकेलम में यह खनिज खोंडालाइट शैल में अंतर्वेधी ग्रेनाइट और पेग्माटाइट के रूप में 7.5 सेंमी. से 30 सेंमी. तक की विभिन्न मोटाइयों की क्रमहीन शिराओं में मिलता है।

सम्बलपुर जिले में, नवापाड़ा तहसील के कोमना (20°30' : 82°40'30") के चारों ओर लगभग 5 किमी. के घेरे में, आधे दर्जन स्थानों में ग्रेफाइट के पुराने गर्त मिले हैं। विलियमजोर (20°28' : 82°42') और वाघमुंडा (20°31' : 82°42') के पुराने गर्तों की जाँच-पड़ताल तथा नये सिरों से खुदाई का कार्य चालू है। अन्य उल्लेखनीय प्राप्तियाँ बावूपली (20°39' : 82°44') और गांडामेर (20°38' : 82°45') की हैं। इन खानों का ग्रेफाइट अक्रिस्टलीय किस्म का है।

उत्तर प्रदेश—अल्मोड़ा जिले में वाल्ट (29°38' : 79°45') के निकट कालीमाटी, पुलसिमी (29°35' : 79°45') और अल्मोड़ा से दक्षिण-पूर्व सुआल नदी के तट पर डोल (29°29' : 79°48') के निकट तथा लधार नदी से जहाँ बगैसर-कापकोट सड़क मिलती है उस स्थान पर ग्रेफाइट की उपस्थिति सूचित की गई है। यह खनिज, शिस्ट में छोटे विसंयोजनों और कोट्रिकाओं के रूप में मिलता है। डियुरी (29°12'40" : 80°4'50"), उक्काकोट (29°24'40" : 80°3'30") और चिड़ा (29°28'45" : 80°6'20") में भी ग्रेफाइट शैल की उपस्थिति का पता चला है (Raina, *Rec. geol. Surv. India*, 1950, 83, pt I, 123).

गढ़वाल जिले में मंसारी (29°58' : 79°9') में ग्रेफाइट, शिस्ट की पट्टियों में मिलता है (Dutt, *Rec. geol. Surv. India*, 1950, 83, pt I, 124).

कश्मीर—कैम्ब्रो-सिल्यूरियन रचना काल के फाइलाइटोय शैलों में अक्रिस्टलीय ग्रेफाइट की अत्यधिक मात्रा मिलती है। उड़ी तहसील के वारीपुर क्षेत्र के फाइलाइटों में ग्रेफाइट शिस्ट की 120 मी. मोटी और 6.4–11.2 किमी. लम्बी समुद्र पट्टी मिली है। इस क्षेत्र में तीन लम्बे अयस्क दृश्यांश खोजे गए हैं। अनुमान है कि मध्यवर्ती दृश्यांश से 1,37,500 टन उच्च कोटि का और 40,00,000 टन मध्यम कोटि का ग्रेफाइट प्राप्त होगा। पश्चिमी और पूर्वी दृश्यांशों में ग्रेफाइट 22% है, और इनसे क्रमशः 8,00,000 और 3,50,000 टन पदार्थ प्राप्त होने की आशा है। दूसरा कम महत्व का निक्षेप मोश और अयोली गाँवों के बीच भुतना घाटी में है। सुमजाम और पादर के नीलम खान क्षेत्र में शल्की ग्रेफाइट मिलता है (Middlemiss, 1930, 49; Ghosh et al., *Indian Graphite, its beneficiation & probable uses*, Coun. sci. industr. Res., India, 1947).

केरल—त्रावनकोर के निम्नलिखित स्थानों में, ग्रेफाइट की उपस्थिति पाई गई है: अमानद (कांगल से 6.4 किमी. द. प.), अरुमानल्लूर (8°19' : 77°28'), अरमबोली (8°15' : 77°35'), अट्टपल्लेम (इरानेल तालुक), अट्टुंगल (8°42' : 76°52'), अवनीश्वरम (9°1' : 76°55'), किनपल्लीकोनम, कोलाचेल (8°10' : 77°19'), ममलाई, मेलमाडंगू, मुलुम्बुर (8°44' : 76°50'), पथानापुरम (9°5' : 76°55'), पुनालूर (9°1' : 76°59'), औरलाकोडे (8°20' : 77°26'), वेल्लनद (8°34' : 77°7'), औरवेली (त्रिवेन्द्रम से 8 किमी. दक्षिण)। यह खनिज, चानोंकाइट और पेग्माटाइट द्वारा अवरोधित गार्नेटमय नाइस में मिलता है। 'दि मारगन क्रैसिवुल कंपनी' ने इस शताब्दी के प्रारम्भ में कुछ निक्षेपों पर काम करके प्रतिवर्ष लगभग 13,000 टन का उत्पादन किया (Wadia, 494).

तमिलनाडु और आन्ध्र प्रदेश—पूर्वी घाट में ग्रेफाइट खोंडालाइटों का रचक है। कुछ क्षेत्रों में कार्यक्षम कोट्रिकाएं और शिरायें मिली हैं।

श्रीकाकुलम जिले में, बायोटाइट नाइस और शिस्ट से सम्बद्ध पत्रकी ग्रेफाइट के लेंस और कोट्रिकाएं, टोटाडिकोंडा के द. प. पार्श्व में, कोंडाकेंगुवा (18°27' : 83°16') के उ. प. 2.4 किमी. की दूरी पर तथा चिमलीपाले (18°15' : 83°5') के निकट मिली हैं (Ranganathan, *Rec. geol. Surv. India*, 1954, 86, 99).

विशाखापटनम जिले में नरसीपतनम से कुछ किलोमीटर दक्षिण की ओर टाडेपाला में ग्रेफाइट निक्षेप की उपस्थिति का पता चला है। नरसीपतनम से 12.8 किमी. दूर कोट्टावुरु के निकट पैसिल के सीसे और स्नेहकों के उत्पादन योग्य और ढलाई लेप के लिए उत्तम कोटि का ग्रेफाइट मिलता है। ये भंडार जिसमें कार्बन 47.6% है, 30,000 टन आंके गए हैं। इनसे छोटे निक्षेप, जिन पर 1910 और 1911 में कार्य हो

चुका है, मारुपल्ली (18°21' : 83°19') और काशीपुरम (18°13' : 83°11') के निकट पाये गए हैं। सालूर तहसील के डोलेम्बा (18°42' : 83°5'), वरनागुडेम (18°42' : 83°6') और कुदीकर (18°39' : 83°7') गाँवों में ग्रेफाइट के निक्षेप पाये गये हैं। स्थानीय खोंडालाइट शैल में अंतर्वेधी गार्नेटमय क्वार्ट्ज से संगुणित ग्रेफाइट, डोलेम्बा के निकट मिलता है। यह शिरा गार्नेटमय नाइस के शल्कन के लगभग समान्तर चलती है और लम्बाई में 55.5 मी. है। इस निक्षेप की (कार्बन, 74%) एक-एक कर खुदाई होती रही है। वरनागुडेम में, नाइस के शल्कन के समान्तर छिछले लेंस के रूप में ग्रेफाइट उपलब्ध है। इस पदार्थ (कार्बन, 37%) में पत्रकी और तंतुमय, दोनों ही प्रकार के ग्रेफाइट मिलते हैं। कुदीकर के निकट इसकी उपलब्धि आर्थिक महत्व की नहीं है (Chandra, *Rec. geol. Surv. India*, 1948, 81, 50; Das Gupta, *Quart. J. geol. Soc. India*, 1954, 26, 105).

पूर्वी गोदावरी जिले में, राम्पा एजेन्सी के कोथाड़ा गाँव के निकट एक छोटी पहाड़ी में ग्रेफाइट मिलता है। इसी क्षेत्र में वेलेगालापल्ले और मारिनपालेम अन्य स्थान हैं जहाँ इसके पाये जाने की सूचना है। चोडावरम कमिश्नरी में, सीतापाल्ले, गोटागुडेम और रामनापालेम स्थानों पर भी निक्षेपों की सूचना है। इनमें से कुछ में तो कभी-कभी कुछ काम भी हुआ है। भद्राचलम कमिश्नरी में ग्रेफाइट निक्षेप पुलिकोंडा (17°33' : 81°26') के पूर्वी पार्श्व पर, रात्ताकोंडा (17°32' : 81°25') के उत्तर पार्श्व पर और पुलिकोंडा से 2.4 किमी. पश्चिम सुत्ताकोंडा के दक्षिणी पार्श्व पर मिलता है। यह खनिज पेग्माटाइट भित्तियों से प्रतिच्छेदित होकर खोंडालाइट शैल में 15 मी. तक की लम्बाई, 1.5–1.8 मी. चौड़ाई और 60 सेंमी. मोटाई वाली अति-प्रवणनत शिराओं में मिलता है।

पश्चिमी गोदावरी जिले में जंगारेड्डीगुडेम से 24 किमी. उत्तर और रेड्डी बोडेअर (17°19' : 81°20') से 1.6 किमी. उत्तर-पूर्व की एक पहाड़ी चोटी पर 1.2 मी. मोटाई की एक शिरा में पत्रकी ग्रेफाइट मिलता है। शिरा उ. पू. — द. प. दिशा में खोंडालाइट और नाइस से होकर गुजरती है।

कृष्णा जिले में, अमरावती से द. पू. पेड्डामदूर के निकट नाइस में पत्रकी ग्रेफाइट मिलता है। इस निक्षेप की आर्थिक सम्भावनाएं अभी संदिग्ध हैं (Foote, *Mem. geol. Surv. India*, 1880, 16, 25).

तिरुनेल्वेली जिले में, कुरिंजाकुलन (9°14' : 77°41') गाँव के निकट कई सौ टन ग्रेफाइट का एक ग्रेफाइट नाइस है। ग्रेफाइट से युक्त यह पट्टी 2.4–3 मी. मोटी और 400 मी. लम्बी है। पड़ीस में ही दो छोटी पट्टियाँ भी पाई गई हैं। नाइस में 5–10% पत्रकी ग्रेफाइट रहता है। इसी जिले के पापनाशनम् (8°42'45" : 77°22'30"), सिंगम-पट्टी, (8°39'30" : 77°27') और कलाक्कडू (8°30'46" : 77°33') में छोटे निक्षेपों का पता लगा है (Narayanawami, *Rec. geol. Surv. India*, 1950, 83, 122).

पत्रकी ग्रेफाइट, शिवमलाई में मिलने वाले एलियोलाइट-सायनाइट का एक सामान्य और समरूप वितरित रचक है। शैलपिंड में इसका अंश 0.5–1.0% रहता है (Holland, *Mem. geol. Surv. India*, 1901, 30, 172, 180).

वारंगल जिले में पलोंचा संस्थान में ग्रेफाइट के निक्षेप मिलते हैं। इन निक्षेपों की खुदाई हो रही है। इनमें 60–90% कार्बन है।

पंजाब—हरियाणा—गुडगांव जिले में सोहना (28°15' : 77°8') के पास छोटी पहाड़ी पर शिस्ट की पट्टी में ग्रेफाइट मिला है। इसी पट्टी के नमूने में विश्लेषण करने पर 78.45% कार्बन पाया गया है। इस

पहाड़ी के पूर्व में भी 45-60 सेंमी. मोटी और 27 मी. लम्बी एक पट्टी में ग्रेफाइट मिला है। इस पदार्थ के गुण परिवर्तनशील हैं और यह अंशतः मुलायम और चूर्णमय तथा अंशतः कठोर है।

बंगाल - औसतन 32.5 सेंमी. मोटी एक शिरा का पता 'मैसर्स वर्न एण्ड कं.' ने सुतांग-लाचन मार्ग से 800 मी. उत्तर में लगाया है। इस निक्षेप से मिले ग्रेफाइट के नमूनों के विश्लेषण द्वारा पता लगा है कि इसमें 93% कार्बन है। इस क्षेत्र का विस्तार से सर्वेक्षण नहीं हुआ है। समीप ही अन्य शिराओं का पता चला है (Fermor, *Rec. geol. Surv. India*, 1935, 70, 116)।

दार्जिलिंग जिले में निम्नतर गोंडवाना के कार्बनमय शैल, न्यूनाधिक रूप से ग्रेफाइट शिस्ट में कार्यान्तरित हो गए हैं। किन्तु इस पदार्थ में ग्रेफाइट अंश कम है (Mallet, *Mem. geol. Surv. India*, 1875, 11, 64)।

बिहार-पलामू जिला के आरापुर क्षेत्र में शिस्टोस चट्टानों में विकीर्णित पत्रकों के रूप में ग्रेफाइट पाया जाता है। इन चट्टानों में ग्रेफाइट की मात्रा कम है। व्यापारिक महत्व का निक्षेप पलामू जिले की लतेहर तहसील में कुमानडीह के पास मिला है। इस क्षेत्र के नमूनों के विश्लेषण से 35% कार्बन मिला है। ग्रेफाइट को ज्ञान-प्लावन-विधि द्वारा समृद्ध किया जा सकता है (Fermor, *Rec. geol. Surv. India*, 1932, 65, 50)।

मुंगेर जिले के बागमारी और मानभूम जिले के डीमाडीहा (23°29' : 86°9') और बोंगोरा में ग्रेफाइट-निक्षेपों की उपस्थिति की सूचना है। बोंगोरा के निक्षेप में 55-60% कार्बन मिलता है। कालाझोर (23°26' : 86°35') से लगभग 1.2 किमी. दक्षिण में, ग्रेफाइट की एक शिरा की दो वर्ष तक खुदाई हुई है। इस शिरा से 5-10 सेंमी. आकार के ग्रेफाइट के ढेले प्राप्त हुए हैं। सांद्रण द्वारा खनिज के ग्रेफाइट को और समृद्ध किया जा सकता है (Deb, *Sci. & Cult.*, 1949, 15, 162; Mahadevan, *Rec. geol. Surv. India*, 1954, 86, 99)।

मध्य प्रदेश-बेतूल के लगभग 5 किमी. उत्तर में कार्बनमय शैल क्षेत्र में ग्रेफाइट का खोदने योग्य निक्षेप मिलता है। इस क्षेत्र के पश्चिमी भाग में, 3 मी. तक चौड़ाई और 30% कार्बन की मात्रा वाली पट्टियाँ मिली हैं। इस क्षेत्र के ग्रेफाइट-शिस्टों का उत्खनन हुआ है और 35% और इसके अधिक ग्रेफाइट उत्पाद प्राप्त करने के लिये इसे संदलित और सान्द्रित किया जा रहा है। यहाँ के भंडार काफी बड़े बताये जाते हैं।

वस्तर जिले के बोरा कोंवेसानवली (18°31' : 81°14') के निकट और कामराम (18°25' : 81°12') से द. प. 3.2 किमी. की दूरी पर एक स्थान में शिस्टोस शैलों में पत्रकी ग्रेफाइट पाया जाता है। इन निक्षेपों का कोई आर्थिक महत्व नहीं है (Heron, *Rec. geol. Surv. India*, 1938, 73, 55)।

मैसूर - कोलार जिले में, बोरिंगपेट तालुक के गणाचारपुरा (13°3' : 78°14') के निकट ग्रेफाइटवारी शिस्ट मिलता है। वे या तो क्वार्ट्जाइट से अंतर्विष्ट होते हैं या डायोबेस और ग्रेनाइट की तरह के आग्नेय शैलों के संपर्क में सुस्पष्ट निक्षेपों में मिलते हैं। अयस्क पिंडों में कार्बन की मात्रा 10-12% तक रहती है, जो कभी-कभी अपवादस्वरूप 25% तक पहुँच जाती है। इस क्षेत्र का वार्षिक उत्पादन 150-200 टन है, जो 'मैसूर आयरन एण्ड स्टील वर्क्स लिमिटेड', भद्रावती, द्वारा ढलाई लेप में प्रयुक्त होता है। ये भण्डार 50,000 टन होंगे। इसी जिले के बलागामडी (12°57' : 78°16') और मनीषट्टा (13°11' : 78°16') के निकट भी निम्न कोटि का ग्रेफाइटो पदार्थ मिलने की सूचना है।

मैसूर जिले में मोविनहाल्ली, टोरवाल्ली और अन्य दूसरे स्थानों के निकट क्रिस्टलीय शिस्ट में, स्थूल पत्रक के रूप में समान रूप से वितरित ग्रेफाइट मिलता है। मोविनहाल्ली के निकट का निक्षेप गाँव से प. द. प. लगभग 2.4 किमी. पर है। ग्रेफाइटवारी शैल, लगभग 45 मी. लम्बाई, औसतन 2 मी. चौड़ाई का एक मोटा लेंस है। धरातल से 9 मी. तक की गहराई तक, औसतन 10% कार्बन से युक्त भण्डार, 3,500 टन आँके गए हैं।

हेगाड्डेवनकोटे तालुके में सारगुर के समीप तोरवल्ली में कायनाइट, स्टैरोलाइट और अन्य खनिजों के साथ ग्रेफाइट पट्टी मिलती है। इन पट्टियों से मिलने वाले द्रव्य में 2-3% कार्बन पाया जाता है (Gupta, *Indian Minerals*, 1949, 3, 7)।

राजस्थान - जयपुर जिले के पश्चिमी भाग में बुचारा के निकट 1.6 किमी. उत्तर पूर्व में ग्रेफाइटो शिस्ट मिलता है।

इसी जिले में ग्रेफाइटो शिस्ट का 1.2 मी. मोटा एक संस्तर किशनगढ़ रेलवे स्टेशन से 1.6 किमी. पूर्व के क्षेत्र में पाया जाता है। इससे प्राप्त पदार्थ का उपयोग रेलवे की आवश्यकता के लिए काला ब्रलेप तैयार करने में किया जा रहा है (Heron, *Rec. geol. Surv. India*, 1924, 56, 180)।

जोधपुर जिले में, वाड़ (26°5' : 74°9') के निकट, क्वार्ट्ज शिरा द्वारा विलगित 30 मी. लम्बाई के, दो ग्रेफाइटो शैल-संस्तर मिलते हैं। इनसे प्राप्त ग्रेफाइट निम्न कोटि का है।

उदयपुर जिले में ग्रेफाइटो शैल के संस्तर अनेक स्थानों में मिलते हैं। इनमें से दाँतली पहाड़ी के निकट कालीघाट और हल्दीघाट तथा उदयसागर में पाये जाने वाले संस्तर अधिक प्रसिद्ध हैं। उदयसागर क्षेत्र का निक्षेप, यत्र तत्र ग्रेफाइट पट्टीवाले ग्रेफाइटो शैल के संस्तरों से बना है। यह 9-12 मी. मोटा है और 8 किमी. की लम्बाई तक फैला है।

ग्रेफाइट की विस्तृत खुदाई लोशियाना (25°54' : 74°13') से लगभग डेढ़ किलोमीटर दक्षिण, पहाड़ी के दक्षिण-पश्चिमीय किनारे हुई है। ग्रेफाइटो शिस्ट की (मध्यवर्ती क्वार्ट्जाइट संस्तर सहित) अधिकतम मोटाई 3 मी. है और यह पहाड़ी में उत्तर-पश्चिम दिशा में 75° का नमन दर्शाती करती है। यहाँ लगभग 20 आनति और गतें हैं जिनमें से सभी 6-9 मी. गहराई के हैं (Heron, *Rec. geol. Surv. India*, 1924, 56, 29)।

उत्खनन एवं उपचार

भारत में खनिज की खुदाई प्रायः स्थायी रूप से, खुले गतें और खाइयों से की जाती है। यह सारा काम हाथ से ही होता है, यहाँ तक कि उत्खनित पदार्थ को ऊपर उठाने के लिए भी यांत्रिक सहायता नहीं ली जाती। सतह से प्रारम्भ करके उत्खनन का कार्य शिराओं या पट्टियों के सहारे तथा अभिगम्य गहराई में नीचे की ओर बढ़ता है।

खुदे हुये पदार्थ के छोटे-छोटे टुकड़े कर लिए जाते हैं और शैलीय अशुद्धियों को हाथ से चुनकर निकाल देते हैं। बचे हुये टुकड़ों को लकड़ी की हथौड़ी (डेंकियों), बालमिटों या रेमंड चक्की द्वारा पीसा जाता है; फिर तिरछी जालियों से, जल में धोकर तथा शुष्क फटकन विधि द्वारा आकारों में छांट लिया जाता है।

प्राकृतिक पत्रकी ग्रेफाइट की प्रमुख अशुद्धियाँ अन्नक, कैल्साइट, क्वार्ट्ज, फेल्सपार, लोह सल्फाइड और कैल्सियम, मैग्नीशियम और ऐल्युमिनियम के सिलीकेट हैं। पत्रकी अयस्क में ग्रेफाइट की मात्रा 10-30% तक रहती है, जबकि कोमल अपघटित अयस्क में यह 30-50% तक पहुँच जाती है। शिराओं से निकला पदार्थ अधिक समृद्ध

होता है। अक्रिस्टलीय ग्रेफाइट के अयस्कों में कार्बन की मात्रा प्रायः कम रहती है। कणों की सूक्ष्मता के कारण घटिया श्रेणियों का सज्जीकरण कर सकना कठिन होता है। ये ढलाई प्रलेप में बिना किसी सज्जीकरण के प्रयुक्त होती हैं। कृत्रिम ग्रेफाइट के निर्माण से अक्रिस्टलीय ग्रेफाइट का महत्व बहुत कुछ घट गया है।

सज्जीकरण—ग्रेफाइट अयस्क को सांद्रित और परिष्कृत करने की अनेक शुष्क, आर्द्र और रासायनिक विधियाँ ज्ञात हैं। ग्रेफाइट को गैंग (कच्ची) से पृथक् करने की शुष्क विधि के अंतर्गत पेपण और छालन तथा वायु-वर्गीकरण एवं स्थिर वैद्युत आदि विधियाँ आती हैं। आर्द्र विधि में ग्रेफाइट अयस्क को बुडेल, लाग वाशर, रैक वाशर अथवा आर्द्र टेबल से धोकर निकाला जाता है। यह विधि चिकनी मिट्टी और सूक्ष्मतः प्रकीर्णित अशुद्धियों को ग्रेफाइट से बिलगाने में अधिक प्रभावकारी है। कभी-कभी गैंग पदार्थ को विलयित करने के लिए रासायनिक अभिक्रिया अपनाई जाती है। इसमें ग्रेफाइट को छान कर अलग करते हैं। सज्जीकरण की सर्वोत्तम प्रभावकारी विधि ज्ञात प्लवनशीलता है जो मुख्यतया उन अयस्क पिंडों के लिए, जिनमें ग्रेफाइट सूक्ष्मतः वितरित अवस्था में रहता है, ठीक से प्रयुक्त होती है।

टिटिलागढ़ (उड़ीसा) के ग्रेफाइट अयस्क के सज्जीकरण के लिए एक विधि का विकास किया गया है जो संदलित, आकारों के अनुसार विभाजन, फटकन और वर्ग-विभाजन पर आधारित है। कालाहांडी जिले (उड़ीसा) के पत्रक ग्रेफाइट अयस्क पर सज्जीकरण प्रयोग से ज्ञात हुआ है कि ज्ञात प्लवनशीलता द्वारा 44.4% कार्बन वाले अयस्क से 85.82% कार्बन के सांद्रण प्राप्त किये जा सकते हैं। स्तरों के बीच रह गई अशुद्धियों को निकालने के लिए सांद्रण के पश्चात् भी अन्तिम बार परिष्करण की आवश्यकता बनी रह सकती है। इसके लिए बेलन और वरस्टोन द्वारा सूक्ष्म पेपण आवश्यक है। अक्रिस्टलीय कार्बन से युक्त भारतीय अयस्क का उपचार आर्थिक दृष्टि से लाभदायक नहीं है, क्योंकि इस प्रकार से प्राप्त ग्रेफाइट, गुणता और मूल्य किसी में भी कृत्रिम ग्रेफाइट से होड़ नहीं ले सकता (Narayanan & Robotom, *Trans. Min. geol. Inst. India*, 1946, 14, 107; Ghosh *et al.*, loc. cit.; Gupta, loc. cit.).

भारतीय अयस्कों में ग्रेफाइट की मात्रा में अत्यन्त विभिन्नता मिलती है। 12–13% निश्चित कार्बन वाले अयस्क सज्जीकरण के लिये घटिया समझे जाते हैं क्योंकि इस समय भारत में प्रयुक्त विधियाँ न तो सक्षम हैं और न अर्थोपयोगी। संयुक्त राज्य अमेरिका और कनाडा में इससे भी निम्न प्रतिशत कार्बन वाले अयस्क गैसिल या ज्ञात प्लवनशीलन प्रक्रिया द्वारा उपचारित किये जाते हैं।

विभिन्न स्थानों से प्राप्त और स्वदेशी विधियों से परिष्कृत भारतीय ग्रेफाइट के नमूनों में राख की मात्रा उच्च है (15–30%) (सारणी 1, नमूना 2–6)। ज्ञात प्लवनशीलता द्वारा राख में काफी कमी और कार्बन की मात्रा में वृद्धि होती है (सारणी 1, नमूना 7)।

कृत्रिम ग्रेफाइट को निर्वात अवस्था में, उच्च कोटि के ऐंथ्रासाइट कोयले या पेट्रोलियम कोक, क्वार्ट्ज और लकड़ी के बुरादे के मिश्रण को, 3,000° पर गर्म करके तैयार किया जाता है। इससे ग्रेफाइट की कार्बन अवशिष्ट के रूप में एकत्र हो जाता है। विशुद्ध कार्बन मात्र को गर्म करने से ही ग्रेफाइट नहीं बन पाता। इसके लिए किसी एक धातु या धात्विक ऑक्साइड की उपस्थिति अनिवार्य है। इस प्रक्रिया में पहले एक धात्विक कार्बाइड बनता है जिसके अपघटन से ग्रेफाइट बनता है। ऐंथ्रासाइट में उपस्थित राख (रचक राख की मात्रा 8–10%) ग्रेफाइटिकरण के लिए ऑक्साइड प्रदान करता है।

सारणी 1 — ग्रेफाइट में कार्बन तथा राख की मात्राएं*

नमूना	स्रोत	कार्बन (%)	राख (%)	वाष्पशील द्रव्य (%)
1	श्रीलंका	92.78	7.22	0.11
2	भारत	82.40	13.77	0.28
3	„	72.24	21.94	5.42
4	„	78.86	18.43	3.17
5	„	70.46	21.05	8.49
6	„	64.88	33.43	1.69
7†	„	91.75	8.05	0.20

*Venkateswarlu, *J. Indian chem. Soc. industr. Edn*, 1944, 7, 9.

†ज्ञात प्लवनशीलता द्वारा सज्जीकरण के पश्चात् नमूना संख्या 4.

उपयोग

अपने अद्वितीय भौतिक गुणों के कारण ग्रेफाइट के नाना औद्योगिक सम्प्रयोग हैं। विद्युत का सुचालक होने से विद्युत उद्योग में उपयोगी इलेक्ट्रोड, प्लेट और ब्रश आदि के निर्माण के लिए यह श्रेष्ठ सामग्री है। इसमें उत्तम ऊष्मा चालकता, ऊष्मा प्रघात के प्रति उच्च प्रतिरोधकता, उच्च ताप पर उत्तम यांत्रिक सामर्थ्य एवं निम्न ऊष्मा प्रसारकता के गुण पाये जाते हैं। यह द्रवित धातुओं के द्वारा नम नहीं होता। यह प्रमुखतया मूषा, ताप-विनिमायक, भट्टी-इलेक्ट्रोड और भट्टी सम्बंधी कुछ अन्य सामग्री बनाने के लिए सर्वोपयुक्त है। अपने निम्न घर्षण गुणांक, घिसाई-प्रतिरोधी शक्ति एवं यांत्रिक क्षमता के कारण यह बेयरिंग और ब्रश के लिए अछ्छी तरह प्रयुक्त होता है। काफ़ी ताप-परासर में, अपनी रासायनिक अक्रियता के कारण इसका उपयोग विद्युत-रासायन उद्योग में अधिकाधिक किया जाता है।

पत्रकी और शिरा ग्रेफाइट का उपयोग उच्च ताप सहन कर सकने वाली मूषाओं, भभकों, मफलों, सैगरो, टॉटीदार पात्रों और अन्य सामग्री के बनाने में होता है। इन्हें ग्रेफाइट (20–100 छिद्र), मृत्तिका और बालू के मिश्रण को दबाने और फिर दाबित पदार्थ को उच्च ताप पर विसर्जित करके तैयार किया जाता है।

पत्रकी ग्रेफाइट मोटर और जनित्र के लिए आवश्यक विभिन्न प्रकार के ब्रशों के निर्माण में काम आता है। विपम दैशिक वैद्युत आचरण के कारण पत्रकी ग्रेफाइट का उपयोग वंघित ब्रश के निर्माण में किया जाता है। ब्रशों के उत्पादन का प्रारम्भिक संयंत्र भारतीय राष्ट्रीय भौतिक प्रयोगशाला में निर्मित किया गया है। इसके उत्पादन के उपयुक्त ग्रेफाइट में 2–3% से कम राख रहनी चाहिए। प्लेट, चकत्ती, दंडों और प्लंजरो के बनाने में भी ग्रेफाइट प्रयुक्त होता है। अब इलेक्ट्रोड उत्पादन में प्राकृतिक ग्रेफाइट का स्थान कृत्रिम ग्रेफाइट ने ले लिया है।

70% शुद्धता का सूक्ष्म-चूर्णित क्रिस्टलीय ग्रेफाइट, प्रलेप और वर्णक उद्योग में उपयोगी है। यह द्युत्तिमान, रासायनिकतः अक्रिय, जल-प्रतिकारक और उत्तम आवरणक शक्ति वाला होता है। इसका उपयोग काठ और इस्पात के रक्षण के लिए विलेप तैयार करने में किया जाता है।

ग्रेफाइट

ग्रेफाइट, वाष्पित्र में पपड़ी निर्माण को रोकता है। यह न तो वाष्पित्र-जल की अम्लता या क्षारता से और न ही ताप द्वारा प्रभावित होता है।

लगभग सभी प्रकार के ग्रेफाइट का उपयोग ढलाई लेप में होता है। ग्रेफाइट के कारण सॉचे की रेत ढाली जाने वाली वस्तुओं से नहीं चिपकती। उच्च कोटि का पत्रकी-ग्रेफाइट विशेषतया ढलाई कार्य के लिए उपयोगी है।

कोमल अक्रिस्टलीय ग्रेफाइट और पत्रकी ग्रेफाइट (राख, 5%) 300 छिद्र वाली छलनी से गुजरने के बाद पेंसिल उद्योग में प्रयुक्त होता है। ग्रेफाइट के विश्व उत्पादन का लगभग 8% पेंसिल उद्योग में प्रयुक्त होने का अनुमान है। भारतीय पेंसिल उद्योग में प्रयुक्त ग्रेफाइट श्रीलंका से आयात किया जाता है।

स्नेहक के रूप में ग्रेफाइट मूल्यवान होता है। इससे घर्षण कम होता है और यह गतिमान पृष्ठ को भीतल बनाए रखता है। शुष्क ग्रेफाइट, वाष्प बेसन को स्नेहित करने के लिए स्नेहक के रूप में प्रयुक्त होता है। भारी बेयरिंग के लिए ग्रेफाइट ग्रीज से और हल्के बेयरिंग के लिए तेल से मिश्रित किया जाता है। चूर्ण धातुकर्मीय विधि से निर्मित धातु-बेयरिंगों में ग्रेफाइट मिला रहता है।

स्टोव तथा अन्य ढलवाँ लोहे की सामग्री के प्रलेपन में ग्रेफाइट का प्रयोग होता है। विस्फोटक चूर्ण तथा भारी तोप चूर्ण को आद्रता से बचाने के लिए ग्रेफाइट से ग्लेज किया जाता है।

वैद्युत-सुचालकता के कारण ग्रेफाइट वैद्युत-मूद्रण में प्रयुक्त होता है। धातु निक्षेपित सॉचे, सूक्ष्म विभाजित ग्रेफाइट के लेप से चालकता प्रदर्शित करने लगते हैं।

श्रेणी — मृपा उद्योग में प्रयुक्त पत्रकी ग्रेफाइट में कम से कम 90% ग्रेफाइट की कार्बन होना चाहिए। छोटते समय इसे 20 छिद्र की छलनी से प्रवक्ष निकल जाना चाहिए और 90 छिद्रों की छलनी पर रुक जाना चाहिए। द्वितीय श्रेणी का पत्रक ग्रेफाइट कम छतिमान और 75-90% कार्बन से युक्त होता है। यह स्नेहक की तरह और शुष्क सेल तथा प्रलेप बनाने में प्रयुक्त होता है। तृतीय श्रेणी के ग्रेफाइट में 50-75% कार्बन रहता है तथा आवश्यकतानुसार इसे सज्जीकृत किया जा सकता है। अक्रिस्टलीय ग्रेफाइट का उपयोग पेंसिल उद्योग में और प्रलेप के लिए किया जाता है। कुछ उपभोगों के लिए तो इसे इतना चूर्णित किया जाता है कि यह 200 छिद्रों की छलनी से गुजर सके।

उत्पादन एवं भविष्य

विश्व का ग्रेफाइट का वार्षिक उत्पादन 1,20,000 से 2,30,000 टन के बीच है। इसके प्रमुख उत्पादक देश श्रीलंका, मेडागास्कर, जर्मनी, रूस, संयुक्त राज्य अमेरिका, कोरिया, मैक्सिको, चेकोस्लोवाकिया, इटली और नावें हैं। थावनकोर के ग्रेफाइट निक्षेप पर इस शताब्दी के प्रारम्भ में उत्खनन कार्य चला लेकिन गहरी खुदाई की परेशानियों के कारण, 1912 के पश्चात् यह काम बंद हो गया। प्रथम विश्वयुद्ध के दौरान आयात में कमी हो जाने के कारण राजस्थान और उड़ीसा के ज्ञात निक्षेपों में उत्पादन शुरू हुआ। संचार में सुधार, कुशल उत्खनन विधि और सज्जीकरण प्रक्रम के फलस्वरूप तमिलनाडु, उड़ीसा और राजस्थान की खानों में उत्पादन बढ़ने की आशा है।

भारत में उत्पादित ग्रेफाइट की मात्रा 1937 और 1954 में क्रमशः 617 और 1,479 टन थी और इन्हीं वर्षों में इसका मूल्य क्रमशः 36,918 और 1,36,591 रुपये था। सारणी 2 में 1961-69 तक की अवधि में भारत में आयातित ग्रेफाइट की मात्रा और उसका मूल्य तथा सारणी 3 में 1964 और 1965 का विभिन्न देशों से भारत में ग्रेफाइट का आयात और उसका मूल्य दिया गया है।

सारणी 2 — भारत में ग्रेफाइट का आयात*

(मात्रा : टन; मूल्य : हजार रु. में)

वर्ष	मात्रा	मूल्य
1961	1,752	903
1962	2,242	959
1963	1,084	908
1964	2,016	1,241
1965	2,490	1,947
1966	2,186	1,915
1967	1,248	1,503
1968	972	1,106
1969	1,088	1,267

* Indian Mineral Yearbook, 1965.

सारणी 3 — विश्व के प्रमुख देशों से भारत में ग्रेफाइट का आयात*

(मात्रा : टन; मूल्य : हजार रु. में)

	1964		1965	
	मात्रा	मूल्य	मात्रा	मूल्य
श्रीलंका	833	612	1,267	970
प. जर्मनी	70	105	150	384
जापान	68	187
द. कोरिया	239	56	559	108
ब्रिटेन	37	66	114	84
मैक्सिको गणराज्य	91	76	80	63
फ्रांस	4	6	64	56
नावें	210	167	44	34
हंगकांग	509	115	116	27
अमेरिका	32	38	11	18
कोलम्बिया	6	6
अन्य	11	10
कुल	2,016	1,241	2,490	1,947

* Indian Mineral Yearbook, 1965.

सारणी 4 — भारत से ग्रेफाइट का निर्यात*

(मात्रा : टन; मूल्य : हजार रु. में)

वर्ष	मात्रा	मूल्य
1961	22	26
1962	15	15
1963	19	25
1964	12	10
1965	12	12
1966	10	10
1967	14	16
1968	160	408
1969	153	474

* Indian Mineral Yearbook, 1965.

द्वितीय विश्वयुद्ध के पूर्व, ग्रेफाइट मूपा प्रायः जर्मनी और जापान से और आंशिक रूप में यू. के. से आयातित होते थे. प्रलेप और अन्य कार्यों के लिये ग्रेफाइट अधिकतर श्रीलंका से मंगाया जाता है. इसकी थोड़ी मात्रा का आयात यू. के. और संयुक्त राज्य अमेरिका से भी होता है. भारत से ग्रेफाइट का निर्यात उसके आयात की तुलना में एकदम नगण्य है, जैसा सारणी 4 में दिया गया है.

ग्रेसिलिया — देखिए **मेलानोसेक्सिस**

ग्रेसिलेरिया — देखिए **शैवाल**

ग्रैजिया ऐडेन्सन (कम्पोज़िट)

GRANGEA Adans.

ले. — ग्रांग्रेआ

यह झाड़ियों का लघु वंश है जो अफ्रीका तथा एशिया के उष्णकटिबंधीय तथा उपोष्ण भागों में पाया जाता है. भारत में दो जातियाँ पायी जाती हैं.

Compositae

ग्रै. मंडेरास्पैटाना पोएरेट *G. maderaspatana* Poir.

ले. — ग्रै. मंडेरास्पैटाना

D.E.P., IV, 175; Fl. Br. Ind., III, 247.

हिं.—मस्तार, मुखतारी; बं.—नामुती; म.—मशिपात्री, गु.—शिनकीमुंडी, नहानिगोरखमुंडी; ते.—सावे, मुस्तार माचिपत्री; त.—मासिपत्री; क.—दवन; मल.—निलमपाला.

विहार—भेडियाचीम, बिचिवा.



चित्र 34 — ग्रैजिया मंडेरास्पैटाना — पुष्पित

यह भारत के अधिकांश भागों में पाया जाने वाला, फैले हुए तनों वाला, एक शयान रोमिल, एकवर्षी है. इसकी पत्तियाँ एकान्तर, अवृत, पिच्छकी पालि वाली; पुष्पशीर्ष पीले तथा गोल होते हैं. यह एक सामान्य अपतृण है जो बहुधा बलुही जमीनों तथा बंजरों में उगता है. पत्तियों की गन्ध वार्मबुड के समान होती है. इस पौधे के कुछ देशी नाम सम्भवतः आर्टिमीजिया जातियों के हैं (Dymock, Warden & Hooper, II, 248).

पत्तियाँ क्षुधावर्धक, अनवरोधी तथा उद्वेष्टरोधी समझी जाती हैं और फाँट तथा अवलेह के रूप में निर्देशित की जाती हैं. अनियमित ऋतुस्त्राव के लिए ये अच्छी समझी जाती हैं. ये पृष्ठिरोधी हैं तथा दर्द हरने के लिए सेंक में प्रयोग की जाती हैं. कान के दर्द में पत्तियों का रस कान में डाला जाता है (Kirt. & Basu, II, 1336; Tadulingam & Narayana, 161).

Artemisia

ग्रेप्टोफिलम नीस (अकंथेसी) *GRAPTOPHYLLUM* Nees

ले. — ग्राप्टोफिल्लम

Fl. Br. Ind., IV, 545.

यह ऑस्ट्रेलिया, प्रशान्त द्वीपों तथा अफ्रीका की मूलवासी झाड़ियों का एक वंश है. इसकी कुछ जातियाँ विश्व के सभी उष्णकटिबंधीय प्रदेशों में अपनी सुन्दर पत्तियों के लिए उगाई जाती हैं.

ग्रै. पिक्टम ग्रिफिथ सिन. ग्रै. हार्टेन्स नीस (कैरिकेचर प्लांट) 0.9—2.4 मी. ऊँची झाड़ी है जो सामान्यतः भारतीय उद्यानों में उगाई जाती है. पत्तियाँ लघु-वृत्तीय, दीर्घवृत्ताकार, तथा मक्खनी सफ़ेद चमकीली पीली अथवा किरमिजी धब्बों के कारण आकर्षक चितकवरी; फूल गुच्छों में, नील-लोहित अथवा किरमिजी होते हैं. यह सहिष्णु पौधा है और कलमों द्वारा उगाया जाता है. इसका उपयोग प्रायः वाड़ बनाने के लिए किया जाता है (Gopalaswamiengar, 182, 297).

इस पौधे का उपयोग घावों में या चर्म रोगों में लगाने के लिए किया जाता है. कब्ज पर इसका फाँट और कान में पीड़ा होने पर इसका रस प्रयोग में लाया जाता है. कोंकण में इस पौधे के ओपधि-सम्बंधी उपयोग अघाटोडा वसीका के समान हैं. पत्तियाँ वेदनाहर तथा फोड़े को पकाने वाली होती हैं. इन्हें सृजन तथा फोड़ों पर लगाया जाता है. इनमें अविपैले ऐल्कलायड की सूक्ष्म मात्रा पाई जाती है. पत्तियों के वाष्पीय आसवन से एक गंध-युक्त पदार्थ प्राप्त होता है जो कुमैरिन का सूचक है (Burkill, I, 1110; Kirt. & Basu, III, 1906; Wehmer, II, 1143).

Acanthaceae; *G. pictum* Griff. syn. *G. hortense* Nees; *Adhatoda vasica*

ग्रोमुलेराइट — देखिए **तामड़ा**

ग्लाइकोस्मिस कोरिया (रुटसी) *GLYCOSMIS* Correa

ले. — ग्लिकोस्मिस

यह झाड़ियों तथा लघु वृक्षों का वंश है जो एशिया और ऑस्ट्रेलिया के उष्णकटिबंधीय तथा उपोष्णकटिबंधीय भागों में पाया जाता है. भारत में इसकी 8 जातियाँ मिलती हैं.

Rutaceae

ग्ला. पेंटाफिला (रेत्सियस) कोरिया; हुकर पुत्र (फलो. ब्रि. इ.) अंशतः; (ग्ला. आर्बोरिया कोरिया सहित) *G. pentaphylla* (Retz.) Correa

ले. — ग्ल. पेंटाफिल्ला

D.E.P., III, 512; Fl. Br. Ind., I, 499; Narayanaswami, *Rec. bot. Surv. India*, 1941, 14 (2), Fig. 1 & 6.

सं.—अश्वशकोट, वननिम्बुक, पातालगरुडी; हि.—वन नींबू; वं.—आश्वीरा, मटखिला; म.—किरमिरा; ते.—गोलुगु, गोंगीपादु; त.—अनम, कुला पत्रई; क.—गुरोदागिड़ा, मणिक्यन; मल.—पनल, पांची. उड़ीसा—चौवलदुआ; असम—हेजिना-पोका; पंजाब—पुताली, गिरगिट्टी.

यह एक गंधयुक्त छोटा वृक्ष या झाड़ी है जो भारत-भर में सर्वत्र पाई जाती है. कभी-कभी गहरी हरी, चमकीली पत्तियों और श्वेत तथा गुलाबी रंग की बेरियों के लिए इसे उद्यानों में भी लगाया जाता है. इसकी पत्तियाँ असंमुख, विपक्षधारी, अधिकतर, पंचपर्णी, कभी-कभी 4-1 पर्णी; फूल कक्षवर्ती, पुष्पगुच्छ श्वेत, छोटे; बेरियाँ गूदेदार, ग्रन्थीय और खाय होती हैं.

यह पौधा खांसी, वात, रक्ताल्पता तथा पाण्डु रोगों में देशी दवा के रूप में प्रयुक्त होता है. पत्तियों का तिक्त रस ज्वर, यकृत के विकारों तथा कृमिनाशक के रूप में दिया जाता है. अपरस तथा अन्य चर्म रोगों में अदरक के साथ इसकी पत्तियों का लेप लगाया जाता है. चेहरे की सूजन को कम करने के लिए इसकी जड़ों का काढ़ा बनाकर पिलाया जाता है. शाखायें तन्तुमय और कपाय होती हैं. बंगाल में इसकी दातून बनाते हैं [Dutt, *Proc. Acad. Sci. Unit. Prov.*, 1935, 5, 55; Bal, *Rec. bot. Surv. India*, 1942, 6 (10), 45].

ग्ला. पेंटाफिला की पत्तियों में ग्लाइकोस्मिन ($C_{22}H_{26}O_{10}$; ग. वि., 169°) नामक एक ग्लुकोसाइड रहता है जिसके जल अपघटन से वैरैट्रिक अम्ल और सैलिसिल ऐलिडहाइड प्राप्त होते हैं. यह कड़वा ग्लुकोसाइड सम्पूर्ण पौधे में पाया जाता है, परन्तु नवजात पत्तियों और कलियों में इसकी सर्वाधिक मात्रा रहती है (0.2%). पत्तियों में फ्लोबैफीन, एक टैनिन और लेश मात्रा में शर्कराओं के साथ ही सैलिसिन (2.1%) भी पाया जाता है (Dutt, loc. cit.).

वायु-शुष्क पादप पदार्थ में से दो फ्यूरोक्विनोलीन क्षारक पृथक् किए गए हैं. ये हैं: कोकुसैजिनीन [4, 6, 7-ट्राइ-मेथाक्सि फ्यूरो-(2', 3'-2, 3) विक्वोलीन; $C_{14}H_{13}O_4N$; ग. वि., 171-72°] और स्किमियानीन [4, 7, 8-ट्राइ-मेथाक्सि फ्यूरो-(2', 3'-2, 3) विक्वोलीन; $C_{14}H_{13}O_4N$; ग. वि., 177-78°]. प्रत्येक क्षारक की सान्द्रता 0.01% है. पत्तियों में जिन अन्य ऐल्कलायडों की सूचना मिली है वे ग्लाइकोस्मिन (ग. वि., 155-56°), आर्बोरीन (ग. वि., 155-56°), ग्लाइकोस्मिनिन (ग. वि., 225°) और आर्बोरीनीन ($C_{26}H_{24}O_6N_2$; ग. वि., 175-76°). ग्लाइकोसिन और आर्बोरीन कदाचित् एक समान हैं. आर्बोरीन जो ग्ला. आर्बोरिया की पत्तियों से निष्कर्षित मुख्य ऐल्कलायड है, एक विक्वोलीन व्युत्पन्न है जिसका स्वाद कुछ कड़वा और तीखा होता है. परिपक्व पत्तियों में नवजात पत्तियों की अपेक्षा अधिक ऐल्कलायड रहता है. परन्तु इसकी सबसे अधिक सान्द्रता (वायु-शुष्क पौधों में 0.55%) मार्च-अप्रैल में तोड़ी गई पत्तियों में रहती है. मूल, छाल और तने में भी यह ऐल्कलायड पाया जाता है किन्तु कलियाँ, फूल, हरी फलियाँ और बीजों में यह नहीं रहता है. ज्वरहर के रूप में इसकी पत्तियों का स्थानीय

उपयोग, इसमें उपस्थित विक्वोलीन क्षारकों के कारण लाभदायक है (McKenzie & Price, *Aust. J. sci. Res.*, 1952, 5A, 579; Chatterji & Ghosh Majumdar, *Sci. & Cult.*, 1951-52, 17, 306; 1952-53, 18, 505, 604; Chakravarti & Chakravarti, *J. Instn Chem. India*, 1952, 24, 96; *Sci. & Cult.*, 1952-53, 18, 539; Chakravarti et al., ibid., 1952-53, 18, 553).

G. arborea Correa

ग्लाइनस लिनियस (एजोएसी) GLINUS Linn.

ले. — ग्लिनस

यह संसार के उष्णकटिबंधी और उप-उष्णकटिबंधी प्रदेशों में पाया जाने वाला वृष्टियों का वंश है. भारत में इसकी दो जातियाँ मिलती हैं. *Aizoaceae*

ग्ला. अपोजिटिफोलियस (लिनियस) ए. द कन्दोल सिन. मोलुगो अपोजिटिफोलिया लिनियस; मो. स्परगुला लिनियस *G. oppositifolius* (Linn.) A. DC.

ले. — ग्ल. ओपोजिटिफोलिजस

Fl. Br. Ind., II, 663; Kirt. & Basu, Pl. 474.

सं.—ग्रीष्म-सुन्दरक, फणिज; हि. और वं.—जीमा; म.—झरासी; गु.—कर्बोओखरद; ते.—छायुं-तरशियाकु; त.—तुरेइल्लै, कचन्तराई; क.—परपत्का; मल.—कैपजीरा.

यह एक विसरित, शयान अथवा आरोही एकवर्षी है जिसका तना 60 सेंमी. तक, अनेक शाखाओं में युक्त होता है और मूसला जड़ मजबूत होती है. यह भारत के अधिकांश भागों में विशेषतः बंगाल, असम और दक्षिणी प्रायद्वीप में पाया जाता है. इसकी पत्तियाँ चक्करदार, आयताकार अधोमुख अंडाकार अथवा स्पैचुलाकार और कभी-कभी पतली रोमिल; फूल हरे अथवा श्वेत, कक्षीय पूलिका में लगे और संपुट 3 या 4 पटों वाले तथा अनेक गुर्दाकार बीजों से युक्त होते हैं.

यह पौधा क्षुधावर्धक, मधुविरेचक, प्लीरोधी तथा दमित ऋतुलाव में लाभकारी माना जाता है. इसे रेंडी के तेल के साथ पीसकर कान की पीड़ा में गर्म करके उपयोग करते हैं. इसका रस खुजली और अन्य त्वचा रोगों के उपचार में काम आता है (Kirt. & Basu, II, 1184; Fl. Malesiana, Ser. I, 4, 270).

Mollugo oppositifolia Linn.; *M. spargula* Linn.

ग्ला. लोटाइडीज लिनियस सिन. मोलुगो हिर्टा थनवर्ग; मो. लोटाइडीज कुंट्जे *G. lotoides* Linn.

ले. — ग्ल. लोटोइडेस

D.E.P., V, 225; Fl. Br. Ind., II, 662; Kirt. & Basu, Pl. 473A.

सं.—ओखरादि, भिस्सत; हि.—गंडीबुडी; वं.—दूसेरासाग; म.—कोटरक; गु.—घोलोओखरद, मिठी ओखरद; त.—सिरसेरुपदी. पंजाब—गंडीबूटी पोरप्रांग.

यह शयान अथवा आरोही, रोमिल, एकवर्षी है जिसकी मूसला जड़ें प्रायः मजबूत और लम्बी होती हैं. यह भारत के मैदानी प्रदेशों में मिलता है. इसका तना 90 सेंमी. तक लम्बा, फैला हुआ शाखायुक्त;

पत्तियाँ सम्मुख या चक्करदार, चौड़ी अधोमुख अंडाकार या उपवृत्ताकार; फूल गुलाबी शार्ड लिए सफ़ेद अथवा हरे से, कक्षीय पुलिका में लग्न और संपुट 5-वाल्वयुक्त जिनमें अनेक समवेत बीज भरे रहते हैं। नर्म प्ररोहों से तरकारी बनाई जाती है। यह पौधा उदर विकार के उपचार में उपयोगी माना जाता है (Kirt. & Basu, II, 1184).
Mollugo hirta Thunb.; *M. lotoides* Kuntze

ग्लासोकार्डिया कैसिनी (कम्पोज़िटो) GLOSSOCARDIA
Cass.

ले. — ग्लोस्सोकार्डिया

यह भारतीय-मलाया क्षेत्र में पाई जाने वाली बूटियों का एक लघु वंश है जिसकी दो जातियाँ भारत में मिलती हैं।

Compositae

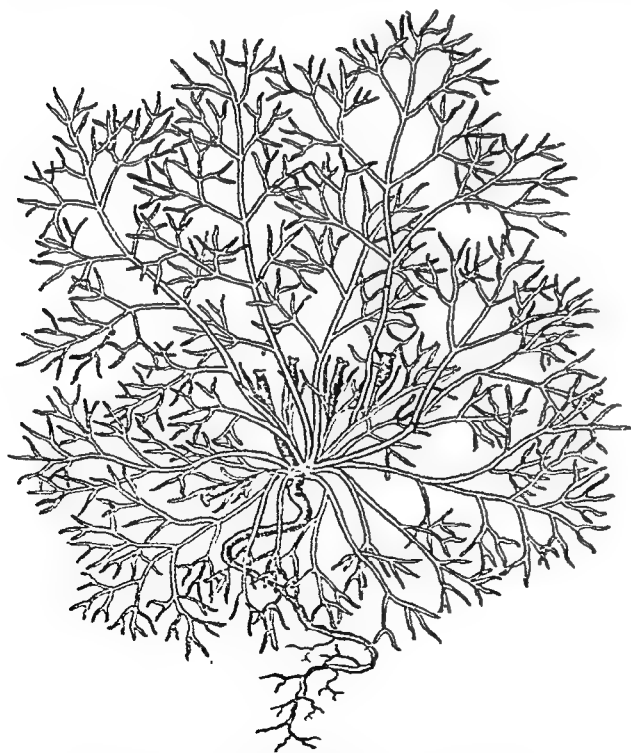
ग्ला. बोस्वालिया द कन्दोल सिन. ग्ला. लीनियरीफोलिया
कैसिनी *G. bosvallia* DC.

ले. — ग्लो. बोस्वाल्लिया

D.E.P., III, 508; Fl. Br. Ind., III, 308.

सं. — पिठारी; हिं. — सेरी; म. — पठारासुवा, ते. — परपलानमु.

यह शयान, विरले ही सीधा, बहुशाखीय अरोमिल एकवर्षी है जो उत्तरी और पश्चिमी भारत तथा दक्षिणी प्रायद्वीप में पाया जाता है। इसका तना 7.5–25 सेंमी. लम्बा, खाँचेदार; पत्तियाँ एकान्तर, पतली,



चित्र 35 — ग्लासोकार्डिया बोस्वालिया — पुष्पित पौधा

छोटे-छोटे खण्डों में विभाजित; पुष्पशीर्ष छोटे, कक्षस्थ और सीमान्त, पीले; ऐकीन स्पष्ट, लम्बे, लोमशयुक्त होते हैं।

पौधे का स्वाद तिक्त और गंध सोंफ की होती है। अन्नाभाव में इसे तरकारी के रूप में खाते हैं। आर्तवजनक के रूप में भी इसका प्रयोग होता है (Chopra, 493).

G. linearifolia Cass.

ग्लासोगाइन कैसिनी (कम्पोज़िटो) GLOSSOGYNE Cass.

ले. — ग्लोस्सोगिने

D.E.P., III, 508; Fl. Br. Ind., III, 310; Kirt. & Basu, Pl. 535 A.

यह बूटियों का वंश है जो दक्षिणी-पूर्वी एशिया और ऑस्ट्रेलिया में पाया जाता है। इसकी एक जाति भारत में पाई जाती है।

ग्ला. बिडेंस (रेत्सियस) आल्स्टन सिन., ग्ला. पिनटिफिडा
द कन्दोल (गु. — परदेशी भाँगरो; सौराष्ट्र — कागसुवा; बिहार — वारन-गोम, बीर-वारनगोम, तेजराज, पाखल रेत, रिगुदरानु) एक बहुवर्षी अरोमिल बूटी है, जिसकी तर्कुरूप जड़ से अनेक तने निकलते हैं। यह भारत के पश्चिमी और उत्तरी भागों से लेकर पूर्व में बंगाल तक और दक्षिण में डेकन तक, मुख्यतः मैदानों में पायी जाती है। इसकी पत्तियाँ मुख्यतः मूलज, पक्षवत्, लम्बे आयताकार खण्डों में विभाजित तथा पुष्पशीर्ष पीले होते हैं। औराव वासी इस पौधे की जड़ को दाँत की पीड़ा में व्यवहार करते हैं, ऐसा उल्लेख है (Bressers, 81).

Compositae; *G. bidens* (Retz.) Alston; *G. pinnatifida* DC.

ग्लासोनेमा डिकैज़ने (एस्क्लेपिएडेसी)

GLOSSONEMA Decne.

ले. — ग्लोस्सोनेमा

Fl. Br. Ind., IV, 16.

यह बूटियों का एक वंश है जो अफ्रीका और एशिया के उष्णकटिबंधीय और उपोष्णकटिबंधीय क्षेत्रों में पाया जाता है। इसकी एक जाति भारत में भी प्राप्य है।

ग्ला. वैरियन्स बेन्थम एक छोटी, बहुत शाखाओं वाली, सीधी या अवरोही बूटी है जो राजस्थान में पायी जाती है। पत्तियाँ अंडाकार या दीर्घवृत्ताकार और मांसल; पुष्प श्वेत या पीत तथा गंधयुक्त; फालिकिल कंटकमय, 2.5–5 सेंमी. लम्बे होते हैं। फालिकिल खाद्य हैं और शीतलकारी बताये जाते हैं। इस बूटी को बकरियाँ और ऊँट खाते हैं (Kirt. & Basu, III, 1604; Burkill, 1909, 48).

Asclepiadaceae; *G. varians* Benth.

ग्लिरिसिडिया हम्बोल्ट, वोनप्लांड और कुंथ (लेग्यूमिनोसी)

GLIRICIDIA H. B. & K.

ले. — ग्लिरिसिडिया

यह वृक्षों और झाड़ियों का लघु वंश है जो अमेरिका के उष्णकटिबंधीय भागों का मूल वासी है। इसकी एक जाति, ग्लि. सेपियम, उष्णकटिबंधीय क्षेत्रों में छाया और शोभा के लिए वृक्षों के रूप में लगाई जाती है।

Leguminosae

ग्लि. सेपियम (जैक्विन) वाल्पर्स सिन. ग्लि. मैकुलेटा
(हम्बोल्ट, वोनप्लांड और कुंथ) स्ट्यूडेल

G. sepium (Jacq.) Walp.

ले.-ग्लि. सेपिऊम

Benthall, 146; Cowen, 67.

यह लघु या मध्यम आकार का छोटे तने वाला वृक्ष है जो भारत में पहले बागानों में छायादार वृक्ष के रूप में लगाया गया। इसकी पत्तियाँ बड़ी, विपमपक्षवत्, 7-15 तक छोटी पत्तियों से युक्त, ऊपर की ओर गहरे हरे रंग की और नीचे की ओर पीले रंग की; फूल बैंगनी-लाल या सफ़ेद, पत्तियाँ गिरने पर काफ़ी बड़ी संख्या में लगते हैं। फलियाँ 10-20 सेंमी. लम्बी चपटी और 10 या अधिक बीजों से युक्त होती हैं।

यह वृक्ष तमिलनाडु, मैसूर, महाराष्ट्र और त्रावनकोर-कोचीन के कुछ भागों में 900 मी. की ऊँचाई तक बड़ी संख्या में उगाया जाता है। तमिलनाडु में इसे खेतों की मेड़ों पर लगाते हैं और यह धान की खेती के लिए हरी खाद का काम करता है। पश्चिमी द्वीपसमूह में इसे वर्षा ऋतु में बाढ़ के रूप में उगाते हैं और 6-8 सप्ताह के अन्तर पर इसे छाँटते रहते हैं [Use of Leguminous Plants, 208; Mudaliar, Madras agric. J., 1953, 40, 274; Whyte et al., 274; Indian Fmg, N.S., 1954-55, 4 (10), 16].

यह जल्दी बढ़ने वाला वृक्ष है और बीज अथवा कलमों के द्वारा प्रवर्धित किया जाता है। कलम द्वारा प्रवर्धन पसन्द किया जाता है क्योंकि बीज आसानी से मिल नहीं पाते और इन पर कीटों के आक्रमण का भय रहता है। 0.9-1.8 मी. लम्बी टहनियाँ या कलमें तुरन्त जड़ पकड़ लेती हैं और उन्हें 3.6 मी. के अन्तर पर या आवश्यकता के अनुसार कुछ कम या अधिक अन्तर पर स्वस्थाने लगाया जा सकता है। श्रीलंका में 6 मी. × 6 मी. अन्तर से शुरू करके बाद में उसे 12 मी. × 12 मी. करने की संस्तुति की गई है। कभी-कभी वृक्ष की छँटाई करके उसे सुन्दर रखा जाता है। ग्रीष्म ऋतु (फरवरी-अप्रैल) में पत्तियाँ झड़ जाती हैं और तमाम फूल निकल कर शाखाओं को ढक लेते हैं (A Manual of Green Manuring, 60; Macmillan, 85, 211; Blatter & Millard, 63).

यह वृक्ष सामान्यतः नाशकजीवों और रोगों से मुक्त रहता है। कभी-कभी इस पर एक मीली बग, स्पूडोकोक्स विरगेटस कोकेरेल, का आक्रमण होता है जिससे इसकी सारी पत्तियाँ गिर जाती हैं। इस वृक्ष के अतिरिक्त अन्य पौधों पर भी, जिनमें सस्य पौधे भी सम्मिलित हैं, इस नाशकजीव का हमला होता है। मत्स्य तैल, रोजिन सावुन या कच्चे तैल के पायस के समान संस्पर्श कीटनाशकों के छिड़काव से रोकथाम होती है। कुछ सर्वांगी और संश्लिष्ट रसायनों की भी परीक्षा की गई है और वे प्रभावशाली पाये गये हैं (A Manual of Green Manuring, 61, 186; Krishnaswami & Rao, Madras agric. J., 1952, 39, 600).

काफ़ी बड़ी मात्रा में हरा पदार्थ प्रदान करने के कारण यह वृक्ष महत्वपूर्ण है। दो वर्ष का होने पर वृक्षों की पत्तियाँ काट दी जाती हैं। यह आवश्यक है कि पहली बढ़वार की पत्तियाँ जल्दी ही छाँट दी जाएँ जिससे कि ऊपरी भाग भारी न होने पावे। खेती की परिस्थितियों के अनुसार दो से चार बार छँटाई की जाती है। प्रारम्भ में हर वृक्ष की छँटाई से 6.75-11.25 किग्रा. हरा पदार्थ प्राप्त होता है किन्तु दूसरे वर्ष में यह 13.5-18 किग्रा. और पाँचवें वर्ष में 90-135 किग्रा. तक हो जाता है। श्रीलंका में पहले 5 वर्षों में हर वृक्ष से प्रति वर्ष औसतन 63 किग्रा. हरे पत्ते मिलने की सूचना है। एरियायना सुबम्बेंस नाम के वृक्ष की तुलना में, जो चाय या कहवा-बागानों में लगाया जाता है,



चित्र 36 - ग्लिरसिडिया सेपियम - फलित पौधा

ग्लि. सेपियम द्वारा प्रति हेक्टर, प्राप्त होने वाले हरे पदार्थ की मात्रा अधिक होती है : साथ ही ग्लि. सेपियम की छँटाई से वृक्षों को हानि नहीं पहुँचती। इस वृक्ष से 8-20 वर्ष तक आर्थिक लाभ होता रहता है (A Manual of Green Manuring, 60; Madras agric. J., 1954, 41, 435; Macmillan, 85; Information from Director, Dep. Agric., Madras).

छाँटे हुए अंश में नाइट्रोजन की मात्रा अधिक होती है। पुरानी की तुलना में नई टहनियों और पत्तों में उर्वरक अवयव अधिक मात्रा में रहते हैं। नवीन टहनियों और पत्तों का रासायनिक विश्लेषण इस प्रकार है : जल, 73.1; कार्बनिक पदार्थ, 24.3; नाइट्रोजन, 0.79; चूना (CaO), 0.77; पोटैश (K₂O), 0.37; और फॉस्फोरिक अम्ल (P₂O₅), 0.19%। पत्तियाँ चारे के लिए भी प्रयुक्त होती हैं। नवीन टहनियों की संरचना और पोषकता के मान निम्नांकित हैं : जल, 72.9; प्रोटीन, 5.1; वसा, 1.0; विलेय कार्बोहाइड्रेट, 15.1; रेश, 4.2; और राख, 1.7%; पचनीय प्रोटीन, 2.9%; पोषकता अनुपात, 2.9; और स्टार्च तुल्यांक, 11.1 (A Manual of Green Manuring, 13; Teik, Dep. Agric., Fed. Malaya, Sci. Ser., No. 24, 1951, 67).

सुखाई हुई पत्तियों में ताजे काटे चारे की-सी गंध रहती है। पत्तियों और छाल की यह गंध एक क्यूमैरिन के कारण होती है। फिलिपीन्स और केन्द्रीय अमेरिका में फलों की तरकारी बनाई जाती है। इनमें जल, 85.46; प्रोटीन, 3.67; वसा, 1.47; अपरिष्कृत रेश,

2.42; अन्य कार्बोहाइड्रेट (घटाने से प्राप्त), 5.94; और राख, 1.04% होती है (Macmillan, 85; Valenzuela & Wester, *Philipp. J. Sci.*, 1930, 41, 85).

फूल से मधु प्राप्त होता है और मधुमक्खियाँ इस पर खूब बैठती हैं। इनसे प्राप्त मधु का रंग रक्तपीत होता है तथा उसका स्वाद और गंध रुचिकर होते हैं। मधु के विश्लेषण से निम्नांकित मान प्राप्त हुए : (आ. घ., 1.206); अपचायक शर्कराएँ, 63.95; स्पूक्रोस, 7.95; मुक्त अम्ल, 0.09% (Subbiah & Mahadevan, *Madras agric. J.*, 1952, 39, 419).

बीजों से एक वसा-अम्ल प्राप्त होता है। ताजे बीजों से प्राप्त गिरी (उपलब्धि, 85.54%) में जल, 13.16; राख, 3.53; प्रोटीन, 53.80; वसा, 16.12; और कार्बोहाइड्रेट, 3.39% होते हैं (Padilla & Soliven, *Philipp. Agric.*, 1933, 22, 408).

लकड़ी टिकाऊ होती है और घरेलू खम्भों, बाड़ों, खूंटों और रेलों की क्रास टाइयाँ बनाने के काम आती हैं। फिलिपीन्स में टहनियाँ जलाई जाती हैं (Record & Hess, 273; Valenzuela & Wester, loc. cit.).

यह वृक्ष चूहों और अन्य क्रंतकों के लिए विषैला है किन्तु पशुओं के लिए नहीं। बीजों, पत्तियों और छाल के चूर्ण को चावल में मिलाकर नाशकजीवों का मारक चारा बनाते हैं। आधुनिक खोजों से पता चला है कि पत्तियों, बीजों, फलों और जड़ों के निष्कर्ष चूहों के लिए विषैले नहीं हैं। पत्तियों, पर्णवृन्तों और छाल में सामान्य कीटनाशी प्रभाव रहता है (Neal, 394; Gale et al., *Science*, 1954, 120, 500; Plank, *J. econ. Ent.*, 1944, 37, 737).

G. maculata (H.B. & K.) Steud.; *Pseudococcus virgatus* Cockerell; *Erythrina subumbrans*

ग्लिसिनी लिनियस (लेग्यूमिनोसी) GLYCINE Linn.

ले. — ग्लिसिनी

यह समस्त अफ्रीका, एशिया और ऑस्ट्रेलिया के उष्णकटिबंधीय क्षेत्रों में पाई जाने वाली यमलित या कुछ-कुछ सीधी वृष्टियों का लघु वंश है। ग्लि. मैक्स को मिलाकर इसकी 3 जातियों के भारत में पाये जाने का उल्लेख है।

Leguminosae

ग्लि. मैक्स मेरिल सिन. ग्लि. सोजा सीवोल्ड और जुकारिनि;
ग्लि. हिस्पिडा मैक्सिमोविज; सोजा मैक्स *G. max* Merrill
पाइपर सोयबीन, सोयाबीन, सोया, सोजा

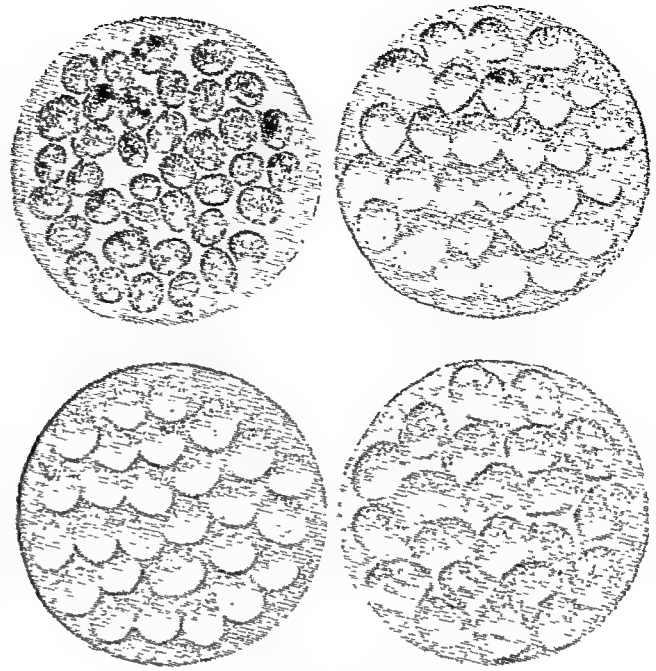
ले.—ग्लि. माक्स

D.E.P., III, 509; C.P., 564; Fl. Br. Ind., III, 184.

हि.—भट, भटवार, भेटमस, रामकुरी; बं.—गर्जकलाइ.

असम—पत्तीजोकरा; खासी—यू रिम्बाई-कुटुंग.

यह सीधा या आरोही तने वाला, 0.45–1.8 मी. तक ऊँचा, घने बालों से युक्त एकवर्षी पौधा है। पत्तियाँ त्रिपत्री, अंडाकार-भालाकार, लम्बे पर्णवृन्तों वाली; पुष्प छोटे, अग्रकट, और लघु कक्षीय रेसीमों पर स्थित, श्वेत या वैजनी से रक्तवैजनी रंग के, सामान्यतः स्वयं परागणित; फलियाँ 3.75–5 सेंमी. लम्बी, 3–5 के गुच्छों में, बालों से भरी अर्ध-मनकाकार, 2–4 बीजों से युक्त; बीज दीर्घवृत्तीय लम्बी नाभिका युक्त सम्पीडित, पीले कट्यई या काले होते हैं।



चित्र 37 — ग्लिसिनी मैक्स — बीज

सोयबीन दक्षिणी-पूर्वी एशिया का मूलवासी है। आनुवंशिक सूचनाओं के आधार पर इसका उद्भव पतले, भूशायी, यमलित पौधे ग्लि. असुरियेंसिस रिगेल और माक से हुआ है जो समस्त पूर्वी एशिया में जंगली रूप में उगता है। कुछ लोगों के अनुसार मंचूरिया इसकी विविधता का केन्द्र है और इसकी 3 जातियाँ मान्य की गई हैं जिनके नाम हैं: ग्लि. सोजा जिसमें जंगली रूप भी सम्मिलित है, ग्लि. प्रेसिलिस स्ववर्तोजोव, जिसमें बीच वाले अर्ध कृष्ट रूप सम्मिलित हैं, और ग्लि. हिस्पिडा, जिसमें लाक्षणिक कृष्ण रूप हैं। जंगली रूपों से कृष्ट रूप प्राप्त करने में जीन उत्परिवर्तन के कारण गुणात्मक और मात्रात्मक परिवर्तन हुए हैं किन्तु क्रोमोसोम संख्या नहीं बदली है (Markley, I, 3, 111; Hector, II, 709).

सोयबीन सुदूर पूर्व की एक महत्वपूर्ण फलीदार फसल है। इसके बीज शताब्दियों से चीन, जापान और कोरिया में भोजन के लिए प्रयोग में लाये जाते रहे हैं। ये चावल के साथ प्रोटीन पूरक के रूप में महत्वपूर्ण हैं। अन्य एशियाई देश जिनमें सोयबीन अधिक मात्रा में बोया जाता है, इंडोचीन, फिलिपीन्स, इंडोनेशिया, थाईलैंड और भारत हैं। हाल के वर्षों में संयुक्त राज्य अमेरिका में, उद्योग के लिए कच्चे माल के रूप में इसका महत्व बढ़ा है और इसकी खेती बढ़ा दी गई है। अन्य अमेरिकी देश, जिनमें सोयबीन की खेती होती है, कनाडा, ब्राजील और अर्जेंटीना हैं। इसकी खेती रूस, जर्मनी, रूमानिया, बुल्गेरिया, चेकोस्लोवाकिया और यूगोस्लाविया में भी होती है (Morse & Carter, *Yearb. Agric. U.S. Dep. Agric.*, 1937, 1156; Morse, *Econ. Bot.*, 1947, 1, 137; Markley, I, 10–14, 63–108).

उत्तर भारत में और विशेष तौर से असम, बंगाल, मणिपुर के पहाड़ी क्षेत्रों में तथा खासी और नागा पहाड़ियों में 1,800 मी. की ऊँचाई तक ग्लि. मैक्स बहुत पहले से पैदा किया जाता रहा है। कुमायूँ, नेपाल, भूटान और सिक्किम में भी इसकी थोड़ी खेती होती है। सोयबीन की खेती को विभिन्न राज्यों और विशेष रूप से कश्मीर, पंजाब, उत्तर प्रदेश,

बिहार, उड़ीसा, मध्य प्रदेश, महाराष्ट्र, तमिलनाडु और मैसूर में लोक-प्रिय बनाने के लिए समय-समय पर प्रयत्न किये जाते रहे हैं।

भारत में सोयबीन की खेती का विस्तार करने और उसे लोकप्रिय बनाने के प्रयत्न विफल सफल नहीं रहे। इसके अनेक कारण बताये जाते हैं : जैसे बाजार में बीजों की स्थायी माँग न रहना, सोयबीन पर आधारित कुछ ही देशी उद्योगों का होना, इसके अतिरिक्त अन्य दालें तथा तिलहन हैं जो भारत की भिन्न-भिन्न जलवायु और मिट्टी की परिस्थितियों के अनुकूल हैं और जनता की भोज्य-रुचि को सन्तुष्ट कर सकते हैं। इसलिए सोयबीन को 1,500 मी. से अधिक ऊँचाई के उन्ही क्षेत्रों में, जहाँ दालें नहीं उगाई जाती हैं, उगाना उपयुक्त होगा (Burns, *Indian Fmg.*, 1941, 2, 451; *Tech. Bull., Cent. Fd technol. Res. Inst., Mysore*, 1951-52, 1, 271; Woodhouse & Taylor, *Mem. Dep. Agric. India, Bot.*, 1913, 5, 107; Hooper, *Agric. Ledger*, 1911, No. 3, 17; Kale, 21; *Rep. on Soybean, Nutr. Advisory Comm., Indian Res. Fund Ass.*, No. 13, 1946; Chatterjee, *Sci. & Cult.*, 1944-45, 10, 442; De & Subrahmanyan, *ibid.*, 1945-46, 11, 437; 1946-47, 12, 559).

जलवायु — तिल. संकेत मुख्य रूप से उपोष्ण कटिबंधीय पौधा है। किन्तु इसकी खेती उष्ण और शीतोष्ण कटिबंधों में 52° उत्तर तक की जाती है। ऐसे कई रूप जिनके कृषीय और वानस्पतिक लक्षणों में असमानता है, पाये जाते हैं। इन्हें दो वर्गों में विभाजित किया गया है। उत्तरी या खड़े प्ररूप जिनमें गोलाकार हल्के रंग के बीज आते हैं और उष्णकटिबंधीय प्ररूप जो भूस्तारी या अर्ध भूस्तारी होते हैं और जिनमें चपटे गहरे रंग के बीज आते हैं। खड़े प्ररूप सम्भवतः भूस्तारी या अर्ध भूस्तारी जातियों से विकसित हुये हैं। भारत में किये गये परीक्षणों से पता चलता है कि एक ही जाति यदि हिमालय पर और मैदान में बोई जाए तो वह हिमालय पर भारी बीज देती है जिसका अर्थ यह हुआ कि यह पौधा पहाड़ी क्षेत्र में बोये जाने के लिए अधिक उपयुक्त है। सोयबीन घोर जाड़ा और घोर गर्मी सहन नहीं कर पाती। लोबिया की अपेक्षा यह पाले को अधिक सहन कर सकती है और परिपक्व हो जाने पर हल्के पाले से प्रभावित नहीं होती। दिन की लम्बाई का इस पर प्रभाव पड़ता है और यह मुख्यतया छोटे दिनों में बढ़ने वाला पौधा है। प्रत्येक प्ररूप के लिए एक क्रान्तिक दिन-मान है जिसमें अधिकतम फूलना और बीजों का पड़ना सम्भव है (Hunter & Leake, 344; Sampson, *Kew Bull., Addl Ser.*, XII, 1936, 85, 201; Hector, II, 703; Woodhouse & Taylor, *loc. cit.*; Markley, I, 14, 133).

भूमि — पौधा अच्छी बलुही या मटियार दोमट मिट्टी में या अच्छे जल-निकास वाली जलोढ़ मिट्टियों में अच्छी तरह बढ़ता है। यह अम्लीय उदासीन या क्षारीय मिट्टियों में उग सकता है। अम्लीय मिट्टियों में चूना देने पर अच्छा प्रभाव पड़ता है। जब इसे उपजाऊ मिट्टी में बोया जाता है तो नाइट्रोजनी खादों के डालने की आवश्यकता नहीं पड़ती क्योंकि इसकी मूलग्रंधियों में जीवाणु रहते हैं जो वायुमंडल की नाइट्रोजन को ग्रहण करते हैं। कम उपजाऊ मिट्टी में प्रति हेक्टर 25-38 गाड़ी पत्ती की खाद या गोबर की खाद देने से अच्छी उपज मिलती है। नाइट्रोजन योगिकीकरण के लिए विशेष जीवाणुओं की आवश्यकता होती है इसलिए ऐसी मिट्टी में जहाँ ये जीवाणु नहीं होते, और यदि उसमें नाइट्रोजनी खाद नहीं जाती तो फसल खराब हो जाती है। संयुक्त राज्य अमेरिका तथा कुछ अन्य देशों में ग्रंथिका-जीवाणुओं के कृत्रिम निवेशन की विधि अपनाकर लाभदायक परिणाम प्राप्त किये गये हैं। लगता है कि भारत में आवश्यक जीवाणु बीज की सतह पर ही मिल जाते हैं अतः कृत्रिम निवेशन की आवश्यकता नहीं पड़ती (Markley, I, 15, 23-27;

Roberts & Kartar Singh, 294; *Leaflet. Dep. Agric., Assam*, No. 1, 1938; Burns, *loc. cit.*).

प्रकार — सोयबीन स्पष्ट रूप से मिट्टी और जलवायु के परिवर्तनों के प्रति संवेदनशील है और एक रूप को ही विभिन्न स्थानों पर उगाने पर उनके व्यवहार में आश्चर्यजनक अन्तर देखा जाता है। प्रायः प्रत्येक क्षेत्र की मिट्टी और जलवायु के अनुरूप, उनमें से एक न एक प्ररूप मिलता है। कृष्ट प्ररूपों की संख्या बहुत बड़ी है। चीन, भूचूरिया, जापान, कोरिया, इंडोनेशिया और भारत से प्राप्त संग्रहों में से 2,500 प्रकार पहचाने जा चुके हैं। ये प्रकार बीजों की माप, आकार, रंग और गठन में फसल तैयार होने की अवधि और मिट्टी और जलवायु के अनुसार अपने को अनुकूल बना लेने की प्रवृत्ति में पर्याप्त भिन्न होते हैं। विभिन्न स्थानों के लिए उपयुक्त प्रकारों के वरण के लिए संयुक्त राज्य अमेरिका, जापान, चीन, रूस और भारत में काफी कार्य हुआ है। अन्य फसलों के समान वरण या प्रजनन का मुख्य उद्देश्य प्रति हेक्टर अधिक उपज लेना है किन्तु इधर के वर्षों में इसमें तेल और प्रोटीन की मात्रा तथा पोषक मान बढ़ाने की ओर भी ध्यान दिया जाने लगा है। सोयबीन के प्रकारों को फसल के पकने की अवधि के अनुसार सामान्य, मध्यम और अधिक अवधि में पकने वाले और उपयोगिता के अनुसार चारा, शाक या बीज प्रकारों में विभाजित किया गया है। बीज के माप, आकार या रंग के अनुसार भी इनका वर्गीकरण किया गया है [Piper & Morse, 144; Morse & Carter, *Yearb. Agric. U.S. Dep. Agric.*, 1937, 1161; Markley, I, 17-23; Morse *et al.*, *Fmrs' Bull. U.S. Dep. Agric.*, No. 1520 (Revised), 1949; Woodhouse & Taylor, *loc. cit.*; Sampson, *loc. cit.*].

सोयबीन के दो प्रकार जो भारत में बोये जाते हैं या जिन्हें बोने की संस्तुति की गई इस प्रकार हैं : पीला, चाकलेट या इयाम प्रकार जो सबौर और पूसा (बिहार) में वरण किया गया; मैमथ गेलो प्रकार जो बड़ोदा में प्रविष्ट करके अनुकूलित बनाया गया है; पंजाब-1 का एक पीले बीजों वाला प्ररूप जो बाहर से लाये गये नानकिंग प्ररूपों से पंजाब में पृथक् किया गया है; ई. बी. 53 (पीले बीजों का) और ई. बी. 59 (काले बीजों का) जो मध्य प्रदेश में पृथक् किये गये हैं; प्रकार 101 जो उत्तर प्रदेश में पृथक् किया गया है; के 30 (काला), सी 23 (गहरे भूरे रंग का) और वरमाली (पीला) जो पश्चिमी बंगाल में पृथक् किये गये हैं [Woodhouse & Taylor, *loc. cit.*; Sayer, *Agric. Live-Stk India*, 1933, 3, 470; Kale, 62; Anandan, *Madras Agric. J.*, 1940, 28, 329; Thadani & Mirchandani, *ibid.*, 1943, 31, 167; Singh & Singh, *Punjab Fmr.*, 1951, 3, 27; Sikka & Bains, *ibid.*, 1952, 4, 158; Mehta, *Agric. Anim. Husb. Uttar Pradesh*, 1951, 1 (12), 6; *Tech. Bull. Cent. Fd technol. Res. Inst., Mysore*, 1951-52, 1, 271].

संवर्धन — भारत में सोयबीन का उत्पादन मुख्यतः अनाज या चारे के लिए किया जाता है। सामान्यतया इसे खरीफ की फसल में उगाते हैं। मानसून आरम्भ होते ही जून या जुलाई में बो देते हैं और दिसम्बर-जनवरी में फसल काट ली जाती है। नम जलवायु और छायादार स्थानों में यह भली-भाँति बढ़ता है किन्तु शुष्क भागों में भी सिंचाई द्वारा उगाया जा सकता है। सोयबीन को शुद्ध रूप में या मक्का की फसल के साथ मिश्रित रूप में उगाया जाता है। असम के कुछ भागों में इसे 'ग्रौस' धान की फसल के साथ भी बोते हैं। फलीदार होने के कारण सोयबीन की खेती आलू की फसल के हेरफेर के साथ उगाई जा सकती है, जैसा कि असम में करते हैं या गन्ने के साथ हेरफेर करके उगाई जा सकती है, जैसा कि बिहार में किया जाता है। चाय इलाकों में सोयबीन



ग्लिसिनी मैक्स - फलित (सोयाबीन)

को हरी खाद या भूमि-संरक्षी फसल के रूप में उगाया जाता है। खरपतवार नियंत्रण के लिए तथा भूमि अपक्षरण को रोकने में भी यह प्रभावशाली है (Sayer, loc. cit.; *Leaf. Dep. Agric. Assam*, No. 1, 1938; Markley, I, 34-38; Use of Leguminous Plants, 209; A Manual of Green Manuring, 84).

सफल प्रबंधन के लिए भूमि को अच्छी तरह हल से जोतकर साफ करके अच्छी वाप्सा वाली कर लेते हैं। फसल बोने के उद्देश्य तथा बुआई के तरीके के अनुसार बीज-दर बदलती रहती है। जब फसल मुख्यतः बीजों के लिए उगाई जाती है तो बीज-दर 15-20 किग्रा. प्रति हेक्टर और जब मुख्यतः चारे या हरी खाद के लिए उगाई जाती है तब बीज-दर 30-40 किग्रा. प्रति हेक्टर तक रहती है। पहली दशा में बीज 60-90 सेंमी. की दूरी पर, न तो अधिक और न कम गहराई पर पंक्ति में बोये जाते हैं। भारी मिट्टियों में 3.75 से 5 सेंमी. तक की गहराई पर बुआई सर्वोत्तम समझी जाती है। जब सोयबीन की फसल हरी खाद या चारे के लिए उगाई जाती है तब बीज छिटकवाँ बोए जाते हैं (Sayer, loc. cit.; Burns, loc. cit.; Roberts & Kartar Singh, 294, 473; Kale, 64; Markley, I, 28-34).

रोग तथा नाशक-कीट — फसल कई रोगों तथा नाशक-कीटों के प्रति संवेदनशील होती है, किन्तु ये भारत में इस फसल को गंभीर क्षति नहीं पहुँचाते। सोयबीन की फसल को ग्रसित करने वाले सूचित रोग निम्नांकित हैं: म्लानि, फ्यूजेरियम जातियों के द्वारा; म्यूरोमिल फफूँदी, पेरोनोस्पोरा मन्सूरिका द्वारा; पर्ण धब्बा, फाइलोस्टिक्टा ग्लिसिनी द्वारा; जड़-गलन, मैक्रोफोमिना फेजिओली द्वारा। नाशक-कीटों के अन्तर्गत घास के टिड्डे (क्रोटोगोनस ट्रैकिपेरेस), वालों वाली इल्लियाँ [ऐमसैवटा मुराई, मिन्नाउरा (क्लेट्यारा) सेप्टिका स्विनहो, डाय-क्रिसिया ओविलिका वाकर तथा ऐप्रोएरेमा (ऐनाकैम्पसिस) नर्टेरिया]; तना-वेधक-भृंग-(ओबेरिया ब्रेविस); एक दीर्घ शृंगक-भृंग (नृप्सेर्हा वाइकलर); भृंगफली मुहल (स्टोमोप्टेरिक्स नर्टेरिया) तथा बग (रिप्टोवेंस लिनियेरिस तथा रि. पेडिस्टिस) आते हैं। जब पौधे छोटे रहते हैं या बीज अंकुरित होते रहते हैं तो खरगोश एवं पक्षी काफी हानि पहुँचाते हैं (Markley, I, 50-57; Butler, 266; Butler, *Ann. mycol.*, Berl., 1916, 14, 177; Johnson *et al.*, *Circ. U.S. Dep. Agric.*, No. 931, 1954; Woodhouse & Taylor, loc. cit.; Dutt, *Agric. J. Bihar-Oris.*, 1915, 3, 52; Ramakrishna Aiyer, 211).

कटाई तथा उपज — सोयबीन के जल्दी तैयार होने वाले प्ररूप 75 से लेकर 110 दिनों में और विलम्बित प्ररूप 100-200 दिनों में पक कर तैयार हो जाते हैं। बीजों के लिए उगाई जाने वाली सोयबीन की फसल पत्तियाँ गिरने के पहले जब फलियाँ ठीक पक जाती हैं, काट ली जाती हैं। अधिक पकने देने से फलियाँ चिटक जाती हैं जिससे काफ़ी मात्रा में बीज गिरकर नष्ट हो जाते हैं। पौधों को काटकर, धूप में सुखाया जाता है तथा गाहकर बीज वैसे ही अलग कर लिए जाते हैं जैसे कि अन्य दालों में किया जाता है। चारे के लिए उगाई फसलें, फलियों के अधपके रहते हुये काट ली जाती हैं। इस अवस्था में पौधे सब से ज्यादा स्वादिष्ट तथा पोषक-द्रव्यों से भरपूर रहते हैं। यदि हरी खाद के लिए फसल उगाई जा रही हो तो फूल लगने के समय पौधों की जुताई कर दी जाती है। इस अवस्था में पौधों में नाइट्रोजन की मात्रा अधिक रहती है (Piper & Morse, 159; Hooper, loc. cit.; Markley, I, 41-46).

बीजों की उपज 650 से लेकर 1,000 किग्रा. प्रति हेक्टर तक हो सकती है। अनुकूल परिस्थितियों में 2,800 किग्रा. प्रति हेक्टर तक

की उपज प्राप्त की गई है। पंजाब-1 नामक अधिक उपज वाले विभेद से जो पर्वतीय क्षेत्रों के लिए सर्वाधिक उपयुक्त है, 2,790 किग्रा. प्रति हेक्टर तक की उपज मिली है। इसी विभेद को जब मैदानों में लगाया गया तो उपज घटकर 1,875 किग्रा. प्रति हेक्टर रह गई। मंचूरिया और जापान में, 1,100 से 1,800 किग्रा. प्रति हेक्टर तक की उपज सूचित की गई है जबकि संयुक्त राज्य अमेरिका में चुनी किस्मों से अनुकूल परिस्थितियों में 2,100 से लेकर 2,800 किग्रा. प्रति हेक्टर तक की उपज प्राप्त होती है (Woodhouse & Taylor, loc. cit.; Sayer, loc. cit.; Kale, 67; *Indian Fmg.*, 1950, 11, 547; Piper & Morse, 95; Morse *et al.*, *Fmrs' Bull.*, U.S. *Dep. Agric.*, No. 2024, 1950).

चारे के लिए उगाई जाने वाली सोयबीन की फसल की एक या दो कटाइयाँ की जाती हैं। असम की परिस्थितियों एवं जलवायु में हरे चारे की उपज प्रति हेक्टर 22.5-25 टन तक बताई जाती है। अमेरिका और दूसरे स्थानों में भी अच्छी उपजाऊ भूमि में 10-12.5 टन प्रति हेक्टर सूखा चारा प्राप्त हुआ है (Sayer, loc. cit.; *Annu. Rep. Dep. Agric. Assam*, 1938-39, 148; *Bull. Dep. Agric. Assam*, No. 15, 1939; Morse *et al.*, *Fmrs' Bull.*, U.S. *Dep. Agric.*, No. 2024, 1950).

उपयोग — विश्व की फलीदार फसलों में सोयबीन का उच्च स्थान है। चीन, जापान तथा पूर्वी एशिया के अन्य कई देशों में यह मुख्य धान्य फसल के रूप में उगायी जाती है। इसके हरे, सूखे या अंकुरित, सम्पूर्ण या खण्डित हर तरह के बीज काम में लाये जाते हैं। हरे बीजों का उपयोग तरकारी के रूप में तथा भूने तथा नमक लगे बीजों का उपयोग केक और कैण्डी बनाने में होता है। पिसे बीजों का आटा बेकरी उत्पादों में व्यवहृत होता है। सोयबीन के बीजों से दूध जैसा पदार्थ, दही तथा पनीर भी निकाला जाता है। इनके अतिरिक्त विभिन्न किण्वित पदार्थ तथा गुलमा भी तैयार किए जाते हैं जिनका चीन एवं जापान देशों में मुख्य स्वाद-गंध प्रदायकों के रूप में प्रमुख स्थान है। संयुक्त राज्य अमेरिका में सोयबीन कच्ची सामग्री के रूप में अनेक प्रसाधन उद्योगों में उपयोग किया जाता है। बीजों में से निकाला गया बसीय तेल अनेक खाद्य तथा औद्योगिक वस्तुओं के बनाने में प्रयुक्त होता है। सोयबीन को प्रायः पशु-चारे के लिए उगाया जाता है और यह शुष्क घास या साइलेज के रूप में काम में लाया जाता है। हरी खाद या भूमि-संरक्षी फसल के रूप में भी इसका विशेष महत्व है। भूमि की उर्वरा शक्ति बढ़ाने और बनाए रखने के लिए भी इसे बागानों में लगाया जाता है (Piper & Morse, 129; Lager, 74-102; Morse, *Econ. Bot.*, 1947, 1, 137; *Indian Fmg.*, 1949, 10, 218; *Misc. Bull. U.S. Dep. Agric.*, No. 534, 1943; Kale, 264).

भारत में सोयबीन को भोज्य फसल के रूप में विशेष स्थान प्राप्त नहीं है। इसके बीजों का उपयोग दलकर 'दाल' के रूप में किया जाता है। इन्हें भूनकर 'भूँजा' नाम से या पीसकर 'सत्तु' के रूप में खाने की अनेक वस्तुएँ बनाते हैं। मणिपुर में सोयबीन में से एक किण्वित पदार्थ भी तैयार किया जाता है। सोयबीन में एक विशेष प्रकार की गंध रहती है जिसे भारत में लोग अधिक पसन्द नहीं करते। ऐसी सुवास से रहित प्ररूपों को चुनकर उन्हें भोजन न परोसने वाली संस्थाओं के द्वारा दलिया एवं विस्कुटों के तैयार करने में लोकप्रिय बनाने के अनेक प्रयास किए गए हैं। सोयबीन 'दूध' को अधिकाधिक लोकप्रिय बनाने की दिशा में भी पर्याप्त कार्य किया जा चुका है। सोयबीन से भारतीय व्यंजन बनाने की अनेक विधियों का वर्णन हुआ है (Woodhouse & Taylor, loc. cit.; Sikka & Bains, loc. cit.; De &

Subrahmanyam, *Indian Fmg*, 1946, 7, 17; *Tech. Bull. Cent. Fd technol. Res. Inst. Mysore*, 1951-52, 1, 270; Kale, 264).

सघटन - सोयबीन के बीज में आर्द्रता, 5.02-9.42; प्रोटीन, 29.6-50.3, वसा, 13.5-24.2; तन्तु, 2.84-6.27; कार्बोहाइड्रेट, 14.07-23.88; तथा राख, 3.30-6.35% पाये जाते हैं। भारतीय सोयबीन बीज के औसत मान इस प्रकार हैं: आर्द्रता, 8.1; प्रोटीन, 43.2; वसा, 19.5; तन्तु, 3.7; कार्बोहाइड्रेट, 20.9; राख, 4.6; फॉस्फोरम, 0.69; कैल्सियम, 0.24%; तथा लोह, 11.5 मिग्रा./100 ग्रा. यह सघटन, भूमि तथा जलवायु के अनुसार भिन्न-भिन्न प्ररूपों में पृथक्-पृथक् होता है। नियमानुसार जब प्रोटीन की मात्रा अधिक होती है तो बीज में तेल की मात्रा कम रहती है। उद्योग में अधिक तेल मात्रा वाले प्ररूप को प्राथमिकता दी जाती है। भारत के मैदानी भागों में उगाये जाने वाले काले बीजों वाले प्ररूप पीले या भूरे चाकलेटी रंग के बीजों वाले प्ररूपों की अपेक्षा अधिक प्रोटीन और न्यून तेल प्रतिशतता प्रदर्शित करते हैं। अन्य शुष्क फलियों की अपेक्षा सोयबीन में कार्बोहाइड्रेट की मात्रा कम होती है और इस मात्रा का केवल आधा ही भाग सुपाच्य होता है। छिलका उतारे हुए बीजों में लगभग 12% वहु सैकेराइड (डेक्सट्रिन, गैलैक्टन, पेक्टोस, और लगभग 1% स्टार्च) तथा 12.5% शर्कराये (स्यूक्रोस, 6; स्टैकिओस, 5; रैफिनोस, 1.5%) रहती है (Kent-Jones & Amos, 110; *Hlth Bull.*, No. 23, 1951, 30; Lager, 30, 52; Markley, I, 135-155; Piper & Morse, 162; Woodhouse & Taylor, loc. cit.; Sayer, loc. cit.; Thorpe, XI, 47; Jacobs, II, 1130).

सोयबीन में अन्य खाद्य-वस्तुओं की अपेक्षा कहीं अधिक प्रोटीन रहता है (सारणी 1) इसका मुख्य प्रोटीन ग्लाइसीन नामक एक ग्लोबुलिन है जो बीज के कुल प्रोटीन-नाइट्रोजन का 80-90% होता है। एक अन्य ग्लोबुलिन फेजिओलिन तथा लेगुमेलिन नामक एल्बुमिन भी पाए जाते हैं। ग्लाइसीन का एमिनो अम्ल सघटन इस प्रकार है: सिस्टीन, 1.1, मेथिओनीन, 1.8, लाइसीन, 5.4; ट्रिप्टोफेन, 1.7; थ्रियोनीन, 2.1, ल्यूसीन, 9.2, आइसोल्यूसीन, 2.4; फेनिलएलानीन, 4.3; टायरोसीन, 3.9, हिस्टिडीन, 2.2; वैलीन, 1.6; आर्जिनीन, 8.3; ग्लाइसीन, 0.7, एलानीन, 1.7; ऐस्पार्टिक अम्ल, 5.7; ग्लुटमिक अम्ल, 19.0, तथा प्रोलीन, 4.3% (Jacobs, I, 209; Thorpe, XI, 47).

वास्तविक प्रोटीन के अतिरिक्त सोयबीन बीज में निम्नलिखित नाइट्रोजनी पदार्थ भी मुक्त रूप से पाए जाते हैं: ऐडिनीन, आर्जिनीन, कोलीन, ग्लाइसीन, वीटैइन, ट्राइगोनेलीन, ग्वानिडीन और ट्रिप्टोफेन। बीज में अप्रोटीन नाइट्रोजन की सम्पूर्ण मात्रा 2.8-7.8% तक रहती है (Markley, I, 388).

कच्चे या असंसाधित बीजों में पाया जाने वाला प्रोटीन का पचनीयता और जैविक मान न्यून रहता है। न्यून पचनीयता का कारण प्रोटीन अणु में विद्यमान डाइकोटी पाइपरैजीन बलय है। इनके अतिरिक्त बीज का नाइट्रोजन सेलुलोसी आवरण में बंधा रहता है जो पाचक द्रवों को प्रोटीन के ऊपर तुरन्त क्रिया करने से रोकता है। कच्ची फली में एक ऊष्मा अस्थिर ट्रिप्सिन-निरोधक पाया जाता है जिसके कारण जीव, प्रोटीन का उपभोग नहीं कर पाते। यह प्रतिरोधक पकाने या आटोक्लेवन द्वारा नष्ट अथवा निष्क्रिय किया जा सकता है और संसाधित सोयबीन में उच्च पोषणमान हो जाता है। ट्रिप्सिन-निरोधक, जो क्रिस्टलीय रूप में विलग किया जा चुका है, एक स्थायी, ग्लोबुलिन प्रकार का प्रोटीन है, यह अपने भार के बराबर क्रिस्टलीय ट्रिप्सिन की प्रोटीन अपघटनी सक्रियता को निष्प्रभावित कर देता है; किन्तु पेपन की

सक्रियता पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता। इसे समुचित आहार में मिलाकर भूगर्भों के चूजों को खिलाने से उनकी वृद्धि रुक जाती है। सूचना है कि बसारहित कच्चे सोयबीन चूर्ण में एक विषैला पदार्थ पाया जाता है जो प्रति ट्रिप्सिन सक्रियता से मुक्त होता है किन्तु प्रयोगात्मक चूहों पर विशेष लोहित-कोशिका-समूहन-क्रिया करने की क्षमता रखता है। एक ऊष्मा अस्थिर प्रति-पेपेन कारक की सूचना है (Markley, I, 353, 393-408; Chatterjee, loc. cit.; Desikachar & De, *Science*, 1947, 106, 421; De & Ganguly, *Nature*, 1947, 159, 341; Viswanatha et al., *J. Indian Inst. Sci.*, 1952, 34A, 253; Liener & Pallansch, *J. biol. Chem.*, 1952, 197, 29; Lcarmonth, *Nature*, 1951, 167, 820).

भारत में दालों के पोषक मान सम्बंधी किए गए तुलनात्मक अध्ययन से ज्ञात होता है कि प्रोटीन और वसा में समृद्ध होने पर भी सोयबीन अन्य भारतीय दालों से श्रेष्ठ नहीं है। केवल चावल के आहार के साथ सोयबीन का प्रयोग वृद्धि-दर को प्रभावित करने में भारतीय दालों की तुलना में अधिक लाभकारी नहीं है। मानवीय उपापचयन सम्बंधी प्रयोगों में जैविक मान तथा पचनीयता गुणांक में सोयबीन प्रोटीन अन्य दाल प्रोटीनों के समतुल्य है (सारणी 2)।

परिपक्व सोयबीन की औसत खनिज संरचना इस प्रकार है: पोटैसियम, 2.09; सोडियम, 0.38; कैल्सियम, 0.22; लोह,

सारणी 1 - कुछ भोज्य पदार्थों में प्रोटीन की मात्रा *

	प्रोटीन (%)
सोयबीन (कच्चा)	43.2
मुंगफली (कच्ची)	26.7
बगली चना (छिलके रहित)	22.5
हरा चना (छिलके सहित)	24.0
काला चना (छिलके रहित)	24.0
लाल चना (छिलके रहित)	22.3
मसूर	25.1
मास (पेजी)	18.5
गोमास (पेजी)	22.6
मछली	21.0
अंडा	13.3

* *Hlth Bull.*, No. 23, 1951.

सारणी 2 - सोयबीन तथा अन्य दालों का तुलनात्मक पोषक मान (प्रोटीन अन्तर्ग्रहण के 10% स्तर पर) *

	अपरिष्कृत प्रोटीन (%)	जैविक मान (%)	पचनीयता गुणांक (%)	कुल प्रोटीन (%)
गिलसिनी संवस				
कश्मीर से	38.0	42.5	91.0	14.7
पंजाब से	40.4	57.3	92.3	21.5
साइसर ऐरोप्टिनम	20.0	63.7	93.7	11.9
कंजानस कंजन	23.6	61.7	90.7	13.2
फैजिओलस औरियस	24.2	43.0	94.0	9.8

* *Report on Soybean*, Nutr. Advisory Comm., Indian Res. Fund Ass., No. 13, 1946.

0.0081; ताम्र, 0.0012; मैग्नीशियम, 0.24; फॉस्फोरस, 0.59; क्लोरीन, 0.02; तथा मैग्नीज, 0.0032%। इसके अतिरिक्त गंधक (0.406%), जिंक (0.0022%), ऐल्युमिनियम (0.0007%), आयोडीन (53.6g/100 ग्रा.)। मॉलिब्डेनम, बोरन, निकेल, सिलिकन भी सूचित किए गए हैं। सोयबीन में कैल्सियम काफी कम मात्रा में किन्तु फॉस्फोरस पर्याप्त मात्रा में रहता है। इसकी राख क्षारीय अभिक्रिया दिखाती है। विशेष आहारों में तथा अम्ल रक्तता को कम करने में सोयबीन का विशेष महत्व है (Markley, I, 148, 413-417, 421; Lager, 62)।

अन्य दालों की तरह परिपक्व सोयबीन के बीजों में अल्प मात्रा में कैरोटीन (110 अं. इ./100 ग्रा.)। पर्याप्त मात्रा में बी-काम्प्लेक्स विटामिन तथा थोड़ा विटामिन सी रहता है। शुष्क पदार्थ के आधार पर बी-काम्प्लेक्स समूह के विटामिनों के औसत मान इस प्रकार हैं: थायमीन, 9.0; राइबोफ्लेविन, 2.3; पिरीडॉक्सीन, 6.4; बायोटिन, 0.61; नायसिन, 20.0; तथा पैटोयोनिक अम्ल, 12 माग्रा./ग्रा. अंकुरित सोयबीन विटामिन सी (33.8 मिग्रा./100 ग्रा.) का एक समृद्ध स्रोत है। विटामिन डी, ई तथा के की उपस्थिति भी सूचित की गई है (Sherman, 635; Lager, 57; Markley, I, 408-413; De & Subrahmanyam, *Sci. & Cult.*, 1945-46, 11, 437)।

सोयबीन में ऐमिलेस, यूरियेस, लिपासिडेस, लिपेस, परऑक्सीडेस, प्रोटीयेस, ग्लूकोसाइडेस, कार्बोक्सिलेस, कैटेलेस, ऐस्काविकेस, एलैण्डायनेस, फाइटेस तथा यूरिकेस नामक एंजाइम पाए जाते हैं। यह β -ऐमिलेस का अच्छा स्रोत है। कायिकीय द्रवों में यूरिया परिमाणन करने के लिए सोयबीन यूरियेस का उपयोग वैश्लेषिक अभिकर्मक के रूप में किया जाता है। सोयबीन के आटे के निष्कर्ष के रूप में लिपासिडेस का उपयोग डबल-रोटी के आटे के लिए विरंजक का कार्य करता है (Markley, I, 358-362, 366; Rangnekar *et al.*, *Indian J. med. Res.*, 1948, 36, 361)।

सोयबीन में कई प्रकार के वर्णक होते हैं जैसे कैरोटिनायड, आइसो-फ्लैवोन, ग्लाइकोसाइड, ऐथोसायनिन तथा क्लोरोफिल। इसमें उपस्थित ग्लाइकोसाइडों के अन्तर्गत जेनिस्टिन [$C_{21}H_{20}O_{10}$; ग. वि., 254-56° (अपघटित)], जिसके जल-अपघटन से ग्लूकोस तथा जेनिस्टिन (5 : 7 : 4'-डाइहाइड्रॉक्सि-आइसोफ्लैवोन; ग. वि., 296-98°) बनते हैं, डैडजिन ($C_{21}H_{20}O_9$; ग. वि., 234-36°) जिसके जल-अपघटन से ग्लूकोस तथा डैडजिन (7 : 4'-डाइहाइड्रॉक्सि-आइसोफ्लैवोन; ग. वि., 323°) प्राप्त होते हैं तथा चार सैपोनिन रहते हैं। सोयबीन अंकुरों से तीन क्रिस्टलीय आइसोफ्लैवोन भी अलग किए गए हैं। इनमें से एक पदार्थ बायोकेनिन $C[C_6H_4O_4N_3]$; ग. वि., 310° (अपघटित)] के सर्व समान है जो चने (साइसर ऐरोए-टिनस लिनियस) में भी पाया जाता है; दूसरा क्रिस्टलीय आइसोफ्लैवोन ऐल्कोहल में कुछ-कुछ विलेय है तथा रंगहीन, प्रिज्मीय शलाकाओं के रूप में क्रिस्टलित हो जाता है [ग. वि., 322-23° (अपघटित)]; तीसरा पदार्थ ($C_{16}H_{12}O_4$) भी जो अधिक विलेय है, रंगहीन प्रिज्मीय शलाकाओं में क्रिस्टलित होता है [ग. वि., 316-17° (अपघटित)] तथा टैटायन के सर्व समान है। टैटायन को अब डैडजीन माना जाता है जिसमें जेनिस्टिन अशुद्धि के रूप में रहता है (Markley, I, 193, 374-379; Bhandari *et al.*, *J. sci. industr. Res.*, 1949, 8B, 217; Ahluwalia *et al.*, *Curr. Sci.*, 1953, 22, 363)।

उत्तर भारत में सोयबीन एक महत्वपूर्ण चारे की फसल है। यह फसल कटाई के लिए ऐसे समय में तैयार होती है जब अन्य दालों की फसलें नहीं रहतीं। सोयबीन के पीछे हरे या सुखाए गए दोनों ही प्रकार से जानवरों

को खिलाए जाते हैं। हरे तथा सूखे चारे की औसतन संरचना इस प्रकार है :

हरा चारा - अपरिष्कृत प्रोटीन, 12.56; तन्तु, 23.69; नाइट्रोजन रहित निष्कर्ष, 52.13; ईथर निष्कर्ष 2.22; कुल राख, 0.40; हाइड्रोक्लोरिक अम्ल में विलेय राख, 8.73; कैल्सियम (CaO), 1.87; फॉस्फोरस (P_2O_5), 0.57; मैग्नीशियम (MgO), 1.39; तथा पोटैशियम (K_2O), 2.35%।

सूखा चारा - अपरिष्कृत प्रोटीन, 14.96; तन्तु, 29.13; नाइट्रोजन रहित निष्कर्ष, 42.59; ईथर निष्कर्ष, 1.29; कुल राख, 12.04; हाइड्रोक्लोरिक अम्ल में विलेय राख, 10.02; कैल्सियम (CaO), 2.86; फॉस्फोरस (P_2O_5), 0.60; मैग्नीशियम (MgO), 1.20; सोडियम (Na_2O), 0.30; तथा पोटैशियम (K_2O), 2.02% (Piper & Morse, 130 *et seq.*; Sayer, loc. cit.; Sen, *Bull. Indian Coun. agric. Res.*, No. 25, 1952, appx I, 16, 20)।

सोयबीन के भूसे को सभी पशु बड़े चाव से खाते हैं; अधिक दुधारू गायों के लिए यह लाभप्रद नहीं होता परन्तु अन्य दालों के भूसे के साथ मिलाकर इसे बछियों तथा गैर-दुधारू गायों को दिया जा सकता है। भूसे की औसत संरचना निम्नलिखित है : आर्द्रता, 16.0; प्रोटीन, 7.4; ईथर निष्कर्ष, 2.0; नाइट्रोजन रहित निष्कर्ष, 28.3; तन्तु, 26.1; तथा राख, 10.2%। भूरा कागज बनाने के लिए सोयबीन का भूसा बहुत उपयुक्त है। इस प्रकार का कागज गेहूँ के भूसे से बनाये गये भूरे कागज की अपेक्षा अधिक मजबूत होता है [Piper & Morse, 141; Lander, 165; Thorpe, XI, 48; *Chemurg. Dig.*, 1951, 10 (2), 11]।

सोयबीन उत्पाद

ऊष्मा उपचार या अंकुरण द्वारा संसाधित सोयबीन के बीज, आटा, दूध, दही तथा अन्य किण्वित पदार्थों के रूप में खाने के काम में लाए जाते हैं। कुछ सोयबीन उत्पादों की संरचना सारणी 3 में दी गई है।

सोयबीन आटा - यह ऊँची किस्म के पीले बीजों से बनाया जाता है और तीन रूपों में उपलब्ध है : वसा से भरपूर आटा जिसमें बीजों में प्राकृतिक रूप से पायी जाने वाली संपूर्ण वसा रहती है; वसा न्यून आटा जो मैदे को यांत्रिक विधि से दवाकर बनाया जाता है और जिसमें 5-6% वसा रहती है तथा वसाहीन आटा जो विलायक निष्कर्षित दलिये से बनाया जाता है और जिसमें लगभग 1% वसा रहती है। वसा भरपूर तथा वसा विहीन आटे की संरचनाएँ सारणी 3 में दी गई हैं। सोयबीन आटे का रंग मलाई जैसा हल्का पीला तथा स्वाद मधुर होता है। अनाज के आटे की प्रोटीन मात्रा बढ़ाने के लिए उसमें सोयबीन का आटा मिला देने से उसका पोषक मान बढ़ जाता है और भोजन अधिक सुस्वादु तथा पाच्य हो जाता है। चपाती तथा अन्य भारतीय भोजनों को तैयार करने के लिए गेहूँ, बाजरा आदि अनाजों के साथ 25% तक सोयबीन उनका रंग, रूप या स्वाद परिवर्तित किये बिना मिलाया जा सकता है। इनके अतिरिक्त सोयबीन डबल-रोटी, विस्कुट, केक तथा अन्य बेकरी पदार्थों एवं विभिन्न पेयों, वच्चों के भोजनों और मधुमेह के रोगियों के लिए भोजन बनाने के काम में भी लाया जाता है। सोयबीन दलिया भी सोयबीन आटे के ही समान उपयोगी है। शराब उद्योग में भी जी की शराब (बीयर) की मात्रा और स्वाद बढ़ाने के लिए इनका उपयोग किया जाता है (Markley, II, 951-978; Lager, 92, 94; Kale, 150)।

अंकुरित सोयबीन—इसका हरे शाक के रूप में प्रयोग होता है। इसका पोषक मान उच्च बताया गया है। सोयबीन अंकुरों का संघटन सारणी 3 में दिया गया है (Lager, 81, 191)।

सोयबीन दुग्ध—इंडियन इंस्टीट्यूट, बंगलौर, में सोयबीन दूध बनाने की एक विधि निकाली गई है। इस विधि के अनुसार पहले बीजों को पानी में भिगो दिया जाता है फिर इन बीजों को 24 से 48 घंटों तक अंकुरित होने दिया जाता है, तदनन्तर गिरियों की ऊपरी छाल उतार दी जाती है और उन्हें 0.2% सोडियम बाइकार्बोनेट या 1% ग्लिसरिन मिले हुए पानी में डालकर गर्म किया जाता है, फिर साफ दानों को पीसकर पानी में उवाल लिया जाता है। इस प्रकार प्राप्त दूध जैसे पायस का रंग हल्का पीला, सुवास, सुगंधित तथा स्वाद रुचिकर होता है। पोषक मान की दृष्टि से इस दूध की तुलना गाय के दूध से की गई है (सारणी 3)। सोयबीन दूध के प्रोटीनों के जैविक मान तथा पचनीयता गुणांक क्रमशः 90 तथा 81 हैं। बच्चों के ऊपर किए गए प्रयोगों से ज्ञात होता है कि सोयबीन दूध शीघ्र ही पच जाता है और उनकी बढ़वार में कोई दुरा प्रभाव नहीं पड़ता। दूध के लिए ऐलर्जी होने पर तथा विशेष आहारों में सोयबीन दूध का महत्वपूर्ण स्थान है (Lager, 83; De & Subrahmanyam, *Curr. Sci.*, 1945, 14, 204; *ibid.*, 1946, 15, 231; *Tech. Bull. Cent. Fd technol. Res. Inst. Mysore*, 1951-52, 1, 270; Desikachar *et al.*, *Ann. Biochem.*, 1946, 6, 49; Desikachar & Subrahmanyam, *Indian J. med. Res.*, 1949, 37, 77)।

दही, छाछ, पनीर तथा अन्य दुग्ध पदार्थों को तैयार करने के लिए सोयबीन गाय के दूध के ही समान उपयोग में लाया जा सकता है। चीन और जापान में सोयबीन से 'टोफू' नामक एक वानस्पतिक पनीर बनाया जाता है (Lager, 86; De & Subrahmanyam, *Indian Fmg*, 1946, 7, 17)।

सोयबीन तेल—सोयबीन से निकाला जाने वाला सर्वाधिक महत्वपूर्ण उत्पाद एक वसा-तेल है जो व्यापक रूप से खाने के तथा औद्योगिक कार्यों में काम में लाया जाता है। सोयबीन के विभिन्न प्ररूपों में से निकाले जाने वाले तेल का आयोडीन मान 103 से 152 तक है। न्यून आयोडीन संख्या वाले तेलों का उपयोग भोज्य पदार्थों में तथा उच्च आयोडीन संख्या वाले तेलों का रंगलेप तेलों के रूप में किया जाता है। तेल निकालने तथा खली बनाने के लिए पीले रंग के बीज वाले प्ररूप सर्वाधिक उपयुक्त होते हैं क्योंकि इन बीजों में न केवल तेल का प्रतिशत अधिक रहता है, बल्कि इनकी खली और आटे भी आकर्षक रंग के होते हैं (Morse & Carter, *Yearb. Agric. U.S. Dep. Agric.*, 1937, 1162; *Misc. Publ. U.S. Dep. Agric.*, No. 623, 1947; Cole *et al.*, *J. agric. Res.*, 1927, 35, 75; Markley, I, 146)।

सोयबीन तेल बीजों को दवाकर या विलायक निष्कर्षण द्वारा निकाला जाता है। इस तेल का रंग पीले से लेकर गहरे कहरवा रंग तक होता है। वस्तुतः तेल का रंग संसाधन-विधि तथा संसाधित बीजों के प्ररूप पर निर्भर करता है। ग्लिसराइडों के अतिरिक्त सोयबीन तेल में फॉस्फेटाइड, स्टेरॉल, दीर्घ शृंखला वाले हाइड्रोकार्बन, ऐल्कोहल और कीटोन, मुक्त वसा-अम्ल, वर्णक, विटामिन और प्रति ऑक्सीकारकों के साथ अल्प मात्रा में अलिपाइड, गोंदी तथा श्लेष्मीय पदार्थ भी रहते हैं। अपरिष्कृत सोयबीन तेल के निम्नलिखित लक्षण पाये गए हैं: आ. घ. $^{16^{\circ}}$, 0.922-0.925; आ. घ. $^{25^{\circ}}$, 0.9179-0.9245; $n_D^{15^{\circ}}$, 1.4765-1.4775; $n_D^{20^{\circ}}$, 1.4742-1.4763; $n_D^{25^{\circ}}$, 1.4722-1.4750; $n_D^{40^{\circ}}$, 1.4675-1.4736; सावु. मान, 189.9-194.3;

आयो. मान, 103-152 (अविकांश व्यापारिक तेलों के लिए 124-136); थायोसायनोजन मान, 77.0-85.0; आर. एम. मान, 0.2-0.6; असावु. पदार्थ, 0.50-1.80%; फॉस्फेटाइड, 1.0-3.0%; संतृप्त अम्ल, 11.0-13.5%; प्रज्वलनांक, 300-15°; तथा दहन बिन्दु, 350-55°। बंगलौर में परीक्षण किए गए एक विलायक निष्कर्षित तेल के नमूने में निम्नांकित लक्षण देखे गए हैं: $n_D^{28^{\circ}}$, 1.4730; अम्ल मान, 0.10; सावु. मान, 190.8; आयो. मान, 125.7; थायोसायनोजन मान, 78.5; हेनर मान, 95.4; तथा असावु. पदार्थ, 0.2%। तेल के रचक वसा-अम्ल अणु मात्रा के अनुसार इस प्रकार हैं: पामिटिक, 11.1; स्टीऐरिक, 3.2; ओलीक, 29.8; लिनोलीक, 52.1; तथा लिनोलेनिक, 3.73%। पूर्णतया संतृप्त ग्लिसराइड एक प्रकार से उपेक्षणीय मात्रा में पाए गए। अन्य ग्लिसराइडों का विवरण अणु मात्रानुसार इस प्रकार है: GS₂U, 14.60; GSU₂, 12.52; और GU₃, 72.9% (Markley & Goss, 52; Markley, I, 157-211; Jamieson, 305; Bailey, 1951, 171; Venkitasubramanian, *J. sci. industr. Res.*, 1952, 11B, 132)।

तेल में वसा-अम्लों के प्रतिशत वितरण की एक विशेष ध्यान देने योग्य बात यह है कि संतृप्त तथा असंतृप्त अम्लों का अनुपात स्थिर है और बीज में तेल की पाई जाने वाली कुल मात्रा एवं निकाले गए तेल की आयोडीन संख्या पर किसी प्रकार निर्भर नहीं है। लिनोलीक तथा लिनोलेनिक अम्लों की प्रतिशतता तेल की वर्द्धमान आयोडीन संख्याओं के साथ धीरे-धीरे बढ़ती जाती है (सारणी 4) जबकि ओलीक अम्ल में ठीक इसके विपरीत होता है (Markley, I, 163-169)।

सोयबीन तेल में विशिष्ट गंध और स्वाद-गंध रहता है जिसे परिष्करण तथा विगन्धन क्रियाओं द्वारा दूर किया जा सकता है। यदि परिष्कृत तेल को बहुत दिनों तक रखा रहने दिया जाए तो उसमें पुनः पहले जैसी गंध और स्वाद-गंध आ जाते हैं। परिष्कृत तेल सलाह में तथा खाने के तेल के रूप में काम में लाया जाता है। इसके अतिरिक्त मार्गेरीन तथा इसी प्रकार के अन्य भोज्य पदार्थों के बनाने के लिए भी इस तेल का प्रयोग किया जाता है। अन्य तेलों के साथ मिलाकर या अकेले ही केश-तेल के रूप में भी इसे उपयोग में लाते हैं (Jamieson, 308; Markley, II, 787-812; Lager, 99)।

पेंट वार्निश तथा इन्मेल उद्योगों में सोयबीन तेल का व्यापक प्रयोग होता है। कुछ विशेष गुणों के कारण इन उद्योगों में इस तेल का अत्यधिक महत्व है यथा खुला रखे रहने तथा परितापन पर भी रंग नष्ट नहीं होता, किसी सतह पर चढ़ा हुआ रंग वर्षों तक बिना दरार पड़े या पपड़ी निकले हुए रह सकता है; आसानी से लगाया जा सकता है एवं अच्छा पुतता है। अलसी के तेल की अपेक्षा सूखने में यह अधिक समय लेता है। यदि इस तेल में प्राकृतिक रूप से पाए जाने वाले प्रतिऑक्सीकारकों को विलग कर दिया जाय तो यह जल्दी सूख जाता है। उपयुक्त विलायकों के प्रयोग से, प्रभाजी आसवन द्वारा इस तेल को ऐसे प्रभाज में अलग किया जा सकता है जो मूल अम्ल की अपेक्षा अधिक असंतृप्त होता है। सोयबीन तेल को तुंग, अलसी के तेल तथा अन्य शीघ्र सूख जाने वाले तेलों के साथ मिलाकर काम में लाया जा सकता है (Markley, II, 883-890; Jordan *et al.*, 63; Chatfield, 26; Lager, 34)।

सोयबीन लेसिथिन—यह नाम सोयबीन में पाए जाने वाले समस्त फॉस्फेटाइडों (1.5-2.5%) के लिए प्रयुक्त होता है जो सोयबीन तेल उद्योग में उपोत्पाद के रूप में प्राप्त होता है। यह पीले रंग का, मोम जैसा पदार्थ है जिसमें लेसिथिन फॉस्फेटाइड (29%), सैफैलिन फॉस्फेटाइड (31%), तथा इनॉसिटोल फॉस्फेटाइड (40%) पाए

सारणी 3 - कुछ सोयबीन उत्पादों की संरचना *

	सोयबीन आटा		सोयबीन अंकुर	सोयबीन दूध	सोयबीन दही
	वसा रहित	पूर्ण वसा			
जल (%)	11.0	9.0	86.3	92.5	85.1
प्रोटीन (%)	44.7	35.9	6.2	3.4	7.0
वसा (%)	1.1	20.6	1.4	1.5	4.1
कार्बोहाइड्रेट (%)	37.7	29.9	5.3	2.1	3.0
राख (%)	5.5	4.6	0.8	0.5	0.8
कैल्सियम (मिग्रा./100 ग्रा.)	265	195	48	21	100
फॉस्फोरस (मिग्रा./100 ग्रा.)	623	553	67	47	95
लोह (मिग्रा./100 ग्रा.)	13.0	12.1	1.0	0.7	1.5
विटामिन ए (अं. इ./100 ग्रा.)	70	140	180
थायमीन (मिग्रा./100 ग्रा.)	1.10	0.77	0.23	0.09	0.06
राइबोफ्लेवीन (मिग्रा./100 ग्रा.)	0.35	0.28	0.20	0.04	0.05
नायसिन (मिग्रा./100 ग्रा.)	2.9	2.2	0.8	0.3	0.4
विटामिन सी (मिग्रा./100 ग्रा.)	33.8**	21.6†	..

*Watt & Merrill, *Agric. Handb. U.S. Dep. Agric.*, No. 8, 1950, 46.**De & Subrahmanyam, *Sci. & Cult.*, 1945-46, 11, 437. †De & Subrahmanyam, *Curr. Sci.*, 1945, 14, 204.

सारणी 4 - सोयबीन तेलों में संतृप्त तथा असंतृप्त अम्लों का प्रतिशत *

तेल का आयो. मान	102.9	124.0	130.4	132.6	139.4	151.4
ओलीक (%)	60.0	34.0	28.9	23.5	24.7	11.5
लिनोलीक (%)	25.0	49.1	50.7	51.2	55.4	63.1
लिनोलेनिक (%)	2.9	3.6	6.5	8.5	8.0	12.1
कुल असंतृप्त	87.9	86.7	86.6	84.2	88.1	86.7
कुल संतृप्त	12.0	13.2	13.4	15.9	11.9	13.5

*Bailey, 1951, 172.

जाते हैं। शुद्ध सोयबीन लेसिथिन में निम्नांकित वसा-अम्ल रहते हैं : पामिटिक, 15.77; स्टेरिक, 6.30; ओलीक, 12.98; लिनोलीक, 2.92; तथा लिनोलेनिक, 2.02%। इसे खाद्यों, अंगरागों, औषधीय पदार्थों, चमड़े की वस्तुओं, पेंट तथा प्लास्टिक उद्योगों में आद्रकों एवं स्थायीकारकों के रूप में प्रयोग में लाया जाता है। साबुन तथा अप-मार्जकों, विशेष पायसीकारकों और रबर-उत्पादों में भी इसका उपयोग किया जाता है (Wittcoff, 220; Markley, II, 593-639; Jamieson, 303)।

सोयबीन तेल से निकाले जाने वाले व्यापारिक दृष्टि से महत्वपूर्ण अन्य प्रभाजी उपोत्पाद वसा-अम्ल, स्टेरॉल और टोकोफेरॉल हैं। तेल का क्षारीय-परिष्करण करने पर जो पदार्थ नीचे मिलते हैं उनमें स्टीग-मास्टेरॉल, γ -साइटोस्टेरॉल, β -साइटोस्टेरॉल और कैम्पेस्टेरॉल। स्टीगमास्टेरॉल और साइटोस्टेरॉल, हार्मोन संश्लेषण के लिए उत्तम पदार्थ हैं। सोयबीन-टोकोफेरॉल वनस्पति-तेलों के लिए प्रति ऑक्सी-कारकों के रूप में उपयोग में लाए गए हैं [Markley, II, 833-852; Callahan, *Chem. Engng.*, 1949, 56, (Aug.), 128]।

सोयबीन खली - तेल निकालने के बाद जो खली या केक बच रहती है, उसका उपयोग खाद्य और कृषीय उद्योगों में किया जाता है। इसका एक विशेष मोठा सुगंधित स्वाद होता है। पशु एवं कुक्कुटादि इसे बड़े चाव से खाते हैं। खली का रासायनिक संघटन और इसमें पाए

जाने वाले पाच्य पोषक-तत्व इस प्रकार हैं : आर्द्रता, 8.3; प्रोटीन, 44.3; वसा, 5.7; नाइट्रोजन रहित निष्कर्ष, 30.3; अपरिष्कृत तन्तु, 5.6; खनिज पदार्थ, 5.7; कैल्सियम (CaO), 0.39; फॉस्फोरस (P_2O_5), 1.51; पोटैशियम (K_2O), 2.65; पाच्य प्रोटीन, 37.7; कुल पाच्य पोषक, 82.2%; तथा पोषणता अनुपात, 1.2. पोषण मान की तुलना में सोयबीन खली विनोला खली के समान है (Piper & Morse, 204; Markley, II, 891, 919-47; Lander, 176, appx I, xii)।

सोयबीन खली का पूर्वी एशियाई देशों में खाद की तरह उपयोग किया जाता है। इसमें नाइट्रोजन, 7.24; फॉस्फोरिक अम्ल, 1.44; और पोटैश, 1.85% पाए जाते हैं (Piper & Morse, 217)।

सोयबीन प्रोटीन और सोयबीन खली का उपयोग, आसंजकों, जल-पेंटों, चमड़ा सज्जीकारकों, वस्त्र चिक्कणन, रोशन, भित्ति-फलक-लेपन, कीटनाशी छिड़कावों तथा अग्नि-शामक यौगिकों के निर्माण में किया जाता है। सोयबीन खली, प्लाईवुड गोंद के निर्माण में भी काम आती है। सोयबीन प्रोटीनों से एक संश्लेषित तन्तु निकाला गया है जिसकी तुलना व्यापारिक कैंसीन तन्तु से की गई है जिसे रेयान या कपास के साथ मिलाया जा सकता है। प्रोटीन निष्कर्षण के बाद जो अवशेष बचता है, वह फीनालीय प्लास्टिकों के निर्माण में उपयोग में लाया जाता है (Lager, 34; Markley, II, 1016-1053; Munn, *Econ. Geogr.*, 1950, 26, 223; Hess, 374)।

भारतवर्ष से ग्लिसिनी की जो अन्य जातियाँ सूचित की हैं वे हैं, ग्लि. पेंटाफिक्ता डैलजील और ग्लि. जावानिका लिनियस. पहली जाति कोंकण तथा उत्तरी कनारा और वायनाड में पाई जाती है. ग्लि. जावानिका जो दक्षिणी और पूर्वी अफ्रीका तथा उष्णदेशीय एशिया में व्यापक रूप से पाई जाती है, पश्चिमी घाट, मैसूर की पहाड़ियों, नीलगिरि और पुलनी में 1,800 मी. की ऊँचाई तक पाई गई है. यह बहुवर्षीय आरोही या भूस्तारी वृद्धि है. इसकी पत्तियाँ त्रिपण्ण; फूल लाल रंग के लम्बे एकवर्ध्याक्षों में लगे हुए; तथा फलियाँ मुड़ी हुई, घने, नर्म वालों से आवेष्टित (2.5 सेंमी. लम्बी), जिनके अन्दर 3 से 5 तक भूरे रंग के बीज होते हैं. इसमें एक अच्छे चरोहर पौधे के सभी लक्षण पाये जाते हैं जैसे अच्छी वाढ़, सुस्वादता तथा बढ़ने वाली पौधें. इसे बीज या कलमों द्वारा उगाया जा सकता है और यह फसल हरी खाद या हरे चारे के रूप में तैयार की जाती है. कोयम्बटूर में इसे सरलता के साथ उगाया गया है. हाथी घास (पेनिसेटम परपुरियम (शुमाखर) और गिनी घास (पेनिकम मैक्सिमम जैक्सन) के साथ भी इसे उगाया जा सकता है. शुष्क घास का विश्लेषण करने पर निम्न-लिखित मान प्राप्त हुए हैं (शुष्क आधार पर): प्रोटीन, 17.1; अपरिष्कृत तन्तु, 36.6; ईथर निष्कर्ष, 1.4; राख, 12.8; तथा कुल पचनीय पोषक, 57.07%. इसे हरा या सूखा दोनों ही प्रकार से पशुओं को खिलाया जा सकता है (Fl. Madras, 351; Whyte et al., 278; Codd & Myburgh, Fing in S. Afr., 1949, 24, 471; Paul, Trop. Agriculturist, 1951, 107, 225; 1953, 109, 27; Mudaliar, Madras agric. J., 1953, 40, 309). G. soja Sieb. & Zucc.; G. hispida Maxim.; Soja max.; G. ussuriensis Regel & Maack; G. soja; G. gracilis Skvortzov; Fusarium; Peronospora manshurica (Naoum.) Syd.; Phyllosticta glycines Thuem.; Macrophomina phaseoli (Maulbl.) Ashby; Chrotogonus trachypterus; Amsacta moorei Butl.; Giaura (Clettharra) septicata Swinh.; Diacrisia obliqua Wlk.; Aproaerema (Anacampsis) nertaria M.; Oberia brevis S.; Nupserha bicolor; Stomopteryx nerteria M.; Riptortus linearis F.; R. pedestris F.

ग्लिसिराइजा लिनियस (लेग्यूमिनोसी) GLYCYRRHIZA Linn.

ले.—ग्लिसिराइजा

D.E.P., III, 512; Bentley & Trimen, II, 74.

यह बहुवर्षीय वृद्धियों और छोटी झाड़ियों का वंश है जो संसार के उष्ण तथा समशीतोष्ण प्रदेशों में, विशेषतया भूमध्य सागरीय देशों और चीन में, पाया जाता है. ग्लि. ग्लैब्रा लिनियस तथा इसकी किस्में फार्माकोपियाओं के मुलेठी के प्रसिद्ध अधिकृत स्रोत हैं. भारत में मुलेठी प्रदान करने वाली कोई भी जाति नहीं पाई जाती किन्तु ग्लि. ग्लैब्रा का प्रायोगिक स्तर पर कई स्थानों में उत्पादन आरंभ किया गया है. भारत में पर्याप्त मात्रा में मुलेठी का आयात एशिया-माइनर, ईराक, ईरान तथा अन्य मध्य-पूर्वीय देशों से किया जाता है.

ग्लि. ग्लैब्रा, जो व्यापारिक मुलेठी का प्रमुख स्रोत है, एक सहिष्णु झाड़ी या उपझाड़ी है जिसकी ऊँचाई 1.8 मी. तक तथा पत्तियाँ बहुपण्णों विपम पक्षाकार; फूल कक्षीय स्पाइकों में, भटर कुलीय; रंग लैवेंडर से बैजनी तक; फलियाँ दबी हुई और बीज गुर्दाकार होते हैं. कुछ किस्मों में पौधों का भूमिगत अंग मूलवृन्त के रूप में रहता है जिसमें से कई लम्बे

तथा प्रशाखित तने निकल आते हैं. अन्य किस्मों में मूलवृन्त स्थूल और मजबूत होता है और उसमें से अनेक बहुवर्षीय जड़ें फूटती हैं. सुखाए गए, छीले हुए या अनछीले भूमिगत तने और जड़ें मिलकर प्रसिद्ध व्यापारिक दवा—मुलेठी (सं.—मधूक, यण्टि-मधु; हिं.—मुलेठी, जेठी-माढ; बं.—जण्टि मधु, जैशबोमधु; म.—जेष्ठामधा; गु.—जेठी मधा; ते.—यण्टिमधुकम, अतिमधुरमु; त.—अतिमधुरम; क.—यण्टि मधूक, अतिमधुर; मल.—इरातिमधुरम) के नाम से जाने जाते हैं.

अनेक स्थानों में ग्लि. ग्लैब्रा को उगाने के प्रयत्न किए गए हैं. इसमें प्रमुख हैं: कश्मीर में वारामुला, श्रीनगर और जम्मू; तथा देहरादून और दिल्ली. इसका सफल उत्पादन समशीतोष्ण हिमालय और दक्षिण भारत के पहाड़ी प्रदेशों में संभव है. यह पौधा शुष्क, धूपमय जलवायु और नदी के किनारों पर पाई जाने वाली गहरी, नम मिट्टी में, जहाँ समय-समय पर मिट्टी हटती रहती है, भली-भाँति उगता है. इसको उपजाने के लिए मिट्टी भली-भाँति तैयार होनी चाहिए जिसमें प्रचुर मात्रा में खाद मिलाई गई हो. तनों की कलमों के सिरे या टुकड़े 60 सेंमी. की दूरी पर पंक्तियों में लगाये जाते हैं. पंक्तियों के बीच 90 सेंमी. की दूरी रखी जाती है. पौधों के लग जाने तक सिंचाई अत्यन्त आवश्यक है. पौधों का प्रवर्धन बीजों द्वारा भी किया जा सकता है. कश्मीर में ऑस्ट्रिया से मँगाए गए बीजों द्वारा प्रवर्धन आरम्भ हुआ था किन्तु वह असफल रहा. एक बार लग जाने पर पौधों पर कोई विशेष ध्यान देने की आवश्यकता नहीं रहती. खरपतवार निकालने के लिए समय-समय पर भूमि की गुड़ाई की जानी चाहिए. अंतर्वर्ती फसलें जैसे गाजर, आलू और गोभी, पंक्तियों के बीच-बीच में लगाई जा सकती हैं. 3-4 वर्षों में जड़ें काटने लायक हो जाती हैं. वर्षा ऋतु समाप्त होने के बाद मिट्टी को ढीली बनाकर पौधों को खोद लिया जाता है तथा उनके ऊपरी भागों को काट लेते हैं. बची हुई टूटी जड़ें, बसन्त में पुनः नवीन अंकुर दे देती हैं. इस प्रकार आगामी फसल तैयार करने के लिए केवल पंक्तियों के बीच के शेष स्थानों में जड़ वाली कलमें लगाने की आवश्यकता रह जाती है (Bull. Minist. Agric., Lond., No. 121, 1944, 14; Pal & Singh, Indian Fmg, 1949, 10, 423; Kapoor et al., J. sci. industr. Res., 1953, 12A, 314; Suri, Punjab Fmr, 1947, 3, 20).

भूमिगत तने और जड़ें, कटाई के पश्चात् छोटे-छोटे टुकड़ों में काटकर, धीरे-धीरे छाया में सुखा ली जाती हैं. काटे गये पदार्थ के एक अंश का छिलका उतार लिया जाता है और सुखने पर यही छिली हुई मुलहठी के नाम से बाजार में बेची जाती है. सुखाने की क्रिया के समय आद्रता की मात्रा 50% से घटकर 10% रह जाती है. अनुकूल परिस्थितियों में 60 किंवदल प्रति हेक्टर की उपज सूचित की गई है जिसमें से लगभग 75% विक्रय होती है. 1954 में दिल्ली मण्डी में मुलहठी का मूल्य लगभग 75 रु. प्रति किंवदल था (Houseman, Streatfield Lect., 1944; Suri, loc. cit.).

ग्लि. ग्लैब्रा वैर. टिपिका रेगेल और हर्डर, स्पेन में मुलहठी का स्रोत है और यह मुख्यतः सिसिली तथा स्पेन में ही पाई जाती है. इस औषधि में कुछ जड़ों के टुकड़ों के साथ 15-20 सेंमी. लम्बे तथा 6-19 मिमी. व्यास वाले छिले या अनछिले भूमिगत तनों के टुकड़े मिले रहते हैं. बिना छिले टुकड़ों का रंग गहरा लाल या बैजनी लिए भूरा होता है और उनमें लम्बाई में झुर्रियाँ पड़ी होती हैं. छाल में जो अंग होते हैं वे तन्तुमय किन्तु काष्ठ वाले चैली जैसे होते हैं. छिलके उतरे टुकड़े चिकने और पीले होते हैं. इस औषधि में एक विशेष हल्की-सी गंध और मीठा स्वाद होता है. इसमें कड़वापन बिल्कुल नहीं होता. बाजार में इसका दाम बहुत अधिक होता है क्योंकि मुलहठी की सभी किस्मों में इसी का स्वाद सर्वाधिक मीठा होता है.

रूसी मुलेठी ग्लि. ग्लैन्ना. वैर. ग्लैन्डुलीफेरा वाल्डस्टाइन और फिट्टाडवेल से प्राप्त की जाती है। यह रूस के दक्षिणी भागों में मुख्यतः जंगली पौधों से प्राप्त की जाती है। इसमें मुख्यतः जड़ें तथा मूलवृन्त के कुछ टुकड़े रहते हैं। बड़े टुकड़े लम्बाई में चीरे हुए होते हैं। अनछिले टुकड़ों की लम्बाई 25 सेंमी. तक और व्यास 5 सेंमी. रहता है। इनका रंग वैजनी; छाल बहुत पतली तथा स्वाद मीठा होने पर भी कुछ उग्रता तथा कड़वाहट लिए रहता है। रूसी मुलहठी, छिले हुए टुकड़ों के रूप में निर्यात की जाती है। अत्यधिक तीव्र एवं कड़वे स्वाद वाले टुकड़ों को अलग कर दिया जाता है। ईरानी मुलेठी, ग्लि. ग्लैन्ना वैर. वायलेसिया बोआसिए से निकाली जाती है जो मुख्यतः ईराक में दजला और फरात की घाटियों में पाई जाती है। अन्य किस्मों की अपेक्षा यह अधिक मोटी होती है और इसे छिले बिना ही बाजारों में बेचा जाता है (Trease, 389; Wallis, 331; B.P.C., 376)।

प्रतिस्थापी एवं अपमिश्रक

ग्लि. यूरेलेन्सिस फिशर मंचूरिया की मुलहठी का स्रोत कही जाती है। आकृति में यह रूसी मुलहठी के समान होती है। इसकी छाल हल्के चाकलेटी-भूरे रंग की तथा शीघ्र ही उपड़ने वाली होती है। इसमें शर्करा अत्यल्प मात्रा में रहती है और इसका निष्कर्ष तीक्ष्ण होता है। कुछ पादप वंशों की जड़ें और प्रकंद मुलहठी के प्रतिस्थापी एवं अपमिश्रक के रूप में प्रयुक्त किये जाते हैं। व्यापार में ऐब्रस प्रिकै-टोरियस (धुंधची) की जड़ें भारतीय मुलहठी के नाम से विख्यात हैं (Wallis, 334; With India, I, 3)।

व्यापारिक मुलहठी कोमल, लचीली तथा रेशेदार, भीतर से हल्की पीली तथा स्वाद में विशेष मीठी और रुचिकर होती है। यह दानिक, कफ निस्सारक, शामक एवं मंद रेचक है। इसका उपयोग खांसी और जुकाम सम्बंधी विकारों से मुक्ति के लिए किया जाता है। मूत्र अंगों की श्लेष्म झिल्ली के उत्तेजित होने पर भी इसका प्रयोग किया जाता है। मुलहठी का निष्कर्ष खांसी के शबंत, गले की मीठी गोलियाँ एवं चुसनी टिकियाँ बनाने में काम आता है। इसका उपयोग मिचली उत्पन्न करने वाली औषधियों के स्वाद को बदलने और सुगंधित शबंत एवं एलिक्जिर में होता है। यह आमाशय-व्रण भरने वाला उद्वेष्टकारी और हाइड्रोक्लोरिक अम्ल उद्दीपक है। निष्कर्ष के सेवन से जलीय शोथ भी हो सकता है। ऐंडीसन रोग में भी निष्कर्ष उपयोगी है। गोलियाँ बनाने में उचित गाढ़ापन लाने के लिए और आसंजन रोकने के लिए मुलहठी का उपयोग चूर्ण के रूप में किया जाता है। स्वदेशी औषधि में मुलहठी का उपयोग काढ़े, अर्क या मीठी गोलियों के रूप में होता है। पान के साथ भी इसे चबाया जाता है। इसका प्रयोग घी और शहद के साथ घावों और कटे हुए भागों पर लगाने के लिए किया जाता है (Kirt. & Basu, I, 728; Dastur, Medicinal Plants, 126; U.S.D., 517; Fairbairn, J. Pharm. Lond., 1953, 5, 281; Molhuysen et al., Lancet, 1950, 259, 381; Travancore Univ., Pharmacognosy of Ayurvedic Drugs, Ser. I, 1951, 27)।

फार्माकोपिया के अनुसार औषधि में 20% से कम जल-विलेय पदार्थ तथा 10% से अधिक (छिलके वाली मुलहठी) या 6% से अधिक (छिली हुई मुलहठी) की राख नहीं होनी चाहिये। मुलहठी का चूर्ण पीले अथवा पाण्डु रंग का होता है और यह छिली हुई मुलहठी से बनाया जाता है। जब तक उल्लेख न हो, बिना छिली मुलहठी का चूर्ण औषधि रूप में उपयोग में नहीं लाया जाता। चूर्णित मुलहठी में अचूर्णित मुलहठी के विनिर्देश होने चाहिए (B.P., 309)।

मुलहठी निष्कर्ष के यू. एस. पी. मानक (U.S.P. Standard) में 25% से अधिक शीतल जल-अविलेय पदार्थ एवं 5% से अधिक राख नहीं होनी चाहिये। भारत में बाजारों में मुलहठी का सत्व खूबसूरत अथवा सत मुलहठी के नाम से बिकता है। बाजार से एकत्र किये गये नमूनों के विश्लेषण से निम्नलिखित मान प्राप्त हुये: अविलेय पदार्थ, 23.1-83.3; तथा राख, 2.6-9.8%। अधिकांश नमूनों में मिलावट थी (U.S.P., 178; Handa et al., Indian J. Pharm., 1951, 13, 34)।

मुलहठी की विशेष मिठास का कारण है ग्लिसिराइजिन नामक अवयव, जिसकी विभिन्न उपजातियों में सामान्यता 2-14% तक होती है। यह अवयव पौधे के हवाई भागों में नहीं पाया जाता। स्पेन की मुलहठी में 6-8 और रूसी मुलहठी में 10-14% ग्लिसिराइजिन पाया जाता है। पहली में तिक्त अवयव की मात्रा अल्प होती है। श्रीनगर में परीक्षण के रूप में उगाये गये मुलहठी के पौधों से 3.6% ग्लिसिराइजिन प्राप्त हुआ। मुलहठी में उपस्थित अन्य अवयव इस प्रकार हैं: ग्लूकोस (3.8% तक), स्यूक्रोस (2.4-6.5%), मैनाइट, स्टार्च (लगभग 30%), ऐस्पेरान्जिन, तिक्त अवयव, रेजिन (2-4%), एक वाष्पशील तेल (0.03-0.035%), तथा रंजक. पीला रंग ऐन्थोजैन्थिन ग्लाइकोसाइड, आइसोलिविरिटिन $[C_{21}H_{22}O_8]$; ग. वि., 185-86° (अपघटित)] की उपस्थिति के कारण होता है, जो जड़ों को सुखाने और संचय करने की क्रिया में आंशिक रूप से लिक्विरिटिन (ग. वि., 212°) में परिवर्तित हो जाता है। आइसोलिविरिटिन के जल-अपघटन से आइसोलिविरिटि-जेनिन (2, 4, 4'-ट्राइहाइड्रॉक्सि चाकोन, $C_{15}H_{12}O_4$; ग. वि., 202-4°) एवं लिक्विरिटिन से एग्लूकोन के रूप में लिक्विरिटिजेनिन (7, 4'-डाइहाइड्रॉक्सि फ्लैवोन, $C_{15}H_{12}O_4$; ग. वि., 207°) मिलता है। आइसोलिविरिटिन तथा लिक्विरिटिन दोनों ही कड़वे किन्तु बाद में मिठास उत्पन्न करने वाले पदार्थ हैं तथा लार ग्रन्थियों को उद्दीपित करते हैं। व्यापारिक नमूनों में लगभग 2.2% आइसोलिविरिटिन रहता है। मुलहठी में एक स्टेरॉयड ऐस्ट्रोजेन, ऐस्ट्रियाल, भी पाया जाता है। भीतरी छाल में एक हृदयरलकारी क्रियाशील सैपोनिन की उपस्थिति बताई गई है। चीनी मुलहठी में एक पदार्थ ($C_{20}H_{32}O_9$; ग. वि., 202-4°) रहता है जिस पर अम्लों द्वारा अपघटन करने से लैपाकोल श्रेणी के यौगिक प्राप्त होते हैं (Houseman, loc. cit.; Thorpe, VII, 362; Kapur et al., loc. cit.; Trease, 393; McIlroy, 40; Puri & Seshadri, J. sci. industr. Res., 1954, 13B, 475; Chem. Abstr., 1950, 44, 4635)।

मुलहठी में ग्लिसिराइजिन का अंश ट्राइहाइड्रॉक्सि अम्ल, ग्लिसिराइजिक अम्ल ($C_{42}H_{62}O_{16}$; ग. वि., 205°) के कैल्सियम या पोटैसियम लवण के रूप में पाया जाता है। यह चीनी से 50 गुना अधिक मीठा होता है। यहाँ तक कि 1 : 20,000 के विलयन में भी इसकी मिठास का पता चलता है। ग्लिसिराइजिन का गर्म जलीय विलयन ठंडा करने पर श्लेपी बन जाता है। जल-अपघटन से इससे ग्लिसिरिटिक अम्ल ($C_{30}H_{46}O_4$) तथा मैन्यूरोनिक अम्ल बनता है। ग्लिसिरिटिक अम्ल दो रूपों में पाया जाता है जिनके गलनांक 283° और 296° हैं। यह थ्रोलोनोलिक अम्ल से सम्बंधित एक ट्राइप्टीन है। इसकी क्रिया रक्तसंलायी होती है यद्यपि ग्लिसिराइजिक अम्ल स्वयं रक्तसंलायी नहीं है (Houseman, loc. cit.; Thorpe, loc. cit.; Chem. Abstr., 1937, 31, 3057; 1939, 33, 2528; The Merck Index, 470)।

मुलहठी का अधिकांश निष्कर्ष के रूप में औद्योगिक कार्यों के लिए प्रयुक्त हो जाता है। इस पदार्थ को पहले लुगदी के रूप में पीस कर न्यून

वाष्प दाब में जल से निष्कर्षित किया जाता है, फिर इस काढ़े को टंकियो में थिरा कर शोधित सार को निर्वात में सान्द्रित करके गाढ़े लेप को साँचों में डालकर छोटी-छोटी वटियों और चप्पो तथा अन्य आकारों में ढाला जाता है यह पदार्थ धीरे-धीरे गहरे भूरे रंग के ठोस में परिवर्तित हो जाता है जो चमकदार शख-सरीखे टुकड़ों में चटकता है भिन्न-भिन्न सत्वों में ग्लिसिराइडजिन की मात्रा 12 से 24% तक होती है यह तम्बाकू के व्यापार में आर्द्रता, सुगंध और मधुरता के लिए प्रयुक्त किया जाता है यह मिठाइयों बनाने तथा जौ की शराब को सुगंधित एवं स्वादिष्ट करने के लिए भी काम में लाया जाता है। अपनी भीनी सुगंध के कारण स्पेन की मूलहठी का रस ऊँचे दामों पर विकता है (Houseman, loc. cit.; Hort. Abstr., 1952, 22, 392).

अमोनियाकृत ग्लिसिराइडजिन दवाइयों के व्यवसाय में काम आता है और निम्न प्रकार से बनाया जाता है सर्वप्रथम ग्लिसिराइडजिक अम्ल को मूलहठी के सत्व से अवक्षेपित कर लिया जाता है, फिर अमोनिया में विलयित करके विलयन को काँच की प्लेटों पर पतली पर्त के रूप में फैलाकर सुखा लिया जाता है, जिससे चमकदार गहरे भूरे रंग के पत्तर मिलते हैं (Houseman & Lacey, J. industr. Engng Chem., 1929, 21, 915).

जल विलेय पदार्थों को निकाल देने के बाद बचे हुये गूदों को दुबारा तनु कॉस्टिक सोडा के विलयन के साथ निष्कर्षित किया जाता है। इस दूसरे निष्कर्ष का उपयोग फायरफोम द्रव के बनाने में किया जाता है, जो अग्निशामकों में फेन-स्थिरीकारक के रूप में प्रयुक्त किया जाता है यह कच्ची धातुओं के फेन उज्ज्वलन विधि से सज्जीकरण करने में आर्द्रकारी और फेनकारी पदार्थ के रूप में तथा कीटनाशियों के बनाने में आर्द्रकारी, फैलाने वाले और चिपकाने वाले पदार्थ के रूप में भी प्रयोग किया जा सकता है। बची हुई लुगदी को अम्लों द्वारा किण्वित होने योग्य शर्कराओं में जल-अपघटित किया जा सकता है इसका उपयोग ऐल्कोहल उत्पादन तथा खमीर के लिए सवर्धन बनाने में भी किया जाता है बची खूची लुगदी को कुकुरमुत्तों के सवर्धन तैयार करने तथा प्रयत्नकारी बोर्ड, धानी तथा अन्य तनु पदार्थों के निर्माण में उपयोग किया जा सकता है (Houseman & Lacey, loc. cit.; Hill, 247; Chem. Abstr., 1952, 46, 8815).

ग्ल. ग्लैब्रा की पत्तियों में पौधों के प्रमुख पोषक तत्व, विशेषतया नाइट्रोजन, प्रचुर मात्रा में रहते हैं (गुणक भार का 2.91%) इनका उपयोग खाद बनाने के लिए भी किया जाता है। पत्तियों की पुल्टिस सिर के घावों और वगल से निकलने वाले वदवदार पसीने के लिए लाभकारी बताई जाती है। इस पौधे के बीजों में औषधीय गुण होते हैं (Idnani & Chibber, Sci. & Cult., 1952-53, 18, 362; Dymock, Warden & Hooper, I, 492).

Leguminosae; *G. glabra* Linn.; var. *typica* Regel & Herd.; var. *glandulifera* Waldst. & Kit.; *G. malensis* Fisch.; *Abrus precatorius*

ग्लिसीरिया आर. ब्राउन (ग्रेमिनी) GLYCERIA R. Br.

ले. — ग्लिसेरिया

D.E.P., III, 509; Fl. Br. Ind., V, 346.

यह दलदली बहुवर्षीय, यदाकदा एकवर्षीय का एक वंश है जो दोनों गोलाधों में समशीतोष्ण कटिबंधीय क्षेत्रों में पाया जाता है। भारत में इसकी 5 जातियाँ मिलती हैं।

ग्ल. टॉगलेंसिस सी. बी. क्लार्क, सिन. ग्ल. फ्लूइडेंस डुथी नान आर ब्राउन, मृदु गुच्छों वाली या फैलने वाली घास है जिसकी रेखीय पत्तियाँ गिरी हुई होती हैं। यह हिमालय के समशीतोष्ण भागों में कश्मीर में कुमायूँ तक और सिक्किम में 1,200-3,600 मी. तक और मणिपुर, खासी, जयंतियाँ पहाड़ियों पर 1,380-2,700 मी. की ऊँचाई तक पाई जाती है। यह दलदली, तालावों और मन्द प्रवाही धाराओं की सतह को ढके हुये पाई जाती है यह ग्ल. फ्लूइडेंस आर. ब्राउन (मन्ना घास, पलोटींग मोडो घास) से काफी मिलती-जुलती है। यह सुन्दर घास यूरोप और अमेरिका से भारत में लाई गई है और शिलांग, उत्कल तथा अन्य पहाड़ी स्थानों के चारों ओर फैल गई है (Fl. Assam, V, 73; Fl. Madras, 1850).

ग्ल. फ्लूइडेंस की पत्तियाँ मोटी होती हैं। इन्हें पशु हचि से खाते हैं। इसमें सूखी अवस्था में 2% नाइट्रोजन और 7-8% राख रहती है। राख का प्रमुख रचक सिलिका (लगभग 47%) है। इसके बीज हलवा और सूप बनाने के काम आते हैं। बीजों के विस्फेपण से जो मान प्राप्त हुये वे इस प्रकार हैं: आर्द्रता, 13.54, प्रोटीन, 9.69; वसा, 0.43, स्टार्च तथा शर्करा, 75.06; रेशे, 0.21; और राख, 0.61% (Wehmer, I, 84; Winton & Winton, I, 176). *Gramineae*; *G. tonglensis* C. B. Clarke; *G. fluitans* Duthie non R. Br.

ग्लोकेनिया — देखिए डाइक्रेनाप्टेरिस

ग्लूटा लिनियस (ऐनाकार्डिएसी) GLUTA Linn.

ले. — ग्लूटा

वृक्षों का यह वंश दक्षिणी-पूर्वी एशिया और मैडागास्कर में पाया जाता है। एक जाति भारत में पाई जाती है

Anacardiaceae

ग्लू. ट्रावंकोरिका वेडोम *G. travancorica* Bedd.

ले. — ग्लू. ट्रावंकोरिका

D.E.P., III, 509; Fl. Br. Ind., II, 22.

त. — शेनकुरानी; मल. — थोडाप्पेइ.

यह एक विशाल चिरहरित वृक्ष है जिसकी ऊँचाई 36 मी और घेरा 4.5 मी होता है। यह त्रावकोर और तिल्लेवैली के घने नम जंगलों में 1,050 मी. की ऊँचाई तक पाया जाता है। इसकी छाल चिकनी रक्तम-भूरी; पत्तियाँ स्पैचुलाकार, 15 सेमी. तक लम्बी और पुष्प पीत-श्वेत होते हैं।

लकड़ी का अधिकांश भाग रसकाष्ठ होता है जो रक्त धूसर वर्ण का और वेधक कीटों से प्रभावित होने वाला होता है। अतः काष्ठ गहरा लाल, नारंगी और काली रेखाओं से सुन्दर ढंग से चित्तीदार बना, कठोर, दृढ़, भारी (आ. घ., 0.84; भार, 865 किग्रा./घमी.) कुछ-कुछ अन्तर्ग्रथित दानेदार और स्थूल गठन का होता है। लकड़ी ठीक से सीझती है। इसे चीरना कठिन है लेकिन इसकी सतह चिकनी हो जाती है। इस पर अच्छी तथा टिकाऊ पालिश चढ़ती है। इसका जीवनकाल 10 से 15 वर्ष होता है यह लकड़ी भारत की श्रेष्ठतम और सुन्दरतम लकड़ियों में समझी जाती है। येज कुर्सी बनाने, घर की साज सज्जा करने, खराद पर नक्काशी में और जडाऊ काम के लिए यह उपयोगी समझी जाती है (Pearson & Brown, I,



चित्र 38 - ग्लूटा ट्रायंकोरिका - पुष्पित शाखा

323; Purushotham *et al.*, *Indian For.*, 1953, 79, 49; Howard, 221).

ग्लूटा की अधिकांश जातियों में खुरचे हुये भाग से एक तिक्त रेजिनी रस निकलता है। यह स्रवण हुवा में खुला रहने पर काला पड़ जाता है और मलाया में लेकर की भांति प्रयुक्त होता है (Burkill, I, 1079).

ग्लेडिटसिया लिननस (लेग्यूमिनोसी) GLEDITSIA Linn.
ले. - ग्लेडिटसिया

यह एक पर्णपाती, बहुधा कंटकित वृक्षों का वंश है जो एशिया, अफ्रीका एवं अमेरिका में पाया जाता है। विश्व के विभिन्न भागों में यह दीर्घा वृक्षों एवं चहार दीवारी वाले पौधों के रूप में उगाया जाता है। भारत में इसकी दो जंगली जातियों के पाए जाने का उल्लेख है। कुछ विदेशी जातियाँ भी बोई जाने लगी हैं।

Leguminosae

ग्ले. ट्रायाकेन्थास लिननस G. triacanthos Linn.

सामान्य हनी लोकस्ट

ले. - ग्ले. ट्रायाकेन्थास

Bailey, 1949, 588; Firminger, 581.

यह अमेरिका का मूल वासी, सहिष्णु, पर्णपाती और शूलमय वृक्ष है। भारत में इसे दीर्घा वृक्षों या ब्राड पादपों के रूप में उगाते हैं। सामान्यतः यह 12-15 मी. की ऊँचाई तक बढ़ता है और इसका घेरा 1.8-3.6 मी. तक होता है। परन्तु 45 मी. ऊँचे तथा 5.7 मी. मोटाई के भी वृक्ष पाये गये हैं। इसका शिखर चौड़ा फैला हुआ पतली निलम्बी शार्ङियों युक्त; कांटे सोवे या शाखित, कड़े और 7.5-10 सेंमी. लम्बे; पत्तियाँ पिच्छाकार अथवा अर्ध पिच्छाकार; फूल छोटे, हरिताम

श्वेत, बहुसंयमनी असीमाक्षों में; फलियाँ 45 सेंमी. तक लम्बी हंसियादार मुड़ी हुई जिनमें गाढ़ा, मीठा, लसदार गूदा बीज को घेरे रहता है।

यह पेड़ सूखा या पालारोधी है। यह हर प्रकार की मिट्टी में उगता और प्रायः नाशकजीवों के प्रभावों से मुक्त रहता है। इसका प्रवर्धन बीज द्वारा होता है। सरलता से उगने के लिए बीजों को बोने के पहले (65.5° तक) गर्म कर सकते हैं। खेत में इन पौधों को 6 मी. की दूरी पर लगाते हैं। वे तेजी से बढ़ते हैं और उपयुक्त परिस्थितियों में 4-5 वर्षों में फल देने लगते हैं। अनेक वृक्ष कटकरहित भी होते हैं।

अंतःकाष्ठ भूरा अथवा कांस्य रंग का तथा चमकदार होता है और मोटे पीले रसकाष्ठ से अलग दिखाई देता है। यह कठोर, भारी (घनत्व, 0.7-0.8; भार, 704-800 किग्रा./घमी.), मजबूत और खुरदुरा होता है। यह सरलता से गड़ा नहीं जा सकता परन्तु इसकी सतह चिकनी हो सकती है। यह टिकाऊ है इसलिए इसे चहार दीवारी के खम्भों, फर्नीचर एवं इमारती कामों में प्रयुक्त करते हैं। ईंधन के लिए भी यह उत्तम है (Record & Hess, 273; Potts, *Agric. Gaz. N.S.W.*, 1920, 31, 85).

इसके अंतःकाष्ठ में 4-4.8% टैनिन रहता है। लकड़ी पर 5% नाइट्रिक अम्ल की क्रिया से निकलने वाली लुगदी से 41.1% सेलूलोस (α-सेलूलोस, 35.8%) प्राप्त किया जा सकता है।

पकी फलियाँ मवेशियों को खिलाई जाती हैं। दक्षिणी अफ्रीका की फलियों के विश्लेषण से निम्नांकित मान प्राप्त हुए हैं : प्रोटीन, 23.1; कार्बोहाइड्रेट, 54.2; बसा, 4.6; और तंतु, 12.7%; कुल शर्कराएँ 30% थीं। इसकी फलियाँ अत्यन्त पोषक मानी जाती हैं और पतझड़ में गिरी पत्तियाँ मवेशी खा जाते हैं (Loock, *Eng in S. Afr.*, 1947, 22, 7; Nelson, 1951, 215).

वायु में सुखाई गई फलियों में दो रंजक पदार्थ पाये जाते हैं : एक्रेमरिन (3', 4', 5', 5, 7-पेंटाहाइड्रॉक्सि-8-मेथॉक्सि फ्लैवोन, $C_{15}H_{10}O_5$, भूरी पट्टियाँ; ग. बि., 348-50°; उपलब्धि, 0.18%), तथा ओलमेलिन (5,7-डाइहाइड्रॉक्सि-4'-मेथॉक्सि आइसोफ्लैवोन, $C_{16}H_{12}O_5$, चेरी लाल पट्टिकाएँ; ग. बि., 287-91°; उपलब्धि, 0.12%). हरी फलियों से एक फ्लैवोनाइड ग्लाइकोसाइड (ग. बि., 230°) पृथक् किया गया है (*Chem. Abstr.*, 1948, 42, 4173, 4174; 1952, 46, 9098, 6202).

फलियों के वाष्पशील अंश और रस में अनेक सूक्ष्मजीवों के प्रति नाशक प्रतिजैविक क्रिया पाई जाती है। पेनिसिलियम ग्लाउकस विशेष रूप से इससे प्रभावित होता है (*Hort. Abstr.*, 1952, 22, 202).

बीजों से एक पीला-हरा बसीय तेल निकलता है जिसके स्थिरांक इस प्रकार हैं : आ. घ. 15° , 0.943; n_{40}^{20} , 1.4721; सादृ. मान, 190.58; आयो. मान, 120.1; अम्ल मान, 5.9; तथा असादृ. पदार्थ, 3.54%. असाबुनीकृत पदार्थ में एक फाइटोस्टेरोल (ग. बि., 152-53°) पाया गया है। इस तेल के मुख्य रचक अम्ल ओलीक और लिनोलीक अम्लों के हैं। संतृप्त अम्लों (पामिटिक और स्टीरैरिक) की केवल अल्प मात्राएँ ही मिलती हैं। भूसी-रहित बीजपत्रों से प्राप्त तेल (उपलब्धि, 4.9%) में 0.04% टोकोफेरॉल रहता है। बीज-अंकुरों से प्राप्त तेल (उपलब्धि, 7%) में 0.056% टोकोफेरॉल रहता है (*Chem. Abstr.*, 1923, 17, 2906; 1930, 24, 3391; 1947, 41, 230).

इन बीजों में केटेलस, पैराक्सिडस और लाइपेस की उपस्थिति बताई जाती है। इसमें 3.78% राख होती है। बीज की भूसी में ईथर निष्कर्ष, 1.67; अपरिष्कृत तंतु, 37.78; अशुद्ध प्रोटीन, 7.81; पेंटोस, 12.41; और कुल राख, 4.11% प्राप्त होती है। इसमें

पॉलिफोनॉल और पॉलिफोनॉलिस भी उपस्थित रहते हैं। इसके जलीय निष्कर्ष में टैनिन की अधिकता होती है (Chem. Abstr., 1920, 14, 2098; 1923, 17, 2906; 1949, 43, 8452)।

इसकी पत्तियों में दो सक्रिय पदार्थ मिलते हैं। पहला हाइपाक्सीसिन, जिसमें गर्भाशय सकोचक गुण पाये जाते हैं। दूसरा एक उदासीन गोद जैसा पदार्थ जिसमें अवसादी क्रिया पाई जाती है। पत्तियों के जलीय निष्कर्ष में स्पष्ट अवसादी प्रभाव ज्ञात होता है। जलीय निष्कर्ष को पीने से ऐच्छिक पेयियाँ अधिक कार्य करने लगती हैं और थकान देर से आती है। पत्तियों में 300-750 मिग्रा./100 ग्रा. ऐस्कार्विक अम्ल मिलने का उल्लेख है (Oester, J. Amer. pharm. Ass., 1934, 23, 1198; Chem. Abstr., 1948, 42, 2690)।

इसके फूल मधुमक्खियों को बड़ी सरया में आकर्षित करते हैं। ऐल्कलायड फूलों के असीमाक्ष में 0.2% परन्तु छाल में केवल लेश मात्र में ही रहते हैं (White, N. Z. J. Sci. Tech., 1951, 33B, 59)।

ग्लो. सिनेसिस लामार्क चीन का पौधा है परन्तु भारत में बोया जाता है। चीन में इसकी फलियाँ कफोत्सारी, वामक एवं रेचक के रूप में प्रयुक्त होती हैं। इनमें 5-8% सैपोनिन (ग.वि., 199-201°) मिलता है। इसकी लकड़ी का भी ओपधि के रूप में उपयोग हुआ है (Haines, 313; Burkill, I, 1072; Chem. Abstr., 1935, 29, 4366)।
Penicillium glaucum; *G. sinensis* Lam.

ग्लोकिडिआन फोर्स्टर (यूफोर्बिएसी) GLOCHIDION Forst.

ले. - ग्लोकिडिओन

D.E.P., III, 505; Fl. Br. Ind., V, 305.

यह सदाबहार वृक्ष और झाड़ियों का वृहत् वृक्ष है जो उष्णकटि-बंधीय एशिया और पोलोनेशिया में पाया जाता है। भारत में लगभग 30 जातियाँ मिलती हैं। कुछ जातियों से कठोर लकड़ी मिलती है किन्तु छोटे आकार के कारण इसका व्यापारिक उपयोग नहीं हो पाता। कुछ जातियों से चर्मशोधन छाल प्राप्त होती है और कुछ औषधीय हैं।

ग्लो. एक्स्पमिनेटम म्यूलर आफ आर्गो (नेपाल - लाटीकाट; लेपचा - कैर-कग, तेन्नैकैर; खासी पहाड़ियाँ - डीग जेटी) मध्यम आकार का पतली भूरी छाल वाला वृक्ष है जो हिमालय में नेपाल से पूर्व की ओर असम की पहाड़ियों पर 1,200-2,100 मी. की ऊँचाई पर पाया जाता है। इसकी लकड़ी (भार, 592-752 किग्रा./घमी.) घूसर-रक्तवर्ण की, कठोर और मजबूत होती है जिसके अरीय काट पर रजती दाने होते हैं। अच्छी तरह उपचारित न होने पर लकड़ी फट या ऐठ सकती है। यह सुन्दर लकड़ी नक्काशी के लिए उपयोगी है (Gamble, 602)।

ग्लो. आर्बोरेसेंस ब्लूम (असम - पानीमुदी, तोड़ितित) छोटा या मध्यम आकार का वृक्ष है जो असम के कुछ भागों में पाया जाता है। लकड़ी रक्ताम भूरी, खुरदुरी और कठोर होती है। जावा में यह कभी-कभी घर बनाने के लिए प्रयुक्त होती है (Burkill, I, 1076)।

ग्लो. होहेनाकेरी वेडोम सिन. ग्लो. लेंसियोलारियम डाल्जेल नान वायट (म. - भोमा; क. - सल्ले, निर्जनी; मल. - कुलुचन) लघु या मध्यम आकार का वृक्ष है। इसकी छाल भूरी या घूसर होती है। यह दक्षिणी प्रायद्वीप में प्रधानतः कोकण और उत्तरी कनारा में पाया जाता है। ग्लो. लेंसियोलारियम वायट नान डाल्जेल (नेपाल - बगी काठ; बिहार और उड़ीसा - मारगमाता, कलुचुआ, चिकनी, कटकोन्या, किन्दाद, लोदम, सिमलेखेद दारु; बंगाल - अगुटी, भौरी; असम - आर्मलोचन) एक वृक्ष है जो ग्लो. होहेनाकेरी से अत्यधिक मिलता-

जुलता है और भ्रमवश लोग इसे ग्लो. होहेनाकेरी ही समझते हैं। यह भीतरी और बाह्य हिमालय दोनों ही भागों में कुमायू से असम तक और बिहार, उड़ीसा और उत्तरी तथा दक्षिणी सिरकार में पाया जाता है। दोनों ही जातियों की लकड़ी भूरे रक्त वर्ण की कठोर और टिकाऊ होती है और घर बनाने के काम आती है। छाल पेट के विकारों में दी जाती है। बीज से तेल निकाला जाता है जिसे जलाया जाता है (Cooke, II, 577; Kirt. & Basu, III, 2229; Duthie, III, 90)।

ग्लो. लिटोरेल ब्लूम झाड़ी या छोटा वृक्ष है जो मालाबार के समुद्र तट पर पाया जाता है। मलाया में इस जाति की पत्तियों का काढ़ा उदरशूल में दिया जाता है (Burkill, I, 1077)।

ग्लो. नीलघेरेंस वाइट (क. - बानावारा; नीलगिरि - हानिके) छोटे या मध्यम आकार का वृक्ष है जिसकी छाल पतली और भूरे रक्त वर्ण की होती है। यह नीलगिरि में 1,800 मी. से अधिक ऊँचाई पर पाया जाता है। लकड़ी (भार, 752-944 किग्रा./घमी.) लाल रंग की, कभी-कभी चमकीली और सामान्य कठोर होती है। यह खराद के लिए और फर्नीचर बनाने के लिए प्रयुक्त होती है (Gamble, 602)।

ग्लो. वेलूटिनम वाइट (म. - परितजा, शोत्रा; त. - पनीकावु; क. - सालाइमरा सोत्तुकोपिन; मल. - कायरा; पनाव - पुदना, गोल कमीला, सामा; उत्तर प्रदेश - चमारी, कादू मनवा, आनविन; मध्य प्रदेश - कोरिया; असम - डोलपोडुली, उडिंग ठाट) छोटा या मध्यम आकार का वृक्ष है जो भारत के अधिकांश भागों में पर्णपाती वनों में लगभग 1,200 मी. की ऊँचाई तक पाया जाता है। लकड़ी ईंधन के काम आती है। कहा जाता है कि छाल चमड़ा कमाने में प्रयुक्त की जाती है (Gamble, 602)।

ग्लो. जेलैनिकम जसू (ते. - इट्टेपुल्ला; त. - कुम्बाला; क. - सन्नैगिड़ा, कुम्बड़मरा, वण्डा, मल. - नीर्वट्टी) छोटा वृक्ष है जो दक्षिणी प्रायद्वीप और असम में नदियों के किनारे और दलदली स्थानों में पाया जाता है। इसकी छाल क्षुधावर्धक और फल शीतल और पुनर्नवी-कर होते हैं। मृदु प्ररोह खुजली में लगाये जाते हैं (Kirt. & Basu, III, 2230; Chopra, 492; Rama Rao, 358)।

Euphorbiaceae; *G. acuminatum* Muell. Arg.; *G. arbore-scens* Blume; *G. hohenackeri* Bedd.; *G. lanceolarium* Dalz. non Voigt; *G. littorale* Blume; *G. neilgherrense* Wight; *G. velutinum* Wight; *G. zeylanicum* Juss.

ग्लोब अमरेंथ - देखिए गोम्फेना

ग्लोब्बा लिनिअस (जिजिबरेसी) GLOBBA Linn.

ले. - ग्लोब्बा

Fl. Br. Ind., VI, 201.

यह वृष्टियों का वंश है जो दक्षिणी पूर्वी एशिया में पाया जाता है। इसकी लगभग 11 जातियाँ भारत में पाई जाती हैं।

खासी पहाड़ियों में पाई जाने वाली वृद्धी ग्लो. मरेंडिना लिनिअस का तना सीधा, विसर्पी प्रकन्द से लगभग 45 सेंमी. ऊँचा; पत्तियाँ दीर्घवत् 12.5-15 सेमी. लम्बी और आधार पर आवरणों से युक्त; पुष्पक्रम सघन, लगभग 2.5 सेमी. लम्बे होते हैं जिनमें एक या इससे अधिक खपरैलों जैसे व्यवस्थित सहपत्र होते हैं जिनमें से प्रत्येक की अक्षि में एक पत्र-प्रकलिका या कभी-कभी ऊपर वाले एक या अधिक सहपत्रों की अक्षि में एक पीला फूल भी रहता है। पत्र-प्रकलिकाएँ लगभग 1 सेमी. लम्बी, सर्कीण अंडाकार से शंक्वाकार तक होती हैं और उनकी

सतह पर अनियमित रूप से मस्से होते हैं। पत्र-प्रकलिकाओं से पौधों का प्रवर्धन किया जाता है।

ग्लो. मैरेंटिना की पत्र-प्रकलिकाओं में मसाले जैसा स्वाद आता है और मलाया में ये मसाले की तरह खाई जाती हैं। इस वंश की कुछ अन्य जातियों के छोटे-मोटे औषधीय उपयोग बताये गये हैं (Burkill, I, 1074).

Zingiberaceae; G. marantina Linn.

ग्लोरियोसा लिनियस (लिलिएसी) GLORIOSA Linn.

ले. - ग्लोरियोसा

यह शोभाकारी आरोही वृद्धियों का लघु वंश है जो उष्णकटिबंधीय एशिया और अफ्रीका में सामान्य है और ग्लोरी लिली या आरोही लिली के नाम से जाना जाता है। इसकी एक जाति भारत में पाई जाती है। *Liliaceae*

ग्लो. सुपर्वा लिनियस G. superba Linn. मालाबार ग्लोरी लिली

ले. - ग्लो. सुपर्वा

D.E.P., III, 506; Fl. Br. Ind., VI, 358.

सं.-लांगली, कालिकारि, ऐलनी, अग्निशिखा, गर्भधातिनी, अग्नि-मुखी; हि.-करिहारी, लांगली; बं.-विशालांगुली, उलट चांडाल; म.-इन्दाई, करियानाग, नागकरिया, कल्लावी; गु.-दुधिशो बचनाग, वदवर्दी; ते.-अद्विनाभि, कलप्पागड्डा, गंजेरी; त.-कलाइपक-किजान्गु, अक्किनिविलम; क.-अग्निशिखा, करडिकेन्नागेड्डे; मल.-मेदोनी, मलाटमरा, मेतोन्नी; उ.-अग्निशिखा, गर्भधातोनी, पंजगुलिया, मेहेरिअफूलो.

वम्बई-वचनाग, खाद्यनाग, करियानाग; पंजाब-करियारी, मुलिम; संयाल-सिरिक्तामानो.

यह प्रशाखित अक्राण्डिल आरोही है जो भारत के निचले जंगलों में 1,800 मी. की ऊँचाई तक सर्वत्र तथा अंडमान द्वीपों में पायी जाती है। बहुवर्षी मांसल प्रकटों से पतले, एकवर्षी, 6 मी. तक लम्बे तने निकलते हैं। प्रकट बेलनाकार दो खण्डों में, सामान्यतः अंग्रेजी के अक्षर वी (V) की तरह के होते हैं; दोनों खण्ड लम्बाई में बराबर या असमान, और किनारों की ओर नोकदार 30 सेंमी. लम्बे और 3.75 सेंमी. व्यास के होते हैं। पत्तियाँ एकान्तरित, विपरीत दिशा में या चक्राकार, अवृन्त या लगभग इसी प्रकार की, अंडाकार भालाकार लम्बाग्र-सिरे कुंडली की तरह लिपटे हुये और चढ़ने के सूतों का कार्य करते हैं। पुष्प शोभायुक्त, बड़े, अकेले या समशिखीय, परिदल पुंजीय खंडों से युक्त होते हैं जिनमें लहरदार उपान्त रहते हैं और जो पहले हरे किन्तु बाद में पीले और अन्त में लाल हो जाते हैं, सम्पुटिका लगभग 5 सेंमी. लम्बी और कई गोल बीजों से युक्त होती है।

ग्लो. सुपर्वा वर्षा ऋतु में खूब फूलता है और साधारणतः बागों में लगाया जाता है। वर्षा के पहले प्रकटों को काट करके हल्की उपजाऊ अच्छे जल-निकास वाली भूमि में लगा देते हैं (Gopalaswamiengar, 490).

कन्द 5-10 ग्रेन मात्रा में लेने पर बलवर्धक, क्षुधावर्धक और कृमिहर समझे जाते हैं किन्तु अधिक मात्रा में विशेष विषैले बन जाते हैं। औषधि के लिए कन्दों को वर्षा ऋतु में या उसके बाद इकट्ठा करके उनमें चिपके पदार्थों तथा शल्कों को साफ करके 7.5 सेंमी. के टुकड़ों में काट कर सुखा लेते हैं। टुकड़ों को तोड़ने पर उनसे चूर्ण निकलता है और इनका रंग गंदा भूरा और स्वाद श्लेष्मा के समान कटु होता है। कभी-कभी

इनमें हल्की कटु गंध भी रहती है। बंगाल तथा भारत के कुछ अन्य भागों में यह औषधि एकत्र की जाती है। अमृतसर के औषध-बाजार के लिए हरिद्वार के वनों से इसकी पूर्ति की जाती है (Modi, 562; Mehra & Khoshoo, J. Pharm., Lond., 1951, 3, 486; Dymock, Warden & Hooper, III, 482).

कहा जाता है कि यह औषधि कई प्रकार की चिकित्साओं में उपयोग में लायी जाती है। यह जठरांत्र क्षोभक है और इससे उल्टी तथा विरेचन हो सकते हैं। कभी-कभी प्रसव पीड़ा को जागृत करने तथा गर्भपात कराने में भी इसका प्रयोग किया जाता है। इसे वृहदान्न पीड़ा दीर्घ-कालिक फोड़ा तथा अर्श रोग में उपयोगी समझा जाता है। परजीवी चर्मरोगों में इसका स्थानीय लेप किया जाता है और तांत्रिकी पीड़ा में पुल्टिस बाँधी जाती है। कन्द को बार-बार पीसने और धोने से प्राप्त श्वेत चूर्ण को सुजाक में इस्तेमाल करते हैं। पशुओं के कीड़े निकालने के लिए कन्द का उपयोग होता है। पत्तियों का रस बालों के जुए मारने के काम आता है। एकोनाइट में मिलावट के लिए भी इसे काम में लाते हैं (Burkill, I, 1078; Rama Rao, 415; Kirt. & Basu, IV, 2526).

इस औषधि के विषैले गुण उसमें पाये जाने वाले ऐल्कलायडों के कारण हैं जिनमें कोलचिसीन ($C_{29}H_{25}O_6N$; ग. बि., 151-52°) प्रमुख है। श्रीलंका से प्राप्त होने वाले कन्दों में यू. एस. पी. विधि द्वारा मापित कोलचिसीन की मात्रा 0.3% बताई जाती है। बी. पी. विधि द्वारा अमृतसर बाजार से प्राप्त कन्द में कोलचिसीन की मात्रा केवल 0.03% थी; किन्तु यदि औषधि को ठीक समय पर एकत्र करके सावधानी से रखा जाए तो ऐल्कलायड की मात्रा काफी अधिक हो सकती है। वम्बई से प्राप्त होने वाले कन्द में ऐल्कलायड की कुल मात्रा 0.1% है। ताजे कन्दों से प्राप्त होने वाले सम्पूर्ण ऐल्कलायडों के वर्ण लेखीय प्रभाजन से कोलचिसीन के ही समान एक नया ऐल्कलायड पृथक् किया गया है जिसका नाम अभी ग्लोरियोसीन ($C_{22}H_{25}O_6N$; ग. बि., 248-50°) रख लिया गया है। औषधि में कोलचिसीन का प्रयोग मुख्यतः सैलिसिलेट के रूप में गठिया के इलाज में और पादप प्रजनन में बहुगुणता प्रेरण के लिए होता है। सनई (फ़ोएलेरिया जसिया लिनियस) पर किये गये प्रयोगों से पता लगा है कि ग्लोरियोसीन में भी बहुगुणता उत्पन्न करने का गुण है और सम्भावना है कि यह प्रभाव इसमें कोलचिसीन से भी अधिक है। कन्दों से प्राप्त ताजे निष्कर्ष का प्रयोग मक्का में बहुगुणता उत्पन्न करने में सफलतापूर्वक हुआ है। कन्दों में अन्य ऐल्कलायड N-फामिलडेसाऐसीटिल कोलचिसीन [$C_{21}H_{23}O_6N$; ग. बि., 258-60° (विघटित) या 246-47° (विघटित)]; $C_{33}H_{38}O_9N_2$ या ($C_{15}H_{17}O_4N$); ग. बि., 177-78°; $C_{23}H_{27}O_6N$ (सम्भवतः मेथिल कोलचिसीन); ग. बि., 276°; तथा एक ऐल्कलायड, ग. बि., 239-42° (विघटित) भी पाये जाते हैं (Clewett et al., J. chem. Soc., 1915, 107, 835T; Mehra & Khoshoo, loc. cit.; Subbaratnam, J. sci. industr. Res., 1952, 11B, 446; Kumar, Nature, Lond., 1953, 171, 791; Parthasarathy, Curr. Sci., 1941, 10, 446; Subbaratnam, J. sci. industr. Res., 1954, 13B, 670; Chem. Abstr., 1951, 45, 2152).

ऐल्कलायडों के अतिरिक्त कन्दों में अल्प मात्रा में सौरभिक तेल (जिसमें फरफ्यूरैलडिहाइड रहता है), वेंजोइक अम्ल, 2-हाइड्रोक्सि-6-मेथॉक्सि वेंजोइक अम्ल, सैलिसिलिक अम्ल, कोलीन, डेक्सट्रोस, पामिटिक अम्ल, असंतृप्त वसा-अम्ल, थोड़ा-सा एक हाइड्रोकार्बन (ग. बि., 63-65°), एक वसीय ऐल्कोहल (ग. बि., 77°) फाइटोस्टेरॉल

जिनमें स्टिग्मास्टेरॉल भी है, फाइटोस्टेरॉलिनो का एक मिश्रण जिसमें स्टिग्मास्टेरॉल ब्यूकोसाइड और कुछ रेजिनी द्रव्य भी होते हैं; एक प्रक्रिण्व भी रहता है जो एमिगडैलिन को सरलता से जल-अपघटित कर देता है, नई पत्तियों में कैलीडोनिक अम्ल होता है, कन्द से प्राप्त निष्कर्ष में स्टेफिलोकोकस औरियस के विरुद्ध प्रतिजैविक सक्रियता भी होती है (Clewes *et al.*, loc. cit.; Wehmer, I, 144; George & Pandalai, *Indian J. med. Res.*, 1949, 37, 169).

Crotalaria juncea Linn.; *Staphylococcus aureus*

ग्वाइआकम लिनियस (जाइगोफिलैसी) GUAIACUM Linn.

ले. — गुआइआकम

यह सदाबहार झाड़ियों और वृक्षों का वंश है जो अमेरिका का देशज है। इसकी एक जाति भारतीय उपवनों में उगाई जाती है।

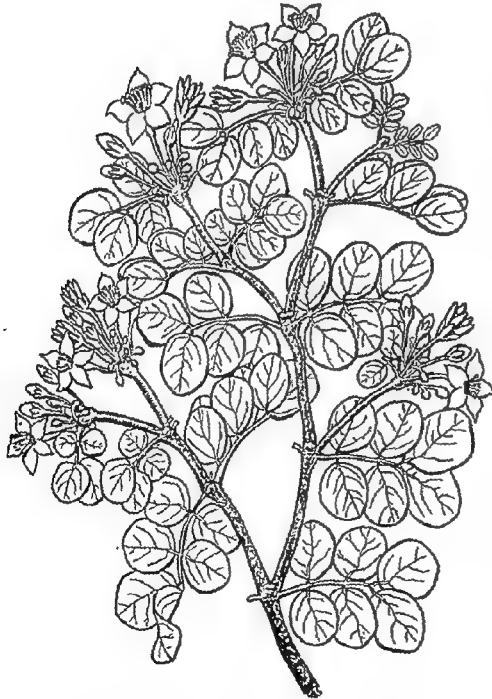
Zygophyllaceae

ग्वा. आफिसिनेल लिनियस *G. officinale* Linn.

लिग्नम विटी (लकड़ी); गम ग्वाइआकम (रेजिन)

ले. — गु. ऑफिसिनाले

Blatter & Millard, 64.



चित्र 39 — ग्वाइआकम आफिसिनेल — पुष्पित शाखा

यह छोटे या मझोले आकार का वृक्ष है जो 15 मी. तक ऊँचा होता है। इसका तना प्रायः टेढ़ा-मेढ़ा और बाखाएँ गठीली होती हैं। यह कभी-कभी भारतीय उद्यानों में उगाया जाता है। तने की छाल गहरे भूरे रंग की होती है और इस पर हरे या नील-लोहित धब्बे होते हैं। शाखों की छाल मटमैले रंग की और धारीदार होती है। नये किल्ले कुछ-कुछ चपटे और अरोमिल होते हैं और एक गाँठ से कई निकलते हैं। पत्तियाँ ग्रामने-सामने, संयुक्त, गहरे हरे रंग की; पर्णक दो-तीन साथ जुड़े, अर्धतीय, आकार-प्रकार में भिन्न, अंडाकार या अघोमुख अंडाकार जिनमें प्रत्येक के आधार पर छोटा नारंगी रंग का धब्बा होता है। शाखों के सिरों पर नीले फूलों के गुच्छे होते हैं जो पकने पर फीके रजतवर्णी हो जाते हैं। बेरियाँ छोटी, अघोमुख हृदयाकार और संपीडित-सी, चमकीली पीली या नारंगी रंग की होती हैं जिनमें कठोर, अंडाकार बीज होते हैं। ग्वा. आफिसिनेल फूलों में अतिशय सुंदर और शोभाकारी होता है। बीजों से इसका प्रवर्धन किया जाता है (Firminger, 597; Cowen, 60).

रसकाष्ठ पीताम और अंतःकाष्ठ हिरताम-भूरे से लेकर काले रंग तक का और विशिष्ट अम्लीय गंधयुक्त तथा कड़वा होता है। अंतःकाष्ठ रेजिनमय होता है जिसके कारण रंदाना कठिन होता है किन्तु खराद पर चढ़ाना सरल है। व्यापार में इसे लिग्नम विटी नाम से जानते हैं और यह इमारती लकड़ियों में सबसे कठोर और भारी (आ. घ., 1.17—1.32; भार, 1,152—1,312 किग्रा./घमी.) होती है। रेजिन की क्रमिक सतहों की व्यवस्था तिर्यक और विकर्णी होने से इस लकड़ी को उपाटना मुश्किल होता है। इसकी अवर्धजन सामर्थ्य 750 किग्रा./वर्ग सेंमी. है। सागौन की तुलना में इसके सिरों और पाखें की कठोरता 414% है। जहाजों के नौक दंड संयोजनों में काट विचरिंगों के निर्माण में लिग्नम विटी का बहुत ही महत्व है। रेजिनी बुनावट, स्वयं स्नेहक गुणों, खारे जल का प्रतिरोध और अत्यधिक दाब सामर्थ्य के कारण यह इस उपयोग के लिए अत्यंत उपयुक्त है। इस कार्य के लिए लिग्नम विटी के समान उत्तम दूसरी लकड़ी उपलब्ध नहीं है यद्यपि समुद्री इंजीनियर अकेशिया सुंडा को एक सम्भव विकल्प के रूप में प्रयोग करने का विचार कर रहे हैं। पीतल और दंडित धातु के स्थान पर रोलर मिलों और पम्पों में लिग्नम विटी का प्रयोग हुआ है। इसके लाभ इस प्रकार हैं : लागत में कमी, टिकाऊपन, और स्वयं स्नेहन (Foster, *Indian For.*, 1944, 70, 370; *Encyclopaedia Britannica*, X, 928; Howard, 305; Titmuss, 74).

घिरनी चरखी, स्टेंसिल तथा रुखानी पिंड, मूसल, कटोरा, केविल-आवरण, ब्रशों के पुष्ठ, स्क्रिबल गेंदों, खरादे हुए अन्ठे सामान, मशीन आरा चौखटे के बीच की पैकिंगों तथा अन्य वस्तुओं में, जहाँ सामर्थ्य, टिकाऊपन, सुन्दरता और भव्यता अपेक्षित होते हैं इसका उपयोग किया जाता है। यह लकड़ी बड़े आकार में नहीं मिलती (Record & Hess, 558; Howard, loc. cit.).

ग्वाइआकम लकड़ी में दो अविपैले सैपोनिन, ग्वाइआकसैपोनिक अम्ल और ग्वाइआकसैपोनिन होते हैं। अंतःकाष्ठ की अपेक्षा रसकाष्ठ में इनकी सान्द्रता अधिक होती है। लकड़ी में गटापाची के समान पदार्थ पाया जाता है जिसे ग्वाइआग्युटिन कहते हैं। इसमें सौरभिक तेल का भी कुछ अंश होता है किन्तु व्यापारिक ग्वाइआक काष्ठ का तेल ग्वाइआक काष्ठ से नहीं वरन् बुलनेसिया सामिएण्डाइ लोरेन्ज के अंतःकाष्ठ से प्राप्त होता है। ग्वाइआकसैपोनिन का उपयोग वसा और तेलों के पायसीकारक के रूप में होता है। उसका उपयोग झगीले पेयों में होता है क्योंकि यह विलयित कार्बन डाइऑक्साइड की धारण-शीलता में सहायक होता है। छीलनों, कतरनों और चूर्ण के रूप में

एक सीमा तक इसका उपयोग दवाओं में ग्वाइआक रेजिन के स्थान पर होता है (Wallis, 54; Gregory, I, 306; II, 158; Wise & Jahn, I, 649; Guenther, V, 197).

गम ग्वाइआकम या ग्वाइआक रेजिन लकड़ी के ऊतकों में भरे हुये रेजिन के रूप में रहता है. प्राकृतिक रिसन के रूप में या फिर लट्ठों के बीच में चीरा लगाकर एक सिरे पर लट्ठ को जला करके वहकर आया हुआ रेजिन एकत्र कर लेते हैं. अक्सर लकड़ी की चैलिया बनाकर या चूरे के रूप में तमक के विलयन में या समुद्री पानी में इसे उवाला जाता है जिससे रेजिन पिघल कर सतह पर आ जाता है; जहाँ से उसे प्राप्त कर लेते हैं.

रेजिन बड़े घने पिण्डों में या कभी-कभी गोल या अण्डाकार वृत्लों में पाया जाता है. यह भूरे-काले से लेकर मटमैला भूरा तक होता है किन्तु अधिक समय तक खुला छोड़ने पर इसका रंग कुछ हरा हो जाता है. यह भुरभुरा होता है और काँच की तरह टूटता है. टुकड़े पारभासी होते हैं. इसमें गुलमेंहदी की-सी गंध होती है जो गर्म करने पर तीव्र हो जाती है. इसका स्वाद कुछ तीक्ष्ण होता है और चूसने पर गले में जलन होती है. यह ऐल्कोहल, ईथर, क्लोरोफॉर्म और कास्टिक क्षारों में तुरन्त विलेय हो जाता है और कार्बन डाइसल्फाइड तथा बेंजीन में अल्प विलेय है. परिष्कृत रेजिन के निम्नलिखित गुणधर्म हैं: अम्ल मान, 60-70; ऐसीटिलीकरण के पश्चात् अम्ल मान, 50; ऐसीटिलीकरण के बाद एस्टर मान, 125-150; मेथॉक्सिल मान, 70-85; 90% ऐल्कोहल में विलेयता, 87-98%; पेट्रोलियम स्पिरिट में विलेयता, 2%; खनिज पदार्थ, 1-4%. व्यापारिक नमूनों में प्रायः कचरा और अन्य गोंदें और रेजिनें मिला दी जाती हैं (Wren, 162; Allport, 132; U.S.D., 523; Allen, IV, 290; Thorpe, VI, 142).

रेजिन में α - और β -ग्वाइआकोनिक अम्ल (70%), ग्वाइआरेटिक अम्ल (11%) और अत्यल्प अनुपात में ग्वाइआसिक अम्ल रहते हैं. इसमें ग्वाइआक β -रेजिन, गोंद, ग्वाइआक पीत, एक वाष्पशील तेल, वैनिलिन और सैपोनिन भी होते हैं. β -ग्वाइआकोनिक अम्ल ($C_{21}H_{26}O_5$; ग. वि., 127°) की अपेक्षा α -ग्वाइआकोनिक अम्ल ($C_{22}H_{26}O_6$; ग. वि., 73°) अधिक अनुपात में पाया जाता है. दूसरा अम्ल अक्रिस्टलीय है और ऑक्सीकारकों (फेरिक क्लोराइड, हाइड्रोजन परऑक्साइड आदि) द्वारा शीघ्र ही ग्वाइआकम ब्लू में परिवर्तित हो जाता है. ग्वाइआरेटिक अम्ल ($C_{20}H_{24}O_4$; ग. वि., 86°) असंतृप्त अम्ल है. शुष्क आसवन करने पर ग्वाइआक रेजिन से ग्वाइआसीन, ग्वाइयाकाल, क्रेसोल, ग्वाइआईन और पाइरोग्वाइआसीन प्राप्त होते हैं. अभी तक अम्लों के समस्त गुणों और उनके सूत्रों का भली-भाँति निर्धारण नहीं हो पाया [Tschirch & Stock, II (2), 1435; U.S.D., 523; Allen, IV, 288].

ग्वाइआकम रेजिन का उपयोग वसा स्थायित्वकारी के रूप में होता है. निर्जलीकृत और सुरक्षित आहारों में विकृति गंधिता और स्वाद-गंध के विनाश को रोकने के लिए इसका उपयोग लगभग 0.05% सांद्रता में किया जाता है. सुअर की चर्बी के लिए यह प्रभावशाली प्रति-ऑक्सीकारक है. सोडा कैकरो तथा अन्य निर्मित खाद्यों जैसे क्षारीय माध्यमों में भी सुरक्षात्मक प्रक्रिया चलती रहती है. बताया गया है कि रेजिन विलुप्त अनुपघातक है. खून के घट्टों की पहचान के लिए रेजिन का एक टिचर उपयोग में आता है. खून और हाइड्रोजन परऑक्साइड के सम्पर्क से उत्पन्न नीला रंग खून की विशिष्टता न होकर एक ऑक्सीडेशन की उपस्थिति का सूचक है. टिचर ग्वाइआकम का उपयोग सायनोजनी-ग्वाइकोसाइडों की उपस्थिति का पता लगाने के लिए भी होता है. रेजिन

का प्रयोग रंगों और वार्निशों में होता है (Bailey, 1951, 230; Brady, 336; Trease, 334; Gregory, I, 305; U.S.D., loc. cit.).

ग्वाइआकम गोंद मृदु रेचक है और चिरकालिक-आमवात और गठिया के उपचार में उपयोगी है. अब इसका प्रयोग रक्तबोधक मिश्रणों में जैसे कि सारसापरिला में होने लगा है. तुण्डिकाशोथ और असनीशोथ की चिकित्सा के लिए और विशेषतः इनके साथ आमवात की शिकायत होने पर इसका प्रयोग चूपकों (लोर्जेज) के रूप में किया जाता है (Allport, 132; Wren, 162).

ग्वा. आफिसिनल के तने की छाल में एक हरा-भूरा रेजिन होता है जो काष्ठ से प्राप्त रेजिन से समान होने पर भी उससे भिन्न होता है. यह तीक्ष्ण और उत्तेजक होता है और टिचरों तथा चूर्णों में प्रयुक्त होता है. यह प्लूमर की गोलियों का भी एक अवयव है. इसमें काफी मात्रा में कैल्सियम ऑक्साइड, एक तिक्त तत्व, और दो सैपोनिन होते हैं (McCann, 66; Bentley & Trimen, I, 41; Wehmer, I, 601).

पत्तियों में दो सैपोनिन होते हैं किन्तु ये दोनों लकड़ी के सैपोनिनों के विपरीत रक्त संलयन उत्पन्न करते हैं (Wehmer, loc. cit.).
Acacia sundra; *Bulnesia sarmienti* Lorentz

ग्वान्जुमा प्लुमियेर एक्स एडेन्सन (स्टर्कुलिएसी) GUÁZUMA Plum. ex Adans.

ले. — गूआजुमा

यह वृक्षों का छोटा वंश है जो उष्णकटिबंधीय अमेरिका का मूलवासी है जहाँ से यह दुनिया के दूसरे भागों में फैला है. भारत में भी इसकी एक जाति उगाई जाती है.

Sterculiaceae

ग्वा. उल्मीफोलिया लामार्क सिन. ग्वा. टोमेंटोसा* हम्बोल्ट, वोनप्लांड और कुथ G. ulmifolia Lam.

ले. — गु. उलमिफोलिया

D.E.P., IV, 184; Fl. Br. Ind., I, 375.

वं. — निपालतुंठ; ते.** — रुद्राक्ष, उद्रिकपट्ट, धेने-चेट्टू; त. — रुद्राक्षम्, येनमारम्, तेनवच्चई, तुवाकी; मल. — रुद्राक्षम्, उत्तराक्षम्; क. — रुद्राक्ष, वूचा; उ. — देवोदार.

यह छोटे या मझौले आकार का वृक्ष है जिसकी छाल भूरी, खुरदुरी और शाखायें फैली हुई होती हैं. इसे भारत के गर्म भागों में, विशेषतः दक्षिण भारत में, उद्यानों में और सड़कों के किनारे छाया के लिए, उगाया जाता है. पत्तियाँ लम्बाकार-अण्डाकार, तिरछी, हृदयाकार, तारों की तरह रोमिल होती हैं. फूल दिखावटी, पील या नील लोहित और बड़े-बड़े पुष्पगुच्छों में होते हैं. फल, काले, काष्ठमय, लम्बे (लगभग 2.5 सेंमी. लम्बे), गोलिकाकार होते हैं जिसमें असंख्य अंडाकार भूरे बीज होते हैं. कहीं-कहीं तो यह वृक्ष जंगली उगता है और शहरों या गाँवों के आसपास पाया जाता है. वृक्ष की पत्तियाँ प्रायः चारे के लिए काट ली जाती हैं. इसका प्रवर्धन बीजों से होता है. पकी टहनियों को

*कुछ लेखक ग्वा. उल्मीफोलिया लामार्क और ग्वा. टोमेंटोसा हम्बोल्ट, वोनप्लांड और कुथ को एक दूसरे से निकट सम्बद्ध मानते हुए भी पृथक् बताते हैं (Freytag, Ceiba, 1951, I, 193).

**रुद्राक्ष और इससे मिलते-जुलते नाम इस पोथे को भूल से दिये गये प्रतीत होते हैं. असली रुद्राक्ष एलियोकार्पस गैनिट्रस रॉक्सबर्ग है.



चित्र 40 - ग्वालूमा उल्मोफोलिया - पुष्पित शाखा और फल

काटकर भी इसे उगाया जा सकता है; जिनसे बहुत जल्दी जड़ें निकल आती हैं (Chittenden, II, 935; Benthall, 60).

फलों में मीठा, खाद्य श्लेष्मक होता है. अत्यधिक खाने से अतिसार हो जाता है. कच्ची टहनियों से रेशा मिलता है जिससे कभी-कभी रस्से भी बनाये जाते हैं. सूचना है कि वेस्ट इंडीज में भीतरी छाल के काढ़े से ईख के रस को साफ किया जाता है.

मारिशस में श्वसनी शोथ होने पर छाती में इसकी मालिश की जाती है. भुने हुए बीज स्तम्भक हैं. जावा में इसका उपयोग पेट की गड़बड़ियों में किया जाता है. सूचना है कि पत्तों का अर्क मोटापा दूर करता है. छाल पीष्टिक और शामक है. वेस्ट इंडीज में भीतरी छाल हाथी पाँव के इलाज के काम आती है. पुरानी छाल का काड़ा स्वेदकारी माना जाता है और त्वचीय तथा सीने की बीमारियों में उपयोगी है (Burkill, I, 1115; Heyne, *De nuttige planten von Nederlandsch-Indie*, 1927, 1062; Caius, *J. Bombay nat. Hist. Soc.*, 1945, 45, 579).

लकड़ी पीली या हल्की भूरी, मजबूत, हल्की से लेकर मध्यम भारी और सम-दानेदार होती है. इसकी सतह चिकनाई जा सकती है और यह फर्नीचरों, सवारी डिब्बों के फलकों, पैकिंग के डिब्बों, पीपों के बनाने में काम आती है. यह ईंधन के लिए भी प्रयुक्त होती है और कोयला बनाने के काम में भी आती है (Gamble, 105; Record & Hess, 513).

G. tomentosa H. B. & K.; *Elaeocarpus ganitrus* Roxb.

ग्वार - देखिए सायमाप्सिस

ग्विजोटिया कैसिनी (कम्पोजिटो) GUIZOTIA Cass.

ले. - गुइजोटिया

यह उष्णकटिबंधीय अफ्रीका में पाई जाने वाली एकवर्षी वृष्टियों का छोटा-सा वंश है. भारत तथा अफ्रीका में ग्वि. ऐबिसिनिका को तिलहन के रूप में बोया जाता है.

Compositae

ग्वि. ऐबिसिनिका कैसिनी *G. abyssinica* Cass. नाइगर

ले. - गु. अविस्सिनिका

D.E.P., IV, 186; C.P., 625; Fl. Br. Ind., III, 308.

हिं. - काला तिल, रामतिल, सुरगुजा; वं. - रामतिल, सिरगुजा; म. - खुरासनी, करले; गु. - काला तेल, राम तेल; ते. - वेरिनुवुलु; त. - पायेलु, युनेलु; क. - गुरेडू, हुच्चेडू, कडेडू.

भोपाल - रामेली.

यह 0.3-1.8 मी. ऊँची सीधी, चिकनी या खुरदुरी वृद्धी है. इसमें साधारण शाखन होता है तथा पत्तियाँ आमने-सामने, अवृत्त, अर्ध-स्तम्भालिगी, भालाकार, दूरस्थ दंतुर; पुष्पशीर्ष 1.3-2.5 सेंमी. व्यास के, पीत किरण पुष्पकों से युक्त; एकीन 5-6 मिमी. लम्बी, काली, चमकदार, त्रिकोणीय अथवा चतुष्कोणीय होती हैं.

ग्वि. ऐबिसिनिका को ऐबिसिनिया का मूलवासी कहा जाता है. तिलहन के रूप में इसकी भारत, ऐबिसिनिया तथा पूर्व अफ्रीका के भागों में खेती की जाती है. भारत में मध्य प्रदेश, उड़ीसा, महाराष्ट्र तथा मेसूर में इसकी बहुतायत में खेती की जाती है (सारणी 1). बिहार, आन्ध्र प्रदेश, तमिलनाडु, तथा मध्य प्रदेश में भी इसकी खेती कुछ मात्रा में की जाती है. विभिन्न राज्यों में इसकी उपज के क्षेत्र इस प्रकार हैं: मध्य प्रदेश के छिंदवाड़ा, मण्डला, जबलपुर, बैतूल, सागर तथा बिलासपुर जिले; आन्ध्र प्रदेश के श्रीकाकुलम तथा विशाखा-पटनम जिले; महाराष्ट्र के रत्नगिरि, पूना, अहमदनगर, पश्चिमी खानदेश, धारवाड़ तथा सतारा जिले; मेसूर के बेलारी, चितलदुर्ग, चिकमागलूर, गुलबर्गा, रायचूर, बीदर तथा शिमोगा जिले; बिहार का छोटा नागपुर जिला; तमिलनाडु का कोयम्बतूर जिला (John, *Rep. Res. Oilseed Crops, Indian Oilseeds Comm.*, 1949; *Rep. Oilseeds Crushing Ind., Dep. Industr. Commerce, Mysore*, 1940; *Oilseeds Ser. Indian Oilseeds Comm.*, No. 22, 1951; *Surv. Marketing Minor Oilseeds, Bhopal*, 1955, 24; *Surv. Minor Oilseeds, Vindhya Pradesh*, 1955, 6).

भारत में उगाई जाने वाली तिल्ली लगभग एक ही प्रकार की होती है, यद्यपि पौधे की प्रकृति, तने के रंग, बीजों के रंग तथा फसल के पूर्ण रूप से तैयार होने के समय में बहुधा भिन्नता पाई जाती है. फसल के साधारण प्रेक्षण से जल्दी और देर में तैयार होने वाले दोनों प्रकारों में भिन्नता ज्ञात करना सम्भव है. व्यापारिक नमूनों में बीजों की पुष्टता में विभिन्नता का कारण उपज क्षेत्र की मिट्टी की उर्वरता का अन्तर है. मध्य प्रदेश और छोटा नागपुर के पहाड़ी ढालों में उपजने वाले बीज अधिक पुष्ट तथा अधिक तेल देने वाले होते हैं. इस कारण बाजार में इनकी बहुत माँग है (Richharia, 150; Dutt & Pugh, 344; *Agric. Marketing in India*, No. 72, *Rep. Marketing Sesamum & Nigerseed in India*, 1952, 47).

भारत में उपजने वाली तिल्ली के विकास के लिए बहुत कम कार्य हुआ है. राज्य के विभिन्न भागों से प्राप्त बीजों के चयन का कार्य महाराष्ट्र तथा मध्य प्रदेश में किया जाता है. महाराष्ट्र के रुपि विभाग द्वारा चुने गये बीजों, यथा पूना 2-2-9-1, रोहा 3-8-2-3 तथा शोलापुर 8-4-1-1 के द्वारा 15-25% अधिक उपज मिली है.

मध्य प्रदेश में विभेद N-5 शीघ्र उत्पन्न होने वाला तथा सबसे अधिक उत्पादन देने वाला सिद्ध हुआ है (John, loc. cit.).

यदि समय पर तथा पर्याप्त मात्रा में वर्षा हो जाए तो दक्षिण की काली और हल्की मिट्टी में तिल्ली की उपज अच्छी होती है। यह मध्य प्रदेश तथा छोटा नागपुर की ऊबड़-खाबड़ और पथरीली लेटराइट मिट्टी पर फलती-फूलती है। इसके समुचित विकास के लिए पर्याप्त गर्मी की आवश्यकता होती है। इसकी या तो शुद्ध उपज ली जाती है, अथवा इसे रागी, चना, कपास तथा कुछ सीमा तक मूंगफली के साथ भी बोया जाता है। इसे कभी-कभी खेतों के किनारे-किनारे फसल के चारों ओर वाड़ के लिए भी उगाया जाता है। इससे पशुओं से फसल की रक्षा होती है क्योंकि पशु इसे खाना पसन्द नहीं करते। बुवाई के लिए मिट्टी की तैयारी की अधिक आवश्यकता नहीं होती। इसे एक या दो बार जोता जाता है तथा खाद नहीं डाली जाती। परन्तु जब तिल्ली को मैसूर के कुछ भागों की तरह अन्तःफसल के रूप में उपजाया जाता है तो इसे तैयार मिट्टी तथा आवर्ती उपज का लाभ मिलता है। बीजों की बुवाई छितरा कर अथवा 30-35 सेंमी. की दूरी पर पंक्तियों में ड़िल से की जाती है। प्रति हेक्टर 4-10 किग्रा. तक बीज बोये जाते हैं। तिल्ली की खेती अधिकतर खरीफ की फसल में की जाती है। इसकी बुवाई वर्षा के प्रारम्भ, जून-अगस्त, में तथा कटाई अक्टूबर-दिसम्बर में की जाती है (Mollison, III, 101; Yegna Narayan Aiyer, 221; Dutt & Pugh, 344).

फसल पर नाशकजीवों तथा रोगों का विशेष प्रभाव नहीं पड़ता। फसल के पकने पर पौधों को जड़ के पास से काट लिया जाता है, तथा इनके गट्टर बांधकर लगभग एक सप्ताह तक ढेर लगा कर छोड़ दिया जाता है। धूप में 2-3 दिन तक सूखने के पश्चात् बीजों की गहाई की जाती है तथा इन्हें ओसाई द्वारा तथा छान कर साफ कर लिया जाता है। प्रति हेक्टर तिल्ली की उपज मिश्रित फसल में तिल्ली के अनुपात के अनुसार बदलती रहती है। मैसूर में रागी के साथ मिश्र-फसल में इसकी उपज 100 किग्रा. प्रति हेक्टर तथा शुद्ध फसल में यह 300-400 किग्रा. प्रति हेक्टर है। तमिलनाडु में मिश्रित फसल में 40-200 किग्रा. प्रति हेक्टर तक उपज मिलती है, तथा शुद्ध फसल से 350-400 किग्रा. प्रति हेक्टर (John, loc. cit.; Yegna Narayan Aiyer, 222; *Oilseeds Ser. Indian Comm.*, No. 22, 1951).

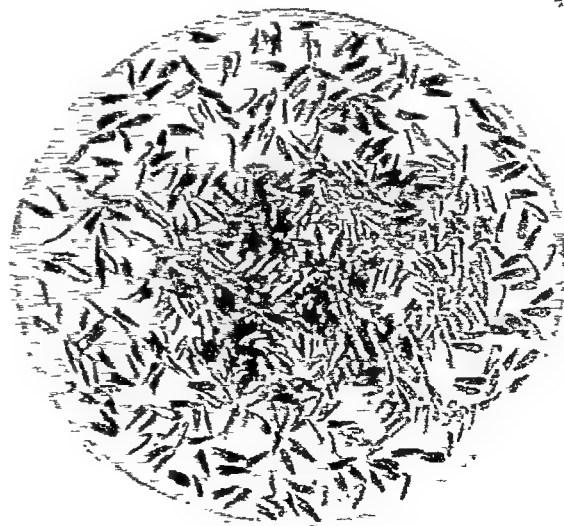
आकृति में तिल्ली के बीज सूरजमुखी के बीजों के समान होते हैं परन्तु आकार में उनसे काफी छोटे (3.9-4.7 मिमी. लम्बे; तथा 234-295 बीज प्रति ग्र.) तथा अधिक काले होते हैं। इसका बीजावरण काफ़ी मोटा होता है (बीज भार का लगभग 20%) तथा इसे एक वर्ष तक बिना किसी हानि के रखा जा सकता है। तिल्ली के बीज में निम्नलिखित पदार्थ पाये गये हैं : आर्द्रता, 7.8; प्रोटीन, 19.40; वसीय तेल, 31.3; कार्बोहाइड्रेट (अन्तर से), 39.7; राख, 1.80; कैल्शियम, 0.05; तथा फॉस्फोरस, 0.18%। तिल्ली के बीजों में तेल की मात्रा 30-50% तक होती है। तेल की अधिकतम मात्रा पुष्प खिलने के लगभग 45 दिन बाद होती है। इस अवस्था में निम्न संतृप्त अम्लों का संश्लेषण उच्च तथा असंतृप्त अम्लों से पूर्व होता है। पकने की अन्तिम अवस्थाओं में आयोडीन मान 90 से बढ़कर 126 हो जाता है (Williams, K. A., 406; Rao & Swaminathan, *Indian Soap J.*, 1953-54, 19, 135; Sahasrabuddhe & Kale, *Indian J. agric. Sci.*, 1933, 3, 57).

भारत में उत्पन्न तिल्ली की अधिकांश मात्रा का उपयोग तेल निकालने के लिए किया जाता है (सारणी 2)। आन्ध्र, मैसूर तथा

महाराष्ट्र के भागों में इसका उपयोग चटनी तथा मसाले बनाने के लिए भी किया जाता है। इसको तल करके भी खाया जाता है। कभी-कभी पालतू पक्षियों के भोजन के रूप में भी इसका उपयोग किया जाता है (*Rep. Marketing Sesamum & Nigerseed*, 1952, 22; Macmillan, 380).

तिल्ली के तेल को गर्म अथवा ठंडे संपीडकों द्वारा अथवा दोनों के संयोग से निकाला जाता है। भारत में इसे बहुधा देशी-धानियों में ठंडी संपीडक विधि से निकाला जाता है। इस पद्धति से लगभग 25-35% तेल की प्राप्ति होती है। कुछ प्रान्तों में तिल्ली को अन्य बीजों, जैसे मूंगफली, तिल तथा कुसुम की थोड़ी-सी मात्रा के साथ मिलाकर पेरा जाता है। विभिन्न प्रान्तों में तिल्ली के तेल तथा इसकी खली के उत्पादन का विवरण सारणी 3 में दिया गया है (Jamieson, 285; *Rep. Marketing Sesamum & Nigerseed*, 1952, 27).

तिल्ली का तेल हल्के पीले अथवा नारंगी रंग का होता है, इसमें हल्की-सी गंध होती है तथा उसका स्वाद बढ़िया होता है। भारतीय तेल के लाक्षणिक गुणों के परास इस प्रकार हैं : आ. घ. 15.5° , 0.9248-0.9263; आ. घ. 30° , 0.9256; n_{D}^{30} , 1.4672-1.4726; n_{D}^{40} , 1.4662; सावु. मान, 188.8-194.6; आयो. मान, 120.5-135.44; अम्ल मान, 2.0-11.69; ऐसीटिलीकरण मान, 19.8-24.1; आर. एम. मान, 0.33-1.2; पोलेन्के मान, 0.2; थायो-सायनोजन मान, 85.4; तथा असाबुनीकृत पदार्थ, 0.3-3.65%। तेल के रचक वसा-अम्ल हैं : मिरिस्टिक अम्ल (कैप्रिक तथा लौरिक अम्लों सहित), 1.7-3.4; पामिटिक, 5.0-8.4; स्टीऐरिक, 2.0-4.9; ओलीक, 31.1-38.9; तथा लिनोलीक, 51.6-54.3%; ऐराकिडिक, विहेनिक तथा लिग्नोसिरिक अम्लों के रच. इसमें प्राप्त ग्लिसराइड इस प्रकार हैं : ट्राइलिनोलीन, 2.0; ओलियोडाइलिनोलीन, 40; डाइओलियोलिनोलीन, 30; मिरिस्टोडाइलिनोलीन, 2.0; मिरिस्टोओलियोलिनोलीन, 3; पामिटोडाइलिनोलीन, 6.0; पामिटो-ओलियोलिनोलीन, 11.0; स्टीऐरोडाइलिनोलीन, 2.0; तथा स्टीऐरो-



चित्र 41 - निबन्धिका ऐवितिनिका - बीज

सारणी 1 - भारत में तिल्ली के अनुमानित क्षेत्र*
(हजार हेक्टरों में)

	1948-49	1949-50	1950-51	1951-52	1952-53
मध्य प्रदेश	166	161	164	182	154
हैदराबाद	80	87	78	7.3	32
बम्बई	23	..	5.6	19	28
तमिलनाडु	5.2†	4.8†	(क)
आन्ध्र	2.4	3.6
मैसूर	1.6	9.2
उड़ीसा	37	5.6	5.6
भोपाल	2.8	3.2	4
विन्ध्य प्रदेश	101
अन्य	28

* *Rep. Marketing Sesamum & Nigerseed, 1952, 12; Surv. Marketing Minor Oilseeds, Mysore, 1954, 42; Seas. Crop. Rep., Madhya Pradesh, Bombay, Madras and Andhra; Rep. Econ. Surv. Minor Oilseeds, Bhopal, 1955, 30; Surv. Minor Oilseeds, Vindhya Pradesh, 1955, 6; Information from Dir. Agric., Hyderabad & Orissa.*

† इसमें आन्ध्र तथा मैसूर के बैलारी जिले का एक भाग भी सम्मिलित है.
(क) 200 हेक्टर से नीचे.

सारणी 2 - भारत में तिल्ली का अनुमानित उपयोग*
(हजार बिबटलों में)

तेल का निष्कर्षण	525	(72.8%)
खाद्य के रूप में	151	(21.0%)
बीज	44	(6.2%)
योग	720	..

* *Rep. Marketing Sesamum & Nigerseed, 1952, 22.*

सारणी 3 - विभिन्न प्रान्तों में तिल्ली के तेल तथा खली का उत्पादन*
(हजार बिबटलों में)

	पैरी गई मात्रा	तेल की प्राप्ति (%)	तेल का उत्पादन	खली का उत्पादन
बम्बई	41.4	33.0	13.7	27.7
हैदराबाद	25.1	24.0	6.0	19.1
मध्य प्रदेश	315.3	25.7	81.0	234.3
मैसूर	4.5	28.1	1.3	3.2
उड़ीसा	47.9	31.0	14.9	33.1
अन्य	90.3	33.3	30.1	60.3
योग	524.5	..	147.0	377.7

* *Rep. Marketing Sesamum & Nigerseed, 1952, 28.*

ओलियोलिनीन, 4.0% [Sahasrabudhe & Kale, *J. Univ. Bombay*, 1932, 1(2), 37; Vidyarthi & Mallya, *J. Indian chem. Soc.*, 1940, 17, 37; Phalnikar & Bhide, *ibid.*, 1944, 21, 313; Rao & Rao, *Oils & Oilseeds J.*, 1952-53, 5 (10-12), 92; Rao & Swaminathan, *loc. cit.*].

भारतीय तिल्ली के तेल के लक्षण अफ्रीका के तेल से कुछ भिन्न होते हैं. अफ्रीका के तेल में लिनोलीक अम्ल की मात्रा भारतीय तेल की अपेक्षा अधिक होती है. अफ्रीका के तेल में इसकी मात्रा लगभग 70% होती है जबकि भारतीय तेल में यह केवल 50% है. भारतीय तेल में इसी अनुपात के अनुसार ओलीक अम्ल की मात्रा अधिक होती है. इसी कारण रंगों में, ऐल्किड रेजिनो इत्यादि में जहाँ पीत-हरित तथा लिनोलीक अम्ल की प्रचुर मात्रा के तेल की आवश्यकता होती है, अफ्रीका का तेल अधिक उपयोगी होता है. यह ज्ञात नहीं है कि सूरजमुखी के बीज के तेल के समान तिल्ली के तेल का संघटन वातावरण से प्रभावित होता है. यह पाया गया है कि शीघ्र पकने वाले सूरजमुखी के बीज से निकाले गये तेल में, धीरे-धीरे पकने वाले सूरजमुखी के बीज के तेल की अपेक्षा ओलीक अम्ल अधिक मात्रा में होता है तथा लिनोलीक अम्ल की मात्रा कम होती है (Dunn & Hilditch, *J. Soc. chem. Ind., Lond.*, 1950, 69, 13; Pearman *et al.*, *Colon. Pl. Anim. Prod.*, 1951, 2, 101).

तिल्ली के तेल में लिनोलीक अम्ल और ग्लिसराइडों की प्रचुर मात्रा के कारण इसमें उपचयी विघटन गंध के उत्पन्न होने की काफ़ी सम्भावना होती है. परिशुद्धता तथा विरंजन से तेल के उपचयन की संवेदनशीलता बढ़ जाती है. सूरज के प्रकाश तथा विसरित प्रकाश में अधिक समय तक रखने से रंग का विरंजन हो जाता है (Rao & Rao, *loc. cit.*; Rao & Swaminathan, *loc. cit.*).

तिल्ली का ठंडे संपीड़न से प्राप्त तेल तथा गर्म संपीड़न से प्राप्त परिशुद्ध तेल स्थानीय रूप से खाने में काम आता है. निम्न कोटि का तेल साबुन बनाने तथा जलाने के काम आता है. तेल में स्टीऐरिक तथा पामिटिक अम्लों की उपस्थिति के कारण इससे बना हुआ साबुन श्वेत परन्तु कोमल होता है. तेल का उपयोग शरीर की मालिश तथा गठिया के रोग में भी होता है. तेल की रंगहीनता तथा पुष्पों की सुगन्ध को शोषित करने की क्षमता के कारण अंगराग उद्योग में इसके उपयोग की अच्छी सम्भावनायें हैं (*Rep. Marketing Sesamum & Nigerseed, 1952, 33; Winton & Winton, I, 622*).

तिल्ली का तेल अन्य तेलों की अपेक्षा सस्ता होता है. इस कारण इसे अन्य तेलों में मिलावट के लिए प्रयोग में लाया जाता है. बम्बई में, जहाँ मूंगफली का तेल सस्ता है, इसे तिल्ली के तेल में मिलावट करने के लिए उपयोग में लाते हैं. वेलियर संख्या से तिल्ली के तेल में मूंगफली के तेल की मिलावट यदि 50% से कम हो तो ज्ञात की जा सकती है. शुद्ध तिल्ली के तेल के लिए यह संख्या 25-26 है. कुसुम के तेल से इसे इसके उच्च आयोडीन मान के कारण पहचाना जा सकता है. इसमें अलसी के तेल की मिलावट की अविलेय ब्रोमाइड परीक्षण द्वारा ज्ञात किया जाता है (तिल्ली के तेल से केवल हल्की-सी अविलेयता मिलती है) (*Rep. Marketing Sesamum & Nigerseed, 1952, 51; Jamieson, 286; Allen, II, 200; Narayanaier, Curr. Sci., 1945, 14, 177*).

तिल्ली का तेल अध-शुष्क तेल है. इस कारण, इसका सीमित रूप में रंजक-तेल के लिए उपयोग किया जाता है. अलसी के तेल की अपेक्षा इसका शुष्क-गुण बहुत कम है परन्तु इसे ऊष्मोपचार द्वारा तथा अन्य शुष्कों जैसे सीसा-मैंगनीज तथा कोबाल्ट साबुनों के साथ

मिलाकर इसके शुष्कण-गुणों में सुधार किया जा सकता है। लाल सीसे के साथ संसाधित तेल का मिश्रण अनावृत पृष्ठों के लेपन के लिए उपयोग किया जाता है। शुष्कण पदार्थों से युक्त कच्चा तेल 100° पर सुखाने पर 2 घण्टे में चिपचिपाहट रहित सतह देता है। 26° पर सुखाई गई सतहें 100° पर सुखाई गई सतहों की अपेक्षा अधिक प्रत्यास्थ तथा जल की अधिक अच्छी अवरोधक हैं। 100° पर सुखाई गई सतह सूखने में सिकुड़ जाती है तथा पानी में रखने पर निकल जाती है। तिल्ली के तेल पर आधारित वार्निशें धीरे-धीरे कोमल सतहों में सूखती हैं। तिल्ली का तेल रंग बनाने के लिए उपयोगी है (Jordan et al., 53; Vidyarthi, J. sci. industr. Res., 1951, 10B, 170).

तिल्ली की खली का उपयोग पशुओं को खिलाने तथा खाद के रूप में किया जाता है। उड़ीसा में 90% खली खाद के रूप में काम में लायी जाती है परन्तु मध्य प्रदेश, मसूर, महाराष्ट्र तथा आन्ध्र प्रदेश में इसका अधिकांश भाग दूध वाले पशुओं को खिलाने में प्रयोग करते हैं। अलसी या तिल की खली के समान तिल्ली की खली अपने काले तथा अनाकर्षक रूप-रंग के कारण बहुत लोकप्रिय नहीं है। तिल्ली की खली का रासायनिक संघटन तथा पोषण मान (शुष्क पदार्थ के आधार पर) इस प्रकार हैं: अपरिष्कृत प्रोटीन, 32.74; ईथर निष्कर्ष, 4.42; अपरिष्कृत तन्तु, 17.62; नाइट्रोजन रहित निष्कर्ष, 31.45; कुल राख, 13.75; कैल्सियम (CaO), 0.84; तथा फॉस्फोरस (P_2O_5), 2.55%। पचनीय पोषक: अपरिष्कृत प्रोटीन, 32.74; ईथर निष्कर्ष, 4.38; कुल कार्बोहाइड्रेट, 6.80; कुल पचनीय पोषक, 49.4; तथा स्टार्च तुल्यांक, 43.3 किग्रा./100 किग्रा. इस खली का खाद्य-मान सूरजमुखी के बीज की खली के लगभग समान माना जाता है यद्यपि इसमें बसा तथा प्रोटीन कम होते हैं। इसे बैलों के भोजन के रूप में उपयोग में लाया गया है।

प्रयोगों से ज्ञात होता है कि तिल्ली के प्रोटीन तथा बसा पचनीय हैं तथा पशुओं का भार निरन्तर बढ़ता जाता है। इसमें से वे नाइट्रोजन, चूने तथा फॉस्फोरस का प्रतिधारण करते हैं। यह माना जाता है कि दूध देने वाले पशुओं को तिल्ली की खली खिलाने पर वे पानी अधिक पीते हैं तथा दूध भी अधिक देते हैं (Rep. Marketing Sesamum & Nigerseed, 1952, 34; Bull. imp. Inst., Lond., 1916, 14, 88; Gupta et al., Proc. Indian Sci. Congr., 1951, pt III, 251; Yegna Narayan Aiyer, 223).

तिल्ली की खली खाद के रूप में महत्वपूर्ण है। गन्ने की फसल में इसके उपयोग से अच्छे परिणाम प्राप्त हुए हैं। वायु-शुष्क पदार्थ में निम्नलिखित वस्तुएँ पाई गई हैं: नाइट्रोजन, 4.10-5.86; पोटाश (K_2O), 1.71-2.05; तथा फॉस्फोरिक अम्ल (P_2O_5), 1.72-2.45%। तिल्ली की हरी पत्तियों तथा हरे तनों को भी हरी खाद के रूप में काम में लाया जाता है। वायु-शुष्क आधार पर इसमें निम्नलिखित पदार्थ पाये जाते हैं: नाइट्रोजन, 0.20; पोटाश (K_2O), 0.85; तथा फॉस्फोरिक अम्ल (P_2O_5), 0.11% (Sahasrabudhe, Bull. Dep. Agric., Bombay, No. 174, 1933).

उत्पादन तथा व्यापार

भारत तथा ऐविसिनिया इस तेल बीज के प्रमुख उत्पादक हैं। भारत में इसका वार्षिक अनुमानित उत्पादन 75,000 टन है। ऐविसिनिया का 1952-53 का अनुमानित उत्पादन 1,70,000 टन था। भारत के विभिन्न प्रान्तों में तिल्ली के उत्पादन के ठीक आँकड़े प्राप्त नहीं हैं। आधुनिक सर्वेक्षण के अनुसार विभिन्न राज्यों का अनुमानित उत्पादन इस प्रकार है: मध्य प्रदेश, 73,700; उड़ीसा, 11,000; बिहार, 9,000; महाराष्ट्र, 5,000; तमिलनाडु (आन्ध्र प्रदेश सहित), 7,000; तथा

सारणी 4 - भारत से तिल्ली का निर्यात

(टनों में)

	ब्रिटेन	जर्मनी	नीदर-लैण्ड्स	बेल्जियम	फ्रान्स	संयुक्त राज्य अमेरिका	अन्य देश	कुल मात्रा	कुल मूल्य (रु.)
1929/30-1933/34 (औसत)	351	1,138	191	265	307	53	117	2,422	3,61,208
1934/35-1938/39 (औसत)	364	554	398	308	90	218	27	1,959	2,19,771
1939-40	2,611	..	59	120	..	245	60	3,095	3,66,060
1940-41	1,579	225	75	1,879	2,16,895
1941-42	297	40	337	43,567
1942-43	60	8	68	9,054
1943-44	13	13	4,222
1944-45	263	11	274	1,14,285
1945-46	425	..	425	1,64,975
1946-47	5	8	13	7,970
1947-48	215	..	40	169	8,941	314	62	9,741	68,98,947
1948-49	85	13,944	217	3,625	17,871	1,27,38,234
1949-50	1,197	74	20	352	347	412	19	2,421	14,89,896
1950-51	254	7	45	115	524	479	1,883	3,307	24,32,961
1951-52	1,706	204	42	246	726	208	1,357	4,489	40,87,092
1952-53	20,783	1,34,42,908
1953-54	12,872	77,89,476
1954-55	7,534	45,08,610

मैसूर, 1,000 (*Vegetable Oils and Oilseeds, Commonwealth Econ. Comm.*, 1954, 145; *Rep. Marketing Sesamum & Nigerseed*, 1952, 13; *Surv. Minor Oilseeds, Vindhya Pradesh*, 1955, 6; *Surv. Marketing Minor Oilseeds, Mysore*, 1954, 42; *Rep. Econ. Surv. Minor Oilseeds, Bhopal*, 1955, 30; *Information from Dir. Agric., Hyderabad*).

भारत से प्रति वर्ष तिल्ली की थोड़ी-सी मात्रा का निर्यात दूसरे देशों को होता है। द्वितीय विश्वयुद्ध से दस वर्ष पहले तक के औसत निर्यात आँकड़ों के अनुसार 2,000 टन तिल्ली का निर्यात हुआ (सारणी 4)। आयात करने वाले देश इस प्रकार हैं: ब्रिटेन, जर्मनी, फ्रान्स, बेल्जियम, हालैण्ड तथा कुछ अन्य यूरोपीय देश। थोड़ी-सी तिल्ली संयुक्त राज्य अमेरिका को भी भेजी गई थी। युद्ध के समय में यूरोपीय देशों को निर्यात बन्द हो गया था परन्तु 1947-48 से यह पुनः आरम्भ हो गया। आजकल तिल्ली के निर्यात की दृष्टि से ब्रिटेन तथा फ्रांस मुख्य देश हैं। इनके पश्चात् संयुक्त राज्य अमेरिका तथा बेल्जियम का स्थान है।

व्यापार में तिल्ली का मूल्य इसकी वर्तन से मुक्ति के अनुसार निश्चित किया जाता है। मध्य प्रदेश के कुछ भागों से उत्पादित तिल्ली उड़ीसा तथा आन्ध्र से उत्पादित तिल्ली से, बीज के आकार तथा तेल की प्रतिशत मात्रा के कारण निम्न कोटि की मानी जाती है। बम्बई से नौ-परिवहन तथा बेचने के लिए 76-82 किग्रा. का बोरा मात्रक के रूप में निश्चित है। उत्पादन के अधिकांश भाग का नौ-परिवहन बम्बई से होता है। 1940 से पूर्व विशाखापटनम तथा विमलीपाटम से भी बड़ी मात्रा में निर्यात होता था (*Rep. Marketing Sesamum & Nigerseed*, 1952, 18)।

तिल्ली के तेल की थोड़ी-सी मात्रा का भारत से निर्यात होता है। यह निर्यात 1951-52 में 2,224 टन तथा 1952-53 में 175 टन था। तेल की प्रथम श्रेणी (खाद्य) के लिए ऐगमार्क का विशेष विनिर्देश निश्चित किया गया है। इसके अनुसार तेल शुद्ध

तिल्ली से निकाला जाना चाहिये तथा इसमें किसी अन्य तेल अथवा पदार्थ की अशुद्धियाँ नहीं होनी चाहिएँ; इसमें किसी प्रकार का निलम्बित पदार्थ अथवा तलछट नहीं होना चाहिये; इसे विद्युतगंधिता से मुक्त होना चाहिये। 0.6 सेंमी. के सेल में रखा कर लाविवांड टिण्डोमीटर से मापित करने पर इसका रंग 15 मात्रकों (Y+5R) से अधिक गहरा नहीं होना चाहिये। तेल में निम्नलिखित लक्षण होने चाहिये: आ. घ. 30° , 0.917-0.920; m^{40} , 1.4660-1.4700; सादु. मान, 189-195; आयो. मान (विज), 130-140; अम्ल मान (अधिकतम), 5.0; असादु. पदार्थ (अधिकतम), 1.0%। मार्च, 1952 से तिल्ली के तेल के निर्यात पर से शुल्क हटा लिया गया है [*Oils & Oilseeds J.*, 1953-54, 6 (12), 19; 1954-55, 7 (3), 15]।

भारत में उत्पन्न अधिकांश तिल्ली उत्पादन-क्षेत्रों में ही तेल निकालने के लिए, खाद्य पदार्थ के रूप में तथा अन्य कार्यों के लिए खर्च हो जाती है। इस कारण मध्य प्रदेश और उड़ीसा में उत्पन्न अतिरिक्त तिल्ली की मात्रा के अन्तःव्यापार पर रोक लगा दी गई है। बम्बई, बिहार तथा कलकत्ता के बाजारों में मध्य प्रदेश से तिल्ली भेजी जाती है। उड़ीसा के उत्पादन को विशाखापटनम तथा विमलीपाटम बन्दरगाहों को तथा बम्बई में खपत के स्थानों को भेजा जाता है। हैदराबाद से कुछ मात्रा बम्बई तथा मैसूर को भेजी जाती है।

संग्रह बाजारों में निर्यात क्षेत्रों, जैसे विशाखापटनम तथा बलसर (बम्बई) की अपेक्षा तिल्ली के मूल्य कम हैं। मूल्यों में अन्तर का कारण परिवहन-व्यय तथा संग्रह बाजारों में दलालों को दिये जाने वाले कमीशन हैं। नवम्बर से फरवरी तक नई फसल बाजार में आ जाती है। इस अवधि में सामान्यतः अन्य भासों की अपेक्षा मूल्य कम रहते हैं। तिल के तेल के अनुसार ही इसके तेल के मूल्य घटते-बढ़ते रहते हैं और वह भी विशेषकर मध्य प्रदेश में जहाँ इसका उपयोग तिल के तेल में मिलावट के लिए किया जाता है (*Rep. Marketing Sesamum & Nigerseed*, 1952, 44, 51)।

घ-च

घड़ियाल — देखिए मगर

घी वृक्ष — देखिए मिमुसाप्त

घुंघची — देखिए ऐन्स

घेरकिन्स — देखिए कुकुमिस

घोड़चना — देखिए डालिकाँस

चतियान — देखिए आल्स्टोनिया

चना — देखिए साइसर

चपलाश — देखिए आर्टोकार्पस

चमेली — देखिए जैस्मिनम

चम्पा — देखिए माइकेलिया

चम्पेरीया ग्रिफिथ (ओपिलिएसी) CHAMPEREIA Griff.

ले. — चम्पेरेइआ

Burkill, I, 520.

यह झाड़ियों अथवा लघु वृक्षों की लगभग 6 जातियों का वंश है जो इण्डो-मलाया क्षेत्र में पाया जाता है। च. ग्रिफिथार्ड हुकर पुत्र (सिन. च. ग्रिफिथियाना प्लांखान) ब्रह्मा, मलाया और अण्डमान द्वीप समूह में सामान्य रूप से पाई जाती है। इसके फल तथा पत्ते खाद्य होते हैं।

पत्तियाँ तथा जड़ें घावों पर पुलिटिस के रूप में प्रयुक्त की जाती हैं। *Opiliaceae*; *C. griffithii* Hook. f.; *C. griffithiana* Planch.

चरस — देखिए कैनाविस

चाइनाबाक्स — देखिए मुराया

चाकलेट वृक्ष — देखिए थैयोब्रोमा

(परिशिष्ट : भारत की सम्पदा)

चायरूट — देखिए हेडियोटिस

चायोड — देखिए सीकियम

चारकोल ट्री — देखिए ट्रेमा (परिशिष्ट : भारत की सम्पदा)

चावल — देखिए ओराइज़ा

चिकोरी — देखिए सिकोरियम

चिक्रासिया — देखिए चुक्रासिया

चियन टर्पेनटाइन वृक्ष — देखिए पिस्टेसिया

चिरेटा — देखिए स्वेटिया

चिराँजी — देखिए बुकैनेनिया

चिलौनी — देखिए स्किमा

चोड़ — देखिए पाइनस

चीते (वर्ग मैमेलिया, गण कार्निवोरा, उपगण एल्फूरॉयडिया, कुल फेलिडी) LEOPARDS

D.E.P., VI (4), 51; Fn. Br. Ind., Mammalia, 1, 1939, 222, 239, 247, 323; Sterndale, 82.

इस शीर्षक के अंतर्गत चीते या तेंदुये, हिमचीते, घूसर चीते और शिकारी चीते आते हैं। चीते और हिमचीते पेंथेरा वंश के, और घूसर तथा शिकारी चीते क्रमशः निओफेलिस और एसिनोनिक्स वंशों के अंतर्गत हैं।

चीता, पेंथेरा पार्डस लिनियस (बं. और म. — चीता, बाघ; ते. — चिस्तापुली; मल. — चित्रपुली; त. — चिस्तई; क. — होनिगा, चिरते, केकल; कश्मीर — सूह; मणिपुर — कजेंग्ला; नागा — हरिया, कोन; लेपचा — साइक), सहारा के अतिरिक्त सम्पूर्ण अफ्रीका और एशिया में पाया जाता है। यह सिंह या बाघ से काफी छोटा होता है। खाल की मोटाई और गठन और शरीर के विभिन्न भागों पर के निशान एक-से नहीं होते। पृष्ठ का रंग घूसर या श्वेताभ मांस के रंग से लेकर जैतूनी और हल्की पीली चमक लिए होता है। अधोभाग और टांगों के अन्दर का भाग सामान्यतया सफेद होता है। सिर पर के काले धब्बे सुस्पष्ट होते हैं और कभी-कभी पीछे की ओर कुछ दूरी तक पाये जाते हैं। पैरों और पेट के बाहरी भाग पर बड़े और घने धब्बे होते हैं किन्तु अन्य भागों पर वे एक साथ, भिन्न-भिन्न आकार में और भिन्न अन्तरों पर मिलते हैं।

चीता झाड़ियों और गुफाओं वाले गुल्म जंगलों तथा चट्टानी स्थानों में अपनी माँद बनाना अधिक पसन्द करता है। प्राकृतिक वातावरण से उसके शरीर का वर्णक्रम ऐसा मेल खाता है कि वह सरलता से दिखाई नहीं पड़ता। वह उसी जानवर का शिकार करता है जिसे वह दबोच सकता है लेकिन बाघ की तरह घायल या बुझा होने पर जब वह शिकार करने में असमर्थ हो जाता है तो वह आदमखोर बन सकता है और अपन छिपने वाले स्थानों के समीपवर्ती क्षेत्र में गाँवों के पशु-धन के लिए भी घातक हो सकता है। शक्ति में, अपन आकार के अनुपात से, यह लगभग बाघ के ही समान होता है लेकिन यह उससे अधिक

चुस्त और लचीले होने तथा पेड़ों पर चढ़ सकन में समर्थ होने के कारण अधिक खतरनाक होता है।

चीता सारे साल प्रजनन करता है। गर्भावधि 13 सप्ताह की होती है। एक बार में दो या चार बच्चे पैदा होते हैं। जंगली अवस्था में प्रजनन अवधि या बच्चे जनने के बीच की अवधि के बारे में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता किन्तु वन्दी अवस्था में यह लगभग एक वर्ष होती है।

चीते की तीन प्रजातियाँ होती हैं अर्थात् पेंथेरा पार्डस फुस्का मेयर, पं. पार्डस पणिग्रा ग्रे और पं. पार्डस मिलाडी पोकाक। फुस्का प्रजाति के भारतीय चीतों का रंग चमकीला, घूसर होता है और यह भारत के लगभग सभी जंगलों में पाया जाता है। पणिग्रा प्रजाति सिक्किम से लेकर नेपाल तक 1,800–2,400 मी. की ऊँचाइयों में पाई जाती है। यह प्रजाति संभवतया कुमायूँ और गढ़वाल में भी पाई जाती है। जाड़ों में यह कम ऊँचाई वाले क्षेत्रों में उतर आता है। फुस्का प्रजाति की अपेक्षा इसकी खाल रूखी, मोटी और अधिक घालदार होती है। साथ ही इसमें अपेक्षाकृत घूसर पीले रंग के बड़े धब्बे सुस्पष्ट निखरे होते हैं। इस प्रजाति के कई चीते काले भी होते हैं। मिलाडी प्रजाति प्रमुख रूप से कश्मीर में अधिक ऊँचाइयों पर पाई जाती है। अन्य प्रजातियों की तुलना में इसकी खाल में चमकीली आभा नहीं होती और इसके पृष्ठ पर घने और छोटे धब्बे होते हैं (Pocock, J. Bombay nat. Hist. Soc., 1930–31, 34, 307; Mosse, ibid., 1930–31, 34, 350, 673, 1015; Phythian-Adams, ibid., 1948–49, 48, 461; Ellerman & Morrison-Scott, 316).

चीतों का शिकार उनकी खाल के लिए किया जाता है जो बहुत कीमती होती है। मांस-पेशियों में दर्द और मोच आने पर चीते की चर्बी (वसा) मालिश के काम आती है। पेंथेरा पार्डस फुस्का के उदर से निकाली जाने वाली वसा श्वेत पीत रंग की होती है, जिसमें निम्न-लिखित विशेषताएँ पाई गई हैं: साबु. मान, 196.4; आयो. मान, 62.4; और मुक्त वसा-अम्ल (ओलीक के रूप में), 3.2%. वसा में अम्लों का संघटन इस प्रकार है: मिरिस्टिक, 2.3; पामिटिक, 20.1; स्टीऐरिक, 13.7; ऐराकिडिक, 1.7; असंतृप्त C₁₄, 1.8; असंतृप्त C₁₆, 10.8; ओलीक, 39.2; ऑक्टाडेकाडीनोइक, 2.1; और असंतृप्त C₂₀, 8.3%. संघटक ग्लिसराइड निम्नलिखित हैं: डाइपामिटो-ओलीन, 8.3; पामिटोस्टीऐरो ओलीन, 10.9; डाइओलियो पामिटिन, 20.9; डाइओलियो स्टीऐरिन, 18.5; मोनो-ओलियो हेक्साडिसिनोस्टीऐरिन, 17.9; मोनो-ओलियोहेक्साडिसिनो-पामिटिन, 21.7; और हेक्साडिसिनो-डाइओलीन, 1.8 (अणु %) (Pathak & Trivedi, Biochem. J., 1958, 70, 103).

हिमचीता, पेंथेरा (अस्तिया) अस्तिया श्रेवर (शिमला और कुमायूँ — भराल-हाइ; कुनावर — थुरवाघ; कश्मीर — थुरवाघ; भोटिया — इकार, साचक), हिमालय में कश्मीर से लेकर सिक्किम तक 3,500–4,000 मी. की ऊँचाई तक पाया जाता है। जाड़ों में यह कम ऊँचाइयों वाले स्थानों पर नीचे उतर आता है। खाल मुलायम भूरी और कभी-कभी हल्की पीली आभा वाली होती है और अन्दर की ओर हल्की होकर सफेद हो जाती है। धब्बे लगातार पाये जाते हैं और वे सिर, गर्दन पर तथा टांगों के निचले भागों पर बहुत स्पष्ट रहते हैं, यह प्राणी अपने रोमों के कारण मूल्यवान समझा जाता है और गड़कों में फँसाकर पकड़ा जाता है।

घूसर चीता, निओफेलिस नेबुलोसा मैकसीलाइडीज हागसन (नेपाल — लमचितिया; भोटिया — कुंग; लेपचा — पुंगमार, सतचुक) नेपाल, सिक्किम, भूटान और असम के जंगलों में पाया जाता है। विल्ली

वंश के अन्य प्राणियों की तुलना में इसके रदनक दाँत असामान्य रूप से बड़े होते हैं। रात्रिचर प्राणी होने के कारण यह मुश्किल से दिखलाई पड़ता है और घने सदावहार जंगलों में रहता है। खाल के पृष्ठ का रंग भूरे या मटमैले भूरे से लेकर पीला या पीला वादामी होता है जो अन्दर के भागों में मध्यम होता हुआ हल्का पीला या सफेद हो जाता है। वगल के घूसर चिन्ह गहरे धब्बे के बीच में पीले रिकत स्थानों पर बने होते हैं। प्राकृतिक वातावरण में यह लड़ाकू और जंगली होता है फिर भी इसे पालतू बनाया जा सकता है।

शिकारी तेंदुआ या चीता बिल्ली वंश के अन्य प्राणियों से इस दृष्टि से भिन्न है कि इसके पंजों में ढकने वाली झिल्लियाँ नहीं होती। भारतीय और अफ्रीकी नाम की इसकी दो प्रजातियाँ पहचानी गई हैं। भारतीय प्रजाति, एसिनोनिक्स जुवेटस वीनैटिक्स ग्रिफिय, सामान्य अफ्रीकी प्रजाति की अपेक्षा कम बालों वाली और पतली खाल वाली होती है। नर में अग्राल नहीं होते। खाल के पृष्ठ का रंग वादामी से लेकर हल्का पीला होता है। अन्दर के भागों का रंग सफेद होता है। चिन्हों की एक विशेषता यह है कि दोनों ओर आँखों से लेकर मुँह तक एक-एक सुस्पष्ट काली धारी होती है, और शरीर के शेष भाग में घने और गहरे काले धब्बे होते हैं। चीता खुले भागों में रहना अधिक पसन्द करता है और आसानी से निशाना लगाकर शिकार हो जाने के कारण यह भारत से लुप्त हो रहा है। यह बड़ी तेजी से दौड़ता है (72 किमी. प्रति घंटा तक) और कभी-कभी शिकार के लिए शिक्षित करने के लिए पाला जाता रहा है (Pocock, *J. Bombay nat. Hist. Soc.*, 1930-31, 34, 330; Prater, 44-45, 55; Ellerman & Morrison-Scott, 314-15, 320-21).

Mammalia; Carnivora; Aeluroidea; Felidae; Panthera; Neofelis; Acinonyx; Panthera pardus Linn.; *races pernigra, fusca, millardi; Panthera (Uncia) uncia* Schreber; *Neofelis nebulosa macrasceloides* Hodgson; *Acinonyx jubatus venaticus* Griffith

चीना घास — देखिए बोहमेरिया

चीना रुट — देखिए स्माइलेक्स

चुकन्दर — देखिए बीटा वल्गैरिस

चुक्रासिया ए. जसू (मिलिएसी) CHUKRASIA A. Juss.
ले. — चुक्रासिया

यह एकल प्ररूपी वंश है जो भारत, श्रीलंका से पूर्व ब्रह्मा होता हुआ मलाया प्रायद्वीप से लेकर कोचिन-चीन, बोर्नियो और दक्षिणी चीन तक फैला हुआ है। चु. टेबुलैरिस वैर. वेल्डिना एम. रोयमर को, जो ब्रह्मा और कोचिन-चीन में होती है, कुछ लेखकों ने विशिष्ट स्थान दिया है।

Meliaceae

चु. टेबुलैरिस ए. जसू C. tabularis A. Juss. चटगाँव बुड
ले. — चु. टाबुलारिस

वं. — चिक्रासी, पव्वा; म. — पव्वा; ते. — सिट्टागैन्गुकरा, एर्रा-पोगाडा; त. — एगिल, मलीवेम्बु, डलमारा; मल. — अकिल, मालावेम्बु.

असम — बोगा-पोमा; ब्रह्मा — यिनमा; श्रीलंका — हूलन-हिक; व्यापार — चिक्रासी.

यह सीधे, लम्बे तने और फैले हुए बड़े शिखर वाला एक सुन्दर वृक्ष है। सामान्यतः इसकी ऊँचाई 24 मी. और गोलाई 2.4-2.7 मी. होती है। कुछ वृक्षों के साफ तने 18-24 मी. लम्बे और 4.2-5.4 मी. गोलाई वाले होते हैं। यह प्रायः सिक्किम, असम, पूर्वी बंगाल, दक्षिणी भारत, अण्डमान, ब्रह्मा और श्रीलंका के आर्द्र उष्णकटिबंधी पहाड़ी जंगलों में पाया जाता है।

खेती करने के लिए इसके ताजे बीज मार्च या अप्रैल में हल्की, अच्छे जल-निकास वाली मिट्टी में बोये जाते हैं। बक्सों या गमलों में पौध लगाने से भी अच्छे परिणाम प्राप्त हुए हैं। जब पौध कुछ सेंमी. लम्बी हो जाती है तो अगस्त के महीने में उसे नर्सरी में पंक्तियों में लगा देते हैं और पहली या दूसरी वर्षा के प्रारम्भ में रोप देते हैं। 30 सेंमी. ऊँची मेड़ों पर बीज बोने से भी अच्छे परिणाम मिलते हैं। पौधों की साधारण वृद्धि होती है। गोलाई में औसत वार्षिक वृद्धि लगभग 1.8 सेंमी. है। देहरादून में बीज से उगाए गए पेड़ 6 वर्ष में 5.4 मी. ऊँचाई में तथा 45 सेंमी. गोलाई में बढ़े। काट कर गिरा देने पर किल्ले खूब फूटते हैं। पौधे परतून टहनीवेधक (हिप्सिपिला रोबस्टा) का आक्रमण होता है (Troup, I, 194).

चिक्रासी की ताजी कटी लकड़ी पाण्डु-पीत रंग की होती है किन्तु हवा में खुली पड़ी रहने पर सुनहरे या लाल-भूरे रंग में परिवर्तित हो जाती है। यह चमकीली, मध्यम भार वाली (घ.घ., 0.62; भार, 640-672 किग्रा./घमी.), असम दानेदार तथा अच्छे गठन वाली लकड़ी है। कभी-कभी यह महोगनी की तरह आकर्षक लगती है।

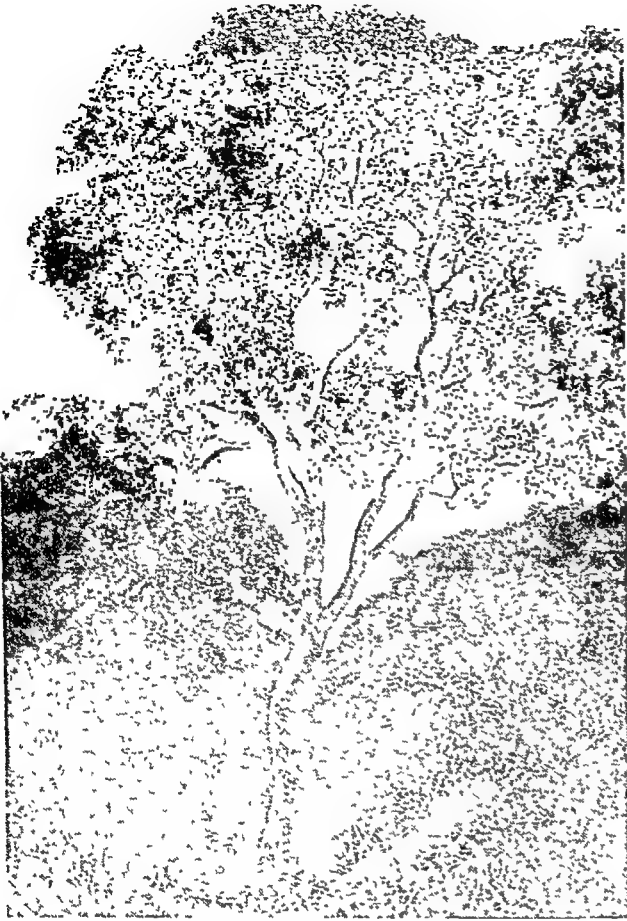
खुली पड़ी रहने पर लकड़ी खराब नहीं होती है। हरी लकड़ी के लट्टे बनाने चाहिये और चिरी हुई लकड़ी के खुले चट्टे लगाकर ढक देना चाहिये। यदि लकड़ी भली-भाँति सिखाई नहीं जाती तो चिरी हुई लकड़ी की सतह पर बारीक दरारें पड़ जाती हैं। भट्टे द्वारा सिखाई हुई लकड़ी में कोई दोष नहीं आता। यह काफी मजबूत और कठोर लकड़ी है जो आच्छादन के नीचे टिकाऊ होती है, पर खुले में अथवा भूमि के सम्पर्क में जल्दी नष्ट हो जाती है। इसमें दीमक लग सकती है (Trotter, 1944, 81).

यह लकड़ी आसानी से चिरी और हाथ अथवा मशीन से सरलता से गढ़ी जा सकती है। हरे रहने पर या पानी में भिगो करके खराब द्वारा इसके छिलके आसानी से उतारे जा सकते हैं। सतह बढ़िया, चिकनी निकलती है और उस पर टिकाऊ पालिश आती है। इसका रंग न तो विरंजित होता है और न गाढ़ा पड़ता है और ज्यों का त्यों बना रहता है। सिंभाई के बाद भी यह दृढ़ बनी रहती है (Trotter, loc. cit.; Pearson & Brown, I, 266).

इमारती लकड़ी के रूप में इसकी आपेक्षिक उपयुक्तता के अंक सागौन के उन्हीं गुणों के प्रतिशत के रूप में इस प्रकार हैं: भार, 95; कड़ी के रूप में सामर्थ्य, 75; कड़ी के रूप में दृढ़ता, 80; खम्भे के रूप में उपयुक्तता, 70; प्रघात प्रतिरोधकता, 90; आकृति स्थिरण क्षमता, 75; अपरूपण, 120; कठोरता, 110 (Trotter, 1944, 242).

लकड़ी का फैलोरी मान इस प्रकार है: रसकाण्ड, 4,817 कै., 8,672 ब्रि. थ. इ.; अंतःकाण्ड, 5,117 कै., 9,210 ब्रि. थ. इ. (Krishna & Ramaswami, *Indian For. Bull.*, N.S., No. 79, 1932, 14).

यह लकड़ी ऊँचे किस्म के फर्नीचर, तख्ते बंदी, सजावटी काम, प्लाईवुड और परती तख्तों के उपयुक्त है। अलमारियों और सजावटी काम के लिए सुन्दर आकृतिधारी लकड़ियों की विशेष माँग है। यह



चित्र 42 — चुकासिया देवुलेरिस

मकानों, डोंगियों और नावों, पीपों और अन्य कामों के लिए इस्तेमाल होती है। यह फिरकियों, विमानों के पंखों और कागज की लुगदी के लिए प्रयुक्त की जा सकती है (Trotter, 1944, 82, 191; Pearson & Brown, loc. cit.; Howard, 146; Rama Rao, 77)।

इसकी छाल कसैली होती है पर कड़वी नहीं। नई पत्तियों और छाल में टैनिन क्रमशः 22 और 15% होता है। इस वृक्ष में से जल-विलेय रक्ताभ से रक्ताभ-भूरे रंग का गोंद निकलता है जो अन्य भारतीय गोंदों के साथ मिलाकर बेचा जाता है (Badhwar et al., Indian For. Leaflet, No. 72, 1944, 7; Mantell, 60).

Hypsipyla robusta

चुगलम — देखिए टर्मिनेलिया (परिशिष्ट: भारत की सम्पदा)

चूना-पत्थर LIMESTONE

चूना-पत्थर एक व्यापक पारिभाषिक शब्द है जिसका प्रयोग अवसादी निक्षेपों के उस परिवर्ती वर्ग के लिए किया जाता है जिसका मुख्य रचक कैल्सियम कार्बोनेट है। अधिकांश चूना-पत्थर जैव उद्गम

के होते हैं और प्राणियों के अस्थि-पंजरों के मलबे से बनते हैं। विभिन्न अपरदनकारियों तथा संक्षारकों द्वारा शैलों के अपक्षय से कैल्सियम, विलेय लवणों के रूप में आ जाता है, विलयन रिस कर पृथ्वी में अन्दर चला जाता है या समुद्र में मिल जाता है। बाद में वह कैल्सियम कार्बोनेट के रूप में निक्षेपित हो जाता है। ट्रेवरटाइन और टूफा ऐसे अवसादी चूना-पत्थर हैं जिनका निक्षेपण स्रोतों और सरिताओं के आसपास वाष्पन द्वारा होता है। गुहाओं में मिलने वाले स्टैलेक्टाइट और स्टैलेमाइट भी इसी प्रकार बनते हैं। समुद्र में अपवाहित विलेय चूना लवणों को प्रवाल, फोरेमिनिफेरा, मोलस्क, एकाइनोडर्म या अन्य समुद्री जीव प्रयोग में लाते हैं तथा चूना-पत्थर के बृहद् निक्षेपों का निर्माण करते हैं। मूल जीवों के अनुसार इन्हें शैली, कोरालाइन, क्राइ-नॉइडी या नुमुलाइटी चूना-पत्थर कहते हैं। अस्थि-पंजरीय संरचनायें लगभग शुद्ध कैल्सियम कार्बोनेट ही हैं और ये प्रायः खड़िया मिट्टी और माल में अक्षत पाए जाते हैं।

कैल्सीय अवसाद शायद ही कभी शुद्ध कैल्सियम कार्बोनेट के रूप में मिलते हों। वे अधिकतर मृण्मय, सिलिकामय या लोहमय अपद्रव्यों से संदूषित होते हैं, अवसाद बाद में दाब, ताप एवं विलायक क्रियाओं से प्रभावित होते हैं। मुख्यतः ये ही क्रियाएँ संपीडन तथा सीमेंटीकरण या चूने के कार्बोनेट के रूप में क्रिस्टलीकरण के लिए उत्तरदायी हैं। उन पर रासायनिक परिवर्तनों का भी प्रभाव होता है। नर्म माल और खड़िया में चूनेदार कण ढीले जुड़े रहते हैं जबकि संगमरमर में संपीडन तथा कार्यांतरण का अत्यधिक प्रभाव दिखाई देता है। इन दोनों चरम सीमाओं के बीच बहुत से चूना-पत्थर मिलते हैं। मैग्नीशियम लवणों से समुद्र विलयनों के सम्पर्क में आने से इनमें मैग्नीशियम द्वारा कैल्सियम प्रतिस्थापित होता रहता है।

भौतिक रूप के अनुसार चूना-पत्थर क्रिस्टलीय होने पर स्थूल, कणिकामय होने पर संहत शर्कराभ; समकणकीय और संहत होने पर मुद्रणाश्म, सूक्ष्म-मोलीय संग्रथनों से संघटित होने पर अण्डकीय तथा संग्रथन के लगभग बड़े मटर के आकार के होने पर पिसोलाइटी होते हैं।

शुद्ध क्रिस्टलीय रूप में कैल्सियम कार्बोनेट, कैल्साइट, एरैगोनाइट, तथा आइसलैड-स्पार के रूप में मिलता है। क्रिस्टलीय चूना-पत्थर जिसकी रचना गतिकीय कार्यान्तरण या आग्नेय अंतर्वर्धों से सम्बद्ध कार्यान्तरण द्वारा हुई है तथा जो अच्छी पालिश ले सकता है, संगमरमर कहा जाता है। वह चूना-पत्थर जिसमें 5% से कम मैग्नीशियम कार्बोनेट होता है, उत्तम कैल्सियम चूना-पत्थर कहलाता है। किन्तु 5 से अधिक होने पर इसे मैग्नीशियमी चूना-पत्थर की श्रेणी में रखा जाता है। कैल्सियम शैल, जिनमें 30 से 40% मैग्नीशियम कार्बोनेट होता है, डोलोमाइटी चूना-पत्थर और 40% से भी अधिक मैग्नीशियम कार्बोनेट होने पर डोलोमाइट कहलाते हैं। सारणी 1 में विभिन्न चूना-पत्थरों के लक्षण दिये गये हैं।

अधिकांश चूना-पत्थर काफ़ी नर्म होते हैं और चाकू से खुरचे जा सकते हैं। उनका वास्तविक आपेक्षिक घनत्व 2.2 से 2.9 तक होता है। अपद्रव्यों से मुक्त चूना-पत्थर श्वेत रंग के होते हैं, किन्तु सामान्यतः उनमें अल्प मात्राओं में अन्य खनिज भी होते हैं, जिनसे उनका रंग प्रभावित होता है। लोह ऑक्साइड इसे लाल, पीला और भूरा और कार्बनमय, और विट्मिनी अपद्रव्य उनको नीला-धूसर या काला बना देते हैं।

चूना-पत्थरों के एक ही निक्षेप में विद्यमान अपद्रव्यों और आर्द्रता की मात्रा के कारण उनकी सामर्थ्य, घनत्व, सरंघता और गठन में अत्याधिक परिवर्तन होते रहते हैं। सामान्यतः भवन निर्माण में प्रयुक्त

होने वाले स्थूल चूना-पत्थर की संपीडन या संदलन सामर्थ्य (101-600 किलो/वर्ग सेंमी.) अत्यधिक होती है। सारणी 2 में विभिन्न चूना-पत्थरों के भौतिक गुणधर्म दिये गये हैं। तुलनात्मक अध्ययन के लिए वलुआ-पत्थर और ग्रेनाइट के गुण भी दिये गये हैं।

चूना-पत्थर प्रायः जल में अविलेय होता है। तनु अम्लों के साथ यह शीघ्र अभिक्रिया करता है और तीव्रता से गैस निकलती है।

सारणी 1 - चूना-पत्थरों के विशिष्ट लक्षण*

कैल्साइट	क्रिस्टलीय, त्रिसमनताक्ष, अपद्रव्यो के कारण सम्भवतः विभिन्न रंगों वाले, शुद्ध पारदर्शी किस्म आइसलैंड-स्फर हैं।
उच्च कैल्सियम चूना-पत्थर	स्थूल निक्षेप, सहत सस्तरों के रूप में, 90-99% कैल्सियम कार्बोनेट से युक्त, रंग सफेद, पीला, नीलाभ धूसर, लालाभ या काला; मैग्नीशियम कार्बोनेट 5% से कम।
जलीय चूना-पत्थर	अशुद्ध चूना-पत्थर जिसमें 10-14 मूणमय अपद्रव्य रहता है जो ज्वलन के बाद पानी में नीचे बैठ जाता है, सीमेंट निर्माण में व्यापक रूप से प्रयुक्त।
बबड	लघु धातुओं के ढेरों में जो भीतर कैल्सियम कार्बोनेट से तथा बाहर से मिट्टी और कैल्सियम कार्बोनेट के मिश्रण से सघटित रहते हैं, अति-प्राचीन जलोढकों में, सतह से 60-150 सेंमी नीचे तक, अत्यन्त सस्तरों के रूप में मिलता है।
खडिया मिट्टी	नर्म, श्वेत या धूसर, फोरेमिनफेरा के अति सूक्ष्म अवशेषों से सघटित।
मालं	मिट्टी और बालू से मिश्रित मृदु कैल्सीय निक्षेप जिनमें प्रायः शैलों के टुकड़े या अन्य जैव अवशेष विद्यमान रहते हैं, कैल्सीय पदार्थ 20 से 50% तक।
ट्रैवरटाइन या टूफा	झरनों या नदियों के निकटवर्ती स्थानों में जहाँ जल में पर्याप्त मात्रा में कैल्सियम वाइकार्बोनेट विलयन हो सरधी प्रखण्डों के रूप में निक्षेपित होता है; रंग हल्का पीला या भट्टियार श्वेत।
स्टैलैकडाइट	क्रिस्टलीय, पारदर्शी से लगभग अपारदर्शी, कदराओं की छतों से निलम्ब सिलिंडर या शंकु, श्वेत से पीले-भूरे या धूसर, छत से टपकते हुए कैल्सियम वाइकार्बोनेट से युक्त जल विलयन के वाष्पन द्वारा निर्मित।
स्टैलेग्माइट	गुफाओं के पृष्ठ पर निक्षेपित, सामान्यतः शंकु जैसी आकृतियों में, ये शंकु कभी-कभी ऊँचे उठकर स्टैलैकडाइट से ऊपर मिल जाते हैं।

* Kraus *et al.*, 293; Dana, 514; Coggin Brown & Dey, 321.

सारणी 2 - चूना-पत्थरों के भौतिक गुणधर्म

	संदलन भार (टन/वर्ग मी.)	भार, किग्रा/घ.मी.
चाक	800-1,800	2,107.2-2,656.0
ऊनाइट	1,000-6,140	2,020.8-2,500.8
मैग्नीशियमी चूना-पत्थर	3,090-6,577	2,115.2-2,326.4
रावेनी चूना-पत्थर	8,960	2,528.0
बनुमा-पत्थर	5,889-9,577	2,217.6-2,528.0
ग्रेनाइट	10,660-13,420	2,536.0-2,587.2

800 से 1,000° तक गर्म करने पर कार्बन-डाइ-ऑक्साइड विमुक्त करता है और बिना दृष्टे चूने में परिवर्तित हो जाता है। अति उच्च ताप पर यह तापदीप्त हो जाता है और तीव्र श्वेत प्रकाश के साथ चमकता है। चूने की विविष्ट प्रकार की प्रकाश दीप्तियाँ इसी गुण पर आधारित हैं। कैल्सियम की उच्च मात्रा युक्त चूना-पत्थर के निस्तापन पर समृद्ध या उत्तम चूना (विजातीय पदार्थ, >5%) और अशुद्ध चूना-पत्थर से निम्न या हल्का चूना (विजातीय पदार्थ, 10 से 30%) प्राप्त होता है। बिना बुझा चूना पानी में फूलता है, उसमें से ऊष्मा निकलती है और वह खण्डित होकर श्वेत-चूर्ण में बिखर जाता है जिसे सामान्यतः बुझा हुआ चूना $[Ca(OH)_2]$ कहते हैं। जिन चूना-पत्थरों में मूणमय पदार्थ होता है वे जल कठोर चूना उत्पन्न करते हैं अर्थात् वे जल के साथ जम जाते हैं या कठोर हो जाते हैं, जिन चूना-पत्थरों में 15 से 30% मूणमय पदार्थ रहता है। वे अत्यन्त जल कठोर चूना उत्पन्न करते हैं पर 5 से 10% मूणमय पदार्थ वाले चूना-पत्थरों से क्षीण जल कठोर चूना प्राप्त होता है।

मिट्टी के अतिरिक्त चूना-पत्थर में बालू, स्फटिक तथा फिल्ट के रूप में तथा संयुक्त अवस्था में फेल्सपार, अश्रक, टैल्क और सर्पेन्टीन के रूप में सिलिकामय पदार्थ विद्यमान हो सकता है। चूना-पत्थर में सिलिका की अल्प मात्रा के होने पर उसके चूना उत्पादन की उपयोगिता में कोई अन्तर नहीं पड़ता किन्तु 5% या अधिक मात्रा होने पर सिलिका, कैल्सियम ऑक्साइड के साथ अभिक्रिया करके संगलित सिलिकेट उत्पन्न करता है। धातुकर्मों और रासायनिक कार्यों के काम में आने वाले चूना-पत्थर में ऐलुमिना 5% से और सिलिका 3% से कम होना चाहिए।

चूने में लोह, सोडियम और पोटैशियम यौगिकों की उपस्थिति से विभिन्न अनुप्रयोगों में उसकी उपयोगिता पर शायद ही प्रभाव पड़ता है, किन्तु गंधक और फॉस्फोरस यौगिकों की उपस्थिति आपत्तिजनक है। लोह और इस्पात निर्माण में प्रयुक्त गालक चूना-पत्थर में गंधक 0.05% से तथा फॉस्फोरस 0.02% से अधिक नहीं होना चाहिए। सारणी 3 में भारत के विभिन्न क्षेत्रों के कुछ महत्वपूर्ण चूना-पत्थरों का विश्लेषण दिया गया है।

भारत में विध्य समुदाय के चूना-पत्थर में (कुरनूल, भीमा, पलनाड और सुलाबाई, जो सभी उच्च पुराने शैल-संघ के माने जाते हैं) 70-95% $CaCO_3$ और 1-3% $MgCO_3$ तथा अत्यल्प मात्रा में लोह उपस्थित रहता है (सारणी 4)। ऐलुमिना और सिलिका सामान्यतः अविलेय पदार्थों के रूप में रहते हैं, सीमेंट निर्माण में इनका व्यापक प्रयोग होता है। कडप्पा के चूना-पत्थर अधिक मैग्नीशियम युक्त हैं अतः सीमेंट निर्माण के लिए अनुपयुक्त हैं। आद्य चूना-पत्थरों के गुण विध्य चूना-पत्थरों के गुणों के ही समान हैं।

वितरण

चूना-पत्थर के खुदाई योग्य निक्षेप भारत में व्यापक रूप से पाये जाते हैं। इनकी उपस्थिति का वर्णन चार वर्गों में किया जा सकता है: (1) उत्तरी (हिमालयी); (2) केन्द्रीय (विध्य); (3) दक्षिणी-केन्द्रीय (मुख्यतः कडप्पा); तथा (4) नितात दक्षिणी (आद्यपूर्व-कैम्ब्रियन और क्रिटेशस)।

उत्तरी (हिमालयी) वर्ग के अंतर्गत कैम्ब्रियन-पूर्व से तृतीय-महाकल्प तक के विभिन्न युगों के निक्षेप सम्मिलित हैं। ये असम से पंजाब तक फैले हुए हैं। ये निक्षेप अपेक्षाकृत नये हैं यद्यपि उनके अंतर्गत प्राचीन क्रिस्टलीय संगमरमर के क्रोड़ भी सम्मिलित हैं। ये भण्डार

सारणी 3 - भारतीय चूना-पत्थरों का संघटन*

	कैल्साइट	चाकमय चूना-पत्थर (अरियालूर)	संगमरमर (मकरानी)	प्रवालमय चूना-पत्थर (सीराष्ट्र)	मिलियोलाइट चूना-पत्थर (पोरबन्दर)	टुफा (चूना खान)	शैल (कोटद्वयम)	पलैस चूना-पत्थर (बोरमित्रपुर)
CaO	55.60	54.42	55.1	52.95	54.50	54.16	55.40	50.55
ज्वलन पर हानि	..	41.70	..	45.25	42.80	..	44.10	41.43
SiO ₂	..	2.09†	0.98	0.24†	1.51†	1.20	0.03†	3.36
Fe ₂ O ₃	..	0.43	2.28	0.06	0.22	..	0.07	0.91
Al ₂ O ₃	शून्य	0.55	..	0.12	0.53	0.40	0.19	0.64
MgO	..	0.28	0.58	0.26	0.83	0.87	0.03	2.09
P ₂ O ₅	रंज	0.32	..	<0.01	0.06	..	0.03	..
S	..	0.47	..	0.18	0.07	..	0.05	..

* Bijawat, *Chem. Age, India*, 1957, 8, 176.

† अम्ल अविलेय सम्मिलित.

सारणी 4 - भिन्न स्तरविन्यासी क्रमों के चूना-पत्थरों का विश्लेषण

	CaCO ₃ (%)	MgCO ₃ (%)
विध्य		
मुलेबाई	86.4-88.2	0.50-1.01
भीमा	84.8-88.0	0.50-1.70
रोहतास	84.0	< 3
पलनाड	81.0-85.6	0.97-1.05
टकारिया (म. प्र.)	96.16	1.51
कैलारस (म. प्र.)	84.18	0.82
शाहाबाद (बिहार)	82.94	3.89
कडप्पा		
वेनपल्ले	49.58-50.90	29.97-38.45
पाखल (संगमरमर)	55.6-58.2	26.20-39.14
पाखल (धूसर)	75.8	21.6
पाखल (पीला)	78.1	21.2
पाखल (श्वेत)	96.7	2.5
ग्राछ		
खलारी (बिहार)	78.54	5.85
बोरमित्रपुर (उड़ीसा)	90.22	4.37
लंजी बेरला (उड़ीसा)	89.15	4.31

विशाल हैं, किन्तु अधिक ऊँचाई पर स्थित होने के कारण अभी इन्हें उपयोग में नहीं लाया जा रहा है।

केन्द्रीय (विध्य) वर्ग के अन्तर्गत सर्वाधिक मूल्यवान् आर्थिक निक्षेप हैं। डेहरी-आन-सोन (बिहार) से रोहतास (उ.प्र.) होते हुये रीवा (मध्य प्रदेश) तक लगभग 160 किमी. के विस्तार में इसके स्थूल और प्रायः अविच्छिन्न निक्षेप हैं। बहुत से निक्षेपों के चूना-पत्थर सिलिका से भरपूर हैं अतः धातु-कर्मी प्रयोजनों के लिये अनुपयुक्त हैं किन्तु वे सीमेंट निर्माण के लिए अधिक उपयोगी हैं। पूर्वी क्षेत्र में विध्य-वर्ग के दक्षिण में, उड़ीसा में, कैम्ब्रियन-पूर्व युग के महत्वपूर्ण निक्षेप मिलते हैं।

दक्षिणी केन्द्रीय (कडप्पा) वर्ग के निक्षेप, विच्छिन्न रूप से, पश्चिम की ओर प्रायद्वीप के आर-पार पूर्वी तट से पश्चिमी घाटों तक चले

गये हैं। ये चूना-पत्थर सीमेंट निर्माण के लिए उपयुक्त हैं। दक्षिण प्रायद्वीप के केन्द्रीय भाग के कुछ निक्षेप आर्थिक महत्व के हैं।

कैम्ब्रियन-पूर्व तथा क्रिटेशस काल के चूना-पत्थर तमिलनाडु में और निकटस्थ क्षेत्र में व्यापक रूप से विद्यमान हैं; कुछ निक्षेप अत्यन्त उच्च कोटि के हैं।

असम

6-210 मी. तक मोटे नुमुलाइटी चूना-पत्थर विच्छिन्न पट्टियों के रूप में गारो, खासी, जयन्तिया और भिकिर पहाड़ियों के दक्षिणी भाग के समान्तर मिलते हैं। शिलांग पठार में यह चूना-पत्थर जयन्तिया श्रेणी के सुविख्यात सिलहट चूना-पत्थर अवस्था का है और यह कोयला के संस्तरों के ऊपर स्थित है। यह सीमेंट और गालक कोटि का है। खासी पहाड़ियों के चूना-पत्थर में 53.86-54.28% और गारो पहाड़ियों में 50.30% कैल्सियम ऑक्साइड रहता है। चूना-पत्थर चेरापूँजी और उत्तर कछार पहाड़ियों में भी मिलता है [Dutt, *Indian Min. J.*, 1957, 5 (10), 32; Bijawat, *Chem. Age, India*, 1957, 8, 176].

गारो पहाड़ियों में 15-90 मी. मोटाई के चूना-पत्थर के प्रमुख अनावरण तुरा श्रेणी के दक्षिणी भाग में मिलते हैं। इन निक्षेपों का विस्तृत अन्वेषण अपेक्षित है। खासी पहाड़ी क्षेत्र में चूना-पत्थर लामगाँव (25°10' : 91°51') से पश्चिम की दिशा में धेरियाघाट से होते हुये शीला नदी तक मिलता है। इस क्षेत्र के चूना-पत्थर की सम्पूर्ण मोटाई 300 मी. से अधिक है। धेरियाघाट और शीला नदी के बीच के भंडारों में उच्च श्रेणी का एक अरब टन चूना-पत्थर कूता गया है। धेरियाघाट चूना-पत्थर में CaO, 54.28; और SiO₂, 0.57% है। चूना-पत्थर, शीला नदी के पश्चिम, नावस्वेरम और लुमग्रिम (25°11' : 91°07') क्षेत्रों में भी मिलता है। खासी-जयन्तिया पहाड़ी जिले के जोवाई प्रतिभाग में अच्छी किस्म का चूना-पत्थर (CaO, 51; MgO, 1; अविलेय, 3%) लुमशांग (92°23' : 25°10'), गर्म पानी (92°37' : 25°31'), नाक्ली (92°32' : 25°20'), सिडाई (92°9' : 25°11') तथा कुछ अन्य स्थानों में पाये जाने की सूचना है। इस प्रभाग के भंडार लगभग 250 लाख टन अनुमाने गये हैं। अच्छी किस्म का चूना-पत्थर भिकिर पहाड़ियों के उत्तरी भाग में नौगाँव और सिवसागर जिलों की सीमा पर 25°45'

और 26°5' अक्षांश तथा 93°10' और 93°40' देशांतर के बीच मिलता है। इस क्षेत्र के भंडार 1,540 लाख टन सूचित किये गये हैं [Nath, *Indian Miner.*, 1959, 13, 310; Bijawat, *Chem. Age, India*, 1957, 8, 176; Dutt, *Indian Min. J.*, 1957, 5 (10), 32].

आंध्र प्रदेश

कडप्पा और कुरनूल जिले — निम्न कडप्पा युग का बेमपल्ले चूना-पत्थर 1.6 से 6.4 किमी. चौड़े एक वृहत् चाप में कडप्पा और कुरनूल जिलों से होकर लगभग 280 किमी. तक मिलता है। यह कडप्पा नगर के निकट से बेमपल्ले, पुलीवेडला और परनापल्ले में से होकर कुरनूल में विटमचेरला के समीप के स्थानों तक चला गया है। इसका वृहत्-सा चूना-पत्थर डोलोमाइट है। नारजी चूना-पत्थर सीधा उत्तर-पश्चिम दिशा में कडप्पा के निकटवर्ती स्थान से दोनों जिलों के आरपार, वांगनपल्ले होता हुआ तुंगभद्रा नदी और उसके पार तक मिलता है।

सीमेंट कोटि के चूना-पत्थर के भंडार वास्तव में असीमित हैं; कडप्पा जिले के कमालपुरम तालुके में 6,400 लाख टन, जमालामडुगु तालुके (कडप्पा जिला) में 30,000 लाख टन, कोइलकंटला में 50,000 लाख टन, बंगनापल्ले में 6,600 लाख टन, डोने में 4,500 लाख टन, कुरनूल में 12,500 लाख टन और नंदीकोटकुर तालुके (कुरनूल जिले) में 7,700 लाख टन के भंडारों का अनुमान किया गया है। नारजी-पत्थर के उत्तर-कालीन अन्य चूना-पत्थर भी इन क्षेत्रों में मिलते हैं (Coggin Brown & Dey, 331)

स्थूल, उत्कृष्ट कैल्सियम चूना-पत्थर जो सीमेंट निर्माण और कुछ अवस्थाओं में रासायनिक उद्योग के लिए भी उपयुक्त हैं, कुरनूल नगर के दक्षिण-पूर्व, नंघाल के निकट पनियाम, बेटम चेरला तथा अन्य स्थानों में मिलते हैं। बढ़िया किस्म का मुद्रण-चूना-पत्थर कुरनूल में तुंगभद्रा घाटी में और नंघाल तालुके में मिलता है। टूफामय चूना-पत्थर के वृहत् निक्षेप कुरनूल जिले में नन्दावरम के निकट, पालकुर और द्रोणाचलम में मिलते हैं। कंकर निक्षेप दूर-दूर तक फैले हुए हैं और जगह-जगह पर स्थानीय उपयोग के लिए निकाले जाते हैं (Krishnan, *Mem. geol. Surv. India*, 1951, 80, 178).

कृष्णा और गुंटूर जिले — चूना-पत्थर के निक्षेप व्यापक रूप से कृष्णा नदी के दोनों किनारों पर गुंटूर के पालनाड क्षेत्र में और कृष्णा जिले के जगयापेट-मुट्टाला क्षेत्र में मिलते हैं। कृष्णा नदी अमरावती और वरापिल्ली के बीच मुख्यतः चूना-पत्थर में से होकर बहती है। निक्षेपों के अंतर्गत हल्के से गहरे धूसर रंग की पट्टियाँ और विभिन्न रंगों के इमारती और सजावटी पत्थर आते हैं। हरे रंग का चूना-पत्थर पुलीविन्ता के निकट, नदी के दक्षिण तट पर पाया जाता है। यह निक्षेप कुचिल्लाबोड तक चला गया है जहाँ यह पट्टियाँ के रूप में मिलता है। जगयापेट के निकट सीमेंट कोटि के चूना-पत्थर के भंडार 2,690 लाख टन कृते गये हैं। पिडुगुरल्ला के निकट (गुंटूर-मचेरला शाखा रेलवे पर) भी बड़े-बड़े निक्षेप पाये जाते हैं। मुद्रण-चूना-पत्थर जगयापेट क्षेत्र में कोडपिल्ली (16°37' : 80°33') और वेटावोली (16°53' 30" : 80°6') के निकट तथा कृष्णा नदी पर चितापल्ले (16°42' : 80°9') के निकट भी मिलता है।

संहत, अल्प क्रिस्टलीय, सूक्ष्म-कणीय चितकवरे रंग के संगमरमर के समान चूना-पत्थर के वृहत् निक्षेप पालनाड क्षेत्र में नदीकुडी, रेंटि-चितला, डाचेपल्ली, केसनापल्ली, उहालूर, सीतारामपुरम और मछेरला के उपतालुके में मिलते हैं। मछेरला उपतालुके के दो निक्षेपों के ही भंडार 1,240 लाख टन अनुमाने गए हैं। उत्कृष्ट मुद्रण-चूना-पत्थर डाचेपल्ली के निकट भी प्राप्त होता है। गुंटूर जिले में, विशेषतया

कपास की काली मिट्टी के क्षेत्रों में कंकड़ व्यापक रूप से पाया जाता है (Krishnan, *Mem. geol. Surv. India*, 1951, 80, 176; *Indian Ceram.*, 1956-57, 3, 372; Bijawat & Sastry, 60).

अन्य जिले — बेमपल्ली और जमालामडुगु के चूना-पत्थर अनन्तपुर जिले के ताडपत्री और गूटी तालुकों में मिलते हैं। ताडपत्री तालुके में उच्च कोटि का चूना-पत्थर रायलाचेरुवु रेलवे स्टेशन से 16 किमी. दूर कोना रामेश्वरस्वामी मंदिर के उत्तर और पूरव में पहाड़ी कगार के नीचे मिलता है। चेयर वगैरे के कैल्सीय शैल और अन्तर्विष्ट चूना-पत्थरों से कंकड़ और टूफा निर्मित हुए हैं जिनमें चूना, 38.85% और मैग्नीशिया, 8.46% हैं (Bijawat & Sastry, 55-56; Coggin Brown & Dey, 332).

कुरनूल चूना-पत्थर तथा कडप्पा समूह के अधःस्थ चूना-पत्थर कुरनूल जिले से रायचूर जिले के आलमपुर तालुक तक विस्तृत हैं; जहाँ से वे कृष्णा नदी के उत्तर तट के सहारे 240 किमी. तक चले गये हैं। कडप्पा चूना-पत्थर पूरव की ओर फैले हुए हैं। चूना-पत्थर नालगोंडा जिले के वजीराबाद-मेडलाचेरुवु क्षेत्र में भी मिलता है (Coggin Brown & Dey, 332).

चूना-पत्थर भूतपूर्व हैदराबाद रियासत के आसिफाबाद और करीम नगर जिलों में भी प्राप्त होता है। आसिफाबाद जिले में मांकीगुडम पर, राली वन तथा सिरपुर तालुके में ऐम्पल्ली ग्राम के निकट निक्षेप मिले हैं। इस क्षेत्र से उत्पन्न चूना कागज-मिलों में दाहकीकरण के लिए तथा अन्य कामों में भी काम में लाया जाता है। करीम नगर जिले में उत्कृष्ट कोटि का चूना-पत्थर नरेला और पुटनूर में मिलता है। भीमा चूना-पत्थर हैदराबाद नगर के पश्चिम में भीमा और कांगा नदी की घाटियों में डेकन ट्रेप के नीचे खुलते हैं। भीमा श्रेणी का चूना-पत्थर रासायनिक और इमारती चूने का महत्वपूर्ण स्रोत है; विश्लेषण करने पर CaO, 48.2-50.0; CO₂, 37.64-37.68; SiO₂ और अम्ल अविलेय पदार्थ, 10.30-10.47; ज्वलन पर हानि, 38.85-39.05; 900° पर प्राप्य चूना 62.54-68.89% है (Bijawat & Sastry, 50, 54).

चूना-पत्थर अदोलाबाद, विशाखापटनम, जैपुर में और पूरव तथा पश्चिम गोदावरी जिलों में भी मिलता है।

उड़ीसा

सुन्दरगढ़ जिले में गालक कोटि की चूना-पत्थर पट्टियाँ वीरमित्रपुर के निकट (22°24' : 84°44') मिलती हैं। पट्टियाँ 6.4 किमी. लम्बे और 210-240 मी. चौड़े क्षेत्र में निचले मैदानों और पहाड़ियों के समूह में फैली हुई हैं, आद्ययुग के निक्षेप अन्य कैल्सियमी और फाइलाइट शैलों से सम्बद्ध हैं। वीरमित्रपुर क्षेत्र की पहाड़ियों में 30 मी. की ऊँचाई तक और 30 मी. नीचे तक 2,746 लाख टन का भंडार है जिसका लगभग 10% धातु-कमीय कोटि का चूना-पत्थर है।

खत्मा नाला घाटी में अच्छे किस्म के चूना-पत्थर की एक पट्टी हाथीवारी (22°24' : 84°51') से लगभग 1.6 किमी. पश्चिम से देव नदी तक चली गयी है। पट्टी गतीतांगर (22°24' : 84°54') के पूर्व की ओर काफ़ी चौड़ी हो गयी है। हाथीवारी क्षेत्र में बाजनाथपुर (22°24' : 85°57') के उत्तर की ओर पहाड़ी में 30 मी. की गहराई तक कम-से-कम 15 लाख टन गालक कोटि का चूना-पत्थर है। पूर्णपानी (22°25' : 84°52') क्षेत्र की पट्टी के उत्तरी भाग में अच्छी किस्म का चूना-पत्थर मिलता है; गालक कोटि का चूना-पत्थर भंडार 30 मी. की गहराई तक 94.8 लाख टन आँका गया है। गतीतांगर क्षेत्र में अनावरित चूना-पत्थर टीकमटोली (22°25' : 84°54') के दक्षिण की ओर किजुरतोली (22°24' : 84°54') के

उत्तर और पूर्व में एक विशाल क्षेत्र में पाए जाते हैं। 30 मी. की गहराई तक आकलित इन खनन योग्य निक्षेपों में गालक और सीमेंट कोटि का खनिज 30.4 लाख टन और गालक चूना-पत्थर के साथ मिश्रणों में काम आने वाला पदार्थ 24.7 लाख टन होगा। लांजीवेरना (22° 15' : 84° 30') में निक्षेप के दक्षिणी और उत्तरी भागों में 30 मी. की गहराई तक लगभग 160 लाख टन सीमेंट और गालक कोटि का पदार्थ प्राप्त होता है। उत्तरी भाग में गालक कोटि के चूना-पत्थर के भंडार 40 लाख टन कूते गये हैं। केन्द्रीय भाग इतना अधिक लाभकर नहीं है। लुघकुटोली (22° 15' : 84° 25') में चूना-पत्थर बहुधा जलोढक के नीचे मिलता है और 18 मी. की गहराई तक लगभग 20 लाख टन अच्छा पदार्थ उपलब्ध है। सीमेंट कोटि का चूना-पत्थर खतकुरवहल (22° 17' : 84° 29') और आमघाट (22° 15' : 84° 37') के पास मिलता है। गालक श्रेणी और सम्भवतः सीमेंट कोटि का चूना-पत्थर कटंग (22° 14' : 84° 29') से लगभग 800 किमी. उत्तर में मिलता है। चूना-पत्थर दुवलावेरा, सारोमोहन, कंडईमुंडा, कुकुरभुका, उत्तरा, वारपाली और अन्य स्थानों में भी मिलता है (Narayanaswamy et al., *Bull. geol. Surv. India, Ser. A*, No. 12, 1957; Nath, *Indian Miner.*, 1959, 13, 301).

संभलपुर जिले में रंगीन चूना-पत्थर के विस्तृत निक्षेप अंतर्विष्ट शैल के संयोजन में डूंगरी (21° 42' : 83° 34'), सौतमाल (21° 41' : 83° 33'), वदमल (21° 40' : 83° 33'), वेहेरा (21° 39' : 83° 32'), कुसुन्दा (21° 37' : 83° 30') और बंजीपाली (21° 38' : 83° 30') के चारों ओर 20.5 वर्ग किमी. के क्षेत्रफल में मिलते हैं। इस क्षेत्र में सैकड़ों लाख टन भंडार होने का अनुमान है। डूंगरी, वदमल, और बंजीपाली की विशिष्ट चूना-पत्थर पट्टियों में 48% से अधिक CaO है। 50 लाख टन डोलोमाइट चूना-पत्थर, जिसका कदाचित् एक तिहाई अच्छी किस्म का है, सुलई (21° 58' : 84° 06') के उत्तर में मिलता है। शैल के साथ चूना-पत्थर पदमपुर, लखनपुर और पुटका के निकट भी मिलता है (Economic Geology of Orissa, 85).

कोरापुट जिले में गालक कोटि का चूना-पत्थर सवराई नदी के निकट कोट्टामेट्टा (18° 20' : 81° 42') से लगभग 5 किमी. पश्चिम में मिलता है। यह निक्षेप नदी तट के समान्तर लगभग 1.6 किमी. तक विस्तृत है और इसमें 53.36% CaO है। मृण्मय चूना-पत्थर नंदीवदा (18° 19' : 81° 40') के दक्षिण और कोलाव नदी के समान्तर सिरीवदा (18° 50' : 82° 10') और गुप्तेश्वर (18° 49' : 82° 10') के निकट मिलता है। स्टैलैक्टाइट और स्टैलैग्माइट गुप्तेश्वर मंदिर की गुफा में पाये जाते हैं। चूना-पत्थर और संगमरमर के निक्षेप भी नंदीवदा के चारों ओर मिलते हैं। 4.5 मी. की गहराई तक 150 लाख टन भंडार होने का अनुमान है (Economic Geology of Orissa, 83-84).

उम्पावल्ली और टुंभीगुडा के बीच 25.6 वर्ग किमी. के क्षेत्र में सीमेंट और रासायनिक कोटि के चूना-पत्थर मिलने की सूचना है। उच्च कोटि के पदार्थ के भंडार 9 मी. की गहराई तक 400 लाख टन होंगे।

उत्तर प्रदेश

रोहतास चूना-पत्थर की एक पट्टी सोन नदी के बायें तट के समान्तर कैमूर कनार के निचले ढालों में पूरे मिर्जापुर जिले में पूरव से पश्चिम तक 128 किमी. तक गई है। कैल्साइट चूना-पत्थर निक्षेप कुसंडंड (24° 9' : 82° 54') के निकट पाये गये हैं। दृश्यांश लगभग 450 मी. चौड़ा है और 3.2 किमी. तक चला गया है। सीमेंट वर्ग का चूना-पत्थर भकरीवाड़ी

(24° 35' : 83° 8'), रुदौली (24° 34' : 83° 8'), पतौध (24° 32' : 83° 5'), काँच (24° 22' : 83° 6'), मारकुंडी (24° 26' : 83° 5') में कंधौरा-महोना क्षेत्र में और महोना और बसुहारी (24° 32' : 83° 30') के बीच पाया जाता है। अनेक बृहत् अनावरण सुसनई के उत्तर और धीरिया के पश्चिम में पाये जाते हैं। मैग्नीशिया से युक्त उत्कृष्ट चूना-पत्थर घाघरा नदी में और कंच-कंधौरा क्षेत्र में मिलता है। कजराहट समुदाय के चूना-पत्थर की बड़ी मात्राएँ पूर्व से पश्चिम लगभग 24 किमी. के विस्तार में रिहंड नदी से हादी (24° 28' : 83° 13') तक मिलती हैं; सर्वाधिक महत्वपूर्ण दृश्यांश कोटा (24° 27' : 83° 8') में, कनहन और सोन नदी के संगम के निकट मिलते हैं, जहाँ पर बहुल-सी छोटी-छोटी पहाड़ियाँ उच्च कोटि के चूना-पत्थर (CaO, 53; SiO₂, <3; MgO, <1%) से बनी हुई पाई जाती हैं [Nath, *Indian Miner.*, 1959, 13, 310; Nath, *Bull. geol. Surv. India, Ser. A*, No. 2, 1951, 1; Mathur, *Rec. geol. Surv. India*, 1958, 88 (1), 84; Narayana Rao, *Mineral Wealth of Uttar Pradesh*, 1956, 6].

कैल्साइट और क्रिस्टलीय चूना-पत्थर के निक्षेप वेलवादा (24° 12' : 82° 56') के लगभग 5 किमी. दक्षिण में मिलते हैं। इस क्षेत्र में 7.5 मी. की गहराई तक कैल्साइट के 360 हजार टन और क्रिस्टलीय चूना-पत्थर के 28 लाख टन भंडारों का अनुमान है (Mehta, *Bull. geol. Surv. India, Ser. A*, No. 2, 1951, 43).

सीमेंट कोटि के चूना-पत्थर के विस्तृत निक्षेप काल्सी, देहरादून, मसूरी और लक्ष्मण झूला क्षेत्रों में मिलते हैं। एक ऐसा निक्षेप, जिसमें लाखों टन खनन योग्य सिलिकामय चूना-पत्थर होगा, काल्सी के निकट मंदारसू (30° 30' : 77° 55') में मिलता है; कुछ पट्टियाँ प्लवन के बाद लाभकर हो सकती हैं।

उच्चतर कोल चूना-पत्थर के 78-300 मी. मोटे संस्तर देहरादून, मसूरी क्षेत्र में सिसौली (30° 23' : 78° 8') से क्लाउड एंड (30° 28' : 78° 0') तक 17.6 किमी. की दूरी तक सभी जगह पाये जाते हैं। धूसर या नीले धूसर रंग के मुख्य चूना-पत्थर में CaO 50 से 55% तथा मैग्नीशिया अत्यल्प से 4% से कुछ अधिक रहता है। खुदाई योग्य भंडारों का अनुमान 4,040 लाख टन है जिसमें औसत दर्जे का माल (CaO, 45.77; MgO, 4.95%), 2,545 लाख टन; रासायनिक कोटि का चूना-पत्थर (CaO, 50-55%), 1,430 लाख टन; और उच्च श्रेणी का पत्थर (CaO, >55%), 65 लाख टन होगा (Mehta et al., *Bull. geol. Surv. India*, No. 16, 1959, 20).

सीमेंट कोटि के चूना-पत्थर की एक पट्टी घोरापिट्टी पहाड़ियों में और दोईवाला के निकट वारकोट से कुटिया कटक के पूर्वी स्कंध तक के क्षेत्र में मिलती है। घोरापिट्टी पहाड़ियों में 120 लाख टन और वारकोट-कुटिया कटक में 380 लाख टन निक्षेप आँके गये हैं।

देहरी-गढ़वाल जिले में सीमेंट कोटि का चूना-पत्थर उच्च स्थानों पर क्वानु विश्रामगृह के निकट चकराता और नागिनी के दक्षिण और पश्चिम में मिलता है; कैल्साइट संगमरमर, खच्चर-पथ पर नरेंद्रनगर से देहरी तक मिलता है [Auden, *Indian Miner.*, 1948, 2, 83; Coggin Brown & Dey, 334; Auden, *Rec. geol. Surv. India*, 1954, 79 (2), 437; Nautiyal, *ibid.*, 1953, 84 (1), 98].

गढ़वाल जिले में सिलिकामय चूना पट्टियाँ नीलकंठ, पुंडरस, टोली, भादसी और मणिकोट के निकट मिलती हैं; इस क्षेत्र के सम्पूर्ण भंडार 280 लाख टन होंगे। कैल्क टुफा के विस्तृत निक्षेप नैनीताल के निकट चूना खान (29° 19' : 79° 15') के निकट मिलते हैं [Prakash & Zuberi, *Preliminary Rep. on the Limestone Deposits*

near Nilkant (Garhwal Dist.), Directorate of Geology & Mining, U.P., 1957; Auden, *Rec. geol. Surv. India*, 1955, 79 (2), 550].

हरिद्वार जिले में उच्च-ताल चूना-पत्थर के दृश्यांश लक्ष्मण झूला के ऊपर और गंगा नदी के समान्तर 30°4' : 78°30' के निकट पाये जाते हैं।

गोमती, घाघरा और सई नदियों की घाटियों में वृहत् मात्रा में माल प्राप्त पाया जाता है [Puri, *Quart. J. geol. Soc. India*, 1948, 20 (2), 45].

केरल

केरल प्रदेश में उच्च श्रेणी के चूने के सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्रोत घोंघे (CaO, 54.5-55.4%) हैं। वे वेम्बुनाड झील क्षेत्र में कोट्टयम और ऐलेप्पी के बीच पाये जाते हैं। 20 लाख टन भंडार का अनुमान है (Bijawat & Sastry, 67; Macedo, 49).

गुजरात

क्रिस्टलीय चूना-पत्थर वनासकांठा जिले में खुनिया (24°22'30" : 72°41'), पसुवल (24°28' : 72°22'), दिवानिया (24°22' : 72°41') और कारमुडी (24°22' : 72°46') स्थानों में पर्याप्त मात्रा में मिलता है। पसुवल और दिवानिया में 30 मी. की गहराई तक 80 से 90 लाख टन का भंडार आँका गया है। यह चूना-पत्थर सीमेंट, रासायनिक और धातु-कर्मिय उद्योगों में प्रयोग के लिए उपयुक्त है (Roy, *Indian Miner.*, 1956, 10, 103).

परिवर्तनशील संघटन वाले स्थूल चूना-पत्थर के वृहत् निक्षेप भड़ौच जिले में वानजी (21°54' : 73°48'), गोरा (21°52' : 73°41'), भिलोद (21°36' : 73°12'), भारत (21°30' : 73°2') के निकट तथा अनेक दूसरे स्थानों में पाये जाते हैं। खेरा जिले में बाल-सिनार (22°58' : 73°20') के निकट चूना-पत्थर की एक 25.5 किमी. लम्बी और 3.2 किमी. चौड़ी पट्टी है जिसमें 8,000 लाख टन भंडार का अनुमान है; इसमें से लगभग 2,000 लाख टन चूना-पत्थर सीमेंट के लिए उपयुक्त है।

चूना-पत्थर बड़ीदा, साबरकण्ठ, डांग और सूरत जिलों में भी मिलता है।

समुद्री कैल्सीय शैल रचनाएँ काठियावाड़ तट के समान्तर द्वारिका से दक्षिण में बेरावल और उत्तर में मालिया तक पाई जाती हैं। सबसे प्रसिद्ध निक्षेप पोरबन्दर जिले में रानावाओं के पास है। यह चूना-पत्थर (CaCO₃, लगभग 96%) मुख्यतः फोरेमिनिफेरा की बीज-कवक से बना है जो कैल्साइट द्वारा जुड़ा है। यह आदितानिया (21°43' : 69°44'), भारवाड़ा और वखारला में भवन-निर्माण, रासायनिक और सीमेंट उद्योगों में उपयोग के लिए खोदा जाता है। मिलिशोलाइट चूना-पत्थर के सुविस्तृत निक्षेप गोण्डल जिले में विद्यमान हैं और जार, पाटनवाओ, जिनजुदा, उपलेटा और पनेली में इनकी खुदाई की जाती है। खरपोड़ा, धंगध्रा, अहमदाबाद और अन्य स्थानों में रासायनिक कारखानों में छोटे-छोटे टुकड़े प्रयुक्त होते हैं।

अमरेली जिले में उत्कृष्ट मिलिशोलाइट कैल्सियम चूना-पत्थर कोडीनार और ओखामंडल के तटवर्ती क्षेत्र में मिलता है। कोडीनार क्षेत्र में अदीवी, डोलासा और हरमारिया के चूना-पत्थर में औसतन 93% कैल्सियम कार्बोनेट रहता है। प्रवालमय निक्षेप ओखामंडल की तटवर्ती सीमा के समान्तर पाये जाते हैं। वे 'टाटा केमिकल्स लिमिटेड' मीठापुर द्वारा काम में लाये जाते हैं।

जूनागढ़ जिले में मिलिशोलाइट चूना-पत्थर बेरावल (20°54' : 70°25'), पाटन (20°53' : 70°27'), गोरखमुदी (20°54' : 20° : 70°34'40"), प्राची (20°55'20" : 70°39') तथा अन्य अनेक स्थानों में मिलता है। गोरखमुदी का निक्षेप लगभग 1.6 किमी. लम्बा और 400 मी. चौड़ा है। रासायनिक प्रयोजनों के लिए उपयुक्त विशुद्ध चूना-पत्थर (CaCO₃, 96-97%) बेरावल के तटवर्ती क्षेत्र में पाया जाता है (Roy, 1953, 162).

गोहिलवाड़ जिले में सीमेंट किस्म के मिलिशोलाइट चूना-पत्थर के विस्तृत निक्षेप जाफराबाद (20°52' : 71°22') के निकट बाबरकोट (20°52' : 71°24'), भकोदर (20°54' : 72°27') और वन्द (20°54' : 71°25') की सीमा में जाफराबाद के पूर्व और जाफराबाद और बालाना (20°51' : 71°17') के बीच दक्षिण-पश्चिम में मिलते हैं। दोनों क्षेत्रों में सम्पूर्ण मात्रा 640 लाख टन होगी।

भूतपूर्व नवानगर रियासत में मिलिशोलाइट चूना-पत्थर कई स्थानों में मिलता है। गोप क्षेत्र का चूना-पत्थर 'दिग्विजय सीमेंट वर्क्स लिमिटेड, सिका' द्वारा सीमेंट बनाने के काम में लाया जाता है। भूतपूर्व भावनगर, मोर्वी और लिम्बडी रियासतों में भी इसके पाये जाने की सूचना है।

पश्चिमी कच्छ में लगभग 384 वर्ग किमी. (अक्षांश 23°20' - 23°45'), देशांतर (68°32' - 69°0') क्षेत्र तृतीयक चूना-पत्थर के निक्षेपों से भरा है। चूना-पत्थर स्थूल दृश्यांशों के रूप में मिलता है, जिनके संस्तरों की मोटाई 19.5-93 मी. तक है। बहुत-सा खनिज सीमेंट निर्माण के लिए उपयुक्त है। अभी तक इसके भंडारों का अनुमान नहीं लगाया गया है [Poddar, *Rec. geol. Surv. India*, 1958, 88 (1), 121].

जम्मू और कश्मीर

जम्मू और कश्मीर में चूना-पत्थर के वृहत् निक्षेप पाये जाते हैं। कैम्ब्रियन-पूर्व सलखला में क्रिस्टलीय चूना-पत्थर मिलता है जो सामान्यतः डोलोमाइट है। कैम्ब्रियन और आर्डोविशियन में चूना-पत्थर की मसुराकार पट्टियाँ तथा सिलरियन में पीताम्ब अशुद्ध पट्टियाँ पाई जाती हैं। ज़िवान श्रेणी, उच्च टिआस और इओसीन (आदिनूतन) में भी चूना-पत्थर संस्तर मिलते हैं। जम्मू प्रदेश में रियासी क्षेत्र का विशाल चूना-पत्थर अधिकतर डोलोमाइट है।

वितरण, विस्तार और किस्म की दृष्टि से द्विआसिक चूना-पत्थर महत्वपूर्ण है। उनमें से बहुतांश में चूना (CaO) की मात्रा 43-52% और मैग्नीशिया (MgO) की 2% से कम है। अनन्तनाग जिले में बेरीनाग-जमालगाँव-टसेरकर-डोरू-नौपुरा पट्टी में लगभग 340 लाख टन का भंडार प्रमाणित हो चुका है। उसी जिले में अच्छीवल और वावन के निकट तथा बारामूला जिले में बांदीपुर, अजस, गुंड-ई-सुदारकूट, वीरू और सोनामर्ग जोजी-ला के निकट स्थूल निक्षेपों का पता लगा है। बिही घाटी में भी विस्तृत उपस्थिति पायी गयी है [Mehta, *Indian Min. J.*, 1957, 5 (10), 61].

तमिलनाडु

तिरुनेलवेली जिले में क्रिस्टलीय चूना-पत्थर 14 पट्टियों में मिलता है जिनमें से तीन तिरुनेलवेली नगर से 9 किमी. पर रामायनपट्टी (8°45' : 77°41') के निकट हैं। इस जिले के भंडार 4.5 लाख टन अनुमानित हैं जिनमें रामायनपट्टी के भंडार अकेले 2.5 लाख टन हैं (Krishnan, *Mem. geol. Surv. India*, 1951, 80, 191).

रामनाथपुरम और मदुरई जिलों में तीन समृद्ध चूना-पत्थर पट्टियाँ एक दूसरे से 16 किमी. के भीतर पंडालकुडी (9°23' : 78°0'),

पालावनाट्टम ($9^{\circ}33' : 78^{\circ}0'30''$) और चिन्नायापुरम ($9^{\circ}28'30'' : 7^{\circ}54'15''$) में स्थित हैं। इन निक्षेपों में 6 मी. की गहराई तक उत्कृष्ट वर्ग का चूना-पत्थर 21 लाख टन तथा निकृष्ट पदार्थ 42 लाख टन बताया गया है। क्रिस्टलीय चूना-पत्थर की बहुत-सी पट्टियाँ तिरुमल ($9^{\circ}43' : 78^{\circ}3'$) के निकट भी पाई जाती हैं। चूना-पत्थर की दो पट्टियों में जिनमें से एक सुन्नाम्बुर ($9^{\circ}52'30'' : 78^{\circ}17'30''$) तथा दूसरी पुवंडी ($9^{\circ}51' : 78^{\circ}18'$) के निकट हैं, 10 लाख टन अच्छी किस्म का चूना-पत्थर पाया जाता है। चूना-पत्थर निक्षेप सत्तूर और अरूपूकोट्टाई तालुकों में भी मिलता है। इनके भंडार 44 लाख टन कूते गये हैं (Krishnan, *Mem. geol. Surv. India*, 1951, 80, 189; *Res. & Ind.*, 1959, 4, 212)।

प्रवाल चूना-पत्थर रामनाथपुरम और तिरुनेलवेली तट के समान्तर 128-144 किमी. तक मिलता है तथा समुद्र के नीचे कई किमी. तक चला गया है। भंडार की खाड़ी में समुद्र तट से 6.4-8.0 किमी. की दूरी तक 20 से अधिक द्वीप हैं जिनमें से प्रवाल चूना-पत्थर (CaO, 52%) निकाला जाता है। शैलमय चूना-पत्थर का एक निक्षेप रामेश्वरम ($9^{\circ}17' : 79^{\circ}19'$) से लगभग 800 मी. उत्तर में है जिसमें 80 हजार टन का भंडार आँका गया है। रामेश्वरम द्वीप में प्रवाल चूना-पत्थर के भंडार 50 लाख टन कूते गये हैं [Res. & Ind., 1959, 4, 212; Krishnan, *Mem. geol. Surv. India*, 1951, 80, 196; Bijawat & Sastry, 65; *Rec. geol. Surv. India*, 1954, 86 (1), 106]।

तिरुचिरापल्ली जिले में स्थूल चूना-पत्थर के बृहत् निक्षेप लालगुडी और पैराम्बलूर तालुके में पाये जाते हैं। खड़ियामय चूना-पत्थर की ग्रंथिकाएँ कराई ($11^{\circ}8' : 78^{\circ}53'$) के निकट तथा 12.8-15.4 वर्ग किमी. के क्षेत्रफल में अन्य कुछ स्थानों में पायी जाती हैं। शैली चूना-पत्थर गरुडमंगलम ($11^{\circ}5' : 78^{\circ}55'$) और कुछ अन्य स्थानों में मिलता है। अनुमान है कि खड़ियामय चूना-पत्थर और खड़िया मिट्टी के भंडार 3 मी. की गहराई तक 15 लाख टन होंगे। कुलिट्टालाई तालुके की काडादूर जमींदारी में क्रिस्टलीय चूना-पत्थर की तीन प्रमुख पट्टियाँ तारक्काम पट्टी ($10^{\circ}42'30'' : 78^{\circ}14'30''$), अत्लीनगरम ($10^{\circ}45'30'' : 78^{\circ}18'$) और किरानूर ($10^{\circ}47' : 78^{\circ}17'$) के निकट मिलती हैं। इन तीनों पट्टियों में 3 मी. की गहराई तक 544 हजार टन के भंडार कूते गये हैं और इनके आधे से अधिक को उच्च कैल्सियम कोटि का बताया गया है (Krishnan, *Mem. geol. Surv. India*, 1951, 80, 182)।

सलेम जिले में क्रिस्टलीय चूना-पत्थर की 30 पट्टियाँ तिरुचेनगोड और नमक्कल तालुकों में पाई जाती हैं। इनमें से पुदप्पालैयम ($11^{\circ}25' : 77^{\circ}47'30''$)—पुलप्पालैयम ($11^{\circ}27' : 77^{\circ}47'30''$) पट्टी सबसे बड़ी है। इसमें लगभग 176 हजार टन चूना-पत्थर होगा। स्वेत, घूसर और गुलाबी रंग का कैल्साइट तिरुचेनगोड तालुके में शंकरोदुग ($11^{\circ}28'30'' : 77^{\circ}52'$) के निकट मिलता है। अनुमान है, इन तालुकों के सम्पूर्ण भंडार, 3 मी. की गहराई तक 741 हजार टन होंगे (Krishnan, *Mem. geol. Surv. India*, 1951, 80, 184; Bijawat & Sastry, 69)।

कोयम्बतूर जिले में महुक्करई ($10^{\circ}54' : 76^{\circ}57'$) के निकट पहाड़ियों में क्रिस्टली चूना-पत्थर के विस्तृत संस्तर मिलते हैं। दक्षिण अर्काट जिले में शैलमय चूना-पत्थर और मृण्मय स्थूल चूना-पत्थर के संस्तर सैदारमपट्टु ($11^{\circ}59' : 79^{\circ}45'$) के निकट और कुछ अन्य स्थानों में पाये जाते हैं। दक्षिण अर्काट जिले में सम्पूर्ण भंडार 20 लाख टन आकलित किये गये हैं। तंजौर जिले में अलक्कुडी रेलवे स्टेशन ($10^{\circ}47' : 79^{\circ}4'$) के दक्षिण और कुछ अन्य स्थानों में चूना-पत्थर मिलता

है (Krishnan, *Mem. geol. Surv. India*, 1951, 80, 188, 182)।

पंजाब

अम्बाला जिले में चूना-पत्थर के निक्षेप चंडीगढ़ के पूर्व 16 किमी. पर तुंदापाथर ($30^{\circ}45' : 77^{\circ}0'$), खराग ($30^{\circ}43' : 77^{\circ}5'$) तथा रामसारखेला ($30^{\circ}40' : 77^{\circ}5' - 30^{\circ}40'10'' : 77^{\circ}7'$) में मिलते हैं। तुंदापाथर चूना-पत्थर में औसतन 92-93% CaCO_3 है। अनुमान है कि भंडार 250 लाख टन होगा। 'इंडियन ब्यूरो आफ माइन्स' द्वारा अभी हाल में विस्तृत खोजकार्य आरम्भ किया गया है। जूनपुर ($30^{\circ}45' : 77^{\circ}1'$) के निकट एक चूना-पत्थर की लगभग 5 किमी. लम्बी पट्टी मिली है। एक नमूने के विश्लेषण से 53.54% CaO प्राप्त हुआ। दावसू ($30^{\circ}38' : 77^{\circ}9'$) के उत्तर में एक निक्षेप में 90 मी. गहराई तक 17 लाख टन सीमेंट के योग्य चूना-पत्थर पाया गया है। उच्च कोटि का चूना-पत्थर बशारत ($32^{\circ}47' : 73^{\circ}6'$) और छिदरू ($32^{\circ}33' : 71^{\circ}46'$) के निकट भी पाया जाता है। वरुन, मतौर, अम्बरी, सिरमारा, वराच और बौनुलू में इसके भंडार पाये जाते हैं। सूचना है कि लगभग 10 लाख टन संग्रहित चूना मतौर के निकट पाया जाता है [Sahni & Iyengar, *Rec. geol. Surv. India*, 1950, 83(1), 146; Indian Minerals Yearb., 1959, 206; Dey, *J. sci. industr. Res.*, 1946, 5, 18; Dutt, *Rec. geol. Surv. India*, 1953, 84(1), 95]।

अच्छी किस्म का चूना-पत्थर भूतपूर्व पटियाला रियासत में मल्ला ($30^{\circ}46' : 77^{\circ}0'$) के निकट मिलता है। नारनौल ($28^{\circ}3' : 76^{\circ}6'$) में चूना-पत्थर की एक लगातार फ़ैली हुई पट्टी 11 किमी. के विस्तार में धानी बचुंटा ($27^{\circ}59'30'' : 76^{\circ}7'$) और कालिका-नंगल ($27^{\circ}55' : 76^{\circ}7'$) के बीच जलोढक और बाहित वालू के नीचे मिलती है। दश्यांश बम्हनवास ($27^{\circ}52' : 76^{\circ}9'$), बिनहारी ($27^{\circ}51' : 76^{\circ}9'$) और बलियारी के निकट भी विद्यमान है। प्रकाशीय किस्म के कैल्साइट के साधारण बृहत् निक्षेप नारनौल नगर के पश्चिम और उत्तर-पश्चिम की कुछ पहाड़ियों में पाये जाते हैं [Bijawat, *Chem. Age, India*, 1957, 8, 181; Srivastava, *Rec. geol. Surv. India*, 1954, 85(1), 70; Bose, *ibid.*, 1906, 33(1), 59; Chhibber & Singh, *J. sci. industr. Res.*, 1946, 5B, 23]।

पश्चिमी बंगाल

पुरुलिया जिले में अनेक निक्षेप झालदा, हंशापाथर, बाघमुंडी, थालदू और पंचेत पहाड़ी क्षेत्रों में मिलते हैं। झालदा ($85^{\circ}58' : 23^{\circ}22'$) से कुछ किमी. पर कैल्साइट (CaCO_3 , >75%) की एक मोटी पट्टी 3.2-4.8 किमी. के क्षेत्रफल में निक्षेपित है तथा यह सीमेंट बनाने के लिए उपयुक्त है। इस क्षेत्र में इसके बृहत् भंडारों की सूचना है। बाँकुड़ा जिले में क्रिस्टलीय डोलोमाइट चूना-पत्थर के दश्यांश गुनियादा टीला और हरीरामपुर ($23^{\circ}8' : 86^{\circ}45'$) के निकट पाये जाते हैं; हरीरामपुर में प्रति 3 मी. की गहराई तक लगभग 2.5 लाख टन क्रिस्टलीय चूना-पत्थर मिल सकता है। दार्जिलिंग जिले में अच्छी किस्म का चूना-पत्थर तथा कैल्सियमी टूफा भी अनेक स्थानों में पाया जाता है [Bhattacharjee, *Quart. J. geol. Soc. India*, 1958, 30, 243; Banerjee, *Indian Ceram.*, 1958-59, 5, 199; Hunday, *Rec. geol. Surv. India*, 1954, 85 (1), 69;

Chatterjee, *ibid.*, 1958, 88(1), 120; Bijawat, *Chem. Age, India*, 1957, 8, 182].

विहार

भारत में चूना-पत्थर का सबसे अधिक उत्पादन विहार प्रदेश में होता है। इसके सबसे महत्वपूर्ण निक्षेप शाहाबाद जिले में विन्ध्यन शैल समूहों में विद्यमान हैं। ये विहार में लगभग 72 किमी. तथा पश्चिम दिशा में उत्तर प्रदेश में कैमूर पहाड़ियों के ढालों के समान्तर मिलते हैं। चूना-पत्थर के प्रमुख दृश्यांश बनजारी (24°41' : 84°0'), रोहतास (24°39' : 83°59'), कथोरिआरी (24°41' : 83°54'), बौलिया (24°16' : 83°54'), बरेचा (24°39' : 83°52'), चुनहट्टा (24°36' : 83°52'), रम्घीरा-आन-सोन (24°46' : 84°2'), धनौटी (24°36' : 83°51'), विरकी (24°31' : 83°40'), और डोमरखोका (24°32' : 83°31') के पास हैं। इनमें बनजारी-रोहतास, बौलिया-चुनहट्टा-धनौटी और विरकी-चापला क्षेत्रों के निक्षेप उच्च कोटि के हैं और उनमें गालक कोटि का चूना-पत्थर भी मिलता है। इस समय प्रथम दो क्षेत्रों के चूना-पत्थरों का उपयोग सीमेंट कारखानों के लिए हो रहा है [Jacob & Mahadevan, *Indian Min. J.*, 1957, 5 (10), 53; Nath, *Indian Miner.*, 1959, 13, 306].

पालामऊ जिले में चूना-पत्थर के विस्तृत निक्षेप छोटे-छोटे खंडों में लगभग पूरव-पश्चिम में रामगढ़ के निकट से खलारी और डालटनगंज के निकट तक मिलते हैं। इनमें वकोरिया के निकट (डालटनगंज से 32 किमी. दूर) और बनपहाड़ (23°59' : 83°59'), हरही पहाड़ (23°56' : 83°57'), और चौपरिया (23°58' : 83°57') के निक्षेप महत्वपूर्ण हैं जहाँ चूना-पत्थर से छोटी-छोटी पहाड़ियाँ बनी हुई हैं। सूचना है कि विन्ध्यन समुदाय की कजराहाट अवस्था का उत्कृष्ट गालक वर्ग का चूना-पत्थर चपरी (20°24' : 83°34') और वाजेदौली (24°24' : 86°36'30") में पाया जाता है जो गारवा रोड रेलवे स्टेशन से लगभग 56 किमी. दूर है [Nath, *Indian Miner.*, 1959, 13, 306].

कोल्हन श्रेणी का चूना-पत्थर लगभग 48 किमी. की पट्टी में मिलता है। यह पट्टी चायवासा (22°33' : 85°48') से सिंहभूम जिले के जगन्नाथपुर तक चली गयी है। कोल्हन चूना-पत्थर में औसतन कैल्सियम ऑक्साइड 50.58% है। चूना-पत्थर पुटाडा झरनों (चायवासा के उत्तर), लोटा पहाड़ (22°37' : 85°34'), घटकूरी (22°18' : 85°24') और पाटंग (22°23' : 85°24') में भी पाया जाता है [Khedker, 139].

हजारीबाग जिले में रामगढ़ जागीर के बुन्दु-वासरिया क्षेत्र (23°40' : 85°23'-85°26') में चूना-पत्थर का एक खण्ड पूरव से पश्चिम तक फैला है। इस क्षेत्र में सीमेंट वर्ग के क्रिस्टलीय चूना-पत्थर के भंडार 30 लाख टन अनुमाने गए हैं। इसी क्षेत्र में दो और खण्डों की सूचना है: पहला कुरकुटा-रेलिंगारा (23°43' : 85°21'-85°22') में और दूसरा लपांगा-भुरकुंडा-कुरसा (23°38' : 85°21') में। पहले खण्ड में विशाल भंडार है। अच्छी किस्म का चूना-पत्थर होसिर-वचरा-दुन्दु-रे (23°40' : 85°3' - 85°7') क्षेत्र में भी प्राप्त होता है [Indian east. Engr, 1953, 112, 569; Khedker, 141].

विस्टलीय चूना-पत्थर की एक पट्टी जिसकी औसतन चौड़ाई 75 मी. है, लगभग 5.6 किमी. तक पुरना रे (23°40' : 85°3') के निकट अंशतः राँची और अंशतः हजारीबाग जिले में मिलती है।

इस पट्टी के नमूनों में विश्लेषण से CaO, 45.85-50.34% और MgO, 5.05-8.12% मिले हैं। एक चूना-पत्थर पट्टी बभाने-होयर-खलारी (23°38'-23°40' : 85°00'-85°04') क्षेत्र में पूरव-पश्चिम में फैली हुई है; खलारी की ओर का चूना-पत्थर बागदा, सालहन और बेतो ग्रामों में सीमेंट कारखानों के लिए खोदा जाता है। निक्षेपों में चूने की मात्रा औसतन 45.60% है [Banerjee, *Quart. J. geol. Soc. India*, 1956, 28, 149].

मणिपुर

सूक्ष्म-कणीय तथा किंचित् भंगुर चूना-पत्थर उलरूल क्षेत्र में लम्बुई (94°17' : 25°1'), हुंगडुंग (94°2'30" : 25°4'), शुगनु (93°53' : 24°17'30") के निकट और अन्य स्थानों में भी कोटारिकाओं में मिलता है। अनुमान है कि इस क्षेत्र का भंडार 27 लाख टन होगा जिसमें से 20 लाख टन उच्च कैल्सियम चूना-पत्थर (CaO, 52.98%) हुंगडुंग के निकट और 5 लाख टन लम्बुई (CaO, 45.54%) के निकट प्राप्त है [Banerjee, *Rec. geol. Surv. India*, 1949, 82(1), 61].

मध्य प्रदेश

मध्य प्रदेश में चूना-पत्थर के निक्षेप काफी विस्तृत हैं। विन्ध्यन चूना-पत्थर की एक पट्टी जबलपुर से सतना तक चली गयी है। कडप्पा चूना-पत्थर रायपुर-विलासपुर क्षेत्र में मिलता है।

जबलपुर जिले में चूना-पत्थर के विस्तृत निक्षेप कटनी-मुरवाड़ा और जुकेही, कैमूर क्षेत्र में पाये जाते हैं; उनमें अधिक महत्वपूर्ण मुरवाड़ा (23°50' : 80°24'), टिकारिया (23°49' : 80°23'), विसतारा (23°58' : 80°28'), बरगामा (23°50' : 80°23'), अमेहटा (24°0' : 80°35'), खन्दरा (23°35' : 80°7'), जुकेही (23°59' : 80°26'), और कैमूर (24°3' : 80°39') में स्थित हैं। विसतारा और अमेहटा का चूना-पत्थर कैल्सियम-कार्बाइड बनाने के लिए उपयुक्त है। अच्छी किस्म के संगमरमर के वृहत् निक्षेप जबलपुर के निकट पहाड़ियों के रूप में पाये जाते हैं। ये सामूहिक रूप से संगमरमर-शैल (मार्बल राक) के नाम से ज्ञात हैं [Dutt & Chatterjee, *Rec. geol. Surv. India*, 1954, 84(3), 367].

कटनी-सतना क्षेत्र में पाया जाने वाला विन्ध्यन चूना-पत्थर अत्यन्त विस्तृत है; यह 160 किमी. से अधिक लम्बे, कहीं-कहीं पर कई किमी. चौड़े और गहराई में 7.5-12 मी. तक हैं। इसके गुण बदलते रहते हैं क्योंकि जबलपुर की दिशा में उत्कृष्ट कैल्सियम चूना-पत्थर मिलता है तो सतना के पास उत्कृष्ट सिलिकामय पत्थर (Si, 8-15%) (Macedo, 58).

रायपुर और दुग जिलों में स्थूल और पट्टियावसी चूना-पत्थर के विशाल निक्षेप विच्छिन्न टुकड़ों में बरौधा (21°5' : 82°3') और सुखरी (21°1' : 80°54') के बीच लगभग 128 किमी. की दूरी तक मिलते हैं। इस चूना-पत्थर में मैनीशिया की मात्रा अल्प है। रायपुर जिले में खुशालपुर ग्राम (21°13' : 81°37') के ठीक पूर्व-उत्तर-पूर्व में कहादेवघाट सड़क पर रायपुर नगर से लगभग 3.2 किमी. पर, तेलीवन्धा क्षेत्र और चौरगाँव (21°18' : 81°38') के निकट खुली खानें स्थित हैं। रायपुर जिले का अनुमानित भंडार 172 लाख टन है। दुग जिले में गालक वर्ग का चूना-पत्थर मेरेसेरा, देओरझाल, भानपुरी, नन्दगाँव और नन्दिनी क्षेत्रों में मिलता है। मेरेसेरा और देओरझाल में गालक वर्ग के चूना-पत्थर के भंडार क्रमशः 200 लाख टन तथा 650 लाख टन आँके गये हैं। नन्दगाँव में चूना-पत्थर की पट्टी खलावा और अर्जुनी के बीच लगभग 48 किमी. तक

चली गयी है। गालक बर्ग चूना-पत्थर के विशाल भंडार भिलाई से लगभग 26 किमी. नन्दिनी में मिलते हैं [Chatterjee, *Rec. geol. Surv. India*, 1953, 84(1), 87; Dutt, *ibid.*, 1954, 84(3), 392; *Res. & Ind.*, 1960, 5, 188; *Indian Minerals Yearb.*, 1959, 206].

वातु-कर्म और रासायनिक उद्योगों के लिए उपयुक्त चूना-पत्थर के विशाल निक्षेप विलासपुर जिले में पाये जाते हैं। ये गोवरीपत (22°17' : 81°59'), महारपुर (22°15' : 81°42'), बंकट नवागांव (22°15' : 81°43'), पारसवाड़ा (22°13' : 81°50'), बेलपन (22°12' : 81°52'), लिम्हा (22°13' : 81°50'), विजयपुर (22°13' : 81°48') तथा कुछ अन्य स्थानों में प्रमुखतया पाये जाते हैं। सीमेंट बर्ग के विन्चिन्न टुकड़े एक क्षेत्र में पाये जाते हैं जो हास्टों नदी के पश्चिम तट पर विरगाहानी (22°1' : 82°38') और दरभाटा (22°2' : 82°37') के निकट से अकालतारा (22°1' : 82°25') और लतिया (22°1' : 82°24') तक चला गया है। गालक बर्ग का चूना-पत्थर 0.9 बर्ग किमी. के क्षेत्र में मोहतारा (22°0' : 82°17') के निकट मिलता है। भंडार 100 लाख टन आँका गया है [Sinha, *Rec. geol. Surv. India*, 1954, 86(1), 107; Chatterjee, *ibid.*, 1950, 83(1), 141].

भूतपूर्व मध्य भारत क्षेत्र में सिलिकामय चूना-पत्थर (निम्न भाण्डेर) पट्टी लगभग 128 किमी. की दूरी तक मोरैना, शिवपुरी और गुना जिलों के आरपार चली गई है। कैतारस (26°19' : 77°40') और पालपुर (25°48' : 77°12') के बीच चूना-पत्थर पट्टी लगभग 48 किमी. तक लगभग उत्तर-पूर्व-दक्षिण-पश्चिम दिशा की ओर चली गयी है। अच्छी किस्म का पटियाश्मी चूना-पत्थर कैलारस और बाकसपूरा (26°15' : 77°31') के बीच तथा ज्वाहीरगढ़ (26°9' : 77°20') और गढ़ी (26°7' : 77°21') के बीच भी मिलता है (Roy Chowdhury, *Bull. geol. Surv. India, Ser. A*, No. 10, 1955, 44).

नर्मदा घाटी क्षेत्र में विजावर शैल-समूह के डोलोमाइटो चूना-पत्थर के विशाल निक्षेप बुरवाहा (22°15' : 76°2') और बरजार (22°22' : 76°2') के निकट पाये जाते हैं। बुरवाहा से कुछ किमी. क्षेत्र तक के भंडार 2,150 लाख टन कूते गये हैं। घरमपुर पथरा, विमरवान (24°26' : 79°20') और अमरोनिया के चारों ओर भी बृहत् निक्षेपों की सूचना है [Roy Chowdhury, *loc. cit.*; Chatterjee, *Rec. geol. Surv. India*, 1953, 79(1), 322].

गिर्द जिले में चर्दी और सिलिकामय चूना-पत्थर के अनावरण चौरा (26°06' : 78°10'), नैगांव (26°7' : 78°7'), मोरार (26°14' : 78°13') ओल्ड रेजीडेंसी, ग्वालियर (26°16' : 78°11') के निकट और कुछ अन्य स्थानों में मिलते हैं।

मंदसौर जिले में निम्बहेड़ा चूना-पत्थर के बृहत् अनावरण जवाड (24°36' : 74°52'), निम्बहेड़ा (24°37' : 74°42') और कुछ अन्य स्थानों में पाये जाते हैं। निम्बहेड़ा स्तर की कुल मोटाई 135 मी. है। भंडार अत्यन्त विशाल हैं। सूबाखेड़ा (24°32' : 74°52'), खेड़ा (24°34' : 74°49'), कांडला (24°32' : 74°48') के निकट और विलासवात (24°31' : 74°48') में चूना-पत्थर निर्माण कार्यों के लिए निकाला जाता है।

झाबुआ और धार जिलों में ग्रैनाइट प्रवालमय और लैमेटा चूना-पत्थर मान-घाटी में बालवाटी के निकट और बाग के दक्षिण ओर पश्चिम में पाये जाते हैं। विद्युत-रासायनिक और सीमेंट उद्योगों के लिए उपयुक्त उत्कृष्ट बर्ग के क्रिस्टल चूना-पत्थर के विशाल निक्षेप भी इसी क्षेत्र में विद्यमान हैं।

ट्रेवरटाइन चूना-पत्थर के अति शुद्ध निक्षेप (CaCO_3 , 94-99%)

इन्दौर, शिवपुरी और गिर्द जिलों में बहुत-से स्थानों में मिलते हैं (Roy Chowdhury, *Bull. geol. Surv. India, Ser. A*, No. 10, 1955, 53).

सतना क्षेत्र में निम्न भाण्डेर चूना-पत्थर की तीन पट्टियाँ मिलती हैं जिनके ऊपरी भाग में कैल्सियमी पटियाश्म पाया जाता है। वह पट्टी जिससे सर्वोत्तम पदार्थ प्राप्त होता है सतना (23°33' : 80°53') और मैहर (24°17' : 80°47') के क्षेत्रों में 9 मी. की गहराई तक पायी गयी है। चूना-पत्थर की खुली खानें सतना क्षेत्र में पूर्व-उत्तर पूर्व से पश्चिम-दक्षिण पश्चिम दिशा में हैं और 24°38' : 80°54' से 24°35' : 80°47' के समान्तर फैली हुई हैं। दोनों छोर की खदानों की दूरी लगभग 12 किमी. है। यह खण्ड यहाँ के बृहत् चूना-पत्थर क्षेत्र का एक छोटा-सा अंश है। मैहर बर्ग की खुली खानें 2.4 किमी. की दूरी में लगभग उत्तर-पूर्व से दक्षिण-पश्चिम तक फैली हैं। सतना निक्षेप का क्षेत्रफल 512 बर्ग किमी. से अधिक है और भण्डार 47 लाख टन प्रति बर्ग किमी. अनुमाने गये हैं [Fox, 43; Bijawat & Sastry, 28; *Rec. geol. Surv. India*, 1950, 83(1), 149].

चूना-पत्थर निक्षेप भोपाल, चाँदा, होशंगाबाद और बेलूल जिलों में भी पाये जाते हैं।

मैसूर

बीजापुर जिले के भीमा श्रेणी के बृहत् चूना-पत्थर निक्षेप, सीमेंट और रासायनिक उद्योगों के लिए उपयुक्त हैं और लगभग 77 बर्ग किमी. के क्षेत्रफल में बगलकोट (16°11' : 75°45') और कलाडगी (16°21' : 75°30') के बीच मिलते हैं। अनुमान है कि बगलकोट तालुक के भंडार 4.5 मी. की गहराई तक 8,000 लाख टन होंगे। एक अन्य चूना-पत्थर निक्षेप (CaO , 43.80-50.42%), जो अंशतः अम-मुद्रणीय है, तालीकोटा (16°28' : 76°18') के निकट लगभग 25.6 बर्ग किमी. के क्षेत्रफल में विस्तृत है। यह भंडार 3,000 लाख टन अनुमाना गया है। उच्च कैल्सियम चूना-पत्थर के विस्तृत निक्षेप मुढोल तालुक में एक लम्बी पट्टी में मिलते हैं जो लोकपुर (16°9' : 75°22') से पेटलूर (16°14' : 75°19') होती हुई मल्लापुर (16°9' : 75°19') तक चली गई है। यहाँ के भंडार कई लाख टन आकलित किये गये हैं [Mukerjee, *Rec. geol. Surv. India*, 1955, 79(2), 807; Roy, 1951, 90].

गुलबर्गा जिले में चूना-पत्थर मरालभावी, वैकैनहल्ली और शाहाबाद के निकट मिलते हैं। शाहाबाद का चूना-पत्थर बूस्तर रंग का है (Bijawat & Sastry, 50).

बेलगांव जिले में उच्च कैल्सियम चूना-पत्थर यादवाड (16°14' : 75°11') और मनामी (16°11' : 75°11') के निकट मिलता है [Roy, *Rec. geol. Surv. India*, 1950, 85(3), 309].

तुमकूर जिले में विस्तृत चूना-पत्थर के क्षेत्र कांडली, वावलापुर दोदगुनी और बजरा में मिले हैं। चीतलदुर्ग जिले में चूना-पत्थर निक्षेप होसदुर्ग के निकट पाये जाते हैं। शिमोगा जिले में गालक कोटि का चूना-पत्थर भद्रावती से 21 किमी. पूर्व माडीगुंड के निकट मिलता है। इन क्षेत्रों में लगभग 500 लाख टन चूना-पत्थर होगा जिसमें CaO , 49; SiO_2 , 3-4; और MgO , 2.8% रहता है (Coggin Brown & Dey, 335).

राजस्थान

अजमेर-मेरवाड़ा में शुद्ध और सभांगी डोलोमाइटो संगमरमर के विस्तृत निक्षेप केसरपुरा (26°19' : 74°33') और सरवना (26°

27' : 74°34') के बीच पाये जाते हैं। इस क्षेत्र में 250 लाख टन से अधिक का भंडार कृता गया है। सिलिकामय और डोलोमाइटो चूना-पत्थर के बहुत निक्षेप अनेक स्थानों में मिलते हैं, गंगवाना (26°32' : 74°43') के सिलिकामय चूना-पत्थर के निक्षेप 15 लाख टन होंगे। अखारी के पट्टीदार श्वेत डोलोमाइटो संगमरमर के भंडार 40 लाख टन कृते गये हैं। चूना-पत्थर और संगमरमर जिन अन्य स्थानों में पाया जाता है वे हैं : वियावर (26°9' : 74°17'), सावर (25°45' : 75°13'), ओदास (26°18' : 74°19'), शिवपुरा (26°16' : 74°21'), मखपुरा (26°24' : 74°40') और सुलियाडूंगर (26°23'30" : 72°42') (Roy, *Mem. geol. Surv. India*, 1959, 86, 210).

अलवर जिले में डोलोमाइटो चूना-पत्थर राजगढ़ के निकट बुंदवगोला में मिलता है। एक नमूने के विश्लेषण में 42.64% CaO और 3.74% MgO मिला। अत्यधिक शुद्ध टूफामय चूना-पत्थर की किस्म (लगभग 250 हजार टन) घात्रा के निकट पायी जाती है।

वाईसावाड़ा जिले में खमेरा (23°47' : 74°30') और भोंगरा (23°41' : 74°33') के बीच 10 वर्ग किमी. के क्षेत्र में चूना-पत्थर और संगमरमर प्राप्त होते हैं। इनके एक नमूने में औसतन 51.64% CaO पाया गया है। इस क्षेत्र में 4.5 मी. गहराई तक 500 लाख टन भंडार होने का अनुमान है (Roy, *Mem. geol. Surv. India*, 1959, 86, 214).

विध्यन चूना-पत्थर के बहुत निक्षेप वीकानेर प्रभाग में पाये जाते हैं किन्तु इनका विस्तृत सर्वेक्षण अभी नहीं हुआ है। पलाना क्षेत्र में नुमुलाइटो चूना-पत्थर की 45-60 सेंमी. मोटी 2-3 पट्टियाँ (CaO, 42.16%) अंतर्विष्ट संधि के रूप में सतह और लिग्नाइट संधि के बीच मिलती हैं; कहीं-कहीं अधिक मोटे संस्तर भी मिलते हैं।

बूंदी जिले में सीमेंट वर्ग के चूना-पत्थर (CaO, 42.55-48.44%) के विस्तृत निक्षेप लखेरी (25°40' : 76°11') में उत्तर-पूर्व से दक्षिण-पश्चिम तक फैली हुई कटक के गिरिपादों में मिलते हैं। पट्टियाँ चूना-पत्थर उच्च और अधोश्रेणियों में मिलता है और उच्च श्रेणी का चूना-पत्थर मध्यवर्ती श्रेणी में शैल अंतर्विष्टों के साथ पाया जाता है। चूना-पत्थर अनेक स्थानों में निकाला जाता है। प्रति-दिन का उत्पादन लगभग 45 हजार टन है।

डूंगरपुर जिले में कई चूना-पत्थर पट्टियाँ, जो उत्तर-पश्चिम से दक्षिण-पूर्व तक फैली हुई हैं, मुंगेर (23°52' : 74°12') के लगभग 0.8 किमी. पूर्व में मिलती हैं। पश्चिम में नंदनी अंजनी (23°55' : 74°11') और दाद (23°58' : 74°10') में 13 किमी. के विस्तार में पट्टियाँ अनावृत हैं।

जोधपुर प्रभाग में रासायनिक वर्ग के विध्यन चूना-पत्थर (CaCO₃, 95.6-97.3%) के विस्तृत निक्षेप सोजात (25°56' : 73°40') में अनावृत हैं और विलारा (26°11' : 27°41') के पारगोतान (26°39' : 73°45') तक 3.2-16 किमी. चौड़े दृश्यांश में पाये जाते हैं और उसके बाद उत्तर-पश्चिम में कई किमी. दूर तक चले गये हैं। सोजात में चूना-पत्थर श्वेत-पीत से कृष्ण रंग की विभिन्न आभाओं में और कहीं-कहीं चट्ट की प्रचुर मात्रा के साथ मिलता है। गोतान चूना-पत्थर (CaO, 53.99-55.24%) मिट्टी, कंकड़ और परिवर्तित पट्टियाँ चूना-पत्थर से संघटित उपरिभार (1.5-2.4 मी.) के नीचे गहरे से हल्के धूसर रंग में 1.5-1.8 मी. मोटे स्तर के रूप में मिलता है। गोतान रेलवे स्टेशन के दक्षिणी क्षेत्र में प्रति वर्ग किमी. 34 लाख टन से अधिक भंडार होगा। जोधपुर प्रभाग के नागौर जिले में संगमरमर के बहुत निक्षेप मकराना (27°31' : 74°43') और निकटवर्ती क्षेत्रों में पाये जाते हैं। मुख्य निक्षेप एक पहाड़ी के रूप में

उत्तर-उत्तर-पूर्व से दक्षिण-दक्षिण-पश्चिम की दिशा में माताजी के मन्दिर से कालाडूंगरी तक लगभग 20 किमी. तक फैला है। इस क्षेत्र की विस्तार से खुदाई की जा रही है। चूना-पत्थर के महत्वपूर्ण निक्षेप मुंडवा, मण्डा, अमेरसागर और अतवारा में भी मिले हैं (Sethi, 127; Roy, *Mem. geol. Surv. India*, 1959, 86, 217).

सवाई माधोपुर जिले में (जयपुर प्रभाग), नीलडोंगा (कैलादेवी) और मलोली के बीच की कटक में सीमेंट वर्ग का चूना-पत्थर पाया जाता है। जयपुर प्रभाग में चूना-पत्थर के अन्य उल्लेखनीय स्थान बान्ध्य, मखोली, कुकस, पाटन, नैला, रहोड़ी और रेआलो हैं।

विध्य समुदाय के निम्नहेंडा और निम्न भाण्डेर के चूना-पत्थर कोटा प्रभाग में मिलते हैं। कम मैग्नीशिया वाला निम्नहेंडा चूना-पत्थर (CaO, >43%) निक्षेप जुलमी (24°35' : 75°59') और माइलो (24°39'25" : 75°58'40") के बीच और निमाना (24°41'30" : 75°59') और देओली (24°48'30" : 75°52') के बीच लगभग 32 किमी. की लम्बाई तक फैला हुआ है। स्थूल निम्न भाण्डेर चूना-पत्थर (CaO, 26.08-43.21%), जिसमें सामान्यतः सिलिका और ऐलुमिना की मात्रा कम है, मुकंदवाड़ा पहाड़ी की माला में लगभग 54.4 किमी. तक लगातार कगार के रूप में अनावृत है। कसार के निकट सड़क के समान्तर टैवरटाइन निक्षेप भी देखे गये हैं।

उदयपुर जिले में बहुरंगी चूना-पत्थर चित्तौड़गढ़ रेलवे स्टेशन के निकट भवन-निर्माण कार्य के लिए निकाला जाता है। इस चूना-पत्थर (CaCO₃, >75%) में मैग्नीशिया बहुत कम मात्रा में रहता है। इसके दृश्यांश 18 वर्ग किमी. के क्षेत्रफल में हैं और 3 मी. की गहराई तक 2,830 लाख टन का भंडार आँका गया है (Roy, *Mem. geol. Surv. India*, 1959, 86, 219).

आबूरोड क्षेत्र में चूना-पत्थर अनेक स्थानों में, विशेषकर पंडोर (24°32' : 72°52'), अखरा (24°30'30" : 72°50'), मुरथला (24°31' : 72°49'), किवरली (24°32' : 72°50'), आबूरोड (24°28'30" : 72°47') और धनवाड़ (24°31' : 72°47'30") में मिलता है। इन स्थानों के कुल भंडार 150 लाख टन अनुमानित हैं; मुरथला के निक्षेप में 93 लाख टन चूना-पत्थर पाया जाता है (Roy, *Indian Miner.*, 1956, 10, 103).

अच्छी किस्म का चूना-पत्थर मथोन्दा रेलवे स्टेशन से लगभग 11 किमी. पश्चिम काला खोखरा के निकट और खेतड़ी क्षेत्र में पाया जाता है।

कंकड़ तो पूरे राज्य में छोटे-छोटे छितरे निक्षेपों के रूप में मिलते ही हैं।

हिमाचल प्रदेश

सिरमौर जिले में चूना-पत्थर के विस्तृत निक्षेप निम्न गिरि घाटी में पाए जाते हैं। सीमेंट वर्ग (CaO, 49.51%) का सूक्ष्मकणीय हल्का धूसर चूना-पत्थर सताऊँ (30°34' : 77°38'30") के निकट भटरोग (30°33' : 77°40') और क्यारी (30°34' : 77°34'30") के बीच मिलता है। इन निक्षेपों में 1,410 लाख टन का भंडार कृता गया है। उसी क्षेत्र में सिलिकामय चूना-पत्थर, सताऊँ से पोका जाने वाले मार्ग के समान्तर मिलता है। श्वेत क्रिस्टलीय चूना-पत्थर नौरा (30°49' : 77°25'30"), भांगरी (30°47' : 77°24'30") और जराग (30°50' : 77°21'30") में प्राप्त होता है। चूना-पत्थर के क्षेत्र वारथल (30°33' : 77°26'), टीना (30°33' : 77°24'), कन्सार (30°33' : 77°29'), खैर (30°34' : 77°31') और वाकन (30°34' : 77°32') के निकट भी मिले हैं। कन्सार क्षेत्र में

90 मी. की गहराई तक सीमेंट कोटि के भंडार 170 लाख टन कूले गये हैं [Nath, *Rec. geol. Surv. India*, 1950, 83(1), 140; Dutt, *ibid.*, 1954, 85(1), 70].

मंडी जिले में डोलोमाइट चूना-पत्थर दूर-दूर तक लवण संस्तर के नीचे पाया जाता है. रासायनिक वर्ग का चूना-पत्थर (CaO, 52.62%) हरा-वाग के ऊपर मलान के निकट मिलता है (Dube *et al.*, *Quart. J. geol. Soc. India*, 1949, 21, 43).

महासू जिले में सीमेंट किस्म का चूना-पत्थर खदली और काक्कर-हट्टी में मिलता है [Raina, *Rec. geol. Surv. India*, 1954, 85 (1), 70].

काँगड़ा जिले में चूना-पत्थर डुंडियारा विश्राम गृह के निकट धर्म-शाला से लगे धरमकोट के पास और भाटेड खाद में तथा शिमला जिले में बरोग के निकट काल चूना-पत्थर मिलता है.

माँग और भंडार

माँग

भारत में भवन निर्माण, सीमेंट, रासायनिक और धातु-सम्बन्धी उद्योगों के लिए प्रचुर मात्रा में चूना-पत्थर उपलब्ध है. सीमेंट कोटि का चूना-पत्थर व्यावहारिक दृष्टि से सब प्रदेशों में मिलता है. रासायनिक और धातु-सम्बन्धी उद्योगों के लिए उच्च कोटि के चूना-पत्थर की माँग निरन्तर बढ़ती जा रही है. विभिन्न प्रदेशों में निक्षेपों की किस्म और उनकी मात्रा जानने के लिए हाल में अन्वेषण कार्य हुआ है. सारणी 5 में उन महत्वपूर्ण निक्षेपों की सूची दी जा रही है जिनसे रासायनिक उद्योगों के लिए चूना-पत्थर प्राप्त होता है.

इस्पात संयंत्रों में दो कोटि के चूना-पत्थरों की आवश्यकता होती है : (1) गालक वर्ग का चूना-पत्थर, वात्या भट्टी के लिए; तथा

सारणी 5 — रासायनिक श्रेणी के चूना-पत्थर, उनका विश्लेषण और उपयोग*

निक्षेप का स्थान	जिसके निर्माण के लिए उपयोग	औसत विश्लेषण	निक्षेप का स्थान	जिसके निर्माण के लिए उपयोग	औसत विश्लेषण
असम सिलहट	कैल्सियम कार्बाइड	CaCO ₃ , 95.4-98.6; MgCO ₃ , 0.55-1.87; SiO ₂ , 0.25-0.63; Al ₂ O ₃ , Fe ₂ O ₃ , आदि, <2%	बिहार लखिहार	काँच	CaO, 53.2; MgO, 1.1; SiO ₂ और अविलेय, 2.2; Al ₂ O ₃ , 0.4; Fe ₂ O ₃ , 0.4; ज्वलन पर हानि, 42.8%
आंध्र प्रदेश द्रोणाचलम	चीनी	प्राप्य, CaO, 80%	मध्य प्रदेश कटनी	कैल्सियम कार्बाइड, विरंजक चूर्ण और चीनी	CaO, 53-54; MgO, 0.75-1.0; SiO ₂ , 1-4; R ₂ O ₃ †, 0.5-1%
उड़ीसा वीरमित्रपुर	कागज	CaO, 45.9-49.4; MgO, 2.1-3.5; SiO ₂ , 2.8-10.1; R ₂ O ₃ †, 1.2-2.9%	जुकेही	विरंजक चूर्ण, कागज और चीनी	CaO, 50-54; MgO, 0.5-1.5; SiO ₂ , 1-6; R ₂ O ₃ †, 0.25-1.5%
उत्तर प्रदेश देहरादून	चीनी	CaO, > 51; MgO, 1.3-3.3%	मैहर	कागज	CaO, 52.73-53.45; MgO, 0.48-1.05; SiO ₂ और अविलेय, 2.06-3.59; R ₂ O ₃ †, 0.66-0.86%
गुजरात पोरबंदर	सोडा-शार और कार्बिक सोडा	CaCO ₃ , 93.87; MgCO ₃ , 0.70; SiO ₂ , 1.66; R ₂ O ₃ †, 2.71; NaCl, 0.06; आद्रता, 0.94%	सतना	कागज	CaO, 45-50; SiO ₂ , 4-10; R ₂ O ₃ †, 1-2%
ओखामंडल (प्रवाल चूना-पत्थर)	सोडा-शार और कार्बिक सोडा	CaCO ₃ , 91.87; MgCO ₃ , 2.26; SiO ₂ , 2.07; R ₂ O ₃ †, 0.79; NaCl, 0.04; CaSO ₄ , 0.84%	मैसूर यदवाड	चीनी	CaO, 53.31; MgO, 0.71; SiO ₂ , 2.2%; Fe और Mn, सूक्ष्म मात्राओं में; S, P, Cl से मुक्त
सौराष्ट्र (मोतीकवच)	विरंजक चूर्ण	चूना : प्राप्य, CaO, 91.15-93.58; SiO ₂ , 0.17-0.39; R ₂ O ₃ †, 0.48-1.51%	राजस्थान मकराना	काँच की चादरें	CaO, 50.4; MgO, 2.28; Fe ₂ O ₃ , 1.16; अविलेय, 3.8%
तमिलनाडु शंकरीडुग	विरंजक चूर्ण	CaO, 54-55; MgO, 0.5-1.0; SiO ₂ और अविलेय, < 1.0; R ₂ O ₃ †, < 0.5%	गोतान	कैल्सियम कार्बाइड	CaO, 54.8; MgO, 0.47; SiO ₂ , 0.65; R ₂ O ₃ †, 0.2%

*Bijawat & Sastry, 112-17, 35; Macedo, 58, 84; Coggin Brown & Dey, 321-45; Dutt, *Indian Min. J.*, 1957, 5(10), 33.

†Al₂O₃ + Fe₂O₃.

(2) इस्पात गलाने वाली दुकानों में सेंवारने के लिए. गालक कोटि और सेंवारक कोटि के चूना-पत्थर की मांग क्रमशः 40 और 8 लाख टन प्रति वर्ष है. सम्प्रति इसकी मांग उड़ीसा, मध्य प्रदेश और मैसूर के निक्षेपों द्वारा पूरी की जाती है. भिलाई इस्पात संयंत्र की आपूर्ति नदिनी खानो (मध्य प्रदेश) से, राउरकेला की पूर्णपानी (उड़ीसा) और सतना-मैहर (मध्य प्रदेश) क्षेत्रों से और दुर्गापुर की हाथीवाडी-वीरमित्रपुर क्षेत्र (उड़ीसा) से होती है. सारणी 6 में गालक कोटि के चूना-पत्थर के उन निक्षेपों की, जो धातु-कर्मों उद्योगों की आपूर्ति करते हैं तथा जिनमें भविष्य में उत्खनन हो सकता है, सूची दी गयी है [Indian Minerals Yearb., 1959, 207; Industr. India, 1959, 10(10), 13].

भंडार

विभिन्न प्रदेशों के भंडारों का सही-सही आकलन उपलब्ध नहीं है. प्राप्त सूचना के आधार पर सारणी 7 में संक्षिप्त विवरण दिया गया है किन्तु वास्तविक भंडार इन आंकड़ों से कई गुने अधिक हो सकते हैं.

खनन

भारत में चूना-पत्थर खूली खानों से प्राप्त किया जाता है. सामान्यतः खुदाई का कार्य हाथ से किया जाता है. अधिभार मलबा हटा दिया जाता है, तथा हथौड़े और सबल से चूना-पत्थर को तोड़ा जाता है. हाल में बहुत-सी बड़ी-बड़ी खानों का यंत्रीकरण किया गया है. 1959 में देश में 137 चूना-पत्थर की खानें थी जिनमें से 5 खानों से 500 हजार टन से अधिक, 19 से 50 हजार टन से अधिक, 36 से 10 हजार टन से अधिक, और 65 से 10 हजार टन तक चूना-पत्थर प्रति वर्ष प्राप्त होता था (Indian Minerals Yearb., 1959, 207).

राजस्थान में पत्थर और संगमरमर सामान्य उत्खनन विधियों द्वारा निकाले जाते हैं. मलबा हटाने के बाद विच्छेद रेखा बनाने के लिए बमों से छेद किये जाते हैं, और खान से माल निकालने के लिए सधियों और दरारों का लाभ उठाया जाता है. भवन-निर्माण कार्य के लिए पत्थरों को छेनी और हथौड़ों से काट और छांट कर सेंवारा जाता है. 3.6 मी. तक लम्बी पट्टियाँ खोदी जाती हैं.

सज्जीकरण - 'ऐसोसियेटेड सीमेन्ट कम्पनी' ने खलारी (बिहार) में पास के निक्षेपों के निम्न श्रेणी के चूना-पत्थर (CaO, 36%) को उन्नत करने के लिए एक सज्जीकरण संयंत्र स्थापित किया है. इसमें खनिज को तोड़ एवं पीस कर फ़ैंगरग्रीन प्रकार की प्लावन कोशिकाओं की बैटरी में डाला जाता है. वसा-अम्लों को प्लावन के लिए, मेथिल थाइसोब्यूटिल कार्बोनाल को धागन और एक गुप्त उत्पाद को जो ग्लोन-तेल के सद्भूत हैं, संग्रहीत के रूप में उपयोग किया जाता है. डोरथिकनर में सान्द्र गाढ़ा किया जाता है. सज्जीकृत चूना-पत्थर (CaO, 48.7%) सीमेन्ट निर्माण में प्रयुक्त किया जाता है [Dewan, Indian Min. J., 1957, 5 (spec. issue), 53; Majumdar, ibid., 1955, 3(10), 5; Indian Miner., 1955, 9, 118].

जमशेदपुर की राष्ट्रीय धातु प्रयोगशाला में सीमेन्ट कारखानों से अस्वीकृत किये गये चूना-पत्थर के सज्जीकरण की अनुकूलतम परिस्थितियाँ ज्ञात की गयी हैं जिसमें ओलीक अम्ल संग्रहीत के तथा सोडियम सिलिकेट अव.सादी के रूप में काम में लाया जाता है. इससे 80-88% तक सीमेन्ट निर्माण के लिए उपयुक्त सान्द्र (CaO, 45-47%) प्राप्त किये गये हैं [CSIR News, 1960, 10(3), 3].

सारणी 6 - गालक श्रेणी के चूना-पत्थर निक्षेप*

असम	निक्षेप-विस्तार	टिप्पणियाँ
सिलहट	विस्तृत	गालक श्रेणी का अच्छी किस्म का पत्थर, यातायात की कठिनाई के कारण अप्रयुक्त
आंध्र प्रदेश कडप्पा और कुरनूल जिला	प्रचुर भंडार	सम्प्रति खपत केन्द्रों से दूरी के कारण अप्रयुक्त
उड़ीसा वीरमित्रपुर, हाथीवाडी, पूर्णपानी और लजी-बेरना	केवल वीरमित्रपुर में ही 960 लाख टन	राउरकेला, दुर्गापुर और जमशेदपुर के इस्पात संयंत्रों की आवश्यकताएँ पूर्ति हेतु व्यवहृत
गुजरात कच्छ	सीमित	..
तमिलनाडु सलेम जिला	अच्छी किस्म	निम्न घीसट माट्टियों में कहीं-कहीं प्रयुक्त
बिहार छोटा नागपुर शाहाबाद जिला	प्रकीर्ण (छितरे हुए) बृहत् भंडार	.. बाद में सम्भवतः प्रयुक्त हो
मध्य प्रदेश जुनेही - कैमूर क्षेत्र	..	इस्पात संयंत्रों से दूरी के कारण अनुपयुक्त
नवगंधा, भानपुरी और चिन्नी	बृहत् निचय	भानपुरी तथा नदिनी के चूना-पत्थरों का उपयोग भिलाई इस्पात संयंत्र में होता है
मोहतरा	100 लाख टन	..
महाराष्ट्र चाँदा और बवतमाल	सीमित	..
मैसूर शिर्मोगा, चित्तलहवा, तुमकुर और मैसूर जिले	सम्पूर्ण भंडार 500 लाख टन	शिर्मोगा चूना-पत्थर मैसूर लोह और इस्पात कारखाने में व्यवहृत

*Engineer, Indian Constr. News, 1959, 8(8), 96

सारणी 7 - चूना-पत्थर के आकलित भंडार* (दस लाख टन में)

	सीमेन्ट श्रेणी	गालक श्रेणी	सामान्य	योग
असम	1,154	1,154
आंध्र प्रदेश	3,848	..	6,222	10,070
उड़ीसा	90	46	64	200
उत्तर प्रदेश	4,788	2,984	..	7,772
गुजरात	295	295
जम्मू और कश्मीर	17	17
तमिलनाडु	10	10
पंजाब	24	24
बिहार	24	..	4	28
मध्य प्रदेश	134	85	11	230
मैसूर	735	735
राजस्थान	292	15	..	307

*Information from Indian Bureau of Mines, Nagpur.

गालक कोटि के चूना-पत्थर में सिलिका, ऐलुमिना और मैग्नीशिया की मात्रायें अल्प होनी चाहिये। सिलिका एवं ऐलुमिना अनिवार्यतः अक्रिय पदार्थ हैं जिन्हें पृथक् करने के लिए अतिरिक्त गालक और कोक की आवश्यकता पड़ती है। मैग्नीशिया एक उच्च ताप-सह पदार्थ है अतः उसे उच्च ताप पर गलाना आवश्यक होता है। इससे अधिक ईंधन खर्च होता है। गालक कोटि के चूना-पत्थर को पीसकर और झाग प्लवन द्वारा सज्जीकृत करने के प्रयास किये जा रहे हैं। भट्टियों में उपयोग के लिए प्राप्त सज्जीकृत चूर्ण को पुंजित किया जाता है। 'टाटा आयरन एण्ड स्टील कं. लिमिटेड, जमशेदपुर' की अनुसन्धानशाला में संपीड़न के लिए किये गये प्राथमिक अन्वेषण में शीरे या सोडियम सिलिकेट का उपयोग बन्धकों के रूप में किया गया और उसके अच्छे परिणाम निकले हैं [Kutar, Iron & Steel Rev., 1959-60, 3(11), 27].

उपयोग और विनिर्देश

चूना-पत्थर का उपयोग भवन-निर्माण और ईट या पत्थर की चुनाई में तथा कंकरीट, रेलमार्ग-गिट्टी, ऐस्फाल्ट पूरक और पक्की सड़क के पत्थर के रूप में बड़े पैमाने पर होता है। पोर्टलैंड सीमेंट निर्माण में इसका महत्वपूर्ण उपयोग होता है। चूना-पत्थर तथा संगमरमर का उपयोग 'पत्थर, इमारती' के अन्तर्गत मिलेगा (भारत की सम्पदा, खण्ड 4)। लोह और इस्पात उद्योग में गालक के रूप में भी इसका उपयोग किया जाता है। एक टन इस्पात तैयार करने में आधा टन चूने की आवश्यकता होती है।

सूक्ष्म कणीय-सरंध्री और नरम मुद्रण चूना-पत्थर का उपयोग मुद्रण और नक्काशी के कार्य में किया जाता है। प्रकाशिक यंत्रों में आइसलैंडस्पार काम में लाया जाता है जिसका एक परिचित उदाहरण निकॉल प्रिज्म है।

चूना-पत्थर, संगमरमर, खड़िया या सफेदी का चूर्ण कैल्सियम कार्बोनेट के रूप में मिट्टी के बर्तन चमकाने या इन्मेल करने के लिए प्रयोग में लाया जाता है। पोरबैंडर पत्थर या जबलपुर संगमरमर की विशिष्ट किस्मों के चूर्ण सफेदा पेण्ट (प्रलेप) को फैलाने और वस्त्र, कागज, रबर, साबुन और शृंगार पाउडरों में पूरक रूप में प्रयुक्त होते हैं। खड़िया का उपयोग पुटीन और त्रेओन निर्माण में होता है।

रासायनिक, धातु-कर्म सम्बन्धी, कागज, चीनी, वस्त्र तथा अन्य उद्योगों में प्रयुक्त होने वाला चूना, चूना-पत्थर के निस्तापन से तैयार किया जाता है। विभिन्न रूप, आकार और डिजाइन के घान वाले देशी भट्टों में चूने का उत्पादन पर्याप्त मात्रा में होता है; पर उत्पाद की किस्म सामान्यतः निम्न कोटि की होती है। अधिकांश रासायनिक चूना कूपक भट्टों में तैयार किया जाता है। इस कार्य के लिए घूर्णी भट्टों का भी प्रयोग किया जाता है किन्तु उनकी संख्या कम है (Bijawat, Chem. Age, India, 1957, 8, 171)।

विनिर्देश - सारणी 8 में विभिन्न औद्योगिक प्रयोजनों के लिए उपयुक्त चूना-पत्थर और चूने के विनिर्देश दिये गये हैं।

उत्पादन और व्यापार

पिछले दशक में चूना-पत्थर का उत्पादन काफी बढ़ा है। चूना-पत्थर के उत्पादन में बिहार प्रदेश सबसे आगे है, इसके बाद मध्य प्रदेश और उड़ीसा का स्थान है। अन्य महत्वपूर्ण उत्पादक प्रदेश राजस्थान, तमिलनाडु और मैसूर हैं। 1948 से 60 तक चूना-पत्थर का उत्पादन 15,15,000 टन से बढ़कर 1,25,25,000 टन तक हो गया। 1960

सारणी 8 - चूना-पत्थर और चूने का विनिर्देश*

लोह और इस्पात उद्योग में गालक**	CaO, 47.5-49.60; SiO ₂ +Al ₂ O ₃ , 4.76-7.65; MgO, 1.86-4.1%; सघन सूक्ष्म-कणिक, संहत और भट्टी में भार सह सकने योग्य होना चाहिये; वाल्या भट्टी पदार्थ की तुलना में खुली भट्टी में प्रयुक्त संवारक के लिए विनिर्देश अधिक निश्चित होता है, विशेषकर SiO ₂ +Al ₂ O ₃ के लिए
सीमेंट निर्माण†	SO ₃ से संयोजन के लिए आवश्यक चूने की मात्रा घटाने के बाद विद्यमान $\frac{CaO}{R_2O_3}(\%)$ 0.66-1.02 (अर्थात् CaO, ± 40 ; SiO ₂ , 14-15% \pm); MgO (अधिकतम), 2.7; Fe योगिक (अधिकतम), 2; P ₂ O ₅ (अधिकतम), 1%
रंगहीन काँच‡	CaCO ₃ (न्यूनतम), 94.5; CaCO ₃ +MgCO ₃ , 97.5; Fe ₂ O ₃ (अधिकतम), 0.20; सम्पूर्ण अवाप्त-शील पदार्थ, HCl में अविलेय (अधिकतम), 2.0; आद्रता (अधिकतम), 3%
चीनी निर्माण	CaO (न्यूनतम), 50.0; MgO (अधिकतम), 1.0; SiO ₂ और अविलेय (अधिकतम), 4.0; Fe ₂ O ₃ +Al ₂ O ₃ (अधिकतम), 1.5%
सोडा राख	CaCO ₃ , 90-99; MgCO ₃ , 0-6; SiO ₂ +Al ₂ O ₃ +Fe ₂ O ₃ , 0-3%
कैल्सियम कार्बाइड	बिना बुझा चूना: CaO (न्यूनतम), 92.00; MgO (अधिकतम), 1.75; SiO ₂ (अधिकतम), 2.00; Fe ₂ O ₃ +Al ₂ O ₃ (अधिकतम), 1.00; S (अधिकतम), 0.20; P (अधिकतम), 0.02; ज्वलन पर हानि (अधिकतम), 4.00; Fe ₂ O ₃ , $\pm 0.5\%$; ढेले या गुटिका के रूप में पूर्णतः क्रोड, राख और धूल से मुक्त होना चाहिये
विरंजक चूर्ण	बिना बुझा चूना: CaO (न्यूनतम), 95.0; MgO (अधिकतम), 2.0; SiO ₂ (अधिकतम), 1.5; Fe ₂ O ₃ +Al ₂ O ₃ (अधिकतम), 2.0; Fe ₂ O ₃ , 0.3%
सल्फाइड लुगदी	कैल्सियम चूना: CaO (न्यूनतम), 92.5; MgO (अधिकतम), 2.0; Fe ₂ O ₃ +Al ₂ O ₃ +SiO ₂ (अधिकतम), 3.0%

*Bijawat & Sastry, 100-105.

**Engineer, Indian Constr. News, 1959, 8(8), 104.

†BS : 12 (1947); $R_2O_3 = 2.8 SiO_2 + 1.2 Al_2O_3 + 0.65 Fe_2O_3$.

‡Indian Minerals Yearb., 1959, 206. §IS : 997-1957.

में बिहार में 20,51,200 टन, मध्य प्रदेश में 19,90,500 टन, तथा उड़ीसा में 17,69,100 टन चूना-पत्थर निकाला गया। राजस्थान, तमिलनाडु तथा मैसूर से क्रमशः 15,91,100, 16,13,600, तथा 1,00,36,100 टन चूना-पत्थर प्राप्त हुआ।

चूना-पत्थर की थोड़ी ही मात्रा (इमारती पत्थर को छोड़ कर) भारत से निर्यात की जाती है। 1957, 1958, 1959 और 1960-61 में चूना-पत्थर का निर्यात क्रमशः 93,147 टन (मूल्य 7,05,701 रु.), 91,036 टन (मूल्य 6,74,402 रु.), 1,04,047 टन (मूल्य 7,44,686 रु.) और 98,335 टन (मूल्य 7,41,458 रु.) था। यह निर्यात मुख्यतः पूर्वी पाकिस्तान को किया गया।

मूल्य - चूना-पत्थर (90-95%, CaCO₃) का मूल्य 1957 में रेलवे स्टेशन तक भाड़ा-मुक्त, 7 रु. से 9 रु. प्रति टन था, जबकि 1958,

1959 और 1960 में कटनी रेलवे स्टेशन तक भाड़ा-मुक्त औसत मूल्य क्रमशः 10.50 रु., 10.50 रु. और 11.0 रु. प्रति टन था.

चूफानट — देखिए साइपेरस

चेजालिया कामरसन (रुबिएसी) CHASALIA Comm.

ले. — चासालिया

Fl. Br. Ind., III, 176.

यह झाड़ियों का लघु वंश है जो पुरानी दुनिया के सभी उष्णकटिबंधीय क्षेत्रों में पाया जाता है. चे. चार्टेसिया त्रैव (चे. कर्वीफलोरा थ्वेट्स सिन. साइकोट्रिया कर्वीफलोरा वालिश) भारत के पहाड़ी स्थानों पर मिलती है और इसकी जड़ें ओपवि वनान के काम में आती हैं. मलाया में इसका उपयोग मलेरिया के उपचार के लिए होता है. इसकी जड़ का काढ़ा

खाँसी में लाभदायक बताया जाता है. इसकी जड़ों और पत्तियों को सिर दर्द दूर करने, घावों और नासूरों को भरने के लिए प्रयुक्त किया जाता है (Chopra, 520; Burkill, I, 521).

Rubiaceae; *C. chartacea* Craib; *C. curviflora* Thw.; *Psychotria curviflora* Wall.

चेरीमोयर — देखिए अनोना

चैफ पलावर — देखिए ऐक्यरेन्थोज

चैलेटिया — देखिए डाइकैपेटालम

चॉलमूत्रा — देखिए हिडनोकार्पस तथा टैरेक्टोजीनास (परिशिष्ट : भारत की सम्पदा)



छिपकलियाँ (वर्ग सरीसृप; गण स्ववेमेटा; उप-गण लैसेर्टीलिया) LIZARDS

D.E.P., VI (1), 428-35; Fn. Br. Ind., Reptilia and Amphibia, 1935, II, 440, pp.

इस समय रेंगने वाले जन्तुओं (सरीसृपों) में छिपकलियाँ प्रमुख हैं जिनकी लगभग 2,500 जातियों की सूचना है. ये विश्व के सभी भागों में पाई जाती हैं, किन्तु उष्णकटिबंधीय प्रदेशों में अधिक सामान्य हैं. भारत में इनके 8 कुल हैं जिनकी लगभग 250 जातियाँ पाई जाती हैं.

छिपकलियों के आकार-प्रकार और बनावट में बहुत भिन्नता पाई जाती है. इनमें से अधिकांश स्थलीय होती हैं; वृक्षीय; विलकारी और जलीय छिपकलियाँ भी विरल नहीं हैं. स्थलीय छिपकलियाँ अवनमित होती हैं, जबकि वृक्षीय और जलीय संपीडित. विलकारी अथवा भूमिगत छिपकलियाँ सामान्यतः बेलनाकार, लम्बोत्तरी और कभी-कभी अंगहीन होती हैं. छिपकलियों के रंग ऐसे होते हैं कि वे उनकी रक्षा में सहायक हो सकें. उनकी खाल सामान्यतः कँटीली शल्की तहों से ढकी रहती है जिनके नीचे बहुधा हड्डियों की प्लेटें होती हैं. इनके अंग सामान्यतः पूर्णतया विकसित होते हैं और चढ़ने वाली छिपकलियों के आसंजनशील गद्दियाँ होती हैं. अधिकांश छिपकलियाँ इच्छानुसार अपनी पूँछें तोड़ सकती हैं; टूट-कर गिरा हुआ खण्ड कुछ समय तक फुदकता रहता है, जिससे पीछा करने वाला उसको देखने में लग जाता है और छिपकली बच कर निकल भागती है.

अधिकांश छिपकलियाँ अंडज होती हैं. इनमें कुछ ऐसी भी जातियाँ हैं जो जरायुज हैं. सामान्यतः कीड़े-मकोड़े और अन्य लघु प्राणी इनके भक्ष्य हैं. इनमें कुछ जातियाँ प्रायः विष्कुल ही आकाहारी होती हैं. मैक्सिको में पाई जाने वाली कुछ जातियों को छोड़ कर शेष सभी अविषैली होती हैं. बहुत-सी जातियों का मांस खाया जाता है और ऐसा विश्वास है कि कुछ में ओपवीय गुण होते हैं. लगभग दो दर्जन जातियों की खाल कमाई जानी है जिनसे सुन्दर वस्त्र, जूते, स्लीपर और धरेलू वस्तुएं बनाई जाती हैं (Regan, 341-42; Thomson, 741-42; Pycraft, 529-32; Encyclopaedia Britannica, XIV, 244; d'Abreu, *J. Bombay nat. Hist. Soc.*, 1932-33, 36, 269; Reese, 177; Pagnon, *J. Leath. Technol. Ass. India*, 1957, 5, 227).

भारत में पाई जाने वाली छिपकलियों में गेको (गेकोनिडी), ऐंगैमिड (ऐंगैमिडी), और सिनसिड अथवा स्किनक (सिनसिडी) की संख्या अत्यधिक है. केमीलियन (गिरगिट) (कैमोलियोनिडी) और डिवामिड (डिवामिडी) में से प्रत्येक की केवल एक जाति, लैसरटिड (लैसरटिडी) की लगभग दस जातियाँ, ऐनिवड अथवा कांच सर्प (ऐनिवडी) की एक या दो जातियाँ और वैरैनिड अथवा मानिटर (वैरैनिडी) की चार जातियाँ पाई जाती हैं.

गेकोनिडी — गेको रजनीचर, मुलायम खाल वाली छिपकलियाँ हैं जिनकी विस्फारित उंगलियों पर चिपकने वाले उभाड़ होते हैं जिनके सहारे वे दीवारों पर चढ़ सकती हैं और छतों पर रेंग सकती हैं. इस कुल की सामान्य सदस्य हेमीडेक्टोस ब्रुकाई ग्रे, घरों में पाई जाने वाली गेको या दीवारों पर रेंगने वाली छिपकलियाँ हैं (सं. — मुसाली, सरट; हिं. — छिपकली; बं. — टिकटिकी; ते. — बल्लि; क. — हड्डि; त. — पल्ली). भारत में पाये जाने वाले इस कुल के अन्य सदस्य भी इन्हीं नामों से पुकारे जाते हैं और वे इस प्रकार हैं : दक्षिण भारत और बम्बई में पाये जाने वाली एक विशाल जाति लाल गेको (हे. मैकुलेटस), उत्तर कनारा में पाई जाने वाली प्रसाद गेको (हे. प्रसादाइ स्मिथ), दक्षिणी भारत और बंगाल में पाई जाने वाली ब्रिडिलड गेको (हे. फ्रेनेटस श्लेगेल), बम्बई और उत्तर भारत में सामान्य रूप से पाई जाने वाली हे. फ्लैवि-विरडिस रुपेल, स्वजाति भक्षी और समस्त भारत में वृक्षों पर बहुधा घूमने वाली जाति हे. लेस्चेनाउल्डी; मोटी दुम वाली छिपकली (यूल्लेफैरिस हार्डविकार्ड ग्रे) जिसके पाये जाने की सूचना बंगाल, विहार, उड़ीसा, तमिलनाडु, मध्य प्रदेश और उत्तर प्रदेश में है और गेको गेको लिनियस या सामान्य गेको जो विहार, बंगाल और अण्डमान में पाई जाती है.

ऐंगैमिडी — ऐंगैमिड केवल पुरानी दुनिया में पाई जाने वाली छिपकलियाँ हैं, जिनमें सजावटी उपांग पाये जाते हैं, जैसे मुकुट और गले की शैलियाँ. उनमें रंग-विरंगी रेखाकृतियाँ देखने को मिलती हैं. खाल पर हड्डियों की प्लेटें नहीं होतीं और दुम साधारणतः लम्बी तो होती है, किन्तु जल्दी टूट कर नहीं गिरती. इस कुल की भारत में पाई जाने वाली सबसे महत्वपूर्ण प्रतिनिधि छिपकलियाँ इस प्रकार हैं : उड़ने वाली छिपकली (ड्रेको जातियाँ) जो वृक्षों पर रहती हैं. इनमें पंखों जैसी सुन्दर रंगों वाली झिल्लियाँ रहती हैं जिनके सहारे वे एक पेड़ से दूसरे पेड़ पर चली जाती हैं; पंख-जैसे गले वाली छिपकली

(सिटाना पोण्डेरेरिआना क्यूवियर) क्रुद्ध होने पर अपने गले के उपांगों को इतनी तेजी से खोलती और बंद करती है कि शिलमिलाने प्रकाश के स्फुलिंग निकलने का आभास मिलता है; रक्त चुपक (कैलोटीस जातियाँ); आगामा दुबरकुलेटा ग्रे जो शिमला, मसूरी और नैनीताल की उजाड़ चट्टानों में पायी जाती है; सामोफाइलस डोर्सेलिस (ग्रे) जो दक्षिण भारत की ऊँची पहाड़ियों पर पायी जाती है; काँटेदार पूँछ वाली छिपकली (यूरोसैस्टिक्स हार्डबिकाई ग्रे) जो उत्तर पश्चिमी भारत और उत्तर प्रदेश के रेतीले स्थानों और गहरे गड्ढों में रहती है. यूरो-सैस्टिक्स हार्डबिकाई नाम की छिपकली को पाला जा सकता है. कहा जाता है कि कुछ आदिवासी इसको खाते हैं इसकी वसा लेप के लिए इस्तेमाल की जाती है. गड्ढों से शीत निष्क्रिय छिपकलियों को खोद कर निकाला जाता है और घोड़ों की औषध में प्रयोग किया जाता है

कैमोलियोनिडी - गिरगिटों की विशेषता है, उनकी परिग्रही पूँछ, इधर-उधर घूमने वाली आँखें, दूर तक बाहर निकल सकने वाली जीभ, वस्तुओं को पकड़ने योग्य पंजे और अपनी खाल का रंग परिवर्तन. भारत में इस कुल का प्रतिनिधि **कैमोलियोन जर्नैनिकस** लारेटाई (भारतीय गिरगिट) पाया जाता है, जो दक्षिणी जलडमरूमध्य के जंगलों और गंगा के मैदान के दक्षिण में मिलता है.

सिनसिडी - छिपकलियों में सिनसिड या स्किंक काफी बड़ी संख्या में और सर्वत्र पाई जाती है. वे अधिकतर स्थलीय होती हैं; उनके अंगुलियाँ होती भी हैं और नहीं भी होती और उनमें अंगुलियों के ह्रास तथा अभाव की सभी अवस्थाएँ स्पष्ट दृष्टिगोचर होती हैं. कुछ सिनसिड झरनों और समुद्रों के तट पर रहती हैं और जल में सरलतापूर्वक तैरती हैं. विलकारी सिनसिडों की संख्या काफी है और इनमें आँख के ह्रास और कानों के छिपने के क्रमिक चिन्ह स्पष्ट दिखाई देते हैं. भारत में इस कुल की कई जातियाँ पाई जाती हैं. यथा - माव्या फिट्जिंगर, लाइगोसोमा हार्डबिके और ग्रे; लियोलोपिस्मा, रियोपा ग्रे; रिस्टेला ग्रे आदि.

माव्या कैरिनेटा (स्नाइडर), सामान्य भारतीय स्किंक (म. - सर्पा की मोसी; ते. - नलिकेल्लापाम; क-हावुराणी; पंजाब - रेग-माही), प्रायः सम्स्त भारत में 2,500 मी. की ऊँचाई तक, प्रायः खाली मकानों और ढीली चट्टानी भूमियों में रहती है. यह पेड़ों पर भी पाई जाती है. इस छिपकली से एक औषधीय तेल भी निकाला जाता है.

वैरैनिडी - वैरैनिड या मानिटर, जो पुरानी दुनिया के उष्ण भागों तक ही सीमित है, जीवित छिपकलियों में सबसे बड़ी, 3 मी. तक लम्बी होती है. इसकी चार जातियाँ, जो सभी मासभक्षी होती हैं, भारत में पाई जाती हैं. बैरानस प्रिंसिअस (डाउडिन) के अतिरिक्त एशिया की सभी जातियाँ अच्छी आरोहक हैं. उल्लेख है कि बै. मानिटर (लिनियस) और बै. साल्वाटोर (लारेण्डाइ) खरबूजे, ककड़ी और धान की वालियाँ खाती हैं. कभी-कभी वे चूजों को भी हानि पहुँचाती हैं.

बै. मानिटर (लिनियस) सामान्य भारतीय मानिटर (स. - घोणसल, गधेरा; हि. और बं. - घोसाँप; म - गोर पड़े; ते. - उडुमु; त. - उडुम्बु; क. - उडा, मल. - उडुम्बु, वियावक, मनावक) देश में सभी मैदानी भागों और हिमालय पर 1,800 मी. की ऊँचाई तक पाई जाती है. यह दिन में ही बाहर निकलती है और जमीन में विल वनाकर या दरारों में छिपकर रहती है. यह कभी-कभी खाली मकानों की छतों में पाई जाती है. यह छिपकली ऊपर से भूरी या जैतूनी हरे रंग की होती है जिस पर काले दाग होते हैं परन्तु नीचे से पीली होती है. इसका शरीर लगभग 75 सेमी. और पूँछ लगभग 100 सेमी. होती है; किन्तु इससे भी लम्बी छिपकलियाँ पाई जाती हैं. खाल और माँस प्राप्त करने के लिए इस जाति की छिपकलियों का शिकार कुत्तों द्वारा

किया जाता है. कुछ आदिम जातियाँ इसकी खाल ढोलों और सारंगियों पर मढ़ती हैं और इसका माँस और अण्डे खाती हैं. छिपकली के शरीर से तैयार अवलोक्य क्षयकारी रोगों में दिया जाता है. बै. मानिटर के सूखे माँस में नाइट्रोजन का वितरण इस प्रकार है : ऐमाइड, 0.847; ह्यामिन, 0.193; आर्जिनीन, 10.42; हिस्टिडीन, 13.61; सिस्टीन, 7.81; लाइसीन, 3.77; मोनोऐमीनो नाइट्रोजन, 26.58; और अ-ऐमीनो नाइट्रोजन, 36.21 मिग्रा/ग्रा. (Airan & Ghatge, *Indian J. med. Res.*, 1950, 38, 41).

बै. साल्वाटोर (लारेण्डाइ) एक सामान्य जलीय मानिटर (गारो - आरिंगा, मटफी, फुसिल) है जो पूर्वी हिमालय में 1,800 मी. की ऊँचाई तक नदियों और झरनों में पाई जाती है. यह गारो पहाड़ियों में सिमसांग और सोमेश्वरी नदियों के निकट और सुन्दरवन में अधिक पाई जाती है किन्तु यह पानी से दूर बहुत कम देखी गई है. ग्रीव छिपकली रंग में गहरी जैतूनी और अस्पष्ट पीले धब्बों वाली होती है. इसका शरीर 100 सेमी. तक और पूँछ 150 सेमी. तक लम्बी होती है. इसकी चरबी, त्वचा के रोगों में प्रयुक्त की जाती है. यह सुनहरे रंग का तरल पदार्थ होता है जिसकी विशिष्टताएँ इस प्रकार हैं : साबु. तुल्याक, 283.9; आयो मान, 70.8; अम्ल मान, 4.5, और असाबु. पदार्थ, 1.6%. वसा के रक्तक अम्ल हैं : माइरिस्टिक, 4.2; पामिटिक, 29.3; स्टीरैरिक, 9.8, और असंतुप्त अम्ल (C₁₆, 12.3; C₁₈, 39.6; तथा C₂₀, 4.8), 56.7% (Hilditch & Paul, *Biochem. J.*, 1937, 31, 227).

भारत में मानिटर की दो अन्य जातियाँ पाई जाती हैं : बै. प्रिंसिअस (डाउडिन) और बै. फ्लेवसेस (ग्रे). इनमें से पहली उत्तर पश्चिमी भारत के रेतीले क्षेत्रों में विल वनाकर रहती है और रंग में धूसर भूरी या पीली-भूरी होती है, और दूसरी पंजाब से बंगाल तक पाई जाती है किन्तु पीताम होती है जिस पर बरसात में चौड़ी लाल धारियाँ आरपार उभर आती हैं (Trench, *J. Bombay nat. Hist. Soc.*, 1911-12, 21, 687; Venning, *ibid.*, 1911-12, 21, 690; Bains Prashad, *ibid.*, 1914-15, 23, 370; 1915-16, 24, 834; Gill, *ibid.*, 1923-24, 29, 303).

व्यापार - साधारण भारतीय मानिटरों, रेगिस्तानी मानिटरों और बै. फ्लेवसेस की खालें निर्यात के लिए एकत्रित की जाती हैं. बै. साल्वाटोर की खाल सुन्दर और अच्छी होती है और ऊँचे दामों पर विकती है, किन्तु बहुत कम प्राप्य है. निर्यात के लिए खालों को उनके रंग, प्रतिरूप, गठन और गुणता के अनुसार भिन्न-भिन्न वर्गों में रखा जाता है. ये मुख्यतः संयुक्त राज्य अमेरिका, ब्रिटेन और फ्रांस को भेजी जाती हैं. विदेशों को भेजी जाने वाली छिपकली की तैयार तथा कच्ची खालों के आँकड़े सारणी 1 में दिये गये हैं.

सारणी 1 - छिपकली की खालों का निर्यात*

	तैयार		कच्ची	
	मात्रा (टन)	मूल्य (रु)	मात्रा (टन)	मूल्य (रु)
1957	313.4	25,10,181	8.25	1,29,251
1958	290.75	15,27,450	12.65	1,06,376
1959	298.35	18,52,098	32.05	3,43,060
1960	284.5	17,49,546	26.35	3,11,128

*अप्रैल 1960 से मार्च 1961 तक.

Reptilia; Squamata; Lacertilia; Gekkonidae; Agamidae; Scincidae; Chamaeleonidae; Dibamidae; Lacertidae; Anguillidae; Varanidae; Hemidactylus brooki Gray; *H. maculatus* Dum. & Bibr.; *H. prashadi* Smith; *H. frenatus* Schlegel; *H. flaviviridis* Ruppel; *H. leschenaulti* Dum. & Bibr.; *Eublepharis hardwickii* Gray; *Draco* spp.; *Sitana ponticeriana* Cuvier; *Calotes* spp.; *Agama tuberculata* Gray; *Psammophilus dorsalis* (Gray); *Uromastix hardwickii*

(Gray); *Chamaeleon zeylanicus* Laurenti; *Mabuya Fitzinger*; *Lygosoma* Hardwicke & Gray; *Leiolopisma* Dum. & Bibr.; *Riopa* Gray; *Ristella* Gray; *Mabuya carinata* (Schneider); *Varanus griseus* (Daudin); *V. monitor* (Linn.); *V. salvator* (Laurenti); *V. flavescens* Gray

छुहारा — देखिए फोनिकस

ज

जनकस लिनियस (जनकेसी) JUNCUS Linn.

ले. — जूनकस

यह उत्तर ध्रुवीय, शीतोष्ण और कदाचित् उष्णकटिबंधीय क्षेत्रों में पाये जाने वाले नरकुलों वाली बहुवर्षी, विरलतः एकवर्षी वृद्धियों का विशाल वंश है। भारत में इसकी 30 जातियाँ पाई जाती हैं।

Juncaceae

ज. इनफ्लेक्सस लिनियस सिन. ज. ग्लॉक्स एरहार्ट एक्स शिवथार्प J. inflexus Linn.

ले. — जू. इनफ्लेक्सस

D.E.P., IV, 552; C.P., 776; Fl. Br. Ind., VI, 393; Fyson, II, Pl. 557.

यह 30-75 सेंमी. ऊँची, गुच्छेदार, बेलनाकार तने वाली, गहरे-हरे रंग की, बहुवर्षी वृद्धी है और साधारणतया नम स्थानों पर कश्मीर से नेपाल तक, आका पहाड़ियों, नीलगिरि और पलनी पहाड़ियों और पश्चिमी घाटों के दक्षिणी सिरों पर 1,800-2,700 मी. तक की ऊँचाई पर पायी जाती है। इसमें पत्तियाँ नहीं होतीं और यदि हुई तो तने की भाँति ही बेलनाकार होती हैं। पुष्प छोटे, भूरे, अवृन्त और एकल होते हैं और संयुक्त अंडाकार तथा नुकीले।

ज. इफ्यूसस की भाँति इस रस का उपयोग भी चटाई और टोकरी बनाने के लिए किया जा सकता है। दुष्काल में इसका उपयोग चारे के रूप में किया जाता है। प्रारम्भ में तो पशु इसे स्वाद से नहीं खाते परन्तु एक बार मुँह लग जाने पर इस पर टूट पड़ते हैं। पशुओं के लिए यह विपैला बताया जाता है और इससे अमाशय का क्षोभ तथा अतिसार और उसके बाद तीव्र गति से स्वास्थ्य में गिरावट, अधीरता और वर्धमान अन्धता हो जाती है। आक्षेप के बाद प्रमस्तिष्क-रक्तस्राव से पशुओं की मृत्यु हो सकती है। क्लोरोफार्म सुँधाने के साथ-साथ ईशर में ब्रांडी और कपूर के अवत्वक इंजेक्शन देने से आराम मिलता है। धीरे-धीरे पशु स्वास्थ्य-लाभ करते हैं। लम्बी अवधि तक उन्हें बाहर खुले में नहीं रखना चाहिए (Forsyth, Bull. Minist. Agric., Lond., No. 161, 1954, 87).

ज. इफ्यूसस लिनियस सिन. ज. कम्यूनिस ई. मेयर J. effusus Linn.

साफ्ट, कामन अथवा मैटिंग रस

ले. — जू. एफ्यूसस

D.E.P., IV, 552; C.P., 776; Fl. Br. Ind., VI, 392.

यह घने गुच्छों वाली, बेलनाकार, 30-90 सेंमी. ऊँची, नरम तथा बहुवर्षी वृद्धी है और सिक्किम में हिमालय पर्वत (1,800-3,000 मी.) तथा खासी (1,500-1,650 मी.) और आका पहाड़ियों में नम तथा दलदली स्थानों पर पायी जाती है। इसकी पत्तियाँ छोटी तथा तने के आधार को आच्छादित करने वाली; पुष्पक्रम परिवर्तनशील, छितरा, विरल और निलंबी; पुष्प हरे अथवा भूरे रंग के और गुच्छों में; संयुक्त अधोमुख अंडाभ और बीज सूक्ष्म होते हैं।

रस का उपयोग चटाइयाँ, टोकरी और कुर्सी की सीट बनाने के लिए किया जाता है। चीन में इसका उपयोग पार्सल बाँधने के लिए किया जाता है। फिलीपीन्स में इससे बारीक भूसा तैयार किया जाता है। तने का पिय लालटेन और मोमवत्ती में बत्ती की तरह इस्तेमाल किया जाता है (Burkill, II, 1271-72; Brown, 1941, I, 365).

पत्तियों में (शुष्क आधार पर) प्रोटीन, 8.6; ऐमाइड, 1.6; नाइट्रोजन मुक्त निष्कर्ष, 54.3; वसा, 2.4; रेशा, 31.0; और राख, 3.6% होती है। पत्तियों में ग्लूकोस (लेकिन स्पूकोस नहीं); कार्बनिक अम्ल तथा क्षार का रंच, पेण्टोसोन, कुछ मेथिल पेण्टोसोन तथा वसा-अम्लों सहित वसा की सूक्ष्म मात्राएँ भी पाई जाती हैं। पत्तियों में 64% सेलुलोज होता है। इस घास की क्षार-पाचित (2% कास्टिक सोडा) लुगदी से एक रेशा प्राप्त होता है जिसे धागे के रूप में काता जा सकता है (Wehmer, I, 140; Chem. Abstr., 1941, 35, 6809).

पिय का काढ़ा अश्वरीरोधी, वक्ष औषध और शोथहारी समझा जाता है। चीन में पिय का उपयोग मूत्रल और विशोधक की भाँति, तथा भगंदर के मस्सों को खुला रखने के लिए किया जाता है। इसकी जड़ विन्दुमूत्रकृच्छ में विशेष रूप से मूत्रल है। यह पौधा पशुओं के लिए विपैला बताया जाता है (Burkill, II, 1272; Roi, 72; Steinmetz, II, 256; Watt & Breyer-Brandwijk, 10).

ज. ग्रीजमैटोकार्पस आर. ब्राउन गुच्छों में उगने वाली, 45-60 सेंमी. ऊँची, बहुवर्षी वृद्धी है, जो हिमालय पर्वत में, पंजाब से असम तक, 3,000 मी. की ऊँचाई तक पायी जाती है। यह तमिलनाडु, पश्चिमी घाट और केरल में दलदली स्थानों, तालाबों और नदी के किनारे पायी जाती है। यह सायनोजनी बताया जाती है (Webb, Bull. Com. Sci. industr. Res. Aust., No. 232, 1948, 66).
J. glaucus Ehrh. ex J. communis E. Mey.; J. prismatocarpus R. Br.

जम्बू, जम्बूरा — देखिए सिलोजियम

जरमंडर — देखिए ट्यूक्रियम

(परिशिष्ट : भारत की सम्पदा)

जसिईया लिनियस (ओनाग्रासी) JUSSIAEA Linn.

ले. — जूस्सियाएआ

यह संसार के उष्णकटिबंधीय और उपोष्णकटिबंधीय क्षेत्रों, विशेष रूप से अमेरिका में पाई जाने वाली बहुधा पानी में अथवा दलदलीय स्थानों में उगने वाली वृष्टियों अथवा उपजाड़ियों का वंश है। भारत में इसकी तीन जातियाँ पाई जाती हैं।

Onagraceae

ज. रिपेन्स लिनियस *J. repens* Linn.

ले. — जू. रेपेन्स

Fl. Br. Ind., II, 587

बंगाल — केसर-दम; बिहार — ढावनी, केसरिबा.

यह भारत के समस्त मैदानी भागों, तालाबों, दलदलों और नदी के किनारों पर उगने वाली एक रसदार, विसर्पी अथवा प्लवमान वृद्धि है। जब यह प्लवमान होती है तो पर्णधारों के नीचे स्थित स्पंजी पुटिकाएँ (1.25–3.75 सेंमी. लम्बी) इसके तनों को सहारा देती हैं। इसकी पत्तियाँ एकान्तर, अधोमुख अण्डाकार अथवा अधोमुख भालाकार होती हैं; पुष्प श्वेत, एकल, कक्षवर्ती; संपुट काष्ठमय, रैखिक बेलनाकार (1.25–3.75 सेंमी. लम्बे), तथा बीज बहुसंख्य होते हैं।

इस वृद्धि का उपयोग ब्रणों तथा चर्म रोगों के लिए पुल्टिस बनाने में अथवा लुगदी की भाँति किया जाता है (Bressers, 65; Burkill, II, 1273).

ज. सफूटिकोसा (लिनियस) सी. बी. क्लार्क *J. suffruticosa* (Linn.) C. B. Clarke

ले. — जू. सुफरुटिकोसा

D.E.P., IV, 556; Fl. Br. Ind., II, 587; Kirt. & Basu, Pl. 436.

सं. — भूलवंग; हिं. — वनलुंग; बं. — वनलुंग, लालवनलुंग; म. — पानालवंग; ते. — नीरुयागिन्-वेन्द्रमु; त. — काटुकिरम्बु, किरमवुप्पुंड, नीकिरम्बु; क. — कावाकुला; मल. — काटुतुम्बा, काटुकारयम्पु; उ. — वीलीलोबोगो.

यह भारत के अधिकतर भागों में, साधारणतया नम मैदानी क्षेत्रों में पाया जाने वाला, 2.4 मी. तक ऊँचा, सीधा, अत्यन्त प्रशाखित, मूल में काष्ठीय और ऊपरी भाग में अकाष्ठीय बहुवर्षी पौधा है। इसकी पत्तियाँ एकान्तर, लगभग अवृन्त, अत्यधिक परिवर्ती, रैखिक से लेकर स्थूल रूप से दीर्घवृत्ताकार तक, और कुछ-कुछ लोमश; पुष्प पीले, चतुष्टयी, एकल और कक्षस्थ, संपुट उपचतुर्भुजी (2.5–5 सेंमी.) लम्बे, देखने में लौंग जैसे शिल्लीमय, और बीज बहुसंख्य, सूक्ष्म, अंडाभ, यमज तथा चमकदार होते हैं। जैसा कि 'फ्लोरा आफ ब्रिटिश इंडिया' में इसका वर्णन मिलता है, यह जाति बहुत परिवर्ती है और बहुत से विद्वान ऐसा समझते हैं कि इसमें कई जातियाँ शामिल हैं, किन्तु आधिक उपयोगों के आधार पर उनका निर्णय करना सम्भव नहीं है।

यह पौधा स्तम्भक, वातानुलोमक, मृदु विरेचक, मूत्रल और कृमिनाशक माना जाता है। पौधे का काड़ा आध्मान, जलशोफ, श्वेत प्रदर तथा धूक के साथ खून आने पर दिया जाता है; अतिसार और पेचिश में

भी इसका उपयोग किया जाता है। ज्वर में इसकी जड़ का काढ़ा दिया जाता है। इसकी पत्तियाँ श्लेष्मक होती हैं और मलाया में सिर दर्द, वृषणशोथ, और गर्दन की ग्रंथियों में पुल्टिस करने के लिए तथा तंत्रिका रोगों में इनका उपयोग किया जाता है। पत्तियों से एक प्रकार की चाय भी बनाई जाती है। अफ्रीका में इस पौधे का उपयोग आमवात वेदना के उपचार के लिए किया जाता है (Kirt. & Basu, II, 1089; Burkill, II, 1274; Bressers, 66; Dalziel, 42).

ज. टेनेला वर्मन पुत्र सिन. ज. लिनफोलिया वाल, ज. फिसेण्डोकार्पा हेस विहार और उड़ीसा के जलीय और दलदली स्थानों में तथा दक्षिण भारत के कुछ स्थानों में पायी जाने वाली 90–120 सेंमी. ऊँची बहुशाखी उपजाड़ी है। इसकी पत्तियाँ कुछ अवृन्त और रैखिक भालाकार होती हैं। मलाया में धान के खेतों में यह पौधा आमतौर पर पाया जाता है और वहाँ हरी खाद के लिए अन्य पौधों के साथ इस पर भी हल चला दिया जाता है। इसकी जड़ का क्वाथ सिफलिस में दिया जाता है। सेलीवीस में इस पौधे का उपयोग पिटिकाओं के लिए पुल्टिसों में और फिलीपीन्स में काला रंजक तैयार करने में किया जाता है (Burkill, II, 1273; Brown, II, 403).

J. tenella Burm. f.; *J. linifolia* Vahl; *J. fissendocarpa* Haines

जस्टिसिया लिनियस (एकैन्थेसी) JUSTICIA Linn.

ले. — जुस्टिसिया

यह संसार के उष्णकटिबंधीय क्षेत्रों में पाए जाने वाले शाकों या झाड़ियों का एक विशाल वंश है। भारत में इसकी लगभग 50 जातियाँ पाई जाती हैं।

Acanthaceae

ज. जेण्डारुसा वर्मन पुत्र सिन. ज. बल्गेरिस नीस

J. jendarussa Burm. f.

ले. — जू. गेंडारुस्सा

D.E.P., IV, 557; Fl. Br. Ind., IV, 532; Kirt. & Basu, Pl. 724.

हिं. — उडिसंभालू, नीली नारगंडी; बं. — जगत्मदन; म. — वकास, काला अडूलसा, टाग्रो; ते. — अडुसरमु, गंधरासमु नल्लनोविलि, नेलवाविल्लि; त. — करुनोच्चि, वडैक्कुती; क. — करिलक्कि, करिनेक्कि, नेच्चुकड्डि; मल. — करिनोच्चिल, वतनकोल्लि; उ. — कुकु-रोदोति.

असम — तीता वहक, विशाल्यकरणि; गारो — दाजागिपे; मिकिर — टिटिरिया सोसोरोंग.

यह भारत के अधिकतर भागों और अण्डमान द्वीपसमूहों में पायी जाने वाली 60–120 सेंमी. ऊँची सदापर्णी झाड़ी है। इसकी पत्तियाँ 6.25–12.5 सेंमी. लम्बी भालाकार अथवा रैखिक भालाकार, अरोमिल; पुष्प छोटे, अन्दर से गुलाबी अथवा नील-लोहित धब्बों से युक्त श्वेत, और अंतस्थ या कक्षवर्ती स्पाइकों में; संपुट 1.25 सेंमी. लम्बे, मृगदराकार, अरोमिल और 4 बीजों वाले होते हैं।

ज. जेण्डारुसा मूलतः चीन का पौधा माना जाता है। भारतीय उद्यानों में यह वाड़ अथवा किनारे के पौधों के रूप में काफ़ी उगाया जाता है। कभी-कभी यह पलायित पाया जाता है। इसका प्रवर्धन

कलमों द्वारा होता है और यह तेजी से बढ़ता है। यह सहिष्णु पौधा है, भारी वर्षा भी सह लेता है। यह साये में खूब बढ़ता है (Duthie, II, 210; Gopalaswamiengar, 182, 188).

यह पौधा ज्वरशामक, वामक, आर्तवजनक और स्वेदकारी समझा जाता है। मलाया में पंगलपन, दुर्बलता और सर्पदंश के उपचार के लिए इसका उपयोग किया जाता है। अनार्तव तथा उदर रोगों के लिए भी यह दिया जाता है। इसकी पत्तियाँ कालिक ज्वररोगी, रूपान्तरक तथा कीटनाशी होती हैं। ताजी पत्तियाँ बाह्य लेप के रूप में बेरीबेरी के शोफ और ग्रामवात में उपयोग की जाती हैं। पत्तियाँ और कोमल तने स्वेदल समझे जाते हैं तथा शीर्षांति, पक्षाघात और आननघात में पत्तियों का फाँट आंतरिक रूप से दिया जाता है। पत्तियों के रस में आन्तरिक रक्तस्राव को रोकने का गुण बताया जाता है। यह रस कान के दर्द के लिए कान में और आघातों के लिए नथुनों में डाला जाता है। बच्चों के उदरशूल के लिए भी इसका उपयोग किया जाता है। इसकी जड़ के भी अनेक औषधीय उपयोग हैं। इसकी छाल वामक समझी जाती है [Kirt. & Basu, III, 1897; J. sci. Res. Indonesia, 1952, 1 (suppl.), 30; Burkill, I, 1066; Nadkarni, I, 572; Quisumbing, 889-90; Biswas, Manufacturer, 1950-51, 2(1), 6].

इसकी पत्तियों में एक तिक्त और हल्का विपैला ऐल्कलायड होता है। इसकी जड़ के काढ़े अथवा ऐल्कोहलीय निष्कर्ष को चूहों को 1-2 ग्रा./किग्रा. शरीर भार के अनुसार देने पर चूहों को हल्का-सा अंगघात हो गया, 10-12 ग्रा./किग्रा. के हिसाब से देने पर यह ज्वरहर और अवसादक होता है, प्रचण्ड अतिसार उत्पन्न करता है और अन्ततः मृत्यु का कारण बनता है (Wehmer, II, 1143; Chem. Abstr., 1937, 31, 2688).

J. vulgaris Nees

ज. प्रोकम्बेंस लिनिअस *J. procumbens* Linn.

ले. - जु प्रोकम्बेंस

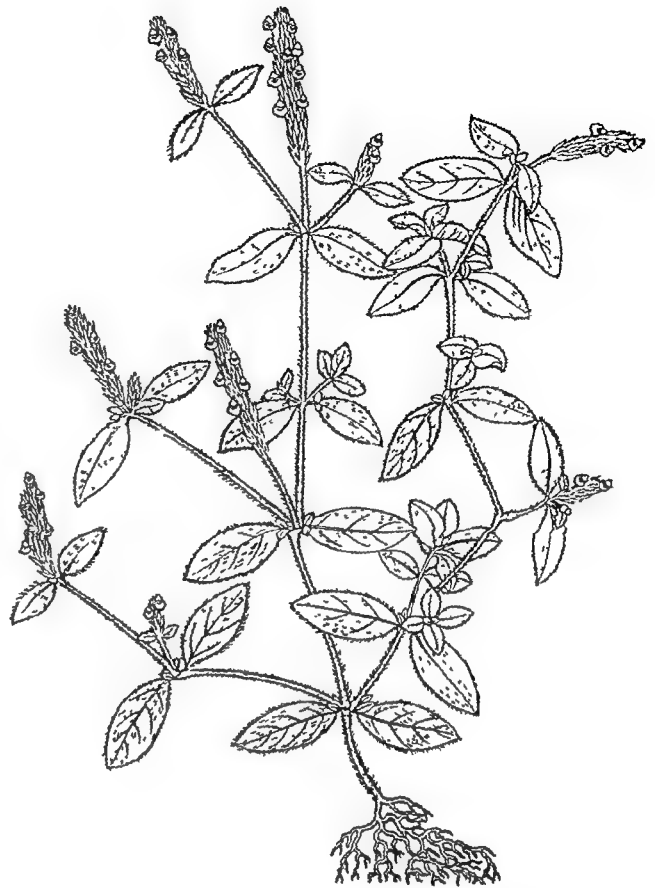
D.E.P., IV, 557; Fl. Br. Ind., IV, 539.

म. - करंवल, कलमाशी; त. - ओट्टपिल्लू, पोम्बिल्ल, पाल्कोडी, नेरइप्पती; क. - हुच्चुनेलावेरु.

वर्षा - घाटी-पित्तपापड़ा, पित्तपापड़ा.

यह 10-40 सेंमी. तक ऊँचा भूसर्पी, सर्पी, कोमल तथा वार्षिक शाखित पौधा है और विहार, राजस्थान की अरावली पहाड़ियों, डेकन, पश्चिमी घाट में पलनी से दक्षिण तथा कोंकण से केरल तक पाया जाता है। यह प्रायः नम स्थानों पर उत्पन्न होता है और वर्षा ऋतु में बहुतायत से पाया जाता है। पत्तियाँ दीर्घवृत्तीय या नुकीली; फूल, पीताभ नील-लोहित, घने, अंतस्थ बेलनाकार स्पाइक; संपुटिकाएं आयताकार एवं कुछ नुकीली तथा सिरे पर रोएँदार; और बीज अस्थि-युक्त होते हैं.

कहा जाता है कि महाराष्ट्र के इलाकों में यह पौधा खाद्य है। सूखे हुए पौधे का स्वाद अरुचिकर एवं तिक्त होता है और इसका उपयोग प्यूमेरिया वेल्लेण्डा लासेलायर से प्राप्त होने वाले असली पित्तपापड़े के अनुकल्प के रूप में होता है। यह विरेचक, प्रस्वेदक, मूत्रल, रूपान्तरक, कफोत्सारी, कृमिनाशक, तथा ज्वरशामक है। आँख दुखने पर इसकी पत्तियों का रस आँख में निचोड़ा जाता है। दमा, खाँसी, गठिया, पीठ का दर्द, अतिरिक्त प्रवाह, कटिवेदना तथा आध्मन की चिकित्सा में इस पौधे का फाँट दिया जाता है। हड्डियों की बीमारियों तथा वक्रता



चित्र 43 - जस्तित्रिआ प्रोकम्बेंस - पुष्पित पौधा

रोग के उपचार के लिए पत्तियों का काढ़ा दिया जाता है। कहा जाता है कि मुंडा जन-जाति के लोग भैंसों के घावों के उपचार के लिए इस पौधे का उपयोग करते हैं (Chopra, 501; Nadkarni, I, 715; Kirt. & Basu, III, 1898; Quisumbing, 891; Cheo, Bot. Bull. Acad. sinica, 1947, 1, 307; Crevost & Petelot, Bull. econ. Indoch., 1934, 37, 1284; Bressers, 112).

Fumaria vaillantii Loisel.

ज. बेटोनििका लिनिअस *J. betonica* Linn.

ले. - जु. बेटोनििका

Fl. Br. Ind., IV, 525.

ले. - टेल्लारट्टु; त. - वेलिमुंगिल; मल. - वेल्लकुंजी, वेंकुरिन्नी. मध्य प्रदेश - मोकन्दर; बिहार - हाड़ पाट.

60-120 सेमी. ऊँची यह सीधी भाड़ी सम्पूर्ण भारत में पर्वतीय घाटियों, ऊसरों और बाड़ों में मिलती है। छोटे, गुलाबी या लाल चिन्हों से युक्त श्वेत रंग के फूल सादे या शाखित अंतस्थ स्पाइको में लगते हैं.

पौधे का उपयोग सूजन में लेप की भाँति तथा प्रवाहिका में किया

जाता है. श्रीलंका में फोड़ों पर इसकी पुल्टिस बांधते हैं (Burkill, II, 1274; Haines, IV, 691; Macmillan, 365).

ज. डिफ्यूजा विल्डेनो=ज. परप्पूरिया लिनियस वैर. बालाइ सी. वी. क्लार्क लम्बी, फली हुई तथा सेंकरी पत्तियों वाली बूटी है जो रांची (बिहार), सरकारों एवं डेकन में पायी जाती है. मुंडा जन-जाति के लोगों द्वारा इस बूटी की जड़ का उपयोग पागलपन के उपचार में किया जाता है. ज. विनववेगुलेरिस कोइनिंग लगभग सम्पूर्ण भारत में पायी जाने वाली 30-45 सेंमी. ऊँची भूशायी या आरोही झाड़ी है. इसकी पत्तियों की तरकारी बनाई जाती है. ज. सिम्प्लेक्स डी. डान (दिल्ली-आंगा) सीधी कोमल बूटी है. यह हिमालय में 2,100 मी. की ऊँचाई पर भी मिलती है. ज. द्वेवेवैरिएन्सिस लिनियस पुत्र (त. - सिवनारवेंदु) डेकन, कर्नाटक तथा मैसूर के दक्षिण में पायी जाने वाली छोटी उप-झाड़ी है. इस झाड़ी की पत्तियों का रस ठंडा एवं मृदु विरेचक माना जाता है. यह रस बच्चों को चेचक निकलने पर दिया जाता है. वदन पर भीतरी चोट के कारण नीला पड़ने पर इस झाड़ी की पत्तियाँ पीसकर लगाई जाती हैं. ज. बासक्युलोसा बालिश पूर्वी हिमालय, शिवसागर (असम) और खासी पहाड़ियों पर 600 से लेकर 1,500 मी. की ऊँचाई तक मिलने वाली छोटी झाड़ी है. इस पौधे की पत्तियाँ सूजन के उपचार में प्रयुक्त होती हैं (Bressers, 112; Fl. Madras, 1081; Fl. Delhi, 277; Nadkarni, I, 715; Fl. Assam, III, 454).

J. diffusa Willd.; *J. purpurea* Linn.; *J. quinqueangularis* Koenig; *J. simplex* D. Don; *J. tranquebariensis* Linn. f.; *J. vasculosa* Wall.

जाइगैण्टोक्लोआ कुर्ज (ग्रेमिनी) GIGANTOCHLOA Kurz

ले. - गिगैण्टोक्लोआ

D.E.P., III, 498; Fl. Br. Ind., VII, 398; With India, I, 145.

यह वृक्षवत् अथवा आरोही वाँसों का वंश है और दक्षिण पूर्व एशिया से लेकर न्यू गिनी तक पाया जाता है. इसकी एक जाति भारत में मिलती है.

जा. मैक्रोस्टैकिया कुर्ज (गारो पहाड़ियाँ - तेक्सेराह) कल्मयुक्त सदाहरित वाँस है. इस पर प्रायः सफेद अनुदैर्घ्य पट्टियाँ बनी रहती हैं. इसके पेड़ 9-15 मी. ऊँचे और 5-10 सेंमी. घेरे के होते हैं और शिथिल गुच्छे बनाते हैं. ये वाँस गारो और लुशाई की पहाड़ियों में पाये जाते हैं और इनका स्थानीय उपयोग चट्टाई और टोकरियाँ बनाने में होता है (Gamble, 749; Troup, III, 1005; Rodger, 74).

Gramineae; *G. macrostachya* Kurz

जाइनूरा कैसिनी (कम्पोजिट) GYNURA Cass.

ले. - गिनूरा

यह शाकीय वनस्पतियों का वंश है जिसके पौधे कभी-कभी नीची झाड़ियों के रूप में भी मिलते हैं. ये पुरानी दुनियाँ के उष्णतर भागों में पाए जाते हैं. भारत में लगभग सात जातियाँ पाई जाती हैं; कुछ उद्यानों में उगाई जाती हैं.

Compositae

जा. स्पूडो-चाइना द कन्दोल *G. pseudo-china* DC.

ले. - गि. प्लेऊडो-चिना

Fl. Br. Ind., III, 334.

यह पतले, छोटे तने वाला बूटीय पौधा है जिसकी जड़ें कंदिल होती हैं. यह पूर्वी हिमालय, असम और तिरुनेलवेलि तथा त्रावनकोर की पहाड़ियों में पाया जाता है. पत्तियाँ उपमूलान्कुरी, अंडाकार या अधोमुख भालाकार, लहरदार या दीर्घ पिच्छाकार तथा अत्यन्त परिवर्तनशील; पुष्प-गुच्छ 2.5-12.5 सेंमी. लम्बे, पुष्पवृत्त युक्त और शाखित समश्लिष्ट होते हैं.

यह पौधा शमनकारी और शोथहर माना जाता है और इंडोनेशिया में विषर्प रोग में पुल्टिस बांधने के लिए और सीने के अर्बुदों के लिए इस्तेमाल किया जाता है. फुंसियों पर पत्तियों की पुल्टिस बाँधी जाती है और गले में सूजन होने पर पत्तियों के रस से गरारा करते हैं. रधिर-परिसंचरण में बाधा पड़ने, विशेषतया चोट लगने पर नीला पड़ने या दाग बन जाने से इस पौधे की कंदिल जड़ें बाह्य और आंतरिक दोनों तरह से इस्तेमाल की जाती हैं. ये शीतलतादायक औषध के रूप में तथा कुष्ठ के उपचार में भी काम आती हैं. गर्भवती स्त्री को इसकी पिसी हुई जड़ चाय में मिलाकर प्रसव से पहले पिलाई जाती है (Caius, *J. Bombay nat. His. Soc.*, 1940, 41, 845; Burkill, I, 1122; Macmillan, 365).

जा. ज़ेपिडायोडीस वेंथम असम में पाई जाने वाली बूटी है. यह अफ्रीका में तरकारी की तरह खायी जाती है. पत्तियों का काढ़ा सिर दर्द में लोशन की तरह काम आता है और हल्का-सा क्षुधावर्धक होता है (Dalziel, 418).

जा. औरेशियाका द कन्दोल (मखमली पौधा) मजबूत, बूटीय, 60-90 सेंमी. ऊँचा पौधा है जो अपनी अंडाकार रंगदीप्त पत्तियों के लिए भारत के उद्यानों में उगाया जाता है. पत्तियाँ बैंगनी या नीलासुर रोमों से ढकी रहती हैं. यह कलमों से उगाया जाता है और थोड़ी छाया में खूब बढ़ता है. जावा में इसकी पत्तियाँ दाद में इस्तेमाल की जाती हैं (Firminger, 476; Burkill, I, 1121).

G. crepidioides Benth.; *G. aurantiaca* DC.

जाइरीनाप्स गेर्तनर (थायमीलिएसी) GYRINOPS Gaertn.

ले. - गिरिनोप्स

Fl. Br. Ind., V, 199, 862.

यह श्रीलंका, दक्षिण भारत और मोलक्कास में पाये जाने वाले वृक्षों का लघु वंश है. इसकी एक जाति जा. बैला गेर्तनर तमिलनाडु के तिरुनेलवेलि घाट में पाई जाती है.

जा. बैला पतले तने और गोलाकार शीर्ष वाला छोटा वृक्ष है जिसकी छाल पतली, भूराभ भूसुर रंग की और चिकनी तथा पेड़ से आसानी से उतारी जा सकती है. पत्तियाँ एकांतर क्रम में सज्जित, लगभग 10 सेंमी. लम्बी, संकीर्ण आयताकार या आयत-भालाकार, आधार पर नुकीली, ऊपरी सतह गहरे सेविया हरे रंग की; फूल हल्के पीले, छोटे वृत्त वाले पुष्प-छत्रों में विन्यस्त होते हैं. भीतरी छाल से एक मजबूत रेशा निकलता है जिससे श्रीलंका में रस्ते बनाये जाते हैं. यह टोप, उत्तम चटाइयाँ और सिगारदान बनाने में भी उपयोगी है. लकड़ी नरम, सफेद और हल्की होती है और बोया, निशानेबाजी के पट्टे और कैडज छतों के लिए शहतीर और बढ़िया फर्नीचर बनाने के लिए

मढ़ाई के रूप में काम आती है (Lewis, 330; Macmillan, 409; Gamble, 579).

Thymelaeaceae; *G. walla* Gaertn.

जाइरोकार्पस जैविवन (हर्नेडिएसी) GYROCARPUS Jacq.

ले. — गिरोकार्पस

यह सम्पूर्ण उष्णकटिबंध में फैला हुआ वृक्षों का वंश है. भारत में इसकी केवल एक जाति पाई जाती है.

Hernandiaceae

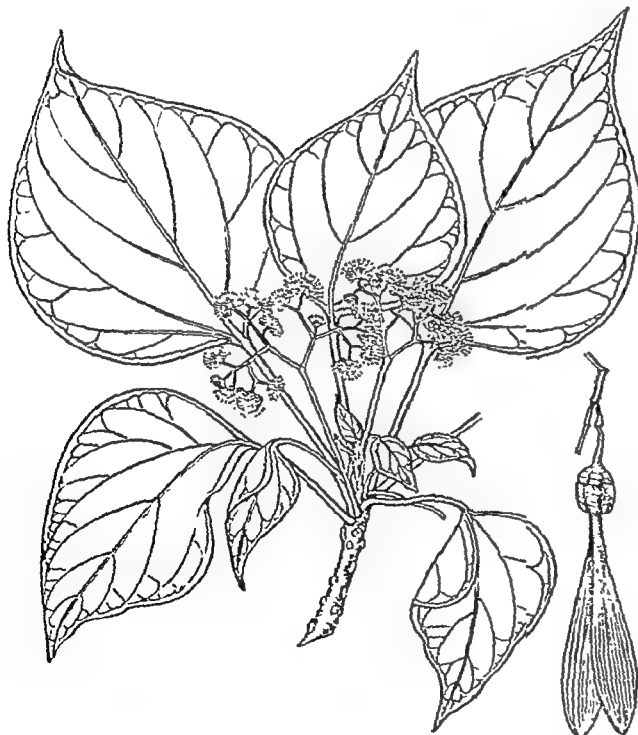
जा. अमेरिकैनस जैविवन सिन. जा. जैविवभाइ गेर्तनर
G. americanus Jacq.

ले. — गि. अमेरिकानस

D.E.P., IV, 197; Fl. Br. Ind., II, 461.

हि., वं. और गु. — जैतून; तै. — तानुकु, नल्लपानकु, पावुरपुवेट्टु; त. — तनक्कु, काडावाई, करमानक्के, तैय्यम, मुनुवु; क. — काडुवडे, तनुकु; उ. — पिट्टेला, सुतोरोनो.

यह मझोले आकार से लम्बा पर्णपाती वृक्ष है जिसकी छाल हरिताम्र रंग की, चिकनी और चमकदार होती है. यह दक्षिण भारत, उड़ीसा, बंगाल और अंडमान में पाया जाता है. पत्तियाँ एकांतर, चौड़ी, अंडाकार



चित्र 44 — जाइरोकार्पस अमेरिकैनस — पुष्पित शाखा और फल

तथा निशिताग्र; फूल सर्वलिंगी, सफेद और पीलाभ, बड़े और घने ससीमाक्षों में; फल गोलाभ अंडाकार तथा दो रेखाकार स्वेचुलानुमा पंखों से युक्त; और गुठली कठोर, जिसमें संवलित बीजपत्र होते हैं.

लकड़ी धूसर रंग की, नरम, हल्की (भार, लगभग 352 किग्रा./घमी.) और सुस्पष्ट रूपहले दानेदार होती है. यह बड़ी आसानी से भट्टे में सुखाई जा सकती है. इसका प्रयोग खिलौने, नकली फल, नक्काशीदार आकृतियाँ, पढ़ाई के नमूने, कंधे, ट्रे, संदूक और फर्नीचर बनाने में होता है. यह लकड़ी विशेषतया दोनावा और चप्पू बनाने में काम आती है. मलेशिया में इसकी डोंगियाँ बनाई जाती हैं, पर यह ज्यादा टिकाऊ नहीं होती. घटिया किस्म की पेंसिले बनाने में भी यह उपयोगी है. बीजों से सुमिरनी और गलहार बनाये जाते हैं (Gamble, 350; Rehman, *Indian For.*, 1953, 79, 369; Trotter, 1944, 228; Burkill, I, 1123; Rehman & Ishaq, *Indian For. Leaf.*, No. 66, 1495, 6).

छाल में दो ऐल्कलायड पाये जाते हैं : द्वितीयक क्षारक, फीएथीन ($C_{33}H_{49}O_6N_2$; ग. बि., 222–24°; उपलब्धि, 0.4–0.6%) और एक चतुष्क क्षारक, *d*-मैग्नेकुरेन ($C_{39}H_{59}O_9N$, ग. बि., 181.5–83°; उपलब्धि, 0.6–0.7%). दूसरे ऐल्कलायड में कुरारीकरण के गुण होते हैं. पत्तियों में 0.03% फीएथीन तो होता है, किन्तु *d*-मैग्नेकुरेन बिल्कुल नहीं होता (McKenzie & Price, *Austr. J. Chem.*, 1953, 6, 180).

G. jacquinii Gaertn.

जारुल — देखिए लैंगस्ट्रोमिया

जिजेली — देखिए सोसेमम

जिनैण्ड्राप्सिस द कन्दोल (कप्पारिडेसी) GYNANDROPSIS DC.

ले. — गिनाण्ड्रोप्सिस

यह विश्व के उष्ण और उपोष्णकटिबंधी भागों में फैली हुई वृष्टियों का वंश है. भारत में इस की दो जातियाँ पाई जाती हैं.

Capparidaceae

जि. जिनैण्ड्रा (लिनियस) ब्रिक्वेट सिन. जि. पेंटाफिला द कन्दोल *G. gynandra* (Linn.) Briq.

ले. — गि. गिनाण्ड्रा

D.E.P., IV, 190; Fl. Br. Ind., I, 171.

सं. — सूर्यवर्त, अर्क पुष्पिका; हि. — हुलुल, चुरोटा, गंधली; वं. — सादा हरहुरिया, अनासरिशा; म. — कानफोड़ी, मोतीतिलावान, पानचारी तिलावान; गु. — अदिक्या खारान, सतीतलवनी; तै. — वामिटा, वैडंता, वेल्लाकूर; त. — कटकडुगु, वेलाड, तड्वेल; क. — नारूम वेडे सोप्पू, तिलोनि; मल. — कारावला, तड्वेला.

बिहार — सेताकाठा अर्क, चमानी, मारंग चारमनी; पंजाब — कथाल, पडहार; राजस्थान — बगरा.

यह एक सीधा, कुछ-कुछ दिखावटी, ग्रंथिल, रोमिल, 30–90 सेंमी. ऊँचा एकवर्षी है, जो भारत के उष्ण भागों में बंजर या कृष्ट भूमि में सर्वत्र पाया जाता है. पत्तियाँ दीर्घवृत्तीय, अंगुल्याकार 3–5 पर्ण-योजित,

पत्रक असमान, अल्पवृत्तीय, अधोमुख अंडाकार या दीर्घवृत्तीय आयताकार; पुष्प श्वेत या नील-लोहित, समशिखी असीमाक्षों पर; सम्पुटिकाएँ 5-10 सेंमी. लम्बी, रैखित, वृक्काकार, झुरीदार वादामी, भूरे या कृष्णवर्णी बीजों से युक्त होती हैं।

पत्तियाँ सज्जी की तरह खाई जाती हैं और इनसे चटनी को स्वादिष्ट एवं सुगंधित बनाते हैं। इनका अचार भी बनता है। पत्तियाँ तिकत होती हैं लेकिन उबालने पर तिक्तता जाती रहती है। इसमें यह स्वाद लहसुन और सरसों की भाँति ही एक तीक्ष्ण वाष्पशील तेल की उपस्थिति के कारण होता है। इण्डोनेशिया में पीपे की गणना पशु-चारे के रूप में होती है। क्वींसलैंड (ऑस्ट्रेलिया) में यह भेड़ और मुर्गियों के लिए विप्रेला बताया गया है (Burkill, I, 1119; Walandouw, J. sci. Res. Indonesia, 1952, 1, 201; Webb, Bull. Coun. sci. industr. Res. Aust., No. 232, 1948, 26).

सरसों की भाँति ही इसके बीज और इसकी पत्तियाँ देशी औषध के रूप में प्रयुक्त होती हैं। कुचली पत्तियाँ रक्तिमाकर और फफोले उत्पन्न करने वाली हैं। सिर दर्द, वातशूल, संधिवात और अन्य स्थानीय शूलों में प्रति-उत्तेजक के रूप में इन्हें रगड़ा जाता है या इनकी पुल्टिस बाँधी जाती है और फफोला पड़ने के पहले ही हटाने की सावधानी बरती जाती है। धावों में पीप न बनने देने के लिये इनके रस को मिलाकर कान में डालने से दर्द दूर हो जाता है किन्तु इससे जलन उत्पन्न होती है। अतः इसका उपयोग सतर्कतापूर्वक करना चाहिए। पैतृक विकारों में पत्तियाँ खायी जाती हैं। जड़ों का काढ़ा मूत्र-ज्वर-शामक बताया

जाता है (Caius, J. Bombay nat. Hist. Soc., 1939, 41, 131; Dalziel, 22; Watt & Breyer-Brandwijk, 56; Brown, III, 188; Kirt. & Basu, I, 188).

बीज रक्तिमाकर और कृमिहर होते हैं और गोल कृमि को निकालने के लिये भीतर से और प्रति-उत्तेजक के रूप में वाह्यतः दिए जाते हैं। सुडों से युक्त फोडों पर इनकी पुल्टिस लगायी जाती है। जू मारने के लिये इसको तेल में मिलाकर सिर में लगाया जा सकता है। ये घोड़ों के उदर शूल में दिए जाते हैं और मत्स्य-विष की भाँति प्रयुक्त होते हैं। खाँसी में इनका क्वाथ दिया जाता है। सूचना है कि जावा में बीजों को चिड़ियों को चुगाने के लिये इस्तेमाल किया जाता है (Caius, loc. cit.; Burkill, loc. cit.).

बीज में हल्के हरे रंग और सरसों-जैसी हल्की गंध वाला एक स्थिर तेल (22%) पाया जाता है। यह कम सूखने वाला तेल है जिसकी निम्नलिखित विशेषताएँ हैं: आ. घ.^{20°}, 0.9268; n_D^{25} , 1.4653; जमनांक, -12° ; सादृ. मान, 194; आयो. मान, 122.6; अम्ल मान, 36.5; ऐसीटिल मान, 33.5; हेनर मान, 91.5; और असाबुनीय पदार्थ, 2.08%. असाबुनीय पदार्थ में, फाइटोस्टेरोल (ग. वि., 131-32°) रहता है। तेल के रचक वसा-अम्लों में पामिटिक, 9.57; स्टीरिक, 9.53; ऐराकिडिक, 0.44; ओलीक, 32.02; और लिनोलीक, 38.97% होते हैं। बीज के औषधीय गुण उसमें उपस्थित क्लैथ्रोमिन, $C_{17}H_{14}O_7$ [ग. वि., 245-46° (अपघटित)] नामक एक असंतृप्त लैक्टोन (0.25%) के कारण हैं। बीजों में टैनिन (1%), अपचायक शर्कराएँ और पत्तियों का-सा एक वाष्पशील तेल पाया जाता है (Misra & Dutt, Proc. nat. Inst. Sci., 1937, 3, 45, 325).

जि. स्पेसिओसा द कन्दोल, एक दिखावटी एकवर्षी पौधा है जो कुछ भारतीय उद्यानों में उगाया जाता है। इसकी पत्तियों की तरकारी बनती है (Burkill, loc. cit.).

G. pentaphylla DC.; *G. speciosa* DC.

जिनोकार्डिया आर. ब्राउन (फ्लैकोर्टिएसी)

GYNOCARDIA R. Br.

ले. - गिनोकार्डिया

यह उत्तर-पूर्व भारत और ब्रह्मा में पाए जाने वाले वृक्षों का वंश है। भारत में इसकी एक जाति पाई जाती है।

Flacourtiaceae

जि. ओडोरेटा आर. ब्राउन *G. odorata* R. Br.

ले. - जि. ओडोरेटा

D.E.P., IV, 192; Fl. Br. Ind., I, 195; Kirt. & Basu, Pl. 86.

नेपाल - कादु, वान्द्रे-फल; लेपचा - टुक-कुंग; असम - लेमटेम, बोंशा, डीएंग-सोह-फैलिंग, अम्फु, बालिवु, कोइतुर.

यह सदाहरित, अरोमिल, एकलिंगाश्रयी वृक्ष है, जिसकी ऊँचाई 9-15 मी., घेरा 0.9-1.8 मी. और तना 6 मी. तक बिना शाखित हुए बिल्कुल साफ रहता है। यह पूर्वी हिमालय और असम के वनों में पाया जाता है। शाखाएँ पतली, छाल हरिताम-भूरी और बातरंध्र युक्त; पत्तियाँ द्विपत्री, अंडाकार या आयतरूप; पुष्प गुच्छों



चित्र 45 - जिनोकार्डिया जिनोकार्डिया - पुष्पित शाखा

में, हल्के पीले और सुगंधित; फल गोल (7.5-12.5 सेंमी. व्यास) और सख्त छिलके से युक्त, मुख्य स्तंभ या शाखाओं पर लगे; बीज श्लेष्मी सुगंधित गुदे में धंसे हुए उल्टे अंडे के आकार के या आयताकार लगभग 2.5 सेंमी. लम्बे होते हैं।

लेपचा लोग इस वृक्ष के फल के गुदे को उवालकर खाते हैं। मत्स्य-विष के रूप में भी इसका उपयोग किया जाता है। बीजों में कीटनाशक गुण होते हैं जिन्हें पीसकर तथा तेल में मिलाकर अनेक चर्म रोगों में इस्तेमाल किया जाता है। इस वृक्ष की छाल ज्वरशामक बताई गई है (Cowan & Cowan, 15; Heal *et al.*, *Lloydia*, 1950, 13, 89; Kirt. & Basu, I, 223; Wehmer, II, 803)।

जि. ओडोरेटा* के बीजों की गिरी (बीज भार की 67%) से हल्के पीले रंग का एक सूखने वाला तेल (27%) प्राप्त होता है, जिसकी गंध अलसी के तेल से मिलती-जुलती है। इस तेल की विशेषतायें हैं : आ. घ.²⁵, 0.927; अम्ल मान, 5.0; साबु. मान, 199.6; और आयो. मान, 152.0. इस तेल के रचक वसा-अम्ल पामिटिक, लिनोलीक, लिनोलेनिक, आइसोलीनोलेनिक और ओलीक हैं। एक फाइटोस्टेरॉल (ग. बि., 133°) भी पृथक् किया गया है। सामान्य ताप पर जिनोकार्डिया तेल द्रव रहता है और प्रकाशतः निष्क्रिय होता है। इसमें चॉलमूत्रिक या हिडनोकार्पिक अम्ल नहीं होते और कुष्ठ रोग के उपचार में इसका कोई उपयोग नहीं है (Power & Barrowcliff, *J. chem. Soc.*, 1905, 87, 896T; Burkill, I, 1120)।

बीजों की गिरी में एक क्रिस्टलीय सायनोजनी ग्लाइकोसाइड (5%), जिनोकार्डिन ($C_{15}H_{19}O_9N$; ग. बि., 162-63°; $[\alpha]_D^{21}$, +72.5°) होता है जो जल से 1½ अणु जल के साथ संयुक्त होकर क्रिस्टलित होता है। बीजों में उपस्थित एक एंजाइम द्वारा यह अत्यन्त शीघ्रतापूर्वक जल-अपघटित होकर ग्लूकोस, एक डाइकीटोन ($C_6H_8O_4$) तथा हाइड्रोसायनिक अम्ल (गिरी के भार का 0.63%) बनाता है। इसमें कोई विशेष शरीरक्रियात्मक गुण नहीं होते (Power & Lees, *J. chem. Soc.*, 1905, 87, 349T; Moore & Tutin, *ibid.*, 1910, 97, 1285T; McIlroy, 21)।

लकड़ी हल्के पीले से लेकर हल्के भूरे रंग की होती है जो फफूंदी लगने पर बदरंग हो जाती है और पहली बार काटने पर चमकदार, कुछ-कुछ कठोर, मजबूत और हल्की (आ. घ., 0.46; भार, 464 किग्रा./घमी.), अंतर्ग्रथित दानों वाली और महीन गठन की होती है। लकड़ी धीरे-धीरे सीझती है और आमतौर पर हरे रहने पर ही परिवर्तित कर ली जाती है। खंभों के रूप में यह काफ़ी टिकाऊ होती है जिस रूप में ये 10 या इससे अधिक वर्षों तक हरे रहते हैं और फफूंदी तथा कीटों के आक्रमण से बचे रहते हैं। हरी होने पर लकड़ी आसानी से चीरी जा सकती है किन्तु पकने के बाद लकड़ी का रूपांतरण कठिन होता है। खास खराद वाली लकड़ी न होते हुए भी खरादने पर यह खूब चिकनी उतरती है। यह बढ़िया इमारती लकड़ी है और तख्तों के लिये तो विशेष रूप से अच्छी है। दीवाल के बोर्ड और डोंगी बनाने में भी यह लकड़ी काम आती है (Pearson & Brown, I, 31)।

Hydnocarpus kurzii Warb.

*पहले भ्रमवश जि. ओडोरेटा को व्यापार में चॉलमूत्रा तेल के नाम से विख्यात कुष्ठोपयोगी तेल का स्रोत मान लिया गया था जो कि वस्तुतः हिडनोकार्पस कुजई चार्वर्ग के बीजों से प्राप्त होता है। कई स्थानों में इस वृक्ष का चलताऊ नाम चॉलमूत्रा हो है।

जिप्सम GYPSUM

प्रकृति में पाए जाने वाले कैल्सियम सल्फेट के दो खनिजों में से एक तो जिप्सम ($CaSO_4 \cdot 2H_2O$; आ. घ., 2.3; कठोरता, 1.5-2) है और दूसरा एनहाइड्राइट ($CaSO_4$; आ. घ., 2.9; कठोरता, 3-3.5) है। जिप्सम अति सामान्य खनिज है। जिप्सम की एक किस्म को एलावास्टर कहते हैं जो संगमरमर जैसा ठोस होता है और नक्काशी के काम आता है। इसकी दो और किस्में हैं : सेलेनाइट और सैटिनस्पार जिनमें से पहली साफ और क्रिस्टलीय तथा दूसरी वारीक तंतुमय होती है।

जिप्सम एकनताक्ष समुदाय के क्रिस्टल बनाता है और इतना कोमल होता है कि नाखून से खरोचा जा सकता है। इसके क्रिस्टलों में एक दिशा में पूर्ण विदर पाया जाता है; विदलित पत्तर, रंगहीन अथवा के पत्तरों से मिलते जुलते हैं पर प्रत्यास्थ नहीं होते और बहुत कम लचीले होते हैं। सामान्यतः यह खनिज सफ़ेद रंग का होता है, परन्तु अशुद्धियों के कारण धूसर, भूरा, या लाल भी हो सकता है। 100° तक गर्म करने पर जिप्सम अर्ध हाइड्रेट ($2CaSO_4 \cdot H_2O$; आ. घ., 2.7) में परिणत हो जाता है किन्तु सम्पूर्ण जल निकालने के लिए 200-250° तक गर्म करना आवश्यक है। यह जल में कम विलेय है; इसकी अधिकतम विलेयता 35° पर होती है जब 393 भाग जल में 1 भाग जिप्सम विलयित रहता है। समान मात्रा में ऐल्कोहल मिलाने पर इसे विलेय रूप में अवक्षेपित किया जा सकता है।

उपस्थिति और वितरण

प्रकृति में जिप्सम के निक्षेप दो तरह से बने हैं : या तो बंद या अंशतः बंद समुद्र जल के बेसिन के वाष्पन से अथवा पाइराइटोज (माक्षिक) के अपक्षय से उत्पन्न सल्फ्यूरिक अम्ल की चूना-पत्थर या मृत्तिका पर अथवा स्लेटी-पत्थर में उपस्थित कैल्सियम कार्बोनेट पर रासायनिक क्रिया से। क्रिस्टलीय जिप्सम मृत्तिका और स्लेटी-पत्थर में शिराओं या प्रकीर्णनों के रूप में पाया जाता है। इसकी मोटी-मोटी परतें चूना-पत्थर, स्लेटी-पत्थर और बलुआ-पत्थर के संस्तरो के बीच या फिर सेंधे नमक की चट्टानों के साथ पाई जाती हैं।

कभी-कभी जिप्सम मृत्तिका और मार्बल के मिश्रणों के साथ मिट्टी पर जमी ऊपरी कोमल तह के रूप में भी मिलता है। इस तरह के निक्षेप जिप्साइट कहलाते हैं और निचली मरु-भूमियों में पाए जाते हैं। आमतौर पर इनके ऊपर बालू या मिट्टी की परत बिछी रहती है जो अधिक से अधिक 30 सेंमी. मोटी होती है। जिप्सम के छोटे-छोटे क्रिस्टलों के अर्ध-रंधिल संपुंज भी मिले हैं। मरुस्थल में जिप्सम मिलने के पीछे उन निस्यंदी जल-धाराओं का हाथ बताया जाता है जो विलयन रूप में अपने साथ कैल्सियम सल्फेट का वहन करती हैं।

उत्तर प्रदेश - देहरादून से उत्तर पहाड़ियों में शिराओं और ग्रंथिकाओं के रूप में चूना-पत्थर और मृत्तिकाओं में जिप्सम पाया जाता है। सहस्रधारा (30°23' : 78°7') से 6.4 किमी. दक्षिण में स्थालकोट में एक जिप्सम-शिरा पाई गई है। मानगढ़ (30°24' : 78°8') में सबसे बड़ा निक्षेप मिला है, जिसमें लगभग 13,000 टन अशुद्ध जिप्सम है। लक्ष्मण झूला (30°7' : 78°20') के निकट काम-चलाऊ निक्षेप मिले हैं। इस क्षेत्र के खनिजों की दृष्टि से सर्वोत्तम दोनों मंडलों में कुल मिलाकर क्रमशः 1,30,000 और 26,000 टन जिप्सम होने का अनुमान है (Sondhi & Mehta, *Indian Minerals*, 1951, 5, 168)।

कालाढूंगी और नैनीताल के बीच निहालधारा में जिप्सम के विशाल निक्षेप हैं। इनमें से अपेक्षाकृत अधिक महत्वपूर्ण निक्षेप घपीला (29°19' : 79°28') से लगभग 1.6 किमी. उत्तर में पाये जाते हैं। इस निक्षेप में अनुमानित भंडार 37,400 टन होगा (Nautiyal, *Indian Minerals*, 1955, 9, 127).

गढ़वाल जिले में सेरा और गढ़चट्टी में जिप्सम के कुछ अनियमित भंडार हैं। गढ़चट्टी में 1,05,000 टन जिप्सम का निक्षेप अनुमाना गया है (Banerjee, *Curr. Sci.*, 1952, 21, 275).

हमीरपुर जिले में पुरैनी (25°45' : 79°50') के निकट और झाँसी जिले में गोंदी (25°47' : 79°13') और गोखल (25°46' : 79°20'30") के निकट जलोढक में सेलेनाइट पाया जाता है।

उत्तर प्रदेश में जिप्सम के समस्त भंडार 2 लाख टन कूते गए हैं।

कश्मीर — झेलम घाटी की कच्ची सड़क के उत्तर में 24 किमी. की पट्टी में, बाम्बयार गाँव के निकट और उड़ी जिले के इस्लामाबाद, लिम्बार की घाटियों और लच्छीपुरा नालों में जिप्सम के विशाल भंडार मिलते हैं। ये निक्षेप मोटाई में 9 से 10.5 मी. तक हैं और चूना-पत्थर तथा डोलोमाइट के भीतर प्रतिस्थापनों के रूप में मिलते हैं। इन निक्षेपों में जिप्सम की मात्रा कई करोड़ टन बताई जाती है। ऊधमपुर जिले के कंतरी नाले के निकट भी जिप्सम मिलता है (Sondhi & Mehta, loc. cit.).

गुजरात तथा महाराष्ट्र — चित्रोद (23°25' : 70°41') और ववरगढ़ (23°24' : 70°31') के जिप्सम भंडार जुरैसिक काल के स्लेटी-पत्थरों के साथ मिलते हैं। इनमें जिप्सम का अंश इतना कम है कि उसको निकालना लाभकर नहीं होगा।

कच्छ में कई स्थानों पर उप-नुमुलाइट, स्लेटी-पत्थरों और मालों में जिप्सम-शिराएँ मिलती हैं। अदेसर (23°33' : 71°1'15") से 5.6 किमी. पूर्व में जिप्सम के समृद्ध निक्षेप मिलते हैं। इसी प्रकार का एक समृद्ध निक्षेप उमरसर गाँव (23°44' : 68°54') के पूर्व में और करनपुर (23°48' : 68°51') से 3.2 किमी. पश्चिम में है और 2 वर्ग किमी. में फैला हुआ है। छोटे-छोटे निक्षेप पलांसवा (23°28' : 70°56'), लीफ्री (23°30' : 69°0'), लखपत (23°50' : 68°46'), और मतानोमाघ (23°33' : 68°57') के पास मिले हैं। रण में जिप्सम के कोई निक्षेप नहीं मिले हैं। रण क्षेत्र के चारों ओर की चिपचिपी चिकनी मिट्टी में कहीं-कहीं पारदर्शी या पारभासी पट्टिल क्रिस्टलों के रूप में जिप्सम पाया गया है (Poddar, *Rec. geol. Surv. India*, 1953, 84, 73).

कच्छ में चट्टानों की संधियों में पाए जाने वाले निक्षेप अत्यंत महत्वपूर्ण हैं। 'द एसोसिएटेड सीमेंट कम्पनी लि.' ने भोजवाली और जफरवाली के चारों ओर का जिप्सम-क्षेत्र पट्टे पर लिया है। इस कम्पनी ने हिसाब लगाया है कि वहाँ 90,000 टन जिप्सम भंडार है। कच्छ में विभिन्न स्थानों पर मिलने वाले निक्षेप कुल मिलाकर लगभग 20,71,000 टन कूते गए हैं (Roy, *Rec. geol. Surv. India*, 1948, 81, pt I, 51; Sastri, *Rec. geol. Surv. India*, 1949, 82, pt I, 82).

गज नामक स्थान के चूना-पत्थरी-संस्तरों (तृतीयक महाकल्प के उच्चतर मध्यनूतन कल्प से संबंधित) में जिप्सम नीलाभ सुघट्य मृत्तिका और माल के पृथक्करणों तथा शिराओं के रूप में पाया जाता है।

हलार जिले में रैन (22°10' : 69°20') गाँव के निकट 4.8 किमी. लम्बे और 2.4 किमी. चौड़े क्षेत्र में औसतन 6.3 मी. मोटाई के सेलेनाइट मृत्तिका और माल के भंडार बिखरे हुए पाए जाते हैं। इस

क्षेत्र में जिप्सम के निक्षेप लगभग 38,00,000 टन कूते गए हैं (Mehta, *J. sci. industr. Res.*, 1950, 9A, 287).

जफराबाद क्षेत्र में लंसापुर (22°55' : 71°25') के पश्चिम में मृत्तिका में सेलेनाइट की शिराएँ मिलती हैं। अनुमानित भंडार 14,000 टन है।

वीरपुर (22°15' : 69°20') में 4×0.8 किमी. के क्षेत्र में 7.5 सेंमी. मोटी शिराओं के रूप में सेलेनाइट पाया जाता है। इस क्षेत्र में जिप्सम निक्षेप के 4,90,000 टन होने का अनुमान है। भटिया (22°6' : 69°17') के उत्तर, उत्तर-पश्चिम और पश्चिम में खाड़ी, खाकड़ी, खुवाड़ी और करधनी में जिप्सम पाया जाता है। इस क्षेत्र में 1,75,000 टन जिप्सम भंडार होने का अनुमान है। भटिया से 1.6 किमी. उत्तर-पूर्व में, नंदना (22°7' : 69°17') से 1.6 किमी. पश्चिम में और गुर्गाट (22°11' : 69°11') से लगभग 1.6 किमी. पश्चिम में छोटे-छोटे जिप्सम भंडार मिले हैं। इन तीनों निक्षेपों में कुल मिलाकर 1,35,000 टन जिप्सम कूता गया है (Sathe, *Quart. J. geol. Soc. India*, 1951, 23, 53; Mehta, *Rec. geol. Surv. India*, 1949, 82, pt I, 82).

पोरबंदर जिले में मियानी (21°48' : 69°26') के उत्तर-पूर्व में मेडा संकरी खाड़ी में जिप्सम पीली-सी मृत्तिका के संस्तर में पंक और गाद की पतली परत से ढका हुआ पाया जाता है। इस निक्षेप में जिप्सम का अनुमानित भंडार 11,000 टन है (Mehta, loc. cit.).

ध्रांगध्रा जिले में कुडा (23°10' : 71°23') के निकट 3.2 किमी. लम्बे और 3.2 किमी. से कुछ कम चौड़े क्षेत्र में नीले दलदली क्षेत्र में सेलेनाइट की काफ़ी मोटी परत मिली है। इस क्षेत्र में जिप्सम भंडार 1,600 टन प्रति वर्ग किमी. आँका गया है।

भडोच जिले के भिलोड (21°36' : 73°19') और वागादखोल (21°35' : 73°13') नामक स्थानों की तृतीयक मृत्तिकाओं में जिप्सम के छोटे निक्षेप पाये जाते हैं (Mehta, *Rec. geol. Surv. India*, 1953, 84, 73).

तमिलनाडु तथा आन्ध्र प्रदेश — मंगूर चौल्टी, काथिवाकम और एनूर (13°13' : 80°23') के निकट काफ़ी बड़े क्षेत्र में फैले चिकनी मिट्टी के संस्तर में जहाँ-तहाँ सेलेनाइट पाया जाता है।

नेलौर जिले में सलरपेट (13°42' : 80°1') के पूर्व में पलीकैट झील के उत्तरी किनारे पर समुद्री गाद में लगभग 25.6 किमी. लम्बे और 12.8 किमी. चौड़े क्षेत्र में जिप्सम पाया जाता है। जिप्समधारी गाद की मोटाई 30 से 90 सेंमी. तक है। 'भारतीय भूगर्भ संवर्क्षण' द्वारा किये गये अन्वेषणों से ज्ञात हुआ है कि लगभग 51.2 वर्ग किमी. क्षेत्र में प्रति 30 सेंमी. गहराई में 2,00,000 टन की दर से खनिज प्राप्य है।

त्रिचिनापल्ली जिले के दक्षिण ताप्पे और दक्षिण-पश्चिम में पेरिया-कुरुक्काई से लेकर उत्तर में चिताली और असुर तक लगभग 57 वर्ग किमी. क्षेत्र में जिप्सम मिलता है। नम्बाकुरिच्ची, गृहमंगलम् सिक्कम्बुर और काराड के बीच पाए जाने वाले क्रिटेसश स्तर की यूटाटर अवस्था में सघन जिप्सम क्षेत्र में मिलता है। कन्नम, सत्तानर, गृहमंगलम्, अलंदलीपुुर और ताप्पे के निकट त्रिचिनापल्ली अवस्था का भी जिप्सम पाया गया है। यह खनिज पतली, अनियमित शिराओं के रूप में चिकनी मिट्टी में घँसा हुआ पाया जाता है और लम्बाई तथा मोटाई में क्रमशः 4.5 मी. और 0.75-12.5 सेंमी. से शायद ही कभी अधिक पहुँचता हो।

चिताली के दक्षिण और ओडियाम के पश्चिम में 45-50 सेंमी. के अंतराल पर मोटी-मोटी जिप्सम-शिराएँ पाई जाती हैं। इस क्षेत्र में

जिप्सम की कुल मात्रा लगभग 1,53,00,000 टन कूती गई है। यह जिप्सम चिकनी मिट्टी, खड़िया और इल्मेनाइट के साथ मिले-जुले रूप में पाया जाता है और इसमें 80-85% $\text{CaSO}_4 \cdot 2\text{H}_2\text{O}$ होता है। यहाँ का 70% जिप्सम-क्षेत्र कई निजी कम्पनियों को पट्टे पर सौंप दिया गया है जिनमें डालमिया सीमेंट एंड कम्पनी लि., तथा फर्टिलाइजर्स एण्ड केमिकल्स ट्रावंकोर लि. भी शामिल हैं (Krishnan, *Rec. geol. Surv. India*, 1949, 77, Prof. Paper No. 9, 7; *Mem. geol. Surv. India*, 1951, 80, 135).

कोयम्बटूर जिले में वेंकटपुरम, पुलिअमपत्ति, करादिवावी और मल्लेकवदन-पालैयम के निकट, पलादम फिका के दक्षिण में स्थित काली मिट्टी क्षेत्र में जिप्सम पाया जाता है। ये जिप्सम भंडार 3 मी. की गहराई तक 20,000 टन आँके गए हैं।

तिरुनेवेली जिले में कोविलपट्टी और एटैयापुरम के निकट कपास की खेती वाली काली मिट्टी में भी जिप्सम निक्षेप पाए गए हैं। गुंदूर जिले में संतारावुर (15°48' : 80°16') और कोट्टापतनम (15°26'80" : 80°8'30") के निकट समुद्री गद्द में जिप्सम पाया जाता है। इसी तरह के निक्षेप चिंगलेपुट जिले में एनूर (13°13' : 80°20') के निकट भी पाए गए हैं (Krishnan, *Mem. geol. Surv. India*, 1951, 80, 136).

तमिलनाडु तथा आंध्र राज्यों में मिलाकर कुल जिप्सम भंडार लगभग 163 लाख टन आँका गया है।

पंजाब तथा हिमाचल प्रदेश — कांगड़ा जिले में लोसर (32°25' : 77°45') से लगभग डेढ़ किलोमीटर पूर्व स्पीती नदी के दाएँ किनारे पर तथा कुछ अन्य स्थानों पर एनहाइड्राइट के साथ मिश्रित रूप में जिप्सम पाया जाता है (*Rec. geol. Surv. India*, 1954, 68, 100).

सिरमौर जिले में कोर्गा (30°33' : 77°35') से 1.5 किमी. दक्षिण-पश्चिम में निरिका खाला महाखड्ड में अच्छी किस्म का, एन-हाइड्राइट से मिला-जुला, जिप्सम पाया जाता है। यहाँ 60% जिप्सम-युक्त 83,000 टन भंडार अनुमाना गया है। भार्ली (30°33' : 77°45') के निकट जिप्सम के निक्षेप पाए जाते हैं। अनुमान है कि इस निक्षेप से हाथ से चुनने और छाँटने पर 80% जिप्सम युक्त 3,00,000 टन पदार्थ प्राप्त किया जा सकता है। भार्ली क्षेत्र के शिलोर्ना (30°36' : 77°37') और रिडैना स्थानों में छोटे-छोटे निक्षेप मिले हैं (Nath, *Rec. geol. Surv. India*, 1949, 82, pt I, 84).

चम्बा जिले के कुठार इलाके और वाठड़ी नामक स्थान में भी जिप्सम के छोटे-छोटे निक्षेप मिले हैं (Sahni & Iyengar, *Rec. geol. Surv. India*, 1950, 83, pt I, 124; *Eastern Econ.*, 1950, 15, 671).

मध्य प्रदेश — पूर्व में औरैरा (23°1' : 81°41') और पश्चिम में सिलपारी (23°5' : 81°30') के बीच मिकाला श्रेणी के उत्तरी कगार की अंतराट्टेपी लाल मृत्तिका में जहाँ-जहाँ विखरा हुआ तथा शहडोल जिले में रसरा (औरैरा के दक्षिण-पश्चिम में 1.5 किमी. पर) और वडहड (23°1' : 81°37') में जिप्सम के लघु निक्षेप मिले हैं।

राजस्थान — जिप्सम बीकानेर, जोधपुर में तथा इनसे कुछ कम जैसलमेर में जिप्साइट के रूप में मिलता है। बीकानेर में अनेक निक्षेप पाए जाते हैं जिनमें सबसे महत्वपूर्ण जमसर (28°15' : 73°24') में है। सबसे ऊपरी संस्तर 2.1 मी. मोटा है जिसमें औसतन 85% $\text{CaSO}_4 \cdot 2\text{H}_2\text{O}$ पाया जाता है। इसके नीचे क्रिस्टलीय जिप्सम का

3-4.5 मी. मोटा संस्तर है जिसमें 89-95% $\text{CaSO}_4 \cdot 2\text{H}_2\text{O}$ पाया गया है। इससे नीचे जिप्समधारी बालू की 2.4 मी. मोटी परत के बाद क्रिस्टलीय जिप्सम का 2.4-3 मी. मोटा एक और संस्तर मिला है जो ऊपर वाले से ज्यादा घना है। जमसर में लगभग 11 वर्ग किमी. क्षेत्र पट्टे पर उठाया गया है जिसमें से 5 वर्ग किमी. से खनिज निकाला जा रहा है। तीनों संस्तरों में 2.5 करोड़ टन जिप्सम होने का अनुमान है और ज्यादा गहराइयों में एक या अनेक संस्तर होने के संकेत मिले हैं (Sondhi & Mehta, *Indian Minerals*, 1951, 5, 168; Ganguli, *Chem. Age, Bombay*, 1952, Ser. 5, 28).

ढिरेरा (28°22' : 73°36'), भैरों (28°12'30" : 73°13'), काओनी (28°9' : 73°6'), जयमलसर (28°7' : 73°5'), खारा (28°11' : 73°22'), मनोरी (28°11' : 73°1'), रंघीसर (28°8' : 72°58') और सूरतगढ़ (29°19' : 73°54') में जिप्सम के काफ़ी बड़े निक्षेप मिले हैं। नोखा, विठनोक, दंडेला, अल्लाहदीन का बेंडा, रानीसर, हर्कासर, डोलैरा, सियासर नौशेरा, दत्तोहड़, बल्हड, जगदेव-वाला, सूदसर, नाई की बस्ती, जंघी, पंचून और रोड़ा में भी जिप्सम के भंडार खोजे गए हैं। लवण जल से मिला-जुला सेलेनाइट लंकारनसर (28°30' : 73°45') में पाया गया है (Ganguli, *Chem. Age, Bombay*, 1952, Ser. 5, 28).

बीकानेर जिले में जिप्सम का 2 करोड़ 82 लाख 40 हजार टन का भंडार अनुमाना गया है।

जोधपुर में विध्य-बलुई पत्थरों में जिप्सम भारी संस्तरों के रूप में या प्राक-अभिनव बालू के साथ जिप्साइट के रूप में अथवा बालू में जहाँ-तहाँ विखरे सेलेनाइट के क्रिस्टलों के रूप में पाया जाता है।

नागौर जिले में नागौर (27°12' : 73°44') और बडवासी (27°38' : 73°42') में जिप्सम स्थूल संस्तरों के रूप में और मंगलोड (27°16' : 74°6'), फलसुड (26°24' : 71°55'), पीलनवासी (27°20' : 73°46'), डाकोरिया (27°40' : 73°46'), घिसनिया-देही (27°34' : 73°46'), खैरात (27°22' : 73°53') और मंगलू (27°17' : 73°47') में जिप्साइट के रूप में पाया जाता है। मंगलोड का जिप्सम निक्षेप 90 सेंमी. से 3 मी. तक मोटा है और 2 × 1.6 किमी. में फैला है। इस क्षेत्र में जिप्सम का आकलित भंडार 80 लाख टन (61-71% $\text{CaSO}_4 \cdot 2\text{H}_2\text{O}$) और फलसुड में 10 लाख टन है (Mehta, *Rec. geol. Surv. India*, 1950, 83, 124).

मलानी तहसील में जिप्साइट, कावस (25°53' : 71°33'), शिवकर (25°42' : 71°29'), कुर्ला (25°47' : 71°28') और लोनी कांटा (25°50' : 71°30') में पाया जाता है। कावस-निक्षेप में 20 लाख टन भंडार कूता गया है।

उत्तरलाई (25°47' : 71°28'), खूतानी (25°50' : 72°53'), पर्जीधानी, घाघरिया, आबाखापर, बाजवा, सिनली, गंठालीसर, बुरानी और जम्बो में भी जिप्सम निक्षेप पाए गए हैं। पहले दो निक्षेपों में क्रमशः 75 लाख टन और 14 लाख टन का अनुमान है।

सेलेनाइट, चिट्टा-का-पार (25°56' : 71°36'), थोव (26°3' : 72°2') और घानोड (25°32' : 73°8') में पाया गया है।

जोधपुर के जिप्सम के भंडार 2 करोड़ 13 लाख टन कूते गए हैं। इन निक्षेपों का पूरा-पूरा लाभ इसलिए नहीं उठाया जा सका है क्योंकि एक तो परिवहन की सुविधा नहीं है, दूसरे मंगलोड और उत्तरलाई के अलावा लगभग सभी निक्षेपों में अपेक्षाकृत कम भंडार हैं और इनके माल की औसत शुद्धता भी कम है।

जैसलमेर में 'जिप्साइट, हमीरवाली नाडी ($27^{\circ}19' : 71^{\circ}3'$) और मोहनगढ़ ($27^{\circ}17' : 71^{\circ}14'$) के निकट पाया जाता है। हमीरवाली नाडी के निकट मुख्य निक्षेप 2.4 किमी. लम्बा, 630 मी. चौड़ा और 60 सेंमी. मोटा है। इसी स्थान में एक और निक्षेप लगभग 810 मी. लम्बा, 117 मी. चौड़ा और 60 सेंमी. मोटा है। इस क्षेत्र में जिप्सम ($80-94\%$ $\text{CaSO}_4 \cdot 2\text{H}_2\text{O}$) के कुल भंडार इस प्रकार कूते गए हैं : हमीरवाली नाडी, 12,00,000 टन; लखरेर, 1,26,000 टन और मोहनगढ़, 61,000 टन।

सेलेनाइट के छोटे निक्षेप धौलपुर में काठुमारी ($26^{\circ}4' : 78^{\circ}6'$) और घुरियाखेड़ा में पाए गए हैं।

राजस्थान में जिप्सम का कुल भंडार 5 करोड़ 10 लाख टन कूता गया है।

अन्य स्रोतों से जिप्सम - नमक उद्योग से भी उपोत्पाद के रूप में जिप्सम प्राप्त होता है। त्रिवेन्द्रम स्थित 'माडल साल्ट फेक्टरी' में संघनकों के उस दूसरे सेट से जिप्सम प्राप्त होता है, जिसमें 12° Be से 23° Be पर लवण-जल सान्द्रित किया जाता है। निर्माण-काल के अंतिम चरण में जब लवण-जल निकाला जाता है, तो जिप्सम नीचे तली में पपड़ी के रूप में बैठा होता है जिसे खुरच-खुरच कर निकाल लेते हैं। अपरिष्कृत माल में 80% $\text{CaSO}_4 \cdot 2\text{H}_2\text{O}$ होता है, जिसे पानी में डालकर खूब हिलाया जाता है ताकि उससे लगी हुई चिकनी मिट्टी विलग हो जाए। बोधित सामग्री को बांस की चटाइयों पर सुखा लिया जाता है। उच्च घनत्व वाले संघनकों के एक हेक्टर क्षेत्र से लगभग 10 टन धुला जिप्सम प्राप्त होता है। आदिरामपतनम (तंजौर जिला), जामनगर, कांथला और मीठापुर में भी जिप्सम उपोत्पाद के रूप में निकाला जाता है। सभी नमक-उत्पादक कारखानों से कुल मिलाकर प्रति वर्ष 1,00,000 टन जिप्सम निकाला जा सकता है।

खनन तथा उपचार

जिप्सम का खनन भी दूसरे अधात्विक खनिजों की भाँति किया जाता है। आमतौर पर जिप्समयुक्त भंडार सतह के निकट होते हैं और उनके ऊपर से मृत्तिका या मिट्टी की पतली परत हटाकर उन्हें निकाला जा सकता है।

जिप्सम का उपयोग निस्तापित या पिसे हुए रूप में होता है। इसके लिए खनिज को घूर्णी छत्रों में धोया जाता है ताकि पीसने से पहले उस पर से चिकनी मिट्टी या गेरू अलग हो जाए। घूर्णी भट्टियों या डेगचियों में जिप्सम का निस्तापन किया जाता है। ये भट्टियाँ और डेगचियाँ विशेष डिजाइन की होती हैं और इनमें इस्पात के बने वेलनाकार खोल चढ़े होते हैं जिनकी मोटाई 0.9-1.25 सेंमी., व्यास 2.4-3 मी. तक और गहराई 1.8-4.2 मी. तक होती है। इनमें अगल-बगल चिमनियाँ लगी रहती हैं जिनमें लगभग 10 टन कच्चा माल आता है। खोल के चारों ओर ईंटों की चिनाई होती है और इस्पात की बनी एक जैकेट चढ़ी रहती है। डेगची नीचे से कोयला गैस या तेल जलाकर गर्म की जाती है और ऊपर से जिप्सम डाला जाता है। डेगची की दक्षता, जिप्सम की शुद्धता और पीसने में वारीकी के अनुसार निस्तापन लगभग 1-3 घंटे में पूरा हो जाता है। पहले बैठने वाले निस्तापित जिप्सम ($5-6\%$ जलयुक्त) का ताप 160° से 170° हो सकता है किन्तु दूसरी बार बैठने के लिए इसे 195° तक गर्म करना होता है। दूसरी बार के निस्तप्त जिप्सम में जल की मात्रा 1.5% से भी कम होती है।

उपयोग

इधर कुछ समय से सल्फ्यूरिक अम्ल, अमोनियम सल्फेट और गंधक बनाने के लिए भारत में जिप्सम की ओर विशेष ध्यान दिया गया है। यद्यपि जिप्सम से सल्फ्यूरिक अम्ल तैयार करने में काफी लागत बैठती है किन्तु इसके उपोत्पाद के रूप में ऊँची किस्म का सीमेंट बिलकर (अवशिष्ट राख) मिलता है, इसलिए इस विधि को घाटे का नहीं मानते। ब्रिटेन, जर्मनी और फ्रांस में तो जिप्सम से सल्फ्यूरिक अम्ल और गंधक बनाने के सुस्थिर उद्योग हैं। इस प्रक्रम में एनहाइड्राइट (90% शुद्धता), बालू और ऐल्यूमिनियम युक्त बिलकर को 1400° पर गर्म किया जाता है, जिससे एक गैस बनती है जिसमें 9% सल्फर-डाइ-ऑक्साइड रहती है। गैस को ठंडी करके शुद्ध किया जाता है और वैनेडियम पेंटॉक्साइड या प्लैटिनम उत्प्रेरक के साथ ऑक्सीकृत करके इसे सल्फर-ट्राइऑक्साइड में परिणत कर लेते हैं।

जिप्सम का उपयोग अमोनियम सल्फेट के निर्माण में भी किया जाता है। इस प्रक्रम में अमोनिया और कार्बन-डाइऑक्साइड को बारीक पीसे हुए जिप्सम के जलीय निलम्बन में से गुजारा जाता है, जिसके फलस्वरूप अमोनियम सल्फेट और कैल्सियम कार्बोनेट बनते हैं। जिप्सम से निकली सिलिकामय अशुद्धियों के साथ कैल्सियम कार्बोनेट तो अवपंक के रूप में बैठ जाता है, किन्तु अमोनियम सल्फेट विलयन में रह जाता है। साफ विलयन को सान्द्रित करने पर अमोनियम सल्फेट के क्रिस्टल बन जाते हैं।

सिन्दरी के उर्वरक कारखाने, 'सिन्दरी फर्टिलाइजर लिमिटेड', में जब पूरी क्षमता से काम चल रहा होता है तो प्रतिदिन 1,800 टन जिप्सम प्रयुक्त होता है, और कैल्सियम कार्बोनेट अवपंक से प्रतिदिन लगभग 300 टन सीमेंट निकलने का अनुमान है। आलवई के 'फर्टिलाइजर एंड केमिकल्स ट्रावंकोर लि.' में प्रतिवर्ष पूरी क्षमता से काम होने पर $85-90\%$ शुद्धता वाले 50,000 टन जिप्सम की खपत होती है।

पिसा हुआ जिप्सम पोर्टलैंड सीमेंट के 'पकने' के समय को नियंत्रित करने के लिए मंदक के रूप में काम आता है। भारतीय सीमेंट उद्योग में जिप्सम की वापिक खपत 75,000-1,00,000 टन तक है (तुलनार्थ With India, pt II, 71)।

पिसा हुआ जिप्सम खेतों में मिट्टी की नमी बनाए रखने के लिए सतही लेप या प्लास्टर की तरह और खादों के नाइट्रोजन के अवशोषण में सहायक के रूप में इस्तेमाल किया जाता है। पेंट, कागज, रबड़ और वस्त्र-उद्योग में तथा कीने-सीमेंट के निर्माण में जिप्सम पूरक के रूप में काम आता है।

प्लास्टर बनाने में निस्तापित जिप्सम काम में लाया जाता है। प्लास्टर आफ पेरिस से लेकर मिट्टी के बर्तन के साँचे के प्लास्टर, ठलाई साँचों के प्लास्टर और दाँतों तथा अन्य शल्य क्रियाओं के प्लास्टर - ये सभी जिप्सम से ही बनते हैं। कमरे को कई हिस्सों में बाँटने के लिए जिप्सम की चादरें और टाइल बनाई जाती हैं; प्लास्टर और विद्युत रोधी बोर्ड बनते हैं तथा यह गचकारी और जाली के काम में भी इस्तेमाल होता है (तुलनार्थ With India, pt II, 11)।

स्थायी कठोरता लाने के लिए मद्यकरण के समय पानी में मिला निस्तापित जिप्सम काम आता है। तेलों के निर्जलीकरण और क्रेयन-निर्माण में भी यह इस्तेमाल होता है (तुलनार्थ With India, pt II, 238)।

निकेल अयस्कों के प्रगलन में जिप्सम-शैल गालक के रूप में काम आता है। टिन-प्लेट उद्योग में प्लेटों पर पालिश चढ़ाने के लिए इसका

उपयोग होता है। नक्काशी और मूर्तिकला में ऐलावास्टर का उपयोग होता है।

साफ, पारदर्शी जिप्सम का सीमित उपयोग शैलविज्ञानियों के सूक्ष्म-दर्शियों की सेलेनाइट प्लेटों के निर्माण में होता है।

उत्पादन

1965 में संसार के प्रमुख जिप्सम-उत्पादक देशों का जिप्सम का औसत वार्षिक उत्पादन 4.68 करोड़ टन था। महत्व की दृष्टि से

सारणी 1 - विश्व के प्रमुख देशों में जिप्सम का उत्पादन*

(हजार टनों में)

देश	1961	1962	1963	1964	1965
अमेरिका	8,618	9,044	9,424	9,692	9,103
अरब गणराज्य	463	467	470	470	465
ऑस्ट्रेलिया	680	684	584	568	618
ऑस्ट्रेलिया	620	641	698	780	860
इटली	2,080	3,172	2,073	2,073	2,400
ईराक	500	500	500	500	500
ईरान	1,000	1,000	1,000	1,200	1,500
कनाडा	4,590	4,677	5,402	5,782	5,633
चीन	400	400	500	600	600
जापान	725	800	783	753	650
जर्मनी (पश्चिम)	1,193	1,113	1,060	1,155	1,235
पोलैंड	468	549	585	585	600
फ्रांस	3,835	3,997	4,208	4,208	4,900
ब्रिटेन	3,791	4,063	4,143	4,583	4,455
भारत	866	1,122	1,191	882	1,160
सोवियत देश	4,456	4,376	4,239	4,300	4,300
स्पेन	2,560	2,982	3,863	3,863	2,855

* *Indian Miner. Yearb.*, 1965, 446.

प्रमुख उत्पादक देशों में संयुक्त राज्य अमेरिका, कनाडा, ब्रिटेन, स्पेन, फ्रांस और रूस के नाम लिए जा सकते हैं। जिप्सम-उत्पादक देशों में उत्पादन के आँकड़े सारणी 1 में दिए गए हैं।

भारत के अधिक महत्वपूर्ण भंडारों में लगभग 1 अरब टन जिप्सम आँका गया है (सारणी 2) जो क्रमशः इस प्रकार है : राजस्थान, 95 करोड़ टन; जम्मू और कश्मीर, 4 करोड़ टन; तमिलनाडु, 1 करोड़ 56 लाख टन; गुजरात, 67 लाख टन; आन्ध्र प्रदेश, 10 लाख टन; मैसूर, 7 लाख टन; तथा उत्तर प्रदेश, 2 लाख टन (*Indian Miner. Yearb.*, 1965).

भारत में 1948 से जिप्सम का उत्पादन बढ़ा है। 1954 में वह 79,000 टन से बढ़कर 6,12,120 टन हो गया। 1965 में उत्पादन 11,60,366 टन था (सारणी 3)। इस बढ़ती का कारण अमोनियम सल्फेट उद्योग में जिप्सम की बढ़ी हुई माँग है। भारत से जिप्सम का निर्यात नहीं होता अतः खनन क्रिया से जितनी उपलब्धि होती है उसे ही देश की खपत माना जा सकता है। प्लास्टर ऑफ पेरिस तथा जिप्सम

सारणी 2 - भारत में जिप्सम के भंडार एवं उनकी क्षमता*

राज्य	जिला/क्षेत्र	भंडार (लाख टन)
आंध्र प्रदेश	नेल्लोर	10.00
उत्तर प्रदेश	देहरादून, गढ़वाल, नैनीताल, देहरी गढ़वाल	2.00
गुजरात	हलर, भावनगर, पोरबंदर और कच्छ	67.00
जम्मू और कश्मीर	..	400.00
तमिलनाडु	कोयम्बटूर, टक्कर पालयम (दक्षिण), कट्टमपट्टी (दक्षिण) और पूर्व तिरुचिरापल्ली	156.00
मैसूर	गुलबर्गा, गंगूथी, सातिमाह	6.8
राजस्थान	वीकानेर	800.0
		141.30** (जिप्साइट)
"	जोधपुर, नागौड़, श्रीगंगानगर	8,536.5

* *Indian Miner. Yearb.*, 1955, 434.

** इसमें वीकानेर जिले में 9.3 लाख टन के अनुत्तम 14 नये भंडार भी सम्मिलित हैं।

सारणी 3 - भारत में जिप्सम का उत्पादन (1961-65)*

(मात्रा : टन; मूल्य : हजार रु. में)

राज्य	1961		1962		1963		1964		1965	
	मात्रा	मूल्य	मात्रा	मूल्य	मात्रा	मूल्य	मात्रा	मूल्य	मात्रा	मूल्य
उत्तर प्रदेश	641	8	3,824	76	2,885	66	2,234	44	1,969	42
गुजरात	259	3	313	4	1,239	57	380	13	623	29
जम्मू और कश्मीर	7	..	305	3	785	8	1,740	18
तमिलनाडु	74,676	828	83,926	1,011	1,02,857	1,268	1,19,826	1,744	1,17,167	1,758
महाराष्ट्र	118	1	217	3	122	2
राजस्थान	7,89,881	4,515	10,33,742	5,712	10,82,929	5,889	7,58,191	5,039	10,40,607	6,748
कुल	8,65,582	5,355	11,22,110	6,806	11,90,912	7,291	8,82,493	6,860	11,60,366	8,577

* *Indian Miner. Yearb.*, 1965, 439.

सारणी 4 - भारत में जिप्सम के विभिन्न ग्रेडों का उत्पादन (टनों में)*

राज्य	ग्रेड-वरित 95% से अधिक	ग्रेड विशिष्ट 90-95%	ग्रेड I 86-90%	ग्रेड II 83-86%	ग्रेड III 80-83%	ग्रेड IV 70-80%	ग्रेड V 65-70%	अनिर्णित	कुल
उत्तर प्रदेश	..	436	909	395	121	108	1,969
गुजरात	100	100	423	623
तमिलनाडु	5,711	..	83,261	18,014	10,181	1,17,167
राजस्थान	1,193	..	6,494	6,44,856	2,83,258	94,693	10,113	..	10,40,607
कुल	1,193	436	7,503	6,50,667	2,83,258	1,78,349	28,248	10,712	11,60,366

*Indian Miner. Yearb., 1965, 440.

सारणी 5 - भारत में जिप्सम का आयात*

वर्ष	मात्रा (टन)	मूल्य (हजार रु.)
1961.	60	8
1962	21,633	750
1963	46,339	1,602
1964	84,533	2,907
1965	39,143	1,664

*Indian Miner. Yearb., 1965, 444.

की अल्प मात्राएँ आयात की जाती हैं। 1952-53, 1953-54 और 1954-55 में क्रमशः 2,51,440, 53,986 और 1,810 रु. के जिप्सम का स्थलीय आयात हुआ था। 1965 में 1,664 रुपये का आयात हुआ (सारणी 5)।

खनिज में कैल्सियम सल्फेट की मात्रा के अनुसार जिप्सम की सात श्रेणियाँ बाजार में प्रचलित हैं। विभिन्न प्रान्तों के लिए ग्रेडवार उत्पादन सारणी 4 में अंकित है।

जिप्सीबर्ट - देखिए लाइकोपस

जिमनाक्रैन्थेरा वार्वेरा (मिरिस्टिकेसी)

GYMNACRANTHERA Warb.

ले. - जिमनाक्रैन्थेरा

यह दक्षिण पूर्व एशिया में पाये जाने वाले वृक्षों का छोटा-सा वंश है। भारत में इसकी एक जाति पाई जाती है।

Myristicaceae

जि. केनारिका वार्वेरा सिन. मिरिस्टिका केनारिका ब्रेडोम एक्स किंग; सि. फारक्वुहरियाना हुकर पुत्र (प्लो. त्रि. इ.) अंशतः G. canarica Warb.

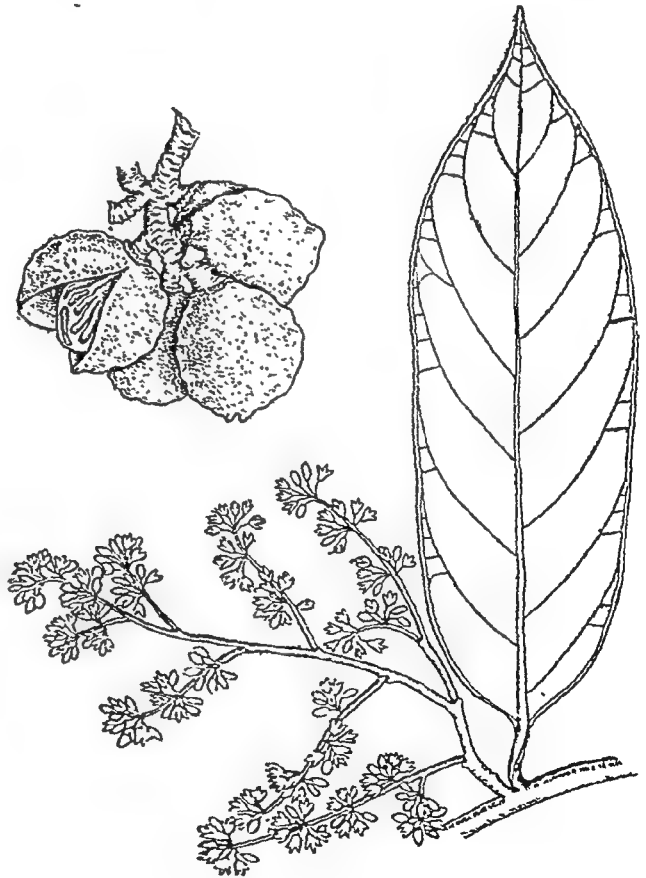
ले. - जि. कानारिका

C.P., 791: Fl. Br. Ind., V, 108.

त. - उंडिपानू; क. - पिण्डी, पिण्डीकाई; मल. - उण्डई पानू, पिण्डी काया.

मैसूर - हेडेहागलू.

यह मध्यम से ऊँचे आकार का, चिकनी भूरी छाल वाला, एकलिंगाश्रयी सदापर्णी वृक्ष है। यह पश्चिमी घाटों पर कनारा से दक्षिण की ओर 600 मी. की ऊँचाई तक पाया जाता है। पत्तियाँ बड़ी-बड़ी, आयताकार, परिवर्तनशील; पुष्प छोटे कक्षीय पुष्प-गुच्छों में; फल 2.5 सेंमी. व्यास के उपगोलाकार और बीज, चोलयुक्त बीज वाले होते हैं।



चित्र 46 - जिमनाक्रैन्थेरा केनारिका - पुष्पित शाखा तथा फल

इसकी लकड़ी हल्की लाल अथवा स्लेटी-भूरी, चमकीली, चिकनी, साधारण भारी (आ. घ., 0.51; भार, 528 किग्रा./घमी.), मुलायम, सीधी या कुछ लहरदार दानों वाली और मध्यम से महीन गठन वाली होती है। इसमें सिरों पर अरीय फटन होती है। हरित-परिवर्तन और सुखी हवा से रक्षण की संस्तुति की जाती है। आच्छादित अवस्था में लकड़ी साधारण टिकाऊ होती है। इस पर कार्य करना सरल होता है तथा तैयार होने पर सतह चमकदार हो जाती है। यह तख्तों के लिए अच्छी मानी जाती है। यह लकड़ी चाय की पेटियों तथा अन्य पैकिंग पेटियों की लकड़ी से मिलती जुलती है परन्तु उनसे भी अच्छी कोटि की होती है (Pearson & Brown, II, 815)।

इसके बीजों में बसा की मात्रा अधिक होती है। इन्हें कुचल कर बाँसों के जोड़ों के बीच दबा कर भट्टी-सी मोमवत्तियाँ बनाई जाती हैं जिनमें वत्तियों का उपयोग नहीं होता है। ये मोमवत्तियाँ छोटी, धुर्या-रहित, साफ ली के साथ जलती हैं। बीजों से जलाने तथा साबुन बनाने के लिए एक उपयोगी बसा का निष्कर्षण किया जा सकता है। सम्पूर्ण बीज तथा बीज-चोल के विश्लेषण से क्रमशः निम्नलिखित मान प्राप्त हुए : जल, 7.25, 5.15; बसा, 49.4, 54.6; ऐल्बुमिनायड, 7.31, 6.12; कार्बोहाइड्रेट, 14.65, 28.48; तन्तु, 20.14, 3.4; तथा राख, 1.25, 5.25%। छिलकों से पृथक् की गई गिरी से एक हल्के भूरे रंग की बसा (64.76%) मिलती है जिसके स्थिरांक इस प्रकार हैं : ग.वि., 37.5°; आयो. मान, 26.6; साबु. मान, 215.0; तथा अम्ल मान, 37.1। बसा का मुख्य घटक मिरिस्टिक अम्ल है। इसमें ओलीइक अम्ल भी होता है (Krishnamurti Naidu, 135; Hooper, Agric. Ledger, 1907, No. 3, 18)। *Myristica canarica* Bedd. ex King; *M. farguhariana* Hook. f. (Fl. Br. Ind.), in part

जिमनोक्लैडस लामार्क (लेग्युमिनोसी) GYMNOCLADUS Lam.

ले. — जिमनोक्लाडस

Fl. Assam, II, 125.

यह बड़ी शाखाओं से रहित, पर्णपाती वृक्षों का छोटा-सा वंश है जो उत्तरी अमेरिका, चीन, ब्रह्मा तथा भारत में पाया जाता है। इसकी एक जाति जि. असासिकस यू. एन. कंजीलाल एक्स पी. सी. कंजीलाल खासी पहाड़ियों में 1,500 मी. की ऊँचाई पर पाई जाती है। इस वृक्ष की छाल लाल-भूरी और इसकी सतह जालीदार कार्क के समान होती है। इस वृक्ष की ऊँचाई लगभग 12-15 मी.; पत्तियाँ द्विपिच्छकी, 30-37 सेंमी. लम्बी, आकार पर मोटी; फलियाँ 13.75-17.5 सेंमी. लम्बी, 3.75 सेंमी. चौड़ी तथा गूदेदार होती हैं। इनमें लाल-भूरी चमकीली बाह्य फलमिति, साबुन जैसी मध्य फलमिति और 6-8 बीज होते हैं। बीज अंडाभ या उपगोलाकार, कुंठित त्रिकोणीय, तथा कड़े काले बीज-चोल से युक्त होते हैं।

गूदेदार फलियों का उपयोग खासियों द्वारा बाल घोलने के लिए किया जाता है। भारतीय जातियों के रासायनिक विश्लेषण प्राप्त नहीं हैं। मध्य चीन के एक पीघे जि. चाइनेन्सिस बेलान तथा उत्तरी अमेरिका की जाति जि. डायोइक्स काख में सैपोनिन पाया गया है। जि. डायोइक्स के बीजों में 19% वसीय तेल तथा अण्डी के बीजों के राइसिन के समान टाक्सऐल्बुमिन मिलता है। बीजों को भून कर खाया जा सकता है। कभी-कभी इनका उपयोग काफी के स्थान पर भी किया जाता है। जि. डायोइक्स से लट्टे मिलते हैं जिनका उपयोग स्थानीय रूप से वाड़

वनाने और रेलवे के आड़े-तिरछे जोड़ बनाने के लिए होता है। जि. असासिकस की लकड़ी (भार, 912 किग्रा./घमी.) कठोर तथा श्वेत-पीत होती है (Das, Assam For. Rec. Bot., 1934, 1, 7; Wehmer, I, 508; II, 1290; Jamieson, 261; U.S.D., 1473; Record & Hess, 276)।

Leguminosae; *G. assamicus* U. N. Kanjilal ex P. C. Kanjilal; *G. chinensis* Baill.; *G. dioicus* Koch.

जिमनीमा आर. ब्राउन (ऐस्क्लेपिएडेसी)

GYMNEMA R. Br.

ले. — जिमनेमा

यह खड़कीरी, लिपटने वाली झाड़ियों या उपझाड़ियों का वंश है जो पुरानी दुनियाँ के उष्ण तथा उपोष्ण कटिबंधी प्रदेशों में पाया जाता है। भारत में इसकी लगभग 10 जातियाँ पाई जाती हैं।

Asclepiadaceae

जि. सिलवेस्ट्री आर. ब्राउन *G. sylvestre* R. Br.

ले. — जि. सिलवेस्ट्री

D.E.P., IV, 189; Fl. Br. Ind., IV, 29.

सं. — मेपशुंगी, मधुनाशिनी; हिं. — गुर मार, मेढासिंगी; बं. — मेढा-सिंगी; म. — कवाली, काली-करडोरी, वाकुन्डी; गु. — धुलेटी, मारदासिंगी; ते. — पोदपत्री; त. — अडिगम, चेक्कुरिजा; क. — सन्नगेरासेहम्बू.

यह दक्षिणी पठार तथा भारत के उत्तरी तथा पश्चिमी भागों तक पाई जाने वाली, बड़ी, कम या अधिक रोमिल, काष्ठमय, आरोही लता है। इसे कभी-कभी औपवीय वृष्टी के रूप में भी उगाया जाता है। पत्तियाँ बहुधा दीर्घवृत्तीय या अंडाकार, आमने-सामने, (3.1-5 सेंमी. \times 1.25-3.1 सेंमी.); पुष्प छोटे, पीले, ससीमाक्ष पुष्पछत्री; फालिकल लम्बोतरे, आलाकार, लगभग 7.5 सेंमी. लम्बे होते हैं।

यह पौधा क्षुधावर्धक, उद्दीपक, मृदुरेचक तथा मूत्रवर्धक होता है। इसे खासी, पित्तदोष तथा दुखती आँखों के लिए उपयोगी माना जाता है। पेड़ की पत्तियाँ चवाने पर कुछ घंटों के लिए मीठी अथवा कड़वी वस्तुओं के स्वाद का बोध नहीं हो पाता। अम्लीय स्वाद पर इसका कोई प्रभाव नहीं होता है परन्तु लवण स्वाद पर कुछ प्रभाव पड़ता है। पत्तियों का उपयोग कभी-कभी मधुमेह के इलाज में किया जाता है। देखा गया है कि पत्तियों के चूर्ण या इसके ऐल्कोहलीय निष्कर्ष के प्रयोग से मधुमेह के रोगियों के रक्त अथवा मूत्र में शर्करा के सान्द्रण पर कोई प्रभाव नहीं होता है। फिर भी जब इसे पशुओं को मूत्र अथवा इंजेक्शन द्वारा देते हैं तब उन्हें अल्प-ग्लूकोस रक्तता हो जाती है। यह प्रभाव कार्बोहाइड्रेट उपापचय के सीधे प्रभाव के कारण न होकर अग्नाशय द्वारा इन्सुलिन के स्राव के परोक्ष उत्प्रेरण के कारण होता है। पत्तियों में ग्लूकोस की नष्ट करने वाला कोई जल-विलेय अथवा ऐल्कोहल विलेय पदार्थ नहीं होता (Kirt. & Basu, III, 1625; Rama Rao, 262; Chopra et al., Indian J. med. Res., 1928, 16, 115; Mhaskar & Caius, Indian med. Res. Mem., No. 16, 1930)।

पत्तियों का चूर्ण स्वादहीन होता है, तथा इसमें हल्की-सी सौरभिक गंध होती है। यह हृदय तथा परिसंचरण-तंत्र को उद्दीपित करता है, मूत्र का स्राव बढ़ाता है तथा मूत्राशय को सक्रिय करता है। इसका रेचक गुण ऐन्थ्राविक्शनन व्युत्पन्नों की उपस्थिति के कारण है। इसका उपयोग



चित्र 47 - जिम्नोमा सिलवेस्ट्री - पुष्पित शाखा

स्वादविसामान्यता तथा फुसी रोग में और नस्य के रूप में होता है। इसका जीवाणविक क्रिया पर कोई प्रेक्षणीय प्रभाव नहीं होता है (Mhaskar & Caius, loc. cit.).

महाबलेश्वर से एकत्रित सूखी पत्तियों के चूर्ण के विश्लेषण से निम्नलिखित मान प्राप्त हुए हैं : आर्द्रता, 4.42; राख, 11.45; पेट्रोलियम विलेय, 6.21; ईथर विलेय, 1.72; ऐल्कोहल विलेय, 12.16; ऐल्बुमिन, 0.45; ऐल्बुमिनॉयड जल विलेय, 1.95; और क्षार विलेय, 5.91; म्यूसिलेज. जल विलेय, 4.98; और क्षार विलेय, 2.72; कार्बोनिक अम्ल, 5.50; पैरारैविन, 7.26; कैल्सियम ऑक्साइड, 7.30; लिग्निन, 4.80; तथा सेलुलोज, 22.65%। राख के विश्लेषण से निम्नलिखित मान प्राप्त हुए हैं : K_2O , 14.73; Na_2O , 8.56; CaO , 20.72; MgO , 2.75; Fe_2O_3 , 5.44; Al_2O_3 , 0.92; Mn , 1.31; CO_2 , 11.66; SO_3 , 6.04; P_2O_5 , 6.73; SiO_2 (अविलेय), 11.90; SiO_2 (विलेय), 5.79; और Cl , 3.35%। पत्तियों में हेप्टाइऐकोटेन, पेन्टाट्राइऐकोटेन, तथा α - और β -क्लोरोफिल, फाइटिन, रेजिन, टार्टरिक अम्ल, फॉर्मिक अम्ल, व्यूटिरिक अम्ल, ऐन्थाक्विनोन व्युत्पन्न, इनासिटॉल, d -क्वेसिटॉल, तथा "जिमनेमिक अम्ल" पाये जाते हैं। पत्तियों में ऐल्कलायड का भी परीक्षण मिलता है। "जिमनेमिक अम्ल" उस अशुद्ध जटिल मिश्रण को कहते हैं जिसका प्रभाजन पेट्रोलियम ईथर, ईथर, क्लोरोफार्म, ऐथिल ऐसीटेट तथा ऐल्कोहल से निष्कर्षण द्वारा किया जा सकता है। ऐथिल ऐसीटेट से निष्कर्षित प्रभाज (35% जिमनेमिक अम्ल अथवा वायु-शुष्क पत्तियों

का 6%) में मीठी वस्तुओं के स्वाद को नष्ट करने का गुण होता है। क्लोरोफार्म निष्कर्षित प्रभाज में भी यही गुण होता है परन्तु किसी भी अन्य प्रभाज में ऐसा नहीं पाया जाता। पत्तियों में से एक उदासीन कटु-तत्व वियोजित किया गया जो लालासावी की तरह कार्य करता है। फलों के अवयव पत्तियों के समान ही होते हैं परन्तु इनमें से कोई क्वेसिटॉल पृथक् नहीं हुआ (Mhaskar & Caius, loc. cit.; Webb, Bull sci. industr. Res. Org., Melbourne, No. 268, 1952, 27; Wehmer, II, 1004).

जि. हिर्सुटम वाइट तथा आर्नेट वुन्देलखण्ड, विहार तथा पश्चिमी घाटो पर पाई जाने वाले आरोही लता तथा जि. मोण्डानम हुकर पुत्र को जो कोकण से दक्षिण की ओर पश्चिमी घाटो में पाई जाती है, चवाने पर मीठी तथा कड़वी वस्तुओं का स्वादबोध कुछ समय के लिए नहीं रहता। इन दोनों जातियों की पत्तियों में जिमनेमिक अम्ल पाया जाता है (Burkill, I, 1117; Wehmer, II, 1005)

जि. टिजेन्स स्प्रेगेल यमुना से पूर्व की ओर असम तथा पश्चिमी घाटो पर पाई जाने वाली आरोही लता है। इसमें से नीला रंग प्राप्त हुआ है (Cowan & Cowan, 91).

जि. एक्यूमिनेटम वालिश असम के कुछ भागों में पाई जाने वाली आरोही झाड़ी है। इस पौधे की पत्तियों का उपयोग ब्रणों पर पुल्टिस के रूप में किया जाता है (Burkill, I, 1118).

G. hirsutum Wight & Arn.; *G. montanum* Hook. f.; *G. tingens* Spreng.; *G. acuminatum* Wall.

जिम्नोपेटैलम आर्नेट (कुकरबिटेसी) GYMNOPETALUM Arn.

ले. - जिमनोपेटालूम

यह दक्षिण-पूर्व एशिया में पाई जाने वाली आरोही झाड़ियों का छोटा-सा वृक्ष है। भारत में इसकी तीन जातियाँ पाई जाती हैं।

Cucurbitaceae

जि. कोचीनचाइनेन्स कुर्ज *G. cochinchinense* Kurz

ले. - जि कोचिनेन्से

Fl. Br. Ind., II, 611.

विहार - काँबुटकिला

भारत के उत्तरी-पूर्वी भागों में पाई जाने वाली बहुशाखी, रोयेदार नालीदार तने वाली तथा तन्तुरूप प्रतानों वाली आरोही है। इसे कभी-कभी इसके आलंकारिक फलों के कारण उगाया जाता है। पत्तियाँ वृक्काकार से त्रिकोणी, पंचकोणी या पालियुक्त; पुष्प श्वेत, उभय-लिंगाश्रयी; फल चमकदार लाल, अण्डाभ दीर्घायत, पट्टीदार, 5 सेमी लम्बे तथा 2 सेमी. व्यास के होते हैं।

फल विपला कहा जाता है यद्यपि प्रारम्भिक अवस्था में इसे खाया जाता है। पेरक में इसकी पत्तियों का काढ़ा पके फल के विप तथा गर्भपातजन्य टेटनस के प्रभाव को नष्ट करने के लिए किया जाता है। नेत्रप्रदाह में पत्तियों के रस को नेत्रों में डाला जाता है। छोटा नागपुर में इसके प्रकट को पीस कर तथा गर्म पानी में मिलाकर शरीर की पीड़ा तथा हाय के कण्ट और पैरों की शोथ में मालिश करते हैं (Burkill, I, 1118; Kirt. & Basu, II, 1116).

जि. विववेलोवम मिक्वेल अण्डमान तथा निकोबार द्वीपों में पाई जाने वाली बहुत ही समीपवर्ती जाति है। इस जाति के अपरिपक्व फल खाद्य माने जाते हैं (Burkill, loc. cit.).

G. guingelobum Miq.

जिमिनोस्टैकियम नीस (अकैन्थेसी) GYMNOSTACHYUM Nees

ले. — जिमिनोस्टैकियम

Fl. Br. Ind., IV, 507.

यह उष्णकटिबंधीय एशिया में फैली हुई वृष्टियों या छोटी झाड़ियों का वंश है। भारत में इसकी सात जातियाँ पाई जाती हैं।

जि. फेब्रोप्युगम वेंथम (क — नेलमुच्चड़ा) दक्षिण कनारा, मालाबार, और त्रावनकोर में पाई जाने वाली छोटे डंठल वाली झाड़ियाँ हैं। इनकी पत्तियाँ बड़ी, बड़े पर्णवृत्तों वाली, अण्डाकार, महीन रेखाओं से युक्त, तरंगी, सूक्ष्मदंती और पुष्प नीलाभ, अल्परोमिल पुष्पगुच्छों में लगते हैं।

जड़ को स्थानीय लोग ज्वरनाशी के रूप में उपयोगी मानते हैं। इसमें रेजिनाइड प्रकृति का एक कटुत्व, कोलेस्टेरोल और थोड़ी-सी मात्रा में टैनिन तथा शर्करा होती है। जड़ को नीबू के रस तथा शर्करा के साथ पीसकर जीभ के फफोलों तथा ब्रणों पर लगाते हैं (Kirt. & Basu, III, 1889; Rama Rao, 308; Burkill, I, 1118). *Acanthaceae*; *G. febrifugum* Benth.

जिमिनोस्पोरिया वेंथम तथा हुकर पुत्र (सेलास्ट्रेसी)

GYMNOSPORIA Benth. & Hook. f.

ले. — जिमिनोस्पोरिया

यह विश्व के उष्ण तथा उपोष्ण भागों में पाई जाने वाली झाड़ियों तथा छोटे वृक्षों का एक वंश है। भारत में इसकी लगभग 20 जातियाँ पाई जाती हैं।

Celastraceae

जि. मोंटाना (राँथ) वेंथम सिन. जि. स्पिनोसा (फोर्स्कल) फिथोरी; जि. सेनेगलेंसिस* लोजेनर, सेलास्ट्रस मोंटाना वाइट और आर्नेट; से. सेनेगलेंसिस लामार्क *G. montana* (Roth) Benth.

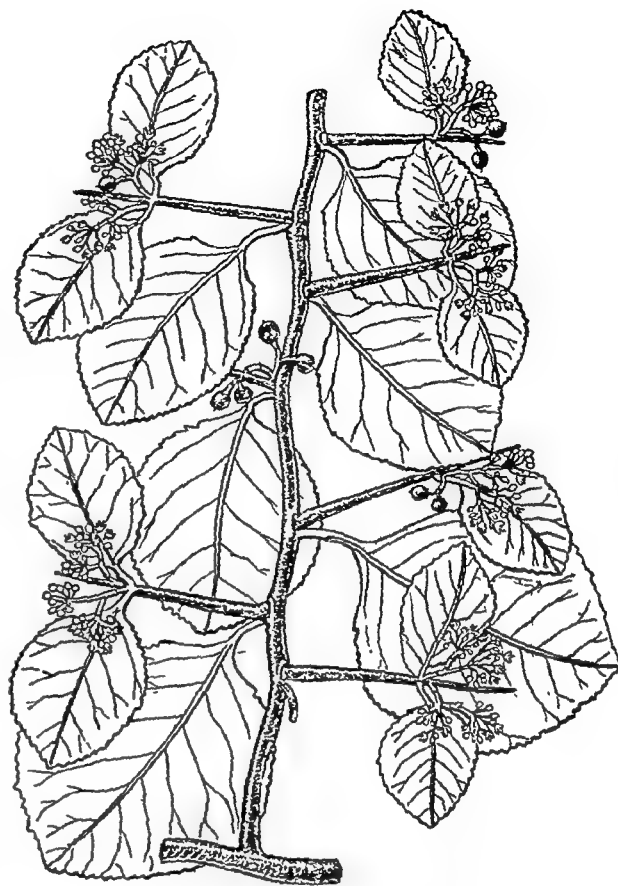
ले. — जि. मोनटोना

D.E.P., II, 239; Fl. Br. Ind., I, 621.

सं. — विकांता, सुधावृक्ष; हि. — विगार, बैकाल, किंगनी, टोंडरसैझाड; वं. — वैचोगाछ; म. — बैकाडू, भारात्ती; गु. — विका-लो, विकारो; ते. — दन्ति, पेद्विन्तु; त. — कटंजी, नानडुनाराई, वाडुलुवाई; क. — तंद्रासि, तंद्राजा, माल-कांगुनी; उड़िया — गौरोकोसा. पंजाब — मरीला, तलकार; राजस्थान — कंगकेरा; बम्बई — हुर-माचा.

यह भारत के सभी शुष्क भागों में पाई जाने वाली बहुशाखी, शूलाघ्नी झाड़ी या लघु वृक्ष है। पत्तियाँ अण्डाकार, आलाकार, दीर्घवृत्ताकार,

* कुछ विद्वानों की दृष्टि में भारतीय पीधा और अफ्रीकी जि. सेनेगलेंसिस एक नहीं हैं।



चित्र 48 — जिमिनोस्पोरिया मोंटाना — पुष्पित शाखा

वर्तुल, चमिल; पुष्प छोटे, श्वेत, कक्षीय ससीमाक्षों में; सम्पुटिकाएँ गोलाकार नील-लोहित या काले रंग की होती हैं। इनका व्यास 0.5 सेंमी. होता है। वनरोपण के लिए यह वृक्ष उपयोगी है (Parker, 81).

इसकी लकड़ी लाल-भूरी, कठोर, भारी (भार, 720 किग्रा./घमी.) महीन दाने की तथा टिकाऊ होती है। यह मनका बनाने के काम में आती है। इसका उपयोग कुछ कार्यों के लिए सन्दूक बनाने के लिए भी किया जा सकता है। पत्तियों चारे के रूप में प्रयुक्त होती हैं। इसकी शाखाओं का मकानों की छतों को पाटने में उपयोग किया जाता है (Gamble, 177; Blatter & Hallberg, *J. Bombay nat. Hist. Soc.*, 1918, 26, 233; Dalziel, 288).

इसकी जड़, तने, छाल तथा पत्तियों का ओपधि के रूप में प्रयोग होता है। इसकी छाल के चूर्ण को सरसों के तेल के साथ मिलाकर वालों के जुएँ नष्ट करने के लिए उपयोग होता है। अफ्रीका में इसकी जड़ को जठरान्न रोगों, विशेषतः पेचिश के लिए उपयोगी माना जाता है। पत्तियों का चूर्ण कृमिहर के रूप में बच्चों को दूध में दिया जाता है। पत्तियों वाली टहनियों के काढ़े का उपयोग दाँत के दर्द में कुल्ला करने के लिए किया जाता है। नाइजीरिया में लकड़ी तथा पत्तियों की राख का नमक के स्थान पर उपयोग होता है। पत्तियों की राख को घी के साथ

मिलाकर ब्रणों पर लगाने के लिए एक भलहम बनाया जाता है (Kirt. & Basu, I, 578; Blatter & Hallberg, loc. cit.; Dalziel, 288).

G. spinosa (Forsk.) Fiori; *G. senegalensis* Loes.; *Celastrus montana* Wight & Arn.; *C. senegalensis* Lam.

जि. रायलीना एम. लासन सिन. सेलास्ट्रस स्पिनोसस रायल
G. royleana M. Laws.

ले. — जि. राइलेआना

D.E.P., II, 240; Fl. Br. Ind., I, 620.

हि. — खालादारिम, कुरा.

कुमायूँ — ग्वालदारी, कनाई; पंजाब — ग्वालदारीम, पटाक्री, कण्डू.

यह उत्तर-पश्चिमी हिमालय में 1,950 मी. की ऊँचाई तक पाई जाने वाली बहुशाखी, काँटेदार, 1.2-3.6 मी. ऊँची झाड़ी है. पत्तियाँ अण्डाकार, दीर्घवृत्ताकार या अधोमुख अण्डाकार, दंतुर तथा चमिल; पुष्प श्वेताम, छोटे-छोटे कक्षीय ससीमाक्षों में; और सम्पुटिकायें, छोटी, त्रिकोणी, जिनमें तीन चोलयुक्त बीज होते हैं.

लकड़ी नीवू के रंग की, कठोर, भारी (भार, 784 किग्रा./घमी.) तथा घने दाने की होती है. यह तन्तु विन्यास में बाक्स-वुड के समान ही होती है, तथा इसका उपयोग नक्काशी के लिए किया जा सकता है. पंजाब में इससे टहलने की छड़ियाँ बनाई जाती हैं. इसके बीजों के धूप से दाँतों के दर्द में आराम मिलता है (Kirt. & Basu, I, 579).

जि. वालिशिआना एम. लासन सिन. सेलास्ट्रस वालिशिआना ब्राइट
तथा आर्नेट एक काँटेदार झाड़ी है. इसकी शाखाएँ टेढ़ी-मेढ़ी होती हैं. यह दक्षिण भारत के कुछ भागों में पाई जाती है. इस पौधे की पत्तियों में एक ऐल्कलायड पाया गया है (Burkill, I, 1118).
Celastrus spinosus Royle; *G. wallichiana* M. Laws.;
Celastrus wallichiana Wight & Arn.

जियोडोरम जी. जैक्सन (आर्किडेसी) GEODORUM
G. Jackson

ले. — गेओडोरूम

Fl. Br. Ind., VI, 16.

यह भारत से लेकर ऑस्ट्रेलिया तक पाया जाने वाला स्थलीय आर्किडों का वंश है. इसकी एक जाति भारत में पाई जाती है.

जि. डेन्तीपलोरम इलेक्टर सिन. जि. परथूरियम हुकर पुत्र (फलो. त्रि. इ.); जि. डाइलेटेडम आर. ब्राउन एक प्रकंदीय मजबूत वृद्धि है. यह कम ऊँचाई पर देहरादून से असम तक और दक्षिणी प्रायद्वीप तथा अंडमान द्वीपों में पायी जाती है. इसकी पत्तियाँ वलित, भालाकार या दीर्घवृत्तीय (15-30 सेंमी. × 7.5-10 सेंमी.), अच्छादी आघार वाली होती हैं जिनसे आभासी तने बनते हैं. इसके स्केप (60 सेंमी. तक लम्बे) के अंत में गाँठनुमा समशिख होता है जिस पर सफ़ेद या पीले-नील-लोहित फूल लगे रहते हैं जिनके होठों पर गहरे चिन्ह रहते हैं.

पीसे हुए प्रकन्द मवेशियों पर मक्खी मारने के लिए मले जाते हैं. प्रवाहिका के उपचार में इसे बकरियों को भी खिलाया जाता है. इसके प्रकन्द में एक गोंद जैसा पदार्थ होता है जिससे सरस तैयार किया जा

सकता है. इस सरस का उपयोग, फिलीपीन्स में जि. नुट्स एमीस से प्राप्त होने वाले सरस के समान ही तारों वाले वाद्य यंत्रों के हिस्सों को जोड़ने में किया जाता है. सरस तैयार करने के लिए प्रकन्दों को पकाकर बारीक जाली से छानते हैं (Bressers, 152; Burkill, I, 1067; Brown, 1951, I, 440).

Orchidaceae; *G. densiflorum* Schlechter; *G. purpureum* Hook. f.; *G. dilatatum* R. Br.; *G. nutans* Ames

जियोफिला डी. डान (रूबिएसी) GEOPHILA D. Don

ले. — गेओफिला

D.E.P., III, 488; Fl. Br. Ind., III, 177.

यह वृद्धियों का वंश है जो संसार के उष्णकटिबंधी एवं उपोष्ण प्रदेशों में, विशेषतया नम स्थानों में पाया जाता है. इसकी एक जाति भारत में प्राप्य है.

जि. हर्वेसिया कुंजे सिन. जि. रेनीफार्मिस डी. डान एक बहुवर्षी, शयान, रोमिल, लम्बे तने वाली वृद्धि है जिसकी गाँठों से जड़ें निकलती हैं. यह असम की पहाड़ियों, पश्चिमी घाट और अंडमान द्वीपों में मिलती है. इसकी पत्तियाँ वर्तुल-हृदयाकार; फूल छोटे; फल पकने पर नील-लोहित, गोलाकार होते हैं. इस वृद्धि के गुण सिफेसिस इपेकैकुएन्हा से कुछ मिलते-जुलते हैं परन्तु उससे कुछ घटिया ही होते हैं. यलाया में इसका उपयोग प्रवाहिका को चिकित्सा में किया जाता है. पैर के फोड़े में इसकी पुल्टिस बाँधी जाती है (Burkill, I, 1068).

Rubiaceae; *G. herbacea* Kuntze; *G. reniformis* D. Don; *Cephaelis ipecacuanha*

जिरार्डिनिया गाडिशो (अर्टोकेसी) GIRARDINIA

Gaudich.

ले. — गिरार्डिनिया

D.E.P., III, 498; C.P., 161; Fl. Br. Ind., V, 550.

यह एकवर्षी अथवा बहुवर्षी वृद्धियों का वंश है जिस पर लम्बे चुभने वाले रोयें होते हैं. यह एशिया तथा अफ्रीका के उष्णकटिबंधी प्रदेशों में पाया जाता है. भारत में तीन जातियाँ पहचानी गई हैं जिनके नाम हैं : जि. हेटरोफिला डिकैन्जे (फलो. त्रि. इ.) अंशतः (हिमालयी विच्छू वृद्धि; हिन्दी — अवा, अल्ला, विछुआ, चिकरी; नेपाल — उल्लू, शिशु; लेपचा — कजूवी; भूटिया — सर्पा, हरपा; खासी — टैन्थम, टिंगथाप) शीतोष्ण एवं उपोष्णीय हिमालय में 2,100 मी. ऊँचाई तक कश्मीर से सिक्किम तक और असम एवं खासी की पहाड़ियों पर पाई जाती है. जि. पामेटा (फोर्स्कल) गाडिशो सिन. जि. हेटरोफिला वैर. पामेटा (फलो. त्रि. इ.); जि. लेस्केनाजलिट्राना डिकैन्जे (नीलगिरि विच्छू वृद्धि; ते. — गडानेल्लो; क. — तुरीके) पश्चिमी घाट के पहाड़ों पर 1,200 से 2,100 मी. ऊँचाई पर मिलती है और जि. ज़ेलेनिका डिकैन्जे सिन. जि. हेटरोफिला वैर. ज़ेलेनिका डिकैन्जे (फलो. त्रि. इ.) जो राजस्थान, मध्य प्रदेश और डेकन में बावनकोर तक पायी जाती है. भारत के वनस्पति समूह में इन्हें जि. हेटरोफिला डिकैन्जे का विभेद माना जाता है. इनकी छाल से रस्से, सुतली और मोटा कपड़ा बन सकता है परन्तु इसे कोई व्यावसायिक महत्व प्राप्त नहीं हो सका है.

जिरार्डिनिया की भारतीय जातियाँ बलिष्ठ और सीधी उपजाड़ियाँ हैं जो 1.2 से 3 मी. ऊँची, बहुवर्षी जड़ों, तन्तुदार वृत्तों एवं बड़ी पालियुक्त, तीखी और कठकी पत्तियों वाली हैं। ये वृक्षों में उगती हैं। तीन जातियों में से केवल जि. पामेटा नियमित रूप से बोई जाती है; और इसी का अध्ययन हुआ है। दूसरी जातियों पर अलग से अन्वेषण नहीं हुआ है। मने ही उनका उपयोग होता रहा है। नीलगिरि में जि. पामेटा की प्रायोगिक खेती होती है। यह खड्डों में उपस्थित जलोढ़ मिट्टी में अच्छी बढ़ती है। यदि 37.5 सेमी. दूरी पर पंक्तियों में बोये बीजों द्वारा इसे उगाया जाए तो इससे उत्पन्न प्ररोहों को वर्ष में दो बार, एक बार जुलाई में और दुबारा जनवरी में, काटा जा सकता है। ऊपरी भाग काटने के पश्चात् जो कूट बचे रहते हैं उनसे पुनः प्ररोह निकलने हैं। प्रत्येक प्ररोह को काटने के बाद पंक्तियों के बीच की मिट्टी को 20 सेंमी. गहरी खोद कर खाद मिलाते हैं। इससे निश्चित समय के बाद उपज मिलती रहती है। ऐसी दशा में 3-4 वर्षों तक प्रति वर्ष दो फसलें मिल सकती हैं। प्ररोहों को काटकर 2-3 दिनों तक खेत में पड़ा रहने देते हैं, छाल छीलकर पत्तियों से अलग कर देते हैं और फिर छाल को बडलों में बाँधकर घूप में सुखाकर लकड़ी के हथौडों से पीटते हैं। इन प्रकार बिलगाए रेशों को लकड़ी की राख के साथ पानी में एक घंटा पकाते हैं और तुरन्त स्वच्छ बहते जल से धोते हैं, इनके बाद ननई की भाँति इसे घूप में रखकर विरजित किया जाता है। जुलाई की फसल से 400-500 किग्रा. और जनवरी की फसल से 600-700 किग्रा. प्रति हेक्टर स्वच्छ रेशा प्राप्त होता है। नवीन प्ररोहों से प्राप्त रेशा महीन और मजबूत होता है परन्तु दूसरी फसल से प्राप्त रेशे प्ररोहों के परिपक्व हो जाने के कारण कुछ मोटे हो जाते हैं।

नये वृत्त की भीतरी छाल में रहते हैं इनसे 7.3% नमी; 89.6% सेलुलोज, और 1.5% राख मिलती है। रेशों का व्यास 20 से 80 मा. होता है। ये रेशे लम्बाई, बल और सूक्ष्मदर्शी रचना में फलैक्स से मिलने जुलते हैं किन्तु अपेक्षाकृत अधिक नर्म, तुल्य हुए एवं मृदुरोमिल होते हैं। दार्जिलिंग में उत्पन्न जंगली पीवों से प्राप्त रेशों के परीक्षण से ज्ञात हुआ कि इन्हें लम्बे तनुओं के रूप में काटा जा सकता है। फ्लैक्स की अपेक्षा इन तनुओं की नयनता एवं तनन सामर्थ्य अधिक तथा अवरोध क्षमता कम है। नम अवस्था में विरजित तनुओं की शक्ति, वायु में सुखाये नमूनों की अपेक्षा अधिक है [Deb & Sen, J. Sci. Club. Calcutta. 1949. 3(1). 15].

जूट की अपेक्षा यह रेशा अच्छा माना जाता है क्योंकि इसे ऊन के साथ मिलाया जा सकता है किन्तु इसके तीक्ष्ण रोमों के कारण व्यापारी इसे पसन्द नहीं करते। यहाँ तक कि रेशों से कपड़े बुने जाने के बाद भी रेशों का चुभने का गुण पूर्णतया नष्ट नहीं होता। इन रेशों का अधिक उपयोग करने के लिए यह आवश्यक है कि ऐसी विधि निकाली जाए जिनसे चुभने का दुर्गुण दूर किया जा सके (Deb & Sen, loc. cit.; Sircar, Misc. Bull. Indian Coun. agric. Res., No. 66, 1948. 42).

तीक्ष्ण रोमों के कारण यह पीछा त्वकयोग्य उत्पन्न करता है। पश्चिमी हिमालय में इसकी पत्तियों की तरकारी बनाकर खाने का उल्लेख है। जि. जेलेनिका की पत्तियों को सिर दर्द और जोड़ों की सूजन के उपचार में लगाते हैं तथा ज्वर में इसका काढ़ा दिया जाता है (Badhwar, et al., Indian J. agric. Sci., 1945, 15, 155; Kirt. & Basu, III, 2299).

Urticaceae; *G. heterophylla* Decne.; *G. palmata* (Forsk.) Gaudich.; *G. leschenaultiana* Decne.; *G. zeylanica* Decne.

जिरेनियम लिनिग्रस (जिरेनिंसी) GERANIUM Linn.

ले. - गेरानिज्म

यह एकवर्षी या बहुवर्षी वृद्धियों का वृहत् वंश है जो चायद ही उपजाड़ी के रूप में मिलता हो। यह संसार भर में विनोपतया बीतों प्रदेशों में, पाया जाता है। भारत में इसकी लगभग 20 जातियाँ पाई जाती हैं।

इसकी कई जातियाँ, विनोपतया बहुवर्षी जातियाँ, बगीचों में लगाई जाती हैं। सामान्यतः इन्हें 'क्रैनिस्विल' कहते हैं। इन्हें कितारे-कितारे उगाया जाता है। कुछ जातियाँ रॉकरी के लिए उपयुक्त हैं। बगीचों में उगाई अनेक जिरेनियम जातियाँ पैलार्गोनियम वंश से मिलती-जुलती हैं जो व्यापारिक जिरेनियम तेल का स्रोत हैं।

जिरेनियम की विभिन्न प्रजातियों में कपाय गुण होते हैं और कई का कुछ-कुछ औषधीय महत्व भी है। कुछ की जड़ों में प्रचुर दैनिक पाया जाता है।

Geraniaceae; *Pelargonium*

जि. नेपालेंस स्वीट *G. nepalense* Sweet

नेपाल जिरेनियम, नेपालीज क्रैनिस्विल

ले. - गे. नेपालेंस

D.E.P., III, 488; Fl. Br. Ind., I. 430.



चित्र 49 - जिरेनियम नेपालेंस - पुष्पित शाखा

हि. — भांडा.

पंजाब — भांडा; कश्मीर — रोयल.

यह पतला, बहुप्रशाखित विसरित बहुवर्षी है जो हिमालय भर में 1,500 से 2,700 मी. ऊँचाई तक तथा खासी, नीलगिरि और पलनी पहाड़ियों पर पाया जाता है. इसका तना 15 से 45 सेंमी. लम्बा तथा रोमिल; पत्तियाँ हस्ताकार तथा 3 से 5 पालियुक्त, अनियमित-दंतुर; तथा फूल गुलाबी या बैंगनी रंग के होते हैं.

पंजाब में इस बूटी का उपयोग स्तम्भक के रूप में तथा गुर्दे के रोग निवारण में किया जाता है. भारतीय बाजारों में जड़ें रोयल या भांडा कहलाती हैं. इन जड़ों में एक लाल रंग का पदार्थ होता है जो औषध में प्रयुक्त तेलों को रंगने में काम आता है. ये चमड़ा कमाने में भी काम आती हैं. इस बूटी के जलीय निष्कर्ष में से गैलिक अम्ल और नर्वेसिटिन पृथक् किये जा चुके हैं. इसके ऐल्कोहलीय निष्कर्ष में सक्सिनिक अम्ल होता है (Kirt. & Basu, I, 431; Dastur, *Medicinal Plants*, 116; *Chem. Abstr.*, 1918, 12, 1878).

जि. रोबर्टियानम लिनियस *G. robertianum* Linn.

हर्व-रोबर्ट जिरैनियम

ले. — गे. रावेटिआनम

D.E.P., III, 489; Fl. Br. Ind., I, 432; Blatter, I, Pl. 16, Fig. 5.

यह पश्चिमी हिमालय में 1,800–2,400 मी. ऊँचाई पर पाई जाने वाली खड़ी या शयान बूटी है. इसका तना रोमिल, 30–60 सेंमी. लम्बा; पत्तियाँ सम्मुख अथवा 3 से 5 पिच्छाकार पालियुक्त खंडों में विभाजित और फूल रक्ताभ होते हैं.

इस बूटी में अरुचिकर गंध होती है तथा स्वाद कड़वा, नसकीन और कषाय होता है. पहले यूरोप में प्रवाहिका और रक्तस्राव के उपचार में, गले की खराश में गरारे के लिए तथा अर्बुद ऋणों पर मलहम की तरह इसका उपयोग होता था (Kanny Lall Dey, 141; Kirt. & Basu, I, 432; Chopra, 492).

जि. वालिशियानम डी. डान *G. wallichianum* D. Don

वालिश क्रेनिसविल

ले. — गे. वाल्लिचिआनम

D.E.P., III, 489; Fl. Br. Ind., I, 430; Coventry, I, Pl. XV.

उत्तर प्रदेश तथा पंजाब — लालझाड़ी, लील जहरी; कश्मीर — केओ-आशुद.

यह अत्यन्त प्रशाखित, शयान अथवा खड़ी बहुवर्षी बूटी है जो हिमालय पर्वत पर कश्मीर से नेपाल तक 2,100–3,300 मी. ऊँचाई पर पाई जाती है. इसका प्रकन्द मोटा तथा तना मजबूत, रोमिल, 0.3 से 1.2 मी. लम्बा; पत्तियाँ सम्मुख, हस्ताकार, 3 से 5 पालियुक्त, अनियमित-दंतुर; और फूल नीले अथवा रक्ताभ नील-लोहित रंग के और बड़े (3.7 से 5 सेंमी. व्यास) होते हैं.

कभी-कभी तेज पीड़ा में इसके प्रकन्दों का उपयोग कोप्पिट टोटा वालिश के प्रतिस्थापी के रूप में होता है. दंतपीड़ा चिकित्सा में भी इस बूटी का उपयोग किया जाता है. जड़ों में टैनिन 25–32% और अटैनिन 18% होते हैं. इनका उपयोग चर्मशोषण एवं रेंगार्ड में किया जाता है [Kirt. & Basu, I, 431; Edwards *et al.*,

Indian For. Rec., N. S., Chem. & Minor For. Prod., 1952, I (2), 151; Dastur, loc. cit.].

जि. लूसिडम लिनियस, जि. रोटण्डोफोलियम लिनियस, जि. ओसेलेटम केम्बेसेडेस, जि. मोले लिनियस, जि. सिबिरिकम लिनियस, जि. पुसिलम बर्मन पुत्र और जि. प्रैटेन्स लिनियस आदि पश्चिमी हिमालय में पाई जाने वाली अन्य जातियाँ हैं. इनमें से कुछ में मूल तथा घाव भरने वाले गुण रहते हैं (Kirt. & Basu, I, 433–435). *Coptis teeta* Wall.; *G. lucidum* Linn.; *G. rotundifolium* Linn.; *G. ocellatum* Cambess.; *G. molle* Linn.; *G. sibiricum* Linn.; *G. pusillum* Burm. f.; *G. pratense* Linn.

जीनिओस्पोरम वालिश (लैबिएटी) GENIOSPORUM Wall.

ले. — जेनिओस्पोरम

D.E.P., III, 485; Fl. Br. Ind., IV, 609; Kirt. & Basu, Pl. 752A.

यह बूटियों का एक वंश है जो अफ्रीका, मेडागास्कर तथा दक्षिण-पूर्व एशिया में पाया जाता है. भारत में इसकी तीन जातियाँ पाई जाती हैं.

जी. प्रोस्ट्रेटम बेन्थम (त. — नजेल-नगै) कुछ-कुछ विसरित एकवर्षी है. इसमें मूलकांड से अनेक दृढ़लोमी तने निकलते हैं. यह तट के निकट दक्षिणी प्रायद्वीप की रेतीली भूमि में होता है. इसके पत्ते दूर-दूर जोड़ों में, अर्धअवृत्त, अंडाकार, भालाकार या रैखिक (2.5–5 सेंमी. लम्बे), दन्तुर अथवा कम दाँतों वाले; फूल छोटे-छोटे, द्वेत या गुलाबी, पास-पास अथवा अलग-अलग चक्करों में, कोमल असीमाक्षों (5–15 सेंमी. लम्बे) में होते हैं. इस बूटी में ज्वरहर गुण होते हैं. (Kirt. & Basu, III, 1968; Chopra, 492).

Labiatae; *G. prostratum* Benth.

जीयम लिनियस (रोजेसी) GEUM Linn.

ले. — गेऊम

यह बहुवर्षी बूटियों का वंश है जो मुख्यतः संसार के शीतोष्ण और ठंडे प्रदेशों में पाया जाता है. भारत में इसकी दो जातियाँ मिलती हैं.

जीयम के पौधे सहिष्णु होते हैं और प्रायः बगीचों में दूसरे पौधों के बचाव के लिए किनारे लगाये जाते हैं. इनमें से कुछ अपने चमकीले रंग के फूलों के कारण और कुछ लम्बे कलंगीदार फल-शीर्षों के कारण पसंद किये जाते हैं.

Rosaceae

जी. अर्बनम लिनियस *G. urbanum* Linn. एवेन्स, हर्व वेनेट

ले. — गे. ऊरबैनम

D.E.P., III, 490; Fl. Br. Ind., II, 342.

यह सीधी, 30–90 सेंमी. ऊँची बूटी है जिसका प्रकन्द घना होता है. यह हिमालय में कश्मीर से कुमायूँ तक 1,800 से 3,300 मी. की ऊँचाई तक मिलती है. इसके तने विरल रोमिल और पत्तियाँ मूलज तथा स्तम्भीय और अनेक स्थानों पर कटी हुई और भालाकार होती हैं. फूल हल्के पीले और फल रोमिल ऐकीनों के सिरे गोलाकार होते हैं.

इसके प्रकन्द 2.5 से 7.5 सेंमी. लम्बे और लगभग 3 मिमी. मोटे होते हैं जिस पर तने, पत्तियों, जड़ों आदि के अवशिष्ट चिन्ह बने होते हैं। यह कपाय एवं पृष्ठिरोधी होता है। ताजे प्रकन्द से लौंग-जैसी गंध आती है किन्तु शुष्क होने पर वह गंधहीन हो जाता है। पहले यूरोप में इसका उपयोग विरक्त पेचिंग, प्रवाहिका और आंतराधिक ज्वरों के उपचार में किया जाता था। इसका उपयोग जी की शराव को सुगंधित बनाने में भी किया जाता है। स्वास की दुर्गंध और दंतक्षरण को रोकने के लिए इसे चबाया जाता है। भारत में इस प्रकन्द का काढा ज्वर, जूडी, सर्दी लगने और जुकाम में स्वेदकारी के रूप में प्रयुक्त होता है। यह पौषा स्तम्भक, क्षुधावर्धक, ज्वर शामक, स्विस्-साव रोधक एवं टानिक है। यह प्रवाहिका, पेचिश, गला दुखने और ध्वेत प्रदर के उपचार में प्रयुक्त होता है। दुर्बलता दूर करने में भी यह उपयोगी बताया गया है [U.S.D., 1464; Kirt. & Basu, I, 970; Chopra, 492; Krishna & Badhwar, *J. sci. industr. Res.*, 1949, 8 (10), suppl., 164].

ताजे काटे गये प्रकन्द को पानी के साथ रगड़ कर आसवित करने से 0.1% वाष्पशील तेल मिलता है जिसमें मुख्यतः यूजेनाल रहता है। प्रकन्द में यूजेनाल बेसियनोस (6- β -*l*-अरेविनोसाइडो-*d*-ग्लूकोस) के साथ संयुक्त होकर ग्लूकोसाइडेजोन (ग. वि., 146°) के रूप में रहता है और सामान्यतः उपस्थित एंजाइम की जल-अपघटनी क्रिया द्वारा मुक्त होता है। प्रकन्द में उपस्थित अन्य अवयवी पदार्थों में टैनिन (30-40%), एक पीला रेजिननुमा रंजक, स्यूकोस, ग्लूकोस और एक कड़वा पदार्थ सम्मिलित हैं (Gildemeister & Hoffmann, II, 548; *J. chem. Soc.*, 1949, 2054; McIlroy, 15; Wehmer, I, 454; Howes, 1953, 278; *Chem. Abstr.*, 1931, 25, 5689).

जी. एलेटम वालिश एक बहुवर्षी वृष्टी है जो हिमालय में कश्मीर से लेकर सिक्किम तक 2,700-4,500 मी. की ऊँचाई तक पाई जाती है। जी. अर्वेनस की तरह इसमें भी कपाय गुण पाया जाता है। इसका उपयोग पेचिंग, प्रवाहिका आदि के उपचार में होता है। (Kirt. & Basu, II, 971; Chopra, 492; Coventry, II, 36).

G. elatum Wall.

जीरोनीरा गाडिशो-वोप्रे (उल्मैसी) GIRONNIERA
Gaudich.

ले. - गिरोनिएरा

यह दक्षिण-पूर्व एशिया से पोलिनेशिया तक पाये जाने वाले वृक्षों एवं झाड़ियों का एक वंश है। भारत में इसकी चार जातियाँ मिलती हैं।
Ulmaceae

जी. कुस्पिडेटा कुर्ज सिन. जी. रेटिक्यूलेटा थ्वेट्स
G. cuspidata Kurz

ले. - गि. कुस्पिडेटा

D.E.P., III, 502; Fl. Br. Ind., V, 486; Kirt. & Basu, Pl. 887B.

त. - कोडितानी; क. - गव्बुचेवके, न्याल, नरक-भूताड़े.

लेपचा - श्रो-कुंग; नेपाल - सूकर; खासी पहाड़ियाँ - डीग चररोई; नीलगिरि पहाड़ियाँ - सोमानिंग; भारतीय बाजार - नारकीयुद.



चित्र 50 - जीरोनीरा कुस्पिडेटा - पुष्पित शाखा

यह विशाल सदाहरित एकलिंगाश्रयी वृक्ष है जिसका तना पुष्तादार होता है। यह भारत के उत्तर-पूर्वी भागों तथा दक्षिणी प्रायद्वीप में, विशेषतः घाटों पर, 1,200 मी. की ऊँचाई तक पाया जाता है। इसकी पत्तियाँ आयताकार अथवा अंडाकार-भालाकार; नर फूल कक्षीय ससीमाक्षों में, मादा फूल एकल कक्षीय तथा गुठलियाँ अंडाभ और चुंचुमुखी होती हैं। इसके वृक्ष के तने तथा टहनियों से अत्यंत अप्रिय गंध आती है।

इसकी लकड़ी लाल-भूरी, चिकनी, कठोर, भारी, मजबूत और महीन दानों वाली होती है। सिंहाते समय यह कुछ चटखती है। इस पर सुन्दर पालिश चढ़ती है। यह इंजीनियरी कार्यों में उपयोगी मानी जाती है। यह तस्ते, कड़ी, सहतीर एवं सामान्य निर्माण कार्य के लिए उपयोगी है (Gamble, 632).

इसकी गुठली खाई जाती है और पत्तियाँ चारे की तरह उपयोग की जाती हैं। लकड़ी में स्कंदोल एवं सिलिका (0.86-1.2%) रहता है। इसका उपयोग श्रीलंका में खुजली के रक्तशोधक के रूप में और अन्य त्वचीय विस्फोटों के उपचार में होता है। इसके वारीक छीलनों को नीबू के रस के साथ मिलाकर पीते हैं और शरीर पर भी लगाते हैं (Cowan & Cowan, 122; Kirt. & Basu, III, 2298; Dymock, Warden & Hooper, III, 317; Amos, *Bull. sci. industr. Res. Org.*, Melbourne, No. 267, 1952, 53).

जो. सुवेववालिस प्लाखान अंडमान द्वीप समूहों में पाया जाने वाला वृक्ष है. लकड़ी तख्ते, पृष्ठ बोर्ड और फर्श बनाने के उपयुक्त होती है. इसमें 0.47-0.56% सिलिका रहता है (Burkill, I, 1071; Amos, loc. cit.).

G. reticulata Thw.; *G. subaequalis* Planch.

जुजुबे — देखिए जिजीफस (परिशिष्ट—भारत की सम्पदा)

जुनसेलस ग्रिस्वाख (साइपेरेसी) JUNCELLUS Griseb.

ले. — जूनसेल्लस

Fl. Br. Ind., VI, 594; Kirt. & Basu, Pl. 1009A.

यह संसार के उष्ण तथा शीतोष्ण क्षेत्रों में पायी जाने वाली, गुच्छों में उगने वाली, बहुवर्षी वृष्टियों का छोटा वंश है. भारत में इसकी 6 जातियाँ पाई जाती हैं.

जू. इनण्डेटस सी. बी. क्लार्क=साइपेरस सेरोटिनस राटबोएल वैर. इनण्डेटस (रोक्सबर्ग) कुकेंथल (हि. और बं. — पाती) लम्बी पत्तियाँ वाली, 30-90 सेंमी. ऊँची, पुष्ट और प्रकंदी वृष्टी है. इसकी पत्तियाँ लम्बी और तने का ऊपरी सिरा त्रिकोण होता है. यह बिहार, पश्चिमी बंगाल और सुन्दरबन के दलदली स्थानों में पायी जाती है. इसके कंद बल्य और उद्दीपक समझे जाते हैं (Kirt. & Basu, IV, 2636).

Cyperaceae; *J. inundatus* C. B. Clarke=*Cyperus serotinus* Rottb. var. *inundatus* (Roxb.) Kunkenthall

जुरिनिया कैसिनी (कम्पोजिट) JURINEA Cass.

ले. — जुरिनेआ

यह मध्य यूरोप और भूमध्यसागरीय क्षेत्र से पूर्व की ओर चीन तक पाई जाने वाली वृष्टियों और अधोवृष्टियों का वंश है. भारत में इसकी दो जातियाँ पाई जाती हैं.

Compositae

जू. मैक्रोसेफाला बेंथम J. macrocephala Benth.

ले. — जू. माक्रोसेफाला

D.E.P., IV, 556; Fl. Br. Ind., III, 378; Kirt. & Basu, Pl. 552.

पंजाब और उत्तरी-पश्चिमी हिमालय* — धूप, गुगल.

यह हिमालय क्षेत्र में कश्मीर से कुमायूँ तक 3,000-4,200 मी. की ऊँचाई तक पायी जाने वाली, वायवीय तने से रहित बहुवर्षी वृष्टी है. इसकी जड़ काष्ठमय, सुगंधित, बहुवर्षी; पत्तियाँ मूलजाभासी, 15-45 सेंमी. × 3.75-17.5 सेंमी., ऊपर से रुई-सी, नीचे श्वेत घनरोमिल, पिच्छाकार रूप से चौड़ी पालियों से युक्त, दाँतेदार खंडों में विभाजित; पुष्पशीर्ष 3-30 तक, नीललोहित, अवृन्त अथवा क्षुद्र पुष्पावलि वृन्तयुक्त; ऐकीन धूसर, चपटे, चापाकार, 4-5 कोणयुक्त, गुलिकामय, तथा प्रचुर रोमगुच्छयुक्त होते हैं.

* सुगंधित धूप और धूमकों के रूप में इस्तेमाल किए जाने वाले अनेक सुगंधित पारपों के लिए ये नाम प्रयुक्त किये जाते हैं.

इसकी सुवासित जड़ें घरों, मन्दिरों तथा धार्मिक समारोहों में सुगंधित धूप के रूप में इस्तेमाल की जाती हैं. उत्तर भारत के बाजारों में बिकने वाली धूप का यह मुख्य रचक वताई जाती है. इसकी जड़ें उद्दीपक समझी जाती हैं और शिशुजन्म के उपरान्त ज्वर में दी जाती हैं. जड़ का काढ़ा उदरशूल में दिया जाता है. जड़ों को कुचल कर विस्फोटों पर लगाया जाता है. जड़ें गर्मी और शरद में इकट्ठी की जाती हैं और मैदानी क्षेत्रों में विपणन के लिए भेज दी जाती हैं. थोड़ी मात्रा में जड़ें तिब्बत को निर्यात की जाती हैं (Kaul, 21).

जूलैज लिनियस (जूगलैडेसी) JUGLANS Linn.

ले. — जुगलांस

इस वंश के वृक्ष उत्तरी और दक्षिणी अमेरिका तथा दक्षिणी यूरोप से लेकर पूर्व एशिया तक पाए जाते हैं. सामान्यतः इन्हें अखरोट कह कर पुकारा जाता है और इसकी कुछ जातियाँ इमारती लकड़ी और फलों के लिए काफ़ी अधिक मात्रा में उगाई जाती हैं. इसकी एक जाति भारत में भी पायी जाती है.

Juglandaceae

जू. रेजिआ लिनियस J. regia Linn.

सामान्य अखरोट, परशियन अखरोट, यूरोपीय अखरोट

ले. — जू. रेजिआ

D.E.P., IV, 549; C.P., 100; Fl. Br. Ind., V, 595.

व्यापार — अखरोट, अकरूट, अखोर, क्रोट.

यह बड़ा, पर्णपाती, उभयलिगाश्रयी और घनरोमिल प्ररोहयुक्त वृक्ष है, यह सम्पूर्ण हिमालय पर्वत और असम की पहाड़ियों पर 900-3,300 मी. की ऊँचाई तक पाया जाता है. इसकी छाल भूरे रंग की, अनुदैर्घ्य रूप से विदरित; पत्तियाँ एकांतर विपम-पक्षाकार, 15-37.5 सेंमी. लम्बी; पर्णक 5-13, उप-अवृत्ती, दीर्घवृत्तीय से दीर्घायत-भालाकार, 7.5-20 सेंमी. × 3.75-10 सेंमी., आमतौर पर पूर्ण; फूल छोटे, पीताभ-हरे, नर निलम्बी पतले कैंडकिनों में, 5-12.5 सेंमी. लम्बे, मादा 1-3 पुष्प युक्त शिखरान्त कैंडकिनों में; फल हरे, गुठलीदार और सख्त, बाह्य फलभित्ति युक्त, अस्फुटनशील दीर्घवृत्तज-गोलाकार, लगभग 5 सेंमी. चौड़े; अंतः फलभित्ति कठोर, काष्ठमय, झुर्रीदार, दो कपाटयुक्त होती है जिसके अन्दर चार पालियुक्त नालीदार तेलीय, खाद्य बीज होते हैं. भौगोलिक वितरण और अंतः फलभित्ति के लक्षणों के आधार पर जू. रेजिआ के कई प्रकार देखे गए हैं.

साधारण अखरोट प्राकृतिक जंगलों में या तो शुद्ध फसलों में या चौड़ी पत्तियों वाली जातियों के साथ या कोनिफरों के साथ होते हैं. इनकी ऊँचाई प्रायः 24-30 मी. और वृक्ष परिधि 3-4.5 मी. या इससे अधिक होती है. इसके वृक्ष को जब फल के लिए उगाया जाता है तो इसकी आकृति को ऐसा रूप दिया जाता है कि इसका शिखर फैला हुआ हो और तना अपेक्षाकृत छोटा रहे.

फल प्राकृतिक अवस्थाओं में वृक्ष के नीचे या इसके चारों ओर भूमि पर गिरते हैं. इससे फलों की बाह्य फलभित्ति फट जाती है और सड़ कर समाप्त हो जाती है, परन्तु काष्ठफल पक्षियों, बंदरों और कृंतक प्राणियों द्वारा अधिकांश नष्ट कर दिए जाते हैं. काष्ठफलों के अंकुरण के लिए उनका मिट्टी या मलबा से ढका रहना और काफ़ी मात्रा में गर्मी तथा भूमि में नमी का रहना आवश्यक है. प्राकृतिक



चित्र 51 - जंगलज रेजिआ

जनन साधारण ढालों पर काफी नमी युक्त मिट्टी में होता है। जहाँ गोलाइम और चट्टानों के टुकड़े बहुतायत से पाए जाते हैं वहाँ भी प्राकृतिक जनन होता है क्योंकि ये काष्ठफलों की रक्षा का कार्य करते हैं। अखरोट की अच्छी फसले शिलाक्षय या गिरिपाश्वों के अपरदन से निमित्त अपरदी संचयों में और खुले स्थान में भूस्खलनों पर के गहरे नुकीले पत्थरों पर होती हैं। अखरोट के लिए प्रकाश की आवश्यकता होती है पर नई अवस्था में पौधे हल्की छाया में भी जीवित रहते हैं। इसमें अंकुरण भली-भाँति होता है।

इमारती लकड़ियों के लिए अखरोट के बीज को सीधे जमीन पर बुवाई करके या उसकी पीद लगाकर वृक्ष तैयार किए जाते हैं। पहली दशा में काष्ठफल को लगभग 5 सेंमी. की गहराई पर बोया जाता है। पौध से वृक्ष तैयार करने के लिए पहले पौध को उपजाऊ मिट्टी में उगाते हैं। काष्ठफल आमतौर पर दिसम्बर से फरवरी तक उथली नालियों में, लगभग 22.5 सेंमी. दूरी पर बोए जाते हैं और एक बीज से दूसरे बीज का अंतर 7.5-10 सेंमी. रखा जाता है। वर्षा के आरम्भ होने तक वयारियों की सिंचाई नियमित रूप से की जाती है। आवश्यकता होने पर नवोद्भिदों की मूसला जड़ को छाँटने के पश्चात् आने वाली शीत ऋतु में पौध लगाई जा सकती है। पौध लगाने के लिए अगर अधिक बड़े नवोद्भिदों की आवश्यकता होती है तो पौधे 30-45 सेंमी. की दूरी पर पंक्तिबद्ध लगाये जाते हैं और दूसरी

शीत ऋतु तक उनकी देखभाल की जाती है। पौधों में अधिक शाखाएं न हों, इसके लिए उन्हें एक-दूसरे से कम दूरी पर लगाया जाना चाहिए। साधारण ढाल या समतल भूमि पर 1.8×1.8 मी. का अंतर उपयुक्त समझा जाता है। खड़े ढलानों पर 2.4-2.7 मी. के अंतर पर बनी समोच्च रेखाओं में 1.5 मी. की दूरी पर होना चाहिए।

नियमित वनवर्धन प्रयोग के लिए हिमालय पर्वत में होने वाले प्राकृतिक जनन पर भरोसा नहीं किया जा सकता। इसके लिए एक ही विधि उपयुक्त जान पड़ती है : पौधों को पूर्ण रूप से काटकर अलग करने के साथ-साथ कृत्रिम रूप से उनका जनन करना। हिमालय के पश्चिमी क्षेत्र, जहाँ घने, शुद्ध, सम आयु वाली फसलें होती हैं, अखरोट उगाने के लिए काफी उपयुक्त हैं और इस प्रकार के प्राकृतिक जंगल प्रायः मिलते ही हैं। इसके वृक्ष लम्बे, सीधे और साफ तने वाले होते हैं। हिमालय के भिन्न-भिन्न भागों में इसकी वृक्ष-परिधि में औसत वार्षिक वृद्धि 1.05 से 4.8 सेंमी. होती है। पश्चिमी क्षेत्र की अपेक्षा हिमालय के पूर्वी क्षेत्र में वृद्धि दर अधिक होती है जो वर्षा की कुल मात्रा पर निर्भर करती है (Troup, III, 894-900; Indian For., 1952, 78, 367)।

अखरोट में कई प्रकार के कवक रोग देखे गए हैं। फोमस फोमोस्टेयस (लिनिग्रस) फीज, फो. जियोट्रापस, फो. रोवस्टस कारस्टन, पॉलिपोरस पिसिपोज फीज, पॉ. स्क्वैमोसस (हडसन) फीज और स्ट्रेचियस



चित्र 52 - जुलैज रोजिआ - दो किस्मों के नट तथा गिरियाँ

फैसिएटम स्वाइत्सफुर्थ नामक कवकों से लकड़ी में श्वेत विगलन नामक बीमारी लग जाती है। ये आमतौर पर गिरी हुई लकड़ियों और कटे हुए ठंडों को प्रभावित करते हैं। फो. फोमिण्टेरियस और पॉलिपोरस स्ववैमोसस जैसे कुछ कवक तो प्रायः जीवित वृक्षों को नष्ट करते हैं। अत्यधिक काट-छांट या आग से उत्पन्न घावों से होकर ये जीव वृक्ष में प्रवेश करते हैं इसलिए इस प्रकार के घाव न होने देने से वृक्ष की रक्षा की जा सकती है। गिरी हुई लकड़ियों को जंगलों से जल्दी हटाकर स्वच्छ तथा स्वस्थ अवस्थाओं में रखने से उनकी रक्षा की जा सकती है। मासोनिआ जुलैण्डिस सक्कारडो, माइक्रोस्ट्रोमा जुलैण्डिस सक्कारडो, फिलैक्टिनिआ कोरिलिआ (परसून) कारस्टन और ट्यूबरकुलेरिस बल्गेरिस टोडे से अखरोट में पर्ण धब्बा नामक बीमारी होती है। बोर्डो मिश्रण छिड़क कर इस रोग को नियंत्रित किया जाता है। 15 किग्रा. प्रति हेक्टर की दर से सल्फर (या गंधक) छिड़कने से चूर्णी मिलड्यू (फिलैक्टिनिआ कोरिलिआ) को नियंत्रित किया जा सकता है [Information from F.R.I., Dehra Dun; Vasudeva, *Indian Fng.*, N.S., 1956-57, 6(7), 45].

अखरोट के कीट नाशकों में से एंथ्रोलेस्थीज सारटा और बेंटोसेरा हार्सफील्डाइ होप नामक दो प्रकार के वेधक वृक्षों को ग्रस्त करके लकड़ियों को नष्ट कर देते हैं। इससे बचाव के लिए बुरी तरह से ग्रस्त तथा मरे हुए वृक्षों को काट कर हटा देना चाहिए और निष्कासन छिद्रों को खोलकर डिम्बकों को नष्ट कर देना तथा दरारों को तारकोल या शयान तेल से भर देना चाहिए। तुरंत गिराये हुए पेड़ों पर कोलियोप्टेरा वेधकों की बहुत-सी जातियों का दुष्प्रभाव पड़ सकता है फिर भी इसका महत्व बहुत अधिक नहीं है। अखरोट धुन ऐल्सिडीज पोरेक्टोस्ट्रिस

मार्शल से, जो किसलयों, वृंतों, मादा कलियों (या मादा पुष्प कलियों) और छोटे-छोटे फलों से अपना भरण-पोषण करते हैं, काफी क्षति होती है। ग्रसित फल काले रंग के होकर प्रायः अप्रैल से अगस्त के बीच जमीन पर गिर जाते हैं। इसके लिए गिरे हुए फलों को हटाकर नष्ट करने के बाद पेड़ों पर पूरे मौसम में पांच या छः बार कापर सल्फेट-चूना मिश्रण (कापर सल्फेट 2.70 किग्रा., चूना 8.10 किग्रा., और जल 227 लीटर) छिड़क देने से इसका बचाव हो जाता है [Information from F.R.I., Dehra Dun; *Hort. Abstr.*, India, 1951, 1(1), 10].

अखरोट की लकड़ी

अखरोट की लकड़ी भूरे रंग की होती है और इस पर गहरे रंग में सीवी रेखाएं अथवा चितकवरी आकृतियाँ होती हैं। इसका रस-काष्ठ चौड़ा तथा राख के रंग का होता है। लकड़ी कुछ-कुछ सख्त, मजबूत, सीधे दाने की, मध्यम और समान बनावट वाली होती है। भिन्न-भिन्न पेड़ों से ली गई लकड़ियों के रंग, रूप, भार (448-736 किग्रा./घमी.) तथा अन्य यांत्रिक गुण भिन्न-भिन्न होते हैं।

लकड़ी धीरे-धीरे पूर्ण रूप से परिपक्व होती है इसलिए इस पर काफ़ी ध्यान देने की आवश्यकता है। लकड़ी में संवलन या सतह पर दरार पड़ना तो नहीं के बराबर होता है किन्तु सुखाने पर लकड़ी सिकुड़ जाती है और यदि पूरा ध्यान न दिया जाए तो संभव है कि उसमें गहरी दरारें पड़ जाएँ। इसके लिए हस्त रूपान्तरण के साथ-साथ लकड़ियों को एक साथ ढक कर उसके अन्दर स्वच्छ वायु का परिसंचार करना अच्छा

होता है। लकड़ियों के तख्तों के सिरों को रँग देने से किनारों पर दरारें कम पड़ती हैं। भट्टे में परिपक्वण से लकड़ी अच्छी बन जाती है। 2.5 सेंमी. मोटे तख्तों को पकाने में 13-16 दिन लग जाते हैं। प्रारम्भ में भाप गुजारने के अतिरिक्त बीच में दो बार और अन्त में दो-चार घंटे तक 55° पर भाप गुजारने से लकड़ी का परिपक्वण और अच्छा हो जाता है (Pearson & Brown, II, 951-55; Trotter, 1944, 123-24; Rehman, *Indian For.*, 1953, 79, 369).

इमारती लकड़ी के रूप में भिन्न-भिन्न प्रकार की अखरोट-लकड़ियों की तुलनात्मक उपयोगिता के मान सागौन के समान गुणों के प्रतिशत के रूप में निम्नलिखित प्राप्त होते हैं : भार, 80-90; कड़ी के रूप में सामर्थ्य, 70-80; कड़ी के रूप में दृढ़ता, 70-90; स्तम्भ के रूप में उपयुक्तता, 65-80; प्रघात-प्रतिरोध क्षमता, 90-115; आकार धारण क्षमता, 50-75; अग्ररूपण, 90-120; और कठोरता, 65-75. ढक कर रखने से अखरोट की लकड़ी काफ़ी दिनों तक ठीक बनी रहती है लेकिन खुले वातावरण में ऐसा नहीं होता। कभी-कभी इसमें दीमक तथा कवक लग जाते हैं। देहरादून में किए गए स्वस्थल-परीक्षणों से यह पता चला है कि ये लकड़ियाँ लगभग दो साल तक ठीक बनी रहती हैं। इसमें प्रतिरोधी उपचार करने की कोई आवश्यकता नहीं होती। इसे झाड़-पोंछ कर एक रंगहीन परिरक्षक लगाया जा सकता है [Limaye, *Indian For. Rec.*, N.S., Util., 1944, 3(5), 18; Pearson & Brown, II, 954; Trotter, 1944, 123].

लकड़ी को आसानी से चीरा तथा भिन्न-भिन्न रूपों में बनाया जा सकता है। अधिक गति से चलने तथा घूमने वाली मशीनों के लिए ये लकड़ियाँ उपयुक्त होती हैं। नक्काशी (या मूर्ति बनाने) के लिए एक निश्चित सीमा तक काम में आ सकती है। इसकी सतह चिकनी तथा चमकदार हो जाती है। इस पर अच्छी तरह से पालिश हो सकती है और इसके लिए बहुत कम रेतने की आवश्यकता होती है।

फर्नीचर तथा मूर्तियों (या नक्काशी) के लिए अखरोट की लकड़ी सबसे अच्छी लकड़ियों में से है और इसका पता इस बात से चलता है कि कश्मीर में बनाए गए अखरोट के सुन्दर फर्नीचर विश्व के बहुत से भागों में देखे जा सकते हैं। इस लकड़ी का विशेष महत्व बन्दूकों तथा तोपों को बनाने में है और यही कारण है कि अधिक मात्रा में लकड़ियों की खपत भारतीय आयुध विभाग में होती है। पर्त लगाने और प्लाईवुड के लिए अखरोट की लकड़ी बहुत ही सुन्दर होती है, इसलिए इसका इस्तेमाल अल्मारी, वाजे, मढ़ने के कार्य तथा अन्य सुन्दर वस्तुओं को बनाने में किया जाता है। यद्यपि गाँठदार लकड़ियों की माँग अधिक है लेकिन इतनी अधिक मात्रा में ये प्राप्त नहीं हैं। अखरोट की लकड़ी का उपयोग हल, चरखा, मूठ, विरोजादार बानिश कार्य, चौखट, ड्राइंग-यंत्र, सुन्दर वस्तु, फिरकी (या वाविन) आदि बनाने में भी होता है। हवाई जहाज के नोदक ब्लेडों में इसका इस्तेमाल किया जाता है (Pearson & Brown, II, 955; Trotter, 1944, 124; Howard, 627; Dastur, *Useful Plants*, 132; *Indian For.*, 1952, 78, 367; Rehman, *Indian For.*, 1953, 79, 369).

110° पर सुखाई गई लकड़ी के विश्लेषण से निम्नलिखित मान प्राप्त हुए हैं : रोज़िन और बसा, 6.0; जल विलेय, 6.5; मेथॉक्सिल, 6.4; ऐसोटिल, 3.2; लिग्निन, 22.2 (लिग्निन में मेथॉक्सिल, 19.6); पेन्टोसन्, 19.5; अल्प विलेय जाइलन, 8.3; सरलता से विलेय जाइलन, 6.2; और सेलुलोज, 48.4%। कैल्सियम ऑक्साइड भी रहता है (*Chem. Abstr.*, 1938, 32, 8772; Wise & Jahn, I, 650).

अखरोट फल

भारत में सबसे अधिक अखरोट पैदा करने वाला राज्य कश्मीर है। सेव को छोड़कर इस राज्य में सबसे अधिक उपज अखरोट की ही की जाती है (लगभग 3,200 हेक्टर). ऐसा अनुमान किया जाता है कि राज्य भर में लगभग 1,14,000 वृक्ष उगाये जाते हैं। कश्मीर के अतिरिक्त पंजाब, हिमाचल प्रदेश तथा उत्तर प्रदेश के पहाड़ी क्षेत्रों में भी अखरोट के वृक्ष उगाये जाते हैं लेकिन इन प्रदेशों में पैदा किए गए फलों की किस्म इतनी अच्छी नहीं होती है जितनी कि कश्मीर के फलों की। अखरोट के पेड़ बहुत बड़े और फैले हुए होने के कारण इन्हें उगाने में काफ़ी भूमि (12-15 मी. के अन्तर पर) की आवश्यकता होती है और यही कारण है कि कृष्य भूमि पर किसान अखरोट के वृक्ष उगाना नहीं चाहते हैं। यह प्रायः ऊसर और अनुर्वर भूमियों, टीलों पर या घरों के समीप की जगहों पर उगाए जाते हैं। इन परिस्थितियों में भी इसकी उपज काफ़ी अच्छी होती है और लम्बी अवधि तक बहुत अधिक मात्रा में काष्ठफल पैदा होते हैं। दक्षिण भारत की पहाड़ियों पर अखरोट के वृक्ष ठीक नहीं उगते (Information from the Indian Coun. agric. Res., New Delhi; Hayes, 395).

जलवायु और मिट्टी—अखरोट ऐसे स्थानों पर उगाया जाता है जहाँ वसंत ऋतु में तुपार या पाला न हो और गर्मी की ऋतु में बहुत अधिक गर्मी न पड़ती हो। ताप के हिमांक से 1° या अधिक कम होने पर भी छोटे-छोटे फूल नष्ट हो जाते हैं और यदि काफ़ी अधिक गर्मी पड़ती हो (छाया का ताप 38° और इससे अधिक तथा कम आर्द्रता की स्थिति में) तो काष्ठफल झुलस जाते हैं और खोखले हो जाते हैं। अखरोट उन क्षेत्रों में अच्छी तरह से उगता है जहाँ की वार्षिक वर्षा 75 सेंमी. या अधिक है। अन्य अवस्थाओं के उपयुक्त रहने पर वर्षा की कमी को कृत्रिम सिंचाई द्वारा पूरा किया जा सकता है।

मिट्टी की सतह मोटी तथा ऐसी होनी चाहिए जिससे जल अच्छी तरह से निकल सके। 2.4-3 मी. गहरी सिल्ट डुमट, पर्याप्त कार्बनिक पदार्थ होने पर सर्वोत्तम परिणाम देती है। मिट्टी में अस्थिर जल-स्तर, कठोर-स्तर, रेतीली अवमृदा या क्षार नहीं होना चाहिए। गहरी चिकनी मिट्टी में उगाए गए वृक्षों की अपेक्षा कम नमी वाली उथली मिट्टी में उगाए गए वृक्ष जल्दी ही धूप में झुलस जाते हैं।

प्रवर्धन—प्रायः वृक्षों को पौध से उगाया जाता है। हिमाचल प्रदेश और कुलू की तराई के कुछ भागों में अखरोट का लगाना अशुभ माना जाता है। यहाँ तक कि वहाँ पर चुने हुए वृक्षों की पौधें भी नहीं लगाई जाती हैं। प्राकृतिक रूप में जो पौधे उग जाते हैं, उन्हें ही बढ़ने दिया जाता है जिसके फलस्वरूप छोटे तथा मध्यम आकार के बहुत से वृक्ष वहाँ पाए जाते हैं। कश्मीर में अखरोट के वृक्ष पौध से तैयार किये जाते हैं। अनुमान है कि यहाँ पर प्रति वर्ष लगभग 10,000 वृक्ष लगाए जाते हैं, जिनमें से लगभग 6,000 वृक्ष ही जीवित रह पाते हैं।

पौध तैयार करने के लिए जिन अखरोटों की आवश्यकता पड़ती है उन्हें तेजी से बढ़ने वाले तथा अधिक फल देने वाले वृक्षों से इकट्ठा करना चाहिए। अखरोट के काष्ठफलों का चयन करते समय निम्नलिखित बातों पर विशेष ध्यान रखना चाहिए : काष्ठफल बड़े आकार के, भूरा छिलका जो आसानी से फट सके; और गिरी अच्छे स्वाद वाली पीली। काष्ठफलों को ठंडे तथा सूखे स्थान में एकत्र करना चाहिए अथवा आने वाले दिसम्बर तक इन्हें एक के ऊपर एक ढेर बनाकर रखना चाहिए। यदि दुवाई के लिए मिट्टी पूर्ण रूप से तैयार हो जाए तो क्यारियाँ बनाकर फसल के बाद ही काष्ठफलों को पंक्ति में 0.33 मी. की दूरी पर लगभग 5 सेंमी. की गहराई पर बो देना चाहिए। पंक्तियों के बीच की दूरी

0.3 मी. होनी चाहिये। मार्च के प्रारम्भ में उनमें अंकुर निकलने लगते हैं और तब अगले वर्ष में रोपाई के लिए पौधे तैयार हो जाते हैं।

अन्य देशों में अखरोट को वनस्पति-विधियों से उगाया जाता है। प्रयुक्त विधियाँ इस प्रकार हैं : वसन्त के प्रारम्भ में खपची कलम बांधना, फन्नी कलम बांधना, अन्तःछाल कलम बांधना, और पैवन्द चश्मा चढ़ाना। प्रयोग के तौर पर पैवन्द चश्मा चढ़ाना और मुकुट कलम बांधना सफल तो रहे हैं लेकिन यहाँ पर इन विधियों का प्रयोग बड़े पैमाने पर नहीं किया जाता है। भारत में अच्छे किस्म के चश्मा चढ़े हुए और कलमी वृक्षों के द्वारा ही अखरोट की फसल बढ़ाई जा सकती है लेकिन अभी तक इन विधियों में से किसी को भी नियमित रूप से उपयोग में नहीं लाया गया है।

कृषि क्रियाएँ — प्रायः उन्हीं क्षेत्रों में अखरोट उगाया जाता है जहाँ सिंचाई का साधन वर्षा है। रोपण के बाद वाले प्रथम सूखे मौसम में ही किसानों को पानी देने की आवश्यकता पड़ती है। सूखे मौसम में वृक्षों की सिंचाई करना अधिक लाभकर सिद्ध होता है क्योंकि सिंचाई करने से वृक्ष जल्दी-जल्दी बढ़ने लगते हैं और उन पर फल भी जल्दी ही आते हैं। वृक्षों की सिंचाई तब तक करते रहना चाहिए जब तक फल पक न जाएँ। इससे यह लाभ होता है कि फलों का गिरना कम हो जाता है और काष्ठफलों में गिरी अच्छी तरह से भर जाती है। यदि फल तोड़ने के एक या दो सप्ताह पहले वृक्षों की सिंचाई कर दी जाए तो छिलके फटकर वृक्षों पर रह जाते हैं जबकि नट भूमि पर गिर पड़ते हैं।

भारत में अखरोट के वृक्षों में खाद प्रायः नहीं दी जाती, इसकी जड़ें जमीन में काफी गहराई तक जाती हैं, इसलिए वृक्ष काफी फैल जाते हैं और इन पर फल भी बहुत अधिक मात्रा में लगते हैं लेकिन खाद दिए गए वृक्षों की अपेक्षा इन वृक्षों में कम फल लगते हैं। यह भी देखा गया है कि जिन वृक्षों को खाद नहीं मिलती वे एक-एक वर्ष के अन्तर पर फलने की प्रवृत्ति दिखाते हैं। इसलिए प्रतिवर्ष वृक्षों में खाद दे देना ठीक होता है। खाद के साथ-साथ नाइट्रोजनी और फॉस्फेटी उर्वरकों की मात्रा वृक्षों की आयु, आकार और फल देने के गुण तथा मिट्टी की उर्वरता पर निर्भर करती है।

प्रायः अखरोट के वृक्षों की छंटाई नहीं की जाती। 90-120 सेंमी. की ऊँचाई तक पौधों में एक ही तना रहने दिया जाता है और वितान शाखाओं को उचित स्थान पर रखा जाता है। एक दूसरे से उलझी हुई शाखाओं या फालतू शाखाओं और रोगग्रस्त तथा सूखी टहनियों को प्रति वर्ष काट देना चाहिए।

अखरोट स्व-निषेचित वृक्ष होता है लेकिन किन्हीं-किन्हीं वर्षों में कुछ किस्मों में सन्तोपजनक निषेचन नहीं हो पाता क्योंकि जब मादा फूल ग्रहण करने योग्य होता है उस समय तक पराग परिपक्व नहीं हो पाते। पराग हवा द्वारा 1.5 किलोमीटर की दूरी तक बिखर जाते हैं, फिर भी सामान्यतः ये 60-90 मी. तक ही बिखर पाते हैं। इसलिए यदि फल से लदे वृक्षों के आस-पास अखरोट के पौधे लगाए जाएँ तो अपेक्षाकृत कम समय में ही उन पर अधिक मात्रा में फल आने लगते हैं। किसी भी एक किस्म के पराग अपनी अथवा किसी अन्य किस्मों के स्त्री-केसर के साथ निषेचन कर सकते हैं। फूल निकलने के समय कश्मीर में मौसम कैसा रहता है, इस पर भी अच्छी अथवा खराब फसल का होना निर्भर करता है।

फलों का तोड़ना और विपणन — अखरोट के फल सितम्बर-अक्तूबर महीने में पकते हैं, विलकुल पक जाने के बाद छिलके फट जाते हैं और काष्ठफल जमीन पर गिर जाते हैं जिन्हें एकत्रित कर लिया जाता है। वृक्ष की शाखाओं को अथवा हँसिया लगी हुई लंगियों से हिलाकर फलों को जल्दी तोड़ लिया जाता है। कुछ-कुछ समय के अन्तर पर दो-तीन

वार शाखाओं को हिलाकर फलों को जमीन पर गिरा दिया जाता है। काष्ठफलों को इकट्ठा करने के बाद इन्हें साफ करके धो दिया जाता है। फिर जमीन पर अथवा कैनवैस की चादरों पर सुखा लिया जाता है, जो काष्ठफल वृक्षों से छिलका सहित गिर जाते हैं वे घटिया किस्म के होते हैं इसलिए छिलकों को हटाकर साफ करके तथा धोकर सुखा दिया जाता है और इन्हें विक्री के लिए अलग से भेजा जाता है। विपणन के पूर्व काष्ठफलों को आकार और रंग के अनुसार अलग-अलग ढेरों में छाँट लिया जाता है। कुछ क्षेत्रों में कैल्सियम क्लोराइड तथा सोडियम कार्बोनेट के जलीय विलयन में काष्ठफलों को विरंजित कर दिया जाता है। मिश्रण को थोड़ी देर तक यों ही छोड़ना चाहिए और साफ विलयन में ही काष्ठफलों को विरंजित किया जाना चाहिए। विरंजन के लिए क्लोरीन के तनु विलयन का भी प्रयोग किया जाता है (Jacobs, II, 1578; von Loesbecke, 344)।

रोपण के आठ-दस साल बाद ही वृक्षों में फल आने लगते हैं। वृक्ष की आयु तथा उसके आकार और किस्म पर काष्ठफलों की उपज निर्भर करती है। बाहर निकली हुई शाखाओं पर अच्छे किस्म के फल लगते हैं। बड़े आकार के, पूर्ण रूप से विकसित वृक्ष में लगभग 1.5-1.9 क्विंटल अखरोट निकल सकते हैं किन्तु प्रति वृक्ष औसतन 0.37 क्विंटल ही अखरोट निकलते हैं। यह अनुमान किया जाता है कि कश्मीर में एक वृक्ष से एक वर्ष में औसतन 20 व. की आमदनी होती है जबकि अन्य राज्यों में यह राशि और भी कम होती है। लगभग सौ वर्ष तक वृक्ष में फल आते रहते हैं।

अखरोटों को हवादार कमरों में, जहाँ नमी न हो, बोरों में भर कर रखा जाता है। निर्यात किए जाने वाले अखरोटों को कागज के लिपटे बक्सों में भर दिया जाता है। अखरोट की गिरी को भी बक्सों में भर कर दूर-दूर स्थानों तक भेजा जाता है (Information from Indian Coun. agric. Res., New Delhi)।

फलों को तोड़ने, एक जगह से दूसरे जगह ले जाने और एकत्र करने समय कीटों, कवकों और नमी के कारण कुछ अखरोट खराब हो जाते हैं। आमतौर पर तोड़ने और बक्सों में भरने के बीच फलों में कीड़े लगते हैं जिन्हें मेथिल त्रोमाइड के धूमन से रोका जा सकता है। फफूँदी लगने के कारण गिरी धूमिल हो जाती है। छिलके फटने के समय ही यह रोग लगता है। सामान्यतः इसमें 10-28 दिन लग जाते हैं। 21-32° पर एथिलीन के उपचार से लगभग 60 घंटे में छिलके मुलायम हो जाते हैं। इसका प्रयोग कैलीफोर्निया में किया गया है। इससे काष्ठफलों की गन्ध या उसके गुण पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता (Bull. cent. Fed techmol. Res. Inst., Mysore, 1956, 5, 146; Food Sci. Abstr., 1952, 24, 277)।

व्यापार — पौध से बड़े हुए वृक्षों से अखरोट एकत्र किए जाते हैं। इनकी कोई विशेष नाम वाली किस्में नहीं हैं। कृष्ट किस्मों में सबसे बढ़िया 'कागजी अखरोट' माना जाता है। यह बड़ा होता है और इसका खोल आसानी से तोड़ा जा सकता है। इसकी गिरी सफ़ेद और अत्यन्त स्वादिष्ट होती है।

कश्मीर में अखरोट का वार्षिक उत्पादन 21,000 क्विंटल कूता गया है। इस उत्पादन का अधिकांश भाग या तो भारत के अन्य भागों को भेज दिया जाता है या निर्यात किया जाता है। स्थानीय खपत अधिकतर छोटे अथवा अस्वीकृत अखरोटों तक ही सीमित है। अफगानिस्तान, पश्चिमी पाकिस्तान और फारस से पर्याप्त मात्रा में अखरोट का आयात किया जाता है।

सारणी 1 में 1953-54 से 1956-57 तक अखरोट के निर्यात की मात्रा और मूल्य दिये गये हैं। समुद्र पार के बाजारों से, विशेष

सारणी 1 - भारत से अखरोटों का निर्यात

	मात्रा (टनों में)	मूल्य (रु. में)
1953-54	4,511	1,22,71,193
1954-55	5,239	1,16,73,606
1955-56	3,223	95,92,723
1956-57	3,667	96,97,501

रूप से संयुक्त राज्य अमेरिका से, अखरोट की गिरी की माँग बढ़ रही है। यदि अच्छी किस्मों की कृषि की जाए और वर्तमान वृक्षों से प्राप्त अखरोटों का उचित श्रेणीकरण किया जाए तो निर्यात व्यापार बढ़ाने के लिए काफ़ी गुंजाइश है।

संघटन और उपयोग - अखरोट सदियों में, विशेषकर उत्तर भारत में, भोजन के बाद खाया जाने वाला एक भेवा समझा जाता है। मिठाइयों तथा आइसक्रीम आदि में भी यह खूब डाला जाता है।

इसमें निकलने वाली खाद्य गिरी सम्पूर्ण अखरोट के भार की लगभग आधी होती है। कैलीफोर्निया के अखरोट की गिरी में 2.5% आर्द्रता; 14.3 से 20.4% प्रोटीन; 60 से 67% वसा; 14.5 से 19.1% नाइट्रोजन मुक्त निष्कर्ष; 1.4 से 3.2% रेशा; और 1.2 से 1.6% राख होती है। भारतीय गिरी के विश्लेषण से निम्नलिखित मान प्राप्त हुये हैं : आर्द्रता, 4.5; प्रोटीन, 15.6; ईथर निष्कर्ष, 64.5; कार्बो-हाइड्रेट, 11.0; रेशा, 2.6; और खनिज पदार्थ, 1.8%। इसमें निम्नलिखित खनिज तत्व विद्यमान बताए जाते हैं : सोडियम, 2.7; पोटैशियम, 687; कैल्सियम, 61; मैग्नीशियम, 131; लोह, 2.35; ताम्र, 0.31; फॉस्फोरस, 510; गंधक, 104; और क्लोरीन, 23 मिग्रा./100 ग्रा.; आयोडीन, 2.8 माग्रा./100 ग्रा.; आसैनिक, जस्ता, कोबाल्ट और मैंगनीज। विद्यमान फॉस्फोरस का 42% फाइटिक अम्ल के रूप में होता है। इसमें लेसिथिन भी रहता है (Thorpe, XI, 883; *Health Bull.*, No. 23, 1951, 42; McCance & Widdowson, 83, 148; Winton & Winton, I, 396; Iodine Content of Foods, 103; Young, *Sci. Progr.*, 1956, 44, 21)।

खाद्य गिरी से एक ग्लोबुलिन, 'जुगलॉसिन' विलगाया गया है। ग्लोबुलिन का नाइट्रोजन वितरण (कुल नाइट्रोजन, 18.84%) इस प्रकार है : क्षारीय (डाइऐमीनो) नाइट्रोजन, 5.41; अक्षारीय (मोनोऐमीनो) नाइट्रोजन, 11.51; ह्यूमिन नाइट्रोजन, 0.15; और ऐमाइड नाइट्रोजन, 1.78। ग्लोबुलिन में सिस्टाइन (2.18%) और ट्रिप्टोफेन (2.84%) होते हैं (Winton & Winton, I, 395)।

गिरी में उपस्थित बताए जाने वाले बी समूह के विटामिन हैं : थायमीन, 0.33-0.40; राइबोफ्लेविन, 0.10-0.16; निकोटिनिक अम्ल, 0.58-0.81; पेण्टोथेनिक अम्ल, 0.49-0.98; फोलिक अम्ल, 0.13-0.23; और विटामिन बी₆, 0.87-1.05 मिग्रा./100 ग्रा.; वायोटिन, 2 माग्रा./100 ग्रा. गिरी में विटामिन ए (30 अं.ड./100 ग्रा.) और ऐस्कॉर्विक अम्ल (3 मिग्रा./100 ग्रा.) भी होते हैं। गिरी के भण्डारण के परिणाम स्वरूप थायमीन, राइबोफ्लेविन और निकोटिनिक अम्ल की केवल कुछ प्रतिशत ही हानि होती है (Jentsch & Morgan, *Food Res.*, 1949, 14, 40; 1953, 47, 5575; *Food Sci. Abstr.*, 1954, 26, 457; 1950, 22, 210;

Watt & Merrill, *Agric. Handb. U.S. Dep. Agric.*, No. 8, 1951, 50)।

अपरिपक्व फल ऐस्कॉर्विक अम्ल के सर्वाधिक भरे-पूरे स्रोतों में से एक है। खोल के कठोर होने से ठीक पहले ऐस्कॉर्विक अम्ल की सान्द्रता अधिकतम (2-2.5% ताजे भार से; 16-20% शुष्क भार से) होती है। कश्मीर के अपरिपक्व ताजे फलों में ऐस्कॉर्विक अम्ल का वितरण इस प्रकार मिला है : पूर्ण फल, 1,470; छिलका, 1,090; और गुदा, 2,330 मिग्रा./100 ग्रा. अपरिपक्व फलों से ऐस्कॉर्विक अम्ल-बहुल अचार, मुरब्बे, चटनी, रस तथा शर्बत बनाए जा सकते हैं। यदि भण्डारण से पूर्व सल्फर-डाइ-आक्साइड से उपचारित न कर लिया जाए तो ऐस्कॉर्विक अम्ल की सान्द्रता तीव्र गति से घटती है। अपरिपक्व फलों से तैयार किया गया रस तथा अन्य उत्पाद तिव्र होते हैं (Klose *et al.*, *Industr. Engng Chem.*, 1950, 42, 387; Pyke *et al.*, *Nature, Lond.*, 1942, 150, 267; Ranganathan, *Indian J. med. Res.*, 1942, 30, 513; *Chem. Abstr.*, 1939, 33, 1405; 1946, 40, 410)।

परिपक्व अखरोटों से अलग किए गए हरे छिलकों में 0.4-0.8% तक ऐस्कॉर्विक अम्ल (2.5-5.0% शुष्क भार से) होता है। इस ऐस्कॉर्विक अम्ल की प्राप्ति (25-50%) के लिए विकसित प्रक्रम में निम्नलिखित उपाय होते हैं : सल्फर-डाइ-आक्साइड युक्त जल के साथ पदार्थ का निष्कर्षण, ऋणायन विनिमय रेजिनों से निष्कर्ष का बोधन और क्रिस्टलीकरण। छिलकों में विद्यमान ऐस्कॉर्विक अम्ल कमरे के ताप पर ही तीव्र गति से नष्ट हो जाता है। 60% तो 8 घंटे में ही समाप्त हो जाता है। कमरे के ताप पर सल्फर-डाइ-आक्साइड के जलीय विलयन (1.5%) में, बिना विटामिन की हानि किए छिलकों को पाँच माह तक परिरक्षित किया जा सकता है। हिमीभूत अवस्था (-18°) में अम्ल एक वर्ष या अधिक तक स्थायी रहता है (Klose *et al.*, loc. cit.)।

कच्चे फल तथा पौधे के अन्य भागों में इंडोफीनोल रंजक को अपचयन करने वाला एक पदार्थ होता है परन्तु इसमें प्रतिस्कर्षी सक्रियता नहीं होती। पता लगा है कि यह पदार्थ α -हाइड्रोजुगलोन ग्लूकोसाइड ($C_{16}H_{18}O_8$) होता है और यह जल-अपघटित होकर ग्लूकोस और α -हाइड्रोजुगलोन (1, 4, 5-ट्राइहाइड्रॉक्सिपेथलीन) प्रदान करता है। α -हाइड्रोजुगलोन ऑक्सीकृत होकर जुगलोन ($C_{10}H_6O_3$, 5-हाइड्रॉक्सि 1, 4-नेफथोक्विनोन; ग. बि., 153-54°) प्रदान करता है। अपरिपक्व अखरोटों अथवा परिपक्व छिलकों में यह ग्लूको-साइड कुल इंडोफीनोल रंजक अपचायक पदार्थ का 15% होता है। अति नवीन फलों, तथा प्रसुप्त कलिकाओं और कंदकिनों में इसकी सान्द्रता विशेष रूप से अधिक होती है। एक अन्य अपचायक, सम्भवतः 'फ्लैवोन' भी पत्तियों में विद्यमान बताया जाता है (Melville *et al.*, *Nature, Lond.*, 1943, 152, 447; Daglish & Wokes, *ibid.*, 1948, 162, 179; Klose *et al.*, *Plant Physiol.*, 1948, 23, 133; Wokes & Melville, *Biochem. J.*, 1949, 45, 343; Daglish, *ibid.*, 1950, 47, 452, 458, 462)।

अखरोट का तेल - गिरी से 60-70% सूखने वाला तेल प्राप्त होता है। यह तेल व्यापार में अखरोट के तेल (वालनट आयल) के नाम से प्रसिद्ध है। यह तेल गूदुल स्वाद-गंध वाला, सुरस, सुहावनी सुगंध से युक्त तथा फीका हरित-पीत अथवा लगभग रंगहीन होता है। इसके स्थिरांकों का परास निम्नलिखित है : चि.घ.^{25°}, 0.921-0.924; $n_D^{40°}$, 1.469-1.471; आयो. मान, 138-152; सावु. मान, 190-197; जमनांक, -12 से -20°; अनुसाप, 14-16°। इसमें निम्नलिखित

वसा-अम्ल रहते हैं : पामिटिक, 3-7; स्टीऐरिक, 0.5-3; ओलीक, 9-30; लिनोलीक, 57-76; और लिनोलेनिक, 2-16% (Jamieson, 332; Williams, K.A., 277-78; Eckey, 379).

अखरोट का तेल खाने के काम आता है. थोड़ी मात्रा में इसका उपयोग चित्रकारों द्वारा प्रयुक्त तेल-रंगों, छपाई की स्याहियों, वानिशों तथा साबुन निर्माण में होता है. यह तेल धीरे-धीरे सूखता है परन्तु गर्म करने पर सूखने की क्रिया तेजी से होती है. इस तेल द्वारा तैयार की गई वानिश फीकी, पीली न पड़ने वाली और अलसी के तेल की वानिश की अपेक्षा कम तड़कने वाली होती है. गिरी की मांग अधिक होने के कारण इस तेल का सम्भरण सीमित है. संयुक्त राज्य अमेरिका में छिलका उतारने वाले संयंत्रों से प्राप्त व्यर्थ गिरी से तथा कभी-कभी फालतू अखरोटों से तेल निकाला जाता है. इस तेल को कभी-कभी खसखस या अलसी के तेल से अपमिश्रित किया जाता है (Hill, 196; Eckey, 379; Jordan *et al.*, 73; Allen, II, 216, 218).

इसकी खली प्रोटीन-बहुल होती है और पशुओं को खिलाई जाती है. इसके संघटन तथा पोषक मान इस प्रकार हैं : शुष्क पदार्थ, 86.6; प्रोटीन, 35.0; वसीय तेल, 12.2; कार्बोहाइड्रेट, 27.6; रेशा, 6.7; और राख, 5.1%. पचनीय पोषक: अपरिष्कृत प्रोटीन, 31.5; वसीय तेल, 11.6; कार्बोहाइड्रेट, 23.5; और रेशा, 1.7%; पोषक अनुपात, 1.7; और स्टार्च तुल्यक, 78.5 (Williams, K. A., 278; Woodman, *Bull. Minist. Agric., Lond.*, No. 124, 1945, 14).

अखरोट के खोल - अखरोट के खोलों का विश्लेषण करने पर निम्नलिखित मान प्राप्त हुए : शुष्क पदार्थ, 92.3; प्रोटीन, 1.7; वसीय तेल, 0.7; कार्बोहाइड्रेट, 31.9; रेशा, 56.6; और राख, 1.4% (Woodman, *Bull. Minist. Agric., Lond.*, No. 124, 1945, 21).

अखरोट के छिलके का आटा ढलवाई प्लास्टिकों में पूरक की तरह इस्तेमाल किया जाता है. रेजिन-आसंजकों में यह विस्तारक के रूप में 40% तक इस्तेमाल किया जा सकता है. छिलके के आटे में सेलुलोज, लिग्निन (28%), फरफ्यूरल (5%), पेण्टोसन (9%), मैथिल हाइड्रोक्सिलामोन (6%), शर्करा और स्टार्च (2.5%) होते हैं. अखरोट के छिलके का उपयोग मोटर और टैंकर के टायरों के लिए फिसलनरोधी के रूप में, धातुओं पर के निक्षेपों और अस्तरों को कमजोर करने के लिए विस्फोटक ग्रिट के रूप में और सक्रियित कार्बन तैयार करने में हो सकता है (Brady, 767; *Chem. Abstr.*, 1953, 47, 3030, 2676; 1954, 48, 6101; *Sci. News Lett., Wash.*, 1953, 64, 55).

पत्तियाँ - कच्चे फलों की भांति नई पत्तियों में भी ऐस्कॉबिक अम्ल पर्याप्त होता है (800-1,300 मिग्रा./100 ग्रा. ह्रित भार). पहले सल्फर-डाइ-आक्साइड गैस से उपचारित करके और फिर द्रुत गति से 100-110° ताप पर सुखाकर पत्तियों को परिरक्षित किया जा सकता है. इस प्रकार परिष्कृत पत्तियों से ऐस्कॉबिक अम्ल के 'सान्द्र' प्राप्त करने के लिए उन्हें जल के साथ निष्कर्षित किया जा सकता है (उपलब्धि, 80-93%). पत्तियों में कैरोटीन भी प्रचुर मात्रा में होता है (30 मिग्रा./100 ग्रा. ह्रित भार). कैरोटीन के सांद्र घूमित पत्तियों से प्राप्त किए जा सकते हैं (*Chem. Abstr.*, 1946, 40, 3231).

भाप आसवन करने पर पत्तियों से एक जैतूनी-भूरे रंग का वाष्पील तेल प्राप्त होता है, जिसकी गंध चाय और ऐम्बर सदृश होती है. जर्मनी में ताजा पत्तियों से आनुत तेल (उपलब्धि, 0.012-0.029%) के

निम्नलिखित मान पाए गए : आ.घ.³⁰, 0.9037-0.9137; $[\alpha]_D$, शून्य; अम्ल मान, 9.3-16.8; एस्टर मान, 18.4-27.0; ऐल्कोहल (90%) में विलेय करने पर पैराफिन (ग. वि., 61-62°) पृथक् हो जाता है. तेल को ठंडा करने पर भी पैराफिन पृथक् हो जाता है. फांस में परीक्षण करने पर (उपलब्धि, 0.0087%) तेल के स्थिरांक इस प्रकार पाए गये : आ.घ.³⁰, 0.9185; $[\alpha]_D$, -17.0°; n_D^{25} , 1.4922; और ऐसीटिलीकरण के बाद एस्टर मान, 98.5 (Finnemore, 205; Gildemeister & Hoffmann, II, 317).

जुगलोन से रहित ताजी पत्तियों के जलीय निष्कर्ष वैसिलस ऐन्थ्रासिस और कोराइनैक्टोरियम डिपथीरिये पर तीव्र जीवाणनाशी की भांति क्रिया करते हैं; विब्रियो कोमा, वैसिलस सबटिलिस, न्यूमोकोकाई, स्ट्रेप्टोकोकाई, माइक्रोकोकस पायोजेन्स वैर. औरियस, प्रोटियस, ऐशेरिशिया कोलाई, साल्मोनेला टाइफोसा, सा. टाइफोम्यूरियस और सा. डिसेण्टेरिये के प्रति यह कम सक्रिय है. इसके निष्कर्ष चूहों के लिए विषले नहीं होते (*Chem. Abstr.*, 1955, 49, 14095).

अखरोट की टहनियाँ और पत्तियाँ चारे के लिए काटी जाती हैं. पत्तियों में (शुष्क आधार पर) नाइट्रोजन, 3.22; और राख, 11.57% होती हैं (George & Kohli, *Indian For.*, 1957, 83, 287).

हरे अखरोट के छिलके, खोल, छाल और पत्तियाँ रंजन और चर्म-शोधन के लिए उपयोग में लाई जाती हैं. इनमें टैनिन (छिलका, 12.23; छाल, 7.51; परिपक्व पर्णपटल, 9.11%) और जुगलोन होते हैं. बाजार में इसकी छाल दंदासा नाम से विकती है और दाँत साफ करने के काम आती है तथा ओठों को लाल करने के लिए चवाई जाती है. फिटकरी द्वारा रंगबधित तेलीय निष्कर्ष अथवा ऐल्कोहलीय निष्कर्ष के रूप में हरे अखरोट के छिलके वालों को रँगने के काम में लाए गए हैं. जुगलोन रंगबंधक उपचारित ऊन को भूरा-पीत और रंगबंधक उपचारित रुई को हल्का गुलाबी बना देता है. ये रंग चटकीलेपन में, विशेषकर प्रकाश में, संश्लेषित रंजकों से घटिया होते हैं (*Chem. Abstr.*, 1941, 35, 4209; 1944, 38, 3844; 1954, 48, 11000; Puran Singh, *Indian For.*, 1918, 44, 339; Howes, 1953, 280; Poucher, III, 82; Mayer & Cook, 105).

अखरोट की पत्तियाँ स्तम्भक, वल्य और कृमिनाशक होती हैं. पत्तियाँ और छाल रूपान्तरक तथा अपमार्जक होती हैं. इनका उपयोग परिसर्प, एक्जिमा, गण्डमाला और सिफिलिस में किया जाता है. इसका फल आमवात में रूपान्तरक की भांति इस्तेमाल किया जाता है. गले में व्रण होने पर कच्चे फल के अचार के सिरके से गरारे किए जाते हैं. हरा छिलका और कच्चा खोल सिफिलिसरोधी और कृमिनिस्तारक होता है. इसके फल को निचोड़ कर निकाला गया तेल फीता-कृमि के प्रति, तथा मृदु विरेचक इंजेक्शन के रूप में उपयोगी समझा जाता है. मलाया में इसकी गिरी उदर शूल और पेचिश में खाई जाती है. कच्चे फल का छिलका मत्स्य-विष की भांति उपयोग किया जाता है (Kirt. & Basu, III, 2348; U.S.D., 1955, 1728; Chopra *et al.*, *J. Bombay nat. Hist. Soc.*, 1940-41, 42, 854).

Fomes fomentarius (Linn.) Fr.; *F. geotropus* Cke.; *F. robustus* Karst.; *Polyporus picipes* Fr.; *P. squamosus* (Huds.) Fr.; *Stereum fasciatum* Schwein.; *Marsonia juglandis* (Lib.) Sacc.; *Microstroma juglandis* (Bereng.) Sacc.; *Phyllactinia corylea* (Pers.) Karst.; *Tubercularis vulgaris* Tode; *Aeolesthes sarta* Solsky; *Batocera horsfieldi* Hope; *Alcides porrectirostris* Mshill.; *Bacillus anthracis*; *Corynebacterium diphtheriae*; *Vibrio comma*; *Bacillus*

subtilis; Pneumococci; Streptococci; Micrococcus pyogenes var. aureus; Proteus; Escherichia coli; Salmonella typhosa; S. typhimurium; S. dysenteriae

जूट — देखिए कारकोरस

जूट, अमेरिकन — देखिए ऐब्यूटिलान

जूनियरस लिनियस (पाइनेसी) JUNIPERUS Linn.

ले. — जूनियेरस

यह सदाबहार गंधवान झाड़ियों या वृक्षों का वंश है जो मुख्यतः उत्तरी गोलार्ध में ध्रुवीय प्रदेश से लेकर उष्णकटिबंधों के पर्वतीय प्रदेशों तक पाया जाता है। इसकी कुछ जातियों से पेंसिल बनाने के लिए उपयोगी व्यापारिक महत्व की लकड़ी प्राप्त होती है, और कुछ जातियों का औषधीय महत्व है। भारतवर्ष में इसकी पाँच जातियाँ पाई जाती हैं और कुछ विदेशी जातियाँ बाहर से लाकर उगाई गई हैं।

जूनियर शोभाकारी पौधे हैं। इनकी उपशाखाएँ चारों ओर फैली रहती हैं। इन पौधों के स्वरूप में विविधता पाई जाती है। सीधे खम्भे सरीखे या पिरामिड जैसे आकार वाले पौधे बड़े सुन्दर लगते हैं और सँकरी बीधियों के लिए अत्यन्त उपयुक्त हैं। झाड़ीय प्रकृति वाले पौधों की बाड़ बनाई जा सकती है। अर्ध-वन्य प्रदेशों में जूनियर की फैलने वाली किस्में भूमि को अच्छा आवरण प्रदान करती हैं। इस पौधे की कुछ जातियाँ वन रोपण के लिए अत्यन्त उपयोगी हैं।

जूनियरों के लिए भारत के मध्यम तथा उच्च स्थानों की जलवायु अनुकूल होती है। बलुई, दुमट और मध्यम नम मिट्टियाँ इनके पतन के लिए सर्वोत्तम हैं किन्तु ये अत्यन्त सूखी, चट्टानी और वजरीली भूमियों में भी उग सकते हैं। जहाँ धूप और प्रकाश मिलता रहे, ऐसे खुले स्थान इन्हें अधिक प्रिय हैं। इन्हें कलम लगाकर, दाब कलम लगाकर या कलम बाँधकर उगाया जा सकता है। इनके बीजों को यदि ठंडे और सूखे स्थानों में रखा जाए तो कई बरसों तक उनकी अंकुरण-क्षमता बनी रहती है। बीए जाने पर वे एक वर्ष में अंकुरित होते हैं। यह भी देखने में आया है कि कभी-कभी उनमें कुछ सप्ताहों में ही अंकुर फूटने लगते हैं। बोन से पहले अगर बीजों को कुछ मिनटों के लिए गर्म पानी में भिगो दिया जाए तो अंकुरण में कम समय लगता है (Dallimore & Jackson, 291; Chittenden, III, 1092; Firminger, 283)।

Pinaceae

जू. कम्यूनिस लिनियस J. communis Linn. कामन जूनियर

ले. — जू. कोम्यूनिस

D.E.P., IV, 552; Fl. Br. Ind., V, 646; Kirt. & Basu, Pl. 922B.

हि. — आरार, हीवेरा, अमाल; क. — पद्मबीज; बं. — हावुश; म. — होशा.

पंजाब और कश्मीर — बेटार, पेथ्री, पामा, चुई, हौल्वेर; कुमायूँ — चिचिया, शोरा; डेकन — अमाल.

हिमालय प्रदेश में कुमायूँ से पश्चिम की ओर 1,500-4,200 मी. की ऊँचाई तक ये पौधे शयान झाड़ियों के रूप में पाए जाते हैं। कभी-कभी ये छोटे वृक्षों के रूप में भी दिखाई पड़ते हैं। छाल लालाभ-भूरी

कागजी धज्जियों के रूप में उतरती है; पत्तियाँ 3-3 के चक्कर में, रेखाकार-सूच्यरी, 0.5-1.5 सेंमी. तक लम्बी, नुकीली; ऊपरी सतह अवतल नीलाभ (नीलापन लिए सफेद), निचली सतह उभरी हुई; फूल सामान्यतः एकलिंगाश्रयी, कक्षवर्ती; फल अर्द्ध-गोलाकार, पकने पर नीलापन लिए काले, 1-1.2 सेंमी. व्यास के, मोमी राग से ढके; फल को बनाने वाले तीन शल्क कभी-कभी फट कर बीज खोल देते हैं; बीज आमतौर पर 3, लम्बोतरे, अंडाकार होते हैं। यह पौधा अत्यन्त परिवर्तनशील है और इसकी अनेक भौगोलिक और उद्यानी किस्में पाई जाती हैं। हिमालय में अधिक ऊँचाइयों पर ये शयान पाई जाती हैं और ऊँचाई में 60-90 सेंमी. से अधिक नहीं जाती। इस पौधे में मार्च-अप्रैल में फूल निकलते हैं और अगले साल अगस्त-सितम्बर में जाकर फल पकते हैं। प्राकृतिक दशाओं में पक्षी इसके फल खाते हैं और इस तरह बीजों के प्रकीर्णन में सहायता करते हैं (Troup, III, 1166).

जूनियर के फलों से जिन-जैसी गंध उठती है और स्वाद तारपीन के तेल-जैसा होता है जो बाद में कुछ कड़वा लगता है। फल जिन तथा खाद्य पदार्थों को सुवासित करने में और कभी-कभी खाने के काम में भी लाए जाते हैं। यूरोपीय देशों में जिन मदिरामय पेय बनाने में फलों का बड़ी तादाद में इस्तेमाल किया जाता है। इसके लिए फलों को कुचल कर गुनगुने पानी में भिगोकर किण्वन के लिए रख दिया जाता है, फिर किण्वित पिंड का आसवन करके उसका परिशोधन कर लेते हैं। 1,000 किग्रा. फलों से 16-18 लीटर मदिरा (40-45% ऐल्कोहल से युक्त) और 5-6 किग्रा. वाष्पशील तेल प्राप्त होता है (Thorpe, VII, 86; Hill, 450; Guenther, VI, 371-75).

भारतीय फार्माकोपिया (आई.पी.सी.) में सूखे फलों (जूनियेरस, जूनियर, जूनियरी फ्रक्टस) और उनसे प्राप्त होने वाले वाष्पशील तेल (आयल आफ जूनियर, ओलियम जूनियराइ) का उल्लेख है, जबकि ब्रिटिश फार्माकोपिया (बी.पी.सी.) में केवल तेल ही शामिल किया गया है। भारतीय फार्माकोपिया के अनुसार जूनियरस में 10% अपक्व या विवर्ण फल, 3% बाहरी जैव पदार्थ और 2% अम्ल-अविलेय राख होनी चाहिए (I.P.C., 127-28).

वाष्पशील तेल के अतिरिक्त फलों में शर्करा 33, रेजिन 8.0, जूनियेरिन (संभवतः टैनिन और शर्कराओं का मिश्रण) 0.36%, स्थिर तेल, प्रोटीड, मोम, गोंद, पेक्टिन, कार्बनिक अम्ल (फॉमिक, ऐसीटिक, मैलिक, ऑक्सैलिक और ग्लाइकोलिक) तथा पोटैशियम लवण होते हैं। ये फल ऐस्कोविक अम्ल (लगभग 35 मिग्रा./100 ग्रा.) के अच्छे स्रोत हैं। फलों और उनके वाष्पशील तेल में वातानुलोमक, उद्दीपक और मूत्रल गुण होते हैं और विविध प्रकार के जलशोफों में, खासतौर से अन्य दवाओं के साथ, देने पर ये फल उपयोगी सिद्ध होते हैं। जनन-मूत्र तंत्र के अनेक विकारों, जैसे कि सुजाक, ग्लोड (गर्मी) और श्वेत प्रदर तथा कुछ त्वचा रोगों में इसका उपयोग किया गया है। उत्तर भारत के बाजारों में जूनियर के सूखे फल विक्रते हैं और बताया जाता है कि पटना के रास्ते नेपाल से उनका आयात किया जाता है (Thorpe, VII, 86; Wehmer, I, 45; Nadkarni, I, 710; Chem. Abstr., 1940, 34, 849; 1948, 42, 3096; 1952, 46, 1716; Kirt. & Basu, III, 2380-81; U.S.D., 1955, 733-34).

पके फलों के भापीय आसवन द्वारा जूनियर तेल निकाला जाता है। आसृत फलों के गुणों के अनुसार 0.8 से 1.6% तक तेल प्राप्त होता है। कच्चे हरे फलों से निकाला गया तेल घटिया किस्म का होता है और ज्यादा पके फलों के तेल में एक तरह का रेजिन बन जाता

है. व्यापारिक तेल का अधिकांश भाग ऐल्कोहली मद्यों के आसवन के समय उपोत्पाद के रूप में प्राप्त होता है. इसमें प्राकृतिक ऑक्सिजनयुक्त गंधवाही यौगिक नहीं होते (Guenther, VI, 375; Chem. Abstr., 1943, 37, 6405).

जूनियर तेल रंगहीन या पीले-हरे रंग का साफ द्रव होता है जिसमें लाक्षणिक फलगंध और जलता-सा तीखा स्वाद होता है. रखा रहने पर तेल में चिपचिपाहट (श्यानता) और तारपीन की-सी गंध आ जाती है. पके फलों के वाष्पीय आसवन से प्राप्त ताजे तेल की विशेषताएं सामान्यतः निम्नांकित परास में रहती हैं : आ.घ.^{25°}, 0.867–0.882; n_D^{20} , 1.472–1.484; $[\alpha]_D$, -13° तक (कभी-कभी दक्षिणावर्ती); अम्ल मान, 3 तक; एस्टर मान, 1–12; और ऐसीटिलीकरण के बाद एस्टर मान, 19–31; 90% ऐल्कोहल में विलेयता, 5–10 आयतन में 1, पुराना होने के साथ-साथ विलेयता कम होती जाती है. पंजाब में होशियारपुर के बाजार से लिए गए फलों से जो तेल (उपलब्ध, 0.83%) निकाला गया, उसके स्थिरांक इस प्रकार थे : आ.घ.^{27°}, 0.918; $n_D^{25.5}$, 1.482; $[\alpha]_D$, $+20.8^\circ$; अम्ल मान, 4.7; और एस्टर मान, 20.5. भारतीय फार्माकोपिया (आई.पी.सी.) के अनुसार मानक तेल में निम्नांकित लक्षण होने चाहिए : आ.घ.^{20°}, 0.862–0.892; n_D^{20} , 1.476–1.484; और $[\alpha]_D$, $+1$ से -15° (Guenther, VI, 376–77; Bhati, J. Indian Inst. Sci., 1953, 35A, 43; I.P.C., 183–84).

जूनियर तेल में मुख्य घटक *d*- α -पाइनीन के साथ थोड़ी मात्रा में कैम्फीन, कैडिनीन, जूनियर कैम्फर (सम्भवतः एक सेल्बोटीपीन (ऐल्कोहल), तेज, मृन्मूल गुण वाला एक हाइड्रोकार्बन (जूनियर, C₁₀H₁₆; क्व.वि., 164–66°) टर्पीनियल तथा जूनियर की विशिष्ट गंध वाले कुछ अनिर्धारित ऑक्सिजनयुक्त यौगिक और सूक्ष्म मात्रा में एस्टर होते हैं (Guenther, VI, 380; Parry, I, 34).

जूनियर तेल अधिकतर यौगिकीकृत जिन के स्वादगंध में और लिकर और पौष्टिक औषधियों में इस्तेमाल होता है. दुहरे परिशोधित तेल का स्वाद-गंध मान उच्च होता है. नकली जूनियर तेल भी बनाए गए हैं (Guenther, VI, 381; Jacobs, II, 1747).

रिक्त फलों से (जो तेल निकालने के बाद बचे रहते हैं) गुनगुने पानी में बार-बार खोलाकर और सान्द्रण करके सक्कस जूनियराइ नामक पदार्थ प्राप्त होता है (उपलब्ध, 30–38%). इस द्रव्य में मुख्यतया प्रतीप शर्करा होती है और यह द्रव्य यूरोप में कभी मृन्मूल और स्वेदोत्पादक औषध के रूप में काम आता था. पशुओं को खिलाने के लिए भी फलों की बची-खुची फोक इस्तेमाल होती है. इसमें आर्द्रता, 23.72; अपरिष्कृत प्रोटीन, 6.23; ईथर निष्कर्ष, 10.75; कच्चा रेशा, 27.16; नाइट्रोजन रहित निष्कर्ष, 38.0; और राख, 4.14% होती है. राख में पोटैशियम और कैल्शियम की बहुतायत पाई जाती है. भेड़ों को खिलाने पर निम्नलिखित पाचकता-गुणांक प्राप्त हुए : नाइट्रोजन रहित निष्कर्ष, 66; प्रोटीन, 39; ईथर निष्कर्ष, 37; और अपरिष्कृत रेशा, 20% (Guenther, VI, 376; Chem. Abstr., 1937, 31, 8055).

जूनियर वृक्ष के सभी भागों में वाष्पशील तेल होता है. इस वृक्ष से एक तरह का टेरैविथिनेट रस भी रिसता रहता है जो छाल पर आकर कड़ा हो जाता है. इसको भ्रमवश सैंडेरक गाँव [जो ट्रेटाचिलनिस आर्टिकुलेटा (वाल) मास्टर्स से प्राप्त होता है] के समतुल्य माना गया है. शीर्षस्थ टहनियों और सुइयों से चमकदार पीला तेल (आ.घ.^{20°}, 0.8531) निकाला जाता है (उपलब्ध, 0.15–0.18%) जिसमें जूनियर तेल की खास गंध होती है. इसमें *d*- α -पाइनीन, कैम्फीन

और कैडिनीन होते हैं. लकड़ी के वाष्पीय आसवन से जूनियर बुड़ आयल प्राप्त होता है, जिसके स्थिरांक इस प्रकार हैं : आ.घ.^{25°}, 0.8692; $[\alpha]_D$, -21.03° ; n_D^{20} , 1.4711; अम्ल मान, 0.9; एस्टर मान, 6.7; 90% ऐल्कोहल में विलेयता 7 आयतन में 1 या अधिक, कुछ अविलेयता सहित. इसमें कैडिनीन और एक सेल्बोटीपीन होता है. व्यापारिक जूनियर काष्ठ-तेल सामान्यतया जूनियर की लकड़ी और टहनियों का तारपीन के साथ आसवन करके बनाया जाता है. अधिकतर यह तारपीन और जूनियर तेल का मिश्रण होता है. छाल के वाष्पीय आसवन से प्राप्त वल्क-तेल (उपलब्ध, 0.25–0.50%) में जूनियरीन, जूनियरोल (C₁₅H₂₆O; क्व.वि., 110°), α -पाइनीन और सिल्बेस्ट्रीन होते हैं (U.S.D., 1955, 733; Finnemore, 13; Wehmer, I, 45; Chem. Abstr., 1935, 29, 8234; Gildemeister & Hoffmann, II, 163–64, Chem. Abstr., 1955, 49, 12784).

जूनियर की सुइयों में प्रचुर ऐल्कोविक अम्ल (88 मिग्रा./100 ग्रा.) होता है. इनमें रेजिन, मोम तथा एस्टर होते हैं. फलों से भूरे और जड़ों से नील-लोहित रंग के रंजक निकलते हैं. रूस में इसकी छाल चर्मशोधन के काम आती है (Chem. Abstr., 1944, 38, 2400; Nadkarni, I, 710; Wehmer, I, 45; Chem. Abstr., 1935, 29, 5275; Howes, 1935, 280).

जूनियर की लकड़ी (भार, 528 किग्रा./घमी.) वादामी, कुछ-कुछ कठोर, टिकाऊ, सुगंधित और अत्यंत रेजिनमय होती है और आसानी से सिंवाई जा सकती है. यह आमतौर पर छोटे आकार में मिल जाती है और बाड़ा बनाने, शहतीरें बनाने और खराद में तथा ईंधन में इस्तेमाल की जाती है. लकड़ी और नई टहनियाँ धूप की तरह जलाई जाती हैं (Dallimore & Jackson, 304; Gamble, 698).

लकड़ी में निम्नलिखित पॉलिसेकेराइड होते हैं : गैलेक्टन, 13.5; ग्लूकोसन, 61.0; मेनन, 14.0; ऐरेबन, 0.5; और ज़ाइलन, 11.0%. लकड़ी के नाइट्रो-वेंजीन ऑक्सिकरण उत्पादों में *p*-नाइट्रोक्विनोलेन-हाइड (2.5%) पहचाना गया है. सुगिओल (9-कीटो फेरजिनॉल) की उपस्थिति का भी उल्लेख मिलता है (Wise & Jahn, II, 853; Leopold & Malmstrom, Acta. chem. scand., 1952, 6, 49; Bredenberg & Gripenberg, ibid., 1954, 8, 1728).

लकड़ी मृन्मूल, स्वेदोत्पादक और रुधिर शोधक होती है. यह गठिया, आमवात और चर्मरोगों में इस्तेमाल की गई है (Steinmetz, II, 256).

Tetraclinis articulata (Vahl) Mast.

जू. मैक्रोपोडा वोआसिए J. macropoda Boiss.

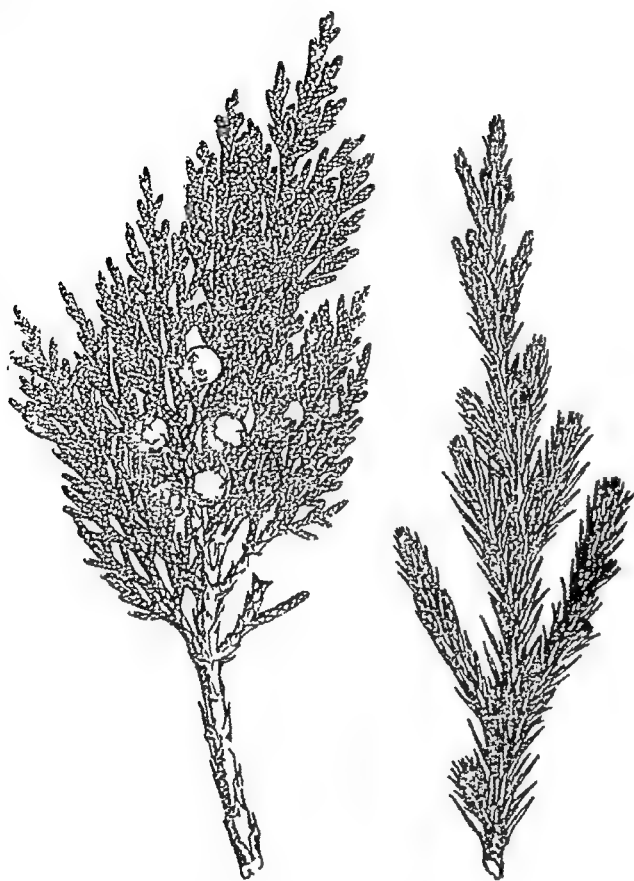
इंडियन जूनियर, हिमालयन पेंसिल सिडार

ले. — जू. माक्रोपोडा

D.E.P., IV, 554; Fl. Br. Ind., V, 647.

पंजाब — चालाई, लेवार, शुक्प, शुर; उत्तर प्रदेश — धूप, पाडम; नेपाल — चंदन, धूपी.

यह झाड़ी या वृक्ष है जो 12–15 मी. की ऊँचाई और 1.8–2.1 मी. घेरा प्राप्त करता है. इसका मुख्य तना मुड़ा और गंठीला होता है. हिमालय प्रदेश में नेपाल के पश्चिम की ओर 1,500–4,200 मी. की ऊँचाइयों पर मिलता है और कभी-कभी मैदानों में उगाया जाता है. छाल लालाभ वादामी, लम्बी रेशदार पट्टियों में उपड़ने वाली;



चित्र 53 - जूनपरस संक्रोपोडा - शाखाएँ

पत्तियाँ द्विरूपी, कुछ निचली शाखाओं पर सूच्याकार और बाकी में से ज्यादातर शाखाओं पर छिलके-जैसी खूब ढकी हुई; फूल उभयलिगाश्रयी, नर पुष्प उपशाखाओं के सिरों पर और स्त्री-पुष्प पार्श्ववर्ती उपशाखाओं में; फल गोलाकार 0.6 सेंमी. व्यास के, नीलापन लिए काले, रेजिनमय; प्रत्येक फल में 2-5 अंडाकार बीज होते हैं। इस जाति में विशेष रुचि ली गई है क्योंकि यह पूर्व एशियाई ज. चाइनेसिस लिनियस और पाश्चात्य ज. एक्सेल्सा बीवेरस्टाइन के बीच की कड़ी प्रतीत होती है (Dallimore & Jackson, 312)।

खुली फसलों में भारतीय जूनपर बहुत कुछ यूथी उगता है, कम वर्षा वाले क्षेत्रों में सूखी चट्टानी या पथरीली जमीन में भी यह जहाँ-तहाँ बिखरे रूप में उग आता है। केवल अनुकूल छायादार, मिट्टी में नमी वाली जगहों में ही इसकी घनी बढ़वार होती है। फूल वसंत में आते हैं और फल अगले साल सितम्बर-अक्तूबर में लगते हैं। यद्यपि कुछ बीज प्रति वर्ष पैदा होते हैं पर अच्छे बीज पर्याप्त अंतराल के बाद आते हैं। पौधे प्राकृतिक रूप में फूट तो आती है पर उनमें से ज्यादातर शायद सूखे के कारण मर जाती हैं। खूब बरफ गिरने पर मिट्टी में नमी बढ़ जाती है अतः इनके पनपने में सहायता मिलती है।

इस वृक्ष में, विशेषतया सूखी चट्टानी जमीनों में, खूब फैलने वाला मूल-तंत्र होता है इसलिए यह तेज पवन में भी खड़ा रह सकता है, पर

खुली जगहों में ये वृक्ष बीने और गठिले रह जाते हैं। यह सूखा भी सह सकता है और तुपार भी। यह निम्न-ताप-सह भी होता है। वृद्धि की दर मंद होती है और घेरे में वार्षिक वृद्धि 0.25 से लेकर 0.75 सेंमी. तक हो सकती है। यदि बहुत ही अनुकूल परिस्थितियाँ हों तो बढ़ोतरी की सीमा लाँघी जा सकती है। अतः 240-720 वर्ष में वृक्ष का घेरा 2 मी. तक हो सकता है (Troup, III, 1163-66)।

छाल उतर जाने और छँटाई के कारण पेड़ को काफ़ी हानि पहुँचती है। लकड़ी सड़ाने वाला फफूँद, फोमिस जूनिपेरिनस सक्कारडो और सिडो, इसके पेड़ पर लग जाता है (Troup, III, 1165; Khan, *Pakist. J. Sci.*, 1952, 4, 65)।

लकड़ी हल्के लाल से लालाभ वादामी होती है जिसकी रंगत नीलाखण होती है और खुला छोड़ने पर वादामी पड़ जाती है। यह अत्यन्त रेजिनमय होती है और स्वाद तथा गंध में देवदार-जैसी होती है। यह मध्यम दर्जे की कोमल, हल्की (वि. घ., लगभग 0.43; भार, 448 किग्रा./घ.मी.), सीधे दानेदार, महीन और सम गठन वाली होती है। इसकी लकड़ी धीमे-धीमे सीझती है पर उस काल में न तो संवलन होता है और न वह फटती है। छाया में रखने पर यह टिकाऊ होती है। सुखरी लकड़ी पाना कठिन है पर मिल जाए तो उसकी चिराई आसान होती है। आमतौर पर इसकी लकड़ी गाँठ-गँठिली होती है और चिराई में कठिनाई उत्पन्न करती है। यह आसानी से संवारी जा सकती है (Pearson & Brown, II, 1023-24)।

लकड़ी का सबसे अधिक महत्व पेंसिल बनाने में है। इस काम के लिए सभी भारतीय लकड़ियों को जाँचने पर यही सर्वोत्तम सिद्ध हुई है। पर जितनी लकड़ी चाहिए उतनी नहीं मिल पाती। जंगलों से मैदान तक लकड़ी की लदाई कठिन है। इससे व्यापारिक उपयोग आर्थिक दृष्टि से लाभप्रद और व्यावहारिक प्रतीत नहीं होता (Pearson & Brown, II, 1024; Rehman & Ishaq, *Indian For. Leaflet*, No. 66, 1945)।

जहाँ लकड़ी पैदा होती है वहाँ इसे इमारती लकड़ी के रूप में छड़ी और प्याले बनाने में और ऐसे ही दूसरे कामों में इस्तेमाल करते हैं। इसे ईंधन के रूप में भी इस्तेमाल करते हैं और इसका कोयला भी बनाया जाता है। टहनियाँ धूप देने के लिए जलाई जाती हैं और उनका धुआँ ज्वर की साध्यपातिक अवस्था को दूर करने वाला बताया जाता है (Pearson & Brown, II, 1024; Kirt. & Basu, III, 2383)।

फल में ज. कम्पुनिस की तरह औषधीय गुण होते हैं। सूखे फलों के वाष्पीय आसवन से वाष्पशील तेल प्राप्त होता है जो भारतीय फार्माकोपिया में ज. कम्पुनिस के फलों के तेल के साथ-साथ जूनपर तेल के रूप में उल्लिखित है। इस तेल के आई.पी.सी.-विनिर्देश निम्नलिखित हैं: वि.घ.¹⁵, 0.840-0.850; $[\alpha]_D$, +13 से +18°; और n_D^{20} , 1.470-1.4805. फल के स्रोत के अनुसार उसमें से निकलने वाले तेल की मात्रा में अंतर होता है (टिहरी-गढ़वाल, 0.66; कुलू, 1.50; चम्पा, 1.68%)। टिहरी-गढ़वाल से प्राप्त तेल के नमूने में निम्नलिखित विशेषताएँ थी: वि.घ.²⁰, 0.9006; n , 1.4733; $[\alpha]$, +44.5°. बिलोचिस्तान में तीन स्थानों से प्राप्त फलों के तेल (उपलब्ध, 1.55, 1.10, 2.04%) के निम्नलिखित स्थिरांक निकले। आ. घ.²⁰, 0.8379, 0.8355, 0.8343; n_D^{20} , 1.4674, 1.4680, 1.4610; और $[\alpha]_D^{20}$, +12.56°, +10.69°, तथा +18.18°. इसमें पाइनीन (60-70%), ऑक्सिजन युक्त यौगिक (30-35%), और थोड़ी मात्रा में कैडिनीन होता है।

द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान भारत में यह तेल जूनिपर तेल की जगह इस्तेमाल किया गया। जिन को वासित करने के लिए इसमें से पाइनीन निकाल देना चाहिए क्योंकि इससे उसमें तारपीन की गंध आती है (Kirt. & Basu, III, 2382; I.P.C., 183-84; For. Res. India, pt I, 1945-46, 82; 1947-48, 76; 1950-51, 94).

J. chinensis Linn.; *J. excelsa* Bieb.; *Fomes juniperinus* (V. Schr.) Sacc. & Syd.

जू. रिकर्वा बुखनन-हैमिल्टन (जू. स्वामेडा बुखनन-हैमिल्टन सिन. जू. रिकर्वा वैर. स्वामेडा पार्लटोर हुकर पुत्र सहित) *J. recurva* Buch.-Ham. वीपिंग ब्लू जूनीपर ले. - जू. रेकूर्वा

D.E.P., IV, 555; Fl. Br. Ind., V, 647; Kirt. & Basu, Pl. 923.

पश्चिमी हिमालय - फुलु, धेलु, भेदारा, वेत्यार; नेपाल - तूपि; सिक्किम - चुकबू.

यह क्लान्तिनत स्वभाव वाली, 9-12 मी. ऊँची, आकर्षक शयान या उच्चाग्र भूशायी झाड़ी अथवा छोटा वृक्ष है। यह समस्त शीतोष्ण और ऐल्यीय हिमालय तथा असम के क्षेत्रों में 2,100-4,500 मी. की ऊँचाई पर पाया जाता है। शयान किस्म (जू. स्वामेडा) पश्चिमी हिमालय में अधिक पाई जाती है। इसके तने धरती पर रेंगते हैं और मुक्त रूप से जड़ें जमा कर इनसे बड़ी संख्या में छोटी, उर्व्वे शाखाएं निकलती हैं जो घनी झाड़ी बन जाती हैं। इसकी पत्तियाँ सूक्ष्म, तीन-तीन के चक्रों का अतिव्यापन करती हुई, 2.5-6.2 मिमी. लम्बी, मैली अथवा धूसर हरित होती हैं; पुष्प उर्भलिगाश्रयी या एकलिगाश्रयी; फूल अंडाभ, 6.3-8.8 मिमी. लम्बे, गहरे भूरे अथवा नील-लोहित काले रंग के होते हैं; बीज एकल और अंडाभ होते हैं।

यह पौधा यूथी रूप में उगता है और अकेले ही अथवा जू. कम्पुनिस के साथ मिलकर विशाल क्षेत्र में फैल जाता है। शयान किस्म (जू. स्वामेडा) मैदानों में उगाई जा सकती है। शयान तनों की कलमों से बढ़ी हुई, और वर्षा ऋतु के प्रारम्भ में लगाई गई पौधों से इसका प्रवर्धन किया जाता है (Troup, III, 1166-67).

इसकी लकड़ी हल्के लाल रंग की, साधारण कठोर, भारी (भार, 560-752 किग्रा./घमी.), सुगंधित और रेजिनी होती है। यह स्थानीय रूप से ईंधन के लिए प्रयुक्त होती है। पेन्सिल के लिए यह लकड़ी उपयुक्त है। ब्रह्मा में यह शव-पेटिका बनाने के लिए इस्तेमाल होती है। इसकी लकड़ी, पत्तियाँ और टहनियाँ सुगंधित धूप की भाँति उपयोग की जाती हैं और इसी कारण कभी-कभी इसे सिक्किम से आयात किया जाता है। हरी लकड़ी का धुँआ वामक बताया जाता है। फलों से एक वाष्पशील तेल (0.46-0.88%) प्राप्त होता है जिसके निम्नलिखित गुण होते हैं: वि.घ.^{20°}, 0.9266; n_D^{20} , 1.4812; और $[\alpha]_D^{25}$, +32.5° (Gamble, 698; Trotter, 1944, 217; Rodger, 6; Kirt. & Basu, III, 2382; For. Res. India, pt I, 1947-48, 76; 1950-51, 94).

जू. वालिशियाना हुकर पुत्र सिन. जू. स्यूडोसेविना हुकर पुत्र नान फिशर और मेयर (ब्लैक जूनीपर; हिं. - भिल; सिक्किम - चोकपो) 18 मी. तक ऊँची एक पुष्ट झाड़ी या वृक्ष है। यह कश्मीर से भूटान तक, हिमालय में 2,700 से 4,500 मी. की ऊँचाई तक पाया जाता है। इस जाति की लकड़ी जू. संक्रोपोडा की लकड़ी के समान होती है। दार्जिलिंग में इसकी पत्तियाँ और टहनियाँ सुगंधित धूप के रूप में

बिकती हैं। ये कीट-प्रतिकर्षी भी होती हैं। इसकी छाल लम्बी रेशेदार पट्टियों के रूप में उपड़ती है और स्थानीय तौर पर इसका उपयोग गद्दों और अन्य घरेलू कार्यों में होता है [Biswas, *Manufacturer*, 1950-51, 2(1), 6].

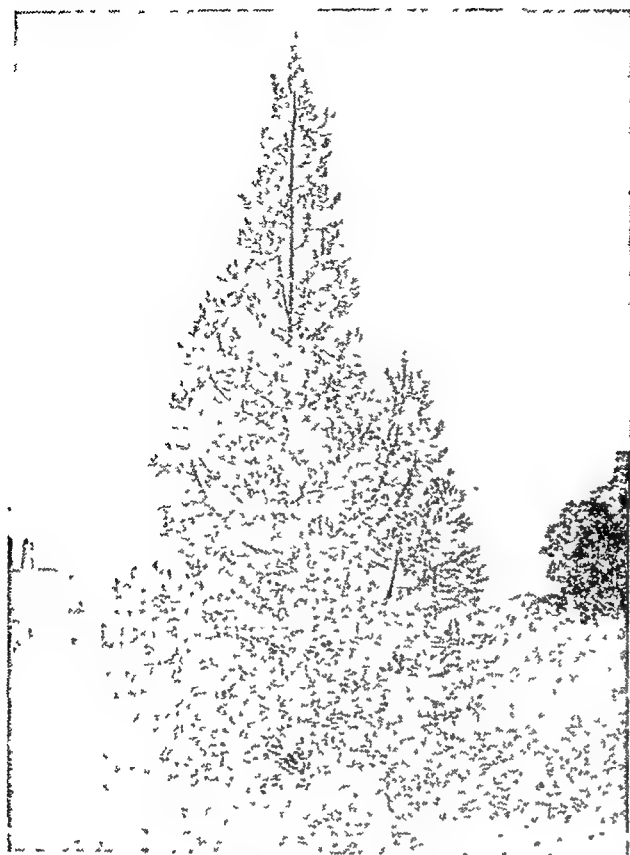
भारत में लाई गई जूनिपरस की विदेशी जातियों में से जू. वर्जिनिआना लिनियस (रेड सीडर, पेन्सिल सीडर) सम्भवतः सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। यह एक मजबूत शोभाकारी वृक्ष है। यह मूलतः उत्तरी अमेरिका का वृक्ष है। इसका प्रवर्धन बीजों अथवा कलमों द्वारा किया जाता है। इसकी लकड़ी गुलाबी अथवा लाली लिए हुए, सुगंधित, किंचित मुलायम, भंगुर, सीधे दानों वाली और बहुत टिकाऊ होती है। पेन्सिल वनाने के लिए ज्ञात सभी लकड़ियों में यह सर्वाधिक मूल्यवान है।

भाप आसवन करने पर इस लकड़ी से 1-3% वाष्पशील तेल प्राप्त होता है जो व्यापार में सीडर वुड तेल के नाम से जाना जाता है। तेल की उपलब्धि, आसवन के लिए प्रयुक्त पदार्थ में अन्तःकाष्ठ और रसकाष्ठ के अनुपात पर निर्भर करती है। अन्तःकाष्ठ में 4% और रसकाष्ठ में 1% से भी कम तेल होता है। व्यापारिक सीडर वुड तेल मुख्य रूप से, विभिन्न कार्यों के लिए लकड़ी की चिराई, कटाई, आदि के कारण बचे बुरादे और कतरनों से निकाला जाता है। सीडर वुड तेल रंगहीन अथवा फीके पीले रंग का द्रव है। इसकी सुगंध भीनी-भीनी, बालसम-जैसी होती है जो इस लकड़ी के लिए लाक्षणिक है। इसके निम्नलिखित स्थिरांक हैं: वि.घ.^{15°}, 0.943-0.964; $[\alpha]_D^{20}$, -18° से -42°; n_D^{20} , 1.50-1.51; अम्ल मान, 1.5 तक; एस्टर मान, 12 तक; ऐसीटिलीकरण के बाद एस्टर मान, 26-28; और 90% ऐल्कोहल के 10-20 आयतन में विलेयता, 1 आयतन; अथवा 95% ऐल्कोहल के 7 आयतन में 1 आयतन। तेल में सीड्रिन समावयवी (80%), सीड्रॉल (3-14%), सीड्रिनाल और स्यूडो सीड्रिनाल की अल्प मात्राएँ, और वाइसाइक्लिक सेक्वीटर्पीन होते हैं (Wise & Jahn, I, 579; Guenther, VI, 355-64).

सीडर वुड तेल का उपयोग कीटनाशी, गंधद्रव्य, साबुन, लेप, स्वच्छन और मार्जन योगों में तथा जिरैनिमम और चंदन के तेल में अपमिश्रणक के रूप में किया जाता है। इसका उपयोग सूक्ष्मदर्शिकी में तथा गर्भ-स्तावक के रूप में भी किया गया है किन्तु कुछ अस्वस्थानों में इसके उपयोग से मृत्यु भी हो गई है (Hill, 190; U.S.D., 1955, 1728; Panshin et al., 509).

तेल के लिए भाप आसवन के बाद भस्म के से प्राप्त अवशेष का उपयोग बागवानी संबंधी कार्यों में नारियल के रेशों के कचरे के स्थान पर किया जाता है। लिनोलियम के औद्योगिक निर्माण में भी इसका उपयोग किया गया है। इसकी टहनियाँ, लकड़ी और फल सुगंधित धूप की भाँति जलाए जाते हैं। पहले इसकी पत्तियों का उपयोग प्रतिक्षोभक भरहम के रचक के रूप में किया जाता था। कभी-कभी इस वृक्ष की शाखाओं पर अपवृद्धि हो जाती है जो कि सीडर ऐपल के नाम से प्रसिद्ध है। सीडर ऐपल का उपयोग कृमिनाशक की भाँति किया जाता है (Dallimore & Jackson, 335; Krishnamurthi, 216; U.S.D., 1955, 1728).

जू. प्रोसेरा हावस्टेटर (पूर्वी अफ्रीकी सीडर) पूर्वी अफ्रीका का पौधा है और वहीं से भारत में लाया गया है। नीलगिरि में कुछ स्थानों पर यह 30 मी. तक ऊँचा हो जाता है। इसकी लकड़ी पुराने वृक्षों को छोड़कर (भार, 480-640 किग्रा./घमी.) लालाभ भूरी, कोमल, सुगंधित तथा महीन और सम-दानों वाली होती है। इसकी लकड़ी रेंदी जा सकती है और इस पर पालिश भी अच्छी होती है परन्तु यह काफ़ी भंगुर है। यह टिकाऊ, नमी और कीट आक्रमण की प्रतिरोधी तथा भवन-निर्माण कार्य, फर्नीचर, अलमारी बनाने और पेन्सिलों के लिए



चित्र 54 - जूनिपरस प्रोतेरा

उपयोगी है। इस लकड़ी के भाप आसवन से सीडर वुड तेल जैसा ही एक तेल प्राप्त होता है। आसवन से प्राप्त अवशेष हार्डवोर्ड के औद्योगिक निर्माण के लिए उपयुक्त रहता है (Krishnamurthi, 216; Titmuss, 41; Dallimore & Jackson, 320; Packman, Colon, Pl. Anim. Prod., 1955, 5, 137; Parry, E. Afr. agric. J., 1953-54, 19, 89)।

जू. वरमूडियाना लिनियस (वरमूडा सीडर) का मूल स्थान वरमूडा है। यह वृक्ष 12-15 मी. तक ऊँचा होता है। इसकी लकड़ी का रंग लाल होता है, कभी-कभी इस पर सुन्दर निशान पाए जाते हैं। यह बहुत टिकाऊ होती है। इसका उपयोग पोत-निर्माण में और फर्नीचर तथा अलमारियाँ बनाने में होता है (Dallimore & Jackson, 295)।

जू. चाइनेसिस लिनियस (चीनी जूनीपर) मूलतः चीन और जापान का पौधा है। यह अतिपरिवर्ती वृक्ष है और कभी-कभी 18 मी. से भी अधिक ऊँचा हो जाता है। साधारणतया यह आकार में पिरैमिडी अथवा स्तम्भाकार होता है और शोभा के लिए उगाया जाता है। इसकी लकड़ी टिकाऊ होती है, परन्तु यह इतनी कम मात्रा में होती है कि इसका कोई व्यापारिक महत्व नहीं है। चीन में इसका उपयोग अंगराम और सुगंधित घूप बनाने में किया जाता है। इससे एक तेल प्राप्त होता है जो जू. वर्जिनियाना के तेल जैसा होता है (Dallimore & Jackson, 300; Burkill, II, 1272)।

J. squamata Buch.-Ham.; *J. recurva* var. *squamata* Parl. Hook. f.; *J. communis*; *J. wallichiana* Hook. f.; *J. macropoda*; *J. virginiana* Linn.; *J. procera* Hochst.; *J. bermudiana* Linn.; *J. chinensis* Linn.

जेंशिएना लिनियस (जेंशिएनेसी) GENTIANA Linn.

ले. - गेनटिआना

यह एकवर्षी अथवा बहुवर्षी वृष्टियों का वंश है जो शीतोष्ण तथा उष्णकटिबंधीय प्रदेशों में, विशेषतया पहाड़ी भागों में पाया जाता है। कुछ जातियाँ औषधीय गुणों वाली होती हैं। इसकी अनेक जातियाँ ऐसीय उद्यानों में लगाई जाने वाली सहिष्णु, शोभाकारी हैं। भारत में इसकी 50 जातियाँ मिलती हैं।

जें. ल्यूटिया लिनियस (पीला जेंशियन) की सूखे जड़ और प्रकंद औषध-कोषों में जेंशियाना, जेंशियन, जेंशिएनी रैडिक्स और जेंशियन मूल के रूप में अंकित हैं। यह पौधा यूरोप तथा एशिया माइनर का मूलवासी है और यह औषध भारत में आयात की जाती है। यह तिक्तवर्ग की औषध है। हिमालय पर 1,500-2,700 मी. तक की ऊँचाई पर इसकी खेती की जा सकती है (Nayar & Chopra, 29)।

जें. ल्यूटिया के लिये आर्द्र तथा ठंडी जलवायु, उपयुक्त जल-निकास तथा दुमट पीटमय तथा कँकरीली मिट्टी उपयुक्त होती है। बीजों का अंकुरण धीरे-धीरे होता है तथा पौधे कई साल में निकलते हैं। तरुण पौधों को 45 सेमी. की दूरी पर छाया में लगाना चाहिए (Trease, 45; Youngken, 670)।

मई-अक्टूबर के समय 2-5 साल तक पुराने पौधों से जड़ें तथा प्रकंद एकत्रित किये जाते हैं तथा इनको ढेरों में किण्वित करते हैं। इसके बाद इनको धोया जाता है, खुले में सुखाया जाता है और अलग-अलग लम्बाई में काटा जाता है। इस प्रकार बनाई गई औषध व्यापार में जेंशियन के नाम से जानी जाती है। यह रंग में पीली-भूरी होती है और इसकी विशिष्ट गन्ध होती है। ताजे प्रकंद तथा जड़ों को भूमि से निकालकर सीधे सुखा कर जो श्वेत और अकिण्वित जेंशियन प्राप्त होता है वह अधिक नहीं विकता (Trease, 471)।

व्यापारिक जेंशियन के प्रकंद तथा जड़ें भूरी, आकार में उपवेलनाकार, पूर्णतया अथवा लम्बाई में विभाजित टुकड़ों में होती हैं। इनकी लम्बाई 15-20 सेमी. या अधिक तथा मोटाई 2.5 सेमी. जो शिखर पर 8 सेमी. तक हो जाती है। इसकी जड़ों में लम्बाई में क्षुरियाँ होती हैं और इसके प्रकंद पर, जो कभी-कभी शाखायुक्त होता है, प्रायः सिरों पर एक या अधिक कलियाँ रहती हैं। इस पर चारों ओर अनेक गोल-गोल पत्तों के दाग होते हैं जो अनुप्रस्थ वलयों के रूप में दिखाई देते हैं। यह औषध भंगुर होती है और छोटे-छोटे भागों में टूट जाती है। इसमें तीव्र लाक्षणिक गंध होती है। इसका स्वाद प्रारम्भ में मीठा तथा बाद में तिक्त होता है। ब्रिटिश फार्माकोपिया के निर्देशानुसार इस औषध में 2% से अधिक अपद्रव्य, 6% से अधिक राख और 33% से कम जल-विलेय पदार्थ नहीं होना चाहिए (B.P.C., 372; B.P., 243)।

इसका प्रयोग ग्रामाशयी साव का उद्दीपन करने के लिए किया जाता है। यह क्षुधावर्धक है तथा दुर्बलता दूर करता है। इसे भोजन से 1/2-1 घंटे पहले दिया जाना चाहिए (B.P.C., 373; Martindale, I, 563)।

जें. ल्यूटिया के ताजे प्रकंद और जड़ों में तिक्त ग्लाइकोसाइड, लगभग 2%, जेंशियोफिक्लिन ($C_{16}H_{20}O_6$; ग.बि., 120-22°; निजल, 191°), जेंशियामैरिन ($C_{16}H_{22}O_{10}$ या $C_{16}H_{20}O_{10}$) तथा

जेंटाइन [$C_{25}H_{23}O_{14}$; ग.वि., 274° (अपघटन)] पाये जाते हैं जो शरीरक्रियात्मक रूप से सक्रिय होते हैं। जेंशियन के अन्य रचक जेंटिसिन (एक पीला रंजक द्रव्य), पेक्टिन, जेंशियानोस तथा स्फूकोस हैं। कुल शर्करा की मात्रा अधिक होती है, इसलिये स्विटजरलैंड तथा व्हेरिया में इसकी जड़ों से स्प्रिट बनाते हैं। इसकी जड़ों में एक ऐल्कलायड, जेंशियनिन भी होता है (Thorpe, V, 515; Chem. Abstr., 1952, 46, 689)।

Gentianaceae; *G. lutea* Linn.

जें. कुरू रॉयल *G. kurroo* Royle

ले. - गे. कुरू

D.E.P., III, 486; Fl. Br. Ind., IV, 117.

हि. और बं. - कारु, कुटकी.

पंजाब - नीलकांत, नीलाकील; कश्मीर - नीलकंठ; महाराष्ट्र - पापाणभेद, पापाणवेद.

यह एक बहुवर्षी बूटी है जिसका प्रकंद दृढ़ होता है, जिसमें भूशायी फूलों से युक्त तने निकलते हैं। प्रत्येक में 1-4 नीले फूल होते हैं। यह कश्मीर और उत्तरी पश्चिमी हिमालय में 1,500-3,300 मी. तक की ऊँचाई पर पाई जाती है। इसके मूल और स्तम्भ पर पत्ते होते हैं। मूल के पत्ते आयताकार, भालाकार और गुच्छों में तथा स्तम्भ के पत्ते रेखिक तथा युगल, आधार पर एक नली में संयुक्त हो जाते हैं।



चित्र 55 - जेंशिएना कुरू - पुष्पित पौधा



चित्र 56 - जेंशिएना कुरू - जड़ें

आई.पी.सी. में जें. कुरू के सुखाये गये प्रकंद और जड़ें भारतीय जेंशियन के नाम से अंकित हैं। यह असली जेंशियन के स्थान पर प्रयुक्त होती है तथा पहाड़ों से मैदानों में निर्यात की जाती है। इसको फूलने में कई वर्ष लगते हैं और बाजार में विकने योग्य जड़ें प्राप्त करने के लिए पर्याप्त अवधि चाहिए। पिक्वोराइजा कुरूआ रॉयल एक्स बेन्थम हिमालय में पाई जाने वाली एक अन्य बूटी है। इसके प्रकंद और जड़ों में वही गुण होते हैं जो जें. कुरू के हैं तथा इसके उपयोग भी समान हैं। अतः यह जें. कुरू के स्थान पर काम में लाये जाते हैं या उसमें मिला दिये जाते हैं। दोनों के लिए आम नाम कुटकी प्रयुक्त होता है (Datta & Mukerji, 1950, 95, 108).

भारतीय जेंशियन में सामान्य, प्रायः शाखायुक्त, बेलनाकार, भूरे, टुकड़े होते हैं जो प्रायः 2.5-8.0 सेंमी. लम्बे तथा 1-1.5 सेंमी. या अधिक व्यास वाले होते हैं। ये कुछ-कुछ मुड़े हुये तथा लम्बाई में झुरीदार होते हैं। इसके प्रकंद सिरे पर गोल होते हैं, जिन्हें तिकत, क्षुधावर्धक, पीप्टिक औषध के रूप में तथा आमाशयी स्त्राव का उद्दीपन करने के लिए प्रयोग में लाया जाता है। ये बहुत से टानिकों में मिश्रित किये जाते हैं। इस औषधि का स्वाद प्रिय होता है। इसका सेवन ज्वर तथा सूत्रीय विकारों में भी होता है। यह घोंघों को मोटा करने के लिए मसाले के रूप में प्रयुक्त की जाती है (I.P.C., 111; Datta & Mukerji, 1950, 96; Kirt. & Basu, III, 1662).

कश्मीर से प्राप्त औषध में 20% जलीय निष्कर्ष तथा 0.70% राख पाई गई परन्तु जेगियोपिक्निन अनुपस्थित था। इसमें 20% तक एक पारदर्शी, भंगुर, गंधहीन तथा स्वादहीन रेजिन भी पाया गया। इतनी कम मात्रा में जल-विलेय पदार्थों की उपस्थिति तथा जेगियोपिक्निन की अनुपस्थिति का कारण उसे असन्तोषजनक ढंग से सुखाना था (I.P.C., loc. cit.; Datta & Mukerji, loc. cit.).

जें. टेनेला राटवोएल=जेंशिएनेला टेनेला एच. स्मिथ तथा जें. डिकम्बेन्स लिनियस पुत्र हिमालय में अधिक ऊँचाई पर पाई जाने वाली तिकत वृष्टियाँ हैं। पहली बूटी का काड़ा ज्वरहर के रूप में प्रयुक्त होता है और दूसरी का टिक्कर क्षुधावर्धक होता है। इन दोनों जातियों तथा जेंशिएना की कुछ अन्य जातियों के प्रकंद और जड़ें जेंशियन के विकल्प हैं (Kirt. & Basu, III, 1662; I.P.C., loc. cit.).

जें. ओलिवियराइ, जें. डहरिका के समान है। इसके फूलयुक्त शिखर भारतीय बाजारों में गुल-ई-घफीस के नाम से जाने जाते हैं और फारस

से आयात किये जाते हैं। इस औषधि में जैशियन के समान गुण होते हैं। वच्चों के शिरोवल्क दाद का इस औषधि से उपचार किया जाता है। विलोचिस्तान में इस पौधे को स्वेदोत्पादक के रूप में इस्तेमाल करते हैं (Chopra, 192; Dymock, Warden & Hooper, II, 508; Kirt. & Basu, III, 1663).

Gentianella tenella; *G. decumbens* Linn. f.; *G. olivieri* Griseb.; *G. dahurica* Fisch.

जेक्वीरिटो - देखिए ऐन्स

जेड JADE

जेड शब्द का प्रयोग दो भिन्न खनिजों, जेडाइट और नेफाइट के लिए किया जाता है। ये दोनों ही अत्यधिक आकर्षक सस्ते रत्न हैं। जेड पारभासी और चमकदार रत्न है। भली प्रकार तराशा जाने पर इसे बजाने पर सुरीला स्वर निकलता है जो काफ़ी समय तक टिकता है। नेफाइट आरम्भ से ही ज्ञात रहा है किन्तु जेडाइट की खोज 1868 में हुई। कभी-कभी जेड शब्द का प्रयोग ऐसे खनिजों के लिए भी किया जाता है जो वाह्य रूप में असली जेड से मिलते-जुलते हैं। उनमें से कुछ हैं: यूबारोवाइट, वेसुवियानाइट और इसकी हरी किस्म कैलिफोर्नाइट, सिलिमनाइट, पैटोलाइट, बोबेनाइट और सौसुराइट। भौतिक और रासायनिक गुणों द्वारा इन खनिजों को वास्तविक जेड से आसानी से पहचाना जा सकता है।

जेडाइट (आ.घ., 3.33; कठोरता, 6.5-7) सोडियम और ऐलुमिनियम का एक मैटासिलिकेट $[Na_2O \cdot Al_2O_3 \cdot 4SiO_2]$ अथवा $NaAl(SiO_3)_2$ है जिसमें प्राकृतिक अवस्था में लोहा, कैल्सियम और मैग्नीशियम भी अल्प मात्रा में मिले होते हैं। शुद्ध जेडाइट सफ़ेद होता है परन्तु लोहे की भिन्न मात्राओं के कारण यह प्राकृतिक रत्न हरे रंग की विभिन्न छटाएँ दर्शाता है। इसके गहरे हरे से लगभग काले प्रकार (क्लोरोमेलानाइट) में लौह सेल्फेब्रॉक्साइड (लोहा, लगभग 10%) होता है। रासायनिक संरचना और क्रिस्टलीय गुणों में जेडाइट पाइरोक्सीन समूह के खनिजों के वर्ग में आता है। जेडाइट सामान्यतः दानेदार होता है, रेखदार बहुत कम होता है। इसके अलग-अलग दाने कभी-कभी प्रिज्मीय आकार के तथा समविभूय होते हैं।

नेफाइट (आ.घ., 2.96-3.1; कठोरता, 6-6.5) कैल्सियम और मैग्नीशियम का सिलिकेट $(CaO \cdot 3MgO \cdot 4SiO_2)$ है। प्राकृतिक अवस्था में इसमें अल्प मात्रा में अपद्रव्य मिले रहते हैं जिनमें मुख्य लोहा है जो इसे सफ़ेद (ट्रेमोलाइट) से गहरे हरे रंग (एक्टिनोलाइट) प्रदान करता है। यह चमकीला और कभी-कभी तेल जैसी कांति वाला होता है और खपच्चीदार भंग दर्शाता है। नेफाइट की संरचना लाक्षणिक रूप से रेखदार होती है। इसके रेखी ऐंठनदार, गुच्छों के रूप में अंतर्ग्रथित तथा अन्य जटिल प्रतिरूपों में होते हैं। सारणी 1 में नेफाइट, जेडाइट और क्लोरोमेलानाइट के रासायनिक संघटन दिए हुये हैं।

संसार में ऐसे बहुत कम स्थान हैं जहाँ जेड पाया जाता है। अकेले ब्रह्मा में ही सारा जेडाइट पाया जाता है। वहाँ इसका मुख्य प्राप्ति स्थान मिटकाइना जिले में कर्मांग तहसील ($25^{\circ}28'$ और $25^{\circ}52'$ उ. अक्षांश: $96^{\circ}7'$ और $96^{\circ}24'$ पू. देशांतर) है। तावमाव के इश्याशों खानों से और अपरवी गोलाश्व की टूट-फूट से यह प्राप्त किया जाता है। जेडाइट चीन के शेंशी और यूनान प्रांतीय तथा तिब्बत में अल्प मात्रा में पाया जाता है। नेफाइट अलास्का (सं.रा.अ.), साइबेरिया, दक्षिणी रूसी तुकिस्तान और न्यूजीलैंड में पाया जाता है।

सारणी 1 - जेड का रासायनिक संघटन (%)*

	नेफाइट	जेडाइट	क्लोरोमेलानाइट
SiO ₂	58.0	58.24	56.12
Al ₂ O ₃	1.30	24.47	14.96
CaO	13.24	0.69	5.17
Na ₂ O	1.28	14.70	10.99
MgO	24.18	0.45	2.79
Fe ₂ O ₃	..	1.01	3.34
FeO ₃	2.07	..	6.54
TiO ₂	0.19
MnO	0.47
K ₂ O	..	1.55	लेशमात्र
योग	100.07	101.11	100.57

*Encyclopaedia Britannica, XII, 863.

जेड भारत में कुछ स्थानों पर पाया जाता है लेकिन इसका कोई व्यावसायिक महत्व नहीं है। जेडाइट से मिलते-जुलते खनिज, मुख्य रूप से सिलिमनाइट, मध्य प्रदेश के रीवा जिले में पिपरा नामक स्थान पर कोरंडम निक्षेपों के साथ मिले हुए पाए जाते हैं (Mallet, *Rec. geol. Surv. India*, 1872, 5, 20; Sinor, *Bull. geol. Dep., Rewa State*, No. 1, 1923, 33).

अभी तक बिक्री योग्य नेफाइट भारत में नहीं पाया गया है, लेकिन ऐसी ही रचना वाला और भौतिक गुणों में जेड के लगभग समान एक खनिज उत्तर प्रदेश में दक्षिण मिर्जापुर में पाया जाता है (Clegg, *Rec. geol. Surv. India*, 1954, 80, 402).

जेडाइट का मूल्य उसके रंग और उसकी पारभासिता पर निर्भर करता है। मोर की पूँछ जैसे चमकीले हरे रंग का और ब्रह्मा में पाया जाने वाला यायक्योक नाम का इसका पारभासी प्रकार अति मूल्यवान समझा जाता है। मूल्य की दृष्टि से इसके बाद श्वेलु के नाम से प्रसिद्ध हल्के हरे रंग और चमकीले बच्चों और रेखाओं से युक्त इसका प्रकार आता है। इन दोनों किस्मों का उपयोग कीमती आभूषणों में किया जाता है। नाशपाती जैसे हरे और पीले तथा अत्यधिक पीले-हरे रंग की किस्मों से नलों के स्तम्भ, प्लेटें, प्याले और फूलदान, कटोरे तथा अन्य वस्तुएं बनाई जाती हैं। जेडाइट की गोलियाँ सजावट के लिए इस्तेमाल की जाती हैं क्योंकि पालिश होने पर ये अत्यन्त सुन्दर लगती हैं। जेडाइट का उपयोग कुर्सी, मेज तथा फर्नीचर की अन्य वस्तुओं की सजावट के लिए किया जाता है। विशेष प्रकार से ऊष्मा-उपचारित करके देशी चिकित्सा पद्धति में इस खनिज का उपयोग किया जाता है।

जेड को काटना तथा उस पर नक्काशी करना चीन में एक व्यापक उद्योग है। दक्षिण तुकिस्तान से आयातित नेफाइट को काटकर शीनगर में कान की वाली, अँगूठी के पत्थर और लटकन आदि बनाए जाते हैं।

जेरबेरा कैसिनी (कम्पोजिटो) GERBERA Cass.

ले. - गेरबेरा

यह बहुवर्षी वृष्टियों का एक लघु वंश है जो एशिया और अफ्रीका के शीतोष्ण एवं उष्णकटिबंधी प्रदेशों में पाया जाता है। भारत में इसकी 7 जातियों की सूचना है।

Compositae

जे. लैनुगिनोसा वेंथम=जे. गांसीपिता (रॉयल) रोबिन्सन
(वैर. पुसिला हुकर पुत्र सहित) *G. lanuginosa* Benth.

ले. - गे. लानूगिनोसा

D.E.P., III, 490; Fl. Br. Ind., III, 390; Collett, 279, Fig. 83.

कुमार्य - कपासी, कार्की काफ्सी; गड़वाल - गौनी, झूला, कपास;
पंजाब - पाटपटूला, खो, वड, कपासी, जार.

यह पतला वृतीय पौधा है जो हिमालय के शीतोष्ण प्रदेशों में कश्मीर से नेपाल तक 1,200 से 2,850 मी. की ऊँचाई तक पाया जाता है। इसकी पत्तियाँ 5 से 15 सेंमी. लम्बी, 1.25 से 7.5 सेंमी. चौड़ी, अरोमिल, ऊपर की ओर चमकदार, नीचे की ओर धनी कपासी, भालाकार तथा बहुधा आधार में पालियुक्त; पुष्पशीर्ष सफ़ेद, प्रायः गुलाबी भाँडियुक्त; ऐकीनों चोंचदार होती हैं। यह पौधा सामान्यतः शिमला के पास शुष्क ढलानों तथा कश्मीर में गुलमर्ग की ऊपरी पहाड़ियों में पाया जाता है।

पत्तियों के नीचे पायी जाने वाली सफ़ेद, कपास जैसी परत (घनरोम) जलाने एवं घाव भरने में काम आती है। कभी-कभी इसका उपयोग मोटा कपड़ा तैयार करने में किया जाता है। ऐसा करने के लिए घनरोम को पत्तियों से भरोड़ कर धागा बनाते हैं। इसे बुनकर कम्बल, थैले और बोरियाँ आदि तैयार की जाती हैं। ये वस्तुएं मजबूती और टिकाऊपन के लिए प्रसिद्ध हैं।

अफ्रीकी जाति जे. जेमसोनाई एल. बोलस (ट्रांसवाल डेजी) और इसके संकर भारत में प्रवर्धित किये गये हैं। सुन्दर पुष्प शीषों के कारण इन्हें बगीचों में बोते हैं। ये पौधे मेड़ों पर या गमलों में उगाने के लिए उत्तम हैं (Gopalaswamiengar, 435; Chittenden, II, 885).

G. gossypina (Royle) Rob. (var. *pusilla* Hook. f.); *G. jamesonii* L. Bolus

जेल्सलम आर्टोचोक - देखिए हेलियेंथस

जेरैनियम तेल - देखिए पेलारगोनियम

जेलसीमियम जुस्यू (लोगैनिऐसी) GELSEMIUM Juss.

ले. - जेल्सेमिऊम

Fl. Assam, III, 314.

यह आरोही झाड़ियों का एक छोटा वंश है जो दक्षिण-पूर्व संयुक्त राज्य अमेरिका तथा पूर्वी एशिया में पाया जाता है। इसकी एक जाति जे. एलीगन्स (चीनी जेलसीमियम), खासी तथा लूशाई पहाड़ियों तथा मणिपुर में पाई जाती है।

जे. एलीगन्स एक वृहत्, काष्ठीय, सदापर्णी आरोही है जिसकी छाल कार्कमय, पत्ते अण्डाकार या भालाकार; फूल सुनहरे-पीले होते हैं; जड़ें, तना और पत्ते विपैले होते हैं। इसके विपैले अवयव वही होते हैं जो अमेरिकन ओषधि, जेलसीमियम में विद्यमान हैं। इस ओषधि में जे. सेमपरवोरेन्स एटन पुत्र के सूत्रे प्रकंद और जड़ें रहती हैं तथा यह तांत्रिकीय विकारों में, विशेषतया त्रिवारा तांत्रिकीय में तथा माइग्रेन प्रमस्तिष्कीय अतिरक्तता, हिस्टीरिया तथा अंगघात पूर्व पोलियो में प्रयुक्त होता है। इसकी क्रिया मुख्यतः केन्द्रीय तान्त्र प्रणाली पर, विशेषतया सुषुम्ना पर होती है। विपैली मात्रा में यह पूर्ण रूप से अंगघात उत्पन्न करती है। मृत्यु का कारण मुख्यतः स्वास रुकना होता है। उपचारी

और घातक मात्राओं में कम अन्तर है, अतः इस ओषधि का सेवन अत्यधिक सोच-विचार कर करना चाहिए (Modi, 669; *Chem. Abstr.*, 1935, 29, 6951; B.P.C., 371; Martindale, I, 562; Chopra *et al.*, 692; U.S.D., 498).

चीनी जेलसीमियम, कू-वेन (Kou-Wen) में निम्नलिखित ऐल्कलायड होते हैं: कूमीन ($C_{20}H_{23}ON_2$; ग. वि., 170°), कूमिनिसीन (अक्रिस्टलीय), कूमिनिडीन ($C_{19}H_{25}O_4N_2$; ग. वि., 299°) तथा कूमिनीन [जो जेलसमीन ($C_{20}H_{22}O_2N_2$; ग. वि., 178°) का अन्य क्षारों के साथ मिश्रण]। भेषज गुणविज्ञान क्रिया में कूमीन तथा जेलसमीन समान हैं। स्तनियों के प्रति, अन्य ऐल्कलायडों की तुलना में कूमिनिसीन अधिक विपैला है। जे. एलीगन्स से एक और ओषध, ता-चा-ये प्राप्त की गई है। इसमें जेलसमीन, कूमीन, कूमिनीन तथा कूनिडीन ($C_{21}H_{24}O_5N_2$; ग. वि., 315°) रहते हैं। अमेरिकी ओषध में जेलसमीन, सेमपरवाइरीन ($C_{19}H_{16}N_2.H_2O$) तथा जेलसेमिसीन ($C_{20}H_{24}O_4N_2$) नाम के ऐल्कलायड होते हैं। जेलसेमिसीन, जेलसमीन से अधिक विपैला है तथा जेलसीमियम के लाक्षणिक प्रभाव इसी के कारण होते हैं (Henry, 739; Manske & Holmes, II, 430; Wehmer, suppl., 92; Chi *et al.*, J. Amer. chem. Soc., 1938, 60, 1723).

Loganiaceae; *G. elegans* Benth.; *G. sempervirens* Ait. f.

जेलुटांग - देखिए डायरा

जेलोनियम रॉक्सवर्ग (यूफोर्बिएसी) GELONIUM Roxb.

ले. - जेलोनियम

यह झाड़ियों अथवा छोटे वृक्षों का वंश है जो एशिया और अफ्रीका के उष्ण तथा उपोष्ण कटिबंधीय प्रदेशों में पाया जाता है। भारत में इसकी तीन जातियाँ पाई जाती हैं। कुछ लेखकों ने इस वंश को फिर से इसका पुराना नाम सरेगडा राटलर दे दिया है।

Euphorbiaceae; *Siregada* Rottl.

जे. मल्टीफ्लोरम जुस्यू *G. multiflorum* Juss.

ले. - जे. मुल्टीफ्लोरम

D.E.P., III, 485; Fl. Br. Ind., V, 459.

हि. और वं. - वन नरिंगा; ते. - पिडेमारुडु; उ. - खाकर.
असम - मिदीमा-बफंग, डेंग चैक-ते, मारतू-केलोक-एरोंग; गोंड - गनरी.

यह 9-12 मी. ऊँचा एकलिंगाश्रयी वृक्ष है। इसकी छाल मोटी तथा घूसर होती है। यह उत्तरी सरकार, उड़ीसा, बिहार, बंगाल, असम तथा अंदमान द्वीपों में पाया जाता है। पत्ते आयतरूप-भालाकार, तथा चमिल; फूल पीले, मीठी गन्ध वाले और फल गोलाकार, कुछ त्रिअंशोय गहरे नारंगी रंग के तथा खाद्य हैं। इस पेड़ को प्रायः उद्यानों में लगाया जाता है क्योंकि इसमें सदापर्णी शोभाकारी पत्ते लगते हैं (Benthall, 379).

इसकी लकड़ी हल्के पीले रंग की, चिकनी, कठोर, भारी (भार, 752 किग्रा./घमी.) घने और समान गठन की होती है। इसमें मोम-जैसी गंध होती है। यह वेड़े तथा स्तम्भ बनाने के काम में आती है और इँवन के रूप में भी इसका प्रयोग होता है (Gamble, 623; Burkill, I, 1065).



चित्र 57 - जेलोनियम लान्सोलैटम - पुष्पित शाखा

कम्बोडिया में इसकी छाल को मसूढ़ों को पुष्ट करने के लिये प्रयोग में लाते हैं तथा यकृत के विकारों में यह रेचक का काम करती है। इस पौधे की कलियों से एक पीला रेजिन निकलता है (Burkill, loc. cit.).

ज. लान्सोलैटम विल्डेनो *G. lanceolatum* Willd.

ले. - ज. लान्सोलैटम

ते. - सुरगड़ा; त. - काकई पालई; क. - कुरुडुनन्दी.

यह एक छोटा वृक्ष है जो दक्षिणी प्रायद्वीप में पाया जाता है। यह गुणों और पर्णों की दृष्टि से ज. मल्टीफ्लोरम के समान होता है तथा वीथियों और उद्यानों में लगाये जाने के उपयुक्त है। इसकी लकड़ी (भार, 800 किग्रा./घमी.) घर बनाने के काम आती है।

जैकवीन - देखिए कॅनावालिया

जैकारण्डा जुस्यू (विगनोनिएसी) *JACARANDA* Juss.

ले. - जाकारांडा

यह मूलतः उष्णकटिबंधीय अमेरिका में पाए जाने वाले वृक्षों और झाड़ियों का एक वंश है। इसकी कुछ जातियाँ भारतीय उद्यानों में शोभा के लिए उगाई जाती हैं।

Bignoniaceae

जै. एक्वेटिलिया* हम्बोल्ट और बोनप्लांड सिन. जै. **मिमोसीफोलिया** डी. डान; जै. **ओवैलीफोलिया** आर. ब्राउन *J. acutifolia* Humb. & Bonpl.

ले. - जा. आकूटिफोलिया

Blatter et al., 93, pl. XVIII.

यह मध्यम आकार की एक शानदार झाड़ी है जो भारत में बागों में सुविभाजित पत्तियों और सुन्दर पुष्पों के लिए उगाई जाती है। इसकी पत्तियाँ एकांतर अथवा एक दूसरे के लगभग सम्मुख, द्विपिच्छकी; पिच्छक अनेक जोड़ों में, प्रत्येक में 10-24 या और अधिक आयत-रूप-समांतर असम चतुर्भुजाकार पत्रकों के जोड़े; सिरे पर के पत्रक बड़े, फल नीलाभ नील-लोहित रंग के और ढीले पुष्प गुच्छों में; फल आयताकार अंडाभ अथवा चौड़ी संपुटिका के रूप में होते हैं।

यह पौधा अच्छे जल-निकास वाली मिट्टी में अच्छी तरह उगता है और नमी सहन नहीं कर सकता। इसका प्रवर्धन बीजों द्वारा उगाई गई पौधों या अर्ध-परिपक्व अंकुरों की कलमों द्वारा किया जा सकता है। काट-छांट का इस पर कोई दुष्प्रभाव नहीं पड़ता। पाले से हुई क्षति की पूर्ति यह बहुत जल्दी कर लेता है और सड़कों के दोनों ओर लगाने के लिए यह अच्छा रहता है। पोलिस्टिक्टस हिंसुस फीज के कारण होने वाले सफ़ेद स्पंजी गलन से यह प्रभावित होता है (*Indian J. agric. Sci.*, 1950, 20, 107).

दक्षिण अमेरिका में इस पौधे की छाल और पत्तियाँ सिफिलिस और ब्लेनोरिया में प्रयुक्त होती हैं। पत्तियों का काढ़ा वक्ष-रोगों में दिया जाता है तथा पत्तियों का चूर्ण घावों को शीघ्र भरने के लिए लगाया जाता है। इसकी छाल का काढ़ा व्रणों पर लोशन की तरह लगाया जाता है (*Blatter et al.*, 94).

इसकी लकड़ी सुन्दर, सुगंधित, साधारण कठोर, भारी और सुगठित होती है। इसे आसानी से विभिन्न रूप दिए जा सकते हैं। औजारों के हथ्यों के लिए यह अच्छी रहती है (*Colthurst*, 99; *Parry, E. Afr. agric. J.*, 1953-54, 19, 154; *Record & Hess*, 81).

जै. एक्वेटिलिया भारतीय लाख के कीट का पोषी पौधा है। इसके पुष्पों में एक ऐन्थोसायनिन, सम्भवतया हिंसुटिडिन डाइग्लाइकोसाइड होता है (*Kapur, J. Bombay nat. Hist. Soc.*, 1954-55, 52, 645; *Ponniiah & Seshadri, J. sci. industr. Res.*, 1953, 12B, 605).

जैकारण्डा राम्बीफोलिया मेयर सिन. जै. **फिलिसफोलिया** डी. डान फर्न-सदृश कागजी पत्तियों और नील-लोहिताभ-वैंगनी पुष्पों के लिए भारतीय बागों में उगाया जाने वाला पतला पर्णपाती वृक्ष है। जै. एक्वेटिलिया के विपरीत यह नमी सहन कर सकता है। इसकी लकड़ी रंग में कुछ सफ़ेद, कठोर, हल्की (आ. घ., 0.40-0.50; भार, 400-496 किग्रा./घमी.), मध्यम से स्थूल गठन की, सीधे दाने की होती है। इसे सरलता से गढ़ा जा सकता है। इसे चिकना किया जा सकता है और इसमें कीलें मजबूती से टिकी रहती हैं। लेकिन पृथ्वी के सम्पर्क में आने पर यह नष्ट होने लगती है। इस पौधे के निष्कर्ष में कीटनाशी गुण होते हैं (*Benthall*, 344; *Record & Hess*, 82; *Sievers et al., J. econ. Ent.*, 1949, 42, 549).

*कुछ विद्वान जै. एक्वेटिलिया हम्बोल्ट और बोनप्लांड को जै. मिमोसीफोलिया डी. डान सिन. जै. ओवैलीफोलिया आर. ब्राउन से भी भिन्न मानते हैं (*Chatterji, Bull. bot. Soc. Beng.*, 1948, 2, 77).



चित्र 58 - जकारण्डा एक्वेटिकोलिया - पुष्पित शाखा

जकारण्डा की अनेक जातियाँ ब्राजील तथा दक्षिणी अमेरिका के अन्य भागों में करोवा, कैराविना आदि नामों से सिफिलिस में प्रयुक्त की जाती हैं। रेजिनो अम्लों और कैरोवा बालसम के अतिरिक्त कैरोविन नामक एक क्रिस्टलीय पदार्थ उनसे पृथक् किया गया है (U.S.D., 1947, 1493).

J. mimosifolia D. Don; *J. ovalifolia* R. Br.; *Polystictus hirsutum* Fr.; *J. rhombifolia* G.F.W. Mey. syn. *J. filicifolia* D. Don

जैक्वीनिया लिनियस (मिसिनेसी) JACQUINIA Linn.

ले. - जाकुइनिया
Chittenden, II, 1083.

यह उष्णकटिबंधीय अमेरिका और पश्चिमी इंडीज में पाई जाने वाली सदाहरित झाड़ियों और वृक्षों का एक छोटा-सा वंश है। इसकी कुछ जातियाँ भारत में भी लाई गई हैं और यदाकदा बागों में उगायी जाती हैं।

जै. वारवैस्को (लोपिलग) मेज सिन. जै. आर्मिलैरिस जैक्विन (ब्रासलेट वुड) फनाकार, स्पंजुलाकार अथवा अधोमुख अंडाकार आयतरूप पत्तियों और सफ़ेद फूलों वाली झाड़ी या वृक्ष है। इसका

फल झरबेरी के समान होता है और उसमें कई चमकदार पीले और भूरे बीज होते हैं। पौधा विषैला समझा जाता है और इसका उपयोग बाण-विष के रचक के रूप में किया जाता है। वेस्ट इंडीज में इसके बीजों से कंगन बनाए जाते हैं (Benthall, 285; Burkill, II, 1264).

Myrsinaceae; *J. barbasco* (Loefl.) Mez.; *J. armillaris* Jacq.

जैटिओराइजा मायर्ज (मेनिस्पर्मसी) JATEORHIZA Miers

ले. - जाटिओरिजा

यह आरोही वृष्टियों या लघु झाड़ियों का छोटा वंश है जो उष्ण-कटिबंधीय अफ्रीका में पाया जाता है। उल्लेख है कि कैलुम्बा नामक भेषज की स्रोत जै. पामेटा भारत में बोयी जाती है। पर इसकी कृषि और भारतीय चिकित्सा में इस भेषज के उपयोग के सम्बंध में कोई आधिकारिक सूचना प्राप्त नहीं है।

Menispermaceae

जै. पामेटा (लामार्क) मायर्ज सिन. जै. कैलुम्बा मायर्ज;
कोक्यूलस पामेटस द कन्दोल *J. palmata* (Lam.) Miers

ले. - जा. पाल्माटा

Kirt. & Basu, I, 98; Bentley & Trimen, I, Pl. 13.

हि. - कलम्ब की जड़; ते. - कलम्ब बेर; त. - कलम्ब बेर;
क. - कोलम्बावेर; उ. - कोलोम्बो.

बम्बई - कोलोम्बो, कलम्ब-कचरी.

यह एकलिंगी ऊँची बल्लरी है जिसका मूल स्थान दक्षिण-पूर्व उष्ण-कटिबंधीय अफ्रीका में मोजम्बिक है। इसके प्रकन्द छोटे, गोलाकार, अनियमित होते हैं जिनमें से तकुआनुमा, रसीली, 10 सेंमी. तक व्यास की जड़ें निकलती हैं; पत्तियाँ एकांतर, हस्ताकार 3-7 पालियों में विभाजित, 35 सेंमी. × 25 सेंमी. तक, आधार में गहरी हृदयाकार; वृंत लम्बे; फूल अनाकर्षक, बड़े लटके हुये कक्षीय गुच्छों में; काष्ठ-फल गूदेदार, अण्डाभ होते हैं।

इस पौधे की जड़ों में भेषज कैलुम्बा, कोलम्बा, या कोलोम्बो होता है। उल्लेख है कि जड़ें अफ्रीका से भारत में मँगाई जाती हैं और यूरोप तथा अमेरिका को पुनः निर्यात भी की जाती हैं। इसके मूल देश में इसकी जड़ों और प्रकंदों को सूखे मौसम में खोद कर निकालते हैं। प्रकंदों को अलग कर देते हैं और जड़ों को गोलाकार या तिरछे कतलों में काटकर छाया में सुखा लेते हैं। ये कतले, जो चिपकी हुई मिट्टी के कारण भूराभ होते हैं, प्राकृतिक कैलुम्बा कहलाते हैं। ये आमतौर से इसी रूप में निर्यात किये जाते हैं। घोने और ब्रुश फेरने के बाद भेषज को श्रेणियों में छाँटा जाता है और घुले कैलुम्बा के नाम से बेचा जाता है (U.S.D., 1947, 203-04).

वाजार में जो भेषज मिलती है वह पीताभ रंग की, अनियमित, दीर्घवृत्तीय अथवा तिरछे कटे हुये जड़ों के टुकड़ों के रूप में होती है। उनका व्यास 10 सेंमी. तक और मोटाई 0.375-1.75 सेंमी. होती है। वे मध्य भाग में दबे हुये और धूमिलभ भूरी, अनुदैर्घ्य झुरीदार छाल से ढके होते हैं। गठित एक-से और चमकदार रंग वाले, कीड़ों से अक्षत खण्ड पसन्द किये जाते हैं। इस भेषज का विभंग चूर्णित, गन्ध हल्की सड़ी और स्वाद बहुत कड़वा होता है। इसमें अक्सर इस पौधे की प्रकन्दों

के कतलों को मिला दिया जाता है। इसमें कासीनियम फेनेस्ट्रेटम कोलम्बिक, सीलोन कैलुम्बा या नकली कैलुम्बा, के तनों के टुकड़ों की मिलावट की जाती है और कभी-कभी वे ही इसके स्थान पर बेचे जाते हैं। मानक विशिष्टताओं के अनुसार इस भेषज में बाहरी जैव पदार्थ, 2%; राख, 9%; और अम्ल अविलेय राख, 2% से अधिक नहीं होने चाहिये; और 60% ऐल्कोहल से निष्कर्षण की मात्रा 12% से कम नहीं मिलनी चाहिये। इस भेषज को सूखे स्थान पर भंडारित किया जाना चाहिये (B.P.C., 1949, 192-93; Trease, 283; U.S.D., 1947, 203)।

इस भेषज की क्रियाशीलता का कारण इसमें ऐल्कलायडी और अम्लऐल्कलायडी कड़वे तत्वों की उपस्थिति बतायी जाती है। इस भेषज में तीन जल-विलेय क्वार्टरनरी ऐल्कलायड, अर्थात् पामैटीन, जैट्रोफाइन और कोलम्बैमीन, जो सब-वरबेरीन से सम्बन्धित हैं, उपस्थित बताये जाते हैं। इनमें से पहले दो अपने आयोडाइडों के रूप में वियुक्त किये गये हैं। पामैटीन आयोडाइड ($C_{21}H_{22}O_4 \cdot NI \cdot 2H_2O$; ग. वि., 241° अपघटन), जैट्रोफाइन आयोडाइड ($C_{20}H_{20}O_4 \cdot NI \cdot H_2O$; ग. वि., $210-12^\circ$) और कोलम्बैमीन, *dl*-टेट्राहाइड्रो-कोलम्बैमीन ($C_{20}H_{23}O_3N$; ग. वि., $223-24^\circ$) के रूप में अलग किया गया है। अगोषित आयोडाइडों की उपलब्धि लगभग 4.3% है जिसमें से 2% पामैटीन आयोडाइड होता है। आयो-मेथिलीकरण द्वारा जैट्रोफाइन आयोडाइड से पामैटीन आयोडाइड मिलता है, और टेट्राहाइड्रो-कोलम्बैमीन के मेथिलीकरण से टेट्राहाइड्रोपामैटीन प्राप्त होता है (Thorpe, II, 235; Henry, 342)।

ये ऐल्कलायड मेडकों में केंद्रीय तंत्रिका प्रणाली को पंगु करते हैं; पामैटीन स्तनियों में भी क्रियाशील है और श्वसन विपाकता में मारफोन से अधिक शक्तिशाली है। कोलम्बैमीन और जैट्रोफाइन आंतों की तान में वृद्धि करते हैं। जब उन्हें शिराओं में दिया जाता है तो ये ऐल्कलायड रक्तचाप को घटाते हैं। पामैटीन सबसे अधिक क्रियाशील है (Henry, 345; U.S.D., 1947, 204)।

इस भेषज में उपस्थित बताये गये अ-ऐल्कलायडी तिक्त तत्व कोलम्बिन [$C_{20}H_{22}O_8$; ग. वि., $192-95^\circ$ (अपघटन)], पामेरिन ($C_{20}H_{22}O_7$; ग. वि., $256-60^\circ$) और चेस्मैन्थिन ($C_{20}H_{22}O_7$; ग. वि., 246°) है। कोलम्बिन, जो कि प्रमुख रचक है, अत्यन्त कड़वा होता है और वमन तथा अतिसार उत्पन्न करता है। यह डाइ-टर्पीनॉयड लैक्टोन है। जिक चूर्ण के साथ आसवन से 1, 2, 5-ट्राइमेथिल-नैफथलीन देता है। कड़वे पदार्थों के अतिरिक्त जड़ में स्टार्च (30%), इलेप्मा, कैल्सियम और पोटैशियम के लवण तथा सिलिका होता है। इसके आसवन से 0.07-1.15% हरिताम वाष्पशील तेल (ब. वि., $165-68^\circ$; वि. घ. 25 , 0.9558; n_D^{25} , 1.4755) मिलता है जिसका एक प्रमुख रचक थाइमॉल है। इस तेल में ताजी सूखी घास की गन्ध आती है। पुरानी जड़ों से कम तेल प्राप्त होता है (Allen, VII, 303; Cava & Soboczenski, J. Amer. chem. Soc., 1956, 78, 5317; U.S.D., 1947, 204; Chem. Abstr., 1932, 26, 1389; 1935, 29, 4366; 1936, 30, 5998)।

कैलुम्बा एक कड़वा टॉनिक और क्षुधावर्धक है। यह विशेषतया दूसरे टॉनिकों, विरेचकों और सुगन्धियों के साथ, अतानी अग्निमांश, जठर-क्षोभ, प्रवाहिका, पेचिश और गर्भावस्था में होने वाले वमन में उपयोगी है। यह आमतौर से फांट या टिचर के रूप में दिया जाता है। इसमें टैनिक या गैलिक अम्ल नहीं होते और यह क्षारों तथा लोहे के लवणों के साथ दिया जा सकता है। कैलुम्बा का चूर्ण घावों की पट्टी के लिए उपयोग किया जाता है (U.S.D., 1947, 204; Bentley

& Trimen, I, 13; B.P.C., 1949, 193; Dymock, Warden & Hooper, I, 48)।

J. calumba Miers; *Cocculus palmatus* DC.; *Coscinium fenestratum* Colebr.

जैट्रोफा लिनियस (यूफोर्बिएसी) JATROPHA Linn.

ले. — जाट्रोफा

यह वृष्टियों, झाड़ियों और वृक्षों का बड़ा वंश है जो संसार के उष्ण और उपोष्ण भागों में, मुख्य रूप से अफ्रीका और अमेरिका में पाया जाता है। भारत में लगभग 9 जातियों के मिलने का उल्लेख है जिनमें से कुछ वगीचों में अपने सजावटी पत्तों और फूलों के लिए लगायी जाती हैं।

Euphorbiaceae

जै. कर्कस लिनियस J. curcas Linn. फिजिक नट, पर्जिय नट

ले. — जा. कुरकास

D.E.P., IV, 545; C.P., 699; Fl. Br. Ind., V, 383; Kirt. & Basu, Pl. 867B.

सं. — कानन एरंड, पर्वतारंड; हि. — वागभेरण्ड, जंगली अरंडी, सफेद अरंड; वं. — वाग भेरण्ड, एरंडगाछ; म. — मोगली एरंड, रनएरंडी; गु. — जमालगोटा, रतनजोत; ते. — नेपाड़ुमु, पेड़ नेपाड़ुमु, अडवियामि-दमु; त. — कडलअमणकु, कटआमणकु; क. — दोड़ा हराडु, वेट्टाहराडु, माराहाराडु, कनोच्चो, काडुहाराडु; मल. — काटावणकु, कडलआवणकु.

उड़ीसा — जहाजीगावा; असम — बोंगाली-भोटोरा; गारो पहाड़ियाँ — बोरवनडोंग.

यह 3-4 मी. ऊँची विशाल झाड़ी है जिसका मूल स्थान उष्ण-कटिबंधीय अमेरिका है। यह लगभग समस्त भारत और अंडमान द्वीपों में होती है। इसकी पत्तियाँ एकान्तर, 10-15 सेंमी. \times 7.5-12.5 सेंमी., चौड़ी अंडाकार, हृदयाकार, लम्बाग्र, साधारणतया हस्ताकार, 3 या 5 पालियों युक्त, अरोमिल; फूल ससीमाओं के ढीले पुष्प गुच्छों में, पीताभ हरे, लगभग 7 मिमी. चौड़े; फल लगभग 2.5 सेंमी. लम्बे, अंडाभ, काले, तीन 2-कपाटित गोलाणुओं में टूटने वाले; बीज अण्डाभ-आयताकार, मन्द भूराभ काले होते हैं।

कहा जाता है कि यह पौधा पुर्तगालियों ने एक तेलदायी पौधे के रूप में एशिया और अफ्रीका में प्रविष्ट किया था। यह कैप वर्ड द्वीपों में कुछ मात्रा में तेल बीज फसल के रूप में बोया जाता है। इससे प्रति हेक्टर 350-1,000 किग्रा. बीजों की उपलब्धि बताई गई है। मेडागास्कर और फ्रांसीसी पश्चिम अफ्रीका के भागों में, जहाँ यह वैनिला के पौधों के सहारे के लिए उगाया जाता है, इसके बीज एकत्रित किये जाते हैं और तेल निकालने के लिए फाँस भेज दिये जाते हैं (Burkill, II, 1268; Juillet et al., 354)।

जै. कर्कस भारत में गाँवों के पड़ोस में अर्ध जंगली अवस्था में पाया जाता है। यह बीजों या कलमों से सरलता से प्रवर्धित किया जा सकता है। यह तेजी से बढ़ता है, मौसम की सूखी परिस्थितियों को सह लेता है और इसे वकरियाँ तथा अन्य पशु नहीं चरते। यह किसी भी ऊँचाई पर काटा या छाँटा जा सकता है, और इसकी बाड़ें अच्छी बनती हैं। यह गर्मी और बरसात के मौसम में फूलता है। सर्दियों के दिनों में, जब यह पत्तियों से हीन होता है इसमें फल आते हैं [Burkill, II,

1268; Sampson, *Kew Bull. Addl Ser.*, XII, 1936, 100; Nicholls & Holland, 580; *Farmer*, 1955, 6 (12), 8; Benthall, 373].

इसके बीज आकृति में अण्ड के बीज से मिलते हैं, पर आकार में छोटे (भार, 0.5-0.7 ग्रा.; लम्बाई, 1-2 सेंमी.) और गहरे भूरे होते हैं। बीजों के विश्लेषण से निम्नलिखित मान प्राप्त हुए हैं: आर्द्रता, 6.62; प्रोटीन, 18.2; वसा, 38.0; कार्बोहाइड्रेट, 17.98; तन्तु, 15.50; और राख, 4.50%; स्टार्च, सुक्रोस, डेक्सट्रोस, ग्लूटेन, एक मुक्त अम्ल और एक सक्रिय लाइपेस भी पाये गये हैं (Williams, K. A., 336; U.S.D., 1955, 1593; *Chem. Abstr.*, 1953, 47, 10174; Wehmer, II, 688).

बीजों में विपैला और विरेचक गुण होता है, पर वे शायद ही कभी विरेचन के लिए उपयोग किये जाते हैं। तीन से पाँच तक हल्के भुने और छिले हुये बीज सफल विरेचन के लिए काफ़ी होते हैं। उनसे मतली और वमन भी शायद ही कभी उत्पन्न हों पर वे उदर में जलन उत्पन्न करते हैं। उनमें दो विपैले पदार्थ, कर्सीन या कर्कसिन और एक रेज़िनी पदार्थ (सम्भवतया रेज़िनोलीपायड) होते हैं। कर्सीन एक टाक्सैल्बुमिन है जो रिसीन से मिलता-जुलता है, और रेज़िनी पदार्थ जिसकी क्रिया मतलीकारी और विरेचक होती है। इलेक्ट्रान सूक्ष्मदर्शी द्वारा किये गये अध्ययनों से जान पड़ता है कि कर्सीन में दो रचक होते हैं। ब्राजील में इसके बीज कृमिनाशी समझे जाते हैं, गैबोन में वे ताड़ के तेल के साथ पीस कर चूहों के विष के रूप में उपयोग किये जाते हैं। तिरुवांकुर में बीजों को तल कर बनाया हुआ चूर्ण शीरे के साथ उदर की पीड़ा में और विषों के निराकरण के लिए दिया जाता है (U.S.D., 1955, 1593; Tschirch & Stock, II, 1774; Tumminkati *et al.*, *J. Univ. Bombay*, 1945, 14A, 34; *Chem. Abstr.*, 1957, 51, 16632; Caius, *J. Bombay nat. Hist. Soc.*, 1938-39, 40, 294; Dalziel, 148; Rama Rao, 364).

गिरियाँ बीज के भार की 60-80% तक होती हैं और वे अपने भार का 46-58% तेल देती हैं। यह तेल बीज के भार का 30-40% होता है। ताजा तेल लगभग रंगहीन और गंधहीन होता है किन्तु रखा रहने पर इसका रंग हल्का पीला या पीताम भूरा हो जाता है और उसमें से अरुचिकर गन्ध आने लगती है। तेल छिलेकरहित बीजों से पेर कर अथवा विलायक निष्कर्षण द्वारा निकाला जाता है और बाजार में कर्कस के तेल के नाम से मिलता है। इसके स्थिरांकों की सीमा निम्नलिखित है: वि. घ. d_{4}^{25} , 0.918-0.923; n_D^{20} , 1.462-1.465; अम्ल मान, 1-20; साबु. मान, 188-196; आयो. मान, 93-107; हाइड्रॉक्सिल मान, 4-20, आर. एम. मान, 0.2-1.1; पोलेन्सके मान, 0.4-0.9; η^{20} , 7.1 सेण्टीपायज़; और असावनीय पदार्थ, 0.4-1.1%। तेल के वसा-अम्लों का संघटन निम्नलिखित है: मिरिस्टिक, 0-0.5; पामिटिक, 12-17; स्टीरैरिक, 5-6; ऐराकिडिक, 0-0.3; ओलीक, 37-63; और लिनोलीक, 19-40%। यालाबार में उत्पन्न बीजों से निष्कर्षित तेल के मान निम्नलिखित पाये गये हैं: वि. घ. d_{4}^{20} , 0.9849; n_D , 1.4669; अम्ल मान, 26.27; साबु. मान, 196.1; आयो. मान, 90.84; और असावनीय पदार्थ, 0.2%। इसमें वसा-अम्लों का संघटन निम्नलिखित है: मिरिस्टिक, 1.37; पामिटिक, 15.61; स्टीरैरिक, 9.69; ऐराकिडिक, 0.35; ओलीक, 40.9; और लिनोलीक, 32.08% (Thorpe, III, 460; Eckey, 583; Kartha & Menon, *Proc. Indian Acad. Sci.*, 1943, 18A, 160).

कर्कस तेल (विरेचक मात्रा, 0.3-0.6 घसंमी. या 5-10 मिनिम) अण्ड के तेल से इस बात में भिन्न है कि इसकी श्यानता अल्प होती है। यह ऐल्कोहल में तनिक-सा विलेय, पर हल्के पेट्रोलियम में मुक्त रूप से मिश्र्य और प्रकाशपूर्णन के लिए निष्क्रिय होता है। इसका विपैला पदार्थ ऐल्कोहल विलेय अंश में उपस्थित जान पड़ता है। यह अंश सावनीकरण पर वसा-अम्ल, एक फाइटोस्टेरोल और एक रेज़िन देता है। इन्हें जब अलग से परखा जाता है तो इनमें कोई विपैलापन नहीं पाया जाता (U.S.D., 1955, 1593; Thorpe, III, 460; Tschirch & Stock, II, 1773).

यह तेल कम सूखने वाला है और न सूखने अथवा अर्ध-सूखने वाले ऐल्किडों के तैयार करने के लिए उपयोग किया जा सकता है। चीन में इस तेल को लोह आक्साइड के साथ उबाल कर एक वानिश तैयार की जाती है। यह तेल जलाने के काम में लाया जाता है। जलते समय इसमें से धुआँ नहीं निकलता। यह मशीनों में देने के लिए स्नेहक के रूप में इस्तेमाल किया जा सकता है और इससे साबुन तथा मोमवत्तियाँ बनायी जा सकती हैं। यह इंग्लैंड में ऊन कातने में उपयोग किया जाता है। कहा गया है कि सेनेगल में मृंगफली के तेल में मिलावट के लिए इसे डाला जाता है। यह त्वचा रोगों और गठिया में लगाने के लिए प्रयुक्त होता है। यह गर्भनाशक है तथा जल शोफ, शियाटिका और पक्षाघात में लाभकारी बताया जाता है। जावा में यह वालों को बढ़ाने के लिए लगाया जाता है। पालतू पशुओं के घावों की चिकित्सा में भी उपयोगी है (Chatfield, 87; Burkill, II, 1269; Dalziel, 147; Quisumbing, 516; Caius, loc. cit.).

इस बीज की खाल में विपैले पदार्थ होते हैं और वह पशुओं को खिलाने के योग्य नहीं होती। इसमें नाइट्रोजन और फॉस्फोरस प्रचुर मात्रा में (N, 3.2; P₂O₅, 1.4; K₂O, 1.2%) होते हैं और यह खाद की भाँति प्रयुक्त की जा सकती है। इस खली का प्रोटीन प्लास्टिक और संश्लेषित तन्तुओं के निर्माण के लिए कच्चे माल के तौर पर इस्तेमाल किया जा सकता है (Eckey, 584; *Bull. imp. Inst.*, Lond., 1921, 19, 288; Vyas & Desai, *J. Indian chem. Soc. industr. Edn.*, 1952, 15, 68).

इस पीछे के समस्त भागों से एक चिपचिपा, दूधिया, तीखा और कपैला क्षीर निकलता है, जिसमें रेज़िनी पदार्थ (क्षीर के स्कंद में 14.6%) होते हैं, पर रवड़ नहीं होता। यह क्षीर सूख कर चपड़े के समान एक चमकदार रक्ताभ भूरा, भंगुर पदार्थ देता है। यह कपड़े पर न छूटने वाले घब्बे छोड़ता है और उन्हें चिन्हित करने के लिए इसे स्याही की तरह काम में ला सकते हैं। इसकी छाल में टैनिन (सूखे आधार पर, 37%) होता है। इसमें मोम, रेज़िन, सैपोनिन, अपचायक शर्करायें और एक वाष्पशील तेल के रंच पाये जाते हैं। इसका मोम मेलिसिल ऐल्कोहल और मेलिसिल मेलिसेट का मिश्रण होता है। इसकी छाल से एक गहरा नीला रंग मिलता है, जो फिलीपीन्स में कपड़े, मछली जालों और डोरियों को रंगने में उपयोगी बताया जाता है। इसकी पत्तियों और कोमल टहनियों से एक रंजक निकाला जा सकता है, जिसे सान्द्रित करने से एक पीला गाढ़ा तरल तथा सुखाने से एक श्यामल भूरा पिंड मिलता है। इस रंजक से सूती वस्त्रों पर विभिन्न गहराइयों के कतई और भूरे रंग चढ़ते हैं जो काफ़ी पक्के होते हैं। (Webb, *Bull. Coun. sci. industr. Res. Aust.*, No. 232, 1948, 56; Budhiraja & Beri, *Indian For. Leaf.*, No. 70, 1944, 11; Dalziel, 147; Howes, 1953, 280; Quisumbing, 513; Villadolid & Sulit, *Philipp. Agric.*, 1932-33, 21, 33; Alde *et al.*, *Philipp. J. Sci.*, 1947, 77, 55).

इस पौधे की मुलायम टहनियाँ दातून के तौर पर उपयोग की जाती हैं. कहा जाता है कि इसके रस से दाँतो की पीड़ा में लाभ पहुँचता है और मसूड़े मजबूत होते हैं. छोटी टहनियाँ और पत्तियाँ नारियल के वृक्षों के लिए खाद के रूप में उपयोग की जाती हैं. उल्लेख है कि जावा और मलाया में मुलायम पत्तियाँ पकाकर खायी जाती हैं. असम में पत्तियाँ एरी रेगम के कीड़ों को खिलाने के काम में लायी जाती हैं (Burkill, II, 1270).

जावा में इस पौधे का रस विरेचक और रक्तस्तम्भक के रूप में उपयोग किया जाता है. फिलीपीन्स में यह मछलियों को मूर्च्छित करने के लिए काम में लाया जाता है. इसकी पत्तियाँ रक्तिमाकर और स्तम्बवर्धक समझी जाती हैं. उनमें कीटनाशी गुण भी बताये जाते हैं. घाना में पत्तियाँ खटमलों को मारने और घरे को धुआँन के काम में लायी जाती हैं. पत्तियों का रस अर्श पर लगाया जाता है. शिशुओं में यह उनकी जीभ की सूजन पर लगाया जाता है. टहनियों का रस रक्तस्तम्भक समझा जाता है और घावों तथा फोड़ों पर लगाया जाता है. वेजिल वैजोएट के साथ इस रस का पायस स्केवी, गीले एक्जिमा और त्वचा-शोथ में लाभकारी कहा गया है. पत्तियों और जड़ों का क्वाथ प्रवाहिका में दिया जाता है. इसकी जड़ों में तीव्र कृमिनाशी गुण वाला एक पीला तेल बताया जाता है. जड़ की छाल घावों पर लगायी जाती है. कोंकण में छाल को हींग और छाछ के साथ रगड़ कर मन्दाग्नि और प्रवाहिका में दिया जाता है. छाल का क्वाथ गठिया और कुष्ठ में उपयोग किया जाता है (Chem. Abstr., 1941, 35, 6854; Burkill, II, 1269-70; Kirt. & Basu, III, 2245; Caius, loc. cit.; Rama Rao, 364; Brown, 1941, II, 1270; Neal, 449; Dalziel, 147-48; Fox, Philipp. J. Sci., 1952, 81, 210; Quisumbing, 515; Vyas & Desai, loc. cit.; Chem. Abstr., 1930, 24, 684).

जै. गासिपिफोलिया लिनियस *J. gossypifolia* Linn.

ले. - जा. गोस्सिपिफोलिया

Fl. Br. Ind., V, 383; Bor & Raizada, 175.

हि. - भरेन्दा, वेरेण्डा; व. - लाल भरेन्दा; ते. - नेलाग्रभीड़ा; त. - अडलई; क. - चिक्काडुहरडु.

असम - भोटोरा.

यह एक यथी झाड़ी है जो 0.9-1.8 मी ऊँची होती है. इसका मूल स्थान ब्राजील है पर यह लगभग सम्पूर्ण भारत में प्रकृत हो गई है. इसकी पत्तियाँ हस्ताकार, 3-5 पालियों वाली, लगभग 20 सेमी. लम्बी और इतनी ही चौड़ी, आरम्भ में भूरी, चमकीली, बाद में हरी होने वाली; पत्तियों की कोर, वृन्त और पत्तियों का पटल ग्रन्थिल रोमों से आच्छादित; फूल गहरे लाल, किरमिजी या नील-लोहित, ग्रन्थिल समशिखी ससीमाक्षों पर; फल सम्पुटिकाये, लगभग 9 मिमी. लम्बी, 3-पालित दोनों सिरो पर रुद्धित; और बीज भूराभ लाल बीजचोल युक्त होते हैं.

जै. गासिपिफोलिया सजावट के लिए बगीचों में लगाया जाता है. यह वेकार क्षेत्रों में पलायित यथी पाया जाता है. यह पौधा बीजों से सरलता से लग जाता है और वर्षा ऋतु में फूलता और फलता है (Talbot, II, 468; Fl. Madras, 1340; Haines, II, 101; Bor & Raizada, 176).

इस पौधे के तने की सूखी छाल में एक अत्यंत कड़वा, अक्रिस्टलीय ऐल्कलायड, जैट्रोफीन ($C_{14}H_{20}O_6N$; उपलब्धि, 0.4%) होता है,



चित्र 59 - जैट्रोफा गासिपिफोलिया - पुष्पित शाखा

जो गुणों में क्विनीन के समान है. गिनीपिणों को जब यह अघस्त्वचीय दिया जाता है तो इसकी विपैली मात्रा गरीर भार पर 0.2 ग्र/किग्रा. होती है. इस छाल में रेजिन, ग्राइसो-फाइटो-स्टेरॉल (0.35%) और टैनिन भी होते हैं. डमका क्षीर (कुल ठोस, 13.38%) विपैला होता है और उसमें 2.5% ऐल्कोहल-विलेय पदार्थ होता है (Villalba, J. Soc. chem. Ind., Lond., 1927, 46, 396T; Wehmer, II, 689; Viswa Nath, J. sci. industr. Res., 1942-43, 1, 374; Webb, Bull. Coun. sci. industr. Res. Aust., No. 232, 1948, 56).

इसके प्ररोहों का ईथर निष्कर्ष स्टैफिलोकोकस औरियस और ऐशेरिशिया कोलाई पर जीवाणुनाशी क्रिया दर्शाता है. इस पौधे के जलीय निष्कर्ष में कीटनाशी गुण होते हैं. कोमल पत्तियों में सायनिडिन का एक पेटोस ग्लाइकोसाइड पाया गया है (Joshi & Magar, J. sci. industr. Res., 1952, 11B, 261; Chem. Abstr., 1950, 44, 783; Ponniah & Seshadri, J. sci. industr. Res., 1953, 12B, 608).

वेनेजुएला में इसकी जड़ें कुष्ठ में उपयोग की जाती हैं और सर्पदंश के प्रतिविष के रूप में भी लाभकारी बतायी जाती हैं. मुडा लोग इस पौधे को मन्त्र विकारों में उपयोग करते हैं. डमकी छाल का क्वाथ आर्तवजनक है और पत्तियों का क्वाथ पेट के दर्द, रति रोगों, और रक्त शोषण के लिए दिया जाता है. इसकी पत्तियाँ भी कार्बकल, छाजन और खूजली पर लगायी जाती हैं. पत्तियों का रस गिर्युओं की जीमों के व्रणों पर और ताजा पत्तियों की पुल्टिस सूजी हुई छातियों पर लगाई जाती है. एन्टाइल्स में वे सविरामी ज्वरों में ज्वरनाशी की भाँति उपयोग की जाती हैं. डमका क्षीर व्रणों पर लगाया जाता है. इसके बीज कवूतरो और मुँगियों द्वारा खाये जाते हैं. बीजों का तेल दीपकों में जलाया जाता है और कुष्ठ की चिकित्सा में उपयोग किया जाता है (Quisumbing, 517; Bor & Raizada, 176; Bressers, 19; Kirt. & Basu, III, 2247; Dalziel, 148; Burkill, II, 1271).

जै. ग्लैंडुलिफेरा राँक्सवर्ग *J. glandulifera* Roxb.

ले. — जा. ग्लान्डुलिफेरा

D.E.P., IV, 548; C.P., 700; Fl. Br. Ind., V, 382; Kirt. & Basu, Pl. 866A.

हि. — जंगली एरंडी, अन्दर बीवी; म. — जंगली एरंडी; ते. — दंदिगपु; त. — अडलाई, एलीआमडकु, पुलिआमडकु; क. — टोटली-गिड़ा, सीमेहरडु; मल. — अडला, नाकदन्ती.

यह चिरहरित झाड़ी है जिसकी शाखायें दृढ़ और छाल चिकनी कागज के समान होती है। यह दक्षिणी पठार और कर्नाटक की काली कपासी भूमियों में कृष्णा नदी से दक्षिण की ओर, विशेषतया समुद्र तट के निकट, पायी जाती है। इसकी पत्तियाँ सरल, चिकनी, 6.3–12.5 सेंमी. लम्बी और इतनी ही चौड़ी, हस्ताकार, आधी से नीचे 3–5 पालियों से युक्त; पालियाँ अधोमुख अण्डाभ या दीर्घवृत्तीय लम्बाग्र, कोर दन्तुर; फूल हरिताम पीले, ग्रन्थियुक्त समशिकी ससीमाक्षों पर; फल सम्पुटिकायें 1.3 सेंमी. तक लम्बी दीर्घवृत्ताभ-आयताकार, हल्की 3-पालित, और बीज दीर्घवृत्ताभ-आयताकार, लगभग 8 मिमी. लम्बे, चिकने, चमकदार और काले होते हैं।

यह पौधा केवल कुछ क्षेत्रों में ही पाया जाता है। अक्सर जै. गालि-पिफोलिया को जो अधिक व्यापक रूप से मिलता है, भ्रमवश जै. ग्लैंडुलिफेरा समझ लिया जाता है। यह गालिपिफोलिया से इस बात में भिन्न है कि इसकी दाँतेदार पत्तियों के ग्रन्थियुक्त अनुपुर्ण लम्बी शाखाओं वाले किनारों पर ग्रन्थियुक्त और फूल हरिताम पीले होते हैं (Tadulingam & Venkatanarayana, 304; Cooke, II, 597).

बीजों में एक अवाष्पशील तेल (20–22%), टैनिन, ग्लूकोस, पॉलिसैक्कराइड और एक रेजिनी पदार्थ होते हैं। इस तेल का रंग भूराभ पीला होता है और इसके स्थिरांक निम्नलिखित हैं: वि. घ. 29° , 0.9066; n_D^{30} , 1.477; सांद्र. मान, 195.2; ऐसीटिल मान, 16.8; आयो. मान (विज), 117.8; अम्ल मान (ओलीक अम्ल), 5.6; आर. एम. मान, 1.65; पोलेन्स्के मान, 0.88; और असावुनीय पदार्थ, 1.75%। असावुनीय अंश में साइटोस्टेरॉल होता है। उपस्थित वसा-अम्ल निम्नलिखित हैं: मिरिस्टिक, 2.34; पामिटिक, 14.5; स्टीऐरिक, 5.97; ओलीक, 34.19; और लिनोलीक, 43.0% (Alimchandani et al., *J. Indian chem. Soc.*, 1949, 26, 523; Sheth & Desai, *ibid.*, 1954, 31, 407).

इस तेल में विरेचक गुण होते हैं पर यह विरेचन के लिए बहुत कम प्रयुक्त किया जाता है। यह गठिया और पक्षाघाती रोगों पर लगाया जाता है। एरंड या नारियल के तेल के साथ मिलाकर इससे ठण्डी विधि द्वारा साबुन बनाया जा सकता है। तेल के इस मिश्रण से जो साबुन मिलता है वह अच्छा झाग देता है। इसकी खली से निष्कर्षित प्रोटीन प्लास्टिकों और संश्लेषित रेशों के निर्माण के लिए उपयोग की जा सकती है (Sheth & Desai, *J. Indian chem. Soc. industr. Edn*, 1954, 17, 197).

इसकी छाल में ग्लूकोस, मिरिसिल ऐल्कोहल और एक तेल होता है। तेल में मिरिस्टिक, स्टीऐरिक और कदाचित् पेट्रोसेलेनिक अम्ल होते हैं। एक क्रिस्टलीय पदार्थ (ग. वि., $83-86^\circ$) वियुक्त किया गया है। छाल के ताजा रस के जलीय निष्कर्षण से पायस और जेली बनाई जा सकती है। वेंजिल वेंजोएट के साथ तैयार की हुई जेली त्वचा रोगों पर लगाने के लिए इस्तेमाल की जाती है। जड़ को पानी के साथ कूट कर बच्चों की उदरवृद्धि में देते हैं। इससे विरेचन होता है और ग्रन्थियों की सूजन घटती है (Sheth & Desai, *Sci. & Cult.*,

1954–55, 20, 243; *J. Indian chem. Soc. industr. Edn*, 1954, 17, 197).

जै. नैना डाल्जेल और गिब्सन *J. nana* Dalz. & Gibs.

ले. — जा. नाना

D.E.P., IV, 549; Fl. Br. Ind., V, 382; Kirt. & Basu, Pl. 867A.

म. — किरकुंडी.

यह 30–45 सेंमी. ऊँची, अल्प-शाखित झाड़ी है जो पूना और बम्बई के निकट पथरीली और बेकार भूमियों में पायी जाती है। यह डेकन में ही सीमित जान पड़ती है। इसकी पत्तियाँ अछिन्नकोर अथवा 3-पालित, 7.5–12.5 सेंमी. लम्बी और लगभग इतनी ही चौड़ी; फूल वृत्तीय, अल्प पुष्पित अन्तस्थ पुष्पगुच्छी ससीमाक्षों पर; सम्पुटिकाएँ लगभग 1 सेंमी. लम्बी, अधोमुख अण्डाभ-आयताकार, 3-पालित, सिरों पर चपटी होती हैं। यह पौधा मई से जुलाई तक फूलता है। इस पौधे का रस नेत्रामिष्यन्ध में प्रतिक्षोभक की भाँति उपयोग किया जाता है।

जै. पेण्डुरेफोलिया ऐण्डर्सन (फिडिल-लीव्ड जैट्रोफा) और जै. पोडेग्रिका हुकर (ग्वाटेमाला ह्वार्ग, गाउटी-स्टेम्ड जैट्रोफा) दोनों का मूल स्थान अमेरिका है। वे सजावट के लिए भारतीय बागों में व्यापक रूप से लगाए जाते हैं। उनके बीज बोए जाते हैं (Bor & Raizada, 173–75; Firminger, 375; Gopalaswamiengar, 276).

J. panduraefolia Andr.; *J. podagrica* Hook.

जै. मल्टीफिडा लिनियस *J. multifida* Linn. कोरल प्लांट

ले. — जै. मुल्टीफिडा

Fl. Br. Ind., V, 383.

सं. — भद्रदंती, बृहद्वन्ती, ज्योतिष्क, विरेचनी; म. — चिनी एरंडी; त. — काटु नेरबेलम, मलैआमडकु; क. — विलायती हरडु.

यह एक बड़ी झाड़ी या लघु वृक्ष है जो 2–3 मी. ऊँचा होता है और भारत के विभिन्न भागों में प्रकृत हो गया है। इसकी पत्तियाँ लम्बवृत्तीय, व्यास में 7.5–12.5 सेंमी., हस्ताकार, 5–11 पालियों में विभाजित; पालियाँ भालाकार निशिताग्र या दीर्घवृत्तीय निशिताग्र; फूल प्रवाल-जैसे लाल, बहुपुष्पित, लम्बे पुष्प वृन्ती, समतल शिखी, अन्तस्थ ससीमाक्षों पर; सम्पुटिकायें 3-पालित, लगभग 2.5 सेंमी. लम्बी अधोमुख अण्डाकार, चिकनी, पीताभ होती हैं।

इस पौधे का मूल स्थान दक्षिण अमेरिका है और यह अपनी सजावटी पत्तियों और फूलों के लिए व्यापक रूप से उगाया जाता है। यह बीजों और कलमों से सरलता से प्रवर्धित होता है। फूल और फल मुख्यतया वर्षा ऋतु में आते हैं (Bor & Raizada, 177; Gopalaswamiengar, 276).

यह पौधा जावा और फिलिपीन्स में बाड़ों में उगाया जाता है। इसके प्रकन्द भून कर खाये जाते हैं। इण्डो-चाइना में इसकी सुखी जड़ों का क्वाथ अपच और उदरशूल में, तथा टानिक के रूप में भी दिया जाता है। इसका फल विपैला होता है और वमन तथा पेट में अत्यंत जलन-युक्त पीड़ा उत्पन्न करता है। इसके विष में चीवू का रस और उद्दीपक पदार्थ निराकरण के लिए दिये जाते हैं। इसके बीजों में जै. ककंस के बीजों के समान गुण होते हैं, और ईयर में विलेय एक कड़वा तत्व



चित्र 60 — जैट्रोफा मल्टीफिडा — पुष्पित शाखा

(लगभग 1%) होता है। उनमें एक अवाष्पशील तेल (लगभग 30%) होता है, जो जलाने के काम में लाया जाता है। मैक्सिको में पत्तियों का साग बनाया जाता है। कोस्टारिका में कोमल पत्तियाँ खायी जाती हैं। इसकी पत्तियाँ स्केबीज के लिए और विरेचक की भाँति इस्तेमाल की जाती हैं। इसका क्षीर धारों और फोड़ों पर लगाया जाता है। फिलीपीन्स में पूरा पौधा मत्स्य विष के रूप में इस्तेमाल किया जाता है (Burkill, II, 1271; Nadkarni, I, 708; Modi, 561; Quisumbing, 518; Dalziel, 148; Brown, 1941, II, 316; Bor & Raizada, 177; Kirt. & Basu, III, 2243)।

इस पौधे की पत्तियों में एक सैपोनिन, एक रेजिन और टैनिन होता है। प्ररोहों के लवणीय और ईथरीय निष्कर्ष ऐशेरिशिया कोलाई पर जीवाणुनाशी क्रिया दर्शाते हैं। इसके तने के क्षीर में एक पीताम्ब हरा वाष्पशील तेल (लगभग 0.3%; वि. घ. 20°, 0.8885) प्राप्त होता है। इसकी गन्ध प्याज के समान और स्वाद पहले शीतल और फिर मतलीकारी होता है। इसके प्रमुख रचक सेक्वीटर्पीन, एक मुक्त अम्ल (एंजेलिक अम्ल) और कदाचित् वेंजिल मस्टर्ड तेल होते हैं। इस तेल में कुष्ठ अर्बुदों को विनष्ट करने का गुण होता है (Wehmer, II, 687; Joshi & Magar, J. sci. industr. Res., 1952, 11B, 261; Chem. Abstr., 1935, 29, 7016)।

Escherichia coli

जंपुराइड — देखिए कोबाल्ट

जैरोस — देखिए लैथिरस

जैलप — देखिए एक्सोगोनियम

जैसमिनम लिनियस (ओलिवेसी) JASMINUM Linn.

ले. — जासमिनूम

यह आरोही, अनुगामी या खड़ी झाड़ियों का एक विशाल वंश है जो संसार के उष्णतर भागों में दूर-दूर तक फैला हुआ है। इस वंश का विस्तार उष्णकटिबंधीय प्रदेशों में है परन्तु इसकी बहुसंख्यक उपजातियाँ हिमालय चीन और मलेशिया के क्षेत्रों में केन्द्रित हैं। लगभग 40 उपजातियाँ भारतवर्ष में मिलती हैं जिनमें से कई की खेती उनकी सुन्दर पर्णवली और सुगंधित फूलों के लिए और कुछ की प्रमुख रूप से चमेली का तेल निकालने के लिए की जाती है।

भारतवर्ष में प्राप्त अधिकांश उपजातियाँ एक-दूसरे से बहुत कम भिन्नता रखती हैं। वे या तो कुछ जातियों की किस्में या उनके कृष्ट रूप प्रतीत होती हैं। उनमें से अनेक उद्यान विज्ञान के अनुसार वरण की गई जातियाँ हैं जिनका वर्गीकरण उनके फूलों के आकार और सुगंध के आधार पर किया गया है और उन्हें विशेष या जातिगत नाम भी प्रदान किये गये हैं। इनका कायिक प्रवर्धन किया जाता है। चीनी जैसमिन के सम्बन्ध में कोबस्की के कथनानुसार, चीनी चमेली के किसी विशेष रूप की ठीक पहचान करने के लिए भारतीय जातियों का आलोचनात्मक अध्ययन आवश्यक प्रतीत होता है (Kobuski, J. Arnold Arbor., 1932, 13, 145; 1930, 20, 403)।

जैसमिन पर्याप्त सहिष्णु, अनावृष्टि प्रतिरोधी पौधे हैं जो उष्ण और शीतोष्ण दोनों ही स्थितियों में भली प्रकार बढ़ते हैं। इनमें से कुछ यूरोप की मृदुलतर जलवायु में प्रविष्ट किये गये हैं और वे 10° तक का निम्न ताप भी सहन कर सकते हैं। भारत में वे लगभग सम्पूर्ण देश में, मैदानों तथा 3,000 मी. की ऊँचाई तक पर्वतीय क्षेत्रों में उगाये जाते हैं। वे किसी भी भूमि में उत्पन्न होते हैं, परन्तु सिंचाई की सुविधा प्राप्त बलुई चिकनी मिट्टी या शुष्क बलुई मिट्टी में वे अच्छे पनपते हैं। चिकनी मिट्टी में प्रचुर वानस्पतिक वृद्धि होती है परन्तु फूल कम आते हैं जबकि कंकरीली मिट्टी में पौधे की वृद्धि रुक जाती है। जैसमिन के फूलों और कलियों की काफ़ी माँग है जिसके कारण ये पौधे छोटे-छोटे खेतों, नगर और कस्बों की बाह्य सीमाओं पर चारों ओर उगाये जाते हैं। ये उद्यानों, वाटिकाओं और घर-आँगन में भी उगाये जाते हैं (Bor & Raizada, 217; Dhingra, 25; Ratnam, Madras agric. J., 1937, 25, 15; Bull. imp. Inst., Lond., 1947, 45, 17; Gupta & Chandra, Econ. Bot., 1957, 11, 178)।

ये पौधे कलम, दावकलम या अंतःभूस्तारियों द्वारा प्रवर्धित किये जाते हैं। इन पौधों की अनेक उपजातियाँ और किस्में जमीन पर फैलने वाली होती हैं इसलिए इन पौधों को पाड़, कुंज या समीपवर्ती वृक्ष के सहारे की आवश्यकता होती है। सुगंधित पुष्पों की केवल तीन या चार जातियाँ ही ताजे पुष्पों या इत्र निष्कर्षण के स्रोत के रूप में व्यापारिक दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। ये जातियाँ जै. ऑरिकुलेटम, जै. फ्लेक्साइल और जै. ऑफिसिनेल (जिसमें ग्रैंडिफ्लोरम रूप भी सम्मिलित है) और जै. सम्बक हैं।

जैसमिन के संवर्धन की कृषिगत विधियाँ जलवायु की स्थितियों और भूमि के प्रकार के अनुसार परिवर्तित होती रहती हैं। ये पौधे

साधारणतया भली प्रकार तैयार क्यारियों या गड्डों में 1.2-2.7 मी. की दूरी पर लगाये जाते हैं, इनमें गोबर या बाड़े की खाद दी जाती है। साधारणतया कृत्रिम खादों का उपयोग नहीं होता, यद्यपि फ्रांस और अन्य पाश्चात्य देशों में सिंचाई के पानी के साथ अमोनियम सल्फेट की अल्प मात्रा मिलाई जाती है। पौधों के भली प्रकार विकसित हो जाने पर, उनके प्रति अधिक ध्यान देने की आवश्यकता नहीं होती। ग्रीष्म के प्रारम्भ में अत्यधिक पुष्पन को प्रेरित करने के लिए और पौधों को बढ़कर भद्दी भाड़ियों का रूप धारण करने से रोकने के लिए इनकी काट-छांट की जाती है। पुष्पन के मध्यान्तर में मिट्टी को गोड़ कर जड़ों को खोल दिया जाता है, प्ररोहों की काट-छांट कर दी जाती है, खाद डाली जाती है और सिंचाई कर दी जाती है जिससे प्रसुप्त कलियाँ तेजी से निकल आयें (Dbingra et al., *Indian Soap J.*, 1950-51, 16, 235; *Perfum. essent. Oil Rec.*, 1953, 44, 11; Gupta et al., *ibid.*, 1951, 42, 369; Ratnam, *loc. cit.*).

भारतवर्ष में फूलों का संचय तभी किया जाता है जब कलियाँ पूर्ण विकसित परन्तु असंपुटित होती हैं। इनको सूर्यास्त के पहले संख्या समय एकत्र कर लिया जाता है और ठंडे स्थान में रखा जाता है। ये प्रातः होने तक विकसित हो जाती हैं। इत्र निकालने के लिए फूलों का संचय सूर्योदय या उसके कुछ पूर्व कर लिया जाता है। पुष्पन ग्रीष्म-काल के प्रारम्भ से ही प्रारम्भ हो जाता है और अक्तूबर या नवम्बर तक चलता है। पुष्पन काल के बीच भलीभाँति फूलन की एक छोटी कालावधि होती है जो लगभग एक सप्ताह की होती है।

पुष्पों के अधिकांश भाग का उपयोग फूल-मालाओं, हारों और पुष्पगुच्छ बनाने तथा धार्मिक अर्चनाओं में होता है। इनकी अल्प मात्रा, विशेषतया उत्तर प्रदेश में, सुगंधित केश तेल और इत्रों के उत्पादन में प्रयोग में लायी जाती है। यूरोप और भूमध्यसागरीय प्रदेशों में जैसमिन (जै. ऑफिसिनेले के ग्रेडिफ्लोरम रूप के) फूलों की अधिकांश मात्रा का उपयोग जैसमिन तेल के व्यापारिक निर्माण में होता है। जैसमिन फूलों की सुगन्ध अद्भुत होती है क्योंकि ऐसी सुगन्ध का कोई भी संश्लिष्ट सौरभिक रसायन अथवा प्राकृतिक पदार्थ से पृथक्कृत कोई यौगिक ज्ञात नहीं है।

पौधे के प्रत्येक अंग में मैनिटोल होता है। हरित तनों और पत्तियों में ग्लूकोसाइड होता है जो इमलसिन द्वारा जल-अपघटित हो जाता है, परन्तु सुगन्धित पदार्थ नहीं देता (*Chem. Abstr.*, 1952, 46, 8203; *Rep. ess. Oils Schimmel*, 1947-48, 83).

Oleaceae

जै. अंगुस्तिफोलियम वाल *J. angustifolium* Vahl

जंगली चमेली

ले. — जा. अंगुस्तिफोलियम

D.E.P., IV, 541; Fl. Br. Ind., III, 598; Kirt. & Basu, Pl. 591.

सं. — स्फुट, काननमालिका, वनमल्ली; हि. — वनमल्लिका, म्वारी; ते. — अडविमल्ले, चिरुमल्ले; त. — कटुमल्लिगे, कटुमुल्ले; क. — कडुमल्लिगे, वनमल्लिगे; मल. — कटुमल्लिगा.

यह दक्षिण भारत की नीची पर्वतश्रेणियों, साधारणतया उत्तरी तथा दक्षिणी सरकार, डेकन और कर्नाटक से आवनकोर तक पाई जाने वाली छोटी अरोही झाड़ी है। इसका तना अरोमिल; छोटी शाखायें महीन रोमिल; पत्तियाँ साधारण और यहाँ तक कि एक ही पौधे पर अत्यन्त परिवर्तनशील, निशिताग्र, आघार कुण्डाग्र या

लगभग गोल, अरोमिल; फूल अत्यन्त सुगंधित, सफेद और तारों के समान या तो अकेले अथवा अधिकतर तीन-तीन के गुच्छों में; दलपुंज 7 या 8, रैखिक, कुण्डाग्र, अत्यन्त निशिताग्र; अंडप दो, साधारणतया पूर्ण विकसित, होते हैं।

यह पौधा सरलतापूर्वक किसी भी भूमि और परिस्थिति में उगता है। इसकी पर्णवली चमकीली, आभायुक्त और गहरी हरित तथा दर्शनीय होती है। यह विशेषतया गवाक्षों और कुंजों पर आवरण के लिए लगाई जा सकती है। ग्रीष्म ऋतु में यह खूब फूलती है और वरामदे की सुगंधित करने के लिए यह एक आनन्ददायक पौधा है (Burns & Davis, 61; Firminger, 460).

इसकी कटु मूलों को दाद पर बाह्य रूप से प्रयोग में लाते हैं। इसकी पत्तियों का रस विपाकतता में वमनकारी के रूप में दिया जाता है (Kirt. & Basu, II, 1520; Rama Rao, 246).

जै. आरबोरेसेन्स रॉक्सवर्ग सिन. जै. रॉक्सवर्गियानम वालिश *J. arborescens* Roxb.

द्वी जैसमिन

ले. — जा. आरबोरेसेन्स

D.E.P., IV, 541; Fl. Br. Ind., III, 594; Kirt. & Basu, Pl. 590.

सं. — सप्तला, नवमल्लिका; हि. — बेला, चमेली, मटबेला; बं. — बड़ा कुन्दा, नव-मल्लिका; ते. — अडविमल्ले, चेदुमल्ले; क. — हम्बु-मल्लिगे; त. — नागमल्ली; उ. — वनमाली.

संथाल — गदहुन्दवहा.

एक लम्बी उप-ऊर्ध्वगामी या आरोही झाड़ी उपहिमालयी तथा बाह्य पर्वतशृङ्खलाओं के भू-भागों में 1,200 मी. की ऊँचाई तक बंगाल, छोटा नागपुर, उड़ीसा, विशाखापट्टम, वेल्तारी और गञ्जाम पहाड़ियों में पायी जाती है। इसकी पत्तियाँ साधारण सम्मुख, अल्प लम्बाय, प्रायः दोनों सतहों पर सघन रोमिल; बहुवर्धक में फूलों की संख्या 12-20, विरल; फूल सफेद और अत्यधिक सुगंधित; अंडप एकाकी, दीर्घवृत्तीय, काले होते हैं।

यह जाति, साल और उपहिमालय के सम्पूर्ण भू-भागों के विभिन्न वनों और छोटा नागपुर के चट्टानी पर्वत पाखों तथा तालों में साधारणतया पायी जाती है। यह परिवर्तनशील जाति है; जै. रॉक्सवर्गियानम वालिश नामक जाति, जिसका विहार और दक्षिण में पाये जाने का उल्लेख मिलता है। इस जाति का एक प्रभेद मात्र मानी जाती है। यह पौधा डेण्ड्रोफोमा जैसमिनाइ सिडो और माइकोडिप्लोडिया जैसमिनाइ सिडो द्वारा उत्पन्न तन पर चकत्ते, फ्यूजीक्लेडियम बटलराइ सिडो द्वारा उत्पन्न पत्र-दाग तथा यूरोमाइसीज हान्सोनाइ द्वारा उत्पन्न पत्र तथा तने के किट्ट के प्रति संवेदनशील होता है (Osmaston, 334; Haines, IV, 525; *Indian J. agric. Sci.*, 1950, 20, 107).

इनके फूलों से एक वाष्पशील तैल प्राप्त होता है। इसकी पत्तियों का रस, काली मिर्च, लहसुन और अन्य उद्दीपकों के साथ, श्वास नली के अवरोध हो जाने पर वमनकारी के रूप में प्रयोग किया जाता है। इसकी पत्तियाँ कुछ कटु और कसैली होती हैं और पौष्टिक एवं क्षुधावर्धक के रूप में प्रयोग की जाती हैं। संथालों द्वारा इस पौधे का एक संपाक मासिक-धर्म सम्बन्धी दोष के लिए निर्दिष्ट किया गया है। ओरांव लोग इसकी बेरी का उपयोग पौष्टिक के रूप में करते हैं। अभावकाल में इसके बीज खाये जाते हैं (Kirt. & Basu, II, 1519; Bressers, 88; Rama Rao, 246).

J. roxburghianum Wall.; *Dendrophoma jasmini* Syd.;



चित्र 61 - जैसमिनम ऑफिसिनेल

Microdiplodia jasmini Syd.; *Fusicladium butleri* Syd.;
Uromyces hobsoni Vize

जै. ऑफिसिनेल लनिग्रस *J. officinale* Linn.

ले - जा. आफिसिनाले

D.E.P., IV, 544; Bor & Raizada, 222.

यह लिपटनेवाली झाड़ी है जिसकी शाखाएँ धारीदार होती हैं। इसका मूल स्थान ईरान या कश्मीर समझा जाता है, जहाँ यह 900-2,700 मी. की ऊँचाई पर पाई जाती है। इसकी पत्तियाँ सम्मुख, विपम-पक्षाकार, यौगिक, 3-7 पत्रको युक्त; अन्तस्थ पत्रक वगल के पत्रको से बड़ा, पुष्पक्रम अन्तस्थ, कुछ फूलयुक्त (कभी-कभी एक फूलयुक्त), मनीमाक्षो पर, पत्तियों से छोटा; फूल सफेद 4-5 पालियाँ युक्त, नुगधित; और फल दीर्घवृत्तीय, गोलाकार, पकने पर काले होते हैं।

यह जाति प्रतिकूलता-सह है और पृथ्वी के लगभग सभी उष्ण और शीतोष्ण क्षेत्रों में कोई जाती है, पर अकमर इसके स्थान पर रूप ग्रैंडिफ्लोरम लगाया जाता है।

—रूप ग्रैंडिफ्लोरम (लनिग्रस) कोवस्की सिन. जै. ग्रैंडिफ्लोरम लनिग्रस —*forma grandiflorum* (Linn.) Kobuski

स्पेनिश जैसमिन, कामन जैसमिन
D.E.P., IV, 542; Fl. Br. Ind., III, 603; Bor & Raizada, 223.

स. - चंचेली, चेतकि, जाती, मालती; हि. और बं - चमेली, जती, गु. - चंचेली; ते. - जाजि, सन्नजाजि; त. - मन्मदवाणम, मल्लै, पडरमल्लिगै; मल. - पिच्चागम, पिच्चाकमुल्ला; क - अज्जिगै, जाजि, जाती, मल्लिगै.

पंजाब - चम्वा, चंचेली

यह एक विशाल आरोही या लिपटनेवाली झाड़ी है जिसका मूल स्थान उत्तर-पश्चिम हिमालय समझा जाता है। यह भारत में बगीचों में लगाई जाती है। इसकी शाखाएँ खंडेदार; पत्तियाँ सम्मुख, विपम पक्षाकार यौगिक; पत्रक 7-11, अन्तस्थ पत्रक पार्श्व पत्रको से कुछ बड़ा, पार्श्व पत्रक अर्धवृत्त अथवा लघुवृत्ती; दूरस्थ जोड़ा अन्तस्थ के साथ मिला हुआ सहजात चौड़े आकारो युक्त; फूल पत्तियों से लम्बे कभी-कभी सहायक ससीमाक्षो पर सफेद, अक्सर बाहर की ओर नील-लोहित झलक वाले, सुहावनी सुगन्धयुक्त, सहपत्र अण्डाकार से स्पृशु-लाकार-आयताकार पर्णाकार; बाह्य दलपुञ्ज अरोमित; पालियाँ 5, सूक्ष्म; दलपुञ्ज पालियाँ 5, दीर्घवृत्तीय अथवा अघोमुख-अण्डाकार, और दो अण्डप होते हैं।

यह नस्ल मैदानों में और पहाड़ियों पर 3,000 मी. की ऊँचाई तक बहुतायत से बोई जाती है। यूरोप और भूमध्यसागरीय देशों में व्यापारिक सुगन्धि का यह मुख्य स्रोत है। इसके अन्तर्गत जै. ऑफिसिनेल की वे सब उद्यानी नस्लें, विशेषतया जिनके फूल बड़े और आकर्षक होते हैं, सम्मिलित हैं जो बगीचों में लगाई जाती हैं। इसको अक्सर जै. ऑफिसिनेल से भिन्न एक पृथक् जाति कहा गया है। यह जै. ऑफिसिनेल से मुख्यतया इस बात में भिन्न है कि इसकी वृद्धि अधिक सगक्त होती है, पत्तों में पत्रको की संख्या अधिक होती है और इसके पुष्पवृत्त पत्तियों से लम्बे और आकृति तथा आकार में भिन्न होते हैं। इसके जगली और कृष्ट नमूनों के एक बड़े संग्रह के अध्ययन से ज्ञात होता है कि वर्गीकरण के लिए उपयोग किये जाने वाले सब लक्षणों में एक निश्चित क्रम विद्यमान है, और कोई लक्षण अथवा लक्षणों का समूह ऐसा नहीं है जिसके आधार पर इन्हें अलग जाति माना जा सके। दोनों पौधे यूरोप में विस्तार से उगाये जाते हैं और ग्रैंडिफ्लोरम की कलम जै. ऑफिसिनेल की डंडियों पर उन फूलों को प्राप्त करने के लिए बँटाई जाती है, जो सुगन्ध निकालने के काम में आते हैं। एक-से सम्बन्धित सूचनाओं को दूसरे से प्राप्त सूचनाओं से अलग करना असम्भव है, इसलिए दोनों का विवरण एक साथ देना सुविधाजनक है (Kobuski, *J. Arnold Arbor.*, 1932, 13, 145).

जै. ऑफिसिनेल और रूप ग्रैंडिफ्लोरम की विभिन्न नस्लें भारत में, विशेषतया कस्बों और नगरों के निकट जहाँ फूलों की माँग होती है, बोयी जाती हैं। ये पौधे उत्तर प्रदेश के कुछ क्षेत्रों, जैसे कि गाजीपुर, फर्रुखाबाद, बलिया और जौनपुर में बड़े पैमाने पर उगाये जाते हैं और फूलों से इत्र निकाला जाता है। फूलों के उत्पादन या क्षेत्रफल के सम्बन्ध में सूचनार्थ प्राप्त नहीं है। सारणी 1 में उत्तर प्रदेश में किये गये एक सर्वेक्षण के आधार पर इसकी खेती के विस्तार और उत्पादन का अनुमान दिया जा रहा है। ये पौधे एक बार लग जाने पर 8-15 वर्षों तक फूल देते रहते हैं।

इसके फूलों का आकार पौधे की आयु, कृषिकर्म और मौसम के अनुसार घटता-बढ़ता रहता है। उत्तर प्रदेश में फूलों की प्रति हेक्टर उपज 400-700 किग्रा. (10,000-12,000 फूल प्रति किग्रा.) होती है। यहाँ की अधिकतम उपलब्धि 1,000 किग्रा. प्रति हेक्टर है जबकि फ्रांस में प्रति हेक्टर औसत उपलब्धि 4,000 किग्रा. बतायी जाती है। लगाने के पाँचवें वर्ष बाद उपलब्धि सर्वाधिक तक

सारणी 1 — उत्तर प्रदेश में चमेली के फूलों का क्षेत्रफल और उत्पादन*

	जै. ऑरिकुलेटम		जै. ऑफिसिनेल रूप ग्रैंडिफ्लोरम		जै. सम्बक	
	क्षेत्रफल (हेक्टर)	औसत उत्पादन क्विंटल/हेक्टर	क्षेत्रफल (हेक्टर)	औसत उत्पादन क्विंटल/हेक्टर	क्षेत्रफल (हेक्टर)	औसत उत्पादन क्विंटल/हेक्टर
फर्रुखाबाद	0.4	1	20	7	36.8	10
गाजीपुर	4.0	1	66.0	4	1.6	8
सिकन्दरपुर (बलिया जिला)	7.6	6	1.2	10
जीमपुर	0.6	2	16.0	6	8.4	12

*Dhingra, 13.

पहुँच जाती है (Dhingra, 13, 26; *Bull. imp. Inst., Lond.*, 1947, 45, 17).

जै. ऑफिसिनेल और रूप ग्रैंडिफ्लोरम की पत्तियों और तनों में यूरोमाइसोल हाक्सोनाइड के कारण किट्ट लग जाता है. दक्षिण भारत से एक चमेली वृक्ष का भी उल्लेख किया गया है. इसका निर्यंत्रण झाड़ियों पर मछली के तेल रेजिन साबुन का मिश्रण छिड़क कर किया जा सकता है (*Indian J. agric. Sci.*, 1950, 20, 107; Ratnam, loc. cit.).

उतारे हुये फूलों का अधिकांशतः मालाओं, गजरो और गुलदस्तों तथा धार्मिक कृत्यों में उपयोग किया जाता है. केश तेलों और इत्रों के बनाने के लिए केवल थोड़ी मात्रा काम में लायी जाती है. भारत में चमेली का तेल नहीं निकाला जाता. बाजार में जो चमेली का तेल मिलता है वह लगभग इसी जाति के फूलों से आसे (फ्रांस), सिसली और केलैब्रिया (इटली) में निकाला जाता है. ये इस तेल के उत्पादन के मुख्य केन्द्र हैं. पिछले वर्षों में मिस्र, सीरिया, अल्जीरिया और मोरक्को में भी चमेली के बागान लगाये गये हैं (Guenther, V, 320).

पत्तियों में एक रेजिन, सैलिसिलिक अम्ल, एक ऐल्कलायड (जैसमिनीन) और एक कसैला तत्व भी होता है. इसकी जड़ दाद की चिकित्सा में उपयोगी बतायी गई है. कैटेलोनिया और तुर्की में इस पौधे के लम्बे सीधे तने पतली पाइप नलियाँ बनाने के लिए उपयोग किये जाते हैं. इसकी पत्तियाँ इलेक्ट्रिक त्वचा के घावों से आराम पाने के लिए चवाई जाती हैं. पत्तियों का ताजा रस घट्टों पर और इसके रस से युक्त विरचित तेल कर्ण-स्त्राव में उपयोग किया जाता है. सम्पूर्ण पौधा कुमि-नाशी, मूत्रवर्धक और आतंजजनक समझा जाता है. फूलों का सुगन्धित तेल और इत्र अपने शीतलकारी प्रभाव के कारण त्वचा रोगों, सिर दर्द और नेत्रविकारों में उपयोग किया जाता है (Kirt. & Basu, II, 1523).

चमेली का तेल

चमेली के फूलों की सुगन्ध एक वाष्पशील तेल के कारण होती है जो पंखड़ियों और बाह्यदलों, दोनों की भीतरी और बाहरी सतहों की ऊपरी कोशिकाओं में रहता है. ये फूल पौधे से अलग किये जाने के बाद भी मुरझाने और खराब होने तक अपनी प्राकृतिक सुगन्ध देते रहते हैं. सूर्यास्त के बाद शीघ्र ही जब फूल खिलते हैं, सुगन्ध निकलनी आरम्भ हो जाती है और सूर्योदय के बाद कुछ घंटों में सुगन्ध निकलनी लगभग बन्द हो जाती है पर फूल रात्रि के समय निमित्त वाष्पशील तेल के कारण महकते रहते हैं (Finnemore, 696;

Rakshit, *Perfum. essent. Oil Rec.*, 1937, 28, 241; Guenther, V, 325-26).

फूलों से चमेली की सुगन्ध किसी माध्यम में बसाकर अथवा विलायक निष्कर्षण द्वारा प्राप्त की जाती है. वाष्प-आसवन से उपलब्धि बहुत कम होती है क्योंकि सुगन्ध का निर्माण फूल उतारने के कुछ समय पश्चात् तक चलता रहता है इसलिए बसाने की विधि से अधिक उपलब्धि होती है जो विलायक निष्कर्षण से प्राप्त उपलब्धि से लगभग 2-3 गुनी होती है. पर विलायक निष्कर्षण की विधि अधिक सस्ती पायी गई है क्योंकि इससे न केवल लगभग सब सुगन्धित रस निकल आते हैं, वरन् मजदूरी में भी बचत होती है. इस विधि में फूलों को बन्द बेलनाकार पात्रों की श्रेणी में रखा जाता है. साधारणतया विलायक के रूप में पेट्रोलियम ईथर इस्तेमाल किया जाता है. वेंजीन के उपयोग से बहुत रंगदार कठोर गन्ध वाला पदार्थ प्राप्त होता है. विलायक निर्वात आसवन से अलग कर लिया जाता है, और अवशेष ठोस पदार्थ कीट के रूप में बच रहता है जिसमें गन्ध तत्व और मोम होते हैं. इसमें से परिशुद्ध पदार्थ को अलग करने के लिए मोमी पदार्थ को ऊँची सांद्रता के ऐल्कोहल द्वारा अलग कर दिया जाता है (Poucher, II, 145; Guenther, V, 324, 332).

सामान्य रूप से सुगन्ध निकालने के लिए बसाने की विधि कुछ वर्ष पहले तक विशेष रूप से फ्रांस में काम में लायी जाती थी. भारत में इसी विधि का उपयोग किया जाता है. इस विधि में सुगन्ध को एक बसीय पदार्थ में अवशोषित कर लिया जाता है जिसमें से उसे बाद में ऐल्कोहल, ऐसीटोन या अन्य विलायक द्वारा विलगाया जाता है. फ्रांस में जहाँ शताब्दियों से इस विधि का उपयोग किया जा रहा है, फूलों को इकट्ठा करने के बाद शोधित बसा (सुअर अथवा बेल की चर्वी या दोनों का मिश्रण) से पुती हुई कांच की तश्तरियों में रखा जाता है. फूलों की सुगन्ध चर्वी में चली जाती है और नित्य निर्गन्ध फूलों को हटाकर उनके स्थान पर ताजे फूल रखे जाते हैं. यह क्रिया उस समय तक की जाती है जब तक कि चर्वी सुगन्ध से सन्तृप्त नहीं हो जाती. इस प्रकार जो पदार्थ प्राप्त होता है उसे पोमेड कहते हैं. इसको ऐल्कोहल से निष्कर्षित करके और निष्कर्ष को आसवित करके परिशुद्ध तत्व प्राप्त किया जाता है. फूलों में अब भी कुछ सुगन्ध बाकी रहती है. उन्हें पेट्रोलियम ईथर से निष्कर्षित करके दूसरे दर्जे का माल प्राप्त किया जाता है (*Perfum. essent. Oil Rec.*, 1948, 39, 351; *Bull. imp. Inst., Lond.*, 1947, 45, 17).

नावेस और मजुयेर के अनुसार गन्ध तत्वयुक्त ठोस की उपलब्धि 0.28 से 0.34% तक होती है. इससे 45-53% परिशुद्ध तत्व मिलता है और भाप आसवनीय पदार्थ की मात्रा 10-19% होती

है. वसाने से परिशुद्ध तत्व की उपलब्धि कहीं अधिक मिलती है. सुगन्धि की उपलब्धि और उसका बढ़ियापन अनेक बातों पर निर्भर करता है; अधिक ऊँचाई के क्षेत्रों से उगाये हुये फूलों से बढ़िया माल मिलता है; जो फूल प्रातःकाल एकत्रित किये जाते हैं उनसे दोपहर या तीसरे पहर इकट्ठे किये गये फूलों की अपेक्षा अधिक और बढ़िया सुगन्धिवान द्रव्य प्राप्त होता है; गर्म और खिली धूप के मौसम में उतारे हुये फूल बदली और वर्षा के मौसम में एकत्रित फूलों की अपेक्षा अधिक और बढ़िया सुगन्ध देते हैं. इन फूलों को उतारने के बाद तुरन्त ही सुगन्धि निकालने का काम आरम्भ कर दिया जाना चाहिये और ताप को यथासम्भव नीचा रखना चाहिये (Naves & Mazuyer, 192; Poucher, II, 145; Guenther, V, 331-32).

भारत में दो प्रकार की निष्कर्षण विधियाँ इस्तेमाल की जाती हैं. सुगन्धित तेलों के निर्माण के लिए एक रूपान्तरित वसाने की विधि काम में लायी जाती है और इत्र बनाने के लिए फूलों को आसवित किया जाता है. रूपान्तरित वसाने की विधि में साफ और छिलका उतारे हुये तिल (सीसेमम इंडिकम) के बीज सूअर और बैल की चर्बी के स्थान पर उपयोग किये जाते हैं. बनाये गये एक गढ़े की फर्श पर तिल के बीजों और ताजे चमेली के फूलों की तह पर तह लगा दी जाती है. जिन फूलों की सुगन्धि समाप्त हो जाती है उनके स्थान पर प्रति 10-12 घण्टे बाद ताजे फूल उस समय तक रखे जाते हैं जब तक कि तिल सुगन्धि से सन्तृप्त नहीं हो जाते. इन तिलों को घानी में

पेरने से जो सुगन्धित तेल प्राप्त होता है वह 'सिरे का तेल' नाम से बिकता है. प्रति क्विंटल बीजों के लिए 2-3 क्विंटल फूल उपयोग में लाये जाते हैं. बाजार में 3 प्रकार के सुगन्धित तेल मिलते हैं: सिरा (बढ़िया), बाजू (मध्यम) और रद्दी (घटिया). सिरे पर से उठाये हुये निचुड़े फूल बाजू और रद्दी तेलों के निर्माण के लिए उपयोग किये जाते हैं. इन तेलों के लिए अभी कोई मानक विशिष्टतायें नहीं बनायी गई हैं.

इत्र तैयार करने के लिए फूलों को मिट्टी के बर्तन में आसवित किया जाता है और वाष्प को चन्दन के तेल में अवशोषित करते हैं. 500-700 किग्रा. फूलों की सुगन्धि के अवशोषण के लिये लगभग 10 किग्रा. चन्दन का तेल उपयोग किया जाता है. बढ़िया इत्र प्राप्त करने के लिए इस तेल को 3-4 वर्ष रखा जाता है और इन दिनों उसमें प्रति वर्ष चमेली का ताजा निष्कर्ष डालते रहते हैं (Narielwala & Rakshit, *Rep. essent. Oil Comm., Coun. sci. industr. Res.*, 1942, 24; Dhingra *et al.*, *Indian Soap J.*, 1950-51, 16, 235; With India—Industrial Products, pt III, 211).

कानपुर के हारकोर्ट बटलर टेक्नालाजिकल इंस्टीट्यूट में चमेली के फूलों से वसावन, विलायक निष्कर्षण और आसवन विधियों द्वारा सुगन्धि प्राप्त करने के तुलनात्मक अध्ययन किये गये हैं. इस क्रिया में जो पोमेड और इत्र प्राप्त हुये हैं उनके लक्षणों का सारांश सारणी 2 में दिया जा रहा है. विभिन्न जातियों से और विभिन्न निष्कर्षण विधियों

सारणी 2 - भारतीय जैसमिनम जातियों से प्राप्त पोमेड और इत्रों के लक्षण

	जै. ऑरिकुलेटम		जै. ऑफिसिनेल रूप ग्रैंडिफ्लोरम		जै. सम्बक		
	पोमेड ¹	इत्र ¹	पोमेड ²	इत्र ²	पोमेड ³	इत्र ³	
उपलब्धि, %	0.412	..	0.367-0.425	..	0.44	0.44	..
जमन बिन्दु	48°	..	54-55°	..	68-69°	52°	..
ग. बि.	50°	..	54-55°	..	70°	55°	..
वि. घ. ^{30°}	..	0.9548	..	0.9814	0.9727-0.9797
[α]	(22° पर) +4.26°
"	..	1.5185	..	(20° पर) 1.4970	1.506-1.507
अम्ल मान	9.5	7.2	0.23-0.27	1.16	3.76	9.7	1.51-11.36
एस्टर मान	..	132.8	121.2-131.5
सादृ. मान	230.46	140.04	116.2-119.6	278.06	176.7	165.9	126.7-141.0
95% ऐल्कोहल में विलेयता	..	सब घनूपातों में विलेयता (85% ऐल्कोहल)	9 में 1 (घा./घा.)
एस्टर मात्रा, वेंजिल ऐसीटेट के रूप में (%)	..	35.7	..	74.8	32.45-35.2

¹ Gupta *et al.*, *Perfum. essent. Oil Rec.*, 1951, 42, 369; ² Dhingra *et al.*, *ibid.*, 1953, 44, 11; ³ Dhingra *et al.*, *Indian Soap J.*, 1950-51, 16, 259.

द्वारा प्राप्त होने वाली ओटो की उपलब्धियाँ भी (सारणी 3) भिन्न-भिन्न हैं (Dhingra *et al.*, *Indian Soap J.*, 1950-51, 16, 235, 259; Gupta *et al.*, *Perfum. essent. Oil Rec.*, 1951, 42, 369; Dhingra *et al.*, *ibid.*, 1953, 44, 11).

भौतिक-रासायनिक गुण—विलायक निष्कर्षण से प्राप्त होने वाली चमेली का पोमेड लाल-भूरे रंग और फूलों की विशिष्ट गन्ध वाला एक पदार्थ है। यह 95% ऐल्कोहल में अंशतः विलेय है। चमेली का ऐन्सोल्यूट गाढ़ा, स्वच्छ, पीत-भूरा तरल है जिसकी सुहावनी गन्ध ताजे फूलों की याद दिलाती है। यह 95% ऐल्कोहल में विलेय होता है; रखा रहने पर परिशुद्ध का रंग गहरा पड़ कर लाल हो जाता है और उसमें धूसर तलछट जम जाती है। बसावन की विधि से प्राप्त ऐन्सोल्यूट गहरा रक्ताभ भूरा श्यान तेल होता है जिसमें से ताजे फूलों की गन्ध आती है पर साथ में एक वसीय गमक भी होती है। रखा रहने पर यह गहरा लाल हो जाता है और इसमें तलछट जम जाती है। इससे ऐल्कोहल में विलेयता पर भी प्रभाव पड़ता है। चमेली

के पोमेड और ऐन्सोल्यूट तथा उनसे निकाले हुये भाप-वाष्पशील तेलों के लक्षण सारणी 4 में दिये गये हैं।

संघटन—चमेली के तेल का मुख्य रचक बेंजिल ऐसीटेट है। इसमें उपस्थित अन्य उल्लिखित रचक हैं: लिनैलिल ऐसीटेट, बेंजिल बेंजोएट, बेंजिल ऐल्कोहल, जिरैनिओल, नैरोल *l*- α -टर्पिनिओल, *d*- और *dl*-लिनालूल, एक ऐल्कोहल (?) जिसमें से β , γ -हेक्सेनोल की गन्ध आती है, फार्नेसोल, नैरोलिडाल, एक अज्ञात ऐल्कोहल ($C_{18}H_{34}O$) जो गन्धवान पदार्थों को स्थिर करने में महत्वपूर्ण भाग लेता है, यथा यूजिनाल, पैरा-कैसोल, क्रिओसोल, फलीय और टिकाऊ गन्ध वाले लैक्टोन, बेंजैलिडहाइड, जैसमोन, एक अनपहचाना कीटोन ($C_{15}H_{16}O_3$), बेंजोइक अम्ल, मेथिल ऐंथ्रानिलेट और इंडोल। भारतीय ओटो के विश्लेषण से निम्नलिखित फल प्राप्त हुए हैं: एस्टर (बेंजिल ऐसीटेट के रूप में), 74.8; ऐल्कोहल (बेंजिल ऐल्कोहल के रूप में), 15.46; मेथिल ऐंथ्रानिलेट, 0.45; इंडोल, 1.75; और जैसमोन, 3.0% (Guenther, V, 334-36; Dhingra *et al.*, *Indian Soap J.*, 1950-51, 16, 259).

फूलों के पेट्रोलियम ईथर निष्कर्ष (पोमेड) में वाष्पशील तेल के अति-रिक्त रंजक पदार्थ और मोम होता है। यह मोम सुगन्धों का अत्यंत उत्तम स्थापक है और ऐन्सोल्यूट तैयार करते समय अलग निकाल लिया जाता है। इस मोम के लक्षण हैं: वि. घ.¹⁵, 0.932; अम्ल मान, 5.4; एस्टर मान, 55.5; आयो. मान, 40.26; साबु. मान, 60.9; और ग. वि., 60°. इसमें हाइड्रोकार्बन, 49.85; उच्च ऐल्कोहल, 14.35; सन्तृप्त अम्ल, 21.31; और असन्तृप्त अम्ल, 14.50% होते हैं। इस मोम में सुगन्ध का अल्प प्रतिशत होता है और यह साबुन बनाने के लिए इस्तेमाल किया जा सकता है (Warth, 318; *Chem. Abstr.*, 1931, 25, 5306).

उपयोग—चमेली का तेल बढ़िया सुगन्धों के निर्माण के लिए इस्तेमाल किया जाता है। यह व्यापारिक महत्व में केवल गुलाब से नीचे है। लगभग सभी बढ़िया सुगन्धों में चमेली के तेल की कुछ न

सारणी 3 — विभिन्न निष्कर्षण विधियों द्वारा प्राप्त जैसमिनस जातियों से ओटो (इत्र) की उपलब्धि*

	जल आसवन %	वाष्प आसवन %	बसावन %	विलायक निष्कर्षण %
जै. ऑरिकुलेटम	0.020	0.030	0.146	..
जै. ऑक्सितनेल रूप प्रेडिफ्लोरम	0.020- 0.022	0.025- 0.030	0.180	0.040
जै. सम्बक	0.020- 0.025	0.030- 0.035	0.150	0.040

*Dhingra, 26.

सारणी 4 — यूरोप में उत्पादित चमेली के पोमेड, ऐन्सोल्यूटों और तेलों के लक्षण*

वि. घ.	निष्कर्षण का पोमेड		निष्कर्षण का ऐन्सोल्यूट	भाप वाष्पित तेल		
				क	ख	ग
वि. घ.	0.886-0.8987 (60°/60° पर)	..	0.9290-0.9550 (20° पर)	0.966-1.0106 (20° पर)	0.993-1.047 (15° पर)	0.962 (15° पर)
[η] ₂₀	..	+5° से +12°	+2.2° से +4.95°	-2.6° से +3.2°	+2.2° से +3.7°	+2.7°
"	1.4640-1.4658	..	1.4822-1.4935 (20° पर)	1.4920-1.5041 (20° पर)	1.4944-1.5015 (20° पर)	1.4902 (20° पर)
अम्ल मान	12.6-15.4	9.8-12.6	4.2-17.2	0.1-6.7	2.2-7.5	4.9
एस्टर मान	..	68-105	96.4-147.6	165-227	234.0-268.8	..
जमन बिन्दु	..	47-51°
ग. वि.	47-52°	49-52°
इण्डोल, %	0.08-0.20	0.10-0.31
मेथिल ऐंथ्रानिलेट, %	0.15-0.35	0.22-0.40

*Guenther, V, 327, 329-30, 333-34.

क — पोमेड से प्राप्त; ख — बसावन के ऐन्सोल्यूट से प्राप्त; ग — चैसिस से प्राप्त.

कुछ मात्रा अवश्य होती है। इसका ऐन्सोल्यूट यद्यपि महँगा होता है पर सर्वोत्तम सुगन्ध देता है। यह सभी फूलों की गन्धों के साथ मिश्र्य है जिससे सुगन्ध की रचनाओं में चिक्कणता और सँवार आती है। चमेली का तेल महँगे साबुनों और अंगरारों, मुख प्रक्षालकों और दंत-मंजनों, स्नान लवणों, सुगन्ध पुटकों और तम्बाकू को सुगन्ध देने के लिए उपयोग किया जाता है। यह धूपों और धूमकों में भी डाला जाता है। इसकी कंकरीट के ऐल्कोहलीय घोलन रुमालों को सुगन्धित करने में इस्तेमाल किये जाते हैं (Guenther, V, 337-38; Poucher, II, 333, 375, 389; Jellinek, 111).

एक पिछले अनुमान के अनुसार संसार के विभिन्न देशों में चमेली के पोमेड का उत्पादन 5,000 किग्रा. था, जिसमें से लगभग 50% फ्रांसे (फ्रांस) में तैयार किया गया था। भारत में चमेली के इत्र और पोमेड बनाने की सम्भावना का अन्वेषण किया गया है। प्रयोगशाला के प्रयोगों ने यह स्थापना की है कि भारतीय चमेलियों से प्राप्त माल फ्रांसे के माल से तुलनीय होते हैं। अध्ययनों ने दर्शाया है कि यहाँ एक किलोग्राम जैसमिन ऐन्सोल्यूट तैयार करने की लागत जै. ऑफिसिनेल रूप ग्रैंडिफ्लोरम से 2,800-3,400 रुपये और जै. सम्बक से 1,700-2,200 रु. आती है। यह पाया गया है कि गन्धहीन बनायी हुई हाइड्रो-जनित वसा को सुअर या किसी अन्य पशु की चर्बी के स्थान पर वसावन विधि में उपयोग किया जा सकता है (Chatelain, *Perfum. essent. Oil Rec.*, 1951, 42, 188; Dhingra et al., *Indian Soap. J.*, 1950-51, 16, 235; *Perfum. essent. Oil Rec.*, 1953, 44, 11).

J. grandiflorum Linn.; *Sesamum indicum*

जै. ऑरिकुलेटम वाल *J. auriculatum* Vahl

ले. - जा. ऑरिकूलाटम

Fl. Br. Ind., III, 600.

सं. - यूथिका, मुग्धी, सूचीमल्लिका; हि. - जूही, जूई; बं. - अम्बस्वय, गुनिका, योद्धिका; ते. - अडविमल्ले, एट्टाडविमल्ले; त. - ऊसिमल्लिगै; क. - काडरमल्लिगे, मध्याह्न मल्लिगे, वसंत मुल्ले, सूजिमल्लिगे; उ. - वोनोमोल्लिका, जूई.

यह एक आरोही, रोमिल या दीर्घरोमी झाड़ी है जो दक्षिणी प्राय-द्वीप, सरकारों और कर्नाटक से लेकर दक्षिण में ब्रावनकोर तक पायी जाती है। इसमें पत्तियाँ अधिकतर साधारण, कभी-कभी त्रिपण्की, दो अथः पत्रक छोटे या पालियों के रूप में या प्रायः लुप्त; फूल सफेद मीठी सुगन्धयुक्त, रोमिल, बहुपुष्पमयी और विरल बहुवर्धियों पर; दलपुंज 5-8, दीर्घवृत्तीय पालियों में और अण्डप अकेले, अरोमिल, काले होते हैं।

सम्पूर्ण भारतवर्ष में विशेष रूप से उत्तर प्रदेश, बिहार और बंगाल में, इसकी खेती इसके सुगन्धित फूलों के लिए की जाती है। उत्तर प्रदेश में गाजीपुर, जौनपुर, फर्रुखाबाद और कन्नौज में इसकी खेती व्यापारिक पैमाने पर की जाती है (सारणी 1)। नवम्बर से जनवरी तक कलम का आरोपण करके इसका प्रवर्धन किया जाता है। वर्षाकाल में, अगस्त के प्रारम्भ में फूल निकलने लगते हैं। ये छोटे और हल्के होते हैं (एक किलोग्राम में 26,000 फूल), एक हेक्टर में फूलों का औसत उत्पादन 92.5-187.5 किग्रा. तक होता है। यह पीघा मेलिओला जैसमिनिकोला पी. हेन्निग्स द्वारा उत्पन्न कजली फर्फूद के प्रति संवेदनशील होता है (Dhingra, 26; *Indian J. agric. Sci.*, 1950, 20, 107).



चित्र 62 - जैसमिनम ऑरिकुलेटम - पुष्पित शाखा

भारतवर्ष में जूही के फूल सुगन्धित केश तेल और इत्रों के उत्पादन में प्रयोग किये जाते हैं। इसके उत्पादन की विधियाँ जै. ऑफिसिनेल रूप ग्रैंडिफ्लोरम से उत्पादन की विधियों के अनुरूप हैं। कानपुर में प्रयोगात्मक स्तर पर फूलों से उत्पन्न इत्र और कंकरीट के उत्पादन और गुणों का संक्षिप्त विवरण सारणी 2 और 3 में दिया गया है। इत्र का रंग गहरा लाल और सुगन्ध ताजे फूलों के समान तथा अन्य जैसमिनम जातियों से प्राप्त इत्र की अपेक्षा अधिक आनन्ददायक एवं प्रसन्नता प्रदान करने वाली होती है। इस इत्र में एस्टर (जैसे बेंजाइल ऐसीटेट), 35.7; ऐल्कोहल (जैसे लिनालूल), 43.81; इण्डोल, 2.82; और मेथिल ऐथानिलेट, 6.1% प्राप्त होते हैं (Gupta et al., *Perfum. essent. Oil Rec.*, 1951, 42, 369).

इन फूलों में औषध के गुण पाये जाते हैं और इन्हें क्षय में दिया जाता है (Kirt. & Basu, II, 1925).

Meliola jasminicola P. Henn.

जै. फ्लेक्साइल वाल (जै. कौडेडम वालिश सहित)

J. flexile Vahl

ले. - जा. फ्लेक्सिले

बं. - मालती; त. - रामबाणम, मुल्लै; क. - नित्यमल्लिगे; ते. - नित्यमल्ले.

खासी — माइ लांग कैटस्त्री, मेई-सोह-स्यांग.

यह बड़ा आरोही है जो अका, लुसाई, खासी और असम के पर्वतों, डेकन के निम्नतर पर्वतों और पश्चिमी घाट में 1,500 मी. तक ऊँचे पर्वतों में पाया जाता है. इसकी छाल सफेद रंग की; पत्तियाँ सम्मुख, साधारणतया त्रिपर्णकी; अंतिम पत्रक 5-10 सेंमी. लम्बा, आधार गोल या कुण्डाग्र, पार्श्वीय पत्तियाँ छोटी; फूल मूढु विरल पुष्प गुच्छों में; दलपुंज सफेद, निशिताग्र या कुण्डाग्र और अंडप दीर्घवृत्तीय होते हैं. यह जाति पर्याप्त परिवर्तनशील है. इसके तीन मुख्य प्रकार हैं: वैर. ट्रावनकोरेंस, वैर. ओवेटा और वैर. हुकरियाना. वैर. ट्रावनकोरेंस निम्न ऊँचाई वाले दक्षिणी कनारा से केरल तक के पश्चिमी तट पर मिलती है और अन्य दो किस्में क्रमशः खासी और लुसाई पर्वतों पर पाई जाती हैं. जै. कौडेटम वालिश नामक जाति जो बंगाल, बिहार, खासी, जयन्तिया, लुसाई के पर्वतों और अण्डमान द्वीप में पायी जाती है, वैर. हुकरियाना के बहुत समरूप हैं और इनका समुचित वर्गीकरण जै. फ्लेक्साइल के अन्तर्गत किया गया है [Fl. Madras, 791; Fl. Assam, III, 231-232; Fischer, Rec. bot. Surv. India, 1938, 12(2), 110; Haines, IV, 526].

इसकी खेती इसके सुगन्धित पुष्पों के लिए की जाती है. यह लगभग पूरे वर्ष फूलता है परन्तु शीत ऋतु में पुष्पन सर्वाधिक होता है. इसके फूल जै. ऑफिसिनेल रूप ग्रैंडिफ्लोरा के पुष्पों के अनुरूप होते हैं परन्तु सुगन्ध में उनसे निम्न कोटि के माने जाते हैं (Ratnam, loc. cit.; Krishnaswamy & Raman, J. Indian bot. Soc., 1948, 27, 77).

व्यावहारिक रूप में यह पौधा रोग कीटों से मुक्त होता है. रिसेनिया फेनेस्ट्रेटा फेनैसिकस द्वारा पौधे के विरूपण और दूषित भागों के सूखने की सूचनायें बंगलौर से प्राप्त हुई हैं. 5% वेंजीन हेक्साक्लोराइड के चूर्ण का निम्फों और प्रौढ़ों पर छिड़काव इस बाधा के नियंत्रण में प्रभावोत्पादक रहा (Puttarudrah & Maheswariah, Mysore agric. J., 1954, 30, 12).

तने की छाल में कटु ग्लूकोसाइड और रंग द्रव्य के होने की सूचना है (Dymock, Warden & Hooper, II, 380; Wehmer, II, 957).

J. caudatum Wall.; var. *travancorensis*; var. *ovata*; var. *hookeriana*; *Ricania fenestrata* Fabr.

जै. मालाबारिकम वाइट सिन. जै. लैटिफोलियम ग्राहम नान राक्सवर्ग *J. malabaricum* Wight

ले. — जा. मालाबारिकम

Fl. Br. Ind., III, 594; Talbot, II, 187; Fig. 384.

म. — कुन्दी, कुसुर, कुसुरी; क. — तीरगल.

बम्बई — मोगरा, रत्न-मोगरा.

यह एक लम्बी आरोही या अवरोही झाड़ी है जो दक्षिण में पश्चिमी तट और पश्चिमी घाट में कोकण से दक्षिण की ओर मालाबार तक और नीलगिरि में 1,200 मी. की ऊँचाई तक साधारण रूप से पायी जाती है. इसमें तने का व्यास 20 सेंमी.; शाखायें शंक्वाकार, अरोमिल; पत्तियाँ चपटी, अण्डाकार, निशिताग्र या शीर्ष पर या लम्बाग्र; आधार गोल या उप-हृदयाकार, झिल्लीदार, अरोमिल; फूल शीर्षस्थ, विरल, त्रिखंडीय, बहुपुष्पी (40-50 तक) बहुवर्ध्यां में, सफेद, सुगन्धित; बाह्यदलपुंज 5 से 7 तक, रेखिक; दलपुंज 6 से 10 तक, दीर्घवत् या भालाकार, सूक्ष्म निशिताग्र और अंडप दीर्घवृत्तीय होते हैं.

यह पौधा नम मानसून वनों में साधारण रूप से मिलता है और फरवरी से मई तक और कभी-कभी जून तक अत्यधिक फूलता है. इसमें अप्रैल से सितम्बर तक फल आते हैं. यद्यपि यह देखने में जंगली लगता है फिर भी अपने सुगन्धित पुष्पों के लिए उगाया जाता है. यह ऐस्टेरिना स्पीसा सिडो द्वारा उत्पन्न पत्र-फर्फंद, चकोनिया बटलराइ सिडो द्वारा उत्पन्न किट्ट और यूरोमाइसीज हाव्सोनाई विजे द्वारा उत्पन्न पत्र और तने के किट्ट से प्रभावित हो जाता है (Santapau, J. Bombay nat. Hist. Soc., 1946-47, 46, 563; Rec. bot. Surv. India, 1953, 16, 162; Indian J. agric. Sci., 1950, 20, 107).

तने का रस नेत्र में मोतियाबिन्द होने पर प्रयोग किया जाता है (Kulkarni, J. Bombay nat. Hist. Soc., 1909-10, 19, 574). *J. latifolium* Grah. non Roxb.; *Asterina spissa* Syd.; *Chaconia butleri* Syd.; *Uromyces hobsoni* Vize

जै. मल्टीफ्लोरम (वर्मन पुत्र) ऐण्डरसन सिन. जै. प्यूबेसेन्स विल्डेनो; जै. हिंसुटम विल्डेनो *J. multiflorum* (Burm. f.) Andr. डाउनी जैसमिन

ले. — जा. मल्टिफ्लोरम

D.E.P., IV, 544; Fl. Br. Ind., III, 592.

सं. — कुन्द, सदापुष्प, वसन्त; हि. — चमेली कुन्द, कुन्दफूल; म. — मोगरा; त. — गुजरि, कुन्दमु, मल्ले; त. — मल्लिगै; मल. — कुह-कुत्तिमुल्ला.



चित्र 63 — जैसमिनम मल्टीफ्लोरम — पुष्पित शाखा

यह एक लम्बी आरोही, सघन रोमिल झाड़ी है जिसमें शाखायें और उपांग घनरोमिल; पत्तियाँ सम्मुख, साधारण, अण्डाकार, लम्बाग्र, निचली सतह कुछ या अधिक रोमिल; पुष्प सघन, छोटे, वृत्तो में, बहुवर्धको पर, अल्प सुगन्धित, सफेद, उपग्रवृत; दलपुज दीर्घायत्, भालाकार और अण्डप पकने पर काले होते हैं

यह पौधा सम्पूर्ण भारतवर्ष में पाया जाता है और उपहिमालयी क्षेत्र में 900 मी. तक ऊँचे भूभागों एवं पश्चिमी घाट के 1,500 मी. की ऊँचाई तक आर्द्र वनों में साधारण रूप से मिलता है। यह बहुत परिवर्तनशील है। यह किसी भी प्रकार की भूमि में प्रवर्धित होता है। यह सामान्यतया वर्ष भर फूलता है; पुष्पन जाड़े में प्रचुर मात्रा में होता है। पौधा अत्यन्त शोभाकारी है और विशेषतया जाफरी या भूमि के आवरण के लिए और छोटी झाड़ी के रूप में लगाने के लिए अत्यन्त उपयुक्त है (Firminger, 462; Bor & Raizada, 220; Bhatnagar, *Sci. & Cult.*, 1956-57, 22, 506).

इसकी शुष्क पत्तियाँ मन्दरोही अलसर में पुल्लिस लगाने के काम आती हैं (Kirt. & Basu, II, 1518).

J. pubescens Willd.; *J. hirsutum* Willd.

जै. मेसनी हान्स सिन जै. प्रिमुलिनम हेमस्ले

J. mesnyi Hance

प्रिमरोज जैसमिन

ले. — जा. मेसनिड

Bailey, 1947, II, 1718; Kobuski, *J. Arnold Arbor.*, 1932, 13, 152.

यह एक सदापर्णी, टहनीदार झाड़ी है जो युन्नान (चीन) की मूलवासी है। इसकी खेती विस्तृत रूप से विश्व के उष्णकटिबंधीय और उपोष्णकटिबंधीय भागों में की जाती है। इसमें शाखायें चतुष्कोणीय अनम्य और अरोमिल; पत्तियाँ सम्मुख, त्रिपण्की, 10 सेमी तक लम्बी, पत्रक अधिकतर प्रवृत, अरोमिल, कुछ-कुछ दीर्घवृत्तीय या दीर्घायत्, भालाकार, गठन में मोटे, ऊपर से चमकीले और गहरे हरे रंग के और नीचे से हल्के पीले; फूल अकेले, कक्षस्थ वासती पीले, कठ पर नारंगी रंग के; बाह्य दलपुज 6, भालाकार; दलपुज प्राय. 6, अण्डाकार या गोल होते हैं।

यह पौधा वनप्रान्तों में नहीं पाया जाता और अपने बड़े सुगन्धविहीन फूलों के कारण शोभाकारी वृक्ष के रूप में उगाया जाता है। यह प्रतिकूल अवस्थाओं में और अल्प उपजाऊ भूमि में भी सर्वाधिक होता है और दावकलम, कलम एवं भूस्तारियों द्वारा प्रवर्धित किया जाता है। द्विपुष्पी प्रकार भी कृषि में प्राप्त होते हैं। मार्च से मई तक फूल आते हैं (Bor & Raizada, 220-21).

J. primulinum Hemsl.

जै. रोटलरियेनम वालिश एक्स द कंदोल

J. rottlerianum Wall. ex DC.

ले. — जा. रोटलेरियानम

Fl. Br. Ind., III, 593.

सं. — वनमल्लिका; त. — कटुमल्लिगै, इरुमैमुल्लै; क. — वनमल्लिगे; मल. — वेल्लाकटुमुल्ला.

यह विशाल आरोही, दीर्घरोमी झाड़ी है जो आसामी से पश्चिमी घाट में 1,500 मी. की ऊँचाई तक कोकण से दक्षिण की ओर केरल तक



चित्र 64 — जैसमिन मेसनी — पुष्पित शाखा

पायी जाती है। इसकी पत्तियाँ दीर्घवृत्तीय, अक्सर आधार पर उप-हृदयाकार, निशिताग्र या लम्बाग्र, दोनों सतहों पर मुलायम रोमयुक्त, अथवा ऊपर की सतह पर अरोमिल, फूल सफेद, अन्तस्थ ससीमाक्षों पर; पखड़ी दलपुज 5-7 पालियों युक्त, आयताकार, कुण्डाग्र; बाह्य दलपुज दीर्घवृत्तात्म चिकना और काला होता है। इस पौधे में फूल जनवरी-मार्च में और फल जून-अगस्त में आते हैं।

उल्लेख है कि इसकी पत्तियाँ बच्चों के अपरस के लिए योग्य बनाने और रक्तशोधन के लिये उपयोग की जाती हैं। इसके फूल सुगन्धवान नहीं होते। वे इसी प्रकार उपयोग किये जाते हैं (Chopra, 500; Kirt. & Basu, II, 1526; Rama Rao, 245).

जै. रिट्शेई सी. बी. क्लार्क *J. ritchiei* C. B. Clarke

ले. — जा. रिट्चिई

Fl. Br. Ind., III, 598; Talbot, II, Fig. 386.

त. — करुमुल्लै, ते. — अडविमल्ले.

यह आरोही झाड़ी है जो साधारणतया कोंकण, उत्तरी कनारा और मैसूर के पश्चिमी घाट के वर्षा वनों और नीलगिरि तथा मध्य अण्डमान द्वीपों में पायी जाती है। इसकी पत्तियाँ अण्डाकार, लम्बाग्र, अरोमिल; फूल सफेद, 3-9 के समूह में, विरल अक्सर उपपुष्पगुच्छी ससीमाक्षों पर होते हैं।

इसकी पत्तियाँ दाँत के दर्द में उपयोगी बतायी जाती हैं और इसकी लकड़ी पाइप की नलियों के लिए इस्तेमाल होती है। इसके फूल अंश के लिये एक तेलीय योग बनाने में उपयोग किये जाते हैं (Kirt. & Basu, II, 1525; Rama Rao, 247).

जै. सम्बक (लिनिअस) एटन *J. sambac* (Linn.) Ait.

अरेबियन जैसमिन, टस्कन जैसमिन

ले. — जा. सम्बाक

D.E.P., IV, 544; Fl. Br. Ind., III, 591; Bor & Raizada, 218.

सं. — मल्लिका; हिं. — बनमल्लिका, चम्बा, मोगरा; बं. — मोतिआ, मोगरा; म. — मोगरा, बाट-मोगरी; ते. — वोड्डुमल्ले, गुंडुमल्ले, मन्मथवाणमु; त. — अडुक्कुमल्ली, गुंडुमल्ली, विरुपाक्षी, कुडा-मल्लिगे; क. — एलुसुट्ट मल्लिगे, इरुवन्तिगे, गुंडुमल्लिगे; मल. — चेरुपिच्चाकम, कुडमुल्ला, नल्लामुल्ला.

यह आरोही या अर्ध-खड़ी झाड़ी है जो समस्त भारत में, अधिकतर कृष्ण, पायी जाती है। इसकी शाखायें रोमिल; पत्तियाँ सम्मुख या कभी-कभी त्रिक-विन्यासी, आकृति में परिवर्तनशील, साधारणतया अण्डाकार या दीर्घवृत्तीय, अरोमिल या अरोमिलप्राय, स्पष्ट पार्श्वक शिराओंयुक्त; फूल सफेद, अत्यन्त सुगन्धित अकेले या तीन फूलों के अन्तस्थ ससीमाक्षों पर; बाह्य दलपुंज 5-9 दन्तयुक्त, रेखीय-सूच्यग्री; पंखड़ी पुंज की पालियाँ संकरी, आयताकार, लम्बाग्र या कुण्डाग्र, कृष्ण होने पर गोलाकार और अण्डप पकने पर काले होते हैं।

यह पौधा अपने अत्यन्त सुहावनी सुगन्ध वाले फूलों के लिए बहुत पसन्द किया जाता है और लगभग संसार भर में उष्ण तथा उपोष्ण कटिबंधीय क्षेत्रों में लगाया जाता है। यद्यपि यह भारत में प्राचीनकाल से बोया जाता है, लेकिन इसका मूल स्थान भारत के पश्चिम में कोई क्षेत्र समझा जाता है: यह बहुत परिवर्तनशील है और इस जाति के अन्तर्गत उद्यानी नस्लों की एक बड़ी संख्या आती है। भारतीय नस्लें 4 स्पष्ट समूहों में विभाजित की जा सकती हैं: (1) मोतिया बेला (त. — विरुपाक्षी; क. — इरुवन्तिगे) — इसके फूल दोहरे, पंखड़ियाँ वृत्ताकार, और कलियाँ गोलाकार होती हैं; (2) बेला (त. — गुंडुमल्ली) — इसके फूल भी दोहरे और पंखड़ियाँ लम्बोतरी होती हैं; (3) हजार बेला (क. — सूजी मल्लिगे) — इसके फूल एकल होते हैं; और (4) मूंगरा (त. — अडुक्कुमल्ली; क. — एलुसुट्ट मल्लिगे) — इसमें पंखड़ियों के अनेक चक्र होते हैं, पंखड़ियाँ वृत्ताकार होती हैं और कलियाँ व्यास में लगभग 2.5 सेंमी. होती हैं (Burkill, II, 1264; Krishnaswamy & Raman, *J. Indian bot. Soc.*, 1948, 27, 77; Bhatnagar, *Sci. & Cult.*, 1955-56, 21, 613).

यह पौधा कलमों से जै. ऑक्सिनेल रूप ग्रैंडिफ्लोरस के समान बोया जाता है। इसे सूखी स्थितियों पसन्द हैं और जब यह सीधा धूप में होता है तो बहुत अधिक फूलता है। इसकी खेती अन्य जैसमिन के समान ही की जाती है। यह गर्मियों और वर्षा के दिनों में फूलता है और फूलने से पहले पत्तियाँ तोड़ देने से कलियाँ बहुत अधिक आती हैं।



चित्र 65 — जैसमिनस सम्बक

दोहरे फूल वाली किस्में सबसे अधिक लगाई जाती हैं। वे व्यापारिक पैमाने पर उत्तर प्रदेश के भागों (कन्नौज, जौनपुर, गाजीपुर और सिकन्दरपुर) तथा तमिलनाडु में बोई जाती हैं। फूलों की औसत उपलब्धि प्रति हेक्टर 1,500 किग्रा. (3,000-4,000 फूल प्रति किग्रा.) और अधिकतम उपलब्धि 2,500 किग्रा. होती है। उत्तर प्रदेश में इस जैसमिन की खेती का क्षेत्रफल सारणी 1 में दिया गया है (Dhingra et al., *Perfum. essent. Oil Rec.*, 1953, 44, 11).

जै. सम्बक को अक्सर शल्की कीट आक्रांत करते हैं, जिससे पत्तियों पर काली फफूंदियाँ उग आती हैं। जैसमिन मक्खी की इल्लियाँ, जो एक सेसिडोमाइड हैं, कलियों को बहुत हानि पहुँचाती हैं। पैराथियोन (0.025%) में सैण्डोविट चेप की भाँति मिलाकर छिड़कने से इस शत्रु को वश में रखा जा सकता है (Bor & Raizada, 218; Rao et al., *Andhra agric. J.*, 1954, 1, 313).

जै. सम्बक के फूल भारत में आमतौर से मालायें, गुलदस्ता बनाने तथा पूजा-अर्चना में इस्तेमाल किये जाते हैं। चीन में वे चाय को सुरसता देने के लिए उपयोग किये जाते हैं। 100 किग्रा. चाय को सुरस बनाने के लिए लगभग 30 किग्रा. फूल, 10 किग्रा. जै. पेनिकुलेटम के फूलों के साथ मिलाये जाते हैं। मलाया में इसके फूल नारियल के केश-तेलों को सुगन्धित बनाने के काम में लाये जाते हैं (Burkill, II, 1204; *Encyclopaedia Britannica*, 1938, XII, 969).

सुगन्धि निष्कर्षण के लिए जै. सम्बक के फूल जै. ऑफिसिनेल, रूप ग्रैंडफ्लोरम के फूलों के समान ही उपचारित किये जाते हैं। यह अनुमाना गया है कि प्रति वर्ष लगभग 160 क्विंटल फूल सुगन्धित तेल बनाने के लिए और 100 क्विंटल फूल इत्र तैयार करने के लिए काम में लाये जाते हैं। फूलों को पेट्रोलियम ईथर से निष्कर्षित करने पर 0.43% पोमेड मिलता है जो 26.39% परिशुद्ध पदार्थ (एन्सोलेयूट) देता है। यह पदार्थ रंग में गहरा लाल होता है और उसकी सुगन्ध से चमेली और नारंगी के फूल की याद आती है। यह अत्यन्त गर्म, तेज और शक्तिशाली होती है। बसावन विधि से तैयार किये हुये पूर्वी अफ्रीका से प्राप्त एन्सोलेयूट के लक्षण निम्नलिखित थे : वि. घ. 15° , 1.024; $[\alpha]_D^{20}$, +2.41°; n_D^{20} , 1.5061; और साव. मान, 153.3. भारतीय फूलों से प्राप्त पोमेड (बैजीन निष्कर्षण) और इत्र (सीधा आसवन) के लक्षण सारणी 2 में दिये गये हैं। विभिन्न विधियों से इत्र की जो उपलब्धियाँ होती हैं, वे सारणी 3 में अंकित हैं। इस इत्र की महक बहुत सुहानी और टिकाऊ होती है। यह उच्च श्रेणी की सुगन्धें, अंगराग और नहाने का साबुन बनाने में उपयोग किया जा सकता है। इसमें एस्टर (बैजिल ऐसीटेट के रूप में), 32.45-35.20; ऐल्कोहल (लिनालूल के रूप में), 30.73-35.58; मेथिल ऐथानिलेट, 2.88-3.51; और इंडोल, 2.75-2.82% होता है (Naves & Mazuyer, 196, 201; Dhingra et al., *Perfum. essent. Oil Rec.*, 1953, 44, 11)।

इन फूलों में एक पीला रंजक होता है जो केसर के स्थान पर उपयोग किया जाता है (Wehmer, II, 957)।

इसके फूल और पौधे के अन्य भाग चिकित्सा में उपयोग किये जाते हैं। मलाया में इसके फूल रक्त की अधिकता से उत्पन्न सिर की पीड़ा के लिए लेप बनाने में प्रयुक्त किये जाते हैं। इसके फूलों से तैयार किया हुआ लोशन चेहरे और आँखों के घोंने के लिए उपयोग किया जाता है। कुचले हुये फूल कभी-कभी दुग्ध-शोषक औषध की भाँति इस्तेमाल किये जाते हैं। पत्तियों का काढ़ा ज्वरों में दिया जाता है। पत्तियाँ पुलिटिस की भाँति त्वचा रोगों और ब्रणों पर लगायी जाती हैं। जड़ें पत्तियों के साथ चक्षु-लोशन में उपयोग की जाती हैं (Burkill, II, 1266; Kirt. & Basu, II, 1516)।

जै. स्कैंडेस वाल J. scandens Vahl

ले. — जा. स्कानडेन्स
Fl. Br. Ind., III, 595.

नेपाल — हारे लहरा.

यह एक रोमिल टहनियों वाली आरोही झाड़ी है जो सिक्किम, बंगाल और असम की निचली पहाड़ियों में और इससे भी दक्षिण की ओर बिहार, उड़ीसा तथा उत्तरी सरकार में पायी जाती है। इसकी पत्तियाँ अण्डाकार-भालाकार, लम्बाय, गोलाकृत आधारयुक्त; ससीमाक्ष घने, अक्सर छोटी कक्षीय टहनियों पर; फूल सफेद, गुलाबी रंजित, अत्यन्त गन्ध-वान; पंखड़ी पुंज की नलिका छोटी; पालियाँ आयताकार, निशिताग्र; अण्ड दीर्घवृत्ताभ होते हैं। इस पौधे में फूल नवम्बर-फरवरी में लगते हैं और फल गर्मियों के आरम्भ में आते हैं। इस पौधे की जड़ दाद की चिकित्सा में उपयोगी बतायी जाती है। पत्तियों में एक कड़वा पदार्थ, जैस्मिग्लैनिन, और एक निष्क्रिय ऐल्कलायड होता है (Kirt. & Basu, II, 1524; Firminger, 463; Wehmer, II, 957)।

जै. ह्यूमाइल लिनिअस सिन. जै. इनोडोरम जैविन; जै. रिबोलेयूटम सिम्स; जै. क्रिसेन्थेमस रॉक्सवर्ग; जै. वाली-शियानम लिण्डले; जै. प्यूबिजेरम डी. डान बीटा ग्लैन्नम द कन्दोल; जै. बिग्नोनिएसियम वालिश J. humile Linn.
पीत जैसमिन, इटालियन जैसमिन, नेपाल जैसमिन

ले. — जा. हूमिले

D.E.P., IV, 543; Fl. Br. Ind., III, 602.

सं. — स्वर्णयूधिका, हेमपुष्पिका; हि. — पीली चमेली, पीली जुई, मालती; बं. — स्वर्णजुई; तै. — पच्चा अडविमल्ले; त. — सेमल्लिंग; क. — हसुरमल्लिंगे; मल. — योनमल्लिंगा.

कुमार्यु — सोनाजाही.

यह अरोमिल और कोणीय शाखाओं वाली एक सीधी और विसरित झाड़ी है जो 2,700 मी. तक ऊँचे उपोष्ण-कटिबंधीय हिमालय की पर्वतश्रेणियों में कश्मीर से लेकर नेपाल तक और आबू पर्वत तथा दक्षिण भारत के 1,500 मी. से ऊँचे पर्वतों में पायी जाती है। पत्तियाँ एकांतर; पत्रक 2 से 11 तक, आकार में पर्याप्त परिवर्तनशील; पुष्प पीले, सुगन्धित, अकेले या छोटे अंतिम, युक्त, समशिव बहुवर्चस्की



चित्र 66 — जैसमिनम ह्यूमाइल किस्म बिग्नोनिएसियम — पुष्पित शाखा

सारणी 5 — भारत में कुछ जैसमिनम जातियों का विवरण और उनका श्रृंगारिक महत्व

जातियाँ	विवरण	पुष्पन काल	फूलों का रंग और गन्ध	विशेष
जै. एजोरिकम लिनिअस	..	फरवरी	सफेद, गन्धहीन	खूब फूलने के कारण कृष्ट ⁸
जै. एटेनुएटम रॉक्सबर्ग एक्स जी. डान	असम, खासी और लुशाई पहाड़ियाँ	मार्च — अप्रैल	चटक लाल, गुलाबी या सफेद ³	..
जै. ऐम्प्लेक्सिकॉले बुखनन-हेमिल्टन एक्स जी. डान सिन. जै. अण्डुलेटम केर-गालर, नान विल्डेनो	सिक्किम, भूटान, असम, खासी पहाड़ियाँ, 1,500 मी. की ऊँचाई तक	सितम्बर — नवम्बर	सफेद, सुगन्धवान ¹	..
जै. कैलोफिलम वालिश एक्स द कन्दोल	वड़ौदा, दक्षिणी पठार, पश्चिमी घाट, नीलगिरि, अनामलाई, तिरुवेली की पहाड़ियाँ, 1,200 मी. तक	..	सफेद गन्धवान	कृष्ट ^{6,10}
जै. कोम्प्लैटम रॉक्सबर्ग	असम, खासी और लुशाई पहाड़ियाँ, 1,200 मी. तक	अप्रैल — जून	सफेद, गन्धवान ^{2,3}	..
जै. ग्लैडुलोसम वालिश एक्स जी. डान	उत्तरी पश्चिमी हिमालय, नेपाल, सिक्किम, खासी, अका, और लुशाई पहाड़ियाँ	जुलाई — अगस्त	सफेद, गन्धवान ²	..
जै. डाइर्बसिफोलियम कोब्सकी सिन. जै. हेटेरोफिलम रॉक्सबर्ग, नान मोंग	नेपाल, उत्तर बंगाल, असम पहाड़ियाँ, खासी पहाड़ियाँ और मणिपुर	अप्रैल — मई	पीला, सुहावनी गन्ध वाला ^{1,3,8}	कृष्ट
जै. डिस्पर्सम वालिश	उपहिमालयी क्षेत्र में 2400 मी. तक कश्मीर से भूटान तक और खासी तथा जयन्तिया पहाड़ियाँ	अप्रैल — मई	सफेद अथवा गुलाबी आभा से रंजित, गन्धवान ³	..
जै. इमिकोसम डब्ल्यू. डब्ल्यू. स्मिथ	नागा पहाड़ियाँ और मणिपुर	..	भीतर सफेद, बाहर गहरे गुलाबी या लाल, गन्धवान ^{1,3}	..
जै. नर्वोसम लारीरो सिन. जै. एनास्थो-मोसिस वालिश एक्स द कन्दोल	भूटान, उत्तर बंगाल, असम, खासी और लुशाई पहाड़ियाँ	जनवरी — अप्रैल	सफेद, गन्धवान ^{1,2}	..
जै. फ्रैट्रैक्स लिनिअस	चटक पीले, गन्धहीन	कृष्ट; जड़ें जेलसीमियम में मिलावट के लिए, फूलों में मैनीस, जैस्मिनीन और सिरिजोन ^{9,11,14}
जै. ब्रेविलोबम ए. द कन्दोल	पश्चिमी घाट, नीलगिरि और पलनी, 900 मी. से ऊपर	जून — सितम्बर	सफेद, बहुत गन्धवान ⁷	..
जै. रिजिडम जैकेर, नान ध्वेत्स	दक्षिण और कर्नाटक, पश्चिमी घाट के मैदान और पहाड़ियाँ 1,800 मीटर तक	मार्च — अप्रैल	सफेद, बहुत गन्धवान ⁷	कृष्ट; कारिसा पोसि-नविया द कन्दोल के समान
जै. लैन्तिप्रोलेरिअस रॉक्सबर्ग सिन. जै. पेंनिकुलेटम रॉक्सबर्ग	अका, नागा, खासी और जयन्तिया पहाड़ियाँ, 1,500 मीटर तक	अप्रैल — मई	सफेद, बहुत गन्धवान	कृष्ट; फूल चीन में चाय को सुगन्ध देने के लिए प्रयुक्त ^{7,12,13,15}
जै. लॉरिफोलियम रॉक्सबर्ग	असम, अका, खासी और लुशाई पहाड़ियाँ	मार्च — मई	कलियाँ लाल, पंखड़ी पुंज अंशतः लाल, हल्की गन्ध वाले ^{2,3}	कृष्ट ⁹
जै. सबड्विस्तिनबे ब्लूम	उत्तरी बंगाल, असम और खासी पहाड़ियाँ, 1,650 मी. तक	अप्रैल — मई	सफेद, सुगन्धित ³	..
जै. सिरिजेफोलियम वालिश एक्स जी. डान	असम	दिसम्बर — अप्रैल	हल्का गन्धवान	कृष्ट ^{8,9}
जै. स्ट्रुटम हेन्स	छोटा नागपुर में ही	मई — जून	भीड़ा गन्धवान ^{1,5}	..

¹Kobuski, *J. Arnold Arbor.*, 1932, 13, 145; 1939, 20, 403. ²Fischer, *Rec. bot. Surv. India*, 1938, 12(2), 110. ³Fl. Assam, III, 225-34. ⁴Haines, IV, 525. ⁵Mooney, 85. ⁶Cooke, II, 115. ⁷Fyson, I, 387. ⁸Firminger, 460-63. ⁹Burns & Davis, 61. ¹⁰Sampson, *Kew Bull. Addl Ser.*, XII, 1936, 99. ¹¹Wehmer, II, 957. ¹²Finnemore, 689. ¹³Parry, I, 277. ¹⁴Youngken, 659. ¹⁵Encyclopaedia Britannica, 1938, XII, 969.

में; दलपुंज 5, अण्डाकार या कुण्डाग्र; अण्डप पकने पर काले होते हैं और उनमें किरमिजी रंग का रस होता है।

इस जाति के अन्तर्गत पाये जाने वाले पौधे बहुत परिवर्तनशील हैं और आये दर्जन से अधिक विशेष नामों का उल्लेख है। ये भारतवर्ष और चीन में पाये जाते हैं। ये विशेष नाम, फ्लो. ब्रि. इ. और अधिकांश उत्तर भारतीय फ्लोरा में एक अकेली जाति, जै. ह्यूमाइल के अन्तर्गत दिये गये हैं परन्तु उद्यान विज्ञान साहित्य में इनका पृथक्-पृथक् वर्णन किया गया है। यद्यपि उत्तर भारतीय और चीन में प्राप्त पादपों की विभिन्नताओं के ध्यानपूर्वक अध्ययन के आधार पर इनको एक अकेली जाति में मिला देना सम्भव है तथापि इनमें प्राप्त पर्याप्त परिवर्तनशीलता के कारण यदि इनको उपजातियों के रूप में नहीं तो पृथक्-पृथक् प्रकार के रूपों में रखना अधिक सुविधाजनक है। एक विशेष नाम जै. विग्नो-निएसियम वालिश के अन्तर्गत प्राप्त भारतीय सामग्री का ध्यानपूर्वक अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि यह अपने उत्तर भारतीय प्रतिरूप से भिन्न है और इसे यदि एक जाति के रूप में नहीं, तो एक प्रकार के रूप में मानना चाहिये (Kobuski, *J. Arnold Arbor.*, 1932, 13, 145; 1939, 20, 403; Fyson, *Flora of the Nilgiri & Pulney Hill tops*, 1915, I, 276)।

ये पौधे उद्यानों में अपने सुगन्धित पीले पुष्पों के लिए उगाये जाते हैं। ये कलम या बीज के द्वारा सरलतापूर्वक प्रवर्धित किये जाते हैं। दार्जिलिंग में इनमें लम्बी अवधि तक पुष्पन होता है और बीज सरलता से प्राप्त होते हैं। इन फूलों से इत्रशालाओं में उपयोग होने वाले सौरभिक वाष्पशील तेल प्राप्त होते हैं। मूलों से पीले रंग का रंजक निष्कषित किया जाता है। जड़ें दाद में उपयोगी सिद्ध हुई हैं। छाल में कटन से निस्सृत द्रविया रस पुराने नाड़ी व्रण और भगंदर की अस्वास्थ्यकर परतों के विनाश में प्रभावी होता है (Bailey, 1947, II, 1719; Chittenden, II, 1087; Bor & Raizada, 222; Kirt. & Basu, II, 1521)।

जै. न्यूडिफ्लोरम लिंडले एक भूस्तारी पर्णपाती झाड़ी है जिसका मूल स्थान चीन है। भारतीय वगीचों में इसे बोनो का प्रयत्न किया गया है, लेकिन कोई विशेष सफलता प्राप्त नहीं हुई है। इसकी पत्तियाँ सम्मुख, त्रिपर्णकी; और फूल अकेले, पीले होते हैं। यह पौधा स्वेदकारी समझा जाता है। पत्तियों और दहनियों में टैनिन (क्रमशः 0.47 और 1.80%) होता है। पत्तियों में एक ग्लूकोसाइड, सिरिजिन, जैस्मिफ्लोरीन, मैनेस और एक कड़वा पदार्थ, जैस्मिपिक्रीन भी होता है (Bailey, 1947, II, 1718; Firminger, 462; Roi, 404; *Chem. Abstr.*, 1942, 36, 2438; Wehmer, II, 957)।

जै. ओडोरेटिसिमम लिनिअस एक खड़ी अरोमिल झाड़ी है जिसका मूल स्थान मेडीरा और केनरी द्वीप है। इसकी शाखायें अनम्य, गुंडाकार या तनिक कोणीय; और फूल पीले, सुगन्धित होते हैं। यह भारत के कुछ भागों में उगायी जाती है। यह पौधा फारमोसा में अपने फूलों के लिए बोया जाता है, जो चाय को सुगन्धित बनाने के लिए उपयोग किये जाते हैं। इसके फूल सूख जाने पर भी सुगन्धित रहते हैं और उनकी सुगन्ध चमेली, नरगिस और नारंगी के फूलों की गंधों के मिश्रण के समान होती है। उनके निष्कर्षण से एक द्रवताम भूरा ऐन्सोल्यूट (परिशुद्ध पदार्थ) (0.116%) प्राप्त होता है। इसके स्थिरांक निम्नलिखित हैं : वि. घ. 1.5° , 0.9309; $[\alpha]_D^{25}$, $+5.64^\circ$; n_D^{25} , 1.4845; अम्ल मान, 5.85; सावु. मान, 92.25; और ऐसीटिलीकरण के बाद एस्टर मान, 186.20. परिशुद्ध पदार्थ में लिनालूल, *d*-लिनेलिल ऐसीटेट, वैजिल ऐल्कोहल, वैजिल ऐसीटेट. मेथिल ऐथानिलेट. इंडोल और एक

सेस्क्वीटर्पीन या डाइटर्पीन ऐल्कोहल होता है। इसमें जैस्मोन नहीं पाया जाता (Cooke, II, 114; Naves & Mazuyer, 199-200; Poucher, II, 142; Parry, I, 276)।

जिन जातियों का यहाँ विवरण दिया गया है, उनके अतिरिक्त बहुत-सी जातियाँ जंगली होती हैं या अपने सुगन्धित सफेद या पीले फूलों के लिए वगीचों में बोयी जाती हैं। उनमें से बहुत-सी उपहिमालयी क्षेत्र में कुमायूँ से असम तक पायी गई हैं। भारत में उनके वितरण से सम्बन्धित जानकारी का सारांश सारणी 5 में दिया गया है।

J. inodorum Jacq.; *J. revolutum* Sims; *J. chrysanthemum* Roxb.; *J. wallichianum* Lindl.; *J. pubigerum* D. Don; β *glabrum* DC.; *J. bignoniaceum* Wall.; *J. nudiflorum* Lindl.; *J. odoratissimum* Linn.; *J. azoricum* Linn.; *J. attenuatum* Roxb. ex G. Don.; *J. amplexicaule* Buch.-Ham. ex G. Don syn. *J. undulatum* Ker-Gawl., non Willd.; *J. calophyllum* Wall. ex DC.; *J. coarctatum* Roxb.; *J. glandulosum* Wall. ex G. Don; *J. diversifolium* Kobuski syn. *J. heterophyllum* Roxb., non Moench; *J. dispernum* Wall.; *J. dunicolum* W. W. Smith; *J. nervosum* Lour. syn. *J. anastomosans* Wall. ex DC.; *J. fruticans* Linn.; *Gelsenium*; *J. brevilobum* A. DC.; *J. rigidum* Zenker, non Thw.; *Carissa paucinervia* DC.; *J. lanceolarium* Roxb. syn. *J. paniculatum* Roxb.; *J. laurifolium* Roxb.; *J. subtripinerve* Blume; *J. syringae-folium* Wall. ex G. Don; *J. strictum* Haines

जोंकें (संघ - ऐनेलिडा; वर्ग - हिरुडिनिया) LEECHES

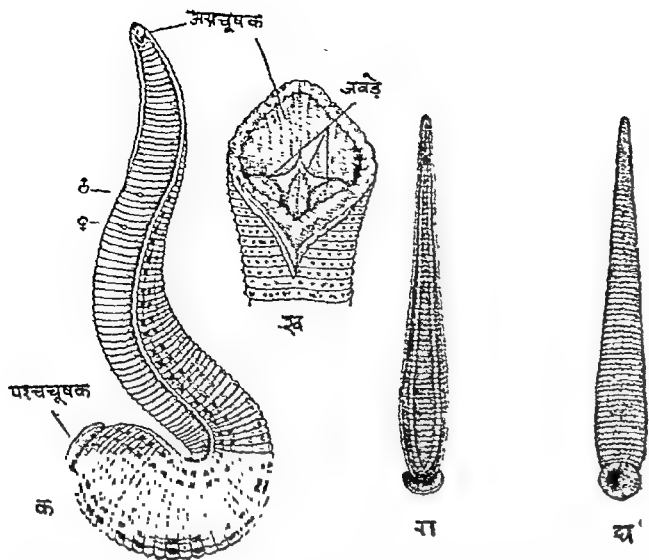
D.E.P., IV, 619; Fn. Br. Ind., Hirudinea, 1927.

सं. - रक्तप, जलोका, जल-सपिणी; हि. - जोंक, जालु, जोक; बं. - जोंक; गु. - जला; ते. - जलगलु; त. - अट्टे; क. - जिगण; मल. - अट्टा.

कश्मीर - ड्रिंक.

जोंकें मांसाहारी या खून चूसने वाले ऐसे ऐनेलिड कृमि हैं जिनमें अपने शरीर के प्रसारण या संकुचन की अद्भुत क्षमता पाई जाती है। ये दोनों ध्रुवों, मरुस्थलों तथा 3,700 मी. से अधिक ऊँचाई वाले स्थानों को छोड़कर समस्त संसार में पायी जाती हैं। 22 वंशों की लगभग 45 जातियाँ भारत में पाई जाती हैं।

जोंकें जलीय, जल-स्थलीय या स्थलीय हो सकती हैं। इनकी लम्बाई कुछ मिमी. से लेकर 30 सेंमी. या और अधिक हो सकती है। इनके शरीर के दोनों सिरों पर एक-एक चूषण अंग होता है, जिसका मुख अग्रभाग के अन्तर्गत ही होता है। जोंकें इन्हीं चूषण अंगों की सहायता से आगे बढ़ती हैं। आगे चलते समय इनका शरीर, कुंडली जैसा बनता है और तैरते समय तरंगों की तरह गति करता है। जोंकें उभयलिङ्गी होती हैं। अधिकतर जोंकों में निषेचन हाइपोडर्मिक गर्भाधान द्वारा होता है। अण्डे पर्याणिका (क्लाइटेल्म) के साव से घने कोषों में दिये जाते हैं। ये कोषे पानी में डुबी हुई किसी भी अन्य वस्तु से संलग्न रहते हैं या किनारे पर छोटे बिलों में पड़े रहते हैं। इन अण्डों के विकास में कोई डिम्बक अवस्था नहीं आती और वे सीधे ही जोंकों में परिवर्तित हो जाते हैं। जोंकें मानमून में क्रियाशील होती हैं और अधिक शीत में अपने को कीचड़ में दबा कर निष्क्रिय पड़ी रहती हैं। शीत निष्क्रियता की यह अवस्था वसंत में समाप्त होती है। वसंत ही इनकी प्रजनन ऋतु है।



चित्र 67—क : हिस्डिनैरिया ग्रैनुलोसा, भारतीय गौ पशु जोंक; ख : जोंक का खुला हुआ अग्रचूषक, तीन जबड़े दृष्टि हुए; ग : होमैडिप्सा का पृष्ठीय चित्र; घ : होमैडिप्सा का अधरीय चित्र

अधिकतर जोंकें स्थायी या अस्थायी रूप से परजीवी हैं और अपने परपोषी से चिपक कर उसका रक्त चूसती हैं। रक्त चूसने के लिए, अग्रचूषक जबड़ा और पेशीय ग्रसिनी अत्यंत सक्षम यंत्र की भांति कार्य करते हैं। चूसा हुआ रक्त अन्नपुट के पारिक्क अपवर्धों में जमा होता है। ग्रसिनी में नीचे उतरते समय रक्त में अधिक साव मिश्रित हो जाता है जो उसका स्कंदन नहीं होने देता। जोंक, एक बार में, अपने भार से कई गुना अधिक रक्त चूस लेती है जो कई महीनों के लिए पर्याप्त होता है (Encyclopaedia Britannica, XIII, 866; Pycraft, 51-53; Matthai, *J. Asiat. Soc. Beng., N.S.*, 1920, 16, 341; Bhatia, *Indian zool. Mem.*, 1941, 8; Brookeworth, *J. Bombay nat. Hist. Soc.*, 1951-52, 50, 423; Harrison, *ibid.*, 1952-53, 51, 959; 1954-55, 52, 468; Champion Jones, *ibid.*, 1954-55, 52, 650; Sykes, *ibid.*, 1955-56, 53, 148).

सामान्य भारतीय जोंकें हिस्डिनैरिया ट्विटेमैन, होमैडिप्सा टेनेण्ट, हिस्डो लिनियस और डिनोडेल्ला मूर वंश की हैं। अधिक नमी वाले स्थान इनके अनुकूल हैं। अतः ये 2,500 मी. तक की ऊँचाई तक के अधिक वर्षा वाले जंगलों में बड़ी संख्या में पायी जाती है। चाय क्षेत्रों, आइ चरगाहों, बड़े वृक्षों के नीचे उगी झाड़ियों, चावल के खेतों, दलदलों, कीचड़ या थोड़े पानी वाले उन स्थानों पर जहाँ भैंसें लोट कर अपनी गर्मी शांत करती हैं तथा छोटे तालाबों में भी ये सामान्य रूप से पाई जाती हैं।

जोंकें मनुष्य और पशुधन दोनों के ही लिए कष्टप्रद हैं। इनके आक्रमण से बने घाव कभी-कभी इतने गंभीर हो सकते हैं कि शरीर के अंग बेकार हो जाएँ। हिस्डिनैरिया ग्रैनुलोसा (सैविग्नी) जोंकें मनुष्यों पर अक्सर आक्रमण करती हैं और दलदली स्थानों पर भवन निर्माण कार्य करने वालों को यह काफ़ी कष्ट देती हैं। हि. जैवैनिका (वालवर्ग) और हि. मैनीलेन्सिस (लेसन) मनुष्यों और पशुओं, दोनों ही पर आक्रमण करती हैं। होमैडिप्सा वंश की जोंकें, बहुसंख्यक होने के कारण विशेष रूप से कष्टप्रद हैं। ये पक्षियों से चिपक करके दूर-दूर तक फैल जाती

हैं। होमैडिप्सा जीलेनिका मोकिन-टंडन, हो. साइलवेस्ट्रिस ब्लैचर्ड, हो. ओरनेटा मूर (संस्कृत - इंद्रायुध) और हो. मोनटेना मूर जोंकों की सामान्य भारतीय जातियाँ हैं। हो. ओरनेटा असम के पहाड़ी इलाकों में पाई जाती है और अन्य जातियों की तुलना में इसके काटने से काफ़ी पीड़ा होती है। साथ में संलग्न पूति-जीवाणुओं के कारण, इसका काटना कभी-कभी मृत्यु का कारण भी बन सकता है। दार्जिलिंग के निकट पलनी पहाड़ियों पर पाई जाने वाली हो. मोनटेना जोंकों की रक्त चूसने की क्षमता अद्भुत बताई जाती है। हीरुडो विरमैनिका (ब्लैचर्ड) का आक्रमण मनुष्यों पर और संभवतः घरेलू और जंगली जानवरों पर भी होता है। डिनोडेल्ला फेराक्स (ब्लैचर्ड) (संस्कृत-शवरिका), जो पशुओं पर आक्रमण करने के लिए वदनाम है, भारत में दूर-दूर तक, और असम, पंजाब, तथा उत्तर प्रदेश में 2,300 मी. की ऊँचाई तक विशेष रूप से अधिक संख्या में पाई जाती है। घरेलू जानवरों की मुख-गुहा की दीवारों, नाक के अंदर ग्रसनी और कंठ से इस जाति की जोंकें बड़ी संख्या में एक साथ चिपट जाती हैं। परिणामस्वरूप बेचारा शिकार दुर्बल हो जाता है और कभी-कभी तो उसकी मृत्यु हो जाती है। स्थलीय तथा जलीय दोनों ही प्रकार की जोंकें रक्त तथा चर्म के कुछ रोगों के फैलाने में मध्यवर्ती परपोषी का कार्य करती हैं।

उष्णकटिबंध के अधिक वर्षा वाले जंगलों एवं वागानों में रहने वाले व्यक्ति जोंकों से सुरक्षा के लिए अक्सर जूतों में तंबाकू की पत्तियाँ भर लेते हैं तथा टखनों पर निकोटीन सल्फेट के विलयन में भिगोयी गई पट्टियाँ बाँधते हैं। कीड़े-मकौड़ों को दूर भगाने वाले रसायन जैसे डाइमेथिल थैलेट, डाइव्यूटिल थैलेट, वैजिल वेंजोएट तथा 2-एथिल हेक्सेनडाइयोल केवल 2-3 घण्टों के लिए सुरक्षा प्रदान करते हैं। खुले अंगों पर, एक भाग दालचीनी का तेल और सात भाग वैसेलीन मिलाकर लेप कर देने से भी कुछ समय के लिए वृत्त हो जाती है। रेंडी के गर्म तेल या पिघली हुई पेट्रोलियम जेली में पिरिडीन और मोम मिलाकर लेप करने से भी कई दिनों तक खुले अंग सुरक्षित रहते हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका की सेना में एक प्रतिकर्षी एम-1960 का प्रयोग किया जाता है, जिसमें संसिक्त किये गये कपड़े घुन, मच्छर और पिस्सुओं से बचाव करते हैं। यह प्रतिकर्षी स्थलीय जोंकों के विरुद्ध भी प्रभावकारी है (Brookeworth, *J. Bombay nat. Hist. Soc.*, 1951-52, 50, 423; Smythies, *ibid.*, 1952-53, 51, 954; Williams, *ibid.*, 1954-55, 52, 652; Sykes, *loc. cit.*; Narasimhan & Thirumalachar, *Curr. Sci.*, 1945, 14, 342; *Indian For.*, 1946, 72, 173; Traub *et al.*, *Nature, Lond.*, 1952, 169, 667; Harrison, *J. Bombay nat. Hist. Soc.*, 1954-55, 52, 468; Bailey, *ibid.*, 1954-55, 52, 652; Mathews, *ibid.*, 1954-55, 52, 655).

चिकित्सा के क्षेत्र में जोंकों का उपयोग रक्तसाव के लिए तथा स्कंदन-रोधी पदार्थ के निर्माण के लिए होता है। किसी समय भारत और अन्य देशों में जोंकें दूषित व्रणों तथा शरीर के अन्य रक्ताधिक्य वाले भागों से रक्त निकालने के लिए प्रयोग की जाती थीं; पर अब कुछ गाँवों को छोड़ कर शेष स्थानों में यह चलन बंद हो गया है। इस कार्य के लिए हिस्डिनैरिया [पोसिलोडेल्ला ग्रैनुलोसा (सैविग्नी)] (सं. - अलगदा) प्रयुक्त होती थी जो तमिलनाडु, केरल, मध्य प्रदेश, उत्तर प्रदेश और पंजाब राज्यों में बहुतायत से पाई जाती है। जोंकों का संवर्धन नम मिट्टी के भरे पात्रों में किया जाता है। रक्त चूसने के बाद जब जोंक गिर जाती है तब उँगलियों के बीच दबाकर या नमकीन जल या कपूर जल में डालकर उससे सारा रक्त उगलवा लिया जाता है। अब यह जोंकें दुबारा रक्त चूसने के लिए तैयार हो जाती है।

जोंकों की मुख-गुहा से निकलने वाले साव में एक क्रियाशील तत्व हिस्ट्रिन है जो रक्त के स्कंदन को रोकता है। जोंकों से इसका निष्कर्षण 38° – 40° पर साधारण नमकीन जल द्वारा किया जाता है; प्रत्येक जोंक से 3 मिग्रा. तक की मात्रा प्राप्त होती है। इसका उपयोग शल्य-क्रिया में स्कंदनरोधी के रूप में किया जाता है। रक्तस्राव और शल्य-क्रिया के बाद होने वाले फुफुस-शोथ के निरोध में भी इसका प्रयोग किया जाता है। वाजारों में मिलने वाला हिस्ट्रिन कभी-कभी विप्रेला होता है। ऐसा संभवतः प्रयन के कारण है। जोंक-निष्कर्षण दमा, नासाग्र-सनी शोथ और आकर्षी प्रतिद्रव्य के उपचार में भी प्रभावकारी बताया जाता है। इसमें एक श्लेष्मसंलायी एंजाइम होता है (Merck Index, 497; U.S.D., 1955, 1735; B.P.C., 1954, 412; Chem. Abstr., 1940, 34, 4397; 1953, 47, 2372)।

वत्तखें, कुछ अन्य चिड़ियाँ और कई प्रकार की मछलियाँ जोंक और उनके कोरों को खाती हैं। जोंकों की कुछ किस्में हानिकर अपृष्ठवंशी जीवों और कीट-लारवों का नाश कर देती हैं और कृन्तक प्राणियों की संख्या कम रखने में सहायक बनती हैं।

Annelida; Hirudinea; Hirudinaria Whitman; *Haemadipsa* Tennent; *Hirudo* Linn.; *Dinobdella* Moore; *Hirudinaria granulosa* (Savigny); *H. javanica* (Wahlberg); *H. manillensis* (Lesson); *H. sylvestris* Blanchard; *H. ornata* Moore; *H. montana*; *Hirudo birmanica*; *Dinobdella ferox* (Blanchard); *Poecilobdella*

जोएनेसिया वेल्लोरे (यूफोर्बिएसी) JOANNESIA Vell.

ले. — जोआन्नेसिया

यह वृक्षों का छोटा वंश है जिसका मूल स्थान ब्राजील है। एक जाति भारत के बगीचों में बोई जाती है।

Euphorbiaceae

जो. प्रिंसेप्स वेल्लोरे J. princeps Vell.

ले. — जो. प्रिंसेप्स

Bailey, 1947, II, 1720.

यह सुन्दर मँडोले आकार का वृक्ष है जिसका छत्र फैला हुआ और पत्तियाँ बड़ी गुच्छों में, रुक्ष शाखाओं के अन्त में होती हैं। यह वृक्ष बहुत से उष्ण देशों में अपनी सुन्दरता, लकड़ी और भेषजोपयोगी बीजों के लिए बोया जाता है। भारत में यह बगीचों में लगाया जाता है। इसकी पत्तियाँ एकान्तर, अंगुल्याकार 3–7 पत्रकों युक्त; पत्रक अण्डाकार, 7.5–10 सेंमी. लम्बे; फूल पुष्पगुच्छी ससीमाक्षों पर अनाकर्षक; फल बड़े व्यास में 10–12.5 सेंमी., रूप में नारियल के समान; और बीज बड़े, रुचिकर स्वादवाली गिरियों से युक्त होते हैं। यह वृक्ष सहिष्णु है, केवल कुछ ही दिन पत्तियों से रहित रहता है और

सड़कों पर लगाने के लिए अच्छा होता है। यह बीजों से बोया जाता है (Firminger, 374)।

इसके बीजों में एक अवाष्पशील तेल (गिरियों के भार का 48–56%) होता है। यह ठण्डा पेरकर अथवा ईथर निष्कर्षण से निकाला जा सकता है। इस तेल का रंग हल्का पीला होता है। इसके स्थिरांक निम्नलिखित हैं: वि.घ. $_{15}^{20}$, 0.923–0.926; n_D^{40} , 1.465–1.471; अम्ल मान, 0.3–2.5; सावु. मान, 189–207; आयो. मान, 116–143; हाइड्राक्सिल मान, 6–9; आर. एम. मान, 1.2; पोलेन्सके मान, 0.3; और असावुनीय पदार्थ, 0.9–1.2%। तेल के रचक बसा-अम्ल हैं: मिरिस्टिक, 2.4; पामिटिक, 5.4; ओलीक, 45.8; और लिनोलीक, 46.4%। चिंतायक निष्कर्षित खली के विश्लेषण से निम्नलिखित मान प्राप्त हुए हैं: आर्द्रता, 5.3; प्रोटोन, 62.8; कार्बोहाइड्रेट, 15.4; असोषित तन्तु, 4.8; और राख, 11.7% (Eckey, 583–85; Jamieson, 236)।

यह तेल विरेचन के लिए, विशेषतया पशु-चिकित्सा में, उपयोग किया जाता है। यह एरण्ड के तेल से 4 गुना अधिक क्रियाशील है और इसके उपयोग में लाभ यह है कि इसकी गन्ध कुछ रुचिकर, स्वाद हल्का या विल्कुल नहीं और श्यानता अल्प होती है। यह तेल कम सूखने वाला है और समुचित अभिक्रिया के बाद रंग और वानिषों में उपयोग किया जा सकता है। इसे 185° पर पाँच घण्टे तक कार्बनडाइऑक्साइड के वातावरण में सीसे और मैंगनीज रेजिनेटों (सीसा, 0.15%; और मैंगनीज, 0.03%) से अभिकृत करने से जो पदार्थ मिलता है उससे संतोषजनक परत बनती है। यह परत 24 घण्टे में सूखती है और विल्कुल अलसी के तेल की परतों के समान ही मौसम को सहन करती है। यह तेल ईंधन-तेल की भाँति और साबुन बनाने के लिए भी इस्तेमाल किया जा सकता है (U.S.D., 1947, 1493; Eckey, 585; Chem. Abstr., 1930, 24, 3667; 1944, 38, 1384)।

इसकी छाल से एक वाष्पशील तेल (2.0–3.8%) प्राप्त होता है। इसका रंग गहरा पीला; गन्ध तेज, लहसुन के समान और स्वाद क्षोभक और अरुचिकर होता है। इसके स्थिरांक निम्नलिखित हैं: वि.घ. $_{4}^{20}$, 0.9225; n_D^{20} , 1.5226; और $[\alpha]_D$, +3 से +4.5°। इस तेल में एक मुक्त अम्ल (3.5%), यूजिनाल (0.55%), एक टर्पीन (12.5%), सेक्वोइटर्पीन (45.5%), गन्धक-युक्त यौगिक, एक ऐल्कोहल और एक फफोले डालने वाला रेजिन (1.7–1.95%) होता है (Freise, *Perfum. essent. Oil Rec.*, 1935, 36, 219)।

इसके बीज विरेचक होते हैं। वे कृमिनाशी भी समझे जाते हैं। इसके फल और छाल को चीर कर निकाला गया सफेद क्षीर मछलियों को मूर्च्छित करने के लिए उपयोग किया जाता है। इसकी लकड़ी सफेद या पीताम्ब, मोटे गठन वाली, हल्की और मुलायम होती है। यह ब्राजील में मोटे कामों में लाई जाती है (U.S.D., 1947, 1493; Wehmer, II, 1275; Record & Hess, 161)।

जौ — देखिए होर्डियम वल्लोरिस

झींगा, चिंगट तथा महाचिंगट (संव आर्थ्रोपोडा; श्रेणी क्रस्टेशिया; उपश्रेणी मालाकोस्टेका; वर्ग डेकापोडा; उपवर्ग मैक्रुरा) PRAWNS, SHRIMPS & LOBSTERS

Alcock, 1906, 1-55; Patwardhan, *Indian zool. Mem.*, 1957, 6, 1-112.

क्रस्टेशिया श्रेणी के प्राणियों, यथा झींगा, चिंगट तथा महाचिंगट का भारत की मात्स्यिकी में एक प्रमुख स्थान है। रूप में मिलते-जुलते झींगा तथा चिंगट दोनों नैटेशिया समूह के प्राणी हैं किन्तु चिंगट झींगों की अपेक्षा आकार में छोटे होते हैं। रेस्टेशिया समूह के महाचिंगट मांसल तथा कवचित जीव हैं। तीनों जीवों का शरीर आकार में लम्बा तथा मुख्य रूप से दो भागों अर्थात् शिरोवक्ष और उदर में बँटा हुआ होता है। शिरोवक्ष, जिसमें 13 खंड होते हैं सिर और वक्ष के समेकन से बनता है। इस प्रकार इसमें सिर के 5 और वक्ष के 8 खंड होते हैं। इन प्राणियों के उदर भाग में 6 खंड होते हैं और अन्तिम खंड के पीछे पूँछ का भाग अथवा 'टेलसन' लगा होता है। प्रत्येक खंड में एक जोड़ी उपांग होता है जो जीव के शरीर की कार्यशीलता के लिए उपयोगी अंग है। सिर के उपांगों में दो जोड़ी शृंगिकाएँ होती हैं जो संवेदनारम्भक कार्य करती हैं। इनके अतिरिक्त एक जोड़ी मेण्डिबल तथा दो जोड़ी मैक्सिला होते हैं जो आहार को पकड़ने और चवाने का कार्य करते हैं। वक्ष के तीन जोड़ी मैक्सिलोपीड उपांग सम्भवतः आहार को पकड़ने का कार्य करते हैं। इनके अतिरिक्त इस भाग में रेंगने के लिए 5 जोड़ी गतिशील टाँगें होती हैं। उदर भाग के उपांग तैरने के अनुकूल होते हैं। नर और मादा अलग-अलग होते हैं तथा इनके प्रजनन अंग शिरोवक्ष भाग में स्थित रहते हैं।

प्राप्ति स्थान और वितरण

झींगा

भारत में व्यापारिक झींगे दो प्रकार के होते हैं — पेनाएडी कुल (खंड पेनाएडिया) के पेनाएड प्रकार तथा पालेमोनिडी कुल (खंड कारिडिया) के पेलेमोनिड प्रकार। पेनाएडी कुल के समुद्र, ज्वारनद संगम तथा पदच जलों में प्राप्त होने वाले ये झींगे भारत की मूल्यवान झींगा मात्स्यिकी के मुख्य अंग हैं।

पेनाएडी

इस कुल के झींगे समुद्र तथा ज्वारनद संगम और पश्चजल जैसे खारे पानी में पाये जाते हैं। ये भारतीय प्रशान्त क्षेत्र में अत्यधिक मात्रा में उपलब्ध हैं। इनमें से अधिकांश अभितट क्षेत्र में उथले जल में, जहाँ का तल मटमैला तथा जिसमें कार्बनिक डेट्रिटस होता है, पाये जाते हैं। कुछ छोटी जातियाँ जैसे कि मेटापेनायस डोबसोनी (मायर्स) और पेरापेनिओप्सिस जातियाँ ऐसे जलों में, जहाँ की गहराई 10—15 फीट (3—5 मी.) से प्रायः अधिक नहीं होती, अत्यधिक मात्रा में पाई जाती हैं। अभितटीय झींगों के केरल के मटियाले सागर

तट में विचरण करने के कारण इस क्षेत्र के मछुए इनके इस स्वभाव का पूरा-पूरा लाभ उठाते हुए तटीय क्षेत्रों से प्रति वर्ष सैकड़ों टन झींगें पकड़ते हैं। कुछ पेनाएड जातियाँ, यथा मेटापेनिओप्सिस कोनोजर बुड-मेसन गहरे जल में रहना पसन्द करती हैं।

पेनाएड समूह के झींगों में पृष्ठवर्ग आगे की ओर प्रक्षेपी माध्यमिक तुण्ड के रूप का होता है और इन झींगों के नेत्र-डण्डल में दो या दो से अधिक जोड़ होते हैं। उदर भाग का पहला खण्ड दोनों ओर से दूसरे खण्ड को ढके हुए होता है। इनके क्लोम पूर्णतया शाखीय होते हैं। गतिशील टाँगों की पहली तीन जोड़ियों पर नखर होते हैं तथा ये आकार में उत्तरोत्तर बड़ी होती जाती हैं। इस समूह के गहरे जलों में रहने वाले झींगों में आँखें या तो छोटी होती हैं अथवा होती ही नहीं हैं।

भारतीय जलों में पेनाएड समूह के तीन मुख्य वंश, पेनाएस फैंब्रीसिकस; मेटापेनायस बुड-मेसन; और पेरापेनिओप्सिस बुड-मेसन पाये जाते हैं जो मात्स्यिकी के मुख्य अंग हैं।

पेनाएस फैंब्रीसिकस

इनका तुण्ड दोनों किनारों से दन्तुर होता है; क्लोम अन्तिम वक्षीय खण्ड में देह-भित्ति से लगे होते हैं; अन्तिम वक्षीय जोड़ी के अतिरिक्त अन्य सभी टाँगें रोएँदार होती हैं। भारतीय जलों से उपलब्ध झींगों में इस वंश के झींगे सबसे बड़े होते हैं।

पे. इण्डिकस, मिल्ले-एडवर्ड्स — (वं. — चपड़ा चिंगड़ी; म. — वेला-चिम्मीन, नारन चिम्मीन)। इसका शरीर पाद्विक रूप से कुछ संपीडित होता है। जीवित अवस्था में झींगे रंग में श्वेत तथा पारभासक होते हैं। इसके पृष्ठवर्ग और उदर पर भूरे, धूसर अथवा हरे रंग के बहुत से छोटे-छोटे धब्बे होते हैं। इसकी शृंगिकाओं तथा अन्य उपांगों के सिरे गुलाबी रंग के होते हैं। ये झींगे आकार में काफी बड़े और लम्बाई में 20 सेंमी. के लगभग होते हैं। ये साधारणतया देश की सम्पूर्ण तटरेखा पर तटीय जल, ज्वारनद संगम, पश्च जलों और तटीय झीलों में पाये जाते हैं।

पे. मोनोडोन फैंब्रीसिकस सिन. पे. कारीनेटस डाना (डि मैन) — (वं. — वागदा चिंगड़ी; मल. — कारा चिम्मीन)। इस जाति के प्रौढ़ झींगों का रंग गहरा होता है। ये गहरे हरे रंग से नीलाभ धूसर रंग के होते हैं। उदर भाग पर आर-पार अपेक्षाकृत गहरी पट्टियाँ होती हैं। इनके प्लवपाद के डण्डल की वाह्य सतह चमकदार पीले रंग की होती है। इस जाति के शिशु झींगे (5—8 सेंमी.) पीलाभ धूसर रंग के होते हैं जिनके प्लवपाद पर हरे चितकवरे तथा अस्पष्ट पीले धब्बे होते हैं। इनसे भी छोटे शिशु 2.5 सेंमी. या इससे कम लम्बे, छरहरे होते हैं। इनका शरीर गहरे धूसर तथा मैले धब्बों के कारण चितकवरा होता है। सम्भवतः ऐसा रंग इनके लिए समुद्री खरपतवार में रक्षा कर पाने के अनुकूल होता है।

इस जाति के झींगे भारतीय पेनाएड झींगों में सबसे बड़े आकार के होते हैं। ये लम्बाई में 30 सेंमी. तथा भार में 142 ग्रा. तक होते हैं। यद्यपि ये समस्त भारतीय तटों पर पाये जाते हैं किन्तु अधिक मात्रा में पकड़ में नहीं आते। इस जाति के शिशु सामान्यतः 12 फीट (3.7 मी.) तक के गहरे जल में और प्रौढ़ 90 फीट (27.4 मी.) तक के गहरे जलों में रहते हैं।

मेटापेनायस वुड-मेसन

इन झींगों के तुण्ड केवल पीठ पर ही दन्तुर होते हैं। इनके अन्तिम वक्ष खण्ड पर क्लोम नहीं होते। इस वंश के झींगे पेनाएस वंश के झींगों की अपेक्षा आकार में छोटे होते हैं और प्रचुर मात्रा में पकड़े जाते हैं। इस वंश की 4 निम्नलिखित जातियाँ विभिन्न केन्द्रों के मछलीगाहों में प्रमुख हैं।

मे. एफिनिस (मिलने-एडवर्ड्स) — (मल. — कजानयान-चिम्मीन). इस जाति में तुण्ड वक्र होता है। यदि दोनों ही लिंगों में वक्ष की टांगों की अन्तिम जोड़ी आगे की ओर खोली जाये तो ये शृंगिका शल्क के अन्तिम सिरे से भी बढ़ जाती हैं। यह आकार तथा कुछ अन्य गुणों में मे. मोनोसिरोस (फैब्रीसिकस) के समरूप होती है, जिसका वर्णन आगे किया गया है। यह पूर्वी तथा पश्चिमी सागर तटों पर पाई जाती है परन्तु ज्वारनद संगम तथा पश्च जलों में सामान्य नहीं है।

मे. डोवसोनी (मायर्स) — (मल. — थोली चिम्मीन, पूवालान-चिम्मीन). इनका शरीर घने रोमों द्वारा ढका रहता है जो मे. मोनोसिरोस की अपेक्षा कम ऊबड़-खाबड़ और अधिक धब्बेदार होता है। 13 सेंमी. तक लम्बे ये झींगे सामान्यतः दोनों सागर तटों पर 10-15 फ़ीट (18-27 मी.) की गहराई तक पाये जाते हैं। यह जाति ज्वारनद संगम तथा प्रतीप जलों में अत्यधिक मात्रा में पाई जाती है।

मे. ब्रेविकोर्निस (मिलने-एडवर्ड्स) — (बं. — धानवोने चिंगडी). इस जाति में तुण्ड बहुत छोटा होता है जो शायद ही शृंगिका की पिण्डिका के द्वितीय जोड़ के मध्य तक पहुँच पाता है। पूर्ण विकसित जीव 13 सेंमी. से अधिक लम्बा नहीं होता है। यह पश्चिम बंगाल में वर्षा के दिनों में बाढ़ के जल से भरे धान के खेतों में प्रचुर मात्रा में पाई जाती है तथा वहाँ पाई जाने वाली पेनाएड झींगों की जातियों में यह जाति अत्यन्त सामान्य है, किन्तु बम्बई सागर तट में बहुत कम पाई जाती है।

मे. मोनोसिरोस (फैब्रीसिकस) — (बं. — कोराने चिंगडी, होने चिंगडी; मल. — चूडान चिम्मीन). इनकी वेह ऊबड़-खाबड़ तथा छोटे रोमों से ढकी रहती है। पूर्ण वयस्क झींगा 17 सेंमी. के लगभग लम्बा होता है। यह जाति देश के सागर तट रेखा पर पाई जाती है। कम लवणता के दिनों में ये झींगे ज्वारनद संगम तथा पश्च जलों में अधिक मात्रा में पाये जाते हैं।

पेरापेनिओप्सिस वुड-मेसन

इन झींगों के तुण्ड पीठ की ओर दन्तुर होते हैं। सभी गतिशील टांगों पर दलाभ एक्सीपोडाइट पाये जाते हैं। अन्तिम दो वक्षीय खण्डों पर क्लोम नहीं होते। पेरापेनिओप्सिस झींगे परिवर्तनशील लवणता वाले जल में कदाचित् नहीं जाते। यही कारण है कि ये ज्वारनद संगम तथा पश्च जलों में नहीं पाये जाते। इनका सम्पूर्ण जीवन सागर में ही व्यतीत होता है। भारतीय जलों में पाई जाने वाली इस वंश की व्यापारिक महत्व वाली तीनों मुख्य जातियाँ 20 फ़ीट (36.5 मी.) तक की गहराई में पाई जाती हैं।

पे. मेक्सिलिपेडो अलकाक — यह जाति आकार में पे. स्टाइलिफेरा के समान होती है। यह वैसे तो सामान्यतः बम्बई सागर तट पर पाई जाती है, किन्तु इसके पूर्वी सागर तट पर भी मिलने की सूचना है।

पे. स्कल्पटिलिस (हेल्लर) — इस जाति में इनका तुण्ड आकार में पे. स्टाइलिफेरा के तुण्ड के ही समान होता है किन्तु लम्बाई में उससे छोटा होता है। वयस्क नर झींगों में शूकाकार का दूरस्थ भाग प्रायः अनुपस्थित होता है। टेलसन पर पार्श्व उपान्त कण्टक नहीं होते। ये झींगे 14 सेंमी. तक लम्बे होते हैं। यह जाति दोनों सागर तटों पर

पाई जाती है, किन्तु व्यापारिक रूप से ये झींगे बम्बई के सागर तट तथा पश्चिम बंगाल में हुगली नदी के ज्वारनद संगम क्षेत्र में पकड़े जाते हैं।

पे. स्टाइलिफेरा (मिलने-एडवर्ड्स) — (मल. — करिकाडी-चिम्मीन). इस जाति की विलक्षणता है इसका लालाभ भूरा रंग। टेलसन के नुकीले अन्तिम सिरे पर दोनों ओर छोटे-छोटे कण्टक, इस जाति को अन्य जातियों से अलग करते हैं। इस जाति के वयस्क झींगे 13 सेंमी. तक लम्बे होते हैं। ये झींगे सामान्यतः पश्चिम सागर तट पर वितरित हैं तथा दिसम्बर से मई तक केरल प्रदेश के सागर तटों पर बड़ी मात्रा में पकड़े जाते हैं। इस जाति का एक प्ररूप, कोरोमण्डेलिका अलकाक है, जिसके टेलसन के दोनों ओर केवल दो-दो कण्टक होते हैं। पूर्वी सागर तट पर भी इसके मिलने की सूचना है।

पालेमोनिडी

इस कुल की जातियाँ न केवल समुद्र तथा अन्य लवणीय जलों में पाई जाती हैं वरन् मीठे जलों में भी मिलती हैं। इन झींगों की पहली शृंगिका में तीन कशाभ होते हैं। गतिशील टांगों की पहली और दूसरी जोड़ियाँ नखर होती हैं। दूसरी जोड़ी की टांगें पहली की अपेक्षा बड़ी भी होती हैं।

इस कुल की समुद्री जातियाँ पालेमान वेवर वंश की हैं। अधिक महत्वशाली मीठे जल की जातियाँ मेक्रोबैकियम वेट वंश की होती हैं।

पालेमान वेवर

इस वंश की अधिकांश जातियाँ आकार में छोटी होती हैं, और वे 10 सेंमी. से बड़ी नहीं होतीं। ये स्वभाव से समुद्रवासी होती हैं। कुछ ऐसी भी हैं जो ज्वारनद संगम तथा पश्च जलों में भी पाई जाती हैं। पे. पलमीनिकोला केम्प, समुद्र की अपेक्षा ज्वारनद संगम क्षेत्र को अधिमान्यता देती है। ऐसी सूचना है कि यह जाति गंगा नदी में 1,125 किमी. भीतर तक चली गई है।

पा. स्टाइलिफेरा (मिलने-एडवर्ड्स) — (बं. — घोड़ा चिंगडी). यह जाति समुद्री तथा खारी जल, दोनों में पाई जाती है। गंगा के डेल्टा और बम्बई सागर तट की झींगा मात्स्यिकी में इस जाति का प्रमुख स्थान है। ये झींगे 5 सेंमी. से अधिक लम्बे नहीं होते।

पा. टेनुइपेस (हेण्डरसन) — इस जाति को इसकी चौथी तथा पाँचवी गतिशील टांगों की जोड़ी से पहचाना जाता है जो लम्बी और पतली होती हैं। स्वभाव में ये पा. स्टाइलिफेरा जाति के समान होती हैं और बम्बई सागर तट पर काफ़ी मात्रा में पकड़ी जाती हैं।

मेक्रोबैकियम वेट

इसमें अति मीठे जल वाली कई जातियाँ सम्मिलित हैं जो भारत-भर में नदियों, झीलों तथा पोखरों में पाई जाती हैं और व्यापारिक रूप से पकड़ी जाने वाली मछलियों का एक बड़ा भाग बनाती हैं। यद्यपि ये जातियाँ स्वभाव से मीठे जल में रहने वाली हैं किन्तु इनमें से कुछ कम लवणता के समय खारे जल में अण्डे तथा लारवे छोड़ने के लिए चली जाती हैं। इन अण्डों और लारवों का शोष विकास खारे जल में ही होता है। इनसे विकसित छोटे-छोटे झींगे फिर मीठे जल में वापस आ जाते हैं और वयस्क होने तक ये वहीं रहते हैं। आर्थिक दृष्टि से इस वंश की उपयोगी जातियाँ निम्नलिखित हैं :

मे. ब्राइडी (हेल्लर) — यह सामान्यतः केरल प्रदेश के पश्च जलों में सितम्बर से दिसम्बर तक पाई जाती है।

मे. मेलकामसोनाइ (मिल्ले-एडवर्ड्स) — इस जाति के झींगे वर्षा ऋतु के अन्तिम दिनों में उड़ीसा की चिल्का झील, हुगली ज्वारनद संगम, गोदावरी तथा गंगा नदियों में प्रचुर मात्रा में पाये जाते हैं। उस समय प्रायः सगर्भा मादा झींगे ही पकड़े जाते हैं। यह मुख्य रूप से तो मीठे जल की जाति है, किन्तु इसमें खारे जल को भी सहन करने की क्षमता होती है। ये 23 सेंमी. से अधिक लम्बे नहीं होते।

मे. मिरावाइल (केम्प) — पश्चिमी बंगाल के ज्वारनद संगम के ऊपरी क्षेत्रों में पाये जाने वाले झींगों की यह जाति सर्वाधिक उपयोगी है।

मे. रोजनवर्गाइ (डि मैन) सिन. मे. कार्सिनस फैंब्रीसिकस — (बं. — गोलडा चिंगड़ी, मोचा चिंगड़ी; मल. — कोचु). इस जाति के जीव गोलाकार तथा 30 सेंमी. तक लम्बे होते हैं। यद्यपि यह एक मीठे जल की जाति है किन्तु खारे जल में भी रहने की आदी है। इस जल में जाना इसके प्रजनन की सूचना है। केरल के पश्च जलों में सितम्बर से नवम्बर तक अधिकांश अण्डाधारी मादा झींगे ही पकड़े जाते हैं। पर्याप्त लम्बाई और सुगम उपलब्धि के कारण परिरक्षण तथा निर्यात के लिए इन झींगों की मांग अधिक है।

मे. रुडिस (केम्प) — (बं. — घोड़ा चिंगड़ी). गठित शरीर वाले झींगों की यह जाति पश्चिम बंगाल में सामान्य रूप से अग्रस्त से अक्टूबर तक पाई जाती है, जिस समय अण्डाधारी मादा झींगे अत्यधिक मात्रा में पकड़े जाते हैं। यह जाति उड़ीसा की चिल्का झील तथा कभी-कभी अन्य पश्च जलों में भी पाई जाती है।

मे. स्कैन्निकुलम (हेल्लर) — यह पूर्ण रूप से मीठे जल में पाये जाने वाले झींगों की जाति है। पेनाएड तथा मेक्रोब्रैकियम वंश की अनेक जातियों के झींगे मिलकर वर्षा ऋतु में, जबकि जल में लवणता कम होती है, झीलों, पश्च जलों तथा सागर तटों की मात्स्यिकी में विशेष योगदान देते हैं। वर्षा ऋतु के बाद के गर्मी के महीनों में पकड़े जाने वाले झींगे लगभग सभी पेनाएड होते हैं।

हिप्पोलाइटिडी

इस कुल के झींगों का तुण्ड लम्बा होता है। गतिशील टांगों की पहली जोड़ी मांसल, छोटी तथा नखरयुक्त होती है, जबकि दूसरी जोड़ी पर भी नखर होते हैं परन्तु ये टांगें पहली जोड़ी की अपेक्षा पतली होती हैं। उनका कारपस (मणिबन्ध) दो या दो से अधिक जोड़ों वाला होता है। इस कुल की केवल एक ही जाति, हिप्पोलाइस्माटा एनसिरोस्ट्रिस केम्प आर्थिक महत्व की है, जो बम्बई सागर तट पर पकड़ी गई मछलियों में काफ़ी पाई जाती है। ये झींगे 5 सेंमी. के लगभग लम्बे होते हैं।

चिंगट

चिंगट आकार में झींगों की अपेक्षा छोटे होते हैं। इनका शरीर लम्बा और उपांग पतले होते हैं। टांगों की चौथी और पाँचवीं जोड़ी या तो बहुत छोटी होती है या फिर नहीं ही होती। भारतीय व्यापारिक चिंगट सर्जेंस्टिडी (खण्ड पेनाएडिया) तथा एटाइडी (खण्ड कारिडिआ) कुलों से होते हैं।

सर्जेंस्टिडी

इस कुल के आर्थिक महत्व के चिंगट एसोटीस मिल्ले-एडवर्ड्स, वंश के होते हैं। ये 2.5 सेंमी. से अधिक लम्बे नहीं होते। ये विशेषकर बम्बई सागर तट पर प्लवकों के झुंड में पाये जाते हैं। यहाँ से ये

प्रति वर्ष सैकड़ों टन मात्रा में पकड़े जाते हैं। इस वंश की सामान्य रूप से भारत में पाई जाने वाली जातियाँ इस प्रकार हैं : ए. एरिथ्रस नोविली, ए. इण्डिकस मिल्ले-एडवर्ड्स, ए. ज्योनिक्स कीशिनोये, ए. सिबोगी हेन्सन। मनुष्यों के आहार के रूप में उपयोगी होने के अतिरिक्त ये कतिपय आर्थिक दृष्टि से उपयोगी मछलियों का भी मुख्य आहार हैं। कुछ मछलियाँ इस वंश के स्फुरदीपी चिंगटों, जैसे कि ल्यूसिफर थाम्सन तथा सर्जेंस्टीस मिल्ले-एडवर्ड्स को भी खा जाती हैं।

एटाइडी

इस कुल के चिंगटों की गतिशील टांगों की पहली तथा दूसरी जोड़ी के नखर भी अत्यधिक गतिशील होते हैं। उन टांगों की चमचे के आकार की अंगुलियों के सिरों पर लम्बी सीटों के गुच्छे होते हैं। ये चिंगट आकार में छोटे, 2.5 सेंमी. से अधिक लम्बे नहीं होते तथा मीठे या खारे जलों में पाये जाते हैं। पश्चिमी बंगाल के जलों में पकड़ा जाने वाला कैरिडिना ग्रेसिलेपोस (बं. — घुशा चिंगड़ी) इस कुल का सामान्य चिंगट है, जो अन्य चिंगटों के साथ मिलाकर बेचा जाता है।

कोच चिंगट

व्यापारिक चिंगटों के बाहरी रूप से मिलते-जुलते होने के कारण ये भी चिंगट कहलाते हैं किन्तु वास्तव में ये चिंगट नहीं हैं। इनका अपना एक भिन्न वर्ग, माईसिडेसिया होता है। कोच चिंगट, जो भ्रूण कोष्ठ की उपस्थिति के कारण ओपोसम-चिंगट भी कहलाते हैं, समुद्री तथा खारी जलों में पाये जाते हैं। इनकी उपयोगी जातियाँ इस प्रकार हैं : मेक्रोप्सिस ओरियण्टेलिस टाटेरसाल, पोटामोमिसिस ऐसिमिलिस टाटेरसाल और नैथोफौजिया इनजेनस (डोहर्न)। इनमें से अन्तिम जाति के चिंगट, जो 16 सेंमी. तक लम्बे होते हैं, अपने वर्ग में सबसे बड़े आकार वाले हैं। ये सस्ते होते हैं तथा पश्चिमी बंगाल में खाये भी जाते हैं।

खारी जल के चिंगट

आर्टेमिया लीच (उपश्रेणी ब्रैकियोपोडा; वर्ग एनोस्ट्राका) वंश के खारी जल के चिंगट भारतीय जलों में सर्वप्रथम 1951 में खोजे गये जबकि बम्बई के पास वाडला स्थान पर नमक की कड़ाहियों पर पूर्ण विकसित अवस्था में काफ़ी मात्रा में पाये गये। ये आकार में बहुत छोटे, लगभग 1 सेंमी. लम्बे होते हैं। वयस्क चिंगट रंग में लाल होते हैं जबकि शिशु अवस्था में ये हल्के पीले होते हैं। इनमें लिंग द्विरूपी होते हैं। नर में आलिंगक पर तो मादा में अण्डाशय प्रमुख होता है। खारी जल वाले चिंगटों में अधिकतम लवण से युक्त जल को भी सहने की क्षमता होती है। विश्व के कई भागों में इन चिंगटों के अण्डे पौना मछलियों को, और पूर्ण विकसित अवस्था में जल जीवशाला की कई प्रकार की मछलियों को खिलाये जाते हैं।

महाचिंगट

महाचिंगट, विशेषतया कंटकमय या शैल महाचिंगट सागर के अभितटीय क्षेत्रों में पाये जाते हैं। ये सागर के चट्टानों वाले तलों को पसन्द करते हैं। यद्यपि इनकी कुछ जातियाँ गहरे जलों में पाई जाती हैं तथापि अधिक मात्रा में सामान्य महाचिंगट उथले जलों में ही पाये जाते हैं। भारतीय जलों में पाये जाने वाले महाचिंगटों के कुलों में पालिन्यूरिडी, स्काइलेरिडी और इरियोनाइडी प्रमुख हैं।

पालिन्यूरिडी

इस कुल के महाचिंगटों में पृष्ठवर्ग अर्धवेलनाकार होता है। इनकी आँखें नेत्रगुहा में बन्द नहीं होती। शृंगिकाओं की दूसरी जोड़ी में चावुक के आकार के कशाभ होते हैं। इनकी गतिशील टाँगें लगभग समान होती हैं तथा किसी-किसी मादा में अन्तिम जोड़ी को छोड़कर अन्य सभी नखर रहित होती हैं। उदर के प्रथम खण्ड में कोई उपांग नहीं होते। पेन्यूरिड्स व्हाइट वंश की जातियाँ उष्णकटिबन्ध में पाई जाती हैं। इनमें से कुछ उपयोगी जातियाँ इस प्रकार हैं: पे. डेसिपस (मिलने-एडवर्ड्स), पे. होमेरस (लिनिअस) सिन. पे. बर्जेरी (डि हान), पे. ओरनेटस (फैब्रीसिकस) तथा पे. वर्सिकलर (लैट्रले) 38 सेंमी. तक लम्बे तथा भार में 900 ग्रा. तक होते हैं। पेन्यूरिड्स वंश की विभिन्न जातियाँ दोनों सागर तटों पर पाई जाती हैं और व्यापारिक महाचिंगट मात्स्यिकी में एक विशेष स्थान ग्रहण करती हैं। इनकी एक निकट सम्बन्धी जाति प्बेरुलस सेवेली रामादान मन्नार की खाड़ी तथा अरब सागर में 38-550 फीट (70-1,000 मी.) की गहराई पर मिलती बताई जाती है।

स्काइलेरिडी

इस कुल के महाचिंगटों में पृष्ठवर्ग दबा हुआ होता है और आँखें नेत्रगुहा में बन्द रहती हैं। दूसरी शृंगिका चपटी होती है तथा उस पर चावुक के आकार के कशाभ नहीं होते। इस कुल की, स्काइलेरिड्स वेटर्ड हावुइस तथा थेनस ओरिएंटेलिस (लुण्ड) जातियाँ भारतीय जलों में पर्याप्त गहराई पर पाई जाती हैं। स्काइलेरिड महाचिंगटों में से एक भी आर्थिक रूप से उपयोगी नहीं है।

इरियोनाइडी

ऐसी सूचना है कि भारतीय जलों में इस कुल की एक ही जाति, पोलीकेलिस अण्डमानेन्सिस अलकाक, बंगाल की खाड़ी में 1,100 फीट (2,000 मी.) की गहराई पर पाई जाती है।

प्रजनन

झींगों, चिंगटों तथा महाचिंगटों में केवल कायान्तरण के समय की कुछ अवस्थाओं में परिवर्तन होता है अन्यथा विकास की अन्य अवस्थाएँ लगभग एक-सी होती हैं। पेनाएड झींगों की लगभग सभी जातियों के मादा झींगे केवल समुद्र में ही लैंगिक रूप से वयस्क होते हैं। इनमें जल में अपने अण्डे छोड़ने का एक विशेष स्वभाव होता है। अण्डे छोड़ने के पश्चात् जनक इनका कोई ध्यान नहीं रखते। सर्जेंटिडी कुल के चिंगटों का भी ऐसा ही स्वभाव है। उनके अतिरिक्त अन्य झींगे, चिंगट तथा महाचिंगट अण्डों को अपने उदर उपांगों के साथ उनके फूटने तक चिपकाए रखते हैं।

पेनाएड झींगों तथा उनके कुछ निकट सम्बन्धी चिंगटों में अण्डे तलमज्जी होते हैं और फूटने पर इनसे छोटा लारवा (नोप्लाई) बाहर आता है जिसके अखण्डित अण्डाकार शरीर में तीन जोड़ी उपांग होते हैं। ये कई बार निर्मोक्त करके 2-3 सप्ताह में पौनों (लारवा के बाद की अवस्था) में परिवर्तित हो जाते हैं। उस अवस्था में ये प्रौढ़ झींगों के समरूप होते हैं। लारवे तथा इसके बाद की अवस्थाओं में ये परिप्लवी (प्लैक्टानिक) होते हैं अर्थात् ये सागर के तल पर या तट के निकट तैरते रहते हैं। अधिकांश झींगों के छोटे पौने जल की लहरों के बहाव के साथ सागर तट की ओर आ जाते हैं जहाँ से वे विशेष परिस्थितियों में ज्वारनद संगम तथा पश्च जलों में प्रवेश पा जाते हैं। इन जलों के

अधोभाग में ये कई सप्ताहों या माहों तक रहते हैं। इस समय इनकी वृद्धि तीव्र गति से होती है और फिर ये समुद्र में वापिस चले जाते हैं। व्यापारिक मात्स्यिकी में इन वर्द्धमान झींगों का विशेष स्थान है किन्तु पेरापेनिओप्सिस स्ट्राइलिफेरा जाति के लार्वांतर इसके बाद पुनः कभी समुद्र में आते नहीं पाये गये। कुछ मीठे जल तथा गहरे समुद्र में रहने वाले झींगों के विकास में स्वतन्त्र गतिशील लारवे की अवस्था नहीं पाई जाती। इनका विकास अण्डे के अन्दर ही होता है और अण्डा फूटने पर उत्पन्न जीव प्रौढ़ झींगों से विशेष भिन्न नहीं होता।

महाचिंगटों (कांटेदार तथा अन्य सम्बन्धित जातियाँ) में स्वतन्त्र गतिशील लारवे अपने पत्नी जैसे आकार तथा काँच जैसी पारदर्शकता के कारण काँच केंकड़ा कहलाते हैं। ये सागर तल पर से इधर-उधर वह सकते हैं, अतः सागर की लहरों के साथ बहुत दूर तक चले जाते हैं। इनका जीवनकाल असाधारण रूप से दीर्घ होता है, कई बार ये 6-7 महीने तक की आयु के भी पाये गये हैं। कायान्तरण की अवधि में महाचिंगटों के लारवों के आकार तथा उनकी बनावट में परिवर्तन की अवस्थाएँ अधिकांश झींगों और चिंगटों की अपेक्षा अधिक प्रगत तथा प्रभावी होती हैं।

ज्वारनद संगम तथा पश्च जलों में झींगों के पौनों की उपलब्धि से लाभ उठाने के लिये उन्हें उचित फार्मों में पालने के प्रयास किये जा रहे हैं।

झींगा मात्स्यिकी

मछली मारने के स्थान — यद्यपि झींगे और चिंगट पूरे पश्चिमी सागर तट पर पाये जाते हैं किन्तु पूर्वी सागर तट पर इनकी प्राप्यता केवल आन्ध्र प्रदेश में सागर तट के उत्तरी भाग में और तूतीकोरिन के निकट छोटे से क्षेत्र तक ही सीमित है। पूर्वी तट पर झींगे अधिकतर खारी जल की झीलों, चिल्का (उड़ीसा), एन्नोर (तमिलनाडु), कोलेरु और पुलीकट (आन्ध्र प्रदेश) तथा पश्चिम बंगाल में डेल्टा के ज्वारनद संगम क्षेत्र में पकड़े जाते हैं। पश्चिमी तट पर झींगों की प्रचुर मात्रा पाये जाने के अतिरिक्त भी सागर तट के निकट बने खारी जल के एक ओर से सागर में मिले तालों की शृंखला इन झींगों के लिए एक उत्तम नर्सरी का काम देती है।

झोल — झोल बहुधा झींगों और चिंगटों की विभिन्न जातियों का मिश्रण होता है। समयानुसार दक्षिण-पश्चिमी मानसून के समय (जून - अगस्त) केरल के उत्तरी तटीय क्षेत्रों में पेनाएड इंडिकस जाति के झींगे काफी बड़ी संख्या में पाये जाते हैं। तूतीकोरिन तट पर भी यही स्थिति है। तटीय स्थानों पर बाद के झोलों में मेटापेनायस डोबसोनाइ जाति की प्रमुखता होती है। यह दक्षिण पश्चिमी तट पर जनवरी से मई तक तटीय क्षेत्रों के झोलों में पेरापेनिओप्सिस स्ट्राइलिफेरा प्रधान होते हैं।

चिल्का झील के दक्षिणी और केन्द्रीय क्षेत्रों में मुख्य रूप से मछली पकड़ने का कार्य अप्रैल से अगस्त तक और उत्तरी क्षेत्रों में दिसम्बर से अप्रैल तक किया जाता है। कोलेरु झील, गर्मी के दिनों में लगभग सूख जाती है और वर्षा की ऋतु में जब मीठे जल से भरी होती है तो इसमें अधिकतर मीठे जल वाले झींगे भी प्राप्त होते हैं। बाद में मार्च से मई तक धीरे-धीरे पेनाएड झींगे प्रधान हो जाते हैं। एन्नोर झील से मछली पकड़ने का समय जनवरी से जून तक होता है। इससे प्राप्त होने वाली मुख्य जातियाँ, पे. इंडिकस और मेटापेनायस मोनोसिरोस हैं। पश्चिमी बंगाल के डेल्टा क्षेत्र में झींगे वर्षा ऋतु के बाद (अगस्त से अक्टूबर तक) पाये जाते हैं। इस समय के झीलों में पेनाएड झींगों की दो जातियों,

सारणी 1 - भारत में समुद्री झींगों तथा अन्य क्रस्टेशियन की प्राप्ति*
(मात्रा : टन में)

		केरल	महाराष्ट्र	गुजरात	तमिलनाडु	आंध्र प्रदेश	पश्चिमी बंगाल तथा उड़ीसा	मैसूर	अन्य	मत्स्य नौकाओं से	योग
1960	क	12583	9278	4917	1872	1591	803	420	..	295	31759
	ख	23	34605	365	275	1003	36271
	ग	175	48	25	823	1423	3	72	1	1	2571
1961	क	20393	8166	3012	1819	2797	1612	545	1	738	39083
	ख	43	21744	190	1008	689	..	10	..	1	23685
	ग	105	46	13	1311	496	4	58	4	1	2038
1962	क	29218	8076	1497	2526	1305	2178	2379	1	1069	48249
	ख	..	33725	848	10	373	27	34983
	ग	22	2	4	755	213	..	35	1031
1963	क	22228	5187	1698	3269	3483	3776	1428	1	..	41070
	ख	76	37482	1966	101	880	17	40522
	ग	90	14	6	1058	853	..	39	2060
1964	क	35220	14301	1330	3958	5229	2309	1040	55	..	63442
	ख	..	29324	832	145	1205	31506
	ग	72	18	..	3982	468	8	17	4565
1965	क	12472	9791	3948	2636	3507	2133	399	960	..	35846
	ख	84	40412	507	82	330	41415
	ग	130	58	..	2161	9	..	7	27	..	2392

*केन्द्रीय सामुद्रिक माल्यिकी अनुसंधान उपकेन्द्र, एर्नाकुलम से प्राप्त आंकड़े ; माल्यिकी विकास परामर्शदाता, भारत सरकार, नई दिल्ली.

क - पेनाएड भीगे ; ख - अपेनाएड भीगे ; ग - अन्य क्रस्टेशियन, मुख्यतया कैंकड़े और महाचिंगट.

1962 तथा बाद के वर्षों में तमिलनाडु में पाण्डिचेरी के आंकड़े भी सम्मिलित हैं.

मे. मोनोसिरोस, मे. लेवीकोर्निस के अतिरिक्त पालेमान और पेरापेनि-ओप्सिस झींगों की कुछ जातियाँ भी रहती हैं.

पश्चिमी तट पर अभितटीय क्षेत्रों में जहाज द्वारा प्राप्त झोल, मछुओं द्वारा देशी जालों से प्राप्त, झोलों से विशेष भिन्न नहीं होते. साधारण मत्स्य स्थलों से दूर गहरे सागर से प्राप्त झोलों में प्रायः प्रौढ़ झींगों (मे. इंडिकस और मे. मोनोसिरोस) की प्रमुखता होती है. समुद्र और खारी जलों से पकड़े गये झींगों की मात्राएँ क्रमशः सारणी 1 और सारणी 2 में दी गई हैं. महाचिंगटों के ऐसे पृथक् आंकड़े उपलब्ध नहीं हैं. इनके आंकड़े झींगों और चिंगटों के अतिरिक्त अन्य क्रस्टेशियनों के आंकड़ों में सम्मिलित कर लिये गये हैं.

झींगा माल्यिकी का विस्तृत विवरण 'मत्स्य तथा माल्यिकी' पूरक खण्ड में दिया गया है.

झींगे पकड़ने के लिए साधारणतया कोना जाल प्रयुक्त होता है. खेपला जाल, जो खड़े जाल का ही एक रूप है तथा देश के विभिन्न भागों में अन्य कई जाल प्रयोग किये जाते हैं. यांत्रिक नौका की सहायता से चलने वाले चिंगट-जाल पोतों द्वारा भी अच्छी मात्रा में झींगे पकड़े

सारणी 2 - लवण जलों से झींगों की उपलब्धि*
(मात्रा : टनों में)

	हुगली ज्वारनद संगम	चिल्का झील	महानदी ज्वारनद संगम
1960-61	612	..	74
1961-62	1,010	881	80
1962-63	797	877	114
1963-64	927	663	55
1964-65	998	700	57

*Data from Central Inland Fisheries Research Institute, Barrackpore.

पुत्तीकट झील से 1964-65 की अवधि में 206 टन झींगे उपलब्ध हुए.

जाते हैं। वम्बई सागर तट पर जहाँ मछली पकड़ने का काम साधारणतः नवम्बर से मार्च तक किया जाता है, महाचिंगटों को प्राप्त करने के लिए शंक्वाकार जाल (वुल्ले-जाल), क्लोम जाल और कई प्रकार के फन्दे प्रयुक्त किये जाते हैं। तमिलनाडु के कन्याकुमारी जिले में दिसम्बर से अप्रैल तक महाचिंगट अत्यधिक मात्रा में पकड़े जाते हैं। निर्यात के लिए, विशेषतया संयुक्त राज्य अमेरिका के लिए, इनका हिमीकरण किया जाता है। केरल में महाचिंगटों को पकड़ने के लिए धान के खेतों के विस्तृत क्षेत्रों को पकड़ने के अनुरूप कर लिया जाता है [Fish and Fisheries, With India—Raw Materials, IV, suppl., 118–23; Encyclopaedia Britannica, XIV, 260–61; XX, 586; Alcock, 1901, 1–286; Chopra, *Proc. Indian Sci. Congr.*, 1943, 1–21; Kemp, *Mem. Indian Mus.*, 1915, 5, 199; Annandale, *Calcutta Rev.*, 1915, 15; Chopra, B. N., 64–66; Menon, *Proc. Indo-Pacif. Fish. Coun.*, Sec. 3, 1951, 80; Panikkar & Menon, *ibid.*, 1955, 333; Bhimachar, *ibid.*, 1963, 10, 124; Panikkar, *Indian J. Fish.*, 1954, 1, 389; Menon, *ibid.*, 1955, 2, 41; *J. zool. Soc. India*, 1953, 5, 153; *Souvenir, Central Marine Fisheries Research Station, Mandapam*, 1958, 45–50; Powell, *J. Bombay nat. Hist. Soc.*, 1907–08, 18, 360; Panikkar, *ibid.*, 1937–38, 39, 343; Chopra, *ibid.*, 1939–40, 41, 221; Kulkarni, *ibid.*, 1952–53, 51, 951; Panikkar, *Curr. Sci.*, 1948, 17, 58; Panikkar & Viswanathan, *Nature, Lond.*, 1940, 145, 108; *J. Mar. Biol. Ass., U.K.*, 1941, 25, 317; Parry, *J. exp. Biol.*, 1955, 31, 601; Handerson & Matthai, *Rec. Indian Mus.*, 1910, 5, 277; Menon, *Seafood Tr. J.*, 1967, 2(1), 151].

परिरक्षण और परिसाधन

स्थानीय खपत के लिए झींगे पकड़ने के तुरन्त बाद ताजे ही बेचे जाते हैं क्योंकि ये अतिशीघ्र नष्ट होने वाले होते हैं और केवल एक या दो दिन से अधिक समय के लिए ठीक प्रकार से नहीं रह पाते।

ताजी अवस्था में झींगों को अन्तर्देशी स्थानों तक भेजने के लिए उन्हें वर्फ़ की परतों के बीच ढीला बन्द किया जाता है। इस प्रकार वर्फ़ में ये लगभग 15 दिन तक सुरक्षित रखे जा सकते हैं। तथापि प्रयत्न यह किया जाता है कि कम से कम समय के लिए ही इनका संचयन किया जाय जिससे कि इनमें नाइट्रोजन-युक्त पदार्थों तथा विलेय पोषण पदार्थों, विशेषतया मुक्त ऐमीनो अम्लों की क्षति को अधिक से अधिक रोका जा सके। संचयन के समय में ग्लाइसीन की क्षति तीव्र गति से होती है जिससे झींगों के स्वाद-सुरस में कमी आ जाती है। साथ ही लाइसीन के अपचयन होने से दुर्गन्धपूर्ण पदार्थ बनने लगते हैं। संचयन की अवधि में कालापन (मेलानोसिस) आना एंजाइम क्रिया का ही द्योतक है। झींगों को वर्फ़ में लगाने से पहले उनके सिरों को अलग कर देने पर इस क्रिया को न्यूनतम रखा जा सकता है। सोडियम वाइसल्फाइट जैसे रसायनों के प्रयोग से इस क्रिया को रोका भी जा सकता है [Fish and Fisheries, With India—Raw Materials, IV, suppl., 121–22; Velankar & Govindan, *Indian J. Fish.*, 1959–60, 6, 306; Bose, *Indian Seafoods*, 1964–65, 2(1), 7].

झींगों के ताजेपन की कसौटी उनकी ज्ञानेन्द्रियाँ, रंग, सुगन्ध और सुरस है। ताजे झींगे शुष्क, छूने पर भुरभुरे और मोहक सुगन्ध वाले

होते हैं किन्तु वासी झींगे आर्द्र, ढीले ढाले, गर्म, चिपचिपे और दुर्गन्धयुक्त होते हैं। ताजे झींगों पर जीवाणुओं की उपस्थिति से ही पता चला है कि इनका मांस अनुर्वर नहीं होता। अधिकतम जीवाणु इसके सिर में ही रहते हैं और सड़ने के साथ-साथ जीवाणुओं की संख्या भी बढ़ती जाती है। इसलिए इन पर उपस्थित जीवाणु संख्या से इनकी कोटि का अनुमान लगाया जा सकता है। वाष्पशील अम्लों के परीक्षणों पर आधारित निर्धारणों से भी इनकी कोटि का अनुमान लगाया जा सकता है (*Marketing of Fish in India, Agric. Marketing Ser.*, No. 126, 1961, 72–73; Pillai *et al.*, *Indian J. Fish.*, 1961, 8, 430; Velankar *et al.*, *J. sci. industr. Res.*, 1961, 20D, 189; *Indian J. Fish.*, 1961, 8, 241).

ताजे झींगों और चिंगटों का परिसाधन कई विधियों से किया जाता है जिनमें से धूप में सुखाने की विधि सबसे आसान है। सुखाकर उनके कवच उतार लिये जाते हैं और उन्हें ऐसे ही बेचा जाता है। साधारणतः झींगों के परिसाधन के लिए इन्हें प्रथम लाल-भूरे होने तक पानी में उबाला जाता है फिर इसके तुरन्त बाद इन्हें सुखाया जाता है। इसके 2–3 दिन पश्चात् गहवाई और ओसाई द्वारा इनके कवच उतार लिये जाते हैं। तैयार सूखे मांस को थैलों में भर लिया जाता है। इस प्रकार से संसाधित झींगों की स्थानीय खपत बहुत कम है इसलिए उत्पादन का बड़ा भाग श्रीलंका, हांगकांग, सिंगापुर और संयुक्त राज्य अमेरिका को निर्यात कर दिया जाता है।

बड़े पैमाने पर झींगों के परिरक्षण के लिए तमिलनाडु के मत्स्य विभाग ने एक अर्धशुष्क विधि का विकास किया है। इस विधि में झींगों को 6% लवण जल में दो मिनट के लिए उबाला जाता है, कवचरहित तथा लवणयुक्त करने के लिए नमक के संतृप्त विलयन में 15–30 मिनट तक डुबो कर रखा जाता है और फिर लवण जल से निकाल कर इन्हें धूप अथवा शुष्क यन्त्रों द्वारा सुखा लिया जाता है। यह ध्यान रखा जाता है कि मांस अधिक कठोर न हो जाय। इस प्रकार तैयार माल एल्काथीन की थैलियों में बन्द करके सील कर लिया जाता है। अधिक समय तक संचित रखने के लिए टिनों में कार्बन-डाइ-ऑक्साइड के साथ बन्द किया जाता है। इससे अर्धशुष्क झींगे कई महीनों तक सुरक्षित रहते हैं, और पानी में डालने पर स्वाद में ताजे झींगों के समान हो जाते हैं। परिसाधन से उनकी पोषक-क्षमता पर कोई प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ता।

झींगों का धूमन भारत में अधिक प्रचलित नहीं है। शायद ही कभी कोलेरू झील के क्षेत्रों से प्राप्त झींगों का धूमन किया जाता हो। उड़ीसा के कई भागों में झींगों के परिरक्षण के लिए इन्हें चटाइयों पर फैला कर तेज किन्तु धुयेदार आग से धुमाया जाता है। मालावार में उबले और कवचरहित झींगों का सिरका अथवा हल्की ताड़ी के साथ धनिया और अन्य मसाले डालकर अचार बनाया जाता है।

झींगों की डिब्बाबन्दी का व्यवसाय भारत में, विशेषतया कोचीन में हाल ही में विकसित हुआ है। 1958 तक भारत से डिब्बाबन्द झींगों का निर्यात नहीं के बराबर था किन्तु पिछले कई वर्षों से अमेरिका तथा अन्य देशों में इनकी माँग निरन्तर बढ़ती जा रही है।

भारत में झींगों का हिमीकरण तटीय क्षेत्रों में कई केन्द्रों में होता है। मंगलोर, कालीकट, कोचीन और त्रिवेन्द्रम में कई हिमीकरण केन्द्रों में अमेरिका आदि देशों को निर्यात के लिए झींगा तथा महाचिंगटों के पूँछ भाग (सिर-रहित सम्पूर्ण शरीर) का हिमीकरण किया जाता है। झींगों का हिमीकरण -34° पर न्यूनतम सम्भव समय में हो जाता है। उनको डिब्बों में बन्द करने से पूर्व समरूप चमक दी जाती है [Fish and Fisheries, With India—Raw Materials, IV,

suppl., 97, 122; *Marketing of Fish in India*, 1961, 44-57; Chacko, *Indian Fmg*, 1944, 5, 259; Venkataraman & Sreenivasan, *Indian Fmg*, N.S., 1953-54, 3(10), 22; IS: 2237-1962].

उपयोग एवं संघटन

भारतीय झींगे और चिंगट विश्व-भर में सर्वोत्तम माने जाते हैं। ये ताजे अथवा परिरक्षित अवस्थाओं में खाये जाते हैं। समुद्र से प्राप्त होने वाले झींगों की स्थानीय खपत बहुत कम है। इनमें से लगभग 85% झींगों को सुखाकर लुगदी बना ली जाती है। झींगों की सूखी लुगदी बनाने के लिए पहले साबुत जीवों को नमक के पानी में पकाया जाता है, फिर उनके कवच उतार कर उन्हें सुखा लिया जाता है अथवा सुखाकर बाद में कवच उतारे जाते हैं। ये झींगों के आकार के अनुसार चार कोटियों में बाजारों में मिलते हैं। विशेषतया मध्यम तथा बड़े आकार वाले झींगों का बड़ी मात्रा में हिमीकरण भी किया जाता है। हिमीकृत झींगे हिमीकरण से पूर्व हटाये गये इनके अंगों की अवस्था के अनुसार ताजे अथवा पके हुये होने के अनुसार विभिन्न कोटियों में बेचे जाते हैं। उनकी माँग असली रंग तथा सुगन्ध पर ही अधिक निर्भर होती है। झींगा आहार में प्रोटीन अधिक होता है तथा ये आहार-राशन के लिए उपयुक्त है। यह भूप में सुखाये अथवा पकाये हुए झींगों से तैयार

किया जाता है। महाचिंगटों के मोटे तथा कठोर कवचों को कुटीर उद्योग में कई प्रकार की मोहक वस्तुएँ बनाने के लिए प्रयोग किया जा सकता है [George, *Indian Seafoods*, 1963-64, 1 (1), 17; IS: 2237-1962; 2345-1963; Pillai, *Bull. cent. Res. Inst., Univ. Kerala*, 1957, 5C(3), 66; Negi, *Indian J. vet. Sci.*, 1949, 19, 147; *Marketing of Fish in India*, 1961, 77].

झींगे और चिंगट जन्तु प्रोटीन के सस्ते एवम् भरपूर स्रोत हैं। इनमें कैल्शियम, फॉस्फोरस, लोह, आयोडीन, राइबोफ्लेविन तथा निकोटिनिक अम्ल भी अधिक मात्रा में पाये जाते हैं। झींगों के मांस में खनिजों और विटामिनों का मान इस प्रकार है : कैल्शियम, 90; फॉस्फोरस, 240; लोहा, 0.8; सोडियम, 66; पोटैशियम, 262; ब्लोरीन, 2.3; विटामिन ए, अनुपस्थित; थायमीन, 0.01; राइबोफ्लेविन, 0.10; निकोटिनिक अम्ल, 4.8; तथा कोलीन, 542 मिग्रा./100 ग्रा. झींगों, महाचिंगटों तथा चिंगटों के खाद्यभागों का विश्लेषण सारणी 3 में दिया गया है। झींगों की विभिन्न जातियों में तथा जातिविशेष के विभिन्न जन्तुओं में बसा की मात्रा में भिन्नता पाई जाती है। प्रौढ़ झींगों में अल्पवयस्क झींगों की अपेक्षा बसा अधिक तथा खनिज कम पाये जाते हैं। झींगों में बसा का अभाव ग्लाइकोजन और स्टार्चों पोषण पदार्थों के रूप में उपस्थित कार्बोहाइड्रेटों के कारण पूरा हो जाता है। छोटे झींगों में बड़ों की अपेक्षा अधिक ग्लाइकोजन होता है (Chacko, *Indian Fmg*, 1944, 5, 259; Chidhambaram & Raman,

सारणी 3 — झींगों, चिंगटों तथा महाचिंगटों के खाद्य भागों का रासायनिक संघटन

	समुद्री झींगे		ज्वारनद संगम झींगे (पालेमान जातियाँ) ³	चिंगट (एसीडीस जातियाँ) बम्बई सागर तट ¹	महाचिंगट (केन्यूरिलस थ्रोनेटस वैर. डेकोरेटस) बम्बई सागर तट ⁴
	बम्बई सागर तट ¹	मालाबार सागर तट ²			
खाद्य अंश, %	50.0-70.0*	43.0-52.3	..	80.0**	71.0
भार्यता, %	67.5-80.1	76.7-78.9	75.5	79.9	76.3
प्रोटीन, %	60.1-70.3†	17.6-20.8	21.5	44.2†	19.6
वसा, %	3.1-5.1†	0.4-0.9	1.7	1.5†	..
कार्बोहाइड्रेट, %	13.1-27.7†	0.3-2.0	0	31.8†	..
खनिज, %	9.1-11.5†	1.2-1.7	1.3	22.5†	1.7
कैल्शियम, मिग्रा./100 ग्रा.	470.0-535.0†	159.0-286.0	38.0	825.0†	178.0
फॉस्फोरस, मिग्रा./100 ग्रा.	715.0-930.0†	264.0-348.0	249.0	1,975.0†	40.7
लोहा, मिग्रा./100 ग्रा.	27.6-43.1†	1.8-9.4	..	50.5†	2.9

¹ Shaikhmahmud & Magar, *J. sci. industr. Res.*, 1961, 20D, 157; ² Chari, *Indian J. med. Res.*, 1948, 36, 253; ³ Mitra & Mittra, *ibid.*, 1943, 31, 41; ⁴ Setna *et al.*, *ibid.*, 1944, 32, 171.

*इसमें (शुष्क आधार पर) ग्लाइकोजन, 213-415; लैक्टिक अम्ल, 130.6-180.5 मिग्रा./100 ग्रा. सम्मिलित हैं।

**इसमें (शुष्क आधार पर) ग्लाइकोजन, 435; और लैक्टिक अम्ल, 110.5 मिग्रा./100 ग्रा. सम्मिलित हैं।

† शुष्क आधार पर.

सारणी 4 — झींगा और चिंगट प्रोटीन का जैविक मान तथा पचनीयता गुणांक

जाति	खाद्य स्तर %	जैविक मान %	पचनीयता गुणांक %
मेटापेनायस जाति ^{1*}	5	71.8	86.4
	10	65.7	85.8
	15	59.6	73.2
पेरापेनोप्लिस स्टार्किलेफरा ²	5	97.5	97.4
एसीटोस जाति ¹	5	75.6	83.7
	10	60.7	86.0
	15	54.5	71.9

¹Appanna & Devadatta, *Curr. Sci.*, 1942, 11, 333;

²Valanju & Sohonie, *Indian J. med. Res.*, 1957, 45, 125.

*Protein content, 19.6%.

ibid., 1944, 5, 454; Iodine Contents of Foods, 55; Shaikhmahmud & Magar, *J. sci. industr. Res.*, 1961, 20D, 157; 1957, 16A, 44).

झींगों और चिंगटों के प्रोटीन का पोषण तथा जैविक मान और पचनीयता अधिक होती है (सारणी 4). ताजे झींगों (पे. मोनोडोन) तथा महाचिंगटों के प्रोटीन में अनिवार्य ऐमीनो अम्ल क्रमशः इस प्रकार होते हैं (ग्रा./16 ग्रा. N) : आर्जिनीन, 7.1, 7.2; हिस्टिडीन, 2.3, 1.2; लाइसीन, 8.1, 17.6; ट्रिप्टोफैन, 1.8, 0.2; फेनिल ऐलानीन, 6.2, 2.7; मेथियोनीन और वैलीन, 11.9, 5.1; थियोनीन, 24.6 (इसमें ग्लूटामिक अम्ल सम्मिलित है), 5.3; तथा ल्यूसीन और आइसो ल्यूसीन, 15.5, 15.6 (Appanna & Devadatta, *Curr. Sci.*, 1942, 11, 333; Chari & Venkataraman, *Indian J. med. Res.*, 1957, 45, 81; Master & Magar, ibid., 1954, 42, 509).

झींगों में प्रोटीन-रहित नाइट्रोजन कुल विलेय नाइट्रोजन का लगभग 60% होता है. ताजे झींगे (पे. मोनोडोन) की पेशियों में नाइट्रोजन इस प्रकार विभाजित रहता है (मिग्रा. N/100 ग्रा.) : कुल N, 3,415; जल-विलेय N, 1,231; प्रोटीन-रहित N, 756.5; α-ऐमीनो N, 394.2; वाष्पीय क्षार N, 64.4; और ग्लूटमीन ऐमाइड N, 33.8; स्वतन्त्र ऐमीनो अम्ल यथा लाइसीन, आर्जिनीन, ग्लाइसीन, प्रोलीन, वैलीन तथा ल्यूसीन भी झींगों की पेशियों में प्रचुर मात्राओं में उपस्थित रहते हैं. झींगों के मांस का सुरुस और टौलिओस्ट मछलियों की अपेक्षा झींगों का जल सड़ना भी सम्भवतः इन्हीं ऐमीनो अम्लों की उपस्थिति के कारण होता है (Velankar & Govindan, *Proc. Indian Acad. Sci.*, 1958, 47B, 202; Velankar & Iyer, *J. sci. industr. Res.*, 1961, 20C, 64).

उपोत्पाद — झींगों के शरीर के विभिन्न भाग जो लुगदी अथवा अर्धशुष्क झींगे बनाते समय निकाल लिये जाते हैं, इनमें चूना अधिक मात्रा में रहता है. यह अम्लीय भूमि के लिए उपयोगी खाद है. इसका संघटन इस प्रकार है : आर्द्रता, 15; नाइट्रोजन, 5-6; फॉस्फेट, 2-5; चूना, 13; और अविलेय पदार्थ, 15%. कवच उतारते समय प्राप्त हुई झींगा धूल भी खाद के लिए प्रयोग की जा सकती है.

कवचों के चूर्ण से तैयार किया गया आहार मछलियों के बढ़ने में सहायक होता है तथा यह मुर्गियों और पशुओं के लिए भी आहार के रूप में प्रयुक्त होता है. झींगों के रद्दी सिर भाग तथा स्क्वीला (झींगे के साथ पकड़ा जाने वाला जन्तु) से मछली की रद्दी से बनाए गए मुर्गी आहार जैसे गुणों वाला आहार बनाने की विधि विकसित की गयी है. झींगा सिरों (धूप में सुखाये) से बनाये गये आहार के विश्लेषण से जो मान (शुष्क आधार पर) प्राप्त हुए हैं वे इस प्रकार हैं : प्रोटीन, 45.5; वसा, 5.7; कुल राख, 23.9; अम्ल अविलेय राख, 2.2; चूना, 4.9; फॉस्फोरस, 3.1; और सोडियम क्लोराइड, 4.5%; पचनीयता गुणांक, 54.8%. प्राथमिक परीक्षणों से ज्ञात हुआ है कि मुर्गी तथा सुअर को झींगों के सिर से प्राप्त आहार खिलाने से इनकी वृद्धि अच्छी होती है. झींगों के व्यर्थ कवच से कोलस्टेरॉल भी बनाया जा सकता है. इनसे काइटोसिन (काइटिन का एक व्युत्पन्न) और ग्लूकोसेमीन हाइड्रो-क्लोराइड भी बनाया गया है [Marketing of Fish in India, 1961, 74, 77; Venkataraman & Chari, *Madras agric. J.*, 1950, 37, 7; Chacko & Krishnamurthi, *Sci. & Cult.*, 1950-51, 16, 569; Chidhambaram & Raman, loc. cit.; Visweswariah et al., *Res. & Ind.*, 1966, 11, 5; *Indian Seafoods*, 1965-66, 3 (1), 21].

विपणन तथा व्यापार

झींगों तथा चिंगटों के व्यापार में भारत ने पिछले कई सालों से समस्त विश्व में प्रमुखता प्राप्त कर ली है. व्यापार में झींगों और चिंगटों को एक दूसरे से भिन्न नहीं माना जाता. दोनों जन्तुओं को प्रायः एक ही नाम से पुकारते हैं. अमेरिका को हिमीकृत तथा डिब्बाबन्द झींगों और चिंगट भेजने वालों में भारत का दूसरा स्थान है. पहला स्थान मैक्सिको का है. तीव्र हिमीकरण करने की उपलब्ध सुविधाओं से जैसे कि कोचीन में 1951 में लगाये गये हिमीकरण संयंत्र (हिमीकरण क्षमता, 1.5 टन झींगे प्रति दिन; संग्रहण क्षमता, 51 टन) में प्राप्त हैं, भारत से इन जन्तुओं के निर्यात को बड़ा प्रोत्साहन मिला है.

‘सागरीय खाद्य’ में भारत से निर्यात किये जाने वाले झींगों और चिंगटों का प्रमुख स्थान है. भारत में सागरीय खाद्यों के निर्यात से अर्जित आय का 82% झींगों और चिंगटों के निर्यात से प्राप्त होती है. भारतीय डिब्बाबन्द तथा हिमीकृत चिंगटों ने हाल ही में गुणों के प्रति जागरूक संयुक्त राज्य अमेरिका, यूरोप तथा पूर्व के उपभोक्ताओं में मान्यता प्राप्त कर ली है [Nayar, *Seafood Tr. J.*, 1967, 2(1), 20].

निर्यात — हाल ही में भारत से झींगों और चिंगटों के निर्यात में अत्यधिक वृद्धि हुई है. निर्यात किये जाने वाले इनके मुख्य उत्पाद इस प्रकार हैं : (1) डिब्बाबन्द उत्पाद; (2) हिमीकृत झींगे, चिंगट तथा महाचिंगटों के सिर-रहित भाग; (3) सुखाये हुये झींगे और चिंगट; (4) झींगा और चिंगट चूर्ण. झींगों, चिंगटों तथा महाचिंगटों के सिर-रहित भागों का विवरण सारणी 5 में दिया गया है. सारणी 6 और 7 में विभिन्न देशों को झींगों और चिंगटों के निर्यात के आंकड़े दिये गये हैं. बहुत ही कम देश ऐसे हैं जो भारत से झींगा तथा चिंगट चूर्ण का आयात करते हैं. 1966-67 में 69,004 रु. मूल्य का 85,836 किग्रा. झींगा चूर्ण मलेशिया, ब्रिटेन, हांगकांग तथा ऑस्ट्रेलिया को निर्यात किया गया. इनसे अपेक्षाकृत कम महत्व रखने वाले उत्पाद भी जिनमें झींगा आहार, झींगा अंग तथा झींगा अचार मुख्य हैं, अनक देशों को निर्यात किये जाते हैं [Seafood Tr. J., 1967, 2 (5), 34].

निर्यात किये जाने वाले डिब्बाबन्द तथा हिमीकृत झींगों और चिंगटों के प्रत्येक माल का जहाज में चढ़ाने के पूर्व भारतीय संस्थान द्वारा निर्यातित कोटि मानक नियमों (IS : 2236-1962; 2237-1962; 2345-1963) के अनुरूप अनिवार्य कोटि निरीक्षण करके सरकारी अधिकारियों द्वारा प्रमाणपत्र देना होता है, ऐसा

15 मार्च 1965 से किया जा रहा है. यह निरीक्षण कार्य केन्द्रीय मत्स्य तकनीकी संस्थान, एनकुलम (केरल) द्वारा किया जाता है.

हिमीकृत कवच वाले अथवा कवच और तान रहित दोनों प्रकार के झींगों और चिंगटों का मूल्य उनके रंग और आकार पर बहुत कुछ निर्भर करता है. इसलिए उन्हें बन्द करते समय इनके चुनाव और

सारणी 5 — झींगों, चिंगटों तथा महाचिंगटों के सिर-रहित शरीर का निर्यात*

(मात्रा : टन; मूल्य : हजार रु. में)

	1964-65		1965-66		1966-67*	
	मात्रा	मूल्य	मात्रा	मूल्य	मात्रा	मूल्य
झोंगे तथा चिंगट						
डिब्बाबन्द	945	6,624	1,118	9,517	1,713	25,039
हिमीकृत	6,298	35,217	7,260	43,981	8,209	1,00,630
चूर्ण के अतिरिक्त अन्य शुष्क प्रवस्थाओं में	2,617	7,805	1,156	4,014	1,041	6,007
चूर्ण	298	216	99	63	86	69
वायुरुद्ध डिब्बों में	2	16	6	28	5	52
वायुरुद्ध डिब्बों के अतिरिक्त	24	89
महाचिंगटों के सिर-रहित भाग ताजे या हिमीकृत अवस्था में	61	581	108	1,246	112	2,142
योग	10,221	50,459	9,771	58,938	11,166	1,33,939
*जून-मार्च						

सारणी 6 — डिब्बाबन्द और हिमीकृत झींगों तथा चिंगटों का निर्यात

(मात्रा : टन; मूल्य : हजार रु. में)

	डिब्बाबन्द						हिमीकृत					
	1964-65		1965-66		1966-67*		1964-65		1965-66		1966-67*	
	मात्रा	मूल्य	मात्रा	मूल्य	मात्रा	मूल्य	मात्रा	मूल्य	मात्रा	मूल्य	मात्रा	मूल्य
संयुक्त राज्य अमेरिका	548	3,613	387	3,075	652	9,324	4,727	25,198	5,660	34,306	6,617	77,860
ब्रिटेन	83	653	238	1,856	536	7,154	3	27	9	49	49	526
श्रीलंका	58	107	अ	ब	218	432	4	10
डेनमार्क	52	447	29	276	9	172	1	6	अ	7
फ्रान्स	48	452	292	2,890	313	5,030	3	16	5	42	83	898
पश्चिमी जर्मनी	34	370	8	81	22	307	अ	ब
पूर्वी जर्मनी	2	21	18	93	30	606
जापान	1,017	6,851	732	4,715	995	14,572
ऑस्ट्रेलिया	6	48	3	33	34	466	502	2,887	592	4,209	424	6,294
स्वीडन	14	146	52	407	30	496	1	3
इटली	13	112	25	165	19	332	अ	ब	1	3
पुएटो रिको	10	100	11	113	6	106
बेल्जियम	4	35	3	26	16	273	2	15	10	142
नीदरलैंड	3	41	11	117	22	385	3	23	15	106	12	147
अन्य	70	479	41	385	24	388	43	215	24	95	15	174
योग	945	6,624	1,118	9,517	1,713	25,039	6,298	35,217	7,260	43,981	8,209	1,00,630

*जून - मार्च

(अ) एक टन में कम; (ब) 1,000 रुपये से कम के मूल्य के.

सारणी 7 - शुष्क झींगों और चिंगटों का निर्यात
(मात्रा : टन; मूल्य : हजार रु. में)

	1964-65		1965-66		1966-67*	
	मात्रा	मूल्य	मात्रा	मूल्य	मात्रा	मूल्य
श्रीलंका	581	1,167	120	231	24	81
हांगकांग	319	1,168	268	974	667	3,495
सिंगापुर	171	463	59	310
संयुक्त राज्य अमेरिका	135	548	55	326	42	467
मलेशिया	65	233	32	106	52	285
मारीशस	41	168	48	181	55	313
ब्रिटेन	32	134	36	141	35	263
कुवैत	19	44	6	14	12	71
शरव	16	39	27	68	11	51
जर्मनी	16	93	21	109	22	182
नीदरलैण्ड	10	59	19	82	12	89
अन्य	1,212	3,689	524	1,782	50	400
योग	2,617	7,805	1,156	4,014	1,041	6,007

* जून - मार्च

श्रेणीकरण पर विशेष ध्यान दिया जाता है। इनकी वेष्टन सामग्री के चुनाव और वेष्टन तकनीक में बड़ी सावधानी बरती जाती है तथा वेष्टित रूप को अधिक से अधिक आकर्षक बनाने का प्रयत्न किया जाता है (Nayar, loc. cit.).

इन जन्तुओं के उत्पादन को बढ़ाने, नाना रूप प्रदान करने तथा नये बाजारों को प्राप्त करने के लिए उठाये गये कदमों के अतिरिक्त 1961 में सागर उत्पाद निर्यात वर्धन परिषद् की स्थापना की गई, जो अपने वर्धन कार्यक्रम के अन्तर्गत संसार में झींगों तथा चिंगटों के उत्पादन की खपत को बढ़ावा देने वाले विभिन्न संस्थानों के साथ सहयोग कर रही है [Nayar, loc. cit.; Modawal, *Seafood Tr. J.*, 1967, 2(1), 55].

आयात - देश में डिब्बाबन्द तथा हिमीकृत झींगों और चिंगटों की आयातित मात्रा यहाँ से इनके निर्यात की मात्रा की तुलना में कहीं कम है। 1964-65 तथा 1965-66 में क्रमशः 9,81,943 रु. मूल्य के 7,61,892 किग्रा. तथा 86,196 रु. मूल्य के 52,609 किग्रा. डिब्बाबन्द और हिमीकृत झींगों और चिंगट देश में आयात किये गये।

मूल्य - देश के विभिन्न मुख्य बाजारों में झींगों और चिंगटों की विक्री की कोई विश्वसनीय मूल्य-तालिका उपलब्ध नहीं है किन्तु तमिलनाडु में 1966-67 में मीठे जलों से प्राप्त झींगों का औसत थोक भाव 330 रु. प्रति विवटल बताया गया है (*Agric. Situat. India*, 1966-67, 21; 1967-68, 22).

Arthropoda; class *Crustacea*; subclass *Malacostraca*; order *Decapoda*; suborder *Macrura*; *Natantia*; *Reptantia*; *Penaeidae* (Section *Penaeidea*); *Palaemonidae* (Section *Caridea*); *Metapenaeus dobsoni* (Miers); *Parapeneopsis* spp.; *Metapeneopsis coniger* Wood-Mason;

Penaeus Fabr., *P. indicus* Milne-Edwards, *P. monodon* Fabr. syn. *P. carinatus* (de Man); *Metapenaeus* Wood-Mason, *M. affinis* (Milne-Edwards); *M. brevicornis* (Milne-Edwards), *M. dobsoni* (Miers), *M. monoceros* (Fabr.); *Parapeneopsis* Wood-Mason, *P. maxillipedo* Alcock, *P. sculptilis* (Heller), *P. stylifera* (Milne-Edwards); *Palaeonidae*; *Palaemon* Weber, *P. styliferus* (Milne-Edwards), *P. tenuipes* (Henderson); *Macrobrachium* Bate, *M. idae* (Heller), *M. malcolmsonii* (Milne-Edwards), *M. mirabile* (Kemp), *M. rosenbergii* (de Man) syn. *M. carcinus* Fabr., *M. rudis* (Kemp), *M. scabriculum* (Heller); *Hippolytina* *ensirostris* Kemp; *Sergestidae* (Section *Penaeidea*); *Atyidae* (Section *Caridea*); *Acetes* Milne-Edwards, *A. erythraeus* Nobili, *A. indicus* Milne-Edwards, *A. japonicus* Kishinouye, *A. sibogae* Hansen; *Lucifer* Thompson; *Sergestes* Milne-Edwards; *Caridina gracilipes* de Man; *Mysidacea*; *Macropsis orientalis* Tattersall; *Potamomysis assimilis* Tattersall; *Gnathophausia* Order *Anostraca*; *Artemia* Leach (Subclass *Branchiopoda*, Order *Anostraca*); *Palinuridae*; *Scyllaridae*; *Eryonidae*; *Panulirus* White, *P. dasyopus* (Milne-Edwards), *P. homarus* (Linn.) syn. *P. burgeri* (de Haan.), *P. ornatus* (Fabr.), *P. versicolor* (Latr.); *Puerulus sewelli* Ramadan; *Scyllaridae*; *Scyllarus batei* Holthuis; *Thenus orientalis* (Lund); *Polychaetes andamanensis* Alcock

र

टारो, जाइण्ट—देखिए ऐलोकेसिया

टिड्डो (गण—आर्थोप्टेरा, कुल—एक्रीडिडी) LOCUSTS

D.E.P., IV, 470; VI (1), 154; C.P., 686; Uvarov, 1928.

सं.—पतंग, चालभ; हि.—टिड्डो; म.—टोल, नकटोद; ते.—मिडाय, मिडतल; त.—बेतुकिली; क.—मिडिते.

पंजाब—मकड़ी, टिड्डो.

टिड्डियाँ दवान मुखांगों वाले स्थलीय, शाकाहारी कीट हैं. इनमें यूयों में रहने और लम्बी प्रवास-उड़ान भरने की उल्लेखनीय प्रवृत्तियाँ पाई जाती हैं और ये फसल तथा अन्य आर्थिक महत्व के पौधों को नष्ट कर देती हैं.

संसार के विभिन्न भागों में टिड्डियों की लगभग एक दर्जन जातियाँ देखी गई हैं. इनमें से तीन भारत में मिलती हैं जिनके नाम हैं: मरू टिड्डो, प्रवासी टिड्डो और वम्बइया टिड्डो. मरू टिड्डो सबसे अधिक विनाशकारी होती है और भूतकाल में इसके कारण कई बार अकाल पड़ चुके हैं.

मरू टिड्डो

(शिस्टोसेर्का ग्रेगेरिया फोस्केल)

मरू टिड्डियाँ पूर्व में राजस्थान से लेकर पश्चिम में अफ्रीका के एटलांटिक महासागर तक तक मिलती हैं. इन क्षेत्रों में ऐसे प्रदेश भी सम्मिलित हैं जहाँ पर ये विशेष रूप से रहती और प्रजनन करती हैं. भारत में पूर्व में असम तक और दक्षिण में मैसूर तक इस टिड्डो का आक्रमण झुंडों में होता है.

मरू टिड्डो विशेष क्षेत्रों में अकेली रह कर अकेले ही प्रजनन भी कर सकती है अथवा अवयस्क अवस्था के फुदकों का झुंड बनाकर आगे बढ़ सकती है. ये अवयस्क फुदके अंत में टिड्डो दल का रूप धारण कर लेते हैं जिसमें लम्बी दूरी तक प्रवास-उड़ान भरने की क्षमता होती है. प्रयोगों द्वारा टिड्डो को एकल अवस्था से यूयावस्था में अथवा यूयावस्था से एकल अवस्था में परिवर्तित करना सम्भव है.

इन दोनों अवस्थाओं के फुदकों और वयस्कों के रंग में भिन्नता पाई जाती है. जहाँ एकल अवस्था में फुदके सामान्यतः अपने पूर्ण जीवनकाल में एक समान हरे रंग के होते हैं जिससे यह रंग उनके वानस्पतिक वातावरण के रंग से मेल खा जाय वहीं सामूहिक अवस्था में फुदके पाँच अवस्थाओं में से अपनी पहली दो अवस्थाओं में अधिकतर काल होते हैं, परन्तु बाद में इनके काले शरीर पर पीत, हरित पीत और लाल रंग के स्पष्ट प्रतिरूप बन जाते हैं. एकल अवस्था के प्रौढ़ अपने सारे जीवन भर घूसर रंग के होते हैं. इनका रंग अपनी यूधचर अवस्था के प्रथम चार या पाँच सप्ताहों अथवा इससे भी अधिक समय तक जब ये लैंगिक रूप से अपरिपक्व होते हैं, गुलाबी या लाल होता है. इसके पश्चात् साधारणतया नर प्रौढ़ पीत रंग में बदल जाते हैं, जबकि मादा पीत सीस-घूसर रंग में बदल जाती है.

गोटे तौर पर प्रजनन की दो मुख्य ऋतुएँ और दो मुख्य क्षेत्र होते हैं अर्थात् (1) शीत-वसंत-कालीन प्रजनन, जो ऐसे क्षेत्रों में होता

है जहाँ वर्षा अधिकांशतया शीतकाल में और वसंत के प्रारम्भ तक सीमित रहती है, और (2) ग्रीष्म-वर्षा-कालीन प्रजनन जो उन क्षेत्रों में होता है जहाँ वर्षा अधिकतर जून से सितम्बर तक होती है. शीत-वसंत-कालीन प्रजनन क्षेत्रों में लाल सागर तट के क्षेत्र, अरब प्राय-द्वीप का अधिकांश भाग, दक्षिणी ईरान, विलोचिस्तान, और दक्षिणी अफगानिस्तान सम्मिलित हैं जबकि ग्रीष्म-वर्षा-कालीन क्षेत्रों में सूडान और अफ्रीका के कुछ अन्य प्रदेश, पश्चिमी पाकिस्तान के भाग, भारत के राजस्थान, बम्बई और पंजाब प्रदेश के कुछ भाग भी सम्मिलित हैं. शीत-वसंत प्रजनन क्षेत्र में जो टिड्डो दल उत्पन्न होते हैं वे वसंत और ग्रीष्म ऋतु के प्रारम्भ में उन क्षेत्रों को प्रवास करते हैं जहाँ वर्षा ग्रीष्म और मानसून ऋतुओं में होती है. वे जून से सितम्बर तक और कभी-कभी इससे भी बाद में अण्डे देते हैं. पतझड़ के दिनों में ये टिड्डो दल उन क्षेत्रों को वापस लौटते हैं जहाँ शीतकाल में वर्षा होती है. प्रजनन और प्रवासन का यह क्रम यूधचर और एकल दोनों ही प्रकार की टिड्डियों पर समान रूप से लागू है किन्तु एकल टिड्डियों का प्रवासन छोटे स्तर पर एकाकी प्राणियों द्वारा ही होता है.

प्रायः एक वर्ष में दो पीढ़ियाँ उत्पन्न होती हैं और विशेष रूप से ग्रीष्म-मानसून वर्षा वाले क्षेत्रों में कभी-कभी तीन या उससे भी अधिक पीढ़ियाँ हो सकती हैं. प्रयोग की स्थितियों में और विशेष रूप से अनुकूल ताप पर मरू टिड्डो प्रौढ़ता तथा ऋतु से प्रभावित हुये बिना निरन्तर सक्रिय रहती है.

जनन—मरू टिड्डो के लैंगिक परिपक्वता प्राप्त करने का समय परिवर्तनशील है. यह अवधि वसंत तथा ग्रीष्म में 3-4 सप्ताह और शीत ऋतु में कई मास तक होती है. जब इन्हें रसदार वनस्पति, विशेषतया मक्का, ज्वार, और बाजरा जैसी धान्य फसलें खाने को मिलती हैं तब लैंगिक परिपक्वता शीघ्र प्राप्त हो जाती है. अपने जीवनकाल में टिड्डो 3-21 बार मैथुन करती है. नियंत्रित प्रयोग-शाला परिस्थितियों में अनिषेक जनन-विकास से मादा टिड्डियों की 6 अनुक्रमिक एकलिंगी पीढ़ियाँ उत्पन्न होती देखी गई हैं किन्तु प्राकृतिक अवस्थाओं में सामान्यतः ऐसा नहीं होता. मादा टिड्डियाँ सामान्यतः अपने शरीर के पिछले भाग को नम और विशेष रूप से रेतिली तथा दुमट मिट्टी में 10 सेंमी. की गहराई तक प्रविष्ट करके अण्डे देती हैं. इस प्रकार निर्मित छिद्रों में 40 से 120 तक अंडों के गुच्छे रहते हैं. इन छिद्रों का शेष स्थान पदार्थों से भर दिया जाता है जो बाद में जलसह मृदु रोमदार आवरण में बदल जाता है. अण्डे पीले रंग के, चाबल के दाने के समान, 4-8 मिमी. × 0.9-1.6 मिमी. आकार के होते हैं.

अंडे ग्रीष्म ऋतु में लगभग 12 दिनों और पतझड़ तथा वसंत में 21-28 दिनों में फूट जाते हैं. शीत ऋतु में यह अवधि 45 दिनों तक की हो जाती है. किसी गुच्छे के सभी अण्डों की एक साथ ही उत्पत्ति नहीं होती. अण्डज उत्पत्ति 3-5 दिनों तक चलती है. गुच्छों में जो अण्डे बाद में दिये जाते हैं उनसे अण्डज उत्पत्ति सर्वप्रथम होती है. अण्डों में डकी जमीन में अण्डे फूटना और फुदकों का निकलना कई दिनों तक और कभी-कभी तो 10 दिनों तक चल सकता है. अण्ड-छिद्रों के जलसह मुख-बंधन के कारण पृष्ठ जल का अण्डे फूटने पर साधारणतः कोई प्रभाव तब तक नहीं पड़ता जब तक कि पानी 2-3 दिनों तक निरन्तर टिका न रहे.



1



2



3

चित्र 68—(1) प्रवासी टिड्डो (लोकस्टा साइग्रेटेरिया लिनियस); (2) मरु टिड्डो (शिस्टोसर्का ग्रेगरिया फोस्केल); (3) वम्बइया टिड्डो (पतंगा सक्सिबटा लिनियस)

फुदक्के — अण्डों से निकले फुदक्के का रंग गँदला सफेद या हरा-सफेद होता है। फुदक्के की वृद्धि में पाँच अवस्थाएँ होती हैं। प्रत्येक अवस्था के अंत में यह अपनी त्वचा को अन्य कीटों की भाँति उतार देता है जिनकी अपरिपक्व (डिम्बी या अर्भकी) और प्रौढ़ अवस्थाओं में केवल आकार, रंग और पंखों की वृद्धि को छोड़ कर अन्य कोई अन्तर नहीं होता। नये निकले फुदक्के की लम्बाई लगभग 6 मिमी. होती है और यूथचर अवस्था में यह बड़े आकार की काली चींटी के समान होता है। इसके आकार में वृद्धि और पंखों के निकलने की क्रिया आनुक्रमिक अवस्थाओं में होती है। पाँचवी तथा अन्तिम अवस्था में फुदक्के की लम्बाई लगभग 39 मिमी. होती है। यह 60 सेंमी. लम्बा और लगभग 10 सेंमी. ऊँचा कूद सकता है। ग्रीष्म ऋतु में 4-5 सप्ताहों में ही फुदक्का अपना विकास पूरा करके प्रौढ़ हो जाता है। यह अवधि पतझड़ और वसंत ऋतु में 6-8 सप्ताह तक तथा शीत ऋतु में इससे भी अधिक हो सकती है।

यूथचर फुदक्कों का सबसे भयंकर स्वभाव दल बना कर निश्चित दिशाओं में बढ़ना तथा इनके रास्ते में जो भी वनस्पति आती जावे उसको खा जाने का है। ऐसा संचलन साधारणतया दिन में वायु के बहाव की दिशा में होता है। पहली अवस्था को छोड़ कर शेष सब अवस्थाओं में ये गति के प्रति संवेदनशील होते हैं परन्तु ध्वनि का इन पर कोई प्रभाव नहीं होता। कुशल प्रयोगों द्वारा ये इच्छित दिशा में भेजे जा सकते हैं।

वयस्क — फुदक्कों की पाँचवी या अन्तिम अवस्था से निकली हुई उड़न टिड्डियाँ लैंगिक दृष्टि से अपरिपक्व किन्तु अत्यन्त भुक्खड़ होती

हैं। प्रयोगशाला परिस्थितियों में (पंजाब में) कक्ष ताप पर मरु टिड्डो के प्रौढ़ों का जीवनकाल 245 दिन होता है। स्वाभाविक परिस्थितियों में यह अवधि 170 से 229 दिनों तक होती है। नर वयस्कों के शरीर की लम्बाई 46-55 मिमी. और मादा वयस्कों की लगभग 57 मिमी. होती है और प्रत्येक स्थिति में अग्र पंखों सहित इनकी नाप कुछ मिमी. अधिक ही होती है। एक दर्जन वयस्क टिड्डियों का भार लगभग 28 ग्राम होता है। टिड्डियाँ सुबह और शाम मैथुन काल में दिन में यदि मौसम ठंडा और बदली छाई हो तो, सुस्त दिखती हैं।

प्राकृतिक शत्रु — कभी-कभी कुछ कीट, जिनमें फाफिकुलिड उल्लेखनीय हैं, टिड्डो के अण्डों पर आक्रमण करते हैं। फुदक्के तथा वयस्क दोनों ही कवक जीवाणु और वाइरस रोगों से ग्रस्त हो जाते हैं। फिर भी ऐसी घटनाओं का प्रकृति में अभिलेख अधिक नहीं मिलता। कदाचित् ही कोई ऐसा अभिलेख हो जिसमें टिड्डो को परजीवी कीटों ने नष्ट किया हो।

पक्षी, टिड्डियों के सबसे प्रबल शत्रु हैं। इनमें से भारतीय कौवा (कारवस स्प्लेंडेंस वीईलाट), गुलाबी सारिका (पेस्टर रोजियस लिनियस), मैना (एन्कियोयेरिस ट्रिस्टिस लिनियस), धूसर तीतर (फ्रकोलिनस पॉडीसेरियानस मेलिन), चील [मिलवस माइग्रान्स (वोडायर्ट)], जंगली बेवलर [टुरडोइडीस सोमरविली (साइक्स)], शिकरा [एस्टुर बेडियस (मेलिन)], और अन्य पक्षी भी सम्मिलित हैं। पक्षियों द्वारा टिड्डियों के विनाश का इनकी जनसंख्या पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता किन्तु टिड्डियों के संकेन्द्रण क्षेत्रों का पता लग जाता है जिससे इनके नियंत्रण की व्यवस्था करने में आसानी होती है।

टिड्डो दल — भारत में टिड्डियों के झुंड का विस्तार 207 वर्ग किमी. तक देखा गया है और प्रतिवर्ग किमी. में 4-8 करोड़ टिड्डियाँ हो सकती हैं। टिड्डियों के दल साधारण रूप से दिन में उड़ान भरते हैं और रात्रि में विश्राम करते हैं। एकल अवस्था में भूली भटकी टिड्डियाँ केवल रात्रि में उड़ान भरती हैं यद्यपि ठंडे दिनों में भी इनकी उड़ान देखी गई है।

साधारणतः टिड्डियाँ वायु की दिशा में उड़ान भरती हैं जिससे वे अंत में अभिसारी वायु-प्रवाह के क्षेत्र में पहुँच जाती हैं और अभिसारी वायु-प्रवाह विस्तृत और घोर वर्षा के लिए आवश्यक है। इससे यह प्रकट होता है कि किसी क्षेत्र में वर्षा होने और उस क्षेत्र में टिड्डो दल के पहुँचने में गहरा सम्बन्ध है। इनकी यात्रा की गति कई तथ्यों पर निर्भर करती है जिनमें से वायु की दिशा तथा वेग प्रमुख हैं। ऐसे उदाहरण भी ज्ञात हैं जिनमें टिड्डियों के झुंड अपने प्रयत्नों की अपेक्षा वायु द्वारा बहुत अधिक दूरी तक ले जाये गये हैं। भारत में एक ऐसा उल्लेख मिलता है जिसमें टिड्डियों के दल ने कई दिनों तक लगभग 21 किमी. प्रति घंटा की औसत गति से यात्रा की। टिड्डियाँ बिना रुके और बिना भोजन किये लम्बी-लम्बी यात्राएं कर सकती हैं।

वैसे टिड्डियों के झुंड 3 से 9 वर्षों के चक्र में देखे जाते हैं फिर भी ऐसा विशिष्ट क्षेत्रों के सम्बन्ध में ही सत्य है क्योंकि अब यह प्रमाणित हो चुका है कि कोई भी ऐसा समय नहीं होता जब मरु टिड्डो अपने वितरण के क्षेत्र में किसी न किसी स्थान पर सक्रिय न होती हो। 1863-67, 1869-73, 1876-81, 1889-98, 1900-07, 1912-20, 1926-31, 1940-46 और 1950-55 में भारत में टिड्डियों के आक्रमण के विश्वसनीय अभिलेख प्राप्त हैं।

भोजन — टिड्डो के फुदक्के और वयस्क, सामान्य वस्तुओं को खाते हैं परन्तु इनकी सर्वसाधारण रुचि के कुछ अपवाद भी हैं। भारत की मरु टिड्डो वकायेन (मीलिया एजेंडैराक लिनियस), वडा आक (कैलो-ट्रोपिस जाइगैण्टिया आर. ब्राउन एक्स एटन) और संभवतः कुछ

अन्य पौधों की पत्तियों को नहीं खातीं। पहले यह विश्वास था कि ये प्याज, कैना और अजोडिरेवटा इंडिका ए. जसु की पत्तियों को नहीं खातीं किन्तु यह सत्य नहीं है। मरू टिड्डियाँ रामदास, सेमल, गुडहल, चमेली, तरबूज, मिर्च, इंगली मारमेलोस कोरिया, धतूरा (डादूरा स्ट्रेमोनियम लिनियस), और बक्सस वालिशियाना बेलान को रूचिपूर्वक नहीं खाती हैं। यह बांस, गन्ना, ज्वार, गेहूँ, जौ, धान, चना, अरहर, उड़द, सोयाबीन, अण्डी, सरसों, अलसी, मूँगफली, पटसन, कपास, जूट, हल्दी, तम्बाकू, आलू, मिण्डी, कोलोकेसिया एस्कुलेटा राईट, टमाटर, बालजम, बंदगोभी, पालक, सफेद लौकी, मीठा तरबूज, बैंगन, गोल आदिचोक, आम, सेब, आड़ू, सतालू, नाशपाती, लूकाट, अमरूद, अंजीर, अनार, पपीता, केप, गुंजबैरी, मीठा नींबू, संतरा, केला, शहतूत, लंटाना, बोहेमेरिया नीबिया गाडिशो, यूकैलिप्टस, गुलाब, इमली, सागौन, ववूल (अकेशिया अरेबिका विल्डेने), शीशम (डाल्बर्जिया सीसू रांसदग), सिजीनियम ब्यूमिनाइ लिनियस स्कील्स, प्रोसोपिस-जलीपलोरा द कन्दोल इत्यादि को इच्छापूर्वक खाती हैं। यह सूची अभी पूरी नहीं है। साधारणतः कोमल और रसभरी पत्तियों को वे चाव से खाती हैं।

नियंत्रक उपाय — झुंडों को न बनने देना ही मरू टिड्डी का सबसे बड़ा नियंत्रण है। किसी एक देश में टिड्डी का प्रजनन और दस बनाना अन्य देशों पर भी गम्भीर प्रभाव डाल सकता है। इसलिए टिड्डी नियंत्रण की समस्या अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर हल करनी चाहिये। संयुक्त राज्य अमेरिका का खाद्य और कृषि संगठन 1953 से अरब प्रायद्वीप में मरू टिड्डी के विरुद्ध वार्षिक अभियान संचालित कर रहा है।

भूतकाल में टिड्डियों के उत्पात को रोकने के लिए जो उपाय प्रयोग में लाये गये उनमें डोल और खाली कनस्तर इत्यादि को बजाना, विशेष रूप से निर्मित लम्बी खाइयों में टिड्डी के फुदकों को दफनाना, अंडों को खोद कर नष्ट करना और अण्डग्रस्त भूमि को जोतना तथा अधिसिंचित करना सम्मिलित हैं। भारत में टिड्डी के उत्पात को रोकने के लिए 1926-31 में सोडियम फ्लूओसिलिकेट को विष के रूप में चारे में दिया गया। इन दिनों बेजीन हेक्साक्लोराइड का प्रयोग चारे में किया जाता है। यह शूक क्षेत्रों में प्रभावकारी है किन्तु इसकी उपयोगिता का क्षेत्र अति सीमित है। इसके स्थान पर अब संश्लेषित कीटनाशकों के दुरकाव तथा छिड़काव किये जाते हैं और चारे में विष मिलाने की प्रथा को अब त्याग दिया गया है।

फुदकों और बयस्कों पर 5 से 10% बेजीन हेक्साक्लोराइड का छिड़काव प्रभावकारी है। फुदकों की पहली तथा दूसरी अवस्थाओं के निरोध के लिए इससे भी कम सान्द्रता (1.5-3%) प्रभावकारी होती है। दूसरे कीटनाशी जैसे लिडेन, एकोडेन और हेप्टाक्लोर, एलिट्रिन तथा डाइएलिट्रिन, मैलाथियोन और फालिडाल और डी-एन-सी की बुकनी अथवा फुहार अथवा दोनों टिड्डियों की विभिन्न अवस्थाओं के निरोध के लिए प्रभावकारी सिद्ध हुए हैं। डी-डी-टी से टिड्डियों का नाश हो सकता है किन्तु आर्थिक दृष्टि से लाभदायक नहीं है।

कीटनाशी के लगाने की तकनीक पर काफ़ी अध्ययन किया गया है। कुछ मीटर चौड़े भूखण्डों पर आगे बढ़ते हुए फुदकों के मार्ग में कीटनाशी का छिड़काव किया जाता है ताकि वे इस विष को ग्रहण करके मर जायें। इस पद्धति से कीटनाशक, पत्ररम और समय की बचत होती है। अण्डों से ढकी भूमि पर एलिट्रिन के समान कीटनाशियों का छिड़काव करना अधिक प्रभावकारी सिद्ध हुआ है क्योंकि इनका अवशिष्ट प्रभाव अधिक समय तक रहता है और निकलते हुए फुदकों विपान्त सतह के सम्पर्क में आकर मर जाते हैं। एलिट्रिन का अवशिष्ट प्रभाव दो सप्ताह या

और अधिक समय तक रहता है। मरू क्षेत्रों में पानी की कमी का विचार करके अल्प आयतन वाली छिड़काव मशीनें प्रयोग में लाई जाती हैं। इस पद्धति से छिड़के जाने वाले द्रव की आवश्यक मात्रा में काफ़ी बचत हुई है और जहाँ पहले प्रति हेक्टर 300-400 ली. द्रव की आवश्यकता होती थी वहाँ अब केवल 30-40 ली. से ही काम चल जाता है। अण्डग्रस्त भूमि, फुदकों के जमाव तथा टिड्डियों के झुंडों पर चाहे वे विश्राम की अवस्था में हों या उड़ान कर रहे हों, वायुयानों द्वारा छिड़काव करने की पद्धति का विकास महत्वपूर्ण है।

भारत में टिड्डी नियंत्रण — मरू क्षेत्रों में, जो कि अधिकतर राजस्थान में पड़ते हैं और जिनका कुल क्षेत्र 2,12,400 वर्ग किमी. है, टिड्डी नियंत्रण का उत्तरदायित्व भारत सरकार पर है। कृष्य क्षेत्रों में टिड्डी नियंत्रण की जिम्मेदारी सम्बन्धित प्रादेशिक सरकारों की है। टिड्डी नियंत्रण का कार्य भारत सरकार ने संरक्षण संगरोध और संचयन निदेशालय को सौंपा है। निदेशालय में एक टिड्डी चेतावनी संगठन है जिसकी स्थापना 1939 में हुई थी और जो टिड्डी सर्वेक्षण तथा प्रारम्भिक अथवा छिदरे प्रजनन और फुदकों के विरुद्ध नियंत्रण के उपाय करता है। ऐसा उस समय भी किया जाता है जबकि टिड्डियाँ सक्रिय नहीं होती। उत्पात काल में टिड्डी चेतावनी संगठन सूचना और नियंत्रण की आवश्यकता की पूर्ति करता है। एक सम्बन्धित टिड्डी निरोधी योजना परिचालित की जाती है जिसमें वे प्रदेश सरकारें जहाँ टिड्डी के आक्रमण की शंका रहती है। एक निश्चित सूत्र के आधार पर अनुसूचित मरू क्षेत्रों में टिड्डी नियंत्रण के व्यय में योगदान देती हैं।

टिड्डी उत्पात से आर्थिक हानि — भारत में 1926-31 के टिड्डी उत्पात से दस करोड़ रुपये के मूल्य की फसल की अनुमानित हानि हुई थी। हाल के 1950-55 के उत्पात से दो करोड़ सात लाख रुपये की हानि हुई है। 1926-31 की तुलना में 1950-55 में कृषि पदार्थों का मूल्य चार गुना अधिक था। इस कारण तुलनात्मक दृष्टि से 1950-55 की हानि 52 लाख रुपये आंकी जा सकती है। 1950-55 की हानि में कमी मुख्यतः टिड्डी नियंत्रण के लिये आवश्यक प्रविधियों में सुधार, संगठन कार्य और सुविधाओं के कारण हुई है।

उपयोग — भारत के तथा अन्य कई देशों के कुछ लोग टिड्डी को खाद्य पदार्थ के रूप में उपयोग करते हैं। इन्हें ताजा या सुखाकर खाते हैं। इन्हें नमक में लगाकर सुरक्षित भी रखते हैं। इनमें प्रोटीन और वसा पर्याप्त मात्रा में पाई जाती है और कहा जाता है कि इनका पौष्टिक मूल्य है। वायु-शुष्क प्रौढ़ टिड्डियों के विश्लेषण से निम्नलिखित मान पाये गये: आर्द्रता, 5.03; ईथर निष्कर्ष, 16.95; अपरिष्कृत प्रोटीन, 61.75; विलेय कार्बोहाइड्रेट, 0; तन्तु, 10.00; और सिलिका, 1.63%। टिड्डियाँ खाद का काम भी देती हैं। इनमें नाइट्रोजन, 9.90; फॉस्फेट (P_2O_5), 1.20; पोटैश, 0.84; और चूना, 0.59% पाये जाते हैं। अघिकांश नाइट्रोजन काइटिन के रूप में रहता है जोकि भूमि में धीरे-धीरे विघटित हो जाती है। पशुओं के चारे में खली के स्थान पर टिड्डियों के देने का सुझाव है (Husain & Ahmad, *Indian J. agric. Sci.*, 1936, 6, 188; Husain & Mathur, *ibid.*, 1936, 6, 591; Rao, *Proc. Indian Sci. Congr.*, 1943, 201; Report of the FAO panel of experts on long term policy of desert locust control, 1956; Das, *Indian Eng.*, 1945, 6, 42; *Chem. Abstr.*, 1934, 28, 7378).

प्रवासी टिड्डी (लोकस्टा माइग्रेटोरिया लिनियस)

पुरानी दुनियाँ में प्रवासी टिड्डी दूर-दूर तक पाई जाती है। किन्तु इसकी उपस्थिति किन्हीं क्षेत्रों तक सीमित है। ठंडे क्षेत्रों में यह 60° उत्तर और दक्षिण से आगे उष्णकटिबंधीय घने वनों और जलरहित मरुस्थलों में नहीं मिलती। यह जाति दक्षिणी रूस, नाइजीरिया, मेडागास्कर और अफ्रीका तथा फिलीपीन्स के कुछ क्षेत्रों में विशेष घातक है। एकल प्राणी के रूप में प्रवासी टिड्डी लगभग सम्पूर्ण भारत में और विशेषतया राजस्थान, महाराष्ट्र और तमिलनाडु प्रदेशों में पाई जाती है।

प्रवासी टिड्डियाँ या तो अकेले प्राणियों के रूप में अथवा झुंडों में पाई जाती हैं। उत्तरी क्षेत्रों और वहाँ की अवस्थाओं में अकेली टिड्डियों को लो. माइग्रेटोरिया डानिका लिनियस और झुंडों में लो. माइग्रेटोरिया माइग्रेटोरिया लिनियस के नाम से तथा उष्णकटिबंधीय क्षेत्रों और वहाँ की परिस्थितियों में लो. माइग्रेटोरिया माइग्रेटोरियडीस के नाम से जाना जाता है। सूचना है कि एकल रूप में यह जाति अत्यधिक ऊँचाई तक पाई जाती है। हिमालय पर्वत पर यह 4,600 मी. की ऊँचाई पर भी मिलती है। वे क्षेत्र जहाँ से झुंड उत्पन्न होते हैं, दलदली अवस्थाओं और नरकुल, वाँस तथा दूसरे लम्बे पौधों से भरी भूमियों से सम्बन्धित हैं।

भारत में इस टिड्डी के विषय में अधिक ज्ञात नहीं है। 1878 में मद्रास में इसके आक्रमण का सबसे पहला अभिलेख मिलता है। यहाँ से इसके झुंड बंबई तक पहुँच गए थे। जन 1954 में दूसरे झुंड का आक्रमण बंगलौर जिले में हुआ। उल्लेख है कि 1937 में बंबई और राजस्थान के कुछ भागों में गहरा प्रजनन हुआ और फुदकों ने फसल को अधिक हानि पहुँचाई, और फिर इन्होंने 1956 में भी राजस्थान के कुछ क्षेत्रों में हानि पहुँचाई परन्तु उस समय अधिकांश फुदकों का नाश कर दिया गया था।

एकल प्रावस्था के प्रौढ़ बहुधा हरे और कभी-कभी काले रंग के होते हैं। युवचर प्रावस्था के प्रौढ़ भूरे-हरे अथवा पीले रंग के होते हैं; लैंगिक रूप से परिपक्व नर चमकीले पीले और मादायें लाल-भूरे रंग की होती हैं। एकल अवस्था के फुदके सामान्य रूप से हरे रंग के तथा कभी-कभी बिना किसी क्रम के भूरे और काले रंग के होते हैं। यूथी फुदके बहुधा काले रंग के होते हैं परन्तु तीसरी अवस्था में भूरा रंग अधिक प्रवल होता है; चौथी अवस्था में यह पीले रंग के और पाँचवी अवस्था में हल्के लाल रंग के होते हैं। नर और मादा वयस्क यूथी अवस्था में क्रमशः 40-50 मिमी. और 42-55 मिमी. लम्बे और एकल अवस्था में क्रमशः 29-35 मिमी. और 37-60 मिमी. लम्बे होते हैं। हर अवस्था में अग्र पंखों के साथ इनकी लम्बाई कुछ ज्यादा ही होती है।

युवचारी की तुलना में एकल टिड्डियों में प्रौढ़ों की लैंगिक परिपक्वता और अण्डे देने की क्रिया अधिक तीव्र होती है। प्रजनन मुख्यतया उच्च आर्द्रता पर जो स्थानीय वर्षा के कारण उत्पन्न होती है अथवा काफ़ी जल सतह की उपलब्धि पर निर्भर करता है। अण्डे विशेषतया नम और मटियारी भूमि में कोशों में दिये जाते हैं। प्रयोगशाला अवस्था में मादा लगभग सात अण्ड कोश देती है, प्रत्येक कोश में 49-104 अण्डे होते हैं, और मादा के दिये हुए अण्डों की सम्पूर्ण संख्या, एकल टिड्डी द्वारा लगभग 500 और युवचारी टिड्डी द्वारा 330 होती है। जल में कई मासों तक डूबे रहने के बाद भी अण्डों की क्षमता बनी रहती है। प्रौढ़ टिड्डी के शिशिरातिचार जीवन के प्रमाण मिलते हैं। भारत में 1956-57 में वसंत-प्रजनन भी देखा गया है। एक साल में भारत के अंदर

टिड्डियों की दो पीढ़ियाँ हो सकती हैं। नाइजीरिया में अधिक से अधिक तीन पीढ़ियों का होना सम्भव माना गया है। अनुकूलतम प्रयोगशाला अवस्था में प्रजनन पूरे वर्ष चलता रहता है और पाँच या छः पीढ़ियों तक सम्भव है। उड़ते हुए झुंड 60 किमी. तक जा सकते हैं। भारत में, 1878 और 1954 में झुंडों ने इससे भी अधिक दूरी तय की। एकल टिड्डियों में अकेले एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में प्रवास करने की अत्यधिक सम्भावना रहती है। झुंडों का प्रवास एक प्रजनन क्षेत्र से दूसरे के लिए बहुधा धारा के उद्गम की ओर होता है और एक स्थान पर प्रजनन करके वे दूसरे स्थान पर प्रजनन करती हैं।

मरु टिड्डी की तुलना में प्रवासी टिड्डी के खाद्य पौधों की संख्या अधिक सीमित है। रूस और मध्य एशिया के कुछ क्षेत्रों में नरकुल इसका मुख्य भोजन है। ये अधिकांश घास जिनमें साएनोडान, वेंटीवेरिया (सोर्घम), पेंसिलेटम, इकोनोक्लोआ और ब्रेकिअरिया जातियाँ भी सम्मिलित हैं, खाती हैं। प्रयोगशाला में पोश्ना जाति की ताजी और जल से छिड़की हुई सूखी घास पर, मरु टिड्डी सफलतापूर्वक पाली गई है। भारत में 1954 के आक्रमण में फुदकों ने अधिकतर घास और नरकुल इत्यादि (साइपेरस जातियों) पर आक्रमण किया। वैसे अनाज और धान को भी कुछ स्थानों में क्षति पहुँची। उन्होंने कपास और मूँगफली को नहीं छुआ; बंदगोभी और लूसर्न को अनिच्छा से अथवा उपवास की अवधि के बाद खाया। महाराष्ट्र में, 1937 के आक्रमण में वाजरा और ज्वार की फसलों को हानि पहुँची।

पक्षियों में मुख्य रूप से वस्टार्ड, कैटल एगरेट (बुबलकुस आईबिस लिनियस), मधुमक्खी भक्षी (मिराप्स ओरियण्टलिस लेयम), चील और सारस फुदकों तथा प्रौढ़ों पर विश्राम के समय अथवा उड़ान के दौरान आक्रमण करते तथा खाते हैं। प्रवासी टिड्डियों में 8% वसा होती है जिसमें निम्नलिखित अम्ल पाये जाते हैं: मिरिस्टिक 1.0; पामिटिक, 24.5; स्टीऐरिक, 7.3; हेक्साडेसीनोइक, 2.1; ओलीक, 12.4; लिनोलीक, 35.1; लिनोलेनिक, 17.3; और अस्तंतुष C_{20} , 0.3% (Rao & Bhatia, *Indian J. agric. Sci.*, 1939, 9, 79; Norris, *Anti-locust Bull.*, No. 6, 1950; Davey & Johnstone, *ibid.*, No. 22, 1956; Hilditch, 1956, 75).

बम्बइया टिड्डी (पतंगा सक्सिक्टा लिनियस)

बम्बइया टिड्डी भारत, श्रीलंका क्षेत्र, चीन, और दक्षिण पूर्वी एशिया में पायी जाती है। इससे कभी-कभी फसलों को हानि पहुँचती है। यह टिड्डी अपनी एकल प्रवस्था में असम, पंजाब और कश्मीर के अतिरिक्त भारत के अधिकांश भागों में पायी जाती है। कभी-कभी देश के विभिन्न भागों में झुंड देखे जाते हैं। किन्तु 1927 के पश्चात् किसी झुंड का वर्णन नहीं मिलता। इसके प्रजनन के प्रवास क्षेत्र पश्चिमी घाट के वन-प्रदेश हैं। मध्य भारत, पूर्वी घाट और राजस्थान के भागों में भी प्रजनन हो सकता है।

एकल प्रौढ़ का रंग भूरा अथवा पीला-भूरा होता है। झुंडों में प्रौढ़ का रंग लाल अथवा लालाभ होता है। अण्ड निक्षेपण के काल में रंग गहरे भूरे रंग का हो सकता है। फुदका साधारणतः हरे रंग का होता है जिसके बीच में कहीं-कहीं पर छोटी-छोटी काली विदियाँ होती हैं। ये विदियाँ फुदके की उम्र बढ़ने के साथ ही साय अधिक स्पष्ट होती जाती हैं। अत्यन्त चढ़ती उम्र में फुदकों के हरे शरीर पर भूरा रंग चढ़ने लगता है। बम्बइया टिड्डी के युवचारी फुदके ज्ञात नहीं हैं। प्रौढ़ नर के शरीर की लम्बाई 48-56 मिमी. और मादा प्रौढ़ की

57-63 मिमी. होती है; इन दोनों ही की लम्बाई अग्र पंखों सहित इससे कुछ अधिक होती है।

बम्बइया टिड्डी के प्रौढ़ लगभग 10 महीनों में (सितम्बर-जून) लैंगिक परिपक्वता प्राप्त करते हैं। ये अण्डे नम मटियारी भूमि में दिये जाते हैं और घास तथा वनस्पति से कुछ-कुछ ढके रहते हैं। कदाचित् मादा अपने पूर्ण जीवनकाल में केवल एक अण्ड-पिण्ड देती है। ये अण्डे 6-8 सप्ताह में फूटते हैं। प्रौढ़ता प्राप्त करने के लिए फुदक के अपने विकास में 8-10 सप्ताह में 7 अथवा 8 तथा कभी-कभी 9 अवस्थाओं को पार करते हैं। विकास के लिए वायु मंडल में अत्यधिक आर्द्रता आवश्यक है। फुदकों के विकास के समय वर्षा न होने से इनकी अधिक संख्या में मृत्यु होती है। सितम्बर में उत्पन्न हुए प्रौढ़ों की पीढ़ी झुंड बना सकती है और वायु की दिशा में उड़ती है। शीतकाल में ये अपेक्षतया निष्क्रिय होते हैं और वसंत तथा ग्रीष्म ऋतु में फिर से उड़ना प्रारम्भ करते हैं। एक वर्ष में बम्बइया टिड्डी की केवल एक ही पीढ़ी तैयार होती है।

बम्बइया टिड्डी भी, प्रवासी टिड्डी के समान, घास को अन्य पौधों से अधिक पसंद करती है। आहार के पौधों में विभिन्न मिलेट जैसे कि ज्वार, बाजरा और रागी, आम, नीबू, नारियल, ताड़ और विभिन्न वन-वृक्षों का उल्लेख मिलता है।

Orthoptera; Acrididae; Schistocerca gregaria Forsk.; *Corvus splendens* Vieillot; *Pastor roseus* Linn.; *Acrideres tristes* Linn.; *Francolinus pondicerianus* Gmelin; *Milvus migrans* (Boddaert); *Turdoides somervillei* (Sykes); *Astur badius* Gmelin; *Melia azedarach* Linn.; *Calotropis gigantea* R. Br. ex Ait.; *Azadirachta indica* A. Juss.; *Aegle marmelos* Correa; *Datura stramonium* Linn.; *Buxus walllichiana* Baill.; *Colocasia esculenta* Schott; *Boehmeria nivea* Gaudich.; *Acacia arabica* Willd.; *Dalbergia sissoo* Roxb.; *Syzygium cumini* (Linn.); *Prosopis juliflora* DC.; *Locusta migratoria* Linn.; *L. migratoria danica* Linn.; *L. migratoria migratorioides* Reich. & Frem.; *Cynodon; Vetiveria; Sorghum; Pennisetum; Echinochloa; Brachiaria; Bubulcus ibis* Linn.; *Merops orientalis* Latham; *Patanga succincta* Linn.

टेरनैण्ड्रा जैक (मेलान्टोमैटेसी) PTERNANDRA Jack

ले. - पेरानान्ड्रा

Fl. Br. Ind., II, 551.

यह वृक्षों एवं झाड़ियों का लघु वंश है जो मलेशियाई क्षेत्र तक ही सीमित है। एक जाति भारत में पाई जाती है।

टे. कार्लेसेन्स जैक निकोबार द्वीपसमूह के एक द्वीप में पाया जाता है। यह एक अण्डाकार अथवा भालाकार पत्तियों वाला सदाहरित छोटा वृक्ष है। पत्तियाँ छोटी (6-8 मिमी. चौड़ी); फूल नीले अन्तिम पुष्पगुच्छों में; फल अनेक बीजों वाले, नीले बैंगनी तथा अण्डाभ होते हैं। लकड़ी हल्की वादामी और कोमल से कुछ कठोर होती है। यह ईंधन के रूप में प्रयोग की जाती है। मलाका में इसके कूटे हुए फल अण्डशोथ तथा अण्डकोशोद्बुद्धि में पुल्टिस वर्णन के काम आते हैं। बीजों का अर्क वमन रोकने के लिए दिया जाता है (Gamble, 368; Burkill, II, 1825-26).

Melastomataceae; P. caeruleascens Jack

टेरिस लिनियस (टेरिडेसी) PTERIS Linn.

ले. - टेरिस

Beddome, Indian Ferns, 105; Fl. Malaya, II, 393, Fig. 231.

यह फर्नों का विशाल वंश है जो संसार के उष्णकटिबंधीय तथा उपोष्णकटिबंधीय प्रदेशों, भूमध्य-सागरीय प्रदेश, दक्षिणी अफ्रीका, तस्मानिया, न्यूजीलैंड, तथा जापान के उत्तर और संयुक्त राज्य में पाया जाता है। भारत में इसकी लगभग 20 जातियाँ हैं और कुछ विदेशी जातियाँ उद्यानों में शोभा के लिए उगाई जाती हैं।

टे. एन्सीफार्मिस बर्मन पुत्र भारत के पूर्वी भागों तथा उत्तरी केरल और उत्तरी आन्ध्र प्रदेश की पहाड़ियों में सामान्यतः निचले स्थानों में पाया जाने वाला पतले, रेंगने वाले, तने और अग्रखंडे और चमिल द्विरूपी पर्णांग-पत्रों वाला जुड़वाँ फर्न है। यह फर्न सहिष्णु होता है तथा गमलों में उगाने के लिए उपयुक्त है। इसकी पत्तियाँ छाया में चितकवरी हो जाती हैं (Percy-Lancaster, 357; Chittenden, III, 1707).

नये पर्णांग-पत्रों को तोड़कर भोज्य सामग्री में सुगन्ध के लिए मिलाया जाता है। इसका रस कर्पूरा होता है और ताजे पर्णांग-पत्रों का काढ़ा पेचिश में दिया जाता है। प्रकन्दों का रस गर्दन पर गल-ग्रथियों की सूजन में लगाया जाता है (Burkill, II, 1824; Quisumbing, 69).

टे. मल्टीफाइडा पायरेट सिन. टे. सेरुलेटा लिनियस पुत्र नान फोर्स्कल चीन तथा जापान का छोटा स्थलीय फर्न है और द्विरूपी पर्णांग-पत्रों वाला लघु प्रकन्दीय त्रिपक्षवत् होता है। यह भारतीय उद्यानों में प्रवर्धित किया गया है। पश्चिमी हिमालय में यह मसूरी से कृषि-पलायित देखा गया है।

चीन में पर्णांग-पत्रों तथा प्रकन्दों का टिक्कर अथवा काढ़ा पेचिश में दिया जाता है। यह उत्तम निस्सारक बतलाया जाता है। पर्णांग-पत्रों एवं प्रकन्दों को तिल के तेल में लेई बनाकर वच्चों के चर्मरोगों में लगाया जाता है (Crevost & Petelot, Bull. econ. Indoch., 1935, 38, 131).

Pteridaceae; P. ensiformis Burm. f.; *P. multifida* Poir. syn. *P. serrulata* Linn. f.

टेरीगोटा शॉट और एंडलियर (स्टरकुलियेसी)

PTERYGOTA Schott & Endl.

ले. - टेरीगोटा

यह मुख्य रूप से पुरानी दुनिया के उष्णकटिबंधी भागों में पाये जाने वाले वृक्षों का एक वंश है। एक जाति भारत में पाई जाती है।

Sterculiaceae

टे. एलेटा आर. ब्राउन सिन. स्टरकुलिया एलेटा रॉक्सवर्ग *P. alata* R. Br.

ले. - टे. अलाटा

D.E.P., VI (3), 360; Fl. Br. Ind., I, 360; Talbot, I, Fig. 87.

वं. - बड़ु नारिकेल; त. - कोडैटुण्डी; क. - कोलुगिडा, तटेडे मरा; मल. - कोडाताणी, आनातोंडी, पथ्नोंडी.

नेपाल - लवशी; असम - टूला, पहाड़ी; खासी - डींग-सोह-लकोर; लुशाई - फुनवर-पुई; ग्रंडमान - लेटकोक; व्यापार - नारिकेल.

यह एक लम्बा, सुन्दर, प्रायः वषमूल वृक्ष है जिसकी ऊँचाई 45 मी., परिधि 3 मी. तथा तना 30 मी. लम्बा, सीधा, बेलनाकार होता है। यह पूर्वी हिमालय और असम तथा पश्चिमी घाट में उत्तर कनारा से दक्षिण तक पाया जाता है। यह अंशमान में भी मिलता है। इस वृक्ष को वगीचों और वीथियों की सजावट के लिए साधारणतया उगाया जाता है। इसकी छाल भूरी बादामी, काफ़ी चिकनी; पत्ते 10-25 सेंमी. × 7-20 सेंमी. अण्डाकार-हृदयाकार; फूल भूरे-पीले, गुच्छों में; फालिकिल उप-गोलाकार, काण्ठीय; बीज बहुत लम्बोत्तरे, चिपटे, 5 सेंमी. लम्बे सिरों पर काफ़ी पंखदार होते हैं।

यह वृक्ष छुटपुट रूप से मुख्यतः सदावहार जंगलों में नम स्थानों के आस-पास के अन्य पेड़-पौधों से ऊँचा दिखाई देता है। सूखे स्थानों में भी यह अच्छी तरह बढ़ता है। सामान्यतः बीजों के द्वारा प्राकृतिक पुनर्जनन होता है क्योंकि पौधे घनी छाया सहन कर सकते हैं। ताजे इकट्ठे किए गए बीजों को बोने से या 20 सेंमी. ऊँची नर्सरी में तैयार बेड़ों को बरसात के मौसम में 2 मी. × 2 मी. की दूरी पर लगाने से कृत्रिम पुनरुत्पादन किया जा सकता है। ठूँठ रोपण भी सफल सिद्ध हुआ है। इस वृक्ष के बढ़ने की गति तेज होती है और इसकी लकड़ी में 2.5 सेंमी. त्रिज्या वाली 2-5 पर्तें बनती हैं। इसमें अच्छी तरह कल्ले फूटते हैं (Troup, II, 152; Haines, II, 77; Macalpine, *Tocklai exp. Sta. Memor.*, No. 24, 1952, 102; *For. Res. India*, 1952-53, pt 11, 3; *Indian For.*, 1948, 74, 279).

ताजी कटी लकड़ी सफ़ेद होती है, किन्तु समय के साथ वह सलेटी रंग में बदल जाती है। सामान्यतः यह सीधी दानेदार, स्थूल गठन की और साधारण कठोर या हल्की (आ.घ., 0.25-0.62; भार, 385-657 किग्रा./घमी.) होती है। यह आसानी से सिझाई जा सकती है लेकिन काटने के तुरन्त बाद इसे रूपान्तरित करके छाया में चट्टों में चिन देना चाहिये जिससे यह बदरंग न होने पाये किन्तु भट्टे में पकाने से सर्वोत्तम परिणाम प्राप्त होते हैं। 2.5 सेंमी. मोटे तख्तों को सिझाने में 4-5 दिन लग जाते हैं और निर्जर्मीकरण के लिए प्रारम्भ में 100% आपेक्षिक आर्द्रता तथा 55° पर 2 घण्टे तक वाष्पीकरण की आवश्यकता होती है, उचित प्रकार से सिझाने पर यह लकड़ी छाया में रखी रहने पर काफ़ी टिकाऊ होती है लेकिन खुला रखने से यह आसानी से नष्ट हो सकती है। क्योंकि इस पर विभिन्न प्रकार के कीटों का आक्रमण हो सकता है और इसमें कवक विगलन आ सकता है। इसको चीरना और रटना आसान है। इससे अच्छी सतह निकल आती है। चतुर्थांश काटने पर उपहले दानों वाली चमकदार सतह निकलती है। इमारती लकड़ी के रूप में उपयुक्तता के मान सागौन के उन्हीं गुणों के प्रतिशत के रूप में निम्न प्रकार हैं : भार, 85; कड़ी के रूप में सामर्थ्य, 85; कड़ी के रूप में दृढ़ता, 85; खंभे के रूप में उपयुक्तता, 85; आघात प्रतिरोध क्षमता, 100; आकार स्थिरण क्षमता, 70; अपरूपण, 90; और कठोरता, 75 (Pearson & Brown, I, 150; Indian Woods, I, 217-18; Bourdillon, 46; Rodger, 22; Rehman, *Indian For. Bull.*, N.S., No. 198, 1956, 1; Limaye, *Indian For. Rec.*, N.S., *Timb. Mech.*, 1954, 1, 60, Sheet No. 19).

इस लकड़ी का प्रयोग मुख्यतः चाय के डिब्बों और दूसरे हल्के सामान-बन्दी के डिब्बों के रूप में किया जाता है। यह तख्तियों और प्लाइवुड के लिए और हल्के साज-सामान, दियासलाइयों और छिपटियों के लिए भी उपयुक्त है। नेपाल में इस लकड़ी का प्रयोग ढोल बनाने के लिए किया जाता है। यह बहुत अच्छा ईंधन है। इसका कैलोरी मान, 5,160 कै. या 9,290 ब्रि.यू.इ. है। लकड़ी के विश्लेषण से निम्नांकित मान प्राप्त हुये हैं (ऊष्मक शुष्क आधार पर) : सेलुलोज, 56.2; लिग्निन,

21.1; पेण्टोस, 16.8; और राख, 1.3%। लकड़ी की रासायनिक लुगदी सम्बन्धी प्रयोगों (औसत तन्तु लम्बाई, 1.19 मिमी.; व्यास, 0.03 मिमी.) से पता चलता है कि आर्थिक दृष्टि से लिखने और मुद्रण के कागज-उत्पादन के लिए यह ठीक नहीं है। छाल से एक रेशा निकलता है जो मोटे जहाजी रस्से बनाने के काम आता है (Pearson & Brown, I, 152; Indian Woods, I, 218; Limaye, loc. cit.; Trotter, 1944, 219; Fl. Assam, I, 154; Krishna & Ramaswami, *Indian For. Bull.*, N.S., No. 79, 1932, 24; Bhat & Gupta, *Indian For. Bull.*, N.S., No. 180, 1954, 1).

असम और ब्रह्मा के कुछ हिस्सों में इसके भुने हुए बीज खाये जाते हैं। इन्हें अफ़ीम का सस्ता प्रतिस्थापी माना जाता है, यद्यपि इस वृक्ष में नशीला अंश नहीं पाया जाता है। सूखे बीजों से एक स्थिर तेल (35%) निकलता है जिसकी विशेषतायें हैं : आ.घ.^{30°}, 0.905; सावु. मान, 101; ऐसीटिल मान, 81.7; आयो. मान, 95.09; आर. एम. मान, 0.41; पोलैस्के मान, 0.42; तथा असावु. पदार्थ (अधिकांशतः फाइटोस्टेरॉल), 0.86%। तेल के रचक वसा-अम्ल इस प्रकार हैं : स्टीऐरिक, 7.5; पामिटिक, 14.5; लिनोलीक, 32.4; और ओलीक अम्ल, 44.0% (Fl. Assam, I, 154; Benthall, 51; Pillai, *Rep. Dep. Res.*, Univ., Travancore, 1939-46, 188).

Sterculia alata Roxb.

टेरीडियम स्कापोली (पॉलिपोडिएसी) PTERIDIUM Scop.

ले. - टेरिडिऊम

यह फ़र्न का वंश है जो उष्णकटिबंधी और शीतोष्ण भूभागों में पाया जाता है। इस वंश में केवल एक परिवर्तनशील जाति अथवा कई समवर्गी जातियाँ सम्मिलित हैं। भारत में इसकी प्रतिनिधि डे. ऐक्वीलिनम है।

Polypodiaceae

डे. ऐक्वीलिनम कुह्न सिन. टेरिस ऐक्वीलिना लिनिअस

P. aquilinum Kuhn

ब्रेकन, ब्रेक

ले. - डे. अक्रुइलिनम

D.E.P., VI (1), 355; Beddome, *Indian Ferns*, 115; Blatter & d'Almeida, Pl. VII.

त. - पर्नाई; मल. - तावी.

पंजाब - देव, ककई, कखश, लुंगर; लुशाई - काटचाट.

यह गुच्छेदार, तेजी से बढ़नेवाला, दृढ़, शायन प्रकन्द है जो 600-3,600 मी. की ऊँचाई तक सम्पूर्ण भारत की पहाड़ियों में खुले घास के मैदानों में पाया जाता है। पर्णोप-पत्र अधिकतर त्रिपक्षवत्, सबसे ऊपरी पर्ण पल्लव साधारण, सामान्यतया 0.6-1.8 मी. लम्बा तथा 30-90 सेंमी. चौड़ा, किन्तु 3.6 मी. तक लम्बा बढ़ सकने वाला होता है।

ब्रेकन शोभाकारी फ़र्न है जो गोठों तथा चट्टानी जगहों पर उगाया जाता है। कभी-कभी घरेलू सजावट के लिए गमलों में भी लगाया जाता है। इसे प्रकंदों के विभाजन अथवा स्पोरों द्वारा प्रवर्धित किया जाता है। कुछ देशों में यह कष्टप्रद खरपतवार है। इसका नियंत्रण यांत्रिक अथवा रासायनिक विधियों, विशेषकर सोडियम क्लोरेट तथा सोडियम आर्सेनाइट के उपचार से किया जाता है [Medsgger, 136; Swarup & Sharma, *Indian Hort.*, 1960-61, 5 (4), 17; Nelthorpe, *Quart. J. For.*, 1950, 44, 18; *Field Crop*

Abstr., 1953, 6, 57; Muenscher, 1955, 111; Robbins *et al.*, 431; Rose, 56].

अकाल के दिनों में, प्रकंद उवाल कर या पका कर खाये जाते हैं अथवा रोटी बनाने के लिए पीस कर चूर्ण बनाया जाता है। प्रकंद से प्राप्य स्टार्च कड़ा होता है। यह कड़ापन धोने से दूर हो जाता है। पता चला है कि चीन तथा जापान में बहुत पहले से इसका स्टार्च निकाल कर औषध के रूप में प्रयुक्त होता था। माल्ट के साथ मिलाकर प्रकंद से एक प्रकार की शराब बनाई जाती है। यह जानवरों, विशेषकर सुअरों, के आहार के लिए प्रयुक्त होता है। सूखे प्रकंद के चूर्ण के विश्लेषण पर निम्नांकित मान प्राप्त हुए हैं: शुष्क पदार्थ, 90.0; प्रोटीन, 9.5; वसा, 1.2; कार्बोहाइड्रेट, 51.0; रेशा, 20.0; तथा राख, 8.3%। प्रकंद में काफ़ी श्लेष्मा, शर्करा (6.7%), कैटेचॉल टैनिन (6.6%) तथा कड़ा ग्लाइकोसाइड, टैराक्विलिन (ग.वि., 92°) पाया जाता है। तीक्ष्ण सैपोनिन को जल में निलम्बित करने से वह मछलियों के लिए विषैला बन जाता है किन्तु यह खरगोशों के लिए अविषैला है। पता चला है कि ब्रेकन चमड़ों के कमाने में भी उपयोगी है (Burkill, II, 1823-24; Hedrick, 470; Watt & Breyer-Brandwijk, 1092; Hoppe, 747; Woodman, *Bull. Minist. Agric. Lond.*, No. 124, 1945, 15; *Chem. Abstr.*, 1954, 48, 8964; 1957, 51, 6838).

कोमल पर्णांग-पत्र श्लेष्मीय होते हैं। ये शाक-सज्जी के रूप में खाये जाते हैं और सूप बनाने के काम आते हैं। विश्लेषण करने पर ताजे पर्णांग-पत्रों में आर्द्रता, 91.3; प्रोटीन, 1.0; वसा, 0.1; नाइट्रोजन मुक्त निष्कर्ष, 5.6; रेशा, 1.4; तथा खनिज पदार्थ, 0.6%। पर्णांग-पत्रों में β -कैरोटीन, 0.98 मिग्रा./100 ग्रा. है। पर्णांग-पत्रों में पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध मुक्त ऐमीनो अम्ल इस प्रकार हैं: वैलीन, ऐलानीन, टायरोसीन, ल्यूसीन, ऐस्पार्टिक अम्ल, ग्लूटमिक अम्ल तथा ऐस्परैजिन। शुष्क आघार पर फ़र्न में आयोडीन 900 मात्रा/किग्रा. है (Hedrick, 470; Medsger, 136; Winton & Winton, II, 179; Deuel, I, 519; Hoppe, 747; *Chem. Abstr.*, 1961, 55, 19061; Iodine Content of Foods, 126).

हरे पर्णांग-पत्रों का चारा बनाया जाता है। पशुओं तथा भेड़ों पर किये खाद्य परीक्षणों से ज्ञात हुआ कि नये ताजे पर्णांग-पत्र शीघ्र ही पचनीय हैं और अच्छी कोटि के सूखे चारे के तुल्य ही इनका पोषण-मान भी अधिक है। पका हुआ वादामी पर्णांग-पत्र कठिनाई से पचता है। अधिक समय तक अधिक मात्रा में केवल इसी को जानवरों को खिलाते रहने से यह विष बन जाता है। शुष्क तथा ताजा, दोनों ही दशाओं में, पर्णांग-पत्र विषैला प्रभाव दर्शाते हैं। ब्रेकन विपाकतता के लक्षण थायमीन-न्यूनता जैसे ही होते हैं। ग्रस्त पशु थायमीन उपचार के प्रति संवेदनशील होते हैं। पीधों का हानिकारक प्रभाव दो प्रतिथायमीन कारकों के कारण बताया जाता है: (1) अस्थिर ताप एंजाइम थायमीनेस; (2) फ्लेवो-नायड वर्णक का स्थिर घटक। ताजा पीधों से निकले फ्लेवो-नायड में ऐस्ट्रगालिन (केम्फेराल-3-ग्लूकोसाइड), आइसो क्वर्सेटिन (क्वर्सेटिन-3-ग्लूकोसाइड) तथा रुटिन (क्वर्सेटिन-3-रैमनोग्लूकोसाइड) की कुछ मात्रा। इन सबों में थायमीन-विघटक सक्रियता होती है। पर्णांग-पत्र के नवीन परीक्षण से ज्ञात हुआ है कि इनमें प्रूनेसीन (158 मिग्रा./100 ग्रा.) तथा सायनोजनिक ग्लाइकोसाइड भी होते हैं (Forsyth, *Bull. Minist. Agric. Lond.*, No. 161, 1954, 93; Watt & Breyer-Brandwijk, 1089; *Chem. Abstr.*, 1954, 48, 4064, 2179; 1955, 49, 14826; 1956, 50, 14185; Kofod & Eyrjölsson, *Tetrahedron Lett.*, 1966, 1289).

शुष्क पर्णांग-पत्र पैकिंग सामग्री के रूप में भी प्रयोग किये जाते हैं। कागज की लुगदी के छोट के रूप में भी इसके उपयोग का प्रयास किया गया है। कास्टिक-सोडा के साथ पर्णांग-पत्रों को उपचारित करने से 19-24% तक लुगदी मिलती है। प्रकंदों की ही तरह पर्णांग-पत्र भी शराब बनाने के लिए उपयोगी हैं (Blatter & d'Almeida, 93; Burkill, II, 1824; *Chem. Abstr.*, 1948, 42, 9164; Watt & Breyer-Brandwijk, 1092).

काफ़ी वागानों में ब्रेकन पशुओं तथा घोड़ों के लिए विछाली की तरह प्रयोग किया जाता है। इस प्रकार बनी खाद में प्रचुर फॉस्फोरिक अम्ल तथा पोटैश रहते हैं जो काफ़ी के पीधों के लिए उपयोगी हैं।

प्रकंद कपैले होते हैं तथा अतिसार, आमालशय, शोथ और आंत्र श्लेष्मिक झिल्लियों के लिए लाभप्रद हैं। तेल अथवा खस्ती सुअर की चर्वों में उबले प्रकंद धावों पर मलहम की तरह लगाये जाते हैं। पीधों का रस ग्रैम-ग्राही जीवाणुओं के प्रति सक्रिय है (Kirt. & Basu, IV, 2742; *Chem. Abstr.*, 1957, 51, 6838; Caius, *J. Bombay nat. Hist. Soc.*, 1935-36, 38, 360; Nickell, *Econ. Bot.*, 1959, 13, 303).

टेरोकार्पस जैक्विन (लेग्यूमिनोसी; पैपिलियोनेसी) PTEROCARPUS Jacq.

ले. - टेरोकार्पस

यह संसार भर के उष्णकटिबंधी क्षेत्रों में पाये जाने वाले वृक्षों तथा काष्ठीय आरोही-लताओं का वंश है। इसकी 4 जातियाँ भारत में मिलती हैं।

Leguminosae; Papilionaceae

टे. इंडिकस विल्डेनो नान देकर *P. indicus* Willd. non Baker
मलय पादौक, नर्सी

ले. - टे. इंडिकस

D.E.P., VI (1), 355 in part; C.P., 907; Fl. Br. Ind., II, 238 in part; Bor, 89; Foxworthy, *Malay. For. Rec.*, No. 3, 1927, 96.

ले. - येरेवेगिरा, त. - वेंगं.

यह एक बड़ा पुष्टेदार वृक्ष है जिसकी ऊँचाई 36.0 मी. तथा घेरा 3.6 मी. होता है। यह मलेशिया का मूलवासी माना जाता है और अब कुछ सीमा तक इसे अंडमान, पश्चिम बंगाल, तमिलनाडु और महाराष्ट्र में उद्यानों तथा वृक्षवीथियों में लगाया जाता है। टे. डाल्बर्जियाईस से इसकी भिन्नता यह है कि इसकी पत्तियाँ अण्डाकार, कुछ गोलाकार तथा कम स्पष्ट शिराओं वाली; पुष्पगुच्छ अधिकांशतः कक्षवर्ती और फलियों के कोर उत्तल होते हैं।

इस वृक्ष के लिए अच्छे जल-निकास वाली गहरी मिट्टी चाहिये। यह कड़ी मट्टियारों में नहीं बढ़ता। उष्णकटिबंधी जलवायु में 150 सेंमी. से अधिक वार्षिक वर्षा होने पर यह भली-भाँति उगता है। बीज या कलम से यह शीघ्र ही उगता है और इसकी वाढ़ की दर बहुत तेज बताई जाती है। नये तिर्रे से वन-रोपण और शोभाकारी पादप के रूप में अत्यन्त उपयुक्त है (Troup, I, 292-94; Foxworthy, *Malay. For. Rec.*, No. 3, 1927, 96).

इसकी लकड़ी साधारण कठोर, भारी (भार, 625 किग्रा./घ.मी.) और पीले से लेकर लाल रंग की होती है। इस जाति के कुछ प्ररूपों की

लकड़ी में चन्दन की-सी सुगन्धि होती है। इसे बिना कठिनाई के हवा में सुखाया जा सकता है। इसको भूमि के सम्पर्क में नहीं रखना चाहिये। यह आसानी से गद्दी जा सकती है और इसमें अच्छी पालिश चढ़ती है। फर्नीचर तथा कैबिनेट बनाने के लिए यह अत्यन्त उत्तम लकड़ी है (Browne, 238; Foxworthy, loc. cit.; Burkill, II, 1830).

फिलिपिन्स में इस लकड़ी से एक लाल रंजक बनाया जाता है जिसे हल्के रंग वाली लकड़ियों को रँगने के लिए काम में लाते हैं। इसमें लाल रंजक द्रव्य, नैरिन तथा सैटेलिन और ऐंगोलेन्सिन पाये जाते हैं। नैरिन गहरे लाल रंग का अक्रिस्टलीय चूर्ण है जो क्षार के साथ संगलित किये जाने पर फ्लोरोग्लुसिनाल और रिसॉसिनाल उत्पन्न करता है (Brown, 1941, II, 162; Burkill, II, 1831; Mayer & Cook, 151; Bhrara et al., *Curr. Sci.*, 1964, 33, 303).

काष्ठ का काढ़ा जलीदार और मृदाशय की पथरी के उपचार में पिलाया जाता है। छाल से एक कीनी प्राप्त होता है जो इसी वंश की अन्य जातियों के वृक्षों से निकले कीनों के ही समान है। कीनों को व्रण में लगाया जाता है और छाल अथवा कीनों के काढ़े को छाले तथा अतिसार के उपचार में प्रयोग किया जाता है। फिर भी कथित औषधीय उपयोगों पर अधिक अन्वेषण करने की आवश्यकता है (Quisumbing, 427; Burkill, II, 1830).

इसका बीज वामक होता है। पत्तियों के अर्क से केश धोये जाते हैं। पौष्टिक शिरोवेदना का उपचार करने के लिए पत्तियों को कूट कर 'छिक्काजनक' के रूप में प्रयोग किया जाता है। अधिक नवीन पत्तियों और सुगन्धित पुष्पों को खाया जाता है (Van Steenis-Kruseman, *Bull. Org. sci. Res., Indonesia*, No. 18, 1953, 30; Burkill, II, 1830).

टे. डाल्वर्जिआयडीज राक्सवर्ग सिन. टे. इंडिकस वेकर नान
विल्डेनो *P. dalbergioides* Roxb.

अंडमान पादौक, अंडमान रक्तदार (रक्त चंदन)

ले. - टे. डाल्वर्जिआयडीज

D.E.P., VI (1), 355 in part; C.P., 907; Fl. Br. Ind., II, 238 in part; Bor, 89.

ते. - येरेंवेगिस; त. - वेंगै.

अंडमान - चलनगडा, डा; व्यापार - अंडमान रक्तदार, पादौक.

यह अर्ध-पर्णपाती या एक प्रकार से सदाहरित पुष्पेदार वृक्ष है जिसकी ऊँचाई 45.0 मी. और घेरा 5.5 मी. होता है। पुष्पे से ऊपर 15 मी. से अधिक साफ वेलनाकर तना होता है। यह वृक्ष केवल अंडमान में और कहीं-कहीं पर पश्चिमी बंगाल तथा दक्षिण भारत में पाया जाता है। पत्तियाँ विषम पक्षाकार, पत्रक संख्या में 5-9, अण्डरूप-भालाकार, धीरे-धीरे एक स्थान पर संकीर्णित; नीचे उभरी नसें; पुष्पगुच्छ मुख्यतः अंतस्थ; फूल सुनहरे पीले; फलियाँ वर्तुल, चपटी, सपक्ष, वृंत और वतिका के बीच फली का किनारा मुख्यतः अवतलीय, बीज संख्या में 1-2, चिकने, चमकदार होते हैं।

प्रारम्भ में टे. इंडिकस विल्डेनो के साथ इसका भ्रम होता था किन्तु इन दोनों जातियों में कई भिन्नताएँ हैं। अंडमान पादौक के वृक्ष मिले-जुले पर्णपाती या सदावहार जंगलों में बिखरे हुए होते हैं और इनके साथ लेगरस्ट्रोमिया हाइपोप्ल्यूका, टर्मिनेलिया वायलेटा स्ट्यूडेल, टे. कंटेप्पा लिनिअस, होपिया ओडोरेटा, मेसुआ फेरिया और कुछ अन्य पौधे भी पाये जाते हैं। यह पहाड़ियों के अच्छे जल-निकास वाले ढालों पर

और चौड़ी घाटियों में, सामान्यतः मैग्नोव कटिवंध से ऊपर की ज्वारीय संकरी खाड़ियों में, अच्छी तरह उगता है। यह प्रायः बालुकाश्म तथा संगुटिकाश्म से युक्त अवसादों से उत्पन्न मिट्टी में अधिक संख्या में पाया जाता है। यह प्राकृतिक अवस्था में 295 सेंमी. वर्षा होने तथा साल में अधिक समय तक नम रहने पर उगता है। यह तुषार नहीं सह सकता और इसे प्रकाश की आवश्यकता होती है (Troup, I, 278-81).

वृक्षों के काट दिये जाने पर बने खुले स्थानों पर जब पादौक के पके बीज टूट कर गिरते हैं तो उनसे प्राकृतिक जनन होता है। तीन-चार वर्षों तक जब तक कि नई पौधे अच्छी तरह लग न जाएँ प्रत्येक वर्ष उनके नीचे के झाड़झंखाड़ की निराई करते रहने से पौधे ठीक से पनपते हैं। कृत्रिम जनन करने के लिए समूची फलियों को बोया जाता है। इसके बीज 8 वर्षों तक अंकुरणक्षम रहते हैं लेकिन बीजों को बोने की अपेक्षा नर्सरी में उगाई गई एक वर्ष पुरानी पौधें अथवा पुराने वृक्षों के नीचे उगी दो चार पत्तियों वाली पौधों को उखाड़कर लगाना ज्यादा अच्छा होता है। यद्यपि अंकुरण की प्रतिशतता लगभग 45 है किन्तु अंत में इसकी केवल आधी पौधें ही जीवित रह पाती हैं। पादौक की कतारों के बीच में मक्का या ईख की फसल भी उगायी जा सकती है। इससे खरपतवार की बाढ़ कम हो जाती है (Troup, I, 283-86; Ganapathy & Rangarajan, *Indian For.*, 1964, 90, 758).

प्राकृतिक पादौक वृक्षों में अपेक्षाकृत धीमी वृद्धि होती है किन्तु रोपी गई पौधें तेजी से बढ़ती हैं और प्रति वर्ष तने की परिधि में लगभग 2.8 सेंमी. वृद्धि होती है। उत्तरी बंगाल और असम के समतल मैदानों तथा पहाड़ों के नीचे जहाँ मुख्यतः चाय की खेती की जाती है, ईंधन प्राप्त करने के लिए जिन वृक्षों को चुना जाता है, उनमें यह भी एक है। इसमें कल्ले अच्छी तरह फूटते हैं और यह शक्ति इसमें अधिक काल तक बनी रहती है। फोमिस फैस्टुओसस लेविल्ले खड़े वृक्षों के घायल पुस्तों में से होते हुये अंतःकाष्ठ पर आक्रमण करके श्वेत गलन रोग उत्पन्न कर देता है। कुछ अन्य कवक भी इसके लट्टों में श्वेत गलन उत्पन्न कर देते हैं। इस वृक्ष पर बहुत से भृंगों या उनके डिम्बकों का भी आक्रमण होता है जो कटी हुयी लकड़ी में छेद कर देते हैं [Troup, I, 286-87; Macalpine, *Tocklai exp. Sta. Memor.*, No. 24, 1952, 99; Sujan Singh et al., *Indian For.*, 1961, 87, 248; Mathur & Balwant Singh, *Indian For. Bull.*, N.S., No. 171(7), 1959, 78].

रसकाष्ठ धूसर तथा संकीर्ण, अंतःकाष्ठ हल्के पीले-गुलाबी रंग से लेकर प्रायः गहरी धारियों सहित भड़कीले लाल रंग का होता है जो खुला छोड़ देने पर काले रंग का, धूमिल से लेकर चमकदार, चौड़े अंतर्ग्रथित दानेदार, स्थूल-वयन, मजबूत, चीमड़ कठोर और भारी (आ.घ., 0.714; भार., 721 किग्रा./घमी.) हो जाता है। पुस्तों की लकड़ी प्रायः उत्तमोत्तम रंग की तथा सुन्दर आकृति वाली होती है। वृक्ष में प्रायः बड़ी-बड़ी गोल गाँठें बन जाती हैं जिनकी लकड़ी भी अत्यन्त सुन्दर होती है। पीताभ या हल्के रंग की लकड़ी अपवर्ण पादौक कहलाती है। इसका वाजार-भाव कम होता है। यह लकड़ी बिना एंटे या उपड़े ही अच्छी तरह हवा में सूख जाती है। यदि लकड़ी को खुले चट्टों में चिनकर ढक दिया जाए अथवा छायादार स्थान में भलीभाँति वायु-परिसंचरण हो सके तो वह शीघ्रता से सूख जाती है। इसे भट्टे में भी सुखाया जा सकता है जिसमें 12-15 दिन लगते हैं। प्रारम्भिक भापन के बाद बीच में कम से कम एक बार और फिर सुखाने के अंत में दुबारा लगभग 1-4 घण्टे तक 55°/100 प्रतिशत आपेक्षिक आर्द्रता पर भापित करना आवश्यक है। उत्तम कार्यों के लिए लकड़ी को भट्टे में 50°/70 प्रतिशत आपेक्षिक आर्द्रता पर एक या दो दिन

आर्द्रता संतुलन के लिए उपचारित किया जाता है। लकड़ी खुले में या छाया में अधिक टिकाऊ होती है किन्तु समुद्री जल के सम्पर्क में यह टेरेडो द्वारा नष्ट हो जाती है। शव स्थल परीक्षणों से पता चला है कि यह लकड़ी 23 वर्ष से अधिक तक टिकाऊ है (Pearson & Brown, I, 384-87; Troup, I, 277; Trotter, 1944, 153; Limaye & Sen, *Indian For. Rec., N.S., Timb. Mech.*, 1953, 1, 96, 153; Gamble, 259; Rehman, *Indian For.*, 1953, 79, 349; Purushotham *et al.*, *ibid.*, 1953, 79, 49).

लकड़ी को आरे या मशीन से चीरने में कठिनाई नहीं होती किन्तु अंतर्ग्रथित दानों के कारण इसे अच्छी तरह परिरूपित करने के लिए अधिक परिश्रम करना पड़ता है। फिर भी इसकी सतह चिकनाई जा सकती है और अच्छी तरह रेत कर इसमें पालिश या मोम चढ़ सकती है। इमारती लकड़ी के रूप में इसकी आपेक्षिक उपयुक्तता के अंक सागौन के उन्हीं गुणों की प्रतिशतता के रूप में इस प्रकार हैं: भार, 105; कड़ी के रूप में दृढ़ता, 100; कड़ी के रूप में दुर्नम्यता, 105; खम्भे के रूप में उपयुक्तता, 105; आघात प्रतिरोध क्षमता, 100; आकृति स्थिरण क्षमता, 100; अपरूपण, 115; और कठोरता, 130 (Pearson & Brown, I, 387; Trotter, 1944, 153; Limaye, *Indian For. Rec., N.S., Timb. Mech.*, 1954, 1, 58, Sheet No. 17).

पादक-काष्ठ सजावटी सामान, चौखट, छत, जंगला, ठेला-गाड़ियाँ, जहाजों के कैबिन और सैलून बनाने के लिए उत्तम है। यह भारी बड़ई-मिरी में विलिअर्ड मेज, काउंटर, पिअरों की पेटी, वाजे और अन्य कोटि के फर्नीचरों को बनाने के लिए विशेष उपयुक्त है। इसको कैबिनेट बनाने, औजारों की मूठ तथा आकर्षक वृक्ष तैयार करने में उपयोग किया जाता है। तोपगाड़ी, पहिया, युद्ध-सामग्री रखने के सन्दूक, नाव, छकड़े वगैरी के चौखट, दरवाजों के चौखट, शहलीरों और चट्टे बनाने के लिए भी इसका उपयोग किया जाता है। इसका पृष्ठावरण चौरा, तराशा और छीला जा सकता है और इसके द्वारा आकर्षक प्लाइवूड प्राप्त होती है। जब पहले-पहल वायुयान बनाये गये तो उनके नोदकों, परीक्षण-पंखों और विमानिक पेषों को बनाने के लिए इसी लकड़ी का प्रयोग किया गया था। लकड़ी के पुल बनाने के लिए महुआ (मधुका इंडिका) और सत्तन (औजीनिया ऊजीनेसिस) के स्थान पर इसकी लकड़ी प्रयुक्त की जा सकती है (Pearson & Brown, I, 387; Trotter, 1944, 154, 199; Gamble, 258; Sekhar & Bhartari, *Indian For.*, 1964, 90, 767; Bhattee, *ibid.*, 1966, 92, 109; Masani & Bajaj, *ibid.*, 1962, 88, 750; Bhandari, *Def. Sci. J.*, 1964, 14, 33; Limaye, *Indian For. Rec., N.S., Timb. Mech.*, 1954, 1, 58; *Comp. Wood*, 1956, 3, 71; Howard, 435; Limaye, *Indian For. Rec., N.S., Util.*, 1942, 2, 176).

लकड़ी में एक लाल वर्णक, सैण्टेलिन और एक पीला फ्लैवोनोयड, सैण्टल, पाया जाता है। ये दोनों योगिक टे. सैण्टेलिनस में भी पाये जाते हैं। छाल और अंतःकाष्ठ में टेरोस्टिलबोन (3-5'-डाइमेथॉक्सि-4-स्टिलबेनाल) पाया जाता है जो भूरा-विगलन उत्पन्न करने वाले कवक, कोनिओफोरा सेरेविला पर्सून के प्रति विप्रेला होता है। अंतःकाष्ठ से टेरोकार्पिन ($C_{17}H_{14}O_6$, ग.वि., 165°), लिक्विडिजेनिन (7, 4'-डाइहाइड्रोक्सि फ्लैवोनोन) और आइसो-लिक्विडिजेनिन (2, 4, 4'-डाइहाइड्रोक्सि चाल्कोन) प्राप्त होते हैं। इनमें से अंतिम दोनों योगिक तथा एक अन्य योगिक, होमोटेरोकार्पिन ($C_{17}H_{16}O_4$, ग.वि., $87-88^\circ$) रस काष्ठ से भी निकाले गए हैं (Lal & Dutt, *Proc. nat. Acad. Sci. India*, 1940, 10A, 73; Sawhney & Seshadri, J.

sci. industr. Res., 1956, 15C, 154; King *et al.*, *J. chem. Soc.*, 1953, 3693).

Lagerstroemia hypoleuca; *Terminalia bialata* Steud.; *T. catappa* Linn.; *Hopea odorata*; *Mesua ferrea*; *Fomes fastuosus* Lev.; *Teredo*; *Madhuca indica*; *Ougeinia oojeinensis*; *P. santalinus*; *Coniophora cerebella* Pers.

टे. मार्सूपियम रॉक्सवर्ग *P. marsupium* Roxb.

भारतीय कीमती वृक्ष, मालावार कीमती वृक्ष

ले. - टे. मार्सूपिऊम

D.E.P., VI (1), 357; C.P., 908; Fl. Br. Ind., II, 239.

हिं. - विजासाल, विजा; वं. - पित्ताल; म. - धोरवैला, असन, बिन्ला; गु. - बियो, हिरदखान; ते. - येगि, पेद्गि; त. - वेंग; क. - होन्ने, वंगे; मल. - वेंगा; उ. - व्यासा.

व्यापार - विजासाल.

यह मध्यम आकार से लेकर बड़ा, 30 मी. ऊँचाई तथा 2.5 मी. घेरे वाला, पर्णपाती वृक्ष है जिसका तना साफ तथा सीधा होता है। यह सामान्यतः डेकन प्रायद्वीप के पहाड़ी क्षेत्रों से लेकर गुजरात, मध्य प्रदेश, उत्तर प्रदेश, बिहार और उड़ीसा में पाया जाता है। इसकी छाल घूसर, खुरदुरी, लम्बाई में खाँचदार तथा पपड़ीदार; अपच्छद गुलाबी और श्वेत चिन्हीं से युक्त; पत्तियाँ विषम पक्षकार; पत्रक संख्या में प्रायः 5-7, आयतरूप; पुष्प बड़े-बड़े गुच्छों में, पीले सुगन्धित; फलियाँ वतुल, चपटी, सपक्ष, 5 सेंमी. तक व्यास की; बीज संख्या में 1-2, उत्तल तथा अस्थिर होते हैं। पुराने वृक्षों से लाल रंग का एक गोंद-रेजिन निकलता है।

यह वृक्ष पर्णपाती वनों में ऊँची-नीची तथा समतल दोनों प्रकार की भूमि में तथा अच्छे जल-निकास वाली अन्य रचनाओं में भी उगता है। यद्यपि यह प्रायः चिकनी दुमट मिट्टी में उगता है, इसके उगने के लिए वलुई मिट्टी अधिक उपयुक्त होती है। इसके प्राकृतिक क्षेत्रों में 75 से 200 सेंमी. तक वर्षा होती है और वहाँ इस वृक्ष का आकार अधिक बड़ा होता है किन्तु मैसूर और केरल में अधिक वर्षा के कारण इसका आकार और बड़ा हो जाता है। इसे ज्यादा प्रकाश नहीं चाहिये। इसकी नई पौधों तुपार से नष्ट हो जाती हैं। इससे बहुत अच्छे कल्ले फूटते हैं किन्तु यह छँटाई करने से और अधिक बढ़ता है। इसमें बहुत कम अंतःभूस्तारी जड़ें निकलती हैं। दक्षिण भारत में काफी वागानों में इसे छायादार वृक्ष के रूप में उगाया जाता है। पश्चिम बंगाल और असम के चाय वागानों में भी इसको रोपित करने की संस्तुति की गई है (Troup, I, 268, 270; *Indian Coffee*, 1955, 19, 37; Macalpine, *Tocklai exp. Sta. Memor.*, No. 24, 1952, 100).

इसका प्राकृतिक जनन बीजों द्वारा होता है; पौधों को सूर्य के प्रकाश से बचाने और मिट्टी को ढीली तथा खरपतवार रहित करते रहने से ये जल्दी बढ़ जाते हैं। संभव है कि पौधों में तने न विकसित हों या लगातार कई वर्षों तक हर वर्ष क्षरण के कारण विकास रुका रहे किन्तु अंत में मूसला जड़ स्थापित हो जाने पर वृद्धि होने लगती है। अनिन से पौधों को बचाने, बीजयुक्त वृक्षों वाली भूमि को फावड़े से खोदने और नये पौधों के छाते को काटते रहने पर प्राकृतिक जनन अधिक और शीघ्रता से होता है (Troup, I, 270).

इसका कृत्रिम जनन बीजों द्वारा होता है। समूची फलियाँ वो दी जाती हैं। यदि फली के सिरों के आर-पार काटकर दोनों से पहले कुछ

दिन तक पानी में भिगो दिया जाए तो अंकुरण जल्दी से हो जाता है। नर्सरी में उगाई गई एक वर्ष की पौध के ठूठ रोपण द्वारा भली-भाँति जनन किया जा सकता है। पौधे को बाँस की टोकरी में उगाकर भी रोपित किया जा सकता है। बीज बोने पर भी सफलतापूर्वक जनन किया जाता है। चुनिन्दा कटाई द्वारा अथवा स्टैंडर्ड सहित या इससे रहित गुल्मवन पद्धति द्वारा गोलाई में प्रति वर्ष 3.8 सेंमी. वृद्धि होती है। अनेक प्रकार के कीट, जिनमें अधिकांशतः विपत्रक कीट हैं, और कुछ कवक इस वृक्ष पर आक्रमण करके लकड़ी को विगलित कर देते हैं [Troup, I, 270-71; Mathur & Balwant Singh, *Indian For. Bull.*, N.S., No. 171 (7), 1959, 79; Bagchee & Singh, *Indian For. Rec.*, N.S., *Mycol.*, 1954 1, 288].

इस वृक्ष की लकड़ी प्रायद्वीपी भारत की प्रमुख लकड़ियों में से एक है। इसका रसकाष्ठ हल्के पीले-श्वेत या श्वेत रंग का, संकीर्ण; अंतःकाष्ठ गहरी वर्ण रेखाओं से युक्त सुनहरा पीताभ भूरा, अर्ध्र होने पर पीला और खुला छोड़ देने पर गहरे रंग का, चौड़े अंतर्ग्रथित दानों वाला, स्थूल गठन का, सुदृढ़, चीमड़, बहुत कठोर और साधारण भारी (आ. घ., 0.796; भार, 801 किग्रा./घमी.) होता है। यह काष्ठ मध्यम उच्चताप-सह होता है और बिना उपड़े, टेढ़ा हुये अथवा तल-विदारित हुए अच्छी तरह हवा में सुखाया जा सकता है। उपड़ने से बचाने के लिए अंतःकाष्ठ को रूपान्तरण के समय बक्स में बन्द कर देना चाहिये। हरे रहने पर ही लट्टे बना लेने चाहिये और छाया में रख देना चाहिये। सबसे अच्छे परिणाम तब मिलते हैं जब हरे लट्टों को तख्तों तथा कड़ियों में रूपांतरित कर लिया जाये और फिर इन्हें बहते जल में 6 सप्ताह तक अथवा रुके जल में 4 माह तक डुबोये रखने के बाद छाया में एक वर्ष तक सुखाया जाए। ऐसा करने पर लकड़ी में दाग नहीं पड़ते और डाल्वजिया सिस्सू (शीशम) जैसी ही लकड़ी प्राप्त होती है। इस लकड़ी को भट्टे में सुखाने में 16-20 दिन का समय लगता है और यह क्रिया धीरे-धीरे सावधानीपूर्वक की जाती है। लकड़ी खुले स्थान में पर्याप्त टिकाऊ और छाया में बहुत अधिक टिकाऊ होती है; शवस्थल परीक्षणों से यह प्रतीत होता है कि देहरादून में यह लकड़ी 22 वर्ष से अधिक समय तक टिकाऊ है किन्तु अन्य स्थानों पर किए गए परीक्षणों से इसकी आयु 22 वर्ष से कम सूचित होती है (Pearson & Brown, I, 392-95; Limaye & Sen, *Indian For. Rec.*, N.S., *Timb. Mech.*, 1953, 1, 96; Trotter, 1944, 13, 155; Rehman, *Indian For.*, 1956, 82, 252; Purushotham et al., *ibid.*, 1953, 79, 49; Prasad et al., *ibid.*, 1964, 90, 32).

यह लकड़ी सरलता से चीरी जा सकती है किन्तु अच्छी तरह परिष्कृत करने में कठिनाई होती है। इसे मशीन द्वारा भली-भाँति चीरा जा सकता है जिससे इसकी सतह अच्छी हो जाती है किन्तु तल को चिकना करने के लिए उसे रेतने की आवश्यकता होती है। इस पर स्थायी पालिश चढ़ सकती है। इमारती लकड़ी के रूप में इसकी आपेक्षिक उपयुक्तता के अंक सागौन के उन्हीं गुणों की प्रतिशतता के रूप में इस प्रकार हैं : भार, 115; कड़ी के रूप में दृढ़ता, 105; कड़ी के रूप में दुर्नम्यता, 95; खम्भे के रूप में उपयुक्तता, 95; आघात प्रतिरोधी क्षमता, 135; आकृति स्थिरण क्षमता, 75; अपरूपण, 115; और कठोरता, 135 (Pearson & Brown, I, 395; Limaye, *Indian For. Rec.*, N.S., *Timb. Mech.*, 1954, 1, 58, Sheet No. 17).

यह लकड़ी मुख्यतः गृहनिर्माण के कार्यों, जैसे दरवाजे, खिड़कियों के चौखटे, तख्ते, धनियाँ और खम्भे बनाने में प्रयुक्त की जाती है। भली-भाँति सुखाने तथा उपचारित करने के पश्चात् इसे सागौन की लकड़ी के स्थान

पर प्रयुक्त किया जाता है। इसका उपयोग रेलगाड़ी के यात्री और मालवाहक डिब्बे, गाड़ियाँ और नावें बनाने के लिए और कभी-कभी जहाज बनाने के लिए भी किया जाता है। रेलों के स्लीपर, विद्युत-संचरण-खम्भे, और खानों के भीतर गत अवस्तम्भों के बनाने के लिए भी इसका उपयोग किया जाता है। अनेक प्रकार के अन्य कार्यों में, जैसे कृषि-सम्बन्धी औजार, ढोल, औजारों के मूठ, तम्बू फर्नीचर, गणितीय यंत्र, चित्रों के फ्रेम, कंधे, सस्ती वंदूकें, शिकारी वन्दूकें और करघा के कुछ भागों के बनाने में भी इसका उपयोग किया जाता है। यह लघुपट्टों के बनाने में और नक्काशी, बड़ईगिरी तथा कैबिनेट कार्य में प्रयोग के लिए उपयुक्त है। लकड़ी के पुल बनाने में भी इसका उपयोग किया जा सकता है [Pearson & Brown, I, 359; Trotter, 1944, 155, 211, 215-16, 220, 222, 226; *For. Abstr.*, 1950, 11, 536; *J. Timb. Dryers' & Pres. Ass. India*, 1956, 2(1), 22; Narayanamurti & Jain, *Res. & Ind.*, 1963, 8, 4; IS: 399-1952; Masani & Bajaj, *Indian For.*, 1962, 88, 750].

अन्य लकड़ियों के साथ मिश्रित करके लपेटने का कागज बनाने के लिए लुगदी तैयार करने में इसका उपयोग किया जा सकता है। इसको ईंधन के रूप में भी प्रयोग किया जाता है। इसका कैलोरी मान रसकाष्ठ : 4,904 कै., 8,826 ब्रि.थ.इ.; अंतःकाष्ठ : 5,141 कै.; 9,255 ब्रि.थ.इ. है (Guha, *Indian For.*, 1961, 87, 194; Krishna & Ramaswami, *Indian For. Bull.*, N.S., No. 79, 1932, 21).

इसकी छाल में *l*-एपिकैटेकिन और एक लाल-भूरा रंजक द्रव्य पाया जाता है। कभी-कभी छाल का उपयोग रँगई के लिए किया जाता है। अंतःकाष्ठ से लिक्विडिजेनिन, आइसोलिक्विडिजेनिन, एक उदासीन अज्ञात यौगिक (ग.वि., 160°), ऐल्कलायड (0.017%) और एक रेजिन (0.9%) प्राप्त हुये हैं। काष्ठ में एक पीला रंजक द्रव्य (0.25%), एक तेल तथा एक धीरे-धीरे सूखने वाला स्थिर तेल (0.52%) भी पाया जाता है (Sawhney & Seshadri, *J. sci. industr. Res.*, 1956, 15C, 154; Bose et al., *J. Indian chem. Soc.*, *industr. Edn.*, 1955, 18, 143; Bhargava, *Proc. Indian Acad. Sci.*, 1946, 24A, 496, 501).

जब वृक्ष की छाल को कैम्बियम तक चीर दिया जाता है तो एक गोंदी कीनी फूटता है। इस निःस्राव को एकत्रित करके घूप अथवा छाया में सुखा लेते हैं। प्रत्येक वृक्ष से लगभग 340 ग्रा. सूखा गोंद प्राप्त होता है। कहा जाता है कि इस वृक्ष से व्यापारिक मात्रा में गोंद प्राप्त हो सकता है किन्तु इस सम्बन्ध में अभी विश्वसनीय आँकड़े प्राप्त नहीं हैं। कुछ स्थानों पर वृक्ष से गोंद नहीं निकाला जाता है क्योंकि ऐसा विश्वास है कि गोंद निकालने से लकड़ी पर बुरा प्रभाव पड़ता है (Puntambekar & Batra, *Indian For. Leaflet*, No. 44, 1943, 5; Krishnamurti Naidu, 143; Information from the Chief Conservator of Forests, Mysore).

भारतीय कीनी को फार्मास्यूटिकल कोडेक्स में स्थान प्राप्त है और 1947 तक कुछ यूरोपीय फार्माकोपियाओं में भी इसका उल्लेख मिलता है। यह छोटे (3-5 मिमी.), कोणीय, चमकीले, भंगुर टुकड़ों के रूप में पाया जाता है। यह काले रंग का होता है किन्तु परागत किरणों द्वारा देखने पर इसके कोर माणिक्य लाल और पारदर्शक प्रतीत होते हैं। यह गन्धहीन और कपाय स्वाद लिए हुए तिक्त होता है। इसको चवाने से लार का रंग गुलाबी हो जाता है। इसमें कैटेचोल (पाइरो-कैटेचिन), प्रोटोकैटेचूइक अम्ल, रेजिन, पेंटन और गैलिक अम्ल की

थोड़ी मात्राओं के अतिरिक्त एक अग्लूकोसाइड टैनिन, कीनोटैनिन अम्ल (25-80%), कीनोइन ($C_{28}H_{24}O_{12}$) और कीनो-रेड ($C_{28}H_{22}O_{11}$) भी पाये जाते हैं। कीनो-रेड कीनोइन का ऐनहाइड्राइड है। कीनोइन एक फ्लोवैनीन है जो कीनोटैनिन अम्ल पर कीनो में उपस्थित आक्सीडिस एंजाइम की क्रिया द्वारा बनता है। कीनो का चिकित्सीय उपयोग कीनोटैनिन अम्ल के कारण होता है जो उच्च कोटि की औषध में 70-85% तक रहता है। कीनो प्रबल स्तम्भक है और पहले अतिसार तथा पेचिश के उपचार के लिए इसका बहुत अधिक प्रयोग किया जाता था। श्वेत प्रदर और निष्क्रिय रक्तस्राव में इसको लगाया जाता है। रंजन, चर्मशोधन तथा मुद्रण में कीनो प्रयुक्त होता है। कागज-उद्योग में भी इसका उपयोग संभावित है (I.P.C., 133; Kirt. & Basu, I, 828; U.S.D., 1955, 1730; Hocking, 183; Wallis, 446; Wren, 196; Trease, 387; Puntambekar & Batra, loc. cit.).

इसकी छाल स्तम्भक है तथा दंतपीड़ा के उपचार में प्रयुक्त की जाती है फूलों का उपयोग ज्वर में किया जाता है। पीसी हुई पत्तियाँ फोड़े, दाह और त्वचीय रोगों के उपचार में लाभदायक हैं। पत्तियों से बहुत अच्छा चारा प्राप्त होता है और उनसे सुपारी के पीधों के लिए अत्यन्त लाभदायी खाद बनती है। पत्तियों का विश्लेषण करने पर निम्नांकित मान प्राप्त हुए हैं : आर्द्रता, 78.8; खनिज पदार्थ, 7.5; नाइट्रोजन, 2.5; पोटैश, 2.5; और फॉस्फोरिक अम्ल, 0.4% (Sonde, *Arecan. Bull.*, 1955-56, 6, 78).

काष्ठ का जलीय अर्क मधुमेह के उपचार में काम आता है। विश्वास है कि इस काष्ठ के बने पात्रों में रखे जल में मधुमेहरोधी गुण आ जाते हैं। चूहा और खरगोश को अंतःकाष्ठ के जलीय तथा ऐल्कोहलीय निष्कर्ष पिलाने के पश्चात् यह ज्ञात हुआ है कि ये निष्कर्ष जीवों में अल्पग्लूकोस रक्तता उत्पन्न कर देते हैं, जिसका कारण आँतों में ग्लूकोस के अवशोषण का रुक जाना है (Trotter, 1944, 156; Ojha *et al.*, *Indian J. Pharm.*, 1949, 11, 188; Gupta, *Indian J. med. Res.*, 1963, 51, 716; Shah, *ibid.*, 1967, 55, 167; Joglekar *et al.*, *Indian J. Physiol.*, 1959, 3, 76).

Dalbergia sissoo

टे. सेंटेलिनस लिनिअस पुत्र *P. santalinus* Linn. f.

रक्तचंदन, रक्तचंदन काष्ठ

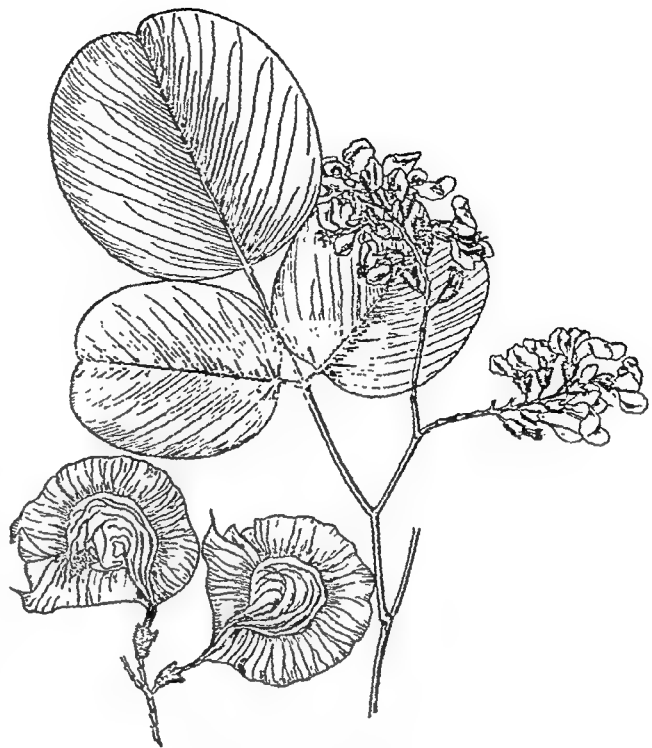
ले. - टे. साण्टालिनस

D.E.P., VI (1), 359; C.P., 909; Fl. Br. Ind., II, 239.

हि. और वं. - रक्तचंदन, लाल चंदन; म. - ताम्बेदा चंदन; गु. - रतांजलि; तै. - येरचंदनम, अगर्गंधमु, रक्त गंधमु; त. - आती, शिवपुचंदनम; क. - अगर्ग, होन्ने, केम्पुगन्धा चैक्के, रक्तचंदन; मल. - पत्रांगम, तिलपनि; उ. - रक्त चंदन.

व्यापार - रक्तचंदन (रेड सैंडर्स).

यह छोटे से लेकर मझोले आकार का, 10-11 मी. की ऊँचाई तथा 1.5 मी. परिधि का पर्णपाती वृक्ष है। यह आन्ध्र प्रदेश में (विशेषकर कुडप्पा जिले में) और आन्ध्र से लगे हुए तमिलनाडु तथा मैसूर प्रान्तों के 150-900 मी. ऊँचाई तक के क्षेत्रों तक सीमित है। इसकी छाल काले-भूरे रंग की होती है जिसमें आयताकार पट्टियाँ बनाती हुई गहरी दरारें होती हैं। छाल को काट देने पर गहरे लाल रंग का रस निकलता है। पत्तियाँ प्रायः विपम पत्राकार; पत्रक संख्या में 3 और कभी-कभी 5; पुष्प पीले, सरल अथवा अल्पशाखीय असीमाक्षों में;



चित्र 69 - टेरोकार्पस सेंटेलिनस

फलियाँ पंख समेत लगभग 5 सेंमी. व्यास वाली, बीच का कठोर तथा लम्बा भाग वीजयुक्त; वीज लाल-भूरे रंग के, चिकने तथा चीमड़ होते हैं।

रक्तचंदन प्राकृतिक रूप से बहुत कम स्थानों में पाया जाता है। यह केवल शुष्क और पहाड़ी तथा पथरीली भूमि में पाया जाता है। यह कभी-कभी पहाड़ियों के सीधे खड़े किनारों पर भी पाया जाता है। इसके लिए अच्छा जल-निकास आवश्यक है। यह मुख्यतः नाइस, क्वार्ट्जाइट, शैल अथवा लैंटेराइट रचना वाली पथरीली भूमियों में पाया जाता है। लैंटेराइट भूमि में यह सबसे अधिक अच्छी तरह उगता है। अच्छी जलोढ़ भूमि में भी इसे सफलतापूर्वक उगाया गया है। जल लगा रहने पर यह नष्ट हो जाता है। जहाँ यह प्रकृत होता है, इस वृक्ष को गर्म शुष्क जलवायु और उत्तर-पूर्व तथा दक्षिण-पश्चिम दोनों मानसूनो से लगभग 88-105 सेंमी. वर्षा की आवश्यकता होती है। इसे काफी प्रकाश चाहिये। यह छाया में जीवित नहीं रह सकता। यह पर्याप्त अग्नि-सह होता है। दक्षिण भारत में निम्न प्रजातीय फलोद्यानों के चारों ओर इस वृक्ष को लगाया जाता है जिसके कारण फल हवा से गिरने से बच जाते हैं। इसे उद्यानों तथा वृक्षवीथियों में भी लगाने की सिफारिश की गई है [Troup, I, 273; Katyal, *Indian Fmg.*, N.S., 1956-57, 6(1), 36].

बीजों के द्वारा प्राकृतिक पुनरुद्भवन अत्यधिक होता है। इसके भली-भाँति पुनरुद्भवन की आवश्यक परिस्थितियाँ वही हैं जो टे. मार्स-पियम के लिए हैं। कृत्रिम जनन करने के लिए नर्सरी में उगे एक वर्ष के पीधों को पहले वाँस की टोकरियों में प्रतिरोपित किया जाता है और

फिर वर्षा के दिनों में इन्हें पहले से खोदे गये गड्ढों में 3.5-4.5 मी. के अन्तर पर रोप दिया जाता है। वृद्धि मन्द गति से होती है और तने की गोलाई में प्रति वर्ष औसतन 1.3-2.0 सेंमी. वृद्धि होती है। कलम द्वारा भी कुछ हद तक यह वृक्ष उगाया जा सकता है किन्तु तब नियमित सिंचाई करनी होती है। इससे अच्छी तरह कल्ले फूटते हैं और जड़ों से बहुत से अंतःभूस्तारी उत्पन्न होते हैं। वनों के पुनरुत्पादन के लिए सरल गुल्मवन-पद्धति का अनुसरण किया जाता है और प्रत्येक 40 वर्ष के बाद ऐसा पुनः कर दिया जाता है; परंतु इसकी अपेक्षा शेल्टरबुड पद्धति अधिक उपयुक्त समझी जाती है (Troup, I, 275; Rama-krishna, *Indian For.*, 1962, 88, 202).

रसकाष्ठ श्वेत; अंतःकाष्ठ धारीदार क्लेरेट नील-लोहित अथवा आनील-लोहित-काला अथवा पूर्णतः काला, द्युतिहीन, अंतर्ग्रथित दानों वाला, मध्यम से सूक्ष्म-गठित, अत्यन्त सुदृढ़ कठोर और बहुत भारी (आ.घ., 1.109; भार, 1,105 किग्रा./घमी.) होता है। यह लकड़ी एक लाल-भूरे गोंद से संसिक्त रहती है और इसमें एक लाल रंजक, सैटेलिन, पाया जाता है जिसके कारण पहले इस लकड़ी का अत्यधिक महत्व था। यह लकड़ी अच्छी तरह हवा में सूखती है और अत्यधिक उच्चताप सहती है। इस पर बीमकों तथा अन्य कीटों का आक्रमण नहीं होता, न ही इसके लिए पृतिरोधी उपचार की आवश्यकता पड़ती है (Pearson & Brown, I, 396, 398; Limaye & Sen, *Indian For. Rec.*, N.S., *Timb. Mech.*, 1953, 1, 96).

इस लकड़ी को शुष्क अवस्था में चीरना कठिन है। फिर भी हाथ के औजारों से इसे अच्छी तरह गढ़ा जा सकता है। इस पर अच्छी तथा टिकाऊ पालिश की जा सकती है किन्तु सतह को चिकनाते समय बहुत सावधानी रखनी पड़ती है। इमारती लकड़ी के रूप में इसकी आपेक्षिक उपयुक्तता के अंक सागौन के उन्हीं गुणों के प्रतिशत के रूप में इस प्रकार हैं: भार, 165; कड़ी के रूप में दृढ़ता, 135; कड़ी के रूप में दुर्नम्यता, 110; खम्भे के रूप में उपयुक्तता, 135; आघात प्रतिरोध क्षमता, 140; आकृति स्थिरण क्षमता, 100; अपरूपण, 200; और कठोरता, 270 (Pearson & Brown, I, 398; Limaye, *Indian For. Rec.*, N.S., *Timb. Mech.*, 1954, 1, 58, Sheet No. 17).

यह लकड़ी मकान के खम्भों के लिए अत्यन्त मूल्यवान है। कृषि-औजारों, खम्भों, शैफ्ट, बैलगाड़ियों के डंडों, चित्रों के फ्रेम तथा सन्दूकों के बनाने में और बड़ईगिरी के अन्य कार्यों में इसका उपयोग किया जाता है। इसके छोटे-छोटे टुकड़ों को तराश कर खिलौने तथा मूर्तियाँ बनाई जाती हैं। इसका निर्यात जापान को किया जाता है जहाँ पर एक विशेष प्रकार का बाजा शैमिसेन, बनाने के लिए इसका प्रयोग होता है। इस बाजे के लिए लहरदार दानों वाली लकड़ी अधिक उपयुक्त होती है क्योंकि ऐसी लकड़ी से एक अत्यन्त सरस अनुनाद उत्पन्न होता है। इसीलिए इस लकड़ी का मूल्य अधिक होता है। लहरदार दाने विरले ही वृक्षों में पाये जाते हैं और वृक्ष को देखकर यह कहना कठिन है कि उसकी लकड़ी में लहरदार दाने हैं अथवा नहीं। लकड़ी से उत्तम कोयला और टेडे तथा रुण वृक्षों से उत्तम कोटि का ईंधन प्राप्त होता है (Pearson & Brown, I, 398-99; Gamble, 260; Rama-krishna, loc. cit.; Whitehead, *Indian For. Bull.*, N.S., No. 34, 1917, 1).

रक्तचंदन के काष्ठ में एक लाल रंजक द्रव्य सैटेलिन [सैटेलिक अम्ल $C_{30}H_{16}O_8$ $(OCH_3)_4$] 16% रहता है। इसमें विनोनायड संरचना पायी जाती है। सैटेलिन, ऐल्कोहल के साथ रुधिर लाल, ईयर के साथ पीला और अमोनिया तथा कार्बिक धारों के साथ बैंगनी

सारणी 1 - रक्तचंदन काष्ठ के चूर्ण का निर्यात

(भार : किग्रा.; मूल्य : रु. में)

वर्ष	मात्रा	मूल्य
1962-63	18,382	8,255
1963-64	20,566	15,271
1964-65	1,07,307	57,117
1965-66	5,926	11,492
1966-67	2,025	2,657

रंग का विलयन बनाता है किन्तु जल में अविलेय है। काष्ठ में टेट्रोस्टिल-बीन, टेट्रोकार्पिन (0.25%) तथा होमोटेट्रोकार्पिन (0.2%) नाम वाले तीन रंगहीन पदार्थों के अतिरिक्त एक नैफ्थाक्विनोनायड व्युत्पन्न डेसाक्सीसैटेलिन ($C_{20}H_{16}O_6$), एक पीला आइसोफ्लैवोन सैण्टल, और दो अज्ञात वर्णक 'ए' तथा 'बी' पाये जाते हैं।

टेट्रोस्टिलबीन कोनिओफोरा सेरेबेला नामक भूरे कवक के लिए विषैला है। पिसे हुए काष्ठ का उपयोग मुख्यतः ऊन, रुई तथा चमड़ा रंगने और अन्य काष्ठों को अभिरंजित करने के लिए किया जाता था। इन कार्यों में जड़ तथा ठूठ का भी उपयोग किया जाता था। लाल रंजक का उपयोग ओपधियों तथा खाद्य पदार्थों को रंगने और कागज की लुगदी को रंगने के लिए भी किया जाता है। अंतःकाष्ठ के ऐल्कोहल-विलेय प्रभाज से एक उत्तक सम्बन्धी अभिरंजक बनाया गया है। इसकी छाल का उपयोग कभी-कभी सुपारी के संसाधन में किया जाता है (I.P.C., 210; Wehmer, I, 552; Lal, *Proc. nat. Acad. Sci. India*, 1939, 9, 83; Wise & Jahn, I, 633; Sawhney & Seshadri, *J. sci. industr. Res.*, 1954, 13B, 6; Mayer & Cook, 147; Hoppe, 749; King, *Chem. & Ind.*, 1953, 1325; Cameron, 95; U.S.D., 1955, 1182; *Perfum. essent. Oil Rec.*, 1962, 53, 628; Puntambekar & Batra, *Indian For. Leaflet*, No. 44, 1943, 7; Sen Gupta & Chakravarti, *Bull. Calcutta Sch. trop. Med.*, 1961, 9, 52).

रक्तचंदन काष्ठ स्तम्भक, पौष्टिक और स्वेदक होता है। शोथ और शिरोवेदना की अवस्था में बाहर से शीतलता प्रदान करने के लिए काष्ठ को घिसकर लेप किया जाता है। यह पैत्तिक विकारों तथा चर्म-रोगों में भी लाभदायक है। फल का काढ़ा चिरकारी पेचिश में स्तम्भक टानिक के रूप में प्रयोग किया जाता है (I.P.C., 210; Kirt. & Basu, I, 826).

पहले रक्तचंदन काष्ठ की काफी मात्रा इस देश से यूरोप को निर्यात की जाती थी। यूरोप में इस काष्ठ से एक रंजक निष्कषित किया जाता था। किन्तु उन्नीसवीं शताब्दी के अंत तक वहाँ कृत्रिम रंजकों का प्रचार बढ़ा जिससे इसकी माँग घट गई। आजकल भी रक्तचंदन के चूर्ण का अल्प मात्रा में निर्यात किया जाता है। इसको क्रय करने वाले राष्ट्रों में जापान, हांगकांग, जर्मनी तथा श्रीलंका मुख्य हैं (सारणी 1). काष्ठ की कुछ मात्रा (1965-66 में 111 घमी., मूल्य, 3,17,163 रु.; और 1966-67 में 107 घमी., मूल्य, 2,76,769 रु.) मुख्य रूप से जापान को निर्यात की गई।

Coniophora cerebella

*टेरोकोकस हसकरी (यूफोर्बिएसी) PTEROCOCCUS Hassk.

ले. — टेरोकोकस

Fl. Br. Ind., V, 464; Fl. Assam, IV, 223.

यह वल्लरियों, काष्ठीय झाड़ियों अथवा अचोशाड़ियों का एक छोटा वंश है जिसकी एक जाति एशिया में और दो जातियाँ अफ्रीका में पायी जाती हैं.

टे. कोनिकुलेटस पैक्स और हाफमैन सिन. प्लुकेनेटिया कोनिकुलेटा स्मिथ अण्डाकार-आयत-रूपी पत्तियों वाली, 5-10 सेंमी. लम्बी तथा 2-5 सेंमी. चौड़ी, पतली आरोही लता है जो हिमालय के सिक्किम क्षेत्र और असम के ऊपरी क्षेत्र से लेकर टेनासरिम और मलक्का तक पायी जाती है. इसके पुष्प पतले-पतले असीमाक्षों में लगते हैं और इसकी सम्पुटिकायें चार पंखों वाली होती हैं. पत्तियों का स्वाद मीठा होता है और उनमें एल्डर (सम्बुकस जाति) की-सी गन्ध होती है. सुमात्रा और मलाया में पत्तियों की तरकारी बनाते हैं. पत्तियों में 5.6% प्रोटीन (ताजी पत्तियों के भार पर) पाया जाता है (Burkill, II, 1833; Terra, Bull. R. trop. Inst. Amst., No., 283, 1964).

Euphorbiaceae; *P. corniculatus* Pax & Hoffm. syn. *Plukenetia corniculata* Sm.; *Sambucus* sp.

टेरोप्सिस देस्वो (पॉलिपोडिएसी) PTEROPSIS Desv.

ले. — टेरोप्सिस

Copeland, 194; Nayar, Bull. nat. bot. Gdns, Lucknow, No. 106, 1964, Fig. 29-30.

यह अधिपादपी फ़र्न का एक लघु वंश है जो मैलेगेंसी से सोलोमान द्वीपों तक पाया जाता है. कोपलैंड के अनुसार टेरोप्सिस देस्वो का वर्णन ड्राइमोग्लोसम वंश के अन्तर्गत किया गया है. तदनुसार टेरोप्सिस देस्वो के वजाय ड्राइमोग्लोसम का ही उल्लेख हुआ है क्योंकि आधुनिक विचारों के अनुसार टेरोप्सिस देस्वो के अन्तर्गत पाँच भिन्न-भिन्न वंश आते हैं. भारत में पाई जाने वाली जाति ड्राइमोग्लोसम कानॉसम (वाल्लिश) स्मिथ को लेमाफिलम कानॉसम (स्मिथ) प्रेसल का पर्याय माना जाता है (With India, Vol. III, 114).

लेमाफिलम कानॉसम एक अधिपादपी फ़र्न है जो नेपाल, सिक्किम और भूटान में 600 से 1,500 मी. की ऊँचाई तक पाया जाता है. यह ओषधि के रूप में उपयोगी है. पर्णांग-पत्रों में कफ़ निस्सारक, मूत्रल और स्तम्भक गुण होते हैं. चीन में पर्णांग-पत्रों को मूत्राशय की पथरी और आमवात का उपचार करने के लिए प्रयुक्त करते हैं. पैरों में सूजन होने पर उन्हें पुलिटिस के रूप में लगाया जाता है और नाखून में संक्रामक रोग (ह्विटलो) होने पर नाखून पर लगाया जाता है. जन्तुओं के दंशन पर पर्णांग-पत्र लगाये जाते हैं. रक्तस्राव रोकने के लिए पर्णांग-पत्र का काड़ा आंतरिक उपचार के रूप में दिया जाता है (Caius, J. Bombay nat. Hist. Soc., 1935-36, 38, 354; Crevost & Petelot, Bull. econ. Indoch., 1935, 38, 115).

Polypodiaceae; *Drymoglossum carnosum*; *Lemmaphyllum carnosum* (Sm.) Presl.

*कुछ वनस्पतिशास्त्री इस वंश को अमेरिका के उष्णकटिबंधी क्षेत्रों में पाये जाने वाले प्लुकेनेटिया लिनिफ़स (*Plukenetia* Linn.) के ही अन्तर्गत मानते हैं.

टेरोसिम्बियम आर. ब्राउन (स्टेरकुलियसी) PTEROCYMBIUM R. Br.

ले. — टेरोसिम्बियम

यह वृक्षों का एक छोटा वंश है जो ब्रह्मा और अंडमान द्वीपों से लेकर फिलिपीन्स और न्यूगिनी तक पाया जाता है. इसकी एक जाति भारत में पाई जाती है.

Sterculiaceae

टे. टिक्टोरियम मेरिल सिन. स्टेरकुलिया कैम्पेनुलैटा वालिश एक्स मास्टर्स *P. tinctorium* Merrill

ले. — टे. टिक्टोरियम

D.E.P., VI (3), 361; Fl. Br. Ind., I, 362; Brown, I, Pl. XXVII.

व्यापार — पपीता.

यह 40 मी. तक ऊँचा और 3 मी. घेरे वाला वृक्ष है जिसका सीधा बेलनाकार तना 30 मी. लम्बा होता है. यह अंडमान और निकोबार द्वीपों में पाया जाता है. पश्चिम तट में भी इसे सफलतापूर्वक प्रविष्ट किया गया है. इसकी छाल भूरी, धब्बेदार; पत्तियाँ 10-15 सेंमी. लम्बी, 7.5-12.5 सेंमी. चौड़ी, अंडाकार-हृदयाकार; पुष्प यौगिक असीमाक्षों में, घण्टाकार, आपीत-हरे; फालिकिल झिल्लीमय, नौकाकार और बीज गोल होते हैं. यह वृक्ष सामान्यतः सभी पर्णपाती वनों में पाया जाता है और प्रायः यूथी है. अंडमान द्वीपों में इसे खेतों में भी उगाया जाता है.

पपीता का प्राकृतिक पुनरुद्भव ही पर्याप्त माना जाता है. इसका कृत्रिम प्रवर्धन बीजों से किया जाता है. बीज शुष्क ऋतु में सींची हुई क्यारियों में बोये जाने पर सात दिन में अंकुरित हो जाते हैं. अंकुरण-प्रतिशतता 90 है किन्तु उत्तरजीविता-प्रतिशतता 40-50 है. बीजों की जीवनक्षमता कम होती है. केवल ताजे बीज जो दो माह से अधिक पुराने न हों अच्छी तरह अंकुरित होते हैं. काठकोयले में परिरक्षित बीज 6 माह तक उग सकते हैं. पौधे तेजी से बढ़ती हैं और एक वर्ष में 1.8-2.7 मी. तथा दो वर्ष में 4.5-6.0 मी. ऊँची हो जाती हैं. टोकरी में उगाई गई पौधों का प्रतिरोपण करना सबसे अधिक अच्छा होता है. तब कुछ मास पुरानी और 75 सेंमी. से कम ऊँची पौधें प्रतिरोपित की जाती हैं. इनमें से 45% पौधें जीवित बचती हैं. इस वृक्ष को प्रकाश चाहिये. अंडमान में प्रायः इसे मिश्रित बागानों में उगाते हैं (*Indian For.*, 1952, 78, 274; Ganapathy & Rangarajan, *ibid.*, 1964, 90, 758).

इस वृक्ष से हल्की, कोमल, उपयोगी लकड़ी प्राप्त होती है जिसकी काफी माँग है. लकड़ी एक समान, क्रोम-श्वेत रंग की; रसकाष्ठ और अंतःकाष्ठ अस्पष्ट, सीधे दानेदार, सम तथा स्थूल गठन से युक्त, बहुत कोमल और हल्के (आ.घ., लगभग 0.33; औसत भार, 336 किग्रा./घमी.) होते हैं. लकड़ी को सिझाना आसान है किन्तु इसे शीघ्रता से सुखाना होता है. शुष्क मौसम में वृक्षों को काटकर गिराने के तुरन्त बाद हरी अवस्था में ही लटके बना लेने चाहिये और चिरी लकड़ी को खुले स्थान में इस प्रकार चिनना चाहिए कि उसके भीतर ठीक से वायु-परिसंचरण हो सके. भट्टे में सुखाना सर्वोत्तम होता है; 2.5 सेंमी. मोटे तख्तों को सुखाने में 4-5 दिन का समय लगता है और जीवाणु-नाशन के लिए उन्हें प्रारम्भ में ही 55° और 100 प्रतिशत आपेक्षिक आर्द्रता पर लगभग 2 घण्टे तक भपाना पड़ता है. पपीता का काष्ठ

अत्यन्त नाशवान है। इस पर फफूंदी के धब्बे पड़ जाते हैं और कीड़े इसे नष्ट कर देते हैं। अच्छी तरह सुखाने और परिरक्षकों द्वारा उपचारित करने पर छाया में सूखी रहने पर यह काफी टिकाऊ है। इसे हाथ और मशीन दोनों से सरलतापूर्वक चीरा या गढ़ा जा सकता है; चतुर्थांश कटी लकड़ी को रंदा करने पर सतह चमकीली हो जाती है। इमारती लकड़ी के रूप में पपीता की आपेक्षिक उपयुक्तता के मान, सागौन के उन्हीं गुणों की प्रतिशतता के रूप में इस प्रकार हैं: भार, 45; कड़ी के रूप में दृढ़ता, 45; कड़ी के रूप में दुर्नम्यता, 50; खम्भे के रूप में उपयुक्तता, 45; आघात प्रतिरोध क्षमता, 40; आकृति स्थिरण क्षमता, 80; अपरूपण, 65; और कठोरता, 25 (Pearson & Brown, I, 152-53; Trotter, 1944, 163; Indian Woods, I, 213; Rehman, *Indian For. Bull.*, N.S., No., 170, 1953, 4; Limaye, *Indian For. Rec.*, N.S., *Timb. Mech.*, 1954, 1, 60, Sheet No. 19).

लकड़ी का उपयोग मुख्यतः दियासलाई, कमची, सामान वांधने की हल्की पेटियाँ, और तख्ते बनाने के लिए किया जाता है। यह तख्ते, फलकीय तथा रोधक तख्ते और खिलौने बनाने के लिए उपयुक्त हैं। फिलिपीन्स में इसे मछली जालों के प्लव, जूते तथा हेट बनाने में प्रयोग किया जाता है। यह अखवारी कागज, लेखन-कागज तथा मुद्रण-कागज बनाने के लिए भी उपयुक्त है। लकड़ी का विश्लेषण करने पर जो मान प्राप्त हुए (ऊष्मक शुष्क लकड़ी) वे हैं: सेलुलोज, 59.50; पेक्टोजन, 15.51; लिग्निन, 23.83; और राख, 1.01%। उचित ढंग से पीसने से लकड़ी से एक यान्त्रिक लुगदी प्राप्त होती है जो अखवारी कागज बनाने के उपयुक्त होती है। लकड़ी को सल्फेट-विधि द्वारा (कास्टिक सोडा तथा सोडियम सल्फाइड 2:1 के अनुपात में; भट्टी में सुखाई कच्ची लकड़ी के लिए, सम्पूर्ण रसायन 22 अथवा 24%) 153° ताप पर 5 घण्टे तक संपाचित करने पर जो लुगदी प्राप्त होती है (विरंजित लुगदी की उपलब्धि, 48%; औसत तंतु-लम्बाई, 1.49 मिमी.), वह लेखन तथा मुद्रण-कागज के औद्योगिक निर्माण के लिए उपयुक्त होती है। इसके साथ वाँस की विरंजित लुगदी (32%) मिलाने पर कागज की शक्ति बढ़ जाती है। फिलिपीन्स में वृक्ष की छाल से रस्से बनाये जाते हैं। छाल में 10% टैनिन पाया जाता है। छाल तथा फल विपैले हैं। वृक्ष से गोंद मिलता है जो गोंद कतीरा (ट्रैभाकैथ) गोंद के समान है (Trotter, 1944, 163-64; Indian Woods, I, 213; Desch, 1954, 577; Burkill, II, 1834; Bhat & Virmani, *Indian For.*, 1952, 78, 222; 1953, 79, 169; Brown, 1941, II, 442; Baens et al., *Phillipp. J. Sci.*, 1934, 55, 177).

Sterculia campanulata Wall. ex Mast.

टेरोस्पर्मम श्रेवर (स्टर्कुलिएसी)

PTEROSPERMUM Schreb.

ले. — टेरोस्पेरमूम

यह वृक्षों तथा झाड़ियों का एक लघु वंश है जो एशिया के उष्ण-कटिबंधी प्रदेशों में पाया जाता है। इसकी लगभग 12 जातियाँ भारत में पायी जाती हैं। इन सभी जातियों से प्राप्त लकड़ियाँ भार तथा कठोरता में एक दूसरे से मिलती-जुलती हैं और आर्थिक दृष्टि से भी उनमें बहुत कम अंतर होता है। इनमें से कई जातियाँ शोभाकारी हैं। *Sterculiaceae*

टे. ऐसेरिफोलियम विल्डेनो *P. acerifolium* Willd.

ले. — टे. आसेरिफोलिऊम

D.E.P., VI (1), 362; Fl. Br. Ind., I, 368 in part; Kirt. & Basu, Pl. 150.

हि. — कनक-चम्पा, कनिआर, काठ-चम्पा, मुचकुन्द; वं. — कनक-चम्पा, मुस्कन्दा; ते. — मत्स-कन्द; उ. — कनको-चम्पा.

जौनसार — मयेंग; असम — हातिपीला, मोर्रा, मोरगोस; खासी — डींग-खोंग-स्वेत, डोंग-थारोमसि; लुशाई — वैसिप-डिंग; नेपाल — हट्टीपैला; लेपचा — नुम्बोंग.

व्यापार — हाथिपैला.

यह एक सदाहरित वृक्ष है जो 24.0 मी. ऊँचा, लगभग 2.5 मी. घेरे वाला और 12 मी. लम्बे साफ तने वाला होता है। यमुना से पूर्व की ओर पश्चिम बंगाल तक बाहरी घाटियों तथा अधोहिमालय प्रदेश में, असम तथा मणिपुर में लगभग 1,200 मी. ऊँचाई तक, दक्षिण की ओर बिहार की रामनगर पहाड़ियों में और कोंकण तथा उत्तर कनारा के पश्चिमी घाटों में पाया जाता है। यह अंडमान द्वीपों में भी सामान्यतः पाया जाता है। इसकी छाल धूसर-भूरी; पतियाँ भिन्न-भिन्न आकार की, 25-35 सेंमी. × 15-30 सेंमी., पूर्ण या पालियुक्त, आयतरूप, हृदयाकार अथवा कभी-कभी छतरी के आकार की; फूल बड़े, 12-15 सेंमी. व्यास के, कक्षवर्ती, एकल अथवा युगल, श्वेत, सुगन्धित; सम्पुटिका आयतरूप, 5-कोणीय, गहरी भूरी काष्ठीय; बीज सपक्ष तथा भूरे होते हैं। यह वृक्ष अनेक तरह के स्थानों में, जैसे देहरादून के दलदली-वनों, उत्तरी कनारा के सदाबहार वर्षा-वनों और अधोहिमालय प्रदेश में नदियों के किनारे पाया जाता है। यह सामान्यतः उद्यानों तथा वीथियों में भी उगाया जाता है। यह मध्यम छायासह और पर्याप्त तुषारसह है। इस वृक्ष में भली-भाँति कल्ले फूटते हैं और जड़ों से बहुत से अंतःभूस्तारी निकलते हैं। इसका प्राकृतिक पुरुद्भवन बीज तथा अंतःभूस्तारी दोनों ही के द्वारा होता है। नर्सरी में उगी पौधें जब लगभग 7.5 सेंमी. ऊँची हो जाती हैं तो उन्हें प्रतिरोपित करके कृत्रिम प्रवर्धन किया जाता है। बीजों की बुवाई तथा उचित ढंग से निराई तथा सिंचाई करने से कृत्रिम प्रवर्धन अधिक अच्छी तरह होता है। पौधें तेजी से बढ़ती हैं; देहरादून में बीजों को बोने के बाद ठीक ढंग से निराई तथा सिंचाई करने पर पौधों की ऊँचाई में प्रति वर्ष लगभग 1.8 मी. वृद्धि देखी गई है (Troup, I, 160-62; Kadambi & Dabral, *Indian For.*, 1955, 81, 129).

इसका काष्ठ हल्का श्वेत; अंतःकाष्ठ हल्का गुलाबी-लाल, खुला छोड़ देने पर कुछ और अधिक गहरे रंग का, चमकीला, समान और कुछ अंतर्ग्रथित दानों वाला, सूक्ष्म-नाटित, अस्पष्ट लहरियों से युक्त, कोमल से लेकर साधारण कठोर और हल्के से लेकर साधारण भारी (आ. घ., 0.598; भार, 593-761 किग्रा./घमी.) होता है। खुली रहने पर लकड़ी टिकाऊ नहीं होती किन्तु छाया में वह बहुत दिनों तक टिकाऊ रहती है। शवस्थल परीक्षणों से इस लकड़ी की औसत आयु दो वर्ष ज्ञात हुई है। इस पर कीटों का आक्रमण हो सकता है और इसका आंशिक उपचार ही संभव है। सावधानी बरतने पर लकड़ी अच्छी सिझती है और उसके तल पर बहुत कम दरारें पड़ती हैं। लकड़ी को आवश्यकतानुसार रूपांतरित करके, धूप से बचाकर छाया में चटुटे चिन देने से संतोषजनक परिणाम प्राप्त होते हैं। प्रायः हरी लकड़ी चीरी जाती है और उसे चीरने में कोई कठिनाई नहीं होती। इसे सरलतापूर्वक काटा, छीला और हाथ अथवा मशीन द्वारा चीरा-सँवारा जा सकता है। इसकी सतह अत्यन्त चिकनी और सुन्दर बनायी जा

सकती है। इस पर पालिश अच्छी चढ़ती है। इमारती लकड़ी के रूप में इसकी आपेक्षिक उपयुक्तता के मान, सागौन के उन्हीं गुणों की प्रतिशतता के रूप में, इस प्रकार हैं : भार, 90; कड़ी के रूप में दृढ़ता, 85; कड़ी के रूप में दुर्नम्यता, 85; खम्भे के रूप में उपयुक्तता, 85; आघात प्रतिरोधी क्षमता, 125; आकृति स्थिरण क्षमता, 80; अपरूपण, 105; और कठोरता, 100 [Pearson & Brown, I, 160-61; Limaye & Sen, *Indian For. Rec., N.S., Timb. Mech.*, 1953, 1, 96; Purushotham et al., *Indian For.*, 1953, 79, 49; Mathur & Balwant Singh, *Indian For. Bull., N.S.*, No. 171 (7), 1959, 82; Limaye, *Indian For. Rec., N.S., Timb. Mech.*, 1954, 1, 58, Sheet No. 17].

यह लकड़ी मुख्यतः असम से प्राप्त होती है। इसका उपयोग तख्तों, पेटियों और खराद की वस्तुओं को बनाने में किया जाता है। यह पृष्ठावरण, प्लाईवुड, निर्माण-कार्य की वस्तुयें, चौखट, पुल, नौका, औजारों की मूठें, सन्दूक की पट्टियाँ, दियासलाई और दियासलाई की डिब्बियाँ बनाने के लिए उपयुक्त है। यह बहुत सुन्दर और मुड़ने वाली है और फर्नीचर, खिलौने, टहलने की छड़ी, तथा अन्य सजावटी वस्तुयें बनाने के लिए प्रयोग की जाती है। गणितीय यन्त्रों तथा बृशों की पीठ बनाने के लिए इसको ठीक समझा गया है (Pearson & Brown, I, 161; Trotter, 1944, 219, 229; Limaye, loc. cit.; Uphof, 300; Rodger, 47; IS: 399-1952; Rehman et al., *Indian For.*, 1956, 82, 469).

इसके फूलों का स्वाद अत्यन्त तिक्त तथा तीक्ष्ण होता है। वे जल के साथ श्लेष्म बनाते हैं। उनमें काफी कार्बोहाइड्रेट रहता है जिसके कारण वे खाद्य हैं। वे सामान्य पौष्टिक के रूप में प्रयुक्त होते हैं। रुधिर रोगों, शोथ, व्रण, अर्बुद तथा कुष्ठ की चिकित्सा में भी कभी-कभी फूलों का प्रयोग किया जाता है। कीट-प्रतिकर्षी तथा निःसंक्रामक के रूप में भी इनका उपयोग होता है। कॉकण में वृक्ष के फूल तथा छाल को जलाकर मेलोटस क्रिलियेन्सिस चूर्ण या 'कमल' चूर्ण के साथ मिलाकर चेचक के छालों पर लगाया जाता है। तम्बाकू के साथ मिलाकर इनका धूम्रपान किया जाता है। पत्तियाँ पत्तल की तरह और छपर बनाने तथा तम्बाकू बाँधने के लिए प्रयोग की जाती हैं (Kirt. & Basu, I, 375; Burkill, II, 1835; Bressers, 13; Benthall, 58).

बीजों से एक हल्का पीला तेल (22.6%) प्राप्त होता है जिसके अभिलक्षण इस प्रकार हैं : n_D^{20} , 1.4660; साव्. मान, 191.6; अम्ल मान, 12.2; और आयो. मान, 87.8. यह तेल हैल्फेन अभिक्रिया प्रदर्शित करता है [Krishna et al., *Indian For. Rec., N.S., Chem.*, 1936, 1 (1), 29].

Mallotus philippensis

टे. केनेशेंस राक्सवर्ग सिन. टे. सुवरिफोलियम लामार्क नान राक्सवर्ग *P. canescens* Roxb.

ले. - टे. कानेस्केंस

D.E.P., VI (1), 362; Fl. Br. Ind., I, 367; Kirt. & Basu, Pl. 149.

हि., वं. और म. - मुचकंद; ते. - तडा, नरडु, लोलुग, पोथड़ि; त. - सेम्पुलावो, थाड़ौ; उ. - चायलो, गिरिगा.

यह मैडोले आकार का एक छोटा वृक्ष है जो उत्तरी सरकार, मैसूर और तमिलनाडु के जंगलों में लगभग 900 मी. की ऊँचाई तक पाया जाता है। कभी-कभी यह पश्चिम बंगाल में भी लगाया जाता है। इसकी

छाल सूरी, चिकनी; पत्तियाँ आयत रूप अथवा अधोमुख अण्डाकार-आयतरूप, चमिल; फूल कक्षीय पुष्पावलि-वृत्त पर, संख्या में 1-3, श्वेत अथवा पीले-श्वेत, सुगन्धित; सम्पुटिका अण्डाभ आयतरूप, अर्ध-कोणीय, दोनों किनारों पर गुंडाकार, काष्ठीय श्वेत मखमली और बीज संख्या में 2-4, सपक्ष होते हैं।

यह वृक्ष अत्यन्त तेजी से बढ़ता है और प्रति वर्ष इसकी गोलाई में 5.8 सेंमी. तक की वृद्धि होती है। इसकी काष्ठ-संरचना टे. ऐसेरिफोलियम की काष्ठ संरचना के विल्कुल समान होती है। यह हल्के लाल रंग का, बहुत चिमड़, साधारण कठोर और भारी (भार, 577-641 किग्रा./घमी.) होता है। इसे शकट, बन्दूक के कुन्दे और सामान रखने की पेटी बनाने में तथा ईंधन के रूप में प्रयोग किया जाता है (Gamble, 101; Lewis, 65).

फूलों का स्वाद तिक्त होता है और वे जल के साथ श्लेष्म बनाते हैं। इन्हें चावल और सिरके के साथ मिलाकर एक लेई बनायी जाती है जिसे अथकपारी के उपचार में लगाया जाता है। पत्तियों से भी एक लेई बनायी जाती है जिसे सिर का दर्द दूर करने के लिए लगाते हैं।

टे. ऐसेरिफोलियम के समान ही इसकी छाल तथा फूलों को जलाकर कमल वर्ण के साथ मिलाकर चेचक के छालों पर लगाया जाता है। गुड़ बनाते समय शीरे को स्वच्छ करने के लिए इसकी छाल का प्रयोग किया जाता है। फलों से जैम बनाया जाता है (Kirt. & Basu, I, 374; Rama Rao, 49; Annu. Rep., *Indian cent. Sugarcane Comm.*, No. 16, 1961, 66; Krishnamurthi, 135).

P. suberifolium Lam.

टे. डाइवर्सिफोलियम ब्लूम सिन. टे. ग्लेब्रसेस वाइट और आर्नेट *P. diversifolium* Blume

ले. - टे. डिवर्सिफोलिऊम

Fl. Br. Ind., I, 367, 369; Corner, I, Fig. 227-28.

त. - मूलि, बट्टा पुलावु; मल. - पम्बरम.

यह 21 मी. ऊँचा और 1.5 मी. घेरदार मध्यम आकार का वृक्ष है जो तेजी से बढ़ता है। यह पश्चिमी घाट के जंगलों में, कम ऊँचे स्थानों पर पाया जाता है। इसे उद्यानों में भी लगाया जाता है। पत्तियाँ चौड़ी, दीर्घवृत्ताकार से लेकर अधोमुख अण्डाकार, 24 सेंमी. तक लम्बी, चमिल; फूल एकल अथवा युगल, कक्षवर्ती, श्वेत, सुगन्धित; सम्पुटिकाएँ काष्ठीय, 5-कोणीय होती हैं।

रसकाष्ठ मटमैला-श्वेत रंग का होता है जो अंतःकाष्ठ से स्पष्टतः पृथक् नहीं रहता; अंतःकाष्ठ रक्तपीत अथवा कुछ नीललोहित; अल्पतः अनुप्रस्थ-तन्तु, साधारण सूक्ष्म-गठित, साधारण दृढ़ और कठोर, चिमड़ और भारी (आ. घ., 0.665; भार, 465-702 किग्रा./घमी.) होता है। यह अच्छी तरह सीसता है और सीसते सनप इसकी कोटि में बहुत कम अन्तर आता है। इसे सरलता से चीरा और सँवारा जा सकता है तथा परिरूपित करने पर यह बहुत सुन्दर लगता है। भारत में इस लकड़ी का अधिक प्रयोग नहीं किया जाता। फिलीपीन्स में भीतरी निर्माण कार्यों के लिए लकड़ी टिकाऊ समझी जाती है और भवन-निर्माण की वस्तुयें, फर्नीचर, औजारों की मूठ, नाड़ियों के जैपट, धरेलू तथा कृषि सम्बन्धी औजार, खरादी वस्तुयें और कंधे बनाने के लिए इसका प्रयोग किया जाता है। बैलगाड़ी के कुछ भाग तथा चावल कूटने की मशीन बनाने में भी इसका उपयोग किया जाता है। जावा में यह लकड़ी जल सम्पर्क में टिकाऊ मानी जाती है। फलतः पुल, नाँका और पतवार, तथा भवनों के मिट्टी से लगे भागों के निर्माण में इसका प्रयोग किया जाता

टेरोस्पर्मम

है फिलिपीन्स में इस लकड़ी को इन कार्यों के लिए टिकाऊ नहीं समझा जाता। लकड़ी से हल्के पीले-भूरे रंग की लुगदी प्राप्त होती है जो सरलता से विरजित हो सकती है। इस लुगदी से रेशमी कागज बनाया जा सकता है किन्तु लुगदी बनाने में अत्यन्त उग्र उपचार की आवश्यकता होती है (Desch, 1954, 578-79; Gamble, 102; Burkill, II, 1835).

इसकी छाल पान के पत्तों के साथ चवाई जाती है। फिलिपीन्स में छाल को काटकर और उबालकर मछली के जाल तथा कपड़े रंगे जाते हैं। जड़ की छाल मछली के लिए विपैली समझी जाती है (Burkill, II, 1835-36)

डे. ज़ाइलोकॉर्पस सैटपाउ और वाग सिन डे. हेनिएनम बालिश एक्स वाइट और आर्नेट (ते. - लोलुग, तडा; त. - पुलावु; क. - केसालि, कोपिन, मल. - पालक ऊनम, तोपालि; उ. - गिरिगा) बड़े, श्वेत तथा सुगन्धित पुष्पो वाला और दंतुर अथवा पालियुक्त पत्तियों (10.0-15.0 सेमी. × 5.0-7.5 सेमी.) से युक्त सुन्दर वृक्ष है जो डेकन प्रायद्वीप के कुछ भागों में पाया जाता है। पत्तियों को श्वेत प्रदर के उपचार में दिया जाता है तम्बाकू के समान उनका धूम्रपान भी किया जाता है काष्ठ हल्के लाल रंग का, कठोर और भारी (भार, 689 किग्रा/घमी) होता है काष्ठ की संरचना, डे. ऐसेरिफोलियम के काष्ठ के समान होती है (Kirt. & Basu, I, 375-76, Gamble, 102).

डे. रूबिगिनोसम हेन एक्स वाइट और आर्नेट (त. - चिन्तिल पुलावु, मल - मलामतोडालि) 24 मी. तक ऊँचा तथा 2 मी. घेरे वाला सुन्दर वृक्ष है जो कनारा के दक्षिण की ओर पश्चिमी घाट के सदाहरित जंगलों और अन्नामलाई पहाड़ियों में 900 मी की ऊँचाई तक पाया जाता है रसकाष्ठ श्वेत होता है अतः काष्ठ गुलाबी से लेकर लाल रंग का, दानेदार, साधारण कठोर तथा भारी (भार, 545-801 किग्रा/घमी) और सरलता से चीरा जा सकता है। यद्यपि लकड़ी बहुत सुन्दर होती है किन्तु चीड़े खण्डों के रूप में प्राप्त नहीं हो पाती। भवन तथा नौका निर्माण के लिए इसका स्थानीय उपयोग किया जाता है दियासलाई की डिविया, कमची तथा कागज-लुगदी बनाने के लिए भी इसे उपयुक्त समझा जाता है (Bourdillon, 49; Gamble, 101; Indian Woods, I, 208; Rama Rao, 49)

डे. रेटिकुलेटम वाइट और आर्नेट (त. - मुलिपुलावु, तोलपुलि;

मल. - मलविरिग्रम) 24 मी. ऊँचा तथा लगभग 2 मी. घेरे वाला वृक्ष है जो कनारा से दक्षिण की ओर पश्चिमी घाट तक के सदाहरित जंगलों में कम ऊँचे स्थानों पर पाया जाता है। उद्यानों में तथा सड़कों के किनारे भी इसे लगाया जाता है। लकड़ी काली धारियों सहित लाल-भूरी, साधारण कठोर, रुक्ष और भारी (भार, 689 किग्रा./घमी.) होती है। यह भवन तथा नौका निर्माण के लिए प्रयुक्त होती है। दियासलाई की डिविया और कमची बनाने के लिए भी यह उपयुक्त है (Bourdillon, 49; Rama Rao, 49).

डे. लैसीएफोलियम रॉक्सवर्ग (व. - वन केला; असम - वैन-नाहोर, वोन वायुरि; खासी - डीम-नोर-खा, डीम-पे-स्वाम; नेपाल - सिगानि; लुशाई - सखिपेल्हनाम) छोटे से लेकर मध्यम आकार का वृक्ष है जो अर्घोहिमालय प्रदेश में और असम तथा मणिपुर में लगभग 1,200 मी. की ऊँचाई तक पाया जाता है। इसकी पत्तियाँ भालाकार अथवा आयताकार और फूल बड़े, श्वेत तथा सुगन्धित होते हैं यह पंजाब और पश्चिम बंगाल के समतल मैदानों में भी लगाया जाता है और कलम के द्वारा प्रवर्धित किया जाता है। इसकी पत्तियाँ होठों को लाल करने के लिए चवाई जाती हैं लकड़ी साधारण कठोर है किन्तु अधिक प्रयोग में नहीं लायी जाती है (Firminger, 603; Fl. Assam, I, 159).

डे. सेमिसेगिटेटम बुखनन-हैमिल्टन एक्स रॉक्सवर्ग (लुशाई - मुकाउ) 18 मी. ऊँचा, 2 मी. घेरे वाला, नालीदार तने और भूरी छाल वाला वृक्ष है। यह लुशाई पहाड़ियों में लगभग 900 मी. ऊँचाई तक पाया जाता है। कभी-कभी विहार, पश्चिम बंगाल, उड़ीसा और तमिलनाडु के कुछ भागों में इसे उगाते हैं। यह साधारण गति से बढ़ता है और प्रतिवर्ष इसकी परिधि में लगभग 2.5 सेमी. वृद्धि होती है। काष्ठ लाल-भूरा, काफी कठोर, टिकाऊ और भारी (भार, 641-801 किग्रा./घमी.) होता है यह कुल्हाड़े के बेट बनाने में प्रयुक्त होता है और अच्छा ईंधन भी है। इसकी छाल चवाई जाती है (Gamble, 101-02; Rodger, 30; Burkill, II, 1834).

P. glabrescens Wight & Arn.; *P. lanceaefolium* Roxb.; *P. reticulatum* Wight & Arn.; *P. rubiginosum* Heyne ex Wight & Arn.; *P. semisagittatum* Buch.-Ham. ex Roxb.; *P. xylocarpum* Santapau & Wagh.

डनवारिया वाइट तथा आर्नेट (लेग्यूमिनोसी) DUNBARIA
Wight & Arn.

ले. — डनवारिआ

Fl. Br. Ind., II, 217.

यह काष्ठीय आरोही पादपों का एक छोटा वंश है जो उष्णकटिबंधीय एशिया और ऑस्ट्रेलिया में पाया जाता है। डे. हेनेड वाइट तथा आर्नेट में पीले फूल आते हैं और यह मैसूर, वाइनाड और अन्नामलाई में 900 मी. की ऊँचाई तक तथा श्रीलंका में पाया जाता है। श्रीलंका के रबर बागान में निम्न भूमि संरक्षी फसल के रूप में इसकी परीक्षा हो चुकी है (Use of Leguminous Plants, 203; Burkill, I, 871).
Leguminosae; D. heynei Wight & Arn.

डलहौसिया ग्राहम (लेग्यूमिनोसी) DALHOUSIEA Grah.

ले. — डलहौसिएआ

Fl. Br. Ind., II, 248.

यह काष्ठमय आरोहियों का एक लघु वंश है जो पुरानी दुनिया के उष्णकटिबंधों में पाया जाता है। ड. ब्रैक्टिएटा ग्राहम (असम — पहाड़ीलता, गोपुरी) उष्णकटिबंधीय पूर्वी हिमालय, असम तथा एबोर पहाड़ियों में पाया जाता है। यह एक अर्ध-अथवा आरोही सदापर्णी झाड़ी है जिसकी पत्तियाँ दीर्घवृत्तीय, रक्त, अथवा शायत रूप दीर्घवृत्तीय, 7.5–20.0 सेंमी. लम्बी तथा 5–12 सेंमी. चौड़ी होती हैं। ये पत्तियाँ बीड़ी बनाते समय ऊपर से लपेटने के लिये सर्वोत्तम हैं। कलकत्ता तथा अन्य व्यापारिक केन्द्रों में इस कार्य के लिए इनके प्रयुक्त होने की काफी संभावना है (Burkill, *Rec. bot. Surv. India*, 1924, 10, 272; Fl. Assam, II, 117).

D. bracteata Grah.

डल्कामारा — देखिए सोलैनम

डाइआस्कोरिया लिनिअस (डाइआस्कोरिएसी)

DIOSCOREA Linn.

ले. — डिआस्कोरेआ

यह एकवर्षी बल्लरी बूटियों का एक विशाल वंश है जो संसार के सभी आर्द्र उष्णकटिबंधीय प्रदेशों से लेकर गर्म समशीतोष्ण प्रदेशों तक पाया जाता है। भारत में इसकी लगभग 50 जातियाँ मिलती हैं जिनमें से अधिकांश जंगली हैं। केवल कुछ जातियों की खेती उनके खाद्य कंदों, रतालू, के लिए की जाती है।

भारत में पायी जाने वाली अधिकांश जातियों, विशेषतया कृष्ट जातियों की पहचान तथा नामावली से सम्बद्ध भ्रम प्रेन तथा वकिल के अध्ययन द्वारा दूर हुये हैं। इन लेखकों ने इस वंश को मोटे तौर पर 2 वर्गों में बाँटा है: (1) वे जातियाँ जिनके तनों का उद्भेदन बायीं ओर है; और (2) वे जातियाँ जिनके तनों का उद्भेदन बायीं ओर है। पहले वर्ग के अन्तर्गत एनंशियोफिलम आता है जिसके अन्तर्गत

अन्य जातियों के अलावा डा. एलाटा, डा. ग्लेवा और डा. अपोजिटो-फोलिया जैसी बहुत-सी उपयोगी जातियाँ भी सम्मिलित हैं। दूसरे वर्ग को आकार के लक्षणों के आधार पर अनुभागों में बाँट दिया गया है। इस वर्ग के अन्तर्गत आर्थिक दृष्टि से महत्व रखने वाली जातियाँ हैं: डा. एस्कुलेण्टा (काम्बिलियम), डा. बल्बीफेरा (आप्सोफाइटन), डा. पेटाफिला और डा. हिस्पिडा (लैसियोफाइटन) [*J. Asiat. Soc. Bengal*, 1904, 73(2), 183; *J. Asiat. Soc. Bengal, N.S.*, 1914, 10, 5; Prain & Burkill, *Ann. R. bot. Gdn, Calcutta*, 14, I & II, 1936–38, 8].

डाइआस्कोरिया जातियाँ शुष्क उत्तरी-पश्चिमी प्रदेशों को छोड़कर भारत के लगभग सभी शेष भागों में पायी जाती हैं। इन्हें उगने के लिए साल भर में कम से कम 75 सेंमी. वर्षा होनी चाहिये। इनके भूमिगत भाग कम ताप वाले क्षेत्रों में भी उग सकते हैं और ऐसा देखा गया है कि ये हिमालय में 2,400–4,500 मी. तक की ऊँचाई तक पाई जाती हैं (Prain & Burkill, II, 484).

सारणी 1 में भारत के विभिन्न क्षेत्रों में डाइआस्कोरिया की विभिन्न जातियों के वितरण का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत है।

खेती — रतालू की खेती अधिकांशतः या तो उद्यान-फसल के रूप में की जाती है या अदरक, हल्दी, वैंगन, शकरकंद अथवा मक्का के साथ गौण फसल के रूप में की जाती है। पर्याप्त नम बलुई दुमट में, जल-निकास का अच्छा प्रबन्ध होने पर यह अच्छी तरह उगता है। भारी मिट्टी में कंद का विकास ठीक नहीं होता और खेत में पानी जमा हो जाने पर या तो कंद खराब होने लगते हैं या फिर स्वादहीन हो जाते हैं। यह उर्वरता कम करने वाली फसल है इसलिए इसके लिए खेत को खूब गोड़कर तथा अधिक मात्रा में खाद डालकर तैयार करना चाहिये। खेत में प्रायः गोबर की खाद डाली जाती है। भेड़ की मँगनी तथा हरी खाद डालने पर भी फसल अच्छी होती है (Brown, *Trop. Agriculture, Trin.*, 1931, 8, 201, 231; Sankaram, *Madras agric. J.*, 1943, 31, 78; *Indian Fmg.*, 1948, 9, 411; Rao, *Madras agric. J.*, 1950, 37, 129).

प्रवर्धन के लिए कंद के ऊपरी भागों तथा तने पर निकले बायबी कंदों (पत्र-प्रकलिकाओं) का उपयोग किया जाता है। सामान्यतः बायबी कंदों से प्रवर्धन नहीं किया जाता है क्योंकि इस तरह से उगाये गए पौधों से 2 साल के पहले खाद्य कंद नहीं प्राप्त हो पाते। उन कंदों के ऊपरी भागों को जिनमें अच्छे किस्म के 2–3 अँखुये होते हैं, 45×60 सेंमी. के गड्डों में 60–75 सेंमी. की दूरी पर एक पंक्ति में बो दिया जाता है। यद्यपि सामान्य रूप से अप्रैल-जुलाई में वर्षा प्रारम्भ होने पर रोपण किया जाता है फिर भी फसल के लिए चुनौ गई जातियों तथा स्थानिक जलवायु के अनुसार रोपण-काल भिन्न हो सकता है। इसकी बेलें या तो जमीन पर ही फैलने दी जाती हैं या बाँसों पर अथवा पास के किसी पेड़ पर चढ़ा देते हैं। सामान्यतः जमीन पर फैलाई गई बेलों की अपेक्षा बाँसों अथवा पेड़ों पर चढ़ाई गई बेलों से कंदों की उपज अधिक होती है (Nicholls & Holland, 446; Macmillan, 289; Chandraratna & Nanayakkara, *Trop. Agriculturist*, 1944, 100, 82).

रोपण के 5-8 महीने बाद पौधों में कंद पड़ने लगते हैं। इस अवधि में कई बार जड़ों के चारों ओर खेत को गीढ़ दिया जाता है। खरपतवार उखाड़ कर फेंक दी जाती है। दक्षिणी भारत में सूखे क्षेत्रों में फसल की अवधि में खेत को 8-10 बार सींचना आवश्यक है। कंद के पूर्ण विकसित हो जाने पर पत्तियां झड़ने लगती हैं, तब लताओं को काट दिया जाता है और कंद खोद कर निकाल लिये जाते हैं।

कंदों के आकार और रूप भिन्न होते हैं। प्रति पौध कंदों की संख्या भी भिन्न हो सकती है। कुछ जातियों के कंद बेलनाकार तथा बड़े होते हैं और जमीन के अन्दर बहुत नीचे तक चले जाते हैं जबकि अन्य जातियों के कंद छोटे अथवा बड़े, गोल अथवा पिचके होते हैं और सतह से अधिक गहराई पर नहीं होते हैं। कंद या तो अकेले होते हैं अर्थात् एक पौधे में केवल एक या पौधे की जड़ में कई कंद एकत्रित रहते हैं। एक हेक्टर

सारणी 1 - भारत में महत्वपूर्ण डाइआस्कोरिया जातियों का वितरण*

जातियां	उ. प. हिमालय	उत्तर प्रदेश	उड़ीसा, झारखण्ड और नेपाल	सिक्किम	असम	बंगाल	उड़ीसा	बिहार और छोटा नागपुर	मध्य प्रदेश	महाराष्ट्र	केरल	अभिलेखित ऊँचाईयां
कृष्ण												
1. डा. एलाटा	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	हिमालय में 2,700 मी. की ऊँचाई वाले क्षेत्रों में विस्तृत होती की जाती है
2. डा. एस्कुलेन्टा जंगली	..	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	900 मी. तक
3. डा. डेल्टायडिया	×	×	×	हिमालय में 900 से 3,300 मी. तक
4. डा. प्राञ्जरी	×	×	×	195-1,680 मी.
5. डा. बल्बोफेरा	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	हिमालय के 1,800 मी. की ऊँचाई वाले क्षेत्रों में
6. डा. अरैकिडना	×	1,200 मी. तक
7. डा. मेलागोफाइना	×	×	×	×	600-3,000 मी.
8. डा. कमूनेन्सिस	×	×	×	×	750-4,200 मी.
9. डा. टोमेन्टोसा	×	×	×	×	×	×	1,350 मी. तक
10. डा. पेंटाफिला	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	हिमालय में 1,500 मी. तक
11. डा. काल्कापरसादाइ	×	×	×	..
12. डा. हिस्पिडा	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	1,200 मी. तक
13. डा. वाइटाइ	×	300 मी. तक
14. डा. स्पाइकैटा	×	600-1,200 मी.
15. डा. वाटाइ	×	×	1,120 मी. तक
16. डा. बालिशाइ	×	×	×	×	×	×	900 मी. तक
17. डा. हेमिल्टोनाइ	×	×	×	×	×	..	×	..	×	1,200 मी. तक
18. डा. वेलीफिला	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	..	1,200-1,500 मी. पर सभी जगह
19. डा. लेन्चरम	×	×	×	3,000 मी. तक
20. डा. ग्लैना	..	×	×	×	×	×	×	×	1,200 मी. तक
21. डा. इंटरमीडिया	×	1,800 मी. तक
22. डा. अफोसिटीफोलिया	×	..	×	×	×	×	900 मी. तक
23. डा. ट्रिनविया	×
24. डा. प्यूर	..	×	×	×	×	×	×	×	×	1,050 मी. तक
25. डा. जपोनिका	×
26. डा. लिस्टेराइ	×
27. डा. डेसिपियंस	×	750 मी. तक
28. डा. वेक्सिस	अप्टमान द्वीप

*ग्रेन और बर्किल, II, 427 पर आधारित.

× प्रजाति की उपस्थिति दर्शाता है.

भूमि से 5 टन से लेकर 35 टन तक कंद प्राप्त होते हैं। यह उपलब्धि लगाए गए प्रकार, खेत की मिट्टी तथा खेत की तैयारी पर निर्भर करती है। डा. एलाटा से प्रति हेक्टर 7-35 टन तक या फिर औसतन 17.5 टन कंद पैदा होते हैं, और डा. एस्कुलेन्टा से 15-27.5 टन या औसतन 20 टन प्रति हेक्टर उपज होती है। तमिलनाडु में डा. एलाटा से प्रति हेक्टर 11.25-22.5 टन तथा डा. एस्कुलेन्टा से 6.75-8 टन कंद पैदा हुए (Brown, loc. cit.; Sankaram, loc. cit.; Rao, loc. cit.).

इन रतालुओं को ठंडी छायादार जगह में सूखी मिट्टी अथवा बालू के भीतर 6 मास तक रखा जा सकता है। यदि मौसम ठीक हो और मिट्टी सूखी हो तो इन्हें खेत में छोड़ देना चाहिये और आवश्यकतानुसार इन्हें खाद कर निकालना अच्छा होता है (DeSoyza, *Trop. Agriculturnist*, 1938, 90, 71; Brown, loc. cit.).

बहुत-सी जातियों के रतालु मुलायम, गूदेदार तथा खाने योग्य होते हैं। जानवर जंगली जातियों के रतालुओं की खोज में रहते हैं अतः इन परभक्षियों से बचाव के लिए अधिकांश जातियों में सुरक्षा के साधन रहते हैं। उदाहरणार्थ बहुत-सी जातियों के कंद जमीन में बहुत नीचे तक चले जाते हैं जो जानवरों की पहुँच के बाहर होते हैं। कुछ जातियों की जड़ों और तनों पर काँटे होते हैं, कुछ जातियों के रतालु में टैनिन, ऐल्कलायड अथवा सैपोनिन होते हैं जिससे कंद या तो कुस्वाद या विप्रेल हो जाते हैं (Prain & Burkill, II, 516; Sampson, *Kew Bull., Addl Ser.*, XII, 1936, 193).

उपयोग — रतालू एक सस्ता कार्बोहाइड्रेट-युक्त आहार है जिसे असम, बिहार, बंगाल, मध्य प्रदेश, उड़ीसा तथा डेकन के अक्रुष्ट क्षेत्रों के पहाड़ी आदिवासी उपयोग में लाते हैं। अन्न के अभाव के समय इसका महत्व बढ़ जाता है। खाने के पहले रतालू को या तो पूरा या काट करके धो लिया जाता है और फिर पका अथवा भून लिया जाता है जिससे कि इसमें उपस्थित ऐल्कलायड अथवा अन्य विप्रेल पदार्थ नष्ट हो जायें। अच्छी से अच्छी किस्म के रतालू को कच्चा खा लेने पर गले में जलन या बेचैनी होने लगती है। यह तीक्ष्णता कैल्सियम आक्सैलेट के क्रिस्टलों के कारण होती है।

स्वाद और गुण में कृष्ट रतालुओं की तुलना आलू से की जा सकती है। डा. एलाटा जैसी रतालू की कुछ जातियों से व्यापारिक स्तर पर स्टार्च बनाया जाता है। कुछ जातियों का प्रयोग ऐल्कोहल बनाने में किया जाता है। ऐसा समझा जाता है कि डाइआस्कोरिया की कुछ जातियों में विटामिन बी₁, बी₂ तथा बी₆ और सम्भवतः बी कम्प्लेक्स के कुछ अन्य तत्व भी काफी मात्रा में पाये जाते हैं। इनमें प्रोटीन, कैल्सियम और लोहा लेशमात्र रहता है (Winton & Winton, I, 32; Burkill, I, 814; Brown, loc. cit.; *Chem. Abstr.*, 1942, 36, 3533; 1943, 37, 6016; 1946, 40, 1567, 3541).

रतालू की विभिन्न जातियों में उपस्थित ऐल्कलायड, डाइआस्कोरीन तथा सैपोनिन, डाइआस्कोरीन, की मात्रा अलग-अलग होती है। डा. हिस्पिडा में डाइआस्कोरीन (C₁₃H₁₉O₂N) बहुत अधिक रहता है, इसलिए इसके कंदों को अधिक मात्रा में खा लेने पर स्वसन ग्रंथों में पक्षाघात हो सकता है और सम्भवतः मृत्यु भी हो सकती है। डा. डेल्टायडिया के कंदों में सैपोनिन बहुत अधिक होता है, इसलिए इनका प्रयोग रेशम, ऊन तथा बालों को साफ करने में तथा मत्स्य-विष के रूप में किया जाता है। अमेरिका में पायी जाने वाली इस वंश की कुछ जातियों में स्टेरायडी सैपोजेनिन, डायोजेनिन, यामोजेनिन, क्रिस्टो-जेनिन तथा अन्य यौगिक पाये जाते हैं। डा. मेक्सिकाना गुल्बेनिन से प्राप्त बोदोजेनिन कार्टीसोन के आंशिक संश्लेषण के लिए महत्वपूर्ण

प्रारम्भिक पदार्थ है जो रूमेटाइड संविशोय और वातज्वर में औषधि के रूप में दिया जाता है (Prain & Burkill, II, 516; Henry, 91; *Chem. Abstr.*, 1948, 42, 1303, 1305, 1309, 1312; *Chem. & Drugg.*, 1949, 152, 338).

Dioscoreaceae; Enantiophyllum; D. esculenta (Combilium); *D. arachidna; D. melanophyma; D. kamoonsensis; D. tomentosa; D. kalkapershadii; D. wightii; D. spicata; D. wattii; D. wallichii; D. belophylla; D. lepcharum; D. intermedia; D. trinervia; D. japonica; D. listeri; D. decipiens; D. vexans; D. maxicana* Guilbemin

डा. अपोजिटिफोलिया लिनियस *D. oppositifolia* Linn.

ले. — डि. ओपोजिटिफोलिया

D.E.P., III, 132; C.P., 494; Prain & Burkill, II, 392, Pl. 139.

ले. — येल्लागड्डा, अणविदुम्प; त. — कवलाकुडी, वेनीलैवल्ली; क. — वेल्लराई.

यह दायें ओर प्रतानित, चिकने अथवा रोयेंदार तनों वाली लता है। पत्तियाँ एकान्तर अथवा कभी-कभी सम्मुख होती हैं। पत्र-प्रकलिकाएँ नहीं होती। कंद सामान्यतः अकेले, बेलनाकार और रोमिल होते हैं और भूमि में काफी नीचे पैदा होते हैं; छिलका लालाभ, गूदा सफेद, मुलायम और खाने योग्य होता है।

बहुधा डा. वेलेफिला जाति से इसका भ्रम हो जाता है डा. अपोजिटिफोलिया दक्षिणी भारत की मूलवासी है और दक्षिण की पहाड़ियों पर 600-1,200 मी. तक की ऊँचाई तक के सभी क्षेत्रों में पायी जाती है। श्रीलंका के तटवर्ती क्षेत्रों में भी यह पायी जाती है। इसकी



चित्र 70 — डाइआस्कोरिया अपोजिटिफोलिया

लगभग 4 किस्में ज्ञात हैं। कंद जमीन के अन्दर काफी गहराई पर होते हैं जिन्हें खोद कर निकालने में काफी परिश्रम करना पड़ता है। शुष्क पदार्थ के आधार पर कंदों में ऐलुमिनायड, 14.70; राख, 8.69; वसा, 1.52; कार्बोहाइड्रेट, 68.54; रेशा, 6.54; और P_2O_5 , 0.71% पाया जाता है। कंदों को पीस कर, गर्म करके लेप करने से सूजन कम हो जाती है (Hooper, loc. cit.; Kirt. & Basu, IV, 2484).

डा. एलाटा लिनिअस सिन. डा. ऐट्रोपरप्पूरिया रॉक्सवर्ग,
डा. ग्लोबोसा रॉक्सवर्ग; डा. परप्पूरिया रॉक्सवर्ग; डा. रुबेला
रॉक्सवर्ग D. alata Linn. बड़ा रतालू, एशियाई रतालू

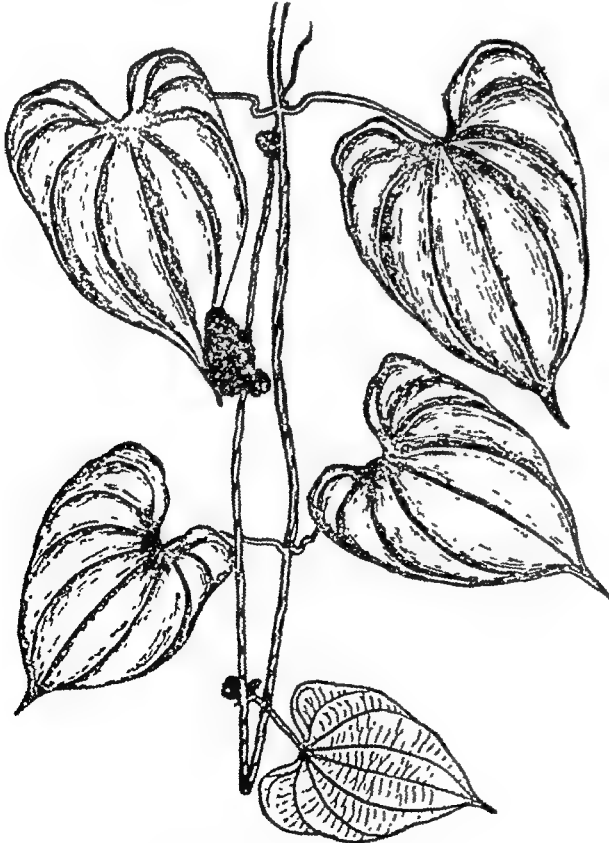
ले. - डि. अलाटा

D.E.P., III, 126, 127, 131, 133; C.P., 492; Prain & Burkill, II, 302, Pl. 123-125; Fl. Malesiana, Ser. I, 4, 330.

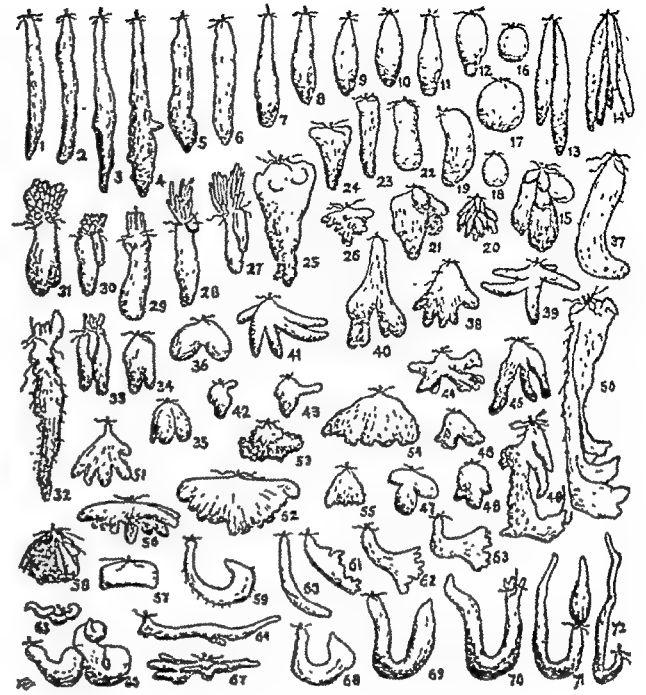
हि. और वं. - चुपरी आलू, खमालू; ते. - पेंणालम, करपेंणलम;
त. - पेरुम्बली किडंगू; क. - तून्गेनसु, हेव्वु, दुप्पेणसु; मल. -
काच्छिल किलंगू, कावत.

असम - कटालू, रक्तागुरनियालू; बम्बई - गोरारू.

यह दायी और प्रतानित चौकोर तने वाली 15 मी. ऊँची एक बड़ी
आरोही है। पत्तियाँ उल्टी या विरले ही एकान्तर होती हैं जिनमें प्रायः



चित्र 71 - डाइआस्कोरिया एलाटा



चित्र 72 - डाइआस्कोरिया एलाटा—विभिन्न कंद प्ररूप

5 शिरायें होती हैं। पत्र-प्रकलिकाएँ गोल, अण्डाकार अथवा उभरी हुई नाशपाती की तरह अथवा कभी-कभी अति लम्बी या चपटी होती हैं। कुछ जातियों में ये बड़ी संख्या में तथा अन्य जातियों में कम होती हैं। प्रकंद रंग में भूरे से काले, अविषले तथा खाद्य हैं, अकेले अथवा बहुत से भिन्न-भिन्न आकार के, बेलनाकार अथवा मुगदर के आकार के और मिट्टी में काफी नीचे तक चले जाते हैं। ये गोल, मजबूत और छोटे नाशपाती जैसे, ललरीदार अंगुलियाकारी, जुड़ी हुई अंगुलियों की तरह होते हैं, या जमीन के अन्दर दिशा परिवर्तन करके गुरुत्वानुवर्तन लेते हैं।

डा. एलाटा दक्षिणी पूर्व एशिया का मूलवासी है और डा. पर्सीमिलिस प्रेन और वॉकिल तथा डा. हैमिल्टोनाइ जैसी जंगली जातियों से सम्बद्ध माना जाता है। कृष्ट रतालुओं की यह सबसे महत्वपूर्ण प्रजाति है। इसकी खेती उष्णकटिबंधीय प्रदेशों तथा इनके आसपास के क्षेत्रों में की जाती है। उपभोक्ताओं की अभिरुचियों एवं आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुये इसकी जातियों का ऐसा चुनाव किया जाता रहा है। अब विभिन्न प्रकार और गुणों वाले कंदों के आकार-प्रकार और रंग तथा गूदों की किस्म के आधार पर इनकी 72 जातियाँ ज्ञात हैं। कोई-कोई कंद 1.8-2.4 मी. तक लम्बे हो सकते हैं। 61 किग्रा. तक के कंद भी प्राप्त हुए हैं। कुछ जातियों के कंदों के छिलके पतले और खुरदुरे होते हैं जिनमें दरारें होती हैं। कुछ का गूदा मुलायम होता है, कुछ के गूदे सफ़ेद अथवा श्वेत-पीत रंग के होते हैं तथा कुछ के गूदों का पूरा भाग अथवा केवल छिलके के नीचे वाला भाग बैंगनी अथवा गुलाबी होता है। कुछ जातियों के कंदों की अलग-अलग स्वाद-गन्ध होती है। उदाहरणार्थ गुजरात की कमोडियो किस्म की स्वादगन्ध उबले चावल की तरह और फिलिपीन्स में पायी जाने वाली किस्म की रसभरी जैसी होती है। कुछ जातियों के कंद चिकने होते हैं तथा कुछ में छोटी-छोटी जड़ें रहती हैं (Burkill, Advanc. Sci., 1951, 7, 443).



चित्र 73 - डाइआस्कोरिया एलाटा - कंद

भारत के प्रायः सभी राज्यों में डा. एलाटा की खेती की जाती है। तमिलनाडु के समुद्रतटीय जिलों, विशेषतया उत्तरी सरकार और मालावार में छोटे क्षेत्रों में इसकी खेती की जाती है। कनारा, खानदेश और थाना जिलों और गुजरात में भी इसकी खेती की जाती है। उत्तरी भारत में गंगा के तटवर्ती क्षेत्रों में आमतौर से इसकी खेती नहीं की जाती, फिर भी दिल्ली, लखनऊ और वाराणसी जैसे शहरों के आस-पास कुछ जातियों की खेती नगर के निवासियों की आवश्यकता की पूर्ति के लिए की जाती है। बंगाल, विहार और उड़ीसा में इसकी काफी खेती की जाती है। असम के बहुत से क्षेत्रों में डा. एलाटा की खेती की जाती है और बहुत-सी जातियाँ स्वयं ही जंगली क्षेत्रों में उग आती हैं जिन्हें अनाभाव में बहुतायत से खाया जाता है (Prain & Burkill, II, 332)।

जहाँ डा. एलाटा अधिक उगता है उन प्रदेशों में प्रति वर्ष, कृष्ण अवधि में, समानरूप से 150 सेंमी. वर्षा होती है। कम वर्षा वाले क्षेत्रों में सिंचाई करके इसे उगाया जा सकता है। विभिन्न क्षेत्रों में डा. एलाटा की खेती अलग-अलग ढंग से की जाती है। डेकन के कुछ सूखे क्षेत्रों में सिंचाई करके इसकी खेती की जाती है। असम, बंगाल, विहार और मालावार के कुछ क्षेत्रों में येतुरन्त उग जाते हैं और इनकी विशेष देखभाल की आवश्यकता नहीं होती। आमतौर पर 2 या 3 कलियों वाले कंदों के ऊपरी भागों से इसे उगाया जाता है। कुछ जातियों में सामान्यतया वायवी प्रकंद पाये जाते हैं और इन्हें से प्रवर्धन किया जाता है।

अच्छे ढंग से खेती करने पर एक हेक्टर भूमि से 7.5-35 टन तक कंद पैदा होते हैं। इनमें स्टार्च होता है। इन्हें सुखा लेने के बाद पीस कर खाया जाता है। आलू की तरह इसकी भी तरकारी बनती है।

आलू के बढ़ते हुए प्रचलन के कारण इसका इस्तेमाल अब कम होता जा रहा है। पहाड़ी आदिवासी चावल के स्थान पर कंदों का ही प्रयोग करते हैं। विभिन्न जाति के कंदों के विश्लेषण से निम्नलिखित भान (शुष्क द्रव्य के आधार पर) प्राप्त हुए हैं: ऐलुमिनायड, 7.96-15.68; बसा, 0.59-1.26; राख, 4.23-7.28; रेशा, 2.19-6.12; कार्बोहाइड्रेट, 71.67-85.02; और P_2O_5 , 0.44-0.98%। कभी-कभी नील-लोहित रंग वाले रतालुओं का उपयोग आइसकीम को रंगीन एवं सुगन्धित बनाने में किया जाता है (Sankaram, loc. cit.; Brown, loc. cit.; Hooper, J. Asiat. Soc. Bengal, N.S., 1911, 7, 57)।

डा. एलाटा के कंदों में औसतन 21% स्टार्च होता है। स्टार्च के दाने पारदर्शी, आकार में अण्डाकार अथवा गोलाई लिए हुए त्रिभुजाकार होते हैं और पानी के साथ निष्कषित किये जाने पर ये आसानी से विलग नहीं होते (Brown, 1951, I, 386, 390)।

कंद कृमिहर समझे जाते हैं और कोढ़, बवासीर और सुजाक में इनका काफी उपयोग होता है (Kirt. & Basu, IV, 2490; Chopra, 483)।

D. atropurpurea Roxb.; *D. globosa* Roxb.; *D. purpurea* Roxb.; *D. rubella* Roxb.; *D. persimilis* Prain & Burkill

डा. एस्कुलेन्टा वर्किल सिन. डा. एक्थूलिएटा लिनियस;
डा. फंसीकुलेटा रॉक्सवर्ग; डा. स्पिनोसा रॉक्सवर्ग एक्स
वालिश *D. esculenta* Burkill लेसर याम, कारेन पोटेटो

ले. - डि. एस्कुलेन्टा

D.E.P., III, 125, 130; C.P., 492, 494-495; Prain & Burkill, I, 80, Pl. 35; Fl. Malesiana, Ser. I, 4, 307.

ते. - सीलकडुम्प, तिब्बतीगा, तिप्प तीगा; क. - मुड्डुगेनसु;
त. - मुसिलम वल्ली किलंगु, सिरुवल्ली किलंगु; मल. - मुल्लू किलंगु,
चेरू किलंगु.

विहार और बंगाल - सूथनी, सुसनियालू; महाराष्ट्र - कंगार.

यह वायों और प्रतानित तनों वाली, मुलायम अथवा कड़े रोएँ वाली एक कंदीली लता है। पत्तियाँ एकान्तर; पत्र-प्रकलिकाएँ अनुपस्थित, कंद 4 और इससे अधिक, डंठलदार और भूमि के पास गुच्छों में पैदा होने वाले गुल्माकार गोल अथवा चपटे और पालियुक्त, प्रायः 12 सेंमी. तक लम्बे फिर भी कभी-कभी 50 सेंमी. तक लम्बे और भार में 3 किग्रा. तक; जड़ें छोटी-छोटी और कुछ जातियों में उपस्थित; छिलका पतला, किण्विशी, गेहुआँ अथवा ललाई लिये हुए गेहुवें रंग का; गूदा मुलायम, सफ़ेद और खाद्य तथा कम या अधिक मीठा होता है।

सम्भवतः डा. एस्कुलेन्टा श्याम और इण्डो-चीन का मूलवासी है। इसकी खेती एशिया के आर्द्र उष्णकटिबंधीय क्षेत्रों में पश्चिम में बम्बई के तट से लेकर पूर्व की ओर प्रशांत द्वीपों तक की जाती है। भारत में यह मालावार और कारोमण्डल तटों, डेकन, मध्य प्रदेश, उत्तर प्रदेश, विहार, उड़ीसा, पश्चिमी बंगाल और असम में तथा पूर्वी हिमालय के 900 मी. तक की ऊँचाई वाले क्षेत्रों में पाया जाता है। यह खासी, नागा और गारो की पहाड़ियों तथा अंडमान द्वीपों में भी पाया जाता है।

खेती करने पर तरह-तरह के रतालू प्राप्त होते हैं। काँटों की उपस्थिति या अनुपस्थिति के आधार पर दो किस्में प्रसिद्ध हैं: वैर. स्पिनोसा और वैर. फंसीकुलेटा. प्रथम किस्म के अन्तर्गत कृष्ण तथा



चित्र 74 - डाइआस्कोरिया एस्कुलेन्टा

जंगली दोनों ही प्रजातियाँ सम्मिलित हैं जबकि दूसरी किस्म में केवल कृष्ट पौधे ही हैं।

किसी समय भारत में डा. एस्कुलेन्टा की विस्तृत खेती होती थी लेकिन आलू के प्रचलन के बाद इसका महत्व घट गया और अब तो केवल बिहार, मध्य प्रदेश और तमिलनाडु के कुछ पिछड़े इलाकों में ही इसकी खेती की जाती है। रोपण करने के 8-9 महीने बाद, कंद तैयार हो जाते हैं और अनुकूल परिस्थितियों में तथा खेत की देखभाल विधिपूर्वक करने पर प्रति हेक्टर 40 टन से भी अधिक उपज मिल सकती है। सूचना है कि अकेले पौधे से 4.5 किग्रा. कंद निकल सकते हैं और तमिलनाडु में प्रति हेक्टर 6.75-8 टन तक कंद पैदा होते हैं (Brown, 1951, I, 394; Sankaram, loc. cit.)

कंदों में स्टार्च होता है किन्तु डाइआस्कोरीन नहीं होता। ये मोटे होते हैं, इनका स्वाद और गन्ध आलू जैसी होती है। वैर. फॅसीकुलेटा के कंदों के विश्लेषण से (शुष्क पदार्थ के आधार पर) ऐल्बुमिनायड, 10.82; राख, 9.65; वसा, 1.72; कार्बोहाइड्रेट, 71.29; रेशा, 6.52; और P_2O_5 , 0.94% प्राप्त हुए (Sampson, loc. cit.; Hooper, loc. cit.; Burkill, I, 818).

D. aculeata Linn.; *D. fasciculata* Roxb.; *D. spinosa* Roxb.

डा. ग्लैब्रा राँक्सवर्ग *D. glabra* Roxb.

ले. - डि. ग्लाना

D.E.P., III, 131; C.P., 494; Prain & Burkill, II, 354, Pl. 131; Fl. Malesiana, Ser. I, 4, 331.

ले. - नरतीगा.

यह बायीं ओर प्रतानित तने वाली लता है। तने की जड़ के समीप का निचला भाग कंटीला और ऊपरी भाग शाखिकारहित तथा चिकना होता है। पत्तियाँ दीर्घवृत्तीय अण्डाकार या अण्डाकार होती हैं, पत्र-प्रकलिकाएँ नहीं होती, कद एक, दो अथवा बहुत से और लम्बे होते हैं जो जमीन के अन्दर काफी गहराई पर पैदा होते हैं; छिलका सटमले रंग का होता है और इस पर बहुत-सी छोटी-छोटी जड़े होती हैं; गुदा सफेद और खाद्य होता है।

यह जाति असम, बंगाल, बिहार, उड़ीसा और अरुण-निकोबार द्वीपों में पायी जाती है। यह हिमालय के मध्यवर्ती एवं पूर्वी क्षेत्रों, नेपाल, दार्जिलिंग, आबोर तथा खासी की पहाड़ियों पर भी मिलती है। गोदावरी नदी से नीचे के दक्षिणी भाग में यह नहीं पायी जाती इसकी छ. किस्में ज्ञात हैं जिनमें वैर. बेरा भारत में पायी जाती है।

कद, अरुमान द्वीप तथा खासी की पहाड़ियों पर खायें जाते हैं किन्तु पकाने पर ये चिपचिपे हो जाते हैं इसलिए इन्हें पसन्द नहीं किया जाता। कहा जाता है कि खासी और आबोर की पहाड़ियों पर पाये जाने वाली एक किस्म खाने में अच्छी है। शुष्क पदार्थ के आधार पर कंदों के विश्लेषण से निम्नलिखित मान प्राप्त हुए हैं : ऐल्बुमिनायड, 9.73-10.13; राख, 5.79-6.70; वसा, 1.29-1.42; कार्बोहाइड्रेट, 77.79-78.23; रेशा, 3.92-5.00; और P_2O_5 , 0.58-0.64% (Hooper, loc. cit.).

डा. डेल्टायडिया वालिश *D. deltoidea* Wall.

ले - डि डेल्टोइडिया

D.E.P., III, 129; C.P., 493; Prain & Burkill, I, 25, Pl. 4.

पजाव - किन्स, क्रिस, तार, किन्ना, कश्मीर - किन्स, किलड़ी, किथी, क्रिश.

यह बायीं ओर प्रतानित शाखिकारहित तने वाली एक विस्तृत वेल है। पत्तियाँ एकान्तर; प्रकद वादामी भूरे रंग के और भूमि की सतह के समीप ही पैदा होते हैं, जिनमें जड़े बिखरी हुई होती हैं।

डा. डेल्टायडिया हिमालय के पूरे उत्तरी-पश्चिमी क्षेत्रों में पाया जाता है और कश्मीर तथा पजाव से पूर्व की ओर नेपाल तथा चीन में 900-3,000 मी. तक की ऊँचाई वाले क्षेत्रों में पाया जाता है। कद बड़े होते हैं पर खाद्य नहीं है। इनमें सैपोनिन काफी मात्रा में पाया जाता है इनका उपयोग रेशम, ऊन और बाल को साफ करने तथा कपड़ा रँगने में किया जाता है। सूचना है कि इनसे बालों के जूँ मर जाते हैं।

डा. पेंटाफिला लिनियस सिन. डा. जैक्वेमोन्टाइ हुकर पुत्र;

डा. ट्रिफिला लिनियस (1753 का) *D. pentaphylla* Linn

ले. - डि. पेदाफिल्ला

D.E.P., III, 132; C.P., 494; Prain & Burkill, I, 160, Pl. 57, 66 & 67; Fl. Malesiana, Ser. I, 4, 315.



चित्र 75 - डाइआस्कोरिया पेंटाफिला

हि. - भूसा, गजरिया, कांटा आलू; बं. - स्वार आलू; म. - चतावली, मंड़ी, उलसी; ते. - दुक्कपेंडालमू; त. - कटुकिलंगु; क. - नुरइगेणसु काडुगुम्बड़ा; मल. - नुरुनुकिलंगु.

यह बायीं ओर प्रतानित तनों वाली एक लम्बी, छरहरी और कांटेदार लता है. पत्तियाँ एकान्तर एवं 3-5 शल्कों वाली होती हैं; पत्र-प्रकलिकाएँ अनेक, गोल अथवा बेलनाकार होती हैं; कंद सदैव अकेले लेकिन गठन और आकार में भिन्न होते हैं. छिलका भूरा, पीला या नील-लोहित; गूदा रोमिल, अण्डाकार कंदों का कठोर किन्तु लम्बे आकार के कम रोमिल कंदों का मुलायम होता है; गूदे का रंग श्वेत-पीत या नीवू के रंग का होता है जिस पर नील-लोहित रंग की चित्तियाँ पड़ी होती हैं.

डा. पेंटाफिला एशिया के उष्णकटिबंधीय क्षेत्रों का मूलवासी है जो पूर्व की ओर सुदूर प्रशांत के द्वीपों तक फैला हुआ है. यह भारत में सर्वत्र, हिमालय में 1,650 मी. तक की ऊँचाई तक और अण्डमान द्वीपों में पाया जाता है. इसकी लगभग 16 किस्में ज्ञात हैं. कंदों के लक्षणों के आधार पर तीन किस्में मान्य हैं. पहली किस्म के कंद मुलायम और खाद्य तथा सतह के विल्कुल नीचे पैदा होते हैं, दूसरी किस्म के कंद मिट्टी के अन्दर काफी नीचे पैदा होते हैं, और तीसरी किस्म के कंद कठोर, उल्लेखी और कुस्वाद होते हैं.

इन जातियों में निर्दोष तथा विपरीत दोनों ही प्रकार होते हैं इसलिए इन्हें खाने के पहले कई बार उबालना और धोना चाहिये. खाद्य कंदों में लगभग वही पौष्टिक मान होते हैं जो डा. एलाटा के कंदों के हैं. शुष्क पदार्थ के आधार पर विभिन्न जातियों के कंदों के विश्लेषण से निम्नलिखित मान प्राप्त हुए हैं: ऐलुमिनायड, 8.68-15.93; राख, 4.91-7.32; वसा, 0.72-1.35; कार्बोहाइड्रेट, 71.07-80.77; रेखा, 2.22-7.96; और P_2O_5 , 0.44-0.73%. फूलों को प्रायः इकट्ठा करके तरकारी बनाने के काम में लाते हैं. अन्नाभाव

के समय पत्तियाँ भी खायी जाती हैं. कंदों का प्रयोग सूजन को दूर करने तथा पौष्टिक पदार्थ के रूप में किया जाता है (Hooper, loc. cit.; Santapau, J. Bombay nat. Hist. Soc., 1951, 49, 624).

D. jacquemontii Hook. f.; *D. triphylla* Linn.

डा. प्यूवर ब्लूम सिन. डा. ऐंग्विना राक्सवर्ग *D. puber* Blume

ले. - डि. पूवेर

D.E.P., III, 127; C.P., 493; Prain & Burkill, II, 402, Pl. 143; Fl. Malesiana, Ser. I, 4, 333.

हि. - कासा आलू; बं. - कुकुरालू.

यह बायीं ओर प्रतानित एक बड़ी शाखिकारहित लता है. पत्तियाँ एकान्तर अथवा सम्मुख होती हैं; पत्र-प्रकलिकाएँ मनुष्य की सूट्टी के बराबर होती हैं; कंद मिट्टी में गहराई पर, एक या दो लगते हैं, कंदों का छिलका रोयेंदार तथा केसरिया रंग का होता है; गूदा नीवू के रंग का होता है.

यह पौधा हिमालय के आर्द्र क्षेत्रों में 900-1,500 मी. की ऊँचाई तक मध्य नेपाल से पूर्व की ओर उत्तरी बंगाल, असम और चटगांव तक पाया जाता है. दक्षिण की ओर इंदौर से लेकर उत्तरी सरकार तक के क्षेत्रों में तथा त्रावंकूर में भी यह पाया जाता है.

इसके कंद खाद्य हैं और स्वादिष्ट भी, यद्यपि कुछ किस्मों के कंद पकाने पर बुरी गन्ध निकलती है. शुष्क पदार्थ के आधार पर कंदों के विश्लेषण से निम्नलिखित मान प्राप्त हुए: ऐलुमिनायड, 11.44-12.45; राख, 3.72-4.54; वसा, 0.56-1.13; कार्बोहाइड्रेट, 78.42-81.34; रेखा, 2.94-3.36; और P_2O_5 , 0.52-0.57% (Haines, 1117; Hooper, loc. cit.).

D. anguina Roxb.

डा. प्रैजेराइ प्रेन और वर्किल सिन. डा. क्लार्की प्रेन और वर्किल; डा. डेल्टायडिया वालिश वैर. सिक्किमेन्सिस प्रेन; डा. सिक्किमेन्सिस प्रेन और वर्किल *D. prazeri* Prain & Burkill

ले. - डि. प्राजेरी

Prain & Burkill, I, 29, Pl. 5 & 6; Fl. Malesiana, Ser. I, 4, 304.

यह बायीं ओर प्रतानित, चिकने, थोड़े टेढ़े-मेढ़े और शाखिकारहित तनों वाली एक लता है. पत्तियाँ एकान्तर और कभी-कभी सम्मुख भी होती हैं; पत्र-प्रकलिकाएँ कदाचित् ही पाई जाती हैं; प्रकंद छोटे, कठोर तथा घुसराभ भूरे अथवा काले होते हैं जो भूमि में सतह से कुछ सेंमी. नीचे पड़ी अवस्था में फैलते तथा प्रशाखित होते हैं; गूदा सफ़ेद और विपैला होता है.

यह पूर्वी हिमालय में 1,500 मी. की ऊँचाई तक उत्तरी विहार, उत्तरी बंगाल, नेपाल, सिक्किम और भूटान और आबोर पहाड़ियों में आर्द्रतर क्षेत्रों में तथा नागा पहाड़ियों पर 1,650 मी. की ऊँचाई तक पायी जाती है. सिंचित भूमि में, विशेष रूप से नदियों के तटवर्ती क्षेत्रों में, यह खूब उत्पन्न होती है.

कंदों में सैपोनिन होता है. लेपचा लोग इससे वालों के जुएँ मारते हैं. इसका प्रयोग मत्स्य-विष के रूप में भी किया जाता है.

D. clarkei Prain & Burkill; *D. sikkimensis* Prain & Burkill

डा. बल्बीफेरा लिनिग्रस सिन. डा. क्रिस्पेटा राँक्सवर्ग;
डा. पल्केला राँक्सवर्ग; डा. सैटाइवा थनवर्ग नान लिनिग्रस;
डा. वर्सिकलर बुखनन-हैमिल्टन एक्स वालिश D. bulbifera
Linn. पोटेटो याम, एयर पोटेटो

ले. — डि. बल्बीफेरा

D.E.P., III, 128, 129, 135; C.P., 493; Prain & Burkill, I, 111, Pl. 50 & 51; Fl. Malesiana, Ser. I, 4, 311.

हि. — रतालू, सुरालू, पितालू; बं. — बनालू, कुकुरालू, गैचा आलू;
म. — मानकंद, कर्कराई, गठालू; ते. — चेडुपदुदुम्पा, मलककाय-
पेंडलमु; त. — कोडिकिलंगू, पन्निकिलंगू; क. — हैगणसु, कुण्टगणसु;
मल. — कटु-काछिल.

यह वायी और प्रतानित तने वाली एक बड़ी शाखिकारहित लता है। पत्तियाँ एकान्तर, सरल, अण्डाकार, हृदयाकार चौड़ी होती हैं। पत्र-प्रकलिकाएँ भिन्न-भिन्न आकृतियों और आकारों वाली, अनेक होती हैं। कुछ कल्टीजनों में कंदों का विकास देखा जाता है और पत्र-प्रकलिकाओं के आकार में वृद्धि हो जाती है जिनमें सभी संचित आहार विद्यमान रहते हैं। छोटी-छोटी पत्र-प्रकलिकाएँ सामान्यतया गुमड़ीदार होती हैं किन्तु बड़ी हो जाने पर वे चिकनी भी हो सकती हैं। कंद अकेला, भिन्न-भिन्न आकार का, गोल अथवा नासपाती की तरह, प्रायः छोटा और गोल होता है, लेकिन कृष्ट कंद बड़ा होता है जिसका भार 1 किग्रा. तक हो सकता है। छिलका नील-लोहित से काला अथवा मटमैला होता है जिस पर प्रायः बहुत-सी छोटी-छोटी पोषक जड़ें होती हैं लेकिन कुछ कृष्ट किस्मों में छिलका चिकना होता है। कंद का गूदा सफेद अथवा नीवू के रंग का होता है जिनमें कभी-कभी बैंगनी चित्तियाँ होती हैं। यह अत्यन्त श्लेष्मायुत होता है।

यह जाति पुरानी दुनिया के उष्णकटिबंधीय प्रदेशों की मूलवासी है। यह अफ्रीका के पश्चिमी तट से लेकर सुदूर प्रशांत द्वीपों के उन जंगलों में, जहाँ वर्षा होती है, पायी जाती है। यह पूरे भारत में और हिमालयी क्षेत्र में 1,800 मी. की ऊँचाई तक पायी जाती है। यह भारत के सूखे क्षेत्रों में नहीं पैदा होती। लगभग 10 किस्में मान्य हैं जिनमें मुख्यतः काचिओ, स्वावियर, विमानिका और सैटाइवा किस्मों की खेती भारत में की जाती है।

अन्नाभाव के दिनों में कंदों को खाया जाता है। यद्यपि जंगली कंद कड़वा, तीखा और कठोर होता है फिर भी राख से रगड़ कर तथा ठंडे पानी से धोकर इसे खाने योग्य बनाया जा सकता है। पत्र-प्रकलिकाओं की खाद्यता परिवर्तनशील है। कुछ रुचिकर होती है और उनमें आलू जैसी स्वादगन्ध होती है। इनकी तरकारी बनाई जाती है। कंदों के विश्लेषण से निम्नलिखित मान (शुष्क पदार्थ के आधार पर) प्राप्त हुये हैं: ऐल्युमिनायड, 7.36–13.31; राख, 3.31–7.08; वसा, 0.75–1.28; कार्बोहाइड्रेट, 75.11–81.39; रेशा, 3.28–9.64; और P_2O_5 , 0.45–0.77% (Brown, 1951, I, 391; Hooper, loc. cit.).

जापान में कंदों से स्टार्च तैयार किया जाता है। कंदों से खाद्य पदार्थ बनाने के पहले उचित उपचार द्वारा उनमें उपस्थित विषैले ऐल्कलायडों, वाष्पशील अम्लों तथा कैल्सियम आक्सलेट को निकाल देना चाहिये। स्टार्च के दाने चपटे और त्रिभुजाकार होते हैं। डा. बल्बीफेरा के स्टार्च के विलयन को कई घंटे गर्म करने पर भी इसकी श्यानता अप्रभावित रहती है। इस गुण में यह स्टार्च मक्के और चावल के स्टार्चों से मिलता-जुलता है (Rao & Beri, Sci. & Cult., 1952, 18, 41).

कश्मीर में डा. बल्बीफेरा के कंदों का उपयोग ऊन साफ करने और मछली पकड़ने में चारे के रूप में किया जाता है। सूखे और पीसे हुए कंदों को वृषों पर लगाया जाता है। इसका प्रयोग बवासीर, पेचिश तथा सिफलिस में भी किया जाता है। जंगली जातियों की पत्र-प्रकलिकाओं को फोड़ा-फुंसियों पर लगाया जाता है (Chopra, 483).

D. crispata Roxb.; D. pulchella Roxb.; D. sativa Thunb. non Linn.; D. versicolor Buch.-Ham. ex Wall.; var. kacheo; var. suavior; var. birmanica; var. sativa

डा. हिस्पिडा डेन्स्टेट सिन. डा. डेमोना राँक्सवर्ग;
डा. हिंसुटा डेन्स्टेट; डा. ट्रिफिला लिनिग्रस (1753 का नहीं
वल्क 1754 का) D. hispida Dennst.

ले. — डि. हिस्पिडा

D.E.P., III, 129; C.P., 494; Prain & Burkill, I, 188, Pl. 77 & 78; Fl. Malesiana, Ser. I, 4, 318.

हि. — कड़कंद; म. — बैचंदी; ते. — तेल्ला-गिनिगडुलु, पुलिदुम्पा;
त. — पीपैरेण्डाई; मल. — पोडवाकिलंगू.

यह वायी और प्रतानित, काँटेदार तनों वाली एक लता है। पत्तियाँ एकान्तर किन्तु पत्र-प्रकलिकाएँ नहीं होतीं; कंद भूमि की सतह के निकट थोड़े-बहुत पिचके हुए गोल, सामान्यतया पालीदार, कभी-कभी कुछ अधिक लम्बे और दीर्घाकार (35 किग्रा. तक के) होते हैं; छिलका भूसे के रंग का अथवा धूसर, गूदा सफेद अथवा नीवू के रंग का और विषैला होता है।

यह एशिया के उष्णकटिबंधीय क्षेत्रों का मूलवासी है और भारत से लेकर फारमोसा, फिलिपीन्स द्वीपों और न्यूगिनी तक के वर्षा वाले जंगली क्षेत्रों में पाया जाता है। भारत में यह 1,200 मी. की ऊँचाई तक सर्वत्र और सिक्किम तथा खासी की पहाड़ियों पर पाया जाता है। इसकी खेती कभी-कभी ही की जाती है। इसकी लगभग 5 किस्में ज्ञात हैं जिनमें वैर. डेमोना भारत में पायी जाती है।

शुष्क द्रव्य के आधार पर कंदों के विश्लेषण से निम्नलिखित मान प्राप्त हुये हैं: ऐल्युमिनायड, 7.20–9.12; राख, 4.05–4.61; वसा, 0.97–1.10; कार्बोहाइड्रेट, 81.45–81.89; रेशा, 3.28–6.28; और P_2O_5 , 0.52–0.77%। कंद बड़े और स्टार्च से भरपूर होते हैं और आसानी से खोदकर निकाले जा सकते हैं, अतः वे अन्नाभाव के समय भारत के कुछ भागों में खाये जाते हैं। कंद तीक्ष्ण और विषैले होते हैं इसलिए इन्हें खाने के पहले काफी सावधानी वरतनी चाहिये। पता चला है कि सिक्किम के लेपचा लोग इन्हें पकाने के पहले लगभग 7 दिन तक बहते हुए पानी में डुबोए रखते हैं। इसका विषैला पदार्थ डाइगोस्कोरीन है जो पूरे पौधे में व्याप्त रहता है। पहाड़ी आदिवासी कंदों से निकलने वाले एक प्रकार के दूधिया रस में ऐंटियारिस्ट टाक्सिकेरिया लेशनाल्ड का रस मिलाकर विषैले तीर बनाते हैं किन्तु जोंकों पर इनका प्रभाव नहीं पड़ता (Hooper, loc. cit.; Prain & Burkill, II, 425).

हाल ही में किए गए अन्वेषणों से यह पता चला है कि कंदों से स्टार्च और खाद्य आटे का उत्पादन औद्योगिक स्तर पर सम्भव है। साफ और सफेद स्टार्च आसानी से तैयार किया जा सकता है। सूखे तथा छिलका-रहित कंदों में 0.19% विषैले ऐल्कलायड और 1.14% एक पीला रंजक पदार्थ होता है। सूखे हुए पदार्थ को पीसकर (80 डिग्री) तथा लगभग 4–5 गुना अधिक संतृप्त चूने के पानी में डालकर जिसमें पोटेसियम



चित्र 76 - डाइआस्कोरिया हिस्पिडा

परमैंगनेट (0.005%) मिला रहता है, लगभग एक घंटे तक खूब विलोडित किया जाता है। निलम्बन को हाइड्रोक्लोरिक अम्ल से अम्लीकृत करके सोडियम वाइसल्फाइट से अभिकृत किया जाता है। नीचे जमे हुए चूरे को अलग कर लेने के बाद धीकर वायु में सुखा लिया जाता है। इस तरह प्राप्त किए गए चूरे में ऐल्कलायड नहीं रहता। इसमें निम्नलिखित अवयव होते हैं : बसा, 0.23; ऐल्बुमिनायड, 5.28; रेखा, 5.33; कार्बोहाइड्रेट (मुख्यतः स्टार्च), 88.34; और राख, 0.66%। इसे खाने तथा औद्योगिक कार्यों में प्रयुक्त किया जा सकता है। इसके पोषण सम्बन्धी तथा विप्लेपन सम्बन्धी गुणों की खोज नहीं हुई है (Brown, 1951, I. 401; Rao & Beri, Indian For., 1952. 78, 146; Sci. & Cult., 1951-52. 17, 482).

D. daemona Roxb.; *D. hirsuta* Dennst.; *D. triphylla* Linn.; *Antiaris toxicaria* Lesch.

डा. हैमिल्टोनाइ हुकर पुत्र सिन. डा. हुकेराइ प्रेन
D. hamiltonii Hook. f.

ले. - डि. हैमिल्टोनिड

Prain & Burkill, II, 299, Pl. 122.

यह दायीं ओर प्रतानित कोनयुक्त, अरोमिल तने वाली लता है। पत्तियाँ मोटे तनों पर सम्मुख और फुनगी पर एकान्तर होती हैं; पत्र-अकलिकाएँ संत्या में अनेक और डा. एलाटा की पत्र-अकलिकाओं से मिलती-जुलती

होती है; कंद लम्बे और जमीन के अन्दर काफी गहराई पर होते हैं; छिलका काला कभी-कभी खुरदुरा और रुक्ष; गूदा सफ़ेद और साद्य होता है।

यह जाति उत्तरी-पूर्वी भारत की मूलवासी है और सिक्किम, असम, बंगाल और उड़ीसा के अधिक आर्द्र क्षेत्रों में और पश्चिमी घाट में उत्तरी कनारा से दक्षिण की ओर कोचीन तथा त्रावनकोर तक पायी जाती है। यह एक पहाड़ी पौधा है जिसके लिए काफी वर्षा चाहिए। वैसे इसका कंद स्वादिष्ट होता है पर जमीन के अन्दर काफी गहराई पर होने के कारण इसे खोदकर निकालने में कठिनाई होती है। त्रावनकोर में पाये जाने वाले जंगली रतालुओं में इसे ही सबसे अधिक पसन्द किया जाता है। सिक्किम में अन्य रतालुओं की अपेक्षा यह अधिक महंगा होता है। कंद में (शुष्क पदार्थ के आधार पर) ऐल्बुमिनायड, 8.30; राख, 3.91; बसा, 0.77; कार्बोहाइड्रेट, 85.50; रेखा, 1.52; और P_2O_5 , 0.55% पाये जाते हैं (Hooper, loc. cit.).

भारत में डाइआस्कोरिया की अनेक जातियाँ जंगली रूप में पाई जाती हैं और जिन जातियों का उल्लेख किया जा चुका है उनके अतिरिक्त भी कुछ ऐसी जातियाँ हैं जिनकी खेती विभिन्न क्षेत्रों में कभी-कभी की जाती है और इनका स्थानीय महत्व बना हुआ है। ये हैं : डा. अरैकिडना प्रेन और बर्किल, डा. बेलोफिला वायट (सिन. डा. ग्लैन्ना वैर. बेलोफिला वायट; डा. सगिटेटा रायल एक्स वायट), डा. डेसिपियन्स हुकर पुत्र, डा. इंटरमीडिया थ्वेट्स, डा. जपोनिका थनवर्ग, डा. कमूनैन्सिस कुय (सिन. डा. कुमाओनेन्सिस कुय), डा. लेप्चारम प्रेन और बर्किल, डा. मेलानोफाइडा प्रेन और बर्किल, डा. टोमेण्टोसा कोएनिग एक्स रॉक्सवर्ग, डा. ट्रिनर्विया रॉक्सवर्ग एक्स प्रेन और बर्किल (सिन. डा. अपोजिटोफोलिया हुकर पुत्र), डा. वेक्संस प्रेन और बर्किल, डा. वालि-शाइ हुकर पुत्र तथा डा. वाटाइ प्रेन और बर्किल। इन जातियों में से कुछ के कंद डा. एलाटा या डा. एस्कुलेण्डा के समान बढ़िया होते हैं। अन्य जातियों के कंद खराब होते हैं और भूमि के अन्दर इतनी अधिक गहराई पर होते हैं कि इन्हें निकालने में ही काफी परिश्रम करना पड़ता है (Prain & Burkill, I & II).

डाइआस्कोरिया की कुछ विदेशी जातियों की ओर भी लोगों का ध्यान उनके आर्थिक महत्व के कारण आकर्षित हुआ है और भारत में इनकी खेती के प्रयास हुए हैं किन्तु अभी तक विशेष सफलता नहीं मिली है। डा. ट्रिफिडा लिनिअस पुत्र (कुश कुश याम) एक अमेरिकी जाति है जिससे बड़े आलू के बराबर, स्वादिष्ट कंद प्राप्त होते हैं। अमेरिका और अफ्रीका में डा. बटेटास डिकैन्ने (चीनी याम), डा. कायेनेन्सिस लामार्क और डा. रोड्डेंडा प्यायरेट (गायना याम) की खेती इनके कंदों के लिए ही की जाती है (Prain & Burkill, I, 210; Nicholls & Holland, 404; Brown, 1951, I, 404).

D. hookeri Prain; *D. arachidna* Prain & Burkill; *D. belophylla* Voight; *D. glabra* var. *belophylla* Voight; *D. sagittata* Royle ex Voight; *D. decipiens* Hook. f.; *D. intermedia* Thw.; *D. japonica* Thunb.; *D. kamoonsensis* Kunth; *D. kumaonensis* Kunth; *D. lepcharum* Prain & Burkill; *D. melanophyma* Prain & Burkill; *D. tomentosa* Koenig ex Roxb.; *D. trinervia* Roxb. ex Prain & Burkill; *D. oppositifolia* Hook. f.; *D. vexans* Prain & Burkill; *D. wallichii* Hook. f.; *D. wattii* Prain & Burkill; *D. trifida* Linn. f.; *D. batatas* Decne.; *D. cayenensis* Lam.; *D. rotundata* Poir.

डाइआस्पिरास लिनियस (एबेनेसी) DIOSPYROS Linn.

ले - डिआस्पिरास

यह वृक्षो अथवा झाड़ियों का एक बड़ा वंश है जो प्रमुखतः उष्ण-कटिबंधीय है तथा दोनो गोलार्धो में व्यापक रूप से पाया जाता है। भारत में इसकी लगभग 41 जातियाँ प्रमुखतः दक्षिण, असम तथा बंगाल के सदापर्णी वनों में पायी जाती हैं। उत्तर भारत में बहुत थोड़ी-सी जातियाँ ही पायी जाती हैं।

डाइआस्पिरास की सभी जातियों से अत्यन्त उत्तम काष्ठ प्राप्त होता है, जिनमें सबसे अच्छी जाति डा. एबेनेस है। इसकी कुछ जातियाँ अपने रसदार फलों के लिए भी ख्यात हैं। कृष्य जातियाँ अधिकतर शोभाकारी वृक्ष हैं जिनकी पर्णवलि सुन्दर और चमकीली और फल खाद्य और सजावटी होते हैं।

सच्चा आवनूस डा. एबेनेस का काला अंतःकाष्ठ होता है जो काटे हुए पेड़ों की हल्के रंग की परिधीय लकड़ी छीलने के बाद प्राप्त होता है। डा. टोमेण्टोसा तथा डा. मेलानोक्सिलान जातियों से भी आवनूस प्राप्त होता है किन्तु अधिकतर जातियों से प्राप्त होने वाला अंतःकाष्ठ केवल काले रंग की चित्तियों अथवा रेखाओं द्वारा ही होता है। इन चितकवरे आवनूसों में डा. मार्मोराटा से प्राप्त होने वाला 'अभ्र-काष्ठ' तथा डा. क्वेसिटा से मिलने वाला 'कैलामण्डर काष्ठ' सर्वाधिक प्रसिद्ध हैं।

आवनूस वृक्षों का अंतःकाष्ठ अत्यधिक कठोर तथा चोमड़ होता है। उनकी लकड़ी यद्यपि कठिनाई से सीझती है, किन्तु वह काफी टिकाऊ होती है और उसे चिकना करके बढ़िया पालिशदार बनाया जा सकता है। इसकी लकड़ी इमारती नहीं है किन्तु सुन्दर और आलंकारिक श्रेणी की है और दीर्घकाल से इसकी लकड़ी नक्काशी करने, खरादने, उत्खनन कार्य में तथा वाद्ययंत्रों, ब्रशपृष्ठों, छाते की मूठों, छड़ियों, सुन्दर अलमारियों तथा फर्नीचर आदि बनाने के लिए प्रयुक्त होती रही है। बहुत-सी जातियों में अंतःकाष्ठ बहुत कम होता है। कुछ जातियों में तने पर के कटावों के चारों ओर की लकड़ी शुष्क अंतःकाष्ठ की तरह गहरी काली होती है।

ऐसा विश्वास किया जाता है कि आवनूस के वृक्षों में रसकाष्ठ से अंतःकाष्ठ बनते समय लिग्निन पदार्थ उल्मिक पदार्थों में परिवर्तित हो जाते हैं। यह प्रक्रिया यदि जीवाश्मण नहीं है तो भी उससे अत्यन्त मिलती-जुलती है। अंतःकाष्ठ भगुर होता है तथा शखाभ की तरह टूट जाता है। इस पर काम करते समय काफी सावधानी बरतनी पड़ती है (Record & Hess, 143)।

आवनूस का रसकाष्ठ हल्के रंग का होता है तथा खुला छोड़ देने पर रक्ताभ कत्यई रंग का हो जाता है। इसको अपेक्षाकृत आसानी से सुखाया जा सकता है, किन्तु मौसम की उग्रता में यह अधिक टिकाऊ नहीं रह पाता। यह दृढ़, चोमड़ तथा आघातसह होता है। व्यापारिक दृष्टि से यह बहुत महत्वपूर्ण काष्ठ है।

डाइआस्पिरास की कई जातियों के फल खाने योग्य होते हैं। इसमें दक्षिण भारत में पैदा की जाने वाली काफी पसिमन (डा. काकी) सबसे अधिक प्रसिद्ध है। डा. लोटस तथा डा. डिसकलर अन्य फल वाली जातियाँ हैं जो भारत में लाई गई हैं। इनके फल अत्यन्त मधुर होते हैं जिनमें शर्करा की कुल मात्रा सामान्यतः 15% से अधिक ही होती है। इनमें अम्लता की मात्रा कम होती है तथा टैनिन चाहे वह सक्रिय अथवा निष्क्रिय अवस्था में हो, इसका एक विशिष्ट घटक होता है (Winton & Winton, II, 839)।

Ebenaceae; *D. quaeisita*डा. इनसिगनिस थ्वेट्स *D. insignis* Thw.

ले. - डि. इनसिगनिस

Fl. Br. Ind., III, 565.

त - पोर्टुगल

यह लगभग 24 मी. ऊँचा तथा 60 सेमी. व्यास का एक बड़ा वृक्ष है जो उत्तरी त्रावनकोर तथा अन्नामलाई में निम्न उच्चाशो पर सदापर्णी वनों में पाया जाता है।

इसकी लकड़ी धूमिल श्वेत वर्ण की होती है जिसमें कहीं-कहीं भूरी-काली चित्तियाँ पड़ी होती हैं। घने दानों वाली यह लकड़ी काफी कठोर तथा सामान्य रूप से टिकाऊ होती है। यह लट्ठों, धरणियों तथा खानों में टेको के लिए उपयोगी है (Lewis, 266)।

डा. एबेनेस कोएनिग सिन. डा. ऐसीमिलिस वेडोम; डा.

सैपोटा रॉक्सबर्ग *D. ebenum* Koenig

सीलोन एबोनी, एबोनी पसिमन

ले - डि. एबेनेस

D.E.P., III, 138; C.P., 498; Fl. Br. Ind., III, 558.

हि. - इवांस, आवनूस; ते. - नल्लवल्लुडु, नल्लुति तुमिकि; त. - तुवी, कंरंगालि, कारई; क. - करेमरा, वालेमरा; मल. - कारु, मुशतुपी, बायारी; उ. - केधू.

व्यापार - एबोनी.

यह मध्यम से लेकर बृहत् आकार का, घने शीर्ष वाला सदापर्णी वृक्ष है, जिसकी ऊँचाई 24 मी. तक तथा परिधि 2.1 मी. तक होती है। मैसूर के जंगलों में अच्छे जल-निकास वाली भूमि में इसकी परिधि 4.5 मी. तक देखी गई है किन्तु अंतःकाष्ठ की परिधि 1.2 मी. से अधिक नहीं होती। श्रीलंका में, जहाँ इसका प्रवर्धन तथा विकास दक्षिण भारत की अपेक्षा अधिक अच्छी तरह से होता है, 2.1 मी. तक की परिधि वाले आवनूस के लट्ठे (रसकाष्ठ रहित) पाए गए हैं (Naidu, 63. Bourdillon, 220)।

डा. एबेनेस, डेकन तथा कर्नाटक के शुष्क सदापर्णी वनों में दूर-दूर पर फैला हुआ पाया जाता है तथा इसका क्षेत्र पश्चिम में उत्तरी कोयम्बटूर, दक्षिणी कनारा और कुर्ग तथा दक्षिण में मालावार और कोचीन से त्रावनकोर तक विस्तृत है। इसके लिए अच्छे जल-निकास वाली पथरीली भूमि अधिक उपयुक्त होती है। अच्छी अवमृदा जल-निकास वाली बलुई दुमटो अथवा काफी मात्रा में चिकनी मिट्टी वाली भूमियों में यह अधिक अच्छा पैदा होता है। यह युथी न होकर ब्लोरोक्सिलोन स्वीडे-निया, मानिलकारा हेक्संड्रा (रॉक्सबर्ग) डुवार्ड, यूफोरिया लांगेन स्ट्यूडेल, अल्विजिया ओडोरेटिसिमा, वाइटवस आल्टिसिमा लिनियस पुत्र, बेरिया काडिफोलिया तथा डाइआस्पिरास की अन्य जातियों के साथ-साथ जंगलों में फैला रहता है।

श्रीलंका में कभी-कभी इस वृक्ष से दो बार बीज पैदा होता है। अच्छे बीज-वर्ष नियमित रूप से नहीं आते। बीजों पर घन के आक्रमण की भी आशंका रहती है। यह वृक्ष बीज द्वारा प्रवर्धित किया जाता है। छोटे अंकुर पर्याप्त छाया में भी बड़े होते रहते हैं किन्तु स्थापित हो जाने पर ऊपर का प्रकाश लाभप्रद रहता है। इसकी वृद्धि मन्द होती है। श्रीलंका में इस वृक्ष की औसत परिधि इस प्रकार है: 25 वर्ष की आयु में 45 सेमी., 75 वर्ष की आयु में 90 सेमी., 135 वर्ष की आयु में 1.12 मी. तथा 200 वर्ष की आयु में 1.8 मी. मैसूर के कुछ भागों में परिधि में

प्रति वर्ष 1.25 सेंमी. की वृद्धि पायी जाती है (Troup, II, 654; Information from For. Dep., Mysore).

डा. एवेनम सम्भवतः आवनूस प्रदान करने वाला सर्वोत्तम वृक्ष है जिसमें किसी प्रकार की चित्तियाँ अथवा चिह्न नहीं पाये जाते. व्यापारिक दृष्टि से सच्चा आवनूस भी यही है. वृक्ष की आयु के आधार पर आवनूस को मात्रा वता पाना सम्भव नहीं है. सामान्यतः मूल से ऊपर जाने पर इसका आयतन कम होता जाता है किन्तु यह अनियमित रूप से होता है और कभी-कभी बीच-बीच में धूमिल वर्ण का काष्ठ भी आजाता है. वृक्ष के कुल आयतन के अनुपात में कृष्णवर्ण काष्ठ 14 से 35% तक और औसतन 25% से कम ही होता है (Howard, 183; Bourdillon, loc. cit.).

भारत में डा. एवेनम बहुत व्यापक नहीं है, और जहाँ कहीं पाया भी जाता है, वहाँ वृक्षों का आकार विशेष बड़ा नहीं होता. अपने उत्पादन क्षेत्रों में आवनूस सीमित मात्रा में ही मिलता है. मैसूर में इसका वार्षिक उत्पादन 14-28 घमी. तथा त्रावनकोर-कोचीन में लगभग 25 टन है. एर्नाकुलम, चलाकुडी तथा त्रिवेंद्रम के गोदामों से विभिन्न कोटियों के आधार पर 350-800 रुपये प्रति टन आवनूस के हिसाब से प्राप्त हो सकता है. श्रीलंका में 1950 में वन विभाग ने 60,900 रुपये मूल्य का 113.7 घन मीटर आवनूस लट्ठों के रूप में बेचा तथा 10,500 रुपये के मूल्य के 14.7 घन मीटर आवनूस का निर्यात किया (Information from For. Depts, Mysore, Travancore-Cochin and Ceylon).

डा. एवेनम का रसकाष्ठ हल्के पीताभ धूसर अथवा धूसर रंग का होता है और प्रायः इस पर काली चित्तियाँ पड़ी होती हैं. अंतःकाष्ठ गहरा काला होता है, जिस पर कहीं-कहीं थोड़ी-सी काली अथवा हल्की भूरी अथवा सुनहरी धारियाँ पड़ी होती हैं. चिकनाने पर यह धातु की तरह चमकने लगता है तथा चमकती धरातल की तरह हो जाता है. इसमें किसी विशेष प्रकार की गन्ध अथवा स्वाद नहीं होता. यह भारी (आ. घ., 0.85-1.00 से अधिक; काले भाग का भार, 1,152 किग्रा./घमी.; तथा हल्के रंग वाले भाग का भार, 880 किग्रा./घमी.), सीधे अथवा कभी-कभी अनियमित या लहरियोंदार दानों वाला, महीन या समगठन का होता है. यह भारतीय आवनूस डा. मेलानोक्सिलोन तथा डा. टोमेण्टोसा से मिलता-जुलता है, किन्तु उससे अधिक भारी और कठोर होता है. इसके वृद्धिवलय बहुत स्पष्ट नहीं होते तथा बाहिकाएँ एवं अरें बहुत छोटी होती हैं.

आवनूस को सिझाना कठिन है, क्योंकि इसमें लम्बी, महीन तथा गहरी दरारें पड़ जाती हैं, विशेषतः तब जब कि इसे बड़े-बड़े खण्डों में काटा जाता है. सबसे अच्छा तरीका यह है कि ताजे लट्ठों को यथासम्भव छोटे से छोटे टुकड़ों में काटकर ढके हुए स्थान पर रखा जाए जहाँ वे गर्म हवाओं से सुरक्षित रह सकें (Pearson & Brown, II, 693).

अंतःकाष्ठ कोट तथा कवक प्रतिरोधी होता है. इसकी उष्मा चालकता लगभग 20° सें. पर काष्ठ रेखाओं के पार 0.2286 कि. कै./मी.घं.° सें. होती है. यह बहुत टिकाऊ लकड़ी है किन्तु इसका मूल्य इसके टिकाऊपन पर निर्भर न होकर इसके गहन काले रंग, कार्य करने के गुण तथा उच्च फिनिश पर निर्भर होता है. इस पर कार्य करना, विशेषतः शुष्कावस्था में, कठिन होता है किन्तु समतल करने पर यह बहुत चमकदार हो जाता है. इस पर खराद अच्छी आती है, हाथ की थोड़ी सफाई की आवश्यकता होती है तथा इस पर बहुत अच्छी पालिश आती है. दीर्घकाल से प्रतिष्ठित यह एक उत्तम सजावटी लकड़ी है, तथा सुन्दर लकड़ियों के बाजार में यह सर्वाधिक मूल्यवान लकड़ी है (Narayanamurti & Kartar Singh, Indian For. Leaflet, No. 77, 1945, 6; Pearson & Brown, loc. cit.).

आवनूस अनन्त काल से सजावटी नक्काशी एवं खराद के कामों तथा सज्जा के अन्य विशिष्ट प्रयोजनों के लिए काम में लाया जाता रहा है. इसका प्रयोग पृष्ठावरण, जड़ाई, वाद्ययंत्रों, खेल की वस्तुओं, गणितीय उपकरणों, पियानो के उत्तोलन दण्डों तथा आभूषण पेटियों के बनाने के लिए किया जाता है. यह लकड़ी इतनी उत्कृष्ट होती है कि कुछ लकड़ियाँ, विशेषतः नाशपाती की लकड़ी, काली चित्तियाँ डालकर अथवा उन्हें आवनूस की तरह बनाकर, आवनूस के स्थान पर प्रयोग में लायी जाती हैं. भारत में डा. मेलानोक्सिलोन की लकड़ी को प्रायः सच्चे आवनूस की तरह इस्तेमाल किया जाता है.

आवनूस के रंजक पदार्थ को अभी तक पहचाना नहीं जा सका है. कुछ अन्वेषकों के अनुसार इसका कृष्णवर्ण एक गोंद-जैसे पदार्थ के कारण होता है. काष्ठ के विश्लेषण से निम्नलिखित मान प्राप्त हुए हैं: आद्रता, 10.5; लिग्निन, 36.8; पेंटोसन्, 13.8; क्रास तथा देवान सेलुलोस, 36.9; ऐल्कोहल-बैजीन में विलेय निष्कर्ष, 15.1; तथा NaOH (0.2%) में विलेय पदार्थ, 4.5%. इसमें जाइलोस, मैनीस, गैल्लोक्टोस भी रहते हैं. इसमें ह्युमिक अम्ल (4.63%) भी पाया गया है (Mayer & Cook, 253; Wehmer, II, 942; Chem. Abstr., 1931, 25, 2562).

डा. एवेनम का फल खाद्य है. यह स्तम्भक, कृशकारी, पथरी भेदक तथा मत्स्य-विष होता है (Shiv Nath Rai, 23; Kirt. & Basu II, 1508; Chopra & Badhwar, Indian J. agric. Sci., 1940, 10, 31).

D. assimilis Bedd.; *D. sapota* Roxb.; *Chloroxylon swietenia*; *Manilkara hexandra* (Roxb.) Dubard; *Euphoria longan* Steud.; *Albizia odoratissima*; *Vitex altissima* Linn. f.; *Berrya cordifolia*

डा. काकी लिनियस पुत्र *D. kaki* Linn. f.

काकी पर्सिमन, जापानी पर्सिमन

ले. — डि. काकी

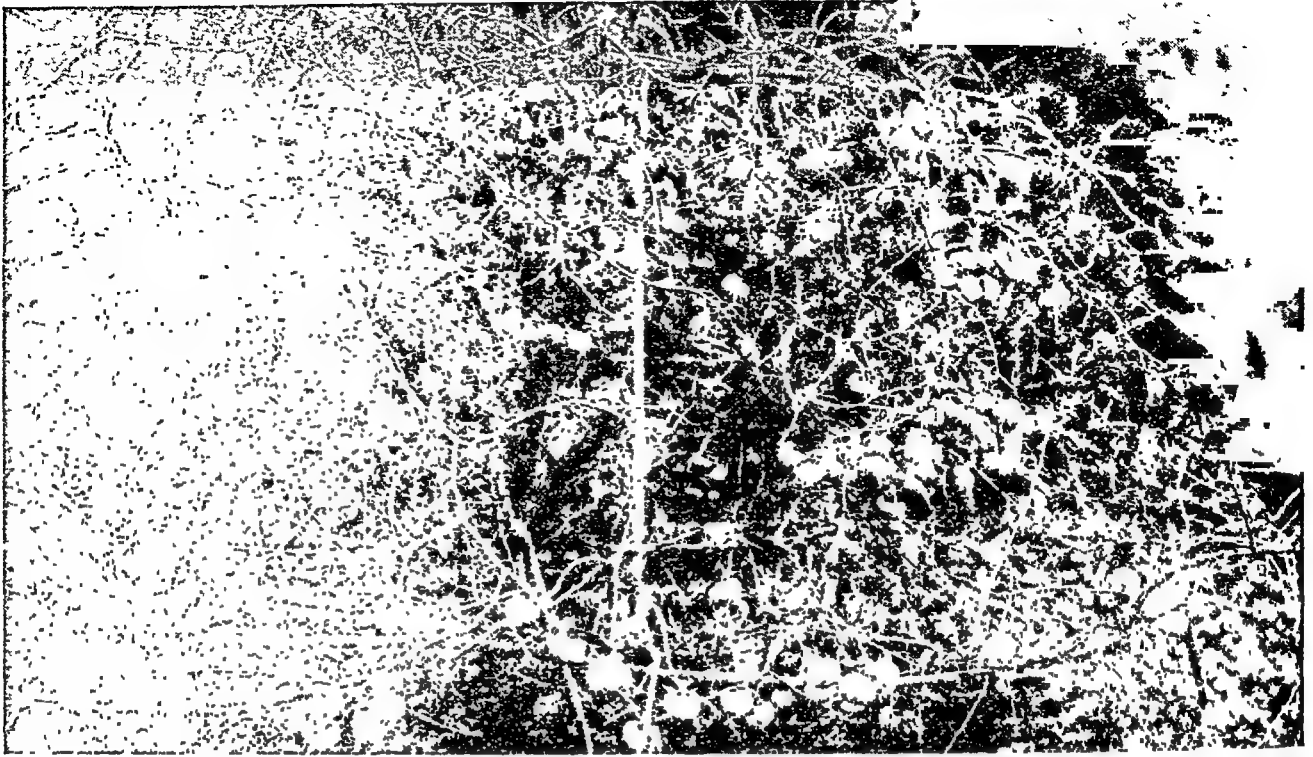
D.E.P., III, 145; C.P., 498; Fl. Br. Ind., III, 555.

हिं. — हलवा तेंदू.

असम — डींग-आयोंग; सोह-तांग-जोंग.

यह एक छोटा पर्णपाती, उभय लिंगाश्रयी अथवा एकलिंगाश्रयी वृक्ष है, जिसका किरीट गोल होता है. यह उत्तरी-पूर्वी भारत का प्राकृत वृक्ष है और जापान तक पाया जाता है. इसकी ऊँचाई 12-15 मी. तक तथा परिधि 60-90 सेंमी. की होती है. यह एक मूल्यवान उपोष्णकटिबंधीय वृक्ष है, तथा भारत के कुछ भागों में उगाया जाता है.

डा. काकी के कई प्रकार पाये जाते हैं. जापान में इसके लगभग 800 तथा चीन में लगभग 2,000 तक प्रकार पाये जाते हैं. इनको दो वर्गों में बाँटा जा सकता है. पहले वे वृक्ष हैं जिनके फल मीठे होते हैं तथा तत्काल उपभोग के उपयुक्त होते हैं. दूसरे वे वृक्ष हैं जिनके फल कपाय होते हैं तथा उपचारित करने अथवा कुछ समय तक रखे रहने के बाद ही मीठे तथा खाने योग्य हो पाते हैं. बिना बीज वाले प्रकार दोनों ही वर्गों में पाये जाते हैं तथा एक ही प्रकार के फल बीज आने पर मीठे तथा बीज न होने पर कपाय हो सकते हैं. कुन्नूर में चार प्रकारों को पैदा करने का प्रयास किया गया है. ये किस्में हैं: दाई दाई मारु, जिससे मध्यम आकार के नारंगी लाल चमकदार तथा ऊपर से गोल शीर्ष वाले फल पैदा होते हैं; एक अनामी प्रकार जिससे बड़े गहरे लाल तथा चमकीले फल प्राप्त होते हैं, तानेनाशी तथा हयाक्युमे. पहले दोनों



चित्र 77 — डाइआस्पिरास काकी — फलित

प्रकारों से अच्छा उत्पादन होता है इसलिये इनकी खेती की संस्तुति की गई है। इनके फल उपचार के बाद ही खाने योग्य हो पाते हैं।

प्रवर्धन बीज से होता है, किन्तु डा. वर्जीनियाना लिनियस, डा. मोलिस ग्रिफिथ, डा. लोटस, डा. डिसकलर, तथा डा. पेरेग्रिना जैसी आधुनिक जातियों को दूसरे देशों में कलम लगाने तथा दो वर्ष पुराने पीधों पर चश्मा लगाने की विधि सामान्यतः प्रयुक्त होती हैं। अन्य देशों में इन प्रकारों के मूलवृत्तों को कमची कलम या चश्मा लगाने में प्रयोग किया जाता है। इनमें से कुछ जातियाँ कुन्नूर में पैदा की गई हैं। कीमिया में डा. लोटस की 5-6 मास की पीध को मूलवृत्त के रूप में प्रयोग करने की संस्तुति की गई है। यदि पादप-वृत्त छोटे हों तो कमची कलम विशेष तौर पर उपयुक्त मानी जाती है। चश्मा लगाना उस समय उपयुक्त समझा जाता है जब लकड़ी पर से छाल आसानी से उतर जाए और चश्मा वृत्तों को जब तक आवश्यकता हो, 4-6° ताप पर सुरक्षित रखा जा सके, क्योंकि इससे अधिक ताप पर ये उगने लगते हैं। कलम तथा दाव कलम के द्वारा पीधा लगाने की प्रक्रिया कुन्नूर में सफल नहीं हो पाई (Fruit Specialist, Coimbatore, private communication; *Biol. Abstr.*, 1948, 22, 1458; *Hort. Abstr.*, 1950, 20, 267; Popenoe, 363)।

काकी पसिमन नरम जलवायु में अच्छा पैदा होता है किन्तु चीन में यह -18° से. तक का ताप सहन कर सकता है। मैदानों में उच्च ग्रीष्मकालीन ताप तथा निम्न आर्द्रता पर छोटे-छोटे होने के कारण फलों के झड़ जाने, पत्तों के जल जाने तथा फलों के काले पड़ जाने की सम्भावना रहती है। पीधे को किसी अत्यधिक विशिष्ट मिट्टी की आवश्यकता नहीं होती। समान रचना की मिट्टी और विशेषतः अच्छे जल-निकास

वाली दुमट इसकी खेती और विकास के लिए अधिक अनुकूल है। यदि मिट्टी को अच्छी तरह से पानी मिलता हो तो वातावरण में अधिक आर्द्रता की आवश्यकता नहीं होती। भारत में अधिक वर्षा वाले क्षेत्रों में डा. काकी को पैदा करने में अधिक सफलता नहीं मिली है (Hayes, 236; Popenoe, 357)।

काकी प्रमुखतः कुन्नूर के वर्षा वाले क्षेत्र में पैदा की जाती है। पहले वर्ष में तथा जब तक पीधा जड़ न जमा ले और वह भी विशेषतः सूखे मौसम में, कभी-कभी पानी देते रहना आवश्यक होता है। सिंचाई की आवश्यकता तथा उसकी मात्रा पीधा लगाने के समय तथा उसके पश्चात् वर्षा की मात्रा पर निर्भर करती है। जब पीधा अच्छी तरह मूलवृद्ध हो जाए तो सिंचाई की बहुत कम आवश्यकता होती है।

कुन्नूर में वृक्षारोपण का कार्य जुलाई-जनवरी में 4.5-6 मी. का अन्तर देकर किया जाता है। वृक्ष के एकलिंगाश्रयी होने के कारण यह आवश्यक है कि काफी मात्रा में पुंकेसरी फूल पैदा करने वाले पादपों को स्त्रीकेसरी फूल पैदा करने वाले पीधों के साथ-साथ उगाया जाए, आड़ू तथा जंगली टमाटरों (साइफोमैडा बेटेंसिया) की तरह पसिमन को भी फलोद्यानों में पूरक पादपों के रूप में पैदा किया जा सकता है। किन्तु सबसे अच्छी तरह वे अकेले ही पैदा होते हैं।

पहले के कुछ वर्षों में वृक्ष की काफी सावधानीपूर्वक देखभाल करनी पड़ती है जिससे वह सममित तथा सुडौल आकार प्राप्त कर ले। अनुर्वर अथवा भारी मिट्टियों में पहले कुछ वर्षों तक फलीदार, भूमि-संरक्षी फसलें पैदा करना लाभप्रद रहता है। एक या दो हल्की गुड़ाई, विशेषतः सूखे मौसम में तथा यदा-कदा हाथ से निराई की संस्तुति की जाती है। फल तोड़ने के तुरन्त बाद प्रति उपजाऊ वृक्ष के हिसाब से अमोनियम

फॉस्फेट या खली के साथ अथवा उसके बिना, 25 से 50 किग्रा. तक गोबर की खाद दी जाती है (Fruit Specialist, Coimbatore, private communication).

फल वाले पेड़ों की समय-समय पर छँटाई करते रहने से वृद्धि तथा उपज बढ़ती है. कुन्नूर में, पहले मौसम की पार्श्व कोपलों को वर्ष में एक बार तोड़ देने तथा अग्र कोपलों की यदा-कदा छँटाई के फलस्वरूप उत्पादन में उल्लेखनीय वृद्धि हुई है. अमेरिका में उद्यानिक प्रकारों के अध्ययन से पता चलता है कि वहाँ प्रत्यावर्ती प्रजनन की प्रवृत्ति बढ़ रही है (Naik, 359; *Biol. Abstr.*, 1948, 22, 1930).

5-6 वर्ष के होने पर पौधों में फल लगने लगते हैं. कुन्नूर में प्रति वृक्ष औसत वार्षिक उपज 22.5 से 27 किग्रा. तक होती है. एक अज्ञात किस्म से अधिकतम उपज 43.20 किग्रा. मिली.

काकी वृक्षों पर कवक तथा कीड़ों के आक्रमण की कम सम्भावना होती है, किन्तु इन जातियों में स्ट्रोमेटियस बार्बेटम लगता देखा गया है (Information from For. Res. Inst., Dehra Dun).

अधिकतर प्रकारों से, जिनमें कुन्नूर में पैदा किये जाने वाले प्रकार भी सम्मिलित हैं, प्राप्त होने वाले फल टैनिन के कारण कपाय होते हैं तथा पूरे पकने पर ही वास्तव में वे स्वादिष्ट हो पाते हैं. व्यापारिक कार्य के लिए पूर्ण विकसित किन्तु कठोर फलों को पेड़ से तोड़ कर संसाधित करके विक्री हेतु भेजा जाता है. चीन में फलों को उबलते पानी में डाल दिया जाता है, जहाँ वे रात भर जलसिक्त रहते हैं. चूने के पानी में 24 घंटे तक डुबाना तथा घास एवं खरपात के ढेर में रखकर पकाना संसाधन की अन्य प्रक्रियाएँ हैं. जापान में पके फलों को साकी बियर के खाली लकड़ी के पीपों में बंद कर 10-15 दिन तक पकने के लिए छोड़ दिया जाता है. कच्चे फलों को भी एथिलीन अथवा कार्बन डाइ-ऑक्साइड से भरे हवाबंद पात्रों में बंद करके पकाया जा सकता है. भारत में सफलतापूर्वक अपनाया गया एक आसान तरीका यह है कि फलों को तीन-चार दिन तक एक बंद पात्र में पकने वाली कीफ्रर नाश-पातियों, कैलों, टमाटर तथा अन्य फलों के साथ रख दिया जाता है. संसाधन क्रिया सामान्यतः कठिन होती है, इसलिए केवल अकपाय प्रकारों को ही, जिनमें संसाधन की आवश्यकता नहीं होती, पैदा करना लाभप्रद रहता है. फूयू (फूयूगाकी) ऐसा ही एक प्रकार है जिसका महत्व अमेरिका में निरन्तर बढ़ता जा रहा है (Burkill, I, 831; Fruit Specialist, Coimbatore, private communication; Popenoe, 364; von Loesecke, 103).

ये फल हिमशीतल पर तथा सम्भवतः शीतागारों में भी सुरक्षित रहते हैं. कुछ देशों में इनका प्रयोग सूखे मेवे के रूप में और मिठाई बनाने में किया जाता है (Cruess, 459).

भारत में काकी पसिमन कलकत्ता, सहारनपुर, कुन्नूर, बंगलौर तथा कुछ अन्य स्थानों पर पैदा किया जाता है. यह 5-7.5 सेंमी. के व्यास का पीले से लेकर टमाटरी लाल रंग का तथा चिकने चमकदार पतले छिलके वाला एक सुन्दर फल है. इसका स्वाद बेर के समान अच्छा होता है. इसके सुन्दर वर्ण, सुरक्षित बने रहने का गुण तथा प्राप्ति का ऐसा समय (सितम्बर-अक्टूबर) जबकि बाजार में अन्य अच्छे फल उपलब्ध नहीं होते, इसके महत्व को और बढ़ा देते हैं. किन्तु इसकी खेती में कोई विस्तार हुआ नहीं दोखता. इसकी प्रवर्धन विधियाँ आसान नहीं हैं, तथा इसका उपयोग करने वाले लोग अभी यह नहीं जान पाये हैं कि किस अवस्था में यह सर्वोत्तम होता है.

विभिन्न किस्मों के तथा भिन्न-भिन्न परिपक्वता की अवस्था वाले फलों की संरचना में उल्लेखनीय अन्तर होता है. एक पके हुए फल के बाह्य-भाग के लाक्षणिक विश्लेषण से निम्नलिखित मान प्राप्त हुए

हैं: आर्द्रता, 79.6; प्रोटीन, 0.8; वसा, 0.2; खनिज पदार्थ, 0.4; कार्बोहाइड्रेट, 19.0; कैल्सियम, 0.01; फॉस्फोरस, 0.01; लोहा, 0.003%; तथा कैरोटीन (विटामिन ए के रूप में, अं. इ./100 ग्रा.), 1,710. इसमें प्राप्त विटामिन इस प्रकार हैं: विटामिन ए, 2,504 अं. इ.; थायमीन, 33γ; राइबोफ्लेविन, 27γ; नायसीन, 0.05 मिग्रा.; तथा ऐस्काविक अम्ल, 10.06 मिग्रा./100 ग्रा. इसमें जिआजैथिन तथा लाइकोपिन भी उपस्थित हैं. ग्लूटैमायोन की भी उपस्थिति बताई गई है. किसी भी मौसम में कच्चे अथवा पके हुए फलों में डेक्सट्रोस, लेवुलोस, स्यूक्रोस, टैनिन, पेक्टिन तथा बहुशर्करायें रहती हैं. एक विलेय कार्बोहाइड्रेट, सम्भवतः वीजरहित प्रकारों में विपुल मात्रा में तथा वीज वाली किस्मों में अल्प मात्रा में पाया जाता है. यह अम्ल के साथ जल-अपघटित होने पर अपचायक शर्करा देता है. वीजों से सैनन पृथक् किया गया है. परिपक्व तैनेनाशी किस्म में निम्न-लिखित अवयव मिलते हैं: अम्ल (सिट्रिक), 0.89; अपचायक शर्करायें, 4.76; अनपचायक शर्करायें, 5.90; तथा कुल शर्करायें, 10.66% (*Hlth Bull.*, No. 23, 1951, 48; *Chem. Abstr.*, 1932, 26, 3258; 1944, 38, 2075; 1946, 40, 5851; Winton & Winton, II, 843; von Loesecke, 104).

परिपक्व काकी का रंग टैनिन तत्वों के संघनन तथा ऑक्सीकरण के कारण पैदा होता है. क्षार के साथ जल-अपघटन होने पर टैनिन कोशिकाओं से गैलिक अम्ल, फ्लोरोगैलसिनॉल तथा पाइरोकैटिकाल पैदा होते हैं (Winton & Winton, II, 846).

कच्चे फल में पैदा होने वाला टैनिन रंजक तथा काष्ठ परिरक्षक के रूप में काम आता है. भुने हुए वीज काफी के स्थान पर प्रयोग में लाए जा सकते हैं. वीजों का उत्पादन बहुत सीमित है इसलिए पेय के रूप में उनके किसी व्यावहारिक महत्व की सम्भावना नहीं है. काकी फलों का सैंक्रोमाइसीस डायोसपिराई के साथ किण्वन होने पर निम्न ऐल्कोहल अनुमापांक वाला एक आसव तैयार होता है. फल के बाह्य दलपुंज तथा वृंतक का उपयोग खांसी तथा कण्ठश्वस की चिकित्सा में किया जाता है (Burkill, I, 832; Winton & Winton, II, 840; *Chem. Abstr.*, 1932, 26, 4408).

डा. काकी की लकड़ी सजावटी होती है. इसका पृष्ठपर्ण गहरा काला होता है तथा उस पर नारंगी पीत धूसर, भूरे अथवा सालमन जैसे वर्णों की चित्तियाँ पड़ी रहती हैं. यह घने तथा सम दानों वाली माध्यमिक कठोर तथा भारी (भार, 784 किग्रा./घमी.) होती है. रंदा करने से यह बहुत अधिक चिकनी हो जाती है तथा छूने पर एकदम संगमरमर जैसी लगती है. जापान में वक्नों, डेस्कों तथा मोझैक के काम में यह सजावटी कामों के लिए बहुमूल्य समझी जाती है. इसमें से एक हल्की-सी दुर्गन्ध निकलती है (Howard, 275).

D. mollis Griff.; *D. virginiana* Linn.; *Cyphomandra betacea*; *Stromatium barbatum* F.; *Saccharomyces diospirii*

डा. क्लोरोक्सिलोन रॉक्सवर्ग *D. chloroxylon* Roxb.

हरा एवोनी पसिमन

ले. — डि. क्लोरोक्सिलोन

D.E.P., III, 137; Fl. Br. Ind., III, 560.

म. — निनाई, नैसी; ते. — इल्लिद, कवकिमानु; त. — कश्वाकपी, पेरिपुल्लिजी; उ. — ओदोदी कोशावो.

यह एक बड़ी झाड़ी अथवा एक छोटा विसर्पी वृक्ष है जो मध्य एवं दक्षिणी भारत के कई भागों में तथा उत्तर में उड़ीसा, चाँदा और नासिक

तक फैला हुआ पाया जाता है। यह लेटराइट तथा बालुकाश्म पहाड़ियों में तथा कपास की काली मिट्टी में ज्यादा अच्छी तरह पैदा होता है।

प्राकृतिक परिस्थितियों में वर्षा ऋतु के प्रारम्भ में ही इसके बीजों में अंकुर फूटने लगते हैं। पौधे पर्याप्त छाया में भी बड़े हो जाते हैं। इसके वृक्ष से भूस्तारी मूल पैदा होते हैं। स्ट्रोमैटियम बावैटम नामक वेधक इस वृक्ष पर आक्रमण करता है (Troup, II, 654; Information from For. Res. Inst., Dehra Dun).

इसकी लकड़ी पीताभ भूरे रंग की, कठोर, भारी (भार, 736 किग्रा./घमी.) तथा टिकाऊ होती है। सामान्यतः यह ईंधन के लिए एक अच्छी लकड़ी है। इसका कैलोरी मान : रसकाष्ठ 4,856 कै. या 8,742 ब्रि. थ. इ.; अन्तःकाष्ठ 4,872 कै. या 8,769 ब्रि. थ. इ. है (Gamble, 458; Benthall, 297; Krishna & Ramaswamy, Indian For. Bull., N.S., No. 79, 1932, 15).

इसके फल गोलाकार तथा बड़ी मटर के आकार के होते हैं जिनमें 2-3 बीज होते हैं। पकने पर ये बड़े स्वादिष्ट होते हैं। डा. क्लोरो-क्सिलोन एक अच्छा चारे वाला पौधा माना जाता है।

डा. टोपोसिया बुखनन-हैमिल्टन = डा. रेसमोसा रॉक्सवर्ग
D. toposia Buch.-Ham.

D.E.P., III, 156; Fl. Br. Ind., III, 556.

बं. — टोपोसी, गुलाल; त. — कसंदुवरै, तुवरै.
असम — थिंग-वांग.

यह एक विशाल अथवा मध्यम आकार का सदाहरित वृक्ष है जो पूर्वी बंगाल, असम, त्रानकोर तथा त्रिनेवेली में पाया जाता है। इसके फल अण्डाकार होते हैं जो पकने पर सुनहरे पीले हो जाते हैं। इन पर खुरंटदार रोम होते हैं।

लकड़ी रक्ताभ होती है, जो खुला छोड़ने से गहरी कट्यई अथवा रक्ताभ हो जाती है, किन्तु सामान्यतः जहाँ-तहाँ अनेक काली धारियाँ पड़ी रहती हैं। इसका अंतःकाष्ठ काले रंग का तथा साधारण रूप से कठोर होता है, किन्तु सजावटी कार्यों के लिए इसका आकार ठीक नहीं होता। इसके फल खाद्य हैं। वे पानी में डुबोने के बाद खाये जाते हैं। ताजे कटे हुए वृक्षों का गोंद दाँतों के दर्द में लाभप्रद होता है (Bourdillon, 219; Lewis, 258; Rama Rao, 240).

D. racemosa Roxb.

डा. टोमेन्टोसा रॉक्सवर्ग D. tomentosa Roxb.

नेपाल एबोनी पर्सिमन

ले. — डि. टोमेन्टोसा

D.E.P., III, 155; C.P., 499; Fl. Br. Ind., III, 564.

हि. — तेंदु, केंदु, तेमरू; बं. — केंद, क्योन; ते. — चित्तुमिकि, मंचित्तुमिकि, तुमुकि; त. — तुंबी; क. — तिवुरानी, तुमरी तिवुरा; उ. — केंदु.

पंजाब — तेंदु, किन्नु; मध्य प्रदेश — तुमरी, तुमकी; व्यापार — एबोनी.

यह सामान्यतः छोटे और कहीं-कहीं बड़े आकार का वृक्ष है जो उपहिमालय क्षेत्र में रावी से नेपाल, राजस्थान, मध्य प्रदेश, बिहार तथा उड़ीसा तक तथा दक्षिण की ओर सरकार जिलों तक पाया जाता है। अनुकूल परिस्थितियों में इसका आकार काफी बड़ा हो जाता है, किन्तु झाड़ियों वाले वनों में यह छोटा रह जाता है। यह वृक्ष मूल-भूस्तारियों से फिर पैदा हो जाता है। 1.8 मी. से भी अधिक परिधि वाले बड़े वृक्ष कांगड़ा तथा छोटा नागपुर में पाये जाते हैं। वनवर्धकीय विशेषताओं

तथा लकड़ी की संरचना और लक्षणों में यह डा. मेलानोक्सिलोन से बहुत मिलता-जुलता है।

यह पौधा धीमी गति से बढ़ता है। गोरखपुर जिले (उ. प्र.) में छंटे गये पौधों के निरीक्षण से निम्नलिखित तथ्य ज्ञात हुए : 2 वर्ष की आयु पर औसत ऊँचाई 1.4 मी., तथा औसत परिधि 4.5 सेंमी.; 10 वर्ष की आयु पर औसत ऊँचाई 2.7 मी., तथा औसत परिधि 9.6 सेंमी.; तथा 16 वर्ष की आयु पर औसत ऊँचाई 28 मी., और औसत परिधि 10.7 सेंमी. (Troup, II, 651).

इस जाति को एक वेधक स्ट्रोमैटियम बावैटम तथा दो विपत्रणक, हाइपोकैला विचारकुआटा वाकर तथा हा. रोस्ट्रेटा हानि पहुँचाते हैं। ऐसीडियम राइटिसमोइडियम बर्कले एक वैसिडियोमाइसिट कवक भी इस पौधे पर लगता है (Information from For. Res. Inst., Dehra Dun).

डा. मेलानोक्सिलोन की तरह ही इसका भी अंतःकाष्ठ रसकाष्ठ से एकदम अलग तथा काला कठोर और भारी होता है। काला भाग कभी ही 15 सेंमी. व्यास से अधिक हो पाता है। यह उत्तर भारत का काला आवनूस है और नक्काशी, तस्वीरों के चौखटों, अलमारियों, तश्तरियों, आभूषण की पेटियों, कंधों आदि के बनाने में काम आता है। यह वृक्ष की लकड़ियों के लिए भी उपयुक्त है। लकड़ी का हल्का भाग अत्यधिक मजबूत तथा लचीला होता है। यह औजारों और पहियों की सलाकों तथा बग्घी के डंडों तथा खुदाई के औजारों के लिए उपयुक्त माना जाता है। इसकी पत्तियाँ बीड़ी लपेटने के काम आती हैं (Pearson & Brown, II, 703; Jagdamba Prasad, loc. cit.).

इसका फल गोल, 2.5-3.7 सेंमी. व्यास का, होता है। पकने पर यह पीला तथा कुछ-कुछ मधुर-कपाय होता है। इसका स्वाद खराब नहीं लगता। यह खाद्य है।

Stromatium barbatum F.; *Hypocala biarcuata* Wlk.; *H. rostrata*; *Aecidium rhytismoideum* Berk.

डा. डिसकलर विल्डेनो सिन. डा. मैबोला रॉक्सवर्ग
D. discolor Willd. मैबोला पर्सिमन, बटर फ्लूट

ले. — डि. डिसकोलोर

D.E.P., III, 138.

हि. — विलायती गाव.

यह एक मध्यम आकार का, सदापर्णी, एकलिंगाश्रयी, सीधे तने वाला वृक्ष है, जिसकी ऊँचाई लगभग 30 मी. तक तथा व्यास लगभग 75 सेंमी. तक होता है। यह फिलिपीन्स का प्राकृत वृक्ष है तथा निम्न एवं सामान्य उच्चांशों पर बहुतायत से पाया जाता है। इसे समस्त पूर्वीय उष्णकटिबंधीय प्रदेश में प्रवर्धित किया गया है। भारत में यह प्रायद्वीप के दक्षिणी भागों तथा बिहार और असम में उगाया जाता है।

इसका पौधा बीज द्वारा अथवा पौध वृंत में कलम लगाकर पैदा किया जाता है। यह एक अच्छा छायादार वृक्ष है तथा सड़कों के किनारे लगाने के लिए बहुत उपयुक्त है। बागों में इसे इसकी सजावटी पर्णवलि तथा सुन्दर फलों के लिए लगाया जाता है। इसका प्रयोग काकी पर्सिमन की कलम लगाने के लिए स्क्व के रूप में भी किया जा सकता है। इसके फल बीही की तरह होते हैं। ये जून-सितम्बर तक पककर खाने योग्य हो जाते हैं (Popenoe, 373; Naik, 358).

इसका फल दीर्घवृत्तीय अथवा लगभग गोलाकार तथा सेव के आकार का होता है। इसका छिलका कट्यई या लाल होता है और कट्यई रंग के घने रेशों से आच्छादित रहता है। इसमें 4 से 8 तक बीज होते

हैं जो शुष्क, सौरभिक गूदे में जमे रहते हैं। इसके कुछ ऐसे प्रकार ज्ञात हैं जिनसे हल्के कलई रंग के मोठे गूदे वाले और बीजरहित फल भी प्राप्त होते हैं। इसके गूदे की गन्ध अर्चिकर न होते हुए भी इसका स्वाद अति तृप्ति पैदा करने वाला होता है। भारत में यह फल बहुत कम खाया जाता है किन्तु चयन के द्वारा इस फल की किस्म में सुधार करना सम्भव है। दो बीजरहित फिलिपीन्स किस्मों के विश्लेषण से इन फलों से निम्नांकित मान प्राप्त हुए : आर्द्रता, 83.02, 71.95; प्रोटीन, 2.79, 0.86; वसा, 0.22, 0.25; अपचायक शर्करायें, 6.25, 18.52; अपरिष्कृत तंतु, 1.76, 1.73; अन्य कार्बोहाइड्रेट (अन्तर से), 5.53, 5.49; तथा राख, 0.43, 1.20%। माबोला के गूदे में, शुष्क आधार पर, 3.26% तक फाइटिन पाया जाता है (Benthall, 1930; Valenzuela & Wester, *Phillipp. J. Sci.*, 1930, 41, 85; Winton & Winton, II, 846; Burkill, I, 828; Popenoe, loc. cit.).

इसका रसकाष्ठ रक्तिम अथवा गुलाबी रंग का होता है, जिसमें कहीं-कहीं भूरे रंग के धब्बे पड़े रहते हैं। इसका अंतःकाष्ठ चारीदार, चितकबरा और कभी-कभी काला होता है। फिलिपीन्स में इसका प्रयोग कंचे बनाने के लिए किया जाता है (Burkill, loc. cit.).

D. mabola Roxb.

डा. पेरैग्रिना (गेटनर) गुर्के सिन. डा. एम्ब्रियोप्टेरिस पर्सूत;

डा. मालाबारिका डेज़रेले *D. peregrina* (Gaertn.) Gurke

गाँव पसिमन

ले. — डा. पेरैग्रिना

D.E.P., III, 141; C.P., 498; Fl. Br. Ind., III, 556.

सं. — तिदुक, कृष्णसार, विरुपाक्ष; हिं. — गाब, कालातेंदु, मकुर केंदी; बं. — गाब, मकुर केंदी, तेंदु; म. — तिवुरी, तिवुनी; तं. — तिदुकि, गब्बु; त. — कटाट्टी, कविकटाई, तुंबी; क. — होलेतूपरी, कुषरथ, हिंगे, तुमकि, बन्ध; मल. — पनछी, वनंजी; उ. — धुसरोकेंदु, केंदु.

यह छोटे, सीधे तथा खाँडेदार तने तथा फैली हुई शाखाओं वाला मँडोले आकार का सदाहरित वृक्ष है। यह छायादार, नमी वाले स्थानों पर तथा नदियों के किनारे लगभग सारे भारत में पाया जाता है। इसकी पत्तियाँ गहरी हरी तथा फल बड़े एवं मखमली होते हैं। इसे इसकी गोभा के कारण उगाया जाता है।

यह वृक्ष छायासह है तथा सहज स्थिति में छोटे पौधे काफी घनी छाया में बढ़ते रहते हैं। यह आर्द्र मिट्टियों तथा साधारण दुमटों पर, यदि काफी शुष्क न हों, तो अच्छी तरह बढ़ता है।

इसके फल जून अथवा जुलाई के बाद जमीन पर गिरने लगते हैं और अनुकूल परिस्थितियों में वर्षाकाल में ही इनका अंकुरण होने लगता है। देहरादून में हुए परीक्षणों से पता चलता है कि ताजे रहने पर बीजों की अंकुरण-क्षमता अधिक होती है किन्तु संग्रह से काफी कम हो जाती है।

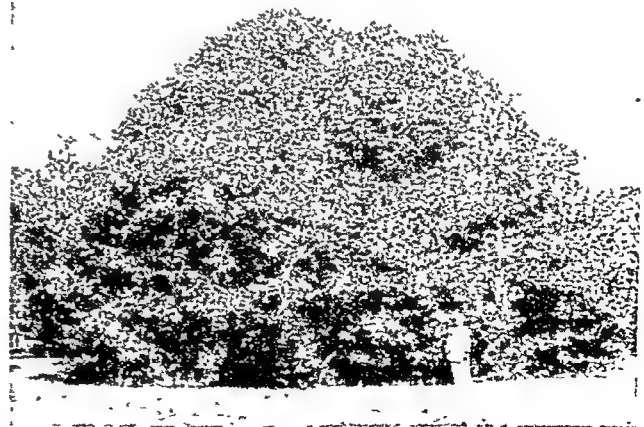
कृत्रिम जनन के लिए ताजे बीजों को नर्सरी में 22.5 सेंमी. की दूरी पर बनाई गई पंक्तियों में 10 सेंमी. के अन्तर पर बोया जाता है, क्यारियों पर छाया कर दी जाती है तथा सूखे मौसम में उनमें पानी दिया जाता है। दो-तीन सप्ताह बाद अंकुर निकल आते हैं और इसके बाद पहली अथवा दूसरी वर्षा में इन पौधों को प्रतिरोपित किया जाता है। पौधों पर पाले तथा सूखे का जल्दी प्रभाव पड़ता है। सूखे मौसम और सीधी धूप से इनका वचाव करना चाहिये तथा प्रतिरोपण करते

समय इस बात की सावधानी बरतनी चाहिये कि इसकी लम्बी मूसलाजड़ की क्षति न पहुँचे। प्रतिरोपण के कुछ समय बाद पानी देना आवश्यक हो जाता है। यदि फलों के उद्देश्य से इन वृक्षों को उगाया जाता है तो, ऊपर छत्रकी प्रकृति के कारण, 6×6 मी. अथवा इससे भी अधिक स्थान छोड़ दिया जाता है। पौधों का विकास धीमा होता है तथा प्रथम तीन वर्षों में प्रति वर्ष ये केवल कुछ सेंमी. ही बढ़ पाते हैं। प्रति वर्ष वृक्ष की परिधि की औसत वृद्धि 1.4—2.2 सेंमी. होती है (Troup, II, 651)।

इस वृक्ष में लगने वाले नाशक-कीटों में माइलोसेरस सेटुलिफर नामक विपत्रक तथा स्ट्रोमेटियस बावेंटम नामक वेधक कीट हैं। फलों को डिप्लोडिया एम्ब्रियोप्टेरिडिस कुक से हानि होती है। स्यूथोस्पोरा डायो-स्पिराइ विटनेट, फिलोस्टिक्टा डायोस्पिराइ हरे अथवा मुरझाते हुए पत्तों पर लगते हुए देखे जाते हैं (Information from For. Res. Inst., Dehra Dun; Butler & Bisby, 152, 155, 161).

गाँव पसिमन चर्मिल वक्कल वाला, एक मध्यम आकार के सेब जितना बड़ा गोलाकार सरस फल होता है। इसके र्यान लसदार गूदे में 4 से 8 तक बीज धँसे रहते हैं। पकने पर यह पीला हो जाता है, तथा एक बहिरंग एवं सरलतापूर्वक अलग की जा सकने वाली पपड़ी से ढका रहता है। एक वृक्ष में एक ऋतु में लगभग 4,000 फल लगते हैं। पूरी तरह पके हुए फलों का स्वाद कुछ रुक्ष और कुछ मोठा होता है तथा वे खाद्य हैं। पके फल कीटप्रतिरोधी होते हैं (Benthall, 1936).

सूखे फलों तथा फलचूर्ण के विश्लेषण से निम्नलिखित मान प्राप्त हुए हैं : ईथर निष्कर्ष, 1.2; ऐल्कोहल निष्कर्ष, 12.4; जलीय निष्कर्ष, 7.5; ऐल्बुमिनी पदार्थ, 12.1; कार्बनिक अवशेष, 61.9; तथा राख, 4.9%। इन फलों में पेक्टिन काफी अधिक (50%) होता है। सस्ते एवं अधिक मिलने के कारण ये सरस सामग्री के सम्भाव्य स्रोत हैं। कच्चे फलों में टैनिन बहुत मात्रा में होता है। ये चर्मशोधन एवं कपड़ा रंगने के काम आते हैं। गूदेदार फलों का प्रयोग मत्स्य जालों के परिरक्षी के रूप में तथा जिल्दसाजी में सरस की तरह किया जाता है। चारकोल चूर्ण के साथ अथवा उसके बिना भी, उबालने पर इसका प्रयोग नावों की सन्धिबन्दी के लिए किया जाता है (Dymock, Warden & Hooper, II, 366; Biswas, *Sci. & Cult.*, 1943-44, 9, 501; Benthall, loc. cit.; Burkill, I, 830).



चित्र 78 — डाइआस्पिरास पेरैग्रिना

फल तथा तने की छाल में (टैनिन की मात्रा : फल में, 15%; तथा छाल में, 12%) स्तम्भक गुण पाये जाते हैं। कच्चा फल तीक्ष्ण, तिक्त तथा तेलीय होता है। इस फल का फाँट मुखव्रण तथा कंठ शोथ में गरारे करने के काम आता है। इसका रस व्रणों तथा फोड़ों में लगाने के लिए वड़ा लाभप्रद है। छाल का प्रयोग पेचिश तथा विरामी ज्वर में किया जाता है। बीजों का तेल पेचिश तथा प्रवाहिका में काम आता है। फलों के ईथर निष्कर्ष में एशेरिशिया कोलाइ का प्रतिरोध करने की प्रतिजीवाणु सक्रियता पाई जाती है (Badhwar *et al.*, *Indian For. Leaf.*, No. 72, 1949, 10; Kirt. & Basu, II, 1503; Rama Rao, 239; Joshi & Magar, *J. sci. industr. Res.*, 1952, 11B, 261).

गॉव पर्सिमन का काष्ठ, भूराभ रंग का, घने दानेदार, साधारणतया कठोर तथा भारी (भार, 768-784 किग्रा./घमी.) होता है। इसका उपयोग कभी-कभी भवन-निर्माण तथा नौका बनाने में किया जाता है। इस लकड़ी से प्रोड्यूसर गैस संयन्त्र के लिए उपयुक्त चारकोल (राख, 4.9%) पैदा होता है (Ramaswami *et al.*, *Indian For. Leaf.*, No. 35, 1943, 3; Dey & Varma, *Indian For. Leaf.*, No. 56, 1944, 3).

D. embryopteris Pers.; *D. malabarica* Desr.; *Myllocerus setulifer* Desbr.; *Stromatium barbatum* F.; *Diplodia embryopteridis* Cke.; *Phyllosticta diospyri* Syd.; *Escherichia coli*

डा. पैनिकुलेटा डाल्जल *D. paniculata* Dalz.

ले. - डि. पानिकुलाटा

D.E.P., III, 153; Fl. Br. Ind., III, 570.

सं. - तिदुक; त. - कदंबवरै; मल. - करी, करीवेल्ला, इलकटा.

यह मध्यम आकार का सुन्दर वृक्ष है जिसकी ऊँचाई लगभग 15 मी. तथा घेरा लगभग 38 सेंमी. होता है। यह पश्चिमी घाटों के वर्षा वाले सदाबहार वनों में 900 मी. की ऊँचाइयों तक पाया जाता है। फल हरे तथा अण्डाकार, लगभग 2.5 सेंमी. लम्बे होते हैं।

इस पर प्लैटिपस लैटिफिनिस वाकर, प्लै. अंसिनेटस वीसन तथा जाइलेवोरस टेस्टेसस वाकर नामक वेधक कीट आक्रमण करते हैं (Information from For. Res. Inst., Dehra Dun).

इसकी लकड़ी श्वेताभ भूरी तथा कभी-कभी छोटी-छोटी काली धारियों से युक्त होती है। इसका अंतःकाष्ठ श्यामवर्णी नहीं होता। यह मुलायम तथा साधारण भारी (भार, 736 किग्रा./घमी.) होती है तथा दियासलाई की डिब्बियों के लिए उपयुक्त मानी जाती है (Rama Rao, 242).

इस वृक्ष की पत्तियों का प्रयोग मत्स्य-विष के रूप में किया जाता है। शुष्क फलों का तथा फलचूर्ण का उपयोग जले हुए स्थान पर लगाने के लिए किया जाता है। फल का काढ़ा सुजाक, पैत्तिक रोगों तथा रक्त-विपाकता में और छाल का चूर्ण आमवात तथा व्रण के उपचार में दिया जगन् है (Rama Rao, loc. cit.; Kirt. & Basu, II, 1509). *Phytopy latifinis* Wik.; *P. uncinatus* Beeson; *Xyleborus testaceous* Wik.

डा. फेरिया (विल्डेनो) सिन. मावा वक्सीफोलिया पर्सून *D. ferrea* (Willd.)

ले. - डि. फेरिया

D.E.P., V, 102; Fl. Br. Ind., VII, 551.

वं. - अंगारु; ते. - चिन्नवल्लिजि, पिसिनिका; त. - इरुम्बल्ली, कुरुविची; क. - कसगण, सिम्बलिके; उ. - गौरोखोली, पिदोन्. उड़ीसा - गोआकुली, गुआकुली.

यह एक गुल्मयुत झाड़ी अथवा एक छोटा-सा वृक्ष है जिसकी ऊँचाई 12 मी. तक तथा व्यास 30 सेंमी. का होता है। यह उड़ीसा तथा दक्षिणी प्रायद्वीप के शुष्क सदापर्णी घास वाले जंगलों में पाया जाता है। इसकी लकड़ी भूरे रंग की, गहरी चित्तियों वाली, घने दानों वाली, कठोर, भारी (भार, 928 किग्रा./घमी.) तथा टिकाऊ होती है। इसके उपड़ने की सम्भावना रहती है। जहाँ इसके छोटे आकार के कारण कोई नुकसान न होता हो वहाँ उन कामों में इसका इस्तेमाल किया जाता है। इसका उपयोग नावों के लंगर, दस्ते, शस्त्रों की म्यानों तथा धरनियों आदि के लिए किया जाता है (Burkill, II, 1380).

इसके फल पकने पर गुदेदार तथा खाद्य होते हैं। तमिलनाडु के दुर्भिक्षकालीन खाद्यों में इनकी गणना की जाती है।

Maba buxifolia Pers.

डा. वक्सीफोलिया (ब्लूम) हाईर्न सिन. डा. माइक्रोफिला वेडोम *D. buxifolia* (Blume) Hiern

ले. - डि. वक्सीफोलिया

D.E.P., III, 150; Fl. Br. Ind., III, 559.

त. - चिन्नाथुवरै; क. - कुंचिगनमरा; मल. - इल्लिचिविन्चा, कटूथोवरा.

यह एक वृहत् एवं सुन्दर बेलनाकार तने वाला तथा पुस्तदार वृक्ष है। इसकी ऊँचाई 30 मी. तक तथा व्यास 90 सेंमी. तक होता है। यह दक्षिण भारत में पाया जाता है तथा पश्चिमी घाटों के सदाबहार वनों में उत्तरी कनारा से धावनकोर तक तथा आगे बढ़कर वाइनाड तथा अन्नामलाई तक 1,050 मी. तक की ऊँचाई पर बहुतायत से मिलता है।



चित्र 79 - डाइग्रास्पिरास वक्सीफोलिया

इसकी लकड़ी रक्ताभ भूरे रंग की, घने दानों वाली, चिकनी, साधारण कठोर तथा भारी (भार, 784 किग्रा./घमी.) होती है। यह दियासलाई की डिब्बियाँ तथा छिपटियाँ बनाने के लिए उपयुक्त मानी जाती है। छोटे पीछे सीधे उगते हैं तथा इनसे बहुत अच्छी छड़ियाँ बनाई जाती हैं (Rama Rao, 241)।

स्ट्रोमैटियम बावेंटम नामक वेधक इन वृक्षों में लग जाता है (Information from For. Res. Inst., Dehra Dun).

D. microphylla Bedd.; *Stromatum barbatum* F.

डा. मार्मोरेटा पार्कर सिन. डा. ऊकार्पा श्वेट्स
D. marmorata Parker अंडमान मार्बल वुड पसिमन

ले. — डि. मारमोराटा

D.E.P., III, 153; Fl. Br. Ind., III, 560; Pearson & Brown, II, 698.

त. — वैल्लाइकरंगाली.

अंडमान — पेका-डा; श्रीलंका — कालू कदुम्बेरिया; व्यापार — अंडमान मार्बल वुड, जेन्नावुड.

यह 12–21 मी. तक ऊँचा तथा 0.9 से 1.8 मी. परिधि का साधारण आकार का वृक्ष है। यह सारे अंडमान द्वीपसमूह तथा पश्चिमी घाटों में कोंकण से दक्षिण की ओर तथा श्रीलंका में पाया जाता है।

इसकी लकड़ी धूसर से लेकर भूरे रंग की होती है जो गहरी रेखाओं तथा गहरी और काली पट्टियों के कारण बहुत सुन्दर दिखाई पड़ती है। यह मलिन से कुछ चमकीली चिकनी, भारी (आ. घ., 0.98; भार, 1,008 किग्रा./घमी.) सामान्यतः सीधी काष्ठ रेखाओं वाली महीन तथा समगठन की होती है। चित्ती अथवा धारियों वाली भी चौड़ाई में यदा-कदा ही 15 सेंमी. से अधिक होती है। लकड़ी को सिद्धाना आसान नहीं है क्योंकि उसके टेढ़े होने का भय रहता है तथा सिरों पर महीन फटने उत्पन्न हो जाती हैं और इसके पृष्ठ पर दरारें पड़ने लगती हैं। यह भी कहा जाता है कि ऋतुकर्ण होने पर यह लकड़ी बहुत अधिक सिकुड़ने लगती है किन्तु इस कथन की पुष्टि करना आवश्यक है। अंडमान में सामान्य प्रथा लट्ठों को समुद्र में डाल देने की है, जिससे सम्भवतः विना सुखाए हुए उन्हें जहाजों पर लादा जा सके। सम्भवतः यह अधिक लाभप्रद होगा कि सच्चे आवनूस की तरह ही इस वृक्ष की लकड़ी को काटने के पश्चात् ययासम्भव शीघ्र ही छोटे से छोटे सम्भव आकार में काटकर रूपान्तरित किया जाय।

संरक्षित रखने पर यह लकड़ी टिकाऊ है किन्तु खुली छोड़ देने पर यह साधारण टिकाऊ रहती है। इसे किसी प्रकार के प्रतिरोधी उपचार की आवश्यकता नहीं पड़ती। इसको चीरना तथा समतल बनाना कठिन है किन्तु रंदा के द्वारा इसकी सतह को चिकना बनाया जा सकता है। खराद के काम के लिए यह बहुत उपयुक्त लकड़ी है तथा आवनूस की तरह सिरों पर इसके फटने की सम्भावना नहीं होती। इस पर पालिश बहुत सुन्दर चढ़ती है तथा विरजित लाख की पालिश करने पर इसके सभी रंग निखर आते हैं। यह लकड़ी अल्मारियाँ बनाने, खुदाई करने, खराद का काम करने, जड़ाई करने, तस्वीरों के फ्रेम तथा लकड़ी के सजावटी वक्स बनाने जैसे सज्जा कार्यों के लिए प्रयोग में लाई जाती है। यह दृश पृष्ठों, मुड़ी हुई छड़ियों, उत्तरों के खोल तथा अन्य छोटी-छोटी वस्तुओं के बनाने के लिए भी उपयुक्त है। लकड़ी की जड़ाई तथा अल्मारियाँ बनाने में विलक्षणता लाने के लिए यह लकड़ी विशेषरूप से उपयुक्त है। यह संसार की सर्वाधिक सजावटी तथा आकर्षक लकड़ियों में से एक है (Pearson & Brown, II, 700).

अंडमान से सीमित परिमाण में ही यह लकड़ी उपलब्ध हो पाती है तथा लट्ठों का औसत आकार 3–5.4 मी. × 0.6–0.9 मी. की परिधि का है। इसका मूल्य 215 रु. से 416 रु. प्रति टन (1.8 घमी.) तक है (Information from For. Dep., Andamans).

अंडमान मार्बल वुड पसिमन को कभी-कभी भूल से डा. कुर्जाइ हाईन भी बताया जाता है, जो वास्तव में अंडमान में ही पाई जाने वाली इससे सम्बन्धित एक जाति है।

D. oocarpa Thw.; *D. kurzii* Hiern

डा. मेलानोक्सिलोन रॉक्सवर्ग सिन. डा. टुप्रु दुखनन-हैमिल्टन *D. melanoxylon* Roxb. कारोमंडल एवोनी पसिमन

ले. — डि. मेलानोक्सिलोन

D.E.P., III, 147; C.P., 499; Fl. Br. Ind., III, 564.

सं. — दीर्घपत्रक; हि. — तेंदू, तिबुरनी; म. — तेंदू, तुमरी; गु. — तमरुग; ते. — मंचिगता, नल्लतुमिकी, तुमिकी; त. — कारई, कहन-दुंबी, तुंबी; क. — अवनसि, तुमरि, मल्लाड़ि, तुम्बुरु; मल. — कारी; उ. — केंदू.

व्यापार — एवोनी.

यह 18 से 24 मी. तक ऊँचा तथा 2.1 मी. तक की परिधि वाला, मंडोले से लेकर बड़े आकार का वृक्ष है, जिसका तना अनुकूल परिस्थितियों में 4.5 से 6 मी. ऊँचा, बेलनाकार तथा सीधा होता है इसके पत्ते चमिल तथा आकार एवं रूप में भिन्न होते हैं।

डा. मेलानोक्सिलोन समस्त भारतीय प्रायद्वीप में तथा उत्तर की ओर बिहार, मध्य प्रदेश तथा महाराष्ट्र तक पाया जाता है। यह इन क्षेत्रों के शुष्क, मिले-जुले तथा पर्णपाती जंगलों के सर्वाधिक अभिलाक्षणिक वृक्षों में से है। यह साल के वनों में भी पाया जाता है और जब साल वनों की मिट्टी अनुर्वर होने लगती है तो यह प्रायः साल का स्थान ले लेता है। प्रायद्वीप में इसका सर्वोत्तम विकास कार्यांतरित चट्टानों पर होता है।

इसके प्राकृतिक आवास के लिए छाया में अधिकतम ताप 40.5–48.3° तथा न्यूनतम ताप –1.1° से 12.8° तक तथा सामान्य वार्षिक वर्षा, 50 से 150 सेंमी., की आवश्यकता होती है। शिशु पादप साधारण छाया सहन कर लेते हैं किन्तु बाद में विकास के लिए अधिक प्रकाश की आवश्यकता होती है। पौधे तुषार तथा सूखे का तो प्रतिरोध करने में समर्थ हैं किन्तु अधिक नमी के शिकार हो जाते हैं।

वनरोपण के लिए यह जाति अत्यन्त महत्वपूर्ण है। यह मुंडा करने पर बहुत अच्छी तरह से फलकती है किन्तु फूटी शाखाओं की वृद्धि मन्द होती है। मध्य प्रदेश में यह अनुभव हुआ है कि वृक्ष में कल्ले फूटने की शक्ति अप्रैल के बाद कम हो जाती है। अप्रैल (100) की तुलना में कल्ले फूटने का प्रतिशत मई में 30 तथा अगस्त में शून्य है। इस वृक्ष की विशेषता मूल भूस्तारियों का विस्तृत उत्पादन है तथा अपनी सहिष्णुता और चराई से हानि न पहुँचने की विशेषता के कारण यह अच्छी तरह से जम जाता है। अतः साफ किए गए जंगलों में इस जाति के न रहने पर भी कई वर्षों तक भूस्तारी निकलते रहते हैं। जिन क्षेत्रों में इन जातियों का उत्पादन बन्द कर दिया जाता है, वहाँ भी बहुत शीघ्र ही भूस्तारियों का जनन प्रारम्भ हो जाता है और यदि बीच में कोई विघ्न न पड़े तो इनकी पूरी फसल तैयार हो जाती है। शायद ही कोई अन्य भारतीय वृक्ष संख्या, सहिष्णुता तथा भूस्तारियों के जनन में डा. मेलानोक्सिलोन की तुलना कर सकता हो।

सहज परिस्थितियों में बीज वर्षा काल में अंकुरित होने लगते हैं तथा पौधों का जनन तेजी से होता है। कृत्रिम जनन के अनुभव से पता चलता है कि बड़ी होने के कारण मूसलाजड़ से नर्सरी में उगाई गई पौधों का प्रतिरोपण संतोषप्रद नहीं हो पाता। सबसे उत्तम विधि पौधे को लम्बी तथा कम चौड़ी टोकरियों में उगाकर दूसरी वर्षा हो जाने पर उन्हें प्रतिरोपण के बजाय टोकरियों सहित भूमि में गाड़ देने की है। पंक्तियों में इनकी प्रत्यक्ष बुवाई अधिक लाभप्रद है। पहले दो-तीन वर्ष इन पंक्तियों की निराई करते रहना चाहिये। खेत की अन्य फसलों के साथ इनके प्रवर्धन की इस विधि का प्रयोग वरार में अमरावती वनखंड में किया गया है। इसकी वृद्धि की दर तथा छँटाई के बाद फल स्थूणन-वृद्धि भी धीमी रहती है (Troup, II, 647)।

डा. मेलानोक्सिलोन सागौन जैसी अन्य मूल्यवान जातियों के साथ उगता है तथा इसके लिए किसी विशेष वनवर्धकीय क्रिया की आवश्यकता नहीं है। इसे एक उत्तम जंगली लकड़ी माना जाता है, इसलिये जब वृक्षों को काटा जाता है तो घटिया जातियों की अपेक्षा इसे सुरक्षित रखते हैं। महाराष्ट्र में केवल परीक्षाणात्मक स्तर पर ही इस जाति का रोपण-प्रयोग किया गया है (Information from For. Dep., Bombay State)।

इस जाति पर प्लोकेडेरस फेरेजिनियस लिनियस, स्ट्रोमेटियम वाबॅटम तथा जाइलेबोरस नाक्सियस सैम्पसन नामक वेधक कीट तथा हाइपोकेला रोस्ट्रेटा और लैमिडा कार्बोनीफेरा मायर नामक विषत्रणकारी कीट पाए जाते हैं। छोटे पौधे के पत्तों को प्रायः साइला औन्सोलीटा वकटान नामक शल्ककीट से क्षति पहुँचती है। डोडालिया प्लैविडा, लैजाइडिस रेपेंडा, स्टेरियम लोवॅटम तथा थैलेफोरा जाति के वैसिडियोमाइसिट कवक भी इस पर लगते पाये गये हैं (Information from For. Res. Inst., Dehra Dun; Gamble, 462)।

डा. मेलानोक्सिलोन का रसकाष्ठ हल्के गुलाबी-भूरे रंग का होता है और आयु के बढ़ने पर हल्के गुलाबी कथई रंग का हो जाता है। इसका काले रंग का अंतःकाष्ठ बाहरी रसकाष्ठ से सर्वथा अलग तथा लाल अथवा कथई धारियों से युक्त होता है। यह कुछ-कुछ चमकदार, चिकना, भारी (आ. घ., 0.79-0.87; भार, 816-896 किग्रा./घमी.), अरीय तल में सीधी अथवा लहरियादार रेखाओं वाला, सामान्यतः सुन्दर तथा इकसार होता है। वृद्धि वलय या तो अत्यन्त अस्पष्ट होते हैं या विलकुल ही नहीं होते।

अनुकरण परीक्षणों से पता चलता है कि वृक्ष काटने के बाद तुरन्त लट्टे बनाने और फिर छाजन के नीचे खुले चट्टे लगाने से अच्छी लकड़ी प्राप्त होती है। काष्ठ को सिझाना कठिन नहीं है किन्तु काले भागों के सिरों पर फट जाने तथा सतह पर लहरियादार दरारें पड़ जाने की आशंका रहती है (Pearson & Brown, II, 703)।

डा. मेलानोक्सिलोन सागौन से भारी तथा कठोर होता है। काले तथा हल्के, दोनों ही रंगों की लकड़ी टिकाऊ होती है किन्तु हल्के रंग की लकड़ी पर वेधक कीट के आक्रमण की आशंका रहती है। यदि भूमि के भीतर गड्ढे में रहने वाले खम्भे न बनाने हों तो इसे किसी परिरक्षी उपचार की जरूरत नहीं होती। इमारती लकड़ी के रूप में इसकी आपेक्षिक उपयुक्तता के मान सागौन के उन्हीं मानों की प्रतिशतता के रूप में इस प्रकार हैं : भार, 120; कड़ी के रूप में दृढ़ता, 75; कड़ी के रूप में दुर्न्यता, 75; खम्भे के रूप में उपयुक्तता, 75; आघात प्रतिरोध क्षमता, 115; आकृति स्थिरण क्षमता, 60; अपरूपण, 110; और कठोरता, 115 (Pearson & Brown, II, 706; Trotter, 1944, 96, 244)।

ताजी लकड़ी को बिना किसी कठिनाई के काटा जा सकता है, किन्तु उपचारित लकड़ी को काटना कठिन है। इस पर बहुत अच्छी पालिश चढ़ती है किन्तु इसके पहले पतली पालिश करके इसके दानों को भरना आवश्यक है। काले भागों में नक्काशी की जा सकती है, किन्तु भंगुर होने के कारण काफी सावधानी की आवश्यकता है। लकड़ी के कठोर होने के कारण इस पर गहरी खुदाई का काम बहुत ही कम किया जाता है।

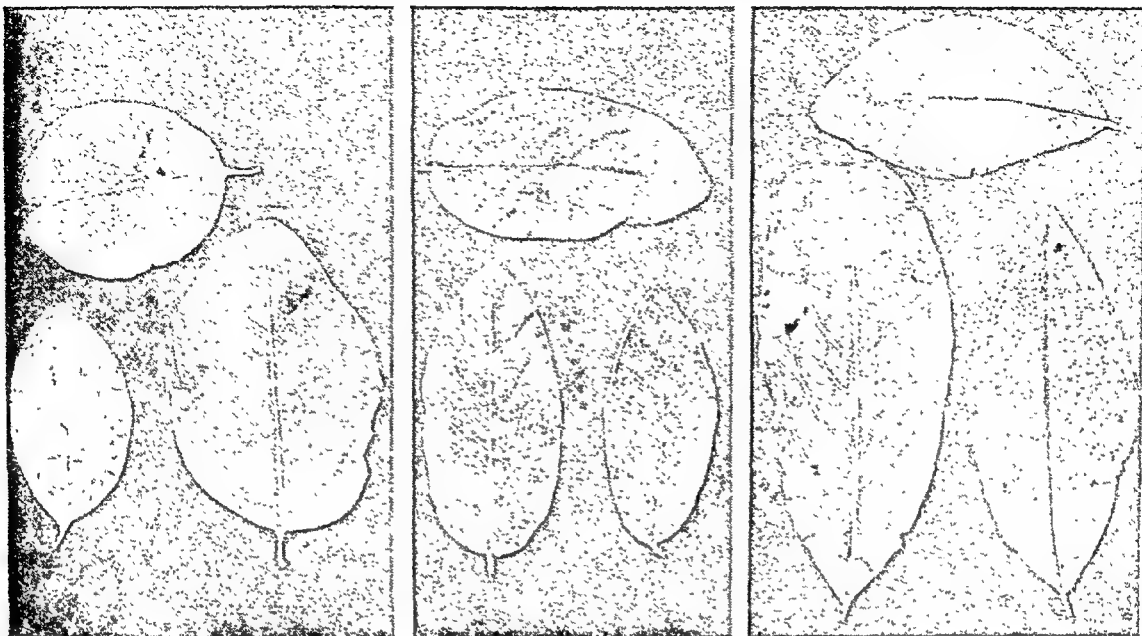
रसकाष्ठ का हल्का भाग काले अंतःकाष्ठ की ही तरह मूल्यवान समझा जाता है और इसे सच्चे आवनूस की जगह उपयोग में लाते हैं। वल्लियों, घरनों, औजारों की मूठों और डंडों तथा गाड़ियों के खूंटे के लिए रसकाष्ठ का व्यापक प्रयोग किया जाता है। यह लकड़ी खनन औजारों, विलियर्ड के डंडों, नलकार के औजारों तथा कृषि उपकरणों के लिए उपयुक्त है। यह ऐसी अनेक प्रकार की वस्तुएँ, जिनमें मजदूती, लचक तथा चमक की आवश्यकता होती है, बनाने के लिए भी उपयोगी है। शटल बनाने के लिए जिन भारतीय लकड़ियों पर परीक्षण किया गया है उनमें इसका रसकाष्ठ सर्वोत्तम सिद्ध हुआ है। इसका जीवनकाल आयातित इमारती लकड़ी से लगभग आधा है। इस लकड़ी का प्रयोग खनन-कार्यों तथा खानों में टेकों के लिए भी किया जाता है। काली लकड़ी विलियर्ड के डंडों की मूठें, पच्चीकारी वाली छड़ियाँ, बुरा की लकड़ियाँ, तस्वीरों के चौखटे, तराजू के डंडे, कंधे, खिलौने तथा सुंघनी की डिब्बियाँ बनाने के लिए भी इस्तेमाल होती है (Pearson & Brown, loc. cit.; Krishnamurthy Naidu, 64; Rehman & Chheda Lal, Indian For. Bull., N.S., No. 121, 1943; Trotter, 1944, 214)।

अपने क्षेत्रों में व्यापक रूप से पाये जाने के कारण डा. मेलानोक्सिलोन की लकड़ी पोल के आकार तथा लट्टों के रूप में काफी परिमाण में उपलब्ध होती है। सामान्यतः आवनूस का आकार शायद ही 20 सेंमी. व्यास से बड़ा होता हो लेकिन बहुत बड़े वृक्षों से 30 सेंमी. व्यास तक के खंड मिल जाते हैं। बम्बई राज्य में इस लकड़ी का कुल वार्षिक उत्पादन 280-336 घमी. अनुमानित किया गया है। वृक्ष की भीतरी काली लकड़ी अपेक्षतया बड़े आकार में अच्छी तथा संतोषजनक नहीं मिलती है। जंगलों के विन्नी केन्द्रों पर इस लकड़ी के लट्टों का मूल्य 62.50 रु. से लेकर 89 रु. प्रति घमी. तथा बांजारों में 143 रु. से लेकर 160 रु. प्रति घमी. है। हल्की और छोटी काली लकड़ियाँ टूटी-फूटी न होने पर 428 रु. से 570 रु. प्रति घमी. तक मिलती हैं (Information from For. Dep., Bombay State)।

डा. मेलानोक्सिलोन, एक अच्छी ईंधन लकड़ी है। कैलोरी मान : रसकाष्ठ, 4,957 कै., 8,923 ब्रि. थ. इ.; अंतःकाष्ठ, 5,030 कै., 9,055 ब्रि. थ. इ.; राख, 2.87% (Indian For., 1948, 74, 279; Krishna & Ramaswami, loc. cit.; Verma & Dey, Indian For. Leaf., No. 28, 1944, 3)।

डा. मेलानोक्सिलोन के पत्ते बीड़ी बनाने के लिए मूल्यवान समझे जाते हैं। इस कार्य के लिए उनकी गन्ध, लचक तथा क्षय न होने के गुण विशेषरूप से उपयोगी हैं। कटी-छँटी शाखों से बीड़ी लपेटने के बहुत अच्छे पत्ते प्राप्त होते हैं और इन्हें ताजा ही तोड़ लिया जाता है। व्यापार में हिमाचल प्रदेश से प्राप्त होने वाले पत्ते अधिक अच्छे माने जाते हैं (Jagdamba Prasad, Indian For. Leaf., No. 60, 1944)।

इसका फल गोलाकार (2.5-3.75 सेंमी. व्यास) तथा खाद्य है। शुष्क फलों तथा फलचूर्ण के विश्लेषण से निम्नलिखित मान प्राप्त हुये : ईथर निष्कर्ष, 2.1; ऐल्कोहल निष्कर्ष, 6.3; जलीय निष्कर्ष,



चित्र 80 - डाइआस्पिरास मेलानोसिस्टोन - बोड़ी पत्तियों के प्रकार

4.4; ऐल्बमिनी पदार्थ, 16.4; कार्बनिक अवशेष, 65.1; तथा राख, 5.7%। ये वातानुलोमक तथा स्तम्भक होते हैं। सूखे फल मूत्र, त्वचा तथा रक्तसम्बन्धी रोगों में लाभ पहुँचाते हैं। इसकी छाल स्तम्भक होती है तथा इसका काढ़ा प्रवाहिका एवं अग्निमांश में लाभकारी होता है। इसका तनु निष्कर्ष नेत्रों के लिए कपाय लोशन के रूप में प्रयुक्त होता है (Dymock, Warden & Hooper, II, 368; Kirt. & Basu, II, 1505)।

इस वृक्ष में टैनिन का वितरण इस प्रकार है : छाल, 19; फल, 15; अवपके फल, 23% (Badhwar et al., Indian For. Leaf., No. 72, 1949, 10)।

D. tupa Buch. Ham.; *Plocaederus ferrugineus* Linn.; *Stromatium barbatum* F.; *Xyleborus noxius* Samps.; *Hypocala rostrata* F.; *Lamida carbonifera* Meyr.; *Psylla obsoleta* Buckton; *Daedalea flavida* Lev.; *Lenzites repanda* (Mont.) Fr.; *Stereum lobatum* Fr.; *Thelephora* sp.

डा. मोंटेना रॉक्सवर्ग *D. montana* Roxb. माउंटेन पसिमन ले. - डि. मानदाना

D.E.P., III, 150; C.P., 499; Fl. Br. Ind., III, 555.

सं. - तमाल; हि. - विस्तेडु, तेंडु; वं. - बंगाव; म. - गोइंडु, लिमरु; गु. - तिवराव; ते. - एडाय-गता, गातुगता; त. - वक्कार्ण, वक्कनाटन; क. - जंगड़गटि, वालागुणिके, विल्कुणिका; उ. - भद्रिका.

पंजाब - हिरक-केंडु; मध्य प्रदेश - कदल, कंचाज.

यह एक झाड़ी अथवा एक मध्यम आकार का काफी परिवर्तनशील-पर्णपाती और प्रायः कंटीला वृक्ष है जो भारत के अधिकांश भागों में पाया जाता है किन्तु कहीं भी यह सामान्य नहीं है। कभी यह 24 मी. तक ऊँचा और 60 सेंमी. तक के व्यास का होता है।

सहज परिस्थितियों में बीज-अंकुरण वर्षा ऋतु में होता है। पौधे काफी घनी छाया में भी बढ़ती रहती हैं। बीजों द्वारा प्रवर्धन किया जा सकता है। जब पौधे 30 सेंमी. ऊँची हो जाती हैं तो उन्हें अच्छी मिट्टी में रोप दिया जाता है। गहरी, अवमृदु, चट्टानी भूमि इसके लिए उपयुक्त है। छँटाई के बाद पौधों से खूब कल्ले फूटते हैं। जहाँ इसे ईंधन के लिए लगाना होता है वहाँ 3-4.5 मी. का अन्तर छोड़कर लगाया जा सकता है (Troup, II, 655; Cameron, 176)।

इस जाति से सम्बन्धित नाशक-कीट इस प्रकार हैं : मार्गेरोनिआ लैटिकोस्टैलिस गुएने; ग्रैमोडिस जियोमेडिका; हाइपोकैला वाइआर-कुएटा वाकर; हा. मुराई बटलर; हा. रोस्ट्रेटा; हा. सवसेंदुरा गुएने; प्रोडेनिया लिदुरा नामक विषवणकारी तथा स्ट्रोमेटियम बावेंडम नामक वेधक। इस वृक्ष के पत्तों पर मेलियोला डायोस्पिराइ नामक एस्कोमाइसिट कवक लगा देखा गया है (Information from For. Res. Inst., Dehra Dun; Butler & Bisby, 28)।

इसकी लकड़ी भूरी तथा प्रायः बीच-बीच में पीली तथा कल्यई रंग की होती है जिसमें छोटी-छोटी गहरे रंग की धारियाँ पड़ी रहती हैं। यह महीन दानेदार होती है। यह कभी मूलायम, तो सामान्य से कठोर, पुष्ट तथा भारी (भार, 704-800 किग्रा./घमी.) होती है। इस पर काफी अच्छी पालिश चढ़ती है। यह फर्नीचर की छोटी-छोटी चीजें बनाने के काम आती हैं। यह गाड़ियाँ, खेती के औजार तथा घरेलू चीजें बनाने के भी काम आती हैं। यह घरनों, दियासलाई की

डिब्बियों के बनाने तथा नक्काशी के लिए भी उपयुक्त है। यह बढ़िया ईधन है : कैलोरी मान, 5,125 कै., 9,225 ब्रि. थ. इ.; डा. मोंटेना से कोई काला अंतःकाष्ठ नहीं प्राप्त होता (Cameron, 175; Naidu, 66; *Indian For.*, 1948, 74, 279; Krishna & Ramaswami, loc. cit.).

इसका फल (1.75-3.0 सेंमी. व्यास) तिव्र होता है तथा इसमें से अग्रिय गन्ध निकलती है। फोड़ों में इसका बाह्य लेप किया जाता है। शुष्क फलों तथा फलचूर्ण के विश्लेषण से निम्नलिखित मान प्राप्त हुये : ईथर निष्कर्ष, 10; ऐल्कोहल निष्कर्ष, 6.8; जलीय निष्कर्ष, 6.3; ऐल्बुमिनी पदार्थ, 12.5; कार्बनिक अवशेष, 58.6; तथा राख, 5.8%। पिसी पत्तियाँ तथा फल मछली को फँसाने के काम आते हैं। मुलायम शाखाओं तथा पत्तों का उपयोग चारे के रूप में किया जाता है (Chopra et al., *J. Bombay nat. Hist. Soc.*, 1941, 42, 854; Kirt. & Basu, II, 1501; Dymock, Warden & Hooper, II, 369).

डा. कार्डिफोलिया रॉक्सवर्ग को कुछ व्यक्ति डा. मोंटेना की ही किस्म मानते हैं। इसके फल डा. मोंटेना से कुछ बड़े होते हैं। इसकी लकड़ी का उपयोग भी उसी प्रकार करते हैं।

Margaronia laticostalis Guen.; *Grammodes geometrica* F.; *Hypocala biarcuata* Wlk.; *H. moorei* Butler; *H. rostrata* F.; *H. subsatura* Guen.; *Prodenia litura* F.; *Meliola diospyri* Syd.

डा. लोटस लिनियस *D. lotus* Linn. डेटप्लम पर्सिमन

ले. - डि. लोटस

D.E.P., III, 146; C.P., 499; Fl. Br. Ind., III, 555.

हि. - अमलोक.

यह लगभग 13.5 मी. ऊँचा, एक पर्णपाती वृक्ष है जो उत्तरी-पश्चिमी हिमालय में 600 से 1,800 मी. तक की ऊँचाई पर पाया जाता है। इसके फल नील-लोहित, गोलाकार अथवा अण्डाभ होते हैं जिनका व्यास 1.3-1.9 सेंमी. होता है। ये खाने में मीठे होते हैं तथा ताजे या सूखे खाए जाते हैं। कभी-कभी श्वेत बनाने में भी इनका उपयोग किया जाता है। फ्रांस में इनका प्रयोग आधे सड़ जाने पर किया जाता है।

इसके फलों में दैनिक अम्ल, प्रतीप गर्करा (11.25%) तथा मैलिक अम्ल (0.38%) रहते हैं। कच्चे फलों को 72 घंटे तक एथिलीन के साथ रखने से उनमें दैनिक अम्ल का ह्रास हो जाता है (Wehmer, II, 943; *Chem. Abstr.*, 1941, 35, 3288).

इसकी लकड़ी घूसर रंग की, सघन दानेदार तथा मध्यम कठोर होती है। यह कहीं भी इतनी बहुतायत में पैदा नहीं होता कि इसका उपयोग इमारती लकड़ी के रूप में हो सके।

काकी पर्सिमन की कलम लगाने अथवा उसका छल्ला चश्मा चढ़ाने के लिए डा. लोटस का मूलवृत्त के रूप में प्रयोग किया जाता है। कलम वाले वृक्ष शताब्दियों तक फल देते रहते हैं (Popenoc, 362).

डा. सिलवेटिका रॉक्सवर्ग *D. sylvatica* Roxb.

ने. - डि. सिलवाटिका

D.E.P., III, 155; Fl. Br. Ind., III, 559.

तं. - गदालुती, गदा; क. - अक्का सारली, विनिसारली; उ. - सालिज्या, मोधुरो सालिज्या.

उड़ीसा - कालिचा कौचिया.

यह एक मध्यम आकार का, कभी-कभी पुश्तेदार वृक्ष है, जिसकी ऊँचाई 18 मी. तथा परिधि 1.5 मी. तक होती है। यह उड़ीसा, दक्षिण भारत तथा श्रीलंका में पाया जाता है। इस के फल श्वेत एवं सुगंधयुक्त तथा फल 1.2 से 1.8 सेंमी. व्यास के, गोलाकार होते हैं। ये खाद्य हैं (Bourdillon, 218; Lewis, 264).

इसकी लकड़ी काली चित्तियों वाली, घूसर रंग की होती है जिसके बीच में अनियमित काले धब्बे पाये जाते हैं। यह साधारण रूप से कठोर तथा भारी (भार, 800 किग्रा./घमी.) होती है तथा इसे सजावटी कार्यों के लिए प्रयुक्त किया जाता है।

डा. एफिनिस थ्वेट्स एक छोटा अथवा मध्यम आकार का वृक्ष है जो तिन्नेवेली पहाड़ियों तथा पश्चिमी घाटों में पाया जाता है। अंतः-काष्ठ काला किन्तु आकार में छोटा होता है। इसकी लकड़ी भवन-निर्माण-कार्यों के लिए उपयुक्त है (Bourdillon, 220).

डा. कंडोलियाना वाइट झाड़ी अथवा साधारण आकार का वृक्ष है जो पश्चिमी घाटों के किनारे सदावहार वनों में पाया जाता है। इसका काष्ठ कठोर तथा भारी (भार, 864 किग्रा./घमी.) होता है। मूल की छाल का काड़ा सृजन तथा आमवात के लिए प्रयुक्त होता है (Chopra, 484).

डा. बवेसिंटा थ्वेट्स (कैलामण्डर एवोनी पर्सिमन) श्रीलंका का वृक्ष है, जिसे भारत में परीक्षात्मक स्तर पर उगाया जा रहा है। इसका काष्ठ (भार, 864 किग्रा./घमी.) भूरा-कथई तथा काले रंग की चौड़ी अथवा छोटी-छोटी चित्तियों से पूर्ण होता है। इसकी सतह को चिकना और चमकदार बनाया जा सकता है। यह एक मूल्यवान सजावटी लकड़ी है, किन्तु अब बहुत कम उपलब्ध है (Lewis, 263).

डा. क्रूमेनेटा थ्वेट्स 30 से 45 मी. ऊँचा तथा जड़ के पास 1.2-1.5 मी. व्यास वाला एक बड़ा वृक्ष है, जो मध्य प्रदेश तथा उत्तरी कनारा में पाया जाता है। इसकी लकड़ी रक्ताभ कथई, घने दानेदार, कठोर तथा भारी (भार, 864 किग्रा./घमी.) होती है। इसके वर्षवलय बड़े स्पष्ट होते हैं। बड़े से बड़े वृक्ष में भी आवनूस का अंतः-काष्ठ नहीं रहता, किन्तु या तो शाखाओं के टूटने या श्रौजार से काटने के कारण तने में बने हुए कटावों के चारों ओर की लकड़ी, डाइम्रास्पिरास की अनेक जातियों के समान ही आवनूस की तरह काली हो जाती है (Talbot, II, 177).

डा. पाइरोकार्पा मिक्वेल ग्रंडमान द्वीप (वैर. ग्रंडमानिका कुर्ज) में पाया जाने वाला एक सदाहरित वृक्ष है, जिसके फल खाद्य होते हैं तथा जिनसे लिनिन के लिए एक लाल रंजक प्राप्त किया जाता है। इसका काष्ठ रक्ताभ कथई, साधारणतः कठोर तथा भारी (भार, 800-864 किग्रा./घमी.) होता है। इमारती लकड़ी के रूप में इसकी आपेक्षिक उपयुक्तता के मान सागौन की लकड़ी के उन्हीं गुणों की प्रतिशतता के रूप में इस प्रकार हैं : भार, 125; कड़ी के रूप में दृढ़ता, 90; कड़ी के रूप में दुर्नम्यता, 90; लम्बे के रूप में उपयुक्तता, 85; आघात प्रतिरोध क्षमता, 150; अपरूपण, 135; कठोरता, 135 (Gamble, 463; Trotter, 1944, 244).

उत्तर-पूर्वी भारत में प्राप्त होने वाली डा. स्ट्रिक्टा रॉक्सवर्ग, डा. रंमोप्लोरा रॉक्सवर्ग तथा डा. लेसिफोलिया रॉक्सवर्ग तथा दक्षिण भारत में पैदा होने वाली डा. फोलियोलीसा कालिचा तथा डा. ओर्वेलि-फोलिया वाइट अन्य भारतीय जातियाँ हैं जिनसे भवन-निर्माण के उपयुक्त लकड़ी प्राप्त होती है। कुछ जातियों के फल खाद्य हैं।

D. affinis Thw.; *D. candolleana* Wight; *D. crumenata* Thw.; *D. pyrrhocarpa* Miq.; *D. quacsita* Thw.; *D. stricta* Roxb.; *D. ramiflora* Roxb.; *D. lanceaefolia* Roxb.; *D. foliolosa* Wall.; *D. ovalifolia* Wight

डाइएक्टमिस कुंथ (प्रेमिनी) DIECTOMIS Kunth

ले. — डिक्टोमिस

Fl. Br. Ind., VII, 167; Haines, 1042.

यह एक प्ररूपी वंश है जिसमें डा. फेस्टीगिएटा हम्बोल्ट, वोनप्लांड और कुंथ सिन. एंड्रोपोगॉन फेस्टीगिएटस श्वार्टज इस वंश की सीधी उगने वाली बहुवर्षी घास है। इसके पौधे 30-60 सेंमी. ऊँचे और पत्तियाँ रेखाकार होती हैं। यह बिहार और उड़ीसा में पायी जाती है। यह उड़ीसा में समुद्र-तटवर्ती भागों को छोड़कर सूखी पहाड़ियों और खुले बनों तथा पथरीले क्षेत्रों में सामान्य रूप से सर्वत्र पायी जाती है और प्रारम्भिक अवस्था में यह पशुओं के लिए एक उत्तम चारा है (Mooney, 190; Dalziel, 525).

Gramineae; *D. fastigiata* H. B. & K.; *Andropogon fastigiatus* Sw.

डाइऐथस लिनियस (कैरियोफिलेसी) DIANTHUS Linn.

ले. — डिआन्थस

यह मूलतः उत्तरी शीतोष्णकटिबंध की, विशेषकर भूमध्यसागरीय क्षेत्र की, छोटी वृष्टियों का एक वंश है। इसकी अनेक जातियाँ अपने सजावटी फूलों के लिए महत्वपूर्ण समझी जाती हैं। भारत में इसकी उगायी जाने वाली जातियों के अलावा 9 जंगली जातियाँ पायी जाती हैं।

इस वंश में भारतीय वगीचों के कुछ ऐसे सुन्दरतम पौधे हैं जिनमें सुगन्धयुक्त या सुगन्धहीन इकहरे या दुहरे दलपुंज वाले फूल लगते हैं। इनके फूल सामान्यतः गुलाबी या लाल रंग के होते हैं, परन्तु सफ़ेद या नील-लोहित रंग के फूल भी वहुधा मिलते हैं। डाइऐथस की अधिकांश जातियाँ सदाबहार होती हैं, और जल-निकास की अच्छी व्यवस्था वाली दुमट और बलुआ मिट्टियों में खूब फूलती-फलती हैं। उन्हें बीज, कलम या दाव कलम द्वारा सुगमता से उगाया जा सकता है।

Caryophyllaceae

डा. कैरियोफिलस लिनियस *D. caryophyllus* Linn.

कानेशन, क्लोवपिक, पिकोटी, थ्रेनैडीन

ले. — डि. कारिओफिल्लस

D.E.P., III, 101; Fl. Br. Ind., I, 214.

यह एक सीधी उगने वाली बहुवर्षी वृत्ती है जिसके तने और शाखाएँ गांठदार और ऊँचाई 45-60 सेंमी. होती है। यह कश्मीर में 1,500-2,100 मी. की ऊँचाई तक पाई जाती है। इसे सामान्यतः वगीचों में, विशेषकर पहाड़ों पर, उगाया जाता है। इसके तने शाखाओं वाले, कठोर और नीचे की ओर काष्ठीय; फूल टहनियों के सिरे पर, लव्हे पुष्पवृत्तों पर होते हैं। उनका रंग गुलाबी, नील-लोहित या सफ़ेद होता है, और उनमें से लौंग-जैसी सुगन्ध आती है।

कानेशन के फूलों में खेती द्वारा तेज सुगन्ध पैदा की गयी है। इसकी वनजातियों के फूल लगभग सुगन्धहीन होते हैं। यह उल्लेखनीय है कि

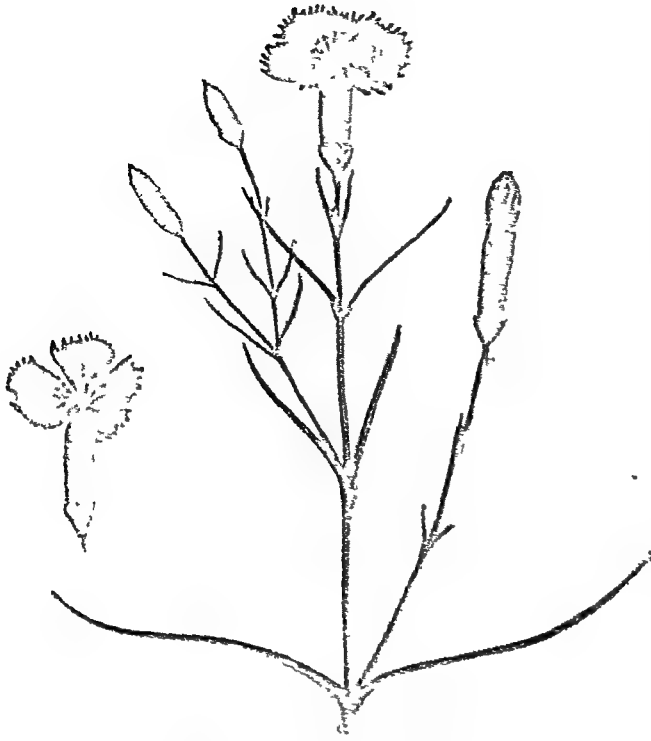
वगीचों में उगायी जाने वाली कुछ अति विशिष्ट प्रकार की किस्मों के फूल यद्यपि चटक रंग के होते हैं, परंतु उनमें सुगन्ध विल्कुल नहीं होती। फूलों के रंग, रूप और आकार के अनुसार कुछ पुष्पोत्पादकों ने इसकी लगभग 2,000 किस्मों को विलग किया है। उनमें से कुछ वौनी और घनी उगने वाली हैं, वे शैल उद्यानों के लिए अति उपयुक्त हैं। ये पौधे रेत या ऐसी सामग्री में भलीभाँति उगाये जा सकते हैं जिसमें अवभूमि सिंचाई द्वारा पौधों की आवश्यक भोजन-सामग्री पहुँचती रहे (Bailey, 1947, I, 997; Harrison, J. *Minist. Agric.*, 1951, 58, 284).

कानेशन के पौधे अक्सर में कूंडों में बीज बो कर उगाये जा सकते हैं। कूंडों में पानी के निकास का प्रबन्ध ठीक होना चाहिए। आवश्यकतानुसार कूंडों की सिंचाई करते रहना चाहिये जिससे उनकी मिट्टी केवल नम बनी रहे। पौधे जब लगभग 5 सेंमी. बड़े हो जाएँ, तब उन्हें तैयार की हुई क्यारियों में 15-22.5 सेंमी. के अन्तर पर लगाया जा सकता है। यदि आवश्यकता हो तो, उन्हें गमलों में भी लगाया जा सकता है। ऐसे गमलों में बराबर-बराबर भाग में दुमट मिट्टी, सड़ी हुई पत्तियों की खाद और भली-भाँति सड़ी हुई गोबर की खाद और थोड़ा-सा रेत मिलाकर भर लेना चाहिये। गमलों में लगाये हुये पौधे बढ़कर जब 15 सेंमी. ऊँचे हो जायें तब उनकी चोटी को काट देना चाहिये। इससे उनमें शाखाएँ तेजी से फूटती हैं। इस पौधे को कैल्सियम की आवश्यकता अधिक होती है इसलिए इसकी क्यारियों और गमलों में वसंत-ऋतु के आरम्भ में आमतौर पर पिसा हुआ चूना या खड़िया मिट्टी डाली जाती है।

कानेशन के पौधे उगाने की सबसे अधिक प्रचलित विधि कलमों द्वारा पौधे लगाने की है। फूल देने वाली टहनियों के बीच के भाग से काटी गई कलमें सबसे अच्छी रहती हैं। साफ रेत में लगाने से कलमों (5-10 सेंमी. लम्बी) से जड़ें आसानी से निकल आती हैं, और वे 4-5 सप्ताह में गमलों में लगाने के लिए तैयार हो जाती हैं। नई कलमें लगाने के लिए हमेशा नया रेत इस्तेमाल करना चाहिये। पौधे तैयार करने के लिए गमलों में दाव कलम लगायी जा सकती है या टहनियाँ झुकाकर सीधे क्यारी की मिट्टी में ही दबायी जा सकती हैं। सामान्यतः कलम के लिए टहनी के बीच का ऐसा भाग चुना जाता है जिसमें बीच में एक जोड़ या गाँठ हो। दावों को दो महीने बाद काटकर मूल पौधों से अलग किया जा सकता है (Firminger, 614; Gopalaswamiengar, 431).

कानेशन पौधों में कुछ फफूंदजात रोग लग जाते हैं। इन रोगों की रोकथाम के उपाय के रूप में पौधों पर बोर्डो मिश्रण का छिड़काव करने की संस्तुति की गयी है। मिट्टी को भली-भाँति जीवाणुरहित करने से भी ये रोग आगे नहीं बढ़ पाते। प्रायः तीसरे वर्ष ये रोग भारी हानि पहुँचाते हैं अतः इन रोगों को फैलने से रोकने के लिए दो वर्ष बाद फसल साफ कर दी जाती है। कानेशन को हानि पहुँचाने वाले नाशकजीवों में ऐफिड, लाल मकड़ी, माइट, थ्रिप और टोरट्रिक्स पतंगे प्रमुख हैं। एच-ई-टी-पी, एजोवैजीन, निकोटीन सल्फेट और डी-डी-टी जैसे कीटनाशियों से इन कीड़ों की रोकथाम की जा सकती है (Bailey, 1947, I, 671; Harrison, loc. cit.).

फ्रांस, हालैंड, इटली और जर्मनी में फूलों के लिए कानेशन की बड़े पैमाने पर खेती होती है। फ्रांस और हालैंड के कुछ भागों में कानेशन के फूलों से इत्र भी निकाला जाता है। इत्र निकालने के लिए केवल हल्के रंग के फूल ही उपयोगी होते हैं। खुली धूप के महीनों में खिले हुए फूलों को कुछ घंटे धूप लगने के बाद तोड़ लेते हैं। उस समय उनमें वाष्पशील तेल या इत्र की अधिकतम मात्रा होती है (Poucher, II, 96).



चित्र 81 - डाइऐथस कैरियोफिलस

इत्र प्रायः केवल विलायक निष्कर्षण विधि द्वारा ही निकाला जाता है। पेट्रोलियम ईथर विलायक की सहायता से फूलों से 0.23 से 0.29% तक ठोस पुष्पसार निकल आता है। इसमें मोम की मात्रा अधिक होती है। इसमें से गन्धविहीन द्रव्य अलग करने के लिए इसे ऐल्कोहल की सहायता से साफ करते हैं। इस प्रकार जो शुद्ध पुष्पसार प्राप्त होता है उसकी मात्रा ठोस पुष्पसार की मात्रा की 9-12% होती है और इससे भाप आसवन विधि द्वारा वाष्पशील तेल निकालते हैं। शुद्ध पुष्पसार और वाष्पशील तेल में पाये गये गुणधर्मों का विवरण इस प्रकार है : शुद्ध पुष्पसार (दो नमूने), आ. घ.¹⁵, 0.949, 0.951; $[\alpha]_D$, -0.82°, -2.6°; n_D , 1.5209, 1.5101; अम्ल मान, 7.9, 6.7; और एस्टर मान, 15.1, 58.3. वाष्पशील तेल (दो नमूने) : आ. घ.¹⁵, 1.010, 1.0375; $[\alpha]_D$, -0°36', -0°39'; अम्ल मान, 0.28, 16.8; एस्टर मान, 132.0, 131.6; और ऐसीटिलीकरण के पश्चात् एस्टर मान, 249.0, 247.8. तेल में यूजेनोल, 30; फेनिलएथिल ऐल्कोहल, 7; बेजिल बेजोएट, 40; बेजिल सैलिसिलेट, 5; और मेथिल सैलिसिलेट, 1% पाये जाते हैं (Naves & Mazuyer, 172).

कार्नेशन का शुद्ध पुष्पसार नकली इत्रों में प्रयोग किया जाता है। बाजार में कार्नेशन के अनेक तेल ऐसे मिलते हैं जो कार्नेशन की संश्लिष्ट नकली सुगन्ध मिलाकर तैयार किये जाते हैं (Poucher, I, 99).

कार्नेशन के फूल हार्दटानिक, स्वेदकारी और विपनाशक समझे जाते हैं। चीन में कार्नेशन का सारा पौधा कुमिनाशक औषध के रूप में प्रयुक्त किया जाता है (Caius, J. *Bombay nat. Hist. Soc.*, 1937, 39, 563).

डा. चाइनेसिस लिनियस (रेनबो-पिंक) एक द्विवर्षी या बहुवर्षी पौधा है। यह 15 से 75 सेंमी. तक ऊँचा होता है। उसमें केवल चोटी से ही शाखाएँ निकलती हैं। इसमें शोभाकर फूल लगते हैं। इसके लैसीनिएटस रेगल और हेड्डीविगाइ रेगल नामक किस्में, जिनमें बड़े फूल लगते हैं, भारत में जापान से लाकर प्रचलित की गयी हैं। वे मैदानों में अक्टूबर में और पहाड़ी इलाकों में मार्च में बीज बो कर उगायी जाती हैं। पौधों से लगातार फूल लेने के लिए फूलों को मुरझाते ही तोड़ लेते हैं, उनसे बीज नहीं पैदा होने देते। इनके फूल बहुत कम सुगन्धित होते हैं। वे इकहरी या दुहरी पंखुड़ियों वाले और विविध रंगों के होते हैं। बगीचों में उगायी जाने वाली अनेक किस्मों के फूलों पर चितकबरे धब्बे होते हैं (Firminger, 613; Bailey, 1947, I, 997).

डा. वाबेट्स लिनियस (स्वीट विलियम) में फूलों के सुन्दर गुच्छे लगते हैं। इसे अक्टूबर में बीज बो कर उगाया जा सकता है। छोटे पौधों को गर्मी और बरसात में छायादार स्थान में सुरक्षित रखना पड़ता है। जाड़ों में फूल आने पर उन्हें एक-एक करके बड़े-बड़े गमलों में लगा देते हैं। गमलों में उपजाऊ, चूने वाली मिट्टी भरी जाती है (Firminger, loc. cit.).

डा. एनाटोलिकस बोआसिए पश्चिमी हिमालय और कश्मीर में पाया जाता है। यह पारी के ज्वरों में पारी को तोड़ने वाली औषध के रूप में प्रयोग किया जाता है (Caius, loc. cit.).

D. chinensis Linn.; var. *laciniatus* Regel; var. *heddewigii* Regel; *D. barbatus* Linn.; *D. anatolicus* Boiss.

डाइकाप्सिस - देखिए पैलाक्वियम

डाइकैथियम विल्मेट (ग्रेमिनी) *DICHANTHIUM* Willcm.
ले. - डिचान्थिऊम

यह बहुवर्षी या एकवर्षी घासों का एक छोटा वंश है जो उष्ण-कटिबंधीय क्षेत्रों में सर्वत्र पाया जाता है। भारत में इसकी पाँच या छः जातियाँ पाई जाती हैं जिनमें से दो अधिक व्यापक हैं और चारे के लिए प्रयुक्त की जाती हैं।

Gramineae

डा. ऐनुलेटम स्टेफ सिन. ऐंड्रोपोगॉन ऐनुलेटस फोर्स्कल
D. annulatum Stapf

ले. - डि. अन्नूलाटम

D.E.P., II, 420; Fl. Br. Ind., VII, 196; Bor, *Indian For. Rec.*, N.S., Bot., 1941, 2, 116.

बंगाल - लोआरी; उत्तर प्रदेश - जौनरा, पालमहा; क. - उलुकुनहुल्लु, गंजङ्गरिकेहुल्लु; पंजाब - पलवान, मिनयार; बम्बई - लाहन मारवल, जजू.

यह एक घनी गुच्छेदार बहुवर्षी घास है जो 90 सेंमी. तक ऊँची बढ़ जाती है। इसकी मंजरियों में फूलों के गुच्छे हथेली में लगी ग्रंथियों की तरह लगे रहते हैं। एक मंजरी में सामान्यतः फूलों के तीन गुच्छे होते हैं, परन्तु कभी-कभी इससे अधिक भी होते हैं। यह घान भारत में मैदानों और 1,500 मी. तक ऊँचे पहाड़ी क्षेत्रों में सर्वत्र पायी जाती है। यह साधारणतया झाड़ियों के बीच में, सड़कों के दोनों ओर, घान के लानों और चरागाहों में उगती हुई पायी जाती है। अच्छी जल-निगमन

वाली मिट्टियों में, छायादार स्थानों में, यह खूब उगती है। इससे प्रति हेक्टर 8,000 किग्रा. तक चारे की उपज मिलती है और इसकी कई कटाइयाँ की जा सकती हैं। यह साइलेज तैयार करने के लिए भी उपयुक्त है। यदि फूल आने से पहले कटाई कर ली जाए तो इसका सुखा चारा भी अच्छा बनता है। यह घास साधारण जानों में लगाने के लिए भी उपयुक्त है (Rangachariyar, 204; Blatter & McCann, 95; Rhind, 69; *Bull. Dep. Agric., Bombay*, No. 100, 1920, 129).

भारत के बनों में पायी जाने वाली चारे की घासों में डा. ऐनुलेटम बहुत अच्छी समझी जाती है। पशु इस घास को कच्ची और पकी दोनों ही अवस्थाओं में बड़े चाव से खाते हैं। यह सामान्यतः हरी ही खिलायी जाती है। हरी घास का विश्लेषण करने से फूल आने से पहले, फूल आने की अवस्था में, और फूल आने के बाद क्रमशः निम्नलिखित मान प्राप्त हुए हैं : नमी, 69.90, 65.93, 65.40; ईशर निष्कर्ष, 1.60, 1.70,

1.72; ऐल्बुमिनायड, 2.14, 2.24, 2.00; कार्बोहाइड्रेट, 13.46, 14.60, 12.81; रेखा, 9.20, 11.59, 14.26; और राख, 3.78, 3.74, 3.81%। फूल आने से पहले, फूल आने की अवस्था में, और बीज पैदा होने की अवस्था में सुखायी गयी घास का विश्लेषण करने से क्रमशः कच्चा प्रोटीन, 5.20, 4.08, 2.68; नाइट्रोजनरहित निष्कर्ष, 44.47, 44.36, 45.63; रेखा, 38.50, 39.89, 39.07; ईशर निष्कर्ष, 1.02, 1.03, 1.16; कुल राख, 10.81, 10.64, 11.46; हाइड्रोक्लोरिक अम्ल में विलेय राख, 3.40, 3.20, 2.33; कैल्शियम ऑक्साइड, 0.66, 0.58, 0.56; फॉस्फोरस पेटाऑक्साइड, 0.33, 0.24, 0.11; मैग्नीशियम ऑक्साइड, 0.34, 0.29, 0.30; सोडियम ऑक्साइड, 0.43, 0.27, 0.35; पोटैशियम ऑक्साइड, 1.26, 1.08, 0.50% पाये गये (Burns *et al.*, *Mem. Dep. Agric. India, Bot.*, 1925, 14, 1; Aiyer & Kayastha, *Agric. Live-Stk India*, 1931, 1, 526; Sen, *Misc., Bull. I.C.A.R.*, No. 25, 1946, appx I).

Andropogon annulatus Forsk.

डा. कैरीकोसम ए. केमस सिन. ऐंड्रोपोगॉन कैरीकोसस
लिनिअस *D. caricosum* A. Camus

ले. - डि. कारिकोसम

D.E.P., III, 421; Fl. Br. Ind., VII, 196; Blatter & McCann, 92, Pl. 61.

वं. - दितारा, दिता; क. - उलुकुनहुल्लु.

उत्तर प्रदेश - कर्तह, खेल, खेरल; महाराष्ट्र - मारवेल.

यह एक सीधी, गुच्छदार, बहुवर्षी घास है। यह 30-60 सेंमी. तक ऊँची बढ़ जाती है। देखने में यह डा. ऐनुलेटम से बहुत मिलती-जुलती है। यह अत्यन्त परिवर्तनशील है और भारत में मैदानों और 900 मी. तक के ऊँचे पहाड़ी क्षेत्रों में सर्वत्र पायी जाती है; परन्तु डा. ऐनुलेटम के समान अत्यन्त सामान्य नहीं है। इसे सूखी जलवायु और बलुही मिट्टी चाहिए। घान के खेतों की मेंटों पर और छायादार स्थानों में यह खूब उगती है। यह सूखा सहन कर सकती है। इससे प्रति हेक्टर 8,000 किग्रा. से भी अधिक हरे चारे की उपज मिल जाती है (Haines, 1038; Rhind, 68; Rangachariyar, 201; *Bull. Dep. Agric., Bombay*, No. 104, 1920, 39).

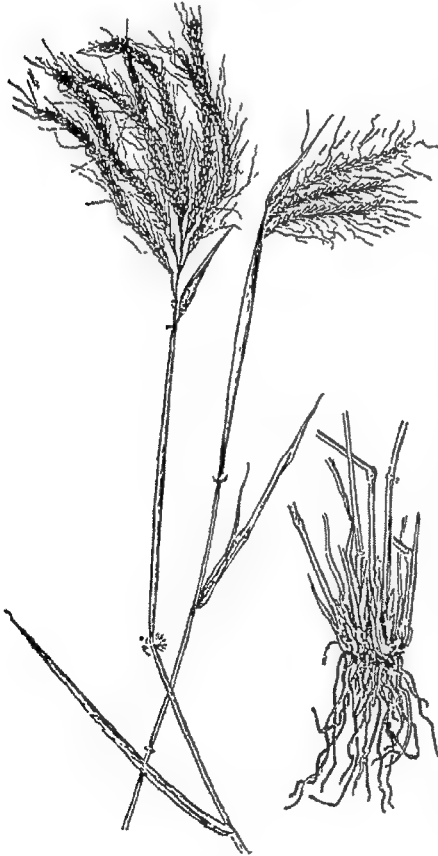
डा. कैरीकोसम अपने सामान्य भारतीय नामों के अनुसार प्रायः डा. ऐनुलेटम की श्रेणी में मानी जाती है। चारे के रूप में इन दोनों के गुण समान हैं। पूर्वी अफ्रीका में उगायी गयी इस घास के विश्लेषण से इसमें (सिलिकन ऑक्साइड रहित सूखी घास में) कच्चा प्रोटीन, 7.58; ईशर निष्कर्ष, 1.68; नाइट्रोजन रहित निष्कर्ष, 46.66; कच्चा रेखा, 39.74; पचनीय प्रोटीन, 3.79; स्टार्च तुल्यक, 41.59; और विलेय राख, 4.30% पाये गये (Burkill, I, 802; Burns *et al.*, loc. cit.; French, *Emp. J. exp. Agric.*, 1941, 9, 23). *Andropogon caricosus* Linn.

डाइकपेटालम थोआर्स (डाइकपेटालेसी)

DICHAPETALUM Thouars

ले. - डिक्पेटालम

D.E.P., II, 263; Fl. Br. Ind., I, 570.



चित्र 82 - डाइकपेटालम ऐनुलेटम

यह वृक्षों और झाड़ियों का एक वंश है जो उष्ण क्षेत्रों में पाया जाता है। डा. गेलोनियाइडीज एंगलर सिन. कैलेशिया गेलोनियाइडीज हुकर पुत्र (बंगाल - मोअकुरी; असम - रोन्पोलेतक, डिगरेलियारोंग) एक छोटा वृक्ष है। यह असम, बंगाल और पश्चिमी घाटों में कोंकण से दक्षिण की ओर पाया जाता है। इसकी लकड़ी पीताभ भूरी, सामान्य कठोर और चर्मिल होती है। यह खेती-वाड़ी के औजार और तन्बुओं के खूँटे तैयार करने के लिए उपयोगी है (Fl. Assam, I, 246).

इसकी कुछ जातियों के फल और पत्तियाँ खाद्य हैं, कुछ अफ्रीकी जातियाँ पशुओं और मनुष्यों के लिए विषैली होती हैं परन्तु अफ्रीका से बाहर के देशों में इस वंश की जातियों के विषैले गुणधर्म के बारे में कोई भी सूचना प्राप्त नहीं है (Burkill, I, 802; Dalziel, 171; Watt & Breyer-Brandwijk, 97).

Dichapetalaceae; *D. gelonioides* Engl.; *Chailletia gelonioides* Hook. f.

डाइकोमा कैसिनी (कम्पोज़िटी) DICOMA Cass.

ले. - डिकोमा

D.E.P., III, 111; Fl. Br. Ind., III, 387.

यह अफ्रीका और एशिया में पायी जाने वाली वृष्टियों और छोटी झाड़ियों का वंश है। डा. टोर्मोसा कैसिनी (म. - नवनंजीचपला; गु. - चोलोहरनाचारा) एक सीधी उगने वाली, बहुत-सी शाखाओं वाली एकवर्षी झाड़ी है जो उत्तरी-पश्चिम और दक्षिण भारत में पायी जाती है। यह बहुत कड़वी होती है और बेलगाँव में ज्वरनाशक औषधि के रूप में, विशेषकर प्रसूत ज्वर में, दी जाती है। अफ्रीका में मवाद भरे घावों पर इसका लेप करते हैं (Kirt. & Basu, II, 1433; Dalziel, 417).

Compositae; *D. tomentosa* Cass.

डाइक्रानोप्टेरिस वर्नहार्डी (ग्लोकेनिएसी)

DICRANOPTERIS Bernh.

ले. - डिक्रानोप्टेरिस

Haines, 1210; Blatter & d'Almeida, 27.

यह फनों का छोटा वंश है जो उष्ण और उपोष्ण क्षेत्रों में पाया जाता है। डा. लिनिएरिस (वर्मन) ग्रंडरबुड सिन. ग्लोकेनिया लिनिएरिस वेडोम; ग्लो. लिनिएरिस सी. बी. क्लार्क; ग्लो. डायकोटोमा विल्डेनो एक सुन्दर फर्न है जो भारत में सर्वत्र पहाड़ी क्षेत्रों में 1,800 मी. की ऊँचाई तक पाया जाता है। इसका प्रकन्द विसर्पी होता है; उसमें जगह-जगह टेढ़े-मेढ़े विशाखित छत्रिकावृत होते हैं जिनमें जोड़ों में पत्ते लगे रहते हैं।

पत्तियों की लम्बी डंडियों की छाल तोड़ कर फीते जैसी लम्बी पट्टियाँ उतार ली जाती हैं जिन से चटाईयाँ, कुसियों के आसन, थैले, टोपियाँ, मछली पकड़ने के जाल, गोल टोकरियाँ और कमरबंध पेटियाँ बुनकर तैयार की जाती हैं। उनसे रस्सियाँ भी तैयार की जाती हैं। फनों के तने बड़े मजबूत होते हैं। पके सूखे चुने हुये तनों से लेखनी तैयार की जाती है। ग्रनाम में इसका प्रकंद कृमिनाशक की तरह और मँडगास्कर में इसके पत्ते दमे के रोग में इस्तेमाल किये जाते हैं। पत्तियों से निकाले गये रस में जीवाणुनाशक गुण पाये गये हैं। यह माइक्रोकोकस पायोजिन्स बैर. ग्रीरियस, एशेरिशिया कोलाइ तथा स्फ़ीडोमोनास इरुजि-नोसा की नस्लों पर पात्रों में किये गये परीक्षण में प्रभावकारी पाया गया है

(Brown, I, 326; Burkill, I, 1072; Caius, J. *Bombay nat. Hist. Soc.*, 1935, 38, 356; Bushnell et al., *Pacific Sci.*, 1950, 4, 167).

Gleicheniaceae; *D. linearis* (Burm.) Underwood; *Gleichenia linearis* Bedd.; *G. linearis* C. B. Clarke; *G. dichotoma* Willd.; *Micrococcus pyogenes* var. *aureus*; *Pseudomonas aeruginosa*; *Escherichia coli*

डाइक्रोआ लॉरीरो (सैक्सिफ्रैगोसी) DICHROA Lour.

ले. - डिक्रोआ

यह उत्तरी-पूर्वी भारत में और चीन से लेकर जावा और फिलिपीन्स द्वीपसमूह तक पायी जाने वाली झाड़ियों का एक वंश है। डा. फेब्रीफ्यूगा नामक चीन की सुप्रसिद्ध मलेरियानाशी झाड़ी भारत में पाई जाती है। *Saxifragaceae*

डा. फेब्रीफ्यूगा लॉरीरो D. febrifuga Lour.

ले. - डि. फेब्रिफ्यूगा

D.E.P., III, 109; Fl. Br. Ind., II, 406; Kirt. & Basu, II, 995, Pl. 402.

हि. - वासक.

नेपाल और असम - वासक, वांसुक असेरु; लेपचा - गाइबुकनक; भूटान - सिगनामुक.

यह एक सुन्दर चिरहरित झाड़ी है जो 1.5-2.7 मी. तक ऊँची; पत्तियाँ भालाकार, सम्मुख; फूल नीलाभ और फल बेर जैसे होते हैं। यह युथी है और हिमालय में नेपाल से पूर्व की ओर और खासी पहाड़ियों में 1,200-2,400 मी. की ऊँचाई तक पायी जाती है।

चीन में और भारत के उन भागों में जहाँ यह पौधा उगता है, इस पौधे की जड़ें और पत्तियों वाला ऊपर का भाग ज्वरनाशक औषध के रूप में काम में लाया जाता है। दूसरे महायुद्ध में, जब कुनैन की कमी के कारण इसके स्थानापन्न द्रव्यों की खोज प्रारम्भ हुई तब मलेरियानाशक द्रव्य के एक सम्भावित स्रोत के रूप में इस पौधे की खोज की गयी। औषध-प्रभाव सम्बन्धी और चिकित्सा सम्बन्धी दोनों प्रकार के विस्तृत परीक्षणों से यह पाया गया कि इस द्रव्य में ज्वरनाशक और परजीवीनाशक दोनों ही प्रकार के गुण विद्यमान हैं।

यह औषधि अधिकांशतः जंगली पौधों से एकत्र की जाती है। चीन में अभी पिछले कुछ वर्षों से इसकी बड़ी पैमाने पर खेती होने लगी है। पर्वतीय घाटियों की उपजाऊ दुमट मिट्टियों में और गर्म (16-21°) तथा आर्द्र जलवायु में यह पौधा खूब फूलता-फलता है। इसे उगाने की सबसे अच्छी विधि छायादार और ढकी हुई नर्सरियों में इसकी गीली टहनियों की कलमें लगाकर और उनसे पौधे तैयार करने और उन्हें बाद में खेतों में लगाने की है। कलमों को सीधे भी खेतों में लगाया जा सकता है। जहाँ उन पर छाया रखने के लिए एरंड उगे हों।

3-4 वर्ष बाद फरवरी या अगस्त में नुले मौसम में पौधे खोद ली जाती हैं, जड़ें अलग करके धो ली जाती हैं और फिर धूप में सुवाई जाती है। सूखी हुई जड़ों को, जिनके साथ थोड़ा-सा तने का भाग भी रहता है, चीन में चांग-शान कहते हैं। वहाँ इन पौधों की पत्तियों का ऊपरी सूखा भाग भी औषधि के काम आता है, उसे शूची कहते हैं। चीन में ये दोनों मलेरिया ज्वर के उपचार में मुपारी, कछुवे के खोल और अदरक के साथ मिलाकर दिये जाते हैं। चांग-शान अकेले भी

गुणकारी बताया जाता है। मुगियों के मलेरिया में शूची अधिक प्रभावकारी और लाभदायक है (Fairbairn & Lou, *J. Pharm.*, 1950, 2, 162; Swen, *Curr. Sci.*, 1945, 14, 334; Chopra, 483).

डा. फेब्रीफ्यूगा का रोगनाशक गुण उसमें उपस्थित क्विनेजोलीन व्युत्पन्नों के कारण है। जैंग और उनके साथियों ने इस पौधे की जड़ों से 5 ऐल्कलायड पृथक् किये हैं: ऐल्फा-डाइक्रोइन (ग. वि., 136°), बीटा-डाइक्रोइन (ग. वि., 146°), गामा-डाइक्रोइन (ग. वि., 161°), डाइक्रोइडीन ($C_{18}H_{25}O_3N_3$; ग. वि., 213°), और 4-कोटोडाइ-हाइड्रो क्विनेजोलीन ($C_8H_6ON_2$; ग. वि., 212°). इनमें तीनों डाइक्रोइन ($C_{16}H_{21}O_3N_3$) समावयवी हैं और कुछ परिस्थितियों में परस्पर परिवर्तनशील हैं। कुएल और उनके साथियों ने इस पौधे की जड़ों से दो समावयवी ऐल्कलायड ($C_{16}H_{19}O_3N_3$) विलग किये हैं जिनके नाम हैं: ऐल्कलायड-I (ग. वि., 131-32°) और ऐल्कलायड-II (ग. वि., 140-42°). ऐल्कलायड-I कुछ परिस्थितियों में अस्थायी होता है। वह ऐल्कलायड-II में परिवर्तित हो जाता है। दोनों ऐल्कलायडों में लगभग एकसमान परावैगनी और अवशोषण स्पेक्ट्रम होते हैं। कोइफली और उनके साथियों ने इसकी जड़ों और पत्तियों की पुनः जाँच की और यह बताया कि उनमें दो परस्पर परिवर्तनशील, समावयवी, क्रिस्टलीय और ध्रुवण-पूर्ण ऐल्कलायड, फेब्रीफ्यूजीन ($C_{16}H_{19}O_3N_3$; ग. वि., 139-40°) और आइसोफेब्रीफ्यूजीन (ग. वि., 129-30°) होते हैं। पृथक्करण करते समय कभी-कभी पाये गये कच्चे क्षारक को (ग. वि., लगभग 150°) इसका तीसरा ऐल्कलायड समझा जाता रहा है परन्तु बाद में ज्ञात हुआ कि वह फेब्रीफ्यूजीन का ही एक रूप था। दोनों ऐल्कलायडों में लगभग एकसमान परावैगनी अवशोषण स्पेक्ट्रम होते हैं। इन लेखकों का कहना है कि गलन बिन्दुओं में कुछ भिन्नता होते हुए भी ऐल्फा-डाइक्रोइन आइसोफेब्रीफ्यूजीन और ऐल्कलायड-I से मिलता-जुलता है, और बीटा-डाइक्रोइन तथा गामा-डाइक्रोइन भिन्न-भिन्न समावयवी ऐल्कलायड न होकर फेब्रीफ्यूजीन के दो क्रिस्टलीय रूपान्तर हैं; ऐल्कलायड-II इन दोनों रूपों में से किसी एक से मिलता-जुलता हो सकता है (सारणी 1)। सभी ऐल्कलायड स्थायी नहीं होते और सम्भवतः कुछ निष्कर्षण के ही समय बनते हैं (Jang *et al.*, *Nature*, 1948, 161, 400; Kuehl *et al.*, *J. Amer. chem. Soc.*, 1948, 70, 2091; Koepfli *et al.*, *ibid.*, 1949, 71, 1048; Fairbairn & Lou, *loc. cit.*).

चूजों में प्लाज्मोडियम गैलीनेसियम रोग के प्रति क्षारकों का प्रभाव निम्न अवरोही क्रम से होता है: गामा-डाइक्रोइन, बीटा-डाइक्रोइन, डाइक्रोइडीन और क्विनेजोलीन। चूजों में प्लाज्मोडियम गैलीनेसियम रोग के प्रति ऐल्फा-, बीटा- और गामा-डाइक्रोइनों की प्रभावशीलता कुनैन की तुलना में मोटे तौर पर क्रमशः 1, 50 और 100 गुनी होती है, और उनकी विषालुता भी इसी क्रम में होती है। विषैली प्रतिक्रियाओं में जी मिचलाना, उल्टी होना, आदि देखे गये हैं (Jang *et al.*, *loc. cit.*; *Chem. Abstr.*, 1949, 43, 1529).

चीन से एकत्र की गयी जड़-सामग्री में 0.08 से 0.10% तक अपरिष्कृत ऐल्कलायड पाये गये जिनमें 55% मात्रा फेब्रीफ्यूजीन और आइसोफेब्रीफ्यूजीन की थी। ऐल्कलायडों की प्राप्त मात्रा में फेब्रीफ्यूजीन और आइसोफेब्रीफ्यूजीन का अनुपात 6 : 1 से 1 : 1 तक होता है। भारत से एकत्र किये गये जड़ के नमूनों में अपरिष्कृत ऐल्कलायड की मात्रा 0.05% थी जिसमें 63% फेब्रीफ्यूजीन, और 2% आइसो-फेब्रीफ्यूजीन थी। भारतीय पौधे की पत्तियों में कुल अपरिष्कृत ऐल्क-

सारणी 1 — डा. फेब्रीफ्यूगा के ऐल्कलायड*

	ऐल्कलायड	मलेरियानाशक गुण
जैंग और साथी	ऐल्फा-डाइक्रोइन बीटा-डाइक्रोइन गामा-डाइक्रोइन	गामा-डाइक्रोइन: मुगियों के मलेरिया ज्वर को दूर करने की मात्रा 4 मिग्रा. प्रति किग्रा. शरीर भार
कुएल और साथी	ऐल्कलायड-I ऐल्कलायड-II	मुगियों के मलेरिया में, ऐल्कलायड-I का 5 मिग्रा. या ऐल्कलायड-II का 2.5 मिग्रा. खिलाने पर 40 मिग्रा. कुनैन के समान काम करती है
कोइफली और साथी	फेब्रीफ्यूजीन आइसोफेब्रीफ्यूजीन	फेब्रीफ्यूजीन: बतखों के प्ला. लोफूरी या बन्दरों के प्ला. साइनोमोल्गी रोग को दूर करने में कुनैन से 100 गुनी और चूजों के प्ला. गैलीनेसियम रोग को ठीक करने में कुनैन से 64 गुनी अधिक प्रभावकारी

*Fairbairn & Lou, *J. Pharm.*, 1950, 2, 163.

लायडों की मात्रा 0.01-0.02% तक थी जिसमें 50% फेब्रीफ्यूजीन की थी (Koepfli *et al.*, *loc. cit.*).

डा. फेब्रीफ्यूगा की जड़ों और पत्तियों में ऐल्कलायडों के अतिरिक्त दो उदासीन तत्व, अम्बेलोफेरोन (डाइक्रिन ए) ग. वि., 228-30, और डाइक्रिन बी, ग. वि., 179-81 होते हैं (Jang *et al.*, *loc. cit.*).

यद्यपि इस पौधे की पत्तियाँ जड़ों की अपेक्षा मलेरिया दूर करने में अधिक प्रभावकारी पाई गई हैं, तथापि पत्तियों में ऐल्कलायड का अंश अपेक्षतया कम होता है। जैव अनुमापन से पता लगता है कि पत्तियों से पृथक् किये गये और पहचाने गये सक्रिय तत्वों के अतिरिक्त उनमें अन्य सक्रिय तत्व भी होते हैं (Jang *et al.*, *loc. cit.*; Koepfli *et al.*, *loc. cit.*).

डा. फेब्रीफ्यूगा से ऐल्कलायड पृथक्करण की पेटेंट विधि इस प्रकार है: जड़ों को हाइड्रोक्लोरिक अम्ल के साथ निष्कर्षित करके मुल्तानी मिट्टी में अवशोषित कर लेते हैं। अवशोषित पदार्थ को सोडियम कार्बोनेट के साथ निक्षालित करते हैं। इस प्रकार मुक्त ऐल्कलायडों को व्यटिल ऐल्कोहल में विलेय कर उन्हें लिग्नायन और हाइड्रोक्लोरिक अम्ल से उपचारित करते हैं। इस प्रकार हाइड्रोक्लोराइडों के जलीय विलयन से व्यटिल ऐल्कोहल तथा क्लोरोफार्म मिश्रण की सहायता से क्षारक मुक्त कर लिये जाते हैं और निष्कर्षित कर लिये जाते हैं।

फेब्रीफ्यूजीन ऐल्कोहली हाइड्रोक्लोरिक अम्ल से क्रिस्टलन द्वारा डाइहाइड्रोक्लोराइड के रूप में पृथक् किया जाता है। आइसोफेब्रीफ्यूजीन मातृद्रव से प्राप्त होता है, और इसका कुछ अंश ऊष्मा से या ऐल्कोहल के साथ पश्चवाहित करने से फेब्रीफ्यूजीन में परिवर्तित हो जाता है (*Chem. Abstr.*, 1950, 44, 6086).

Plasmodium gallinaceum; *P. lophurae*; *P. cynomolgi*

डाइक्रोसेफेला ले'हेरीटियर एक्स द कन्दोल (कम्पोजिटो)
DICHROCEPHALA L'Herit. ex DC.

ले. - डिक्रोसेफाला

यह एकवर्षी वृष्टियों का छोटा-सा वंश है जो पुरानी दुनिया के उष्ण प्रदेशों में पाया जाता है। इसकी चार जातियाँ भारत में होती हैं।

डा. लैटोफोलिया द कन्दोल 15-60 सेंमी. तक ऊँचा अपतृण है जो हिमालय में शिमला से सिक्किम तक और कछार, खासी पहाड़ियों और पश्चिमी घाटों में 2,700 मी. की ऊँचाई तक पाया जाता है। कम्बोडिया में इसकी मुलायम पतली कोपलों से पुलिटस तैयार करके रिसते फोड़े या कीड़ों के काटने या डंक मारने की जगह पर बांधते हैं। इसके फूलों की कलियों का काढ़ा जावा में स्वेदकारी और मूल समझा जाता है (Burkill, I, 804; Caius, J. *Bombay nat. Hist. Soc.*, 1940, 41, 642).
Compositae; D. latifolia DC.

डाइक्रोस्टेकिस वाइट और आर्नेट (लेग्यूमिनोसी)
DICHROSTACHYS Wight & Arn.

ले. - डिक्रोस्टाकिस

यह छोटे पेड़ों और झाड़ियों का एक वंश है जो पुरानी दुनिया के उष्णकटिबंधीय प्रदेशों में पाया जाता है। डा. सिनेरिया जाति भारत में मिलती है।

Leguminosae

डा. सिनेरिया वाइट और आर्नेट = कैलिया सिनेरिया
मैकब्राइड *D. cinerea* Wight & Arn.



चित्र 83 - डाइक्रोस्टेकिस सिनेरिया

ले. - डि. सिनेरिया

D.E.P., III, 109; Fl. Br. Ind., II, 288.

हिं. - चुरतुली; म. - सेगुम काटी; ते. - वेलतुरा; त. - विड-तालै; क. - श्रोडतरे, वडुवारदगिड़ा.

यह एक काँटेदार झाड़ी या छोटा पेड़ है। इसका तना प्रायः खुरदुरा और गाँठदार होता है। यह दक्षिणी, उत्तरी-पश्चिमी और मध्य भारत की सूखी पहाड़ियों और झाड़-झंखाड़युक्त सूखे वनों में पाया जाता है। सूखी भूमियों को आच्छादित रखने के लिए यह वृक्ष उपयोगी है। कहा जाता है कि इस पर लाख के कीड़े पाले जाते हैं।

इसकी कोपलों को पीसकर उठी आँखों पर लेप करते हैं। इसकी जड़ें स्तम्भक होती हैं और गठिया, मूत्रीय पथरी, तथा गुर्दे के रोगों में इस्तेमाल की जाती हैं (Chopra, 483; Kirt. & Basu, II, 912).

इसका अंतःकाष्ठ रक्तम, कड़ा, चर्मिल और भारी (भार, 1,120-1,440 किग्रा./घमी.) होता है। इससे हाथ की छड़ियाँ और तंबूओं के छूँटे तैयार किये जाते हैं। पत्तियाँ चारे के काम आती हैं। छाल से पीताभ रंग का रेशा मिलता है (Gamble, 288).

Cailliea cinerea Macb.

डाइक्लिप्टेरा जुस्यू (एकैथेसी) DICLIPTERA Juss.

ले. - डिक्लिप्टेरा

D.E.P., III, 110; Fl. Br. Ind., IV, 550.

यह उष्ण और उपोष्ण क्षेत्रों में पायी जाने वाली वृष्टियों का एक वंश है। भारत में इसकी लगभग 8 जातियाँ पायी जाती हैं। डा. रॉक्सबर्गियाना नीस (पंजाब - किर्च, सोमनी) मध्यम आकार की गुच्छेदार वृद्धी है। यह आमतौर पर पंजाब से असम तक मैदानों में उगती पायी जाती है और एक पौष्टिक ओषधि के रूप में इस्तेमाल की जाती है। डा. बुप्लेयुरोइडीज नीस सिन. डा. रॉक्सबर्गियाना नीस वैर. बुप्लेयुरोइडीज सी. वी. क्लार्क (शिमला - वाउना) डा. रॉक्सबर्गियाना से बहुत मिलती-जुलती है और उसी की तरह के काम आती है परन्तु इसके पौधे कुछ अधिक लम्बे और अधिक रोपेदार होते हैं। यह जाति भारत में सर्वत्र पहाड़ी क्षेत्रों में 2,100 मी. की ऊँचाई तक पाई जाती है (Kirt. & Basu, III, 1910).

Acanthaceae; D. roxburghiana Nees; *D. bupleuroides* Nees

डाइजेरा फोर्स्कल (अमरंथेसी) DIGERA Forsk.

ले. - डिजेरा

D.E.P., III, 112; Fl. Br. Ind., IV, 717.

यह एकल प्ररूपी वंश है जिसमें डा. मुरोकेटा (लिनिअस) मार्शियस सिन. डा. आर्वेंसिस फोर्स्कल (हिं. - लटमुरिया; वं. - गुंगटिया; म. - गिटना; ते. - चंचलीकूरा; क. - चंचलिसोणु; त. - तोय्यकिरे; पंजाब - तरतारा) सम्मिलित हैं। यह एकवर्षी या बहुवर्षी वृद्धी है जो 30-60 सेंमी. ऊँची होती है। यह भारत में सर्वत्र एक सामान्य खरपतवार के रूप में पायी जाती है। यदि खेतों की निराई होती रहे तो इनकी वाढ़ नहीं होने पाती। इस खरपतवार की रोकथाम के लिए वरसात के बाद इसके नये उगते हुए पौधों को तुरंत ही उखाड़कर नष्ट करने की संस्तुति की जाती है। पशु इसे बड़े चाव से खाते हैं। इसकी पत्तियाँ और कोपलें शाक की भाँति खायी जाती हैं। वे स्वाद में मीठी

होती हैं और अधिक मात्रा में लेने पर रेचक होती हैं। इसके फूल और बीज मूत्र विकारों में दिये जाते हैं (Tadulingam & Narayana, 261; Chandrasekharan & Sundararai, *Madras agric. J.*, 1949, 36, 438; Kirt. & Basu, III, 2056).
Amaranthaceae; *D. muricata* (Linn.) Mart.; *D. arvensis* Forsk.

डाइनोक्लोआ व्यूस (धेमिनी) DINOCHLOA Buse

ले. — डिनोक्लोआ

D.E.P., III, 115; VI(I), 351; Fl. Br. Ind., VII, 409, 414; Fl. Assam, V, 22.

यह उत्तरी-पूर्वी भारत से लेकर मलेशिया तक पाये जाने वाला लम्बे, आरोही, टेढ़े-मेढ़े कलमों वाले बाँसों का वंश है। भारत में इसकी तीन जातियाँ पायी जाती हैं। असम, पूर्वी बंगाल और ब्रह्मा में डा. कम्पैक्टो-फ्लोरा (कुर्ज) मैकलूरे सिन. स्पूडोस्टैकियम कम्पैक्टोफ्लोरम कुर्ज, मेलेकोलैमस कम्पैक्टोफ्लोरस वेंथम और डा. मेकलेलान्डाई कुर्ज, जिनमें 30 मी. तक लम्बे कलम होते हैं, पाये जाते हैं। डा. कम्पैक्टोफ्लोरा एक सदावहार कलगीदार और शाखायुक्त बाँस है जिसमें 2.5 सेंमी. व्यास तक के भूरापन लिए हुए हरे कलम होते हैं। कट्टार और सिलहट के समतल मैदानों में इससे डलियाँ बनाई जाती हैं (Gamble, 753, 755).

डा. अंडमानिका कुर्ज सिन. डा. जंकोरे व्यूस वैर. अंडमानिका गैबल (अंडमान — बरहवाबारत) अंडमान के तटवर्ती क्षेत्रों में पायी जाने वाली जाति है जिसके क्षुरमुट इतने घने होते हैं कि उसके भीतर प्रवेश करना कठिन है। इसमें 90 मी. तक ऊँचे, हरे और चिकने कलम होते हैं। यह डा. स्कैण्डेन्स कुर्जे सिन. डा. जंकोरे व्यूस से काफी मिलता-जुलता है और मलेशिया में पाया जाता है। जावा में इससे डलियाँ तथा बाड़े बनाई जाती हैं और मलाया के राज्यों में इसका प्रयोग ओषधि के रूप में किया जाता है। तने के भीतर से निकलने वाले पानी का उपयोग मूल-कुचैल और रूसी आदि ताफ करने में तथा छोटे-छोटे प्ररोहों का प्रयोग कृमिहर के रूप में किया जाता है (Burkill, I, 811).
Gramineae; *D. compactiflora* (Kurz) McClure; *Pseudostachyum compactiflorum* Kurz; *Melocalamus compactiflorus* Benth.; *D. maclellandii* Kurz; *D. andamanica* Kurz; *D. tjankorreh* Buse var. *andamanica* Gamble; *D. scandens* Kuntze

डाइप्लेजियम श्वार्ट्ज (पॉलिपोडिएसी) DIPLAZIUM Sw.

ले. — डिप्लाजियम

D.E.P., I, 347; Haines, 1197.

यह बड़े और स्थूल पर्णों का एक वंश है जो संसार के उष्ण भागों में पाया जाता है।

डा. एस्कुलेंटम श्वार्ट्ज = ऐथीरियम एस्कुलेंटम (रेस्सियस) कोप-लैण्ड सिन. ऐन्सिगोनियम एस्कुलेंटम प्रेस्ल; ऐस्लेनियम एस्कुलेंटम प्रेस्ले लगभग समस्त भारत में पाया जाता है और 900 मी. की ऊँचाई तक मैदानों तथा पहाड़ियों पर बहुलता से मिलता है। इसका स्तम्भ-मूल सीधा तथा गठोला एवं 0.9–1.8 मी. लम्बा होता है तथा इसमें द्विपिच्छकी पर्णांग-पत्र का एक गुच्छा होता है। छोटे-छोटे पर्णांग-पत्रों को सलाद अथवा पकाने के बाद सब्जी के रूप में खाया जाता है। इनमें आर्द्रता, 86; ऐल्बुमिनायड, 4; कार्बोहाइड्रेट (अधिकतर सेलुलोस), 8% पाया जाता है। डा. ऐस्पेरम ब्लूम = ऐथीरियम ऐस्पेरम (ब्लूम)

माइल्डे इससे मिलती-जुलती एक जाति है जिसके पर्णांग-पत्र खाद्य होते हैं (Burkill, I, 835).

Polypodiaceae; *D. esculentum* Sw. = *Athyrium esculentum* (Retz.) Copeland syn. *Anisogonium esculentum* Presl; *Asplenium esculentum* Presl; *D. asperum* Blume = *Athyrium asperum* (Blume) Milde

डाइसेण्ट्रा वर्नहार्डि (पैपावरेसी) DICENTRA Bernh.

ले. — डिसेण्ट्रा

Fl. Br. Ind., I, 120; Bailey, 1947, I, 1001, Fig. 1256–58.

यह पतली बहुवर्षी वृष्टियों का एक वंश है। इसकी जड़ें कदिल या ग्रंथिल होती हैं और सुन्दर फूल गुच्छों में लगते हैं। यह वंश उत्तरी एशिया और उत्तरी अमेरिका के शीतोष्ण क्षेत्रों में पाया जाता है। हिमालय पर्वतीय क्षेत्र में इस वंश की चार जातियाँ पाये जाने की सूचना है*, जो कुमार्गु से खासी पहाड़ियों तक और पश्चिमी तथा दक्षिणी यूनान में पायी जाती हैं। इनके अतिरिक्त इस वंश की चार विदेशी जातियाँ हिल स्टेशनों के बगीचों में उगायी जाती हैं। वे मूलकांडों को विभाजित करके या जड़ों की कलमें लगाकर उगायी जाती हैं। डा. केनेडेंसिस वाल्पर्स (स्क्वैरेल कार्न) एक तनारहित कोमल वृद्धि है। इसमें मोटे दलपुटों-सहित सफ़ेद रंग के फूल लगते हैं। इसकी मटर-जैसी गांठों या कंदों में, जो इसके भूमिगत अंगुरों पर फैली रहती हैं, एक प्रकार की ओषधि होती है जो यूरोप और अमेरिका में कोरीडैलिस के नाम से ज्ञात है। डा. फ्राइसिया वाल्पर्स (गोल्डन डियर ड्राफ्ट), डा. फारमोसा वाल्पर्स और डा. स्पेक्टैबिलिस लेमयर (व्लीडिंग हाटे) नामक अन्य जातियाँ कभी-कभी भारतीय बगीचों में सजावट के लिए उगायी जाती हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका की सूचनाओं के अनुसार जिन वन-चरागाहों में डाइसेण्ट्रा जातियाँ उगी होती हैं और जिनमें पशु भी चरते हैं उनमें पशुओं और विशेषतया गायों पर इसके विष का प्रभाव होता है (Firminger, 623; B.P.C., 1949; U.S.D., 1414; Tehon et al., *Circ. Ill. Coll. Agric. Ext. Serv.*, No. 599, 1946, 40).

कोरीडैलिस डा. केनेडेंसिस या डा. कुकुलैरिया वर्नहार्डि की सूखी कंद है। इसमें वलवर्षक और मूत्रवर्षक गुण बताये गये हैं। इसे काढ़े के रूप में प्रयोग किया जा सकता है। डाइसेण्ट्रा की अनेक जातियों के कंदों से अनेक शरीर-क्रियात्मक रूप से सक्रिय आइसोक्विनोलीन ऐल्कलायड पृथक् किये गये हैं परन्तु कोरीडैलिस जिन उद्देश्यों से औषधियों में प्रयोग की जाती है उनका ऐल्कलायडों के प्रभावों के साथ प्रत्यक्ष रूप से कोई सम्बन्ध नहीं है। डाइसेण्ट्रा जातियों के जिन ऐल्कलायडों की ओर ध्यान गया है, उनमें केवल वल्बोर्कपनीन ($C_{19}H_{19}O_4N$; ग. वि., 199°) प्रमुख हैं, जो डा. केनेडेंसिस और अन्य कुछ जातियों के कंदों में पाया जाता है। इसे चिकित्सा के लिए काम में लाने की बड़ी संभावना है। यह ऐल्कलायड स्तनियों में मूर्छा पैदा करता है और इसमें अनुकम्पी और परानुकम्पी केन्द्रीय प्रभाव उत्पन्न करने का गुण होता है। पक्षाघात-सम्बन्धी उद्वेग, पेशियों की अन्य प्रकार की सिहरन, अस्तिदोलन और इसी प्रकार की अन्य स्थितियों में आराम

* इस वंश की चार उल्लिखित जातियों को अब डैविडलीकैप्पोस वालिश वंश के अंतर्गत जाना जाता है। डैविडलीकैप्पोस मैक्रोकैप्पोस हब्रिन्गन सिन. डाइसेण्ट्रा स्कैण्डेन्स हुकर पुत्र और याम्मन नान वाल्पर्स में एलोफिन्टोनीन, प्रोटोपीन और *l* तथा *dl* स्टाइलीपीन नाम के ऐल्कलायड होते हैं (Hutchinson, *Kew Bull.*, 1921, 97; Henry, 172).

पाने के लिए भी इसका प्रयोग किया गया है। पशु-चिकित्सक पशुओं को वेहोश करने की कठिनाई से बचाव के लिए इसका उपयोग करते हैं (Henry, 172, 284 et seq.; U.S.D., loc. cit.; Cushny, 365). *Papaveraceae*; *D. canadensis* Walp.; *D. chrysantha* Walp.; *D. formosa* Walp.; *D. spectabilis* Lem.; *D. cucullaria* Bernh.

डाइसोक्सिलम ब्लूम (मेलिएसी) DYSOXYLUM Blume
ले. — डिंसाक्सिलम

यह वृक्षों का एक विशाल वंश है जो दक्षिण-पूर्वी एशिया से ऑस्ट्रेलिया तक पाया जाता है। इसकी लगभग एक दर्जन जातियाँ भारत में मुख्यतः बंगाल, असम, दक्षिण भारत और अंडमान में मिलती हैं। इनमें से कुछ के काष्ठों में हल्की सुगन्ध होती है और वे लकड़ी के ढोल, फर्नीचर और कैबिनेट बनाने के लिए उपयुक्त होते हैं।

Meliaceae

डा. बाइनेक्टारिफेरम हुकर पुत्र D. binectariferum Hook. f.
ले. — डि. विनेक्टारिफेरम
D.E.P., III, 199; Fl. Br. Ind., I, 546.



चित्र 84 — डाइसोक्सिलम बाइनेक्टारिफेरम

वं. — लस्सुनी; त. — अगुनीवागिल, सेंविल; क. — अगिलु, काडु-गंध.

असम — केटम एसिंग, गेलिंग-लिवोर, अमरी, लाली, कैटोंगजू. यह एक सदावहार वृक्ष है जिसका स्तम्भ सीधा, बेलनाकार होता है; यह सिकिम, असम, बंगाल और पश्चिमी घाटों में पाया जाता है। लकड़ी में हल्की देवदार की-सी गन्ध और तीखा स्वाद होता है। रसकाष्ठ हल्का-पीला, भूरा-सा धूसर रंग का होता है और रस से अभिरंजित हो सकता है। अंतःकाष्ठ लालाभ धूसर से लाल रंग का होता है और गाढ़े रंग समय के साथ लालाभ भूरे होते जाते हैं। दाने के साथ-साथ हल्की धारियाँ होती हैं। यह कुछ चमकीली, सीधे या स्थूलतः अन्तर्ग्रथित दानेदार, सम या महीन गठन की होती है। यह कुछ कठोर और भारी (आ. घ., 0.70; भार, 720 किग्रा./घमी.) होती है। इससे सजावटी काम नहीं किया जाता।

लकड़ी को हरा काटकर उसे तुरन्त पका लेना अच्छा रहता है। एकसमान चिराई होने के लिए इसकी चतुर्थांश चिराई करनी चाहिये। यह खुले स्थानों में टिकाऊ होती है और इस पर दीमक तथा वेधकों का आक्रमण नहीं होता। देहरादून में किये गये शवस्थल प्रयोगों से पता चलता है कि यह लकड़ी सात साल में नष्ट हो जाती है। यह लकड़ी अच्छी चिरती है और इसका पूष्ठ चिकनाया जा सकता है।

लकड़ी का उपयोग मकान, बक्से और डोंगियाँ बनाने में और खराद के काम में होता है। यह दियासलाई की डिब्बियाँ और सलाइयाँ, सिगार रखने के डिब्बे और प्लाइवोर्ड बनाने के लिए अच्छी रहती है। संरचना में यह डा. मलाबारिकम की इमारती लकड़ी के समान होती है और पश्चिमी तट के बाजारों में इसके स्थान पर सामान्यतः प्रयुक्त की जाती है। यह अच्छी इमारती लकड़ी है। इस पर और अधिक ध्यान देने की आवश्यकता है किन्तु यह बहुत कम मात्रा में प्राप्त है।

प्रौढ़ वृक्षों की छाल में 15% टैनिन तथा कम आयु के वृक्षों की छाल में 10% टैनिन होता है (Badhwar et al., Indian For. Leaflet, No. 72, 1949, 10).

डा. मलाबारिकम बेडोम सिन. डा. ग्लैंडुलोसम टेलवोट D. malabaricum Bedd.

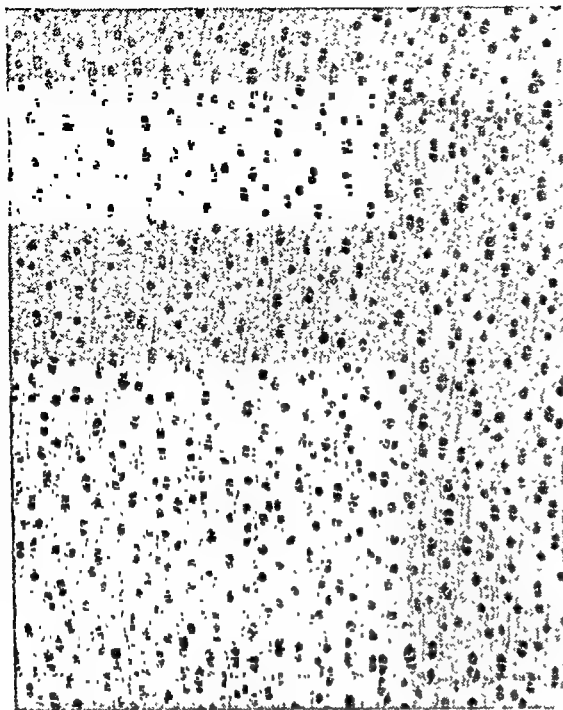
ले. — डि. मालाबारिकम
Fl. Br. Ind., I, 548.

त. — बेल्लाइआगिल, पुरिप; क. — विडिदुड्लिगे, विलिदेवदार, विडिअगिलु; मल. — वेल्लकिल्ल, पुरिप्पा.

व्यापार — ह्वाइट सीडर, सफ़ेद देवदार.

यह 36 मी. तक ऊँचाई वाला विशाल वृक्ष है। यह पश्चिमी घाटों में उत्तरी कनारा से दक्षिण की ओर 900 मी. की ऊँचाई तक सदावहार वनों में पाया जाता है। इसमें यूथी प्रवृत्ति पाई जाती है और कई बार तो आर्टोकार्पस हिरसुटा के साथ पाया जाता है। बीज बड़े और भारी होते हैं (भार, 170-180 बीज/किग्रा.) जिससे दूर-दूर तक फैल नहीं पाते। नर्सरी में उगाये गये 6-8 महीने के 25-35 सेंमी. ऊँचे पौधों को जून के अन्त में रोप कर संतोषजनक कृत्रिम पुनरुद्भवन किया जा सकता है। बाढ़ पहले काफी तेज होती है पर बाद में इसकी गति मंद पड़ जाती है (Troup, I, 204; Information from For. Dep., Madras).

रसकाष्ठ पीताभ श्वेत और अन्तःकाष्ठ भूराभ धूसर होता है जिसकी पीली छटा खुला रहने पर गाढ़ी हो जाती है; दानों से सँटी आमतौर से हल्की धारियाँ पाई जाती हैं; दाने सीधे या अत्यन्त घने अन्तर्ग्रथित;



चित्र 85 - डाइसोक्सिलम मलावारिकम - काष्ठ की अनुप्रस्थ काट

गठन सम और महीन, चमकीला, मीठी सुगन्ध वाला होता है। यह कठोर, सुदृढ़, प्रत्यास्थ और भारी (आ. घ., 0.64-0.81; भार, 736-768 किग्रा./घमी.) होता है।

इसके चौड़े फट्टों को जिनमें भीतरी अंश (क्रोड) सम्मिलित रहता है, वायु में सुखाने पर फटने का डर रहता है। कम चौड़े फट्टे और छोटे टुकड़े ठीक रहते हैं। वृक्षों के वलयन और हरी अवस्था में ही रूपान्तरण की सिफारिश की जाती है। इन उपचारों से रसकाष्ठ में धब्बे भी कम से कम पड़ते हैं। लकड़ी टिकाऊ होती है और इसे दीमक नहीं लगती। देहरादून में किये गये प्रयोगों से पता चलता है कि 15 वर्ष में कुछ नमूने गल गये पर नष्ट नहीं हुए। इसे चीरा जा सकता है और इस पर अच्छी तरह काम हो सकता है तथा इसका पृष्ठ चिकना बनाया जा सकता है। इमारती लकड़ी के रूप में इसकी उपयोगिता सम्बन्धी मान सागीन के उन्हीं गुणों की प्रतिशतता के रूप में इस प्रकार हैं - भार, 110; कड़ी के रूप में सामर्थ्य, 85; कड़ी के रूप में दुर्नम्यता, 95; खम्भे के रूप में उपयुक्तता, 90; आघात प्रतिरोध क्षमता, 120; आकार स्थिरण क्षमता, 60; अपरूपण, 115; और कठोरता, 95 (Pearson & Brown, I, 249; Trotter, 1944, 103, 244; Bourdillon, 72)।

सफ़ेद देवदार पश्चिमी तट पर मुख्य रूप से लकड़ी के पीपे बनाने के काम आता है। यह नारियल का तेल रखने और उसे भोजन के लिए पीपे बनाने के लिए अत्यन्त उपयुक्त है क्योंकि इससे तेल न तो बदरंग होता है और न रिसता ही है। यह अनेक कामों के लिए उपयोगी उत्तम लकड़ी और मकान बनाने, सुहागा फेरने, फर्नीचर, बेलगाड़ियाँ, रेल के डिब्बे, सुरंगों में लगाने की टेक, फ्रेम, प्लाईवुड और सिंगार रखने

के डिब्बे बनाने के काम आती है। मद्रास में यह कैम्प फर्नीचर के लिए सबसे उत्तम लकड़ी समझी जाती है। यह दियासलाई की डिब्बियों और सलाइयों के लिए भी अच्छी बताई जाती है। सफ़ेद देवदार एक बढ़िया किस्म की इमारती लकड़ी है जिसकी माँग अधिक किन्तु माल कम उपलब्ध है (Pearson & Brown, loc. cit.; Trotter, 1944, 103; Cox, *Indian For.*, 1920, 46, 67; Howard, 181; Rama Rao, 73)।

तमिलनाडु के वन विभाग में इस इमारती लकड़ी का वार्षिक उत्पादन 132 घमी. अनुमाना जाता है। त्रावनकोर-कोचीन में वार्षिक उत्पादन लगभग 436 टन है। लकड़ी की कीमत 87-168 रु./घमी. है (मद्रास और त्रावनकोर-कोचीन के वन विभागों से प्राप्त सूचना)।

लकड़ी का काढ़ा आमवात में उपयोगी बताया जाता है। लकड़ी का तेल कान और आँख के रोगों में प्रयुक्त होता है (Chopra, 485; Rama Rao, loc. cit.)।

D. glandulosum Talbot; *Artocarpus hirsuta*

डा. हैमिल्टोनाई हियर्न *D. hamiltonii* Hiern

ले. - डि. हामिल्टोनिई

D.E.P., III, 199; Fl. Br. Ind., I, 548.

असम - गेंधेली-पोमा, क्योताई, सितिएर्सिंग, डिङ्गकिर्बेइ; लेपचा - सिपोचिकांग.

यह एक विशाल चिरहरित वृक्ष है, जिसका घेरा 5.4 मी. तक होता है। यह पूर्वी हिमालय और असम में 750 मी. की ऊँचाई तक पाया जाता है। फूलों से लहसुन-जैसी तेज गन्ध आती है।

लकड़ी (भार, लगभग 640 किग्रा./घमी.) रक्ताभ और सघन दानेदार तथा कुछ कठोर होती है। यह मकान-निर्माण, नावों और डोंगियों के बनाने में काम आती है (Brandis, 138; Gamble, 148; Trotter, 1944, 103)।

इसके फलों को बन्दर खाते हैं। छाल उदरपीड़ा में दी जाती है (Fl. Assam, I, 230; Kirt. & Basu, I, 548)।

डा. प्रोत्तेरम हियर्न (लकड़ी का भार, 592-640 किग्रा./घमी.) और **डा. ग्रांडे हियर्न** (लकड़ी का भार, 752 किग्रा./घमी.) असम में पाई जाने वाली जातियाँ हैं जिनकी लकड़ी मकान और नाव बनाने के काम आती है (Fl. Assam, I, 231)।

D. procerum Hiern; *D. grande* Hiern

डाक - देखिए रच्यूमेक्स

डाकस लिनियस (अम्बेलीफेरो) *DAUCUS* Linn.

ले. - डीकूस

यह वार्षिक या द्विवार्षिक वृष्टियों का एक वंश है जो प्रायः यूरोप, अफ्रीका और एशिया के शीतोष्ण क्षेत्रों तक ही सीमित है। इसकी एक जाति **डा. कैरोटा** की खेती सारे विश्व में गूदेदार खाद्य जड़ों के लिए की जाती है।

Umbelliferae

डा. कैरोटा लिनियस *D. carota* Linn.

जंगली गाजर, क्वीन एन्स लेस

ले. - डौ. कारोटा

D.E.P., III, 43 (in part); Bentley & Trimen, II, 135.

यह शक्युक्त द्विवार्षिक वृद्धि है। पर्ण, दुहरे या तिहरे पिच्छाकार; फूल छोटे श्वेत चपटे छत्रको में जिनमें से प्रत्येक में एक केन्द्रीय गहरे लाल रंग का या लालाभ भूरे रंग का पुष्पक होता है; फल लम्बे, पृष्ठभाग पर चपटे काँटेदार होते हैं जिनके सिरों पर महीन शूक होते हैं।

जंगली गाजर और कृष्य गाजर में अन्तर है। जंगली गाजर की जड़ें पतली लम्बी, काष्ठमय गावदुम और तीव्र ऐरोमैटीय गन्धयुक्त होती हैं और इनका स्वाद तीक्ष्ण, अरुचिकर कड़वा होता है। यह यूरोप, अफ्रीका और एशिया का मूलवासी है और दोनों गोलार्द्धों के शीतोष्ण-कटिबंध में हानिकारक अपतृण के रूप में पाया जाता है। हिमालय पर यह 1,500-2,700 मी. की ऊँचाई तक पाया जाता है। इसकी ऊँचाई अक्सर 1.8 मी. तक पहुँच जाती है।

जंगली गाजर के फल जिन्हें प्रायः बीज कहा जाता है हल्के और सौरभिक होते हैं और इनका स्वाद तीखा और कड़वा होता है। इनमें स्थिर और वाष्पशील दोनों ही प्रकार के तेल होते हैं। न सूखने वाले बसीय तेल का स्वाद कड़वा होता है क्योंकि इसमें डाकुसिन होता है जो एक पीला, आर्द्रता-अग्राही ग्लाइकोसाइड है और 95% ऐल्कोहल में विलेय है। अमेरिकी वन्य गाजर के बीजों के घर्तकी के ऊपर के हिस्से से जो सगंध तैल मिलता है उसके लक्षण निम्नलिखित हैं : आ. घ. 15° , 0.868-0.881; $[\alpha]_D^{20}$, $-28^\circ 24'$ से $-31^\circ 46'$; n_D^{20} , 1.4727-1.4771; अम्ल मान, 0.8-1.3; साबु. मान, 23.3-29.5; यह 90% ऐल्कोहल के 10 गुने आयतन में भली-भाँति विलेय नहीं है। इस तेल की गन्ध और स्वादगन्ध कैरट बीज तेल से भिन्न है परन्तु सुवासित करने में इसके उपयोग की काफी सम्भावनाएँ हैं (Guenther, IV, 588).

फ्रांस में उगे समग्र पीधे से प्राप्त तेल के लक्षण हैं : आ. घ. 16° , 0.9016; $[\alpha]_D^{20}$, $-6^\circ 56'$; साबु. मान, 195.4; ऐसीटिलीकरण के बाद एस्टर मान, 226.8. यह तेल अपने समान आयतन के 80% ऐल्कोहल में विलेय है (Finnemore, 631).

इसके बीज सौरभिक होते हैं और वे कभी मूत्रवर्धक माने जाते थे। जड़ों का निष्कर्ष मूत्रवर्धक, रुकावट हटाने वाला, उत्तेजक तथा जलशोथ, मूत्र अवरोधन और मूत्राशय की व्याधियों में लाभप्रद है। जड़ का निष्कर्ष गर्भाशय के आकुचन में प्रभावशाली बताया गया है (Wren, 369; U.S.D., 1385).

कभी-कभी जंगली गाजर के फल फसल के बीजों के साथ मिले हुये पाये जाते हैं। इंग्लैंड में बीज अधिनियम, 1920 द्वारा ऐसे बीज वचना वजित है जिनमें वन्य गाजर के बीजों की मात्रा 5% से अधिक हो (Robinson, 696).

—वैर. सैटाइवा द कन्दोल var. sativa DC. कृष्य गाजर
D.E.P., III, 43; C.P., 489; Bailey, 1949, 752.

सं. — शिखामूल; अरबी — गाजर; फारसी — जर्दक; हि., वं., पं. और गु. — गाजर; म. — गजारा; ते. — गज्जरगड्डा, पितकंद; त. — गजरकिलंगु, करेटुकिलंगु; क. — गेजरि.

यह एकवर्षी या द्विवर्षी वृद्धि है जिसका तना खड़ा और बहुशाखाओं वाला होता है। यह ऊँचाई में 0.3-1.2 मी. होता है और इसमें नीचे 5-30 सेंमी. लम्बी मुदेदार मूसला जड़ होती है। पत्ते पक्षवत् संयोजित; फूल श्वेत या पीताभ; शाखायुक्त गोल छत्रकों पर लगे हुए; फल 0.3 सेंमी. लम्बे होते हैं जिनकी शिराओं पर शूक केम होते हैं।

कृष्य गाजर वन्य गाजर से पुंजवरण की निरन्तर प्रक्रिया द्वारा व्युत्पन्न माना जाता है। कृष्य गाजर का रंग सफेद से पीताभ, नारंगी पीला, हल्का बैंगनी, गहरा लाल या गहरा बैंगनी नील-लोहित और आकार में छोटे ठूँठ से लेकर गावदुम-शंकु तक हो सकता है। कई प्रकार, कुछ देशज पर अधिकांश यूरोप और अमेरिका से लाकर भारत में उगाये जाते हैं। भारत में उपजायी जाने वाली विदेशी किस्में हैं : अर्लीहार्न, शांतेने, डेन्वर्स, नांतेस और अर्लीजेम. शांतेने और डेन्वर्स अपनी लम्बी गावदुम जड़ों और विश्वसनीय उपज के लिए प्रसिद्ध हैं। अर्लीहार्न और अर्लीजेम शीघ्र तैयार होने और कोमल तथा मृदु स्वाद-गन्धमय जड़ों के लिए प्रसिद्ध हैं। देशी किस्मों में श्वेत हरित प्रकार को सहिष्णुता और उपज की बहुलता की दृष्टि से देश के अनेक भागों में पसन्द किया जाता है। भारतीय गाजर विदेशी गाजरों की अपेक्षा रूखी होती है और उनमें स्वादगन्ध भी कम होती है। कोमल, मृदु, चमकदार लाल या नारंगी रंग के गूदे वाली और न्यूनतम क्रोड वाली गाजर सच्ची के रूप में अत्यन्त उपयोगी है (Bailey, 1947, I, 674; Firminger, 151; Purewal, 36).

गाजर के प्रकारों में आनुवंशिक विधियों से सुधार की ओर बहुत कम ध्यान दिया गया है। बहुत दिनों तक यह मान्यता थी कि गाजर आत्म-असंगत है और व्यावहारिक आवश्यकताओं के लिए मूल चयन-पद्धति काफी है। हाल के शोधों से पता चला है कि गाजर स्वतो-निर्वेचक है और अंतःप्रजनन द्वारा गाजर के विशिष्ट लक्षणों, जैसे केरोटिन ग्रंथ में एकरूपता, का विकास किया जा सकता है। आजकल सँकरे क्रोडों वाली सुधरी हुई जड़ों को उगाने में रुचि ली जा रही है। यह देखा गया है कि क्रोडों के सँकरे पड़ने पर सिरों की भंगुरता बढ़ती है (Yearb. U.S. Dep. Agric., 1937, 306).

गाजरों को बीजों द्वारा प्रवर्धित किया जाता है और लगभग भारत भर में इसकी उपज होती है। दक्षिण और मध्य भारत में इसका उत्पादन अधिकतर पहाड़ी स्थलों पर होता है। उत्तर भारत में इसे सर्दियों की फसल के रूप में उगाया जाता है। अनुकूल जलवायु पाकर यह पहाड़ों पर लगभग वर्ष भर उगती रहती है। मार्च से सितम्बर तक हर पखवाड़े में लगातार बोआई की जाती है। मैदानों में अगस्त से नवम्बर तक बीज बोये जाते हैं और 2-4 माह बाद फसल प्राप्त की जाती है (Saunders, 52).

चिकनी मिट्टी को छोड़कर शेष सभी मिट्टियाँ गाजर के लिए उपयुक्त हैं किन्तु बढ़िया जल-निकास वाली, मध्यम या हल्की द्रुमट मिट्टियाँ उत्तम होती हैं। गाजर अल्पक्षारीय मिट्टी में उग सकती है। भारी मिट्टी में छोटे ठूँठ-जैसे जड़ वाले प्रकार ही उगते हैं। लम्बी गावदुम जड़ों के लिए खुली मिट्टी की जरूरत है जिसमें जड़े निर्बाध रूप से प्रवेश करके समान रूप से बढ़ सकें। जड़ों की आकृति और रंग पर ताप का प्रभाव पड़ता है। उच्चताप के कारण जड़ें छोटी और अनाकर्षक रंग की हो जाती हैं। मिट्टी की आर्द्रता का बहुत असर नहीं पड़ता पर नमी कम होने से जड़ें लम्बी हो जाती हैं (Knott, 261; Thompson, 333).

कृषि के लिए खेत को गहराई से खोदकर बोनो योग्य बनाकर उसमें प्रचुर मात्रा में खाद डालनी चाहिये। एक टन गाजर के साथ मिट्टी से लगभग 4.5 किग्रा. पोटैश, 1.4 किग्रा. नाइट्रोजन, और 0.81 किग्रा. फॉस्फोरिक अम्ल निकल जाता है। अतः प्रचुर मात्रा में (40 गाड़ी प्रति हेक्टर) सड़े गोबर की खाद को पोटैश के म्यूरिएट के साथ (2 क्विंटन प्रति हेक्टर) प्रयोग करना चाहिए। खाद का प्रयोग बोआई के कुछ समय पहले करना चाहिए (Thompson, loc. cit.; Purewal, loc. cit.).

गाजर को बीजों की छिड़का बोआई की रीति ने या 20-45 सेंटी. के अन्तर पर स्थित पंक्तियों में डिल से बोया जाता है। बीज के साथ महीन रेत मिला दी जाती है जिससे सन वितरण में सुविधा होती है। बीज दर 4 से 16 किग्रा. हेक्टर हो सकती है। आयातित बीज 4 किग्रा./हेक्टर की दर से बोये जाते हैं। अंकुरण मंद गति से होता है। बीजांकुरों के प्रगट होने में 10-20 दिन लग जाते हैं। बीज बोने के शीघ्र बाद सिंचाई या बोने के पहले बीजों को 12-24 घंटे पानी में तर रखना अंकुरण की शीघ्रता की दृष्टि से लाभकर है। खेत को खरपतवार से साफ रखना चाहिये। जब पौधे स्थापित हो जाते हैं तब प्रायः उन्हें बिल कर दिया जाता है ताकि उनकी सघनता से जड़ों में विकार न आ जाए। विरलन आर्थिक दृष्टि से सलानकार है। इससे जड़ों का शीघ्रत आकार तो बड़ जाता है परन्तु प्रति हेक्टर उपज में वृद्धि नहीं होती। गर्मी के दिनों में हफ्ते में एक बार और जाड़े के दिनों में पखवारे में एक बार गाजर को पानी देने की जरूरत है। अधिक पानी देने से फीके स्वाद का गाजर पैदा होता है (Purewal. loc. cit.; Saunders. loc. cit.; Bull. Minist. Agric., Lond., No. 120, 1945, 3).

यूरोप और अमेरिका से गाजर के बच्च जन्त अनेक बीमारियों की जानकारी मिली है। भारत में एरिसिफे पालिगोनाइड व कन्दोल द्वारा उत्पन्न फ्रूट और सक्कोसोरा एपाइ प्रैजेनिअन बैर. कैरोटी द्वारा पत्तों पर भुरे रंग के बच्चों के पड़ने की और प्रतिरोपित बीजांकुरों एवं पुष्पन की अवस्था में पौधों में मूल-मूलन की सूचना मिली है (Bull. Minist. Agric., Lond., No. 123, 1949, 14; Indian J. agric. Sci., 1950, 20, 119; Purewal. Indian Fmg. 1949, 10, 293).

जब जड़ें काफी बड़ी हो जाती हैं, गाजरों की फल काट ली जाती है। समतल धरातल पर उगाये गये गाजर के पौधों की बटाई की जाती है और जड़ें फावड़ों से निकाली जाती हैं। पक्ति में उगाई गई या मेंडों पर बोई गई गाजरों को पत्तों सहित उखाड़ लिया जाता है और तब ऊपरी हिस्से निचाल दिये जाते हैं। अमेरिका और यूरोप में पत्तीदार गाजर, जिसे गुच्छदार गाजर कहा जाता है, बोये जाते हैं। बेचने के लिए जड़ों को साफ करके पिटाखियों में पैक किया जाता है।

गाजर की उपज उनकी किस्म, मौसम और मिट्टी की स्थितियों के अनुसार प्रति हेक्टर 17.5-45 टन तक होती है। अनुकूल अवस्थाओं में 50 टन तक पैदावार हुई है।

पत्तियों को तोड़ लेने के बाद गाजर को 5-6 माह तक सयह किया जा सकता है। इनमें उनके गुणधर्म या आहार-मान में कोई अन्तर नहीं आता। इनका मरहू मुली रेत में किया जाता है। कमी-कमी गलन को रोकने के लिए राख और लकड़ी का कोयला भी रेत के साथ मिला दिया जाता है (Thompson. loc. cit.; Saunders. loc. cit.).

भारत में अधिकतर गाजर यूरोप या अमेरिका से आयातित बीजों में उगाई जाती है। भारत में गाजर के बीज तैयार करने के प्रयास किये गये हैं। कन्नी, कुल्लू और कुछ अन्य क्षेत्रों में गाजर फार्म बनाये गये हैं। कुल्लू के कुछ हिस्सों में केवल बीजों के लिए ही फल उगायी जाती है। जलार्ड में बीज बोये जाते हैं और दिसम्बर में जड़ का ऊपरी एक तिहाई निचनी पत्तियों के साथ 0.75 मी. के अन्तर पर पंक्तियों में प्रतिरोपित किया जाता है। एक हेक्टर में उगाये गये पौधों में 5 हेक्टर में प्रतिरोपित करने के लिए पर्याप्त टुकड़े मिल जाते हैं। ये प्रतिरोपित पौधे मई में पुष्पित होते हैं और बर्षा तक पुष्पित होते रहते हैं। बीज जलार्ड में पैक किये हैं और पके हुए सूत्रक हॉमिया से काटकर

3-4 दिन तक धूप में सुखाये जाते हैं। प्रति हेक्टर बीज की उपज लगभग 200 किग्रा. होती है (Purewal. Indian Fmg. 1949, 10, 293).

गाजर का उपयोग रमा, शोरवा, हलवा, पाई आदि विविध व्यंजन बनाने में किया जाता है। इसे छोटे टुकड़ों में काटकर सलाद के रूप में भी प्रयोग में लाते हैं। नूदु जड़ों से अचार बनाया जाता है। टिक्रियो या फाँकों के रूप में, सुखाये गये मुरब्बे के रूप में भी गाजर बहुत खिचकर होती है। गाजर का रस कैरोटीन का अच्छा स्रोत है। इसका व्यवहार मक्खन तथा अन्य भोज्य पदार्थों को रंगने में भी होता है। डिब्बाबन्द गाजर सज्जी के रूप में तथा कुत्तों, बिलियों के आहार के रूप में इस्तेमाल की जाती है (Siddappa & Mustafa. Misc. Bull. I.C.A.R., No. 63, 1946, 19; Cruess, 234).

जाना में गाजर के पत्ते खाये जाते हैं। गाजर के पत्तों का बर्ण, जिसमें नसालों की स्वादगन्ध होती है। नुंगियों को मिलाते के काम आता है। गाजर और उनके पत्ते पौं ही या गइतों में दबाकर रखने के बाद मवेशियों और घोड़ों के चारे के रूप में काम आते हैं। गाजर के बीजों को भाग और जाना जीरा के साथ मिलाया जाता है (Burkill. I. 722; Willaman & Eskeu. Tech. Bull. U.S. Dep. Agric., No. 958, 1948, 29).

गाजर का फाँट मूत्रहर्षण की देशी चिकित्सा में बहुत दिनों से प्रयुक्त हो रहा है। गाजर मूत्रवर्धक और यूरिक अम्ल के निरसन में सहायक है। आहार के साथ प्रचुर मात्रा में गाजर का प्रयोग करने से नाइट्रोजन संतुलन पर अनुकूल प्रभाव पड़ता है। नूले गाजरों के पेट्रोल-इयर निष्कर्षण से एक अक्रिस्टलीय पीला प्रभाव प्राप्त होता है। इस प्रभाव को वादान के तेल में विलयित करके ननुष्य, खराबोग या कुत्तों के शरीर में नुई द्वारा पहुँचाने पर खरिब शर्करा में किसी अन्य प्रभाव की काफी घटती देखी गई है। जड़ की कतरने मंद बर्णों में स्थानीय उत्तेजक के रूप में काम आती है (U.S.D., 1385; Chem. Abstr., 1940, 34, 4775; 1946, 40, 6578; 1934, 28, 4480).

गाजर का आहार के रूप में महत्व इसलिए है कि वह दसा विलेय हाइड्रोकार्बन, $C_{29}H_{58}$ का महत्वपूर्ण स्रोत है। इस हाइड्रोकार्बन का β रस विटामिन ए का पूर्वगामी है। गाजर के खाद्य अंग के विश्लेषण ने निम्नलिखित मान प्राप्त हुए: आर्द्रता, 86.0; प्रोटीन, 0.9; वसा, 0.1; कार्बोहाइड्रेट, 10.7; रेशा, 1.2; खनिज पदार्थ, 1.1; कैल्शियम, 0.08; फॉस्फोरस, 0.03%; सोडा, 1.5 निग्रा/100 घा; कैरोटीन (विटामिन ए अं. इ. में), 2,000-4,300/100 घा.; विटामिन बी₁, 60 अं. इ./100 घा.; और विटामिन सी, 3 निग्रा/100 घा. (Hlth Bull., No. 23, 1941, 31; Nature, 1941, 147, 132).

वृद्धि के साथ-साथ प्रोटीन के घटने और कुल कार्बोहाइड्रेट के बढ़ने की प्रवृत्ति होती है। इसमें सुक्रोज, ग्लूकोस और स्टार्च पाये जाते हैं। वृद्धि की विभिन्न अवस्थाओं में विश्लेषण से ज्ञात हुआ है कि 14 मान के पौधों में सुक्रोज 16.5% रहता है जो 4 मान के पौधों में 33.9% तक बढ़ जाता है। इसी अवधि में बच्चा रेशा और स्टार्च क्रमशः 9.5% और 2.52% से घट कर 7.3% और 1.48% हो जाते हैं। इनमें पेटोनन और मेयिन पेटोनन पाये जाते हैं (Thorpe. II. 403; Chem. Abstr., 1934, 28, 7300; 1948, 42, 1632).

प्रायः सभी किस्म के गाजरों का कैरोटीन अंग परिलक्षणा तक बढ़ता ही रहता है। इन गाजरों की जड़ में कैरोटीन मचिन नहीं होता। गाजरों की 70 किस्मों (अंग्रेजी) के 238 नमूनों के विश्लेषण में पता चला कि कैरोटीन अंग (यह मान निग्रा गया कि नमूने कैरोटीनायडों का 90% कैरोटीन होता है) लगभग 12.4 निग्रा/100 घा. या

गाजर की एक विशेष किस्म में देखा गया कि गाजर और उसके कुल कैरोटिनायड में बहुत कम सहसम्बन्ध था। लाल क्रोड और छोटे क्रोड वाली किस्में अन्यो से कुछ अधिक समान थीं। बड़े आकार की जड़ें छोटी की अपेक्षा कैरोटीन में अधिक सम्पन्न थीं। चयन द्वारा किसी किस्म के कैरोटीन अंश में वृद्धि सम्भव है और बीज की वंशावली सम्भावित कैरोटिनायड अंश की विश्वसनीय सूचक है। कैरोटीन के लिए 14 भारतीय किस्मों के विश्लेषण से (विटामिन ए के रूप में) 0.3 अन्तर्राष्ट्रीय इकाई से 195 अन्तर्राष्ट्रीय इकाई/ग्रा. तक के परास में मान प्राप्त हुए। लाल किस्मों में कुल कैरोटिनायड का 60-83% β -कैरोटीन था। नारंगी रंग की किस्मों में प्रधान वर्णक α -कैरोटीन और हल्की पीली, पीली, लाल और बैंगनी किस्मों में जैथोफिल रहता है। एक पदार्थ, जिसमें विटामिन ए के भौतिक और रासायनिक गुण देखे जाते हैं, पृथक्कृत किया गया है और असावुनीकृत अंश में डाकोस्टेरॉल ($C_{35}H_{60}O_6$; ग. वि., 305°) की उपस्थिति ज्ञात हुई है (*Chem. Abstr.*, 1936, 30, 513; 1937, 31, 6248; 1939, 33, 1782; 1947, 41, 1771; 1942, 36, 3572; Sadana & Ahmed, *Indian J. med. Res.*, 1947, 35, 81)।

गाजर में उपस्थित विटामिन बी में से थायमीन (56-101 माग्रा/100 ग्रा.), राइबोफ्लेविन (50-90 माग्रा/100 ग्रा.), निकोटिनिक अम्ल (0.56-11 मिग्रा./100 ग्रा.) ये विटामिन सी प्रोटीन-एस्काविक अम्ल जटिल के रूप में होता है। विटामिन डी, विटामिन ई के लक्षणों वाला एक पदार्थ और विटामिन ए तथा डी के संगत विटामिन अभिक्रियाओं वाला एक फॉस्फोलिपायड भी पाया जाना है जिसमें कैल्सियम, फॉस्फोरस और नाइट्रोजन कार्बनिक शृंखला में जुड़े होते हैं (Sherman, 634; Platt, *Spec. Rep. Ser. med. Res. Coun. Lond.*, No. 253, 1945, 20; *Chem. Abstr.*, 1941, 35, 5204; 1942, 36, 3570; 1944, 38, 421; 1936, 30, 513)।

अंश में पकाने पर गाजर के पोषक तत्वों में काफी कमी आ जाती है। समग्र ठोम, समग्र नाइट्रोजन, शर्कराओं तथा राख अवयवों में काफी कमी हो जाती है। ऐस्काविक अम्ल अंशतः ऑक्सीकृत हो जाता है और विटामिन डी का एक भाग नष्ट हो जाता है। गाजर को भाप में पकाने पर उसकी खाद्य कैल्सियम की मात्रा में विशेष परिवर्तन नहीं होता (Winton & Winton, II, 96; *Chem. Abstr.*, 1938, 32, 9195; 1940, 34, 7999; 1947, 41, 817, 5671)।

देखा गया है कि कच्ची गाजर को महीन टुकड़ों में सेवन करने पर कुल कैरोटीन का केवल 20% ही आत्मसात् हो पाता है। कच्ची या पकाई हुई गाजर बड़े-बड़े टुकड़ों में खाने पर यह प्रतिशत घटकर 5% रह जाता है। गाजर को पकाने के बाद भी अवशोषण में यह न्यूनता इसलिए होती है कि कैरोटीन के लिए कोशिका भित्ति में पारगम्यता होती है, परिणामतः अधिकांश कैरोटीन कोशिकाओं में बन्द रह जाता है। जैव-आमापन द्वारा निर्धारित गाजरों की विटामिन ए सक्रियता रासायनिक विश्लेषण द्वारा निरूपित प्रो-विटामिन ए सक्रियता की मात्रा की एक तिहाई पाई गई (*Chem. Abstr.*, 1940, 34, 5897; 1947, 41, 6941; 1948, 42, 4288)।

गाजरों में लगभग 5.27% (शुष्क भार के आधार पर) फाइटिन रहता है। इसमें पाये जाने वाले फॉस्फोरस का 16% फाइटिक अम्ल में उपस्थित फॉस्फोरस के रूप में होता है। इस फॉस्फोरस का कुछ अणु निरपॉयट फॉस्फोरस के रूप में रहता है और ऐल्कोहल तथा ईथर के मिश्रण द्वारा निष्कर्षित किया जा सकता है। कच्ची गाजर से निष्कर्षित लिपॉइड की विशेषता नाइट्रोजन अंश की कमी (0.33-

0.72%) और कोलीन का अभाव या निम्न प्रतिशतता (0.52%) है जबकि भाप में पकाई गई जड़ों में नाइट्रोजन (1.1-1.3%) और कोलीन (4.2-4.4%) की प्रचुरता होती है। संघटन में इस अन्तर का कारण है कच्चे गाजर में लेसिथिनेस की उपस्थिति, जो फॉस्फोलिपाइडों से कोलीन को विघटित कर देता है (Winton & Winton, II, 99; McCance & Widdowson, 148; Hanahan & Chaikoff, *J. biol. Chem.*, 1947, 168, 238)।

गाजर के केन्द्रीय क्रोड में शीर्ष की अपेक्षा ज्यादा प्रोटोपेक्टिन होता है, यद्यपि क्रोड और शीर्ष के वास्तविक पेक्टिन अंशों में विशेष अन्तर नहीं होता। गाजर से पृथक्कृत पेक्टिन में (शुष्क भार का 16.82-18.75%) जेलीकरण का गुण नहीं होता (Thorpe, II, 404; Elwell & Dehn, *Plant Physiol.*, 1939, 14, 810)।

गाजर की राख के विश्लेषण से (ताजा भार के आधार पर) ये मान मिले : कुल राख, 0.92; K_2O , 0.51; Na_2O , 0.06; CaO , 0.07; MgO , 0.02; और P_2O_5 , 0.09%। इसमें लोहा, ऐल्युमिनियम, मैंगनीज, ताँबा, जस्ता, आर्सेनिक, क्रोमियम, आयोडीन, ब्रोमीन, क्लोरिन, यूरेनियम और लिथियम की रंच मात्राएँ पाई जाती हैं (Winton & Winton, II, 96; Thorpe, II, 404; *Chem. Abstr.*, 1946, 40, 411; 1936, 30, 3110; 1948, 42, 8302; 1949, 43, 3537; 1943, 37, 5790; 1936, 30, 6231)।

संग्रह - 0° से 4.5° पर 6 महीनों तक और 10° पर 3 महीनों तक पत्ते-रहित संग्रहीत जड़ों के रासायनिक संघटन या विटामिन साम्रता में कोई विशेष परिवर्तन नहीं होता। 5 माह तक रखने पर ल्यूकेस, ऐमिलेस और कैटेलेस की सक्रियता में भी बहुत कम परिवर्तन होता है। दीर्घकालीन संग्रह से थायमिन और ऐस्काविक अम्ल की हानि होती है। इस हानि पर गोदाम के ताप का प्रभाव पड़ता है। 32° ताप पर संग्रहीत गाजर में सूखी घास-जैसी गन्ध आने लगती है जिसे गन्धक के धुएँ से शुद्ध करने की क्रिया द्वारा दूर किया जा सकता है। इस क्रिया से ऐस्काविक अम्ल और कैरोटीन का रक्षण भी हो जाता है। संग्रह के समय खड़िया का चूर्ण छिड़कने से (लगभग 2 किग्रा. प्रति 100 किग्रा. पर) बोटाइडिस और स्क्वेरोटीनिया से गाजर की रक्षा होती है और वह गोदाम में ज्यादा समय तक सुरक्षित रह सकता है। गाजर को सुरक्षित रखने की दृष्टि से उसे गोदाम में रखना, डिब्बाबंदी की तुलना में अधिक अच्छा है (Thorpe, II, 404; *Chem. Abstr.*, 1935, 29, 244, 5194; 1949, 43, 1493; 1944, 38, 4054; 1941, 35, 5586; 1934, 28, 808)।

डिब्बाबंदी और निर्जलीकरण - गाजरों को सुरक्षित रखने के लिए डिब्बाबंदी और निर्जलीकरण दोनों ही का प्रयोग किया जाता है। संयुक्त राज्य अमेरिका में प्रधानतया शांतेने किस्म की गाजर को डिब्बाबंदी की जाती है और गाजर को ऊँचे दाब पर तथा भट्टी में भी पकाया जाता है। डिब्बाबंद गाजर का कैरोटीन अंश 6 माह तक संग्रहीत रखने पर भी अल्प प्रभावित होता है। बी विटामिनो का प्रतिरक्षण दाबपाचित गाजर में भट्टीपाचित गाजर की अपेक्षा अधिक अच्छा होता है। इन दोनों प्रकारों से पाचित करने पर विटामिन सी की हानि होती है। डिब्बाबंदी के लिए प्रजाक्षित टिन की अपेक्षा सादे टिन अच्छे होते हैं क्योंकि सादे टिन में डिब्बाबंद गाजर में विलेय टिन रहता है जो बलोस्ट्रोडियम वाटुलिनम की वृद्धि को रोकता है (*Chem. Abstr.*, 1948, 42, 5132; 1934, 28, 808; 1930, 24, 5803; 1946, 40, 410)।

निर्जलीकरण के लिए गाजरों को 5-7 मिनट तक भाप में रखकर विवर्ण कर दिया जाता है। विवर्ण करने से पहले गाजर के टुकड़ों को

सल्फर डाइऑक्साइड के विलयन में डुबोया जाता है। इस क्रिया से निर्जलीकृत और पुनर्गठित वस्तुओं में रंग नहीं विगड़ता। गाजर को 5% या कम नमी तक सुखाया जाता है, सुखाने के बाद इसे कार्बन डाइऑक्साइड या नाइट्रोजन के वातावरण में डिब्बों में बन्द कर दिया जाता है। इससे ताजा पदार्थ की 7.5-8.5% तक प्राप्ति होती है। निर्जलीकृत पदार्थ में, कच्चे माल में प्रारम्भ में उपस्थित थायमीन का 52-75%, राइबोफ्लैविन का 55-89%, नायसिन का 42-58% अंश होता है। कैरोटीन का अधिकांश अनुरक्षित रहता है। एक निर्जलीकरण प्रविधि विस्थापन शुष्कन की है, इसमें सॉल्वेंट सिरप, कार्न सिरप, गन्ने का शीरा इत्यादि जैसे जलस्नेही द्रवों का उपयोग होता है। विवर्ण किये गये टुकड़ों को कमरे के ताप पर क्रमशः कार्न सिरप के 30% विलयन में 60 मिनट, 60% विलयन में 45 मिनट, और 80% विलयन में 55 मिनट तक डुबाते हैं। अंतिम ऊष्मक से टुकड़े निकाल कर तार की जाली की तश्तरियों पर रखकर 60-63° ताप पर सुखाये जाते हैं (Chem. Abstr., 1943, 37, 951, 960, 961; 1939, 33, 2603; 1945, 39, 2158; 1947, 41, 817, 5998).

वसीय तेल के ऑक्सीकरण के कारण निर्जलीकृत गाजर में एक प्रकार की बुरी गन्ध होती है। यह वसीय तेल ताजे ऊतक में लिपोप्रोटीन जटिल के रूप में होता है। विवर्ण और निर्जल करते समय लिपोप्रोटीन विघटित हो जाता है और तेल मुक्त हो जाता है। गाजर तेल में उपस्थित टोकोफेरॉल (0.5-1.0%) के कारण तेल में विलेय कैरोटीन ऑक्सीकृत होने से बच जाता है (Chem. Abstr., 1943, 37, 3846; Heftman, J. Amer. Oil Chem. Soc., 1947, 24, 404).

गाजर का रस - डिब्बाबंद पेयों के निर्माण में गाजर का निचोड़ा हुआ रस नारंगी के रस में सुस्वादु मिलावट के रूप में काम आता है। यह डिब्बाबंद नारंगी के रस की वासी गन्ध के प्रभाव को नष्ट कर देता है और मिश्रित पदार्थ एक साल तक रखने के बाद भी रुचिकर रहता है। ताजी जड़ों से 50-55% रस प्राप्त होता है (आ. घ., 1.03-1.04; पी-एच, 6.2). इसे तापन द्वारा परिष्कृत किया जाता है और निर्वात या खुले पात्र में वाष्पीकरण द्वारा शीरे के रूप में सान्द्र कर लिया जाता है। इस प्रकार निर्मित सिरप (निर्वात आसवन से प्राप्त शीरा, आ. घ., 1.353; सिट्रिक अम्ल के रूप में कुल अम्ल, 1.31; प्रतीप शर्करा, 27.4; स्यूक्रोस, 17.8%) मधुर और सुस्वादु होता है। खुले पात्र में सान्द्रित रस में एक विशिष्ट प्रकार की टाफी-जैसी या जली हुई शक्कर की-सी गन्ध होती है। गाजर के रस के ठोस सान्द्रण को जो ऐस्काविक अम्ल द्वारा अनुरक्षित और 0° ताप पर संग्रहीत होते हैं, ऐस्काविक अम्ल को अभिग्रहीत किये रहते हैं। संग्रहण ताप 23° से ज्यादा होने पर विटामिन का विनाश तीव्रता से होने लगता है (Chem. Abstr., 1942, 36, 3571; 1944, 38, 804; 1947, 41, 7565).

रस निकालने के बाद बचा हुआ फलपेष मवेशियों के खाने और पेक्टिन तथा कैरोटीन के स्रोत के रूप में उपयोगी होता है। गाजर फलपेष के विश्लेषण से निम्नलिखित मान प्राप्त हुए : नमी, 10.07, 11.66; अपरिष्कृत प्रोटीन, 7.66, 6.04; अपरिष्कृत रेशा, 15.58, 15.76; राख, 9.56, 11.52; ईथर निष्कर्ष, 0.81, 1.01; और कार्बोहाइड्रेट, 56.32, 54.01% (Chem. Abstr., 1944, 38, 804).

कैरोटीन सान्द्र - निचोड़े हुए फलपेष से कैरोटीन प्राप्त करने के लिए पहले उसमें मूंगफली का तेल मिलाया जाता है और फिर पेट्रोलियम के साथ निष्कर्षित किया जाता है। फलपेष को सुखाने और संचित रखने पर कैरोटीन की काफी हानि होती है। कैरोटीन सान्द्रों

का निर्माण प्रायः ताजी या सुखाई गई गाजरों से किया जाता है। अधुवीय विलयकों द्वारा कैरोटीन का सीधे निष्कर्षण करने पर उपलब्धि कम होती है क्योंकि कैरोटीन प्रोटीनों के साथ जटिल बनाता है। इस जटिल से कैरोटीन को मुक्त करने के लिए जटिल का विघटनीकरण करके भंजन करना पड़ता है। इसके लिए कई प्रविधियों का विकास किया गया है। एक विधि में द्रव संमदित पदार्थ को क्षार के साथ दाब-पाचित किया जाता है और कैरोटीन को खनिज तेल के साथ निष्कर्षित किया जाता है। दूसरी विधि में विदलित ढेर को किण्वित किया जाता है और ठोस अवशेष को सुखाकर ऐल्कोहल के साथ निष्कर्षित किया जाता है। मूंगफली के तेल द्वारा सुखाये गये गाजरों से कैरोटीन तुरन्त निष्कर्षित किया जा सकता है। कैरोटीन निष्कर्षण के लिए टेट्राहाइड्रोफ्यूरान उपयोगी विलायक है (Chem. Abstr., 1944, 38, 804; 1946, 40, 7441; 1940, 34, 226; 1948, 42, 1382; 1946, 40, 5204).

पशु-चारा - सफेद गाजर घोड़ा, गाय आदि के चारे के रूप में अत्यन्त उपयोगी है। इसके विश्लेषण से निम्नलिखित मान प्राप्त हुए : अपरिष्कृत प्रोटीन, 0.3; वसा, 0.1; विलेय कार्बोहाइड्रेट, 8.9; और रेशा, 0.7%। गाजर का चारा पशुओं का प्रिय खाद्य है और इसे खाकर गायें अधिक दूध और विटामिन ए से भरपूर वसा देती हैं। गाजर का आहार करने वाली मुर्गियों के अण्डों में, ऐल्फाल्फा पर पली हुई मुर्गियों के अण्डों की अपेक्षा विटामिन ए की मात्रा अधिक पायी गयी। गाजर की पत्तियाँ मवेशियों को खिलाने में उपयोगी हैं। दूसरे हरे चारों के समान ही इनमें भी वसा का प्रतिशत कम परन्तु खनिज लवणों की और विशेषतया चूने की प्रचुरता होती है। ताजे पदार्थ में आर्द्रता, 84; स्टार्च तुल्यांक, 10.23; पचनीय अपरिष्कृत प्रोटीन, 1.4; और प्रोटीन तुल्य मान, 1.22 होता है। पत्तों की रद्दी से व्यापारिक मात्रा में पशुओं के लिए आहार तैयार किया जाता है। गाजर के पत्रों में आर्द्रता, 83.3; प्रोटीन, 5.1; वसा, 0.5; खनिज पदार्थ, 2.8; कार्बोहाइड्रेट, 8.3; कैल्सियम, 0.34; फॉस्फोरस, 0.11%; लोहा, 8.8; निकोटिनिक अम्ल, 0.4 मिग्रा./100 ग्रा. होता है। दो द्रव क्षारक, पाइरोलिडीन और डाउसीन ($C_{11}H_{18}N_2$; क्व. बि., 240-250°; n_D^{20} , +7.8°) पत्तों से पृथक् किये गये हैं (Thorpe, II, 404; Bull. Minist. Agric. Lond., No. 124, 1945, 3; Chem. Abstr., 1935, 29, 847; 1942, 36, 3575; 1946, 40, 4818; Willaman & Eskew, Tech. Bull. U.S. Dep. Agric., No. 958, 1948; Woodman, Agriculture, Lond., 1942, 49, 108).

गाजर की पत्तियाँ मिट्टी में जोत दिये जाने पर बहुत बढ़िया खाद का काम करती हैं। ये खनिज भंडार को बनाये रखने में प्रत्यक्ष रूप से योगदान देती हैं। ये चूना, सोडियम, पोटैशियम और क्लोरीन के लवणों की दृष्टि से समृद्ध होती हैं परन्तु इनमें फॉस्फोरिक अम्ल की मात्रा अपेक्षाकृत कम होती है (Woodman, loc. cit.).

गाजर का तेल - सब्जी के रूप में गाजर महत्वपूर्ण तो है ही, साथ ही कुछ देशों जैसे फ्रांस में इसकी खेती बीजों के लिए की जाती है, जिससे एक वाष्पशील तेल, गाजर बीज तेल, प्राप्त होता है। फल संचित करके सुखा येजाते हैं और विशिष्ट प्रकार के धुमटों से बीज अलग कर लिये जाते हैं। फ्रांस में निर्मित गाजर बीज तेलों की विशेषताएँ निम्नलिखित परासों में होती हैं: आ. घ.¹⁵, 0.906-0.930; n_D^{20} , -11°54' से -22°18'; n_D^{20} , 1.4799-1.4888; अम्ल मान, 1.4-2.8; साब. मान, 10.3-40.1; ऐसीटिलीकरण के बाद एस्टर मान, 47.6-93.1; ये 90% ऐल्कोहल के आवे आयतन में विलेय हैं और 10 आयतन तक अर्धपारदर्शक या स्वच्छ विलयन देते हैं।

इनमें ऐसीटिक अम्ल (एस्टर रूप में), व्यूटिरिक अम्ल (सम्भवतः आइसोव्यूटिरिक), पामिटिक अम्ल, वामावर्ती α -पाइनीन, वामावर्ती लिमोनेन, डाकोल, ऐसरोन, कैरोटाल और वाइसावोलीन होता है। इसके चूर्ण से प्राप्त तेल में निम्नलिखित विशेषताएँ होती हैं: आ. घ.^{15°}, 0.932–0.941; $[\alpha]_D$, -1° से $+4^\circ 10'$; n_D^{20} , 1.4909–1.4931; अम्ल मान, 1.8–3.5; एस्टर मान, 11.2–16.4; ठंडे फामिलीकरण के बाद एस्टर मान, 54.1–59.7 (Poucher, I, 100; Thorpe, II, 404; Guenther, loc. cit.).

गाजर बीजों से प्राप्त वाष्पशील तेल में अल्प पचौली युक्त शत-पर्णिका (आरिस) की गन्ध होती है और यह सभी वैगनी कीटोनों के साथ भलीभाँति मिश्र्य है। एक नई गन्ध को प्राप्त करने या अन्यथा सर्वव्यापी गन्ध को आच्छादित करने की दृष्टि से इस तेल की भारी सम्भावनाएँ हैं। गाजर बीज तेल को देवदार काष्ठ तेल के साथ संमिश्रित करके बढ़िया नकली शतपर्णी प्राप्त किया जा सकता है। गाजर का तेल गराव को सुगन्धित करने के लिये उपयोगी है। द्वितीय विश्वयुद्ध के समय दक्षिण फ्रांस में गाजर बीज तेल प्रचुर मात्रा में आसृत किया जाता था और इसका प्रयोग भोजन विकल्पी वस्तुओं को सुगन्धित करने में होता था (Poucher, loc. cit.; Thorpe, II, 404; Guenther, loc. cit.).

गाजर के ताजे छत्रकों से, जिनका संचय तब किया जाता है जब पौधा बीज देने लगता है, 1.65% एक रंगहीन ईथरीय तीव्रगन्धी तेल प्राप्त होता है जिसके लक्षण इस प्रकार हैं: आ. घ.^{15°}, 0.8804; $[\alpha]_D^{15}$, $-35^\circ 09'$; n_D^{20} , 1.4727; अम्ल मान, 0.28; एस्टर मान, 60.32; ठंडे फामिलीकरण के बाद एस्टर मान, 126.25। यह 90% ऐल्कोहल के 1.5 आयतन में विलेय है (Guenther, loc. cit.).

बीज से प्राप्त वसीय तेल निम्नलिखित लक्षणों से युक्त होता है: आ. घ.^{15°}, 0.9296; n_D^{30} , 1.4723; साव. मान, 179.4; आयो. मान (विज), 105.1; जमनांक, -6° ; असाव. पदार्थ, 1.53% (Jamieson, 247).

गाजर बीजों के जलीय निष्कर्ष में एक ऐसे रचक की सूचना मिली है जो खमीर तथा ऐस्पेजिलस नाइजर में वृद्धि को त्वरित करता है (Chem. Abstr., 1937, 31, 4700).

गाजर के बीज सौरभिक, उत्तेजक और वातसारी होते हैं। ये गुर्दे की बीमारी और जलशोफ में लाभदायक हैं (Chopra, 482; Kirt. & Basu, II, 1229).

Erysiphe polygones DC.; *Cercospora apii* Fres. var. *Carotae* Pass.; *Botrytis*; *Sclerotinia*; *Clostridium botulinum*; *Aspergillus niger*

डाग फिडा – देखिए मत्स्य और मात्स्यकी
(पूरकखण्ड – भारत की सम्पदा)

डाग वेन – देखिए सरखेरा

डाग वुड – देखिए कारनस

डाटिस्का लिनियस (डाटिस्केसी) DATISCA Linn.

ने. – डाटिस्का

यह उत्तरी अमेरिका तथा पश्चिमी एशिया में पाई जाने वाली वृष्टियों का लघु वंश है। डा. कैनाबिना भारत में पाई जाती है।

Datisceae

डा. कैनाबिना लिनियस D. cannabina Linn.

ले. – डा. कैनाबिना

D.E.P., III, 28; C.P., 487; Fl. Br. Ind., II, 656.

हि. – अकलवीर.

पंजाब – भंगजाला, वजरावंगा; कश्मीर – वोफतंगल.

यह झाड़ीदार, अरोमिल, एकलिंगाश्रयी, 0.9–2.1 मी. ऊँची, शानदार पत्तियों वाली बूटी है जो उपोष्ण हिमालय में कश्मीर से नेपाल तक 300 से 1,800 मी. की ऊँचाई तक पाई जाती है। इसकी जड़ें 'अकलवीर' कहलाती हैं और वे कश्मीर तथा समस्त हिमालय प्रदेश में एक पीले रंजक की भाँति, विशेषतः फिटकरी से रंगबंधित रेशम के लिए, प्रयुक्त होती रही हैं। इसका उपयोग ऊनी तथा सूती वस्त्रों की रंगाई में भी होता है। डाटिस्का मूलों से क्रोमियम रंगबंधित ऊन जैतूनी पीले रंग में तथा वंग-रंगबंधित ऊन चटक पीले रंग में रंगी जाती है। इससे ऐल्यूमीनियम रंगबंधित सूत चटक पीला रंग ग्रहण कर लेता है। ऐसा लगता है कि यह रंजक पदार्थ इसकी पत्तियों तथा टहनियों में भी विद्यमान रहता है (Perkin & Everest, 620; Thorpe, III, 549).

इस पौधे की जड़ों तथा पत्तियों से डाटिस्किन नामक एक ग्लाइको-साइड ($C_{27}H_{30}O_{15} \cdot 4H_2O$; ग. वि., 192–93° तथा ऐल्कोहल में $[\alpha]_D$, -48.6°) पृथक् किया गया है जिसकी मात्रा (शुष्क आघार) 6–10% है। जल-अपघटन के फलस्वरूप डाटिस्किन से एक पीले रंग का पदार्थ, डाटिस्केटिन ($C_{15}H_{10}O_6$; ग. वि., 276°) तथा एक टेट्राहाइड्राक्सि फ्लैवोन एवं रैमनोस तथा ग्लूकोस से युक्त एक द्वि-शर्करा, रुटिनोस, प्राप्त होते हैं। डाटिस्किन की प्राप्ति जड़ों के ऐल्कोहलीय निष्कर्षण से सीधे ही (उपलब्ध, लगभग 4%) की जा सकती है। इस पौधे में एक द्वितीय रंजक पदार्थ, जिसका सूत्र $C_{15}H_{12}O_6$ (ग. वि., 237°) है, एक रेजिन, टैनिन तथा एक सघन तेल के उपस्थित होने की सूचना है (Wehmer, II, 808; Thorpe, loc. cit.; Mayer & Cook, 182; Chem. Abstr., 1934, 28, 5599).

यह पौधा तिक्त, मूत्रल, कफनिस्तारक तथा रेचक है। इसका प्रयोग यदा-कदा ज्वर तथा आमाशय एवं गण्डमाला सम्बन्धी विकारों में किया जाता है (Kirt. & Basu, II, 1172).

डाटूरा लिनियस (सोलेनेसी) DATURA Linn.

ले. – डाटूरा

यह विपरीत वृष्टियों, झाड़ियों या छोटे वृक्षों का एक वंश है जो संसार के उष्णकटिबंधीय तथा उष्ण शीतोष्ण कटिबंधीय क्षेत्रों में सर्वत्र पाया जाता है। भारत में इसकी लगभग 10 जातियाँ पाई जाती हैं, जिनमें से डा. इनाक्सिया, डा. भीटल और डा. स्ट्रैमोनियम औषध-वनस्पति के रूप में महत्वपूर्ण हैं; शेष शोभाकारी हैं।

Solanaceae

डा. इनाक्सिया मिलर सिन. डा. भीटल (नान लिनियस)

D. inoxia Mill.

ले. – डा. इनाक्सिया

D.E.P., III, 39; C.P., 488; Fl. Br. Ind., IV, 243.

यह एक भड़ा झाड़ीदार, 0.9-1.2 मी. ऊँचा, एकवर्षी पौधा है। यह मूलतः मैक्सिको का वासी है। भारत में यह हिमालय के पश्चिमी भाग में दक्षिणी प्रायद्वीप के पश्चिम के पहाड़ी भागों में और भारत के कुछ अन्य स्थानों में भी पाया जाता है। यह डा. मोटल से बहुत मिलता-जुलता है और भूल से इसकी गणना भारतीय पौधों के अंतर्गत इसी नाम से कर दी जाती है। डा. मोटल लिनिअस से इसकी भिन्नता इसके घने मृदु रोम, दस दाँतेदार कोरोला और फलों पर लम्बे और नरम कंटक के कारण है। डा. इनाक्जिया के पत्ते गहरे हरे, अण्डाकार, अक्सर कुछ-कुछ हृदयाकार, लगभग 12.5 सेमी. लम्बे, 7.5 सेमी. चौड़े; फूल सफेद, सुरभित, लगभग 7.5 सेमी. लम्बे; फल अण्डाकार-शंक्वाकार (झूमते हुये), 5 सेमी. लम्बे, 3.75 सेमी. व्यास के, सिरों पर 4 फल-खण्डों के आकार के खण्डों में खुलते हुये जिनके बीचों-बीच एक स्तम्भ होता है जिस पर असंख्य हल्के भूरे रंग के बीज लगे रहते हैं। दूसरी जातियों के धतूरे के समान डा. इनाक्जिया भी तीव्र नार्कोटिक गन्ध से युक्त होता है (Santapau, *J. Bombay nat. Hist. Soc.*, 1948, 47, 659; Gerlach, *Econ. Bot.*, 1948, 2, 436)।

भारत में डा. इनाक्जिया का उपयोग डा. स्ट्रैमोनियम जैसा ही होता है। स्कोपोलेमीन $[C_{17}H_{21}O_4N; (\alpha)_D^{20}, -18.75$ (परिशुद्ध ऐल्कोहल)] नाम के ऐल्कलायड के सभाव्य स्रोत के रूप में यह महत्वपूर्ण है। इस ऐल्कलायड का उपयोग पूर्व संवेदनाहारी के रूप में, शल्य-चिकित्सा में, प्रसव के समय, नेत्र-चिकित्सा में और पेचिश की रोकथाम में होता है। सारणी 1 में भारत में उगाये जाने वाले डा. इनाक्जिया के विभिन्न भागों में ऐल्कलायड अंश दिये गये हैं।

यह पौधा उपजाऊ चिकनी दुमट मिट्टी और रोशनीदार स्थान पसन्द करता है। इसे बीज से भी उगाया जा सकता है और पौधे लगाकर भी। अक्रुरण धीमी गति और अनियमितता से होता है। पर्यायक्रम से हिमायन और हिमव्रवण के लिए खुला छोड़ने पर बीज-आवरण कमजोर हो जाते हैं और अक्रुरण शीघ्र होता है। वसन्त में ड्रिल से बीज लगभग एक मीटर के अन्तर पर बोये जाते हैं। एक हेक्टर भूमि में लगभग 10 किग्रा. बीज लगते हैं जिनमें से केवल 50% ही अक्रुरित होते हैं। पौधे के स्वस्थ विकास के लिए सड़े गोबर की खाद पर्याप्त मात्रा में डाली जाती है। सभी पौधों को पुष्पन के समय, जबकि ऐल्कलायड का अंश अधिकतम होता है, काट लिया जाता है।

स्कोपोलेमीन ही ऐसा एकमात्र ऐल्कलायड प्रतीत होता है जो पौधे के सभी भागों में पाया जाता है। चूर्णित पदार्थ की 48% आइसो-प्रोपिल ऐल्कोहल, 48% जल और 4% ग्लेशल ऐसीटिक अम्ल के विलायक में सोखने के बाद अम्लीकृत जल के साथ अन्तःस्रवित करने से यह शीघ्र निष्कपित हो जाता है। अन्तःस्रवण को निर्वात-सान्द्रण द्वारा सिरप बनाकर, अमोनिया मिलाकर उसे क्षारीय बना लेते हैं और फिर आइसोप्रोपिल ऐल्कोहल के साथ पश्चवाहित कर लेते हैं। ऐल्कलायड को ईथर के साथ लेकर उसे हाइपोब्रोमाइड में परिवर्तित कर लेते हैं (Gerlach, loc. cit.)।

स्कोपोलेमीन (1-हाइड्रोसीन) चाशनी-जैसा द्रव है जो लगभग सभी कार्बनिक विलायकों में विलेय है परन्तु पेट्रोलियम तथा बेंजीन में बहुत कम विलेय है। यह हाइड्रोब्रोमाइड-जल में शीघ्र विलेय है और दवाओं में शामक के रूप में उपयोगी होता है। यह प्रमस्तिष्कीय अवसादक है और उत्तेजना तथा उन्माद की अवस्थाओं में उपयोगी है। प्रसव के समय आंशिक पीडाहरण तथा स्मृतिलोप के लिए भी इसका उपयोग होता है। अशांत समुद्र की यात्रा में और हवाई यात्रा में दस्त की बीमारी रोकने की दवाओं में यह सर्वश्रेष्ठ है। शामक

के रूप में खाने के लिए या अवस्त्वक रूप से पूर्व संवेदनाहारी औपधीकरण में इसकी मात्रा 0.5-1.0 मिग्रा. तथा विलयन या लेप के रूप में नेत्र-चिकित्सा में 0.1-0.3% होती है (Henry, 84; B.P.C., 419; U.S.D., 1017)।

पौधे के जलीय निष्कर्ष से प्राप्त काले अवशेष में ऐल्कलायड को अलग करने के बाद अपचायक शर्कराएँ, आक्सैलेट और नाइट्रेट रहते हैं परन्तु टैनिन नहीं रहता। पत्तों में एक स्थिर तेल और विटामिन सी होता है। बीजों में एक स्थिर तेल होता है (Gerlach, loc. cit.; *Brit. Chem. Abstr.*, 1947, 3A, 618)।

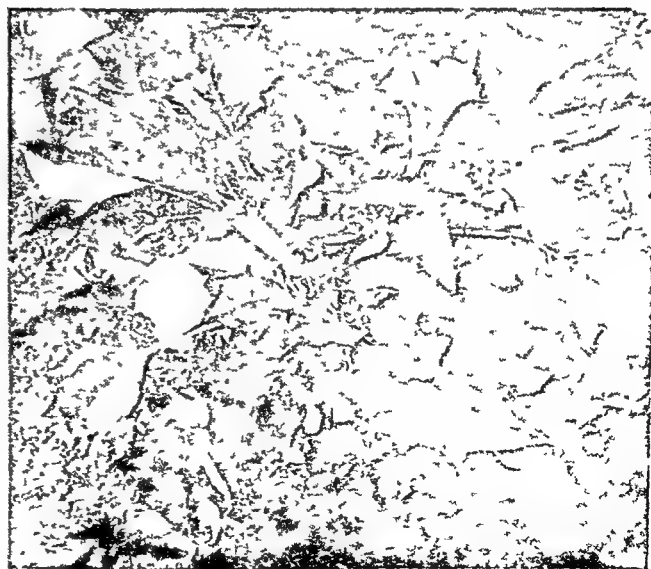
डा. मोटल लिनिअस सिन. डा. फैस्टुओसा लिनिअस; डा. ऐल्बा नीस; डा. फैस्टुओसा वैर. ऐल्बा (नीस) सी. बी. क्लार्क D. metel Linn.

ले. - डा. मेटेल

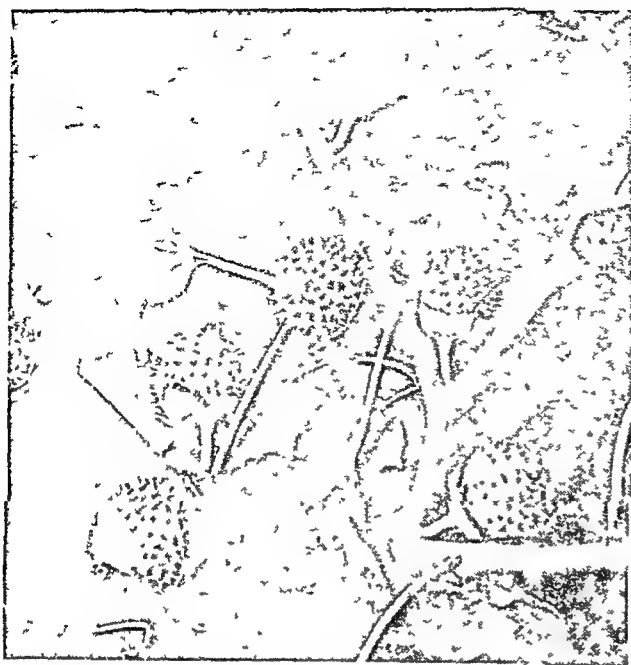
D.E.P., III, 32; C.P., 488; Fl. Br. Ind., IV, 242.

यह प्रायः अरोमिल विसर्पी बूटी है जो कभी-कभी झाड़ी के रूप में होती है। यह भारत में हर कहीं होती है और उद्यानों में भी उगायी जाती है। रूपरेखा में पत्ते त्रिकोणीय अण्डाकार, आधार पर असमान; फूल लगभग 1.75 सेमी. लम्बे, प्रायः दुहरे या तिहरे, बाहर की ओर से सफेद, बैंगनी, रक्त-नील-लोहित या नील-लोहित रंग के और अन्दर की ओर से श्वेत; फल गोल, ग्रथियुक्त, या गुमड़ीदार, छोटे, मोटे पुष्पदंड पर उठे हुये और डा. स्ट्रैमोनियम से भिन्न जो कभी स्थिर नहीं रहते बल्कि हिलते-डुलते रहते हैं; सम्पुटिका अनियमित रूप से स्फुटित और उसके लगभग समग्र भीतरी भाग में हल्के भूरे रंग के चपटे बीज जो सारे अंतर्भाग को भरे रहते हैं।

डा. मोटल के सूखे पत्ते और पुष्पीय सिरों त्रिटिंग फार्माकोपिया में 'डाटूरे फोलियम' शीर्षक के अंतर्गत माने गये हैं भारत में ये बहुत



चित्र 86 - डाटूरा मोटल - पुष्पित



चित्र 87 - डाटूरा मोटल - फलित

प्राचीन काल से अपने सवेदनमंदक और प्रत्याकर्षी गुणों के लिए ज्ञात है। व्यापार के लिए औषध का संचय प्रायः वन्य पौधों से किया जाता है।

पहाड़ों पर जून में और मैदानी भागों में जुलाई में बीज बो कर डा. मोटल उपजाया जा सकता है। पत्तियों की उपलब्धि और ऐल्कलायड की मात्रा पर कटाई-छँटाई और फूल तोड़ने की क्रिया का प्रभाव पड़ता है पौधे की ऊँचाई, पत्तों की संख्या, शुष्क भार और ऐल्कलायड मात्रा पर छँटाई का प्रतिकूल और फूल तोड़ने की क्रिया का अनुकूल प्रभाव पड़ता है। एक प्रयोग के अंतर्गत प्रारम्भ में फूल तोड़ने से 4½ मास के पौधे में ऐल्कलायड का अंश 0.2250% से बढ़कर 0.3856% हो गया और 5½ मास के पौधों में यह वृद्धि 0.2026% से 0.3824% हो गई। 42 पौधों के प्रति भूखंड में 600 ग्रा. के हिसाब से अमोनियम सल्फेट उर्वरक के प्रयोग से ऐल्कलायड का अंश बढ़कर 4½ मास के पौधों में 0.4025% और 5½ मास के पौधों में 0.3850% हो गया। ज्यों-ज्यों फल पकता है त्यों-त्यों ऐल्कलायड फल-भित्ति से बीज की ओर अभिगमन करता है (Firminger, 430; Chem. Abstr., 1949, 43, 3067; Hort. Abstr., 1949, 19, 290; Maranon, Philipp. J. Sci., 1928, 37, 251)।

डा. मोटल में उपस्थित मुख्य ऐल्कलायड स्कोपोलेमीन है तथा हाइयोसायमीन, एट्रोपीन और अहाइयोसायमीन की मात्रा प्रायः अल्प होती है। ऐल्कलायडों के निष्कर्षण के लिए पत्तों का संचय तड़के करना चाहिये क्योंकि तभी ऐल्कलायड की मात्रा उच्च होती है। मारण्णी 1 में पौधे के विभिन्न अंगों की ऐल्कलायड मात्रा दी हुई है (Henry, 65; Chem. Abstr., 1933, 27, 1713)।

डा. मोटल के सूखे पत्तों का औषध में वही उपयोग है जो वेलाडोना और स्ट्रामोनियम के पत्तों का है। सूचना है कि पूर्वी अफ्रीका में इसके हरे पत्तों का उपयोग कपड़ों की रंगाई में होता है (Greenway, Bull. imp. inst., Lond., 1941, 39, 231)।

डा. मोटल के बीजों में एक स्थिर तेल (लगभग 12%) होता है जिसकी गन्ध और स्वाद अप्रिय होते हैं। इस तेल के स्थिरांक इस प्रकार हैं : आ. घ. 28°, 0.9255; n_D^{28} , 1.473; अम्ल मान, 46.3; सावु. मान, 189; आयो. मान, 84.65; ऐसीटिलीकरण मान, 42.28. तेल के रचक वसा-अम्ल हैं : ठोस वसा-अम्ल, 6.18; ओलीक अम्ल, 60.8; α -लिनोलिक अम्ल, 23.55; β -लिनोलिक अम्ल, 2.92; कैप्रोइक अम्ल, 1.0; और असावु. पदार्थ, 2.9%। बीजों में ऐलैटायन के होने की सूचना है। पत्तों में विटामिन सी (222 मिग्रा/100 ग्रा) पाया जाता है (Wehmer, II, 1109, 1110; Chem. Abstr., 1939, 33, 5593; 1941, 35, 1832)।

D. fastuosa Linn.; *D. alba* Nees

डा. स्ट्रामोनियम लिनियस सिन. डा. टाटूला लिनियस
D. stramonium Linn.

जिम्सन वीड, स्टिंक वीड, मैड एपिल, थार्न एपिल. स्ट्रामोनियम

लं. - डा. स्ट्रामोनिकम

D.E.P., III, 40; *C.P.*, 488; *Fl. Br. Ind.*, IV, 242.

*सं. - घटूर, उम्मेत, कनक, शिवप्रिय; हिं, व., म और गु. - घटूरा; ते. - उम्मेत; क. - उम्मेति; त और मल - उम्मेत

यह ओरोमिल या चूर्णमय एकवर्षी है जो प्रायः 0.9 मी. ऊँचा होता है किन्तु उर्वर भूमियों में 1.8 मी. या इससे भी अधिक ऊँचा हो सकता है। इसका तना सीधा, फैली हुई शाखाओं से युक्त; पत्ते फीके हरे रंग के, अण्डाकार या त्रिकोण-अण्डाकार, 12.5-15 सेमी. लम्बे, अनियमित रूप से दंतुर; फूल बड़े, 7.5-20 सेमी. लम्बे, सफेद या बैंगनी रंग के, सम्पुटिका सीधी, अण्डाकार और घने तीखे कटकों से आवृत, और 4 फलखंडों में फूटी हुई; बीज असंख्य और वृक्काकार होते हैं। यह पौधा भारत में सर्वत्र पहाड़ों पर 2,400 मी. की ऊँचाई तक, विशेषतः उत्तर-पश्चिम हिमालय पर, सामान्य रूप से पाया जाता है अक्सर यह सबको के किनारे और गाँवों में देखा जाता है परन्तु जंगलों और परती भूमि में दुर्लभ है। यो तो यह दुनिया के अनेक भागों में सरपतवार के रूप में उगता है परन्तु विशेष रूप से समुक्त राज्य अमेरिका और यूरोप में इसकी खेती, एक-समान शक्ति की औषध पाने की दृष्टि से की जाती है।

स्ट्रामोनियम के लिए प्रचुर चूनेदार उपजाऊ मिट्टी अनुकूल होती है। वसत ऋतु में 0.9 मी. के अन्तर पर कूंडों में बीज बो कर इसे उगाया जा सकता है। बाद में बिरलन द्वारा पौधे 3 मी. के अन्तर पर कर दिये जाते हैं। यह पौधा पाले से अत्यधिक प्रभावित होता है अतः इसकी मैती के लिए छायादार व्यवस्था लाभदायक होती है। फलों के पूर्णावस्था को प्राप्त होने पर, जब वे हरी अवस्था में ही हों, समूचे पौधे काट लिये जाते हैं और उन्हें धूप या छाँह में रखकर थोड़ा सुखा लेते हैं। पत्ते तोड़कर अलग-अलग सुसाये जाते हैं। जब फल फूटने को होता है तब सम्पुटिकाओं में बीज निकाल लिये जाते हैं। प्रति हेक्टर भूमि से 1,000-1,500 किग्रा पत्ते और लगभग 700 किग्रा. बीज प्राप्त होने की आशा की जा सकती है (Dutt, 117)।

*ये नाम घटूरे के हैं, जाति विशेष वा इनमें कोई नहीं होता। विभिन्न भाषाओं में इनके नाम के साथ 'मफेद' या 'फाला' जोड़कर मफेद फूलों वाले और रंगीन फूलों वाले पौधों में अन्तर कर लिया जाता है। यहाँ पर यह भी उल्लेखनीय है कि फूलों का रंग किसी जाति-विशेष या गुण नहीं है और एक ही जाति के पौधों में मफेद, नील-सोहिन या बैंगनी रंग के फूल लग सकते हैं।

नाइट्रोजन उर्वरकों का प्रयोग पौधों की उपज के लिए और ऐल्कलायडों के बनने में भी सहायक होता है। कोल्चिसीन उपचार द्वारा उत्पादित टेट्राप्लायडों में डाइप्लायडों की अपेक्षा ऐल्कलायडों की मात्रा अधिक होती है (कभी-कभी दूनी तक), यद्यपि विभिन्न ऐल्कलायडों का सापेक्ष अनुपात प्रभावित नहीं होता। स्ट्रैमोनियम टेट्राप्लायडों में स्वतः पुनर्जनन की क्षमता है। इनके पत्ते ज्यादा लम्बे होते हैं अतः व्यापार की दृष्टि से ये महत्व के हो सकते हैं। ऐल्कलायडों के संश्लेषण का स्थान जड़ है जो तम्बाकू और टमाटर के साथ धतूरे की विभिन्न जातियों की पारस्परिक कलमों में ऐल्कलायड-संचयन के अध्ययन से सिद्ध हो चुका है। धतूरे के स्कंधों पर कलम लगी तम्बाकू और टमाटर की संकर डालियों में स्ट्रैमोनियम ऐल्कलायड होते हैं जबकि तम्बाकू और टमाटर के स्कंधों पर कलम लगी धतूरे की डालियों में नहीं होते। पत्तों में पाये जाने वाले ऐल्कलायड मुख्यतः बाह्य त्वचा में, विशेषतः उपरी बाह्य त्वचा में, और प्लोएम मूतक में स्थित होते हैं। मध्य शिरा में ऐल्कलायडों की सांद्रता पर्णवृत्त की अपेक्षा अधिक होती है (James, *Econ. Bot.*, 1947, 1, 230; *Chem. Abstr.*, 1944, 38, 6334; 1945, 39, 730; 1946, 40, 2196; Wallis, 286)।

पौधे के विभिन्न भागों में ऐल्कलायड का अंश सारणी 1 में दिया गया है। उपरी पत्तों और शाखाओं में ऐल्कलायड का अंश आधार के पत्तों और शाखाओं की अपेक्षा अधिक होता है। वर्षा के बाद ऐल्कलायड का अंश खुले मौसम की तुलना में काफी कम हो जाता है। यह अन्तर कभी इतना स्पष्ट होता है कि ऐल्कलायडों की प्रचुरता के लिए औषध का संचय कुछ दिन खुला मौसम रहने के पश्चात् किया जाता है। प्रातः संचित पत्तों में शाम के संचित पत्तों की अपेक्षा और छाँह में सुखाये गये पत्तों में धूप में सुखाये गये पत्तों की अपेक्षा अधिक ऐल्कलायड रहता है। पौधे पर ही सुखाने के लिए छोड़ दिये गये पत्तों में तोड़ कर सुखाये गये पत्तों की अपेक्षा अधिक ऐल्कलायड होते हैं। परन्तु इस वृद्धि के साथ ही जड़ और तने के ऐल्कलायड अंश में कमी हो जाती है। इससे ऐल्कलायडों की स्थिति-परिवर्तन का कुछ संकेत मिलता है। तोड़ हुए पत्तों को सुखाने से पहले 100° ताप पर 15 मिनट तक रखते हैं जिससे

एंजाइमों का नाश हो जाय। इस प्रकार उपचारित पत्तों में ऐल्कलायड अंश उन पत्तों की अपेक्षा ज्यादा पाया जाता है जिनके साथ इस प्रकार की क्रिया नहीं की जाती। कलियाँ तोड़ने से पत्तों की पैदावार बढ़ती है (*Biol. Abstr.*, 1949, 23, 3105; *Chem. Abstr.*, 1931, 25, 2241; 1940, 34, 3878; 1943, 37, 4532; 1950, 44, 800; Tummin Katti, *Proc. Indian Sci. Congr.*, 1938, 20, 204)।

स्ट्रैमोनियम में डा. स्ट्रैमोनियम के सूखे पत्ते और फूलों के सिरे होते हैं। इसमें एक विचित्र अप्रिय गन्ध और कटु अरुचिकर स्वाद होता है। स्ट्रैमोनियम में 0.3–0.5% ऐल्कलायड प्रधानतः हायो-सायमीन $[C_{17}H_{23}O_3N]$; ग. बि., 108.5°; $[\alpha]_D$, -22° (50% ऐल्कोहल) और अल्प मात्रा में ऐट्रोपीन तथा स्कोपोलैमीन रहते हैं। स्ट्रैमोनियम द्वारा जनित लक्षण और सामान्य शरीर-क्रियात्मक तथा चिकित्सीय क्रियाएँ बेलाडोना के समान होती हैं। यह संवेदन मंदक, प्रत्याकर्षी और दर्द को दूर करने वाला है और इसका मुख्य उपयोग दमे की बीमारी में श्वास नलिकाओं की ऐंठन को दूर करने में होता है। यह ऐसीटिल कोलीन की क्रिया को निरस्त कर देता है और इस प्रकार श्वास नलिकाओं में वागी केप रिचिस्थि सिरों में पक्षाघात का प्रभाव उत्पन्न करता है जिससे श्वास नलिका को आराम मिलता है। इसका सेवन दिन में तीन बार 0.15 ग्रा. की मात्रा में किया जाता है। मस्तिष्क शोथ, तंद्रा जन्य लालास्राव, पेशियों की मरोड़ और कैपकैपी को नियंत्रित करने के लिए यह मात्रा बढ़ाकर 1 ग्रा. कर दी जाती है। यह पल्विस स्ट्रैमोनाइ कंजोइटिस और दमे में आराम पहुँचाने के लिए जलाये जाने वाले अन्य चूर्णों का अवयव है पर ऐसे चूर्णों का महत्व सीमित है क्योंकि दहन से क्षोभक धूम निकलते हैं जो पुरानी श्वास नली शोथ को उग्र करते हैं। पत्तों को सिगरेट का रूप देकर या पाइप में भर कर तम्बाकू के साथ या अकेले ही धूम्रपान करने से दमे की बीमारी में आराम मिलता है। इनका उपयोग पार्किन्सन रोग में भी होता है। स्ट्रैमोनियम का प्रयोग गोलियों, टिक्चरों, टिकियों और निष्कर्षों के रूप में किया जाता है। लैनोलिन, पीला मोम और पेट्रोलेटम से युक्त

सारणी 1 – डाटूरा के ऐल्कलायड
(संख्याएँ कुल ऐल्कलायडों का प्रतिशत बताती हैं)

जाति	स्थान	पत्ते	स्तम्भ	जड़	फूल	फल	बीज
डा. आरबोरिया ¹	..	0.29	0.49	0.06	..
डा. इनाक्सिया	पंजाब ²	0.25	0.12	0.23–0.25
	लेटिन अमेरिका ³	0.52	0.30	0.39	..	0.77	0.44
डा. मोटल	असम ²	0.12*	..	0.10	..	0.20	..
	मध्य प्रदेश ²	0.09*	..	0.22	..	0.27	..
	बुधायर (हिमाचल प्रदेश) ⁴	0.34
	मलेशिया ⁵	0.07–0.41	0.03–0.04	..	0.17–0.45	..	0.22–0.59
डा. स्ट्रैमोनियम	पंजाब ⁶	0.41–0.45	0.25–0.26	0.21	..	0.46	..
	बुधायर (हिमाचल प्रदेश) ⁴	0.25–0.51
	मद्रास ⁶	0.42	0.19

* पत्तों और स्तम्भों में कुल ऐल्कलायड; ¹*Chem. Abstr.*, 1945, 39, 2845; ²*Bull. imp. Inst., Lond.*, 1911, 9, 113; ³*Gerlach, Econ. Bot.*, 1948, 2, 436; ⁴*Tech. Rep. sci. adv. Bd, Indian Coun. med. Res.*, 1950, 318; ⁵*Burkill, I*, 771; ⁶*Andrews, J. Chem. Soc.*, 1911, 99, 1871T.

स्ट्रैमोनियम का लेप ववासीर के उपचार में प्रयुक्त होता है (B.P.C., 852; U.S.D., 1118).

पत्तों का प्रयोग फुंसियों, व्रणों, और मत्स्य-दंश पर किया जाता है. कान की पीड़ा में फलों का रस काम आता है. रूसी और वालों का झड़ना रोकने के लिए फलों का निचोड़ा हुआ रस शिरोवल्क पर लगाया जाता है. स्ट्रैमोनियम आयुर्वेदिक औषध 'कनकासव' का एक प्रधान अवयव है जिसका उपयोग शामक, कफोत्सारक, प्रति-आकर्षी और वेदनाहर के रूप में खाँसी, दमा और क्षय रोगों में होता है (Burkill, I, 769; Kirt. & Basu, III, 1786; Koman, 1920, 21).

डा. इनाक्विन्या और डा. मोटल के पत्तों का उपयोग स्ट्रैमोनियम के स्थान पर होता है और जेथियम स्ट्रैमैरियम लिनियस, कार्थमस हेलेनिआइडोस डेस्फोटेन्स और कीनोपोडियम हाइब्रिडम लिनियस को स्ट्रैमोनियम में मिलावट के लिए काम में लाते हैं.

स्ट्रैमोनियम का इस्तेमाल ऐट्रोपीन ($C_{17}H_{23}O_3N$; ग. वि., 118°) के निर्माण में किया जा सकता है. व्यापारिक मात्रा में इस ऐल्कलायड के निर्माण के लिए तनु अम्ल या क्लोरोफार्म विलयन के साथ गर्म करके *l*-हाइड्रोसोसामीन का रैसिमिकरण किया जाता है. ऐट्रोपीन ध्रुवण-घूर्णक नहीं है परन्तु व्यापारिक मात्रा में निर्मित ऐट्रोपीन हाइड्रोसोसामीन की उपस्थिति के कारण अल्प वामावर्ती हो सकता है. ऐट्रोपीन सल्फेट, मेथोनोमाइड और मेथोनाइट्रेट सम्पाकों का ओषधि में उपयोग होता है. ऐट्रोपीन केन्द्रीय तंत्रिका प्रणाली के लिए उत्तेजक है, विशेष रूप से प्रेरक क्षेत्र पर काम करता है तथा समन्वित गतिविधि को प्रभावित करता है और मात्रा अधिक होने पर बेचैनी, वाचालता और संज्ञाहीनता उत्पन्न करता है. यह परानुकंपी तंत्रों के सिरों पर ऐसीटिल कोलीन के प्रभाव को रोकता है जिनसे ग्रंथियों, पेशियों और हृदय की पूर्ति होती है. खाने की दवा के रूप में या आंत्रेतर रीति से देने पर यह कुछ दैहिक स्रावों को कम करता है. अनैच्छिक पेशियों के आकर्षी आकुंचनों को ढीला करने के लिए यह बहुत उपयोगी है, इसीलिए इसका उपयोग वृक्कीय तथा पित्तीय बृहदांत्र की पीड़ा और दमा में होता है. नेत्र चिकित्सा में ऐट्रोपीन सल्फेट के रूप में आँख के तारे को फैलाने में और अंतरिक्ष दाब को बढ़ाने में इसका उपयोग होता है (Henry, 70; B.P.C., 121).

मुख्य क्रिया की दृष्टि से हाइड्रोसोसामीन ऐट्रोपीन और हाइड्रोसीन का मध्यवर्ती है. यह केन्द्रीय तंत्रिका तंत्र को ऐट्रोपीन की अपेक्षा कम उत्तेजित करता है और हाइड्रोसीन की तुलना में कमजोर शामक और निद्रायक है परन्तु परिधीय क्रिया में ऐट्रोपीन की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली है. पक्षाघात, कैंपकैपी, अकड़ और अत्यधिक लालास्राव से राण दिलाने के लिए इसका उपयोग होता है. हाइड्रोसीन हाइड्रोमोमाइड की अपेक्षा द्रुत शामक के रूप में यह कम विश्वसनीय है (B.P.C., 422).

भारत में डा. स्ट्रैमोनियम और डा. मोटल प्रचुर मात्रा में पाये जाने पर भी अधिकांश स्ट्रैमोनियम संपाकों और ऐल्कलायडों, हाइड्रोसोसामीन, और स्कोपोलेमीन का विदेशों से आयात किया जाता है. यह बड़े अचरज की बात है. अल्प मात्रा में गैलेनिकलों और टिक्चरों का निर्माण किया जा रहा है और सूचना है कि कलकत्ता में एक कारखाना स्कोपोलेमीन हाइड्रोमोमाइड बना रहा है (Information from D.G.I. & S., Govt of India).

ऐल्कलायडों के अतिरिक्त डा. स्ट्रैमोनियम के पत्तों, तनों, फूलों और बीजाण्डों के आच्छादन में क्लोरोजेनिक अम्ल होता है. पत्तों से गहरे रंग का एक गन्ध तेल (0.045%) प्राप्त हुआ है. चीन में उगे पौधों से दो उदासीन सारतत्व डाटुजेन ($C_{13}H_{20}O_2$; ग. वि., 295°) और

डाटुजेनिन ($C_{16}H_{22}O_6$; ग. वि., 265°) पृथक्कृत किये गये हैं (Chem. Abstr., 1935, 29, 4130; 1948, 42, 4648; Wehmer, II, 1107).

डा. स्ट्रैमोनियम के बीज पत्तों की अपेक्षा अधिक तीव्र प्रभाव उत्पन्न करते हैं, पर स्थिर तेल की प्रचुरता (16-17%) के कारण उनसे स्थायी संपाक तैयार करना कठिन है. इनका उपयोग आत्महत्या या मानवहत्या के लिए भी किया जाता है. इसके सेवन से गला सूखता है, चक्कर आता है, मतिभ्रम हो जाता है, पाँव लड़खड़ाते हैं, स्वर पहचाना नहीं जाता, दृष्टि पर प्रभाव पड़ता है, मूर्च्छा आती है और अंत में प्राणांत भी हो सकता है.

बीजों में एक वसीय तेल होता है. बंगलौर में संचित बीजों से निष्कषित तेल (उपलब्धि, 16.3%) के निम्नलिखित स्थिरांक पाये गये हैं: आ. घ. 25°, 0.9184; n_D^{25} , 1.4735; अम्ल मान, 5.6; ऐसीटिलीकरण मान, 25.6; साबु. मान, 187.1; आयो. मान, 122.6; आर. एम. मान, 0.44; कुल वसा-अम्ल, 87.7% (ठोस अम्ल, 13.1%); और असाबु. पदार्थ, 2.6%. तेल के रचक वसा-अम्ल हैं: ओलीक, लिनोलीक, पामिटिक, स्टीरैरिक, और लिग्नोसेरिक अम्ल. असाबुनीकरण पदार्थ में साइटोस्टेरॉल होता है (Manjunath & Siddappa, J. Indian chem. Soc., 1935, 12, 400; Chem. Abstr., 1934, 28, 6522).

डा. आरबोरिया लिनियस विशाल झाड़ी है. यह पहाड़ियों पर उद्यानों में उगायी जाती है और महाबलेश्वर में सामान्य है. इस पर बड़े-बड़े, 17.5-20 सेंमी. लम्बे, सफ़ेद फूल आते हैं जिनकी गन्ध कस्तूरी के समान होती है. इसमें कंठरहित फल लगते हैं.

पौधे में उपस्थित ऐल्कलायडों में स्कोपोलेमीन प्रमुख है. पारिस्थितिक अवस्थाओं के अनुसार पत्रों, तनों, जड़ों, फूलों और बीजों में उपस्थित स्कोपोलेमीन, हाइड्रोसोसामीन, और ऐट्रोपीन की सान्द्रताओं और सापेक्ष-अनुपात में परिवर्तन होता रहता है. पत्रों में क्लोरोजेनिक अम्ल होता है (Chem. Abstr., 1945, 39, 2845; Henry, 65; Wehmer, II, 1109; Chem. Abstr., 1948, 42, 4648).

डा. क्लोरेंथा हुकर उद्यानी वृद्धी है. इसमें बड़े-बड़े सुन्दर, मीठी गन्ध के हरित-पीत फूल आते हैं जिनमें अनेक दलपुंज होते हैं. प्रवर्धन के लिए पहाड़ियों में जून में और मैदानों में जुलाई में बीज बोये जाते हैं (Firminger, 430; Bailey, 1949, 877).

डा. सेंग्विनिया रूईज और पैवन दक्षिणी अमेरिका की देशज विशाल झाड़ी है और पहाड़ियों पर उद्यानों में उगायी जाती है. कलम द्वारा इसका संवर्धन होता है. पौधे पर 20-25 सेंमी. लम्बे, नारंगी लाल रंग के फूल आते हैं. परिपक्व हो जाने पर सम्पुटिका पीली और कंठरहित होती है. सूखे फलों में 0.345% ऐट्रोपीन और स्कोपोलेमीन के लेश होते हैं (Chem. Abstr., 1945, 39, 2845).

डा. सुएविओलेस हम्बोल्ट और वोनप्लांड (ऐंजिल्स ट्रम्पेट) एक विशाल और सुन्दर, 3-4.5 मी. ऊँची झाड़ी है जो मैक्सिको की मूलवासी है. यह भारत में उद्यानों में, 20-30 सेंमी. लम्बे, भिनी-भिनी गन्ध वाले, मुँह पर झालरदार सुन्दर फूलों के लिए उगायी जाती है. गर्मी के दिनों में जब फूल पूर्ण विकसित होते हैं तब पौधा बड़ा ही सुन्दर लगता है. वर्षा ऋतु में इसे कलम द्वारा सरलता से संवर्धित किया जाता है (Firminger, 430).

D. tatula Linn.; *Xanthium strumarium* Linn.; *Carthamus helenioides* Desf.; *Chenopodium hybridum* Linn.; *D. arborea* Linn.; *D. chlorantha* Hook.; *D. sanguinea* Ruiz & Pav.; *D. suaveolens* Humb. & Bonpl.

डामर, काला — देखिए कानेरियम

डामर, मधुमक्खी — देखिए मधुमक्खी

डामर, सफ़ेद — देखिए वाटीरिया

डायटमाइट — देखिए पत्थर, दूधिया

डायटमी मृत्तिका — देखिए पत्थर, दूधिया

डायनेला लामार्क (लिलिएसी) DIANELLA Lam.

ले. — डिआनेल्ला

Fl. Br. Ind., VI, 336; Fl. Madras, 1521; Haines, 1092.

यह उष्णकटिबंधीय एशिया, ऑस्ट्रेलिया और पॉलिनेशिया में पायी जाने वाली सदावहार प्रकंदी वृद्धियों का एक छोटा वंश है। डायनेला एंसीफोलिया द कन्दोल 90–180 सेंमी. ऊँची घास-जैसी एक वृद्धि है जिसकी जड़ें मोटी, सीधी फैलने वाली और पत्तियाँ सीधी, दो पंक्तियों में होती हैं। यह जाति उष्णकटिबंधीय हिमालय में नेपाल से पूर्व की ओर 600–1,500 मी. की ऊँचाई तक और मणिपुर तथा खासी पहाड़ियों में पायी जाती है। यह छोटा नागपुर (900 मी.) की पथरीली खड्डभूमि में और पालनी, अभ्रामलाई, तिन्नेवेली पहाड़ियों (900–1,200 मी.) के सदाहरित वनों में भी पायी जाती है। इस पर हल्के नीले रंग के या हरी झलक लिये सफ़ेद रंग के फूल और चमकीले नीले रंग के तथा 7.5–10 मिमी. व्यास के बेर-जैसे फल लगते हैं।

यह पौधा कृत्रिम शैल उद्यान तैयार करने के लिए उपयुक्त बताया जाता है। इसे वसंत ऋतु में बीज बो कर या कलम द्वारा प्रवर्धित किया जाता है। अप्रैल से जून तक इसमें फूल और फल लगते हैं। इसके प्रकंदों से नीचे बढ़ने वाली कड़ी जड़ों में एक असौरभिक विशिष्ट गन्ध होती है और उनका स्वाद मोठा-सा होता है। वे अंगराग और पुल्टिस तैयार करने के लिए काम में लायी जाती हैं। इसकी पत्तियों और जड़ों की राख दाद-खाज के लिए तैयार किये जाने वाले मलहम में डाली जाती है (Firminger, 313; Burkill, I, 801).

Liliaceae; *D. ensifolia* DC.

डायरा हुकर पुत्र (एपोसाइनेसी) DYERA Hook. f.

ले. — डिएरा

D.E.P., III, 198; Fl. Br. Ind., III, 643.

यह वृक्षों का लघु वंश है जो मलेशिया का मूलवासी है। डा. कास्टु-लेटा हुकर पुत्र सिन. डा. लैक्सफ्लोरा हुकर पुत्र बोर्नियो, सुमात्रा और मलय प्रायद्वीप में पाया जाता है। बंगलौर के वनस्पति उद्यान में यह पहली बार 1911 में लगाया गया था। इस वृक्ष के लेटेक्स (दूध) से एक स्फंद, जेलुटोंग, पोटियानाक प्राप्त होता है जो खर के स्थान पर घटिया खर की बीजों के निर्माण में व्यवहृत किया जाता है। जेलुटोंग च्यूइंगम के एक रचक के रूप में प्रसिद्ध है और अब इसी काम में आता है [Krumbiegel, 15; Burkill, I, 876; Monachino, Lloydia, 1946, 9(3), 174].

Apocynaceae; *D. costulata* Hook. f. syn. *D. laxiflora* Hook. f.

डायस्पोर — देखिए बाक्साइट

डायालियम लिनियस (लेग्यूमिनोसी) DIALIUM Linn.

ले. — डिआलिऊम

Fl. Br. Ind., II, 269.

यह वृक्षों का लघु वंश है जो सम्पूर्ण उष्णकटिबंध में पाया जाता है। डा. ट्राविकोरिकम बोर्डिलान (त. और मल. — मालम्पुली) ही एकमात्र जाति है जिसका भारत में पाये जाने का उल्लेख मिलता है। यह एक विशाल, सदाहरित, शोभाकारी वृक्ष है जो दक्षिणी त्रावनकोर के वनों में उगता है। पत्तियाँ पिच्छाकार और बड़ी; पुष्प भूरे, रोमिल पुष्प-गुच्छों में, भूरे रंग की पार्श्व से पिचकी हुई (2.1 सेंमी. आरूपार, 1.25 सेंमी. मोटी) केवल एक बीजधानी होती है। अंतःफल-भित्ति चमकीली लाल, स्पंजी तथा अम्लीय होती है। चिड़ियाँ इसे बड़े चाव से खाती हैं। लकड़ी काली धारियों से युक्त, भूरी, धूसर, मजबूत, सामान्य कठोर तथा भारी (भार, 912 किया./घमी.) होती है। यह सम्भवतः उपयोगी है परन्तु इसमें वेधक हानि पहुँचाते हैं (Bourdillon, 127; Indian For., 1904, 30, 243).

डायालियम की अनेक जातियों से खाद्य फल तथा उपयोगी लकड़ी प्राप्त होती है। कुछ जातियों के फल तथा पत्ते औषधीय हैं (Burkill, I, 798; Dalziel, 190).

Leguminosae; *D. travancoricum* Bourd.

डायोक्लिया हम्बोल्ट, वोनप्लाण्ड और कुंथ (लेग्यूमिनोसी) DIOCLEA H. B. & K.

ले. — डिओक्लेआ

Fl. Br. Ind., II, 196.

यह काष्ठीय आरोही लताओं का एक छोटा वंश है जो समस्त उष्ण-कटिबंधीय प्रदेशों में, विशेषतया अमेरिका में पाया जाता है। डा. रेफ्लेक्सा हुकर पुत्र = डा. जबानिका बेंथम सिल्वेट के जंगलों में पाया जाता है। इसमें पिच्छाकार विपर्णक पत्तियाँ; लम्बे ससीमाक्षों पर नीलाभ-इवेत या भूरे पुष्प; रोमयुक्त अथवा अरोमिल फलियाँ होती हैं जिनके बीज दबे हुये होते हैं। फूल सुगन्धित होते हैं। अफीका के कुछ भागों में अफ्रामोमस जातियों के बीजों के साथ मिलाकर इन बीजों का उपयोग पौष्टिक और उत्तेजक पदार्थ के रूप में किया जाता है। इनका प्रयोग बालों के जूँओं को मारने के लिए भी किया जाता है (Dalziel, 240).

Leguminosae; *D. reflexa* Hook. f. = *D. javanica* Benth.; *Aframomum*

डायोराइट — देखिए पत्थर, इमारती

डार्टर — देखिए पक्षी

डार्नेल — देखिए लोलियम

डालिकास लिनियस (लेग्यूमिनोसी) DOLICHOS Linn.

ले. — डालिकोस

यह कुंडलीदार वृद्धियों का वंश है जो दोनों ही गोलार्द्धों के उष्ण-कटिबंधों में पाया जाता है। भारत में इस वंश की लगभग 8 जातियाँ

उपलब्ध है, जिनमें से डा. वाइप्लोरस तथा डा. लवलव की व्यापक खेती की जाती है और इन्हें खाने तथा पशुओं के लिए चारे के लिए प्रयोग में लाया जाता है।

Leguminosae

डा. वाइप्लोरस लिनियस *D. biflorus* Linn.

कुलथी या हासंग्रैम

ले.—डा. विप्लोरस

D.E.P., III, 175; C.P., 503; Fl. Br. Ind., II, 210.

सं.—कुलथ्य; हि.—कुलथी; वं.—कुरती कलाइ; म.—कुलिय, कुलथी; गु.—कुलथी, कुलित; मल.—मुतीवा, मुतीरा; ते.—उलवालू; त.—कोल्लू; क.—दुरड़ी।

यह शाखायुक्त, कुछ खड़ा अथवा शयान एकवर्षी पौधा होता है, जिस पर छोटी-छोटी त्रिपणक पत्तियाँ आती हैं और परिपक्व हो जाने पर इसमें 3.75-5 सेंमी. लम्बी, सँकरी, चपटी तथा बक्र फलियाँ आती हैं जो अभिनमित होकर लटकती रहती हैं। प्रत्येक फली के अन्दर 5-6 चपटे, दीर्घवृत्ती तथा 0.3-0.6 सेंमी. लम्बे दाने होते हैं।

यह भारत का एक देशज पौधा है तथा पुरानी दुनियाँ के सारे उष्ण-कटिबंधीय प्रदेशों में भी पाया जाता है। यह सम्पूर्ण भारत में 1,500 मी. की ऊँचाई तक, विशेष रूप से तमिलनाडु, मैसूर, महाराष्ट्र तथा आन्ध्र प्रदेश में तो यह दाल की एक महत्वपूर्ण फसल है।

खेती—लगभग सभी राज्यों में इसकी खेती सर्वाधिक फसल के रूप में की जाती है। यह पौधा अनुर्वर मिट्टी में भी उग सकता है, सहिष्णु है तथा इस पर सूखे का भी कोई असर नहीं पड़ता। अति-वृष्टि वाले क्षेत्रों में वर्षाकाल की समाप्ति पर ही इसे बोया जाता है। भारत के जिन राज्यों में इसकी खेती की जाती है उनके कुछ प्रमुख क्षेत्रों के नाम इस प्रकार हैं: तमिलनाडु में कोयम्बतूर, विजिगापट्टम, नेलोर, मैसूर राज्य में चितलदुग, मैसूर, तुमकूर, मंड्या, बंगलूर, हसन, रायचूर, गुलवर्गा, धारवाड़ तथा बेलगाम जिले; आन्ध्र में अनन्तपुर, और महबूबनगर जिले; महाराष्ट्र और गुजरात में औरंगाबाद, नासिक, अहमदनगर, पूर्वी तथा पश्चिमी खानदेश जिले। भारत के ऊपरी भाग में इसकी खेती हिमाचल प्रदेश, उत्तर प्रदेश के पहाड़ी क्षेत्र के थोड़े से भागों में, छोटा नागपुर, बंगाल तथा असम के कुछ भागों तक सीमित है (*Seas. Crop Rep., Madras, 1947-48, 14; Mysore agric. Cal., 1941-42, 141; Agric. Statist., Hyderabad, 1949, 202; Ambekar, Bull. Dep. Agric., Bombay, No. 146, 1927, 33*)।

खेती में कुलथी की कई किस्में ज्ञात हैं, जो बीज के छिलके के रंग तथा परिपक्वता अवधि की दृष्टि से भिन्न होती है। इसके बीज बादामी हल्के लाल, घूसर, काले अथवा चितकवरे रंग के होते हैं। तमिलनाडु, मैसूर तथा महाराष्ट्र के कृषि विभागों ने इसकी कई उन्नत किस्मों का चुनाव किया है। साधारणतः इसकी फसल में कई किस्मों का मिश्रण मिलता है। काले बीज वाली किस्म दूसरी किस्मों की अपेक्षा कम अवधि वाली होती है (Yegna Narayan Aiyer, 113; Gammie & Patwardhan, *Bull. Dep. Agric., Bombay, No. 30, 1928, 46*)।

अत्यधिक ऊसर मिट्टी को छोड़कर अन्य किसी भी प्रकार की मिट्टी में इसे उगाया जा सकता है। कुलथी का पौधा हल्की वलुई मिट्टी में सर्वाधिक फलता-फूलता है किन्तु इसे लाल दमट मिट्टी, काली कपासी मिट्टी तथा दक्षिण की पयरीली-कँकरीली और उच्चस्थलीय



चित्र 88 — डालिकास वाइप्लोरस — फलित शाखा

मिट्टी में भी व्यापक रूप से उगाया जाता है। सुधारी हुई भूमियों पर अक्सर इसे प्रारम्भिक फसल के रूप में उगाया जाता है। जिन खेतों में समय से वर्षा न होने या किसी अन्य कारण से कोई फसल न बोयी जा सकी हो उनमें कुलथी बोयी जाती है (Yegna Narayan Aiyer, 111)।

इसके बीजों को खेतों में या तो छिटकवाँ बोया जाता है अथवा कूंड बनाकर। भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में भिन्न-भिन्न समय में इसे बोते हैं। तमिलनाडु में पकी हुई फलियों के लिए सितम्बर-नवम्बर की अवधि में और हरी खाद के रूप में उगाने के लिए अप्रैल-मई की अवधि में इसकी बुआई की जाती है। महाराष्ट्र में यह बाजरा जैसी खरीफ की फसल अथवा कभी-कभी रामतिल के साथ उन्हीं खेतों में बोई जाती है; यहाँ पर इसे रबी फसल के रूप में भी उगाते हैं और चावल के खेतों में इसकी दूसरी फसल उगाते हैं। मध्य प्रदेश के कुछ भागों में इसकी शरदकालीन फसल के रूप में खेती की जाती है। उत्तरी भारत में यह या तो रबी की कटाई के बाद अन्तर्वर्ती फसल के रूप में या खरीफ की फसल के रूप में उगाई जाती है। बंगाल में फलियाँ प्राप्त करने के लिए अक्तूबर-नवम्बर में और चारे के लिए एक ही खेत में तीन बार अर्थात् जून, अगस्त अथवा नवम्बर में इसकी बुआई की जाती है।

इसकी बीज दर निश्चित नहीं है। दक्षिणी भारत में, रामतिल के ही खेत में बोने पर 40 किग्रा. प्रति हेक्टर के हिसाब से तथा उत्तरी भारत में 20-25 किग्रा./हेक्टर के हिसाब से बीज डाले जाते हैं। जिन खेतों में इसे बोया जाता है उनमें बहुत कम खाद डाली जाती है। किसी अन्य फसल के साथ बोने पर तो यह मुख्य फसल के लिए किये जाने वाले कर्पण-कार्यों से लाभ प्राप्त कर लेती है। सामान्य परिस्थितियों में इसका पौधा आसपास की घासपात को दबाकर तथा जमीन को पूरी तरह घेरकर जल्दी ही उग आता है। हरी खाद के लिए भी इसकी खेती की जाती है और उस जमीन के लिए तो यह विशेष रूप से उत्तम है जिसे जल्दी ही कृषिकार्य में लाया गया है। बीज के लिए उगाने पर भी कटाई के बाद इसकी टूठ तथा जड़ों को उसी खेत में जोत देने से खेत की मिट्टी अधिक उर्वर हो जाती है। यह एक महत्वपूर्ण हरा चारा भी है; इसके खेतों में भेड़ों को छोड़कर हल्की चराई की जा सकती है और हरे पौधों की कुट्टी करके ढोरों तथा भेड़ों को खिलाई जा सकती है। कुछ क्षेत्रों में इसे चरी के साथ उगाते हैं तथा दोनों को काटकर

ढोरों को हरे चारे के रूप में खिलाते हैं (Yegna Narayan Aiyer, 113; *Indian J. agric. Sci.*, 1949, 19, 446).

बुआई के 4-6 महीने बाद ही इसके पौधों पर फलियाँ आ जाती हैं और जब इसके पत्ते सूखकर गिरने लगते हैं तो पौधों को उखाड़ लिया जाता है और उन्हें सुखाया जाता है। इसके बाद इन पर बैलों से खूँदवाकर अथवा पत्थर के रोलर की सहायता से दबाकर, फिर छानकर अथवा बरसा कर इसमें से बीज साफ कर लिया जाता है। इसकी औसत उपज 150 से लेकर 300 किग्रा. प्रति हेक्टर तक होती है। अनुकूल परिस्थितियों में 600 किग्रा. प्रति हेक्टर की उपज भी प्राप्त की जा चुकी है। उत्तरी भारत की तरह जब चारे के लिए इसको बोते हैं तो बुआई के लगभग 6 सप्ताह बाद ही इसको काट लेते हैं। बंगाल में इसकी उपज प्रति हेक्टर 300 किग्रा. बीज अथवा 12.5 टन चारा प्राप्त हुई है। तमिलनाडु में वर्षा-सिंचित भूमि में प्रति हेक्टर 2,000 से लेकर 5,600 किग्रा. तथा सिंचित भूमि में 8,100 से लेकर 12,700 किग्रा. हरा चारा पैदा किया गया है। वर्षा-सिंचित भूमि में थोड़ी-सी खाद डाल देने के बाद प्रति हेक्टर 10,600 किग्रा. हरा चारा पैदा किया गया है (Yegna Narayan Aiyer, 113; Mukerji, 227; Rangaswami, Ayyangar & Narayanan, *Madras agric. J.*, 1940, 28, 54).

रोग और नाशकजीव - राइजोक्टोनिया जाति के कारण पौधों में मूल विगलन रोग उत्पन्न हो जाता है। यह रोग अतिवृष्टि अथवा सिंचाई के कारण भूमि के जलमग्न होने से उत्पन्न होता है। इसके पौधों पर यूरोमाइसीज ऐपेण्डिकुलेटस (पर्सून) किट्ट भी लग जाता है जो इसकी पत्तियों को रोगग्रस्त कर देता है। ग्लोमेरेला लिडेमुथियानस द्वारा उत्पन्न ऐन्थ्रैकनोस इसके तने, पत्तियों, फलियों तथा बीजों को प्रभावित करता है। इस रोग के कारण पौधों के उपर्युक्त अंगों पर रक्ताभ अथवा पीले रंग के उठे हुए किनारों वाले काले तथा पिचके हुए धब्बे पड़ जाते हैं। इस रोग पर नियंत्रण रखने के लिए यह आवश्यक है कि रोग-मुक्त बीज ही प्रयोग में लाए जाएँ, सभी रोगग्रस्त पौधों को जला दिया जाए और प्रतिरोधी किस्म के बीजों की ही बुआई की जाए। बर्मोकुलेरिया कैपसिसाइ सीडो से उत्पन्न पंचमारी रोग इसके फूलों को रोगग्रस्त कर देता है जो कुम्हला कर धीरे-धीरे सूख जाते हैं। यह रोग फल के डंठल से होकर तने तक पहुँच जाता है जिससे तने की छाल भूरी पड़ जाती है और फिर उसमें लम्बी सँकरी बारियाँ-सी पड़ने लगती हैं तथा रंग सफेद पड़ जाता है। इस रोग के संक्रमण को रोकने के लिए बीजों मिश्रण का छिड़काव प्रभावी सिद्ध हुआ है।

जैन्थोमोनास फेजोलोलाई वॉर. सोजेन्सिस (हेजेज) स्टार और बर्कहोल्डर से उत्पन्न रोग से पत्तियों पर बहुत-से छोटे-छोटे धब्बे पड़ जाते हैं जो रोग के बढ़ने पर आपस में जुड़ते जाते हैं। ये धब्बे पत्तियों के दोनों ओर कुछ उठे हुए होते हैं और इनके चारों ओर एक हल्के भूरे रंग की किनारी-सी होती है। रोग-जनक जीव पत्तियों के वृंत में भी रोग उत्पन्न कर देते हैं (Butler, 267; Patel et al., *Curr. Sci.*, 1949, 18, 83).

महीन इल्ली तथा टिड्डे कुलयी को बहुत हानि पहुँचाते हैं। चने की इल्ली, अजासिया स्ट्रिकन्स बासडुवाल फसल के लिए विनाशक होती है। कनी-कनी एटिएला जिन्केनेला जो हरे रंग की फली बेधक इल्ली है, फसल को कुछ हानि पहुँचाती है। भंडारित बीजों में भी कई प्रकार के कीड़े लग सकते हैं (Ramakrishna Ayyar, 208).

उपयोग - जैसे उत्तरी भारत में ढोरों तथा घोड़ों को चना (साइसर ऐरीडिनम) खिलाया जाता है वैसे ही दक्षिणी भारत में उनको कुलयी खिलायी जाती है। इसके दानों को खिलाने से पहले पकाया जाता है।

इस पौधे का तना, पत्तियाँ तथा इसकी भूसी भी चारे के रूप में पशुओं को खिलाई जाती है।

गरीब लोग इन दानों को पकाकर अथवा तलकर खाते हैं। इसे दाल के रूप में नहीं अपितु साबुत अथवा पीसकर खाया जाता है (Chandrasekharan & Ramakrishnan, *Madras agric. J.*, 1928, 16, 279).

अधिक आयतन वाले भूसे के साथ कुलयी को मिला देने से महत्वपूर्ण प्रोटीन पूरक प्राप्त होता है। बीजों के विश्लेषण से निम्नलिखित मान प्राप्त हुए हैं : नमी, 11.8; अपरिष्कृत प्रोटीन, 22.0; वसा, 0.5; खनिज पदार्थ, 3.1; तंतु, 5.3; कार्बोहाइड्रेट, 57.3; कैल्शियम, 0.28; और फॉस्फोरस, 0.39%; लोहा, 7.6 मिग्रा.; निकोटिनिक अम्ल, 1.5 मिग्रा.; कैरोटीन (अन्तर्राष्ट्रीय विटामिन 'ए' इकाइयाँ), 119/100 ग्रा. कुलयी में कुल नाइट्रोजन का लगभग 80% ग्लोबुलिन के रूप में रहता है। इनमें आजिनीन (6 से 7.1%), टाइरोसीन (6.68%) तथा लाइसीन (7.64%) रहते हैं किन्तु सिस्टीन तथा ट्रिप्टोफेन की कमी होती है। प्रोटीन अन्तर्ग्रहण के 10% स्तर पर जैव मान तथा पाचन क्षमता गुणांक क्रमशः 66 और 73 होते हैं। बीज के अंकुरण तथा पौध की वृद्धि के समय ऐस्पेरैजिन तथा ग्लूटेमिन के साथ-साथ यूरिया भी बन जाता है; आजिनीन के जल-अपघटन से तो इसका एक अंश ही उत्पन्न होता है; अंकुरित बीज तथा पौधों से L-ऐस्पेरैजिन भी प्राप्त होता है। कुलयी से काफी मात्रा में यूरियेस प्राप्त किया जाता है (*Health Bull.*, No. 23, 1951, 30; Narayana, *J. Indian Inst. Sci.*, 1930, 13A, 153; Niyogi et al., *Indian J. med. Res.*, 1931-32, 19, 475; Swaminathan, *ibid.*, 1937-38, 25, 381; Damodaran & Venkatesan, *Proc. Indian Acad. Sci.*, 1948, 27B, 26; Rao & Sreenivasan, *Curr. Sci.*, 1946, 15, 25; Menon & Rao, *Indian J. med. Res.*, 1931-32, 19, 1077).

इसकी घास (सूली) के विश्लेषण से निम्नांकित मान प्राप्त हुए : अपरिष्कृत प्रोटीन, 10.56; तंतु, 16.20; नाइट्रोजनरहित निष्कर्ष, 58.34; ईथर निष्कर्ष, 1.81; कुल राख, 13.09; HCl में विलेय राख, 7.99; CaO, 2.54; P₂O₅, 0.42; MgO, 1.00; K₂O, 1.2% (Sen, *Misc. Bull., I.C.A.R.*, No. 25, 1946, appx 1).

इसके बीज कपाय, मूत्रल तथा बलवर्धक हैं (Chopra, 484).

व्यापार - तमिलनाडु तथा मैसूर राज्य में दालों की फसलों में कुलयी की खेती सर्वाधिक क्षेत्रों में की जाती है किन्तु इसके व्यापार सम्बंधी आँकड़े नहीं मिलते। कुलयी को भूरी तथा काली किस्मों का विपणन होता है। भंडार में भरने से इसका रंग अवश्य पीका पड़ जाता है किन्तु गुणवर्त में सुधार हो जाता है। ढोरों के चारे के रूप में ही इसका प्रयोग किया जाता है इसलिए इसके गुणों पर अधिक ध्यान न देकर केवल मात्रा पर ही बल दिया जाता है। हाँ, इसे कीड़ों के आक्रमण से मुक्त होना चाहिये। तमिलनाडु तथा मैसूर के सीमावर्ती राज्यों के बीच कुलयी का सीमित व्यापार होता है। तमिलनाडु में इसका आयात आन्ध्र प्रदेश, उड़ीसा तथा मैसूर से होता है (Information from Dep. Agric., Madras; *Seas. Crop Rep.*, Madras, 1935-36 to 1949-50).

Rhizoctonia sp.; *Uromyces appendiculatus* (Pers.) Link; *Glomerella indemuthianum* (Sacc. & Magn.) Shear; *Vermicularia capsici* Syd.; *Xanthomonas phaseoli* var. *sojensis* (Hedges) Starr & Burkholder; *Azasia rubricans* Boisd.; *Etiella zinckenella* Tr.; *Cicer arietinum*

डा. लवलब लनिथस D. lalab Linn.

नं. - डा. लवलब

D.E.P., III, 183; C.P., 508; Fl. Br. Ind., II, 209.

यह एक बहुवर्षी, लिपट कर चढ़ने वाली अथवा मूसर्पी वृद्धी है जिसकी प्रति वर्ष खेती की जाती है। इसकी अधिकतर किस्मों में लपेटा लेने की प्रवृत्ति है परन्तु कुछ झाड़ीदार भूगर्भी अथवा आधी खड़ी किस्मों भी मिलती हैं। पत्तियाँ त्रिपर्णक; पुष्प सफ़ेद, रक्ताभ अथवा नील-लोहित कभावर्ती गुच्छों पर रोपित; फलियाँ चपटी अथवा फूली हुई, लम्बाकार अथवा चौड़ी, 2.5-12.5 सेंमी. तक लम्बी हुकी हुई तथा अन्दर की ओर मुड़ी; दाने गोलाकार, अण्डाकार अथवा चपटे तथा मऊ से लेकर गहरे काले रंग तक के होते हैं।

इस पौधे का उद्गम-स्थल एशिया माना जाता है। यह अत्यन्त परिवर्तनशील है। कम से कम दो किस्में तो ऐसी हैं जिनमें कि भेद किया ही जाता है। इनमें पहली एकवर्षी है जो सामान्यतः उद्यान-फलन के रूप में उगाई जाती है और दूसरी विभिन्न मायाओं में बहुवर्षी है और चेतों में उगाई जाती है। इनमें अन्तर की एक दूसरी विधि बीजों के मंगन होने की है; उद्यान किस्म में बीज फली की संवि-रक्षा के विलकुल सप्तातर जुड़ा होता है जबकि क्षेत्र-किस्म में यह संविरेखा पर लम्ब रूप में जुड़ा रहता है। इस भेद के कारण चारों इन्हें दो भिन्न-भिन्न जातियों की संज्ञा न दी जाए परन्तु इस स्पष्ट भेद ने इनका भिन्न-भिन्न प्रकारों में विभाजन मान्य होना ही चाहिये, जैसा प्रेन ने किया है। इन दोनों प्रकारों को क्रमशः डा. लवलब वैर. टिपिकस तथा डा. लवलब वैर. लिग्नोसस नाम दिए गए हैं। दोनों में से प्रत्येक प्रकार की बहुत-सी संवर्धित प्रजातियाँ हैं। डा. लवलब के सम्बंध में वेग में प्रकाशित साहित्य में इन दोनों किस्मों का अन्तर स्पष्ट नहीं है और संवर्धित फलियों के लक्षण तथा रचना के सम्बंध में बड़ी भ्रांति रही है [Prain, J. Asiat. Soc. Bengal, 1897, 66 (2), 347; Piper & Morse, Bull. U.S., Dep. Agric., No. 318, 1915].

—वैर. टिपिकस प्रेन var. typicus Prain

सेम, दोनाविस्टवीन, ह्यासिय बीन, इण्डियन वटरवीन

D.E.P., III, 183 (in part); C.P., 508 (in part); Fl. Br. Ind., III, 209 (in part).

हि. - सेम; वं. - शीम; गु. - बाल; म. - पास्ता; ते. - चिकुडु; त. - अवरै; क. - चप्परदावरै; मल. - अवर।

यह बहुवर्षी किन्तु अक्सर एकवर्षी पौधे के रूप में उगायी जाने वाली, आवष्टनकारी वृद्धी है जो एशिया, अफ्रीका तथा अमेरिका के उष्ण तथा शीतोष्णकटिबंधीय क्षेत्रों में बहुतायत से पायी जाती है। भारत में इसे खेत-फलन के रूप में न उगाकर उद्यान-फलन के रूप में उगाने हैं। इसके बहुत से प्रकार ज्ञात हैं, जो फूलों के रंग, आकार, रूप तथा फलियों की बनावट और दानों के आकार तथा रंग की दृष्टि से एक दूसरे से भिन्न होते हैं। इसका एक प्रकार, जिसमें आकर्षक नील-लोहित रंग के फूल आते हैं, शीतोष्ण जलवायु वाले क्षेत्रों में शोभाकारी पौधे के रूप में उगाया जाता है। इसकी फलियाँ सफ़ेद, हरी अथवा नील-लोहित रंग की किनारी वाली होती हैं तथा बीज मऊ, पीले, भूरापर लिए नील-लोहित अथवा काले रंग के होते हैं। टिपिकस तथा लिग्नोसस किस्मों के संकरण से तमिलनाडु के कृषि विभाग ने टी. एन. 1428 एक नयी किस्म विकसित की है जिनमें उन दोनों किस्मों के वांछित गुणों का समावेश है (Firminger, 160; Piper

& Morse, loc. cit.; Jogi Raju, J. Madras agric. Stud. Un., 1923, 11, 123; Gammie & Patwardhan, Bull. Dep. Agric., Bombay, No. 30, 1928, 44; Sampson, Kew Bull., Addl Ser., XII, 1936, 197; Ayyangar & Nambiar, Indian Engg, 1941, 2, 469; Nambiar, Madras agric. J., 1943, 31, 103).

खेती - इसके बीज जुलाई-अगस्त मास में खेत में छोटे-छोटे गड्ढे बनाकर तथा उनमें खाद डालकर बोये जाते हैं। प्ररोहों के फूटने पर बेलों के विस्तार के लिए टेक तथा जाल खड़े कर दिये जाते हैं। उद्यानों के किनारों के साथ भी बीज बोए जा सकते हैं और फिर इसकी बेलें निकटवर्ती पौधों पर चढ़ाई जा सकती हैं। इसके लिए काफी सिंचाई की वारम्बार आवश्यकता पड़ती है। सामान्यतः नवम्बर से ही इस पर फूल आने लगते हैं और दिसम्बर से लेकर मार्च-अप्रैल तक इस पर से फलियाँ तोड़ी जाती हैं।

नाशकजीव - इसके पौधों पर जूँ तथा सेम के बग का प्रकोप हो सकता है। ये जीव इसके कोमल भागों को ग्रस्त करके उनका रस चूस लेते हैं जिससे पौधों पर फलियाँ कम आती हैं। तम्बाकू के डोंगों का



चित्र 89 - दालिकान लवलब वैर. टिपिकस - फलियों के प्रकार

काढ़ा बनाकर पौधों पर लगातार छिड़कते रहने से जूँ पर नियंत्रण प्राप्त किया जा सकता है और बगों को हाथ से बीनकर नष्ट कर देना चाहिये; इन्हें समाप्त करने के लिए रात के समय, जब बग निष्क्रिय हो जाते हैं, इसकी बेल को मिट्टी के तेल तथा पानी से भरी हुई बाल्टी के ऊपर झझकोर दिया जाता है। इस प्रकार बग उस बाल्टी में गिरकर नष्ट हो जाते हैं (Ayyangar & Nambiar, loc. cit.).

सेम पूरे देश भर में लोकप्रिय तरकारी है। अधिकांश प्रकारों की फलियाँ पूरे आकार की हो जाने के पूर्व तक कोमल बनी रहती हैं; इसके बाद तो इसके बीज ही उपयोग में लाये जा सकते हैं। इसकी अच्छी किस्में वे हैं जिनमें अच्छी गन्ध आती है और जिनके ऊपर का छिलका रेशारहित, मोटा तथा गूदेदार हो। कच्ची फलियों को लोग नमक-मिर्च लगाकर, उबालकर या धूप में सुखाकर परिरक्षित करते हैं। इसकी फलियों तथा बीजों को पशुओं के चारे के रूप में भी इस्तेमाल किया जाता है (Burkill, I, 852).

फलियों का विश्लेषण करने पर निम्नलिखित मान प्राप्त हुए हैं : नमी, 82.4; प्रोटीन, 4.5; वसा, 0.1; खनिज पदार्थ, 1.0; तंतु, 2.0; कार्बोहाइड्रेट, 10.0; कैल्शियम, 0.05; तथा फॉस्फोरस, 0.06%; लोहा, 1.67 मिग्रा.; और निकोटिनिक अम्ल, 0.8 मिग्रा./100 ग्रा. 100 ग्रा. उबली हुई तथा इतनी ही मात्रा में बिना उबली फली के नमूनों में विटामिन सी क्रमशः 7.33-10.26 मिग्रा. तथा 0.77-1.12 मिग्रा. तक पाया गया; उबालने से फली का गूदा मुलायम पड़ जाता है और विटामिन सी आसानी से निचुड़ जाता है। इसलिए उबली फली में यह विटामिन बढ़ जाता है (Hlth Bull., No. 23, 1951, 36; Biswas & Das, Sci. & Cult., 1938-39, 4, 665).

इसका पौधा पशुओं के चारे के काम आता है। इसके हरे चारे तथा इसकी सूखी घास में, सूखे पदार्थ के आधार पर, निम्नलिखित अवयव होते हैं : हरा चारा : तंतु, 28.08; ईथर निष्कर्ष, 3.50; कुल राख, 14.80; CaO, 2.77; P₂O₅, 0.60; MgO, 0.97; Na₂O, 0.55; तथा K₂O, 3.52%; सूखी घास : तंतु, 36.12; ईथर निष्कर्ष, 2.25; कुल राख, 12.51; CaO, 3.78; P₂O₅, 0.36; MgO, 1.03; Na₂O, 0.75; तथा K₂O, 2.14% (Sen, loc. cit.).

इसके दाने ज्वर शामक, क्षुधावर्धक, उद्वेष्टरोधी तथा बाजीकर माने जाते हैं (Kirt. & Basu, I, 807; Nadkarni, 313).

—वैर. लिग्नोसस प्रेन var. lignosus Prain

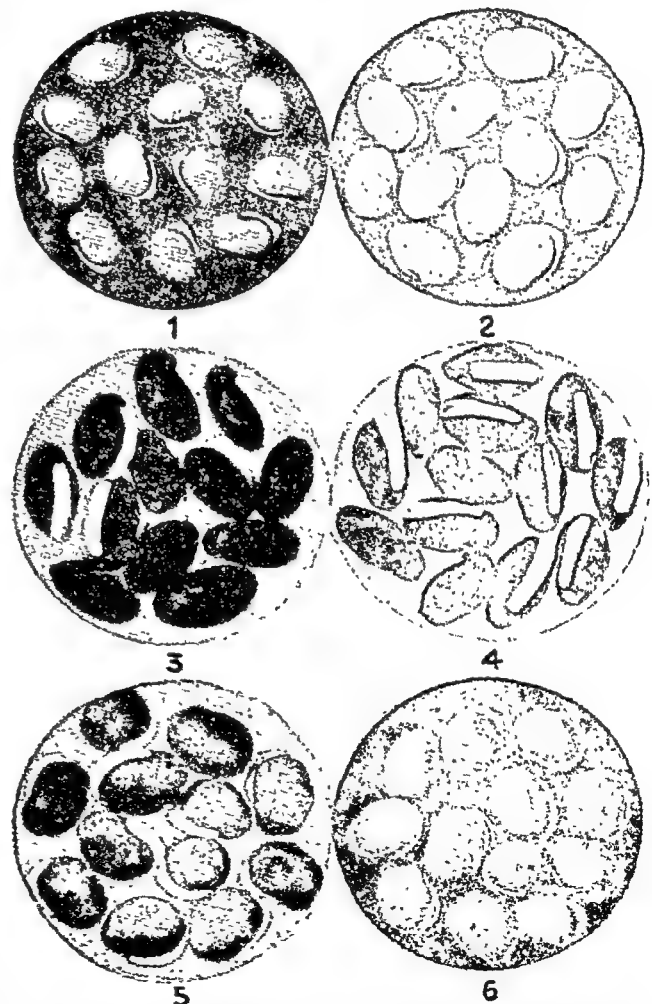
ऑस्ट्रेलियन पी, फील्डबीन

D.E.P., III, 183 (in part); C.P., 508 (in part); Fl. Br. Ind., II, 209 (in part).

हि. — बल्लार; गु. — बाल; ते. — अनुमुलु; त. — मोच्चै; क. — अवरे; मल. — मोच्चा कोटा.

यह कुछ-कुछ खड़ी, झाड़ीय, बहुवर्षी वृष्टी है किन्तु इसकी खेती एकवर्षी की तरह ही की जाती है। यह किसी अन्य पौधे अथवा टेक आदि पर नहीं चढ़ता। इसके पर्णक पंख की तरह के त्रिपर्णक होते हैं और टिपिकस किस्म के पर्णकों से छोटे होते हैं। इसके फूल सीधे तने हुए डंठल पर, जो लगभग 0.3 मी. ऊँचा होता है, एक के बाद एक क्रम से फूलते हैं। फलियाँ आयताकार, सपाट तथा चौड़ी, दृढ़ छिलकेदार तथा रेशदार, प्रत्येक फली के अंदर 4-6 बीज होते हैं जो संधिरेखा से लम्बवत् जुड़े रहते हैं। बीज लगभग गोलाकार, सफ़ेद, भरे अथवा काले रंग के होते हैं। इस पौधे से एक लाक्षणिक गन्ध आती है।

यह एशिया का मूलवासी है और भारत में 2,100 मी. की ऊँचाई तक के सभी क्षेत्रों में पाया जाता है। कुछ क्षेत्रों में यह जंगली भी पाया जाता है। इसके कई प्रकारों की खेती की जाती है : यह सभी ऋतुओं में जीवित रहने वाला तथा सुखा प्रतिरोधी है, विशेषतया दक्षिण भारत में इसकी वर्षाधीन फसल के रूप में खेती की जाती है। तमिलनाडु तथा मैसूर राज्यों के कुछ क्षेत्रों में यह दालों की महत्वपूर्ण फसल के रूप में उगाया जाता है। मैसूर में तो इसकी 40,000 हेक्टर से अधिक भूमि में खेती की जाती है। वे प्रमुख क्षेत्र, जिनमें इसकी खेती की जाती है, इस प्रकार हैं : मैसूर राज्य — कोलार, बंगलौर बेलगाम, तथा मैसूर जिले; गुजरात — सूरत; महाराष्ट्र — कोलाबा तथा रत्नागिरि जिले। मैसूर राज्य में इसे रागी (ऐल्यसाइनी कोराकाना गेर्तनर) की फसल के साथ तथा महाराष्ट्र, सौराष्ट्र में अरंड (रिसिनस कम्प्यूनिस लिनिअस) अथवा बाजरा (पेनीसेटम टाइफोइडोज स्टेफ और ह्वर्ड) अथवा ज्वार (सोर्घम बल्गेर पर्लून) की फसलों के साथ बोया जाता है।



चित्र 90 — डालिकास तबलव के बीज—1-5: किस्म टिपिकस; 6: किस्म टिपिकस × किस्म लिग्नोसस

महाराष्ट्र में रबी की फसल के रूप में और चारा प्राप्त करने के लिए तथा हरी खाद बनाने के लिए भी इसे उगाया जाता है। उत्तरी भारत में इसकी खेती लोकप्रिय नहीं है (Yegna Narayan Aiyer, 104; Chandrasekharan & Ramakrishnan, loc. cit.; Mysore agric. Cal., loc. cit.; Ambekar, Bull. Dep. Agric., Bombay, No. 146, 1927, 38).

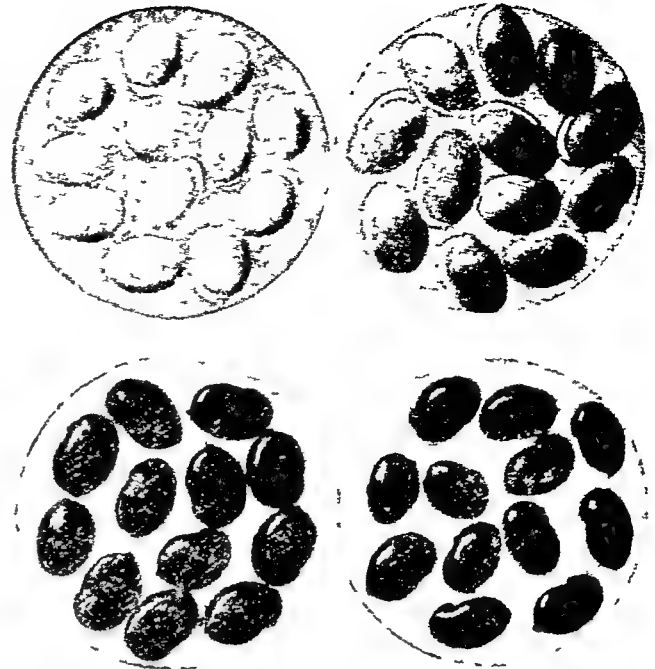
फसल के लिए बीज जून-अगस्त में ड्रिल द्वारा बोये जाते हैं। खेत में जब केवल इसी की खेती की जाए तो एक हेक्टर में 50-60 किग्रा. के हिसाब से और रागी के साथ बोने पर भार में 12 : 1 अथवा 6 : 1 अथवा 4 : 1 के अनुपात से बीज बोये जाते हैं। मिश्रित फसल के रूप में यह मुख्य फसल के लिए की जाने वाली कर्पण-क्रियाओं, निराई, छिट्पाई आदि की सुविधायें प्राप्त कर लेता है। इस पर ठंड और पाले का अमर जल्दी पड़ता है; ठंडा मौसम इसके परागण और बीज-रोपण को हानि पहुँचाता है (Ambekar, Bull. Dep. Agric., Bombay, No. 146, 1927, 39; Yegna Narayan Aiyer, Indian J. agric. Sci., 1949, 19, 510).

इसकी फसल अक्टूबर तथा मार्च के बीच कटाई के लिए तैयार हो जाती है। इसकी फलियाँ कच्ची ही अथवा पकने पर दोनों ही रूप में तोड़ी जाती हैं। फलियों के पूरी तरह पक जाने पर इसके पौधों को हँसिए से काट लेते हैं, फलियों को अलग कर लेते हैं, फिर उन्हें दो-एक दिन धूप में सुखा कर, कूट कर बीजों को अलग कर लिया जाता है और उन्हें साफ करके तथा सुखा करके मिट्टी के बर्तनों अथवा घातु से बने बर्तनों में भर दिया जाता है। नागकजीवों से बचाव के लिए इनके ऊपर रेत की एक परत बिछा दी जाती है। कटे पौधों की पुआल तथा पत्तियाँ ढोरो को खिला दी जाती हैं।

मिश्रित फसल से लगभग प्रति हेक्टर 400 किग्रा. सूखे बीज प्राप्त होते हैं। महाराष्ट्र में चावल के बाद रबी फसल के रूप में उगाने पर प्रति हेक्टर 1,300 किग्रा. बीज और इतना ही चारा प्राप्त किया गया है। विहार में, खरीफ फसल के रूप में उगाने पर एक हेक्टर से 2,000 से लेकर 12,700 किग्रा. तक हरा चारा उत्पन्न किया गया है (Yegna Narayan Aiyer, 105; Mollison, III, 82; Sayer, Agric. Live-Stk India, 1936, 6, 519).

रोग और नाशकजीव - डा. लवलव वैर. लिग्नोसस में मूल विगलन, किट्ट, ऐन्थ्रानोस तथा पच्चमारी जैसे रोग लग सकते हैं। ऐसी भी सूचना है कि इसमें डालिकास ईन्गेन मोजेक नामक एक वायरस रोग उत्पन्न हो जाता है जो तम्बाकू के मोजेक से मिलता-जुलता है। रोगग्रस्त पत्तियों में बड़े तीक्ष्ण मोजेक लक्षण घर घर जाते हैं और परिणामतः पत्तियों में हरीतिमाहीन धारियाँ पड़ जाती हैं; पत्र दल का आकार छोटा हो जाता है और विकृत पत्तियों के नीचे के हिस्से में पर्णाय उभार-सा आ जाता है (Capoor & Varma, Curr. Sci., 1948, 17, 57).

इसकी फसल को इल्ली और टिड्डे आक्रमण करके हानि पहुँचा सकते हैं। इसकी फलियों को लाही, फली वेधक झांझा तथा बगो से हानि पहुँचती है। झांझा हरी फलियों को खाकर भीतर के बीजों को नष्ट कर देता है। इन सबमें सबसे खतरनाक जीव ऐडिसूरा ऐडिकिन्सनाइ मूर है। इसके आक्रमण को रोकने के लिए आवश्यक है कि इसके अण्डों को खोजकर वही मसल कर समाप्त कर दिया जावे। दूसरे, फल के मिरो और फलियों के ऊपर ब्लीचिंग पाउडर का घोल (एक किग्रा. ब्लीचिंग पाउडर में आठ लीटर पानी मिलाकर) छिड़क कर भी पौधे को इन्से मुक्ति दिलाई जा सकती है। नए फूलों और फलियों को इनके आक्रमण से बचाने के लिए यह आवश्यक है कि इन घोल का दो-तीन



चित्र 91 - डालिकास लवलव वैर. लिग्नोसस के बीज

बार छिड़काव किया जाए। इस फसल को सर्वाधिक हानि कोष्टोसोमा क्रिब्रैरिया (बदवूदार बग) के प्रकोप से होती है और यह बड़ी संख्या में फलियों के ऊपर झुंडों में रहता है। इस बग पर नियंत्रण पाने का कोई संतोषजनक उपाय अभी तक ज्ञात नहीं हुआ है परन्तु एक उपाय यह सुझाया जाता है कि जहाँ कहीं भी मिले अण्डों को मसलकर समाप्त कर दिया जाए (Yegna Narayan Aiyer, 105).

लवलव बीन के विपरीत फोल्डबीन का महत्व फलियों की अपेक्षा इसके बीजों के कारण अधिक है। इसकी हरी फलियाँ, विकास की किसी भी अवस्था में, तोड़कर खाई जाती हैं और मटर के बीजों की तरह इसके दाने भी उवालकर, तलकर और नमक-मिर्च मिलाकर खाये जाते हैं। पके तथा सुखाए हुए बीजों की दाल बनाकर खायी जाती है। कभी-कभी इसके साबुत बीजों को रात भर पानी में भिगोकर और जब उनमें किल्ले फूट आएँ तो धूप में सुखाकर भावी उपयोग के लिए रख दिया जाता है। इसकी फलियाँ, बीज, तथा दाल के टूटन ढोरो को खिलाये जाते हैं (Yegna Narayan Aiyer, 106; Chandrasekharan & Ramakrishnan, loc. cit.).

दाल (सूखी) का विश्लेषण करने पर निम्नलिखित मान प्राप्त हुए : नमी, 9.6; प्रोटीन, 24.9; वसा, 0.8; खनिज पदार्थ, 3.2; तंतु, 1.4; कार्बोहाइड्रेट, 60.1; कैल्शियम, 0.06; और फॉस्फोरस, 0.45%; लोहा, 2.0 मिग्रा.; तथा निकोटिनिक अम्ल, 1.8 मिग्रा./100 ग्रा. इस बीज के मुख्य प्रोटीन ग्लोबुलिन तथा डालिकोमिन है। प्रोटीन अन्तर्ग्रहण के 10% स्तर पर इसके जैविक मान तथा पाचन क्षमता गुणों का क्रमशः 41 और 76 है। इसका प्रोटीन डा. बाइप्लोरस के प्रोटीन की अपेक्षा अधिक आसानी से पचाया जा सकता है, किन्तु इसका जैविक मान डा. बाइप्लोरस के जैविक मान से कम है। इसमें प्रचुर कैटेचाल ऑक्सीटोस प्राप्त किया जा सकता है (Hlth Bull., No. 23, 1951, 30; Swaminathan, Indian J. med. Res.,

1937-38, 25, 381; Niyogi *et al.*, *ibid.*, 1931-32, 19, 475; Venkatiswaran & Sreenivasaya, *Curr. Sci.*, 1940, 9, 21).

कोंकण और महाराष्ट्र के पहाड़ी क्षेत्रों में पाये जाने वाले डा. ब्रेवित-एटस देकर के बीज खाद्य के रूप में प्रयुक्त होते हैं। हिमालय पर कुमायूँ से लेकर खासी पहाड़ियों तक के क्षेत्र में और पश्चिमी प्रायद्वीप में मिलने वाला डा. फालकेटस क्लीन हरी खाद के रूप में इस्तेमाल किया जाता है। इस पीघे की जड़ कब्ज, नेत्राभिम्यद तथा त्वचा रोगों के लिए बहुत लाभकारी बतलाई जाती है। आमवात के रोग में इसके बीजों का काढ़ा लाभदायक होता है (Sampson, *Kew Bull., Addl Ser.*, XII, 1936, 71; Chopra, 484).

बोर्नियो देशज डा. होसेई त्रेव (सारावाक बीन) को भारत में लाकर और चाय तथा काफ़ी बागानों में भूमि-संरक्षी फसल के रूप में उगाया गया है। तमिलनाडु में यह भूमि संरक्षी फसल के रूप में सफल सिद्ध हुआ है। इसे बीज द्वारा भी उगाया जा सकता है, किन्तु यह विधि बहुत कम अपनायी गयी है। अक्सर यह कलम द्वारा ही उगाया जाता है क्योंकि कलम जल्दी जड़ पकड़ लेती है। मलाया और श्रीलंका में यह छायादार स्थानों और विशेषकर रबड़ के बागानों में उगाये जाने के लिए सर्वाधिक उपयुक्त है। हरी खाद के रूप में भी इसका उपयोग किया गया है। हरे पदार्थ का विश्लेषण करने पर इसमें नमी, 79.9; जैव पदार्थ, 17.8; राख, 2.3; नाइट्रोजन, 0.71; चूना, 0.43; पोटाश, 0.39; तथा फॉस्फोरिक अम्ल, 0.18% मिले हैं। यह भूक्षरण रोकने के लिए भी उपयोगी है (Use of Leguminous Plants, 202; A Manual of Green Manuring, 13, 83, 129; Burkill, I, 850).

Eleusine coracana Gaertn.; *Ricinus communis* Linn.; *Pennisetum typhoides* Stapf & C.E. Hubbard; *Sorghum vulgare* Pers.; *Adisura atkinsoni* Moore; *Coptosoma cribraria* F.; *D. bracteatus* Baker; *D. falcatus* Klein; *D. hosei* Craib

डालिकेण्ड्रोन फेंज़ल एक्स सीमन्न (बिग्नोनिईसी)

DOLICHANDRONE Fenzl ex Seem.

ले. — डोलिचानड्रोन

यह वृक्षों और झाड़ियों का वंश है जो अफ्रीका, एशिया तथा ऑस्ट्रेलिया में पाया जाता है। भारत में इसकी 6 जातियाँ उपलब्ध हैं।

Bignoniaceae

डा. फालकेटा सीमन्न (डा. लावाई सीमन्न सहित)

D. falcata Seem.

ले. — डा. फालकाटा

D.E.P., III, 174; Fl. Br. Ind., IV, 380; Kirt. & Basu, Pl. 705.

म. — मेरसिंगी, मेदासिंगी; ले. — चिट्टिवोडु, ओडुडी; त. — कड-लाटी, कलियावका; क. — उदुरे, मुडुदावुदुरे; मल. — नीरप्पोन्न-अल्लिया.

यह 6 से 15 मी. तक ऊँचा, छोटे अथवा मध्यम आकार का वृक्ष है जो राजस्थान, उत्तर प्रदेश, विहार और मध्य तथा दक्षिणी भारत के नमी वाले जंगलों में पाया जाता है। यह वृक्ष धीरे-धीरे उगता है, सूखा प्रतिरोधी है तथा शुष्क से शुष्क स्थान पर भी आसानी से उगाया जा सकता है। इसका काष्ठ (भार, 672-928 किग्रा./घमी.) श्वेताभ,

सघन तथा समान दानेदार, कठोर तथा चमकीला होता है। इसका ऋतुकरण अच्छा होता है तथा यह मकान बनाने और खेती के कामों में लाया जाता है (Gamble, 513).

डा. फालकेटा के फल औषध के रूप में और इसकी छाल मत्स्य-विष के रूप में प्रयुक्त की जाती है। छाल के अन्तः पृष्ठों से श्यामभ रंग का एक मोटा रेशा निकलता है (Kirt. & Basu, III, 1844; Cameron, 206).

D. lawii Seem.

डा. स्टिपुलेटा वेंथम=मारखामिया स्टिपुलेटा (वालिश) सीमन्न *D. stipulata* Benth.

ले. — डा. स्टिपूलाटा

D.E.P., III, 174; Fl. Br. Ind., IV, 379.

यह मध्यम आकार का इमारती लकड़ी का वृक्ष है। इसका तना साफ, 9 मी. ऊँचा तथा 2.1 मी. घेरे वाला होता है। यह अंडमान द्वीप-समूह तथा ब्रह्मा के मैदानी जंगलों में पाया जाता है।

इसका काष्ठ (आ. घ., 0.56; भार, 576 किग्रा./घमी.) नारंगी-लाल अथवा पीके धूसरित भूरे रंग का होता है तथा उस पर स्पष्ट चकते से बने होते हैं जिनके कारण वह अत्यन्त सुन्दर लगता है। यह



चित्र 92 — डालिकेण्ड्रोन स्टिपुलेटा

चमकीला, चिकना सीधे दाने वाला, मध्यम या समान गठन वाला, कठोर तथा कड़ा होता है। यह अनुप्रस्थ सामर्थ्य की दृष्टि से सागौन की तुलना में 50% अधिक मजबूत होता है। सिंझाते समय यह काण्ड थोड़ा चिटख जाता है तथा इसकी चिराई भी थोड़ी कठिन है किन्तु इस पर अच्छी फिनिश आ सकती है। यह खूबसूरत तथा टिकाऊ इमारती लकड़ी है, जिससे घर के खम्बे, धनुष, भालों के बेंट, डोंड, चप्पू तथा फर्नीचर आदि बनाए जा सकते हैं (Pearson & Brown, II, 765).

Markhamia stipulata (Wall.) Seem.

डा. स्पैथेसिया के. शुमन्न सिन. डा. रीडाइ सीमन्न
D. spathacea K. Schum.

ले. — डा. स्पाथसेआ

D.E.P., III, 174; Fl. Br. Ind., IV, 379.

वं. — गोरशिग्याह; त. — कनविल्लै, बीर्बादिरि; मल. — नीपुण्णाली.

यह 15 से 18 मी. तक ऊँचा वृक्ष है जो मालावार, त्रावनकोर, सुन्दरवन तथा अंडमान द्वीपसमूह की समुद्रतटीय दलदली भूमि में उगता है

इसका काण्ड लगभग सफेद अथवा भूरे रंग का, मुलायम तथा हल्का (51.2–62.4 किग्रा./घमी.) होता है। इससे नावें तथा लकड़ी के जूते बनाए जाते हैं (Burkill, I, 850).

इसके बीज पुतिरोधी हैं तथा आकपी रोगों के इलाज के लिए सोंठ के साथ मिलाकर दिये जाते हैं। जावा में लोग मुँह में छाले हो जाने पर इसकी पत्तियों को पानी में डालकर पानी से कुल्ला करते हैं (Kirt. & Basu, III, 1843; Burkill, loc. cit.).

इसकी छाल से काले रंग का एक रेशा निकलता है। छाल का काढ़ा मछली पकड़ने के जालों के परिरक्षण में प्रयुक्त किया जाता है (Rama Rao, 296).

डा. ऐट्रोवाइरन्स स्प्राग सिन. डा. क्रिप्पा सीमन्न (अंशतः) एक मध्यम आकार का वृक्ष है जो दक्षिणी प्रायद्वीप में पाया जाता है। इसका काण्ड (भार, 704 किग्रा./घमी.) हल्का पीताभ, भूरे रंग का, सम दानेदार तथा मध्यम कठोर होता है। यह खेती के उपकरण तथा मकान बनाने के काम आता है (Gamble, 512).

D. rheedii Seem.; *D. atrovirens* Sprague; *D. crispa* Seem.

डाल्फिन — देखिए ह्वेल

डाल्बर्जिया लिनियस पुत्र (लेग्यूमिनोसी) DALBERGIA
Linn. f.

ले. — डालबेर्गिया

यह वृक्षों, झाड़ियों तथा काण्ठीय आरोहियों का वंश है जो उष्ण तथा उपोष्ण कटिबन्धी प्रदेशों में पाया जाता है। भारत में इसकी लगभग 25 जातियाँ पाई जाती हैं जिनमें से डा. सोसू तथा डा. सेंटिकोलिया भारतीय इमारती लकड़ी वाले वृक्षों में प्रमुख हैं।

Leguminosae

डा. लेंसियोलेरिया लिनियस पुत्र

D. lanceolaria Linn. f.

ले. — डा. लान्सेओलारिया

D.E.P., III, 6; C.P., 484; Fl. Br. Ind., II, 235.

हि. — तकोली, विथुआ; वं. — चकेंडिया; म. — डांडस, कौर्ची; ते. — एतूपकरी, पेद्दासापरा; त. — एरिगै, नलवेलंगु; क. — वेलागा, कणागा, हसुरुगन्नी; मल. — मन्नवीटी, पुलारी.

श्रीलंका — वेलुख्वई.

यह ऊँचा पर्णपाती वृक्ष है जिसका तना सीधा, कुछ-कुछ पुश्ता-सा होता है जो परिधि में 2.1 मी. तथा प्रथम टहनी तक 7.5 मी. तक ऊँचा होता है। यह प्रायः पूरे भारत में विखरा हुआ है और कहीं भी सामान्य रूप से नहीं पाया जाता।

इसका काण्ड पीलापन लिये हुये श्वेत रंग का होता है जो आयु के साथ गहरा होता जाता है। यह सरल दानेदार तथा मध्यम स्थूल गठन का होता है। इसमें अंतःकाण्ड नहीं होता। यह दृढ़, मध्यम कठोर तथा भारी (आ. घ., 0.65–0.76; तथा भार, 656–768 किग्रा./घमी.) होता है किन्तु यह अत्यधिक टिकाऊ नहीं होता। इसका अनुकूलन कठिन नहीं होता। हरे रहने पर ही इसके लट्ठे बना लेने चाहिये किन्तु यदि लट्ठों को छोड़ दिया जाय तो वे अंदर से एँठ जाते हैं। इसके काण्ड को सरलता से चीरा, चिकनाया और खरादा जा सकता है। इसके दाने खुले होने के कारण काफी भराई की आवश्यकता पड़ती है किन्तु इसकी सतह पर अच्छी पालिश चढ़ सकती है। यह औजारों के हत्ये बनाने में तथा कृषि-यंत्रों में प्रयुक्त होती है। यह नक्काशी करने, तख्ते बनाने, छोटी-बड़ी कड़ियों तथा पेटियाँ बनाने के लिए उपयुक्त है (Pearson & Brown, I, 377).



चित्र 93 — डाल्बर्जिया लेंसियोलेरिया

इसकी छाल में 14% टैनिन होता है. छाल के काढ़े को अजीर्ण में दिया जाता है. इसके बीजों का तेल गठिया रोग में मला जाता है (Badhwar et al., Indian For. Leaflet, No. 72, 1949, 9; Kirt. & Basu, I, 821; Rama Rao, 130).

डा. लैटिफोलिया रॉक्सबर्ग *D. latifolia* Roxb.

पूर्वी भारतीय पाटल दारु, बाम्बे ब्लैकवुड

ले. — डा. लाटीफोलिया

D.E.P., III, 7; C.P., 484; Fl. Br. Ind., II, 231.

हि. — शीशम; बं. — सितसाल, श्वेत साल; म. — शीशम, सिसवा, सिसू, भोथ्यूला; गु. — शीशम, कालारुक; ते. — इरुगुडु, चित्तेगि; त. — ईटी, कन्दोरविरल; क. — बीटे, तोडेंगट्टा; मल. — ईटी, कोलवीटी, कार-ईटी; उ. — सिसुआ.

व्यापार — भारतीय 'रोजवुड', बाम्बे ब्लैकवुड.

यह ऊँचा, पर्णपाती अथवा प्रायः सदापर्णी वृक्ष है जिसका स्कन्ध बेलनाकार, सीधा तथा छत्र पूर्णतः गोलाई लिये हुये होता है. यह उपहिमालय क्षेत्र में पूर्वी उत्तर प्रदेश और उसके पूर्व की ओर बिहार, उड़ीसा तक तथा मध्यवर्ती, पश्चिमी एवं दक्षिणी भारत में पाया जाता है.

यद्यपि यह बहुतायत से पाया जाता है किन्तु न्यूनाधिक रूप में यह पर्णपाती वनों में सागौन के साथ-साथ विकीर्ण रूप में पाया जाता है. स्थान के अनुसार यह अपना आकार बदलता रहता है. पश्चिमी घाट के दक्षिणी भाग में इसकी महत्तम वृद्धि देखी जाती है जहाँ कभी-कभी 39 मी. ऊँचे, लगभग 6 मी. परिधि वाले तथा 21 मी. स्वच्छ स्कंध वाले वृक्ष पाये जाते हैं. इसकी न्यूनतम उपयोगी परिधि 1.8 मी. देखी गई है.

भारतीय 'रोजवुड' काफी भिन्नता वाले शैल-समूहों, यथा नीस, टैप, लैटराइट, गोलाश्म निक्षेप एवं जलोढ़ निर्माणों में उगता है. अच्छे निकास वाली, गहरी, आर्द्र मिट्टियों में, विशेषतः सतत प्रवाहिणी नदियों के तटों पर यह सर्वोत्तम वृद्धि करता है. यह सूखा प्रतिरोधी है, विशेषतः कुमारवस्था में यह काफी छाया सहन कर सकता है. किन्तु ऊपर से प्रकाश मिलते रहने पर इसे काफी लाभ पहुँचता है. अधिक खुले स्थानों में यह टेढ़ा तथा शाखायुत हो जाता है. यद्यपि यह अग्निसह है किन्तु अग्निसुरक्षा के उपायों से भारतीय रोजवुड वनों के आर्थिक विकास में सहायता मिल सकती है.

वृक्ष की लम्बी, क्षैतिज, सतही मूल प्रशाखाओं से अनेक अंतःभूस्तारी मूल निकलते हैं. जहाँ जड़े खुल जाती हैं वहाँ ये मूल अत्यधिक संख्या में पाये जाते हैं जिससे कुछ क्षेत्रों में इनका कायिक जनन अत्यधिक देखा जाता है. पेड़ों के आसपास खोदने से जड़ें विक्षत हो जाती हैं जिससे अन्तःभूस्तारी मूलों का उत्पादन उत्प्रेरित होता है. इसके वृक्ष में स्थूणन (जिससे कल्ले निकल सकें) भी खूब होता है. कोपलों में किये गये प्रयोगात्मक परीक्षणों में यह देखा गया कि अप्रैल-जुलाई में स्थूणों में से 100% में, अगस्त में 80% में और सितम्बर में 25% में कल्ले फूटते हैं.

प्रकृति में बीजों द्वारा पुनर्जनन वर्षा के प्रारम्भ में होता है क्योंकि तब बीज को मध्यम छाँह, खली भूमि, ढीली आर्द्र मिट्टी मिलती है जो उसके उगने और अंकुरण के लिए अत्यन्त उपयुक्त हैं. बाल वृक्ष की ओर अधिक वृद्धि के लिए ऊपर से प्रकाश मिलते रहना चाहिये.

कुछ स्थानों में, विशेषतः कुर्ग के आर्द्र जंगलों में सकाई करके आंशिक छाया में बीज बोने से अच्छे परिणाम प्राप्त हुए हैं. कुमरी (परिवर्तित



चित्र 94 — डाल्बर्जिया लैटिफोलिया

खेती) विधि से बोने से भी सफलता मिलती है. यदि सागौन वृक्षों का पर्याप्त विरलन कर दिया जाए तो कभी-कभी इनके वृक्षारोपणों में वृक्षों के नीचे डा. लैटिफोलिया उगाया जाता है. अगले वर्ष सागौन वृक्षों के क्षेत्र में नष्ट हुये वृक्षों के स्थान पर इनकी पौध लगा दी जाती है.

इसका कृत्रिम प्रवर्धन बीजों को बो कर तथा बीजांकुरों, अंतःभूस्तारी मूलों तथा इधर-उधर फैली जड़ों के खण्डों के रोपण द्वारा सम्भव है. विशेषतः पश्चिमी घाट में स्थूणों को पहले क्यारियों में उगाकर रोपण किया जाता है. हर दशा में खरपतवारों को दूर करने के लिए निराई आवश्यक है.

इसकी फलियों को एक-एक बीज वाले खंडों में तोड़कर बोया जाता है. पहले से 3.6 मी. की दूरी पर बनी पंक्तियों में एक दूसरे से 45 सेंमी. की दूरी पर बीज बोने से उत्तम परिणाम प्राप्त हुए हैं. इन बीजों को वर्षा होने के पहले ही बो दिया जाता है. 100 मी. की लम्बी पंक्ति के लिए 500 ग्रा. फलियाँ पर्याप्त होती हैं.

प्रतिरोपण के लिए बीजों को पहले से सरंध्र बलुही दोमट मिट्टी में तैयार की गई क्यारियों में पहले मौसम में ड्रिल द्वारा 22.5 सेंमी. की दूरी पर या दूसरे मौसम में पंक्तियों में 45 सेंमी. की दूरी पर बो दिया जाता है. बीजों की बोवाई मार्च-अप्रैल में कर दी जाती है और क्यारियों की नियमित सिंचाई तथा निराई-गुड़ाई की जाती है. पौधों को धूप से बचाना चाहिये. पहली वर्षा के होते ही बीजांकुरों को पूरा अथवा स्थूणों को डंठलों सहित 5 सेंमी. के खंडों में काटकर



चित्र 95 - डाल्मार्जिया लैटिफोलिया

तथा मूसला जड़ों को लगभग 15 सेंमी. रखकर इनका प्रतिरोपण किया जाता है। चारों तो बीजांकुरों को दूसरी वर्षा तक क्यारी में छोड़कर रखा जा सकता है; ऐसी दशा में शीत ऋतु में विरलन करना पड़ता है। प्रतिरोपण के पूर्व डंठलों को काटकर 5 सेंमी. का और मूसला जड़ों को 30 सेंमी. का कर लेना चाहिए। स्थान-रोपण में स्थानों को 4.5 मी. की दूरी पर लगाना चाहिए और बाद में हर दूसरे वृक्ष को उखाड़ देना चाहिये (Cameron, 94)।

देहरादून के प्रयोगों से प्रदर्शित हो चुका है कि डा. सीसू की भाँति भारतीय 'रोजबुड' को सिंचित करके भी उगाया जा सकता है। किन्तु इनसे यह स्पष्ट नहीं हुआ कि इस प्रकार से उगाये गये वृक्षों में अन्तः-काष्ठ के अनुपात और उसकी कोटि में कुछ सुधार हो सकता है या नहीं (Troup, I, 318; Cameron, loc. cit.; Information from the Chief Conservator of Forests, Trivandrum)।

ऐसे कई कवक (पालिस्टिक्टस स्ट्रान्हाइल्लिएनस बर्कले और लेविल्ले, शिजोफिलस कम्पन फ्रीज, ट्रेमेटोस लैक्टोनिआ बर्कले तथा ट्रे. परसूनाइ फ्रीज) हैं जिनसे भारतीय 'रोजबुड' में श्वेत सड़न उत्पन्न हो जाती है (Indian J. agric. Sci., 1950, 20, 107)।

मैसूर में 80 वर्षीय वृक्षों में, कर्नूल में 110 वर्षीय वृक्षों में तथा उत्तरी कन्नारा में 160 वर्षीय वृक्षों में 1.8 मी. की परिधि देखी गई है किन्तु मुरत में 80 वर्षीय वृक्ष में केवल 1.05 मी. परिधि पाई गई। गारणो I में उत्तरी कन्नारा जिले के शंकोला तथा कालीनट्टी वनों के वृक्षों की वृद्धि दरें अंशित हैं।

मद्रास के पुनाची वन-रोपणों में कुछ पृथक् वृक्षों के माप लिये गये जिससे यह ज्ञात हुआ कि 10 तथा 18 वर्ष की आयु के मध्य प्रति वर्ष परिधि में 2.75 सेंमी. की वृद्धि होती है। उत्तर प्रदेश में मिर्जापुर

की पुरानी क्यारी में उगे एक 22 वर्षीय वृक्ष की वक्षोच्च परिधि 1.7 मी. देखी गई है। अपनी मध्यावस्था में डा. लैटिफोलिया सागौन की अपेक्षा कहीं अधिक तीव्र गति से बढ़ता है किन्तु प्रारम्भिक तथा अन्तिम अवस्थाओं में यह वृद्धि सागौन की अपेक्षा मन्द होती है (Kadamby, private communication; Working Plan for the Mount Stuart Forests, South Coimbatore Division, Madras, 1933; Chopra, Indian For., 1949, 75, 97)।

भारतीय 'रोजबुड' वनों के रख-रखाव की मान्य प्रथा यह है कि स्थूणन किया जाए और चुने हुये वृक्षों को काटा जाए। यदि प्राकृतिक पुनर्जनन अपर्याप्त हो तो उसकी पूर्ति के लिए कृत्रिम पुनर्जनन संस्तुत किया जाता है (Troup, I, 318; Kadamby, loc. cit.)।

विभिन्न राज्यों से इमारती लकड़ी की औसत वार्षिक उत्पादन इस प्रकार है :

महाराष्ट्र, 5,320 घमी.; तमिलनाडु, 616 घमी. (दक्षिण कोयम्बतूर, वाइनाड, दक्षिणी कन्नारा तथा नीलगिरि मंडल के लिए सम्मिलित); उड़ीसा, 802 घमी.; कर्ग, 560 घमी.; तथा श्रावणकोर-कोचीन, 3,556 घमी. मैसूर राज्य में वनों से प्रति वर्ष अनुमानतः 210 घमी. इमारती लकड़ी प्राप्त होती है। लट्टे और चौखटें 6 मी. लम्बाई के तथा 1.2-1.5 मी. परिधि वाले रहते हैं। जहाज में लादने योग्य 1.5 मी. या इससे अधिक परिधि वाले दीर्घाकार लट्टे यूरोप को निर्यात किये जाते हैं। सम्भवतः कर्ग के जंगलों में सर्वोत्तम कोटि का भारतीय 'रोजबुड' प्राप्त होता है (वन विभाग से प्राप्त सूचना)।

लकड़ी का मूल्य उसकी कोटि तथा स्थान के अनुसार काफी बदलता रहता है। जहाज में लादने योग्य भारतीय 'रोजबुड' का मूल्य वैसे 370-550 रु. प्रति घमी. है, किन्तु यह 1,480 रु. प्रति घमी. तक विक्रि जाता है।

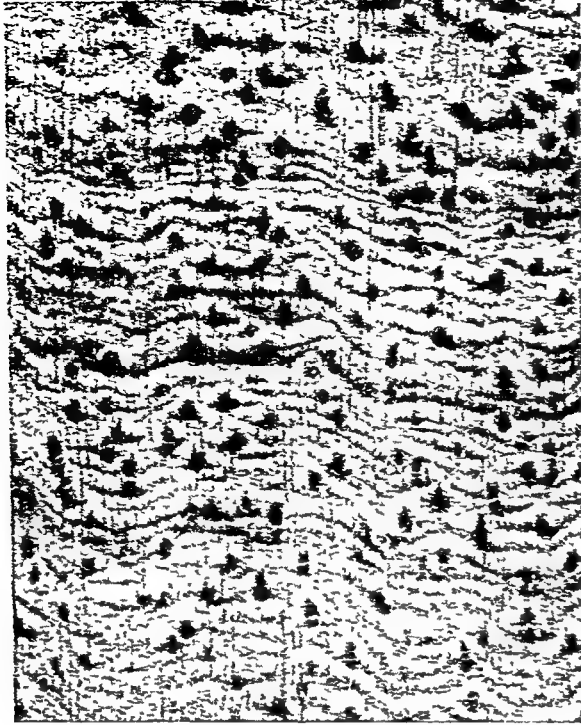
रसकाष्ठ संकीर्ण होता है और पीले-श्वेत अथवा कभी-कभी नील-तोहित रंग का होता है। अन्तःकाष्ठ का रंग सुनहले भूरे से लेकर हल्के गुलाबी रंग का होता है जिसमें दूर-दूर श्याम वर्ण की रेखाएँ रहती हैं। ये

सारणी 1 - भारतीय रोजबुड की परिधि की वृद्धि दर*

(वलय गणना पर आधारित; इसमें छाव की मोटाई सम्मिलित नहीं है)

आयु वर्षों में	परिधि		आयु वर्षों में	परिधि	
	शंकोला के उच्च वन सेंमी.	कालीनट्टी के डाँल सेंमी.		शंकोला के उच्च वन मी.	कालीनट्टी के डाँल मी.
10	17.5	17.5	90	1.18	1.27
20	32.5	35.0	100	1.28	1.37
30	47.5	50.0	110	1.38	1.45
40	60.0	65.0	120	1.48	1.53
50	72.5	80.0	130	1.58	1.60
60	85.0	95.0	140	1.65	1.68
70	97.5	107.5	150	1.73	1.75
80	107.5	117.5			

*Troup, I, 325.



चित्र 96 - डाल्बर्जिया लैटिफोलिया - काष्ठ की अनुप्रस्थ काट

आयु के साथ गहरी पड़ती जाती है। यह काष्ठ नुगन्वित भारी (आ. घ. 0.82; भार, 848 किग्रा./घमी.), परस्पर गुम्फित दाने वाला एवं मध्यम स्थूल वयन का होता है।

इसका काष्ठ सागौन की अपेक्षा बलिष्ठ और कहीं अधिक कठोर होता है। इसकी प्रत्यास्यता-सीमा बह्म-सागौन की अपेक्षा कुछ उच्च होती है। सागौन की तुलना में एक ही गुणवर्ग के लिए मध्य प्रदेश तथा तमिलनाडु से प्राप्त भारतीय 'रोजवुड' काष्ठ के प्रतिगत आंकड़े क्रमशः इस प्रकार हैं: भार, 130, 110; कड़ी की सामर्थ्य, 90, 95; कड़ी की दुर्नम्यता, 90, 85; खम्भे या बल्ली के रूप में उपयुक्तता, 85, 85; आघात प्रतिरोध क्षमता, 125, 145; आकार स्थिरण क्षमता, 80, 80; अपरूपण, 135, 135; तथा कठोरता, 175, 155. काष्ठ का ऊष्मीय मान इस प्रकार है: रसकाष्ठ : 5.159 कैलोरी, 9,287 ब्रि. घ. इ.; अन्तःकाष्ठ : 5.049 कैलोरी, 9,088 ब्रि. घ. इ. (Pearson & Brown, I. 368; Trotter, 1944, 242; Krishna & Ramaswami. Indian For. Bull., N.S., No. 79, 1932, 15).

भारतीय रोजवुड का ऋतुकरण या तो वात द्वारा या भट्टे में बिना किसी विगाड़ के किया जा सकता है। भट्टे में ऋतुकरण करने से इसका रंग गहरा पड़ जाता है जिससे इसका मूल्य बढ़ जाता है। यह उन कनिष्ठ कठोर काष्ठों में से है जिनका ऋतुकरण तख्तों की अपेक्षा लट्ठों या चौखटों के रूप में अच्छा होता है। लट्ठों के ऋतुकरण से सर्वोत्तम रंग निखरता है प्रायः लट्ठों का केन्द्रीय भाग चूनायुत निक्षेपों के कारण नदीय होता है। अतः ऐसी दशा में रूपान्तरण करते समय केन्द्रों को बन्द करके रसना चाहिये।

अन्तःकाष्ठ खुला छोड़ देने पर अथवा जल के सम्पर्क में टिकाऊ होता है अतः इसके संरक्षण के लिए किसी प्रकार के प्रतिरोधी की आवश्यकता नहीं पड़ती। किन्तु रसकाष्ठ क्षयशील है और वह सरलता से छिद्रकों तथा कवकों द्वारा आक्रमित हो जाता है। फलतः उपयोग में लाने के पूर्व इसे परिरक्षकों से उपचारित कर लेना चाहिये। यह परिरक्षकों को अन्दर तक शोषित कर लेता है।

कठोर होने के कारण भारतीय 'रोजवुड' को चीरने में कठिनाई होती है फलतः सन्तोषजनक परिणामों के लिए प्रत्यागामी आरों की आवश्यकता होती है। किन्तु मशीनों द्वारा इसे बिना किसी कठिनाई के चीर करके ऐसी सतह में परिणत किया जा सकता है जिसमें उत्तम पालिश चढ़ सकती है। इसे जल में गर्म करके धूर्णी खराद में चढ़ाकर छीला जा सकता है और इस छीलन से आकर्षक पृष्ठावरण बनाने के कार्य में प्रयुक्त किया जा सकता है। किन्तु ऐसा करने से सतह पर छोटी-छोटी संवियां बन जाती हैं। भाप-उपचार के बाद इसे झुकाया जा सकता है किन्तु इन गुणों में यह सीसू काष्ठ की समता नहीं कर सकता (Pearson & Brown. loc. cit.; Trotter, 1944, 89).

लकड़ी के सामान तथा अलमारि या मंजूपा बनाने के लिए भारतीय रोजवुड की गणना सुन्दरतम काष्ठों में की जाती है। यूरोप तथा अमेरिका में इसका मुख्य उपयोग पियानो-श्यापार में होता है। काष्ठकला तथा अलंकृत प्लाइवोर्ड और पृष्ठावरणों के लिए यह उपयोगी है। पैटर्न बनाने, कैलिको छपाई के ब्लाक बनाने, गणितीय यंत्रों तथा पेंचों के लिए यह विशेष रूप से प्रयुक्त होता है। तोपगाड़ी के पहियों, लड़ाई के लिए सामान की पैटियों तथा फौजी डिब्बों, धिरियों, पहियों के हालों, हथ्यों, अलमारियों, सज्जित गाड़ियों, नावों के कोनों, कुँआओं के निर्माण, कृषियंत्रों, कंधों, उस्तुरों के हथ्यों तथा ब्रगों के पिछले भागों के बनाने के लिए भी इसका प्रयोग होता है। यह सामान्य निर्माण कार्य के लिए अत्यधिक महंगा पड़ता है किन्तु जहाँ यह उपलब्ध है वहाँ खम्भों, गहतीरों, फर्श बनाने तथा दरवाजों और खिड़कियों के चौखटों के रूप में प्रयुक्त होता है। सावधानी से चुनकर अच्छी भारतीय रोजवुड से वायुयानों के निर्दिष्ट विवरण वाले प्लाईवोर्ड बनाये जा सकते हैं [Pearson & Brown. loc. cit.; Trotter, loc. cit.; Howard, 516; Limaye, Indian For. Rec., N.S., Util., 1942, 2(7), 169].

डा. लैटिफोलिया की पत्तियों को चारे के लिए प्रयुक्त किया जाता है। कद्वा-रोपण में इसे छायादार वृक्ष के रूप में उगाया जाता है। इन वृक्ष की छाल में टैनिन रहता है। इन वृक्ष के विभिन्न अंग उत्तेजक तथा सुवासर्वक के रूप में अथवा अजीर्ण, स्रग्धणी, दुग्ध, मुटापा तथा कीटों के मारने के लिए उपयोगी हैं (Badhwar et al., Indian For. Leaflet, No. 72, 1949, 23; Kirt. & Basu, I. 824).

Polystictus steinheilianus Berk. & Lev.: *Schizophyllum commune* Fr.: *Trametes lactinea* Berk.: *T. persoonii* Fr.

डा. सोसायडीज ग्राहम सिन. डा. लैटिफोलिया रॉक्सबर्ग वैर. सोसायडीज वेकर (फ्लो. ब्रि. इ.) *D. sissoides* Grah. मानावार श्यामकाष्ठ

ले. - डा. सिस्तोडिड
D.E.P., III, 7: Fl. Br. Ind., II, 231.

त. और मल. - बेल-ईटी; क. - करमुत्तना, विरडि.

यह डा. लैटिफोलिया से काफी निम्नता-जुलता है किन्तु आकार में छोटा, हल्के रंग की पत्तियों वाला कम मधन वृक्ष है। यह परिवर्तनी घाट

में मैसूर से दक्षिण में पाया जाता है और इसके वे ही नाम हैं जो डा. लैटिफोलिया के हैं।

डा. सीसायडीज का प्रवर्धन बीजों से होता है। यह वन-सम्बर्धन गुणों में तथा कृत्रिम पुनर्जनन के लिये अपनायी गयी विधियों में डा. लैटिफोलिया के ही समान है। इसके पौधों की वृद्धि अपेक्षतया तीव्र होती है। इसका वृक्ष मुक्त रूप से स्थूणन करता है। अंतःभूस्तारी मूलों के द्वारा इसका प्रवर्धन अधिक सन्तोषजनक सिद्ध नहीं हुआ।

यद्यपि व्यापारिक प्रकाष्ठ को डा. लैटिफोलिया के प्रकाष्ठ से पृथक् नहीं किया जा सकता किन्तु यह रंग में कम गहरा, अधिक धारीदार, दृढ़ तथा कठोर होता है। चीरी गई सतहें भारतीय रोजवुड की भाँति सरलता से पालिश ग्रहण नहीं कर सकती (Bourdillon, 118; Troup, I, 325; Kadambi, *Indian For.*, 1949, 75, 168).

इसकी पत्तियों को मवेशी चर लेते हैं (Iyer & Reddy, *Indian For.*, 1942, 68, 435).

var. *sissoides* Baker

डा. सीसू रॉक्सवर्ग *D. sissoo* Roxb.

ले. — डा. सिस्सू

D.E.P., III, 13; C.P., 485; Fl. Br. Ind., II, 231.

सं. — जिशपा, अगुरु; हि. — जीजम, सीसू, सिसई; वं. — शीसू; गु. — सीसम, तानाच; ते. — सिस्सू, एरिसिस्सू, सिमुपा; त. — सिमु ईटी, गेट्टे; क. — शिस्सू, अगह, विरिडी, विडी, इरागुंडीमावु; मल. — इरुविल; उ. — सीसू, सिसपा.

पंजाब — ताली, शीशम, शिशई; बम्बई — सिस्सू; व्यापार — सीसू, शीशम.

यह पर्णपाती, झुके तने वाला तथा हल्के छत्र का वृक्ष है। अनुकूल दशाओं में यह लगभग 30 मी. ऊँचाई, 2.4 मी. तक की परिधि और 10.5 मी. तक साफ स्कन्ध प्राप्त कर सकता है।

सीसू उप-हिमालय क्षेत्र में रावी नदी से लेकर असम तक 1,500 मी. की ऊँचाई तक पाया जाता है। यह इन क्षेत्रों के नदी तटों के लाक्षणिक जलोढ़ वनों में प्रचुरता से वृद्धि करता है। पंजाब, उत्तर प्रदेश, बंगाल तथा असम में सीसू की व्यापक खेती की जाती है। साल के अतिरिक्त अन्य कोई प्रकाष्ठ-वृक्ष इतने विस्तार से नहीं उगाया जाता। इसे सड़कों के किनारे-किनारे तथा चायबागों में छायादार वृक्ष के रूप में लगाया जाता है।

जिन सरंध्र मिट्टियों में बालू, कंकड़ तथा बड़े-बड़े पत्थर रहते हैं उनमें डा. सीसू अच्छी तरह उगता है। बंगाल दुवार के नदी तीरवर्ती खंडों में यह सर्वोत्तम ढंग से बढ़ता है और खैर, दूबेत सिरिस तथा सेमल के साथ-साथ पाया जाता है। चिकनी मिट्टियों में यह ठिगना बना रहता है।

प्राकृतिक अवस्था में सीसू अत्यन्त सूखा-प्रतिरोधी तथा तुपारसह होता है। इसे अत्यधिक प्रकाश चाहिये। मवेशी इसे चर जाते हैं और यह विशेष रूप से अग्नि-प्रतिरोधी भी नहीं है। भारतीय रोजवुड की भाँति सीसू का भी कायिक जनन अन्तःभूस्तारी मूलों के द्वारा होता है। इसका स्थूणन प्रचुरता से होता है किन्तु वृक्ष की जिस आयु तथा आकार तक ठीक से स्थूणन हो सकता है इसका निश्चय नहीं हो सका है।

इसकी फलियाँ दिसम्बर-अप्रैल में झड़ जाती हैं और वर्षा के प्रारम्भ होते ही बीज अंकुरित होने लगते हैं किन्तु नदीवर्ती क्षेत्रों में बाढ़ के कारण पहले ही अंकुरण हो जाता है। बीजांकुरों की वृद्धि में जो कारक



चित्र 97 — डाल्बर्जिया सीसू — घना जंगल

सहायक हैं वे पूर्ण प्रकाश, पर्याप्त आर्द्रतायुत सरंध्र मिट्टी तथा खर-पतवारों की अनुपस्थिति है (Troup, I, 294).

कृत्रिम रीति से सीसू का प्रवर्धन उन्ही विधियों द्वारा किया जा सकता है जिनसे भारतीय 'रोजवुड' का किया जाता है। बोनो पर प्रथम वर्षा के अंत तक बीजांकुर 15-22.5 सेंमी. की ऊँचाई प्राप्त कर लेते हैं और उसमें प्रचुर आर्द्रता रहे तो बोनो की विधि सफल हो सकती है। बीजांकुरों के प्रतिरोपण के लिए केवल छोटी-छोटी मूसला जड़ों वाले सुकुमार पौधों का प्रयोग उत्तम होता है। इस विधि को बोवाई में रिक्त रह जाने वाले स्थानों की पूर्ति के लिए तथा सड़कों के किनारे-किनारे वृक्षारोपण में अपनाया जाता है। शुष्क जलवायु में अंतःभूस्तारी मूलों के रोपण द्वारा संतोषजनक परिणाम प्राप्त हुए हैं (Troup, loc. cit.; Information from For. Dep., U.P.; Deogun, *How to grow Shisham, Lahore*).

सीसू उगाने की सामान्य विधि स्थूण-रोपण है। पंजाब तथा उत्तर प्रदेश में यही विधि सिंचित-रोपण में प्रयुक्त की जाती है। इसमें 1.5 मी. की दूरी पर खाइयाँ खोदकर, निकली मिट्टी को कुछ दूरी पर डाल देते हैं और इसके लिए एक हेक्टर की रोपण-क्यारी में लगभग 120 किन्ना। बीजों की आवश्यकता पड़ती है। यह बुवाई आधे मार्च से लेकर आधे जून तक की जाती है किन्तु प्रायः जल्दी बुवाई करना श्रेष्ठ समझा जाता है। अगली ऋतु तक पौधे इतने बड़े हो जाते हैं कि उनसे स्थूण प्राप्त हो सकें। तब पौधों को उखाड़ लिया जाता है और तने का 3.75-5 सेंमी. और जड़ों का 22.5-35 सेंमी. छोड़कर शेष भाग काट दिया जाता है। पादर्ववर्ती जड़ों को भी निकाल दिया जाता है। 2.5 सेंमी. से अधिक मोटे तथा मूल सन्धि पर 1.88 सेंमी. व्यास से कम के स्थूणों को छोड़ दिया जाता है। इस प्रकार प्रति हेक्टर एक लाख स्थूण प्राप्त हो सकते हैं। इन्हें दूर-दूर तक भेजने के लिए बंडलों में करके पत्तियों या घास से लपेट कर पानी छिड़क दिया जाता है और फिर बोरों में भरकर ले जाया जाता है।



चित्र 98 - डाल्बर्जिया सीसू - गुल्मवन

रोपण का सर्वोत्तम समय बसन्त ऋतु है और वह भी मार्च के तृतीय सप्ताह के पश्चात्. रोपण का कार्य अप्रैल में भी किया जा सकता है किन्तु इस कार्य को किसी भी हालत में अगस्त-सितम्बर के लिये नहीं रख छोड़ना चाहिये. जहाँ पानी अधिक गहराई पर पाया जाता है अथवा जहाँ वर्षा कम और अनिश्चित है वहाँ पर सिचाई नितान्त आवश्यक है.

स्थलों का रोपण या तो खाइयों के किनारे-किनारे अथवा गड्ढों के प्रतिटों पर करके खेत की सिचाई की जाती है. छिछली तथा स्फुट सिचाई करना अथवा खेत को लगातार जलमग्न रखना दोनों ही हानिकारक है क्योंकि इससे सतही जड़ें उत्पन्न हो जाती हैं. मौसम तथा वृक्षों की अवस्था को ध्यान में रखते हुये प्रथम ऋतु में 10-15 और द्वितीय ऋतु में 4-6 बार सिचाई करना पर्याप्त है. ठीक से सिचाई करते रहने पर सीसू की जड़ें अवमृदा-जल को कुछ ही वर्षों में ग्रहण करने में सक्षम हो जाती हैं जिससे बाद में केवल अवमृदा-जल की अनुपूर्ति के लिए ही सिचाई करने की आवश्यकता पड़ती है. सिंचित रोपणों से अच्छी किस्म का काष्ठ तथा प्रचुर ईंधन प्राप्त होता है (Deogun, loc. cit.).

बिना सिचाई के वृक्षारोपण करने के लिए फली-खंडों को ही पंक्तियों में बो दिया जाता है. 0.6 मी. चौड़ी बनी हुई पंक्तियों के बीचोंबीच बीजों के बोने से अच्छे परिणाम प्राप्त हुए हैं. सेलाब वृक्षारोपण (नदी के तटों पर की जलोढ़ भूमि पर जो आंशिक रूप से कभी-कभी बाढ़ से प्रभावित होती है) के लिए बेड़ों का प्रतिरोपण करना अथवा पंक्तियों में बीज बोना ठीक रहता है.

उपस्थित वृक्षों का नवीनीकरण या तो गिराये गये वृक्षों की जड़ों को आघात पहुँचा कर अथवा स्थलों को उखाड़ करके अन्तःभूस्तारी मूलों की उत्पत्ति को उत्प्रेरित करके किया जाता है. यदि कोई स्थान रिक्त रह जाय तो उसकी पूर्ति बो कर अथवा बेड़े लगाकर या स्थूणों द्वारा की जाती है (Information from For. Dep., U.P.).

विभिन्न क्षेत्रों में सीसू रोपण के लिए अपनाये गये अन्तर भी भिन्न-भिन्न हैं. 2.4×2.4 मी. से अधिक दूरी काफी चौड़ी मानी जाती है. इससे कम साधारण लगती है और पेड़ झुक जाते हैं. 3 मी. की दूरी पर पंक्तियों में 1.5 मी. के अन्तर पर किया गया रोपण सन्तोषजनक सिद्ध हुआ है. पंजाब में स्कं-रोपण की आदर्श विधि में 3 मी. की दूरी पर बनी खाइयों के प्रतिटों पर 1.8 मी. के अन्तराल पर स्थूण-रोपण किया जाता है (Information from For. Dep., Punjab).

नई अवस्था में ही समस्त सीसू वृक्षारोपणों को विरलित कर देना चाहिये और बीच-बीच में अन्य जातियों के वृक्षों को बो देना चाहिये या रोप देना चाहिये जिससे कि अनुपाततः खड़े सीसू वृक्ष कम रहें. सीसू बनों में अंतरोपण के लिए शहतूत (मोरस ऐल्बा) उपयुक्त होता है. सीसू वृक्षों में जब ही कोई अस्वास्थ्य का संकेत दिखे तो ग्रस्त वृक्षों को उखाड़ देना चाहिये. इसकी विस्तृत फसल उगाने की संस्तुति नहीं की जाती.

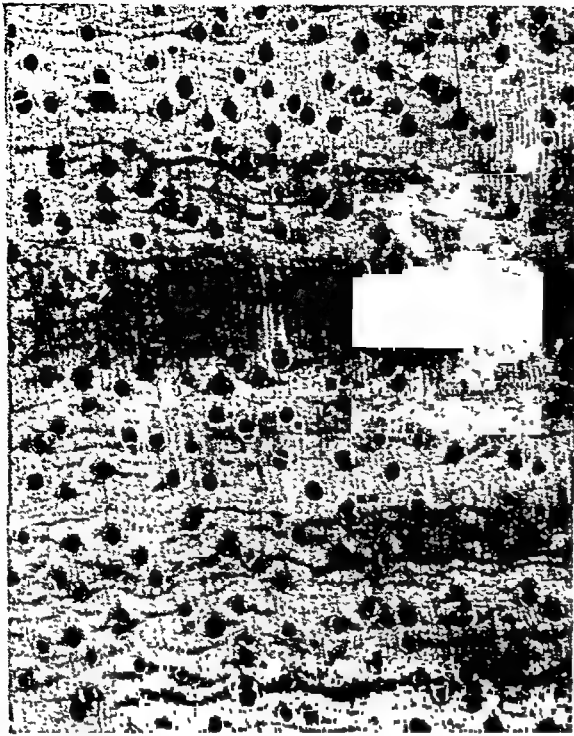
उत्तरी भारत में सीसू के वृक्षों में फ्यूजेरियम बेसिनफेक्टम ऐटकिन्सन के कारण मुरझा रोग हो जाता है. जहाँ निरेसीसू ही उगाये जाते हैं या सीसू को खैर, बबूल या सिरिस जैसी अन्य समानरूप से प्रभावित होने वाली जातियों के साथ मिश्रित करके उगाया जाता है

सिंचित वृक्षारोपण में जो विधि अपनाई जाती है वह स्थूणन तथा विद्यमान फसल के स्थान पर पीध जनन की है। उप-हिमालय खंड के नदी तटों और कतिपय गंगा द्वीपों के बनों के चुने वृक्षों को काटकर या 20 वर्षीय आवर्तन के आधार पर केवल स्थूणन द्वारा उनको परिचालित किया जाता है। नदी के किनारों की पट्टियों में पातन नहीं किया जाता। फिर भी नदी के किनारे-किनारे अस्थायी भूमि में एकमात्र यही उपाय

सीसू काण्ड की प्रचुर मात्रा उत्तरी भारत से प्राप्त होती है। वृक्षारोपण से प्राप्त वृक्ष अच्छी लम्बाई वाले होते हैं और उनसे सीधे लट्टे

सारणी 2—एक हेक्टर में मध्यम प्रकार की डा. सोसु की उपलब्धि*

*Howard, *Indian For. Bull.*, N.S., No. 62, 1925.



चित्र 99 - उत्तराजिया सीसू - काष्ठ की आड़ी काट ($\times 10$)

प्राप्त होते हैं। किन्तु नदीवर्ती तथा सड़कों के किनारे वाले वृक्ष छोटे, मजबूत और टेढ़े होते हैं। विभिन्न राज्यों का वार्षिक काष्ठ उत्पादन निम्नांकित है :

पंजाब, 28,000 घमी.; उत्तर प्रदेश, 2,800 घमी. (चीरा हुआ); तथा पश्चिमी बंगाल, 150 टन (केवल राज्य वनों से)। लट्ठों का औसत मूल्य. 107-179 रु. प्रति घमी.; चीरे हुए काष्ठ का 214-357 रु. प्रति घमी.; तथा जलाने की लकड़ी का 3.75-6.25 रु./चिटल (Information from For. Dep.).

सीसू का रसकाष्ठ श्वेत से पीले-भूरे रंग का और अंतःकाष्ठ स्वर्णिम भूरे से गहरे भूरे रंग का होता है जिसमें गहरी भूरी धारियाँ होती हैं। ये धारियाँ खुले रहने पर धूमिल पड़ जाती हैं। यह काष्ठ भारी होता है (आ. घ., लगभग 0.82; भार, 800-848 किग्रा./घमी.) इसके दाने पास-पास अंतःगुम्फित होते हैं और इसका गठन मध्यम कोटि का होता है। भारतीय रोजवुड की भाँति सीसू को भी बिना किसी बिगाड़ के वात अथवा भट्टे में अथवा के अनुकूल बनाया जा सकता है। भारतीय रोजवुड की भाँति भट्टे में अनुकूलन करने से काष्ठ का मूल्य बढ़ जाता है क्योंकि इससे रंग गहरा जाता है। अच्छी कड़ियाँ प्राप्त करने के लिए रूपान्तरण करते समय केन्द्रों को बन्द करके रखना चाहिये।

सीसू काष्ठ अपने उपचार के अनुसार अनुकूलन तथा गढ़ाई में भारतीय रोजवुड के ही अनुरूप है किन्तु इसे सरलता से चीरा जा सकता है और आकार बड़ा होने पर भी इसका भाप-बंकन सम्भव है। इसे अलंकृत पृष्ठावरणों या उत्तम कोटि के व्यापारिक प्लाईवुड के रूप में भी परिवर्तित किया जा सकता है (Pearson & Brown, I, 364; Trotter, 1944, 89)।

समान गुणधर्मों के लिए सीसू काष्ठ की आपेक्षिक उपयुक्तता सम्बन्धी प्रतिशत आँकड़े सागौन की तुलना में क्रमशः इस प्रकार हैं : भार, 110-120; कड़ी के रूप में सामर्थ्य, 80-85; कड़ी के रूप में दुर्नम्यता, 70-90; खम्भे के रूप में उपयुक्तता, 70-85; आघात प्रतिरोधकता, 135-140; आकार स्थिरण क्षमता, 80-90; अपरूपण, 125-145; तथा कठोरता, 125-140.

काष्ठ का कैलोरी मान इस प्रकार है : रसकाष्ठ : 4,908 कै. या 8,835 ब्रि. थ. इ.; अंतःकाष्ठ : 5,181 कै. या 9,326 ब्रि. थ. इ. (Trotter, 1944, 242; Krishna & Ramaswamy, *Indian For. Bull.*, N.S., No. 79, 1932, 15).

भारतीय रोजवुड की भाँति सीसू भी लकड़ी के सामान बनाने तथा अलमारियाँ तैयार करने के लिए उत्तम कोटि का काष्ठ है जिसका प्रयोग पूरे उत्तरी भारत में किया जाता है। अपनी सामर्थ्य, प्रत्यास्थता एवं टिकाऊपन के कारण यह निर्माण कार्यों एवं सामान्य उपयोगिता के प्रकाष्ठ के रूप में अत्यधिक समादरित है और दक्षिण भारत में जिन कार्यों में रोजवुड व्यवहृत होता है उन्हीं के लिए उत्तर में इसका भी व्यवहार होता है। इसका उपयोग रेल की स्लीपरों, वाद्य यंत्रों, चारपाई के पायों, विजली के आवरणों, हथौड़े के हथ्यों, जूते की एड़ियों, हुक्के की नलियों तथा तम्बाकू पाइपों के बनाने के लिए भी होता है। ठीक से चुनकर बनाये गये सीसू के प्लाईवुड के लट्ठे वायुयानों के लिए निदिष्ट विवरणों की पूर्ति करते हैं और इसके लिए नहरों के किनारे उगने वाले तथा वृक्षारोपणों से प्राप्त वृक्ष सर्वोत्तम माने जाते हैं। सीसू काष्ठ वर्ष पर फिसलने वाली पट्टियों के बनाने के लिए भी उपयुक्त है। इसमें जटिल से जटिल, गहरी तथा आलंकारिक खुदाई की जा सकती है। सीसू काष्ठ उत्कृष्ट ईंधनों में गिना जाता है और लकड़ी का कोयला बनाने के लिए प्रमुख रूप से प्रयुक्त किया जाता है। [Pearson & Brown, loc. cit.; Trotter, 1944, 89; Howard, 550; Limaye, *Indian For. Rec.*, N.S., Util., 1942, 2(7), 176; Narayanamurti & Ranganathan, *Indian For. Leaf.*, No. 79, 1945].

इसके अंतःकाष्ठ से 5.35% हल्का भूरा, अत्यन्त श्यान यौगिकीकृत तैल प्राप्त होता है जो शीतल होने पर वसलीन की भाँति ठोस हो जाता है। यह तल सुखने वाले तैलों की श्रेणी में आता है और काफी उच्चताप पर भी विच्छेदित नहीं होता है। यह भारी मशीनों के लिए उपयुक्त स्नेहक है। इसके स्थिरांक निम्नांकित प्रकार हैं : आ.घ.^{50°}, 0.9132; n^{20}_D , 1.5311; साबु. मान, 192.50; आयो. मान, 31.27; ऐसीटिलीकरण मान, 3.94; अम्ल मान, 0.65; आर. एम. मान, 0.79; हेनर मान, 91.50; असाबुनीकृत अंश (साइटोस्टेरॉल), 2.56%। इस तैल के रचक वसा-अम्ल निम्न प्रकार हैं : मिरिस्टिक, 5.56; पामिटिक, 21.79; स्टीएरिक, 24.33; ऐराकिडिक, 19.37; लिनोलीक, 10.81; तथा ओलीक, 9.40% (Kathpalia & Dutt, *Indian Soap J.*, 1952, 17, 235).

सीसू की पत्तियाँ चारे के रूप में प्रयुक्त होती हैं। इनमें शुष्क आधार पर 12.6-24.1% अपरिष्कृत प्रोटीन; 2.0-4.9% ईथर निष्कर्ष; 12.5-26.1% अपरिष्कृत रेशा; 42.1-54.8% नाइट्रोजन-रहित निष्कर्ष; 6.6-12% राख; 0.84-2.87% कैल्सियम; तथा 0.12-0.42% फॉस्फोरस होता है। पत्तियों से तैयार साइलेज के विश्लेषण से शुष्क आधार पर निम्नांकित मान प्राप्त हुए : अपरिष्कृत प्रोटीन, 14.0; ईथर निष्कर्ष, 3.6; अपरिष्कृत रेशा, 30.0; तथा नाइट्रोजनरहित निष्कर्ष, 34.1; अपरिष्कृत पचनीय प्रोटीन, 7.3%; स्टार्च तुल्यांक, 20 (*Jt Publ. imp. agric. Bur.*, No. 10, 1947,

111, 115, 200, 222; Sen, *Misc. Bull., I.C.A.R.*, No. 25, 1946, 14).

सीसू की पत्तियाँ तिक्त एवं उत्तेजक होती हैं। इसकी पत्तियों का काढ़ा सुजाक में लाभदायक बताया जाता है। पर्ण-श्लेष्मक (म्यूसिलेज) को मीठे तेल के साथ त्वचा के छिले हुये भाग पर लगाया जाता है। इसकी जड़ रक्तस्रावरोधी होती हैं और काष्ठ को त्वचा रोगों पर लगाया जाता है। सीसू-फलियों में 2% टैनिन होता है (Kirt. & Basu, I, 819; Chopra, 482; Badhwar *et al.*, *Indian For. Leaflet*, No. 72, 1949, 9).

डा. मेलानोक्सिलान गिलाऊमीन और पेरोटेट (अफ्रीकी श्याम दाह, सेनेगल, या सूडानी आवनूस, चीनी श्यामदाह) एक छोटा वृक्ष है जो कनारा तथा कोंकण में पाया जाता है। महाराष्ट्र, तमिलनाडु तथा बंगाल के कुछ स्थानों में इसकी खेती की जाती है। इससे जो काष्ठ प्राप्त होता है (भार, 1,424 किग्रा./घमी.) वह गहरे नील-लोहित से भूरे श्याम रंग का, कठोर तथा घना एवं महीन दानों वाला होता है। यह टिकाऊ होता है और खराद या गढ़ाई के लिए अत्युत्तम है। इसमें पालिश भी ठीक से चढ़ती है। यूरोप में इस काष्ठ का प्रयोग वाद्य यंत्रों, छड़ियों, कागज-कतकों, कंचों, बाल के पिनों तथा फेंसी सामानों के बनाने के लिए होता है। यह शल्य-चिकित्सा के यंत्रों में हथों के लिए, पैटर्न बनाने, पेंचों आदि के लिए भी समादरित है। यह काष्ठ प्राचीन मिस्र का आवनूस है (Dalziel, 237; Howard, 82).

डा. सिम्पेयेटिका निम्मो एक्स ग्राह्य सिन. डा. मल्टीफ्लोरा हाइने एक्स वालिश एक वृहत् आरोही झाड़ी है जो प्रायद्वीप के पश्चिमी भाग में पहाड़ियों पर पाई जाती है। पत्तियाँ रुपान्तरक होती हैं। फुँसियों



चित्र 100 - अल्बजिया मेलानोक्सिलान

एवं मुद्दासों पर इसकी छाल का लेप बनाकर लगाया जाता है (Kirt. & Basu, I, 819).

डा. पैनिकुलेटा रॉक्सवर्ग समस्त दक्षिणी और मध्य भारत में उत्तर की ओर अवध और शिवालक तक फैला हुआ है। इस वृक्ष का काष्ठ (भार, 512-736 किग्रा./घमी.) श्वेत-पीत होता है। अधिक टिकाऊ न होने पर भी निर्माण कार्यों में इसका प्रयोग होता है। वाद्य यंत्रों के निर्माण में भी इसका काष्ठ उपयोगी है (Cameron, 95).

डा. पार्वीपलोरा रॉक्सवर्ग एक दीर्घ काष्ठयुक्त आरोही है जो अंडमान द्वीपसमूह में पाया जाता है। इसके मूल तथा मूल के पास के तने का मोटा भाग गहरे लाल रंग का तथा सुगन्धित होता है। यह चीन में धूपवस्त्रियों के लिए और बोर्नियो तथा सेलीवीज में अग्रह के रूप में प्रयुक्त होता है। काष्ठ से 0.45-0.8% सगन्ध-तेल प्राप्त होता है जिसके लक्षण निम्नांकित हैं: आ. घ.^{15°}, 0.8878-0.8929; n_D^{20} , 1.4809-1.4825; $[\alpha]_D$, -0.20° से -4.75° तक; अम्ल मान, 0.5-1.6; एस्टर मान, 0-1.2; तथा ऐसीटिलीकरण के पश्चात् एस्टर मान, 139.5. इसका प्रधान रचक 1-मैरोलिडाल ($C_{16}H_{26}O$) है। इसमें फरफ्यूरल तथा सम्भवतः फार्नेसाल की भी सूक्ष्म मात्राएँ पाई जाती हैं [Gamble, 256; Burkill, I, 755; Krishna & Badhwar, *J. sci. industr. Res.*, 1949, 8(2), suppl., 155].

डा. पिन्नेटा (लॉरीरो) प्रेन सिन. डा. टर्मैरिडीफोलिया रॉक्सवर्ग पूर्वी हिमालय, असम तथा पश्चिमी प्रायद्वीप का काष्ठमय आरोही है। इस पौधे की पत्तियाँ चारे के रूप में प्रयुक्त होती हैं। इण्डोचीन में इसकी जड़ें चवाई जाती हैं तथा कृमिहारी के रूप में प्रयुक्त होती हैं। असम में इसकी छाल को पान के साथ खाया जाता है (Kirt. & Basu, I, 823; Fl. Assam, II, 105).

डा. बोलुविलिस रॉक्सवर्ग काष्ठमय दीर्घ आरोही है जो समस्त भारत में पाया जाता है। इसकी पत्तियों का चारा बनाया जाता है। पत्तियों के रस को मुख-व्रण में लगाने तथा गले के दर्द में गरारा करने के काम में प्रयोग किया जाता है। जड़ों के रस को जीरे तथा चीनी के साथ मिलाकर सुजाक में दिया जाता है (Kirt. & Basu, I, 822).

डा. असामिका वेथम एक वृक्ष है जो डा. लेंसिप्रोलेरिया के ही समान होता है और कुमायूं से असम तक पाया जाता है। चाय बागानों में यह छायादार वृक्षों की भांति उगाया जाता है। डा. स्टिपुलेसी रॉक्सवर्ग एक दीर्घ आरोही है जो पूर्वी हिमालय तथा असम में पाया जाता है। बंगलौर में इसकी खेती की गई है। इसका काष्ठ (भार, 768 किग्रा./घमी.) श्रोजारों के हल्ये तथा खम्भे बनाने के काम आता है। इसकी छाल तथा जड़ें मत्स्य-विष के रूप में प्रयुक्त होती हैं। इसके बीज खाये जाने हैं (Burkill, I, 754; Fl. Assam, II, 107; Chopra *et al.*, *J. Bombay nat. Hist. Soc.*, 1941, 42, 854).

सिल्वट में पाये जाने वाले झाड़ीदार वृक्ष डा. रेनिकार्मिस रॉक्सवर्ग का काष्ठ ईंधन के काम आता है। डा. स्पिनोसा रॉक्सवर्ग एक कँटीली झाड़ी है जो प्रायद्वीप के तटवर्ती भागों में तथा बंगाल में पाई जाती है। इसकी जड़ों के चूर्ण को जल के साथ पिलाने से ऐल्कोहल का प्रभाव शमित होता है। डा. रोस्ट्रेटा ग्राहम दक्षिणी भारत तथा श्रीलंका में पाया जाने वाला काष्ठमय आरोही है। इस पौधे में एक ऐल्कलायड पाया गया है (Kirt. & Basu, I, 822; Burkill, I, 756).

Fusarium vasinfectum Atkinson; *Ganoderma lucidum* (Leyss.) Karst.; *Polyporus gilvas* Schwein; *Phyllactinia subspiralis* (Salmon) Blumer; *Uredo sissoo* Syd.; *Rhizoctonia* (*Corticium*) *solani* Kuhn; *Dendrophthoe falcata*

(Linn. f.) Ettingshausen syn. *Loranthus longiflorus* Desr.; *D. melanoxylon* Guill. & Perr.; *D. sympathetica* Nimmo ex Grah.; *D. multiflora* Heyne ex Wall.; *D. paniculata* Roxb.; *D. parviflora* Roxb.; *D. pinnata* (Lour.) Prain syn. *D. tamarindifolia* Roxb.; *D. volubilis* Roxb.; *D. assamica* Benth.; *D. lanceolaria*; *D. stipulacea* Roxb.; *D. reniformis* Roxb.; *D. spinosa* Roxb.; *D. rosstrata* Grah.

डाशीन - देखिए कोलोकेसिया

डिकैस्त्रिया हुकर पुत्र और थामसन (लार्डिजालैसी)
DECAISNEA Hook. f. & Thoms.

ले. - डिकैस्त्रिया

D.E.P., III, 54; Fl. Br. Ind., I, 107.

यह सीधी और विरल शाखाओं वाली झाड़ियों का वंश है. इस पर बहुत् पक्षवत् पत्तों और आकर्षक फूल लगते हैं. यह हिमालय और पश्चिमी चीन में होती है. इसके फालिकिल बड़े और लम्बे होते हैं और उसमें सफेद गूदे के भीतर असंख्य बीज होते हैं. डि. इनसिग्निस हुकर पुत्र और थामसन (भूटिया - लडुमा; लेपचा - लुकचुडोजो; नेपाल - भेड़ा सिंह) पूर्वी हिमालय (1,800-3,000 मी.), भूटान, सिक्किम और आका पहाड़ियों पर पाया जाता है. अक्टूबर में इसके फल पकते हैं जिन्हें स्थानीय लोग बड़े चाव से खाते हैं (Biswas, *Rec. bot. Surv. India*, 1940, 5, 406).

Lardizabalaceae; *D. insignis* Hook. f. & Thoms.

डिक्टमनस लिनियस (रूटेसी) DICTAMNUS Linn.

ले. - डिक्टमनस

यह यूरोप और एशिया में पायी जाने वाली बहुवर्षी झाड़ियों का एक वंश है. इसकी अनेक किस्में, जो शायद इसकी केवल एक ही परिवर्तनशील जाति के विभिन्न रूप हैं, सजावट के लिए बगीचों में उगायी जाती हैं.

Rutaceae

डि. एल्बस लिनियस *D. albus* Linn.

गैस प्लांट डिटानी, वर्निंग बुश

ले. - डि. आल्बस

D.E.P., III, 111; Fl. Br. Ind., I, 487; Blatter, I, Pl. 18, Fig. 1.

यह तीव्र सुगन्ध वाला झाड़ी-जैसा पौधा है जिसकी ऊँचाई 30-90 सेंमी., निचला भाग कड़ा, छोटी-छोटी उमरी हुई गाँठों से आवृत; पत्तियाँ चमकदार और चमिल; और फूल टहनियों के सिरों पर सफेद-गुलाबी, या गुलाबी-नील-लोहित सुगन्धित लम्बे सुंदर गुच्छों में लगते हैं. यह पौधा हिमालय में, कश्मीर से कुनावर तक 1,800-2,400 मी. की ऊँचाई तक होता है. पांगी में यह सामान्य रूप से पाया जाता है.

यह पौधा अत्यन्त सहिष्णु एवं दीर्घजीवी होता है. इसके उगने के लिए कुछ भारी और सामान्य उपजाऊ मिट्टी सबसे उपयुक्त होती है. इसे उगाने के लिए पहले बीज को कर पौधे तैयार करनी होती है. जब

पौधे दो वर्ष की हो जाती हैं तो उन्हें स्थायी ठिकानों में लगा देते हैं. रोपाई के अगले वर्ष फूल आने लगते हैं. ये पौधे ज्यों-ज्यों बड़े होते जाते हैं, इनके फूलों के गुच्छों का आकार और पैदावार बढ़ती जाती है. इस पौधे के सभी भागों से बाष्पशील और ज्वलनशील तेल स्रवित होता रहता है और शांत ग्रीष्म की संध्या को यदि इसके मुख्य तने के पास फूलों के गुच्छे के नीचे एक जलती हुई तीली ले जायी जाए तो वहाँ रोशनी की चमक देखी जा सकती है (Bailey, 1947, I, 1004).

इसकी जड़ों में एक क्रिस्टलीय विषैला ऐल्कलायड, डिक्टमनाइन ($C_{12}H_{19}O_2N$; ग. वि., 132-33°), ट्राइगोनेलीन, कोलीन, और ओबैक्यूलेक्टोन [$C_{26}H_{30}O_8$; ग. वि., 292-93° (अपघटित)], फ्रैक्सीनेलीन ($C_{14}H_{16}O_3$; ग. वि., 120°) और सैपोनिन भी पाये जाते हैं. कोरिया से प्राप्त पौधों की जड़ों में इनके अतिरिक्त ओबैक्यूलेक्टोनिक अम्ल [$C_{26}H_{32}O_8$; ग. वि., 208-9° (अपघटित)] के रूप में ओबैक्यूलेक्टोन, डिक्टमनोलाइड [$C_{28}H_{30}O_9$ या $C_{28}H_{32}O_9$; ग. वि., 303° (अपघटित)] और एक फाइटोस्टेरोल (ग. वि., 142°) के भी पाये जाने की सूचना है. जड़ों में एक प्रकार का सुगन्धित तेल भी मिलता है. उसमें ओबैक्यूलेक्टोन और फ्रैक्सीनेलीन की उपस्थिति पाई गयी है. इसके फूलों से 0.05% सुगन्धित तेल निकलता है जिसमें मैथिलकवीकाल और एनेथाल रहते हैं. पत्तियों से प्राप्त सुगन्धित तेल (0.15%) में फलों से प्राप्त तेल जैसी गन्ध होती है [Henry, 413; *Chem. Abstr.*, 1930, 24, 2236; 1937, 31, 6642; Krishna & Badhwar, *J. sci. industr. Res.*, 1948, 7(6), suppl., 101].

जड़ की छाल सौरभिक तिक्त के रूप में स्नायु सम्बंधी रोगों में, सविरामी ज्वरों में, मासिक धर्म की रुकावट और हिस्टीरिया में प्रयोग की जाती है. इंडो-चीन और मलाया में इसकी जड़ का काढ़ा खाज और अन्य चर्मरोगों में दिया जाता है. इसकी पत्तियाँ और डोंडियाँ कुछ संवेदनशील लोगों के शरीर से छू जाने और बाद में वह भाग धूप में खुला रह जाने से त्वक् शोथ पैदा कर देती हैं (Kirt. & Basu, I, 458; Badhwar et al., *Indian J. agric. Sci.*, 1945, 15, 155).

डिजिटेरिया हेइस्टर (ज्रेमिनी) DIGITARIA Heister

कर्कट घास, अंगुलि घास

ले. - डिजिटारिया

D.E.P., VI (1), 15; Fl. Br. Ind., VII, 10.

यह एकवर्षी अथवा बहुवर्षी घासों का एक विशाल वंश है जो संसार भर में उष्ण तथा उपोष्ण प्रदेशों में पाया जाता है. इस वंश की भिन्न-भिन्न घासों के स्वभाव और लक्षण भिन्न-भिन्न होते हैं. कुछ अन्य वंशों से जैसे पैनिकम, पैस्पलम और ऐक्सोनोपस की कुछ जातियाँ भी इसी वंश में सम्मिलित कर ली गई हैं जिसके कारण इस वंश की जातियों की नाम-पद्धति संदिग्ध हो गयी है. भारत में इसकी 20 से भी अधिक जातियाँ पाई जाती हैं जिनमें से निम्न जातियाँ चारा प्राप्त करने की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं: (1) डि. ऐडसेडेन्स (हम्बोल्ट, वोनप्लांड एवं कुंथ) हेनरार्ड सिन. पैनिकम ऐडसेडेन्स (हम्बोल्ट, वोनप्लांड और कुंथ); डि. मार्गिनेटा लिंक और डि. मार्गिनेटा वैंर. फिन्निग्रेटा स्टैफ (हि. - टकरी, टकिया; त. - आरिसिपिल्लु; क. - हेन्नु अक्किवु हुल्लु; वम्बई - तारा, शिकूल, चंसारिउ); (2) डि. बार्डकोनिस (लामार्क) रोयमर और शुल्टेज सिन. पैस्पलम सेंग्विनेल लामार्क; (3) डि. सिल्विआरिस (रेस्तिगस) कोएलर, सिन. पैनिकम सिल्विएर



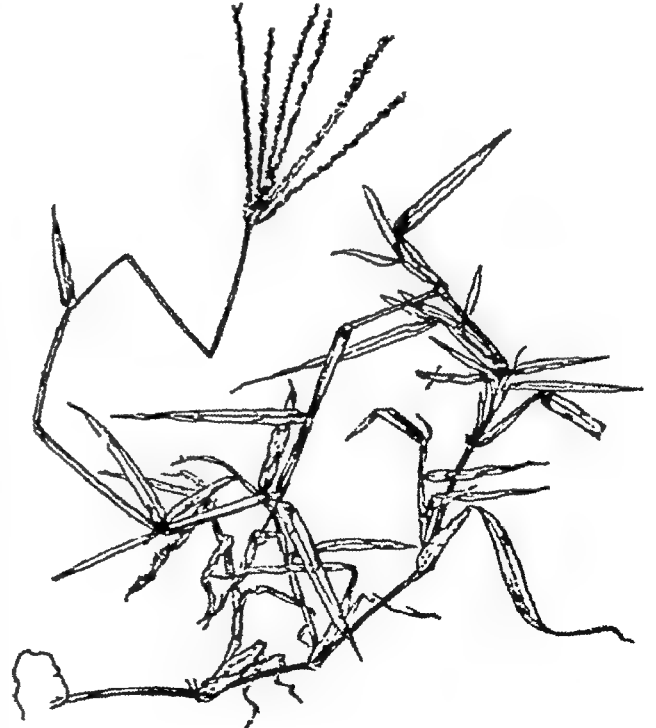
चित्र 101 - डिजिटेरिया लांगिफ्लोरा

रेलियस और पैस्पलम सैग्विनेल वैर. सिलिएर हुकर पुत्र; (4) डि. कोरिम्बोसा (रोक्सवर्ग) मेरिल सिन. पैनिकम कोरिम्बोसम रॉक्सवर्ग और पैस्पलम सैग्विनेल वैर. एक्सटेंसम हुकर पुत्र; (5) डि. क्रुसिएटा (नीस) ए. कैमस सिन. डि. वाइफेंसिकुलेटा और पैस्पलम सैग्विनेल वैर. क्रुसिएटम हुकर पुत्र (ड. प्र. - केवारी, शेरी); (6) डि. ग्रिफियाई (आनट) हेनरार्ड सिन. पैस्पलम सैग्विनेल वैर. ग्रिफियाई हुकर पुत्र; (7) डि. जुबेटा (ग्रिसवाल) हेनरार्ड सिन. पैस्पलम जुबेटम ग्रिसवाल; (8) डि. लांगिफ्लोरा (रेलियस) पर्बून सिन. पैस्पलम लांगिफ्लोरम रेलियस (हि. - कनक जरिया; त. - पाकुर गड्डी; क. - तापरि हुल्लु); (9) डि. प्रूरियेन्स (ट्रिनियस) वूस सिन. पैस्पलम सैग्विनेल वैर. प्रूरियेन्स हुकर पुत्र; और (10) डि. बालिशियाना (वाइट और आनट) स्टैफ सिन. पैस्पलम पेरोट्टेडाई हुकर पुत्र (Henrard, XIII, 9, 71, 129, 149, 155, 304, 359, 408, 429, 594, 797; Blatter & McCann, 124; Rhind, 46; Bor, *Indian For. Rec., N.S. Bot.*, 1941, 2, 120; *Fl. Assam*, V, 202; *Fl. Madras*, 1762).

सभी प्रकाशित ग्रंथों में भारत में पाई जाने वाली डिजिटेरिया जातियों को डि. सैग्विनेलिस स्कापोली सिन. पैस्पलम सैग्विनेल लामार्क (यद्यपि इस नाम के अन्तर्गत दो भिन्न-भिन्न जातियाँ आती हैं) को क्रिस्मों

के रूप में वर्णित किया जाता है. डि. सैग्विनेलिस नाम केवल जन्ही अत्यन्त परिवर्तनशील वार्षिक जातियों के लिए प्रयोग किया जाता है जो मध्य यूरोप और अन्य शीतोष्ण प्रदेशों में पाई जाती हैं. उष्णकटिबंधीय प्रदेशों में पाई जाने वाली जातियों को डि. ऐडसैडेन्स कहा जाता है. इन दोनों जातियों में बहुत ही कम भिन्नता है. सामान्यतः उष्णकटिबंधीय जातियों की स्पाइकिकाएँ अपेक्षाकृत अधिक सुन्दर, संकीर्ण तथा लम्बी होती हैं. दोनों जातियों के परस्पर संबद्ध होने और अत्यन्त वद्वरूपी होने के कारण किसी प्रजाति को इनमें से किसी एक जाति के अन्तर्गत निदिष्ट करना कठिन है. इन पौधों के आर्थिक महत्व के सम्बंध में जो सूचनाएँ उपलब्ध हैं उन्हें डि. सैग्विनेलिस के प्रकारों की अपेक्षा डि. सैग्विनेलिस समूह से सम्बंधित मानना अधिक संगत होगा (Henrard, 650; Haines, 1006).

डिजिटेरिया जातियाँ भारत में, समतल क्षेत्रों में तथा 1,800 मी. की ऊँचाई तक पहाड़ियों में, दूर-दूर तक पाई जाती हैं. वे जोते हुए खेतों में सामान्यतः पाई जाती हैं और कभी-कभी लानों में भी दीर्घस्थायी अपतृणों के रूप में उगी रहती हैं. कुछ जातियाँ अर्धशुष्क परिस्थितियों में और कुछ पहाड़ियों पर अच्छी तरह उगती हैं. बहुत-सी जातियाँ चारे की घास की तरह महत्वपूर्ण हैं और इन्हें सूखी अथवा हरी अवस्था में पशुओं तथा घोड़ों को खिलाया जा सकता है. कुछ जातियों को अनाज प्राप्त करने के लिए भी उगाया जाता है. कुछ जातियाँ संयुक्त राज्य अमेरिका में चारे के रूप में उपयोगी हैं; वहाँ पर एक हेक्टर भूमि से 5 टन घास प्राप्त होती है. घास के प्रथम-शीर्ष के परिपक्वता प्राप्त करने पर काटी घास उच्च कोटि की मानी जाती है (Rangachariyar, 53; Piper, 258; Iyer et al., *Madras agric. J.*, 1948, 35, 379).



चित्र 102 - डिजिटेरिया सैग्विनेलिस

डि. प्रुरियेन्स के विश्लेषण से निम्नांकित मान प्राप्त हुए : अपरिष्कृत प्रोटीन, 14.5; कच्चे तंतु, 28; नाइट्रोजनरहित निष्कर्ष, 44.04; ईथर निष्कर्ष, 2.16; राख, 11.3; CaO, 0.82; और P_2O_5 , 0.46%. दक्षिणी अफ्रीका में उगाई गयी डि. लांगिफ्लोरा तथा कुछ अन्य जातियों के पौधों के विश्लेषण से यह ज्ञात हुआ है कि अपरिष्कृत पौधों में सामान्यतः प्रोटीन और खनिज-अवयव अधिक मात्रा में होते हैं; कार्बोहाइड्रेट, कच्चे तंतु तथा ईथर-निष्कर्षित पदार्थों की मात्रा सभी आयु के पौधों में समान होती है परन्तु कैल्सियम की मात्रा प्रायः पौधे की आयु के साथ-साथ बढ़ती जाती है (Wehmer, suppl., 75; Chem. Abstr., 1934, 28, 3148).

डि. लांगिफ्लोरा को श्रीलंका में लान की घास के रूप में उगाया जाता है. इसके लम्बे तने वाले रूप को बटा जाता है. संयुक्त राज्य अमेरिका में कर्कट-घास को बगीचे की भूमि के लिए बहुत ही क्लेशप्रद अपतृण समझा जाता है और खरपतवार नाशियों का प्रयोग करके इस घास की बाढ़ को रोकने के भी प्रयास हुए हैं (Nicholls & Holland, 1969; Burkill, I, 808; Chem. Abstr., 1949, 43, 9337).
Gramineae; Panicum; Paspalum; Axonopus; D. adscendens (H. B. & K.) Henr.; Panicum adscendens H. B. & K.; D. marginata Link; var. fimbriata Stapf; D. bicornis (Lam.) Roem. & Schult.; Paspalum sanguinale Lam.; D. ciliaris (Retz.) Koeler; Panicum ciliare Retz.; D. corymbosa (Roxb.) Merrill; Panicum corymbosum Roxb.; var. extensum Hook. f.; D. cruciata (Nees) A. Camus; D. bifasciculata Auctt. non Henr.; var. cruciatum Hook. f.; D. griffithii (Arn.) Henr.; D. jubata (Griseb.) Henr.; Paspalum jubatum Griseb.; D. longiflora (Retz.) Pers.; D. pruriens (Trin.) Buse; var. pruriens Hook. f.; D. wallichiana (Wight & Arn.) Stapf; Paspalum perrottetii Hook. f.

डिजिटेलिस लिनियस (स्कोफुलेरिएसी) DIGITALIS Linn.

ले. - डिजिटालिस

यह सहिष्णु वृद्धियों का वंश है जो यूरोप तथा एशिया का मूलवासी है. इसकी कुछ जातियाँ संसार के अनेक क्षेत्रों में उगायी जाती हैं. डि. परप्पूरिया और डि. लैनेटा नाम की दो चिकित्सोपयोगी जातियाँ भारत में लाई गई हैं और औषध प्रयोजनों के लिए उगायी जाती हैं. Scrophulariaceae

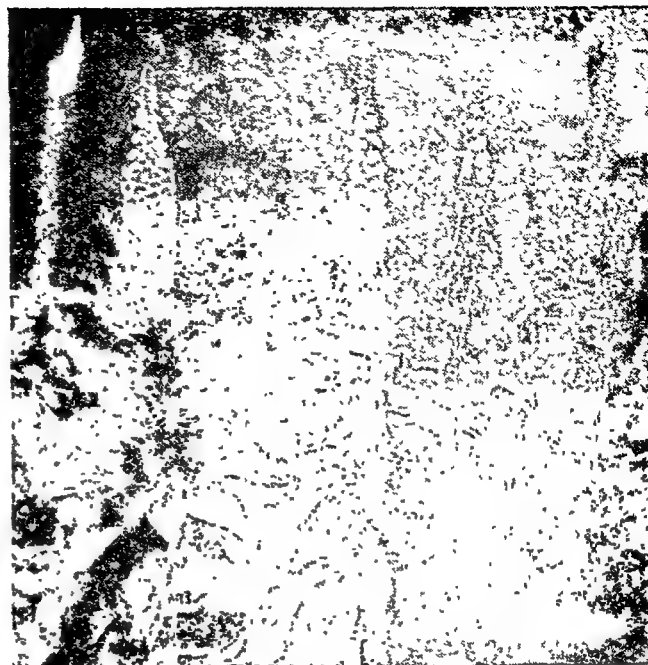
डि. परप्पूरिया लिनियस D. purpurea Linn

साधारण फॉक्सग्लव

ले. - डि. पूरपूरेआ

Bailey, 1949, 894.

यह द्विर्षी, कभी-कभी बहुवर्षी 60-180 सेंमी. तक ऊँची वृद्धी है जो पहाड़ियों में 1,500-2,550 मी. की ऊँचाई पर पलायित की भाँति पाई या उगायी जाती है. इस वृद्धी में पहले साल मूलज, सिकुड़ी हुई तथा कुछ-कुछ मुदुरोमिल पत्तियों का रोजेट लगता है. पत्तियाँ 15-30 सेंमी. लम्बी, अण्डाकार से लेकर अण्डाकार-भालाकार होती हैं उनमें लम्बे पंख वाले वृत्त आते हैं. दूसरे वर्ष पत्तियों के रोजेट के केन्द्र से एक सीधा पुष्पी अक्ष निकलता है जिसमें अर्ध-वृत्त तथा अर्ध-वृत्त



चित्र 103 - डिजिटेलिस परप्पूरिया

पत्तियाँ लगी होती हैं. इस अक्ष में केवल एक ओर 5-7.5 सेंमी. लम्बे, अधोनाल, नलिकाकार-घंटाकार, नील-लोहित या पीले अथवा श्वेत पुष्प-असीमाक्ष होते हैं. बीज छोटे हल्के तथा संख्या में बहुत अधिक होते हैं.

आजकल डि. परप्पूरिया की खेती मुख्यतः कश्मीर में तनमर्ग और किश्तावर में की जाती है. मुंगपू (दाजिलिंग) तथा नीलगिरि पहाड़ियों में इसकी खेती एक प्रकार से बन्द की जा चुकी है. परन्तु इन क्षेत्रों में यह पौधा प्राकृत हो गया है. कश्मीर में इसकी व्यावसायिक खेती लगभग 20 वर्ष पहले प्रारम्भ की गई थी. माँग में कमी होने के कारण खेती में गतिरोध उत्पन्न हो गया और पत्तियों का औसत वार्षिक उत्पादन घटते-घटते आजकल लगभग 2.5 क्विंटल रह गया है (औसत मूल्य, 160 रु. प्रति क्विंटल गोदाम से बाहर). परन्तु पश्चिमी हिमालय में इसकी खेती के पुनरुद्धार तथा प्रसार की सम्भावनायें हैं. अभी कुछ समय पहले इसकी व्यापारिक खेती यरीखाह (कश्मीर) में प्रारम्भ की गई है. इस पौधे को भारत के समतल क्षेत्रों में उगाने के लिए जो प्रयास किए गये हैं उनमें बहुत कम सफलता प्राप्त हुई (वन विभाग, कश्मीर की सूचना के अनुसार).

जिन पौधों की पत्तियों में ग्लाइकोसाइड की मात्रा अधिक होती है उनके बीज इकट्ठे कर लिये जाते हैं. इन बीजों से ही फॉक्सग्लव प्रवर्धित किया जाता है. यह कैल्सियम-असह जाति है जो मैगनीज की सूक्ष्म मात्रा से युक्त हल्की तथा बलुई मिट्टी में अच्छी तरह उगती है. इसके लिए हल्की छाया उपयुक्त है और छायादार परिस्थितियों में इसकी सबसे अधिक अच्छी खेती होती है. मिट्टी को अच्छी तरह तोड़ कर उसमें पर्याप्त मात्रा में सड़ी पत्ती की खाद डालना चाहिये. बीजों को महीन बालू के साथ मिला लिया जाता है जिससे कि एक समान वितरण हो और फिर उन्हें नर्सरी में पहले से तैयार क्यारियों में मार्च अथवा अप्रैल

के महीने में बो दिया जाता है. 2 किग्रा. बीज से इतनी बेहन (लगभग 27,000 पाँवें) तैयार हो जाती है कि एक हेक्टर के लिए पर्याप्त होती है. जब पौधे 5-7.5 सेंमी. ऊँची हो जाती हैं तो उन्हें नम मौसम में ही खेतों में पहले से बनाई गई मेड़ों पर लगा दिया जाता है. ये मेड़ें 60 सेंमी. के अन्तर पर बनी होती हैं और एक ही मेड़ पर लगाये गये पौधों के बीच 45 सेंमी. की दूरी रखी जाती है. जिन भागों में इस पौधे की खेती होती है उनमें अपने आप उगे हुये बीजों से पर्याप्त बेटें प्राप्त हो जाती हैं. इन्हें एकत्र करके तैयार की गई भूमि में लगा दिया जाता है. फसल को उगे हुए अपतृणों से मुक्त रखा जाता है और भूमि को वर्ष में एक अथवा दो बार गोड़ दिया जाता है. पत्तियों की उपलब्ध वृद्धाने के लिए मिट्टी पर कृत्रिम उर्वरकों का संतुलित मिश्रण डाला जा सकता है. लगाने के दूसरे वर्ष पौधा अप्रैल के अंत में अथवा मई के प्रारम्भ में फूलने लगता है फिर बीज पड़ जाते हैं और पौधा नष्ट हो जाता है. अनुकूल स्थितियों में प्रकंद बचा रहता है जिससे पौधा अगले एक अथवा दो वर्षों तक जीवित रह सकता है. परन्तु जहाँ इस पौधे की खेती की जाती है वहाँ बीज पड़ जाने के बाद उसे जड़ से उखाड़ लिया जाता है (Luthra, *Indian Fmg*, 1950, 11, 11).

डि. परप्परिया की पूर्ण विकसित पत्तियाँ ही व्यापारिक औषध होती हैं. पहले साल एकत्र की गयी पत्तियों में दूसरे वर्ष संग्रहीत पत्तियों की अपेक्षा चिकित्सीय शक्ति कुछ अधिक होती है परन्तु यह अन्तर बहुत कम होता है. पहले साल अगस्त-सितम्बर के महीने में दोपहर के बाद पत्तियाँ तोड़ी जाती हैं किन्तु दूसरे वर्ष ये तब तोड़ी जाती हैं जब दो-तिहाई फूल लग चुके हों. प्रत्येक पौधे के आधार और शीर्ष की पत्तियों को छोड़कर शेष लगभग तीन-चौथाई पत्तियाँ तोड़ ली जाती हैं. पीली और मुरझाई हुई पत्तियाँ फेंक दी जाती हैं क्योंकि उनमें सक्रिय ग्लाइकोसाइडों की मात्रा बहुत कम होती है.

पत्तियों के संग्रह का कार्य कई सप्ताह चलता है और प्रतिदिन संग्रहीत पत्तियों को बाँस के बने मचानों पर पतली परतों में फैलाकर धूप में जितनी जल्दी हो सके सुखा लिया जाता है. पत्तियों को किण्वन से बचाने के लिए समय-समय पर उलट-पुलट दिया जाता है. मौसम आर्द्र रहने पर जब पत्तियों को धूप में सुखाना सम्भव नहीं होता तो उन्हें भट्टियों में 60° से कम ताप पर सुखाते हैं. पत्तियों को पूरी तरह सुखा लेना चाहिये. धूप में सुखायी गई पत्तियाँ भट्टी में सुखायी गई पत्तियों की अपेक्षा अधिक क्रियाशील होती हैं. कश्मीर में फसल के समय मौसम शुष्क रहता है, अतः पत्तियों को धूप में सुखाना सम्भव होता है. सुखाने से भार में लगभग 70% हानि और व्यापारिक शुष्कन से क्रियाशीलता में लगभग 25% हानि होती है. एक हेक्टर से 500-600 किग्रा. सूखी पत्तियाँ प्राप्त होती हैं (Chopra, 131; Wright, *Indian For.*, 1931, 57, 587; *Chem. Abstr.*, 1937, 31, 214; Luthra, loc. cit.).

सूखी पत्तियों को अंधेरे सायदानों के फर्श पर ढेर लगाकर, धूल से बचाने के लिए बाँस की चटाइयों से ढक देते हैं. निर्यात के लिए उन्हें टीन के बने वायुरोधी डिब्बों में भरा जाता है. सावधानी से तोड़ी और सुखायी तथा संग्रह की गई पत्तियों की क्रियाशीलता वर्षों तक बनी रहती है. बतलाया गया है कि पत्तियों को संग्रह करने के लिए पत्तियों को ऐसे वायुरोधी डिब्बों में भरना, जिनमें ठोस शोषक पदार्थ उपस्थित हो आवश्यक नहीं होता. परन्तु यह अनुभव किया गया है कि भारत में इस प्रकार की सावधानियों से औषध की सक्रिय अवस्था में रहने की भंटावण अवधि बढ़ जाती है. कश्मीर से प्राप्त पत्तियाँ ब्रिटेन अथवा अन्य स्थानों से आयात पत्तियों के ही समान उत्तम कोटि

की होती हैं. मुंगपू से प्राप्त पत्तियाँ भी अच्छी कोटि की हैं किन्तु नीलगिरि से प्राप्त पत्तियाँ निम्न कोटि की समझी जाती हैं.

डि. परप्परिया की सुखाई गई पत्तियाँ मोटी पिसी हुई तथा सम्पूर्ण दोनों ही रूपों में ब्रिटिश फार्माकोपिया में मान्य हैं. सूखी पत्तियाँ भंगुर होती हैं और उनका रंग भूराभ हरा होता है; चूर्ण हरे रंग का, हल्की गन्ध वाला होता है; पत्तियाँ तथा चूर्ण दोनों ही स्पष्टतः तिव्र स्वाद के होते हैं. अधिकृत औषध में 8% से अधिक आर्द्रता, 2% से अधिक बाह्य कार्बनिक पदार्थ और 5% से अधिक अम्ल-अविलेय राख नहीं होनी चाहिये. इस औषध में, विशेषतया चूर्ण में, बर्वेस्कम थैप्सस लिनिग्रस, सिम्फाइटम ऑफिसिनेल लिनिग्रस और इनुला जातियों की पत्तियाँ, सामान्यतः मिली रहती हैं. अपमिश्रकों की उपस्थिति सूक्ष्मदर्शी-परीक्षणों से जानी जा सकती है. इसके स्थान पर कभी-कभी डिजिटेलिस की अन्य जातियों की पत्तियाँ भी काम में लाई जाती हैं (B.P., 165; B.P.C., 303).

डिजिटेलिस को मुख्यतः हृदय-संवहनी निकाय पर पड़ने वाले प्रभाव के कारण प्रयुक्त किया जाता है. यह प्रकुंचन-संकुचन के वेग को तथा क्षति-अप्रति हृदय की दक्षता को बढ़ाता है. यह हृदय की धड़कन को धीमा करता है और मूलतः उत्पन्न करके हृद्शोफ को कम करता है. यह रक्ताधिक्य-हृदयविराम, उत्कोष्ठ-स्फुरण और तीव्र आलिन्य विकम्पन की अवस्थाओं में हृद्पेशी-उद्दीपक की तरह प्रयुक्त किया जाता है. कुछ ही वर्ष पूर्व यह ज्ञात हुआ है कि डिजिटेलिस रधिर की स्कंदनशीलता को बढ़ाता है और शरीर में हेपारिन के स्कंदनरोधी प्रभाव को रोकता है. यह मूल है और जलशोफ तथा वृक्क-अवरोधों में लाभदायक है. इसके लगाने से स्थानीय क्षोभ होता है. डिजिटेलिस ग्लाइकोसाइडों का मरहम घावों को साफ करने में उपयोगी है. आग से जलने पर क्षत-कोशिकाओं के परिरक्षण में यह टैनिन अम्ल अथवा सिल्वर नाइट्रेट की अपेक्षा अधिक उपयुक्त है. यह सामान्यतः गोलियों, चूर्ण अथवा तैयार डिजिटेलिस टिक्चर, कैचैट, वत्ती और इंजेक्शनों के रूप में दिया जाता है. चिकित्सीय मात्रा में दिये जाने पर यह औषध कुछ विपैला प्रभाव डालती है, अतः यह आवश्यक है कि इस औषध की उतनी ही मात्रा दी जाए जिससे हानिकारक प्रभाव उत्पन्न न हो. डिजिटेलिस से बने पदार्थों की शक्ति मानक डिजिटेलिस चूर्ण के रूप में व्यक्त की जानी चाहिये. मानकीकरण के लिए चौपड़ा विधि से (जो हैचर और ब्रांडी की कैट विधि का संशोधित रूप है) अधिक विश्वसनीय फल प्राप्त हुये हैं. इस विधि द्वारा शक्ति और विपालुता दोनों ज्ञात किये जा सकते हैं (Kraemer, 733; U.S.D., 367; *Chem. Abstr.*, 1944, 38, 5969; Chopra, *Indian med. Gaz.*; 1922, 57, 422; Chopra & Chowhan, *Indian J. med. Res.*, 1934, 22, 271).

प्रौढ़ व्यक्ति के शरीर में 36-48 घंटे में पूर्ण चिकित्सीय प्रभाव उत्पन्न करने के लिए लगभग 1.5 ग्र. (22 ग्रेन) चूर्णित पत्तियाँ अथवा 15 मिली. (4 तरल ड्राम) अधिकृत टिक्चर की कुल औसत मात्रा आवश्यक होती है. इस मात्रा को चार अथवा चार से अधिक भागों में बराबर-बराबर वॉटरकर प्रत्येक चार या छः घंटे पर विलाया जा सकता है. इसके स्थायी प्रभाव के लिए इसे प्रतिदिन उत्सर्जित मात्रा से अधिक खिलाना चाहिये. रोगी को ठीक से देव-रेख करनी चाहिये और उसके शरीर में होने वाले प्रभावों के अनुसार औषधि की मात्रा निश्चित की जानी चाहिये. प्रौढ़ व्यक्ति पर औषधि का प्रभाव बनाये रखने के लिए प्रतिदिन लगभग 0.1 ग्र. (1.5 ग्रेन) औषधि विलायी जानी चाहिये और जब तक हृदय-विराम का कारण दूर न हो, तब तक रोगी को जीवनभर इतनी ही मात्रा में औषधि खिलाते रहना

चाहिये। डिजिटेलिस का प्रयोग करने पर शरीर में शिरोवेदना, थकावट, व्याकुलता और तंद्रा जैसे विपरीत प्रभाव प्रकट होते हैं। दृष्टि भी प्रायः धुंधली हो जाती है। विपाकतता का एक गौण प्रभाव यह भी पड़ सकता है कि असमय ही साइनस अतालता हो जाए। प्रवेगी उत्कोष्ठ या निलय हृद्-क्षिप्रता भी उत्पन्न हो जाती है और ये दोनों ही हानिकारक हैं। इन दोनों से बचने के लिए ओषधि का सेवन तुरन्त बन्द कर देना चाहिये। डिजिटेलिस-विपाकतता होने पर प्रायः निलय-विकम्पन के कारण मृत्यु होती है (U.S.D., 370)।

डिजिटेलिस के सक्रिय रचकों में कई ग्लाइकोसाइड हैं जो मुख्यतः बाह्य त्वचा में तथा संवहन-मूल की अंतस्त्वचा में और कभी-कभी उप-बाह्य त्वचा-स्थूलकोण-ऊतक में पाये जाते हैं। पत्तियों के समस्त सक्रिय ग्लाइकोसाइडों की सान्द्रता लगभग 1% है। पत्तियों में से डिजिटॉक्सिन, जिटाक्सिन और जिटेलिन नाम के तीन क्रिस्टलीय ग्लाइकोसाइड पृथक् किये गये हैं। इन तीनों में हृद्-सक्रियता होती है और प्रारम्भ में इन्हें प्राकृत ग्लाइकोसाइड समझा जाता था। अब यह ज्ञात हुआ है कि डिजिटॉक्सिन और जिटाक्सिन क्रमशः परप्पूरिया ग्लाइकोसाइड ए और परप्पूरिया ग्लाइकोसाइड बी के व्युत्पन्न हैं। परप्पूरिया ग्लाइकोसाइड ए और बी पत्तियों में पाये जाते हैं और पत्तियों में उपस्थित एंजाइमों से जल-अपघटित होकर क्रमशः डिजिटॉक्सिन तथा ग्लूकोस और जिटाक्सिन तथा ग्लूकोस उत्पन्न करते हैं। इसी प्रकार सम्भवतः जिटेलिन भी पत्तियों में उपस्थित किसी प्राकृतिक ग्लाइकोसाइड का जल-अपघटनी उत्पाद है (Kraemer, 732; Trease, 514; U.S.D., 366)।

डिजिटॉक्सिन, जिटाक्सिन और जिटेलिन के जल-अपघटन से क्रमशः डिजिटॉक्सिजेनिन, जिटाक्सिजेनिन और जिटेलिजेनिन नामक अग्लाइकोन बनते हैं। जल-अपघटन से इन तीनों से ही डिजिटॉक्सोन नामक एक मेथिल एल्डोपेंटोस शर्करा मुक्त होती है। डिजिटॉक्सिन और जिटाक्सिन दोनों में से प्रत्येक के एक अणु से शर्करा के तीन अणु प्राप्त होते हैं जबकि जिटेलिन के एक अणु से शर्करा के दो ही अणु प्राप्त होते हैं। ग्लाइकोसाइडों की अपेक्षा अग्लाइकोनों में हार्द सक्रियता कम होती है (U.S.D., loc. cit.)।

पत्तियों में लगभग 0.2-0.3% डिजिटॉक्सिन ($C_{41}H_{64}O_{13}$; ग. वि., 255-57°) पाया जाता है। यह रंगहीन, गन्धहीन और अत्यन्त तिक्त क्रिस्टलीय पदार्थ है जो जल में अविलेय तथा ऐल्कोहल तथा क्लोरोफार्म में विलेय है। डिजिटेलिस के ग्लाइकोसाइडों में यह सबसे अधिक सक्रिय होता है। इसकी सक्रियता चूर्णित डिजिटेलिस से 1,000 गुनी होती है। इसे पत्तियों के ऐल्कोहलीय निष्कर्ष से प्राप्त किया जाता है। ऐल्कोहलीय निष्कर्ष में से पहले लेड ऐसीटेट द्वारा अवक्षेपित करके टैनिन और रेजिनी अपद्रव्यों को पृथक्कृत किया जाता है और फिर द्रव को क्लोरोफार्म-एमिल ईथर मिश्रण द्वारा निष्कषित किया जाता है। प्राप्त निष्कर्ष में पेट्रोलियम ईथर डालने पर ग्लाइकोसाइड अवक्षिप्त हो जाता है जिसे ऐल्कोहल से पुनः क्रिस्टलित कर लिया जाता है। व्यापारिक डिजिटॉक्सिन में प्रायः जिटाक्सिन तथा अन्य डिजिटेलिस ग्लाइकोसाइडों की थोड़ी-सी मात्रा पाई जाती है (Chem. Abstr., 1948, 42, 9094; B.P.C., 307)।

डिजिटॉक्सिन शीघ्र ही जठरांत्र क्षेत्र में पूर्णतः अवशोषित हो जाता है। एक औसत वयस्क रोगी के लिए इसकी मात्रा लगभग 1.2 मिग्रा. (1/50 ग्रेन) है। इस मात्रा को एक ही बार में अथवा तीन भागों में विभक्त करके हर 4-6 घंटे पर खिलाया जाता है। ओषधि की प्रति दिन की औसत प्रभावकारी मात्रा लगभग 0.1 मिग्रा. (1/600 ग्रेन) है। इतनी ही मात्रा अंतःशिरा इंजेक्शन में भी प्रयुक्त

की जाती है परन्तु यह आवश्यक है कि अंतःक्षेपण धीरे-धीरे किया जाए और एक बार में 1/500 ग्रेन से अधिक मात्रा न अंतःक्षेपित हो। अधिक मात्रा प्रयुक्त करने पर यह एक विशेष प्रकार की डिजिटेलिस मादकता उत्पन्न कर देता है। डिजिटॉक्सिन की क्रिया संचयी होती है (U.S.D., 377; B.P.C., 307)।

जिटॉक्सिन ($C_{41}H_{64}O_{14}$; ग. वि., 266-69°) श्वेत सुइयों के रूप में पाया जाता है और जल, ऐल्कोहल तथा क्लोरोफार्म में अल्प विलेय है।

डिजिटेलिस में जिटेलिन ($C_{35}H_{56}O_{12}$; ग. वि., 245°) 0.3-0.9% तक पाया जाता है। यह श्वेत क्रिस्टलीय पदार्थ है जो जल, ऐल्कोहल तथा क्लोरोफार्म में विलेय है। डिजिटॉक्सिन की क्रिया से इसकी क्रिया भिन्न है क्योंकि यह संचयी नहीं होती।

डिजिटेलिस में ग्लाइकोसाइडों के अतिरिक्त कई टैनिन, इनोसिटाल, ल्यूटिओलिन और गैलिक, फामिक, ऐसीटिक, लैक्टिक, सक्सिनिक, सिट्रिक तथा बेंजोइक अम्ल भी पाये जाते हैं। पत्तियों में लगभग 1.22% वसीय पदार्थ पाया जाता है जिसमें मिरिस्टिक, पामिटिक, सेरोटिक, ओलीक, लिनोलीक तथा लिनोलेनिक अम्ल, मेलिसिल ऐल्कोहल, साइटोस्टेरॉल और ट्राइएकोस्टेन पाये जाते हैं (Wehmer, II, 1128; Chem. Abstr., 1948, 42, 6060; 1933, 27, 2528)।

डिजिटेलिन ($C_{36}H_{56}O_{14}$; ग. वि., 210-17°) डि. परप्पूरिया के बीजों में उपस्थित एक सक्रिय हार्द ग्लाइकोसाइड है और सामान्यतया 'डिजिटेलिनम वेरम' के नाम से वर्णित किया जाता है। यह बीजों में पाया जाता है (हेक्साऐसीटेट के रूप में उपलब्ध, लगभग 0.3%)। बीजों में इसके साथ कई अज्ञात सक्रिय ग्लाइकोसाइड और निष्क्रिय सैपोनिन भी पाये जाते हैं। सैपोनिनों के अन्तर्गत डिजिटोनिन ($C_{50}H_{92}O_{29}$), जिटोनिन ($C_{50}H_{82}O_{23}$) और टिगोनिन ($C_{56}H_{92}O_{27}$) पृथक् किए गए हैं। डिजिटेलिन जल-अपघटित होने पर डिजिटेलिजेनिन नामक एक अग्लाइकोन और डिजिटेलोस तथा ग्लूकोस नाम की दो शर्करायें उत्पन्न करता है। डिजिटॉक्सिन की अपेक्षा बीजों में उपस्थित ग्लाइकोसाइड कम शक्तिशाली होते हैं परन्तु उनके प्रयोग में एक लाभ यह है कि उनकी क्रिया संचयी नहीं होती (Thorpe, II, 384; Fieser & Fieser, 972; Biol. Abstr., 1950, 24, 2008; B.P.C., 302)।

बीजों में लगभग 31.4% एक कहरुवा रंग का तथा रोचक स्वाद वाला वसीय तेल भी पाया जाता है जिसके स्थिरांक निम्नलिखित हैं: वि. घ. 15-5°, 0.9231; n_D^{20} , 1.4755; अम्ल मान, 9.3; एस्टर मान, 198.2; साबु. मान, 207.5; आयो. मान (हैनस), 127.9; और असाबु. पदार्थ, 6.12% (Chem. Abstr., 1930, 24, 5426; 1927, 21, 4019)।

डि. लैनाटा एरहार्ट (ग्रेसियन फॉक्सग्लव, लोमश फॉक्सग्लव) एक बहुवर्षी अथवा द्विवर्षी, 60-90 सेंमी. ऊँची वृद्धी है जो कश्मीर में लगभग 2,100 मी. की ऊँचाई तक उगायी जाती है। पत्तियाँ घूसर हरी, कुछ-कुछ रोमिल अथवा अरोमिल, अघोवर्धी, अवृत, तथा आयतरूप भालाकार होती हैं; फूल छोटे-छोटे तथा मृदुरोमिल, श्वेत-पीत, पीले अथवा नील-लोहित रंग के होते हैं।

इस जाति के उगने के लिए चूनायुक्त मिट्टी सबसे उपयुक्त होती है। इसकी खेती डि. परप्पूरिया की ही भाँति की जाती है। व्यापारिक स्तर पर इसकी खेती यरीखाह (कश्मीर) में की जाती है। एक हेक्टर भूमि से प्रति वर्ष लगभग 240 किग्रा. शुष्क पत्तियाँ प्राप्त होती हैं (Information from For. Dep., Kashmir)।



चित्र 104 - डिजिटेलिस लैनाटा

डि. लैनाटा की पत्तियों का शरीर-क्रियात्मक प्रभाव डिजिटेलिस के ही प्रकार का, किन्तु उसकी अपेक्षा अधिक शक्तिशाली और कम सचयी होता है। पत्तियाँ डिजाक्सिन नामक सक्रिय हार्म ग्लाइकोसाइड का स्रोत हैं। यह ग्लाइकोसाइड वंश की किसी अन्य जाति से प्राप्त नहीं होता। डिजाक्सिन फार्माकोपियाओं में मान्य है।

डि. लैनाटा की ताजी पत्तियों में तीन प्राकृतिक ग्लाइकोसाइड पाये जाते हैं। ये हैं: लैनेटोसाइड ए ($C_{40}H_{76}O_{10}$), लैनेटोसाइड बी ($C_{40}H_{76}O_{20}$) तथा लैनेटोसाइड सी ($C_{40}H_{76}O_{20}$)। ये तीनों डि. परप्पूरिया के ग्लाइकोसाइडों की ही तरह अस्थायी हैं। लैनेटोसाइड ए और लैनेटोसाइड बी क्रमशः परप्पूरिया ग्लाइकोसाइड ए और परप्पूरिया ग्लाइकोसाइड बी के ऐसीटिल व्युत्पन्न हैं। डि. परप्पूरिया में लैनेटोसाइड सी का कोई प्रतिरूप नहीं पाया जाता। एंजाइम द्वारा लैनेटोसाइडों का जल-अपघटन होने से ग्लूकोस विलग होता है और मंद क्षारों द्वारा जल-अपघटन होने में ऐसीटिल मूलक अतः लैनेटोमाइड ए, बी और सी से क्रमशः डिजिटैक्सिन, जिटाविमिन और डिगाविमिन अवशेष प्राप्त होते हैं। लैनेटोसाइडों को निष्कषित करने के लिए पहले ताजी पत्तियों को किसी उदासीन लवण के साथ पीसा जाता है जिसमें पत्तियों में उपस्थित एंजाइम निष्क्रिय हो जाये और फिर प्राप्त लुगदी को एथिल ऐसीटेट के साथ निष्कषित किया जाता है। निष्कषण करने से पूर्व पत्तियों को वैजिन के साथ उपचारित करने पर उपलब्धि बढ़ जाती है। ग्लाइकोसाइडों को तनु ऐल्कोहल से पुनः क्रिस्टलित कर लिया जाता है। इस प्रकार प्राप्त उत्पाद लैनेटोमाइड ए (46%), लैनेटोमाइड बी

(17%) और लैनेटोसाइड सी (37%) का मिश्रण होता है (U.S.D., 378; Thorpe, II, 385; Chem. Abstr., 1941, 35, 7656)।

डिजाक्सिन [$C_{41}H_{64}O_{14}$; ग. वि., 265° (अपघटन)] स्वेत क्रिस्टलीय पदार्थ है जो जल तथा क्लोरोफार्म में अल्प-विलेय और तनु ऐल्कोहल में पूर्ण विलेय है। ग्लाइकोसाइडों के मिश्रण में से इसे पृथक् करने के लिए उबलते हुए क्लोरोफार्म अथवा एथिल ऐसीटेट के साथ मिश्रण का प्रभाजी निष्कषण किया जाता है। अल्प-विलेय भाग को ऐल्कोहल से क्रिस्टलित कर लिया जाता है। डिजाक्सिन जल-अपघटित होकर डिजाक्सिजेनिन ($C_{23}H_{34}O_5$) और डिजिटैक्सोस देता है (Smith, J. chem. Soc., 1930, 508)।

डिजाक्सिन भी डिजिटेलिस की ही तरह हृदय पर प्रभाव डालता है। इसकी क्रियाशीलता स्थिर है और यह शीघ्रता से अवशोषित तथा वहिष्कृत हो जाता है। निर्मित डिजिटेलिस की अपेक्षा यह 300 गुना अधिक शक्तिशाली होता है और तत्काल प्रभाव उत्पन्न करने की दृष्टि से विशेष महत्व का है। इसको खिलाने पर एक घंटे के भीतर ही हृदय में डिजिटेलिस के अभिलाक्षणिक प्रभाव उत्पन्न हो जाते हैं और 6 घंटे के भीतर सर्वाधिक प्रभाव उत्पन्न हो जाता है। इसको अंतःशरीर-अतःक्षेपण द्वारा देने पर 5-10 मिनट में इसका प्रभाव दृष्टिगोचर होने लगता है और 1-2 घंटे में ही अधिकतम प्रभाव उत्पन्न हो जाता है। डिजिटेलिस की भाँति ही इसको भी खिलाने अथवा अतः-क्षेपित करने पर मिचली, वमन और हृदमन्दता आ जाती है। पूर्ण डिजिटेलिस-प्रभाव को शीघ्रता से उत्पन्न करने के लिए 0.75-1.5 मिग्रा. डिजाक्सिन खिलाया जाना चाहिये; प्रभाव बनाये रखने के लिए मात्रा 0.25-0.75 मिग्रा. प्रति दिन और अतःक्षेपण के लिए मात्रा 0.5-1.0 मिग्रा. है (B.P.C., 308; Modern Drug Encyclopaedia, 274)।

डि. लैनाटा के फूल तथा बीज शरीर-क्रियात्मक दृष्टि से सक्रिय हैं। बीजों में 30% पीला-हरा, श्यान तथा आविल वसीय तैल पाया जाता है जिसके अभिलक्षण इस प्रकार हैं: वि. घ.°, 0.922; $[\alpha]_D^{25}$, 76.0° ; अम्ल मान, 8.0; साबु. मान, 187.0; आयो. मान, 130; असाबु. पदार्थ, 1.3% (Chem. Abstr., 1933, 27, 5889; 1937, 31, 504). *Verbascum thapsus* Linn.; *Symphytum officinale* Linn.; *Inula*; *D. lanata* Ehrh.

डिटानी - देखिए डिक्टमनस

डिटेलस्मा - देखिए सैपिण्डस

डिडिमोकार्पस वालिश (गेसनेरिएसी) DIDYMOCARPUS Wall.

ले. - डिडिमोकार्पस

यह सीधी उगने वाली, डठलदार या विमर्षी, शोभाकारी वृष्टियों का एक वंश है जो दक्षिणी-पूर्वी एशिया, चीन, ऑस्ट्रेलिया और उष्ण-कटिबंधीय अफ्रीका में पाया जाता है। इसमें छोटी झाड़ियाँ बहुत ही कम होती हैं। इसकी लगभग 30 जातियाँ भारत में पाई जाती हैं।

Gesneriaceae

डि. पेडीसेलैटा आर. ब्राउन D. pedicellata R. Br.

ले. - डि. पेडीसेलैटा

Fl. Br. Ind., IV, 345.

सं. — शिला पुष्प; हि. — पाथर फोड़ी.

यह छोटे तने वाली एक छोटी वृद्धी है जिसमें गोल अण्डाकार, अरोमिल, और 7.5–15 सेंमी. व्यास वाली ग्रंथिल विदुक्त पत्तियों के दो-तीन जोड़े एक दूसरे के आमने-सामने होते हैं। यह उपोष्णकटिबंधीय पश्चिमी हिमालय में चम्बा से कुमायूँ तक 750–1,650 मी. की ऊँचाई तक पायी जाती है। इसकी सूखी पत्तियों में एक लाक्षणिक मसाले की-सी गन्ध होती है। ऐसा लगता है मानों उन पत्तियों पर लाल रंग की कोई वस्तु घुरक दी गई हो। वे गुद और मूत्राशय की पथरियों के इलाज के लिए देशी दवाओं में इस्तेमाल की जाती हैं (Siddiqui, *J. Indian chem. Soc.*, 1937, 14, 703).

इसकी पत्तियों से अनेक प्रकार के क्रिस्टलीय रंजक पदार्थ पृथक् किये गये हैं, जिनमें पेडिसिन ($C_{18}H_{18}O_6$; ग. वि., 143–45°), पेडिसेलिन ($C_{20}H_{22}O_6$; ग. वि., 98°), पेडिसिनिन ($C_{18}H_{18}O_6$; ग. वि., 202–3°) और मेथिल पेडिसिनिन ($C_{17}H_{14}O_6$; ग. वि., 110–12°) भी सम्मिलित हैं। पेडिसिन की मात्रा सूखी पत्तियों में लगभग 1% होती है। यह एक पैराडाइहाइड्रासि चाकोन है और यह मछलियों के लिए विषैला पदार्थ है (Siddiqui, loc. cit.; Warsi & Siddiqui, *J. Indian chem. Soc.*, 1939, 16, 519; Saluja et al., *J. sci. industr. Res.*, 1947, 6B, 59; Rao & Seshadri, *Proc. Indian Acad. Sci.*, 1948, 27A, 375).

पत्तियों के ईथर निष्कर्ष से प्राप्त सुगन्ध तेल का मुख्य अवयव डिडिमोकारपीन ($C_{18}H_{24}$) नामक एक पतला हल्के पीले रंग का तेल है। इसमें एक विशिष्ट प्रकार की मनोहारी गन्ध और निम्नांकित स्थिरांक पाये गये हैं: क्व. वि., 136–37°/3 मिमी.; $[\alpha]_D^{36}$, -3.7° (परिशुद्ध ऐल्कोहल में 1% विलयन); वि. घ., 0.8957; और n_D^{20} , 1.4988. पत्तियों में डिडिमोकारपीन की मात्रा लगभग 1.6% होती है। इस सुगन्धित तेल से डिडिमोकारपोल ($C_{10}H_{20}O_5$; ग. वि., 76°) और डिडिमोकारपीनोल ($C_{25}H_{42}O$; ग. वि., 137°) नामक दो पॉली-टर्पीन भी पृथक् किये गये हैं (Warsi & Siddiqui, *J. Indian chem. Soc.*, 1939, 16, 423).

डि. एरोमेटिका वालिवा एक रसीली गूदेदार सुगन्धित वृद्धी है। यह नेपाल और कुमायूँ में पाई जाती है (Chopra, 483).
D. aromatica Wall.

डिडिमोस्पर्मा एच. वेंडलैंड और डूडे (पामी) DIDYMOSPERMA H. Wendl. & Drude

ले. — डिडिमोस्पर्मा

Fl. Br. Ind., VI, 420; Blatter, 364.

यह उत्तरी-पूर्वी भारत और मलेशिया में पाये जाने वाले चीने ताड़ों का एक छोटा वंश है। भारत में इसकी दो जातियाँ पाई गयी हैं।

डि. नैनुम एच. वेंडलैंड और डूडे एक पतला सीधा उगने वाला ताड़ है। यह 90–150 सेंमी. ऊँचा होता है। यह असम और खासी पहाड़ियों में 1,200 मी. ऊँचाई तक सामान्य रूप से पाया जाता है। इसका तना मुर्चई पर्णाच्छदों, पर्णवृत्तों और स्पेथों से ढका रहता है। पत्ते दीर्घतम पिच्छाकार, 45–60 सेंमी. लम्बे, ऊपर की ओर चिकने और नीचे की ओर नील-हरित; फल सफ़ेद, आयताकार, लगभग 1.25 सेंमी. लम्बे और एक बीज वाले होते हैं।

डि. नैनुम सबसे छोटे ताड़ों में से है। इसे बगीचों में शोभा के लिए उगाया जाता है। इसे आमतौर पर बीज से और कभी-कभी भूस्तारी

रोपकर भी उगाते हैं। इसकी पत्तियाँ कभी-कभी छप्पर तैयार करने के लिए काम आती हैं (Bailey, 1947, I, 1006; Fischer, *Rec. bot. Surv. India*, 1938, 12, 148).

डिनेब्रा जैविन (ग्रेमिनी) DINEBRA Jacq.

ले. — डिनेब्रा

D.E.P., III, 422; Fl. Br. Ind., VII, 296; Blatter & McCann, 264, Pl. 177.

यह एकवर्षी पत्तीदार घासों का लघु वंश है जो समस्त उष्णकटिबंधीय अफ्रीका तथा एशिया में पाया जाता है। भारत में केवल डि. रिट्रोफ्लेक्सा पैजर सिन. डि. अरैविका जैविन (ते. — वृद्ध तोका-गुड़ी; क. — नरीवालदाहुल्लू; बम्बई — काली कवली, खरिया) नामक जाति ही पाई जाती है। यह एक छोटी, खड़ी, कलंगीदार एकवर्षी है जो 30–90 सेंमी. ऊँची होती है। पत्तियाँ चपटी तथा नुकीली होती हैं। मध्य भारत और पश्चिमी भारत के तथा तमिलनाडु के मध्य एवं दक्षिणी जिलों में 900 मी. की ऊँचाई तक घास-पात के रूप में पायी जाती है। यह कुछ नीची जमीनों में भी उगती पाई है लेकिन दलदली भूमि में यह नहीं उगती। यह उन भारी मिट्टियों में बहुतायत से पैदा होती है जिनमें क्षारीय मृदा धातुओं के लवण रच-मात्रा में पाये जाते हैं। काली मिट्टी में भी यह पायी जाती है। इससे एक हेक्टर भूमि से लगभग 2,520–2,640 किग्रा. हरा चारा प्राप्त हो जाता है (Burns et al., *Bull. Dep. Agric., Bombay*, No. 78, 1916, 15; Rangachariyar, 279).

यह घास मवेशियों का, विशेषरूप से भैंसों का, उत्तम चारा है। कहा जाता है कि हरी घास खिलाने से भैंसों के दूध में वृद्धि होती है। इसका न तो सूखा चारा, न ही साइलो बनाना ठीक होता है। हरी घास में फूल आने के पूर्व, फूल रहने पर तथा फूल समाप्त हो जाने के बाद नमूने लिये गये जिनके विश्लेषण से क्रमशः निम्नलिखित मान प्राप्त हुए : आर्द्रता, 72.3, 69.94 और 66.9; ईथर निष्कर्ष, 0.79, 0.86 और 1.27; ऐल्बुमिनायड, 1.01, 1.56 और 1.06; कार्बोहाइड्रेट, 17.56, 19.03 और 14.67; रेशा, 6.32, 6.32 और 12.31; और राख, 2.09, 2.29 और 3.79% (Burns et al., loc. cit.).
Gramineae; D. retroflexa Panz. syn. *D. arabica* Jacq.

डिपकैडी मेडिकस (लिलिएसी) DIPCADI Medic.

ले. — डिपकाडी

C.P., 1049; Fl. Br. Ind., VI, 346.

यह छोटी कंदीय वृद्धियों का एक वंश है जो उष्णकटिबंधीय तथा दक्षिणी अफ्रीका, दक्षिणी यूरोप और भारत में पाया जाता है। भारत में इसकी लगभग छः जातियाँ पाई जाती हैं। डि. एरियुम वेब तथा वर्थ सिन. डि. यूनीकलर बेकर 1.2–2.1 सेंमी. व्यास के कंचुकित शल्क कंद की तथा हरे फूलों वाली छोटी गठीली वृद्धी है जो जैसलमेर (राजस्थान) में पाई जाती है। यह भारतीय स्क्वल (उर्जोनिआ इंडिका कुंथ) के स्थान पर अथवा उसमें मिश्रण के लिए काम में लाई जाती है। इसका शल्क कंद अपने प्रभाव में डिजिटेलिस से मिलता-जुलता है और इसका उपयोग खाँसी में कफ दूर करने के लिए किया जाता है।

Liliaceae; D. erythraeum Webb & Berth syn. *D. unicolor* Baker; *Urginea indica* Kunth

डिप्टेराकैन्थस नीस (एकैन्थेसी) DIPTERACANTHUS Nees

ले. — डिप्टेराकैन्थस

D.E.P., VI (1), 589; Fl. Br. Ind., IV, 411.

यह वृष्टियों अथवा छोटी झाड़ियों का एक वंश है जो उष्णकटि-बंधीय तथा उपोष्णकटिबंधीय क्षेत्रों में पाया जाता है। इसकी नगभग सात जातियाँ भारत में मिलती हैं।

डि. सफ़ुटिकोसस वायट सिन. रुएलिया सफ़ुटिकोसा रॉक्सवर्ग (संथाल — चौलिया, रनुरन) एक सीधी, कभी-कभी काष्ठमूलीय, रोमिल, 30—60 सेंमी. ऊँची छोटी झाड़ी है जिसकी जड़ें पतली तथा कंदीय होती हैं और जो ऊपरी गंगा के मैदान, बंगाल, मध्य प्रदेश, बिहार तथा उड़ीसा में पाई जाती है। संथाल लोग वियर बनाने के लिए इसकी जड़ों का प्रयोग चावल के घोल के किण्वन के लिए करते हैं। इनका उपयोग वृक्षीय रोगों के लिए भी किया जाता है (Kirt. & Basu, III, 1867; Haines, 674).

डि. प्रोस्ट्रेटस नीस सिन. रुएलिया प्रोस्ट्रेटा पायरेट, वैर. डिजेक्टा सी. बी. क्लार्क (गु. — कालीगावानी; त. — पोट्टाकांची; मल. — उयुदानी) सहित यह एक भूगामी, न्यूनाधिक रोमिल, अण्डाकार पत्तों तथा पांडु-नील अथवा नील-लोहित फूलों वाली एक छोटी झाड़ी है, जो समस्त भारत में आर्द्र तथा छायादार स्थानों पर व्यापक रूप से पाई जाती है। यह कर्ण रोगों की चिकित्सा में काम आती है। डि. लांगी-फोलियस स्टॉक्स सिन. रुएलिया लांगीफोलिया टी. एंडर्सन (मध्य प्रदेश — मुरता) एक छोटी झाड़ी है जो मध्य प्रदेश के मैदानों में पाई जाती है। इसके पत्ते सब्जी के रूप में खाए जाते हैं (Duthie, II, 187). *D. suffruticosus* Voigt syn. *Ruellia suffruticosa* Roxb.; *D. prostratus* Nees syn. *Ruellia prostrata* Poir. var. *dejecta* C.B. Clarke; *D. longifolius* Stocks syn. *Ruellia longifolia* T. Anders.

डिप्टेरोकार्पस गेर्तनर पुत्र (डिप्टेरोकार्पेसी) DIPTEROCARPUS Gaertn. f.

ले. — डिप्टेरोकार्पस

इस वंश के वृक्ष बड़े तथा सीधे बेलनाकार तने वाले होते हैं और भारत तथा श्रीलंका से लेकर फिलिपीन्स तक के क्षेत्र में व्यापक रूप से पाये जाते हैं। जिन जंगलों में ये पाये जाते हैं उनमें इस जाति के वृक्ष प्रधान हैं। इनका शिखर छोटा-सा सपाट, शंक्वाकार या असम आकार का होता है, जिसमें कुछ बड़ी शाखाएँ रहती हैं। भारत में इस वंश की दस जातियाँ प्राप्त हैं जो मुख्यतः असम तथा अंडमान द्वीप-समूह में पाई जाती हैं।

डिप्टेरोकार्पस जाति के पेड़ों से गैर-सजावटी संरचना वर्ग का इमारती काष्ठ प्राप्त होता है, जो व्यापारिक क्षेत्र में गुरजन के नाम से जाना जाता है। इस वंश की विभिन्न जातियों का काष्ठ संरचना, भार, कठोरता, तथा रंग की दृष्टि से एक-जैसा होता है। इनमें केवल उतनी ही भिन्नता देयी जाती है जितनी विभिन्न स्थानों पर उगी एक ही जाति के काष्ठों में होती है। इस काष्ठ की यह विशेषता है कि इसमें बहुत-सी पड़ी हुई राल-नलिकाएँ होती हैं, जो काफी फैली हुई होती हैं अथवा छोटी-छोटी स्पंज-रेखाओं के रूप में केन्द्रित होती हैं। गुरजन काष्ठ सुदृढ़, मध्यम कठोर, भारी, पर्याप्त सीधे दाने का और मध्यम मोटे गठन का होता है। सरलता से वायु द्वारा इमका अनुकरण हो

सकता है किन्तु अत्यधिक संकुचनशील होने के कारण उपचार द्वारा ही इसे टिकाऊ बनाया जा सकता है। यह काष्ठ आसानी से चोरा जा सकता है, अनेक वस्तुओं के बनाने योग्य किया जा सकता है किन्तु इसकी सतह अधिक चिकनी नहीं बनायी जा सकती।

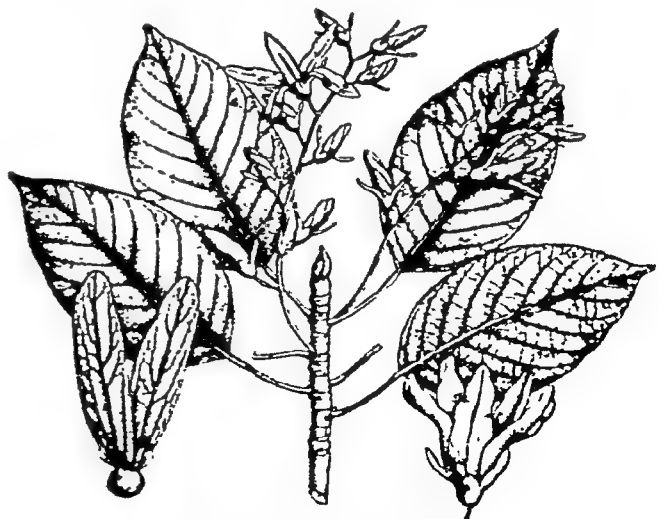
गुरजन लकड़ी के आर्थिक महत्व का अनुभव प्रथम विश्वयुद्ध के बाद ही हुआ, किन्तु डिप्टेरोकार्पस के जंगलों की संवर्धन तथा पुनरुद्भवन सम्बंधी समस्याओं का अध्ययन तो अभी प्रायोगिक अवस्था में ही है। अधिकतर यह राय दी जाती है कि पेड़ों को गिरा कर क्षेत्रों में पंक्तिबद्ध सीधी बुवाई की जाए या पौध लगाकर संवर्धन किया जाए (Sen Gupta, *Indian For. Rec., N.S., Silv.*, 1938, 3, 61).

डिप्टेरोकार्पस की सभी जातियों से तैल-राल प्राप्त होता है जिसका व्यापारिक नाम गुरजन तेल अथवा गुरजन वालसम है। वालसम दो प्रकार का होता है : निर्मल तथा मलिन। निर्मल वालसम भूरे रंग से लेकर हरित काले रंग का और मलिन वालसम धूसरित अथवा धूसरित श्वेत रंग का होता है। ब्रह्मा में इन्हें क्रमशः कान्थीन तथा इन तेल कहा जाता है। ये दोनों ही प्रकार के वालसम परिपक्व वृक्षों के तनों के निचले भाग में किये गये गहरे चीरों से रिसते हैं। निर्मल वालसम उन चीरों में आग से तपाकर तथा मलिन वालसम आग के प्रयोग के बिना ही मिल जाता है। कान्थीन तेल मुख्यतः डि. टर्बिनेटस से तथा इन तेल मुख्यतः डि. ट्यूबरकुलेटस से प्राप्त होता है। ये दोनों तेल सीमित मात्रा में स्थानीय रूप से प्रयुक्त होते हैं और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की दृष्टि से इनका बहुत कम महत्व है। राल प्राप्त करने के लिए जो साधन अपनाये जाते हैं उनसे उन पेड़ों के बहुमूल्य इमारती काष्ठ पर क्षयकारक प्रभाव पड़ता है [Gildemeister & Hoffman, III, 170; Krishna & Badhwar, *J. sci. industr. Res.*, 1947, 6 (4), suppl., 54].
Dipterocarpaceae

डि. इंडिकस वेडोम सिन. डि. टर्बिनेटस डायर (फ्लो. ब्रि. इ., अंशतः) *D. indicus* Bedd.

ले. — डि. इंडिकस

D.E.P., III, 158; C.P., 499; Fl. Br. Ind., I, 295.



चित्र 105 — डिप्टेरोकार्पस इंडिकस

त. — एनै; क. — धूमा, चल्लाने; मल. — काक कल्पयान.

वम्बई — गुया; आवनकोर — वावंगु; कुर्ग — येन्नेमरा.

यह लगभग 36 मी. तक की ऊँचाई वाला तथा 3.6–4.2 मी. घेरे का एक सदापर्णी वृक्ष है. इसका तना सीधा बेलनाकार और इसकी ऊँचाई पहली शाखा से लेकर नीचे तक 18–21 मी. होती है. यह अधिकतर उत्तरी कनारा से दक्षिण की ओर 900 मी. तक की ऊँचाई पर पश्चिमी घाट के सदापर्णी वनों में अन्य पेड़ों के साथ उगता है.

डि. इंडिकस का प्राकृतिक पुनर्जनन ही पर्याप्त है, यद्यपि इनकी प्रवृत्ति विस्तृत तथा वेदंगे फैले हुए चपों में उगने की है. जहाँ सर्वोच्च शिखर शंशतः खुला होता है तथा मादा वृक्ष विद्यमान रहते हैं, वहाँ इस जाति का बहुतायत से प्राकृतिक पुनर्जनन होता है. प्राकृतिक रूप से पुनर्जनित वृक्षों के विकास को तीव्र करने के लिए मध्यस्थ शिखर के वृक्षों को गिराकर नीचे से प्रकाश प्राप्त कराने और अच्छे पौधों का चयन करके उनकी देखभाल करने के उपाय अपनाये जाते हैं. बाद में सर्वोच्च शिखर वाले पेड़ों को भी हटाया जा सकता है.

इसके बीज की जीवन-क्षमता बहुत तेजी से नष्ट होती है. विल्कुल ताजा बीज डालने पर भी उनमें से लगभग 40% ही अंकुरित हो पाते हैं. भूमि पर गिरते ही बीने गए परिपक्व बीजों की बुवाई से अच्छे परिणाम निकले हैं. नर्सरी में विकसित पौध को टोकरी के साथ अथवा बिना टोकरी के भूमि में रोपित करने से भी संतोषजनक परिणाम निकले हैं. वाइनाड (तमिलनाडु) में किये गये प्रयोगों से यह संकेत मिलता है कि डि. इंडिकस ऐसी दशा में सबसे ज्यादा उगता है जहाँ पेड़ों को गिरा दिया जाता है और भूमि में न तो कोई आच्छादी फसल ही उगाई जाती हो और न उसमें कोई आग का दाग ही लगा हो. सफलतापूर्वक उगाने के लिए इसकी निराई करते रहना आवश्यक है. नर्सरी में पौध मर न जाये, इसके लिए पौध के ऊपर छाया की जानी चाहिए.

इसका कण्डा (आ. घ., 0.78; भार, 752 किग्रा./घमी.) हल्के लाल रंग से लेकर भूरे रंग का, डिप्टेरोकार्पस की अन्य जातियों के काष्ठ से अधिक महीन गठन वाला और अधिक अच्छे गुणधर्म का होता है. इसका ऋतुकर्ण कठिनाई से होता है. इसके हरित रूपांतरण से अच्छे परिणाम मिले हैं. खुली जगहों में इसका काष्ठ टिकाऊ सिद्ध नहीं होता. परिरक्षी उपचार द्वारा इस काष्ठ को अधिक टिकाऊ बनाया जा सकता है. एक घनमीटर काष्ठ में 96–112 किग्रा. क्रिओसोट तेल पूरी तरह से भिद जाता है. इमारती लकड़ी के रूप में इसकी उपयुक्तता के आँकड़े सागौन के संगत गुणों की प्रतिशतता के रूप में इस प्रकार हैं : भार, 110; कड़ी के रूप में सामर्थ्य, 110; कड़ी के रूप में कड़ापन, 145; खंभे के रूप में उपयुक्तता, 120; प्रघात प्रतिरोध क्षमता, 105; रूप धारण क्षमता, 45; अपरूपण, 100; कठोरता, 90 (Pearson & Brown, I, 70; Howard, 176; Limaye, For. Res. Inst., Dehra Dun, private communication).

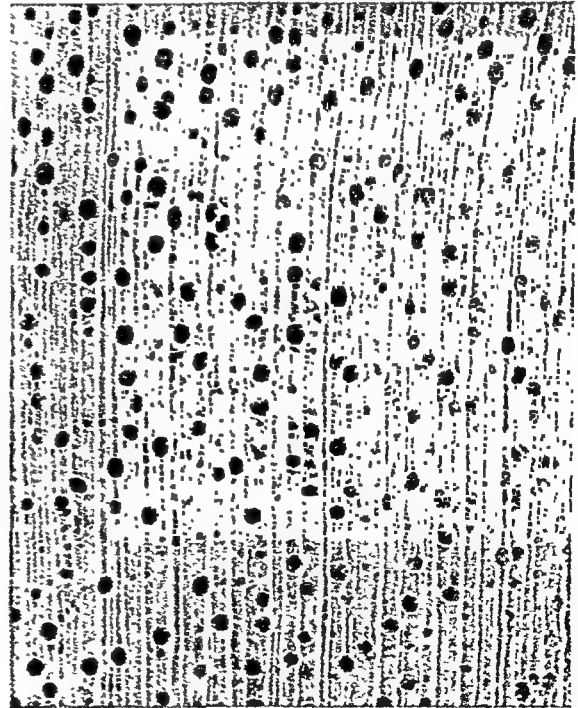
इसकी इमारती लकड़ी मकान, रेल के डिब्बे, पोत, मस्तूल तथा बल्ली बनाने के काम में आती है. यह महोगनी के सामान्य प्रकारों की तरह एक केविनेट काष्ठ है. कोलार की स्वर्णखानों में भूमिगत काम के लिए इससे खंभे तथा तल्ले उपयोग में लाये जाते हैं. परिरक्षी उपचार के बाद यह रेलवे स्लीपर बनाने के काम भी आ सकता है. आवनकोर-कोचीन में इस इमारती लकड़ी का वार्षिक उत्पादन लगभग 2,450 टन है. इसका मूल्य 70 रु. से लेकर 112 रु. प्रति घमी. तक है (Howard, loc. cit.; Pearson & Brown, I, 72; Information from For. Dep., Travancore-Cochin).

यह काष्ठ ईंधन के रूप में भी उत्तम माना गया है, इसके ऊष्मीय मान हैं : रसकाष्ठ, 5,170 कै., 9,307 ब्रि. थ. इ.; अन्तःकाष्ठ, 5,199

कै., 9,358 ब्रि. थ. इ. (Indian For., 1948, 74, 279; Krishna & Ramaswami, Indian For. Bull., N.S., No. 79, 1932, 16).

डि. इंडिकस से इकट्ठा किया जाने वाला तेल-राल अपारदर्शी घूसर तरल पदार्थ होता है. स्थिर हो जाने पर इसमें दो अलग-अलग परतें बन जाती हैं. ऊपरी परत में गहरे रक्ताभ भूरे रंग वाला श्यान तरल होता है तथा निचली परत में गाढ़ा, गन्दा, सफ़ेद स्तर बैठ जाता है. ऊपरी परत में हल्की-सी कोयेवा जैसी गन्ध आती है और उसका स्वाद कड़वा ऐरोमेटिक होता है.

भारतीय विज्ञान संस्थान, बंगलौर में मैसूर से प्राप्त तेल-राल के एक नमूने की जाँच करने से इसका अम्ल मान, 11.6; साबु. मान, 14.9; ऐसीटिलीकरण के पश्चात् साबु. मान, 50.4 पाया गया. जल तापन-पात्र में गर्म करने पर पहले यह स्वच्छ भूरे-पीले पारदर्शी तरल के रूप में बदल जाता है और फिर लगातार गर्म करते रहने पर यह अनुत्क्रमणीय रूप से जिलेटिनीकृत हो जाता है. इसके गर्म किये हुए नमूनों में निम्नलिखित गुण मिलते हैं : (दो नमूनों में अलग-अलग) अम्ल मान, 12.3, 12.6; साबु. मान, 15.8, 16.3; ऐसीटिलीकरण के बाद साबु. मान, 48.5, 48.2. इसके वाष्पीय आसवन से अथवा उसमें अतिसूक्ष्म भाप के प्रयोग से वाष्पशील तेल (उपलब्धि, 40–70%) भी प्राप्त किया गया. यह तेल रंगहीन, विलक्षण राल की-सी गन्ध वाला, अल्प अम्लीय प्रतिक्रिया वाला तथा तीव्र स्वाद वाला होता है. भारतीय विज्ञान संस्थान में इसके दो नमूनों की जाँच से इसके निम्नलिखित लक्षणों का पता चला है : आ. घ.^{20°}, 0.9071, 0.9041; n_D^{20} , 1.5003, 1.5005; $[\alpha]_D^{26.1}$, 10.9°, 10.9°; अम्ल मान, 2.00, 1.93; साबु. मान, 2.6, 2.0; ऐसीटिलीकरण के



चित्र 106 — डिप्टेरोकार्पस इंडिकस — काष्ठ की अनुप्रस्थ काट ($\times 10$)

पश्चात् सावु. मान, 55.5, 9.5. इस तेल में α -कैरियोफाइलीन तो होता है परन्तु β -कैरियोफाइलीन नहीं होता. वाष्पशील तेल अलग निवाल लेने के बाद शेष बचा राल कड़ा, भंगुर, पतले काँटों में भूरे रंग वाला तथा बड़े ठोस में गहरे भूरे रंग का होता है. (अम्ल मान, 27.2; सावु. मान, 39.3; ऐसीटिलीकरण के पश्चात् सावु. मान, 90.2). यह हल्के पेट्रोलियम को छोड़कर अधिकांश कार्बनिक विलायकों में शीघ्र विलेय है. यह स्पिरिट तथा तेल वार्निशों आदि के तैयार करने के काम में आ सकता है. त्रावनकोर से प्राप्त तेल-राल के एक नमूने से ($C_{18}H_{32}O_2$; ग. बि., 122°) सूत्र का असतुप्त हाइड्रॉक्सिकोडोन प्राप्त किया गया (Mansukhani & Sudborough, *J. Indian Inst. Sci.*, 1918-20, 2, 37; Nair, *Rep. Dep., Res., Travancore Univ.*, 1939-46, 482).

कहा जाता है कि डि. टर्बिनेटस से प्राप्त तेल-राल का उपयोग आमवात रोग के उपचार के लिए तथा डामर में अपमिश्रक के रूप में किया जाता है (Bourdillon, 32).

डि. टर्बिनेटस गेर्तनर पुत्र (फ्लो. ब्रि. इ., अंशतः)

D. turbinatus Gaertn. f.

सामान्य गुरजन पेड़

ले - डि. टूरबिनाटस

D.E.P., III, 161; C.P., 50; Fl. Br. Ind., I, 295.

ब. - तेली-गुरजन.

असम - गुरजन कुरोइलसाल, खेरजोग; ब्रह्मा - कन्यीन-नी. यह एक काफी ऊँचा वृक्ष है जिसकी ऊँचाई 36-45 मी तथा घेरा 3-4.5 मी. होता है. इसका तना चिकना, बेलनाकार तथा प्रथम टहनी तक 27 मी. ऊँचा होता है. यह असम तथा अरुमान द्वीप-समूह के नमी वाले उष्णकटिबंधीय सदावहार अथवा अर्द्ध-सदावहार जंगलों में पाया जाता है. यद्यपि ये बड़े-बड़े भू-क्षेत्रों में झुंडों के रूप में नहीं उगते किन्तु कभी-कभी ये छोटे-छोटे चपों में झुंडों के रूप में उग आते हैं. असम में हालौग की तरह इनके भी छोटे-छोटे बागान लगाये गये हैं.

यह वृक्ष बड़ी जल्दी आग पकड़ लेता है और एक बार जल जाने के बाद फिर पूर्वावस्था प्राप्त करने में काफी समय ले लेता है. आग लगने के मौसम के बाद गिरने वाले इसके बीजों के अकुरण के लिए जली हुई भूमि अनुकूल होती है. इसका तथा अन्य डिप्टेरोकार्पस जातियों का प्राकृतिक पुनर्जनन निश्चित रूप से हो सके, इसके लिए यह आवश्यक है कि पर्याप्त बीज धारकों को रखते हुए भूमि पर से झाड़-झंखाड़ साफ कर दिए जाएँ, क्षेत्र को जला दिया जाए और उसके बाद आग से रक्षा के उपाय अपनाए जाएँ, नियमित रूप में आवश्यक विरलन तथा सफाई की जाए. जहाँ तक ज्ञात है, इन वृक्षों से न तो गुल्मवन बनते हैं और न ये अन्तःभूस्तारी जड़ें ही उत्पन्न करते हैं (Troup, I, 36).

इसका काष्ठ (आ. घ., 0.62; भार, 768 किग्रा/घमी.) मद लाल अथवा रक्तमय भूरे रंग का, मोटे वयन का और राल नलिकाओं में युक्त होता है. इसमें से सुहावनी गन्ध आती है और गर्म करने पर उससे एक प्रकार का तेल निकलता है. काष्ठ बहुत धीरे-धीरे अतुकृत होता है और आच्छादित अवस्था में अधिक टिकाऊ रहता है. इसमें राल की छोटी-छोटी सफेद-सी मनकाएँ रिसती हैं और उनको ऐल्कोहल में भिगोए कपड़े में रगड़ने पर काष्ठ-गुच्छ पर स्वभावतः पालिश हो जाती है. यह प्रथम श्रेणी की गैर-मजबूती इमारती लकड़ी है. इमारती नाजी के रूप में इसकी उपयुक्तता मध्यम आँवड़े, मागीन के सगत गुणों को 100 आधार मानकर इस प्रकार है : भार, 115; कड़ी के

रूप में सामर्थ्य, 105; कड़ी के रूप में कड़ापन, 125; खंभे के रूप में उपयुक्तता, 100; प्रघात प्रतिरोध क्षमता, 115; रूप धारण क्षमता, 55; अपरूपण, 90; कठोरता, 105 (Pearson & Brown, I, 74, Howard, 236; Limaye, loc. cit.).

घरेलू निर्माण कार्य में इस काष्ठ का व्यापक प्रयोग होता है. इससे पैकिंग सन्दूक, चाय की पेटियाँ, दरवाजे के चौखट आदि बनाये जाते हैं, साथ ही इसका फर्श बनाने, रेल के डिब्बों और मालगाडी के वॉगन आदि बनाने में भी उपयोग होता है. उपचार करने के बाद स्लीपर बनाने के लिए भी सम्भावना हो सकती है. इसका निर्यात यूरोप में किया गया है. यह बहुत बड़ी मात्रा में प्राप्य है किन्तु ऐसे क्षेत्र में उपजता है जहाँ पहुँच पाना अत्यन्त कठिन है (Pearson & Brown, loc. cit.; Information from For. Dep., Assam).

इस काष्ठ का ऊष्मीय मान इस प्रकार है : रसकाष्ठ, 5,293 कै., 9,537 ब्रि. थ. इ.; अन्तःकाष्ठ, 5,065 कै., 9,118 ब्रि. थ. इ. (Krishna & Ramaswami, loc. cit.).

डि. टर्बिनेटस ब्रह्मा के कान्यीन तेल तथा बगाल के गुरजन तेल का मुख्य स्रोत है. तेल-राल प्राप्त करने के लिए इसके तनों में, जमीन से 0.6-0.9 मी. ऊपर, शक्वाकार चीरे लगा दिए जाते हैं, उनको आग से झुलसाया जाता है तब उनमें से तेल-राल रिसने लगता है और फिर उसको इकट्ठा कर लिया जाता है. तेल-राल का रिसना बंद हो जाने पर उस कटाव को जलाकर मिटा देते हैं और तेल-राल प्राप्त करने के लिये नये चीरे बना दिए जाते हैं. इसे इकट्ठा करने का मौसम नवम्बर से लेकर मई तक का है और कहा जाता है कि लगभग 1.8 मी. घेरे वाले प्रत्येक वृक्ष से एक मौसम में 10 किग्रा. राल मिलता है. यह खाव थोड़ा अम्लीय, दूधिया होता है (आ. घ.^{15°}, 0.9811; अम्ल मान, 10.9). स्थिर हो जाने पर इसमें दो परतें बन जाती हैं. भूरे रंग का तेल ऊपर तैर आता है और श्यान, स्वेताभ धूसर पायस नीचे रह जाता है. इस तैलीय परत के स्थिरांक इस प्रकार हैं : आ. घ.^{15°}, 0.9706; $[\alpha]_D^{20}$, $-10.8'$; n_D^{20} , 1.5120; अम्ल मान, 7.3; एस्टर मान, 1.9. तेल-राल का भाप-ग्रासवन करके वालसम की गन्ध वाला एक पीला तेल 46% निकाला जाता है. इस तेल के स्थिरांक इस प्रकार हैं : आ. घ.^{16°}, 0.9271; $[\alpha]_D^{20}$, $-37'$; n_D^{20} , 1.5007; अम्ल मान, 0; एस्टर मान, 1.9; 95% ऐल्कोहल के 7 या अधिक आयतन में विलेय (Parry, I, 531).

व्यापारिक गुरजन तेल तेल-रालों का ही एक मिश्रण है. इस मिश्रण में मुख्य रूप से तो डि. टर्बिनेटस से प्राप्त तेल-राल ही होता है किन्तु थोड़ी-सी मात्रा डि. एलाटस, डि. कोस्टाटस, तथा डि. मैक्रोकार्पस से प्राप्त तेल-राल भी इसमें मिली रहती है. यह तेल श्यान, अत्यधिक प्रतिदीप्तिशील तथा पारदर्शी होता है. यदि इसे प्रकाश में रखकर देखा जाये तो इसका रंग गहरा रक्तमय भूरा दिखता है. भाप-ग्रासवन द्वारा इसमें 37-82% तक सगन्ध तेल और एक राल प्राप्त किए जा सकते हैं. सगन्ध तेल के लक्षण निम्नलिखित हैं : आ. घ., 0.788-0.791; n_D , 1.315; अम्ल मान, 1.05, एस्टर मान, 1.16; आयो. मान, 443-44; प्रज्वलन ताप, 198° ; यह 95% ऐल्कोहल के 7 आयतन में विलेय है और 130° तक गर्म करने पर अनुत्कमणीय रूप से जिलेटनीकृत हो जाता है. वायु के सम्पर्क में इसका ऑक्सिकरण हो जाता है और यह एक ऐसे बहुलक में परिवर्तित हो जाता है जिसकी गन्ध मूल गुरजन वालसम जैसी होती है. सगन्ध तेल में दो मिश्र सेल्बोटीपीन, α - तथा β -गुरजनीन होते हैं. पोटैशियम परमैंगनेट द्वारा ऑक्सिकरण करने पर β -गुरजनीन में गुरजनीन कोडोन $C_{16}H_{32}O$ प्राप्त होता है. β -गुरजनीन, द्विचकीय सेट्टीन में काफी मिलता-

जुलता है। वाष्पशील तेल निकाल लेने के बाद जो राल शेष रहता है उसमें गुरजनिक अम्ल, $C_{22}H_{34}O_4$, रहता है (Karim *et al.*, *Bull. Dep. Industr. Beng.*, No. 90, 1941; Finnemore, 511).

गुरजन तेल को पैवा बालसम में मिलावट करने के काम भी आता है। यह अश्व मुद्रणीय स्याही तथा लोहे के प्रति संक्षारक प्रलेपन संघटकों में मिलाया जाता है। इसे इमारती काष्ठ तथा बांस के परिरक्षण के लिए और नौकाओं की संधिवन्दी करने के लिए भी प्रयोग किया जाता है। ऊष्मा-उपचारित रेंडी के तेल तथा अलसी के तेल को इसके साथ मिलाकर बेकिंग वानिष बनाई जाती है, जो फिल्मों को संतोषजनक नम्यता और जल प्रतिरोध क्षमता प्रदान करती है। तेल-राल के आसवन से प्राप्त तेल पामारोजा तेल में मिलावट के लिए भी प्रयोग में लाया गया है। सुगन्धित तेल के रूप में इसका कोई महत्व नहीं है। यह अच्छा विलायक है किन्तु तारपीन के तेल से निम्न स्तर का है।

तेल-राल, व्रण, दाद तथा अन्य त्वचा रोगों में लगाया जाता है। इसे सुजाक तथा ग्लीट रोगों में भी इस्तेमाल किया जाता है। यह माल्टसत्व के साथ कफोत्सारक के रूप में लिया जाता है (Karim *et al.*, loc. cit.; U.S.D., 1473; Martindale, I, 263).

इस वृक्ष की टहनियों की छाल में 9% टैनिन और 7.3% विलेय अटैनिन होता है [Pilgrim, *Indian For. Rec.*, 1924, 10 (9), 177].

डि. ट्यूबरकुलेटस राँवसवर्ग D. tuberculatus Roxb.

ईंग गुरजन पेड़

ले. — डि. ट्यूबरकुलेटस

D.E.P., III, 160; C.P., 500; Fl. Br. Ind., I, 297.

ब्रह्मा — इन; व्यापार — ईंग.

यह एक विशाल पर्णपाती वृक्ष है जिसकी ऊँचाई 30 से 36 मी. तक और घेरा 2.4 से लेकर 4.5 मी. तक होता है। यह ब्रह्मा के इन्दाईंग जंगलों में तथा असम के पूर्वी और दक्षिणी सीमांत पर झुंडों के रूप में उगता है।

ईंग वृक्ष संरंध मिट्टी में अच्छी तरह से उगते हैं, फिर चाहे उसमें नमी कम ही क्यों न हो। काफी हद तक इस पर आग का भी प्रभाव नहीं पड़ता। इसे प्रकाश की चाह रहती है इसलिए खुली जगहों पर इसका प्राकृतिक पुनर्जनन खूब होता है।

इसका काष्ठ (आ. घ., 0.73; भार, 848 किग्रा./घमी.) मंद रक्ताभ भूरे रंग का होता है तथा इसके अधिकांश गुण गुरजन काष्ठ जैसे होते हैं। यह धीरे-धीरे ऋतुकृत होता है और इसमें एंठन, दरारें तथा चटखन पैदा हो जाती हैं। यदि इसे भट्टे में न पकाया गया हो तो यह लट्ठों के रूप में सर्वोत्तम रूप से पकता है। इसे आसानी से परिरक्षण उपचार द्वारा ठीक किया जा सकता है और यह प्रति घमी. 96 किग्रा. क्रिओसीट तेल सोख सकता है। यह सामान्य गुरजन काष्ठ (डि. टर्बिनेटस) की तुलना में अधिक सामर्थ्यवान तथा टिकाऊ होता है, और वह भी उपचारित स्लीपर काष्ठ के रूप में। इमारती लकड़ी को स्लीपर्स के लिए प्रयुक्त करते समय यह ध्यान रखना चाहिये कि इसके क्रोड स्लीपर में न आएँ क्योंकि क्रोडयुक्त होने से स्लीपर के किनारे फट सकते हैं। लेकिन उच्च कोटि के काष्ठ-कर्म के लिए ईंग की तुलना में सामान्य गुरजन काष्ठ अधिक अच्छा है। इसके समतल खंडों में राल से भरे रंध्र खूब चमकते हैं। इमारती लकड़ी के रूप में ईंग की उपयुक्तता सम्बंधी आकड़े सागीन के संगत गुणों को 100 आधार मानकर इस प्रकार हैं : भार, 125; कड़ी के रूप में सामर्थ्य, 115; कड़ी के रूप में कड़ापन, 120; खंभे के रूप में उपयुक्तता, 100; प्रघात प्रतिरोध क्षमता,

140; रूप धारण क्षमता, 55; अपरूपण, 130; कठोरता, 135 (Pearson & Brown, I, 84; Howard, 198; Limaye, loc. cit.).

ईंग काष्ठ मुख्यतः घरेलू निर्माण कार्य, रक्ष फर्नीचर, गाड़ियों, नावों, संदूक और रेल के डिब्बों के फर्श आदि बनाने के काम में आता है। उपचारित स्लीपर 8 से 12 वर्ष तक चलते हैं (Pearson & Brown, loc. cit.).

डि. ट्यूबरकुलेटस के काष्ठ से एक प्रकार की अपरिष्कृत लुगदी बनाई जाती है जो कागजी शहतूत (ब्रीसोनेटिया पैपिरोफेरा) से बने अच्छे उत्पादों में उनका आयतन बढ़ाने के लिए मिलाई जाती है। इसकी नवजात पत्तियों में 10-12% टैनिन होता है और उनका प्रयोग हल्के चमड़े के शोधन में सीधे किया जा सकता है। इसकी छाल में 24% टैनिन होता है [Rodger, 82; Pilgrim, *Indian For. Rec.*, 1924, 10(9), 178; Badhwar *et al.*, *Indian For. Leaflet*, No. 72, 1949, 10].

ब्रह्मा का 'इन' कहा जाने वाला तेल-राल मुख्यतः डि. ट्यूबरकुलेटस से प्राप्त होता है। इसे प्राप्त करने के लिए पेड़ के तने में, जमीन से 0.6-0.9 मी. ऊपर, पिरैमिडी कटाव अथवा घाव कर दिये जाते हैं जिनसे राल रिसने लगता है और फिर समय-समय पर इसे इकट्ठा कर लिया जाता है। इन कटावों से राल रसता रहे, इसके लिए कटावों को बार-बार रेंता जाता है। ताजा इकट्ठा किया हुआ तेल-राल पीले-भूरे रंग का शीरे जैसा तरल पदार्थ होता है (आ. घ.^{15°}, 1.029; अम्ल मान, 17.8; एस्टर मान, 0)। इसके भाप-आसवन से एक पीले-भूरे रंग का सगन्ध तेल (33%) प्राप्त होता है, जिसमें निम्नलिखित स्थिरांक पाये गये: आ. घ.^{15°}, 0.9001; n_D^{20} , 1.5007; $[\alpha]_D$, -99°40'; साबु. मान, 0; 95% ऐल्कोहल की 6 गुनी या अधिक मात्रा में विलेय। 'इन तेल' मशालों में प्रयुक्त होता है। इस तेल में सीगा हुआ लकड़ी का टुकड़ा मशाल अथवा ज्वालक के रूप में प्रयुक्त किया जा सकता है। तेल-राल को थिराकर अलग किया गया तेल वानिष तथा लेकर बनाने और बांस की टोकरियों, डोलवाट्टी तथा छतरियों को जल सह बनाने के काम में आता है (Parry, I, 531; Krishna & Badhwar, loc. cit.).

डि. मैक्रोकार्पस वेस्क D. macrocarpus Vesque

हालाँग गुरजन पेड़

ले. — डि. माक्रोकार्पस

Fl. Assam, I, 132.

असम — हालाँग.

यह एक लम्बा वृक्ष है जिसकी ऊँचाई 36 से 45 मी. तथा घेरा 3.6 से 6 मी. तक होता है। ये वृक्ष असम में झुंडों के रूप में मिलते हैं जहाँ पहली शाखा से 30 मी. तक ऊँचे तने वाले वृक्ष अत्यन्त सामान्य हैं। सामान्य वन-संवर्धनात्मक लक्षणों की दृष्टि से ये डि. टर्बिनेटस जाति से मिलते-जुलते हैं। असम में छोटे स्तर पर हालाँग के कृत्रिम बागान भी लगाये गये हैं। असम में पाये जाने वाले हालाँग पेड़ों को काफी समय तक डि. पाइलोसस राँवसवर्ग या डि. ग्रेसिलिस ब्लूम जाति का ही माना जाता था पर अब इसे अलग जाति का माना जाता है और यह जाति अंडमान द्वीपसमूह तथा असम के पूर्वी सीमांत में छुटपुट रूप से पाई जाती है। इसके वन-संवर्धन के लिए अपनाई जाने वाली विधियों में वृक्षों के आश्रय में प्राकृतिक पुनर्जनन की सहायता करके संवर्धन करना लोकप्रिय विधि है।



चित्र 107 - टिष्टरोकार्पस मैकोकार्पस

हालींग का काष्ठ (आ. घ., 0.71; भार, 720 किग्रा./घमी.) मंद हल्का लाल से रक्ताभ भूरे रंग का और सामर्थ्य तथा नम्यता की दृष्टि से सागौन-जैसा होता है। यह धीरे-धीरे ऋतुकृत होता है और इसमें बहुत अधिक दरारें तथा ऐंठन पैदा नहीं होती किन्तु इसके बड़े-बड़े खंडों में चपकाकार गूदे बन जाने का भय रहता है। इसकी चिराई की जा सकती है तथा इसे चिकना बनाया जा सकता है और इस पर पालिश अच्छी चढ़ती है। यह खुली हुई जगहों में टिकाऊ नहीं है किन्तु ठके स्थानों पर काफी टिकाऊ है। इमारती लकड़ी के रूप में इसकी उपयुक्तता सम्बंधी आँकड़े, सागौन के संगत गुणों की प्रतिशतता के रूप में इस प्रकार हैं : भार, 105; कड़ी के रूप में सामर्थ्य, 100; कड़ी के रूप में कड़ापन, 120; खंभे के रूप में उपयुक्तता, 105; प्रघात प्रतिरोध क्षमता, 105; रूप धारण क्षमता, 50; अपरूपण, 105; कठोरता, 95 [Pearson & Brown, I, 80; Limaye, *Indian For. Rec., N.S., Util.*, 1944, 3(5), 16].

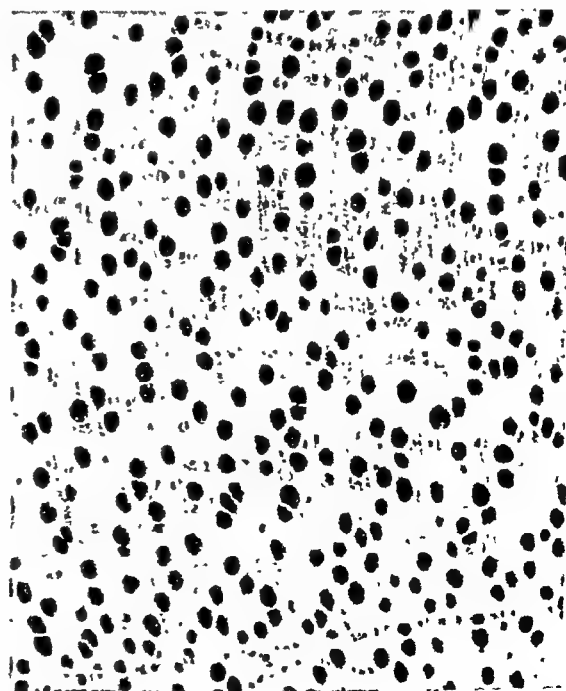
परिरक्षण-उपचार के बाद हालींग काष्ठ से बड़ी मात्रा में प्लाईवुड तैयार किया जाता है जो चाय के संदूक और रेलवे स्लीपर बनाने में काम आता है। असम के रेलवे संयंत्र में प्रति वर्ष लगभग 2,00,000 स्लीपर उपचारित किये जाते हैं। स्थानीय तौर पर इसका प्रयोग घरेलू निर्माण कार्य में भी किया जाता है परन्तु विना उपचार के यह लाभप्रद नहीं है [Pearson & Brown, loc. cit.; Limaye & Ahmed, *Indian For. Rec., N.S., Util.*, 1942, 2(8), 188].

असम में प्रति वर्ष कुल 10,000 टन इमारती काष्ठ का उत्पादन होता है जिसका मूल्य लगभग 71 रु. प्रति घमी. तथा 5.50 रु. प्रति स्लीपर है। हालींग काष्ठ के लिए कलकत्ता एक महत्वपूर्ण वित्तीय मंडी बन सकता है, लेकिन माल ढोने की कठिनाई के कारण यह असम से बाहर नहीं निकल पाता। इस वृक्ष से भी डि. टर्बिनेटस की तरह तेल-राल रसता है (Information from For. Dep., Assam).

डि. एलाटस रॉक्सबर्ग 54 मी. ऊँचा तथा 6 मी. घेरे वाला ऊँचा सदापर्णी वृक्ष है जो अंडमान के जंगलों में पाया जाता है। यह देखने में और वन-संवर्धनात्मक लक्षणों में डि. टर्बिनेटस जैसा लगता है। यह सीमित मात्रा में गुल्मवन बनाता है। इसका काष्ठ (आ. घ., 0.81; भार, 672 किग्रा./घमी.) गुरजन-जैसा ही होता है और उसी प्रकार के कामों में भी आता है। इमारती लकड़ी के रूप में इसकी उपयुक्तता सम्बंधी आँकड़े सागौन के उन्हीं गुणों के प्रतिशत के रूप में इस प्रकार हैं : भार, 100; कड़ी के रूप में सामर्थ्य, 90; कड़ी के रूप में कड़ापन, 100; खंभे के रूप में उपयुक्तता, 90; आघात प्रतिरोध क्षमता, 95; रूप धारण क्षमता, 60; अपरूपण, 105; कठोरता, 85 (Limaye, loc. cit.).

इस जाति के वृक्षों से रिसने वाले तेल-राल में 71.6% वाष्पशील तेल होता है। इसे प्लास्टर तथा टाइलों में प्रयुक्त किया जाता है। जिक प्रलेप बनाने में अलसी के तेल की जगह इसे प्रयुक्त करने का प्रयास किया गया है। इसकी छाल वलवर्धक मानी जाती है और उसका गर्म काढ़ा आमवात में लिया जाता है (Burkill, I, 842).

डि. केरई किंग नामक इमारती काष्ठ वाला वृक्ष दक्षिणी अंडमान में पाया जाता है तथा इसकी ऊँचाई 24 से 30 मी. तक और घेरा



चित्र 108 - टिष्टरोकार्पस एलाटस - काष्ठ की अनुप्रस्थ काट ($\times 10$)



डिप्टेरोकार्पस एलाटस (गुरजन पेड़)

1.8-3.6 मी. तक होता है। इसका काष्ठ सामान्यतः भारी (भार. 789 किग्रा./घमी.) होता है। इमारती लकड़ी के रूप में इसकी उपयुक्तता सम्बंधी आँकड़े सागौन के संगत गुणों के प्रतिगत के रूप में इस प्रकार हैं : भार. 115; कड़ी के रूप में सामर्थ्य, 95; कड़ी के रूप में कड़ापन, 125; खंभे के रूप में उपयुक्तता, 100; आघात प्रतिरोध क्षमता, 115; रूप धारण क्षमता, 45; अपरदन, 105; कठोरता, 85 (Limaye, loc. cit.).

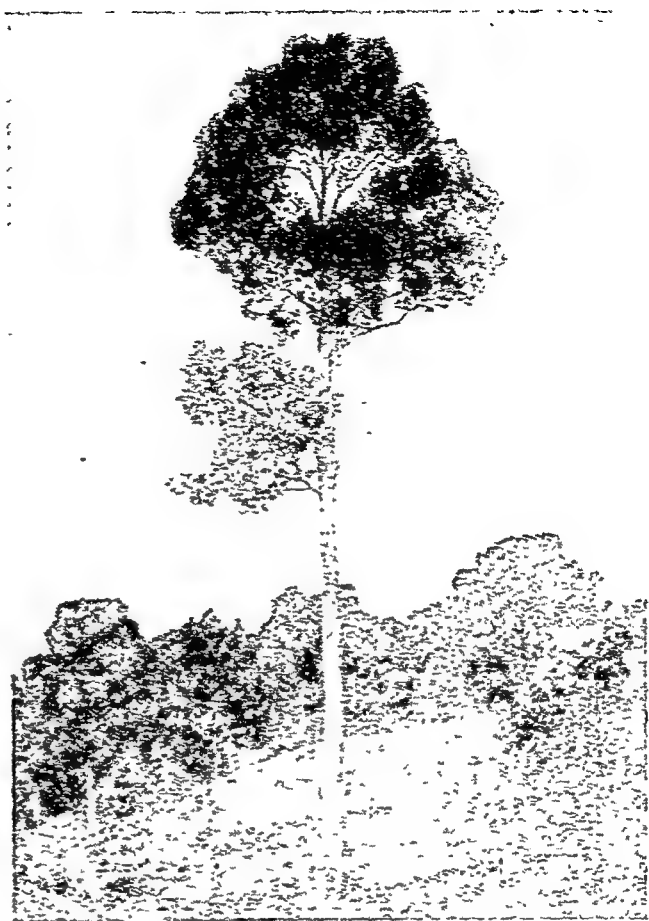
डि. कोस्टावस गेर्तनर पुत्र निन. डि. एलावस डायर (फ्लो. त्रि. इ., अंगतः) एक अर्ध-मण्पाती वृक्ष है जिसकी ऊँचाई 24-30 मी. तथा घेरा 2.1-3.6 मी. तक होता है। यह अंडमान द्वीपसमूह में मिलता है परन्तु सामान्य रूप से नहीं पाया जाता। इसका काष्ठ (आ. घ., 0.76; भार. 704-784 किग्रा./घमी.) साधारणतः डि. टर्बिनेटस तथा डि. एलावस के काष्ठ से मिलता-जुलता है। लेकिन इसे उनकी अपेक्षा अधिक विकला बनाया जा सकता है। इस काष्ठ का औसीय मान इस प्रकार है : रसकाष्ठ, 5.237 कै., 9.430 त्रि. घ. इ.; अन्तःकाष्ठ, 5.284 कै.; 9.513 वि. घ. इ. ईषन के रूप में इसे बहुत अच्छा माना जाता है। इसने अपेक्षाकृत अधिक मात्रा में तेल-राल प्राप्त होता है (Krishna & Ramaswami, loc. cit.: Indian For., 1948, 74, 279).

डि. ग्रैंडिलोरेस ब्लैंको अंडमान के जंगलों में छोटी-छोटी पहाड़ियों तथा कटकों पर पाया जाने वाला वृक्ष है। इसकी ऊँचाई 30-45 मी. तक तथा घेरा 2.1-4.5 मी. तक होता है। पहले इसे डि. ग्रिफिथी डिक्ले के रूप में पहचाना गया था। इसका काष्ठ (आ. घ., 0.70; भार. 752 किग्रा./घमी.) अपनी श्रेणी के अन्य अधिकतर काष्ठों से उल्लेख होता है। इसे क्लकता में लाकर बेचा जाता है और यूरोप के लिए इसका निर्यात भी होता है। इमारती लकड़ी के रूप में इसकी उपयुक्तता सम्बंधी आँकड़े, सागौन के उन्हीं गुणों की प्रतिगतता के रूप में इस प्रकार हैं : भार. 110; कड़ी के रूप में सामर्थ्य, 85; कड़ी के रूप में कड़ापन, 100; खंभे के रूप में उपयुक्तता, 90; प्रघात प्रतिरोध क्षमता, 80; रूप धारण क्षमता, 45; अपरदन, 100; कठोरता, 85. काष्ठ का औसीय मान इस प्रकार है : रसकाष्ठ, 5.144 कै., 9.260 त्रि. घ. इ.; अन्तःकाष्ठ, 5.140 कै., 9.251 वि. घ. इ. (Limaye, loc. cit.: Krishna & Ramaswami, loc. cit.).

इस जाति के वृक्षों से रिसने वाला तेल-राल ताजा रहने पर गाढ़ा द्रव के रूप में तथा अधिक देर तक खुला रहने पर अर्ध-सूक्ष्म हो जाता है। इसमें लगभग 35% वाष्पशील तेल तथा एक कड़ा, पीला चमकदार राल होता है जिसकी ऐल्कोहल में विघन्यता 75% है। अल्सी और तारपीन के तेल के समान आयतन के मिश्रण में यह राल पूरी तरह विघन्य है। इससे जो बालिष्ठ तैयार की जाती है वह धीरे-धीरे सूखने से कड़ी तथा कठोर क्लम देती है (Brown, II, 56).

डि. बौडिलोनाइ ब्रांडिस एक ऊँचा, सदाबहार, 45 मी. तक ऊँचा वृक्ष है जो बावनकोर तथा मानावार क्षेत्र में पाया जाता है। इसका काष्ठ डोंगी और मकान बनाने तथा दियायनाई उद्योग में काम आता है (बावनकोर-कोचीन के वन विभाग से प्राप्त सूचना).

इस जाति के से एक अपारदर्शी, वृणपीत रंग का द्रव्य नैन-राल (आ. घ., 0.9485; ρ_D , 1.5104) प्राप्त किया जाता है, जो रखा रहने पर $C_{22}H_{42}O_2$ (ग्र. वि., 125-26°) सूत्र के एक क्रिस्टलीय अचंगा हाइड्रोकार्बोना के रूप में जम जाता है। इसमें 100°, 245° तथा 380° के तीन पर भाप-अनवन द्वारा क्रमशः 37%, 65% तथा 76% सम्मिश्र तेल प्राप्त होता है। इसके स्थिरांक निम्नलिखित हैं : आ. घ.°, 0.911; ρ_D^{25} , 1.5015; $[\alpha]_D$, -80° द्र. वि.,



चित्र 109 - डिप्टेरोकार्पस कोस्टावस

249-52°. इसमें कैरियोफिलीन तथा गुरमनीन नहीं होते हैं (Nair, Rep. Dep. Res., Travancore Univ., 1939-46, 480). *D. alatus* Roxb.: *D. grandiflorus* Blanco: *D. griffithii* Miq.: *D. costatus* Gaertn. f.: *D. kerrii* King: *D. bordillonii* Brandis

डिप्लैक्ने बीबो (ग्रेमिनी) *DIPLACHNE* Beauv.

ले. - डिप्लैक्ने

D.E.P., III, 422; Fl. Br. Ind., VII, 328; Blatter & McCann, 243, Pl. 163.

यह लम्बी, गुच्छेदार तथा बहुवर्षी घासों का एक बंधा है, जो दोनों गोमासों के समस्त उष्णकटिबंधीय क्षेत्रों में पाया जाता है। भारत में केवल डि. फुस्का (लिनिग्रम) बीबो=डि. मलाबारिका (लिनिग्रम) मैग्ल (त. - मंडोपिल्लू; बम्बई - गोवोगैडर) नामक जाति ही पाई जाती है। यह एक लम्बी नींबी, गुच्छेदार घास है, जिसकी ऊँचाई 0.9-1.5 मी.; पत्ते लम्बे, पान-गल स्थित, चिकने, सदा अथवा

मंत्रित होते हैं। यह ऊपरी गंगा के मैदान, बंगाल, उड़ीसा तथा दक्षिणी प्रायद्वीप के पश्चिमी भागों में पाई जाती है। यह स्पष्ट रूप से आर्द्रताग्राही होती है तथा दलदल एवं नमी वाली निम्न भूमियों, विशेषतः लोनी मिट्टियों में पैदा होती है। चारे की दृष्टि से यह निम्न कोटि की घास है, किन्तु भैंसें इसे बड़े चाव से खाती हैं (Fl. Madras, 1829).

Gramineae; *D. fusca* (Linn.) Beauv. = *D. malabarica* (Linn.) Merrill

डिप्लोक्लिसिया मायर्स (मेनिस्पर्मसी) DIPLOCLISIA Miers

ले— डिप्लोक्लिसिया

Fl. Madras, 28; Fyson, I, 12.

यह आरोही अथवा भूस्तारी झाड़ियों का एक लघु वंश है जो दक्षिण-पूर्वी एशिया में पाया जाता है। डि. ग्लौसेसेन्स डील्स सिन. कोकुलस मैक्रोकार्पस वाइट और आर्नेट (म. — वाटोली, वाट येल; त. — कोट्टाड्याचाची) गोल अथवा वृक्काकार पत्तियों वाली एक बड़ी आरोही झाड़ी है। यह खासी पहाड़ियों तथा पश्चिमी घाटों पर 1,800 मी. की ऊँचाई तक पाई जाती है। पत्तियों में श्लेष्मक तथा साबुनीय पदार्थ होते हैं। पत्तियों का चूर्ण दूध के साथ पैत्तिक रोगों, जुकाक तथा निफलिस में दिया जाता है (Burkill, I, 594; Wehmer, I, 332; Kirt. & Basu, I, 90).

Menispermaceae; *D. glaucescens* Diels syn. *Cocculus macrocarpus* Wight & Arn.

डिप्लोनेमा पियरे (सैपोटेसी) DIPLOKNEMA Pierre

ले. — डिप्लोनेमा

यह भारत से फिलिपीन्स तक पाया जाने वाला वृक्षों का एक लघु वंश है। हाल में ही इस वंश का विस्तार करके इसमें डि. वुटीरेंशिया (पहले बेंसिया वुटीरेंशिया) भी सम्मिलित कर लिया गया है। यह भारत में पाया जाता है और इससे फुलवाड़ा अथवा भारतीय मक्खन प्राप्त होता है।

Sapotaceae

डि. वुटीरेंशिया एच. जे. लामार्क = मधुका वुटीरेंशिया मैकब्राइड सिन. बेंसिया वुटीरेंशिया रॉबसवर्ग *D. butyracea* H. J. Lam.

फुलवाड़ा, इंडियन बटर ट्री

ले. — डि. वुटीरेंशिया

D.E.P., I, 405; C.P., 116; Fl. Br. Ind., III, 546.

हि. — फुलवाड़ा, चिउड़ा, फुलेन; बं. — गोफल.

नेपाल — चुरी.

यह विशाल पर्णपाती, 12 से 21 मी. तक ऊँचा तथा 1.8-3 मी. तक गोलाई का, गहरी भूरी अथवा कृमई रंग की छाल वाला वृक्ष है। उमके पत्ते 20-35 सेंमी. लम्बे तथा 8.7-15 सेंमी. चौड़े और धाराओं के सिरों पर एक साथ लगे रहते हैं। फूल श्वेत, 2-2.5 सेंमी. व्यास वाले, अशुचिकर गन्ध वाले; फल 2-4.4 सेंमी. लम्बे तथा अण्डाकार, एक से तीन बीज वाले; बीज चमकदार कृमई रंग के तथा 1.75-2.0 सेंमी. लम्बे जिनमें बादाम की तरह एक श्वेताभ गिरी होती है।



चित्र 110 — डिप्लोनेमा वुटीरेंशिया

यह वृक्ष उप-हिमालय क्षेत्र तथा बाह्य हिमालय में कुमायूँ से पूर्व की ओर सिक्किम और भूटान तक 1,500 मी. की ऊँचाई तक व्यापक रूप से पाया जाता है। यह अंडमान द्वीपसमूहों में भी प्रायः पर्णपाती के रूप में सदावहार वनों में पाया जाता है। यह एक अत्यन्त जल्दी बढ़ने वाला वृक्ष है तथा प्रमुखतः पहाड़ियों में खड़ी के किनारे तथा छायादार घाटियों में पाया जाता है। उत्तरी भारत में जाड़ों में इसमें फूल लगने हैं और जून-जुलाई तक फल पक जाते हैं, जबकि अंडमान द्वीपसमूहों में इसमें जनवरी-अप्रैल में फूल लगते हैं; तथा फल मार्च-मई में पकते हैं (Gamble, 449; Troup, II, 646; Parkinson, 197).

इसका फल काले रंग की बेरी के रूप में होता है जिसकी फलभित्ति मोटी, मुलायम तथा शर्करायुक्त और एक विशेष प्रकार की मधुर गन्ध लिये होती है। फलभित्ति फल के भार की लगभग 70% और खाद्य होती है।

गिरी बीज-भार की 70% होती है (100 बीजों का भार, 78 ग्रा.). बीज की गिरी की संरचना इस प्रकार है: आर्द्रता, 5.0; ईथर निष्कर्ष, 55.9; कच्चे तन्तु और नाइट्रोजनरहित निष्कर्ष, 30.0; प्रोटीन, 5.2; तथा राख, 3.82%. गिरी में साबुनीय पदार्थ होते हैं (Wehmer, II, 928).

बसा का निष्कर्षण खड़े बीजों अथवा उनकी गिरियों को कुचल कर श्रीम की तरह लुगदी बनाकर और उसे कपड़े से निचोड़ कर किया जाता है। तेल की मात्रा बीजों के भार की 42-47% अथवा गिरी के भार की 60-67% होती है। इसमें घी जैसा गाढ़ापन होता है और यदि इसे अच्छी तरह से तैयार किया जाए तो यह श्वेत रंग का स्वादिष्ट तथा

सुगंधमय होता है। यह बहुत दिनों तक बिना बिगड़े रह सकता है। इसमें निम्नलिखित लक्षण पाये जाते हैं: आ. घ. 100° , 0.856–0.862; n_D^{40} , 1.4552–1.4659; साबु. मान, 191–200; आयो. मान, 40–51; आर. एम. मान, 0.4–4.3; असाबु. पदार्थ, 1.4–5% (सामान्यतः 2 से 2.8%); ग. बि., 39–51°; तथा अनुमाप 48–52°। तेल के रचक बसा-अम्ल हैं: पामिटिक, 56.6; स्टीएरिक, 3.6; ओलीक, 36.0; तथा लिनोलीक अम्ल, 3.8%। ग्लिसराइड रचक इस प्रकार हैं: ओलियोडाइपामिटिन, 62; पामिटो-डाइओलीन, 23; ओलियोपामिटोस्टीएरिन, 7; तथा ट्राइपामिटिन, 8%; थोड़ी मात्रा में स्टीएरोडाइओलीन तथा ट्राइओलीन भी इसमें रहते हैं। ऐसीटोन से क्रिस्टलन द्वारा 72% बसा क्रिस्टलीय घनों के रूप में प्राप्त होती है तथा यह (मूल बसा के आधार पर) 58% ओलियोडाइपामिटिन, 8% ट्राइपामिटिन, तथा 6% पामिटोडाइओलीन के साथ मिश्रित रहती है। इस प्रकार यह प्राकृतिक ओलियोडाइपामिटिन का एक सुगम स्रोत बन जाता है (Trotter, 1940, 267; Bull. imp. Inst., Lond., 1911, 9, 228; Jamieson, 63; Hilditch, 1947, 267)।

डि. वुटीरेशिया की बसा को, जिसे व्यापार में फुलवाड़ा तेल के नाम से जाना जाता है, व्यापारिक मोवरा अथवा वैसिया बसा के साथ वर्गीकृत किया गया है। किन्तु यह मधूका इंडिका जे. एफ. मैलिन सिन. वैसिया लैटीफोलिया रॉक्सबर्ग तथा मधूका लांगीफोलिया मैकबाइट सिन. वैसिया लांगीफोलिया लिनियस दोनों ही बसाओं से भिन्न तथा व्यापारिक दृष्टि से मोवरा बसाओं से अधिक मूल्यवान है। यह अधिक हल्के रंग की तथा अधिक गाढ़ी होती है और इसका अनुमाप परीक्षण भी अधिक ऊँचा है। इसके बीजों की बसा में पामिटिक अम्ल की मात्रा अभी तक ज्ञात सर्वाधिक मात्रा है। वास्तव में यह कुल मिलाकर सैपोटेसी बसाओं का अपवाद ही है (Bull. imp. Inst., Lond., loc. cit.; Hilditch, 1947, 198, 267)।

फुलवाड़ा तेल का प्रयोग अधिकतर घी के स्थान पर अथवा उसमें अपमिश्रक के रूप में किया जाता है। चाकलेट बनाने के लिए इसका प्रयोग कोको मक्खन के स्थान पर भी किया जाता है। साबुन तथा प्रोमोवतियाँ बनाने तथा दीपक में डालने के लिए तेल के रूप में भी इसका प्रयोग किया जाता है। यह धुआँ अथवा किसी प्रकार की अप्रिय गन्ध उत्पन्न किए बिना जलता है। इससे बनाया गया मलहम आमवात दर्द में लाभप्रद है (Bolton, 279; Duthie, II, 12)।

डि. वुटीरेशिया की खली में अन्य मोवरा खलियों की तरह ही साबुनीय पदार्थ होते हैं जिसका उपयोग खाद के रूप में किया जाता है। इसकी खली का कोई अलग विश्लेषण नहीं किया गया है, किन्तु सैपोनिनों की मात्रा सम्भवतः मोवरा खलियों में सामान्यतः 29–31% है। इसकी खली का प्रयोग साबुन के स्थान पर तथा मत्स्य-विप के रूप में किया जाता है। यह कीड़ों को मारने के भी काम आती है तथा केंचुओं को मारने के लिए इसे घास वाले तथा गोल्फ के मैदानों में बिखेर दिया जाता है। इस प्रयोजन के लिए खली को मिट्टी में लगभग 140 ग्रा. प्रति वर्ग मीटर की दर से फैला कर उसमें पानी दे दिया जाता है। उद्यान-कार्यों के लिए आवश्यक कीटनाशी दवाओं के निर्माण में भी इसका प्रयोग किया जाता है। इसे परिष्कृत करके सैपोनिनों को अलग कर लेते हैं और फिर इसे पशुओं के चारे के उपयुक्त बनाया जा सकता है (Oil Seeds & Feeding Cakes, Imp. Inst. Monogr., 1917, 98; B.P.C., 1934, 185)।

डि. वुटीरेशिया के फूलों में काफी मात्रा में शर्करा रहती है। इससे गुड़ की तरह का एक पदार्थ तथा मद्यसार से युक्त पेय तैयार किये जाते हैं।

डि. वुटीरेशिया की लकड़ी हल्के काल्यई रंग की कठोर तथा भूरी होती है (भार, 832 किग्रा./घमी.)। इमारती लकड़ी के रूप में इसकी आपेक्षिक उपयुक्तता के मान सागौन के उन्हीं गुणों की प्रतिशतता के रूप में इस प्रकार हैं: भार, 115; कड़ी के रूप में दृढ़ता, 95; कड़ी के रूप में दुर्नम्यता, 95; खंभे के रूप में उपयुक्तता, 90; आघात प्रतिरोध क्षमता, 105; आकृति स्थिरण क्षमता, 60; अपरूपण, 115; कठोरता, 130। वृक्ष की छाल मत्स्य-विप के रूप में काम आती है (Gamble, 449; Trotter, 1944, 238)।

Madhuca butyracea Macb.; *Bassia butyracea* Roxb.; *Madhuca longifolia* Macb. syn. *Bassia longifolia* Linn.

डिप्लोस्पोरा — देखिए ट्राइकैल्सिया

(परिशिष्ट : भारत की सम्पदा)

डिप्साकस लिनियस (डिप्सेकेसी) DIPSACUS Linn.

ले. — डिप्साकस

यह तीक्ष्णवर्षी अथवा शुकमय वृष्टियों का एक लघु वंश है जो यूरोप, एशिया तथा अफ्रीका में फैला हुआ है। इसमें डि. फुलोनम का महत्व ऊनी कपड़ा उद्योग में टीजिल के स्रोत के रूप में बढ़ गया है।

Dipsacaceae

डि. फुलोनम लिनियस D. fullonum Linn. फुलर्स टीजिल

ले. — डि. फुल्लोनम

Bailey, 1949, 949.

पंजाब — बुरश.

यह 0.9–1.8 मी. ऊँची एक गठीली, तीक्ष्णवर्षी तथा द्विपर्षी झाड़ी है, जिसमें घनी बेलनाकार चोटियों में नीले अथवा पाण्डुवर्ण लाइलैक, 5–10 सेंमी. लम्बे, फूल लगते हैं। फूल मजबूत; रेशे, मुड़ी हुई नोक वाले तथा सूखने पर काफी लचकदार सहपत्र चक्रों से घिरे रहते हैं। व्यापार की दृष्टि से महत्वपूर्ण टीजिल सूखे हुए पुष्पशीर्ष होते हैं जो बीजों के पूरे पकने पर संग्रह किये जाते हैं।

यह पौधा यूरोप का मूलवासी है तथा फ्रांस, इंग्लैंड और अमेरिका के कुछ भागों में उगाया जाता है। ऊनी वस्त्र उद्योग के लिए भारत बड़ी मात्रा में आवश्यक टीजिल इंग्लैंड तथा फ्रांस से आयात करता है। प्रथम तथा द्वितीय विश्वयुद्ध के समय जब यूरोप से आयात में बाधा पड़ने लगी तो भारत में टीजिल पैदा किया गया। पूना, देहरादून, मुरी, वारामूला (कश्मीर), पालमपुर (काँगड़ा), शामली (मुरी पहाड़ियाँ), कुलु तथा ऊटकमंड में परीक्षण के तौर पर इसे उगाया गया। इन सभी क्षेत्रों में यह पौधा अच्छी तरह उगता देखा गया है। 900–1,500 मी. की ऊँचाइयों पर इसकी वृद्धि विशेषतः संतोषप्रद पाई गई। मुरी में (2,250 मी. की ऊँचाई पर) पुष्पशीर्ष देर से पके तथा निम्न ताप के कारण पृष्ठदंड मुलायम रहे किन्तु मैदानों में ग्रीष्म ऋतु के कारण पौधों पर विपरीत प्रभाव पड़ा। पालमपुर, शामली तथा कुलु (1,200 से 1,500 मी. की ऊँचाई) में उगाये गये पौधों के शूल अच्छी किस्म के थे। ऊनी कपड़ा मिलों में किये गये परीक्षणों से यह सिद्ध हुआ कि वे यूरोप से प्राप्त शूलों के समान ही उत्कृष्ट थे (Dallimore, Kew Bull., 1912, 345; Bull. Dep. Agric., Bombay, No. 133, 1926, 13; Luthra, Indian Fmg, 1940, 1, 540; 1950, 11, 10)।



चित्र 111 - डिप्साकस फुलोम - टीजिल शीर्ष

यह पौधा वैसे द्विर्षी है किन्तु भारत के कुछ भागों में एकवर्षी हो गया है। बीज नर्सरियों में मार्च में बोये जाते हैं तथा दो मास बाद पौधों को पहाड़ियों पर 0.75 मी. की दूरी पर वनी पंक्तियों में 0.75 मी. के अन्तर पर लगा दिया जाता है। यह पौधा अच्छे जल-निकास तथा खादयुक्त दुमट भूमि में अच्छी तरह पैदा होता है। यह पौधा लगभग किसी भी प्रकार की मिट्टी में पनपता है किन्तु शूलों पर जलवायु का प्रभाव अवश्य पड़ता है। सूखी जलवायु में शूल दृढ़ होते हैं तथा आद्र जलवायु में ये महीन बन जाते हैं। पंजाब की परिस्थितियों में 18 महीनों में पादप में फूल और फल लगते हैं। फरवरी-मार्च में बोये जाने पर आगामी वर्ष जुलाई में पुष्पशीर्ष निकल आते हैं। पके हुए शीर्षों को चाकू में काट कर धूप में सुखाया जाता है। प्रति हेक्टर 87,500 से 1,25,000 तक चुनिन्दा शीर्ष प्राप्त होते हैं (Luthra, loc. cit.; Noechel, *J.N.Y. bot. Gdn*, 1946, 47, 168)।

शुष्क टीजिलों के शीर्षों का आकार 3.75 सेमी. से 8.75 सेमी. तक होता है। केन्द्रीय शीर्ष मुख्य अक्ष के सिरे पर सबसे बड़ा होता है तथा कभी-कभी उसे 'किंग टीजिल' भी कहा जाता है। मुख्य शाखाओं के सिरे पर स्थित टीजिल को 'क्वीन टीजिल' अथवा मध्यम टीजिल कहा जाता है, और छोटे-छोटे शीर्ष जो पौधे की छोटी शाखाओं पर लगते हैं, 'प्रिन्स तथा वटन्स टीजिल' कहलाते हैं। टीजिल का वर्गीकरण उद्योग की माँगों के अनुरूप, उनके आकार के अनुसार किया जाता है। 'किंग टीजिल' का प्रयोग मुख्यतः कम्बनों में रोएँ उठाने, मैकिनों तथा भारी कपड़ा बनाने के लिए किया जाता है (Noechel, loc. cit.)।

टीजिल का उपयोग ऊनी कपड़ा उद्योग में तथा ऊँची कोटि के कपड़े में रोएँ उठाने के लिए किया जाता है। टीजिल शीर्षों को एक घूमते हुए ड्रम पर पंक्तियों में रखकर विपरीत दिशा से रोएँदार कपड़ा निकाला जाता है। टीजिल के पंजे केवल इतना ही बिचाव पैदा करते हैं जो धागे को तोड़े बिना रोएँ उठाने के लिए पर्याप्त हो। विक्षत शीर्षों को चदन दिया जाता है जिनमें दुनाई-कार्य सुचारु तथा समरूप बना रहे। इसान के टीजिलों का इन्वेमान आरम्भ हो जाने पर भी अपने संतोषप्रद

कार्य के कारण ये टीजिल अभी भी अद्वितीय हैं (Dallimore, loc. cit.; Noechel, loc. cit.; Pryde-Hughes, *Agriculture*, 1947, 54, 270)।

भारत में ऊनी कपड़ा उद्योग में प्रति वर्ष काफी बड़ी मात्रा में टीजिलों की आवश्यकता होती है। यह कहा जाता है कि एक मिल औसत 20,000 से 30,000 रु. के टीजिलों का प्रति वर्ष उपयोग करती है। टीजिलों का युद्धपूर्व मूल्य 10-15 रु. प्रति हजार था; किन्तु 1940 में 50-100 रु. तथा 1950 में आयातित टीजिलों का मूल्य 46 से 66 रुपये प्रति हजार तक हो गया। युद्ध से पहले तथा युद्ध के समय पंजाब में पैदा किए गए टीजिलों की माँग बहुत बढ़ गई, किन्तु इधर यह माँग फिर घट गई है और एक अनुमान के अनुसार अब केवल 1.2 हेक्टर में ही इसकी खेती की जाती है (Luthra, loc. cit.; Information from For. Res. Inst., Dehra Dun, Federation of Woollen Manufacturers in India, Bombay, and Dep. Agric., Punjab)।

टीजिल के बीज चिड़ियों तथा मृगियों को खिलाने के काम आते हैं। इसकी जड़ों का उपयोग कभी मूत्रल तथा स्वेदोत्पादक औषध के रूप में किया जाता था। बीजों से एक पीला, कम सूखने वाला तेल (21%) प्राप्त होता है, जिसकी निम्नलिखित विशेषताएँ हैं: n_{25}^{20} , 1.474; अम्ल मान, 8.9; साबु. मान, 189; आयो. मान, 119.0-119.7; तथा थायोसायनेट मान, 82.1-82.5. इसके रचक वसा-अम्ल निम्नलिखित हैं: पामिटिक तथा स्टीरैरिक, 4; ओलीक, 53; तथा लिनोलीक, 43% (Pryde-Hughes, loc. cit.; Mullins, *World Crops*, 1951, 3, 146; *Chem. Abstr.*, 1932, 26, 6167; Hilditch, 1947, 159)।

टीजिल में एक पीला रंजक तथा टैनिन पाये जाते हैं (*Chem. Abstr.*, 1940, 34, 2179)।

डिप्साकस की लगभग 6 जातियाँ भारत के जंगलों में पाई जाती हैं। कश्मीर के डि. इनमिस वालिश, चकराता के डि. स्ट्रिक्टस डी. डान तथा कोडाईकेनाल के डि. लेस्चेनाउल्टाइ कोल्टर के शीर्षों को फुलस टीजिलों के स्थान पर प्रयोग करने का प्रयत्न किया गया है किन्तु वे निर्वल तथा आकार में छोटे होते हैं तथा ऊनी कपड़ा उद्योग में उपयोग के योग्य नहीं होते (Information from For. Res. Inst., Dehra Dun). *D. inermis* Wall.; *D. strictus* D. Don; *D. leschenaultii* Coult.

डिमेरिया आर. ब्राउन (ड्रेमिनी) DIMERIA R. Br.

ले. - डिमेरिया

Fl. Br. Ind., VII, 103.

यह एशिया और ऑस्ट्रेलिया में पाई जाने वाली एकवर्षी या बहुवर्षी घासों का एक विचाल वंश है। यो तो भारत में इसकी 15 जातियाँ पाई जाती हैं किन्तु डि. धानापोपोडा ट्रिनियम फ्लो. त्रि. इ. (घम्वर - कण्ठुर्दी) जो पतली घनी गुच्छेदार, एकवर्षी घास है, पूरे देश में पाई जाती है। इसे घटिया किस्म की घास समझा जाता है। डिमेरिया के विश्लेषण से निम्नलिखित मान प्राप्त हुए: आर्द्रता, 6.00; प्रोटीन, 40.02; वसा, 1.90; कार्बोहाइड्रेट, 49.29; रेखा, 36.71; ओर राय, 7.08% (Ramiah, *Bull. Dep. Agric. Madras*, No. 33, 1941, 15)।

Gramineae; *D. ornithopoda* Trin.

डियरिंगिया आर. ब्राउन (अमरेन्थेसी)

DEERINGIA R. Br.

ले. — डियरिंगिया

Fl. Br. Ind., IV, 714.

यह वृष्टियों और झाड़ियों का वंश है जो पुरानी दुनिया के उष्ण-कटिबंधी तथा उपोष्णकटिबंधी क्षेत्रों में पाया जाता है। भारत में इसकी केवल एक ही जाति पाई जाती है।

डि. अमरेन्थाइडिस मेरिल सिन. डि. सिलोसिआइडिस आर. ब्राउन (हि. — लटमन; बं. — गोला-मोहनी, गौलमौनी; असम — मोनविर, रंगोली-लोटा; कुमायूँ — काला लोआरी) चिनाव से भूटान तक के हिमालयी भूभागों, बिहार, बंगाल और असम में 1,500 मी. की ऊँचाई तक पाई जाने वाली आरोही झाड़ी है। पत्तियाँ अण्डाकार, भालाकार तथा सरस फल चमकीले लाल, प्रायः गोलाकार और व्यास में 62 मिमी. होते हैं। लम्बे गुच्छों में लगे लोहित रंग के सरस फलों वाला यह पौधा जाड़े के दिनों में अत्यन्त सुन्दर दिखाई पड़ता है तथा कभी-कभी वाटिकाओं के झुरमुटों में लगाया जाता है (Firminger, 387).

इस पौधे की पत्तियाँ और जड़ें औषधीय बताई जाती हैं। पत्तियाँ घाव पर लगाई जाती हैं और जड़ें छिंकनी के रूप में प्रयुक्त की जाती हैं। फलों का रस लाल स्याही की तरह इस्तेमाल किया जाता है। पत्तियों में काफी ऐल्कलायडी पदार्थ पाये जाते हैं (Burkill, I, 776; Fl. Assam, IV, 4; Webb, Bull. Coun. sci. industr. Res. Aust., No. 241, 1949, 10).

Amaranthaceae; *D. amaranthoides* Merrill; *D. celosoides* R. Br.

डिलीनिया लिनियस (डिलीनिएसी) DILLENIA Linn.

ले. — डिल्लेनिआ

यह वृक्षों तथा झाड़ियों का एक लघु वंश है जो भारत-मलेशिया से लेकर ऑस्ट्रेलिया के उष्णकटिबंधीय प्रदेशों तक पाया जाता है। भारत में इसकी लगभग 6 जातियाँ पाई जाती हैं। अधिकांश जातियों में आकर्षक फूल आते हैं। फल खाद्य होते हैं तथा गौण उपयोग वाली लकड़ी प्राप्त होती है।

Dilleniaceae

डि. आरिया स्मिथ सिन. डि. पल्चेरिया कुर्ज D. aurea Sm.

ले. — डि. औरिया

D.E.P., III, 112; Fl. Br. Ind., I, 37; Parkinson, Indian For., 1935. 61, 447, Pl. 28.

अवध — चमगाई; नेपाल — ध्युग्र; गोंड — करिगिला, करमाता। यह 6-12 मी. ऊँचा तथा 60-120 सेंमी. घेरे का एक छोटा फँला हुआ पर्णपाती वृक्ष है जिसमें बड़े आकार की, 30-50 सेंमी. लम्बी तथा 12.5-17.5 सेंमी. चौड़ी पत्तियाँ होती हैं। फूल बड़े, अकेले तथा सुनहले रंग के होते हैं जो पत्तियों के झड़ जाने के बाद शाखाओं की फुनगियों पर निकलते हैं। फल खाद्य हैं।

ये वृक्ष नेपाल से भूटान और उत्तरी बंगाल तक फैली हुई हिमालय की तराईयों तथा आगे बढ़कर बिहार, उड़ीसा एवं मध्य प्रदेश में 900 मी. ऊँचाई तक शुष्क पहाड़ी प्रदेशों में पाये जाते हैं।

लकड़ी मध्यम कठोर और भारी (704-720 किग्रा./घमी.) तथा हल्के भूरे रंग की होती है। आमतौर पर लकड़ी जलाने के काम में लाई जाती है। फल छोटे सेब के आकार के होते हैं जिन्हें मसाले की तरह प्रयोग में लाते हैं। कहा जाता है कि इसके फलों को हाथी चाब के साथ खाते हैं (Gamble, 5; Haines, 7).

डि. इंडिका लिनियस D. indica Linn.

ले. — डि. इंडिका

D.E.P., III, 113; Fl. Br. Ind., I, 36.

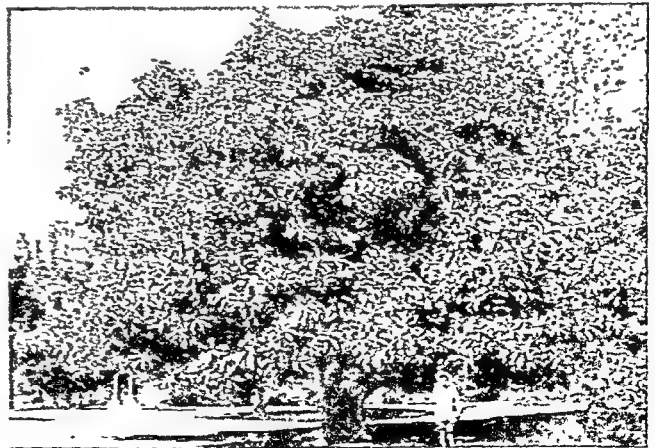
हि. और बं. — चल्टा; गु. और म. — करमवेल, करमल; ते. — उवा, पेदकलिग; त. — उवा; क. — वेट्टा कणिगलू; मल. — चलिता, पुन्ना; उ. — उवु.

असम — चलिता, उतेंगा; नेपाल — रामफल; व्यापार — डिलीनिया.

यह सुन्दर सदाहरित वृक्ष है जो 9-24 मी. ऊँचा तथा गोलाई में 1.8 मी. होता है। इसका शिखर गोल तथा घना होता है। पत्तियाँ 20-35 सेंमी. लम्बी तथा 5-10 सेंमी. चौड़ी, आयतरूप-भालाकार होती हैं जिनका सिरा नुकीला और किनारे दंतुर, ऊपरी भाग तथा नीचे की शिरायें रोमिल होती हैं। फूल 12.5-20 सेंमी. व्यास वाले खुशबूदार, अकेले और सफ़ेद होते हैं। फल बड़े (7.5-12.5 सेंमी. व्यास के) और सख्त होते हैं जिनमें गुथे हुए 5 कोरछादी बाह्यदल होते हैं जिनके अंदर ग्लूटनी गूदा वाले बहुत से बीज होते हैं। बीज छोटा संपीडित वृक्काकार होता है जिसके किनारे रोमिल होते हैं।

डि. इंडिका कुमायूँ और गढ़वाल से पूर्व की ओर असम और बंगाल तक के अधो-हिमालय क्षेत्रों तथा दक्षिण की ओर मध्य और दक्षिणी भारत के नमी वाले सदाबहार जंगलों में पाया जाता है। आमतौर पर यह जंगली सरिताओं के किनारों पर पाया जाता है। जहाँ यह प्राकृतिक रूप से उगता है वहाँ सामान्यतः निम्नतम और अधिकतम ताप क्रमशः 1.7-18.3 तथा 35-40.5° और वर्षा 200-500 सेंमी होती है। आकर्षक फूलों के कारण इसे लोग अपने बगीचों में भी लगाते हैं (Troup, I, 1; Benthall, I).

पौधा छाया सहन कर सकता है और घनी छाया के नीचे इसकी प्रवल पौधें पाई जाती हैं। उपजाऊ तथा नम मिट्टी में यह अच्छी तरह



चित्र 112 — डिलीनिया इंडिका



चित्र 113 - डिलोनिया इंडिका - फलित शाखा

उगता है। यह वृक्ष प्ररोहों से अच्छी तरह प्रवर्धित होता है। प्राकृतिक रूप में इसमें बीजों का विकीर्णन या तो जंगली हाथियों द्वारा होता है जो इसके फलों को खाकर बीजों को मल त्याग द्वारा इधर-उधर बिखेर देते हैं या वन सरिताओं द्वारा जिनमें तैरते हुये किनारे पर लग जाते हैं। जमीन पर पहुँचने पर फल सूख कर नष्ट हो जाते हैं। इसके गूदेदार भाग को दीमक खा जाते हैं। बचे हुये अप्रभावित बीजों से वर्षा प्रारम्भ होते ही श्रंकुर निकलने लगते हैं। वर्षा द्वारा ये पौधे बहती हुई जाकर कहीं अन्यत्र स्थान पाकर स्थापित हो जाती हैं।

कृत्रिम रूप से इन्हें उगाने के लिए बीजों को मई माह के लगभग गमलों अथवा क्यारियों में बो दिया जाता है या जमीन पर गिरे हुये फलों के बीजों से उगी हुई पौधों को इकट्ठा करके क्यारियों में रोप दिया जाता है। जब पौधे एक साल की हो जाती हैं अथवा 7.5-10 सेंमी. ऊँची हो जाती हैं तो वर्षा के प्रारम्भ होते ही इन्हें फिर से रोप दिया जाता है। इनकी वृद्धि सामान्य तीव्रता से होती है। मई-अगस्त में पौधों में फूल आ जाते हैं और सितम्बर-फरवरी में फल पकने लगते हैं (Troup, I, 2; Blatter & Millard, 45).

लकड़ी केसरिया से रक्तान्न भूरे रंग की, मध्यम कठोर तथा भारी (घनत्व, 0.61; 640 किग्रा./घमी.), कुछ-कुछ मुड़े दाने वाली तथा स्थूल गठन की होती है। श्वेतुक्त करते समय इसमें दरारें पड़ सकती हैं। हरे लट्ठों से काट लेने पर इसमें ऐंठन आ जाती है लेकिन भस्मलाकृत अथवा सूखे तनों से काटकर निवाली गई लकड़ी अच्छी

तरह पक जाती है। आच्छादित अवस्था में अथवा पानी में रखने पर यह सामान्य टिकाऊ है लेकिन खली छोड़ देने पर अधिक समय तक नहीं चलती। इसमें दीमक भी जल्दी लग जाती है। इस पर परिरक्षकों का अच्छा प्रभाव पड़ता है। इसे आसानी से चीरा तथा गढ़ा जा सकता है। चतुर्थांश चिरी लकड़ी का आकार बहुत ही सुंदर होता है (Pearson & Brown, I, 3; Trotter, 1944, 94).

इस लकड़ी की उपयोगिता के मान सागौन के उन्हीं गुणों के प्रतिशत रूप में इस प्रकार हैं : भार, 95; कड़ी की सामर्थ्य, 80; कड़ी की दृढ़ता, 80; खंभे के रूप में उपयोगिता, 80; आघात प्रतिरोध क्षमता, 85; आकार स्थिरण क्षमता, 55; अपरूपण, 95; और कठोरता, 80 (Trotter, 1944, 243).

इसकी लकड़ी से तख्ते और शहतीर बनाये जाते हैं। इससे औजारों के हथिये, बन्दूक के कुंदे तथा नावों के पेंदे भी बनाये जाते हैं। इसे डाँड तथा टेलीग्राफ के खंभों के लिए भी उपयोग में लाते हैं। परीक्षण से पता चला है कि परिरक्षकों के लगाने से इसकी लकड़ी से बनाये गये रेल-स्लीपर 9 साल तक अच्छी तरह काम दे देते हैं। चुने हुये चतुर्थांश लकड़ी के तख्तों से सुन्दर एवम् सुघड़ अलमारियाँ बनाई जा सकती हैं। लकड़ी के खुरदुरी तथा आकर्षक रंग की न होने से यह पृष्ठावरणों तथा प्लाईवुड के काम के लिए उपयुक्त नहीं है। यह लकड़ी काम-चलाऊ मात्रा में असम और बंगाल में मिलती है और थोड़ी मात्रा में बम्बई से भी मिल जाती है (Pearson & Brown, I, 6; Trotter, 1944, 94).

लकड़ी का कैलोरी मान काफी अधिक है (रसकाष्ठ, 5,226 कै. या 9,408 ब्रि. थ. इ.; अंतःकाष्ठ, 5,277 कै., 9,499 ब्रि. थ. इ. इसे जलाने के काम में लाया जाता है (Krishna & Ramaswami, Indian For. Bull., N.S., No. 79, 1932, 15).

पके फल इकट्ठे कर लिये जाते हैं और उनके बाह्यदल खट्टे होने के कारण सब्जी को स्वादिष्ट बनाने के लिए प्रयुक्त किये जाते हैं अथवा इनसे जैम तथा जेली बनाये जाते हैं। इनके अम्ल-रस में चीनी डालकर ठंडे पेय के रूप में पिया जाता है। बाह्यदलों में (शुष्क भार के आधार पर) टैनिन, 0.37; ग्लूकोस, 2.92; और मैलिक अम्ल, 0.5% होता है। छाल और पत्तों में (शुष्क भार के आधार पर) क्रमशः लगभग 10 और 9% टैनिन रहता है। छाल का प्रयोग चमड़ा कमाने में किया जाता है। हरे पत्ते दसर रेशम के कीड़ों को खिलाये जाते हैं (Ghose, Indian For., 1914, 40, 419; Badhwar et al., Indian For. Leaflet, No. 72, 1944, 8).

फल पीष्टिक और रेचक होता है और उदरपीड़ा में दिया जाता है। छाल और पत्ते स्तम्भक होते हैं। पत्तों का प्रयोग रेगमाल की तरह सींग और हाथी-दाँत चमकाने में किया जाता है (Blatter & Millard, loc. cit.).

डि. पेंटागिना राँक्सवर्ग *D. pentagyna* Roxb.

ते. - डि. पेंटागिना

D.E.P., III, 114; Fl. Br. Ind., I, 38.

हि. - अगई, कलई; बं. - करकोता; म. - कर्मल; ते. - चित्र-कलिंग, रवुदन; त. - नाइतेक; क. - काडुकुण्णिगलु, कोल्लेग; मल. - पुत्ता, कोटपुत्ता; उ. - राई.

असम - अक्षी; नेपाल - ततरी; व्यापार - डिलीनिया.

यह विशाल पर्णपाती वृक्ष है जिसका सीधा और बेतनाकार तना 9-21 मी. ऊँचा तथा 2.4-3 मी. घेरे वाला होता है। इसमें

60-90 सेंमी. लम्बी और 15-30 सेंमी. चौड़ी पत्तियों का गोलाकार छत्र बना रहता है. फूल पीले, बहुसंख्य, सुगन्धित, लगभग 2.5 सेंमी. व्यास के, मोटी पत्तीहीन शाखाओं पर छत्रकों में; फल 1.25-1.9 सेंमी. व्यास के नारंगी रंग के रसदार तथा खाद्य होते हैं.

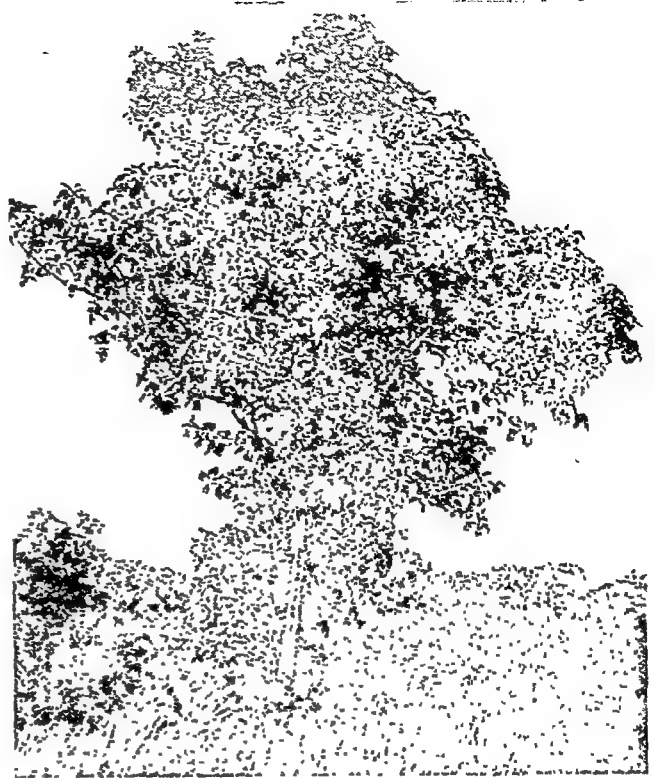
डि. पेंटागिना प्रायः समस्त भारत में पाया जाता है. यह हिमालय की तराइयों में अवध से पूर्व की ओर नेपाल, बिहार, बंगाल और असम तक तथा दक्षिण की ओर छोटा नागपुर और मध्य प्रदेश तक तथा दक्षिणी, पश्चिमी भारत में और अंडमान द्वीप में पाया जाता है. यह निम्नतम ताप 0-15.5°, अधिकतम छाया ताप 36-46° और वार्षिक वर्षा 75-450 सेंमी. के क्षेत्रों में पाया जाता है. 112.5 सेंमी. से कम वर्षा वाले क्षेत्रों में इसका विकास रुद्ध हो जाता है. आम-तौर पर यह बंगाल और असम के साल-वनों में पाया जाता है. यों तो यह छोटा नागपुर के बहुत कम ऊँचे क्षेत्रों में ही सीमित है लेकिन कभी-कभी यह 600 मी. तक की ऊँचाइयों पर पाया जाता है. यह दक्षिणी भारत के नमी वाले पर्णपाती जंगलों में प्रायः पाया जाता है. इसे कम प्रकाश की आवश्यकता होती है और जले हुये पास के मैदानों से प्रायः शुद्ध रूप में झुंड का झुंड उग आता है. इसकी पौधे जंगली आग को सह लेती है. यह पाले के प्रति संवेदनशील है. इसकी गुल्म बनाने की क्षमता घटती-बढ़ती रहती है. फूल मार्च-अप्रैल में लगते हैं और फल मई-जून में पकते हैं (Troup, I, 3).

रसकाष्ठ केसरिया रंग का और अंतःकाष्ठ किशमिश से नील-लोहित रंग का होता है जिसकी वाहिनिकाओं में कभी-कभी चाकमय निक्षेप के कारण श्वेत धारियाँ उभर आती हैं. खुरदुरा होने पर भी यह कुछ चमकीला होता है. यह मध्यम कठोर और भारी (आ. घ., 0.68; भार, 720-768 किग्रा./घमी.), कुछ मरोड़दार दानों वाला, समान और स्थूल गठन का होता है. इसकी लकड़ी डि. इंडिका की लकड़ी से मिलती-जुलती है, किन्तु उसकी तुलना में यह भारी और गाढ़े रंग की होती है (Pearson & Brown, I, 9; Gamble, 7).

अन्य इमारती लकड़ियों की अपेक्षा इसकी लकड़ी जल्दी पक जाती है. मेखलन के ढाई साल के बाद गिराये गये पेड़ों की लकड़ियों को छायामें 6 महीने तक सुखाने पर इनसे बहुत ही सुन्दर बोर्ड और शहतीर प्राप्त होते हैं. भट्टे में पकाने से भी संतोषजनक परिणाम प्राप्त होते हैं. सीधी चौरने पर लकड़ी टेढ़ी-मेढ़ी या वलयित हो जाती है जबकि चतुर्थांश चिरी लकड़ी के साथ ऐसी कोई बात नहीं होती. ताजी कटी लकड़ी को चौरने में तो कोई कठिनाई नहीं होती लेकिन भट्टे में पकाई गई लकड़ी को काटना तक लगभग असम्भव होता है (Pearson & Brown, I, 10).

इमारती लकड़ी के रूप में इसकी उपयुक्तता के अंक सागौन के जन्ही गुणों के प्रतिशत के रूप में इस प्रकार हैं : भार, 90; कड़ी के रूप में सामर्थ्य, 80; कड़ी के रूप में दृढ़ता, 75; खम्भे के रूप में उपयुक्तता, 70; आघात प्रतिरोध क्षमता, 75; आकृति स्थिरण क्षमता, 65; अपरूपण, 110; तथा कठोरता, 90 (Trotter, 1944, 243).

इस लकड़ी से घरेलू खम्भे, शहतीरें और पटरे बनाये जाते हैं. चतुर्थांश चिरी लकड़ी अल्मारी और चौखट बनाने के काम आती है. इससे काली लकड़ियों पर जड़त का काम बहुत अच्छा होता है. उवाल देने से लकड़ी की छाल आसानी से छिल जाती है. स्मरण रहे कि पृष्ठावरणों को खुली हवा में न सुखाकर मशीन द्वारा सुखाया जाता है. इससे आंतरिक कार्यों के लिए साधारण प्लाईवुड प्राप्त हो जाता है. इस लकड़ी का उपयोग दियासलाई बनाने में किया जाता है और विश्वास किया जाता है कि बीच लकड़ी से यह विलकुल मिलती-



चित्र 114 - डिलोनिया पेंटागिना

जुलती है (Pearson & Brown, loc. cit.; Trotter, 1944, 268; Krishnamurti Naidu, 63).

काष्ठ का कैलोरीय मान उच्च होता है (रसकाष्ठ, 5,176 कै. या 9,316 ब्रि. थ. इ.; अन्तःकाष्ठ, 5,176 कै. या 9,316 ब्रि. थ. इ.). उत्तर कनारा में इसे ईंधन के लिये काम में लाते हैं (Talbot, I, 11; Krishna & Ramaswami, loc. cit.).

कलियों तथा फलों को कच्चा अथवा पकाकर खाया जाता है. फलों को जानवर, विशेषरूप से हिरन, बड़े चाव से खाते हैं. पत्तियों का प्रयोग हरी खाद के रूप में किया जाता है. इनमें शुष्क आधार पर नाइट्रोजन, 1.34; पोटाश, 3.20; और फॉस्फोरिक अम्ल, 0.5% पाये जाते हैं. इनका प्रयोग छत छाने तथा कठौले बनाने में किया जाता है. सूखी पत्तियों से सींग और हाथी दाँत चमकाये जाते हैं. इसकी छाल में 6% टैनिन रहता है. इसके रेशों से रस्ती बनायी जा सकती है (Sahasrabudhe, Bull. Dep. Agric., Bombay, No. 74, 1933, 16; Badhwar et al., loc. cit.).

डि. अंडमानिका सी. ई. पार्किन्सन सिन. डि. पार्वीपलोरा फ्लो. ब्रि. इ. (अंशतः) नान ग्रिफिथ एक अनियमित वृद्धि वाला वृक्ष है जिसकी ऊँचाई 12-18 मी. होती है जो अंडमान द्वीपों में पाया जाता है. इसमें 25-40 सेंमी. लम्बी तथा 8.75-15 सेंमी. पतली अवोमुख अण्डाकार पत्तियाँ होती हैं. इसकी लकड़ी ब्रह्मा में पाये जाने वाले डि. पार्वीपलोरा ग्रिफिथ की लकड़ी से काफी मिलती-जुलती है जिससे

डिलीनिया

एक दूसरे का भ्रम हो जाता है (Parkinson, *Indian For.*, 1935, 61, 447; Gamble, 6; Pearson & Brown, I, 6).

डि. ट्रेविट्टा वाइट (ते. — सिस्टेकू; त. — कोलिकाड; क. — वेट्टा-डाकार्निगला) एक सुन्दर वृक्ष है जिसमें 15–25 सेमी. लम्बी, कुट्टती, आयताकार पत्तियाँ होती हैं. यह मैसूर, उत्तरी अर्काट और चिन्नैपुट के सूखे जंगलों में पाया जाता है. इस जाति की लकड़ी का भी इन्डोमाल अन्य डिलीनिया लकड़ियों की तरह होता है.

डि. स्क्रेला रॉक्सवर्ग (वं. — हर्गजा; असम — बजि यो) 15 मी. लम्बाई और 1.5 मी. घेरे वाला एक पर्णपाती वृक्ष है जिसका तना खाँटेदार और पत्ते 15–37.5 सेंमी. लम्बे और अण्डाकार-आयताकार होते हैं. यह असम, सिलहट और खासी की पहाड़ियों पर 900 मी. तक की ऊँचाई तक पाया जाता है. लकड़ी मध्यम कठोर और किशमिशी रंग की होती है, लेकिन इसका उपयोग बहुत अधिक नहीं होता. फल (ध्याम, 2 सेमी.) गोल और खाद्य है (Fl. Assam, I, 11).

D. andamanica C.E. Parkinson syn. *D. parviflora*; *D. bracteata* Wight; *D. scabrella* Roxb.

डिवीडिवी — देखिए सीजाल्पीनिया

डिसोफिला ब्लूम (लैविण्टो) DYSOPHYLLA Blume

ले. — डिसोफिल्ला

Fl. Br. Ind., IV, 637.

यह वृक्षों का वंश है जो भारत और जापान से ऑस्ट्रेलिया तक पाया जाता है. भारत में लगभग 16 जातियाँ मिलती हैं.

डि. ऑरिकुलेरिया ब्लूम एक दुबल, रोमिल, एकवर्षी पादप है. यह 0.3–0.6 मी. ऊँचा होता है और सिक्किम, असम और दक्षिण-पठार के प्रायद्वीप में पाया जाता है. पौधे को कुचल कर बच्चों के आमाशय के मामूली रोगों के इलाज के लिए पुलिटस बनाकर बाँधते हैं. इस पौधे का काढा आमवात के लिए लोशन के रूप में काम आता है (Burkill, I, 883).

डि. क्वाड्रोफोलिया बेन्थम एक सुगन्धित रोमिल, 60–90 सेमी. ऊँचा पौधा है जो खासी पहाड़ियों, बंगाल और दक्षिण-पठार के प्रायद्वीप में मिलता है. बंगाल में इसकी खेती की जाने की सूचना है (Sampson, *Kew Bull.*, *Addl Ser.*, XII, 1936, 72).

Labiatae; *D. auricularia* Blume; *D. quadrifolia* Benth.

डिस्कोडिया आर. ब्राउन (ऐस्कलेपिएडेसी) DISCHIDIA R. Br.

ले. — डिस्चिडिया

Fl. Br. Ind., IV, 49.

यह आरोही और निलम्बी अधिपादपों का वंश है जो दक्षिण-पूर्वी एशिया तथा ऑस्ट्रेलिया में पाया जाता है. भारत में इसकी केवल चार जातियाँ उपलब्ध हैं.

डि. रैफनेसियाना वालिश (असम — हाँगा-ओझरमोना, वादीकुरी) रबड़ धोरी पादप है और असम की पहाड़ियों पर पाया जाता है. इसकी पत्तियाँ मषाट तथा गूदेदार अथवा गहरी, नपुट अथवा घटपर्णी जैसी होती हैं जिनमें कुछ जातियों में चींटियाँ रहने लगती हैं. अपस्थानी जड़ें चींटियों के चिलों को घेती हुई चली जाती हैं. इसकी जड़ गाँसी

ठीक करने के लिए पान में डालकर खायी जाती है (Fl. Assam, III, 298; Burkill, I, 847).

Asclepiadaceae; *D. rafflesiana* Wall.

डिस्थीन — देखिए कायनाइट (परिशिष्ट: भारत की सम्पदा)

डीटा बार्क — देखिए आल्स्टोनिया

डीडलेकैन्थस — देखिए इरंथम

डीफेनवैकिया शॉट (ऐरेसी) DIEFFENBACHIA Schott

ले. — डीएफेनवाकिया

Bailey, 1947, I, 1006; Haines, 860.

यह कुछ गूदेदार वृक्षों का एक वंश है, जिनकी जड़े काष्ठीय और वहुवर्षी होती हैं. इसका मूल स्थान उष्णकटिबंधीय अमेरिका और वेस्ट इंडीज है. यह सामान्यतः 'डम्ब केन' नाम से विख्यात है इस वंश की अनेक जातियाँ और किस्में हैं जो भारत में शोभा के लिए उगाई जाती हैं.

डीफेनवैकिया सीधे बढ़ने वाले शाक पादप है. इनमें रंग-बिरंगी सुंदर पत्तियों के झब्बे लगते हैं. ये वनस्पति गृहों और कमरों की सजावट के लिए अत्यन्त लोकप्रिय हैं. यद्यपि इनकी कुछ जातियाँ काफी सहिष्णु हैं और निरन्तर अवहेलना सहन कर सकती हैं तथापि ये छायादार और अर्धछायादार स्थानों में अच्छी तरह फूलती-फलती हैं. इनके तने गाँठ-गाँठों और टेढ़े हो जाते हैं और पुराने हो जाने पर ऊपरी भाग प्रायः भारी हो जाता है. इस अवस्था में पहुँचने से पहले ही इन पौधों की काट-छाँट कर देते हैं और इनकी चोटों की दहलियाँ और गाँठदार कलमें नये पौधे तैयार करने के लिए रेत में लगा दी जाती हैं. नई पौधों के तने जब लगभग 5 सेमी. के हो जाते हैं, तो उन्हें रोप देते हैं. फूल पैदा होते ही तोड़ दिये जाते हैं, नहीं तो वे पौधों को कमजोर कर देते हैं और पत्तियों का आकार छोटा हो जाता है. इन पौधों का रस बहुत तीखा होता है. पौधे का कोई भी भाग मूँह से काटने पर जीभ सूज जाती है और सुन्न हो जाती है जिससे कई दिनों तक बोलने की शक्ति समाप्त हो जाती है (Macmillan, 470; Firminger, 292; Gopalaswamiengar, 333).

डी. बाउमानाई कारिएरे, डी. सेग्वाइन शॉट, डी. सैगनीफिका लिडेन और रोडीगस, और डी. पिक्टा शॉट नाम की जातियाँ भारत में लोकप्रिय हैं. डी. सेग्वाइन (वेस्ट इंडीज का डम्ब केन) की पत्तियाँ मनाया में गठिया और सूजन के इलाज के लिए इस्तेमाल की जाती हैं. इसके लिए पत्तियों का चूर्ण बना लेते हैं और पुलिटस बनाकर लगाते हैं या तेल में पकाकर लेप करते हैं. इसके प्रकन्द में कैल्सियम आक्सिलेट रहता है (Burkill, I, 807; Wehmer, I, 136).

Araceae; *D. bowmanni* Carr.; *D. seguine* Schott; *D. magnifica* Linden & Rodigas; *D. picta* Schott

डीमिया — देखिए पर्गुलेरिया

डीमोनोरोप्स ब्लूम (पामी) DAEMONOROPS Blume

ले. — डेमोनोरोप्स

D.E.P., II, 17; C.P., 202; Fl. Br. Ind., VI, 462.

यह इंडो-मलायी क्षेत्र के बहुवर्षी, शूलमय, आरोही ताड़ों का वंश है। कुछ जातियाँ बेंत या रेटून तथा कुछ एक लाल रालमय नि.स्राव देती हैं जिसका व्यापारिक नाम नक्र रक्त (ड्रैगन्स ब्लड) है। भारत में इसकी चार जातियाँ पाई जाती हैं।

डो. जेंकिन्सिएनस माशियस सिन. कैलामस जेंकिन्सिएनस थिफिथ (असम - गोला बेल) सिक्किम, खासी पहाड़ी तथा बंगाल में पाया जाता है। इसके तने लम्बे तथा मुलायम होते हैं और वे डलियों के वृत्त में काम आते हैं।

डो. कुजिएनस हुकर पुत्र सिन. डो. ग्रैंडिस कुर्ज; कैलामस ग्रैंडिस कुर्ज (नान थिफिथ) अत्यन्त उच्च आरोही है जो अंडमान द्वीपसमूहों में पाया जाता है। इससे लगभग 2.5 सेंमी. व्यास के बेंत प्राप्त होते हैं। यह एकमात्र भारतीय जाति है जिसमें रालमय नि.स्राव प्राप्त होता है जिसे 'पूर्वी भारतीय नक्र रक्त' कहते हैं (हिं. - अपरांग, हीरा-बुखी; म. तथा गु. - हीरा दाखन; त. - कोण्डामुर्गे रत्तम; मल. - रौतनजरना) (Blatter, J. Bombay nat. Hist. Soc., 1917-18, 25, 413).

नक्र रक्त या अपरांग एक रालमय नि.स्राव है जो डो. प्रोपिंगस वेक्कारी, डो. ड्रैको ब्लूम तथा डीमोनोरोप्स की कुछ अन्य जातियों के फलों में पाया जाता है। यह नाम कई तरकारियों के नि.स्रावों के लिए भी प्रयुक्त होता है किन्तु लाल रंग के अतिरिक्त इन पदार्थों में किसी भी प्रकार का साम्य नहीं है। यह रेजिनमय पदार्थ फलों को बोरों में भरकर रगड़कर अथवा हिलाकर एकत्र किया जाता है। कुचले फलों को पानी में गर्म करके अथवा तनों को छेद कर निकालने पर निम्न श्रेणी का पदार्थ प्राप्त होता है। इसकी अधिकांश मात्रा सुमात्रा तथा वीनियो से आती है और यह गोल ढेलों, चपटे रोटों या धूमिल लाल रंग के नड़ों के रूप में बाजारों में विकता है। यह गन्धहीन तथा चुहलाने पर स्वादहीन एवं किरकिरा लगता है। विशुद्ध रेजिन ऐल्कोहल में पूर्णतया विलेय है किन्तु व्यापारिक नमूनों में 20-40% अविलेय पदार्थ मिले रहते हैं (आ. घ., 1.18-1.20; एस्टर मान, 140; अम्ल मान, न्यून; राख, 9% से कम)। ऐल्कोहल विलेय रेजिन में 50-60% ड्रैकोरेजिनोटैमाल जो मुख्यतः बेजोइक तथा बेजोइल ऐसीटिक एस्टरों के रूप में रहता है। 13% पीले रंग का रेसीन तथा 2.5% ड्रैकोऐल्बान रहता है। रेजिन अम्लों में से एवीटिक अम्ल पृथक् किया गया है। इसका मुख्य रंजक ड्रैकोकार्मिन ($C_{31}H_{26}O_5$; ग. वि., 293°) है जो ऐथोसायनिडिन है। एक अन्य रंजक ड्रैकोरुविन ($C_{28}H_{24}O_7$ जो $270-80^\circ$ पर विच्छेदित हो जाता है) भी सूचित किया जा चुका है (B.P.C., 1934, 924; U.S.D., 1436; Thorpe, IV, 55; Chem. Abstr., 1936, 30, 8652; Mayer & Cook, 257).

नक्र रक्त का उपयोग प्रलाक्षा रंगाई तथा वानिशों में, और जिक लाइन इंग्रेविंग में धातु के उन भागों की रक्षा के लिए जिन्हें अम्ल क्षरण से बचाना होता है, किया जाता है। अब वानिग-व्यापार में संश्लिष्ट रंजकों ने इसका स्थान ले लिया है। यह रेजिन रक्तस्रावरोधी है तथा संग्रहणी, पेचिसा, नेत्रपीड़ा रोगों में तथा दंतमंजन में प्रयुक्त होता है (B.P.C., loc. cit.; Barry, 135).

Palmae; D. jenkinsianus Mart.; D. grandis Kurz; Calamus grandis Kurz (non Griff.); D. propingius Becc.; D. draco Blume

डीयर्स फुट - देखिए कानवालबुलस

डुरंटा लिनियस (वर्बेनेसी) DURANTA Linn.

ले. - डूरानटा

यह उष्णकटिबंधीय अमेरिका की मूलवासी झाड़ियों या वृक्षों का एक लघु वंश है। इसकी एक जाति डु. रेपेन्स भारत में लाई गई है और अब यह शोभाकारी वाड़-पीधे के रूप में अनेक स्थानों पर उगाई जाती है।

Verbenaceae

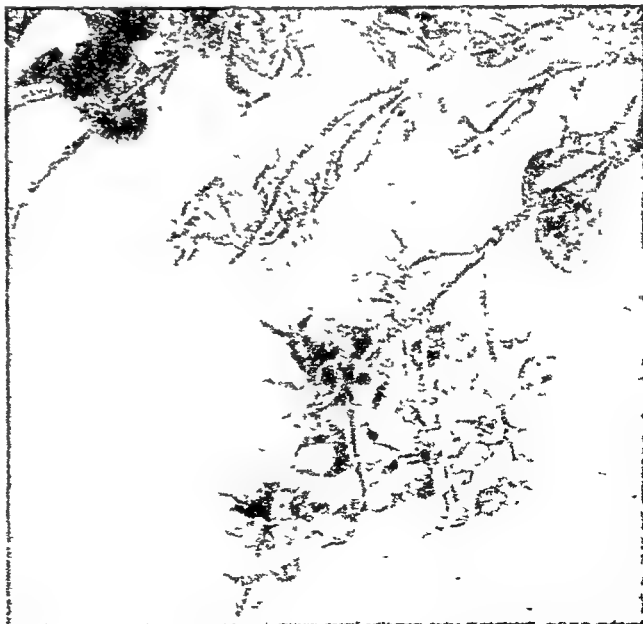
डु. रेपेन्स लिनियस सिन. डु. प्लुमिएरी जैक्विन D. repens Linn. गोल्डेन ड्यूड्राप, क्रीपिंग स्किन फ्लावरर्स, पिजन बेरी

ले. - डु. रेपेन्स

Bailey, 1949, 843.

यह एक सदावहार, परिवर्तनशील झाड़ी या छोटा वृक्ष है जिसकी ऊँचाई 5.4 मी. और शाखाएँ कँटीली होती हैं। ये शाखाएँ चतुष्कोणों में होती हैं। पत्तियाँ अण्डाकार या अण्डाकार-दीर्घवृत्तीय तथा चमकीले हरे या विविध रंगों की; फूल प्रायः पूरे वर्ष आते हैं और गुच्छों या शिथिल असीमाक्षों में काफी संख्या में होते हैं; बेरियाँ सरस चमकीली, नारंगी और गोल (व्यास, लगभग 6.25 मिमी.) होती हैं। इसकी विभिन्न किस्में फूलों के रंग के आधार पर पहचानी जाती हैं। सूचनाओं के अनुसार सफेद फूलों और चितकबरी पत्तियों वाली आकर्षक किस्मों की खेती की जा रही है।

यह पीधा सभी तरह की मिट्टियों पर अच्छी तरह पनपता है और बीजों द्वारा या कलमों से आसानी से प्रवर्धित किया जा सकता है। सामान्यतः इसे वाड़-पीधे के रूप में उगाया जाता है। छँटाई करने पर



चित्र 115 - डुरंटा रेपेन्स - फलित शाखा

इसकी वाड़ इतनी मजबूत और घनी हो जाती है कि उसमें से पशु घुस नहीं सकते. सुन्दर और छिड़ीदार फूलों तथा सुनहरे पीले फलों के कारण वाड़ अत्यन्त आकर्षक लगती है (Firminger, 397; Gopala-swamiengar, 181).

मवेदी इस पीधे को नहीं चरते. पत्तियों में सैपोनिन और फलों में नारकोटीन की तरह का एक ऐल्कलायड पाया जाता है. पिसे फलों से रस प्राप्त होता है जिसका 1 अंश 100 अंश जल में मिलाने पर मच्छर के लारवों के लिए घातक बन जाता है किन्तु यह क्रिया क्यूलिसाइन लारवों पर उतनी प्रबल नहीं होती. इस रस को तालावों और दलदलों में लारवा मारने के लिए इस्तेमाल किया जा सकता है.

इसके बीजों से एक तेल निकलता है जिसके लक्षण निम्नलिखित होते हैं: आ.घ. 30° , 0.9439; $n_D^{30^\circ}$, 1.4736; अम्ल मान, 58.62; साबु. मान, 210.91; आयो. मान, 101.30; और असाबु. पदार्थ, 0.4% (Chem. Abstr., 1936, 30, 7370).

इसकी लकड़ी पूर्णतया पीली या पीताभ भूरी, कठोर और भारी, महीन एक-समान गठन तथा सीधे दानों वाली होती है. इसे आसानी से गढ़ा जा सकता है और यह खराद के काम के लिए अच्छी होती है (Record & Hess, 543).

D. plumieri Jacq.

डेंटेला फास्टर (रूबिएसी) DENTELLA Forst.

ले. — डेन्टेला

Fl. Br. Ind., III, 42.

यह दक्षिण-पूर्व एशिया, ऑस्ट्रेलिया और पोलोनेशिया में पाया जाने वाला एक लघु वंश है. डें. रेपेन्स फास्टर भारत में डेकन प्राय-द्वीप और उत्तर-पूर्वी भागों में पाया जाने वाला एक छोटा भूशायी अपतृण है जिसकी जोड़ों में से शाखें विकसित होती हैं. यह नम स्थानों पर, विशेषतया धान के खेतों में, सामान्य है. मलाया में उसका उपयोग वृणों में पुल्टिस की तरह किया जाता है (Burkill, I, 783).
Rubiaceae; *D. repens* Forst.

डेंड्रोफ्यो मार्शियस (लोरैन्थेसी) DENDROPHTHOE Mart.

ले. — डेनड्रोफये

यह सदाहरित, झड़ीले और आंशिक परजीवियों का वंश है जिन्हें अभी तक लोरैन्थस के अन्तर्गत सम्मिलित किया जाता था. यह पुरानी दुनिया के उष्ण एवं उपोष्ण कटिबंधीय प्रदेशों में पाया जाता है. इसकी लगभग सात जातियाँ भारतवर्ष में पाई जाती हैं.

Loranthaceae; *Loranthus*

डें. फैलफेटा (लिनिअस पुत्र) एट्टिङ्गशौसेन, सिन. लोरैन्थस फैलफेटस लिनिअस पुत्र; लो. लांगीपलोरस डेसरोसो *D. falcata* (Linn. f.) Ettingshausen

ले. — डे. फालकाटा

D.E.P., V, 92; Fl. Br. Ind., V, 214.

सं. — वन्दा, वृक्षभक्ष, वृक्षरुह; हि. — वांदा; वं. — वारामन्दा; म. — वान्दा; गु. — वान्दो; ते. — वदनिका, जिद्धु; त. — प्लावितिल, पुल्लुरी; फ. — वदनिके; मल. — ईतिल; उ. — त्रिघांगो.

पंजाब — आमुत, वान्दा; नेपाल — अजेरु; मध्य प्रदेश — वांदा.

यह एक विशाल झाड़ी-जैसा परजीवी है जिसकी छाल चिकनी भूरी; पत्तियाँ मोटी, अभिमुख; फूल नारंगी लाल या सिन्दूरी और बैरियाँ अण्डाभ-दीर्घवत् होती हैं. यह लगभग समूचे भारतवर्ष में अनेक वनों एवं फलों पर पाया जाता है. यह आर्थिक महत्व के वृक्षों को अत्यधिक क्षति पहुँचाता है और उन्हें नष्ट भी कर देता है. इसके बीज अधिकतर चिड़ियों द्वारा प्रकीर्णित होते हैं. वनपाल इसे नाशक मानते हैं. क्षतिग्रस्त शाखाओं को काटकर इसके फैलाव को रोका जा सकता है. यदि पोपी वृक्ष पर्णपाती है तो इस सदावहार परजीवी को वृक्ष की पत्तियाँ गिरने पर आसानी से ढूँढा जा सकता है (Troup, III, 799).

इसकी कोमल शाखों में 10% टैनिन होता है. ये चमड़े को मुलायम बनाने के लिए टेन-पदार्थ की भाँति प्रयुक्त होती हैं (Badhwar et al., *Indian For. Leaflet*, No. 72, 1949, 13).

इसकी छाल कपाय और स्वापक है तथा वृणों और आर्तव कण्ठों में उपयोगी है. इसका उपयोग क्षय, दमा और उन्माद में औषध की तरह किया जाता है. सुपारी के स्थान पर भी इसका उपयोग बताया जाता है (Kirt. & Basu, III, 2180; Chopra, 504).

डें. एलास्टिका (डेसरोसो) डैन्सर सिन. लोरैन्थस एलास्टिकस डेसरोसो (त. — अन्दागन, सिगरी; मल. — माव्युईतिल) एक बहु-शाखित अरोमिल परजीवी है जिसकी पत्तियाँ घनी चमिल होती हैं और यह डेकन प्रायद्वीप में पाया जाता है. इसकी पत्तियों का उपयोग गर्भपात रोकने एवं मूत्राशय तथा गुर्दे की पथरी को दूर करने के लिए बताया जाता है. डें. पेण्डाण्डा (लिनिअस) मिक्वेल सिन. लोरैन्थस पेण्डाण्डस लिनिअस सिलहट में वृक्षों पर पाया जाने वाला एक झाड़ीनुमा परजीवी है. इसकी पत्तियाँ वृण एवं फोड़ों में पुल्टिस की भाँति प्रयुक्त होती हैं. इसकी टहनियों में क्वेसिटिन तथा एक मोम-जैसा पदार्थ पाया जाता है जिसके सावनीकरण से मेलिसिल ऐल्कोहल मिलता है. टहनियों की राख (8.95%) में 0.26% मैंगनीज पाया जाता है (Kirt. & Basu, loc. cit.; Chopra, loc. cit.; Burkill, II, 1367; Wehmer, I, 262).

Loranthus falcatus Linn. f.; *L. longiflorus* Desr.; *D. elastica* (Desr.) Danser; *Loranthus elasticus* Desr.; *D. pentandra* (Linn.); *Loranthus pentandrus* Linn.

डेकालेपिस वाइट और आनंट (ऐस्क्लेपिएडेसी)

DECALEPIS Wight & Arn.

ले. — डेकालेपिस

Fl. Br. Ind., IV, 11.

यह एकल प्ररुसी वंश है जो दक्षिण पठार और पश्चिमी घाट के जंगली इलाकों में पाया जाता है.

डे. हैमिल्टोनाइ वाइट और आनंट (त. — महालिकिलंगु; फ. — मागड़ी बेरु) आरोही झाड़ी है जिसका तना जोड़दार गँठिला और पत्तियाँ मंडलाकार या दीर्घवृत्तीय अधोमुख अण्डाकार होती हैं. गूदेदार और वेलनाकार (1-6 सेंमी. व्यास) जड़ में तीव्र सौरभिक गन्ध होती है. इसमें मोठे सासपरिला-जैसा स्वाद होता है और इसे जीभ पर रखते ही चुनचुनाहट पैदा होती है. यह भूख बढ़ाने वाला तथा रुधिर-शोधक माना जाता है. नीबू आदि के साथ शकेले ही इसका अचार भी डाला जाता है (Jacob, *Madras agric. J.*, 1937, 25, 176).



चित्र 116 - डेकालेपिस हेमिल्टोनाइ

जड़ में 92% गूदा और 8% काठ-जैसा आन्तरिक भाग होता है। जड़ की गन्ध और स्वाद एक वाष्पशील मूलतत्व 4-O-मेथिलरिसासिल-ऐलिडहाइड (ग. वि., 42°) के कारण है जो हवा में सुखाये पदार्थ में 0.8% है। इसे भाप-आसवन से पृथक्कृत किया जा सकता है। चूर्णित जड़ को ऐल्कोहल के साथ निष्कर्षित करने से और विलायक को आसुत कर देने के बाद अवशेष का भाप-आसवन करने पर अधिक उपलब्धि होती है। जड़ों को काफी समय तक संग्रहीत किया जा सकता है और ये सूक्ष्मजीवों और कीड़ों से अभ्रभावित रहती हैं जिसका कारण इनमें प्राप्य एक वाष्पशील मूलतत्व है जिसमें जीवाणुस्तंभक (बै. कोलाइ की वृद्धि 0.041% सान्द्रता के ऐलिडहाइड द्वारा रोकी जा सकती है) और विपैले (0.02% विलयन में मछलियाँ 4 मिनट के अन्दर मर जाती हैं) गुण होते हैं। 4-O-मेथिलरिसासिलऐलिडहाइड का उपयोग सम्भवतः डिब्बाबंद और संग्रहीत आहारों के परिरक्षक के रूप में हो सकता है। जड़ों में ऐलिडहाइड के अतिरिक्त इनासिटाल (0.40%), सैपोनिन, टैनिन, एक क्रिस्टलीय रेजिन अम्ल (ग. वि., 245°), एक अक्रिस्टलीय अम्ल (ग. वि., 180°), एक कीटोनी पदार्थ (ग. वि., 83-84°) और एक पदार्थ जिसमें स्टेरॉल और रेजिनॉल दोनों के ही आंशिक गुण रहते हैं, पाये जाते हैं। स्टेरॉल में प्रधानतया स्टिग्मा और ब्रेसिका स्टेरॉल होते हैं, α - और β -एमाइरिनॉल और ल्यूपिआल, मुक्त और एस्टर दोनों ही रूपों में उपस्थित रहते हैं (Murti & Sheshadri, Proc. Indian Acad. Sci., 1941, 13A, 221; 1941, 14A, 93; 1942, 16A, 135; Murti, ibid., 1941, 13A, 263).

Asclepiadaceae; *D. hamiltonii* Wight & Arn.

डेकास्पर्मम फास्टर (मिरटेसी) DECASPERMUM Forst.

ले. - डेकास्पेरमूम

Fl. Br. Ind., II, 469.

यह दक्षिण-पूर्वी एशिया से ऑस्ट्रेलिया और प्रशांत महासागर के द्वीपों तक पाये जाने वाले वृक्षों या झाड़ियों का वंश है। डे. फ्रूटिकोसम फास्टर सिन. डे. पैनिकुलेटम कुर्ज (असम - दिएनगौरो-ला-पिनो, दिएंग-ला-फीनिया) पूर्वी बंगाल, सिक्किम और खासी पहाड़ियों में पाई जाने वाली झाड़ी या कृश वृक्षों की एकमात्र भारतीय जाति है। इसके बेर काले, कुछ-कुछ मीठे और खाद्य तथा पेट के दर्द में लाभ-प्रद होते हैं। पत्तियाँ और सिरों के किसलय कसैले होते हैं। पत्तियों को पान के साथ चवाने पर पेचिश में लाभ होता है और सिरों के किसलय स्वाद के लिए खाये जाते हैं। लकड़ी का गठन बढ़िया होता है परन्तु यह सूखने पर फटती और ऐंठती है। लकड़ी का उपयोग उपकरणों की मूठ, चावल कूटने के यंत्रों और ईंधन के रूप में होता है (Burkill, I, 773; Brown, III, 216).

Myrtaceae; *D. fruticosum* Forst. syn. *D. paniculatum* Kurz

डेट प्लम - देखिए क्रिसोफिलम

डेण्ड्रोकेलामस नीस (प्रेमिनी) DENDROCALAMUS Nees

ले. - डेण्ड्रोकालामूस

Wlth India, I, 145.

यह मध्यम से लेकर बड़े वृक्षवत् तक आकार के बाँसों का वंश है जो इण्डो-मलाया क्षेत्र, चीन, फिलिपीन्स तथा अफ्रीका में पाया जाता है। इसकी लगभग नौ जातियाँ भारतवर्ष के अधिकतर सूखे भागों के पर्णपाती वनों में पाई जाती हैं। इनमें से कुछ लुगदी और कागज के लिए कच्चे माल के रूप में उपयोगी हैं।

Gramineae

डे. लांगिस्पैथस कुर्ज *D. longispathus* Kurz

ले. - डे. लॉगिस्पाथूस

D.E.P., III, 72; C.P., 102; Fl. Br. Ind., VII, 407.

बं. - खांग.

व्यापार - थोराह.

यह एक विशाल, सुन्दर एवं गुच्छेदार बाँस है जो बंगाल एवं असम के कुछ भागों में प्रायः जल धाराओं के किनारों पर पाया जाता है। यह खड्डों में 1,200 मी. की ऊँचाई तक और अनुपजाऊ पथरीली भूमि में उगता है। कलमें 12-18 मी. तक ऊँची और 7.5-10.0 सेंमी. व्यास की होती हैं जो स्थायी पतले और क्षोभक काले वालों वाले आवरण से ढकी होती हैं। इसका प्रवर्धन कलमों को मिट्टी में गाड़कर किया जा सकता है, ऐसा करने पर प्रत्येक गाँठ से नई शाखें फूट आती हैं (Prasad, Indian For., 1948, 74, 124).

कलमों का निकटतम रासायनिक विश्लेषण (ऊष्मक शुष्क आधार पर) इस प्रकार है : राख, 2.45; सिलिका, 2.03; गर्म जल में विलय पदार्थ, 5.07; पेण्टोसिन, 19.47; लिग्निन, 24.54; और सेलुलोज, 62.96%। इससे 62.0% क्राफ्ट और क्रमशः 45.3 तथा



चित्र 117 - डेण्ड्रोकेलामस लांगिस्पेस

41.3% अविरजित एवं विरजित लुगदी प्राप्त हुई. रेशों की औसत लम्बाई 3.5 मिमी. (न्यूनतम, 1.0 मिमी.; और अधिकतम, 5.5 मिमी.) थी. इस बांस का उपयोग ट्राफ्ट कागज उद्योग में किया जाता है (Bhargava, loc. cit.; Bhargava & Chattar Singh, *Indian For. Bull.*, N.S., No. 112, 1949, 8).

डे. स्ट्रिक्टस नीस *D. strictus* Nees नरबांस, ठोस बांस

ले. - डे. स्ट्रिक्टस

D.E.P., II, 72; C.P., 102; Fl. Br. Ind., VII, 404.

सं. - वंग; हि. - बांस का वन, बांस खुर्द, नर बांस; वं. - करैल; म. - भरियेल; गु. - नकोर वंश; ते. - सदनपा वेदुर; त. - कल-मुगिल; क. - कोरि विदीर, गंडुविदीर; मल. - कलमुगिल; उ. - नलिया भांगो, सालिम्बो भांसो.

व्यापार - मानवाल.

यह अत्यधिक गुच्छेदार बांस है जिसकी कलमें सुदृढ़, लचीली, मोटी नसह वाली या ठोस होती हैं. उनका आकार प्राप्ति स्थान के साथ परिवर्तित होता रहता है. यह भारतवर्ष में प्रायः सभी भागों में 1,050 मी. की ऊँचाई तक पर्णपाती वनों और शुष्क अथवा सामान्य शुष्क भागों में नर्वन पाया जाता है. नमी-नमी इसके वृष के वृक्षरूपि भागों में पाये जाते हैं, परन्तु अधिकतर यह पर्णपाती वृक्षों के नीचे अथवा उनके साथ उगता है. कलमें प्रायः 6-15 मी. तक ऊँची एवं 2.5-7.5 सेंमी. मोटी होती हैं. ये नाँटों पर उमरी हुई

होती हैं. खुली परिस्थितियों में इनके जड़ों के पास से ही पत्तेदार शाखें प्रायः हटकर निकलती हैं. ऊपरी शाखें मुड़ी और झुकी हुई होती हैं. इसके पोर 30-45 सेंमी. लम्बे एवं कलमों के आवरण परिवर्तनशील होते हैं. पुष्प अनियमित, कहीं-कहीं और कभी-कभी बड़े क्षेत्रों में झुंडों में होता है. इनके बीज रूप में भूसीयुक्त गेहूँ की भाँति किन्तु आकार में उसके आवे होते हैं. 2,850-5,570 बीजों का भार लगभग 100 ग्रा. होता है. इनकी अंकुरण क्षमता 25-80% है.

नरबांस सभी भारतीय बाँसों में सबसे ज्यादा सहिष्णु है और सभी प्रकार की मिट्टियों में, जहाँ पानी रुकता न हो, उगता है. यह ग्रेनाइट की चट्टानों पर सरुध, वजरीदार एवं बलुई दुमट में सबसे अच्छा पनपता है. शुष्क भागों में और अनुपजाऊ भूमि में इसकी कलमें छोटी किन्तु ठोस या प्रायः ठोस होती हैं; जबकि नम और उपजाऊ क्षेत्रों में ये बड़े आकार की किन्तु खोखली होती हैं. बांस की यह जाति अन्धों की अपेक्षा सूखा तथा हिमपात अधिक सहन कर सकती है.

इसमें नवम्बर से फरवरी तक फूल आते हैं और अप्रैल से जून तक बीज गिर जाते हैं. प्राकृतिक अवस्थाओं में वे वर्षा प्रारम्भ होते ही अंकुरित होते हैं. पौधें खुली, विशेषतया नई तोड़ी जमीनों पर बड़ी मात्रा में पनपती हैं. धूप से सीमित वचाव होने पर सामान्यतया इन्हें लाभ होता है किन्तु घनी छाया और बहुत ज्यादा खरपतवार इनकी वाढ के लिए हानिकर होते हैं. बड़े पेड़ों में नई कलमें प्रायः वर्षा ऋतु में निकलती हैं एवं अच्छी वर्षा होते रहने पर सामान्यतया बड़े पुंज से लगभग 20 कलमें निकल सकती हैं.

नरबांस का प्रवर्धन बीजों, कलमों, तनों या प्रकन्दों की कलमें लगाकर या दाब-कलमों से किया जा सकता है. बुवाई पंक्तियों में या छोटे-छोटे खण्डों में की जा सकती है. ऐसे खण्डों में बोने के लिए प्रति हेक्टर एक किग्रा. बीज की आवश्यकता होती है. सीधे बोने की तुलना में पीघें लगाना अच्छा होता है. बीज क्यारियों में 22.5 सेंमी. की दूरी पर बने छेदों में बोये जाते हैं. 10.5×1.5 मी. आकार की क्यारी के लिए 0.22-0.45 किग्रा. बीजों की आवश्यकता होती है जिससे लगभग 4,000 पीघें प्राप्त होती हैं. जब पौधें 15-45 सेंमी. की हो जाती हैं तो पहली वर्षा में उनका रोपण कर दिया जाता है. जड़ों को कुम्हलाने से बचाने के लिए मिट्टी से ढककर रखा जाता है. पीघों का रोपण 22.5-30 सेंमी. गहरे एवं 15-22.5 सेंमी. व्यास के गड्ढों में किया जाता है जो एक दूसरे से 3-4.5 मी. की दूरी पर होते हैं. प्रकन्द से तैयार पीघें अधिक तेजी से बढ़ती हैं और 6 वर्षों में उपयोगी लम्बाई की कलमें तैयार हो जाती हैं जबकि प्राकृतिक अवस्था में इस क्रिया में इसका दुगुना समय लगता है [Troup, III, 1006; Decogun, *Indian For. Rec.*, N.S., Silv., 1940, 2(4), 75; Prasad, *Indian For.*, 1948, 74, 122].

बढ़ती हुई कलमों पर एस्टिमेना चाइनेन्सिस होप, सीटॉट्टेकेलस लांगीमेनस (=सी. लांगीपेज) और कुछ अन्य नाशक-कीटों के आक्रमण का उल्लेख मिलता है. प्रभावित कलमों को काटकर जला दिया जाता है एवं प्रस्त क्षेत्र में जलती हुई आग फिरा दी जाती है. दस्तुरेला बेंबु-सिना मुन्दकुर और गेशवाला से उत्पन्न एक किट्ट बाँस को हानि पहुँचाता है. चूहे, गिलहरी एवं सेही पीघों को हानि पहुँचाते हैं और गरगोग, हिरन, बकरियाँ तथा जानवर नये प्ररोहों को चर नेंते हैं. ताजे बांस को 16% डिक क्लोराइड विलयन से 5 या 6 दिन तक उपचारित करने से दीमकों, बेषकों एवं फफूँदों से इसकी पर्याप्त रक्षा होती है. काटकर एकत्र किये गये बाँसों को भी 2 या 3 दिन तक किसी लम्बे



डेण्ड्रोकेलामस हैमिल्टोनाइ (कागजी बांस)

जलाशय में डुबोकर रखने के पश्चात् जिंक क्लोराइड से उपचारित किया जा सकता है (Deogun, loc. cit.; *Indian J. agric. Sci.*, 1950, 20, 107; Narayanamurti et al., *Indian For. Bull.*, N.S., No. 137, 1947).

इसकी कटाई 2 से 4 वर्ष के अन्तर पर की जाती है किन्तु तीन वर्ष का अन्तर सर्वोत्तम है. एक पुंज में से उस वर्ष की प्रसूतित सभी कलमों एवं लगभग 8 वयस्क कलमों को छोड़कर शेष कलमों को आधार से 30-60 सेंमी. के ऊपर काट दिया जाता है. कटाई का सर्वोत्तम समय पूरा पतझड़ काल है. जाड़े में काटा गया बांस गर्मी में काटे गये बांस से कहीं अधिक कठोर और सुदृढ़ होता है. किसी भी ऋतु में पका बांस कच्चे की अपेक्षा 40-50% अधिक सुदृढ़ होता है.

तुरन्त काटी हुई कलमों का रंग नीला-हरा रहता है जो सूखने पर पीताभ हरे में बदल जाता है. इन्हें हवा में या भट्टी में बिना अधिक हानि पहुँचाये हुये पकाया जा सकता है. कच्चे बांस गाँठों पर अत्यधिक सिकुड़ कर कुरूप हो जाते हैं. डे. स्ट्रिक्टस अपनी सीधी एवं पतली कलमों के कारण महत्वपूर्ण समझे जाते हैं, जो सामान्य कार्यों के लिए काफी मजबूत होती हैं [Rehman & Ishaq, *Indian For. Rec.*, N.S., *Util.*, 1947, 4(2), 12].

उवालने एवं विरंजन की अनुकूलतम अवस्थाओं के अन्तर्गत प्राप्त लुगदी (उपलब्धि, 35%) में राख, 0.16%; α -सेलुलोज, 85.1%; क्यूप्रामोनियम तरलता (विलोम प्वायजों में), 15.12; क्षार विलेयता, 14.15%; एवं ताम्र संख्या, 2.0 पाई गई (Karnik & Sen, *J. sci. industr. Res.*, 1948, 7A, 351).

भारतवर्ष में नरबांस का अत्यधिक उपयोग व्यापारिक कागज बनाने के लिए कच्चे माल के रूप में होता है. इसे आसानी से उगाया जा सकता है और यह तेजी से बढ़ता है. 1950 में बंगाल, विहार, उड़ीसा, आन्ध्र, तमिलनाडु और मैसूर में कागज के व्यवसाय में 2,25,000 टन बांस काम में लाया गया जिसमें से अधिकांश डे. स्ट्रिक्टस था. सूखे तथा पुष्पित बांस, यदि कीटग्रस्त न हों तो, कागज उद्योग के लिए पूर्ण सन्तोषजनक होते हैं. कुटीर-उद्योग में इस बांस से सुदृढ़ भूरा कागज बनाते हैं जिसमें पीटकर सुनार सोने की पत्ती बनाते हैं. इसकी लुगदी रेयन उद्योग में भी उपयोगी है (Bhat, loc. cit.; Chaturvedi, *Tour notes on the forests of Orissa*, 1950, 8; Rodger, 83; Thoria, *Indian Pulp & Paper*, 1951, 6, 17).

कभी-कभी डे. स्ट्रिक्टस का उपयोग गणित के साधारण उपकरण बनाने एवं मध्यम इस्पात की छड़ों के स्थान पर कंक्रीट में क्रोड के रूप में भी होता है. इसका उपयोग सक्रिय कार्बन बनाने के लिए भी किया जाता है (Kadambi, *Indian For.*, 1949, 75, 289; Mukherjee & Bhattacharyya, *J. sci. industr. Res.*, 1947, 6B, 8).

Estigmena chinensis Hope; *Cyrtotrachelus longimanus* F.; *C. longipes* F.; *Dasturella bambusina* Mundkur & Kheshwalla

डे. हैमिल्टोनाइ नीस और आर्नट *D. hamiltonii* Nees & Arn.

ले. - डे. हैमिल्टोनाइ

D.E.P., III, 71; C.P., 101; Fl. Br. Ind., VII, 405.

हिं. - कागजी बांस; बं. - पेचा.

असम - कोकुआ; भूटान - पाशिंग; लेपचा - पाओ; नेपाल - तामा.

यह एक लम्बा गुच्छेदार बांस है जिसमें सीधी अथवा टेढ़ी कलमें तथा लम्बी शाखें होती हैं जिससे कुल मिलाकर अभेद्य रचना बन जाती है. इसकी कलमें घूसर, 24 मी. तक लम्बी, 10-17.5 सेंमी. व्यास की तथा पतली दीवाल वाली होती हैं (दीवारों की मोटाई, 2.0 सेंमी. से कम). यह हिमालय के निचले भागों में सतलज से असम तक 900 मी. की ऊँचाई तक पाया जाता है. इसे प्रायः देहरादून और उसके आसपास की घाटियों में उगाया जाता है. चाय के बागानों में तेज हवा से बचाव के लिए भी इसे उगाते हैं.

ऋतुकृत करने पर डे. हैमिल्टोनाइ में बहुत कम दरारें और सिकुड़ने पड़ती हैं. अन्य बांसों की भाँति इसका अनेक प्रकार से स्थानीय उपयोग किया जाता है. लम्बे पोरों और पोरों के मोटे खोलों के कारण यह जलवाहक नली के रूप में अत्यन्त उपयुक्त है. ब्रह्मा में कलमों के आवरण की आन्तरिक सतहें सिगरेट लपेटने के काम आती हैं. ताजे कल्ले तरकारी बनाने के काम आते हैं. इसका अधिक उपयोग कागज उद्योग में होता है.

डे. हैमिल्टोनाइ का निकटतम रासायनिक विश्लेषण, ऊष्मक शुष्क आधार पर, इस प्रकार है: राख, 1.80; सिलिका, 0.44; गर्म जल में विलेय अंश, 4.42; पेंटोस, 21.49; लिग्निन, 26.21; और सेलुलोज, 63.26%. वायु-शुष्क पदार्थ से क्रमशः 46.4 और 42.5% अविरंजित तथा विरंजित लुगदी प्राप्त हुई है. रेशों की न्यूनतम लम्बाई, 1.5 मिमी.; अधिकतम लम्बाई, 6.75 मिमी.; और औसत लम्बाई, 3.36 मिमी. थी (Bhargava, *Indian For. Bull.*, N.S., No. 129, 1946, 20, 24; Bhat, *Indian Pulp & Paper*, 1951, 6, 30).

इस वंश की अन्य जंगली या उगायी जाने वाली जातियाँ निम्न हैं: डे. सिक्किमेन्सिस गेम्बल (नेपाल - तिरिया, बोला; लेपचा - पश्रि-यांग), डे. हुकराई मुनरो (नेपाल - तीली; असम - उस्ते, अस्से डेंगा), डे. पाटेलैरिस गेम्बल (लेपचा - पागजिओक), डे. मेम्ब्रने-सियस मुनरो, डे. जाइगेंडियस मुनरो और डे. ब्रैंडिसाई कुर्ज हैं. अन्तिम 2 जातियाँ सबसे लम्बे बांस की किस्में हैं.

D. sikkimensis Gamble; *D. hookeri* Munro; *D. patellaris* Gamble; *D. membranaceus* Munro; *D. giganteus* Munro; *D. brandisii* Kurz

डेण्ड्रोबियम स्वार्ट्ज (आकिडेसी) DENDROBIUM Sw.

ले. - डेनड्रोबिऊम

Fl. Br. Ind., V, 710.

यह एपीफाइटिक आकिडों का विशाल वंश है जो उष्णकटिबंधीय एशिया, जापान, ऑस्ट्रेलिया एवं पोलिनेशिया में पाया जाता है. इसकी अनेक जातियाँ सजावट के लिए उगाई जाती हैं. कुछ का औषधीय उपयोग भी बताया जाता है.

डे. क्रुमेनेटम स्वार्ट्ज अंडमान द्वीपसमूहों में पाया जाता है. इसका तना 60 सेंमी. या इससे भी अधिक लम्बा होता है जिसका नीचे का 20 सेंमी. गोल कन्दाकार और खाँड़दार होता है. इसमें चुगन्वित सफ़ेद फूल खिलते हैं जिनमें पीले निशान रहते हैं. डण्डलों को पुराना

और कुछ पीला पड़ने पर काटकर बाँधने के लिए प्रयुक्त किया जाता है। इसके बल्कुट से रेशे निकाल कर उन्हें बटकर टोप बनाये जाते हैं। पिसी हुई पत्तियाँ मलाया में फोड़ों एवं मुँहासों पर लेप करने के काम आती हैं। कूट बल्बों एवं पत्तियों में ऐल्कलायडों की लेश मात्रा पाई जाती है (Brown, I, 365; Burkill, I, 780).

ड. ओवेन्टम (विल्डेनो) क्रान्जलिन सिन. ड. क्लोराप्स लिण्डले (म. — नागली; मल. — मारावा) पश्चिमी घाट और तमिलनाडु के पश्चिमी किनारों पर पाया जाता है। ताजे वृक्ष के रस को उदर पीड़ा में पिलाया जाता है; यह पित्त को उत्तेजित करता है और मृदु-विरेचक है (Caius, J. Bombay nat. Hist. Soc., 1936, 34, 794).

Orchidaceae; *D. crumenatum* Sw.; *D. ovatum* (Willd.) Kranzl. syn. *D. chlorops* Lindl.

डेनवर्ट — देखिए सेम्ब्युकस

डेब्रेगेसिया गॉडिक (उर्टकेसी) DEBREGEASIA Gaudich
ले. — डेब्रेगेसिया

यह अफ्रीका और एशिया में पाई जाने वाली झाड़ियों और छोटे वृक्षों का एक वंश है। भारत में इसकी पाँच जातियों के मिलने की सूचना है। इनसे रेशा प्राप्त होता है।

Urticaceae

डे. लांगिफोलिया वड्डेल सिन. ड. वेलुटिना गॉडिक
D. longifolia Wedd. वाइल्ड रिया

ले. — डे. लांगिफोलिया
D.E.P., III, 54; C.P., 160; Fl. Br. Ind., V, 590; Talbot, II, 535.

ते. — किरंगि; त. — काटुनोच्चि; क. — काप्सि, कुरिगेल.

उत्तर प्रदेश — संसार; नेपाल — तशियारी.

यह 7.5 मी. ऊँचा और 0.75 मी. घेरे का शोभाकारी वृक्ष या झाड़ी है। यह पूर्वी और मध्य हिमालय, पश्चिमी घाट और नीलगिरि पर 2,100 मी. की ऊँचाई तक पाई जाती है। इसकी पत्तियाँ कोमल होती हैं। इसमें नारंगी-पीत रंग के फल लगते हैं जो खाद्य हैं (Bailey, 1947, I, 973).

यह पीसा रस्सियों और जहाजी रस्सों के काम आने वाले रेशों का स्रोत है। इसकी लकड़ी लालाभ भूरी, रुक्ष, कठोर और हल्की होती है (भार, 544 किया./घमी.). लकड़ी का उपयोग कोयला बनाने में होता है (Bourdillon, 332).

D. velutina Gaudich.

डे. हाइपोलेयूका वेड्डेल *D. hypoleuca* Wedd.

ले. — डे. हिपोलेयूका
D.E.P., III, 52; C.P., 160; Fl. Br. Ind., V, 591.

पंजाब — संसार, पिचो; उत्तर प्रदेश — संसार, सिवार, तुमरी, तुनियारी.

यह 4.5 मी. तक ऊँची बड़ी झाड़ी या छोटा वृक्ष है जो पश्चिमी हिमालय में 900–1,500 मी. की ऊँचाई तक, कश्मीर से कुमायूँ तक की तंग घाटियों और छायादार जंगलों में पाया जाता है।

पौधे की छाल से सामान्य रस्सों, जहाजी रस्सों और मछली मारने की रस्सी के लिए उपयुक्त रेशा प्राप्त होता है। पेंसिल के बराबर मोटे कटे हुए तनों को घूँस में सुखाकर, पानी और लकड़ी की राख के साथ उवालकर उनसे रेशा अलग कर लिया जाता है। दूसरी विधि में कटे हुए तनों को पानी में कुछ दिनों तक सन की भाँति भिगोकर रखते हैं और फिर रेशा निकाल लेते हैं।

फल खाद्य हैं और सुवासक के रूप में भी काम आते हैं। पत्तियाँ भेड़ों के खाने के काम आती हैं (Burkill, I, 773).

डे. बालिशियाना वेड्डेल (नेपाल — पुरुनी; सिक्किम — बोपकुंग; असम — दिएनग्ला-रामफांग) पूर्वी हिमालय और खासी पहाड़ियों में पाया जाने वाला छोटा शोभाकारी वृक्ष है। इससे इस वंश के अन्य पौधों से प्राप्य रेशों-जैसे ही रेशे प्राप्त होते हैं। डे. सीलैनिआ हुकर पुत्र जो अग्रामलाई और त्रावनकोर पहाड़ियों पर विरल रूप से बिखरा हुआ पाया जाता है, रेशम-सा किन्तु कड़ा रेशा प्रदान करता है जिसे तंतुओं के वृत्तों से सरलता से अलग किया जा सकता है (Lewis, 353).

D. wallichiana Wedd.; *D. ceylanica* Hook. f.

डेरिस लॉरीरो (लेग्यूमिनोसी)
DERRIS Lour.

ले. — डेरिस

यह काष्ठमय आरोहियों, झाड़ियों या विरले ही वृक्षों का वंश है जो उष्णकटिबंध में, मुख्यतः दक्षिण-पूर्व एशिया में पाया जाता है। लगभग 26 जातियाँ भारतवर्ष में मिलती हैं। डे. इलिप्टिका और डे. मलाबकेन्सिस की जड़ें ही 'डेरिस' या 'द्यूवा जड़' हैं जिनका व्यापारिक उपयोग खेती एवं वागवानी में जीवाणुनाशी एवं मत्स्य-विष की भाँति किया जाता है। ये दो जातियाँ मलाया, सुमात्रा, जावा, सरावाक, फिलिपीन्स, टैगानिका, वेल्जियम-कांगों में बड़े पैमाने पर और भारतवर्ष में प्रायोगिक स्तर पर उगाई जाती हैं। डे. फेजिनिया भारत के जंगलों में उगती है एवं भारतीय द्यूवा जड़ों का स्रोत है।

Leguminosae

डे. इलिप्टिका वेंथम *D. elliptica* Benth.

ले. — डे. एलिप्टिका
D.E.P., III, 80; Fl. Br. Ind., II, 243.

क. — मीनुमारि.

यह श्वेत, गुलाबी या लाल रंग के पुष्पों से आच्छादित, एक घनी रोमिल शाखों वाली चिपचाल झड़ीली चल्नरी है जो चटगाँव से ब्रह्म और इण्डो-चीन तक एवं मलेगिया से न्यूगिनी तक पाई जाती है। यह जाति डेरिस का मुख्य स्रोत है। प्रायोगिक स्तर पर इसकी खेती असम, कोचीन, त्रावनकोर, मैसूर, तमिलनाडु (कोयम्बटूर एवं नलेम) तथा पंजाब (गुरदासपुर) में प्रारम्भ की गई है।



चित्र 118 - डेरिस इलिप्टिका

डे. इलिप्टिका उन भागों में सबसे अच्छी तरह उगती है जहाँ वार्षिक वर्षा 225-325 सेंमी. और औसत ताप 29.4° रहता है. भारतवर्ष में यह 1,200 मी. की ऊँचाई तक उगायी जा सकती है (*Indian Fmg.*, 1944, 5, 342).

इस पौधे का प्रवर्धन कलमों से किया जाता है. प्लेटोरिको में किये गये विस्तृत परीक्षणों से पता चलता है कि 1.95 सेंमी. या इससे ज्यादा मोटे डंठलों से काटी गई कलमें पतली कलमों की अपेक्षा जल्दी जड़ पकड़ती है. छोटे डंठलों की अपेक्षा बड़े डंठलों में स्टार्च की मात्रा अधिक होती है और जड़ों की वृद्धि में वे ज्यादा सहायक होते हैं. कलमें 20-30 सेंमी. लम्बी होनी चाहिये और उनमें कम से कम दो अंशुए या गाँठें होनी चाहिये. यदि डंठलों का व्यास 1 सेंमी. या कम हो तो अपेक्षाकृत लम्बी कलमें काटना चाहिये. कलम का निचला कटान गाँठ से कम से कम 3 सेंमी. नीचे और ऊपरी कटान कलिका से कम से कम 1 सेंमी. ऊपर होना चाहिये जिससे कलिका सूखे नहीं. यदि कलमों को दूर ले जाकर लगाना हो तो उनके किनारों को लगभग 2.5 सेंमी. तक पिघले हुई भोम में डुबो लेना चाहिये और कलमों को रोपने के पहले भोम में डूबे हुये किनारों को काटकर अलग कर देना चाहिये (*White, Agric. Americas*, 1945, 5, 154).

मल-अभिप्रेरक-वृद्धिकारकों से उपचारित एक गाँठ वाली कलमें भी प्रवर्धन के लिए प्रयुक्त हुई हैं. ऐसी कलमों के प्रयोग से कम सामग्री से भी अधिक संख्या में पौधे उगाये जा सकते हैं. α -नैफथलीन ऐसीटिक अम्ल (0.2%) के प्रयोग से इण्डोल ऐसीटिक अम्ल (1.0%) की अपेक्षा अधिक अच्छे परिणाम प्राप्त होते हैं. इसका उपयोग

चूर्ण के रूप में कार्बन के साथ सर्वोत्तम है. कार्बन वाहक का कार्य करता है (*Hort. Abstr.*, 1950, 20, 106).

डे. इलिप्टिका मोटी वलुही मिट्टी से लेकर भारी मिट्टी वाली अनेक प्रकार की भूमियों पर उगाया जा सकता है, परन्तु इसके लिए उपजाऊ भुरभुरी दुमट सर्वोत्तम होती है. दलदली एवं पथरीली भूमि अनुपयुक्त होती है. वलुई भूमि में लगाई गई कलमों से गंठिली जड़ें निकलती है.

कलमें पहले क्यारियों में लगाई जाती है और बाद में खेतों में प्रतिरोपित की जाती है. क्यारियों को कुदाल से गहराई में खोद दिया जाता है और पंक्तियों में 5-5 सेंमी. की दूरी पर 8-10 कलमें लगा दी जाती हैं; पंक्तियों के बीच की दूरी 15 सेंमी. रखी जाती है. कलमों को मिट्टी में इस प्रकार तिरछा गाड़ा जाता है कि उनका आधार सिरा नीचे की ओर एवं ऊपरी अंशुआ भूमि से कम से कम 2.5 सेंमी. ऊपर रहे. सूखे मौसम में लगाने पर कलमों के ऊपर छाया तथा सिंचाई की आवश्यकता होती है परन्तु यदि वे वर्षा के मौसम में लगाई जाती हैं तो इन दोनों की आवश्यकता नहीं पड़ती. क्यारियों में कुछ सप्ताह तक खरपतवार नहीं उगने देना चाहिये.

जब जड़े पूरी तरह विकसित हो जाती है (लगभग 1 सेंमी. व्यास वाली कलमों के लिए 6 सप्ताह) तो कलमें प्रतिरोपण के लिये तैयार हो जाती है. क्यारियों में अधिक समय तक रहने से कलमों में लतर जैसी वृद्धि होने लगे तो ऊपरी प्ररोहों को इस तरह काट देना चाहिये कि टूँठ 15 सेंमी. लम्बे रहे. दो कलमों के बीच 60-90 सेंमी. का अन्तर रखते हुये उन्हें पंक्तियों में रोप दिया जाता है. दो पंक्तियों के बीच की दूरी 90 सेंमी. रहती है. रोपाई प्रायः वर्षा ऋतु में की जाती है. अमिश्र फसल तैयार करने के लिए प्रति हेक्टर लगभग 12,000 कलमें लगाई जाती है. डेरिस को खर या सेमल के पेड़ों के बीच में भी लगाया जा सकता है (*White, loc. cit.*).

मलाया से प्राप्त कलमों को भारत में प्रायोगिक खेती के लिए इस्तेमाल किया गया है. डंकानिकोटा (जिला सलेम, तमिलनाडु) में मानसून के प्रारम्भ में ही कलमों को सीधे खेत में लगाने से संतोषजनक



चित्र 119 - डेरिस इलिप्टिका - पुष्पित शाखा

परिणाम प्राप्त हुये (कलमें 3.75-5 सेंमी. मोटी, 45-60 सेंमी. लम्बी). कलमें में 6-7 सप्ताह में जड़ें निकल आई और इनकी वाष्प करने पर धीमी किन्तु दूसरे वर्ष संतोषप्रद थी. असम के प्रयोगों के अनुसार मलाया एवं मैसूर से लाई गई कलमें पहले क्यारियों में लगाई गई और तब खेतों में प्रतिरोपित की गई. कोचीन में किये गये प्रयोगों ने संतोषजनक परिणाम मिले. ब्रह्मा से प्राप्त कलमें प्रायः 1.200 मी. की ऊँचाई तक सफलतापूर्वक उगाई गई है.

जड़ें दो वर्ष के बाद खोदी जाती हैं तब उनमें विपैले अवयवों की सामान्य अधिकतम होती है. जड़ों के कुल भार का 95% मिट्टी में 45 सेंमी. तक की गहराई की जड़ों से प्राप्त होता है. जड़ों को तुरन्त धूप में या ऊष्मक में 54.4° पर 10% की आर्द्रता शेष रहने तक सुखाया जाता है और इसके बाद वे ठंडे, सूखे स्थान पर संग्रह कर दी जाती हैं. प्रति हेक्टर मूली जड़ों की उपलब्धि 1,000-1,600 किग्रा. है. श्रीलंका में प्रति हेक्टर 2,000 किग्रा. तक की उपलब्धि की सूचना है (Roark, *J. econ. Ent.*, 1932, 25, 1244; Luthra, *Indian Fmg.* 1950, 11, 10).

डेरिस के जीवाणुनाशी गुण रोटनॉयड यौगिकों के कारण है जिनमें से रोटोनोन मुख्य है. रोटोनोन मज्जा के अन्दर पैरेंकाइमा कोशिकाओं, मज्जारश्मियों तथा अन्तस्त्वचा और छाल में अनियमित रूप से वितरित कोशिकाओं में रोटोनोन धारी रेजिनों की विविक्त गोलाकारों के रूप में पाया जाता है. छाल की काफ़े वाली सतह और काष्ठ के रेशों तथा वाहिनियों तथा वास्त में यह नहीं पाया जाता. यह स्टार्चयुक्त कोशिकाओं में भी नहीं पाया जाता. जड़ों में रोटोनोन के अतिरिक्त अन्य विपैले अवयव, जैसे कि *dl*-टाक्सीकेरोल, टेफोसिन एवं डैग्येलिन भी पाये जाते हैं. वे उन्ही कोशिकाओं में होते हैं जिनमें रोटोनोन पाया जाता है (*Chem. Abstr.*, 1943, 37, 2127).

जड़ों में रोटोनोन की मात्रा जलवायु संबंधी एवं कृषीय कारकों पर निर्भर करती है : जैसे, ऊँचाई, ताप, वर्षा, कलमें का आकार एवं

खेतों में उनकी दूरी. जंगली पौधों की जड़ों में बहुत कम रोटोनोन रहता है. चयन एवं प्रजनन द्वारा कुछ किस्मों की रोटोनोन मात्रा (शुष्क भार के आधार पर) 13% तक बढ़ाई जा सकी है (Holman, 39).

रोटोनोन [$C_{23}H_{22}O_6$; ग. बि., 163°; $[\alpha]_D$, -226° (लगभग 4% बेंजीन में)] एक क्रिस्टलीय कीटोनी यौगिक है जो ऐल्कोहल, ऐसीटोन, बेंजीन, क्लोरोफॉर्म, ईथर, कार्बन टेट्राक्लोराइड और खनिज तेलों में विलेय तथा जल, दुर्बल अम्लों एवं क्षारों में अविलेय है. पिरिडीन-जैसे कुछ कार्बनिक विलायकों के साथ देर तक उवालने से अथवा क्षारों द्वारा उपचारित करने से इसकी क्रियाशीलता समाप्त हो जाती है. प्रकाश तथा वायु के सम्पर्क से यह विघटित हो जाता है. इसका डाइ-हाइड्रो व्युत्पन्न पार्श्व शृंखला में स्थित युग्मबंध को हाइड्रोजन से संतृप्त करने पर प्राप्त होता है. यह रोटोनोन की अपेक्षा 1.5 गुना अधिक विपैला होता है. रोटोनोन कीटों तथा मछलियों के लिए विपैला है परन्तु स्तनियों पर इसके विष का बहुत कम प्रभाव होता है. कुत्तों पर किये गये अंतःशिरा औषध प्रयोगों में इसकी घातक मात्रा शारीरिक भार के प्रति किलोग्राम पर 0.5 मिग्रा. पाई गई है किन्तु उसी को खिलाने पर 600 गुनी अधिक मात्रा की आवश्यकता होती है. रोटोनोन का संश्लेषण भी हुआ है (U.S.D., 1572; Frear, 83).

डे. इलिप्टिका की जड़ों का विश्लेषण करने पर निम्नलिखित मान प्राप्त हुये हैं : आर्द्रता, 6.42; रोटोनोन (अपरिष्कृत), 5.08 (परिष्कृत, 3.83); ईथर निष्कर्ष, 17.50; ईथर निष्कर्ष में मेथाक्सिल, 2.60; बेंजीन निष्कर्ष, 17.94; बेंजीन निष्कर्ष में मेथाक्सिल, 2.61; तथा कुल विहाइड्रो यौगिक, 10.75%. *dl*-टाक्सीकेरोल ($C_{23}H_{22}O_7$; ग. बि., 219), टेफोसिन एवं डैग्येलिन तथा इलिप्टोन भी पाये गये. डैग्येलिन और रोटोनोन समावयवी हैं. टेफोसिन एवं टाक्सीकेरोल, डैग्येलिन के हाइड्रॉक्सि व्युत्पन्न हैं. लगता है कि तैयार करते समय ऑक्सीकारण के द्वारा या निष्कर्षों से उचित क्रिया द्वारा, विहाइड्रो यौगिक बनते हैं किन्तु कीटनाशक के रूप में इनका कोई महत्व नहीं होता. ध्रुवण-घूर्णक विहाइड्रोडैग्येलिन भी प्राप्त हुआ है. एक फीनोलीय पदार्थ, स्टार्च, स्पूक्रोस, वसा, मोम, सैपोनिन, रेजिन, टैनिन भी मिले हैं (*Chem. Abstr.*, 1937, 31, 3194; 1939, 33, 4991; 1943, 37, 2127; Holman, 43; U.S.D., loc. cit.).

भारत में उगने वाले पादपों की जड़ों से प्राप्त रोटोनोन की मात्रा मलाया की अपेक्षा कम है (सारणी 1). प्राप्त आंकड़ों से विदित होता है कि कोचीन इत्यादि कुछ क्षेत्रों में व्यापारिक रूप से इसकी खेती लाभ-दायक सिद्ध हो सकती है.

जावा में इसकी जड़ों को मत्स्य-विष की तरह इस्तेमाल करते हैं. 3,00,000 भाग जल में 1 भाग जड़ को प्राण-घातक बनाया जाता है. इसके फल और छाल भी मत्स्य-विष हैं. बोनियो में इसकी जड़ों से प्राप्त निष्कर्ष का प्रयोग विषबाण बनाने में किया जाता है. पतियाँ इतनी विषाक्त होती हैं कि उनके खाने से मवेशी तक मर जाते हैं (Burkill, I, 786; Chandrasena, 144; Rodger, 110).

डे. ट्राइफोलिएटा लॉरीरो सिन. डे. यूलिगिनोसा वेंयम *D. trifoliata* Lour.

ते. - डे. ट्रिफोलिआटा

Fl. Br. Ind., II, 241.

बं. - पानयता; ते. - तियेनानुग, चिरातेनातीगा.

सारणी 1 - भारतवर्ष में उगाये गये डे. इलिप्टिका की जड़ों में उपस्थित रोटोनोन एवं ईथर निष्कर्ष

स्थान	रोटोनोन, %	ईथर निष्कर्ष, %
भ्रमर ¹		
मलाया से प्राप्त कलमें	{ 2.5 (1944) 1.6 (1949)	..
मैसूर से प्राप्त कलमें	{ 3.6 (1944) 2.2 (1949)	..
मैसूर ²		
मलाया से प्राप्त कलमें	7.0	22.0
कोचीन ³		
मंदा जड़ें	10.0	20.8
पत्ती जड़ें	6.3	18.2

मलाया से प्राप्त जड़ों में 5.5-9.0% रोटोनोन, और 16-27% ईथर निष्कर्ष होता है (Holman, 39).

¹ Botanical Forest Officer & Silviculturist, Assam, private communication; ² Ghose, *Indian For. Leaflet*, No. 20, 1942, 7; ³ *Chem. Abstr.*, 1940, 34, 6768.

यह एक विशाल सदाहरित, अरोमिल, आरोही झाड़ी है जो सामान्यतः भारत के तटवर्ती वनों और अण्डमान में उगती है। यह पूर्वी हिमालय तथा असम में भी पाई जाती है।

डे. ट्राइफोलिएटा की जड़ों में 1.2-1.9% ईथर विलेय पदार्थ पाया जाता है जो रोटोनोन और उससे संबंधित समूहों का परीक्षण देता है परन्तु इससे रोटोनोन पृथक् नहीं हो सका है। तने में टैनिन अम्ल (9.3% छाल में), गोंद, हेक्सोडक, ऐराकिडिक और स्टीऐरिक अम्ल, सेरिल ऐल्कोहल, कोलेस्टेराॅल के दो समावयवी, दो विभिन्न रेजिन तथा पोटैसियम नाइट्रेट पाये जाते हैं (Chopra *et al.*, loc. cit.; Chandrasena, 145)।

इस पौधे का उपयोग उद्दीपक, उद्वेष्टरोधी एवं प्रतिक्षोभक की भाँति होता है। इससे एक तेल भी तैयार किया गया है जो बाह्य मालिश में प्रयुक्त होता है। छाल का प्रयोग गठिया में रूपान्तरक की भाँति होता है (Burkill, I, 792; Kirt. & Basu, I, 835)।

तमिलनाडु के गुण्टूर क्षेत्र में इसकी पत्तियाँ पशुओं को खिलाई जाती हैं। वायु-शुष्क पत्तियों के विश्लेषण से निम्नलिखित मान प्राप्त हुये : आर्द्रता, 5.72; प्रोटीन, 16.42; राख, 6.84; चूना, 0.84; तथा फॉस्फोरिक अम्ल, 0.37%। तने सम्पुष्ट होते हैं तथा मोटी रस्ती बनाने के काम आते हैं (Ramiah, Bull. Dep. Agric., Madras, No. 33, 1941, 17)।

D. uliginosa Benth.

डे. फेरुजिनिया बेंथम *D. ferruginea* Benth.

ले. - डे. फेरुगिनेआ

Fl. Br. Ind., II, 245.

असम - रुफंग-दोउस्ता, अरु.

यह एक काष्ठीय आरोही वल्लरी है जिसके कोमल भागों पर रोमिल मोरचे के समान आवरण होता है। अधिक पुरानी शाखाओं की छाल

काली-भूरी होती है एवं उससे एक पानी-जैसा साव निकलता है। यह पूर्वी हिमालय तथा ऊपरी असम के सदाहरित वनों में पाई जाती है। यह डे. इलिप्टिका से मिलती-जुलती है और रोटोनोन का उत्तम स्रोत है।

असम के विभिन्न क्षेत्रों से एकत्रित नमूनों के विश्लेषण (सारणी 2) द्वारा ज्ञात होता है कि डे. फेरुजिनिया (भारतीय ट्यूबा जड़) से प्राप्त रोटोनोन की मात्रा 0.1 से 4.3% तथा ईथर निष्कर्षों से 1.0 से 4.5% थी। मैसूर में कृष्ण पीदों की जड़ों से रोटोनोन की अधिकतम मात्रा 8% प्राप्त होने का उल्लेख है। विहाडूरोटोनोन के अतिरिक्त जड़ में उदासीन रेजिन एवं वसायुक्त पदार्थ भी पाये गये। ईथर निष्कर्षों के अन्य रचकों के अनुपात में रोटोनोन की मात्रा डे. इलिप्टिका की अपेक्षा डे. फेरुजिनिया में अधिक है; यद्यपि ईथर निष्कर्षित भाग में रोटोनोन की मात्रा एवं रोटोनोन की कुल मात्रा डे. इलिप्टिका में अधिक है। असम से एकत्र किये गये कुछ नमूनों में रोटोनोन नहीं पाया गया। ईथर निष्कर्ष द्रव था और इससे कोई भी क्रिस्टलीय रचक विलग नहीं किया जा सका। परीक्षित नमूने जंगली पौधों से एकत्र किये गये थे। हो सकता है कि कृषि तथा वरण से उनमें रोटोनोन की मात्रा बढ़ सके (The Forest Chemist, Mysore, private communication; Rao & Seshadri, Proc. Indian Acad. Sci., 1946, 24A, 344)।

भारत के लिए डे. फेरुजिनिया का विशेष महत्व है। यही डेरिस की ऐसी देशी जाति है जिसमें रोटोनोन की काफी मात्रा रहती है। व्यापारिक डेरिस की अपेक्षा इसमें विपैले अंश की सान्द्रता कम होती है किन्तु इससे इसके कीटनाशक गुणों में कोई अन्तर नहीं पड़ता। प्रकीर्णन चूर्ण बनाने के लिए जड़ों को पीसकर मृत्तिका, टैल्क या ट्रिपोली मृत्तिका अथवा अन्य तनुकारी पदार्थों में मिलाकर ऐसा उत्पाद बनाते हैं जिसमें रोटोनोन की मात्रा 0.75% रहती है। प्रमाणिक रोटोनोन मात्रा वाले प्रकीर्णन चूर्ण बनाने में तनुकारी पदार्थ की मात्रा डे. इलिप्टिका की अपेक्षा डे. फेरुजिनिया में कम लगती है। वास्तविक रूप में इससे यह लाभ होगा कि इस तरह के प्रकीर्णकों में तनुकारी पदार्थों की मात्रा कम होने से जीवाणुओं के साथ विपैले अंश का संस्पर्श सरलता से हो जावेगा।

सारणी 2 - असम से प्राप्त डे. फेरुजिनिया की जड़ों से प्राप्त रोटोनोन तथा ईथर निष्कर्ष

स्थान	पदार्थ	आर्द्रता %	ईथर निष्कर्ष %	रोटोनोन %
डिब्रूगढ़ ¹ (लखीमपुर डिब्रीजन)	पतली जड़ें ³	4.3	3.0	1.1
	मोटी जड़ें ⁴	5.7	1.6	0.1
डोबाका रिजदं ¹ (नवगांव डिब्रीजन)	पतली जड़ें (12-18 मास के पौधों से)	1.7	4.5	2.4
	पतली जड़ें (18-24 मास के पौधों से)	3.5	4.5	2.4
	मोटी जड़ें (18-24 मास के पौधों से)	3.8	2.7	1.0
	मोटी जड़ें (36 मास से ऊपर के पौधों से)	5.9	2.7	1.0
कोलोबार ¹ (कछार डिब्रीजन)	पतली जड़ें	4.9	4.0	2.3
	मोटी जड़ें	1.3	3.8	1.9
गूमा रेंज ¹ (गोनपाडा डिब्रीजन)	पतली जड़ें	2.5	2.5	1.5
	मोटी जड़ें	4.5	1.2	0.9
घनन ²		..	7.3*	4.3

¹ Ghose, Indian For. Leaflet, No. 20, 1942; ² Rao & Seshadri, Proc. Indian Acad. Sci., 1946, 24A, 344; ³ पतली जड़ें, 3-13 मिमी. व्यास; ⁴ मोटी जड़ें, 13-25 मिमी. व्यास; * क्लोरोफार्म निष्कर्ष

छिड़काव के लिए निर्दिष्ट मात्रा वाले रोटेनोन के तरल पदार्थों के बनाने में डे. फेरुजिनिया की जड़ों की अपेक्षाकृत अधिक मात्रा लगेगी (Ghose, loc. cit.).

डे. मलाक्केन्सिस प्रेन *D. malaccensis* Prain

ले. — डे. मालाक्केन्सिस

Burkill, I, 791.

यह एक काष्ठीय आरोही है जिसका मूल स्थान मलय प्रायद्वीप है किन्तु भारत में छोटे पैमाने पर उगाया जाता है। मलाया से प्राप्त इस पादप की जड़ों के विश्लेषण से निम्नांकित मान प्राप्त हुये हैं : आर्द्रता, 6.48; रोटेनोन (अपरिष्कृत), 2.54 (परिष्कृत 1.83); ईथर निष्कर्ष, 18.56; ईथर निष्कर्ष में मेथाक्सिल, 2.64; बेजीन निष्कर्ष, 19.42; बेजीन निष्कर्ष में मेथाक्सिल, 2.70; सम्पूर्ण विहाइड्रो यौगिक, 7.90%। जड़ों में टाक्सिकैराल, मलक्कोल ($C_{20}H_{16}O_7$; ग. वि., 225°) सुमात्रोल ($C_{23}H_{22}O_7$; ग. वि., 188°), एक आइसो-फ्लैवोन ($C_{23}H_{22}O_7$; ग. वि., 219°), एक फीनालिक रेजिन तथा रोटेनोन, डेग्येलिन एवं इलिप्टोन युक्त एक अन्य रेजिन प्राप्त हुये हैं। डे. इलिप्टिका में *l*-मलक्कोल तथा *l*-सुमात्रोल नहीं होते। डे. मलाक्केन्सिस की जड़ें भी डे. इलिप्टिका की तरह ही प्रयुक्त होती हैं। इनमें विपले पदार्थों की कुल मात्रा अधिक किन्तु रोटेनोन की मात्रा

अपेक्षाकृत कम है। इनमें ईथर विलेय तथा रोटेनोन का अनुपात 9 : 1 है जबकि डे. इलिप्टिका में 3 : 1 है (Chem. Abstr., 1937, 31, 3194; 1940, 34, 7909; Pal & Singh, Indian Fmg, 1949, 10, 423).

डे. रोबस्टा बेंथम *D. robusta* Benth.

ले. — डे. रोबस्टा

D.E.P., III, 81; Fl. Br. Ind., II, 241.

असम — मौहिता, हितकुरा; कुमायूँ — बुडो.

यह पर्णपाती, सहिष्णु, 9-12 मी. तक ऊँचा वृक्ष है जो कुमायूँ से पूर्व के हिमालयी क्षेत्रों, असम तथा भारतीय प्रायद्वीप के पश्चिमी भागों में पाया जाता है। यह किसी भी तरह की मिट्टी पर उग सकता है किन्तु चाय बागानों में छाया वृक्ष की तरह इसे उगाने का प्रयास असफल रहा है (Bald & Harrison, 129).

गौहाटी (असम) से प्राप्त डे. रोबस्टा जड़ों के वायु-शुष्क नमूनों में 4.7% ईथर विलेय पदार्थ मिला जिसमें लगभग 1.2% एक क्रिस्टलीय पदार्थ निकला जो सम्भवतः टेफोसिन था किन्तु रोटेनोन बिल्कुल नहीं पाया गया। जड़ों से रोबस्टिक अम्ल ($C_{22}H_{20}O_6$; ग. वि., 205-6°) तथा एक उदासीन पदार्थ रोबस्टेनिन ($C_{21}H_{20}O_6$; ग. वि., 188-89°) मिलते हैं। पहला पदार्थ संरचना में स्कैण्डेनिन तथा लांकोकोपिक अम्ल के समान है। इस पौधे में जीवाणुनाशी गुण नहीं मिलता (Ghose, loc. cit.; Holman, 41; Rao & Seshadri, Proc. Indian Acad. Sci., 1946, 24A, 465; Chopra et al., J. Bombay nat. Hist. Soc., 1941, 42, 875).

लकड़ी हल्के भूरे रंग की होती है। यह अंतःकाष्ठ-रहित, कठोर एवं भारी (भार, 848 किग्रा./घमी.) होती है। चाय की पेटियाँ, खम्भा एवं हल बनाने में इसका उपयोग होता है। पत्तियाँ पशुओं को चारे के रूप में दी जाती हैं। लकड़ी का ऊष्मा मान, 4,990 कैलोरी, 8,993 ब्रि. थ. इ. है (Fl. Assam, II, 111; Burkill, I, 783; Krishna & Ramaswami, Indian For. Bull., N.S., No. 79, 1932, 15).

डे. स्कैण्डेन्स वेथम *D. scandens* Benth.

ले. — डे. स्काडेन्स

D.E.P., III, 81; Fl. Br. Ind., II, 240.

हि. — गोज; बं. — नोआलोता; ते. — नल्ला तिमो; त. — तकिल, थिरुदेनकोडी, तिराणी; क. — हंदिबुडी, पुनालि; मल. — पोन्नामवल्ली. पंजाब — गुज.

यह विषाल, मुन्दर, आरोही क्लान्तिनत शाखों वाली झाड़ी है जो उप-हिमालय में अवध से पूर्ववर्ती क्षेत्रों में असम तक तथा मध्य एवं दक्षिण भारत के अतिरिक्त अंडमान द्वीपों तक पायी जाती है। यह उद्यानों में शोभनीय गुलाबी पुष्पगुच्छों के लिए सामान्यतः बीजों से उगायी जाती है।

इसकी जड़ में स्कैण्डेनिन ($C_{26}H_{26}O_6$; ग. वि., 233-34°), नल्लानिन ($C_{26}H_{26}O_6$; ग. वि., 217-18°) और कॅन्थामिन ($C_{29}H_{30}O_6$; ग. वि., 201-2°) पाये जाते हैं। अमेरिका से लाई गई जड़ों में लांकोकोपिक तथा रोबस्टिक अम्लों की उपस्थिति सूचित की गई है पर भारतीय जड़ों में यह नहीं पाये जाते। बीजों में 10% पीना तेल भी प्राप्त हुआ है, जिसकी विघेयताएँ निम्नांकित हैं : वि. घ.²⁰, 0.9125; n_D^{20} , 1.4645; अम्ल मान, 0.92; आयो.



चित्र 120 — डेरिस मलाक्केन्सिस

मान (विज), 101.5; साव. मान, 169.2; तथा असावुनीय पदार्थ, 1.5%. असावुनीय पदार्थ में दो क्रिस्टलीय स्टेरॉल, ग. वि., क्रमशः 116-17° तथा 137-38° पाये गये (Rao & Seshadri, *Proc. Indian Acad. Sci.*, 1946, 24A, 365; *Chem. Abstr.*, 1944, 38, 81; Rao & Subramanian, *Curr. Sci.*, 1947, 16, 346).

इस झाड़ी का उपयोग मत्स्य-विष के रूप में भी किया जाता है. कीटनाशी के रूप में इसका महत्व नहीं है. इसकी छाल से घटिया रेशे प्राप्त होते हैं (Chopra *et al.*, loc. cit.).

डे. क्यूनीफोलिया बेंथम एक विशाल आरोही है जो पूर्वी हिमालय तथा असम में पाया जाता है. जड़ों में क्यूनीफोलिन ($C_{24}H_{40}O_6$; ग. वि., 180-81°) नामक एक क्रिस्टलीय हल्का पीला यौगिक होता है जो क्षीण मत्स्य-विष है. डे. मारजिनेटा बेंथम एक सदाहरित आरोही है जो असम में पाया जाता है. इसका अन्तःकाष्ठ कठोर और मजबूत होता है तथा काष्ठ उद्योग के लिए उपयुक्त है (Rao & Rao, *Proc. Indian Acad. Sci.*, 1947, 26A, 43; *Fl. Assam*, II, 113).

कुछ डेरिस जातियों की जड़ों से पाये जाने वाले समस्त ईथर विलेय पदार्थों एवं रोटेनोन की मात्रा सारणी 3 में दी गई है.

डेरिस

व्यापारिक डेरिस (ट्यूबा, टोफा, आकार, टोइवा) में डे. इलिप्टिका एवं डे. मलाक्केन्सिस की सुखी जड़ें तथा भूमिगत तने (प्रकन्द) होते हैं. आकार की दृष्टि से जड़ें लम्बाई में 2 मी. तथा मोटाई में अत्यन्त पतली जड़ों से लेकर 8-10 मिमी. व्यास तक की होती हैं. ये जड़ें कभी-कभी प्रकन्द के छोटे खंड में लगी रहती हैं. ओषधि का अधिकांश 5 मिमी. से अधिक मोटे कोमल खण्डों का नहीं होता. बाहर से जड़ों का रंग गहरा रक्ताभ भूरा (डे. इलिप्टिका) अथवा धूसर भूरा (डे. मलाक्केन्सिस) होता है जिसमें लम्बाई में महीन, लम्बे खाँचे पड़े रहते हैं. इनकी जड़ लचीली और कठोर होती है जिसे बीच से तोड़ने पर रेशे दिख जाते हैं. इनमें कुछ सौरभिक गन्ध होती है और स्वाद क्विचि तिव्त तथा जीम में झुनझुनी उत्पन्न करने वाला होता है; यह झुनझुनी धीरे-धीरे गले तक होने लगती है. प्रकन्द में ओषधि का अनुपात कम होता है. प्रकन्द छोटे-छोटे खण्डों में, भूरे तथा 8 से 25 मिमी. मोटे, टेढ़े, तिरछे खण्डों में, बहुत-सी दरारें तथा आड़ी झुर्रियाँ एवं गोलाकार वातरंध्र वाले होते हैं. जड़ों के व्यास और उनमें रोटेनोन की मात्रा के सम्बंध में मत-वैभिन्य है. सामान्यतया ऐसा विश्वास किया जाता है कि मध्यम आकार की जड़ें (व्यास, 4-10 मिमी.) महीन या मोटी जड़ों से अच्छी होती हैं (B.P.C., 288; Wallis, 358; Pagan & Hageman, *J. agric. Res.*, 1949, 78, 417).

डेरिस में कम से कम 3% रोटेनोन और कुल राख अधिक से अधिक 6% होनी चाहिये जिसमें 2% राख अम्ल अविलेय हो सकती है. व्यापारिक माल (डेरिस) अधिकतर मलाया के कुछ क्षेत्रों तथा ईस्ट इण्डोनेशिया से आता है. डेरिस की अन्य जातियों की जड़ें, तने, प्रकन्द आदि अपमिश्रण में अथवा प्रतिस्थापी की तरह प्रयुक्त होते हैं (B.P.C., loc. cit.).

भारतीय ट्यूबा जड़ अथवा आई. पी. एल. का डेरिस देखने में व्यापारिक डेरिस से मिलता-जुलता है तथा इसमें डे. फेरुजिनिया की जड़ें तथा प्रकन्द होते हैं. इसमें रोटेनोन की न्यूनतम मात्रा 2% तथा अन्य कार्बनिक पदार्थों की मात्रा 2% से अधिक नहीं होनी चाहिये (I.P.L., 37).

सारणी 3 — भारत में उत्पन्न डेरिस जातियों की जड़ों से प्राप्त रोटेनोन और ईथर निष्कर्ष¹

जातियाँ	प्राप्ति स्थान	रोटेनोन %	वायु-शुष्क पदार्थ से प्राप्त ईथर निष्कर्ष, %
डे. ट्राइफोलिएटा	सुन्दरवन (बंगाल)	0.1	1.9
डे. क्यूनीफोलिया	गोलाघाट (असम)	0.1	1.2
डे. मारजिनेटा	असम	0.15	1.6
डे. मोण्टेकोला	असम	0.1	2.0
डे. रोवस्टा	गोहाटी (असम)	शून्य	4.7
डे. स्कॉडैन्स	चाँदा (मध्य प्रदेश)	शून्य	6.7
डे. फेरुजिनिया	असम	0.1-2.4	1.0-4.5
डे. फेरुजिनिया	असम	4.3	7.3*

¹Ghose, *Indian For. Leaflet*, No. 20, 1942; Rao & Seshadri, *Proc. Indian Acad. Sci.*, 1946, 24A, 344.

*क्लोरोफार्म निष्कर्ष.

साधारणतया डेरिस की जड़ों में चार विपैले पदार्थ पाये जाते हैं. ये हैं : रोटेनोन (ट्यूबोटाक्सिन), डेग्येलिन, टेफोसिन और टाक्सीकैराल. इनकी विपाकता का अनुपात क्रमशः 400 : 40 : 10 : 1 है. डेरिस रेजिन के सीधे क्रिस्टलीकरण द्वारा रोटेनोन, सुमात्राल, टाक्सीकैराल, इलिप्टोन एवं मलक्काल विलग किये गये हैं; रेजिन के क्षारीय उपचार से dl-डेग्येलिन, dl-टाक्सीकैराल एवं बकले का यौगिक (ग. वि., 183°) प्राप्त होते हैं. क्षार के साथ या उसके बिना रेजिन के ऑक्सीकरण से रोटेनोलोन I, रोटेनोलोन II, टेफोसिन, आइसोटेफोसिन, विहाइड्रोरोटेनोन, विहाइड्रोडेग्येलिन एवं विहाइड्रोटाक्सीकैराल प्राप्त हुये हैं (Thorpe, III, 559; Holman, 94-95).

डेरिस जीवाणुनाशकों का व्यापक उपयोग उद्यानकृषि, कृषि, कुक्कुटपालन तथा पशुपालन में नाशकजीवों पर नियंत्रण प्राप्त करने के लिए किया जाता है (सारणी 4). इनका उपयोग प्रकीर्णकों, फुहारकों, निमज्जकों, चारों (प्रलोभन) तथा एरोसॉलों के रूप में होता है. महीन पिसी हुई जड़ों को टैल्क, केओलिन, फुलर मृत्तिका और जिप्सम में मिलाकर (रोटेनोन की मात्रा, लगभग 0.75%) प्रकीर्णक चूर्ण की भाँति प्रयोग करते हैं. उपयुक्त प्रसारक एवं पानी में मिलाकर इन्हें फुहारकों की भाँति प्रयोग करते हैं. डेरिस निष्कर्ष अथवा डेरिस रेजिन (रोटेनोन मात्रा, 25-35%) को विविध तनुकारी पदार्थों में मिलाकर संपृक्त डेरिस (रोटेनोन की मात्रा, 0.12-0.35%) बनाते हैं. यह कृषि और उद्यानों में हानि पहुँचाने वाले अनेक प्रकार के नाशकजीवों के लिए प्रभावी है. ऐसे मिश्रणों से विपैले तत्वों का समान वितरण सम्भव है. अमेरिका में इनका प्रचलन है. निष्कर्ष को किसी कार्बनिक तरल पदार्थ, जैसे चीड तैल, सैफोल, एनीयोल, मेथिल यजिनाल, कपूर तैल अथवा तारपीन इत्यादि में किसी प्रकीर्णन कारक जैसे सल्फोनोक्लूट रेडॉ के तैल के साथ मिलाकर फुहारक की भाँति प्रयोग किया जाता है. इसमें दूसरे कीटनाशकों को, जैसे कि पाइरेथ्रम निष्कर्ष या संश्लेषित पदार्थों को भी मिलाया जा सकता है. डेरिस से मक्खियाँ न तो उतनी जल्दी और न ही पूरी तरह लुप्त होती हैं जितना कि पाइरेथ्रम से किन्तु डेरिस अधिक समय तक प्रभावशाली

सारणी 4 — कुछ पादप तथा पशु नाशकजीवों पर डेरिस का प्रभाव*

नाशकजीव	प्रयोग विधि	प्रेक्षण
पीरिसा रेपो, प्लुटेला माकुली- सेनिस (पातगोभी का कीड़ा)	प्रकीर्णक चूर्ण (0.5% या सतोपजनक नियंत्रण) अधिक रोटेनोन	
हाइपोदोर्मा जातियाँ (पांटे की मक्खन)	..	"
हेनियोसिस ध्रुवमोलेटा (मक्खे का केचुआ)	..	प्रभावहीन
ट्रिप्स टैबाकाइ लिण्डले (प्याज के धिप्स)	फुहार	उत्साहवर्धक नियंत्रण
इपसोडोस रिसिनस (गेहों का टिका)	गादुन के विलयन में	विनाशकारी
टेट्राफिस टेलेरियस (सामान्य लाल मकड़ी)	मत्फोनीकृत रेडो के तेल में ऐसीटोन निष्कर्ष की फुहार	विपत्ता
कैम्पोनोटस जातियाँ (बड़ई चींटियाँ)	चूर्ण (बिना तनु किया हुआ)	प्रभावकारी
ब्राइटियोसेरस जातियाँ (धाम का फुदकका)	जलीय निलम्बन (0.066%)	"
यूप्रोक्टिस फ्राटर्ना मूर इपिलैपना जातियाँ (मूँढी) लेकानियम विरिडे	जलीय निलम्बन और ऐल्कोहली निष्कर्ष	"
थ्रिप्स (सारिया) पिस्तोरम (मटर का घुन)	चूर्ण का प्रकीर्णन (0.75-1% रोटेनोन)	सतोपजनक
मैथोटिफस पिसि (मटर का रंफिड)	चूर्ण का प्रकीर्णन	"
हेलोपेलिटिस जातियाँ (रबाग्रो पर)	चूर्ण-प्रकीर्णन (0.75% रोटेनोन)	प्रभावकारी
ग्नोरिमोस्केमा ब्रापेरक्लेता (घालू या शनम)	चूर्ण-प्रकीर्णन (0.94% रोटेनोन)	"
निननट्टा	चूर्ण-प्रकीर्णन	"
ननेया, वरं	चूर्ण-प्रकीर्णन (बिना तनु किया)	"
एन्थ्रो के जू (समी जातियाँ)	चूर्ण-प्रकीर्णन (0.5% या अधिक रोटेनोन)	नियंत्रित
घाघ (गिनफोना पीधों पर)	चूर्ण-प्रकीर्णन (1% रोटेनोन)	प्रतिरोधित

*Chem. Abstr., 1933, 27, 1707; 1934, 28, 6924, 6916, 3828, 1935, 29, 7560; 1936, 30, 804, 4978; 1940, 34, 3867, 3865; 1941, 35, 1569, 269; 1942, 36, 4659; 1946, 40, 4171; 1947, 41, 1800; 1949, 43, 9340.

रहता है। डेरिस एवं पाइरेथ्रस का मिश्रण भविष्यों पर बहुत प्रभावकारी है। घास के मैदानों में केचुआ का नियंत्रण करने के लिए भी डेरिस का उपयोग होता है। यन्त्र-प्रणाली यौगिकों के बनाने में भी इसका प्रयोग होता है (Holman, 53-55; Chem. Abstr., 1932, 26, 1703; 1934, 28, 3846; 1937, 31, 206).

डेरिस की जड़ों से प्राप्त चूर्ण में 4-6% रोटेनोन रहता है और इससे खुजली में लगाने का लेप (लगभग 25 ग्रा. चूर्ण, 6 ग्रा. साबुन तथा एक लीटर गर्म जल) बनाया गया है। किसी तेलरहित, त्वचा कोमलकारी आधार में 2% रोटेनोन को निलंबित करके रोटेनोशन नामक सामग्री बनाई गई है। यह एक लाभदायक, अक्षोभक, वसा-रहित, अनाभिरंजक, अनुत्तेजक तथा स्थानीय खुजलीनाशक दवा है। डेरिस चूर्ण पशुओं के बाह्य परजीवियों के नियंत्रण और उन्मूलन में प्रभावी है। इन परजीवियों में पिस्सू, जुयें, कुत्ता-किलनी, पशु ग्रव, भेड़-किलनी, कपोत मक्खी एवं कुत्तों के कान में खुजली उत्पन्न करने वाले खुजली कीट और कुटकी कीड़े सम्मिलित हैं (B.P.C., 290; Modern Drug Encyclopaedia, 733; U.S.D., 1757).

केवल रोटेनोन की मात्रा के आधार पर डेरिस का मूल्यांकन संतोप-जनक सिद्ध नहीं हो सका। इसमें संशय नहीं कि मूल से वियुक्त किये अन्य क्रिस्टलीय पदार्थ कीटों के लिए रोटेनोन से कम विपत्ति हैं परन्तु उनके रेजिनी ध्रुवण घूर्णक पूर्वगामियों में, जिनका रोटेनोन से रासायनिक सम्बंध है, काफी विपत्ति होती है। इसी कारण रोटेनोन की मात्रा के अतिरिक्त सम्पूर्ण ईथर निष्कर्षों के निर्धारण द्वारा व्यापारिक डेरिस का मूल्यांकन अधिक लाभदायक सिद्ध हुआ है। साथ ही पाइरेथ्रम की ही तरह इसमें रासायनिक विधियों से जैविक गुणों का संतोपजनक मूल्यांकन नहीं हो पाता अतएव जैव आमापन विधि को ही बरीयता देनी चाहिये (World Crops, 1951, 3, 206).

सूर्य प्रकाश और वायु के संसर्ग से आने से डेरिस कीटनाशी खराब हो जाते हैं। प्रकीर्णकों की अपेक्षा तरल फुहारकों की शक्ति अधिक शीघ्र क्षीण होती है। इन्हें प्रति-ऑक्सीकारकों द्वारा खराब होने से बचाया जा सकता है। शुष्क एवं ठंडी जगहों में रखने पर डेरिस जड़ों की सक्रियता लम्बी अवधि तक बनी रहती है (Chem. Abstr., 1948, 42, 6052; Martindale, II, 165).

रोटेनोन कीटनाशक बनाने वाले कारखानों के कार्यकर्ता जनतांगी त्वचा शोथ, अघ्राणतायुक्त नासाशोथ, जिह्वा एवं ओष्ठ-शोथ इत्यादि रोगों से ग्रस्त हो जाते हैं। व्यक्तिगत स्वच्छता पर अत्यधिक ध्यान, मुखौटों का प्रयोग तथा समुचित वायु-संचरण व्यवस्था द्वारा इन रोगों के संक्रमण की सम्भावना को काफी कम किया जा सकता है (Chem. Abstr., 1940, 34, 1413).

Pieris rapae L.; *Plutella maculipennis* Curt.; *Hypoderma* spp.; *Heliothis obsoleta* F.; *Thrips tabaci* Lindl.; *Ixodes ricinus* L.; *Tetranychus telarius* L.; *Camponotus* spp.; *Idiocerus* spp.; *Euproctis fraterna* Moore; *Epilachna* spp.; *Lecanium viride* Gr.; *Bruchus (Lar) pisorum* L.; *Macrosiphum pisi* Kalf.; *Helopeltis* spp.; *Gnorimoschema operculella* Zell.

डेलफिनियम लिनिग्रस (रैननकुलेसी) DELPHINIUM Linn.

ने. — डेलफिनिऊम

यह वर्षीय या बहुवर्षी खड़ी, मृदू, गोभाकारी वृद्धियों का वंश है जो अधिकतर उत्तरी ममशीतोष्ण कटिबंध में पाया और उद्यानों में प्रचुरता से लगाया जाता है। भारत में लगभग 15 जातियाँ पाई जाती हैं।

डेलफिनियम, जो मामान्यतया 'नाकंगूर' के नाम से जाने जाते हैं, अपने सुन्दर पुष्पगुच्छों अथवा दमहीन एवं उत्तेजक पुष्पों और अपनी गन्धदार पत्तियों के लिए उद्यानों की सुनी क्यागियों एवं गिनारों पर

उगाये जाते हैं। वर्षीय तथा बहुवर्षीय दोनों ही प्रकार के डेलफिनियम की अनेक व्यापारिक किस्में हैं। फूल अनेक रंग के, सफेद अथवा पीले से लेकर बैंगनी और नील-लोहित से नीले तक होते हैं। दोहरे एवं त्रिलोदार फूलों के प्रकार भी सामान्य हैं। ये फूल काफी दिनों तक रहते हैं इसलिए सजावटी कार्यों के लिए बहुमूल्य समझे जाते हैं। कुछ हिमालयी जातियाँ, जैसे डे. ब्रूनोनियानम रायल (भस्क लार्कस्पर), डे. काश्मेरियानम रायल (कश्मीर लार्कस्पर) और डे. ग्लेसिएल हुकर पुत्र और थामसन तेज कस्तूरी गन्धवाली होती हैं परन्तु इन जातियों से अथवा इस वंश की अन्य किसी भी जाति से कोई सगंध तैल नहीं निकाला गया है [Krishna & Badhwar, *J. sci. industr. Res.*, 1947, 6(2), suppl., 8].

लार्कस्पर किसी भी तरह की अच्छी उद्यान भूमि में भली-भाँति उगता है परन्तु इसके लिए बलुही, अच्छी दुमट मिट्टी विशेष रूप से उपयुक्त होती है। मिट्टी को गहराई तक तैयार करना आवश्यक है। वार्षिक जातियों का प्रवर्धन बीजों से किया जाता है जिनका अंकुरण मन्द होता है। मैदानों में वर्षा के अन्त में और पर्वतीय क्षेत्रों में वसंत के प्रारम्भ में बीज बोये जाते हैं। बहुवर्षी जातियाँ बीजों, कलमों अथवा जड़ के टुकड़ों से उगाई जा सकती हैं। अच्छे परिणाम प्राप्त करने के लिए पौधों को 2 या 3 वर्ष के बाद अन्यत्र रोपित करना चाहिये। जाड़े के दिनों में पर्याप्त मात्रा में गोबर की खाद डालने से न केवल भूमि अधिक उपजाऊ होती है बल्कि भूमिगत कलिकाओं की जाड़े से रक्षा होती है। जैसे ही पहली फसल के फूल मुरझा जाएँ, उनकी टहनियों को काटकर फूलों की दूसरी फसल ली जा सकती है (Bailey, 1947, I, 975; Firminger, 631).

डेलफिनियम की लगभग सभी जातियाँ विषैली होती हैं और इनके कारण अनेकों पशुओं की मृत्यु हो जाती है। कुछ जातियों को जीवाणु-नाशी की भाँति प्रयुक्त किया गया है। कई जातियों से उपलब्ध ऐल्कलायडों का एक मिश्रण, जिसमें कुरेर की तरह औषधीय गुण थे, डेलफो-कुरेरीन के नाम से बाजारों में विक्रता था। डेलफिनियम के ऐल्कलायड आमाशय-विष है और ये संस्पर्श जीवाणुनाशी, अंडनाशी तथा धूमद की भाँति प्रभावकारी नहीं है (U.S.D., 620, 1924; Holman, 28).

डेलफिनियम की भारतीय जातियों का उपयोग घावों के कीड़ों को नष्ट करने के लिए, विगोपतया भेंड़ों में, होता है। इसके फूल तीक्ष्ण, कटु, एवं कपाय माने जाते हैं। बीज वमनकारी, विरेचक, कृमिहर तथा कीटाणुनाशक हैं। हिमालयी जातियाँ डे. ब्रूनोनियानम, डे. कोयरुलियम जैकिन, डे. इलेटम तथा डे. वेस्टीटम वालिश हृदयी तथा श्वसन अवसादक की भाँति प्रयुक्त होती हैं (Caius, *J. Bombay nat. Hist. Soc.*, 1937, 39, 724; Chopra & Badhwar, *Indian J. agric. Sci.*, 1940, 10, 17). *Ranunculaceae*; *D. brumonianum* Royle; *D. cashmerianum* Royle; *D. glaciale* Hook. f. & Thoms.; *D. coeruleum* Jacq.; *D. vestitum* Wall.

डे. अजासिस लिनियस *D. ajacis* Linn. राकेट लार्कस्पर

ले. - डे. अजाकिस

D.E.P., III, 64; Bailey, 1949, 398.

यह एकवर्षी 30 से 90 सेंमी. तक ऊँचा पौधा है जिसमें बहु प्रशाखित दीर्घतम् हस्ताकार पत्तियाँ होती हैं। यह प्रायः उद्यानों में अपने विविध रंगीन सुन्दर पुष्पों के कारण उगाया जाता है। इसके बीज छोटे



चित्र 121 - डेलफिनियम अजासिस

(2 मिमी. लम्बे एवं इतने ही चौड़े), ऊबड़-खाबड़ तथा घूसर या भूरे रंग के होते हैं।

बीजों में निम्नलिखित ऐल्कलायड होते हैं: अजासीन ($C_{34}H_{46}O_9N_2 \cdot 2H_2O$; ग. वि., 154°); अजाकोनीन ($C_{21}H_{31}O_3N$ या $C_{22}H_{33}O_3N$; ग. वि., 172°); अजासिनोन ($C_{22}H_{33}O_6N$; ग. वि., $210-11^\circ$); अजासिनोइडीन ($C_{35}H_{58}O_{12}N_2$; ग. वि., $120-26^\circ$); क्षारक B ($C_{26}H_{39}O_8N$; ग. वि., 195°); क्षारक C ($C_{24}H_{37}O_7N$; ग. वि., 206°); क्षारक D ($C_{48}H_{66}O_{12}N_2$; ग. वि., 97°). बीजों में 39% अवाष्पशील तेल (अम्ल मान, 132) भी पाया जाता है (Henry, 694; U.S.D., 620).

बीजों से प्राप्त एक टिक्चर वालों के जू मारने के लिए बाह्य लेप की तरह लगाया जाता है, परन्तु अत्यन्त विषाक्तता के कारण इसका उपयोग वर्जित है। कुछ लोग इसके जीवाणुनाशी गुण को तेल में निहित मानते हैं, ऐल्कलायड में नहीं (U.S.D., loc. cit.; Youngken, 333; Henry, 700).

डे. इलेटम लिनियस *D. elatum* Linn.

बी लार्कस्पर, कैंडल लार्कस्पर

ले. - डे. एलाटम

Fl. Br. Ind., I, 26.

यह एक छोटी वृद्धि है जो पश्चिमी हिमालय में कुमायूँ से कश्मीर तक 3,000 मी. से 3,600 मी. की ऊँचाई तक पाई जाती है।

यूरोप में इसके बीज जीवाणुनाशी के रूप में प्रयुक्त होते हैं। इनका उपयोग सुजली और त्वचा के अन्य रोगों में भी होता है। पुष्प कपाय होते हैं और नेत्र रोगों में उपयोगी हैं। इस वृक्ष के सभी अंग, विशेषतया बीज, वमनकारी, मृदुविरेचक, मूत्रवर्धक एवं कृमिहर होते हैं (Caius, loc. cit.).

इसके बीजों में ऐल्कलायडों का मिश्रण 1.7% रहता है जिसमें से डेल्फेनीन ($C_{25}H_{19}O_6N$; ग. बि., 227°); डेलाटोन ($C_{19}H_{25}O_3N$; H_2O ; ग. बि., 148°); मेथिल लाइकाकोनीटोन ($C_{37}H_{49}O_{10}N_2$; ग. बि., 128°) और एक क्षारक ($C_{33}H_{51}O_8N$; ग. बि., 218°) पृथक् किये गये हैं। मेथिल लाइकाकोनीटोन के क्षारीय जल-अपघटन में *l*-मेथिलसक्सिनिल एन्थ्रानिलिक अम्ल एवं लाइकोक्टोनीन प्राप्त होते हैं (Henry, 696).

डे. कन्सोलिडा लिनिग्रस *D. consolida* Linn.

फारसिंग लार्कस्पर

ले. — डे. कन्सोलिडा

D.E.P., III, 64; Bailey, 1949, 398.

यह अल्परोमिल या लगभग अरोमिल, एकवर्षी है जो 30-45 सेमी. ऊँचा होता है और उद्यानों में उगाया जाता है। इसके फूल प्रायः नीले या वज्जती रंग के, डे. अजासिस फूलों की अपेक्षा बड़े, अपेक्षतया कम तथा अधिक छितरे होते हैं।

डे. कन्सोलिडा एक सम्भावित जीवाणुनाशी है। इसकी विपाक्तता सम्भवतः कई ऐल्कलायडों के कारण समझी जाती है (कुल ऐल्कलायड, 1.01-1.06%) इनमें से डेल्कोसीन ($C_{22}H_{37}O_6N$; ग. बि., $203-4^\circ$), डेल्सोलीन ($C_{25}H_{43}O_7N$; ग. बि., $213-216.5^\circ$) एवं कन्सालिडीन ($C_{31}H_{49}O_9N$; ग. बि., $153-57^\circ$) क्रिस्टल रूप में प्राप्त किये गये हैं। डेल्सोलीन और ऐन्थ्राएनोयिलीकाक्टोनीन अमिश्रणीय होते हैं। एक डाइग्लाइकोसाइड वर्णक डेलफोनिन तथा केम्फेरोल फूलों से प्राप्त किये गये हैं। केम्फेरोल (ग. बि., $276-78^\circ$) में निश्चित वर्णक गुण पाये जाते हैं। उस वर्णक से अलग रंग-स्वापक (श्रोमियम, ऐल्यूमिनियम, टिन या लौह) प्रयुक्त करके उन को भूरा-पीला, पीला, नारंगी-पीला या गहरा जैतुनी भूरा रंगा जा सकता है। इसके बीजों में 28.7% अवाप्यशील तेल रहता है (Chem. Abstr., 1931, 25, 4662; Henry, 695; Mayer & Cook, 228, 183; Thorpe, III, 556).

डे. जालिल ऐचिसन और हेम्सले *D. zalil* Aitch. & Helmsl.

जालिल लार्कस्पर

ले. — डे. जालिल

D.E.P., III, 70; C.P., 492; Bailey, 1949, 398.

हिं. — अरावर्ग.

महाराष्ट्र — आवामान, गुल-जलील; पंजाब — अमवर्ग, घाफिज.

यह बहुवर्षी चटक पीले पुष्पों वाली वृद्धि है जो ईरान और अफगानिस्तान में पाई जाती है। फूलों के साथ दहनियों और वृत्तों के कुछ अंग मिलाकर इन्हें नियंत्रित किया जाता है एवं भारतीय बाजारों में अमवर्ग रंजक के नाम से बेचा जाता है। इसका उपयोग अजलवीर (डाइटिका

कैनाबिना) एवं फिटकरी के साथ रेशम की रेंगाई और कैलिको छपाई में होता है।

इसके पुष्पों तथा पुष्पवृत्तों में आइसोरैमनेटिन ($C_{16}H_{12}O_7$; ग. बि., 305°), केसॅटिन तथा सम्भवतः केम्फेरोल होते हैं। असवर्ग को मूत्रल, अपमार्जक एवं पीड़ाहर समझा जाता है। यह पीलिया, जलशोथ और तिल्ली के रोगों में उपयोगी है। सूजन में इसकी पुल्टिस बाँधी जाती है (Mayer & Cook, 189; Wehmer, I, 321; Dymock, Warden & Hooper, I, 24).

Datisca cannabina

डे. डेनुडेटम वालिश *D. denudatum* Wall.

ले. — डे. डेनुडाटूम

D.E.P., III, 65; C.P., 491; Fl. Br. Ind., I, 25.

सं. — अपविपा, निर्विपा; फारसी — जदवार; हिं. — जदवार, निर्विपी; म. और गु. — निर्विपी;

नेपाल — निलोविख; पंजाब — जदवार.

यह एकवर्षी है जो प्रायः पश्चिमी हिमालय में कुमायूँ से लेकर कश्मीर तक 2,400-3,600 मी. की ऊँचाई तक, विशेषतया घास के ढलानों पर उगता है। इसकी जड़ तिक्त होती है और उत्तेजक, रूपान्तरक एवं पौष्टिक समझी जाती है। वशहर में दंत पीड़ा में इसका उपयोग किया जाता है। ऐकोनाइट के साथ मिलावट के लिए भी इसका उपयोग किया जाता है (Nadkarni, 300; Caius, loc. cit.).

डे. डेसोकौलान फ्रेजेनिग्रस नामक वृद्धि डेकन की पहाड़ियों में पाई जाती है जो श्रीपथीय बताई जाती है।

D. dasycaulon Fresen.

डेलिमा लिनिग्रस (डिलेनिग्रस) *DELIMA* Linn.

ले. — डेलिमा

D.E.P., III, 63; Fl. Br. Ind., I, 31.

यह आरोही लताओं का छोटा वंश है जो भारत में पूर्व की ओर अमेरिका तक पाया जाता है। डि. स्कॅण्डेन्स बर्किल=टेन्टोसेरा स्कॅण्डेन्स मेरिल सिन. डि. सारमेण्डोसा लिनिग्रस (असम — श्रीलंका, पानीलेवा; लेपचा — मोनक्यौरिक) बंगाल, असम और अण्डमान के जंगलों में पाये जाने वाले सदाहरित काष्ठीय आरोही पौधों की भारत में पायी जाने वाली एकमात्र जाति है।

इस पौधे का प्रवर्धन वर्षा ऋतु में कलम लगाकर किया जाता है। इसके फूल सुगन्धित, पीले रंग के होते हैं। पत्तियों पर अनेक कटे रोएँ होने के कारण इन्हें लकड़ी, सींग, हाथी दांत तथा धातु की वस्तुओं पर पालिय करने के लिए रंगमाल की तरह इस्तेमाल किया जाता है। कटे हुए तने से काफी मात्रा में जल निकलता है। तने पशुओं को बाँधने और बाड़ बनाने के काम आते हैं। लकड़ी हल्की, भूरी और कठोर होती है (Firminger, 630; Fl. Assam, I, 10).

मलाया में इसकी पत्तियाँ फोड़ों के उपचार में प्रयुक्त की जाती हैं। पौधे का काढ़ा पेचिय तथा र्गामी में पिलाया जाता है। जट्टे मन्मथ हैं और जन जाने पर लेप की जाती हैं (Burkill, I, 777).

Dilleniaceae; *D. scandens* Burkill = *Tetracera scandens* Merrill syn. *D. sarmentosa* Linn.

डेलिया कैवेनेलिस (कम्पोजिटो) DAHLIA Cav.

ले. — डाहलिया

Bailey, 1947, I, 951.

यह कंदयुत बहुवर्षी वृष्टियों का छोटा वंश है जिसमें दिखावटी फूल पाये जाते हैं। इसके लगभग 3,000 पादप-रूपों के नाम गिनाये तथा सूचीबद्ध किये जा चुके हैं। इस वर्ग की नामपद्धति के विषय में भ्रांतियाँ हैं क्योंकि उगाए गए अधिकांश पादपों का व्यवस्थित अध्ययन नहीं हो सका है और व्यवस्थावादी स्वतन्त्र नामकरण के फलस्वरूप बने वर्गों को मान्यता नहीं देते। डेलिया भारत भर में उद्यानों में प्रचुरता से उगायी जाती है। इसका प्रवर्धन बीजों, कलमों तथा कन्दों के विभाजन द्वारा किया जाता है। केवल विरल प्रकारों का ही कलम लगाकर रोपण होता है। यद्यपि डेलिया मैदानों में अच्छी तरह बढ़ती और फूलती है किन्तु पहाड़ी उद्यानों में ही इसके दुगने बड़े सुन्दर खिले हुये फूल देखने को मिलते हैं (Firminger, 483).

डेलिया के कन्दों का उपयोग लीबुलोस नामक शर्करा के उत्पादन में किया जाता है। इनमें इनुलिन की उच्च प्रतिशतता (कन्दों के शुष्क भार के अनुसार, 62%) रहती है जिसके जल-अपघटन से लीबुलोस बनता है। इनुलिन का संयोग ग्लूकोस (लगभग 6%) से होता है जिससे बारम्बार परिष्कार करने पर भी ग्लूकोस को दूर नहीं किया जा सकता (von Loesecke, 319; Wehmer, II, 1229; Hirst et al., J. chem. Soc. Lond., 1950, 1297).

इसके कन्दों के विश्लेषण से निम्नांकित मान प्राप्त हुए : आर्ब्रता, 83.3; नाइट्रोजनी पदार्थ, 0.74; इनुलिन, 10.33; तथा अपचायक शर्करायें, 1.27%। इसके अतिरिक्त फाइटिन, आर्जिनिन, ऐस्पैरैजिन, कोलीन, प्यूरीन क्षारक, हिस्टीडीन, ट्राइगोनेलिन तथा वैनिलिन भी पाये गये। पुष्पों का रंग दो प्रकार के विलेय रस-रंजकों-फ्लैवोनोन्स तथा ऐंथोसायनिन्स के कारण होता है। विभिन्न जातियों से पृथक् किये गये रंजकों में ऐपीजेनिन, ल्यूटेओलिन, डायोस्मिन तथा फ्रैगैनिन सम्मिलित हैं। आनुवंशिक अध्ययनों से यह पता चला है कि फूलों के रंग को नियन्त्रित करने वाले कारकों के मध्य ऐसी अन्तः-क्रिया होती रहती है जिससे कारकों की संख्या तथा उनके अनुपात के अनुसार रंजकों का आंशिक अथवा पूर्ण दमन हो जाता है (Wehmer, loc. cit.; Mayer & Cook, 224; Chem. Abstr., 1939, 33, 602; 1939, 30, 6414).

Compositae

डेलोनियस रेफिनेस्क (लेग्यूमिनोसी) DELONIX Rafin.

ले. — डेलोनियस

यह बड़े-बड़े सुन्दर फूलों वाले वृक्षों का वंश है जो एशिया और अफ्रीका के उष्णकटिबंधीय क्षेत्रों में पाया जाता है। भारत में इसकी केवल दो जातियाँ पाई जाती हैं जो शोभा के लिए उगाई जाती हैं।

Leguminosae

डे. एलाटा गैम्बल सिन. पायन्सियाना एलाटा लिनिअस
D. alata Gamble इवेत गोल्ड मोहर

ले. — डे. अलाटा

D.E.P., VI (1), 309; Fl. Br. Ind., II, 260.

यह एक सीधा, 6-9 मी. ऊँचा वृक्ष है जो काठियावाड़ के कुछ भागों तथा दक्षिण भारत में जंगली रूप में उगता देखा गया है। इसे प्रायः बीथियों में लगाया जाता है। पर्णवली पंख जैसी और फूल सुन्दर, पीले रंग के, लाल पुंतनुओं से युक्त और फूल गर्मी अथवा वर्षा के आरम्भ में खिलकर मुरझाने से पूर्व नारंगी पड़ जाने वाले होते हैं।

इस पौधे का प्रवर्धन कलम लगाकर अथवा वर्षा ऋतु में बीज बो कर किया जाता है। अत्यन्त तेजी से बढ़ने के कारण इस पौधे को तमिलनाडु में नदी और नहर आदि के किनारों की रक्षा के लिए लगाया जाता है। इसको हरित वाड़ के रूप में भी प्रयुक्त किया जाता है। टहनियों और पत्तियों को काट करके खाद बनाई जाती है (Gamble, 269; Sampson, Kew Bull. Addl Ser., XII, 1936, 66).

इसकी लकड़ी पीताभ इवेत, सामान्य भारी (भार, 688-720 किग्रा./घमी.), सघन तथा सम दानेदार होती है। इसकी छाल भी कुछ उतरती है किन्तु इसमें दरारें नहीं पड़ती। इसे आसानी से चिकनाया जा सकता है। यह लकड़ी के साज-सामान बनाने के लिए उपयुक्त है और मथानी, कंघे तथा दियासलाईयाँ बनाने के लिए काम में लाई जाती है (Gamble, loc. cit.).

कहा जाता है कि इसकी पत्तियाँ गठिया तथा वात रोगों में काम आती हैं। हिन्दू-चीन में इसकी छाल ज्वरहर और कालिक ज्वर रोधी मानी जाती है (Kirt. & Basu, II, 853).

Poinciana elata Linn.

डे. रोजिआ रेफिनेस्क सिन. पायन्सियाना रोजिआ वोजर
एक्स हुकर D. regia Rafin.

फ्लैमबायण्ट फ्लेम वृक्ष, गुलमोहर, गोल्ड मोहर

ले. — डे. रेजिआ

D.E.P., VI (1), 309; Fl. Br. Ind., II, 260.

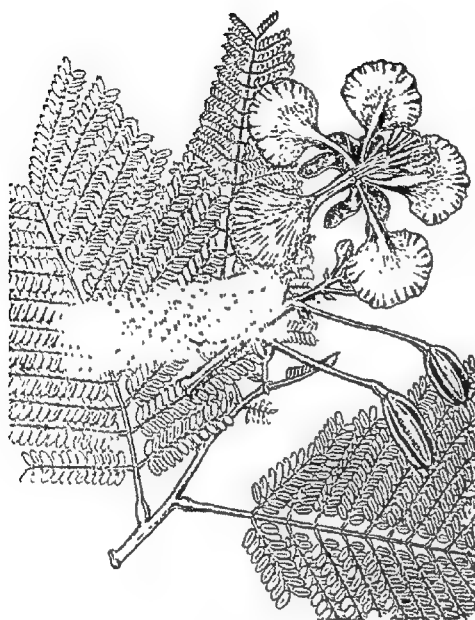
ले. — शिमा साकमुला; त. — मायारम.

यह एक प्रभावशाली मैथिली आकार का शोभाकारी वृक्ष है जो भारत के समस्त गर्म और नमी वाले क्षेत्रों में उद्यानों में तथा बीथियों के किनारे-किनारे लगाया जाता है। इसका फैला हुआ शिखर पंख जैसी पत्तियों का होता है। गर्मी के आरम्भ में जब पत्तियाँ झड़ जाती हैं और शाखें नंगी दिखाई पड़ने लगती हैं तो इस वृक्ष पर फूल खिलते हैं। इसके फूल गुच्छों में कई रंगों के, गहरे किरमिजी से लाल नारंगी अथवा हल्के गेरुये रंग के होते हैं। ये शाखाओं के साथ फैले हुए सीधे गुच्छों में अत्यधिक संख्या में एक साथ खिलकर सुन्दर दृश्य उपस्थित करते हैं। फूल जून या इससे भी बाद तक बने रहते हैं।

यह वृक्ष सामान्यतः वर्षा में बीज बो कर उगाया जाता है। कलम द्वारा भी इसे लगाया जा सकता है। यह तेजी से बढ़ता है और तेज हवा से हानि पहुँचने की सम्भावना बनी रहती है। जड़ें ऊपर-ऊपर फैलती हैं इसलिये इस वृक्ष के आसपास घास तथा अन्य पौधे नहीं उग पाते। वागानों में यह छायादार वृक्ष के रूप में उपयुक्त नहीं है (Troup, II, 337; Benthall, 171).

इसकी लकड़ी सफ़ेद, मृदु तथा हल्की (भार, 448 किग्रा./घमी.) होती है। इस पर अच्छी पालिश चढ़ती है लेकिन यह बहुत कम महत्व की लकड़ी है। इसमें लिग्निन, 21.27; राख, 0; और प्रोटीन, 1.79% रहता है (Gamble, 270; Chem. Abstr., 1946, 40, 5243).

बीजों में गोंद होता है जिसका उपयोग खाद्य तथा वस्त्रोद्योग में हो सकता है। ताजे बीजों में आर्ब्रता, 6.37; प्रोटीन, 60.31;



चित्र 122 - डेल्टोनिक्स रोजिआ

वसा, 9.68, कार्बोहाइड्रेट, 16.22; और राख, 7.42% पाई जाती है (Biol. Abstr., 1950, 24, 324; Chem. Abstr., 1934, 28, 2207)

Pomciana regia Bojer ex Hook.

डेल्टोनिक्स - देखिए मार्टिनिया

डेल्टोनिक्स बीवो (प्रेमिनो)
DESCHAMPSIA Beauv.

ने - डेल्टोनिक्स

D.E.P., III, 435; Fl. Br. Ind., VII, 273.

यह कमरदार स्पाईकिकाओं से युक्त गुच्छों में उगने वाली बहुवर्षी पत्तों का एक नष्ट वंश है जो उत्तरी गोलार्ध के शीतोष्ण भागों में पाया जाता है। भारत में इसकी दो जातियाँ मिलती हैं। डे. सोफिया बीवो (रफेट हेयर ग्रास) 30-90 सेंमी. ऊँची, घने गुच्छों वाली गोभाफारी घास है। यह हिमालय के ऐल्पीय एवं शीतोष्ण भागों में गर्मीर में भूटान तक 3,000 मी. से 4,950 मी. की ऊँचाई तक पाई जाती है। यह चारे की मोटी घास के रूप में उपयोगी है। फूलने के प्रारम्भ में घास में प्रोटीन की मात्रा में डेल्टोनिक्स की कमी हो जाती है (गुणगुच्छ प्रकट होने के समय 8.54% तथा पुष्पन प्रारम्भ होने पर 5.88%) प्रत्येक चारे के लिए घास की इसमें पूर्व ही नोट लेना चाहिए (Chem. Abstr., 1941, 35, 3728).

इंग्लैण्ड के किसान इससे दरवाजे की चटाईयाँ बनाते हैं। मुलायमे हुये पुष्पक्रम जाड़ों में सजावट के काम आते हैं (Bailey, 1947, 1, 988; Chittenden, II, 622).

Gramineae

डेस्कुरैनिया वेव एवं बर्थलाट (क्रूसीफेरी) DESCURAINIA Webb & Berth.

ले. - डेस्कुराइनिया

यह अमेरिका के शीत एवं शीतोष्ण भागों में पाई जाने वाली वृष्टियों का वंश है। इसकी कुछ जातियाँ मैकारोनेसिया से अफ्रीका होते हुये यूरोप तथा एशिया तक पाई जाती हैं।

Cruciferae

डे. सोफिया (लिनियस) वेव एक्स प्राण्टल सिन. सिसिम्ब्रियम सोफिया लिनियस D. sophia (Linn.) Webb ex Prantl.

पल्लवसबीड, पिल्लसबीड

ले. - डे. सोफिया

D.E.P., VI (3), 244; Fl. Br. Ind., I, 150.

हि. - खूबकल्लाना.

यह एकवर्षी अथवा द्विवर्षी वृष्टी है जिसकी ऊँचाई 30-60 सेंमी., पुष्प छोटे-छोटे, हल्के पीले तथा बीज हल्के भूरे, दीर्घवृत्तीय एवं चपटे होते हैं। यह शीतोष्ण हिमालय से कश्मीर से कुमायूँ तक 1,500 से 4,200 मी. की ऊँचाई तक तथा पूर्वी हिमालय में पायी जाती है।

रगड़ने से पौधे में से एक तीखी गन्ध निकलती है। इसका स्वाद तीक्ष्ण और तिक्त होता है। ये गुण इसमें पाये जाने वाले एक वाष्पशील ऐल्कलायड के कारण आते हैं। फोहों के बाह्योपचार में भी इसका प्रयोग किया जाता है। फूल और पत्तियाँ स्तम्भक तथा प्रतिस्कर्षी हैं।

बीज कुछ तिक्त, कफोत्सारक, पौष्टिक एवं शक्तिवर्धक होते हैं। ये ज्वर, दन्तनीशोथ और अतिसार में उपयोगी हैं। ये पयरी तथा क्रमि रोगों में भी दिये जाते हैं। सिसिम्ब्रियम इरियो लिनियस के स्थान पर अथवा उसमें मिलावट के लिये भी इनका उपयोग किया जाता है (Kirt. & Basu, I, 156; Chopra, 528; U.S.D., 1586).

Sisymbrium sophia Linn.: *Sisymbrium irio* Linn.

डेस्मास लॉरोरो (अनोलेसी) DESMOS Lour.

ले. - डेनमास

D.E.P., VI (4), 211; Fl. Br. Ind., I, 58.

यह वृक्षों तथा नटों अथवा आग्नेही झाड़ियों का वंश है जो पुरानी दुनिया के उष्ण एवं उपोष्ण क्षेत्रों में पाया जाता है। भारत में इसकी लगभग नौ जातियाँ मिलती हैं। पहले डेस्मास को अमेरिकी वंश अनोला लिनियस पुत्र में मिला दिया गया था।

डे. चिनेन्सिस लॉरोरो मिन. उ. इसका लंबा एक फूलने वाली या आग्नेही झाड़ी है जो उत्तर-पूर्वी दक्षिण एवं पश्चिमी भारत के वनों में पाई जाती है। यह घपने हरे-पीले तथा मुगन्धपूर्ण फूलों के गरम लताई जाती है। जड़ों का बकाय वनाकण प्रतिमाग तथा भूमि में दिया जाता है। फूलों में एक वाष्पशील तेल भी होता है। चीनी टगो रंग फूलों से नील-नील रंग निकालने हैं। डे. कोचिनचिनेन्सिस लॉरोरो

सिन. उ. डेस्मास रैयोश एक अन्य निकटतम सम्बन्धित जाति है जो असम में पाई जाती है। इसके लटकते हुये पुष्पगुच्छ पीले-हरे होते हैं। जड़ का क्वाथ ज्वरहर है (Burkill, I, 796; Bailey, 1947, I, 991)।

डे. पैनोसस सफोर्ड सिन. उ. पैनोसा डाल्जेल् एक छोटा वृक्ष है जो कोंकण, कनारा तथा मालाबार के वनों में 1,050 मी. की ऊँचाई तक मिलता है। इसकी भीतरी छाल से मजबूत रेखें मिलते हैं। डे. ड्यूमोसस सफोर्ड सिन. उ. ड्यूमोसा रॉक्सवर्ग और डे. प्रेकाक्स सफोर्ड सिन. उ. प्रेकाक्स हुकर पुत्र और थामसन असम में मिलते हैं। पहले के आरोही तने से पेय जल निकलता है। दूसरे के फूल मृदु-सुगन्धित होते हैं [Burkill, loc. cit.; Krishna & Badhwar, J. sci. industr. Res., 1947, 6(2), suppl., 18].

Annonaceae; *Unona* Linn. f.; *D. chinensis* Lour.; *U. discolor* Vahl; *D. cochinchinensis* Lour.; *U. desmos* Raeusch.; *D. pannosus* Saff.; *U. pannosa* Dalz.; *D. dumosus* Saff.; *U. dumosa* Roxb.; *D. praecox* Saff.; *U. praecox* Hook. f. & Thoms.

डेस्मास्टैकिया स्टेफ (ग्रेमिनी) DESMOSTACHYA Stapf

ले. — डेसमोस्टैकिया

यह गुच्छित बहुवर्षी घास का एकल प्ररूपी वंश है जो अफ्रीका तथा भारत में पाया जाता है।

Gramineae

डे. बाईपिनेटा स्टेफ सिन. एराग्रोस्टिस साइनोसुराडीजी वीवो *D. bipinnata* Stapf

ले. — डे. विपिनाटा

D.E.P., III, 253, 422; Fl. Br. Ind., VII, 324; Bor, Indian For. Rec., N.S., Bot., 1941, 2, 114, Pl. 24.

सं. और वं. — दर्भ, कुश; हिं. — डाभ, दूँवा; ते. — कुशदर्भ, दर्भ; क. — कुश.

यह लम्बी गुच्छेदार बहुवर्षी घास है जिसकी ऊँचाई 30-150 सेंमी. तक होती है और पुष्ट देहोंकर एक चमकदार आच्छद से ढका रहता है। यह भारत के समतल मैदानों में सर्वत्र पाई जाती है। मध्य-लीय क्षेत्रों की शुष्क तथा उष्ण परिस्थितियों में भी यह खूब उगती है और बड़े-बड़े गुच्छों के रूप में प्रकट होती है। जलमग्न अथवा निचली भूमि के क्षेत्रों में भी यह उगती है। वर्षा काल में यह फूलती है। कोमल रहने पर इसे भैंस खाती है किन्तु दूसरे पशु इसे पसन्द नहीं करते। दूसरी घासों के अभाव में चना तथा गेहूँ मिलाकर इसे पशुओं को खिलाते हैं (Blatter & McCann, 244).

घास का विश्लेषण करने पर (शुष्क भार पर) इसमें अपरिष्कृत प्रोटीन, 6.75; अपरिष्कृत तन्तु, 40.30; ईथर निष्कर्ष, 1.61; नाइट्रोजन रहित निष्कर्ष, 42.22; तथा कुल राख, 9.12% मिले (Lander, Misc. Bull. I.C.A.R., No. 16, 1942, 82).

कागज निर्माण के लिए कच्चे माल के रूप में इस घास की परीक्षा की गई है। इससे लुगदी (उपलब्धि, 35%) तो बनती है किन्तु उसे विरजित करना दुष्कर होता है। इसके रेखें छोटे (औसत, 0.94 मिमी.; अधिकतम, 1.50; निम्नतम, 0.54 मिमी.) तथा निर्वल होते हैं। प्रायः बिना किसी हानि के दूसरी लुगदियों में इसका 10%

तक मिलाकर प्रयोग में लाया जाता है। घास की पत्तियों तथा तने के विश्लेषण से (शुष्क आधार) जल-विलेय भाग, 8.61; पेक्टोस (वसा एवं मोमयुक्त), 32.13; लिग्निन, 10.35; सेलूलोस, 48.91; राख, 3.5% मिले। शुष्क घास की प्रति हेक्टर वाषिक उपज लगभग 2.5 टन है [Raftt, Indian For. Rec., 1913, 5 (3), 74].

यह घास रस्सी बनाने अथवा छप्पर छाने में भी काम में लाई जा सकती है। कलम मूत्रवर्धक माने जाते हैं। वे अतिसार एवं अत्यातव में भी प्रयुक्त होते हैं (Kirt. & Basu, IV, 2687).

Eragrostis cynosuroides Beauv.

डेस्मोट्राइकम ब्लूम (आर्किडेसी) DESMOTRICHUM Blume

ले. — डेसमोट्रिकम

Fl. Br. Ind., V, 714.

अधिपादपीय आर्किडों का यह वंश दक्षिण-पूर्व एशिया में पाया जाता है। डे. फिम्ब्रिएटम ब्लूम सिन. डेण्ड्रोबियम मैक्रेई लिण्डले (सं., हिं., वं. एवं म. — जीवन्ति) सिक्किम, खासी पहाड़ियों तथा पश्चिमी घाट में 2,400 मी. तक की ऊँचाई पर पाया जाता है। इसका प्रकन्द विसर्पी; तना चिकना और लटका हुआ तथा 60-90 सेंमी. लम्बा होता है। फूल श्वेत अथवा गुलाबी, चित्तीदार होते हैं। यह शामक तथा बाजीकर पौधा है। यह प्रायः उत्तेजक एवं टानिक की भाँति प्रयुक्त होता है। पौधे के तने और जड़ से एक ऐल्कलायड जीवण्टाइन की रंच मात्रा तथा तिक्त स्वाद के दो अम्ल, यथा ऐल्फा तथा बीटा जीवाण्टिक अम्ल, पाये जाने की सूचना है (Chopra, 482; Caius, J. Bombay nat. Hist. Soc., 1936, 38, 794; Dymock, Warden & Hooper, III, 391).

Orchidaceae; *D. fimbriatum* Blume; *Dendrobium macraei* Lindl.

डेस्मोडियम देसवो (लेग्यूमिनोसी) DESMODIUM Desv.

ले. — डेसमोडिऊम

यह बहुवर्षी अथवा एकवर्षी वृष्टियों या झाड़ियों का एक विशाल वंश है जो संसार के सभी उष्ण एवं उपोष्ण क्षेत्रों में पाया जाता है। भारत में इसकी लगभग 38 जातियाँ मिलती हैं जिनमें से कुछ हरी खाद या चारे की तरह काम में लाई जाती हैं। इनमें से अधिकांश औषधीय हैं।

Leguminosae

डे. गंजेटिकम द कन्दोल *D. gangeticum* DC.

ले. — डे. गंजेटिकम

D.E.P., III, 82; Fl. Br. Ind., II, 168; Kirt. & Basu, I, 758, Pl. 311.

सं. — शालपर्णी; हिं. — सारिवन, सालपन, सालवन; वं. — साल पानी; ते. — गीटानरमो; त. — पुल्लड़ी; मल. — पुल्लड़ी; उ. — सालोपोणि; क. — सालपर्णी.

यह एक सामान्य झाड़ी है जो हिमालय में 1,500 मी. की ऊँचाई तक तथा भारत में लगभग सभी प्रदेशों में पाई जाती है। यह अत्यन्त



चित्र 123 - डेस्मोटियम गैजेटिकम

परिवर्तनशील है और बंजर भूमि तथा वनों में अनेक रूपों में मिल जाती है। इसकी जड़ों का उपयोग ज्वरहर, तिक्त टानिक, कफोत्सारक, रूपांतरक तथा मूत्रल की तरह किया जाता है (Koman, 1920, 32)।

चाय तथा रबड़ इलाकों में हरी खाद तथा आवरण फसल के रूप में इस पौधे के प्रयुक्त किये जाने के प्रयत्न हुये हैं किन्तु चाय उद्यानों के लिए इसे उपयुक्त नहीं पाया गया। इसके रेशेदार तने कागज बनाने के लिए उपयुक्त बताये जाते हैं (Burkill, I, 793; Dalziel, 239)।

डे. टार्टुओसम द कन्दोल D. tortuosum DC. बेगर बीड

ते. - डे. टार्टुओसम

Bailey, 1949, 556.

यह सीधी, एकवर्षी, 1.8-2.4 मी. ऊँची बूटी है जिसे मध्य घमेरिना से लेकर चारे के लिए भारत के कई भागों में उगाया जाता है। चारे की शीतत उपज (पूना फार्म में पांच वर्षों की शीतत वार्षिक उपज, 4,174 किग्रा./हेक्टर) कम होती है किन्तु यह हल्की बलुई

मिट्टियों को खेती योग्य बनाये रखने में उपयोगी है। इसके हरे पदार्थ के विश्लेषण से निम्नलिखित मान प्राप्त हुये : शुष्क पदार्थ, 27.1; पचनीय प्रोटीन, 3.2; कुल पचनीय पोषक, 14.3%; एवं पोषक अनुपात, 1 : 3.5. शुष्क घास में शुष्क पदार्थ, 90.9; पचनीय प्रोटीन, 11.1; एवं कुल पचनीय पोषक, 49.2%; पोषक अनुपात, 1 : 3.4. मुगियों के आहार में प्रोटीन पूरक के रूप में यह अल्फाफा के समान अथवा उससे कुछ उत्तम बताई जाती है (Henderson, *Bull. agric. Res. Inst., Pusa*, No. 150, 1923, 17; Mann, *Bull. Dep. Agric., Bombay*, No. 100, 1921, 222; Morrison, 954; *Chem. Engng News*, 1949, 27, 1917)।

डे. ट्राइक्वेट्रम द कन्दोल D. triquetrum DC.

ते. - डे. ट्रिकुएट्रम

Fl. Br. Ind., II, 163.

मल. - अडखा पनाल.

असम - उलूचा; चम्बई - काकगंगा.

यह खड़ी या कम खड़ी उप-झाड़ी है जो 90-240 सेंमी. ऊँची होती है और मध्य तथा पूर्वी हिमालय में 1,200 मी. की ऊँचाई तक कुमायूँ, सिक्किम तथा खासी पहाड़ियों से लेकर दक्षिणी भारत तथा श्रीलंका तक पाई जाती है। रबड़ बागानों में हरी खाद की भाँति इसे उगाने के परीक्षण हुए हैं। यह छाया तथा धूप दोनों में उगती है। पत्तियाँ काफ़ी होती हैं किन्तु खाद के रूप में इसकी उपादेयता सिद्ध नहीं हो सकी। ऊपरी असम में रहने वाले पहाड़ी चाय के स्थान पर इसकी पत्तियों का उपयोग करते हैं। पत्तियों का रस अथवा पिसी पत्तियों से बनाई गई गोलियाँ बवासीर के इलाज में काम आती हैं। शुष्क पत्तियों में 7.1-8.6% टैनिन पाया जाता है (Burkill, I, 795; Fl. Assam, II, 57)।

डे. ट्राइफ्लोरम द कन्दोल D. triflorum DC.

ते. - डे. ट्रिफ्लोरम

D.E.P., III, 84; Fl. Br. Ind., II, 173; Kirt. & Basu, I, 760, Pl. 310B.

हि. तथा बं. - कुडालिया; म. - जंगली मेथी, रनमेथी; ते. - मुंतमन्दु; त. - सिरुपुल्लडी; क. - काडुपुल्लमपुरसी.

यह छोटी, घिसटने वाली, बहुशाखित बहुवर्षी बूटी है जो हिमालय में 2,100 मी. की ऊँचाई तक एवं लगभग सम्पूर्ण भारतीय मैदानों में उगती है। यह छोटी बलोवर या तिनपतिया (मेडिकागो जाति) से काफ़ी मिलती-जुलती है और जड़ें फेंककर भूमि पर इतना फैल जाती है कि एक घनी चटाई सी बन जाती है। यह शुष्क पथरीली मिट्टियों के लिए विशेष उपयुक्त है। इससे भूमि का कटाव भी रकता है। नारियल उत्पादक क्षेत्रों में इसे हरी खाद की तरह तथा रबड़ के इलाकों में आच्छादन फसल की भाँति उगाकर देसा गया है। किन्तु जहाँ अन्य आच्छादन फसलें उग सकती हैं वहाँ इसे नहीं उगाया जाता क्योंकि इसकी घनी जड़ें भूमि-नाशन में बाधा डालती हैं। चाय बागानों के लिए यह अनुपयुक्त है। खाद के रूप में प्रयुक्त होने वाले हरे भागों के विश्लेषण से निम्नलिखित मान प्राप्त हुये (शुष्क आधार पर): कार्बनिक पदार्थ, 91.3; रास, 8.7; नाइट्रोजन, 2.84; कैल्शियम (CaO), 1.08; पोटैश (K₂O), 1.36; और फॉस्फोरिक अम्ल (P₂O₅), 0.32% (A Manual of Green Manuring, 13, 130; Use of Leguminous Plants, 201)।

यह पौधा चरागाहों तथा घास के मैदानों के लिए उपयुक्त है और अच्छा चारा है। हवाई द्वीप से प्राप्त हरे चारे का विश्लेषण करने पर (शुष्क आधार पर) जो मान प्राप्त हुये वे हैं : कच्चा प्रोटीन, 14.5; ईथर निष्कर्ष, 4.1; अपरिष्कृत तन्तु, 33.5; नाइट्रोजनरहित निष्कर्ष, 40.0; एवं कुल राख, 7.9% (Dalziel, 239; de Sornay, 108; *Jt Publ. imp. agric. Bur.*, No. 10, 1947, 200).

देशी औषधियों में इस पौधे का कई प्रकार से उपयोग होता है। घावों तथा फोड़ों पर इसकी ताजी पत्तियाँ लगाई जाती हैं। ये स्तन्यवर्धक हैं और अतिसार में दी जाती हैं (Burkill, I, 795; Chandrasena, 146).

Medicago sp.

डे. डिफ्यूजम द कन्दोल *D. diffusum* DC.

ले. — डे. डिफ्यूजम

D.E.P., III, 82; Fl. Br. Ind., II, 169.

वर्चई — पटाडा शेवरा, चिकटा.

यह औषधीय पादप है जिसकी ऊँचाई 30–60 सेंमी. होती है। यह बंगाल, विहार, उड़ीसा तथा पश्चिमी भारत के मैदानों में और विन्ध्य प्रदेश में 1,200 मी. की ऊँचाई तक पाया जाता है। इसे चारे की तरह काम में लाते हैं। हरी खाद के लिए भी इसकी परीक्षा की गई है। कपास उगाने वाली काली मिट्टी के क्षेत्रों में प्रयोगात्मक परीक्षणों द्वारा यह देखा गया है कि सनई (क्रोटालेरिया जंशिया लिनियस) की तुलना में डे. डिफ्यूजम की हरी खाद की उतनी ही मात्रा देने से भूमि संरचना में अधिक सुधार होता है और उसमें नाइट्रोजन की मात्रा में भी अधिक वृद्धि होती है। महाराष्ट्र से सूचना मिली है कि जैन्थोमोनास डेस्मोडाइस उपल और पटेल के कारण पत्तियों पर पीताम भूरे धब्बे पड़ जाते हैं और कभी-कभी विपत्रण भी हो जाता है (Basu & Kibe, *Poona agric. Coll. Mag.*, 1945, 36, 13; Patel, *Curr. Sci.*, 1949 18, 213).

Crotalaria juncea Linn.; *Xanthomonas desmodii* Uppal & Patel

डे. पालीकार्पम द कन्दोल = डे. हेटेरोकार्पम (लिनियस) द कन्दोल *D. polycarpum* DC.

ले. — डे. पोलिकार्पम

D.E.P., III, 83; Fl. Br. Ind., II, 171; Kirt. & Basu, I, 760, Pl. 312.

ले. — चेप्पुतट्टा; उ. — कृष्णपानी.

संथाल — बड़फोल.

यह सीधी या लगभग सीधी 60–150 सेंमी. ऊँची झाड़ी है। यह भारत के सभी स्थानों पर तथा हिमालय में 1,500 मी. की ऊँचाई तक पायी जाती है। नारियल की खेती वाले क्षेत्रों में हरी खाद तथा आच्छादन फसल के रूप में इसका परीक्षण किया गया है। ऊँचाई पर स्थित सीढ़ीदार खेतों तथा ढलवाँ भूमियों को जल क्षरण से सुरक्षित रखने के लिए इसे उगाते हैं। इस पौधे का क्वाथ पौष्टिक तथा खाँसी में लाभदायक है (Burkill, I, 793; Sampson, *Kew Bull.*, 1928, 168).

D. heterocarpum Linn. DC.

डेस्मोडियम की कई जातियों के हरी खाद के रूप में वागानों में आवरण शस्य के रूप में उगाने के परीक्षण हुये हैं। इनमें डे. सेफालोटीज वालिश = डे. टेंगुलेयर (रेत्सियस) सण्टपाउ, डे. गाइरोइडीज द कन्दोल, डे. हेटेरोफिलम द कन्दोल, डे. लैटोफोलियम द कन्दोल = डे. लैजियो-कार्पम द कन्दोल, डे. रेट्रोफ्लेक्सम द कन्दोल = डे. स्टाइरसीफोलियम मेरिल और डे. स्काल्प द कन्दोल सम्मिलित हैं। इनमें से कुछ जातियों और डे. गाइरन्स द कन्दोल = डे. मोटोरियम मेरिल (टेलीग्राफ प्लाण्ट, सीमाफोर प्लाण्ट), डे. पार्वीफोलियम द कन्दोल = डे. माइक्रोफिलम द कन्दोल; डे. पुलकेलम वेंथम, डे. टिलिएफोलियम जी. डान, डे. अम्बलेटम द कन्दोल की पत्तियाँ चारे की तरह काम में लाई गई हैं। अन्तिम उल्लिखित पौधा घोड़ों को विशेष प्रिय है (Use of Leguminous Plants, 198; A Manual of Green Manuring, 102; Sampson, loc. cit.; Macmillan, 427–28; Dalziel, 239; Burkill, I, 793; de Sornay, 104; Fl. Assam, II, 46; *Jt Publ. imp. agric. Bur.*, No. 10, 1947, 113).

कुछ जातियों जैसे डे. लैटोफोलियम एवं डे. टिलिएफोलियम की छाल से कागज बनाया जाता है। अन्तिम जाति की छाल से टोकरी तथा रस्से बनाने योग्य रेशे निकलते हैं। इसकी लकड़ी अच्छा ईंधन है।

प्रायः सभी उपर्युक्त जातियाँ औषधीय हैं। डे. गाइरोइडीज की पत्तियों की पुल्टिस कटि-वेदना में लेप की जाती है। डे. टिलिएफोलियम की जड़ें तिव्र और वातसारी होती हैं। डे. रेट्रोफ्लेक्सम की जड़ें आतंजक, क्षुधावर्धक और मृदु रेचक होती हैं। डे. हेटेरोफिलम की जड़ें वातसारी, बलवर्धक तथा मूत्रवर्धक होती हैं और पत्तियाँ स्तन्यवर्धक की भाँति प्रयुक्त होती हैं। पूरे पौधे का क्वाथ बनाकर उदरपीड़ा तथा अन्य उदर विकारों में पिलाते हैं। डे. पुलकेलम की छाल का चूर्ण अथवा क्वाथ बनाकर अतिसार तथा रुधिर स्राव में देते हैं (Burkill, I, 793; Kirt. & Basu, I, 763; Chandrasena, loc. cit.).

D. cephalotes Wall. = *D. triangulare* (Retz.) Santapau; *D. gyroides* DC.; *D. heterophyllum* DC.; *D. latifolium* DC. = *D. lasiocarpum* DC.; *D. retroflexum* DC. = *D. styracifolium* Merrill; *D. scalpe* DC.; *D. gyrans* DC. = *D. motorium* Merrill; *D. parvifolium* DC. = *D. microphyllum* DC.; *D. pulchellum* Benth.; *D. tiliaefolium* G. Don

डेंडेलियान — देखिए टैरेक्सैकम

(परिशिष्ट : भारत की सम्पदा)

डेक्टलिकैपनास — देखिए डाइसेण्ट्रा

डेक्टलिस लिनियस (ग्रेमिनी) *DACTYLIS* Linn.

ले. — डाक्टलिस

D.E.P., III, 1; Fl. Br. Ind., VII, 334; Bailey, 1947, I, 950, Fig. 1203.

यह एकलप्ररूपी वंश है जिसमें डे. ग्लोमेरेटा लिनियस (शिखिपाद दुर्वा, उद्यान घास) प्रमुख है। यह बहुवर्षी, गुच्छेदार, 0.6–0.9 मी. ऊँची, चौड़ी पत्तियों एवं पुंजित पुष्पगुच्छ वाली घास है। आदि रूप में यह यूरोप तथा एशिया के शीतोष्ण प्रदेशों से सम्बद्ध है फिर भी यह अनेक देशों में स्वाभाविक रूप से उगाई जाने लगी है। भारतवर्ष में यह पंजाब, दक्षिणी पश्चिमी हिमालय प्रदेश में कश्मीर से कुमायूँ तक (2,400–3,000 मी.), असम तथा

नीलगिरि पर्वत में (2,100-2,400 मी. ऊँचाई) पाई जाती है। नीलगिरि में तो यह घास जंगली अवस्था धारण कर चुकी है।

शीतोष्ण प्रदेशों में दूब को चारे की घास के रूप में प्रथम स्थान प्राप्त है। इस घास के कई विभेद विकसित हुये हैं जिनमें से कुछ खुरदुरे तथा तनेदार और कुछ तिनके के लिए अथवा शीघ्र ही चरा लिए जाने के लिए उत्तम हैं। यह घास प्रायः सभी प्रकार की मिट्टियों में उगती है किन्तु भारी मिट्टी, जैसे चिकनी अथवा चिकनी दोमट मिट्टियों में यह टग से बढती है। इसकी जड़े गहराई तक जाती हैं और भूमि अपक्षरण रोकने के लिए ये अत्यंत उपयोगी हैं। यह छाया में उगने के लिए विशेष रूप से अभ्यस्त है (Bell, 47; Nelson, 422; Piper, 176; Hutchesson *et al.*, 285).

इन घास का प्रवर्धन खंडों द्वारा किया जाता है। इसकी खेती सरल है। अधिक चरा लिए जाने पर भी यह नष्ट नहीं होती बल्कि इससे लगातार पत्तियाँ निकलती हैं। खूबी घास बनाने के लिए फूल लगते ही इसे काट लेना चाहिए अन्यथा बाद में यह काष्ठमय हो जाती है। इस अवस्था में उपज भी काफी मिलती है और मवेशी, भेड़ें तथा घोड़े इसे बड़े चाव से खाते हैं।

ऊटकमंड में यह घास एंटाइलोमा क्रैस्टोफाइलम सक्कारडो तथा एं. डैक्टिलिडिस द्वारा पर्णचित्री रोग से प्रभावित देखी गई है (Rama-krishnan & Srinivasan, *Curr. Sci.*, 1950, 19, 216).

इस घास के विश्लेषण से निम्नलिखित मान प्राप्त हुये : हरे चारे में - आर्द्रता, 66.9-77.3; प्रोटीन, 1.9-4.1; वसा, 0.7-1.3, नाइट्रोजनरहित निष्कर्ष, 9.9-16.6; रेशे, 5.8-11.1; तथा राख, 1.6-2.9%। सूखी घास में - आर्द्रता, 6.5-13.6; प्रोटीन, 6.6-1.4; वसा, 1.7-3.3; नाइट्रोजनरहित निष्कर्ष, 32.9-48.6; रेशे, 28.9-38.3; तथा राख, 5.0-7.9%। हरी घास में एक जल-विलेय फ्लवोडोन भी होता है। घास के प्रोटीन में 13.1% ग्लूटेमिक अम्ल; 5.32% ऐस्पार्टिक अम्ल; तथा 2.52% प्रोलीन भी पृथक् किये गये हैं। दूब के फॉस्फैटाइडों में से लेनिथिन, सेफैलिन तथा फॉस्फैटिडिक अम्ल के कैल्सियम या मैग्नीशियम लवण पहचाने जा चुके हैं। फॉस्फैटाइडों में विद्यमान वसा-अम्लों में मत्पुन अम्ल, लिनोलीक अम्ल तथा लिनोलेनिक अम्ल प्रमुख हैं (Winton & Winton, I, 640; *Chem. Abstr.*, 1939, 33, 9519; 1936, 30, 3845; 1933, 27, 521).

इस घास में β -कैरोटीन (4.25 भाग प्रति लाख) तथा जैन्थोफिल (14.86 भाग प्रति लाख) भी पाये जाते हैं। चरागाहों से प्राप्त हरी घास में विटामिन ए की सक्रियता 275 ± 13 मुपक इकाई प्रति ग्राम देखी गई। साइलेंज में परिणत की गई घास में ताजी घास की अपेक्षा कैरोटीन की मात्रा अधिक थी। सुनाई हुई घास में β -कैरोटीन, जैन्थोफिल तथा स्टैरॉल मुख्यतः साइटोस्टैरॉल जिसमें 1% एर्गोस्टेरेल था, मुख्यतः पाये गये। पत्तियों में फेनोलीक या फेनोलीकल रजक मुक्त एवं संयुक्त अवस्था में ग्लूकोसाइडीय रूप में पाया जाता है (*Chem. Abstr.*, 1935, 29, 1751, 2184; 1936, 30, 183, 4196; Thomson, *Biochem. J.*, 1926, 20, 1026).

इसके पत्राग के जलीय निष्कर्ष में 0.5% डैक्टिलिन ($C_{23}H_{28}O_{15}$; ग. बि., 183-185) रहता है जो 5% मलयुगिक अम्ल के द्वारा जल-अपघटित किये जाने पर एक हेक्मोस तथा एक पीना योगित (ग. बि., 298-300) देता है। इसके बीज में 0.44% आर्द्रता, 4.79% चर्मा, 14.75% प्रोटीन, 17.45% मैग्नीशियम, तथा 8.25% राख पाई गई। बीज के सम्पूर्ण प्रोटीन का 25% प्रोलेमीन के रूप में रहता है (*Chem. Abstr.*, 1931, 25, 4580; 1939, 33, 1783).

डै. लोमेराटा वैर. बरीगेटा हाटॉरम (फीता घास या चितकबरी शिखिपाद घास) एक बहुवर्षी आलंकारिक किस्म है जिसकी पत्तियों में चांदी-सी धारियाँ रहती हैं जिससे यह उद्यानों के किनारे-किनारे लगाने तथा क्यारी संरचना में उपयोगी है (Firminger, 289).

Gramineae; Dactylis glomerata Linn.; *Entyloma crastophilum* Sacc.; *E. dactylidis* (Pass.) Cif.; *D. glomerata* var. *variegata* Hort.

डैक्टिलोक्टेनियम विल्डेनो (ग्रेमिनी) DACTYLOCTENIUM Willd.

ले. - डाक्टिलोक्टेनियम

यह एकवर्षी या बहुवर्षी घासों का लघु वंश है जो विश्व के उष्ण, उपोष्ण तथा शीतोष्ण प्रदेशों में बहुतायत से पाया जाता है। इसकी दो जातियाँ भारत में पाई जाती हैं जिनमें से डै. ईजिप्टियम चारे की घास के रूप में प्रसिद्ध है।

Gramineae

डै. ईजिप्टियम वीवो सिन. एल्यूसाइनी ईजिप्टियाका डेस्फोंटेंस
D. aegyptium Beauv.

ले. - डा. एजिप्टियम

D.E.P., III, 236, 422; Fl. Br. Ind., VII, 295; Bor, *Indian For. Rec.*, N.S., Bot., 1941, 2, 112, Pl. 23.

हि. - मकरा, मकरी.

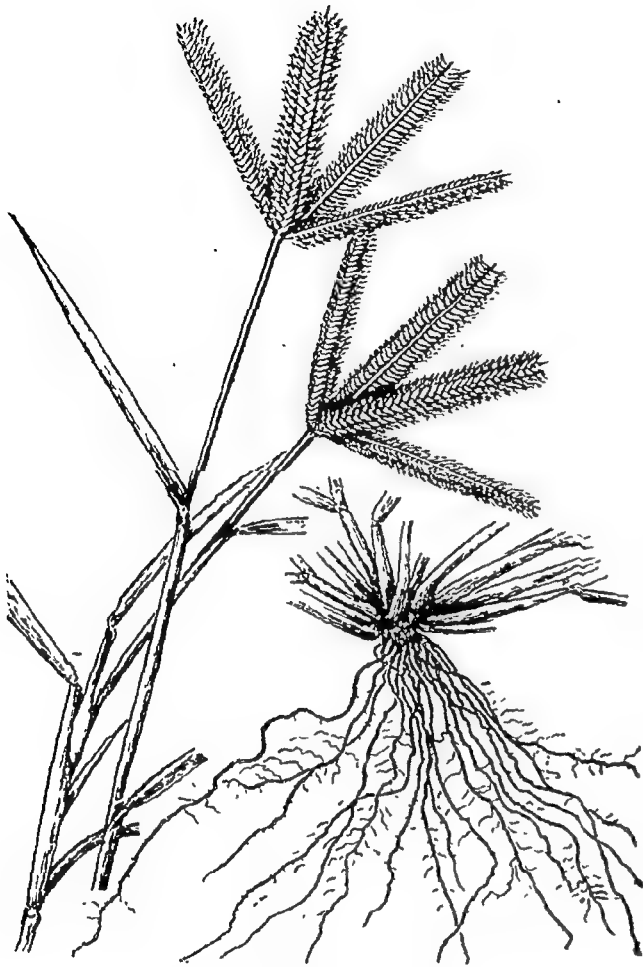
पंजाब - मधाना, चिम्बारी; मध्य प्रदेश - मथना, चिक्कारा; महाराष्ट्र - मांची, आंची; उड़ीसा - काकुरिया.

यह अत्यन्त बहुरूपी एकवर्षी घास है जो ऋजु अथवा सर्पी तनों वाली, 15-45 सेमी. लम्बी होती है। पर्व संघियों में जड़ें निकाल कर अत्यंत प्रभावित होती हैं। पकने पर 2-6 अंगुल्याकार नोंकदार पुष्पक्रम लगते हैं। इसके दाने लाल, झुरीदार तथा उपगोलाकार होते हैं।

यह घास भारतवर्ष के मैदानी भागों में सामान्य है और पहाड़ियों में 1,500 मी. की ऊँचाई तक पाई जाती है। अनुर्वर मुष्क मिट्टियों में यह भूमर्षी बन जाती है और खुले मैदानी तथा खेतों में यह सरपतवार के रूप में रहती है। यह घोंटो तथा पशुओं के लिए उपयोगी चारा है किन्तु इसका चारा-मान सामान्य स्तर में न्यून माना जाता है। हरे चारे की प्रति हेक्टर उपज 4,000 किया. से कम होती है। दक्षिणी अफ्रीका में यह घास के मैदानों में उगाई जाती है (Fl. Assam, V, 110; *Bull. Dep. Agric.*, Bombay, No. 104, 1920, 40; Bews, 178).

हरे चारे (दुग्धावस्था में) के विश्लेषण में निम्नांकित मान (घुन आधार) प्राप्त हुये : अपरिपूत प्रोटीन, 7.25; रेशे, 33.74; नाइट्रोजन मुक्त निष्कर्ष, 45.32; ईशर निष्कर्ष, 1.23; गुन राग, 12.46; हाइड्रोक्सीमैग्निक अम्ल में विलेय राग, 8.65; CaO, 0.91; P₂O₅, 0.49; MgO, 0.70; Na₂O, 0.74; तथा K₂O, 3.75% (Sen, *Misc. Bull. I.C.A.R.*, No. 25, 1946, 12).

न्यू साउथवेल्स में उगने वाली घास में नायनोजनीय ग्लाइकोसाइड पाये गये हैं (Burkill, I, 747).



चित्र 124—डैन्थोनिया इजिप्टियम

दुर्भिक्ष के समय भारत तथा अफ्रीका में इसके बीज खाये जाते हैं। बीजों को पीस करके आटा बनाया जाता है जिससे रोटियाँ तैयार की जाती हैं किन्तु इनका स्वाद रुचिकर नहीं होता है और इनके खाने से आन्तरिक विकार उत्पन्न हो जाते हैं। इन बीजों का औषधीय उपयोग भी है। अफ्रीका में यकृत की पीड़ा में बीजों का काढ़ा पिलाया जाता है (Burkill, loc. cit.; Kirt. & Basu, IV, 2697)।

डै. सिंडिकम वासडुवाल सिन. एल्यूसाइनी सिंडिका डुथी, ए. ऐरिस्टेटा एहरेनबर्ग एक्स वासडुवाल (पंजाब—भोवरा) एक छेड़ीदार दुर्बल घास है जो उत्तरी भारत के रेतीले भागों में पाई जाती है और चारे के लिये उत्तम मानी जाती है (Blatter & McCann, 264)।

Eleusine aegyptiaca Desf.; *D. scindicum* Boiss.: *Eleusine scindica* Duthie; *E. aristata* Ehrenb. ex Boiss.

डैक्रिडियम सोलैंड (टैक्सेसी) DACRYDIUM Soland

ले. — डाक्रिडियम

D.E.P., III, 1; Fl. Br. Ind., V, 648.

यह सदापर्णी वृक्षों अथवा झाड़ियों की लगभग 16 जातियों का वंश है जो ब्रह्मा से लेकर न्यूजीलैंड तक पाया जाता है। यह चिली में भी पाया जाता है।

डै. एलैटम वालिश एक आकर्षक पिरामिड के आकार का वृक्ष है जिसकी शाखायें फैली हुई और उपशाखायें निलम्बी होती हैं। इसे भारत के कुछ भागों में लगाया जाता है। इसका प्रवर्धन कलम लगाकर किया जाता है। इसका काष्ठ (भार, 736 किग्रा./घमी.) गुलाबी-भूरे रंग का, महीन दानेदार तथा सरलता से गढ़ा जा सकने वाला होता है। यह तख्तों, पेटियों, पृष्ठावरणों तथा दरवाजों और खिड़कियों की चौखटों के लिए उपयुक्त है। इसके काष्ठ के भापीय आसवन द्वारा लगभग 4% संध तैल प्राप्त होता है जिसमें सेडीन तथा सेडोल रहते हैं। इस वंश की दूसरी शोभाकारी जाति डै. टैक्साइडीस ब्रांगिनियर्ट और ग्रिस्वाख है जिसकी वृद्धि वर्षा के दिनों में कलम लगाकर सरलता से की जाती है (Burkill, I, 746; Wehmer, II, 1285; Firminger, 285)।

डैक्रिडियम की अनेक जातियाँ इमारती लकड़ी के वृक्षों के लिए विख्यात हैं जिनसे प्राप्त लकड़ी अत्यन्त टिकाऊ होती है। काष्ठ से निष्कपित रेजिन में मुख्यतः उदासीन आक्सीजनीकृत डाइटपीन-मैनुल, मैनायल ऑक्साइड तथा 3-कीटोमैनायल ऑक्साइड रहते हैं (Brandt & Thomas, N. Z. J. Sci. Tech., 1951, 33B, 30)।

Taxaceae; *D. elatum* Wall.; *D. taxoides* Brongn. & Griseb.

डैन्थोनिया द कन्दोल (धेमिनी) DANTHONIA DC.

ले. — डैन्थोनिया

D.E.P., III, 435; Fl. Br. Ind., VII, 281.

यह बहुवर्षी, कदाचित् ही एकवर्षी घासों का वंश है जो शीतोष्ण तथा उष्ण क्षेत्रों में, विशेषतः दक्षिणी अफ्रीका एवं ऑस्ट्रेलिया में पाया जाता है। भारत में इसकी पाँच जातियाँ ज्ञात हैं। डै. जैकमोंटार्ड वोर. सिन. डै. कैंचेमायरियाना एक तुणयुत बहुवर्षी है जो 0.3-0.6 मी. ऊँची होती है और शीतोष्ण तथा एल्पीय हिमालय में गहवाल से लेकर सिक्किम तथा असम तक 3,000 से 4,200 मी. की ऊँचाई तक पायी जाती है। यह चारे की उत्तम घास मानी जाती है।

इस वंश की कई जातियाँ ऑस्ट्रेलिया के शीतोष्ण क्षेत्रों में, मुख्य रूप से चरागाहों के लिए, उपयुक्त मानी जाती हैं। ये जातियाँ न्यून उर्वरता और वर्षा तथा ताप की विषम परिस्थितियों के परिवर्तनों के प्रति अपने को अनुकूल बना सकती हैं। यदि आवर्ती चराई करके इन्हें अपरिपक्व अवस्था में रखा जाए तो ये अत्यन्त पोषणयुक्त चारा प्रदान करती हैं (Bull. Coun. sci. industr. Res., Austr., No. 69, 1932)।

Gramineae; *D. jacquemontii* Bor.; *D. cachemyriana*

डैफोडिल — देखिए नार्सिसस

डैफनीफिलम ब्लूम (यूफोर्बिएसी) DAPHNIPHYLLUM Blume

ने. - डाफनीफिल्लूम

D.E.P., III, 27; Fl. Br. Ind., V, 353.

यह इंडो-मलय क्षेत्र तथा पूर्वी एशिया में पाये जाने वाले सदापर्णी वृक्षों का वंश है।

डै. हिमालयेंस म्यूलर आव आर्गो (जीनसार - रातेन्दु; कुमार्य - रवत चंदन; नेपाल - लाल चंदन; खासी पहाड़ी - डींग सिरंगयुली) एक लघु वृक्ष है जो हिमालय से पूर्व हिमालय पर्वत में तथा ऊपरी असम तथा खासी पहाड़ियों में 1,200 से 3,000 मी. की ऊँचाई तक पाया जाता है। इसका काष्ठ (भार, 544-720 किग्रा./घमी.) घूसर-भूरे रंग का होता है जिसमें कभी-कभी चटक किरमिजी लाल रंग की धारियाँ रहती हैं। यह मुलायम होता है और इसके दाने पास-पास तथा समान रूप से वितरित रहते हैं। यह खराद और नक्काशी के कामों के लिए उपयुक्त है। पर्वतीय लोग रंगीन काष्ठ को घिसकर मस्तक पर तिलक लगाते हैं।

डै. नाइलघेरेंस रोजेंथ सिन. डै. ग्लौसेन्स म्यूलर आव आर्गो नान ब्लूम; हुकर पुत्र (फ्लो. ग्री. इ.) (ते. - पुत्तिका; त. - कोल्लावन; क. - नीरजेष; नीलगिरि पहाड़ी - नीरचेष) एक बड़ी झाड़ी अथवा मध्यम आकार का वृक्ष है जो सामान्य रूप से नीलगिरि, अन्नामनाई, पलनी तथा अन्य दक्षिणी पर्वत श्रेणियों के झोला वनों में (1,200 मी. से ऊपर) तथा श्रीलंका के पहाड़ी वनों में पाया जाता है। इसका काष्ठ (भार, 624-656 किग्रा./घमी.) ईंधन के लिए प्रयुक्त होता है (Gamble, 609).

Euphorbiaceae; *D. himalayense* Muell. Arg.; *D. neilgherrense* Rosenth. syn. *D. glaucescens* Muell. Arg. non Blume

डैफने (थाइमेलेसी) DAPHNE

ने - डाफने

यह पर्णपाती अथवा सदापर्णी झाड़ियों या लघु वृक्षों का वंश है जो एशिया तथा उत्तरी एशिया तथा यूरोप में पाया जाता है। भारत में इसकी 8 जातियाँ पाई गई हैं। कुछ जातियाँ आकर्षक पर्णवर्णी और सुगंधित पुष्पों के कारण आलंकारिक मानी जाती हैं। कई जातियों में तीक्ष्ण विष पाया जाता है और वे बमनकारी तथा रक्चक होती हैं। कुछ की छालों में कागज तैयार किया जाता है।

Thymelaeaceae

डै. ओलिआयडीस श्रेबर *D. olcoides* Schreb.

ने. - ज. ग्लान्थोस्टेन

D.E.P., III, 26; C.P., 486; Fl. Br. Ind., V, 193.

पंजाब - कुटिला, कंधन.

यह अत्यधिक प्रशाम्नाओं वाली बहुवर्षी छोटी झाड़ी है जो 0.6-0.9 मी. ऊँची; छोटी पत्तियों वाली; मोम-जैसे ध्वेत पुष्पगुच्छों से गन्ध, गंध के रंग की दीर्घवृत्तीय, नारंगी या मिट्टी लाल रंग के अदृशकाली वाली होती है। यह पश्चिमी हिमालय में गढ़वाल से पश्चिम की ओर मुर्ग, नर्मदा तथा अफगानिस्तान में 900-2,700 मी. की

ऊँचाई तक पाई जाती है। यह प्रायः खुले गर्म ढालों में मिलती है और श्रीनगर में तख्त पहाड़ी पर आमतौर से पाई जाती है। यह झाड़ी अप्रैल-मई में फूलती है। इसके फल जुलाई में पकते हैं (Coventry, I, 85).

इसकी जड़ें, छाल तथा पत्तियाँ देशी औषधियों के रूप में प्रयुक्त होती हैं। बलूचिस्तान में पत्तियों को पीस कर आटे तथा तेल के साथ पुल्टिस बनाकर फोड़ों पर बांधने के काम में लाया जाता है। अफगानिस्तान में इसकी पत्तियाँ जुलाव के लिए प्रयुक्त होती हैं। यह विपैला पौधा है और सामान्यतः इसे वकरियाँ या ऊँट नहीं चरते।

अफगानिस्तान तथा फारस से मेजेरियान के नाम से जो औषध भारत में आयात की जाती है उसमें सम्भवतः डैफने जाति के सुखाये गये डंठल तथा जड़ों के छिलके मिले रहते हैं; यूरोप तथा पश्चिमी एशिया में प्राप्त असली डै. मेजेरियान के नहीं। फफोले उठाने के लिए तथा उत्तेजना शामक के रूप में मेजेरियान का लेप किया जाता है। यदि इसे खा लिया जाय तो यह क्षोभक है किन्तु इस कार्य के लिए गायद ही यह प्रयुक्त होता हो (Kirt. & Basu, III, 2167; Youngken, 595; U.S.D., 713).

D. mezereum Linn.



चित्र 125 - डैफने ओलिआयडीस

डै. पैपीरेसी वालिश एक्स स्ट्यूडेल सिन. डै. कैनाबिना वालिश (फलो. त्रि. इ., अंशतः) *D. papyracea* Wall. ex Steud. (emend).

ले. — डा. पापिरासेआ

D.E.P., III, 19; C.P., 486; Blatter, II, 135, Pl. 54, Fig. 6.

हिं. — सतपुरा, सेतबुरवा, सेतबुरोसा.

नेपाल — डुनकोटाह, गैडे, कधूती; भूटान — डेशिंग; पंजाब — निग्गी, जेकू.

यह 1.5–2.4 मी. ऊँची, कुंठाग्र पत्तियों वाली तथा श्वेत गंधहीन फूलों से युक्त सदापर्णी झाड़ी है जो पश्चिमी हिमालय में 1,500 से 3,600 मी. की ऊँचाई तक पायी जाती है. गढ़वाल में यह माजूफल वनों में नीचे-नीचे बहुतायत से उगती है.

पहले डै. पैपीरेसी तथा डै. भोलुआ बुखनन-हैमिल्टन को डै. कैनाबिना वालिश के अन्तर्गत सम्मिलित किया जाता था अतः इस नाम के अन्तर्गत उल्लिखित अनेक उपयोग इन दोनों जातियों के लिए लागू होते हैं. इस प्रकार डैफने की एक से अधिक जातियों को एक ही नाम के अन्तर्गत रखने से नामकरण में काफी भ्रम होता था. फलतः अब पश्चिमी हिमालय में उगने वाली श्वेत पुष्प वाली झाड़ी के लिए डै. पैपीरेसी नाम निर्धारित किया गया है और पूर्वी हिमालय में नेपाल से लेकर सिक्किम तथा भूटान में 1,800 से 3,000 मी. तक की ऊँचाई पर और खासी तथा नागा पहाड़ियों में फैली हुई सुगन्धित गुलाबी रंग की फूलों वाली तथा निशिताग्र पत्तियों वाली झाड़ियों के लिए डै. भोलुआ नाम निश्चित हुआ है (Burt, *Kew Bull.*, 1936, 433).

नेपाल में डै. पैपीरेसी तथा डै. भोलुआ ये दोनों ही कागज बनाने के लिए प्रयुक्त झाड़ियाँ हैं. इनकी छाल सरलता से निकाली जा सकती है और स्थानीय क्षेत्रों में कागज बनाने के काम आती है. छाल को धूप में सुखाकर उसका बाह्य शल्क निकाल कर वृष्टि द्वारा क्षारीय बनाये गये जल के साथ उवालेते हैं. इसके भीतरी तन्तुमय अंश को उपचार द्वारा मृदु करके लुगदी बना ली जाती है. फिर इसे रन्ध्रमय चौखटों के ऊपर रखकर कागज के तारों में ढाल लिया जाता है. इस प्रकार से तैयार किया गया कागज पीले-भूरे रंग का, चिकना, मजबूत तथा टिकाऊ होता है. पहले “नेपाल कागज” के नाम से कानूनी दस्तावेजों तथा रिकार्डों को तैयार करने के लिए इसकी काफ़ी माँग थी. यह कागज गत्ते बनाने के लिए उपयुक्त है (Bhola, *Indian For.*, 1918, 44, 125).

डैफने की दो अन्य जातियाँ — डै. इनबोलुक्रैटा वालिश (नेपाल — छोटा अथिली; खासिया — डीण्टलिऊह) तथा डै. मुराइल डब्लू. डब्लू. स्मिथ और केव (नेपाल — कागती, आगाली) — भी कागज बनाने के काम आती हैं. इनमें से प्रथम पूर्वी हिमालय तथा खासी पहाड़ियों में और दूसरी दार्जिलिंग जिले में पाई जाती है (Smith & Cave, *Rec. bot. Surv. India*, 1912, 6, 45; Cowan & Cowan, 112).

अक्सर डैफने की कई जातियों की छालों को एक साथ मिलाकर कागज तैयार किया जाता है. केवल अकेले डै. पैपीरेसी का प्रयोग वंधनी (डोरियों) के अतिरिक्त शायद ही किसी अन्य कार्य के लिए किया जाता हो. छालों में सेल्लोस का प्रतिशतत्व न्यून (लगभग 22%) होने के कारण डैफने की जातियाँ व्यापारिक दृष्टि से रेशों के उत्तम स्रोत नहीं सिद्ध हो सकतीं. डै. भोलुआ के सुगन्धित पुष्प मन्दिरों में चढ़ाने के काम आते हैं.

D. cannabina Wall.; *D. bholua* Buch.-Ham. ex D. Don; *D. involucrata* Wall.; *D. sureil* W.W. Smith & Cave

डैविल्स कॉटन — देखिए अन्नोमा

डैवैलिया — देखिए स्फेनोमेरिस

डोडोनिया लिनियस (सैपिण्डेसी) *DODONAEA* Linn.

ले. — डोडोनेआ

यह मुख्य रूप से झाड़ियों और विरले ही वृक्षों का वंश है जो मुख्यतया ऑस्ट्रेलिया में पाया जाता है. डो. विस्कोसा जाति भारत में व्यापक रूप से पाई जाती है.

Sapindaceae

डो. विस्कोसा लिनियस *D. viscosa* Linn.

ले. — डो. विसकोसा

D.E.P., III, 172; Fl. Br. Ind., I, 697.

हिं. — सिनाथा, अलियार; ते. — वंदेडु; त. — वेलरी; क. — वंदरे, हंगरिके; मल. — उन्नतरूवी.

पंजाब — बेनमेनु; बिहार — मेंहदी; उड़ीसा — मोहरा; बम्बई — जखमी.

यह एक सर्वदेशीय, विचरणशील, परिवर्तनशील तथा सदापर्णी झाड़ी अथवा लघु वृक्ष है जो भारत के प्रत्येक कोने में पाया जाता है. यह पश्चिमी हिमालय क्षेत्र के पाइनस रॉक्सबर्गाई जंगलों तथा शुष्क और विविध प्रकार के जंगलों में 1,850 मी. की ऊँचाई तक वृक्षों के नीचे झुंडों के रूप में उगता है. यह वृक्ष दक्षिण भारत के शुष्क क्षेत्रों में लगभग 2,400 मी. की ऊँचाई तक भी प्राप्य है. इसका प्रवर्धन बीज द्वारा होता है तथा यह अनाच्छादित क्षेत्रों को आच्छादित करने के लिए बहुत उपयोगी है. इसे रेगिस्तान के विस्तार को रोकने के लिए उगाया गया है और दलदली भूमि का उद्धार करने के लिए भी यह उपयोगी है. बाड़ बनाने के लिए यह लोकप्रिय शोभाकारी पौधा है. इसकी पत्तियों को पशु नहीं खाते और साथ ही इसको काट करके सुन्दर आकृतियाँ भी बनाई जाती हैं (Troup, I, 225; Dalziel, 333).

इसका काष्ठ गहरा भूरा, सघन दानेदार, कठोर तथा भारी (1,200 – 1,280 किग्रा./घमी.) होता है. इस पर दीमक का भी कोई विशेष असर नहीं पड़ता. इससे औजारों के बेंटे तथा घूमने की छड़ियाँ बनाई जाती हैं. यह खरादने तथा नक्काशी के कामों के लिए भी उपयुक्त है. इसका र्धन अच्छा होता है. यह जल्दी आग पकड़ लेता है. इस काष्ठ का ऊष्मीय मान इस प्रकार है : रस काष्ठ, 5,035 कै., 9,063 ब्रि. थ. इ.; अंतःकाष्ठ, 4,939 कै., 8,890 ब्रि. थ. इ. (Krishna & Ramaswami, *Indian For. Bull.*, N.S., No. 79, 1932, 16).

इसकी पत्तियाँ चिपचिपी तथा स्वाद में खट्टी और चरपरी-सी होती हैं. घाव, सूजन तथा जले पर इन्हें लगाया जाता है. गठिया और आमवात रोगों में इसका ज्वरशामक एवं स्वेदोत्पादक औषध के रूप में उपयोग होता है. मोच आने अथवा छिल जाने पर इसकी पत्तियों को कुचल कर लेप करते हैं. पीरू में लोग इसे उड़ीपक के रूप में चबाने हैं. इससे कोका पत्तियों में मिलावट भी की जाती है. इसकी

छान स्तंभक, स्नान तथा सिकाई करने के काम आती है। तमिलनाडु में इसकी पत्तियों तथा टहनियों की खाद दी जाती है। डो. विस्कोसा एक मत्स्य-विष है (Record & Hess, 490; Kirti. & Basu, I, 640; Dalziel, loc. cit.; Chopra & Badhwar, *Indian J. agric. Sci.*, 1940, 10, 21).

पत्तियों का विदलेपण (वायु-शुष्क) करने पर पता चला है कि उसमें नमी, 10-12; उदासीन राल, 3.8; अम्लीय राल, 2.84; एक अक्रिस्टलीय अम्लीय पदार्थ, 0.8; तथा टैनिन, 5.98%; गोंद, एक पेक्टिनयुक्त पदार्थ, एक अक्रिस्टलीय ऐल्कलायड और ग्लाइकोसाइड भी पाये जाते हैं। इसकी सूखी पत्तियों के ईथर निष्कर्ष से $C_{21}H_{43}$ (ग. बि., 68°) मूत्र का हैट्रीएकाण्टेन तथा होट्रीवाइक अम्ल जो एक द्विचक्रीय मोनो-कार्बोक्सिलिक अम्ल ($C_{20}H_{28}O_4$; ग. बि., $182-84^\circ$; $[\alpha]_D^{18}, -104^\circ$) है, प्राप्त किये गये हैं (Ghosh, *Indian For.*, 1933, 59, 78; *Chem. Abstr.*, 1937, 31, 1417).

इसकी छान में 5.8% टैनिन तथा 5.3% अटैनिन होता है। इसकी गणना घटिया दर्जे के चर्मशोधक पदार्थों में होती है। पत्तियों की तरह छान में भी एक अक्रिस्टलीय ऐल्कलायड रहता है किन्तु इसे अभी तक पहचाना नहीं जा सका है (Ghosh, loc. cit.).

इसके बीज खाद्य हैं। इसके फलों को किसी समय खमीर तथा यबमुरा बनाने के लिए असली हाप्स (ह्युमलस लूपुलस लिनिग्रस) की जगह प्रयोग में लाया जाता था। इसके बीजों में 18.6% एक



चित्र 127 - डोडोनिया विस्कोसा - हड्डियाँ



चित्र 126 - डोडोनिया विस्कोसा - फलित शाखा

हल्का पीला तथा धीरे-धीरे सूखने वाला तेल रहता है, जिसके लक्षण निम्नलिखित हैं: ज. बि., $22-23^\circ$; ग. बि., $26-28^\circ$; आ. घ. $^{30}, 0.911$; $n_D^{30}, 1.4734$; $n_D^{30}, 296.0$ मिलीपाइज; अम्ल मान (ताजे निष्कर्ष में), 5.23; अम्ल मान (एक वर्ष रखने के बाद), 26.9; सावु. मान, 196.7; एसीटिल मान, 19.2; आयो. मान, 110.9; हेनर मान, 96.32; और असावु. पदार्थ, 0.82%. तेल के रचक वसा-अम्ल हैं: पामिटिक, 13.10; स्टीऐरिक, 16.53; ऐराकिडिक अम्ल, 5.36; बेहेनिक अम्ल, 2.17; ओलीक अम्ल, 23.85; लिनोलिक अम्ल, 29.83; तथा ठोस असंतृप्त अम्ल (मुख्यतः इरसिक अम्ल), 7.2%; असावु. पदार्थ में मुख्यतः साइटो-स्टेरॉल होता है। बीजों के ईथर निष्कर्षण के बाद बचने वाले पदार्थ से 3.42% एक अक्रिस्टलीय, तिक्त ग्लाइकोसाइड, डोडोनिन, ग. बि., $182-86^\circ$, निकाला गया है। अम्ल जल-अपघटन करने पर डोडोनिन से एक क्रिस्टलीय डोडोजेनिन ($C_{23}H_{36}O_8$; ग. बि., 249°) प्राप्त होता है जो सामान्य गुणों की दृष्टि से सैपोजेनिन जैसा होता है (Record & Hess, loc. cit.; Kochar & Dutt, *Indian Soap J.*, 1948, 14, 132; Parihar & Dutt, *Proc. Indian Acad. Sci.*, 26A, 56).

डो. विस्कोसा में मंदन (सिंण्डालम ऐल्यम लिनिग्रम) के स्पाइक रोग की तरह एक वायरस रोग लग जाता है। इस रोग से प्रभावित पौधे विनक्षय शादियों जैसे लगते हैं। इनकी पत्तियों का आकार छोटा हो जाता है, पौरी छोटी हो जाती है तथा फूल और फल आने बंद हो जाते हैं। बीमारी के कारण शर्करा, स्टार्च, अ-प्रोटीन नाइट्रोजनी तत्वों का संचयन तथा कैल्शियम की कमी है (Sastri & Narayana, *J. Indian Inst. Sci.*, 1930, 13A, 147).

Pinus roxburghii Sarg.: *Humulus lupulus* Linn.: *Santalum album* Linn.

डोम्बेया कैवेनिलिस (स्टेरकुलिएसी) DOMBEYA Cav.

ले. — डाम्बेइआ

Bailey, 1947, I, 1065; Fl. Assam, I, 161.

यह सदावहार झाड़ियों या छोटे वृक्षों का एक वंश है, जो फूल खिले रहने पर शोभाकारी होते हैं। यह वंश उष्णकटिबन्धीय अफ्रीका, मेडागास्कर, और मैस्केरीन द्वीपों में पाया जाता है। इसकी कई जातियाँ भारतीय उद्यानों में उगाई जाती हैं और कलम तथा दाव द्वारा उनका प्रचुरन किया जाता है। डा. मास्टरसाइ हुकर पुत्र 1.5–1.8 मी. ऊँची, फैलने वाली झाड़ी है जिसके फूल क्रोम-जैसे श्वेत और बुरी गन्ध वाले, गुच्छों में पत्तों के नीचे लगे होते हैं। इससे रेशा निकालने का प्रयत्न किया गया है (Firminger, 602; Gopalaswamiengar, 268; Bull. Dep. Agric., Bombay, No. 172, 1933, 20). *Sterculiaceae*; *D. mastersii* Hook. f.

डोरानिकम लिनियस (कम्पोजिटो) DORONICUM Linn.

ले. — डोरानिकम

D.E.P., III, 191; Fl. Br. Ind., III, 332.

यह बहुवर्षी वृष्टियों का एक वंश है जो पुरानी दुनिया के उत्तरी शीतोष्ण प्रदेशों में पाया जाता है। भारत में इसकी तीन जातियाँ पाई जाती हैं।

डो. रायलाइ द कन्दोल (पंजाब — दारुनज-अक्रावी) और डो. फाल्कोनेराइ हुकर पुत्र उत्तर पश्चिमी हिमालय में पाई जाती हैं; डो. हुकेराइ हुकर पुत्र सिक्किम में 3,000 मी. की और इससे अधिक ऊँचाइयों पर पाई जाती है। इन पौधों की जड़ें सौरभिक टानिक हैं। सूचना है कि डो. रायलाइ की जड़ें ऊँचाई पर चढ़ने के कारण चक्कर आने पर दवा के रूप में प्रयुक्त होती है। यूरोपीय जाति डो. पैडॉलियेज लिनियस की जड़ें भारत में बाहर से मंगाई जाती हैं और हृदय तथा तंत्रिकाओं की पौष्टिक औषधियाँ बनाने के काम आती हैं (Caius, J. Bombay nat. Hist. Soc., 1940, 41, 643; Koman, 1920, 23).

Compositae; *D. roylei* DC.; *D. falconeri* Hook. f.; *C. hookeri*; *D. pardalianches* Linn.

डोरेमा डी. डान (अम्बेलिफेरी) DOREMA D. Don

ले. — डोरेमा

D.E.P., III, 191; Bailey, 1947, I, 1066.

यह रेजिनी बहुवर्षीय वृष्टियों का एक लघु वंश है जो दक्षिण-पश्चिमी एशिया में पाया जाता है।

डो. अमोनिएकम डी. डान ईरान और उसके आस-पास का मूल-वासी है। इससे अमोनिएकम या गम अमोनिएक (उश्क) नामक तेल-गोंद रेजिन बनता है जो भारत में बाहर से आता है। कीटों द्वारा बेधे जाने पर फूल और फल वाले स्तंभों से प्रचुर मात्रा में रस निकलता है और स्तंभों पर कणों के रूप में सूख जाता है या धरती पर गिरकर ढोकों में जम जाता है। स्तंभ पर सूखे कणों में अशुद्धियों की सम्भावना कम होने से बाजार में उन्हें ही अधिक पसन्द किया जाता है। उनका

व्यास 5–25 मिमी. होता है। वे अपारदर्शी, सतह पर पीताभ और भीतर सफेद होते हैं तथा टूटने पर शंखाभ, चमकीले, मोम-जैसे टुकड़े दीखते हैं। रेजिन में गुलमहदी की गंध और कुछ कड़वा तीक्ष्ण स्वाद होता है (Dymock, Warden & Hooper, II, 156; Trease, 452; Howes, 159; U.S.D., 1323).

अमोनिएकम का उपयोग चिकित्सा में बहुत पुराने समय से कफोत्सारक, जहीषक और उद्वेष्टरोधी के रूप में होता रहा है। यह जुकाम, दमे, पुरानी खाँसी, और यकृत तथा तिल्ली के बढ़ने में दिया जाता है। बाहर लगाने पर यह हल्का क्षोभक है। इसमें वाष्पशील तेल, 0.1–1.0; रेजिन, 65–70; गोंद, लगभग 20; आर्द्रता, 2–12; राख, 1.0; और अविलेय अवशेष, 3.5% रहता है। इसमें सैलिसिलिक, वैलेरिक और व्यूटिरिक अम्ल भी पाये जाते हैं। यह रेजिन सुगंधि-निर्माण में भी काम आता है (Fuller, 496; U.S.D., loc. cit.; Chopra, 484; Wallis, 431; Webmer, II, 894; Hill, 191).

रिपोर्टों से पता चलता है कि भारत में डो. अमोनिएकम की जड़ें भी बाहर से आती हैं और वे सुगन्ध धूप द्रव्य के रूप में प्रयुक्त होती हैं। इनका शिखर पर व्यास लगभग 7.5 सेंमी. होता है और इसमें कुछ न कुछ कन्खे होते हैं। पिसी जड़ों को पानी में उवालने पर प्राप्त निष्कर्ष एक गहरे रंग का अमोनिएकम प्रदान करता है। भारत में मँगाए जाने वाले गोंद रेजिन और जड़ों की मात्राओं के विषय में कोई जानकारी नहीं मिलती (Dymock, Warden & Hooper, loc. cit.).

Umbelliferae; *D. ammoniacum* D. Don

डोलोराइट — देखिए पत्थर इमारती

डोलोमाइट DOLOMITE

डोलोमाइट $[CaMg(CO_3)_2]$; आ. घ., 2.8–2.9; कठोरता, 3.5–4। कैल्सियम और मैग्नीशियम का एक द्विक कार्बोनेट है जिसमें 30.4% CaO और 21.7% MgO होता है। यह खनिज पट्ट-कोणीय समुदाय के समान्तर पट्टफलीय वर्ग में क्रिस्टलित होता है। यह स्थूल डोलोमाइट शैल का मुख्य अवयव है। सामान्यतः यह रंगहीन होता है परन्तु बहुधा गुलाबी अथवा भूरा और कभी-कभी लाल, हरा, सफेद, धूसर और काले रंग का भी होता है।

ऐसे डोलोमाइट शैलों को जिनमें डोलोमाइट के अतिरिक्त कैल्सियम कार्बोनेट अथवा कैल्सियम और मैग्नीशियम के कार्बोनेटों का प्राकृतिक मिश्रण होता है, डोलोमाइटी चूनापत्थर कहते हैं। वे शैल जिनमें 10% से कम मैग्नीशियम कार्बोनेट होता है, चूनापत्थर कहे जाते हैं। यदि इनमें मैग्नीशियम कार्बोनेट की प्रतिशतता 10% से अधिक हो तो इनके लिये मैग्नीशियम चूनापत्थर नाम प्रयुक्त होता है और यदि प्रतिशतता 40–45% हो तो वे शैल को डोलोमाइट कहते हैं। उच्च कैल्सियम युक्त चूनापत्थर में कम से कम 95% कैल्सियम कार्बोनेट और अधिक से अधिक 5% मैग्नीशियम कार्बोनेट होता है। निम्न कोटि के मैग्नीशियम चूनापत्थर में 10 से 20% मैग्नीशियम कार्बोनेट और उपर भाग कैल्सियम कार्बोनेट का होता है। यदि मैग्नीशियम कार्बोनेट की मात्रा 20% से अधिक हो तो इसे उच्च मैग्नीशियम चूनापत्थर कहा जा सकता है। अनेक शैल जिनमें मैग्नीशियम कार्बोनेट की उच्च प्रतिशतता होती है असली डोलोमाइट न होकर डोलोमाइटी अथवा उच्च मैग्नीशियमय चूनापत्थर होते हैं; तथापि वे साधारणतः डोलोमाइट के रूप में ही उल्लिखित किये जाते हैं (Hatmaker, Inform. Circ., U.S. Bur. Min., No. 6524, 1931, 2).

जिमी क्षेत्र में यह पत्ता लगाने के लिए कि चूनापत्थर मुख्यतः कैल्साइट या डोलोमाइट से बना है, अनेक परीक्षण किये जाते हैं। चूनापत्थर जिसमें डोलोमाइट की उच्च मात्रा होती है साधारण चूनापत्थर की अपेक्षा पत्ता होता है। उच्च मैग्नीशियम चूनापत्थर हल्के पीले रंग का होता है जबकि निम्न मैग्नीशियम चूनापत्थर सफेद अथवा नीली धूम्र होती है। अपभ्रष्ट होने पर डोलोमाइट परतें खड़िया जैसी मज्जद हो जाती हैं और निम्न मैग्नीशिया स्तरों की अपेक्षा अधिक मज्जद होती है। परीक्षण के लिए विलयता की सापेक्ष मात्रा अधिक विश्वसनीय है क्योंकि कैल्साइट ठंडे तनु हाइड्रोक्लोरिक अम्ल अथवा ऐसीटिक अम्ल में नीचे बुदबुदाहट के साथ धीमे विलयित हो जाता है, जबकि डोलोमाइट अपेक्षाकृत बहुत धीरे-धीरे बुदबुदाता हुआ विलयित होता है। किन्तु यदि डोलोमाइट को हथौड़े से चूर-चूर कर दिया गया है अथवा यदि शैल कुचल संयोजक के कारण सरंभ हो तब यह परीक्षण व्यवहार्य नहीं है क्योंकि बुदबुदाहट लगभग उतनी ही जल्दी और तेज हो सकती है जितनी कि निम्न मैग्नीशिया शैल में। निम्न मैग्नीशिया चूनापत्थर उच्च डोलोमाइट चूनापत्थर की अपेक्षा नरम होते हैं और नमूनापूर्वक टूट जाते हैं। अभ्यास होने पर भूवैज्ञानिक हथौड़े से प्रहार करके पत्थर की कठोरता और मजबूती आंक कर मैग्नीशियम अंश की मात्रा का निकटतम अनुमान कर सकते हैं। एक ही क्षेत्र के डोलोमाइट पत्थर कम मैग्नीशिया वाले पत्थरों की अपेक्षा मृदम कणों वाले और मज्जद होते हैं (*Industrial Minerals & Rocks*, American Institute of Mining Engineers, New York, 1937, 173).

न्यून डोलोमाइट, साधारणतया अन्य अवसादी स्तरों के साथ सम्मिश्रित शैल-मसूह के रूप में पाया जाता है। क्रिस्टलित और सघन चूनापत्थर के साथ मिनी-जुली होती है। डोलोमाइट शैलों की उत्पत्ति द्वितीयक वर्ग की है पहले साधारण चूनापत्थर बनता है जो बाद में मैग्नीशियम अम्लविट विलयनो की क्रिया द्वारा डोलोमाइट में रूपान्तरित हो जाता है यह परिवर्तन, जिसे डोलोमाइटकरण कहते हैं, ताप, दाब, जलो में मैग्नीशियम की उच्च मात्रा और तत्पश्चात् समय की अनुकूल परिस्थितियों में हो सकता है। फलस्वरूप अधिक पुराने और भूपृष्ठ में अधिक गहराई में दखे चूनापत्थर की डोलोमाइट में परिवर्तन होने की सम्भावना अधिक होती है। डोलोमाइट बहुधा भिन्न-भित्ति के रूप में भी विभिन्न धात्विक अयस्कों के साथ पाया जाता है कुछ ज्ञात उदाहरणों में मंगमरमर कार्यान्वित डोलोमाइट है।

वितरण

आंध्र प्रदेश — वारांगल और आनिफाबाद जिलों की पत्ताल श्रेणी में मंगमरमर की कई पट्टियों में डोलोमाइट चूनापत्थर पाया जाता है [Kazim & Mahadevan, *J. Hyderabad geol. Surv.*, 1938, 3 (2), 114; Mirza, *Bull. Hyderabad geol. Ser.*, No. 2, 1943, 98].

तुरनूल, धनलपुर और कडप्पा जिलों में वेम्पल्ली चूनापत्थर की पट्टी संघटन में साधारणतः डोलोमाइट है। इन जिलों में मैग्नीशिया की मात्रा 3.53% से 21.30% तक और शीमन मात्रा 15.8% है। चूनापत्थर की पट्टी 1.6 से 6.4 किमी. चौड़ी है और उच्चतम रंग श्वेत से शीमल और गुलाबी तक परिवर्तित होता रहता है (Krishnan, *Mem. geol. Surv. India*, 1951, 80, 178).

इसी प्रकार के चूनापत्थर बेतामचेरला और चिन्ना मलकीपुरम (कुरनूल जिला) में पाए जाते हैं। कुछ डोलोमाइट चूनापत्थर रामल्ला-कोटा के पास भी देखे गये हैं। ताड़पनी (अनन्तपुर जिला) में मुचुकोटा के पास स्टोएटाइट युक्त मैग्नीशियम चूनापत्थर पाया जाता है।

जेपुर जमींदारी (विशाखापटनम् जिला) में कोन्दाजोरी (18°57' : 82°19') के पास पाये जाने वाले लाल और सफेद रंग के डोलोमाइट चूनापत्थरों का उपयोग अलंकारी पत्थरों के रूप में होता है। अनन्तगिरि (विशाखापटनम् जिला) में बोरा गुफाओं के पास भी डोलोमाइट चूनापत्थर बड़ी मात्रा में पाया जाता है।

उड़ीसा — गंगपुर रियासत में कैल्साइट और डोलोमाइट संगमरमर पाये जाते हैं। यहाँ वीरमित्रपुर अवस्था के स्तर-विन्यास की संगमरमर की पट्टियाँ हैं जिनमें निम्न डोलोमाइट और उच्च कैल्साइट स्तर समाविष्ट हैं। इनका उत्खनन राजरकेला (22°14' : 84°52') और विसरा (22°15' : 85°4') के पास 1898 से हो रहा है। इस क्षेत्र में उपलब्ध अच्छे चूनापत्थर और डोलोमाइट की मात्रा अनेक अरब टन होनी चाहिए (Krishnan, *Mem. geol. Surv. India*, 1937, 71, 46, 161).

उत्तर प्रदेश — मिर्जापुर जिले में रेड नदी की एक सहायक नदी बिची (24°8' : 83°0') के मुहाने के पास उत्तम हरा संगमरमर पाया जाता है। यह शैल हरे सपेण्टीन से अन्तरवलित और ट्रेमोलाइट की सतहों वाला सफेद क्रिस्टलीय डोलोमाइट है (La Touche, loc. cit.).

सोलन और भसूरी के बीच उच्चतर कैराल अवस्था में निम्न SiO_2 , Al_2O_3 और Fe_2O_3 वाले डोलोमाइट सामान्य हैं। गढवाल में डाड विधि द्वारा मैग्नीशियम बनाने के लिए उपयुक्त सिलिकामय डोलोमाइट प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है (Auden, *Indian Min.*, 1948, 2, 86).

कश्मीर — रायसी के तथाकथित विगाल चूनापत्थर भंडार के अधिकांश भाग में लगभग 6% अशुद्धि का सिलिकामय चूनापत्थर है, किन्तु चिनाव नदी से जल-विद्युत उत्पन्न करने की सम्भावना को दृष्टि में रखते हुये डाड विधि से मैग्नीशियम बनाने में इसका उपयोग किया जा सकता है। यह डोलोमाइट भट्टियों के धारीय अस्तर के लिए उपयुक्त नहीं है (Auden, *Indian Min.*, 1948, 2, 80).

तमिलनाडु — तलेम जिले में क्रिस्टलीय चूनापत्थर की एक पट्टी उत्तर-दक्षिण से उत्तर-उत्तर-पश्चिम; दक्षिण-दक्षिण-पूर्व दिशा में शलेम-मंकरीडुग सड़क और रेल की पट्टी के पार जाती है। इसमें चूनापत्थर और डोलोमाइट दोनों ही अम्लविट हैं। डोलोमाइट के कुछ नमूनों में 13.6-20.8% मैग्नीशिया है नमकल तालुके में भी डोलोमाइट चूनापत्थर की कुछ पट्टियाँ मिलती हैं (Krishnan, *Rec. geol. Surv. India*, 1942, 77, *Prof. Pap.* No. 7, 5).

त्रिचनापल्ली जिले की कडावूर जमींदारी में चूनापत्थर की एक पट्टी, डिडीगल और वायपूर के बीच लगभग पूर्व-पश्चिम दिशा में वागवनाई होकर जाती है। कुछ भागों में यह डोलोमाइट हो सकती है।

त्रिप्रेवनी जिले में, त्रिप्रेवनी, अम्बामुद्रम, नानगुनेरी, कोविलपट्टी मंकरीडुग तालुको में उच्च प्रतिशत मैग्नीशिया के क्रिस्टलीय चूनापत्थर की अनेक पट्टियाँ पाई जाती हैं।

पंजाब और हरियाणा — पटियाणा गिआमत में काले और मज्जद संगमरमर का उत्खनन नागनौल के पास मंडी और दानवा की पहाड़ियों में (28°3' : 76°8') और लगभग 60 मी. मोटी सफेद संगमरमर की एक पट्टी की गूदाई विहागपुर (27°55' : 76°8') में हो रही है। इसी प्रकार का संगमरमर धौलकोटा (27°51' : 76°6') में भी पाया जाता है। मकन्दपुर (27°59' : 76°8'), जननवाली और

गोएला में काली और काली एवं सफ़ेद पट्टी वाले संगमरमर भी पाए जाते हैं (La Touche, loc. cit.).

बंगाल — दार्जिलिंग ज़िले में, वक्सा श्रेणी में, डोलोमाइट विशाल मात्रा में पाया जाता है। टीटी नदी के सफ़ेद डोलोमाइट के एक नमूने में 38.7% $MgCO_3$ और 60.5% $CaCO_3$ था (Mallet, Mem. geol. Surv. India, 1874, 11, 83).

भारतीय भूवैज्ञानिक सर्वेक्षण द्वारा हाल ही में पता चला है कि जलपाईगुड़ी ज़िले के उत्तर-पूर्वी भाग में लगभग 13 किमी. के क्षेत्र में डोलोमाइट निक्षेप पाये गये हैं जो आगे बढ़कर भूटान में लगभग 5 वर्ग किमी. के क्षेत्र में चले गये हैं। शैलों में साधारणतया मैग्नीशिया की मात्रा 21% से अधिक है (West, Rec. geol. Surv. India, 1948, 81, 47).

बिहार — पालास ज़िले में डाल्टनगंज के दक्षिण-पश्चिम में चूना-पत्थर के साथ डोलोमाइट चूनापत्थर पाया जाता है। डोलोमाइट चूनापत्थर (जिसमें 16% मैग्नीशिया है) चाइवासा (सिंहभूम ज़िला) के उत्तर में पुटादा झरने की लौह अयस्क श्रेणी में तथा शाहाबाद ज़िले के विन्ध्य समुदाय में बंजारी के पास भी पाया जाता है (Dunn, Mem. geol. Surv. India, 1941, 78, 210).

मध्य प्रदेश — इन्दौर रियासत में नर्मदा नदी के पास पूर्व क्रिटेशस युग के प्रवाल चूनापत्थरों से जो संगमरमर प्राप्त होता है उस पर अच्छी पालिश हो सकती है। इस संगमरमर का उपयोग माध्याता और माण्डु में मन्दिरों और प्रासादों के निर्माण के लिए किया जाता था (La Touche, 41).

रीवां राज्य में, उमरिया कोयला क्षेत्र के पास झापी ($23^{\circ}70' : 80^{\circ}39'30''$) और मझगवां ($23^{\circ}33' : 80^{\circ}50'$) में डोलोमाइट चूनापत्थर पाया जाता है। झापी का चूनापत्थर बिजावर श्रेणी का है और मझगवां में कार्यान्तरित चूनापत्थर पाया जाता है।

इस प्रान्त के अनेक ज़िलों में धारवार युग के डोलोमाइट संगमरमर प्रायः पाये जाते हैं। सबसे प्रसिद्ध स्थान जबलपुर ज़िले में जबलपुर के पास नर्मदा नदी की एक सुरम्भ घाटी में है। यह संगमरमर शैल ($23^{\circ}7' : 79^{\circ}51'$) के नाम से जाना जाता है। यहाँ सफ़ेद क्रिस्टलीय डोलोमाइट संगमरमर विशाल मात्रा में पाया जाता है। नागपुर ज़िले में खोरासी ($21^{\circ}15' : 79^{\circ}10'$) में पाए जाने वाले कठोर डोलोमाइट चूनापत्थर का उत्खनन किया जाता है जिसका उपयोग मूर्तियाँ बनाने में होता है। डोलोमाइट चूनापत्थर का उत्खनन विलासपुर ज़िले में भी किया जाता है। डोलोमाइट के निक्षेप अकलतारा ($22^{\circ}1' : 82^{\circ}25'$), भनेश्वर, जयरामनगर, रेलिया, परसादा, छतोना, हिर्री और अर्पा नदी के किनारे भी पाए जाते हैं (West, Rec. geol. Surv. India, 1950, 83, 117).

महाराष्ट्र — नवानगर राज्य में गुरगट गाँव ($22^{\circ}12' : 69^{\circ}15'$) से 4 किमी. पूर्व-उत्तर-पूर्व में रामवारा घाटा में 0.6–0.9 मी. मोटे जीवाश्मय चूनापत्थर के डोलोमाइटिकृत वर्ग के स्तर पाये जाते हैं। यह पत्थर उत्खनन के समय नरम होता है परन्तु खुला रहने पर शीघ्र ही कठोर हो जाता है (Adaye, E.H., Memoir on the Economic Geology of Navanagar State, 1915, 183).

मैसूर — उच्च कैल्सियम से उच्च मैग्नीशियम की मात्रा वाले क्रिस्टलीय और डोलोमाइटिक्रिस्ट के चूनापत्थर के विस्तृत निक्षेप इस राज्य में पाये जाते हैं। डोलोमाइट चूनापत्थर का उपयोग लोहा गलाने में गालक के रूप में होता है और यह वाइक्रोमेट के निर्माण के लिए भी उपयुक्त है (Rama Rao, Quart. J. geol. Soc., India, 1942, 14, 178).

राजस्थान — अजमेर-मेरवाड़ा ज़िले में अजमेर के पास और खारवा क्षेत्र में डोलोमाइट संगमरमर की खुदाई की जा रही है। अलवर राज्य में घादकिर ($27^{\circ}36' : 76^{\circ}36'$) के पास, झिरी ($27^{\circ}14' : 76^{\circ}16'$), खो ($27^{\circ}11' : 76^{\circ}26'$) और वलदेवगढ़ ($27^{\circ}7' : 76^{\circ}26'$) में उच्च श्रेणी का सफ़ेद संगमरमर पाया जाता है। जयपुर राज्य में रायआलो श्रेणी में बड़ी मात्रा में सफ़ेद संगमरमर पाया जाता है। जोधपुर राज्य में मकराना ($27^{\circ}2' : 74^{\circ}45'$) स्थित सफ़ेद संगमरमर की प्रख्यात खानें, जहाँ से ताजमहल के लिए संगमरमर प्राप्त किया गया था, नीची पर्वतीय श्रेणियों में पाई जाती हैं। सारंगवा ($25^{\circ}17' : 73^{\circ}33'$) में सफ़ेद संगमरमर का विशाल भंडार पाया गया है। किन्तु ये सभी संगमरमर डोलोमाइट नहीं हैं।

मेवाड़ (उदयपुर) राज्य में कन्दोली ($25^{\circ}3' : 73^{\circ}57'$), राजनगर ($25^{\circ}4' : 73^{\circ}55'$), केलवा ($25^{\circ}9' : 73^{\circ}53'$) और नाथद्वारा ($24^{\circ}56' : 73^{\circ}52'$) के पास घूसर और सफ़ेद क्रिस्टलीय डोलोमाइट संगमरमर बड़ी खानों में बहुत दिनों से खोदा जा रहा है। इसी कोटि का संगमरमर लावा ($25^{\circ}14' : 74^{\circ}6'$) और कोसीयाल ($25^{\circ}19' : 74^{\circ}13'$) में भी पाया जाता है (Heron, Trans. Min. geol. Inst. India, 1935, 29, 325).

उपयोग एवं विनिर्देश

डोलोमाइट और डोलोमाइट चूनापत्थर का उपयोग करने वाले उद्योग नीचे दिए हुए हैं (Lambar & Willman, Rep. Invest. Ill. geol. Surv., No. 49, 1938; Inform. Circ. U.S. Bur. Min., loc. cit.).

1. उच्चताप-सह या रेफ़ेक्टरी — इस्पात की क्षारीय खुली भट्टी, क्षारीय बेसेमरपरिवर्तित्र, सीसा शोधन की परावर्तनी भट्टी, सीसा भट्टी, सीसावात्या भट्टी के लिए खर्पर और मूषा, ताँबे के परावर्तनी और ताँबे की परावर्तनी भट्टी और धातु गलाने के लिए मूषा के रूप में डोलोमाइट और डोलोमाइट चूनापत्थर का मैग्नेसाइट उच्चताप-सह के स्थान पर विस्तृत उपयोग होता है। यद्यपि छोटी मरम्मत के काम के लिए कच्चे डोलोमाइट का उपयोग किया जा सकता है परन्तु साधारणतः पूर्णतः जलाई हुई सामग्री का विभिन्न रूपों में उपयोग किया जाता है। इस प्रकार का डोलोमाइट डोलोमाइट अथवा उच्च मैग्नीशियम चूनापत्थर को लगभग $1,500^{\circ}$ पर वात्या भट्टी या विशेष भट्टी में निस्तापित करके तैयार किया जाता है। इस ताप पर वस्तुतः सम्पूर्ण कार्बन-डाइ-आक्साइड बाहर निकल जाती है।

2. औद्योगिक कार्बोनेट — इसका सबसे अधिक उपयोग नली और वायलर आवरण और सामान्यतः ऊष्मा रोधन के लिए होता है। औषध निर्माण विज्ञान, रबड़ व्यवसाय में त्वरक के रूप में और रंग, वार्निश, शीशा, छापे की स्याही, अंगराग, नमक, मंजत एवं अन्य उपयोगी वस्तुओं के लिए भी इसका उपयोग होता है। इस पदार्थ के अन्य नाम हैं: क्षारीय मैग्नीशियम कार्बोनेट, ब्लाक मैग्नीशिया और मैग्नीशिया एक्वा. इंग्लैण्ड और पूर्वी संयुक्त राज्य अमेरिका में औद्योगिक डोलोमाइट से पैटिन्सन विधि अथवा उसके संशोधित रूप से कार्बोनेट तैयार किया जाता है। इस उद्देश्य के लिए उपयुक्त डोलोमाइट में मैग्नीशियम कार्बोनेट और कुल कार्बोनेट की मात्रा अधिक किन्तु सिलिका की मात्रा 1% से भी कम होनी चाहिए।

3. कागज उत्पादन — कागज की लुगदी बनाने की सल्फ़ाइट विधि में अम्लीय लिकर बनाने के लिए दूधिया चूने की अपेक्षा डोलोमाइट चूने की प्राथमिकता दी जाती है। कैल्सियम-ब्राइ-सल्फ़ाइट की

अपेक्षा मैग्नीशियम वाइ-सल्फाइड अधिक स्थायी, अधिक विलेय, मृदु और त्रिया में अधिक प्रभावकारी होता है। इसके विघटन उत्पाद भी अधिक विलेय होते हैं और इनसे अपेक्षाकृत अधिक नरम और सफेद लुगदी बनती है। लिकर बनाने के लिए प्रयुक्त होने वाले बुझे हुये चूने अथवा जलयोजित चूने में कम से कम 94% $\text{CaO} + \text{MgO}$ और अधिक से अधिक 5-10% CO_2 और 3% से कम Fe_2O_3 , Al_2O_3 , SiO_2 और अविलेय पदार्थ होने चाहिए।

इस कार्य के लिए अन्य आवश्यकतायें हैं : शैल के संघटन को एक समान होना चाहिए और वह भी विषेपतः कैल्सियम और मैग्नीशियम के अनुपात में; इसे अभ्रक, पाइराइट, फ्रेक्टाइट, अथवा अन्य कार्बनमय पदार्थों से मुक्तप्राय होना चाहिए; विलयन बनाने पर उसकी मलह पर गहरे रंग की पपड़ी अथवा अवपंक नहीं बनना चाहिए।

4. चूना गारा - चूने के निर्माण में मुख्यतः उच्च श्रेणी का चूना-पत्थर, डोलोमाइट अथवा मध्यवर्ती संघटन के शैलों का निस्तापन किया जाता है। चूना बनाने के लिए व्यापक रूप से उपयुक्त होने वाले उच्च मैग्नीशियम चूनापत्थर और डोलोमाइट में सामान्यतः 54-72% CaCO_3 ; 28-46% MgCO_3 ; और 3% अन्य अवयव होते हैं।

डोलोमाइट चूने और कैल्सियम चूने को बुझाने की अभिक्रियाओं में कुछ अन्तर होता है। उच्च कैल्सियममय चूना पानी मिलाने पर काफ़ी फूलता है और बहुत ताप देता है। ऐसे मसाले जल्दी जमने वाले और अपेक्षाकृत अप्लास्टिक होते हैं। डोलोमाइट चूनापत्थर धीरे-धीरे बुझता है, कम ताप उत्पन्न करता है और आयतन में इसका कम प्रसार होता है। इस प्रकार डोलोमाइट गारा अधिक प्लास्टिक होता है अतः इसमें अधिक दालू मिलाई जा सकती है।

5. वात्या भट्टी गालक - लौह अयस्कों में मुख्यतः सिलिका और ऐलुमिना अपद्रव्य के रूप में होते हैं। वात्या भट्टियों में प्रगलन में इन अशुद्धियों को क्षारीय गालक मिलाकर धातुमल के रूप में निकालते हैं। वात्या भट्टी में गालक के रूप में उपयोग किए जाने वाले चूनापत्थर में कैल्सियम और मैग्नीशियम कार्बोनेट साधारणतः 90% से अधिक और अवसर 95% और सिलिका एवं ऐलुमिना मिलाकर 5% से भी कम और अवसर 3% से कम होते हैं। डोलोमाइट और उच्च मैग्नीशियम चूनापत्थर कहीं-कहीं धातुमल की विस्कासिता को बढ़ाते हुए और कहीं-कहीं विस्कासिता को घटाते हुए प्रतीत होते हैं। फ़ेरो-सिनिक्कन और फ़ेरोमैग्नीज के निर्माण में डोलोमाइट को प्राथमिकता दी जाती है क्योंकि यह सिलिका और मैग्नीज को धातुमल के रूप में बहुत कम निकालता है।

धातुमल में मैग्नीशिया की मात्रा से उसके परवर्ती उपयोगों का निर्धारण होता है। 7-10% मैग्नीशिया वाले धातुमल को सड़क-निर्माण के लिए उत्तम समझा जाता है। सीमेंट के निर्माण के लिए धातुमल में मैग्नीशिया की उपस्थिति आपत्तिजनक है।

6. चिमना चूना - यह 55% CaCO_3 ; 43% MgCO_3 और घल्प मात्रा में लौहा, सिलिका और ऐलुमिना वाले उच्च मैग्नीशियम चूनापत्थर अथवा डोलोमाइट से बनाया जाता है। पत्थर का निस्तापन एक गुप्त विधि से किया जाता है, फिर चूने को साफ़ करके तथा पीस कर मुहरबन्द टिब्बों में बन्द कर दिया जाता है।

चिमना चूने का उपयोग निकेल, कांसा, तांबा, मोती और सेलूलाइट की सामग्रियों पर पालिश करने में किया जाता है। यह सिलिका में मृदु किन्तु शोका, लान, हरे तथा काले रंग जैसी कृत्रिम ऑक्साइडों में कठोर होता है।

7. काँच उद्योग - काँच उद्योग में चूनापत्थर का उपयोग गालक के रूप में होता है। चूनापत्थर में मैग्नीशियम की उपस्थिति से इसके पिघलने में कुछ बाधा पड़ती है किन्तु समांगी काँचों के कुछ प्रकारों के निर्माण में इसकी उपस्थिति वांछनीय है। कहा जाता है कि निर्माण में कुछ किस्मों की स्वचालित यंत्रावली का प्रयोग करने वाले काँच के कारखानों में उच्च मैग्नीशियम वाला चूनापत्थर पसन्द किया जाता है। काँच के कुछ घानों में 30% तक चूनापत्थर अथवा डोलोमाइट हो सकता है। गालक के घानों के उपयोग के लिए कठोर नियन्त्रण आवश्यक है, इसलिए चूनापत्थर को एक समान श्रेणी होनी चाहिए। सामान्य रूप से उच्च कैल्सियम अथवा डोलोमाइट चूनापत्थर को उसके समानरूपी रासायनिक संघटन के कारण प्राथमिकता दी जाती है। काँच उद्योग के लिए अपेक्षित डोलोमाइट में लौह ऑक्साइड की उपस्थिति अवांछनीय होती है।

8. रसायन - पेय पदार्थों के निर्माण के लिए आवश्यक कार्बन-डाइ-ऑक्साइड का उत्पादन पिसे हुए संगमरमर पर अम्ल की क्रिया से किया जाता है। कार्बन-डाइ-ऑक्साइड का उपयोग एप्सम लवण (मैग्नीशियम सल्फ़ेट) के निर्माण जैसी रासायनिक क्रियाओं में भी होता है।

डोलोमाइट से मैग्नीशियम धातु के निर्माण के लिए मैग्नीशियम क्लोराइड के निर्माण की विधियों का एकदम अधिकार प्राप्त किया जा चुका है। जब तक कि कार्बन-डाइ-ऑक्साइड का उपयोग करने वाले सहायक उद्योगों का विकास न हो तब तक डोलोमाइट का उपयोग मेंना पड़ सकता है। इसी प्रकार सोरेल अथवा मैग्नीशियम-ऑक्सी-क्लोराइड सीमेंट का निर्माण करने के लिए डोलोमाइट का उपयोग करने वाली योजनाएँ कच्चे माल में वांछित मात्रा में मैग्नेसाइट की उपस्थिति के बिना लाभकारी नहीं सिद्ध हुईं। यूरोप और संयुक्त राज्य अमेरिका में डोलोमाइट से विद्युत-अपघटन द्वारा मैग्नीशियम धातु का निष्कर्षण होता है।

9. कृषि - उर्वरक के साथ मृदा अनुकूलक और पूरक के रूप में चूनापत्थर और डोलोमाइट का उपयोग किया जाता है। इन्हें कभी-कभी कृषि-चूनापत्थर कहते हैं। ये न केवल अम्लता ठीक करते हैं, बल्कि कैल्सियम एवं मैग्नीशियम प्रदान करते हैं, फलों का विकास और नाइट्रोजन-योगिकीकरण की वृद्धि करते हैं और साथ-साथ मृदा की सरंभता को भी बढ़ाते और जल-निकास में सहायता प्रदान करते हैं।

10. रंग और वार्निश - वारीक पिसे हुए चूनापत्थर और संगमरमर का उपयोग रंग पूरक के रूप में किया जाता है। चूने का उपयोग वार्निश बनाने के लिए आवश्यक रेजिनो के निर्माण में और जनयोजित चूने को कल्सोमाइन और सफ़ेदी के लिए काम में लाया जाता है। इन उपयोगों के लिए डोलोमाइट में कैल्सियम और मैग्नीशियम कार्बोनेट की सापेक्ष मात्रा महत्वपूर्ण नहीं है।

11. मृत्तिका शिल्प - मृत्तिका और चीनी मिट्टी के बरतनों और पॉमिलेन के निर्माण के लिए घुटी हुई प्राकृतिक सफ़ेदी अथवा हाइड्रेट अथवा ऑक्साइड के रूप में चूनापत्थर का कुछ हद तक प्रयोग होता है। इसका कार्य गलनकार्य में सहायता करना है। कुछ कार्यों में मैग्नीशिया की उच्च मात्रा वाले चूनापत्थर को प्राथमिकता दी जाती है।

12. सफ़ेदी - मैग्नीशियम चूने का उपयोग कागज पर विलेपन करने के लिए महोद वणक बनाने में होता है। पुद्ध मफ़ेद रंग प्राप्त करने के लिए इसमें लौहे की मात्रा कम होनी चाहिए। नाजे बुझे हुए चूने के निमग्नन में सोडियम कार्बोनेट मिलाकर वणक बनाया जाता है।

सारणी 1 — भारत में डोलोमाइट का उत्पादन*

(मात्रा : टन; मूल्य : हजार रु. में)

	1966		1967		1968		1969	
	मात्रा	मूल्य	मात्रा	मूल्य	मात्रा	मूल्य	मात्रा	मूल्य
आंध्र प्रदेश	1,205	10	397	2	606	17	160	2
उड़ीसा	4,08,223	6,486	4,58,293	7,901	5,70,663	11,584	6,11,169	13,318
उत्तर प्रदेश	36,608	240	67,224	514	4,25,525	308	37,285	278
गुजरात	78,453	705	1,02,051	913	1,00,401	1,031	73,671	788
प. बंगाल	23,661	98	17,410	82	28,229	161	32,466	168
बिहार	8,969	76	5,375	49	478	5	5,781	68
मध्य प्रदेश	4,59,275	4,481	4,49,645	4,133	4,62,214	4,283	4,72,888	4,397
महाराष्ट्र	7,199	64	9,060	64	21,855	189	13,176	114
मैसूर	4,412	76	7,692	115	5,486	60	3,721	44
राजस्थान	25,054	106	26,196	115	21,894	108	20,200	91
हरियाणा	1,162	6	791	4	1,337	7	946	5
कुल	10,54,221	12,348	11,44,134	13,892	12,58,688	17,753	12,71,463	19,273

* Monthly Bulletin of Mineral Statistics and Information, Vol. 7, 9, No. 11 & 12.

13. रबड़ — नरम रबड़ के सामान तैयार करने के लिए डोलोमाइट अथवा उच्च मैग्नीशियम चूने का उपयोग दृढ़ीकारक के रूप में होता है। उच्च कैल्सियम चूने का भी इसी प्रकार उपयोग कठोर रबड़ के सामान बनाने में होता है। बल्कनीकरण विधि में त्वरक के रूप में चूने की दोनों किस्मों का उपयोग होता है।

14. चर्मशोधन — चर्मशोधन की लोमनाशन अवस्था में चूने (CaO) का व्यापक उपयोग किया जाता है। साधारणतः मैग्नीशियम ऑक्साइड का प्रयोग आपत्तिजनक है क्योंकि इससे चमड़ा कठोर और खुरदुरा हो जाता है, किन्तु मोरक्को चमड़े के निर्माण में मैग्नीशियम चूने का उपयोग किया जाता है।

15. कवकनाशी — कवकनाशी के रूप में प्रयुक्त किए जाने वाले शुष्क गंधक मिले चूने के निर्माण के लिए मैग्नीशियम अथवा कैल्सियम हाइड्रेट का उपयोग किया जाता है।

16. विविध उपयोग — चूनापत्थर की तरह डोलोमाइट का भी उपयोग इमारती और सजावटी पत्थर के रूप में होता है। कुछ उत्कृष्ट पत्थरों के संदलित टुकड़ों का उपयोग आलंकारिक वर्तनों और मूर्तिकला में होता है।

इमारती पत्थर — मैग्नीशियम चूनापत्थर, चूनापत्थर की अपेक्षा कम विलेय होने के कारण इमारती पत्थर के रूप में अधिक महत्व रखता है। इमारती पत्थर के रूप में इसका उपयोग मुख्यतः संरचना की एकरूपता, उच्च घनत्व, निम्न सरंध्रता, आकर्षक रंग और पालिश हो सकने की क्षमता पर निर्भर करता है।

संदलित पत्थर — मैग्नीशियम चूनापत्थर का बड़ी मात्रा में उपयोग बंकरोट, सड़क बनाने तथा रेल की पटरी में मिट्टी के रूप में होता है। उपलब्ध होने पर मैग्नीशियम चूनापत्थर को उसकी उच्च कठोरता के कारण, शुद्ध चूनापत्थर की अपेक्षा प्राथमिकता दी जाती है। वाहित-मल हटाने में छत्रक माध्यम के रूप में भी कुटे हुए चूनापत्थर अथवा डोलोमाइट का उपयोग होता है।

कोयले की खान की सफ़ाई — कोयले की खानों में धूल के विसफोटों से होने वाले खतरों को कम करने के लिए महीन पिसे हुए चूनापत्थर

को खान की दीवारों, फ़र्श और छत एवं कमरों में प्रचुर मात्रा में पोता जाता है। इस काम के लिए रासायनिक संघटन महत्वपूर्ण नहीं है और मैग्नीशियम अथवा कैल्सियम चूनापत्थर में से किसी का भी उपयोग किया जा सकता है।

डामर का पूरक — फ़र्श और छत बनाने के लिए ऐस्फ़ाल्ट में अपेक्षाकृत बड़ी मात्रा में महीन पिसे हुए चूनापत्थर का उपयोग होता है। इस काम के लिए मैग्नीशियम या कैल्सियम चूनापत्थर का उपयोग किया जा सकता है।

जलयोजित चूना (कैल्सियम अथवा मैग्नीशियम) का उपयोग कच्चे लोहे की ढलाई, लोहे और इस्पात के अम्लमार्जन और तार खींचने में होता है। गत्ता निर्माण, ढलवाँ छत बनाने, फ़र्श बनाने, पथबन्ध बनाने, रोड़ी, पत्थर की नींव बनाने, छत बनाने, बजरी, मोलैक के लिए और कृत्रिम पत्थर के लिए चूनापत्थर अथवा डोलोमाइटी चूनापत्थर का उपयोग किया जाता है।

उत्पादन

भारत में 1966-69 तक का डोलोमाइट का उत्पादन सारणी 1 में दिया गया है।

भारत में डोलोमाइट का मुख्य उपयोग इमारती पत्थर और लौह प्रगलन के लिए होता है। इस खनिज के विविध उपयोग होने के कारण भारत में इसका भविष्य उज्ज्वल है।

डोविएलिस ई. मेयर (फ़्लैकोर्टिएसी) DOVYALIS E. Mey.

ले. — डोविआलिस

Bailey, 1947, I, 172.

यह झाड़ियों या वृक्षों का एक लघु वंश है जो अफ्रीका, श्रीलंका और न्यूगिनी का मूलवासी है। डॉ. काफ़ा वार्दुंग सिन. एवेरिया काफ़ा हावे और सांडर (केड ऐपेल), एक कंटोली झाड़ी है जिसकी ऊँचाई,

लगभग 6 मी., फल चपटे या लगभग गोल (व्यास, लगभग 2.5 सेंमी.), चमकीले पीले, ग्राह्य होते हैं। यह झाड़ी भारत के कुछ वगीचों में बाहर में लगाकर लगाई गई है। फल रसीले, सुगंधित और बहुत खट्टे होते हैं। कच्चे फलों का अचार और पके फलों का मुरब्बा डाला जाता है। यह झाड़ी वाड के लिए अच्छी है (Krumbiegel, 63; Sampson, *Kew Bull., Addl Ser.*, XII, 1936, 1; Popenoe, 441).

डो. हेबेकार्पा वार्बुग सिन. एवेरिया गार्डनैराइ क्लोस (सीलोन गूजबेरी) एक छोटा झाड़ीदार वृक्ष है जो श्रीलंका में पाया जाता है। इस पर भूराभ नील-लोहित रंग के फल आते हैं जो डो. काफ्रा के फलों की तरह प्रयुक्त होते हैं (Macmillan, 246).

Flacourtiaceae; *D. caffra* Warb. syn. *Aberia caffra* Harv. & Sond.; *D. hebecarpa* Warb. syn. *Aberia gardneri* Clos

डोसाइनिया डेकाज्ने (रोसेसी) DOCYNIA Decne.

ले. — डोसिनिआ

यह सदाबहार अथवा अर्ध सदाबहार वृक्षों की पाँच जातियों का वंश है जो हिमालय प्रदेश, चीन और अनाम में पाए जाते हैं। भारत में इसकी दो जातियाँ पाई जाती हैं।

Rosaceae

डो. इंडिका डेकाज्ने D. indica Decne.

इण्डियन क्रैब ऐपेल, फाल्स विक्स

ले. — डो. इंडिका

D.E.P., III, 171; *Fl. Br. Ind.*, II, 369; *Fl. Assam*, II, 211; Brandis, *Fig.* 124.

नेपाल — मेहुल, पास्ती; लेपचा — लिकुंग; खासी — सोह-फोह.

यह मुन्दर पत्तों वाला मध्यम आकार का वृक्ष है जो हिमालय के पूर्वी क्षेत्र, नेपाल, सिक्किम, भूटान (1,200-1,800 मी. की ऊँचाई तक) और मणिपुर तथा खासी पहाड़ियों (1,800 मी. की ऊँचाई तक) में सामान्य रूप से पाया जाता है। कभी-कभी इसकी गेती फलों के लिए की जाती है। ये फल हरी नासपाती के आकार के, सेब जैसे (2.5-5 सेंमी.) होते हैं। फल अम्लीय होते हैं और कच्चे ही अथवा उबालकर खाये जाते हैं। फल अगस्त-सितम्बर में पकते हैं तथा इनमें से कुछ बीही जैसी गंध आती है। इसे उष्ण, शीतोष्ण तथा उपोष्ण क्षेत्रों में उगाया और चयन तथा संकरण विधियों से मूल्यवान फल-वृक्ष बनाया जा सकता है। इसका प्रवर्धन बीज द्वारा तथा संभवतया सेब मूलवृत्त पर कलम बाँधकर किया जाता है। कभी-कभी सेब की साँकुर डाली की कलम बाँधने के लिए इस वृक्ष को मूलवृत्त के रूप में भी प्रयोग किया जाता है (Bailey, 1947, I, 1063).

इसका काष्ठ हल्के भूरे रंग का और अन्तःकाष्ठ कठोर, घना तथा समान दानों वाला होता है। यह औजारों के बेंट बनाने के काम में आता है। इसकी टहनियों से मुन्दर बेंट बनाए जाते हैं (Gamble, 320).

डो. हुकरियाना डेकाज्ने (खासी — सोह-फोह-हेह, दिपंग-सोह-फो) फीनी हुई शाखाओं वाला विशाल वृक्ष है जो 1,500 मी. की ऊँचाई तक खानी पहाड़ियों पर मिलता है। इस पर आने वाले फल तनुये के समान दीर्घवृत्तीय आकार के और ग्राह्य होते हैं। इसका काष्ठ छोन बनाने के काम में आता है।

D. hookeriana Decne.



चित्र 128 — ड्युआवंगा सोनेरेटियाइडीज — पुष्पित वृक्ष

ड्युआवंगा बुखनन-हैमिल्टन (सोनेरेटिएसी) DUABANGA Buch.-Ham.

ले. — डुआवानगा

यह वृक्षों का वंश है जो इण्डो-मलय क्षेत्र में पाये जाते हैं। इनमें से एक जाति भारत में मिलती है।

Sonneratiaceae

ड्यु. सोनेरेटियाइडीज बुखनन-हैमिल्टन D. sonneratioides Buch.-Ham.

ले. — डु. सान्नेराटिओइडेस

D.E.P., III, 196; *Fl. Br. Ind.*, II, 579.

नेपाल — लैम्पेटिया; बंगाल — बंडरहुल्ला; असम — थोरा, खूकन, कोकन; व्यापार — लम्पाटी.

यह एक विशाल पर्णपाती वृक्ष है जो पूर्वी हिमालय, असम और अंडमान द्वीपों में 900 मी. की ऊँचाई तक पाया जाता है। यह 24-30 मी. तक ऊँचा होता है जिसमें साफ तना 9-12 मी. तक और इसका घेरा 2.4-5.4 मी. होता है। यह कुछ उष्ण स्थितियों में नालों और नदियों के किनारे उगता है और कभी-कभी सूखी पाया जाता है। इसके प्राकृत आवास में छाया में अधिकतम ताप 36.6-43.3° तक और न्यूनतम ताप 2.2° से 15.5° तक; वर्षा 125 से 500 सेंमी. तक होती है।

इसका प्राकृतिक पुनरुद्भवन गुली और अच्छे जल-निकास वाली भूमियों पर, जैसे ढलानों और नदी तटों पर, आसानी से हो जाता है। कृत्रिम जनन सीधे बुआई द्वारा हो सकता है पर अच्छे परिणाम तब प्राप्त होते हैं जब बीजों को ढके बरतों पर ढूँढ़ों में उगाया जाता है और पौधे वर्षा ऋतु के आरम्भ में लगा दी जाती हैं। पौधे कुछ बलुई और नमी वाली भूमियों में गुले प्रकाश में अच्छी बढ़ती हैं। छोटे पौधे पर सूखे और पाले का बुरा असर पड़ता है। इसके बीज और पौधे आकार में बहुत छोटे होते हैं; इसलिए वर्षा के समय या पानी देने

हुए इन्हें वह जाने से रोकने के लिए विशेष सावधानी बरतनी पड़ती है। पहले कुछ वर्ष तक हरिणों और डोरों से भी इनकी रक्षा करनी आवश्यक है।

पीढ़ें एक या दो वर्ष बाद तेजी से बढ़ती हैं और प्रति वर्ष 1.5 मी. या अधिक तक की वाढ़ हो जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं। 50-60 वर्ष में इसका घेरा 1.8-2.1 मी. हो जाता है। सामान्यतः लम्पाटी अन्य जातियों के साथ उगता है। इनको गिराने का कार्य चुन करके किया जाता है। निश्चित न्यूनतम मोटाई वाले वृक्ष ही प्रति वर्ष गिराने के लिए छाँटे जाते हैं (Troup, II, 605-608; Pearson, *Indian For. Bull.*, N.S., No. 36, 1917, 5)।

लकड़ी का रंग भूराभ घूसर होता है जिसमें प्रायः धारियाँ होती हैं; इसमें अलग से अन्तःकाष्ठ नहीं रहता; लकड़ी सीधी या कुछ अन्तर्ग्रथित दानेदार और स्थूल गठन वाली होती है। यह कुछ मजबूत, कठोर और हल्की (आ. घ., 0.37; भार, 336-576 किग्रा./घमी.) होती है। लकड़ी जब चतुर्थांश चीरी जाती है या घूर्णीय पृष्ठावरण के रूप में काटी जाती है तो प्रथम कोटि की निकलती है। यह माल असम और बंगाल में ही पहुँचता है।

यह लकड़ी उच्चताप-सह नहीं होती और हवा या भट्टी में इसका पकाना आसान होता है, यदि हरे लट्टे काट लिये जायें और चिरे हुए माल को जल्दी से सुखा लिया जाए। पकाने से पहले कुछ समय के लिए ऊपर की ओर चट्टे लगा कर छोड़ देना हितकर होता है। सामान्यतः लट्ठों को पकाने का परिणाम अच्छा नहीं निकलता क्योंकि लकड़ी

उपड़ने लगती है और कवकों तथा वेधकों का हमला अधिक होता है। यदि पेड़ों का वलयन करके उन्हें 12-18 महीने खड़ा छोड़ कर फिर चीरा जाए तो संतोषजनक परिणाम मिलते हैं।

खुली रखने पर यह लकड़ी अधिक टिकाऊ नहीं होती पर छाजन के नीचे या पानी के सम्पर्क में रहने पर अधिक समय तक चलती है। किसी परिरक्षी से इसे उपचारित कर देना अच्छा रहता है यद्यपि यह कठिनाई से उपचारित होती है।

लकड़ी को चीरना और उसको विकनाना आसान है। घूर्णी खराद पर यह अच्छी उतरती है और प्लाईवुड के लिए इसका उपयोग किया जा सकता है। असम में किये गये परीक्षणों से पता चला है कि प्लाईवुड की चाय पेटियों के लिए जो मानक निश्चित हैं, उससे यह निम्न स्तर की होती है (Pearson & Brown, loc. cit.; Trotter, loc. cit.).

इमारती लकड़ी के रूप में लम्पाटी की उपयुक्तता के प्रतिशत मान सागीन की लकड़ी के उन्हीं मानों की तुलना में इस प्रकार हैं : भार, 70; कड़ी के रूप में सामर्थ्य, 60; कड़ी के रूप में दुर्नम्यता, 70; खम्भे के रूप में उपयुक्तता, 65; आघात प्रतिरोध क्षमता, 65; आकृति स्थिरण क्षमता, 75; अपरूपण, 75; कठोरता, 50. यह अनुप्रस्थ सामर्थ्य में सागीन से 36% कम, पार्श्व कठोरता में 30% कम और दानों के समान्तर संपीडन सहने में उसी के लगभग बराबर होती है (Trotter, 1944, 244; Pearson & Brown, II, 599).

लम्पाटी एक उपयोगी हल्की लकड़ी है जो सुहागा फेरने और बन्से बनाने के लिए ठीक रहती है। यह हल्की कड़ियों, बेटन, दीवारी तख्तों



चित्र 129 - इयुंआवंगा सोनेरेडिपाइटीज - वृक्ष समूह

और फर्नीचर के लिए अच्छी है। यह चित्रकारी और खराद के काम के लिए भी अच्छी है। सूचनाओं के अनुसार यह दियासलाई की तीलियों के लिए भी उत्तम है (Trotter, 1944, 101; Pearson & Brown, II, 600; Rodger, 29).

फल मट्टा और खाद्य होता है। बीजों के विश्लेषण से आर्द्रता, 7.92; ईथर निष्कर्ष, 4.20; नाइट्रोजन, 2.11; प्रोटीन, 13.18; रेशा तथा कार्बोहाइड्रेट, 76.09; और राख, 2.34% पाई गई। बीज ग्लोबुलिन में आवश्यक ऐमीनो अम्ल, 18.34; और गंधक, 0.69% रहता है (Burkill, I, 868; Narayanamurti & Singh, *Indian For.*, 1951, 77, 758).

इयूकेस्निया स्मिथ (रोजेसी) DUCHESNEA Sm.

ले. - डूचेस्नेआ

D.E.P., III, 438; Fl. Br. Ind., II, 343; Fyson, II, Pl. 149.

यह बहुवर्षी, भूशायी वृक्षों की दो जातियों का वंश है जो दक्षिण एशिया में पाया जाता है। इयू. इंडिका फाके सिन. फ़ोरिया इंडिका ऐंडुम (इंडियन स्ट्राबेरी) एक छोटी बहुवर्षी वृक्ष है जिसमें लम्बे, पतले, कम या अधिक रोमिल उपरिभूस्तारी होते हैं। यह जाति पंजाब से अरब तक सारे शीतोष्ण और उपोष्ण कटिबंधीय हिमालय में 2,400 मी. की ऊँचाई तक और खासी पहाड़ियों, पश्चिमी घाट, नीलगिरि और पलनी पहाड़ों में 2,100 मी. की ऊँचाई तक पाई जाती है। इसमें चमकीले लाल, गोल, या आयताकार फल आते हैं जो स्पजी और फीके होते हैं। यह पोषा संयुक्त राज्य अमेरिका में जगली हो गया है और भूमि को ढके रखने के लिए उपयोगी समझा जाता है (Bailey, 1949, 527).

Rosaceae; *D. indica* Focke syn. *Fragaria indica* Andr.

इयूटजिया थनवर्ग (सैक्सोफ्रेगोसी) DEUTZIA Thunb.

ले. - डेउटजिया

D.E.P., III, 92; Fl. Br. Ind., II, 406.

यह पर्णपाती, कदाचित् सदाहरित, शोभाकारी झाड़ियों का वंश है जो हिमालय से उत्तरी चीन एवं जापान तक तथा मैक्सिको में पाया जाता है।

इयू. कोरिम्बोसा थार. ब्राउन (जिमला - डलोची, डियूला, भुजु; जौनार - भुजरोई) और इयू. स्तामिनीया थार. ब्राउन (जिमला - डियूला; जौनार - डहलोची) दोनों झाड़ियाँ हैं जिनकी छाल उपरिनी रहती है। छाल का रंग भूरा अथवा धूसर होता है। यह हिमालय में कश्मीर से भूटान तक 900-3,000 मी. की ऊँचाई तक मिलती है। उनमें मुग्नवर्ण श्वेत पुष्पगुच्छ होते हैं। इयू. स्कंजा थनवर्ग मिन. इयू. फ़िनेटा मीबोल्ड और जुकारिनी चीन और जापान का मूलवासी है। उनमें श्वेत अथवा गुलाबी फूल आते हैं। कभी-कभी इन्हें भारतीय उद्यानों में भी लगाया जाता है (Parker, 232; Firminger, 532).

इयूटजिया जाति की पत्तियाँ रूक्ष, तागवार, कठोर वालों में युक्त होती हैं और वेगमाल के स्थान पर उनका उपयोग किया जा सकता है। इसकी लकड़ी ईंधन के काम आती है।

Saxifragaceae; *D. corymbosa* R. Br.; *D. staminea* R. Br.; *D. scabra* Thunb.; *D. crenata* Sieb. & Zucc.



चित्र 130 - इयूटजिया कोरिम्बोसा

इयूरिओ लिनियस (बाम्बेकेसी) DURIO Linn.

ले. - डूरियो

यह उष्णकटिबंधीय वृक्षों का लघु वंश है जो अधिकांशतः इण्डो-मलय क्षेत्र में पाया जाता है। इयू. जिबेथिनस इस वंश की सबसे महत्वपूर्ण जाति है। इसके खाद्य फलों के लिए इसकी खेती की जाती है। *Bombacaceae*

इयू. जिबेथिनस लिनियस *D. zibethinus* Linn.

डूरियन, सिवेट फ्रूट

ले. - डू. जिबेथिनस

D.E.P., III, 198; C.P., 510; Fl. Br. Ind., I, 351.

यह एक विशाल हरित वृक्ष है जो 27 मी. तक ऊँचा होता है। इस पर आयताकार, लम्बाय पत्तियाँ आती हैं जिनके निचली पृष्ठ पर घने सुनहरे रोम होते हैं। फूल बड़े, सफेद से पार्श्विक मसीमाओं या गुच्छों में; फल अंडाभ या उपगोलाकार, 15.0-25 सेमी. लम्बे, कटहल (आर्टोकार्पस इंडोपा मेरिल) की तरह झूलमय, थोड़े काष्ठीय आवरण से ढके; फल पंचकपाटित, दृढ़ पीले रंग के बीजचोल के अन्दर बड़े-बड़े बीज होते हैं। इस बीजचोल का स्वाद अम्लीय; गंध तेज, किन्तु पनीर, मड़ी प्याज और तारपीन की मिली-जुली गंध जैसी होती है।

इस पोषे की खेती मलाया और इंडोनेशिया में की जाती है। वीनियों में पुष्प प्ररूप मिलते हैं जो सम्भवतः भिन्न जाति के हैं। उनमें में कुछ के फलों में किमी तरह की कुरी गंध नहीं होती; कुछ में पीना या नारंगी गूदा होता है। भारत में कई स्थानों पर इसे लगाने के चल किये गये हैं किन्तु केवल नीलगिरि के निचले भागों में और पश्चिमी घाट के कुछ भागों में ही सफलता मिली है। यह उर्वर जलोढ़ या दुमट मिट्टियों में सबसे अच्छी तरह पनपता है, और जब किसी नदी या नाले

के किनारे लगाया जाता है और आसपास पहाड़ी ढालों की हरियाली से ढका होता है तो यह बहुत बड़ा हो जाता है और तमाम फल देता है। दक्षिण भारत में वृक्षों की कुल संख्या 100 से अधिक नहीं होगी। अपने उत्पादन क्षेत्र से बाहर यह अज्ञात-सा है (Popenoe, 425; Barret, 202; Firminger, 243; Naik, 403)।

सामान्यतः डूरियन पके फलों से प्राप्त बीजों को तुरन्त बो कर प्रवर्धित किया जाता है। पौधे बगीचों में 9-12 मी. के अन्तर पर लगाए जाते हैं। साटा कलम बांध कर भी प्रवर्धन किया जा सकता है। चुनी हुई जातियों में चश्मा चढ़ा कर अलिंगी प्रवर्धन किया जाता है (Naik, 404; Ochse, 29)।

यह वृक्ष मार्च-अप्रैल में फूलता है और फल जुलाई-सितम्बर में पकते हैं। रोपने के 9-12 वर्षों के भीतर ही यह वृक्ष फल देने लगता है, लेकिन मलय देश में सातवें वर्ष के बाद ही फल आ जाते हैं। भारत में इस वृक्ष के किसी नाशकजीव या रोग की सूचना नहीं है (Burkill, I, 873; Naik, loc. cit.)।

इसके फल का भार 1.8-3.6 किग्रा. होता है और एक वृक्ष से हर वर्ष 40-50 फल उतरते हैं। पौधों की उत्पादकता परिवर्तनशील है। कुछ वृक्ष नितान्त बंध्य होते हैं। बंध्यता का कारण स्वबंध्यता हो सकता है। फलों में आकार-प्रकार और सुरस का भेद रहता है और ये भेद सम्भवतः बीजों द्वारा प्रवर्धन की प्रचलित रीति के कारण हैं।

यह फल अपने मोठे कस्टर्ड जैसे गूदे के लिए, जो बीजों के चारों ओर रहता है, पसन्द किया जाता है। जिन्हें इसका स्वाद पसन्द है, वे इसे विशेष स्वादिष्ट वस्तु मानते हैं। पहली बार खाने वाले इसे तेज गंध के कारण पसन्द नहीं करते, क्योंकि फल पकने के साथ यह गंध बढ़ती जाती है। गूदे में सुगन्धि होती है और खाने के बाद एक तेज रेजिनी या वालसम-जैसा स्वाद मुंह में बना रहता है। मोटी टहनियों में लगे फल तने से दूर की शाखाओं के फलों की अपेक्षा खाने में अच्छे माने जाते हैं (Barret, loc. cit.)।

फल का लगभग एक तिहाई भार खाने योग्य गूदे का है और लगभग छठा भाग बीज का होता है। गूदे में कुल शर्कराएँ लगभग 12% और इतना ही स्टार्च होता है। खाद्य अंश के विश्लेषण से जो मान प्राप्त हुए हैं वे इस प्रकार हैं: आर्द्रता, 58.0; अपरिष्कृत प्रोटीन, 2.8; वसा, 3.9; कुल कार्बोहाइड्रेट, 34.1; खनिज पदार्थ, 1.2; Ca, 0.01; और P, 0.05%; Fe, 1.0 मिग्रा./100 ग्रा.; कैरोटीन (अन्तर्राष्ट्रीय विटामिन ए इकाइयों में), 20; और विटामिन सी, 25 मिग्रा./100 ग्रा. गूदे की गंध एक सल्फर यौगिक और व्यूटिरिक अम्ल से सम्बद्ध एक अन्य पदार्थ के कारण होती है (Bailey, 1947, I, 1081; *Hlth Bull.*, 1951, No. 23, 44; Joachim & Pandittesekere, *Trop. Agriculturist*, 1943, 99, 14)।

पका फल जल्दी खराब हो जाता है और अधिक दूरियों तक नहीं भेजा जा सकता। पूरे कच्चे फल की तरकारी बनाई जाती है। बीज खाद्य हैं और चेस्टनटों की तरह भून कर खाए जाते हैं। विश्वास है कि फल के खाने से तरुणापा आ जाता है। मलय में पत्ते, जड़ और फलों के छिलके दवाई के काम आते हैं।

लकड़ी हल्की, पीताभ भूरी, नरम, कम टिकाऊ होती है। इसमें आसानी से दीमक लग जाती है। कहा जाता है कि मलाया में यह शोपड़ियों के भीतरी भागों के निर्माण में काम आती है (Burkill, loc. cit.)।

Artocarpus integra Merrill.



चित्र 131 - डूरियो त्रिवेयिनस

ड्रैकोन्टोमेलम ब्लूम (एनाकार्डिएसी) DRACONTOMELUM Blume

ले. - ड्राकोन्टोमेलूम

Fl. Br. Ind., II, 43.

यह वृक्षों का छोटा-सा वंश है जो दक्षिण-पूर्वी एशिया से प्रशान्त महासागर तक पाया जाता है।

ड्र. मैजीफेरम ब्लूम ऊँचा, सुन्दर वृक्ष है जो ग्रंडमान द्वीपों में बहुधा पाया जाता है। फल गती-गोलाकृतिक, 2.5-3.1 सेंमी. व्यास का, पकने पर पीलाभ और खाद्य होता है। मलय-निवासी इसे मछली के साथ खटाई के रूप में खाते हैं। मलक्का में फूल और पत्ते सुरसकारी की तरह उपयोग में लाये जाते हैं। इसकी लकड़ी घटिया होती है। यह मकान बनाने में और दियासलाई की सलाइयाँ बनाने के लिए उपयोगी बतायी जाती है (Burkill, I, 860)।

Anacardiaceae; D. mangiferum Blume

ड्रमस्टिक - देखिए मोरिंगा

डाइआप्टेरिस ऐडन्सन (पोलिपोडिएसी) DRYOPTERIS Adans.

ले. - ड्रायोप्टेरिस

Bailey, 1949, 89.

यह फलों का विनाश बंश है जो संसार के प्रायः समस्त भागों में पाया जाता है।

डा. फिलिक्स-मास (लिनियस) गॉट और डा. मार्जिनैलिस (लिनियस) ए. ग्रे के प्रकन्द और पर्णांग-पत्रों के आधार टीनियानिस्सारक के रूप में काम आते हैं और फार्माकोपियाओं में 'फिलिक्स-मास मेल फर्न' और 'ऐस्पीडियम' के नामों से मान्य हैं। ये दोनों पौधे विदेशी हैं। सम्भव है कि इन वंश की सभी जातियों में कृमिनाशक गुण होते हैं, और इन दो के अतिरिक्त ग्रेप जातियाँ अनेक देशों में कृमिनिस्सारक के रूप में प्रयुक्त की जाती हैं। कुछेक भारतीय जातियों के प्रकन्दों में मान्य औषध-जैयें गुण होते हैं।

नर-पर्णांग का मुख्य सक्रिय कारक एक जटिल द्विआधारीय अम्ल, फिलमारोन, होता है जो एक अक्रिस्टलीय भूरा-सा पीला अम्ल है (ग. वि., लगभग 60°). इसमें नीरग अक्रिस्टलीय चूर्ण जैसा फिलिसिक अम्ल (ग. वि., 125°) और हल्की कृमिनाशक क्रिया वाले कुछ अन्य पदार्थ पृथक् किये गये हैं। औषधि के आमापनों में फिलिसिन नामक ईथर-विलेय अम्लीय पदार्थ निश्चित किया जाता है। ब्रिटिश फार्माकोपिया के अनुसार, औषध में कम से कम 1.5% फिलिसिन और अधिक से अधिक 2% अम्ल-विलेय राख होनी चाहिए (B.P., 207; U.S.D., 118; Thrope, V, 180).

अशुद्ध औषध रखने पर जल्दी खराब होने लगती है, इसलिए इस औषध से ओलियोरेजिन अलग कर लिया जाता है जो अपेक्षतया स्थायी होता है। ओलियोरेजिन निकालने के लिए औषध का ताजा स्थूल चूर्ण बनाकर व्यावक में ईथर के साथ रचन किया जाता है और च्यवन प्राप्त करने के बाद च्यवित द्रव को वाष्पन द्वारा गाढ़ी चाशनी में बदल लिया जाता है। मान्य विनिर्देश के अनुसार ओलियोरेजिन या निष्कर्ष में भार के हिसाब से 24-26% फिलिसिन होना चाहिए।

फिलिसिन एक सक्रिय कृमिनिस्सारक है और विशेष रूप से फीता-कृमि को बाहर निकालने में कारगर है। यह फीताकृमि के सब रूपों के लिए विपैला है। यह वयस्को को 12 घंटे की खुराक में कैप्सूलों (तेल माध्यम में) या गोलिए के रूप में दिया जाता है। दवाई देने के कुछ ही घंटों बाद टीनिया बाहर आ जाते हैं। रसकपूर (कैलोमल) के साथ देने पर इसकी कृमिनिस्सारक और विरेचक क्रियाएँ अवश्य होती हैं। उपयुक्त मात्रा में देने पर विपैला प्रभाव कदाचित् ही होता है। इस औषधि का उपयोग पशु-चिकित्सा में भी किया जाता है (U.S.D., 120, 1728; Allport, 214; Martindale, I, 534).

डा. थ्रोडोन्टोलोमा (मूर) सी. क्रिस्टेन्सन हिमालय में और छोटी वनस्पति के रूप में समस्त कश्मीर घाटी में वनों के रूप में (1,500-3,000 मी.), विजोपतया नमी वाले क्षेत्रों में, पाया जाता है। डा. मार्जिनेटा (वालिथ) फ्राइस्ट कुछ नमी वाले क्षेत्रों में 1,200-2,700 मी. की ऊँचाई पर मिलता है। जिन अन्य हिमालयी जातियों की सूचना है वे हैं। डा. वारविजेरा (मूर) कुल्जे, जो ऐल्पीय क्षेत्रों और हिमपाती पट्टों में कश्मीर से सिक्किम तक पाई जाती है; डा. शिम्पेरियाना (हाक्स्टेटर) सी. क्रिस्टेन्सन मसूरी में लगभग 2,100 मी. की ऊँचाई पर सामान्य है; और डा. ब्लैन्फोर्ड (होप) सी. क्रिस्टेन्सन विश्लेषणों ने पता चला है कि इन जातियों के प्रकन्द औषध के लिए ब्रिटिश फार्माकोपिया और अमेरिकी फार्माकोपिया के मानकों के अनुसार हैं। इनके विश्लेषण मान मांशपी 1 में दिये गये हैं (Nayar & Chopra, 1951, 24; Handa et al., Indian J. Pharm., 1951, 13, 118; 1952, 14, 109).

डा. डेप्टेडा (फोर्स्कोल) सी. क्रिस्टेन्सन=साइलोलोसोरस डेप्टेडस (फोर्स्कोल) निग नारे भारत में मैदानों में और 1,800 मी. की ऊँचाई

सारणी 1 — भारतीय डाइआप्टेरिस जातियों के प्रकंदों के विश्लेषण मान

जातियाँ	स्थान	कुल राख %	अम्ल घविलेय राख %	फिलिसिन %	ईथर निष्कर्ष %
डा. वारविजेरा	गुलमगं (कश्मीर)	2.3	0.12	2.1	7.7
डा. ब्लैन्फोर्ड	छतारी (चम्बा)	3.1	0.40	3.5	8.2
डा. शिम्पेरियाना	मसूरी	2.8	0.24	4.4	13.3
डा. मार्जिनेटा	मसूरी	4.1	0.60	2.1	10.7
डा. थ्रोडोन्टोलोमा	मसूरी	3.5	0.31	2.3	9.2

तक पहाड़ों में भी जंगली रूप में पायी जाती है। ऐसी सूचना है कि इस पर्णांग के पिच्छकों के जलीय निष्कर्षणों (आटोक्लेवित) में स्टैफिलो-कोकस औरियस की विरोधी प्रतिजीवाणु-सक्रियता होती है (Sen & Nandi, Sci. & Cult., 1950-51, 16, 328).

Polypodiaceae; *D. filix-mas* (Linn.) Schott; *D. marginalis* (Linn.) A. Gray; *D. odontoloma* (Moore) C. Chr.; *D. marginata* (Wall.) Christ; *D. barbigera* (Moore) Kuntze; *D. blanfordii* (Hope) C. Chr.; *D. schimperiana* (Hochst.) C. Chr.; *D. dentata* (Forsk.) C. Chr.=*Cyclosorus dentatus* (Forsk.) Ching; *Staphylococcus aureus*

डाइओबैलानोप्स गेटनर पुत्र (डिप्टेरोकार्पेसी)
DRYOBALANOPS Gaertn. f.

ले. — डिओबैलानोप्स

D.E.P., II, 84; C.P., 245.

यह ऊँचे वृक्षों का वंश है जो सुमात्रा से बोर्नियो तक पाया जाता है। इन वृक्षों से कर्पूरमय ओलियोरेजिन प्राप्त होता है। डा. ऐरोमेटिका गेटनर पुत्र सिन. डा. कैम्फोरा कोलबुक से, जो एक ऊँचा वृक्ष है और सुमात्रा, मलय प्रायद्वीप और बोर्नियो में पाया जाता है, बोर्नियो कपूर या वैरुस कपूर बनाया जाता है (With India, pt II, 15).

बोर्नियो कपूर (हि. — भीमसेनी कपूर, वैरुस कपूर) डा. ऐरोमेटिका की लकड़ी में कोटरों और दरारों में पाया जाता है और खुरच कर इकट्ठा किया जाता है। यह सफेद पारभासक पिंडों के रूप में रहता है और अनेक दृष्टियों से सिनामोमम कैम्फोरा से काफी मिलता-जुलता है किन्तु यह उससे भारी होता है। यह साधारण तापों पर उड़ता नहीं और इसमें एक अपनी विगिष्ट तीव्री गंध और तीक्ष्ण स्वाद होता है। यह कपूर की ही तरह दवाइयों और सुगन्ध बनाने के काम आता है। यह कार्बनिक संश्लेषणों में भी प्रयुक्त होता है। भारतीय चिकित्सा में बोर्नियो कपूर बहुत पसन्द किया जाता है (Macmillan, 393; Nadkarni, 149; Kraemer, 294; U.S.D., 1370).

रासायनिक दृष्टि से, बोर्नियो कपूर प्रायः शुद्ध *d*-बोर्नियोल $C_{10}H_{17}OH$; ग. बि., 209°; $[\alpha]_D^{20}$, +37.4° होता है। उबलते नाइट्रिक अम्ल में क्रिया करके इसे साधारण कपूर में बदला जा सकता है। *Dipterocarpaceae*; *D. aromatica* Gaertn. f. syn. *D. camphora* Colebr.; *Cinnamomum camphora*

डाइनेरिया बोरी (पोलिपोडिफ़ीसी) DRYNARIA Bory

ले. - डिनारिया

D.E.P., VI(1), 320; Haines, 1207.

यह फर्नों का एक वंश है जो पुरानी दुनिया के कुछ उष्ण भागों में पाया जाता है।

डा. क्वेसिफोलिया (लिनियस) जे. स्मिथ सिन. पोलिपोडियम क्वेसिफोलियम लिनियस (सं. - अश्वकात्रि; वं. - गरुड; म. - बासिह; महाराष्ट्र - कडिकपन) सारे भारत के मैदानों में और पर्वतों के निचले हिस्सों में पाया जाता है। यह पेड़ों या शैलों पर उगता है और इसमें एक छोटा, मोटा गूदेदार प्रकन्द होता है जो लाल-बादामी हृदयाकार शल्कों से ढका होता है। पर्णांग-पत्र दो प्रकार के होते हैं: अनुर्वर और उर्वर। अनुर्वर पर्णांग-पत्र समय के साथ बादामी हो जाते हैं और छोटे तथा कुछ अवतल होते हैं; इन पर ह्यूमस इकट्ठा हो जाता है जिससे पौधे की अपस्थानिक जड़ों को पोषण प्राप्त होता है। उर्वर पर्णांग-पत्र लम्बे वृत्तों वाले, बड़े, 0.6-2.4 मी. लम्बे, पिच्छाकार पालियों वाले और गठन में चमड़े जैसे या झिल्लीमय होते हैं। जिन प्रकारों की खेती की जाती है; वे जंगली पौधों से अधिक मजबूत और दृढ़ होते हैं।

प्रकन्द कड़वा और कपाय होता है। पानी के काढ़े में प्रतिजीवाणुक गुण पाये जाते हैं। मलय देश में पर्णांग-पत्र को पुल्टिस की तरह सूजन पर बाँधते हैं (Sen & Nandi, Sci. & Cult., 1950-51, 16, 328; Burkill, I, 862).

Polypodiaceae; *D. quercifolia* (Linn.) J. Smith syn. *Polypodium quercifolium* Linn.

डाइपिटिज वाल (यूफोर्बिएसी) DRYPETES Vahl

ले. - डिपेटेस

Fl. Br. Ind., V, 339; Fl. Assam, IV, 175

यह सदावहार, इमारती वृक्षों और झाड़ियों का एक वंश है जो उष्णकटिबंध में सर्वत्र पाया जाता है। भारत में लगभग 15 जातियाँ मिलती हैं जिनमें से असम में 8 के मिलने की सूचना है।

डा. सबसेसिलिस पैक्स और हाफमैन (सिन. साइक्लोस्टेमोन सबसेसिलिस कुर्ज), डा. ग्रिफिथाइ पैक्स और हाफमैन (सिन. सा. ग्रिफिथाइ हुकर पुत्र), डा. लैसिफोलिया पैक्स और हाफमैन (सिन. सा. इंडिकस मूलर आब आर्गो), डा. एर्लेंडुलोसा पैक्स और हाफमैन (सिन. सा. एर्लेंडुलोसस कुर्ज), डा. इलिप्टिका पैक्स और हाफमैन (सिन. सा. इलिप्टिकस हुकर पुत्र), डा. असामिका पैक्स और हाफमैन (सिन. सा. असामिकस हुकर पुत्र) और डा. लांगिफोलिया पैक्स और हाफमैन (सिन. सा. लांगिफोलियस ब्लूम) असम के वृक्ष हैं। डा. ग्रिफिथाइ एक बड़ा वृक्ष है। इससे असम पहाड़ियों की सबसे मूल्यवान इमारती लकड़ी मिलती है। लकड़ी का रंग हल्का भूरा होता है और यह कठोर तथा कभी-कभी रेजिनी होती है। अन्य बहुत-सी जातियों की लकड़ी का रंग बहुत हल्के पीले से (क्रीमी) तक होता है। कभी-कभी लकड़ी काली धारियों से युक्त तथा महीन गठन वाली और कठोर, मजबूत और भारी (भार, 810-848 किग्रा./घमी.) होती है। आसपास के इलाकों में यह मकान बनाने में, हल्के काम के लिए और फर्श तथा दूसरे भीतरी कामों के लिए प्रयोग में आती है। डा. लांगिफोलिया से एक रेशा (अधिकतम लम्बाई, 2.0-2.7 मिमी.) प्राप्त होता है जो दूसरे रेशों की लुगदियों के साथ मिलाकर कागज बनाने के

लिए उपयुक्त है [Chowdhury & Ghose, Indian For. Rec., N.S., Util., 1946, 4(3), 9; Burkill, I, 868].

डा. मैक्रोफिला पैक्स और हाफमैन (सिन. सा. मैक्रोफिलस ब्लूम) एक बड़ा वृक्ष है जिसके तने पर नालियाँ बनी होती हैं और शाखाएँ पृथ्वी के समान्तर फैली होती हैं। यह वृक्ष पश्चिमी घाटों और अंडमान द्वीपों में पाया जाता है। इसकी लकड़ी घूसर-सी पीली, धूमिल रंग की, चिकनी, कठोर और भारी (भार, 880 किग्रा./घमी.) होती है। यह अधिक काम की नहीं है। फल का गूदा कड़वा और विषला होता है। डा. कानफर्टिफ्लोरा पैक्स और हाफमैन (सिन. सा. कानफर्टिफ्लोरस हुकर पुत्र) पश्चिमी घाटों का वृक्ष है। इसके फल साँभर हरिण द्वारा खाये जाते हैं। इन्हें मत्स्य-विष के रूप में भी काम में लाते हैं। लकड़ी हरी-सी घूसर, चिकनी, ठोस, कठोर और भारी (भार, 896 किग्रा./घमी.) होती है (Bourdillon, 290; Talbot, II, 458).

Euphorbiaceae; *D. subsessilis* Pax & Hoffm. (syn. *Cyclostemon subsessilis* Kurz); *D. griffithii* Pax & Hoffm. (syn. *C. griffithii* Hook. f.); *D. lancifolia* Pax & Hoffm. (syn. *C. lancifolius* Hook. f.); *D. indica* Pax & Hoffm. (syn. *C. indicus* Muell. Arg.); *D. eglandulosa* Pax & Hoffm. (syn. *C. eglandulosus* Kurz); *D. elliptica* Pax & Hoffm. (syn. *C. ellipticus* Hook. f.); *D. assamica* Pax & Hoffm. (syn. *C. assamicus* Hook. f.); *D. longifolia* Pax & Hoffm. (syn. *C. longifolius* Blume); *D. macrophylla* Pax & Hoffm. (syn. *C. macrophyllus* Blume); *D. confertiflora* Pax & Hoffm. (syn. *C. confertiflorus* Hook. f.).

डाइमिकार्पस हुकर पुत्र (एनाकार्डिएसी) DRIMYCARPUS Hook. f.

ले. - डिमिकारपस

D.E.P., III, 194; Fl. Br. Ind., II, 36.

यह पूर्वी हिमालय, असम और अंडमान द्वीपों में पाया जाने वाला वृक्षों का एक एकलप्ररूपी वंश है।

डा. रेसोमोसस हुकर पुत्र (वं. - तेलसुर; असम - अमदाली-आमसेलंगा, डिङ्ग बोड़ा; लेपचा - ब्रोग कुंग; नेपाल - कागी) एक सदावहार वृक्ष है जो 24 मी. तक ऊँचा होता है। लकड़ी पीताभ घूसर, घने दाने वाली, कुछ कठोर और भारी (भार, 976 किग्रा./घमी.) और बदरंग हो जाने वाली होती है। इस पर पालिश अच्छी चढ़ती है। असम में यह बहुधा सुहागा फेरने और डोंगियाँ बनाने के काम आती है। चटगाँव में सबसे अधिक नावें इसी लकड़ी की बनती हैं। कहा जाता है कि इस लकड़ी के लट्टों में से काटकर 15 मी. लम्बी और 2.7 मी. घेरे वाली नावें बनाई गई हैं (Gamble, 221).

Anacardiaceae; *D. racemosus* Hook. f.

डाइमेरिया विल्डेनो (कैरियोफिलेसी) DRYMARIA Willd.

ले. - डिमारिया

Fl. Br. Ind., I, 244.

यह कुछ कम खड़ी वृष्टियों का छोटा वंश है जो अधिकतर उष्ण-कटिबंधीय अमेरिका में पाया जाता है। डा. कॉर्डेटा विल्डेनो उष्ण-कटिबंधीय और उपोष्ण कटिबंधीय भारत में 2,100 मी. की ऊँचाई

तक मिक्किम में और पश्चिम की ओर पंजाब तक पाया जाता है। यह चारे के लिए और भूमि अपरदन को रोकने के लिए, विशेषतया खड़े ढलानों पर, और भूमि संरक्षण के लिए उपयोगी समझा जाता है। वागान में भूमि संरक्षी फसल के रूप में इसका महत्व भली-भाँति सिद्ध नहीं हो सका है। श्रीलंका के चाय-वागानों में किये गये प्रेक्षणों से ज्ञात होता है कि झाड़मेरिया से चाय की उपज घट जाती है और तैयार चाय के बाह्य रूप पर बुरा प्रभाव पड़ता है। सूचना है कि इस पौधे के रस में मृदु-विरचक और ज्वरनाशक गुण होते हैं (A Manual of Green Manuring, 84, 90; Dickson, *Tea Quart.*, 1946, 18, 84; Burkill, I, 86).

Caryophyllaceae; D. cordata Willd.

ड्रासिना लिनियस (लिलिएसी) DRACAENA Linn.

ले. — ड्रासेना

D.E.P., III, 193; Fl. Br. Ind., VI, 327.

यह झाड़ियों अथवा वृक्षों का वंश है, जिसकी पत्तियाँ अत्यन्त रंगीन, बहुधा चितकबरी होती हैं। यह पुरानी दुनिया के कुछ उष्ण भागों में पाया जाता है। भारत में इसकी 6 जातियाँ जंगली पाई जाती हैं और बहुत-सी विदेशी जातियों की अनेक किस्में भारतीय उद्यानों में शोभाकारी वृक्षों के रूप में उगायी जाती हैं। इनका प्रवर्धन अन्तःभूस्तारियों के विभाजन से, गैठ से, डाली कलम से और गुटी दाव से किया जाता है। ये किनारियों, गैल उद्यानों तथा गमलों में लगाने के लिए अत्यन्त अनुकूल हैं। ये अच्छी दुमट मिट्टी में, जिसमें चूना रहता है, खूब पनपती हैं (Firminger, 323; Gopalaswamiengar, 336).

ड्रा. ग्रंगुस्तिफोलिया रॉक्सबर्ग (हि. — वकरीपत्ती) एक जंगली जाति है जो 2.4-6 मी. ऊँची होती है और हिमालय के कम ऊँचाई वाले भागों में 1,800 मी. की ऊँचाई तक और खासी पहाड़ों तथा अंडमान द्वीपों में पाई जाती है। इस पौधे की पत्तियाँ वक्रियों को खिलाई जाती हैं। सूचनाओं के अनुसार पत्तियों का रस जावा में केकों तथा खाद्य पदार्थों को रंगने के काम आता है (Parkinson, 261; Burkill, I, 851).

पूर्वी अफ्रीका और दक्षिणी अरब की ड्रा. शिज़ेया बेकर और ड्रा. सिनाबारी बाल्फोर पुत्र, आदि कुछ जातियाँ से (जंजीवार द्वीप, सोकोत्रा डेगन्स ब्लड) एक लाल रेजिन निकलता है जो डीमोनोराप्स जातियों से प्राप्त असली अजगर के खून जैसा होता है। यह काँच की तरह भंगुर सूखे बूंदों के रूप में रहता है पर इसमें असली 'डेगन्स ब्लड' से यह अन्तर है कि इसमें फल-शल्क नहीं होते और इसे गर्म करने पर इसमें से वैजोइक अम्ल की गंध नहीं आती। यह रेजिन बानिशों और लैंकरो में उपयोग के लिए भारत में बाहर से मंगाया जाता था। कभी-कभी प्लास्टरों को रंग देने के लिए भी इसे काम में लाते हैं। बम्बई से प्राप्त एक बाजारी नमूने में 45% ऐल्कोहल-विलेय पदार्थ और 5.7% खनिज पदार्थ पाया गया है (Burkill, loc. cit.; Dymock, Warden & Hooper, III, 504; Wallis, 425; Barry, 135; B.P.C., 1934, 925).

Liliaceae; D. angustifolia Roxb.; *D. schizantha* Baker; *D. cinnabari* Balf. f.; *Daemonorops* spp.

ड्रासेरा लिनियस (ड्रासेरेसी) DROSER Linn.

ले. — ड्रोमेरा

D.E.P., III, 195; Fl. Br. Ind., II, 424.

यह बहुवर्षी कीटभक्षी वृष्टियों का एक वंश है जो उष्णकटिबंधीय और शीतोष्ण प्रदेशों में पाया जाता है। ये पौधे नम और दलदली स्थानों में होते हैं और कभी-कभी तो पानी में उतराते रहते हैं। ये 'सनड्यू' या 'ड्यू प्लांट' के नाम से पुकारे जाते हैं। इसकी तीन जातियाँ भारत में मिलती हैं।

ड्रा. पेल्टेटा स्मिथ—ड्रा. लुनेटा बुखनन-हेमिल्टन (हि. — मुखजाली; पंजाब — चित्रा) एक नाजूक वृष्टी है जिसकी ऊँचाई 7.5-30 सेंमी.; और पत्ते छत्रिकाकार, ग्रंथिल होते हैं। यह सम्पूर्ण भारत में पहाड़ियों पर 3,000 मी. की ऊँचाई तक पाई जाती है। पत्तियाँ कड़वी और खट्टी होती हैं। पिसी हुई पत्तियाँ नमक लगा कर या विना लगाए स्फोटक की तरह प्रयुक्त की जाती हैं। उनमें पेप्सिन की तरह एक प्रोटीन-अपघटनी एंजाइम होता है। इसके पौधे से एक पीताभ वादामी क्रिस्टलीय वर्णक बनाया गया है जो ऑस्ट्रेलियाई जाति ड्रा. व्हिटेकराइ प्लांखान की कन्द्रीय जड़ों से निकाले जाने वाले वर्णक जैसा होता है। इससे रेशम पर पक्का अच्छा वादामी रंग चढ़ता है। कहा जाता है, वैद्य इस पौधे का उपयोग स्वर्णभस्म बनाने में करते हैं जो सिफलिसरोधी, स्वास्थ्य-वर्धक और पौष्टिक होती हैं (Wehmer, I, 420; Dymock, Warden & Hooper, I, 593; Nadkarni, 314).

ड्रा. बरमनाइ वाल ग्रंथिल रोमों वाली एक छोटी वृष्टी है जो मैदानों में सब जगह और पहाड़ों पर 2,400 मी. की ऊँचाई तक पाई जाती है। इस पर गुलाबी रंग के फूल छोटे असीमाक्षों और शूकों के रूप में आते हैं। यह पौधा प्रबल रक्तिमाकर है।

ड्रा. इंडिका लिनियस डेकन प्रायद्वीप में, विशेषतया पश्चिमी तट पर, पाया जाता है। इण्डो-चीन में इस पौधे का मलहम गुरुगुरु पर लगाया जाता है (Kirt. & Basu, II, 1005).

ड्रासेरा जातियाँ कड़वी और दाहक होती हैं। ढोर इसे नहीं चरते (Burkill, I, 861).

Droseraceae; D. peltata Sm. = *D. lunata* Buch.-Ham.; *D. burmanni* Vahl; *D. indica* Linn.

ड्रेबा लिनियस (क्रूसीफेरी) DRABA Linn.

ले. — ड्रावा

Fl. Br. Ind., I, 141.

यह गुच्छेदार, सहिष्णु, एकवर्षी या बहुवर्षी वृष्टियों का एक बड़ा वंश है जिसमें ताराकार रोम होते हैं और संसार के शीतोष्ण और उत्तर-ध्रुवीय प्रदेशों में, अधिकतर पर्वतों में, पाया जाता है। भारत में, मुख्यतः हिमालय प्रदेश में, 13 जातियाँ मिलती हैं।

ड्रेबा बोने संतत पौधे हैं जिनमें छोटे-छोटे किन्तु काफ़ी बड़ी संख्या में फूल आते हैं। ये पौधे गैल-उद्यान के लिए अत्यन्त अनुकूल पड़ते हैं। इन्हें धूप वाले स्थान और खुली मिट्टी की आवश्यकता होती है, और ये मुख्यतः विभाजन द्वारा, पर कभी-कभी बीज से भी, प्रवर्धित किये जाते हैं। उन पर पत्तों का एक घना गुच्छक होता है और एक साथ तमाम वृक्ष लगाने पर अच्छे लगते हैं। ड्रे. स्पूरैलिस लिनियस कश्मीर में 1,800 मी. की ऊँचाई तक पाया जाता है। यह पौधा स्पेन में प्रतिस्पर्धी के रूप में प्रयुक्त किया जाता है (Bailey, 1947, I, 1068; Caius, J. *Bombay nat. Hist. Soc.*, 1939, 40, 704).

Cruciferae; D. muralis Linn.

ड्रैकोशियम लिनियस (एरेसी) DRACONTIUM Linn.

ले. — डाकोनटिऊम

D.E.P., III, 193; Bailey, 1947, I, 1071.

यह लम्बे वृत्तों से युक्त पत्तियों वाली वृद्धियों का वंश है जो उष्ण-कटिबंधीय अमेरिका में और उद्यानों में उगाया जाता है।

ड्रै. पालिफिलम लिनियस (वम्बई — सेवाला) कहीं-कहीं भारत में उगाया जाता है। यह दमे और बर्बासी में तथा आर्तवजनक के रूप में काम आता है (Chopra, 485).

Araceae; *D. polyphyllum* Linn.

ड्रैकोसेफलम लिनियस (लैबिएटी) DRACOCEPHALUM Linn.

ले. — डाकोसेफालूम

D.E.P., III, 192; Fl. Br. Ind., IV, 665; Kirt. & Basu, III, 2005, Pl. 766 B.

यह एकवर्षीय या बहुवर्षीय, अधिकतर सीधी खड़ी वृद्धियों का वंश है जो दक्षिणी यूरोप और शीतोष्ण एशिया में पाया जाता है। भारत में इसकी 8 जातियाँ मिलती हैं। ड्रै. मोल्डेविका लिनियस (हि. — तुलम-फेरंजीमिश्क) एक सीधी खड़ी, एकवर्षी, सुगंधित वृद्धी है जिसकी ऊँचाई 0.3–0.6 मी.; पत्ते भालाकार, क्रकची; तथा फूल नीले होते हैं। यह पश्चिमी शीतोष्ण हिमालयी क्षेत्रों और कश्मीर में 2,100–2,400 मी. की ऊँचाई तक पाई जाती है। कभी-कभी इसे सजावट के लिए बोया जाता है। इसके बीज मैदानों में अक्तूबर में और पहाड़ों पर मार्च में बोए जाते हैं (Firminger, 392).

रूस में इस पौधे की खेती एक वाष्पशील तेल के लिए की जाती है। इसमें तेल की उपलब्धि 0.008 से 0.17% तक विचरित होती रहती है। तेल में सिट्राल, 25–50; जिरैनिअल, 30; नेराल, 7; सिट्रोनेलाल (?), 4; और थायमाल, 0.2%; एक सेस्क्वीटर्पिन, एक एलिडहाइड और सम्भवतः लिमोनीन रहते हैं। ऐसी सूचना प्राप्त है कि पट्कोणीय स्तम्भ वाली ड्रै. मोल्डेविका वैर. हेक्सोगोनम किस्म में इससे अधिक सुलभ वर्गाकार स्तम्भ किस्म से अधिक प्रतिशत तेल (0.133–0.627%) होता है। इस तेल से सिट्राल निकाला जाता है। इसके निष्कर्षण के एक प्रक्रम का विवरण प्रकाशित हो चुका है (Wehmer, II, 1028; Chem. Abstr., 1938, 32, 3083; 1942, 36, 3629).

यह पौधा टानिक, स्तम्भक और जल्दी घाव भरने वाला माना जाता है। बीज, ज्वर में शामक के रूप में दिये जाते हैं (Kirt. & Basu, loc. cit.).

ड्रै. हैटरोफिलम वेंथम (पंजाब और लद्दाख — जुंडा, शंकु) छोटी, 12.5–25 सेंमी. ऊँची, वृद्धी है। इसके पत्ते दीर्घायत-अंडाकार और फूल सफेद होते हैं। यह उत्तर-पश्चिमी हिमालय में 3,900–4,800 मी. की ऊँचाई तक और सिक्किम में 1,500 मी. की ऊँचाई तक पाई जाती है। भेड़-वकरियाँ इसके कल्ले चर जाती हैं। कहा जाता है कि जड़ों की तरकारी बनाई जाती है।

Labiatae; *D. moldavica* Linn.; var. *hexagonum*; *D. heterophyllum* Benth.

ड्रैगन सक्खियाँ — देखिए कीट

ड्रैगन्स ब्लड, ईस्ट इंडियन — देखिए डीमोनोरोप्स

ड्रोमेडेरियस — देखिए अँट

त

ताम्बाकू — देखिए निकोटिआना

तामड़ा GARNET

तामड़ा (आ. घ., 3.2–4.3; कठोरता, 6.5–7.5) निकट सम्बन्धित खनिजों के वर्ग का सामूहिक नाम है। ये खनिज समाकृतिक श्रेणी के हैं। इन खनिजों का क्रिस्टलीकरण द्वादशफलकों, समलम्ब-फलकों या दोनों रूपों के संयोग से, धनीय समुदाय के रूप में होता है। इसकी छुत्ति काचाम से रेजिनी तक होती है और विभाजित होने पर यह शंखाम या असम टुकड़ों में टूट जाता है। तामड़ा पारदर्शी, पारभासी अथवा अपारदर्शी किसी भी अवस्था में पाया जा सकता है।

तामड़ा खनिज विकीर्ण कणों के रूप में या उसके कार्यान्तरित शैलों, भवसादी उत्पत्ति के नाइसों और शिस्टों और क्रिस्टलित चूनापत्थरों में सामूहिक रूप से पाया जाता है। इसके कुछ प्रकार, जैसे कि ग्रेनाइट, साइनाइट, पेग्मेटाइट, पेरिडोटाइट या सपेण्डाइन आग्नेय शैलों में पाये जाते हैं। यह बालू और बालुकाश्मों के भारी अपरदी अवशेषों का एक अवयव है। भारत और धीलका की समुद्रतटीय बालू, प्रायद्वीपीय भारत

की नदियों की काली बालू और गोण्डवाना कोयला क्षेत्र के कुछ बलुआ-पत्थर इसके उदाहरण हैं।

तामड़ा खनिज का रासायनिक संघटन काफी बदलता है लेकिन यह संघटन सामान्य आर्थोसिलिकेट सूत्र $3R''O.R_2'''O_3.3SiO_2$ जैसा होता है, जिसमें $R''=Ca, Mg, Fe, Mn$ तथा $R'''=Al, Fe, Cr$; कुछ में अंशतः सिलिकन का स्थान टाइटेनियम ले लेता है। तामड़ा के निम्नलिखित प्रकार पहचाने जा सकते हैं: पाइरोप, $3MgO.Al_2O_3.3SiO_2$; ऐलमंडाइन, $3FeO.Al_2O_3.3SiO_2$; ग्रानुलर, $3CaO.Al_2O_3.3SiO_2$; स्पेसार्टीन, $3MnO.Al_2O_3.3SiO_2$; ऐण्ड्राडाइट, $3CaO.Fe_2O_3.3SiO_2$; और यूवैरोबाइट, $3CaO.Cr_2O_3.3SiO_2$ । प्राकृतिक तामड़े का रासायनिक संघटन इनमें से किसी विशेष सूत्र के अनुसार न होकर दो या अधिक प्रकार के समाकृतिक मिश्रण के सन्निकट होता है, जिसमें एक प्रकार अधिक मात्रा में विद्यमान हो सकता है। ऐम्फिबोलाइट, हार्नब्लेण्डाय शिस्ट और पाइरोक्सीन शैलों में विद्यमान लाल तामड़ा पाइरोप, ऐलमंडाइन, ग्रानुलर के समाकृतिक मिश्रण के रूप में उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत किया जा सकता है (Encyclopaedia Britannica, 1951, 10, 28).

पाइरोप (मैग्नीशियम-एलुमिनियम तामड़ा) का रंग माणिक्य लाल से भूरा-लाल तक होता है। उसका गाढ़ा रंग उसमें लोहा, मैंगनीज या क्रोमियम में से एक या अधिक की उपस्थिति के कारण होता है। रंगहीन शुद्ध पाइरोप, जो निश्चित रूप से नीरंग होना चाहिये, प्रकृति में नहीं पाया जाता है और मैग्नीशियमी प्रकार के अधिकांश तामड़ा क्रिस्टलों में मैग्नीशियम लगभग 75% के सन्निकट पाया जाता है। एक्लोजाइट, पे्रिडोटाइट तथा सपेंटाइन में मैग्नीशियमी तामड़ा पाया जाता है।

रोडोलाइट, केप रुवी और पाइरलेमण्डाइट पाइरोप प्रकार के तामड़े हैं। रोडोलाइट लाल रंग का एक मूल्यवान रत्न होता है।

ऐलमंडाइन या ऐलमंडाइट (लोह-एलुमिनियम तामड़ा) गहरे लाल से नील-सोहित रंग का होता है। इसमें तीन वैडों का अभिलाक्षणिक अवशोषण स्पेक्ट्रम मिलता है। इसकी मूल्यवान किस्म गहरे लाल रंग की और पारदर्शी है। ऐलमंडाइट अभ्रक शिस्ट और नाइस के समान कार्यांतरित शैलों का एक साधारण खनिज है। स्कीएजाइट (फेरस-फेरिक तामड़ा) भी इसी श्रेणी का तामड़ा है।

ग्रासुलर या ग्रासुलैराइट (चूना-एलुमिना तामड़ा) प्रायः क्रोमियम और अन्य किसी धातु की उपस्थिति के कारण पीला-हरा, प्रपीतारक्त या मरकत हरा होता है। सिनेमन-स्टोन (हैसोनाइट), रोमनजोवाइट और सक्सिनाइट ग्रासुलर के ही भिन्न रूप हैं। सिनेमन-स्टोन प्रायः जिरकान (हायासिन्य) मान लिया जाता है किन्तु सिनेमन-स्टोन को उसके निम्न आपेक्षिक घनत्व की सहायता से आसानी से पहचाना जा सकता है। श्रीलंका का यह एक कम मूल्यवान रत्न है। ग्रासुलैराइट सामान्यतः कार्यांतरित चूनापत्थरों में पाया जाता है।

स्पेसार्टीन या स्पेसार्टाइट (मैंगनीज-एलुमिनियम तामड़ा) सामान्यतः लाल, भूराभ लाल या पीले रंग का और समलम्ब फलकी होता है। स्पेसार्टाइट-प्रचुर ऐलमंडाइट प्रकृति में व्यापक रूप से पाया जाता है। ऐसे ऐलमंडाइटों के नाम हैं : स्पेलमंडाइट, स्पेनडाइट, काल्डेराइट और ब्लाइथाइट।

ऐण्डाडाइट (कैल्सियम-फेरिक तामड़ा) के अन्तर्गत कोलोफोनाइट, ऐप्लोम, डेमंडाइट, जेलेटाइट और टोपीजोलाइट आते हैं। ऐण्डाडाइट साधारणतया भूरे रंग का होता है। कभी-कभी हरे, पीले और गहरे लाल रंग के क्रिस्टल भी मिलते हैं। यह एक लाक्षणिक कार्यांतरित खनिज है, यद्यपि कभी-कभी यह चूनापत्थर-युक्त आग्नेय शैलों में भी पाया जाता है। तृण-हरित डेमंडाइट का उपयोग मणि के रूप में होता है।

मेलानाइट, इवाराइट और स्कालोमाइट टाइटेनियमयुक्त ऐण्डाडाइट हैं जो मध्यवर्ती और आधारभूत आग्नेय शैलों में पाये जाते हैं। ये साधारणतः काले, धूमिल या रेजिनी होते हैं। पतले काट में इनका रंग गहरा भूरा होता है।

कोलोफोनाइट मोटे दानों वाला प्रकार है। इसका रंग गहरा लाल या भूरा और क्षुति रेजिनी होती है। ऐप्लोम एक द्वादशफलक टोस है जिसके रेखायुक्त फलक समान्तर पटलक के छोटे विकर्ण के समान्तर होते हैं। अन्य रेखायुक्त फलक सामान्यतः बड़े विकर्ण के समान्तर होते हैं।

स्कालोमाइट $[3\text{CaO} \cdot (\text{Fe}, \text{Ti})_2\text{O}_3 \cdot 3(\text{Si}, \text{Ti})\text{O}_2]$ एक स्थूल, काला टाइटेनियमयुक्त ऐण्डाडाइट है। इसमें टाइटेनियम सिलिकन का स्थानापन्न तो होता ही है साथ ही Ti_2O_3 की अवस्था में भी विद्यमान रहता है।

यूरोवाइट या यूरोवाइट (कैल्सियम-क्रोम तामड़ा) सामान्यतः मरकत-हरित रंग का होता है और क्रोमाइट-युक्त सपेंटाइन में पाया जाता है।

वितरण

आंध्र प्रदेश — तावगैरी क्षेत्र से नाइस में अभ्रक के साथ लोहा-एलुमिनियम तामड़ा के क्रिस्टल प्राप्त होते हैं जिनका व्यास लगभग 1.25 सेंमी. है। वारंगल जिले के पलोंचा और गरीबपेट क्षेत्रों से गार्नेटयुक्त नाइस और कायनाइट शिस्ट पाये जाते हैं। गार्नेटयुक्त शैल की पहाड़ियों से बहती हुई नदियों की बालू में बहुमूल्य तामड़ा पाये जाने की सूचना मिली है। बहुमूल्य तामड़ा की बहुत-सी मात्रा मद्रास भेजे जाने का उल्लेख मिलता है। वहाँ पर इसकी कटाई करके इन्हें आरतों की कोटि में बना लिया जाता है।

विजगापटम जिले के कोडुराइट शैलों में मिश्रित संयुक्त ग्रासुलैराइट-ऐण्डाडाइट, या स्पेसार्टाइट-ऐण्डाडाइट के तामड़ा क्रिस्टल आमतौर पर प्राप्त होते हैं। ये क्रिस्टल त्रिपुरपल्ले क्षेत्र से प्राप्त मैंगनीज अभ्रकों (पाइरोलुसाइट, साइलोमिलेन और वाड) में बिखरे कणों के रूप में प्राप्त होते हैं। अधिकांश क्रिस्टलों का रंग गहरा लाल या गुलाबी और थोड़े से क्रिस्टलों का भूरा या पीला होता है।

प्रायद्वीप के दक्षिण भाग के तटवर्ती बालू में नाइस और चार्नोकाइट से प्राप्त तामड़ा विद्यमान है (Rao, *Proc. Indian Acad. Sci.*, 1953, 38A, 20).

कृष्णा जिले में कोण्डापल्ले ($16^{\circ}37' : 80^{\circ}32'$) एक समय मणि की कोटि के तामड़ा क्रिस्टलों के उत्पादन के लिए प्रसिद्ध था। वेजवाड़ा के निकट और कृष्णा नदी के तटवर्ती क्षेत्र में भी तामड़ा पाया जाता है। इस तामड़े की उत्पत्ति इस क्षेत्र में पाये जाने वाले गार्नेटयुक्त नाइस तथा खोण्डालाइट से हुई है।

नेलौर जिले के कार्यांतरित शैलों में तामड़ा क्रिस्टल प्रचुर मात्रा में विद्यमान है। अभ्रकी शिस्ट तथा ग्रेनाइट पेग्मेटाइट में 15 सेंमी. से भी अधिक व्यास के तामड़ा टुकड़े मिलते हैं। उत्तुर ($14^{\circ}14' : 79^{\circ}44'30''$) अभ्रक क्षेत्र के शिस्ट से भी द्वादशफलकी तामड़ा क्रिस्टल (कभी-कभी रत्न श्रेणी के भी) एकत्र किये जा सकते हैं। इनका उपयोग अपघर्षक सामग्री के लिए होता है। त्रिहलुर ($14^{\circ}16' : 79^{\circ}47'$) के निकट संकारा अभ्रक खान के कूड़े के ढेर से समलम्बफलक-क्रिस्टल प्राप्त होते हैं। इस जिले की नदियों की बालू से भी तामड़ा क्रिस्टल प्राप्त किये गये हैं। कोरिसा कुण्डा ($14^{\circ}11' : 79^{\circ}43'$) से 800 मी. पश्चिम की ओर 1.28 वर्ग किलोमीटर क्षेत्रफल में तामड़े की साध्यमात्रा विद्यमान है। इन क्रिस्टलों का व्यास 3.75 सेंमी. तक है (Krishnan, *Mem. geol. Surv. India*, 1951, 80, 112; Ghosh, *Rec. geol. Surv. India*, 1934, 68, 35).

स्पेसार्टाइट-ऐलमण्डाइट (स्पेलमण्डाइट) तामड़ा नेलौर जिले में विराडावोले ($14^{\circ}20' : 79^{\circ}46'$) के पेग्मेटाइट डाइक से प्राप्त हुआ है। विजगापटम जिले में कोडुर ($18^{\circ}16'30'' : 82^{\circ}31'$), गरभम ($18^{\circ}12' : 83^{\circ}27'$) तथा अन्य स्थानों के तामड़ा शैलों में स्पेण्डाइट पाया जाता है। गरभम से प्राप्त तामड़ा में स्पेण्डाइट के साथ-साथ फेल्डेराइट भी उपस्थित है (Fermor, *Mem. geol. Surv. India*, 1909, 37, 161; Rao, *Proc. Indian Acad. Sci.*, 1953, 38A, 20).

उड़ीसा — विनका से आगे महानदी आकियन कालीन गार्नेटमय शैलों से गुजरती है। इस नदी की निम्नतर दिया के बालू को धोने से तामड़ा क्रिस्टल प्राप्त हुये हैं (Fermor, *Rec. geol. Surv. India*, 1921, 53, 266).

गंजाम जिले में बोडरानी ($19^{\circ}35' : 84^{\circ}45'30''$) में कोडुराइट शैल के साथ तामड़ा पाया जाता है। इसका संघटन ग्रासुलैराइट तथा

ऐण्डाडाइट के बीच का है जिसमें कभी-कभी मैग्नीज आक्साइड की पर्याप्त मात्रा विद्यमान रहती है। इसका रंग सिनेमन-भूरा या हल्का भूरा होता है। नौतुन-ब्रामपुर के निकट ऐलमैंडाइट, पाइरोफ, ऐण्डाडाइट और स्कीएजाइट के साथ स्पेसार्टाइट पाया जाता है (Fermor, *Mem. geol. Surv. India*, 1909, 37, 165; Fermor, *Rec. geol. Surv. India*, 1926, 59, 203)।

गंगपुर जिले में ग्रैनाइट नाइस, फाइलाइट, अभ्रक शिस्ट और स्टैरोलाइट मिश्रित नाइस तथा शिस्ट में तामड़ा (ऐलमैंडाइट) एक गौण खनिज के रूप में विद्यमान रहता है। स्पेसार्टाइट तामड़ा इस जिले से प्राप्त गोण्डाइट शैलों का एक सामान्य अवयव है (Krishnan, *Mem. geol. Surv. India*, 1937, 71, 35)।

कालाहाण्डी जिले की खोण्डालाइट श्रेणी के नाइस तथा शिस्ट में तामड़ा पाया जाता है।

उत्तर प्रदेश — गढ़वाल की सरस्वती-अलकनन्दा घाटी में तामड़ा-मिश्रित पेग्मेटाइट का पता चला है। ग्रैनाइट में तामड़ा एक गौण खनिज के रूप में विद्यमान है (Auden, *Rec. geol. Surv. India*, 1935, 69, 166)।

कश्मीर — निचली स्पिती घाटी और हनले मठ, रुपशु, के पास क्रोमाइट मिश्रित यूवैरोवाइट भी पाया जाता है (Mallet, *Mem. geol. Surv. India*, 1866, 5, 167; Mallet, *Manual of Geology of India*, 1887, pt 4, 91)।

केरल — त्रावनकोर की समुद्रतटीय बालू में अच्छे रंगों के तामड़ा क्रिस्टल पर्याप्त मात्रा में पाये जाते हैं।

तमिलनाडु — कोयम्बटूर जिले में शिवामलाई पहाड़ियों पर कुरुण्डम-सायनाइट शैल में रोडोलाइट एक गौण खनिज के रूप में पाया जाता है।

नीलगिरि जिले में ऊटकमण्ड के उत्तर की ओर सेवन कैन्स पहाड़ी ($11^{\circ}29' : 76^{\circ}47'$) के पश्चिमी पार्श्व पर हेसोनाइट से मिलता-जुलता तामड़ा बड़ी मात्रा में पाया जाता है।

उत्तरी आर्काट जिले में कन्नमंगलम् ($12^{\circ}45' : 79^{\circ}9'30''$) के उत्तर 1.6 किलोमीटर के एक क्षेत्र में अपघर्षक सामग्री के उपयुक्त तामड़ा पाया जाता है (Rao, *Rec. geol. Surv. India*, 1928, 61, 53)।

सलेम जिले में संकरी दुर्ग ($11^{\circ}28'30'' : 77^{\circ}52'$) पर क्वार्ट्ज शिराओं में हरा तामड़ा पाया जाता है। लाल तामड़े और गहरे भूरे रंग के कोलोफोनाइट भी इस जिले में पर्याप्त मात्रा में विद्यमान हैं। तलामलाई के उत्तर-पूर्वीय कोने में 1291 पहाड़ के दक्षिण, धाराओं में तामड़ा बालू के ढेर पाये जाते हैं। सेवितुरंगमपट्टी ($11^{\circ}6' : 78^{\circ}4'$) के निकट पीले-हरे ऐम्फिबोल के साथ पारदर्शी लाल तामड़ा पाया जाता है। तिप्पमपट्टी ($11^{\circ}1' : 77^{\circ}51'30''$) के 400 मी. पूर्व तथा मंगारंगमपल्लयम् ($11^{\circ}27'30'' : 77^{\circ}47'30''$) के निकट कैल्क-नाइस मिश्रित तामड़े के बड़े टुकड़े पाये जाते हैं। इन टुकड़ों की लम्बाई 25 सेंमी. तक होती है। अवरोक्त स्थान पर प्राप्त तामड़ा ढेलों के रूप में मिलता है और इन खण्डों की लम्बाई आरपार 30 सेंमी. तक होती है [West, *Rec. geol. Surv. India*, 1950, 83 (part I), 119; Krishnan, *Mem. geol. Surv. India*, 1951, 80, 113]।

तिरुनेलवेली जिले में मेलमट्टूर ($9^{\circ}34' : 77^{\circ}52'$) से भूरे-गुलाबी से गहरे लाल रंग तक के स्वच्छ और निर्दोष तामड़ा क्रिस्टल एकत्र किये गये हैं।

समुद्रतटीय प्रदेश में ओवरी-नवलाड़ी ($8^{\circ}15' : 77^{\circ}50'$) क्षेत्र तामड़ा युक्त बालू के लिए महत्वपूर्ण है। इस क्षेत्र में पिछले 20-25

सालों से रुक-रुक कर कार्य संचालन हुआ है और यहाँ पर 36,000 टन तामड़ा युक्त बालू की आकलित मात्रा का भंडार है। नवलाड़ी के निकट के क्षेत्र में तामड़ा युक्त बालू से तामड़ा निकालने का कार्य चालित है। नन्बियार से कुछ दक्षिण की ओर, कुट्टनकुल्ली के निकट 800 मी. लम्बा, 90 मी. चौड़ा और लगभग 90 सेंमी. मोटा एक निक्षेप पाया गया है। इस क्षेत्र में तामड़े के भंडार की आकलित मात्रा 20,000 टन है।

समुद्रतट के समान्तर आरसडी साल्ट फैक्टरी के दगल में 800 मी. और तरुवैकुलम के निकट लगभग 1.6 किलोमीटर लम्बे क्षेत्र से अच्छी कोटि का सान्द्रित तामड़ा तथा इस्मेनाइट प्राप्त होता है। ओसाई द्वारा सान्द्रण करने के बाद यह बालू बम्बई भेज दी जाती है [West, *Rec. geol. Surv. India*, 1950, 83 (part I), 119]।

तिरुचिरापल्ली जिले में कालपट्टी ($10^{\circ}54'30'' : 78^{\circ}25'$) के निकट चूनापत्थर में ठोस तामड़े के अच्छे नमूने पाये गये हैं (King & Foote, *Mem. geol. Surv. India*, 1864, 4, 275)।

मदुरा के 19 किमी. पश्चिम, सोलावन्दन के निकट तथा मदुरा के 32 किमी. उत्तर-पूर्व, मेलावैलवू के निकट ऐप्लोम के मिलने का उल्लेख है।

हिमाचल प्रदेश — शिमला, कांगड़ा तथा अन्य स्थानों के अनेक हिमालयी ग्रैनाइटों में तामड़ा एक गौण खनिज के रूप में पाया जाता है। शिमला में चौर पहाड़ी के ग्रैनाइट ढेर के निकट गार्नेटयुक्त अभ्रक शिस्ट में तामड़े के 6 मिमी. व्यास तक के क्रिस्टल मिलते हैं। कुलू से स्पेसार्टाइट के श्रेष्ठ कोटि के क्रिस्टल मिले हैं। इनका रंग गहरा भूरा-लाल और व्यास 1.25 सेंमी. तक है (Pilgrim & West, *Mem. geol. Surv. India*, 1928, 53, 65)।

पंजाब — पटियाला में घटेश्वर ($27^{\circ}58' : 70^{\circ}2'$) के पूर्व पहाड़ों पर अरावली शिस्ट में तामड़ा क्रिस्टल की बड़ी मात्रा पाई जाती है (Bose, *Rec. geol. Surv. India*, 1906, 33, 59)।

बंगाल — स्थूल तामड़ा शैल (कैल्डेराइट) के प्रतिरूप बर्दवान जिले से प्राप्त हुये हैं। उत्तर-पश्चिमी मिदनापुर जिले में तामड़ा काफी विस्तृत क्षेत्र में पाया जाता है। यहाँ पर यह स्थानीय शैल के अवयवों में और घनीभूत पृष्ठ अपरदों के रूप में विद्यमान है (Dey, *Mem. geol. Surv. India*, 1937, 69, 229)।

बिहार — बिहार के अभ्रक क्षेत्रों के पेग्मेटाइट में भी कभी-कभी 30 सेंमी. से अधिक व्यास के तामड़ा क्रिस्टल प्राप्त हुये हैं। कैल्क-सिलिकेट ग्रैनुलाइट, ऐम्फिबोलाइट तथा अभ्रक शिस्टों की तरह कार्यांतरित शैलों में भी तामड़ा पाया जाता है।

ढालभूम के उत्तरी-पूर्वी भाग में अभ्रक शिस्ट से गुजरती हुई नदियों की बालू में 1.25 सेंमी. तक व्यास के तामड़ा क्रिस्टल पाये जाते हैं। सिघभूम जिले में मलिबनी ($22^{\circ}23' : 86^{\circ}42'$) के निकट बालू तथा पृष्ठ अपरद से वहाँ के ग्रामवासियों ने ऐसे क्रिस्टल एकत्र किये हैं। शिवाई डुंगरी ($22^{\circ}20' : 86^{\circ}39'$) के दक्षिण पश्चिमी भाग में तामड़ा और टर्मलीन का एक ढेर पाया गया है। इसमें कुछ क्रिस्टल कई सेंमी. लम्बे-चौड़े हैं (Dunn, *Mem. geol. Surv. India*, 1941, 78, 67)।

हजारीबाग जिले में कटक मसन्दी ($24^{\circ}6'30'' : 85^{\circ}12'$) तथा अन्य स्थानों से कैल्डेराइट की अनियमित पट्टियाँ प्राप्त हुई हैं। इन पट्टियों की मोटाई कहीं-कहीं पर पर्याप्त है।

स्कीएजाइट ($3\text{FeO} \cdot \text{Fe}_2\text{O}_3 \cdot 3\text{SiO}_2$) की मात्रा हजारीबाग के कैल्डेराइट में 25% तक है (Fermor, *Rec. geol. Surv. India*, 1926, 59, 202)।

देवघर शहर से करीब 16 मी. पूर्व नवाडीह तथा चन्दन के निकट, लालाभ काले रंग के अपेक्षाकृत शुद्ध कैंडराइट का एक सुविस्तृत निक्षेप पाया गया है। इस खनिज का उपयोग अपघर्षक और पेषणसामग्री के औद्योगिक उत्पादन में किया जा रहा है (Chawla, *J. sci. industr. Res.*, 1949, 8B, 95).

मध्य प्रदेश तथा महाराष्ट्र — ग्वालियर में गंगपुर तहसील में बघेरा के निकट नीमच तहसील में उडलिया, कजरिया तथा अनिया में पेगमै-टाइट और अभ्रक शिस्टों में भी तामड़ा क्रिस्टल प्राप्त होते हैं। बघेरा ग्राम के उत्तर-पश्चिम, एक समतल क्षेत्र में स्थित तामड़ा की खुली खान 10.5 मी. गहरी, 18 मी. लम्बी और 1.5–6 मी. चौड़ी है। शिस्ट में अंतःस्तरित तामड़ा क्रिस्टलों की लम्बाई आरपार 6 मिमी. से 5 सेंमी. तक पाई गई है। निम्न स्तरों से अच्छी कोटि के क्रिस्टलों के मिलने की सूचना प्राप्त है (Sharma, *J. sci. industr. Res.*, 1943–44, 2, 238).

वालाघाट, भांडरा, छिंदवाड़ा, नागपुर और सरगुजा जिलों से अभ्रकी शिस्ट और मैग्नीज युक्त गोंडाइट शैलों से तामड़ा पाया जाता है। स्पेसार्टाइट की प्राप्ति के मुख्य स्थानों के नाम इस प्रकार हैं। वालाघाट में हटोरा (21°37'30" : 79°49'), छिंदवाड़ा में बिचुआ (21°42' : 78°52') और गायमुख (21°44' : 78°51'30") और नागपुर में चारगांव (21°24' : 79°18'), सतक (21°20' : 79°16') और वारे गांव (21°20' : 79°25'). चारगांव के तामड़ा शैलों में कैंडराइट भी पाया जाता है (Fermor, *Mem. geol. Surv. India*, 1909, 37, 170).

ऐलमंडाइट, सतपुड़ा पर्वत श्रेणी के उत्तरी ढाल के फाइलाइटों और शिस्टों का एक सामान्य गौण खनिज है। यह कणों के रूप में अथवा कभी-कभी संगमरमर के आकार में भी पाया जाता है (Crookshank, *Mem. geol. Surv. India*, 1936, 66, 202).

कोरिया जिले के चाक्षुप नाइस से स्वरूपिक द्वादशफलकी, गुलाबी तामड़ा क्रिस्टल प्राप्त हुये हैं। सरगुजा जिले में रामकोला और ताता-पानी कोयला क्षेत्रों से प्राप्त ग्रेनाइटों तथा अभ्रकी क्वार्ट्ज शिस्टों में तामड़ा शिस्ट के पृथक्कृत टोस मिलते हैं (Griesbach, *Mem. geol. Surv. India*, 1880, 15, 134, 136).

उमरिया (पुराना विष्णु प्रदेश) में तामड़ा क्रिस्टल कार्यांतरित शैलों और कहीं-कहीं नाइस में वितरित है। वहार गट्टा (23°35' : 80°38') के निकट महानदी के नदीतल में अभ्रकी शिस्ट में भी तामड़ा क्रिस्टल पाये जाते हैं। इस क्षेत्र से प्राप्त क्रिस्टल गहरे भूरे रंग के हैं और उनका आकार बड़े मटर के दाने के बराबर है (Sinor, *Mineral Resources of Rewah State*, 1923, 190).

नरकोट रियासत के जोयवाड़ (22°23' : 73°44') के क्वार्ट्ज शैल में स्थूल-कणिक स्पेसार्टाइट की नारंगी-लाल रंग की एक पट्टी प्राप्त होती है।

मैसूर — सुसंगठित क्रिस्टल या कणिक समूह के रूप में तामड़ा अनेक स्थानों से प्राप्त होता है। ये क्रिस्टल या कणिक समूह हार्नब्लेण्ड, अभ्रकी या क्वोराइटोय शिस्ट, कैल्सफायर्स इत्यादि के कार्यांतरित घेनों में मिलते हैं। क्रिस्टल गुलाबी, लाल, भूरे लालाभ, काले या हरे रंग के होते हैं और ग्रामुलैराइट, ऐलमंडाइट, ऐंड्राडाइट, स्कोर्लोमाइट और यूवैरोवाइट श्रेणी से सम्बन्धित होते हैं। कहीं-कहीं गुलाबी रंग के क्रिस्टलों के अलग ढेर पाये जाते हैं (Rama Rao, *Quart. J. geol. Soc. India*, 1942, 14, 176).

हसन जिले में, यमरोहोले, रंगनवेड़ा (होले नरसीपुर) और भेरया (वेजातोरे) केम्फोले और अघाना नदियों के किनारे, तथा बालेकाल,

कगनेरी, मुरकंगुड्डा, मरनहल्ली और अन्य स्थानों से तामड़ा प्राप्त होता है। इनमें से कुछ स्थानों से हार्नब्लेण्ड शिस्ट और नाइस से अपक्षीण क्रिस्टल एकत्र किये जा सकते हैं।

काडूर जिले में, तामड़ा सम्पीगेकन तथा दुर्गाघल्ली के निकट पाया जाता है। कोलार जिले में तामड़ा-बालू कामसन्द्रा के निकट छोटी नदियों में पाई जाती है।

मैसूर जिले में, तामड़ा क्रिस्टल हेगाडाडेवानकोटे तालुके के शिस्ट तथा नाइस में आमतीर पर मिलता है। मवीनहल्ली के निकट नदियों की बालू से स्वच्छ तथा पारदर्शी क्रिस्टल प्राप्त होते हैं। नांजगुड के निकट कैल्सफायर्स के साथ स्कोर्लोमाइट एक गौण खनिज के रूप में पाया जाता है (Rao, *Rec. Mysore geol. Dep.*, 1943, 41, 34).

शिमोगा जिले में आगुम्बे और कोप्पा के बीच अभ्रक शिस्ट में पर्याप्त तामड़ा है।

राजस्थान — नन्दसी (25°59' : 74°56') के पश्चिम-उत्तर-पश्चिम में 2 किमी. पर और छोटी कनेई (25°59' : 74°59') में पुरानी तामड़ा खदानें स्थित हैं। नाइस के अपक्षरण से उपलब्ध, अच्छी कोटि के छोटे क्रिस्टल विलिया (25°59' : 74°29') के निकट पाये जाते हैं जो कि मंगलियावास रेलवे स्टेशन से 8 किमी. की दूरी पर हैं। यह खनिज 15 अनियमित पट्टियों में पाया जाता है, इनमें सबसे बड़ी पट्टी (1.8–3.6 मी. चौड़ी) की ऊर्ध्वाधर लम्बाई लगभग 270 मी. है। कहीं-कहीं पर दृशांश 4.5 मी. ऊँचा है। दृशांशों के साथ-साथ 60–90 सेंमी. व्यास के तामड़ा के इत्य खण्ड पाये जाते हैं। यह निक्षेप अपघर्षकों के व्यापारिक निर्माण के लिए उपयोगी हो सकता है।

जयपुर और मेवाड़ मण्डलों के मध्य गार्नेटयुक्त नाइस तथा शिस्ट के दृशांशों के किनारे तामड़ा खानें स्थित हैं (Heron, *Trans. Min. geol. Inst. India*, 1935, 29, 349–52).

दत्ता में, विशेषकर अम्बामाता क्षेत्र से, स्थूलकाय तामड़ा (ग्रामुलैराइट तथा ऐण्ड्राडाइट) के इत्य खण्ड मिलते हैं (Sharma, *Quart. J. geol. Soc.*, 1931, 3, 25).

जयपुर मण्डल में टोडाराय सिंह (26°2' : 75°35'), गांवड़ी, सरोई, कुण्डेरो, डुडास, खेड़ा, खुसियालपुर और नरसिरदा में पुरानी तामड़ा खानें स्थित हैं। अरावली शिस्ट के पृष्ठ-खोखलों और नदियों के तल पर तामड़ा क्रिस्टल मिश्रित जलोढ़क पाया जाता है। पुराने समय में बालेश्वर (27°43' : 75°55'), बावई (27°53' : 75°49') के उत्तर और पपरोना (27°56' : 75°51') के निकट से भी तामड़ा प्राप्त हुआ है।

भूतपूर्व किशनगढ़ रियासत में सारवार (26°4' : 75°4') की तामड़ा खानों से अच्छी कोटि के क्रिस्टलों के प्राप्त होने का उल्लेख है। ये तामड़ा मुख्यतः पाइरैलमंडाइट (पाइरोप तथा ऐलमंडाइट) हैं और इसका रंग नारंगी-लाल या महोगनी लाल होता है। इस खान का कार्य संचालन का विस्तार अरावली शिस्ट में पतली मेखला के किनारे-किनारे 1.6 किलोमीटर से भी अधिक लम्बाई में है। शात होता है इन खानों का कार्य संचालन 1915 के बाद बंद कर दिया गया है। उदयपुर जिले में अरावली शिस्ट में कई स्थानों पर, विणेपकर पुर (25°18' : 74°33'), हरनाई बाड़ी (25°19' : 76°40') में तामड़ा प्राप्त होता है।

शाहपुरा शहर के दक्षिण-पश्चिम कई किलोमीटर की दूरी पर मेजा (25°25' : 74°37') में तामड़ा खानों के पुराने खनन-क्षेत्र विद्यमान हैं।

भूतपूर्व किशनगढ़ राज्य के धारोय ग्राम्पेय घेनों में मेजैनाइट पाया जाता है।

उपयोग तथा उपचार

उपयोग — तामड़े के स्वच्छ, निर्दोष, गहरे रंग के क्रिस्टलों का प्रयोग अल्प-रत्नों के रूप में होता है। ऐलमंडाइट को साधारणतः उत्तल घरातल में काट कर पालिश कर लेते हैं। कटा हुआ क्रिस्टल कार्बकल कहलाता है। पीले रंग के क्रिस्टलों को मिले-जुले आकारों में, सीढ़ी के आकार में या बगल के पृष्ठों को अलग-अलग कोणों पर काटते हैं। मध्य भाग में उत्तल पृष्ठ में काटकर नीचे के भाग को सीढ़ी के आकार में काटते हैं। कभी-कभी यह त्रिलियेट या रोजनामों से प्रसिद्ध आकारों में काटा जाता है।

तामड़े का प्रयोग घड़ी के बेयरिंग बनाने में होता है। तामड़े का सबसे महत्वपूर्ण उपयोग अपघर्षक के रूप में हुआ है। लगभग 90% अपघर्षक तामड़ा तामड़ा-लेपित कागज, कपड़ा या चक्रिकाओं के व्यापारिक निर्माण में इस्तेमाल होता है। शोप का प्रयोग दाने के रूप में मुलायम पत्थर तथा प्लेट काँच को समतल करने और चमकाने तथा बालू-विस्फोट क्रियाओं में होता है। तामड़ा बालू का प्रयोग चिराई और पेपन पत्थर के लिए होता है।

तामड़ा कागज और कपड़े का उपयोग लकड़ी तथा चर्म उद्योगों में होता है। इनका उपयोग कठोर रबर, सेलुलायड तथा मुलायम धातुओं को चमकाने, फेल्ट और रेजामी हैटों को परिसज्जित करने तथा कार के ढाँचों के रंगे हुए पृष्ठ को रगड़ कर छुड़ाने के काम आता है। अपघर्षक चक्रिकाओं का इस्तेमाल दांत बनाने में भी होता है।

उपचार — तामड़ा के साथ पाये जाने वाले आघात्री खनिज का स्वरूप प्राप्ति स्थान के साथ बदलता रहता है। नाइस शिस्ट और अत्रक पेग्मेटाइट से प्राप्त सामग्री में क्वार्ट्ज, फेल्सपार तथा अत्रक विद्यमान रहते हैं। इनका आपेक्षिक घनत्व (आ. घ., <3) तामड़े से कम है जिसके कारण गुरुत्वीय सांद्रण-पद्धति से इन आघात्री खनिजों को अलग किया जा सकता है। हार्नब्लेण्ड मिश्रित नाइस शिस्ट तथा ऐम्फिबोलाइट से प्राप्त सामग्री से हार्नब्लेण्ड को गुरुत्वीय पृथक्करण से अलग करने में कठिनाई होती है क्योंकि इसका आपेक्षिक घनत्व भी तामड़े के समान है। अल्प मात्रा में हार्नब्लेण्ड की उपस्थिति तामड़े के अपघर्षक गुण को हानि नहीं पहुँचाती है। ऐसे तामड़े का उपयोग कागज और कपड़े के लेपन में व्यावहारिक निर्माण के लिए होता है। नदियों की बालू से प्राप्त तामड़ा में प्रायः हार्नब्लेण्ड तथा मैग्नेटाइट विद्यमान रहता है। इनको चुम्बकीय पृथक्करण विधि से अलग किया जा सकता है।

अपघर्षक प्रयोगों के लिए तामड़े के सान्द्रण और वर्गीकरण का मुख्य उद्देश्य ऐसा पदार्थ प्राप्त करना है जिसका जाल अधिकतम बड़ा हो। छोटे जालों वाले पदार्थ को पसन्द नहीं किया जाता है। अपघर्षण उद्योगों में वर्गीकरण के लिए पदार्थ को बारी-बारी से तोड़ते हैं और मार्जन करते हैं जिससे विभिन्न वर्गों (जाल आकारों) के गार्नेट प्राप्त हो सकें।

परीक्षण और विनिर्देश — अपघर्षक के रूप में प्रयोग करने के लिए तामड़े के पिसे कणों की कठोरता और चीमड़पन विशेष महत्व रखते हैं। नदी-नट से प्राप्त तामड़ा के कण चिकने और गोल होते हैं, जिससे वे विशेष उपयोगी नहीं होते। छिन्न-भिन्न या अपद्रव्ययुक्त क्रिस्टल भी अपघर्षण के लिए उपयोगी नहीं हैं क्योंकि ऐसे क्रिस्टल दाव पड़ने पर शीघ्र ही विगिरण गोलाकार कणों में टूट जाते हैं जिससे वे अनुपयुक्त हैं।

स्थूलकाय तामड़ा, जो सामान्यतः अपघर्षण के काम आता है, पीसने के बाद तीक्ष्ण नोकदार भागों में बदल जाता है। पिसे अंशों की केशिका आकर्षण की मात्रा अधिक होती है जिस कारण वे दृढ़ता से ग्लू-लेपित कागज और कपड़े पर चिपक जाते हैं।

उत्पादन तथा पर्यवेक्षण

संयुक्त राज्य अमेरिका, जापान, स्पेन और कनाडा, तामड़ा उत्पन्न करने वाले प्रमुख देश हैं जिनसे वार्षिक उत्पादन का अनुमान 1,50,000 टन है। तामड़ा मणि अधिकतर चेकोस्लोवाकिया, भारत, श्रीलंका तथा दक्षिण अफ्रीका से प्राप्त होते हैं। भारत में तामड़ा उत्पादन रुक-रुक कर चलता रहा है।

मणि कोटि का तामड़ा राजस्थान में भूतपूर्व जयपुर, किशनगढ़ और शाहपुरा राज्यों और अजमेर-मेरवाड़ा के अत्रक शिस्टों से प्राप्त होता है। तामड़ा का तराशना और उस पर पालिश करना जयपुर तथा दिल्ली में एक मुख्य उद्योग है। भारत में किशनगढ़ से प्राप्त तामड़ा सबसे अच्छी कोटि का समझा जाता है। सारवार की खानों से 1914 में 64,995 रु. का 23.2 टन तामड़ा पत्थर प्राप्त हुआ था।

तमिलनाडु के तिरुनेलवेली जिले से 1914 में 1,000 टन तामड़ा कण अपघर्षण के उपयोग के लिए एकत्र किये गये थे। तत्पश्चात् उत्पादन बन्द हो गया। 1935, 1937, 1938 में उत्पादन क्रमशः 325 टन (मूल्य, 3,250 रु.), 330 टन (मूल्य, 1,650 रु.) तथा 120 टन (मूल्य, 600 रु.) था। 1936 में त्रावनकोर से 5 टन तामड़ा कण (मूल्य, 62 रु.) प्राप्त हुआ था। हैदराबाद में 1925-29 का पंचवर्षीय उत्पादन 12.7 टन (मूल्य, 8,332 रु.) था। इसका खनन 1930 के बाद बन्द कर दिया गया है।

1939 के पश्चात् भारत के तामड़े का उत्पादन सारणी 1 में दिया गया है।

अपघर्षक कार्यों के उपयुक्त तामड़ा बिहार, मैसूर, तमिलनाडु, अजमेर-मेरवाड़ा तथा मध्य प्रदेश से प्राप्त होता है लेकिन देश में अपघर्षक उद्योग को स्थापित करने के लिए शायद ही दीर्घकालीन प्रयत्न हुये हों। हाल ही की सूचनाओं से जान पड़ता है कि बिहार में नावाडीह तथा चन्दन निक्षेपों को उपयोग में लाने का प्रयत्न किया जा रहा है (Chowla, *J. sci. industr. Res.*, 1949, 8B, 95).

सारणी 1 — भारत में तामड़े का उत्पादन

वर्ष	मात्रा (टन में)	मूल्य (रुपयों में)	प्राप्ति स्थान
1939	6	432	नेलीर
1944	23	588	तिरुनेलवेली
1945	0.6	अप्राप्य	किशनगढ़
1947	8	800	मैसूर
1949	10	100	भागलपुर
1951	1	100	मैसूर
1952	10	1,000	मैसूर

ताम्र अयस्क COPPER ORES

ताम्र खनिज के निक्षेप संसार के सभी भागों में बहुतायत से फैले हुए हैं तथा कुछ देशों में उनका उत्खनन हजारों वर्षों से होता आ रहा है। भारतवर्ष में कई अताब्दियों पूर्व तांबे का, बड़ी मात्रा में प्रगलन, छोटा नागपुर, राजपूताना, दक्षिण भारत तथा बाह्य हिमालय के कुल्लू, गढ़वाल, नेपाल, सिक्किम और भूटान जैसे कई स्थानों में भी किया जाता था। प्राचीन प्रगलन उद्योग तो भारतवर्ष में समाप्त हो गया है परन्तु पिछले कुछ वर्षों से विहार में छोटा नागपुर के सिधभूम जिले में तांबे का प्रगलन नयी प्रविधियों से पुनः प्रारम्भ हो गया है।

तांबा मुख्यतः सल्फाइड, कार्बोनेट, आक्साइड और प्राकृत धातु के रूप में पाया जाता है। आजकल 90% से भी अधिक तांबे का निष्कर्षण सल्फाइड अयस्क से होता है। बहुत से ताम्र निक्षेपों के साथ बहुधा चाँदी और सोना तथा कभी-कभी सीसा और यशद के खनिज भी पाये जाते हैं। भारतवर्ष में पाये जाने वाले प्रमुख ताम्र खनिज निम्न-लिखित हैं :

कैल्कोसाइराइट या कापर पाइराइट, $\text{Cu}_2\text{S} \cdot \text{FeS}_2$ (Cu, 34.5%; आ. घ., 4.1-4.3; कठोरता, 3.5-4)। चतुष्कोणीय प्रणाली में क्रिस्टलित; रंगपीतल-पीत परन्तु खनिज की ऊपरी सतह की रंगदीप्ति मलिन; धात्विक चमक; वर्णरेखा धूसर काली।

कैल्कोसाइट, Cu_2S (Cu, 79.8%; आ. घ., 5.5-5.8; कठोरता, 2.5-3)। समचतुर्भुजीय प्रणाली में क्रिस्टलित, सामान्यतः स्थूल; रंग धूसर काला, बाह्य तल पर नीली या हरी मलिनता; धात्विक चमक; वर्णरेखा धूसर काली।

चोरनाइट, Cu_5FeS_4 (Cu, 63.3%; आ. घ., 4.9-5.4; कठोरता, 3)। घनाकृतिक क्रिस्टल; रंग गुलाबी-भूरा परन्तु बाह्य तल पर शीघ्र ही नीली मलिनता आ जाती है जो प्रायः रंगदीप्तियुक्त होती है; धात्विक चमक; वर्णरेखा धूसर काली।

टेट्राहेड्राइट, $4\text{Cu}_2\text{S} \cdot \text{Sb}_2\text{S}_3$ (Cu, 45.77% तक; आ. घ., 4.4-5.1; कठोरता, 3-4)। प्रायः तांबे के आंशिक विस्थापन के फलस्वरूप कुछ चाँदी तथा ऐण्टिमनी के विस्थापन के फलस्वरूप आर्सेनिक के साथ पाया जाता है। घनाकृतिक प्रणाली में क्रिस्टलित; रंग इस्पात-धूसर से लौह-इयाम; धात्विक-चमक; वर्णरेखा धात्विक धूसर किन्तु आर्सेनिक की मात्रा अधिक होने पर लाल-भूरी; आपेक्षिक घनत्व उपस्थित आर्सेनिक की मात्रा बढ़ने के साथ-साथ घटता जाता है।

फावेल्लाइट, CuS (Cu, 66.4%; आ. घ., 4.6; कठोरता, 1.5-2)। पट्टकोणीय प्रणाली में क्रिस्टलित; रंग नीला।

प्राकृत तांबा, Cu (आ. घ., 8.8; कठोरता, 2.5-3)। क्रिस्टल घनाकृतिक; रंग ताम्र रक्त; वर्णरेखा धात्विक; तन्य एवं आघात वर्धनीय।

मैलाकाइट, $\text{CuCO}_3 \cdot \text{Cu(OH)}_2$ (Cu, 57.3%; आ. घ., 3.9-4.0; कठोरता, 3.5-4)। एकनताक्ष क्रिस्टल बहुधा स्थूल या स्टैनैक्टायटी, तनुमय वलय के; रंग चमकीला हरा; चमक रेशमी कान्चामी या मंद; वर्णरेखा पीत-हरित।

ऐचुराइट, $2\text{CuCO}_3 \cdot \text{Cu(OH)}_2$ (Cu, 55.1%; आ. घ., 3.7-3.8; कठोरता, 3.5-4)। क्रिस्टल एकनताक्ष किन्तु प्रायः स्थूल; रंग ग्राममानी; चमक कान्चामी या मंद; वर्णरेखा पीली-नीली।

थ्यूज़ाइट, Cu_2O (Cu, 88.8%; आ. घ., 5.8-6.1; कठोरता, 3.5-4)। क्रिस्टल घनाकार, प्रायः स्थूल या मृत्तिकाभय; रंग लाल से भूरा-लाल; चमक अल्पधात्विक से मृत्तिकाभय; वर्णरेखा भूरी-लाल।

प्रकृति में तांबा मुख्यतः सल्फाइड के रूप में पाया जाता है किन्तु अपवाद के रूप में प्राकृत तांबा भी बहुतायत से पाया जाता है। भूपटल की चट्टानों में सल्फाइड का एकत्रीकरण ताम्र-सल्फाइड युक्त ऊपर उठने वाले विलयन द्वारा होता है। लगभग सभी ताम्र-निक्षेप और विशेषतः ग्रेनाइट, ग्रेनोडायोराइट तथा क्वार्ट्ज मोन्जोनाइट जैसे अधिक अम्लीय प्रकृति वाले निक्षेप, आग्नेय चट्टानों से सम्बंधित होते हैं। इस सम्बंध से यह निष्कर्ष निकाला जाता है कि ताम्र सल्फाइड विलयन, आग्नेय मैग्मा से प्राप्त अंतिम या अवशिष्ट विलयन होता है, जो आग्नेय सक्रियता के अंतिम चरण में निकटस्थ चट्टानों में पहुँच जाता है। कुछ लेखकों का मत है कि ताम्र विलयन की उत्पत्ति अम्लीय आग्नेय मैग्मा से भी ज्यादा गहरे स्रोत से हुई है।

ताम्र-अयस्क पिंड बहुत प्रकार के होते हैं किन्तु आकार के हिसाब से उन्हें 4 सामान्य प्ररूपों में वर्गीकृत किया जा सकता है :

1. विकीर्ण अयस्क पिंड - इनमें ताम्रयुक्त खनिज आग्नेय, कार्यान्तरित या अवसादी चट्टानों के बड़े भाग में सामान्यतः प्रकीर्णित होते हैं। संसार के ताम्र उत्पादन का अधिकांश भाग इसी प्रकार के निक्षेपों से प्राप्त होता है।

2. स्थूल अनियमित या मसूराकार अयस्क पिंड - इनकी उत्पत्ति सल्फाइड विलयन द्वारा बड़े शैल पिंडों के आंशिक या पूर्ण विस्थापन से होती है।

3. शिरा निक्षेप - कई क्षेत्रों में ताम्रयुक्त विलयन शैल विभंग या अपरूपण कटिबंध में पहुँच गया है तथा ताप और दाब में परिवर्तन के फलस्वरूप ताम्र खनिज विभंगों में शिराओं या शिरा-निक्षेप के रूप में एकत्र हो गये हैं। यदि विलयन खुले विदर में भर गया तो विदर शिरायें बन गईं और यदि ताम्रयुक्त विलयन ने किसी सँकरे छिद्रमय अपरूपण मार्ग का विस्थापन किया तो विस्थापित शिराएँ बन गईं। इन शिराओं या शिरा निक्षेपों की चौड़ाई कुछ सेंटीमीटर से लेकर 15 मी. या उससे भी अधिक हो सकती है। विहार के सिधभूम निक्षेप इसी प्रकार के हैं।

4. स्तरित निक्षेप - संस्तरित स्तर के कुछ ताम्र-निक्षेप विशेष संस्तर-स्थिति से सम्बंधित होते हैं। वे एक विशेष प्रकार के विकीर्ण निक्षेप माने जा सकते हैं। इन सबमें प्रमुख प्राकृत ताम्र-निक्षेप वे हैं जिनका निर्माण संयुक्त राज्य अमेरिका में मिशिगन के केबीना प्रायद्वीप के स्फोटगर्ती लावा तथा अंतर-संस्तरित संगुटिकाश्मों एवं बालुकाश्मों में हुआ है।

सतह तथा अंतर्भीम जलस्तर के बीच चट्टानों पर ऑक्सीकरण तथा परिसंचारी जल की विलायक क्रिया का प्रभाव पड़ता है। जलस्तर के ऊपर सल्फाइड खनिज ऑक्सीकरण के फलस्वरूप सल्फेट और सल्फ्यूरिक अम्ल में बदल जाते हैं। अधोपरिसंचारी जल में सतह पर से तांबे को विलेय लवणों के रूप में विलेय करके बहने की प्रवृत्ति होती है। ये लवण सल्फाइड द्वारा द्वितीयक सल्फाइड के रूप में अवक्षेपित हो जाते हैं और भीम जलस्तर के विलकुल नीचे ही संकेन्द्रित हो जाते हैं। सल्फाइड-बहुल, विशेषतः स्थूल निक्षेपों में तांबे की अधोमुरी गति मंद हो सकती है तथा द्वितीयक निक्षेप के समृद्ध स्तर पतले और उथले हो सकते हैं। विकीर्ण अयस्क पिंड में तांबे की अधोमुरी गति तीव्र होती है तथा समृद्ध स्तर मोटे हो सकते हैं। आदर्श परिस्थितियों में सतह से नीचे चार स्तर बन सकते हैं : (1) सतह पर स्थित स्तर जिसका सभी तांबा धुलकर बह गया है; (2) अंतर्भीम जल-स्तर तक फैला स्तर जिसमें ताम्र कार्बोनेट तथा आक्साइड होते हैं; (3) समृद्ध स्तर जिसमें प्राथमिक सल्फाइड तथा ऊपर पाये गये द्वितीयक सल्फाइड होने हैं; तथा (4) प्राथमिक अयस्क। विहार के

सिंधभूम में भौम-जलस्तर सतह के समीप ही है। कुछ कार्बोनेट तथा ऑक्साइड सतह पर पाये जाते हैं किन्तु ऑक्सिकरण तथा समृद्धि-स्तर लुप्तप्राय हैं तथा प्राथमिक सल्फाइड सतह पर या सतह के समीप ही पाये जाते हैं।

वितरण

असम — ताँवे का उत्खनन कभी मणिपुर जिले के दक्षिणी-पूर्वी कोने में होता था।

उत्तर प्रदेश — गढ़वाल तथा अल्मोड़ा जिले के कई स्थानों पर कैल्कोपाइराइट पाया जाता है। इसका उत्खनन कुछ समय पूर्व पोखरी और धानपुर में होता था परन्तु दोनों ही स्थानों पर व्यवसाय असफल रहा। 1939 में आडेन पोखरी गये थे और उनके अनुसार ये उत्खनन विशेष महत्वपूर्ण नहीं हैं किन्तु सम्भवतः दो शिरा निक्षेप, क्लोराइट-फाइलाइटों तथा शिस्टोस-क्वार्ट्जाइटों में अवस्थित थे। दक्षिणी शिरा निक्षेप में सिडेराइट की चूनापत्थर की आधार भित्ति थी। धानपुर में खनि प्रदेश मार्ग लगभग 157 मीटर लम्बा है तथा चूनापत्थर को भेदता हुआ जाता है। 1939 में खनि प्रदेश मार्ग की छत पर कहीं-कहीं कैल्कोपाइराइट के छोटे क्रिस्टल देखे गये पर सतत शिरा निक्षेप नहीं मिले। हरिद्वार-वद्रीनाथ तीर्थ-क्षेत्र (कंडी चट्टी) मार्ग के 73/219 किलोमीटर के पत्थर के समीप कैल्कोपाइराइट तथा बेराइट का एक छोटा शिरा निक्षेप शिमला स्लेटों में भ्रंश-मंडल के सहारे पाया जाता है। 1939 में आडेन को माना हिमनद की एक शाखा के एक अवरोही हिमोढ़ पर कैल्कोपाइराइट क्वार्ट्ज तथा फेल्सपार की शिराओं से युक्त बहुत से गोलाकृति मिले। ये शिरायें शिमला स्लेट के अंतर्भेदी ग्रेनाइट में पाई जाती हैं। ये गोलाकृति 5,250 मी. की ऊँचाई पर मिले तथा उनका उद्गम स्थान अगम्य क्षेत्र में और भी अधिक ऊँचाई पर होना चाहिये।

आस्कोट के निकट के स्थानों पर भी ताँवे की उपस्थिति प्रतिवेदित है। देवलताल के निकट पुराने छोटे उत्खनन कार्यों का परीक्षण "दि इंडियन कापर कार्पोरेशन" द्वारा किया गया था पर परिणाम उत्साह-वर्धक नहीं थे (Holland, *Rec. geol. Surv. India*, 1907, 35, 35).

जम्मू तथा कश्मीर — मिडिलमिस के अनुसार जम्मू तथा कश्मीर में कई स्थानों पर ताम्र खनिज पाये जाते हैं। इनका वितरण पेलियो-जोइक स्लेटों में क्वार्ट्ज आधात्री शिरा निक्षेपों के रूप में अथवा ग्रेट लाइमस्टोन के संकोणाश्मन तल के साथ शिरा के रूप में हुआ है। उनका उत्खनन प्राचीन काल में कहीं-कहीं हुआ था। मिडिलमिस द्वारा वर्णित निक्षेपों में से कुछ तो नवीन प्रतीत होते हैं तथा इन निक्षेपों के आधुनिक ढंग से उत्खनन कार्य की सम्भावना इस बात पर निर्भर होगी कि प्रदेश में यातायात साधनों का विस्तार, सम्बंधित उद्योगों का समन्वय तथा उपजातों के उपयोग की सम्भावना कहाँ तक हो सकती है। दो सबसे प्रमुख निक्षेप कश्मीर घाटी में हपतनार के निकट शूमहल में तथा रायसी जिले के गंटी में हैं (*Miner. Surv. Rep., Jammu & Kashmir*, 1929, 13).

तमिलनाडु तथा आन्ध्र प्रदेश — गरिमनिपेंटा (गनिपेंटा) के निकट नेल्लूर में बहुत पैमाने पर पुराने उत्खनन कार्य देखे जाते हैं पर वे मुख्यतः सतह पर ही हैं। ज्यादा गहराई पर लाभकर अयस्क की उपस्थिति के सम्बन्ध में कोई खोजबीन नहीं की गई है। कोयम्बटूर और गुंटूर जिले में पुराने उत्खनन कार्यों की जानकारी है तथा वेल्लारी, कडप्पा, कुरनूल, त्रिचिनापल्ली में ताम्र-अयस्क की उपस्थिति भी प्रतिवेदित है।

पंजाब तथा हिमाचल प्रदेश — समय-समय पर कांगड़ा, पटियाला और शिमला में ताँवे की उपस्थिति का उल्लेख मिलता है किन्तु इस विषय में अधिक जानकारी नहीं है। सिरमौर रियासत में सतौन के निकट तथा तेलगनी खाला में ताम्र कार्बोनेट पाया जाता है। सल्फाइड अयस्क के लिए इस क्षेत्र का गहराई पर पूर्वोक्षण होना आवश्यक है।

बंगाल — दार्जिलिंग जिले के कई स्थानों में डालिंग श्रेणी के स्लेटों एवं शिस्टों में विकीर्णित ताम्र खनिजों का आदिकालीन विधियों से उत्खनन होता रहा है। इन सबमें महत्वपूर्ण है मोशू के वांये तट पर स्थित कोमाइ की खान जहाँ 0.6–1.2 मी. तक चौड़े लेन्स स्लेटों में पाये जाते हैं। वहाँ के एक खनिज-प्रवेश मार्ग से प्राप्त नमूने में 3.5% ताँबा था तथा 1 टन अयस्क में 2 ग्राम सोना पाया गया। पाशोक में 1854 तथा 1870 के बीच एक खान पर काम हुआ पर अयस्क निम्न कोटि का होने के कारण कार्य बन्द कर दिया गया और अब उसी स्थान पर एक चाय का बाग है। तिस्ता के वांये तट पर मंगफू में 0.3 मी. तक चौड़ी मसूराकार शिराओं में 4% ताँबा पाया जाता है। चोची धारा के शीर्ष स्थान के निकट 330 मी. की ऊँचाई पर रानीहाट से 1.6 किमी. उत्तर में एक 45 सेंमी. चौड़ी शिरा के नमूने का 27 मी. नीचे तक परीक्षण किया गया। पिछली शताब्दी में योंग्री पहाड़ी के पश्चिमी ढाल पर एक खान का उत्खनन प्रारम्भ हुआ परन्तु शिरा पतली थी और अयस्क निम्न कोटि का था। चेल नदी के तट पर ही 10–30 सेंमी. तक मोटा ठोस अयस्क का एक संस्तर निकला है। स्थानीय क्वार्ट्जाइट चट्टान के कड़ेपन के कारण कैलिम्पोंग से 3.2 किमी. उत्तर पूर्व में एक खान पर उत्खनन कार्य बन्द कर दिया गया (Dunn, *Rec. geol. Surv. India*, 1943, 76, Bull. No. 11, 22; Hayden, *Rec. geol. Surv. India*, 1904, 31, 2).

बाँकुरा जिले के दक्षिणी पश्चिमी कोने में खत्रा नारायनपुर, सारेनगढ़ तथा नीलगिरी में ताँवे की उपस्थिति की सूचना है। अंतिम तीन निक्षेप अलाभकर हैं। नारायनपुर में खाई खोदकर पूर्वोक्षण कार्य किया गया पर असफल रहा (Dunn, *Mem. geol. Surv. India*, 1937, 69, pt I, 121).

जलपाईगुड़ी जिले में बक्सा द्वारों के 3.2 किमी. पश्चिम-दक्षिण-पश्चिम के निकट गोआपाटा (26°46' : 89°34') में 9 मी. चौड़ी क्वार्ट्ज शिरा में 0.32 सेंमी. मोटी छोटी शिरा के रूप में ताम्र सल्फाइड की उपस्थिति का उल्लेख आता है (West, *Rec. geol. Surv. India*, 1948, 81, pt I, 46).

बिहार — सिंधभूम में केरा रियासत में बामिनी नदी पर स्थित द्वारपारम से प्रारम्भ होती हुई लगभग 128 किमी. लम्बी ताम्रयुक्त पट्टी है जिसमें कहीं-कहीं पुराने उत्खनन कार्य के चिह्न दिखाई देते हैं और यह पूर्व दिशा की ओर खरसवान और सरायकेला रियासतों में होती हुई ढालभूम तहसील में दक्षिण पूर्व की ओर राखा खानों तथा मुशावणी होती हुई मुड़ जाती है और बाहरागोरा में समाप्त हो जाती है।

सिंधभूम के ताम्र अयस्क ग्रेनाइट के विवर्धों से सम्बंधित है जिनका शिस्टों में अंतर्भेदन होता है। ये अयस्क ग्रेनाइट तथा समीपवर्ती अश्रक शिस्टों, क्वार्ट्ज शिस्टों, एपीडायोराइटों अथवा हार्नब्लेंड शिस्टों में शिरा के रूप में पाये जाते हैं। शिराओं का विकास अधिक्षिप्त कटिबंध पर सर्वाधिक होता है और वहीं सुडौल शिरा निक्षेप बनते हैं, जैसे राखा खानों, मुशावणी और धोवणी में। मुशावणी में स्थानीय चट्टान ग्रेनाइट की है जिसका शिरा निक्षेप मार्गों पर क्लोराइट-ब्रायोटाइट क्वार्ट्ज शिस्ट में परिवर्तन हो गया है। धोवणी में स्थानीय चट्टानें एपिडायो-राइट की हैं जो शिरा निक्षेपों पर ब्रायोटाइट-क्लोराइट-शिस्ट में परिवर्तित हो गई हैं तथा राखा खान में क्वार्ट्ज-शिस्ट की हैं जिसका

शिरा निक्षेप पर क्लोराइट-सेरीसाइट-क्वार्ट्ज-शिस्ट में परिवर्तन हो गया है। प्रत्येक शिरा निक्षेप में सामान्यतः ठोस सल्फाइड की एक या एक से अधिक शिरायें होती हैं जिनकी मोटाई 2.5 सेंमी. से 60 सेंमी. तक है किन्तु औसतन मोटाई 12.5–17.5 सेंमी. है। अपरूपित स्थानीय चट्टान दोनों तरफ आंशिक रूप से अनिश्चित चौड़ाई तक सल्फाइडों से विस्थापित हो जाती है। मुख्य सल्फाइड कैल्कोपाइराइट तथा पाइरोटाइट हैं जिनमें कुछ मात्रा में पाइराइट, पेंटलैडाइट, वायोले-राइट तथा मिलेराइट भी होते हैं। इसके अतिरिक्त आघात्री में क्वार्ट्ज, क्लोराइट, वायोटाइट, टूर्मेलिन, मैग्नेटाइट तथा ऐपाटाइट का भी समावेश रहता है। सतह पर सल्फाइड ऑक्सीकृत हो गए हैं तथा प्राचीन खनिजों द्वारा त्यक्त दूहों में मैलेकाइट, ऐजुराइट, क्राइसोकोला, क्यूप्राइट तथा मुक्त तांबे के नमूने पाये जाते हैं। अधिकांश स्थानों पर बाह्य पृष्ठ अयस्क का उत्खनन इतना अधिक हो चुका है कि शिरा पदार्थों का दृश्यांश दुर्लभ ही होता है।

सबसे अधिक लाभकारी ताम्र क्षेत्र दक्षिण-पूर्व में राजदाह से बडिया तक फैला हुआ है। राजदाह में शिरा निक्षेप अभ्रक शिस्ट में है। राखा खान में ताम्र शिरा निक्षेप क्वार्ट्ज शिस्ट में है। यहाँ पर मुख्य शिरा निक्षेप का विकास 9वें स्तर पर 270 मीटर की गहराई तक हुआ था और तब 1922 में उत्खनन बन्द कर दिया गया। उत्खनन की औसत नतिलंब लम्बाई 480 मीटर थी तथा शिरा का नमन 43° । शिरा निक्षेप का 6वें स्तर तक लगभग पूर्णतः ऊर्ध्वखनन किया गया। लटकती हुई दीवार में एक और शिरा निक्षेप है पर उसके सम्बंध में बहुत कम जानकारी है। कुछ दक्षिण में ही दूसरी शिराएँ हैं जिनमें से एक का कूपक नंबर 4 से लगभग 90 मीटर गहराई तक विकास किया गया है। राखा कटक के पश्चिम में पुराने उत्खनन की एक रेखा है जिस पर कभी काम हुआ था पर उस सम्बंध में व्यापक पूर्वोक्षण नहीं किया गया है।

सिदेशर के उत्तर पूर्व में तथा राखा खान के दक्षिण में कुछ पूर्वोक्षण कार्य हुआ है पर इस खंड में और अधिक पूर्वोक्षण कार्य आवश्यक प्रतीत होता है। 1918 तथा 1920 के मध्य चपरी के निकट वरमा-छेद किए गए थे पर केवल एक से ही उत्साहवर्धक परिणाम प्राप्त हुए।

कुछ दक्षिण में सुरदा में “दि इंडियन कापर कारपोरेशन” ने कुछ उत्खनन प्रारम्भ किया था पर 1938 में यह कार्य स्थगित कर दिया गया। तब लगभग 4,000 टन अयस्क (Cu, 3.06% औसतन) निकाला जा चुका था। मुशावणी खान में मुख्य तथा पश्चिमी शिरा-निक्षेपों पर काम हो चुका है। ये दोनों निक्षेप लगभग समान्तर हैं। वे क्षितिज से लगभग $30-35^\circ$ पूर्व की ओर झुके हुए हैं तथा उनका विकास उत्तर तथा दक्षिण में कुल मिलाकर 1,800 मी. तक किया गया है। 1940 के अन्त तक मुशावणी खान में अयस्क का भंडार लगभग दस लाख टन था। इस अयस्क में लगभग 2% तांबा होता है। मुशावणी के और दक्षिण में विकास कार्य द्वारा उत्तर बडिया तथा बडिया में उत्खनन रेखा पर शिरा निक्षेप खोले जा चुके हैं। भूमि के नीचे पश्चिमी गिरा निक्षेप मार्ग के किनारे स्तर रोदकर मुशावणी खान को 4,500 मी. से भी अधिक लम्बे मार्ग द्वारा उत्तर बडिया से जोड़ा गया है पर इसमें से अधिकांश भाग वन्य या अलाभकारी है। इसके अतिरिक्त मुख्य गिरा निक्षेप का एक अविच्छिन्न भाग उत्तर बडिया में उत्खनित किया गया पर बडिया में अभी तक इस गिरा निक्षेप की उपस्थिति का कोई संकेत नहीं मिलता जहाँ पर मुख्यतः पश्चिमी गिरा निक्षेप पर ही कार्य हुआ है। घोवणी में, पश्चिम में एपीथायोराइट का एक समतुल्य शिरा निक्षेप विकसित किया गया है। 1938 के अंत में अयस्क भंडार 1,27,131 टन था जिनमें औसतन 3.14% तांबा था।

बडिया के दक्षिण की ओर गोहाला के दक्षिण में कनास के निकट

तथा खेजुरदारी में केवल लघु शिराओं के होने का संकेत मिलता है किन्तु बाहरागोरा के उत्तर-पश्चिम में स्वर्ण रेखा नदी पार करने के पूर्व किसी भी आकार की शिराओं के अस्तित्व का आभास नहीं मिलता। ठाकुरडीह, झरिया, चरकमारा और मुंडादेवता के ग्रेनाइट में यहाँ पुराने समय के ताम्र उत्खनन की शृंखला मिलती है जिनका अभी तक पूर्वोक्षण नहीं हुआ है पर होना आवश्यक है।

सिधभूम में अन्यत्र चुरिया पहाड़ और अष्टकोली के निकट पुराने समय के लघु उत्खनन कार्य दिखाई पड़ते हैं पर उनका पूर्वोक्षण लाभकर नहीं प्रतीत होता।

पिछले 70 वर्षों में हजारवाग जिले की गिरिडीह तहसील में पुराने बरागुंडा ताम्र उत्खनन कार्य को विकसित करने के कई प्रयत्न किए गए। निक्षेप का विवरण ओट्स ने दिया है (*Trans. Fed. Inst. Min. Eng.*, 1895, 9, 427)।

अभ्रक शिस्ट में अयस्क 2.1–6.6 मीटर चौड़े, औसतन 4.2 मीटर क्षेत्र में, फैला पाया जाता है तथा उसमें औसतन 1–1.5% तांबा रहता है। ओट्स ने उल्लेख किया है कि 1882 में संस्थापित “दि बंगाल बरागुंडा कापर कम्पनी” ने 5 कूपक खोदे तथा सबसे पश्चिमी कूपक की गहराई 99 मीटर तक पहुँची और इनमें से 5 स्तर पूर्व की ओर दो अन्य कूपकों से सम्बंधित थे। 10 वर्षों में अधिकतम मासिक उत्पादन 40 टन तांबे का था किन्तु अच्छे वर्षों का औसत केवल 25 टन था। 1888 में कम्पनी ने 218 टन परिष्कृत तांबे का उत्पादन किया (*King, Rec. geol. Surv. India*, 1889, 22, 250)।

संथाल परगना में ताम्र खनिज के दो स्थानों पर पाये जाने का उल्लेख मिलता है। भैरखी में शेरविल ने 1855 में ताम्र-अयस्क की एक सेंकरी शिरा की खुदाई की जो पूर्व पश्चिम में 30 मीटर तक फैली है तथा सामान्यतः गार्नेटमय वायोटाइट-नाइस से परिवर्द्ध ट्रेमोलिटीय शिस्ट में है। शिरा का उत्खनन “दि देवघर माइनिंग कम्पनी” द्वारा 450 मीटर की गहराई तक किया गया पर कैल्कोपाइ-राइट तथा बोर्नाइट मिश्रित अयस्क के कुछ टन ही निकाले जा सके (*Geol. & statist. Rep. Dist. Birbhum*, 1855, 34)।

मानभूम में पुंडा, कल्यानपुर, कांतागोरा तथा तामाखुन में ताम्र-अयस्कों की उपस्थिति का उल्लेख किया गया है पर उनमें से किसी की भी आर्थिक दृष्टि से महत्वपूर्ण होने की सम्भावना नहीं है।

मध्य प्रदेश—इंदौर रियासत में पुराने ताम्र उत्खनन कार्य देखे जाते हैं। इस रियासत में एक अयस्क युक्त शिरा लगभग 0.8 किमी. लम्बी तथा 1.2–1.5 मी. चौड़ी है। विश्लेषण करने पर तांबे की अधिकतम मात्रा 4% पाई गई पर शिरा निक्षेप छोटा प्रतीत होता है तथा पूर्वोक्षण आवश्यक नहीं जान पड़ता (*West, loc. cit.*)।

जबलपुर जिले में स्लीमनाबाद तथा निवार रेलवे स्टेशन के निकट ताम्र गिराएँ पायी जाती हैं। नरसिंहपुर में भी इसी नतिलम्ब रेखा पर 128 किमी. दक्षिण में ऐसे ही निक्षेप प्रतिवेदित हैं।

स्लीमनाबाद के समीप पहले 1904 और 1908 के मध्य में गिराओं का पूर्वोक्षण हुआ और 1937 में पुनः पूर्वोक्षण किया गया। तब यह प्रस्तावित किया गया कि अयस्क का ताम्र-सल्फेट के उत्पादन हेतु प्रयोग हो। शिराएँ चौड़ाई में 15 सेंमी. से 0.9 मी. तक हैं तथा लगभग 90 मी. लम्बी हैं। 1904–1908 में एक शिरा निक्षेप का पूर्वोक्षण 24 मी. की गहराई तक किया गया। अयस्क में आघात्री के रूप में क्वार्ट्ज और बेराइट तथा कैल्कोपाइराइट, मैग्नेटाइट, पाइराइट तथा मैग्नेटाइट पाये जाते हैं। स्थानीय चट्टान डोलांगमाइटो चुनापत्थर की है। निवार के आसपास इसी प्रकार की लघु गिराएँ कई स्थानों में हैं। अयस्क में अल्प मात्रा में चांदी तथा कुछ ग्रेन सोना भी

होता है। ताँबे की मात्रा 4% तक होती है पर अयस्क पिंड की जिस चौड़ाई में यह प्रतिशतता हो, उसके बारे में कोई जानकारी नहीं है। अभी तक जो जानकारी मिली है वह उत्साहवर्धक नहीं है। ताँबे के छोटे निक्षेपों का पूर्वोक्त वालाघाट जिले के करमसैरा स्थान पर किया जा चुका है।

मैसूर — चित्तलद्रुग जिले के इंगलाढाल में और सम्भवतः हसन जिले के कल्याडी के समीप तथा इस रियासत के एक-दो अन्य स्थानों में भी प्राचीन काल में ताँबे के अयस्कों का उत्खनन और प्रगलन किया जाता था। 1925 में मैसूर के विलीगिरि जिले में 5 टन ताम्र-अयस्क निकाला गया था। चित्तलद्रुग में 1937 में 115 टन तथा 1938 में 51 टन अयस्क का उत्पादन हुआ।

राजस्थान — राजस्थान के कई भागों में कुछ समय पूर्व तक ताम्र उत्खनन होता रहा है। सम्भवतः सबसे बड़े निक्षेप जयपुर रियासत में खेतड़ी, ववाई तथा सिधाना के निकट पाये जाते हैं। यहाँ ताम्र खनिज काले स्लेट में व्याप्त हैं। ववाई के ताम्र-अयस्क के साथ कोवाल्ड भी उपस्थित रहता है। अयस्क की कोटि के सम्बंध में कोई जानकारी नहीं है पर कहा जाता है कि निक्षेप गहराई तक है। जयपुर में अन्य स्थानों पर तथा अजमेर-मेरवाड़ा, अलवर, भरतपुर, बीकानेर, बूंदी, धौलपुर, जोधपुर, किशनगढ़ और उदयपुर में भी ताँबे की उपस्थिति का विवरण मिलता है (Heron, *Trans. Min. geol. Inst. India*, 1935, 29, 289, 391)।

सिक्किम — सिक्किम में कई लाभकर शिरा-निक्षेप हैं। यहाँ ताँबे के साथ विस्मथ, ऐंफिमनी, टेल्यूरियम तथा कोवाल्ड भी उपस्थित रहते हैं (Dunn, *Rec. geol. Surv. India*, 1943, 76, *Bull.* No. 11, 53)।

सिक्किम तथा दार्जिलिंग के ताम्र-अयस्कों के विकास कार्य में सबसे बड़ी बाधा इस क्षेत्र की अग्रगत्या तथा यातायात साधनों की कमी है।

उत्खनन तथा उपचार

किसी विशेष निक्षेप के उत्खनन के लिए प्रयुक्त विधि अयस्क पिंड के प्ररूप पर आधारित होती है। विकीर्ण निक्षेप प्रायः निम्नकोटि के होते हैं। वे लम्बे क्षेत्र में फैले होते हैं तथा उनके ऊपर पतली सतह होती है। ऐसे अयस्क पिंड का उत्खनन 'खोले और खोदो' विधि द्वारा यांत्रिक फावड़ों के प्रयोग से होता है। यदि ऐसा इतनी गहराई तक किया जाता है कि खान के किनारों पर बने आरोही सपिल मार्ग पर चलने वाली गाड़ियों अथवा बड़ी डीजल मोटरगाड़ियों से अयस्क की ढुलाई अलाभकर हो जावे तो खंडित अयस्क को खान के नीचे वाले भूमिगत मार्ग से ही ढो कर ऊपर लाया जाता है। इस तरह की खान को 'ग्लोरी होल' कहते हैं। शिराओं के ऊपरी भाग तथा विस्थापित निक्षेपों का भी कभी-कभी 'ग्लोरी होल' द्वारा उत्खनन करते हैं। इस विधि द्वारा निम्नकोटि के विकीर्ण निक्षेप एक सीमित गहराई तक ही लाभकारी ढंग से खोदे जा सकते हैं। कुछ निम्नकोटि के अयस्क के ऊपर अधिभार की इतनी मोटी परत होती है कि उस अधिभार को हटाना लाभकर नहीं होता। इन निम्न तथा उच्चकोटि के निक्षेपों को उदाहरणतः लेन्सों तथा अनियमित विस्थापित निक्षेपों, विभिन्न प्रकार की शिराओं तथा अयस्क पिंडों को जिनमें एक विशेष प्रकार का स्तर-विन्यास होता है, भूमिगत उत्खनन विधियों द्वारा अधिक गहराई तक खोदा जा सकता है। स्वाभाविक है कि छोटे निक्षेपों पर कार्य तभी हो सकता है जब अयस्क उच्चकोटि का हो। ऐसी शिराएँ इतनी बड़ी न हों कि वे अयस्क-उपचार संयंत्र का व्यय उठा सकें। फिर यदि संयंत्र प्रगलक से दूर स्थापित किया जाता है तो

ढुलाई का खर्च बढ़ जाता है। ऐसी परिस्थितियों में सांद्रण केवल हाथ से चुनकर ही किया जाता है तथा अयस्क भी लगभग शुद्ध सल्फाइड होना चाहिये जिसमें 20% से अधिक ताँबा हो, ताकि यह विधि लाभप्रद सिद्ध हो सके।

बड़े निक्षेपों में, भूमिगत विधियों द्वारा लाभकारी ढंग से उत्खनित अयस्क की श्रेणी इस बात पर निर्भर करती है कि अयस्क निष्कर्षण विधि की कार्यकुशलता कैसी है। सामान्यतः ऐसे अयस्क पिंडों का उत्खनन दो स्पष्ट संक्रियाओं में विभाजित किया जा सकता है—विकास तथा ऊर्ध्वखनन। विकास के अंतर्गत कूपक खोदे जाते हैं, गहराई के नियमित अन्तर पर अयस्क पिंड तक अंतर्कट किए जाते हैं, अयस्क पिंड के किनारे स्तर बनाए जाते हैं और उनको लम्बाकार या तिरछे मार्गों तथा चढ़ावों द्वारा सम्बंधित किया जाता है। इस तरह से अयस्क पिंड तक पहुँचा जा सकता है तथा उन्हें खंडों में विभाजित किया जा सकता है। निर्धारित कालांतराल पर अयस्क के आमापन से निक्षेप के लाभकारी तथा अलाभकारी भागों का विभाजन किया जा सकता है तथा अयस्क भंडार का आकलन संभव हो सकता है। जब कार्य योग्य भंडार की उपस्थिति निश्चित हो जाती है, तब ऊपरी स्तरों के बीच के लाभकारी अयस्क खंडों को ऊर्ध्वखनन द्वारा अलग कर लिया जाता है। साथ ही साथ, विकास कार्य गहराई तक और आवश्यक हुआ तो भंडार बनाए रखने हेतु पार्श्व में भी किया जाता है। प्रयुक्त ऊर्ध्वखनन की विधि अयस्क पिंडों के आकार-प्रकार तथा स्थानीय शैल के प्रकार के अनुसार बदलती रहती है।

मुशावणी खान में दोनों शिरा निक्षेपों का विकास झुकाव पर 900 मी. तक या 510 मी. की खड़ी गहराई तक किया गया है। प्रारम्भिक दिनों में उत्खनित अयस्क में 3.3% ताँबा रहता था परन्तु अब 1.7% ताँबे वाला अयस्क खान के लिए लाभकारी है। यहाँ उत्खनन 'ब्रेस्ट-स्टोपिंग' द्वारा किया जाता है तथा निखनन कक्ष खुले ही छोड़ दिए जाते हैं किन्तु दीवारों के कमजोर भागों के लिए लकड़ी या टेक का भी प्रयोग किया जाता है। अयस्क को हाथ से फावड़ों द्वारा या यांत्रिक ढंग से निखनन कक्ष से खुरच दिया जाता है और ढालू प्रणाली द्वारा आनत कूपक नीचे के स्तरों के ट्रकों में गिरा दिया जाता है तथा मुख्य आनत कूपक में डाल दिया जाता है। कूपक पर अयस्क यंत्रचालित छलनी द्वारा क्षेत्र के नीचे और कूपक के ऊपर अवस्थित अयस्क संचायिका में गिराया जाता है और बड़े टुकड़ों को, यदि आवश्यक हुआ तो, घन द्वारा खंडित किया जाता है ताकि वे यंत्रचालित छलनी के खानों से नीचे गिर सकें। अयस्क संचायिका से अयस्क आवश्यकतानुसार झूले में भेजा जाता है जहाँ से उसे सतह पर लाया जा सके। खान के सिरे पर अयस्क को 7.5 सेंमी. के घनाकारों में तोड़ लिया जाता है और पट्टों पर असार चट्टानों से अलग कर दिया जाता है। यहाँ से अयस्क द्वितीयक-साइमन्स-तोड़क में जाता है जहाँ पर उसे 0.9 सेंमी. के टुकड़ों में विभाजित किया जाता है। इन सबको छान लिया जाता है तथा बड़े टुकड़ों को पुनः तोड़ा जाता है। यहाँ से अयस्क ले जाने वाली पट्टियों द्वारा झूले वाली बड़ी वाल्टियों में जाता है। जहाँ से यह लगभग 10 किमी. दूर एक तार वाले मार्ग पर झूले द्वारा मऊभंडार के सान्द्रण मिल में अयस्क को एकत्र करने के लिए उपयुक्त पात्रों तक भेज दिया जाता है।

अधिकतर अयस्कों को प्रगलन के पूर्व सान्द्रण-संयंत्र में उपचारित करना आवश्यक होता है ताकि, जहाँ तक आर्थिक लाभ की दृष्टि से सम्भव हो, असार पदार्थों की अधिक से अधिक मात्रा अलग कर दी जावे। कुछ अयस्क, विशेषतः स्यूल सल्फाइड निक्षेप से प्राप्त अथवा रजतयुक्त सिलिकामय आक्सीकृत अयस्क, बिना पूर्वसान्द्रण के भी संगलित किये जा सकते हैं। उपचार संयंत्र पर अयस्क को बहुत ही

वारिक टुकड़ों में पीस लिया जाता है। विभिन्न प्रकार की चकियाँ भिन्न-भिन्न प्रकार के अयस्कों के लिए प्रयोग में लाई जाती हैं। पीसने के पश्चात् ताम्रयुक्त खनिजों को असार खनिजों से पृथक् करने हेतु, अयस्क उपचारित किया जाता है। ताम्र खनिज तथा असार पदार्थों के आपेक्षिक घनत्व में अन्तर पर आधारित गुरुत्वीय पृथक्करण पद्धति का उपयोग ऑक्साइड अयस्क के लिए करते हैं परन्तु ताम्र-ऑक्साइड खनिज संसार के ताम्र उत्पादन की दृष्टि से अब विशेष महत्वपूर्ण नहीं है। सल्फाइड खनिजों के अयस्क के सान्द्रण हेतु गुरुत्वीय पृथक्करण तथा प्लवन की कई विधियों का प्रयोग अलग-अलग या एक साथ किया जा सकता है परन्तु आजकल केवल प्लवन विधि ही अधिकतर उपयोग में लाई जाती है। इस विधि में सुषिप्त अयस्क के जलीय निलवन में कुछ तेल तथा अन्य अभिकर्मक डाले जाते हैं तथा किसी एक विधि द्वारा वातन किया जाता है, सल्फाइड एकत्रित किए जाते हैं और सतह पर लाये जाते हैं तथा आघाती को अवनमित कर अवशिष्ट के रूप में निकाल लेते हैं। यह प्रक्रम चयनात्मक हो सकता है तथा दो या अधिक मूल्यवान खनिजों के पृथक्करण के लिए अभिकल्पित किया जा सकता है। मऊ-भंडार स्थित "दि इंडियन कापर कारपोरेशन" के सान्द्रण-संयंत्र में 97% से अधिक ताम्र की प्राप्ति लगभग 28% ताम्र युक्त सान्द्र से झाग प्लवन द्वारा होती है। छानने और सुखाने के पश्चात् सान्द्र का धान एक परावर्तनी प्रगलन-भट्टी में डाला जाता है जिससे 42% ताम्र-युक्त मैट तथा अपशिष्ट धातुमल प्राप्त होता है। परिवर्तक में होने वाली अभिक्रियाओं द्वारा मैट का गंधक तथा लोहा दूर हो जाता है और निम्नकोटि का या फफोलेदार ताँबा बच रहता है जो शोधन भट्टी में जाकर परिष्कृत ताम्र (लगभग 99.5% ताम्र) के सिल में परिवर्तित हो जाता है। इस सिल धातु में निकेल मुख्य अशुद्धि के रूप में होता है। लगभग सम्पूर्ण परिष्कृत ताँबे को पुनः गलाया जाता है और जस्ता डालकर पीतल या पीली धातु में बदल दिया जाता है। ढलवाँ पीली धातु की चादरें बना ली जाती हैं। खान तथा कार्यस्थल के सभी सम्पन्न कार्य स्थल पर उत्पन्न विजली द्वारा प्रचालित किए जाते हैं।

उपयोग

अलोह-धातुओं में ताँबे का सर्वाधिक उपयोग होता है। शुद्ध ताँबा तन्य, आघातवर्धनीय तथा कड़ा होता है तथा इसमें लाक्षणिक लाल रंग युक्त चमकदार पालिश होती है। यह एक अत्युत्तम ऊष्माचालक है किन्तु इसका सर्वाधिक मूल्यवान गुण इसकी उच्च विद्युत-चालकता है जिसके कारण यह विद्युत उद्योग में अपरिहार्य है। वैसे यह सिल, छड़, चादर, पत्ती और ढलवाँ जैसे कई रूप में प्रयुक्त होता है किन्तु सबसे अधिक तार के रूप में।

उद्योग में ताँबा और उसकी मिश्रधातुओं के उपयोग की सूची बहुत लम्बी हो सकती है पर अधिक महत्वपूर्ण उपयोग विद्युत उद्योग में है, यथा जेनरेटर, मोटर, विद्युत रेल इंजन, स्विचबोर्ड, प्रकाश बल्ब तथा साकेट, इमारतों, जहाज और रेल में तार तथा केबिल के रूप में, रेल के विद्युतीकरण में तथा सिगनल में, ट्रामवे, स्वचालित वाहनों में, रेडियो प्रसारण, प्रकाश तथा शक्ति लाइन में, टेलीफोन और टेलीग्राफ में नम्यतार के रूप में तथा तार-बपड़े में। तार के अतिरिक्त बहुत-सा ताँबा इमारतों, रेफ्रिजरेटरों तथा वातानुकूलन में प्रयुक्त होता है। मुद्राओं तथा कारुदों तथा वेयरिंग, यूसिंग, बाल्व और फिटिंग जैसे सभी ढाने हुए सामान में भी इसका प्रयोग होता है। नलिकाओं और संयन्त्र, तेल बर्नर, रिवेट, पिन, आईनेट, स्फुलिंग-प्लग, प्लैश बल्बों, तेल दीप,

घरेलू वर्तन, जलतापक, अग्निशामक यंत्र, जल मीटर, तापस्थायी, याच-फिटिंग, घड़ी तथा हाथ घड़ी, सेफ्टीरेजर, विस्फोटक-टोपी, विद्युत टाइप तथा नक्काशी हेतु चादर तथा सभी प्रकार की मशीनों-जैसे बहुत से निर्मित सामानों में यह प्रयुक्त होता है।

ताँबा बहुत-सी मिश्रधातुओं का रचक है जिनमें पीतल तथा काँसा मुख्य हैं।

ताम्र-सल्फाइड का उपयोग वृक्षों पर छिड़काव करने, जलाशय के शैवाल दूर करने, रेंगाई तथा कैलिको छपाई में तथा लकड़ी के परिरक्षण के लिए किया जाता है।

ताम्र-क्लोराइड एक शक्तिशाली रोगाणुनाशक है। इसका प्रयोग कैलिको छपाई में भी होता है। मैलेकाइट तथा ऐज्यूराइट जैसे ताम्र-कार्बोनेट पेण्ट के उत्पादन में प्रयुक्त होते हैं।

उत्पादन

1965 में विश्व का ताम्र उत्पादन 51 लाख टन था। उसी वर्ष भारत में ताम्र का उत्पादन 4,67,580 टन था। 1946 के पूर्व यह 5,048 टन वार्षिक था (10 वर्ष के औसत के आधार पर); 1947 में 5,931 टन, 1948 में 5,836 टन और 1949 में 6,390 टन था।

ताम्र उत्पादक देशों में संयुक्त राज्य अमेरिका, चिली, कनाडा, सोवियत संघ, रोडेसिया, कांगो तथा जापान प्रमुख हैं। 1945 में संयुक्त राज्य अमेरिका का देशी अयस्क से ताम्र उत्पादन 7,10,073 मेट्रिक टन तथा आयात किए अयस्क से 74,100 मेट्रिक टन था जबकि उसी वर्ष चिली का उत्पादन 4,62,588; कनाडा 1,98,604; बेलजियम कांगो 1,60,200; तथा उत्तरी रोडेसिया का 1,95,600 मेट्रिक टन था। 1940 में सोवियत संघ का उत्पादन 1,57,000 मेट्रिक टन तथा जापान का 1,24,000 मेट्रिक टन था। ये ही मात्राएँ अमेरिका, चिली, कनाडा, कांगो में 1965 में बढ़कर क्रमशः 12,34,000, 5,84,000, 4,69,000, 2,84,000 टन हो गईं।

विश्व के अन्य भागों के ताम्र-अयस्क भंडार की तुलना में भारत के स्रोत सीमित हैं। सिंधभूम के ताम्र प्रगलन उद्योग की पिछले कुछ वर्षों में हुई प्रगति भारत के लिए विशेष महत्व की है। भारत में ताँबे की खपत 1965 में 69,500 टन थी। खेतड़ी प्रोजेक्ट द्वारा भारत में ताम्र उद्योग का विकास होगा।

सिंधभूम के ताम्र कटिबंध का पूर्णतः पूर्वक्षेत्र नहीं हुआ है। "दि इंडियन कापर कारपोरेशन" ने बडिया-मुशावणी-धोवणी-सुरदा क्षेत्र में संतोपजनक कार्य किया है किन्तु छोटी कम्पनियों के लिए अभी भी इस क्षेत्र के अन्य हिस्से, विशेषतः दक्षिण-पूर्व में पूर्वक्षेत्र की सम्भावनाएँ हैं। "दि इंडियन कापर कारपोरेशन" का वर्तमान संयंत्र इस क्षेत्र के सम्पूर्ण उत्खनित अयस्क के लिए सक्षम है।

निर्यात तथा आयात

1965 में 379 टन ताम्र तथा 1,159 टन काँसे का निर्यात किया गया। देश को अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए काफी बड़ी मात्रा में ताँबा धातु का आयात करना पड़ता है। 1965 में 60,127 टन धातु का आयात किया गया जिसका मूल्य 33.4 करोड़ रु. था। यह आयात मुख्यतः संयुक्त राज्य अमेरिका से होता है। 1965 में 85% आयात यहाँ से हुआ। ब्रिटेन, पश्चिमी जर्मनी, रोडेसिया आदि अन्य देशों से भी आयात होता है।

द-ध-न

दूबघास — देखिए साइनोडान

देवदार — देखिए पाइनस तथा सीडूस

धतूरा — देखिए डाटूरा

धान — देखिए ओराइज़ा

नक्सबोमिका — देखिए स्ट्रिकनास

नटमेग — देखिए मिरिस्टिका

नस्टर्शियम* आर. ब्राउन (क्रूसिफेरी) *NASTURTIIUM*
R. Br.

ले. — नास्टूर्टियम

यह उत्तरी गोलार्ध में पाई जाने वाली वृष्टियों का लघु वंश है. इसकी एक जाति भारतवर्ष में पायी जाती है.

Cruciferae

न. ऑफिसिनेल आर. ब्राउन सिन. न. फाण्टेनम ऐश्चर्सन
N. officinale R. Br. वाटर क्रैस (जलकुम्भी)

ले. — ना. ऑफिसिनाले

D.E.P., V, 342; Fl. Br. Ind., I, 133.

पंजाब — पिरिया हेलिम; डेकन — लटपुतिया.

यह बहुशाखित बहुवर्षी, जलीय वृद्धि है जिसका तना विसर्पी या तैरने वाला होता है. यह यूरोप, उत्तरी अफ्रीका और पश्चिमी एशिया का मूलवासी है और भारतवर्ष तथा कई अन्य देशों में प्रकृत हो गया है. यह सामान्य रूप से गड्ढों, कुण्डों तथा उथले सरिता-तटों पर 2,100 मी. की ऊँचाई तक पाया जाता है. इसके पत्ते पिच्छाकार; पर्णक सात से ग्यारह तक अर्धवृत्त, अण्डाकार, आयताकार या लहरदार पालियुक्त, कुंठाग्र; फूल सफेद, छोटे-छोटे असीमाक्षों में; सम्पुटिका लगभग बेलनाकार; बीज छोटे, अंडाभ, काँटेदार होते हैं.

न. ऑफिसिनेल को इंग्लैण्ड और अमेरिका के कुछ भागों में सलाद के रूप में उगाया जाता है. इसके लिए अच्छी तरह से तैयार की हुई ऐसी क्यारियों की आवश्यकता होती है जिनसे होकर स्वच्छ तथा श्रुषित जल धीरे-धीरे वह सके. यह बँधे हुए जल में वृद्धि नहीं करता है. इसे बीजों या कलमों द्वारा प्रवर्धित किया जाता है किन्तु पहली विधि से ही बड़े बागानों के लिए पौधे प्राप्त की जाती हैं. बीज ठीक तरह से तैयार की गई क्यारियों में छिटकवाँ बोये जाते हैं. पहले पत्ते निकलते ही क्यारियों में इतना पानी भर दिया जाता है कि वह पौधों को डक ले. जब पौधे कुछ बड़ी हो जाती हैं तो उन्हें गुच्छों में उखाड़कर नहरों तथा बहते जल वाले तालाबों में पुनः प्रतिरोपित कर दिया जाता

है या क्यारियों में 30 सेंमी. की दूरी पर लगाकर इतना पानी भर दिया जाता है कि पौधे पानी से डक जाएँ. कलमों द्वारा प्रवर्धन करते समय पौधों को पानी के बहाव की दिशा में 10 सेंमी. की दूरी पर लगाया जाता है और जब तक पौधे अच्छी तरह से लग नहीं जाती, उन्हें ठीक से सोंचते रहते हैं. जब इनके कोमल प्ररोह लगभग 15 सेंमी. लम्बे हो जाते हैं और इनमें काफ़ी मात्रा में हरे-भरे पत्ते निकल आते हैं तो इन्हें टुकड़ों में काटकर तथा बंडल बाँधकर तब तक पानी में रखते हैं जब तक कि इन्हें उपयोग में न लाना हो (Oldham, 254-55, 257; Beattie, *Leaf. U.S. Dep. Agric.*, No. 134, 1938; Thompson & Kelly, 274; Gollan, 38).

इस जलकुम्भी को सलाद की तरह कच्चा खाया जाता है. कभी-कभी सब्जी की तरह इसे पकाकर भी खाया जाता है. काटी हुई पत्तियों को फल और वनस्पति रस के काकटेलों, सूपों और बिस्कुटों के साथ रखा जाता है (Muenscher & Rice, 187, 189; Bhargava, *J. Bombay nat. Hist. Soc.*, 1959, 56, 26).

इस जलकुम्भी में प्रतिस्कर्वी और उद्दीपक गुण भी पाये जाते हैं जिसके कारण इसे भूख बढ़ाने के लिए खाया जाता है. इसमें काफ़ी मात्रा में विटामिन और खनिज पाए जाते हैं. भारतीय जलकुम्भी के



चित्र 132 — नस्टर्शियम ऑफिसिनेल — पुष्पित तथा फलित शाखा

* कुछ विद्वान इस वंश को रोडिप्पा स्कोपोली से भिन्न नहीं मानते. उनके अनुसार जलकुम्भी का नाम रोडिप्पा नस्टर्शियम एक्वेटिकम (लिनिअस) हायक है (Mansfeld, 106; Chittenden, IV, 1809, 2265).

विश्लेषण करने पर निम्नलिखित मान प्राप्त हुए : आर्द्रता, 89.2; प्रोटीन, 2.9; वसा (ईथर निष्कर्षण), 0.2; कार्बोहाइड्रेट, 5.5; और खनिज पदार्थ, 2.2%; कैल्शियम, 290; फॉस्फोरस, 140; और लोहा, 4.6 मिग्रा./100 ग्रा. जलकुम्भी में गंधक आयोडीन और मैंगनीज काफी मात्रा में पाये जाते हैं. इसमें विद्यमान कैल्शियम अच्छी तरह से स्वांगीकृत होता है. जस्ता, आर्सेनिक और तंबू की रब मात्राये सूचित की गई हैं. निर्जलीकृत सब्जी में, पिसे गेहूँ-आटे और पिसी सफेद मक्का के लिए उत्तम पूरक गुणों वाले प्रोटीन पाये जाते हैं. आहार में इसकी मात्रा 5% होने पर यह पालक, गोभी, सलाद और हरी सब्जियों से कहीं उत्तम होता है. जलकुम्भी में पाये जाने वाले प्रोटीनों में ऐमीनो अम्लों का संघटन निम्नलिखित है : ल्यूसीन, 3.0; फेनिलऐलानीन, 1.0; वैलीन, 1.2; लाइसीन, 1.5; टाइरोसीन, 0.6; ऐलानीन, 1.0; थ्रियोनीन, 1.5; ग्लुटामिक अम्ल, 2.7; मेरीन, 0.6; ऐस्पार्टिक अम्ल, 4.0; सिस्टीन, 1.0; मेथियोनीन सल्फोक्साइड, 0.1; और प्रोलीन, 0.4 मिग्रा./ग्रा. (Kirt. & Basu, I, 146; Muenscher & Rice, 189; *Hlth Bull.*, No. 23, 1951, 34; McCance & Widdowson, 91; Winton & Winton, II, 247; Wehmer, I, 414; *Chem. Abstr.*, 1937, 31, 2254; 1948, 42, 2332; Kuppaswamy *et al.*, 110; Majumder *et al.*, *Food Res.*, 1956, 21, 477).

जलकुम्भी में विटामिन ए और ई पर्याप्त मात्रा में पाए जाते हैं. इसमें ऐस्कार्बिक अम्ल भी काफी मात्रा में पाया जाता है. इसमें विटामिन ए, 4,720 अं. इ.; थायमीन, 0.08; राइबोफ्लेविन, 0.16; नायसिन, 0.8; और ऐस्कार्बिक अम्ल, 77 मिग्रा./100 ग्रा.; वायोटिन, 0.5 माग्रा./100 ग्रा. रहता है. विटामिन की कमी को दूर करने के लिए भी इसका उपयोग किया जाता है (Lachat, 35; Watt & Merrill, *Agric. Handb. U.S. Dep. Agric.*, No. 8, 1952, 26; *Chem. Abstr.*, 1953, 47, 5575; 1930, 24, 5803).

इसके छोटे-छोटे कटे टुकड़ों के आसवन करने से 0.06% वाष्पशील तेल निकलता है जिसमें मुख्यतः फेनिलऐथिल आइसोथायोसायनेट होता है जो ग्लूकोसाइड, ग्लूकोनेस्टेटिईन ($C_{16}H_{20}O_9S_2NK$) के रूप में रहता है और यह माइरोसिनेस द्वारा ग्लूकोस, फेनिलऐथिल आइसोथायोसायनेट और पोटैसियम हाइड्रोजन सल्फेट में जल-अपघटित हो जाता है [Gildemeister & Hoffmann, V, 179; Krishna & Badhwar, *J. sci. industr. Res.*, 1947, 6 (3), suppl., 33; McIlroy, 25].

जलकुम्भी के बीजों में ग्लूकोनेस्टेटिईन और न सूखने वाला वसा युक्त तेल (24%) पाए जाते हैं. तेल में निम्नलिखित लक्षण रहते हैं: आ. घ.^{25°}, 0.9205; n_D^{20} , 1.4704; अम्ल मान, 2.2; सावु. मान, 170.9; आयो. मान, 98.6; असावु. पदार्थ, 1.1%; और जमन बिन्दु, -5 से -6° (Thorpe, VI, 89; Eckey, 446).

कहा जाता है कि जलकुम्भी विन्दु मूत्र-कृच्छ्र और गलागड में लाभदायक है. इसके रस का उपयोग नासिका के पालिपस को ठीक करने में किया जाता है. इसमें जीवाणुरोधी गुण पाये जाते हैं और शुष्क गले तथा सर्दी, दमा और यक्ष्मा आदि बीमारियों में इसका उपयोग किया जाता है. पौधे का काढ़ा रस साफ करने वाला, कृमिनिस्सारक और मृन्मूलक है (Steinmetz, II, 314; Bushnell *et al.*, *Pacif. Sci.*, 1950, 4, 171).

N. fontanum Aschers.

नाइजेल — देखिए निवोल्टिया

नाइजेल लिनियस (रैननकुलेसी) NIGELLA Linn.

ले. — निगेल्ला

यह एकवर्षी वृष्टियों का एक छोटा वंश है जो दक्षिणी यूरोप तथा पश्चिमी एशिया में पाया जाता है किन्तु भूमध्यसागरीय क्षेत्र में यह मुख्य रूप से पाया जाता है. भारत में भी इस वंश की तीन जातियों का पता चला है.

Ranunculaceae

ना. डेमासीना लिनियस *N. damascena* लव इन ए मिस्ट

ले. — नि. डामासेना

Bailey, 1947, II, 2146, Fig. 2482.

इसका पौधा चिकना, सीधा, एकवर्षीय, 30-50 सेंमी. ऊँचा होता है जो भारतीय वाटिकाओं में अपने सुन्दर फूलों तथा हल्की-फुल्की मनोहर पर्णवली के लिए उगाया जाता है. पत्तियाँ चटक हरी, सुन्दर कटी हुई; फूल सफेद या हल्के नीले, बड़े होते हैं जिनका सहस्रपत्र-चक्र घना, सफाई से कटा हुआ होता है. इसकी सम्पुटिकायें गोलाकार-बीघायित्, फूली हुई; बीज काले और तिरछे जुड़े होते हैं.

इस पौधे के बीजों से कुचली हुई स्ट्रॉवरी जैसी भीनी-भीनी सुगंध निकलती है. इनका भाप-आसवन करने पर उनमें से 0.4 से 0.5% पीला वाष्पशील तेल (नाइजेल तेल) प्राप्त होता है जिसमें एक नीली प्रतिदीप्ति दिखाई पड़ती है. इस तेल में मनभावनी सुगंध तथा स्वाद के साथ नीचे लिखे लक्षण भी होते हैं : वि. घ.^{16°}, 0.895-0.915; n_D^{20} , 1.4997-1.5582; $[\alpha]_D^{20}$, +1.06° से -7.8°; अम्ल मान, 1.10; एस्टर मान, 14.0; ऐसीटिलीकरण के पश्चात् एस्टर मान, 17.7; परिसुद्ध ऐल्कोहल में प्रत्येक अनुपात में विलेय होता है किन्तु 90% ऐल्कोहल में पूर्ण रूपेण विलेय नहीं होता. इस तेल का मुख्य अवयव ऐल्कलायड डेमासीनीन (3-मेथाक्सि-N-मेथिल ऐथानिलिक अम्ल मेथिल एस्टर, $C_{16}H_{13}O_3N$; ग. वि., 24-26°; क्व. वि., 270°/750 मिमी.) होता है. यह लगभग 9% सांद्रता में रहता है और इसी कारण तेल में एक प्रतिदीप्ति होती है. पता चला है सुगंधित तेल बनाने में इसका प्रयोग किया जाता है. नाइजेल तेल का उत्पादन व्यापारिक पैमाने पर नहीं किया जाता (Poucher, I, 302; Gildemeister & Hoffmann, IV, 611; Guenther, VI, 165; II, 654-55).

पेट्रोलियम ईथर के साथ बीजों के निष्कर्षण से 43.5% धीरे-धीरे सूखने वाला तेल प्राप्त होता है जिसे साबुन बनाने में प्रयोग किया जा सकता है. तेल का रंग पीलाभ-भूरा होता है जिसमें मुरभित गंध और नीली वैगनी प्रतिदीप्ति होती है. इसमें नीचे लिखे लक्षण होते हैं : आ. घ.^{22°}, 0.919; n_D^{20} , 1.476; अम्ल मान, 59.7; एस्टर मान, 133.3; आयो. मान, 116.18; आर. एम. मान, 2.50; पोलैस्के मान, 0.35; असाबु. पदार्थ, 1.88%. बीजों में अत्यन्त सन्धिय लाइपेस होता है जो सम्भवतः तेल के अमाधारण उच्च अम्ल मान का कारण है. इसमें एक विपैला सैपोनिन और मिलेन्थीन के रब पाए जाते हैं (Vishin, *Curr. Sci.*, 1961, 30, 45; *Chem. Abstr.*, 1943, 37, 6004; Wehmer, I, 312).

ना. डेमासीना के बीजों को पहले भूमध्यसागरीय क्षेत्र में घरेलू औषधि के रूप में उपयोग किया जाता था. कहा जाता है कि वे वातानू-नामक, आर्तवजनक और कृमिनाशक के रूप में प्रभावकारी होते हैं.

होमियोपैथी में, इसके पके हुए बीजों से एक प्रकार का टिक्चर बनाया जाता है जो यकृत तथा आंतों के इलेमिक ग्रांथ का उपचार करने के लिए प्रयोग किया जाता है (Vishin, loc. cit.).

ना. सैटाइवा लिनियस *N. sativa* Linn.

समल फैलेल, ब्लैक क्यूमिन

ले. - नि. साटिवा

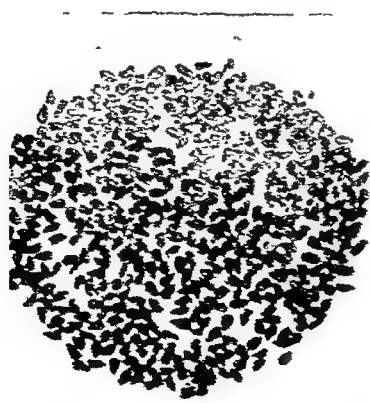
D.E.P., V, 428; C.P., 811; Kirt. & Basu, I, 11.

हि. - कलौजी, कालाजीरा, मंगरैल; बं. - कालीजीरा, मंगरैला;
गु. - कलौजी-जीरम; ते. - नल्लजीलकरा; त. - करंजीरगम;
क. - करंजीरगे; मल. - कदंबीरगम.

यह छोटा, लगभग 45 सेंमी. ऊंचा, लीवेट का मूलवासी पौधा है। पंजाब, हिमालय प्रदेश, बिहार और असम में इसकी खेती की जाती है अथवा अन्य फसलों के साथ अन्तर खरपतवार के रूप में पैदा होता है। पत्ते 2-3, दीर्घतम पिच्छाकार, 2.5-5.0 सेंमी. लम्बे, सीधे भालाकार, खण्डों में कटे हुए; फूल हल्के नीले-पीले, 2.0-2.5 सेंमी. तक फैले हुए, सहपत्र चक्र रहित एक लम्बा पुष्पावलि वृत्त; बीज त्रिकोणाकार काले, महीन झुरीदार गुलिकायुक्त होते हैं।

भारत में ना. सैटाइवा की खेती सम्बंधी आँकड़े उपलब्ध नहीं हैं। संभवतः इसकी खेती बड़े पैमाने पर नहीं की जाती है। अधिकतर जंगली क्षेत्रों में उगे हुए पौधों से बीजों को एकत्रित किया जाता है जिनका उपयोग बीजों को नुगंधित करने अथवा औषधि के रूप में किया जाता है।

काले जीरे के विदलेपन से नीचे लिखे मान प्राप्त हुए हैं: कुल राख, 3.8-5.3; हाइड्रोक्लोरिक अम्ल में अविलेय राख, 0.0-0.5; वाष्पशील तेल, 0.5-1.6; ईथर निष्कर्ष (बसा तेल), 35.6-41.6; और ऐल्कोहलीय अम्लता (ओलीक अम्ल के रूप में), 3.4-6.3%। बीजों के भाप-आसवन से पीताम-भूरा, अधिकतर गंधयुक्त वाष्पशील तेल प्राप्त होता है। इसके निम्नलिखित लक्षण होते हैं: आ. घ.²⁵, 0.875-0.886; n_D^{20} , 1.4836-1.4844; $[\alpha]_D^{20}$, +1.43° से +2.86°; अम्ल मान, 1.9 तक; एस्टर मान, 1-31.6;



चित्र 133 - नाइजेला सैटाइवा - बीज



चित्र 134 - नाइजेला सैटाइवा - पुष्पित तथा फलित शाखा

ऐसीटिलीकरण के पश्चात् एस्टर मान, 15-73; 90% ऐल्कोहल के 2-4.5 या इससे अधिक आयतन में विलेय। इसके बीज में कार्बोन (45-60%), *d*-लिमोनीन और साईमीन होते हैं। इस तेल से एक कार्बनिक यौगिक नाइजेलोन ($C_{18}H_{32}O_4$; ग. बि., 195-97°) निकाला गया है जो हिस्टामीन प्रेरित स्पाज्म के प्रकोप से गिनीपिग की रक्षा करता है। आरम्भिक डाक्टरी जाँच से पता चला है कि खाँसी तथा दमा के उपचार के लिए इसका प्रयोग किया जा सकता है (Dutta, *J. Instn. Chem. India*, 1959, 31, 295; Gilde-meister & Hoffmann, IV, 611; Nadkarni, I, 855; Mahfouz & El-Dakhakhny, *J. pharm. Sci. U.A.R.*, 1960, 1, 9)।

इसके बीजों को कुचल कर प्राप्त बसा तेल को खाने के काम में लाया जाता है। बेजान के साथ निष्कर्षण और तत्पश्चात् प्राप्त निष्कर्ष से वाष्पशील तेल हटाने के लिए भाप-आसवन करने पर रक्तम वादामी रंग का धीरे-धीरे सूखने वाला लगभग 31% अंश निकलता है जिसमें निम्नलिखित लक्षण पाये गए हैं: वि. घ.²⁵, 0.9152; n_D^{25} , 1.4662; अम्ल मान, 42.83; साबु. मान, 199.6; आयो. मान, 117.6; ऐसीटिल मान, 24.1; हेनर मान, 89.6; आर. एम. मान, 3.9; असाबु. पदार्थ, 0.03%। तेल के बसा-अम्ल इन प्रकार हैं: निरिस्टिक, 0.26; पामिटिक, 6.31; स्टीरैरिक, 2.45; ओलीक, 44.45; और लिनोलीक, 35.99%। तेल के रचक लिंसराइड इस प्रकार हैं: ट्राइलिनोलीन, 2; ओलियोडाइलिनोलीन, 25; डाइओलियोलिनोलीन, 42; पामिटो-ओलियोलिनोलीन (अम्ल

मात्रा में मिरिस्टिक अम्ल सहित), 24; स्टीऐरो-ओलियोलिनोलीन, 7%। अल्प मात्रा में कुछ वाष्पशील अम्लों के ग्लिसराइड भी इस तेल में पाए जाते हैं (Eckey, 400; Kartar Singh & Tiwari, *Proc. nat. Acad. Sci. India*, 1942, 12A, 141; 1943, 13A, 54)।

वाष्पशील तथा बसायुक्त तेलों के साथ-साथ काले जीरे के बीजों में एक कड़वा सत्व (नाइजेलिन), अनेक टैनिन, रेजिन, प्रोटीन, अपचायक शर्करा (अधिकतर ग्लूकोस), सैपोनिन और ऐरेबिक अम्ल तथा अन्य ऐल्कोहल-विलेय कार्बनिक अम्ल पाये जाते हैं। प्रसुप्त बीजों में उपस्थित मुक्त एमीनो अम्ल हैं : सिस्टीन, लाइसीन, ऐस्पार्टिक अम्ल, ग्लूटमिक अम्ल, ऐलानीन, ट्रिप्टोफैन, वैलीन तथा ल्यूसीन। ऐस्पेराजीन नहीं पाया जाता। एक अक्रिस्टलीय सैपोनिन ($C_{20}H_{32}O_7$; ग. वि., 310°) जिसके जल-अपघटन से एक पीला फीचल ($C_{14}H_{22}O_8$; ग. वि., 275°) और ग्लूकोस प्राप्त होता है और एक विषले सैपोनिन, मेलेथिन का भी पता चला है जिसके जल-अपघटन से मेलेथिजेनिन ($C_{30}H_{48}O_4$; ग. वि., 325° से ऊपर सम्भवतः हेडराजेनिन से मिलता-जुलता) प्राप्त होता है। बंद डिब्बों में रखने पर भी इसके चूरे में ऐल्कोहल विलेय अम्लों की सांद्रता तेजी से बढ़ जाती है। बीजों में एक लाइपेस पाया जाता है। इसकी पत्तियों में ऐस्कार्विक अम्ल (257.70 मिग्रा./100 ग्रा.) तथा विहाइड्रोऐस्कार्विक अम्ल (29.5 किग्रा./100 ग्रा.) उपस्थित रहता है (Hoppe, 604; *Biol. Abstr.*, 1950, 24, 2030; Dutta, loc. cit.; *Chem. Abstr.*, 1954, 48, 233; 1947, 41, 6672; 1943, 37, 3441, 6004; 1953, 47, 12537; Wehmer, I, 313)।

ना. सैटाइचा या काले जीरे के बीजों में वातानुलोमक, उद्दीपक, मूत्रल, आर्तवजनक और स्तन्यवर्धक गुण होते हैं और मामूली प्रसूतिक ज्वरों के उपचार करने में इसका प्रयोग किया जाता है। त्वचा के ऊपर होने वाले फोड़े-फुन्सियों में इसका बाह्य लेप किया जाता है। बीजों के ऐल्कोहल निष्कर्ष में, माइक्रोकोकस पायोजीन्स बैर. औरियस तथा ऐशेरिशिया फोलाई के विरुद्ध जीवाणुनाशक क्रिया दिखाई पड़ती है। खाद्य वसा के स्थायीकारी कारक के रूप में इसका प्रयोग भी किया जा सकता है। नाशक-कीटों से सुरक्षा के लिए इसके बीज लिनेन और ऊनी कपड़ों की तहों में रखे जाते हैं (Kirt. & Basu, I, 12; Koman, 1919, 18; Kurup, *J. sci. industr. Res.*, 1956, 15C, 153; Sethi & Aggarwal, *ibid.*, 1952, 11B, 468; Chopra *et al.*, 131)।

व्यापारिक नमूनों में साधारणतया मिलावट रहती है। खाद्य अप-मिश्रण रोधक नियमों के अनुसार काले जीरे में निम्नलिखित मानक गुण होने चाहिये : बाह्य कार्बनिक पदार्थ, $\pm 5\%$; कुल राख, $\pm 7\%$; हाइड्रोक्लोरिक अम्ल में अविलेय राख, $\pm 1.25\%$; और वाष्पशील तेल, $\pm 0.5\%$ । काला जीरा साबुत विकना चाहिये, दूटा हुआ या चूरे के रूप में नहीं और सम्पूर्ण ऐल्कोहल विलेय अम्लों की मात्रा 6.5% से अधिक नहीं होनी चाहिये।

नाइस — देखिए पत्थर, इमारती

नाथोपेनाक्स — देखिए पालिसिया

नापोलिग्राना बीवो (लेसिथिडेसी) NAPOLEONA Beauv.

ले. — नापोलेग्राना

Chittenden, III, 1346.

यह उष्णकटिबंधीय अफ्रीका में पाये जाने वाले अरोमिल वृक्षों अथवा झाड़ियों का वंश है। इसकी एक जाति ना. इम्पीरिएलिस बीवो मनोहर झाड़ी है, जिसके पुष्प पासीफ्लोरा-जैसे होते हैं। इसे कलकत्ता के उद्यानों में सजावट के लिए उगाया जाता है। इस वृक्ष को वर्षा के दिनों में कलमें लगाकर प्रवर्धित किया जा सकता है (Firminger, 524)।

गोलाकार फलों का गूदा खाद्य होता है। इसके बीजों का उपयोग कोला (कोला ऐक्यूमिनेटा) के स्थान पर अथवा उसमें मिलावट के लिए किया जाता है। इनमें सैपोनिन पाया जाता है किन्तु कैफीन नहीं। इसकी लकड़ी चीमड़, कठोर तथा सूक्ष्म दानेदार होती है। इसके गठीले तनों का उपयोग कुल्हाड़ी तथा फावड़े के हत्यो के बनाने में किया जाता है (Burkill, II, 1533; Hoppe, 596; Dalziel, 70)।

Lecythisaceae; *N. imperialis*; *Passiflora*; *Cola acuminata*

नारावेलिया द कन्दोल (रैननकुलेसी) NARAVELIA DC.

ले. — नारावेलिआ

D.E.P., V, 317; Fl. Br. Ind., I, 6.

यह इण्डो-मलेशिया क्षेत्र में पाई जाने वाली काष्ठीय लताओं का छोटा-सा वंश है। इसकी एक जाति भारत में पाई जाती है।

ना. खैलैनिका द कन्दोल (वं. — चागुल-वाटी, मुर्चा; त. — बत्यम-कोल्ली, नौडवल्ली; मल. — करुपकोडि; नेपाल — रशगरी; लेपचा — टुमबुमचिलोप; असम — गोरप-चोई; गारो — बेहालिशाम; खासी — जैरमाई-लासाम) पूर्वी-हिमालय के उष्णकटिबंधीय वनों, असम, बंगाल, बिहार तथा दक्षिणी प्रायद्वीप के अधिकांश भागों में पायी जाने वाली आरोही झाड़ी है। जड़ें कंदिल; पत्तियाँ दो विपरीत अण्डाकार पंक्तियों तथा अन्तिम छोर पर एक त्रि-शाखीय प्रतानयुत; फूल छोटे, सुवासित, गुच्छों में, और लाल ऐकीन पंखों के समान होते हैं। इस पौधे को बीजों अथवा कलमों द्वारा प्रवर्धित किया जा सकता है (Firminger, 633; Chittenden, III, 1346)।

तनों से स्थूल किन्तु मजबूत रस्सी बनाई जाती है। दंत पीड़ा निवारण के लिए दातून के रूप में भी इनका उपयोग किया जाता है। जड़ों को पीसने पर एक प्रकार की गंध निकलती है, जिससे सिर दर्द दूर होता है (Fl. Assam, I, 6; Rama Rao, 2)।

Ranunculaceae; *N. zeylanica* DC.

नारेंगा बोर (ग्रेमिनी) NARENGA Bor

ले. — नारेंगा

यह उष्णकटिबंधीय दक्षिण-पूर्वी एशिया में पायी जाने वाली ऊँची वार्षिक घासों का एक अत्यन्त छोटा वंश है। भारत में इसकी दो जातियाँ पायी जाती हैं।

Gramineae

ना. पारफिरोकोमा (हान्स) बोर सिन. सैकरम नारेंगा वालिश N. porphyrocoma (Hance) Bor

ले. — ना. पोरफिरोकोमा

Fl. Br. Ind., VII, 120; Bor, *Indian For. Rec.*, N.S., Bot., 1941, 2(1), 153, Pl. 38 & 39.

मध्य प्रदेश — रोन्ता; उत्तर प्रदेश — गनेरिया, कनवल, तनवर; असम — वाटा, बरोटा।

यह उप-हिमालय क्षेत्र के गढ़वाल से असम तक 900-1,200 मी. की ऊँचाई पर तथा विहार और उड़ीसा में पायी जाने वाली पतली बहुवर्षी घास है। इसकी पत्तियों के किनारे ऊपर की ओर अरोमिल नीचे की ओर खुरदुरे होते हैं। पत्तियाँ 30-60 सेंमी. लम्बी तथा 6 मिमी. चौड़ी होती हैं। पुष्पक्रम संकरा, सघन, 30-45 सेंमी. लम्बा होता है।

यह साल वनों में सबसे अधिक पायी जाने वाली चरागाही घास है। यह साल (शोरिया रोवस्टा गेटनर पुत्र) के लिए उपयुक्त मिट्टी में रहने वाली नमी की महत्वपूर्ण सूचक है। यह अच्छी मिट्टी बन्धक है। इसकी नई तथा कोमल पत्तियाँ जानवरों के चारे के रूप में काम आती हैं। आवश्यकता पड़ने पर घास के मैदानों में आग लगा दी जाती है जिससे गर्मियों में चारे के लिए नई मुलायम घास प्राप्त हो सके [Hole, *Indian For. Mem., For. Bot. Ser.*, 1911, 1(1), 80]।

इसके नाल मूँज (संकरम वेगालेंस रेस्त्रियस) की अपेक्षा अधिक मजबूत होते हैं। इनका उपयोग छप्परों, खुरदुरी चटाइयों तथा पर्दों के बनाने के लिए किया जाता है (Haines, V, 1013; Burkill, II, 1924). *Saccharum narenga* Wall.; *Shorea robusta* Gaertn. f.; *Saccharum bengalense* Retz.

नारेगामिया वाइट और आर्नेट (मेलिएसी) NAREGAMIA
Wight & Arn.

ले. — नारेगामिया

यह एकल प्रत्थी वंश है जिसका प्रतिनिधि ना. ऐलाटा है जो भारत का मूलवासी है।

Meliaceae

ना. ऐलाटा वाइट और आर्नेट N. alata Wight & Arn.

गोआनीज इपेकाकुआन्हा

ले. — ना. अलाटा

D.E.P., V, 342; Fl. Br. Ind., I, 542; Kirt. & Basu, Pl. 217.

म. — तिनपानी, पित्तबेल, पित्तपापरा; ते. — पगपप्पु; क. — नैलनारंगु; मल. — नैलनारंगम.

यह पश्चिमी घाट में कोंकण से दक्षिण की ओर 900 मी. की ऊँचाई तक पायी जाने वाली एक छोटी, शाखित अर्धोष्णशीतोष्ण है। इसकी पत्तियाँ त्रिपर्णक; पर्णक छोटे फानाकार, अण्डाकार; पुष्प इवेत, एकाकी, अथवा दो एक साथ कक्षीय; और सम्पुटिकाएं अंडाभ, गोलाकार होती हैं।

इसकी विसर्पी जड़ों में इपेकाकुआन्हा (सेफेलिस इपेकाकुआन्हा) जैसे गुण पाये जाते हैं। इनमें तीव्र ऐरोमैटिक गन्ध होती है। ये बामक, पित्तनाशक तथा कफोत्सारक मानी जाती हैं। ये पुरानी स्वस्थनी शोथ की चिकित्सा के लिए भी उपयोगी हैं। इसकी जड़ की छाल में नारेगामीन, ऐल्कलायड, वसा तेल, मोम, शर्करा तथा रेसिन पाये जाते हैं (Chopra, 1958, 230, 679; Kirt. & Basu, I, 536; Wehmer, II, 661).

दक्षिणी भारत में इस पौधे का उपयोग गठिया तथा खुजली दूर करने के लिए किया जाता है। कोंकण में इसकी पत्तियों तथा तने से तिक्त तथा ऐरोमैटिक पदार्थों के साथ बनाये गये काढ़े पित्तदोष निवारण के लिए प्रयुक्त किये जाते हैं। इस पौधे का उपयोग, उस यौगिक चूर्ण के अवयव के रूप में किया जाता है जिसका मलेरिया, पुराने ज्वर,

तथा बड़ी हुई तिल्ली की चिकित्सा में उपयोग किया जाता है (Kirt. & Basu, I, 536; Chopra, 1958, 679; Koman, 1918, 18).

Cephaelis ipecacuanha

नार्डोस्टैकिस द कन्दोल (वैलेरिएनेसी)
NARDOSTACHYS DC.

ले. — नार्डोस्टैकिस

यह भारत में पायी जाने वाली दो जातियों वाली वृष्टियों का लघु वंश है।

Valerianaceae

ना. जटामांसी द कन्दोल N. jatamansi DC.

स्पिकेनाई, भारतीय नाई

D.E.P., V, 338; VI (1), 138; C.P., 792; Fl. Br. Ind., III, 211.

सं. — जटामांसी; हि. — जटामांसी, बाल-चीर; बं. — जटामांसी; म. — जटामावशी; गु. — जटामासी, कालीछड़; ते. — जटामागी; क. तथा मल. — जटामामगी; त. — जटामागी.

कश्मीर — भुटीजट्ट, कुकिलीपोट; गढ़वाल — मांसी; नेपाल — हसवा, नसवा, जटामांसी; भूटान — पाम्पे, जटामांसी.

यह सीधी, 10-60 सेंमी. ऊँची बहुवर्षी वृष्टी है जिसके मूलकांड लम्बे, मजबूत तथा काष्ठीय होते हैं। यह पंजाब से सिक्किम तक तथा भूटान में आल्पीय हिमालय में 3,000-5,000 मी. की ऊँचाई तक



चित्र 135 — नार्डोस्टैकिस जटामांसी — मूल कांड सहित

पायी जाती है। इसकी मूलज पत्तियाँ लम्बी, स्पैचुलाकार, स्तम्भीय पत्तियाँ अवृन्त, कुछ दीर्घायत अथवा अण्डाकार; पुष्प गुलाबी, हल्के गुलाबी अथवा नीले तथा सघन, ससीमाक्षों में होते हैं।

पौधे को भूमिगत भागों की कलमों द्वारा अथवा कभी-कभी बीजों द्वारा प्रवर्धित किया जाता है। भारत में इसके प्रकन्दों का उपयोग औषधि तथा इत्रसाजी के लिए किया जाता है, जिसके कारण यह महत्वपूर्ण है। औषधि में ('जटामांसी' अथवा नाड की जड़) छोटे, घने गहरे रंग के प्रकन्द होते हैं, जिसके ऊपरी भाग में मूलज पत्तियों के लाल-भूरे ताँत्विक पर्णवृन्तों के गुच्छे लगे रहते हैं। जंगली पौधों से एकत्रित प्रकन्दों को मैदानी बाजारों में भेज दिया जाता है। पंजाब के बाजार में लगभग 18,650 किग्रा. औषधि का वार्षिक विक्रय किया जाता है। कभी-कभी वलेरियन तथा सिम्बोपोगान स्कोनान्थस की जड़ों को 'जटामांसी' समझ लिया जाता है। हाल ही में सेलिनम बैजोनेटम सी. बी. क्लार्क की जड़ों तथा प्रकन्दों का उपयोग 'जटामांसी' में पिलावट के लिए किया जाने लगा है (Luthra & Suri, *Spec. Bull. Dep. Agric. Punjab*, 1936, 12; I.P.C., 157; Datta & Mukerji, *Bull. Pharmacogn. Lab.*, No. I, 1950, 72; Mehra & Jolly, *Indian J. Pharm.*, 1962, 24, 47)।

जटामांसी में रुचिकर गंध तथा कटु ऐरोमैटिक स्वाद होता है। इसका उपयोग वलेरियन (वालेरियाना ऑफिसिनेलिस लिनियस) के स्थान पर किया जाता है। इससे 1.9% तक हल्के पीले रंग का सुगन्धित इत्र (स्पिकेनार्ड तेल) प्राप्त होता है, जो पचोली तथा वलेरियन जैसा होता है। वायु के प्रभाव से तेल का रेजिनीकरण हो जाता है। भारतीय प्रकन्दों से प्राप्त तेल के गुण इस प्रकार हैं: आ. घ. 34° , 0.9608; n_D^{25} , 1.4990; (α) 34° , +31°; साबु. मान, 23.2; ऐसीटिलीकरण के पश्चात् साबु. मान, 50.9. भारतीय तेल दक्षिणावर्ती होता है, परन्तु जापान से प्राप्त तेल वामावर्ती होता है। स्पिकेनार्ड तेल से एक ऐल्कोहल ($C_{15}H_{22}O$) तथा इसका आइसोवैलेरिक एस्टर तथा प्रकन्दों से एक मन्तृपट्ट द्विचकीय सेक्वीटर्पीन कीटोन, जटामांसोन ($C_{15}H_{26}O$; ब्र. वि., 108/1 मिमी.; पृथक् किये गये हैं। औषधि के कुछ नमूनों से एक अम्ल, जटामान्दिक अम्ल ($C_{15}H_{22}O_2$; ग. वि., 123°) पृथक् किया गया है (Finnemore, 825; Poucher, I, 375; Chaudhry et al., *J. sci. industr. Res.*, 1958, 17B, 159, 473; 1951, 10B, 48; Govindachari et al., *Chem. Ber.*, 1958, 91, 908)।

स्पिकेनार्ड तेल में प्रतिअतालता सक्रियता पायी जाती है, सम्भवतः इसी के कारण यह कर्ण स्फुरण की चिकित्सा के लिए उपयोगी है। यह विविनिडीन से कम प्रभावशाली है, किन्तु कम विपाक होने के कारण यह अधिक लाभदायक है। जटामांसोन तेल की अपेक्षा अधिक प्रभावशाली होता है। यह हृदय पेग्मी रोगगलन से उत्पन्न निलयी हृत्प्रवेग में विविनिडीन से अधिक प्रभावशाली है। प्रयोग में उत्पन्न प्रतिअतालता में यह विविनिडीन के समान ही प्रभावकारी है। परन्तु ऐसीटिलकोलीन से उत्पन्न किये गये निलयी विकम्पन में यह अधिक प्रभावशाली नहीं है। जटामांसोन में विपहारो गुण भी पाये जाते हैं। तेल के प्रभाव से रक्तचाप कम हो जाता है, अल्प मात्रा में इससे केन्द्रीय स्नायु तन्त्र पर शामक प्रभाव पड़ता है, अधिक मात्रा से गहरी अचेतनता आती है, तथा कुछ ही घण्टों में मृत्यु हो जाती है। जड़ों के निष्कर्ष में उपशामक गुण पाये जाते हैं (Arora & Madan, *Indian J. med. Res.*, 1956, 44, 259; Arora et al., *ibid.*, 1958, 46, 782; Chopra et al., *ibid.*, 1954, 42, 386; *Biol. Abstr.*, 1958, 32, 2558; Hamied et al., *J. sci. industr. Res.*, 1962, 21C, 100)।

प्रकन्दों को पीष्टिक, उद्दीपक, प्रति उद्देष्टकर, मूत्र-वर्धक, विघ्नहर,

आतंजनक, मृदुरेचक तथा पाचक माना जाता है। प्रकन्दों का निपेचन मिरगी, हिस्टीरिया, कोरिया (लास्य), हृदय के अतिस्पन्दन में उपयोगी माना जाता है। इसका विलयन आंत्र के दर्द तथा वाई (उदर-वायु) के निवारण के लिए प्रयुक्त होता है। औषधीय तेलों में प्रकन्दों का उपयोग ऐरोमैटिक अनुवद्ध के रूप में किया जाता है। इससे बाल बढ़ते हैं और उनका रंग काला पड़ जाता है (Kirt. & Basu, II, 1308; I.P.C., 158; Gujral, *J. Indian med. Ass.*, 1955, 25, 49; Chopra, 1958, 679)।

Cymbopogon schoenanthus; *Selinum vaginatum* C.B. Clarke; *Valeriana officinalis* Linn.

नार्सिसस लिनियस (अमैरिलिडेसी) NARCISSUS Linn.

ले. — नार्सिसस

यह मध्य यूरोप तथा भूमध्य सागरीय क्षेत्र का मूलवासी कन्दीय पौधा है जो पूर्व की ओर चीन तथा जापान तक पाया जाता है। साधारण-तया इन्हें 'डैफोडिल' और 'नार्सिस' के नाम से पुकारा जाता है। इन्हें इनके शानदार फूलों के लिए उगाया जाता है। इसकी अनेक जातियाँ तथा किस्मों के भारतीय उद्यानों में उगाये जाने की सूचना है। कुछ जातियाँ पलायन के कारण जंगली पाई जाती हैं।

नार्सिस की खुले बगीचों, गमलों, बस्तों इत्यादि में उगाया जा सकता है। इनके लिए अच्छे जल-निकास वाली हल्की मिट्टी की आवश्यकता होती है जिसमें वानस्पतिक फफूँदी, गोशाला की खाद, दुमट तथा रेत रहता है। ये मैदानों की अपेक्षा पहाड़ों में भली प्रकार से विकसित होते हैं। इन्हें सामान्यतया कन्दों से प्रवर्धित किया जाता है, यद्यपि इन्हें बीजों से भी उपजाया जा सकता है। मैदानों में प्रकन्द सितम्बर-अक्तूबर से लेकर नवम्बर-दिसम्बर तक और पहाड़ी प्रदेशों में फरवरी में 15-22 सेंमी. की दूरी पर लगाये जाते हैं। गमलों में 1 से 3 कन्द, 7-8 सेंमी. की गहराई पर लगाये जाते हैं। लगाने के तीन माह बाद पौधे में फूल आने लगते हैं तथा इन्हें 3 वर्ष या इससे भी अधिक समय तक बिना किसी देखरेख के छोड़ा जा सकता है [Chittenden, III, 1350-51; Bailey, 1947, II, 2107; Firminger, 336; Khan, *Punjab Fr. J.*, 1960, 23 (80), 22]।

Amaryllidaceae

ना. जानक्विला लिनियस N. jonquilla Linn. जोनक्विल

ले. — ना. जोनकुइल्ला

Bailey, 1947, II, 2112, Fig. 2448.

यह दक्षिणी यूरोप तथा अल्जीरिया में पाई जाने वाली पतली, बहुवर्षी कन्दिल वृद्धि है जो 45 सेंमी. तक ऊँची होती है। भारतीय उद्यानों में यह शोभा के लिए उगाई जाती है। पत्तियाँ गहरे हरे रंग की, चमकीली, सँकरी, तथा जल वेंट (रेशे) के समान होती हैं, इसमें 2-6 फूल होते हैं जो पीले, छोटे प्यालाकार, कुंठदन्ती परिमण्डल वाले तथा सुगन्धित होते हैं।

ना. जानक्विला इत्रसाजी में उपयोग किये जाने वाले एक सगंध तेल का स्रोत है। इसे दक्षिणी फ्रान्स के ग्रासे क्षेत्र में उपजाया जाता है। इसके पुष्पों को पेट्रोलियम ईंधन से निष्कर्षित करने अथवा 50-70° पर गर्म बसा के साथ फूलों के मसलने पर इत्र प्राप्त होता है। पेट्रोलियम ईंधन निष्कर्ष से 0.25-0.51% (सामान्यतः 0.35-0.45%) मोमी ठोस प्राप्त होता है, जिससे 40-45% गहरे भूरे रंग का गाढ़ा ऐन्थोल्फ्यूट प्राप्त होता है जिससे 3-7% वाष्पशील तेल निकलता है। गर्म बसा के साथ मसलने पर पुष्पों से गहरे भूरे रंग का

अंगराग तथा 1.55-1.80% तक सान्द्र प्राप्त होता है। हल्के रंग का अंगराग बसा करके प्राप्त किया जाता है। वाष्पशील तेल में मेथिल तथा बेन्जिल बेंजोएट, सिनेमिक अम्ल के एस्टर (मेथिल सिनेमेट सहित), लिनालूल, मेथिल ऐन्थ्रानिलेट तथा इण्डोल पाये जाते हैं। परिशुद्ध सान्द्र में जैसमोन भी पाया गया है। उच्चस्तरीय जोनक्विल ऐन्सोल्यूट का उपयोग उच्च श्रेणी के फ्रांसीसी इत्रों की भाँति किया जाता है। यह वनस्पतीय तथा अप्राकृतिक दोनों प्रकार के इत्रों को गहरा गंधाभास प्रदान करता है (Guenther, V, 351-52; Naves & Mazuyer, 201-02).

ना. टाज़ेटा लिनिअस *N. tazetta* Linn. पालीऐन्थस नार्सीसस

ले. - ना. टाज़ेटा

D.E.P., V, 317; Bailey, 1949, 259; 1947, II, 2111, Fig. 2447.

पंजाब - नरगिस, इरिसा.

यह जापान से कैनरी द्वीपों तक पायी जाने वाली परिवर्तनशील वृद्धि है, जिसे भारतीय उद्यानों में सज्जा के लिए उगाया जाता है। इसकी पत्तियाँ लम्बी तथा चपटी; पुष्प 30-50 सेंमी. ऊँची टहनियों में, दो-चार से लेकर बहुत से पुष्पगुच्छों में, श्वेत, प्याले की आकृति वाले, सुगंधित तथा हल्के पीले परिमण्डल वाले होते हैं।

ना. टाज़ेटा को इसके सुगन्धित फूलों के कारण दक्षिण फ्रान्स के प्रांसे क्षेत्र में उपजाया जाता है। पुष्पों के पेट्रोलियम ईथर निष्कर्ष से 0.21-0.45% (सामान्यतः 0.25-0.28%) ठोस प्राप्त होता है, जिससे 27-32% हरा-भूरा, गाढ़ा परिशुद्ध सान्द्र प्राप्त होता है, जिसमें से 2.2-3.5% तक वाष्पशील तेल निकाला जा सकता है। वाष्पशील तेल की गंध अत्यन्त तीखी होने से सिरदर्द हो जाता है। इसमें यजिनाल, बेन्जिल ऐल्कोहल, सिनेमिल ऐल्कोहल, बेन्जिलिडहाइड, तथा मुक्त और एस्टरीकृत बेंजोइक अम्ल उपस्थित रहते हैं। उच्च कोटि के फ्रांसीसी इत्रों में ऐन्सोल्यूट सान्द्र एक बहुमूल्य अवयव है। यह उत्कृष्ट, तीव्र, गहरा गंधाभास प्रदान कर सकता है, जिन्हें पहचान सकना कठिन है। नार्सीसस इत्र को चमेली के साथ भली-भाँति मिलाया जा सकता है (Guenther, V, 348-50; Poucher, II, 177).

इसके प्रकन्दों से टैजेटोन ($C_{18}H_{21}O_5N$; ग. बि., 212-13°), लाइकोरीन ($C_{16}H_{17}O_4N$; ग. बि., 276-80°), तथा स्पूसेनीन ($C_{17}H_{19}O_5N$; ग. बि., 229°) नामक तीन ऐल्कलायड पृथक् किये गये हैं जिनमें फिनेन्थिडीन केन्द्रक पाया जाता है। टैजेटोन प्रमुख ऐल्कलायड है। यह सेकिसानीन (लाइकोरिस रेडिएटा से प्राप्त) के समान होता है जो औषध के रूप में अक्रिय है (Manske & Holmes, II, 333; Henry, 406-12).

इस पौधे के प्रकन्द बम्बई से आयात किये जाते हैं जहाँ इन्हें सुखाकर काटा जाता है तथा इनको तित्त हर्मोडैन्टिलों के स्थान पर बेचा जाता है इनमें वमनकारी, रेचक, मूत्रवर्धक तथा शोषक गुण होते हैं। ये विपैले भी होते हैं (Chem. Abstr., 1943, 37, 1773).

Lycoris radiata

निकल अयस्क NICKEL ORES

निकल एक कठोर, आघातवर्ध, तन्व तथा विशेषरूप से संक्षारण-प्रतिरोधी धातु है। अनुमान है कि भू-पर्पटी में निकल की मात्रा लगभग

0.016% है। यद्यपि प्रकृति में निकल अत्यन्त विस्तीर्ण है परन्तु जिन आग्नेय शैलों में यह पाया जाता है, वे अपक्षय द्वारा शीघ्रता से सान्द्रित नहीं हो पाते, अतः इसके खनन योग्य निक्षेप संसार के इनेगिने स्थानों तक ही सीमित हैं और इनमें भी उसका लाभकारी उत्खनन का कार्य अन्य मूल्यवान धातुओं की उपलब्धि पर निर्भर करता है। उत्खनित अयस्क में निकल की मात्रा विरले ही 5% से अधिक होती है। मुख्यतया निकल के लिए उत्खनित किये जाने अयस्कों के अतिरिक्त ताँबे के विद्युत अपघटनी शोधन के समय कुछ निकल धातु प्राप्त होती है (Thompson, Circ. U.S. nat. Bur. stand., No. 592, 1958).

मुख्य निकलधारी खनिज हैं : निकलीफेरस पाइरोटाइट, पेंटलैण्डाइट, गानिएराइट, और निकोलाइट. अन्य कम महत्वपूर्ण निकल खनिजों में मिलेराइट (NiS), त्रीथोप्टाइट (NiSb), क्लोऐन्थाइट ($NiAs_{2-2.5}$), मौचेराइट ($Ni_{11}As_8$), जर्सडोरफाइट (NiAsS), ऐंटीगोराइट (निकलयुक्त हाइड्रस मैग्नीशियम सिलिकेट), वर्मीकुलाइट (Fe, Mg और/या Al के हाइड्रस सिलिकेट), पालीडाइमाइट (Ni_3S_4) और वायोलैराइट [$(Ni, Fe)_3S_4$] के नाम लिए जा सकते हैं। कुछ महत्वपूर्ण खनिजों का वर्णन निम्नलिखित हैं :

निकलीफेरस पाइरोटाइट ($FeNi_{S_{n+1}}$) निकल की अल्प मात्रा सहित) निकल का एक मूल्यवान अयस्क है जो रंग में कांस्यपीत से ताँबे-लाल होता है और शीघ्र मलिन हो जाता है। यह चुम्बकीय होता है और इसमें गंधक की विभिन्न मात्राएँ विलयित रहती हैं। निकल अंश कदाचित् पेंटलैण्डाइट के परिवर्द्ध कणों के कारण होता है। कभी-कभी यह बृहत् मात्रा में बेसिक आग्नेय शैलों, जैसे गैब्रो और नोराइट, हार्न-ब्लेण्ड और ओगाइट से संयुक्त पाया जाता है जिनसे यह किसी चुम्बकीय विधि से पृथक्कृत कर लिया जाता है।

पेंटलैण्डाइट [(Fe, Ni)S और अंशतः $2FeS.NiS$: निकल, 22%; गंधक, 36%; और लोह, 42%; आ. घ., 4.6-5.0; कठोरता, 3.5-4] भंगुर, अपारदर्शी और अ-चुम्बकीय खनिज है। जिसकी द्युति धात्विक और रंग हल्का कांस्यपीत होता है। सामान्यतः यह पाइरोटाइट में अन्तर्ग्रथित मिलता है तथा मिलेराइट, निकोलाइट, जर्सडोरफाइट, पाइराइट, मार्कसाइट और चाकोपाइराइट के साथ भी प्राप्त होता है।

गानिएराइट [$H_2(Ni, Mg)SiO_4.nH_2O$; आ. घ., 2.3-2.8; कठोरता, 2-3] एक जलयोजित मैग्नीशियम और निकल का सिलिकेट है जिसमें निकल और मैग्नीशियम की मात्राएँ विशेष रूप से बदलती रहती हैं। यह नर्म तथा चूर्णशील है। इसका रंग सेव की तरह गहरा हरा होता है और द्युति मन्द होती है।

निकोलाइट (NiAs : आर्सेनिक, 56.1%; और निकल, 43.9%; आ. घ., 7.33-7.67; कठोरता, 5-5.5) एक पीत, ताम्र-लाल रंग का भंगुर खनिज है जिसकी द्युति धात्विक होती है। यह अपारदर्शी है और प्रायः इसमें लोह, कोबाल्ट और गंधक की अल्प मात्राएँ मिली रहती हैं। आर्सेनिक का एक अंश कभी-कभी ऐण्डिमनी से प्रस्थापित हो जाता है और तब अयस्क क्रमशः त्रीथोप्टाइट में परिवर्तित हो जाता है। खनिज सामान्यतः स्मालटाइट, क्लोऐन्थाइट, ऐनावर्जाइट, प्राकृत चांदी, रजत आर्सेनिक खनिजों, पाइराइट, चाल्कोपाइराइट तथा अन्य सल्फाइडों, क्वार्ट्ज एवं बेराइट के साथ-साथ पाया जाता है।

निकल अयस्कों को तीन प्रमुख वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। इनके नाम हैं : सल्फाइड, सिलिकेट (ऑक्साइड) और आर्सेनाइड अयस्क. सल्फाइड निकल अयस्क गैब्रो या पेरीडोटाइट प्ररूपी बेसिक अन्तर्वेधी शैलों के साथ मिलता है। ओण्टैरियो (कनाडा) के सडबरी क्षेत्र के सुप्रसिद्ध निकल निक्षेप इसी समुदाय के हैं और यह अयस्क

सारणी 1 — विश्व के प्रमुख देशों में निकल का उत्पादन* (1961-65)

	(टनों में)				
	1961	1962	1963	1964	1965
कनाडा	2,11,365	2,10,685	1,99,526	2,11,512	2,43,884
फिनलैंड	2,031	2,463	2,930	2,900	2,950
दक्षिणी अफ्रीका (अ)	2,631	2,450	2,450	2,450	3,000
न्यू कैलेडोनिया	44,089	26,104	37,380	52,800	52,100
संयुक्त राज्य अमेरिका	9,571	9,588	9,730	10,193	11,490
सोवियत संघ (अ)	70,000	82,000	82,000	82,000	85,000
विश्व का उत्पादन (अ)	3,61,000	3,57,000	3,58,000	3,87,000	4,27,000

* *Indian Miner. Yearb.* 1965, 605; (अ)—अनुमानित

पेंटलैण्डाइट है। सिलिकेट अयस्क (आक्सिडाइड) उष्णकटिबंधीय जल-वायु में निकलधारी बेसिक शैलों के विघटन से बनते हैं जो लैटेराइटो अपक्षय उत्पन्न करते हैं। वे हाइड्रस मैग्नीशियम सिलिकेट, लिमोनाइट, जियोथाइट, हीमेटाइट और सिलिका के विभिन्न अनुपातों में भलीभाँति मिले होने के कारण बनते हैं और सामान्यतः लोहे की न्यूनाधिक मात्रा के अनुसार इन्हें सिलिकेट अयस्क अथवा लियोनाइट अयस्क की संज्ञा दी जाती है। इनके सबसे विशाल निक्षेप न्यू-कैलेडोनिया में हैं, जहाँ मुख्य-निकलधारी खनिज गार्निराइट है। आर्सेनाइड अयस्क प्रायः ताँबे तथा रजत अयस्कों के साहचर्य में अल्प मात्राओं में सामान्यतया शिराओं के रूप में पाये जाते हैं। इनका कोई व्यापारिक महत्व नहीं है। निकोलाइट तथा ब्लोएन्थाइट प्रमुख निकलधारी आर्सेनाइड हैं।

विश्व के वाषििक निकल-उत्पादन का 90% कनाडा, रूस और न्यू-कैलेडोनिया के निकल निक्षेपों से प्राप्त होता है और इनमें भी कनाडा का योगदान लगभग 60% है। निकल अयस्क क्यूबा, संयुक्त राज्य अमेरिका, दक्षिणी अफ्रीका, पोलैण्ड, फिनलैण्ड तथा कई अन्य देशों में भी अल्पमात्रा में खोदा जाता है। भारत में इसके कार्यकारी निक्षेप अभी तक नहीं मिले हैं। सारणी 1 में विश्व के निकल अयस्क के गत कुछ वर्षों के उत्पादन का संक्षेपण किया गया है।

कनाडा के सडबरी जिले के अयस्क अनेक वर्षों से निकल उद्योग में अग्रणी रहे हैं। सामान्य अयस्क में लगभग 1.5% निकल और 1% ताँबा रहता है। यह सिद्ध हो गया है कि भंडार 1,200 मी. की गहराई तक है और अयस्क की मात्रा लगभग 4,400 लाख टन आँकी गयी है।

वितरण

भारत में अनेक प्रदेशों से निकल खनिजों की सूचना प्राप्त हुई है, किन्तु उनमें कोई भी निक्षेप औद्योगिक महत्व का नहीं है। बिहार में सिधभूम पट्टी के ताम्र अयस्क के सहचर्य में यह धातु पाई जाती है। कुछ अधिक आशाजनक स्थल जम्मू और कश्मीर तथा मणिपुर में हैं।

उडोसा — जैराटाइट जो निकल का एक बेसिक कार्बोनेट $[\text{NiCO}_3 \cdot 2\text{Ni}(\text{OH})_2 \cdot 4\text{H}_2\text{O}]$ है, कियॉंज़ार में नुग्रासाही के क्रोमाइट निक्षेपों में विद्यमान है। क्रोमाइट में निकल 0.3% है (Coggin Brown & Dey, 224)।

जम्मू और कश्मीर — सूचनाओं के अनुसार निकलधारी खनिज रामनू, बनियार, खलेनी, पदार के नीलम-खान क्षेत्र, रियासी और

द्रास कागिल में पाये जाते हैं। रामनू ($30^\circ 20' 15''$: $75^\circ 12'$) में 6.4 किमी. लम्बे और 400 मी. चौड़े क्षेत्र में निकलीफेरस पाइरोटाइट पाया जाता है। यह अयस्क प्रकीर्णनों और लघु शिराओं अथवा शिरिकाओं के रूप में पाया जाता है, जो कुछ सेंमी. से लेकर एक मीटर से अधिक तक लम्बी होती हैं। इनमें निकल 1.628% तक रहता है। अयस्क में पेंटलैण्डाइट पाये जाने की भी सूचना है।

पादर (किश्तवार) क्षेत्र की नीलम-खान के निकट निकलीफेरस पाइरोटाइट की उपलब्धियों में 0.305% तक निकल पाया जाता है। यह प्रकीर्णनों में, तथा कुछ सेंमी. लम्बी लघु शिराओं के रूप में मिलता है तथा कहीं पतली परतों के रूप में भी पाया जाता है।

रियासी क्षेत्र में गियान्ता के ताम्र-स्तर में निकल की अत्यल्प मात्राएँ मिली हैं, वे जंगलगली तक पाई जाती हैं। इनमें निकल की मात्रा कभी-कभी 0.103% तक प्राप्त हुई है। यहाँ पर अयस्क निकलीफेरस पाइरोटाइट में तथा सिलिकेट रूप में भी पाया जाता है। द्रास कागिल क्षेत्र के सर्वेण्टीन निक्षेपों में निकलधारी सल्फाइड अयस्क पाया गया है (Middlemiss, *Miner. Surv. Rep., Jammu & Kashmir*, 1929, 50-54; Badyal, *East. Met. Rev.*, 1955, 8, 625)।

तमिलनाडु — कन्याकुमारी जिले में तोवला तालुक के मिश्रित सल्फाइड अयस्क में निकल पाया जाता है। इस अयस्क में पाइरोटाइट, पाइराइट, चाकोपाइराइट और मोलिब्डेनाइट पाये जाते हैं। अयस्क के एक सतही नमून में निकल की मात्रा 0.64% ज्ञात की गई (Jhingran, *Rec. geol. Surv. India*, 1954, 80, 560)।

नेफा — निकलीफेरस पाइरोटाइट की उपलब्धि सुवान्सिरी सीमान्त क्षेत्र से सूचित की गई है (Chakravarty, *Indian Miner.*, 1959, 13, 196)।

बिहार — सिहभूम जिले के ताम्र-अयस्कों में निकल एक महत्वपूर्ण रचक है। सूचना है कि पाइरोटाइट, जो चाल्कोपाइराइट की अपेक्षा इन क्षेत्रों में अधिक मात्रा में मिलता है, पेंटलैण्डाइट और वायोलेराइट से संयुक्त रहता है। इसमें मिलेराइट भी पहचाना गया है। सिधभूम ताम्र-अयस्कों में निकल की मात्रा बदलती रहती है। इसमें निकल की औसत मात्रा 0.08% (और ताँबे की 2%) मानी जा सकती है। अयस्क के शोधन और प्रगलन के समय निकल, ताँबे के साथ सांद्रित पाया जाता है और एक उपोत्पाद के रूप में प्राप्त किया जा सकता है (Chakravarty, loc. cit.; Coggin Brown & Dey, 220)।

सुवर्ण रेखा द्रोणी के शैलों में एक मिश्रित अयस्क मिला है, जिसमें यूरेनियम और दुर्लभ तत्वों के अतिरिक्त ताँबा, फॉस्फोरस, गंधक, टाइटेनियम और स्वर्ण के साथ निकल भी प्रतिलव्व मात्राओं में पाया जाता है [Khedkar, *Indian Min. J.*, 1953, 1 (10 & 11), 1].

मणिपुर — अत्यल्प सिलिका और अल्प सिलिका परिवर्तित शैलों का एक सूट (संजात) जो ताम्र-निकल खनिज के उद्देश्य से महत्वपूर्ण है, मणिपुर में पाया जाता है. भारत-ब्रह्मा सीमा के पास, मणिपुर के दक्षिण-पूर्व कोने पर कागल थाना के निकट 72 किमी. से अधिक लम्बाई तक ये शैल पाये गये हैं जो सामान्यतः उ. 15° पू.—द. 15° प. से उ.—द. दिशा में चासाद के पश्चिम स्थान तक लगातार चले गये हैं जहाँ से ये उ. उ. प.—द. पू. दिशा में मुड़ जाते हैं. भारतीय भू-विज्ञान सर्वेक्षण संस्था द्वारा किये गये प्रारंभिक अन्वेषण के फलस्वरूप यह ज्ञात हुआ कि निकलीफेरस ताम्र सल्फाइड और गौण खनिज क्लोराइट सपेण्टीन शैलों में विकसित हुये हैं, ये खनिज कोशिकाओं और लेन्तों के अतिरिक्त इन शैलों के संयुक्त समतलों और शिराओं में भी पाये जाते हैं. निन्दी तथा कोंगल थाना के निकट प्राचीन ताम्र खदानों के अतिरिक्त दो ऐसी ही उपलब्धियाँ नांगऊ (24°59' : 94°24') के पास हैं. नांगऊ के नमूनों के विश्लेषणों से ज्ञात हुआ कि इनमें ताम्र 1.23 से 3.81% तक और निकल 0.2% पाया जाता है. इस क्षेत्र के एक नमूने में 2% से अधिक निकल पाया गया. कोंगल थाना के एक अयस्क नमूने में 1.13% निकल प्राप्त हुआ (Chakravarty, loc. cit.).

क्वाथ (24°20' : 94°17') तथा नम्पेशा-हमीन (24°43' : 94°34') क्षेत्रों के भू-वैज्ञानिक मानचित्रण द्वारा ज्ञात हुआ कि इस मिट्टी में धात्विक निकल काफी मात्रा में (लगभग 400 भाग प्रति लाख या उससे अधिक) विखरा हुआ है. रासायनिक आमापन पर आधारित मात्रात्मक निश्चयन से ज्ञात हुआ है कि मिट्टी में निकल की मात्रा 0.6% तक है. अतः इस सान्द्रता के आधार पर इसका अन्वेषण होना चाहिए (Dutt, *Indian Miner.*, 1960, 14, 246).

मध्य प्रदेश — इस प्रदेश के कुछ मैंगनीज अयस्कों में कोवाल्ड के साथ निकल की सूक्ष्म मात्राएँ मिलती हैं. होशंगाबाद जिले में सोनतुलई (22°21' : 76°56') से प्राप्त साइलोलिमिलेन के नमूने के विश्लेषण से 1.23% NiO और 0.55% CoO प्राप्त हुआ, जबकि धार वन में पोला खाल (22°28' : 76°20') से उपलब्ध साइलोलिमिलेन से संयोजित कौंग्लोमिरेट के नमूने में 0.56% NiO और 0.27% CoO प्राप्त हुए. जोवट क्षेत्र के अपक्षरित सपेण्टीन शैलों से ऐण्टीगोराइट पाये जाने की सूचना है (Fermore, *Mem. geol. Surv. India*, 1909, 37, 114, 525; Chakravarty, loc. cit.).

मैसूर — कोलार की स्वर्ण धारी स्फटिक शिराओं से संबद्ध सल्फाइड अयस्क में निकल अल्प मात्रा में पाया जाता है. कारवार जिले के पाइराइट-निक्षेपों में लगभग 5% निकल और 1% ताम्र की उपस्थिति सूचित की गयी है [Coggin Brown & Dey, 222; *Indian Miner. Ind.*, 1951-52, 1 (7), 5].

राजस्थान — खेतड़ी (जयपुर जिले) के ताम्र अयस्कों में निकली-फेरस पाइरोटाइट प्राप्त हुआ है. अलवर जिले में भानुगढ़ (27°5'30' : 76°21') के लोह अयस्क में, सूक्ष्म मात्रा में निकल की उपस्थिति सूचित की गई है. पाली जिले में किन्हीं शैलों में निकल की विद्यमानता बतलाई गई है (Dutta, *Rec. geol. Surv. India*, 1956, 80, 560; Roy, *ibid.*, 1959, 86, 325; *East. Met. Rev.*, 1956, 9, 233).

नेपाल में कोवाल्डाइट, जस्त की सूक्ष्म मात्राओं, तथा कुछ विस्मय यौगिकों के सहचर्य में निकल अयस्कों की उपलब्धि प्रतिवेदित की गई है.

नांगरे (27°36' : 85°52') के पास भोरले में एक शिरा 750 मी. दूर तक चली गई है और इसका 30 मी. की गहराई तक खनन किया गया है. अयस्क पिंड के सबसे समृद्ध भाग के विश्लेषण करने पर उसमें निकल की मात्रा 8.2 प्रतिशत ज्ञात हुई. 2 नं. के जिले में मसेदिग (27°44' : 86°17') तथा कापदी (27°44' : 86°15') से भी विस्तीर्ण खनिजन रिपोर्ट किया गया है (*Rec. geol. Surv. India*, 1953, 79, 213).

खनन और उपचार

निकल अयस्कों का उत्खनन बृहत् खुले गर्त और अन्तर्भीम विधियों द्वारा किया जाता है. धातु का निष्कर्षण सल्फाइड तथा सिलिकेट अयस्कों से व्यापारिक मात्रा में किया जाता है. सल्फाइड अयस्क को पहले पीसा जाता है, फिर प्लवन विधि द्वारा तथा इस संदलित पदार्थ से सल्फाइड सांद्र, जिसमें निकल, ताम्र और लोह की बहुलता होती है तैराकर शैल से पृथक् कर लिया जाता है. बाद में विभेदक प्लवन क्षमता के आधार पर निकल तथा ताम्र सान्द्र प्राप्त किये जाते हैं. भर्जन क्रिया के बाद सम्पूर्ण शैल अंश तथा लोह का एक अंश निकालने के लिए तथा निकल, ताम्र और लोह सल्फाइड का एक मैट बनाने के लिए, निकल सान्द्र एक गालक के साथ गलाया जाता है, फिर और अधिक लोह तथा गंधक निकालने के लिए उसका बेसेमरीकरण किया जाता है. बेसेमर मैट से निकल, ताम्र तथा बहुमूल्य धातुओं का अंतिम पृथक्करण, नियन्त्रित शीतलन, महीन पेपण, चुम्बकीय पृथक्करण तथा विभेदक प्लवन द्वारा किया जाता है. परिणामी निकल सल्फाइड को ऑक्साइड में सिण्टरित किया जाता है और सीधे ही बाजार में भेज दिया जाता है अथवा धातु में अपचित करके परिष्कृत कर लिया जाता है.

निकल धातु विद्युत अपघटन अथवा मांड प्रक्रम द्वारा परिष्कृत की जाती है. यह परिष्करण निकल सल्फेट-क्लोराइड विद्युत-अपघट्य में किया जाता है जिसमें निष्कलंक इस्पात की प्लेट कैथोड का कार्य करती है. धातु कैथोड के दोनों ओर जमा हो जाती है और समय-समय पर इसकी परतें अलग कर ली जाती हैं. इस प्रकार से प्राप्त निकल 99.95% शुद्ध होती है और उसमें कुछ कोवाल्ड भी रहता है. हाल में निकल मैट के विद्युत अपघटन से सीधे धातु की पुनः प्राप्ति के लिए एक प्रक्रम विकसित किया गया है. माण्ड प्रक्रम में अपचित निकल को 50-60° पर कार्बन-मोनो-ऑक्साइड के साथ अभिकृत किया जाता है, जिससे निकल कार्बोनिल गैस $Ni(CO)_4$ बनती है और अपद्रव्य ठोस अवशेष के रूप में बच जाते हैं; फिर 180° तक गर्म करने से यह गैस अपघटित होकर निकल धातु और कार्बन मोनो-ऑक्साइड बनाती है. इस तरह से प्राप्त निकल लगभग 99.9% तक शुद्ध और कोवाल्ड से मुक्त होता है.

सिलिकेट अयस्क से निकल और लोह के मिश्रित सल्फाइड का मैट प्राप्त करने के लिए उसे झोंका भट्टी में पिघलाया जाता है किन्तु अयस्क में गंधक पर्याप्त मात्रा में नहीं होता इसलिये धान में जिप्सम मिला दिया जाता है. 5 मैट का बेसेमरीकरण करने से अल्प-लोह निकल सल्फाइड प्राप्त किया जाता है जिसमें 75-80% निकल रहता है तथा गंधक को पृथक् करने के लिए इसे तपाया जाता है. परिणामी ऑक्साइड के साथ अपचायक पदार्थ मिला दिये जाते हैं और क्षैतिज भभकों में 1,200-1,300° तक गर्म करके कम से कम लगभग 99.25% शुद्धि की निकल धातु प्राप्त की जाती है (Kirk & Othmer, IX, 273-74; Johnstone & Johnstone, 396-399).

गुणधर्म और उपयोग

निकल (आ. घ., 8.908; ग. वि., 1455°) रजत-श्वेत, कठोर और आघातवर्ध्य है और अनेक माध्यमों में संक्षारण के प्रति अत्यन्त प्रतिरोधी है। इसमें तन्यता और चीमड़पन अधिक होता है और इस्पात तैयार करने के लिए प्रयुक्त समस्त विधियों द्वारा सहज ही तैयार किया जा सकता है। यह पक्की पालिश लेता है और उसे सुरक्षित रखता है। यह जिन धातुओं या मिश्रधातुओं में मिलाया जाता है उनमें से अधिकांश के एक या कई गुणों को सुधारने का इसमें अभूतपूर्व गुण है। आजकल 3,000 से अधिक निकल मिश्रधातुयें उपयोग में लाई जा रही हैं, जिन में निकल 0.3% से लेकर 100% से कुछ कम मात्रा तक होता है। इससे धातु की बहुउपयोगिता सूचित होती है।

निकल का अधिकतर व्यापारिक उपयोग मिश्रधातु के रूप में होता है। विश्व में लगभग 60 प्रतिशत उत्पादित धातु लोह के साथ मिश्र-धातुओं के बनाने के काम आती है। अल्प-निकल इस्पात (0.5-9% निकल) में उत्कृष्ट दृढ़ता और चीमड़पन होता है। इसका व्यापक उपयोग मोटर वाहनों, इंजनों, ट्रैक्टरों, उत्खनकों, तेलकूप ढाँचों, वायुयानों तथा समुद्री इंजनों और प्रायः हर प्रकार की मशीनों में होता है। 1.26% निकल से युक्त निष्कलंक इस्पात संक्षारण, वर्ण विकृति, तथा दाग (धब्बा) का अत्यधिक प्रतिरोधी होता है और यह परिवहन उपस्कर, वर्तन-भाँड़े तथा भोजन पकाने के बरतनों और रासायनिक उपस्कर, वस्त्र तथा कागज उद्योगों और तेल परिष्करण शाखाओं में व्यापक रूप से उपयोग में लाया जाता है। इस्पात में निकल की और अधिक प्रतिशतता इस्पात को ताप-अवरोधक बनाती है जिससे इसका उपयोग भट्टी के पुर्जों, यान्त्रिक स्टोकरों और डीजल इंजन वाल्वों में किया जाता है। निकलयुक्त ढलवाँ लोह (1-5% निकल) अत्यधिक घर्षण प्रतिरोधी तथा कठोर होते हैं तथा भारी मशीनरी, चढ़ानों और अयस्क दलित्रों, पेपण चक्कियों और धातु-वेलनों के निर्माण में प्रयुक्त किये जाते हैं। लोह के साथ बहुत-सी निकल मिश्रधातुयें यान्त्रिक इंजीनियरी की विविध आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए तैयार की जाती हैं।

ताँबे के साथ निकल की बड़ी मात्रा (65-70% निकल) उत्कृष्ट निकल मिश्रधातुयें बनाने के काम लाई जाती है। ये मिश्रधातुयें रासायनिक यंत्रों, भोजन बनाने के संयंत्रों तथा समुद्री और विद्युत-उत्पादक उपकरणों के घटक बनाने के काम में लाई जाती हैं। मोनल धातु (68% निकल, 30% ताँबा तथा अल्प मात्रा में लोह) में बहुत से वांछित भौतिक गुण पाये जाते हैं और औद्योगिक क्षेत्र में इसका व्यापक रूप से प्रयोग किया जाता है। ताम्र-निकल (क्यूप्रोनिकल) मिश्रधातुयें (25-45% निकल) मुख्यतः संचनक नलिकाओं और खारी पानी की नलियों के निर्माण में बड़ी मात्रा में काम में लाई जाती है। निकल-क्रोमियम मिश्रधातुयें, जिनमें 80% निकल तथा 20% क्रोमियम रहता है, अत्यधिक अधिरोही और वैद्युत प्रतिरोध वाली होती है और गर्म करने के अवयवों, पाइरोमीटर, धारा-नियंत्रकों और अन्य वैद्युत-नियंत्रकों में प्रयुक्त की जाती हैं। ताप-प्रतिरोधी मिश्रधातुओं (78% निकल, 14% क्रोमियम, और कुछ लोह तथा अन्य तत्व) का विशेष महत्व उच्च तापमान सेवाओं के लिए है जैसे जेट विमान। चुंबकीय मिश्रधातुएं (29-90% निकल), अचुंबकीय मिश्रधातुएं (8-27% निकल), स्थायी चुंबकीय मिश्रधातुयें (14-32% निकल), उच्च प्रवेद्यता मिश्रधातुएं (45-80% निकल) और नियन्त्रित प्रसरण मिश्रधातुयें (30-60% निकल) विविध अनुप्रयोगों के लिए विकसित की गई हैं। निकल-कांस्थ जो कि निकल और ताँबे की

सारणी 2 - भारत में निकल का आयात *

	मात्रा (टनों में)	मूल्य (हजार रु. में)
1961	1,789	14,450
1962	1,572	11,982
1963	1,859	15,476
1964	2,467	18,884
1965	3,225	24,693

*Indian Miner. Yearb., 1965, 605.

एक मिश्रधातु है, बहुत-से देशों में सिक्के बनाने के लिए मानक स्वरूप है। निकल-रजत से जिसमें निकल की मात्रा 5 से 30% तक होती है वर्तन-भाँड़े और सजावटी सामान बनाये जाते हैं। बहुत-सी अन्य निकल मिश्रधातुएं प्रयोग में आ रही हैं और नई-नई मिश्रधातुयें लगातार विकसित की जा रही हैं।

व्यापारिक शुद्ध निकल अल्प मात्रा में भोजन बनाने के वर्तनों, प्रयोगशाला के सामान तथा रेडियो-उद्योग के उपकरण बनाने के काम आता है। इसका विस्तृत उपयोग विद्युत लेपन के लिए होता है जिससे संक्षारण से रक्षा होती है। सूक्ष्म विभाजित अवस्था में धात्विक निकल का अत्यधिक उपयोग चर्वी तथा तैलों के हाइड्रोजनीकरण के समय उत्प्रेरक के रूप में किया जाता है (Kirk & Othmer, IX, 271, 275-79; Coggin Brown & Dey, 224-26; Encyclopaedia Britannica, XVI, 424; Indian Miner. Yearb., 1959, 246).

उत्पादन और व्यापार

भारत में निकल धातु का उत्पादन प्रायः नहीं के बराबर होता है। 'इंडियन कापर कार्पोरेशन लिमिटेड' द्वारा लगाये जाने वाले संयंत्र के स्थापित हो जाने पर सिंहभूम ताम्र-अयस्कों के विद्युत-अपघटनी परिष्करण के समय उपोत्पाद के रूप में इसकी उपलब्धि प्रत्याशित है। टैरिफ-कमीशन रिपोर्ट के अनुसार इस ताम्र-परिष्करण-संयंत्र से लगभग 400-500 टन निकल प्रति वर्ष प्राप्त हो सकता है। 'इंडियन-मिण्ट ऐण्ड सिलवर-रिफाइनरी' कलकत्ता में प्राचीन चतुर्धातुक मिश्रधातु-सिक्कों (निकल, 5%) से अल्प मात्रा में निकल प्राप्त होता है। कुछ निकल बचे-खुचे निकल उत्प्रेरक, से जो कि चर्वी-हाइड्रोजनी प्रक्रम उद्योग में रहीं के रूप में मिलता है, प्राप्त हो सकता है (Tariff Comm. Rep. on the Continuance of Protection to the Non-Ferrous Metals Industry, 1957, 11).

भारत अपनी निकल आवश्यकताओं के लिए पूर्णतः आयात पर आश्रित है। सारणी 2 में 1961 से 1965 तक आयातित निकल और निकल मिश्रधातुओं की मात्रा और उसका मूल्य दिया गया है। इसकी अल्प मात्रायें पुनः निर्यात भी की जाती हैं।

निकैण्ड्रा ऐडेन्सन (सोलैनेसी) NICANDRA Adans.

ले. - निकाण्ड्रा

यह एकल प्ररूपी वंश है जिसका एकमात्र प्रतिनिधि नि. फाईसैलोडीज नामक जाति है जो पीरू की मूलवासी है और उष्णकटिबन्धों में, जिनमें भारत भी सम्मिलित है, पाई जाती है, तथा प्रकृत हो गई है। Solanaceae

नि. फाइसैलोडीज (लिनिअस) गैर्त्नर *N. physalodes* (Linn.) Gaertn.
पीरू का ऐपिल

ले. — नि. फिसैलोडेस

D.E.P., V, 350; Fl. Br. Ind., IV, 240.

क. — नीलिवुड़े गिडा, बंडूलगिडा.

बम्बई — रान-पोपाटी.

यह एकवर्षी, 30–150 सेमी. ऊँची, खड़ी वृद्धि है जिसकी खेती बहुत कम की जाती है किन्तु यह पलायित रूप में भारत के अनेक भागों में पाई जाती है. यह उप-सम-शीतोष्ण हिमालय क्षेत्र में कश्मीर से सिक्किम तक, 1,800 मी. की ऊँचाई तक, तथा पश्चिमी डेकन प्रायद्वीप के पहाड़ी भागों में भी पाई जाती है. पत्तियाँ अंडाकार-भालाकार, पालित या स्थूल दंतिल; फूल घंटाकार, नीले या हल्के नील-लोहित, कक्षीय; फल अरोमिल बेरी, प्रत्येक फल 5-कोणीय बाह्यदलपुंज के भीतर; बीज कई, चपटे, उपगोलाकार होते हैं.

नि. फाइसैलोडीज कुछ क्षेत्रों में खरपतवार की तरह पाया जाता है और प्रति हेक्टर 1.13–2.5 किग्रा. 2.4-डी का छिड़काव करके नियन्त्रित किया जा सकता है. इसे मवेशी नहीं छूते.

इस पौधे में मूत्रल, कृमिहर तथा कीटनाशी गुण पाये जाते हैं. संयुक्त राज्य अमेरिका के कुछ भागों में यह मक्खी-विष की तरह प्रयुक्त होता है. मैलेगोसी (मेडागास्कर) में इसकी पत्तियों का काढ़ा सिर की जूँ



चित्र 136 — निकैण्ड्रा फाइसैलोडीज

मारने के लिए इस्तेमाल किया जाता है. ताजी वृद्धि में 0.65% ग्लाइकोसाइडी तिवक्त पदार्थ, जिसे निकैण्ड्रिन ($C_{27}H_{37}O_7$) कहते हैं, तथा ट्रापिनिक केन्द्रक और ताराविस्फारक क्रिया प्रदर्शित करने वाला एक ऐल्कलायड पाये जाते हैं. बीजों में एक वसीय तेल (लगभग 21%; आयो. मान, 138.0) पाया जाता है जिसमें 90% वसा-अम्ल द्रव रूप में रहते हैं. यह तेल वार्निशों के निर्माण में उपयुक्त है [Ram Gopal, *Indian Fmg, N.S.*, 1954–55, 4 (10), 24; Kumar & Solomon, *Poona agric. Coll. Mag.*, 1952–53, 43 (2), 63; Connor, *Bull. Dep. sci. industr. Res., N.Z.*, No. 99, 1951, 93; Kirt. & Basu, III, 1779; Jacobs & Burlage, 207; Chopra, 1958, 580; *Chem. Abstr.*, 1951, 45, 10507, 1360; 1954, 48, 4777; 1950, 44, 8681].

निकोटिआना लिनिअस (सोलैनेसी) *NICOTIANA* Linn.

ले. — निकोटिआना

यह बहुवर्षीय या एकवर्षीय वड़ी-वड़ी वृद्धियों का वंश है जिनमें से अधिकांश उत्तरी और दक्षिणी अमेरिका की और कुछ ऑस्ट्रेलिया और एशिया की मूलवासी हैं. नि. टैबेकम तथा नि. रस्टिका नामक दो जातियों की खेती उनके पत्तों के लिए की जाती है जिनसे व्यापारिक तम्बाकू प्राप्त होती है. कुछ अन्य जातियाँ शोभा के लिए उगाई जाती हैं.

इस वंश में लगभग 60 जातियाँ सम्मिलित हैं जिनमें से 30 दक्षिणी अमेरिका में ही उगती हैं, 9 उत्तरी अमेरिका में तथा 6 जातियाँ दोनों में समान रूप से उगती हैं. लगभग 15 जातियाँ ऑस्ट्रेलिया और दक्षिणी प्रशांत महासागरीय क्षेत्रों में पायी जाती हैं. यह वंश तीन उपवंशों में विभाजित किया गया है: (1) उपवंश रस्टिका में नि. रस्टिका सहित, दो खंडों में 9 जातियाँ हैं और इसमें वंश के सभी मूल तत्व अंतर्गुणित हैं. (2) उपवंश टैबेकम में दो खंडों के अन्तर्गत 6 जातियाँ हैं और जिसमें नि. टैबेकम सम्मिलित है. (3) उपवंश पेटुनिआइडीज काफी बड़ा है. इसमें 9 खंडों के अन्तर्गत शेष 45 जातियाँ आती हैं. नि. रस्टिका तथा नि. टैबेकम में क्रोमोसोम पूरक $n=24$ है. इन दो को छोड़कर रस्टिका और टैबेकम उपवंशों की सभी जातियों का क्रोमोसोम पूरक $n=12$ है; उपवंश पेटुनिआइडीज में, 7 खंडों में अगुणित सख्या या तो 12 या 24 है. शेष खंडों में से एक में 12 से कम विषम गुणित श्रेणी है तथा वैसी ही श्रेणी 24 से कम है (*Indian Tob. Monogr.*, 38–42; Goodspeed, 7–8, 13–17, 332).

निकोटिआना वंश, निकोटिआना से पूर्व के तत्वों से युक्त आनुवंशिक भंडार से विकसित माना जाता है जिसकी मूल क्रोमोसोम सख्या $n=6$ है. यह वंश एक साथ दो शृंखलाओं में विकसित हुआ जिसके फलस्वरूप, एक सेस्टायड सम्मिश्र तथा पेटुनिआइड सम्मिश्र बना. यहाँ तक निकोटिआना की विलकुल असम्बद्ध जातियों में भी पायी जाने वाली उच्च कोटिक एकरूपता यह बतलाती है कि जाति-उद्भवन में प्राकृतिक संकरण अवश्य ही एक महत्वपूर्ण कारक रहा होगा. सम्प्रति $n=12$ जाति की प्रचुरता (जिसकी 56 में से 28 जातियाँ खोजी जा चुकी हैं) और $n=6$ वाली जाति की अनुपस्थिति इस परिकल्पना के अनुरूप है कि अपर बहुगुणित जातियों में परिवेश बदलने के साथ द्विगुणित जनकों की अपेक्षा उच्च उत्तरजीविता क्षमता है. आकृतिक, वितरणीय तथा कोशिकानुवंशिक प्रमाण, संयुक्तरूप से आजकल पायी जाने वाली क्रोमोसोम सख्या $n=24$ की उभयगुणित जातियों की उत्पत्ति तथा विकास की ओर संकेत करते हैं कि $n=24$ जाति, $n=12$ जाति से

विकसित हुई है जिसके आधुनिक वंशजों की पहचान की जा सकती है अतः यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि नि. रस्टिका उभयगुणिता में नि. पैनिकुलेटा और नि. अंडुलेटा से तथा नि. टैबेकम, नि. सिलवेस्ट्रिस तथा टोमेण्टोसी खंड के एक सदस्य से संबंधित है। नि. रस्टिका, नि. टैबेकम और $n=24$ जाति से मिलती-जुलती जातियाँ संबंधित जनक जातियों के संकरण तथा परवर्ती उभयगुणिता के कृत्रिम प्रेरण से उत्पन्न की जाती हैं। ये बातें इन जातियों की उत्पत्ति के संबंध में उपर्युक्त विचार की अधिकाधिक पुष्टि करती हैं (Goodspeed, 283-314; Indian Tob. Monogr., 42-43).

Solanaceae; Petunioides; N. paniculata; N. undulata; N. sylvestris; Tomentosae

नि. टैबेकम लिनियस *N. tabacum* Linn.

तम्बाकू

ले. — नि. टाबाकूम

D.E.P., V, 353; C.P., 793; Fl. Br. Ind., IV, 245; Goodspeed, 372, Fig. 74.

हि., बं., म. और गु. — तमाकू, तम्बाकू; ते. — पोगाकू; त. — पुगईयिलई; क. — होगेसोपु; मल. — पोगला.

यह एक स्थूल, विपश्चिपा, 1 से 3 मी. ऊँचा एकवर्षी पौधा है जिसका तना कुछ शाखाओं युक्त, मोटा, खड़ा; पत्तियाँ अंडाकार, दीर्घवृत्तीय तथा भालाकार, 100 सेंमी. या उससे भी अधिक लम्बी, प्रायः अवृन्त या कभी-कभी झालरदार पक्ष या पालिदार-हृदयाकार; पुष्पक्रम स्पष्ट पिच्छाक्ष तथा बहुत-सी संयुक्त शाखाओं वाला पुष्पगुच्छ; पुष्प हल्के लाल-सफेद या हल्के गुलाबी रंग के; फल छोटा दीर्घवृत्तीय अंडाकार या वर्तुल; संपुट 15 से 20 मिमी. लम्बा; बीज गोलाकार या दीर्घवृत्तीय, 0.5 मिमी. लम्बा, भूरा, खाँडेदार कंटकों वाला होता है।

आजकल नि. टैबेकम जंगली अवस्था में बिल्कुल नहीं पायी जाती है। इसकी अनुमानित उत्पत्ति के आधार पर उभयगुणिता जिसमें नि. सिलवेस्ट्रिस और खंड टोमेण्टोसी का एक सदस्य यथा नि. ओटोफोरा के प्रजनक सन्निहित हैं, यह सुझाया जाता है कि इसके प्राकृतिक वितरण का मूल क्षेत्र उत्तर पश्चिम अर्जेंटीना और उससे सटा बोलिविया प्रदेश था, जहाँ उपर्युक्त दोनों जातियाँ एक दूसरे के सम्पर्क में पाई जाती हैं या थीं। ऐसा विश्वास किया जाता है कि कोलम्बस से पहले वेस्टइंडीज, मैक्सिको, मध्य अमेरिका और दक्षिण अमेरिका के उत्तरी भागों में इसकी खेती होती रही होगी (Goodspeed, 34, 373, 375).

नि. रस्टिका की अपेक्षा नि. टैबेकम अधिक बहुरूपी है तथा इसमें किस्मों, रूपों और संदेहास्पद संकरों का भारी जमघट है। इस जमघट में से ऐसे समूहों को नामकरण करने के अनेक यत्न किये गये हैं जिनसे अधिकाधिक कृष्ट प्रकारों का संबंध जोड़ा जा सके। भारत में लगभग 69 वानस्पतिक किस्में पहचानी जा चुकी हैं। इन्हें दो समूहों में वर्गीकृत किया गया है। प्रथम समूह में सात किस्में हैं जिनकी विशेषता है सवृन्त पत्तियाँ, दूसरा समूह अवृन्त पत्तियों से जाना जाता है। दूसरे समूह का और वर्गीकरण पत्तियों की आकृति, पौधों के स्वभाव तथा पुष्पक्रम की प्रकृति के अनुसार किया गया है (Goodspeed, 373; Howard & Howard, Mem. Dep. Agric. India, Bot., 1910, 3, 59; Shaw & Kashi Ram, Indian J. agric. Sci., 1932, 2, 345).

N. otophora

नि. रस्टिका लिनियस *N. rustica* Linn.

तम्बाकू

ले. — नि. रस्टिका

D.E.P., V, 352; C.P., 794; Fl. Br. Ind., IV, 245; Goodspeed, 351, Fig. 66-67.

यह 50-150 सेंमी. ऊँचा स्थूल एकवर्षी है जिस का तना मोटा, रोमिल तथा शाखायें छरहरी; पत्तियाँ पर्णवृन्ती, गूदेदार, गहरे हरे रंग की, असम पृष्ठवाली, 30 सेंमी. × 20 सेंमी. तक प्रायः अंडाकार, दीर्घवृत्तीय अथवा हृदयाकार, असमान आधारवाली; पुष्पगुच्छ छोटे तथा असोमाक्षी; फूल हरिताम पीत, 1.2-1.5 सेंमी. लम्बे; संपुट दीर्घवृत्तीय अंडाभ से उपगोलाकार, 7 से 16 मिमी. लम्बे; बीज 0.7-1.1 मिमी. लम्बे, मटमैले भूरे रंग वाले, खाँडेदार तथा नि. टैबेकम के बीजों से बड़े और लगभग तिगुने भारी होते हैं।

यह जाति दक्षिणी अमेरिका की मूलवासी है और इसका उत्पत्ति केन्द्र उत्तरी मध्य पेरू है। किन्तु आजकल जंगली अवस्था में अज्ञात है और यूरोप भेजने के लिए वर्जीनिया में उगाई गयी तम्बाकूओं में यह पहली थी। ऐसा माना जाता है कि यह नि. अंडुलेटा तथा नि. पैनिकुलेटा, इन दो सर्वथा भिन्न-भिन्न खंडों के सदस्यों के संकरण से एक उभय द्विगुणित के रूप में विकसित हुई। इसके अंतर्गत कई किस्में या प्रजातियाँ आती हैं जिनकी चरम अवस्थाओं का प्रतिनिधित्व पैवोनाइ गुडस्पीड वैर. प्युमिला श्रैक और ब्रासिलिया श्रैक नामक किस्में करती हैं। नि.



चित्र 137 — निकोटिआना रस्टिका (हुबका प्रकार) — पुष्पित

टैबेकम की तरह यह भी अत्यंत बहुरूपी है: इसके अंतर्गत कृष्ट किस्मों की काफी बड़ी संख्या आती है। भारत में लगभग 20 जातियों का उल्लेख हुआ है। पीधे के स्वभाव और पोरियों की लम्बाई के आधार पर उन्हें दो समूहों में वर्गीकृत किया गया है। पहले समूह में सूक्त स्वभाव तथा लम्बी पोरियों वाले ऊँचे पीधे और दूसरे समूह में छोटी पौरी वाले नाटे पीधे आते हैं। दूसरे समूह में 15 किस्में सम्मिलित हैं जिन्हें पुष्पक्रम की प्रकृति के आधार पर तीन उप-समूहों में विभाजित किया गया है: (1) खुले किन्तु विरल व्यवस्थित फूलों वाले; (2) अधखुले किन्तु घने फूलों वाले; तथा (3) बहुत घने फूलों वाले उपसमूह (Goodspeed, 34, 353-56; Howard & Howard, *Mem. Dep. Agric. India, Bot.*, 1910, 3, 59; *Indian Tob. Monogr.*, 75, 48, 50).

नि. रस्टिका ऐसा समोद्भिज है जिसकी ताप तथा आर्द्रता सम्बन्धी आवश्यकताएँ सुनिश्चित हैं। इस बात में यह नि. टैबेकम से भिन्न है जो अपेक्षाकृत उग्र जलवायु सह सकता है जिसके फलस्वरूप नयी दुनिया में इसने नि. रस्टिका को प्रतिस्थापित-सा कर दिया है। नि. रस्टिका की खेती अब मुख्य रूप से रूस, वाल्कन देश, भारत, पाकिस्तान, ब्रह्मा, ऑस्ट्रेलिया और न्यूजीलैण्ड तक ही सीमित है (*Indian Tob. Monogr.*, 45, 48).

भारत में नि. रस्टिका, जिलायती या कलकतिया नाम से जाना जाता है। इसके लिए शीतल जलवायु चाहिए। इसकी खेती मुख्यतः भारत के उत्तरी या उत्तर-पूर्वी क्षेत्रों यथा पंजाब, उत्तर प्रदेश, बिहार, पश्चिम बंगाल और असम तक सीमित है। यह क्षेत्र तम्बाकू उगाये जाने वाले क्षेत्रफल का 10% है (*Indian Tob. Monogr.*, 3, 46).

आमतौर से रस्टिका तम्बाकू में निकोटीन की मात्रा अधिक होती है। यह हुक्के में पीने और खाने तथा सुंघनी के रूप में प्रयोग की जाती है। यह सिगरेट, बीड़ी या सिगार के लिए उपयुक्त नहीं है। रस्टिका किस्मों की तम्बाकू की खेती टैबेकम किस्मों की ही तरह की जाती है। (*Indian Tob. Monogr.*, 3).

नि. रस्टिका तथा नि. टैबेकम मुख्य रूप से व्यापारिक उद्देश्यों से ही उगाई जाती हैं। इन दोनों को छोड़कर इस वंश की दो अन्य जातियाँ भारत में सजावट के लिए उगायी जाती हैं। ये हैं: (1) नि. एलेटा

लिक और ओटो (सिन. नि. पर्सिका लिडले; नि. एफिनिस हाटॉरम) जो एक चिपचिपी ग्रंथिल रोमिल, 60 सेंमी. तक ऊँची, अंतस्थ असीमाक्षों में श्वेत फूल युक्त बूटी है। यह ब्राजील की देशज है। इसके पुष्प मनोरम सुगंध वाले हैं। वे सायंकाल खिलते और प्रातः बन्द हो जाते हैं। (2) नि. प्लम्बैजिनिफोलिया मैक्सिको तथा वेस्टइंडीज की देशज है। यह विभिन्न भागों में सड़क के किनारों पर, विशेषतया नम स्थानों पर ग्राम खरपतवार की तरह पायी जाती है। यह रोमिल, 60 सेंमी. तक ऊँची, फैली हुई, मूलज पत्तियों वाली तथा छरहरे पत्तीदार तनों वाली होती है। इस वंश की केवल यही एक ऐसी जाति है जो इस देश में पूरी तरह प्रकृत हो गयी है।

नि. रस्टिका और नि. टैबेकम ही ऐसी जातियाँ हैं जो जंगली नहीं होतीं अन्यथा निकोटिआना की सभी जातियाँ जंगली उगती हैं। सारणी 1 में अब तक की प्रामाणिक जानकारी के अनुसार जातियों की प्राप्ति, वितरण और उनके आर्थिक महत्व का संक्षेपण किया गया है।

N. undulata; *N. paniculata*; var. *pavonii* Goodspeed; var. *pumila* Schrank; var. *brasilia* Schrank; *N. persica* Lindl.; *N. affinis* Hort.; *N. plumbaginifolia* Vib.

तम्बाकू का सुधार

भारत में तम्बाकू की खेती उसके पत्तों के लिए की जाती है जो सिगरेट, सिगार, चुरट, बीड़ी, हुक्के में पीने वाली तम्बाकू तथा खाने वाली तम्बाकू बनाने के काम में आते हैं। शायद विश्व के किसी अन्य देश में कृष्ट प्रकारों की उतनी अधिक संख्या नहीं होगी और न ही तम्बाकू के उगाने और तैयार करने की ऐसी विशेष विधियाँ ही विकसित हुई होंगी जितनी कि भारत में हैं। प्रायः जिन किस्मों की खेती होती है उनका नाम उस इलाके या क्षेत्र के नाम पर रखा जाता है जहाँ वे विकसित की जाती हैं या उगाई जाती हैं। कभी-कभी उनके स्पष्ट आकृतिक लक्षणों के आधार पर भी नामकरण होता है। तम्बाकू की कृष्ट किस्मों में से कुछ व्यापारिक किस्मों के ही विस्तृत वर्गीकरण तथा विवरण उपलब्ध हैं फिर भी इनका वर्गीकरण जटिल है क्योंकि एक ही वानस्पतिक किस्म दो या तीन व्यापारिक उपयोगों में आती है और अलग-अलग व्यापारिक नामों से जानी जाती है। यही नहीं, अलग-अलग वानस्पतिक किस्मों का एक ही

सारणी 1 — निकोटिआना की विभिन्न जातियों का वितरण, उनके ऐल्कलायड तथा आर्थिक महत्व*

जाति	अगुणित त्रोमोसोम संख्या	वितरण	महत्वपूर्ण ऐल्कलायड रचक	आर्थिक महत्व
उपवंश रस्टिका गुडस्पीड				
खंड पैनिकुलेटी गुडस्पीड				
नि. पैनिकुलेटा लिनिअस	12	पीरू	निकोटीन	
नि. नाइटियाना गुडस्पीड	12	पीरू		
नि. सोलानिफोलिया वाल्सर्स	12	चिली	निकोटीन और नारनिकोटीन	
नि. वेनाविडेसाइ गुडस्पीड	12	पीरू	निकोटीन और नारनिकोटीन	
नि. रमाण्डाइ मॅकग्राइड	12	पीरू	निकोटीन और नारनिकोटीन	
नि. कार्डोफोलिया	12	चिली (मैसाफ्युरा-द्वीप)		
नि. ग्लाउका ग्राह्य	12	अर्जेंटाइना	एनाबेसीन तथा निकोटीन	ढोरोँ, घोड़ों तथा भेड़ों के लिए विपैली, रोग- अवरोधक तम्बाकू के प्रजनन में उपयोगी

क्रमशः

सारणी 1 - प्रमश:

जाति	अगुणित क्रोमोसोम संख्या	वितरण	महत्वपूर्ण ऐल्कलायड रचक	आर्थिक महत्व
खड थायसिफलोरी गुडस्पीड नि. थायसिफलोरा बिटर एक्स गुडस्पीड	12	पीरू		
खड रस्टिकी गुडस्पीड नि. रस्टिका लिनिग्रम	24	कृष्ट	निकोटीन	महत्वपूर्ण व्यापारिक किस्म
उपवण देवेकम गुडस्पीड				
खंड टोमेटोसी गुडस्पीड नि. टोमेटोसा रुडज एवं पैवन	12	पीरू एवं बोलिविया	नारनिकोटीन	
नि. टोमेटोसिफार्मिस गुडस्पीड	12	बोलिविया	नारनिकोटीन तथा निकोटीन	
नि. ओटोफोरा थिम्बाख	12	बोलिविया तथा अर्जेंटाइना	नारनिकोटीन	
नि. सेबेलाइ गुडस्पीड	12	पीरू		
नि. स्तुटिनोसा लिनिग्रम	12	पीरू तथा इक्वेडोर	नारनिकोटीन	मौजक तथा चूर्णी फफूदी अवरोधक तम्बाकू के प्रजनन में उपयोगी
खट जेनुइनी गुडस्पीड नि. देवेकम लिनिग्रम	24	कृष्ट	निकोटीन तथा नारनिकोटीन	गर्वाधिक महत्वपूर्ण व्यापारिक किस्म
उपवण पेडुनिआइडीज गुडस्पीड				
खड अण्डुलेटी गुडस्पीड नि. अण्डुलेटा रुडज एवं पैवन	12	पीरू एवं अर्जेंटाइना	नारनिकोटीन तथा निकोटीन	
नि. थिगाण्डिआपडीज काख एवं फिदेलमान	12	बोलिविया	निकोटीन	
नि. एरेण्डसाइ गुडस्पीड	24	पीरू एवं बोलिविया		
खट ट्राइगोनोफिली गुडस्पीड नि. ट्राइगोनोफिला डूनरा	12	मैक्सिको एवं दक्षिणी-पश्चिमी अमेरिका	नारनिकोटीन	मैक्सिको भारतीयों द्वारा प्रायः तम्बाकू के रूप में प्रयुक्त
नि. पालमेरी ए ग्रे	12	दक्षिणी-पश्चिमी अमेरिका	नारनिकोटीन	
खड ऐलाटी गुडस्पीड नि. ऐलेटा लिक और ओटो	9	यूरुगुए, ब्राजील, अर्जेंटाइना एवं पैरागुए	निकोटीन	
नि. लैग्सडोर्फाई वाइनमान	9	ब्राजील, अर्जेंटाइना और पैरागुए	निकोटीन एवं नारनिकोटीन	
नि. थोनारिएन्सिस लेहमान	9	ब्राजील, यूरुगुए और अर्जेंटाइना	निकोटीन	
नि. फारमेटिआना हाटोरम एक्स हेम्मले	9	ब्राजील		
नि. लांगोपलोरा कैवेनिलिम	10	अर्जेंटाइना, पैरागुए, यूरुगुए, ब्राजील और बोलिविया		रुक्ष रोग, दायाग्न, ब्लैक फायर, ब्लैक शैक का अवरोधक
नि. प्लम्बैजिनिकोलिया	10	दक्षिण तथा मध्य अमेरिका में अत्यंत व्यापक, भारत में प्रचुर	नारनिकोटीन एवं निकोटीन	गन्ता कुचन तथा ब्लैक शैक का अवरोधक
नि. सिल्वेस्ट्रिस स्पेगाजिनी एक्स कोमेस	12	अर्जेंटाइना	निकोटीन एवं नारनिकोटीन	
खट रेपांडी गुडस्पीड नि. रेपांडा विल्डेनी	24	दक्षिणी अमेरिका और मैक्सिको	नारनिकोटीन एवं निकोटीन	
नि. रटाबडोनाइ ब्रैडगी	24	मैक्सिको	निकोटीन एवं नारनिकोटीन	
नि. नेसोफिला जानस्टन	24	मैक्सिको	नारनिकोटीन एवं निकोटीन	
खट नास्टोपलोरी गुडस्पीड नि. नास्टोपलोरा हुकर	12	अर्जेंटाइना और चिली		
नि. पेडुनिआइडीज (थिम्बाख) मिलन	12	अर्जेंटाइना और चिली		

प्रमश:

सारणी I - क्रमशः

जाति	अग्रणीत क्रोमोसोम संख्या	वितरण	महत्वपूर्ण ऐल्कलायड रचक	आधिक महत्व
नि. अमेघिनोइ स्पेगाजिनी	..	अर्जेंटाइना		
नि. एकाऊलिस स्पेगाजिनी	12	अर्जेंटाइना		
खंड एष्युमिनेटी गुडस्पीड				
नि. एष्युमिनेटा (ग्राह्य) हुकर	12	चिली और अर्जेंटाइना	निकोटीन	
नि. पासीपलोरा रेमी	12	चिली	नारनिकोटीन	
नि. अटेनुएटा टोरे एक्स वाट्सन	12	मेक्सिको, अमेरिका और दक्षिणी कनाडा	निकोटीन	अमेरिकी आदिवासियों द्वारा व्यवहृत और कृष्ट तम्बाकू
नि. लांगोब्रेक्टोएडा	..	अर्जेंटाइना में ऐण्ड्रीज और चिली		
नि. कारिम्बोसा रेमी	12	चिली और अर्जेंटाइना		
नि. मियरसाइ रेमी	12	चिली		
नि. लिमियरिस	12	अर्जेंटाइना और चिली		
नि. स्पेगाजिनाइ मिलन	12	अर्जेंटाइना		
खंड विगेलोवियानी गुडस्पीड				
नि. विगेलोवाइ (टोरे) वाट्स	24	पश्चिमी अमेरिका	निकोटीन	अमेरिकी आदिवासियों द्वारा प्रयुक्त तथा कृष्ट तम्बाकू
नि. फ्लोवेलैण्डा ग्रे	24	मैक्सिको और दक्षिणी अमेरिका	निकोटीन	
खंड न्यूडोकालीज गुडस्पीड				
नि. न्यूडोकालिस वाट्सन	24	मैक्सिको	नारनिकोटीन तथा निकोटीन	
खंड सुआयिओलेन्सीज गुडस्पीड				
नि. सुआयिओलेन्स लेहमान	16	दक्षिण-पूर्व ऑस्ट्रेलिया	नारनिकोटीन एवं निकोटीन	
नि. मैरिटिमा व्हीलर	16	दक्षिण-पूर्व ऑस्ट्रेलिया	नारनिकोटीन	
नि. वेल्डिना व्हीलर	16	दक्षिण-पूर्व से मध्य ऑस्ट्रेलिया	नारनिकोटीन	आदिवासियों द्वारा कभी-कभी तम्बाकू के रूप में प्रयुक्त, विपाकृत तने वाला
नि. गोत्तो डोमिन	18	मध्य ऑस्ट्रेलिया	निकोटीन	शक्तिशाली स्वापक समझा जाता है, आदिवासियों द्वारा नशे के लिए खाने तथा पीने की तम्बाकू के रूप में, ढोरो के लिए तथा ऐफिडों के लिए विपैनी
नि. एक्सेल्लिपर ब्लैक	19	दक्षिणी ऑस्ट्रेलिया		इनके स्वापक गुणों के कारण आदिवासियों द्वारा प्रयुक्त
नि. मेगालोसिफान ह्यूक एवं म्यूलर आव आगों	20	पूर्वी ऑस्ट्रेलिया		नेमाटोडों के लिए अत्यधिक प्रतिरोधी
नि. एक्सीगुआ व्हीलर	16	ऑस्ट्रेलिया (क्वींसलैण्ड)	नारनिकोटीन तथा निकोटीन	
नि. गुडस्पीडाइ व्हीलर	20	मध्य और पश्चिमी ऑस्ट्रेलिया	नारनिकोटीन तथा निकोटीन	
नि. ईगुल्वा ब्लैक	20	पश्चिमी ऑस्ट्रेलिया	निकोटीन तथा नारनिकोटीन	स्वापक के रूप में चवाई जाती है। इनमें सूखे इलाकों में दूर तक यात्रा करने में मदद मिलती है क्योंकि चवाने पर इनमें सार बनती है जिनमें मूंह सूखता नहीं
नि. स्टेनोकार्पा व्हीलर	..	पश्चिमी ऑस्ट्रेलिया		
नि. आक्सिडेण्डेलिस व्हीलर	21	दक्षिण और पश्चिमी ऑस्ट्रेलिया		
नि. रोटेण्डोफोलिया लिण्डले	22	पश्चिमी और मध्य ऑस्ट्रेलिया	ऐनाबैमीन, नारनिकोटीन और निकोटीन	
नि. डेल्लेई डोमिन	24	ऑस्ट्रेलिया और न्यू-कैलेडोनिया द्वीप का पूर्वी तटीय क्षेत्र	ऐनाबैमीन तथा निकोटीन	रक्त रोग, ब्लू मोल्ड, कृष्ण-मूल-गुलन की अत्यधिक अवरोधक, नीलोफंकूदी
नि. बेन्थमियाना डोमिन	19	ऑस्ट्रेलिया का कटिबंधीय क्षेत्र	नारनिकोटीन	आदिवासियों द्वारा स्वापक रूप में चवाई जाती है
नि. फ्रेगरेन्स हुकर	24	मेलानेसियन तथा पॉलिनेसियन द्वीप		

* Goodspeed, 335-489; Goodspeed & Thompson, *Bot. Rev.*, 1959. 25, 392; Manske & Holmes, 1, 250; Indian Tob. Monogr., 101-03, 125-126; Lucas, 51.

सारणी 2 — तम्बाकू की व्यापारिक श्रेणियाँ तथा भारत में उनके अंतर्गत खेती की जाने वाली महत्वपूर्ण किस्में*

व्यापारिक वर्ग	कुछ महत्वपूर्ण कृष्ट प्रकार	कृषि के मुख्य क्षेत्र
सिगरेट तम्बाकू नि. टैवेकम वर्जीनिया तथा अन्य विदेशी किस्में नाटू या देशी किस्में	हैरिमन स्पेशल, चैत्यम, श्वेत वर्ली और डेलक्रेस्ट थोक्काकु, देसा वाली और दक्षिणार्थी	आन्ध्र प्रदेश तथा मैसूर आन्ध्र प्रदेश
बोड़ी तम्बाकू नि. टैवेकम नि. रस्टिका	केलियु, पिलियु, गांडियू, सैजपुरियु, मोवादियु, शेंगिउ, शोखाड़ियु, कालिपट, मिरजी, निपानी, शांगली, सुरती और जवारी पंढरपुरी और कलकतिया	गुजरात, महाराष्ट्र तथा मैसूर मैसूर, महाराष्ट्र तथा गुजरात
सिगार एवं चुरट तम्बाकू नि. टैवेकम	चेन्नोलु, लंका, नाटू, वेलाइवाझाई, करिगकप्पल, कास्वाझाई, उसीकाप्पल एवं जाटी भेंगी; दिक्षी शेड (सिगार लपेटने के लिए)	आन्ध्र प्रदेश, तमिलनाडु तथा पश्चिमी बंगाल
हुक्का तम्बाकू नि. टैवेकम नि. रस्टिका	चागा, भेंगी, बोरी, नोकी, कक्कर, घोड़ा और गिडरी कलकतिया, गोभी, मोतीहारी और विलायती	असम, पश्चिम बंगाल, बिहार, उत्तर प्रदेश तथा पंजाब
छेनी और सुंघनी तम्बाकू नि. टैवेकम नि. रस्टिका	उत्तर प्रदेश, बिहार तथा असम की, बोन्हीरी, केलिया तथा कोनिया; तमिलनाडु की वालमोन्नाई, मिनामपलायम तथा शिवपुरी; दक्षिण कनारा (मैसूर राज्य) की पूवाकड़; गुजरात की काली चौपदिया तथा जूड़ी विशेषकर खाने के लिए उगाई जाती है तथा पानन नामक एक किस्म सुंघनी के लिए दक्षिण कनारा में उगाई जाती है सुंघनी के लिए कोई विशेष किस्म नहीं तैयार की जाती. हुक्के में पीने के लिए जो तम्बाकू उगाई जाती है उसी से सुंघनी भी तैयार कर लेते हैं	भारत गणराज्य के प्रत्येक राज्य में खेती होती है

*Indian Tob. Monogr., 4-7, 50-60, 297-362.

प्रकार से उपयोग हो सकता है और उनका व्यापारिक नाम भी एक ही हो सकता है. तम्बाकू के महत्वपूर्ण व्यापारिक वर्गों और उनके प्रकार सारणी 2 में दिये गये हैं (Gopinath & Hrishii, *Indian Tob.*, 1955, 5, 187; Patel *et al.*, *ibid.*, 1959, 9, 39, 101).

इस देश में तम्बाकू की उन्नति मुख्यतः विदेशों से लायी गयी नयी किस्मों के सूत्रपात और थोक फसल में से शुद्ध किस्म के चुनाव द्वारा सम्भव हो सकी है. देश में उगाई जाने वाली सभी तम्बाकूओं के प्रजनन की आम समस्याएँ हैं: गुण में ह्रास के बिना उपज बढ़ाना, खाद डालने से और खुटाई अनुक्रिया तथा रोगों और नाशकजीवों के लिए प्रतिरोध का विकास, इसके साथ ही, प्रत्येक किस्म की तम्बाकू की उपज में सुधार की अपनी विद्योप समस्याएँ हैं. वैसे फसल सुधार के लिए प्रजनन में कुछ विशेष कठिनाइयाँ आती हैं. तैयार उपज का मूल्य पत्तों की किस्म पर निर्भर है जिसका निर्वारण रासायनिक अवयवों द्वारा किया जाता है क्योंकि किस्म के लक्षण न तो अत्यन्त स्पष्ट दिखते हैं और न ही खेत में उन्हें मापा जा सकता है (*Indian Tob. Monogr.*, 112, 114).

नि. रस्टिका और नि. टैवेकम दोनों में स्वयंपरागण नियमित रूप से होता है परन्तु प्राकृतिक अवस्था में फूलों के चटक रंगों और मकरंद की अधिकता के कारण उनकी और तमाम कीट आकर्षित होते हैं जिनसे प्रचुर संकर-परागण भी होता है. इन दो जातियों में भी परस्पर संकरण हुआ है. परन्तु जब नि. रस्टिका मादा जनक होती है तो अधिक अच्छे

परिणाम प्राप्त नहीं होते. अन्तर्जातीय संकरण अत्यन्त रोचक है क्योंकि प्रत्येक जाति दूसरी जाति को कुछ उपयोगी गुण प्रदान कर सकती है. F₁ पीढ़ी अत्यधिक बंध्य है परन्तु उनकी क्रोमोसोम संख्या दुगुनी कर देने से बहुत अधिक जनन शक्ति वाले अपर चौगुणित (एलोटेट्राप्लाइड) प्राप्त किये गये हैं (Howard *et al.*, *Mem. Dep. Agric. India, Bot.*, 1910, 3, 307; Hunter & Leake, 224; *Indian Tob. Monogr.*, 84).

संयुक्त राज्य अमेरिका तथा अन्य देशों में उपजायी जाने वाली तम्बाकू के कई प्रकारों की परीक्षा उनकी रोग प्रतिरोधकता के लिए की गई. 1934-35 में मध्य तथा दक्षिण अमेरिका से एकत्र किये गये बृहत् संग्रह में से जीवाणु-म्लानि तथा कृष्ण-मूल-गलन प्रतिरोधी किस्में चुनी गई हैं और उनका व्यापारिक स्तर पर उपयोग किया गया है. जो किस्में रोग प्रतिरोधी हैं और जिनमें अन्य कोई वांछित गुण पाये जाएँ उनके विकास के लिए दूसरी निकोटिआना जातियों के साथ अन्तर्जातीय संकरण का भी सहारा लिया गया है. नि. ग्लाउका, नि. ग्लुटिनोसा, नि. लांगोपलोरा, नि. डेव्नेई, नि. सिलवेस्ट्रिस, नि. मेगालो-सिफान तथा नि. प्लम्बेजिनफोलिया आदि कुछ जंगली जातियाँ हैं जिन्हें संकरण के काम में लाया जाता है (*Indian Tob. Monogr.*, 101-03, 124-26; Lucas, 45-62; Garner, 456-58).

मूल का विकास तथा जल शोषण के प्रतिरोध की मात्रा ये आनु-वंशिकतः नियंत्रित लक्षण हैं. पत्तों के लक्षण, जैसे संसाधन व्यवहार,

सुगंध, विशेष स्वाद, गठन, रंग का अवधारण तथा ज्वलन गुण इत्यादि प्रायः आनुवंशिकीय ढंग से न्यूनाधिक रूप में नियंत्रित होते हैं (Indian Tob. Monogr., 100).

व्यापारिक उद्देश्यों के लिए खेती की जाने वाली कुछ मानक किस्में निकोटिन मात्रा में अत्यधिक अंतर रखने वाले विभेदों के मिश्रण से आई हैं; परन्तु प्रत्येक में ऐल्कलायड की मात्रा के अनुसार ही शुद्ध प्रजनन होता है। सामान्य रूप से कम निकोटिन वाले विभेदों के रूप में उत्परिवर्तन देखे गये हैं। यद्यपि ऐसा विरल मध्यान्तरों पर ही और केवल बहुत बड़ी संख्या के क्रमिक परीक्षण के बाद ही होता है। वीडो तम्बाकू (जिसमें निकोटिन की मात्रा बहुत अधिक होती है), तथा फ्लू-संसाधित तम्बाकू के संकरण से पता चलता है कि बहुत से जीन सम्मिलित हैं और अधिक निकोटिन की मात्रा आंशिक रूप से ही प्रधान है (Garner, 458-59; Indian Tob. Monogr., 100, 127-28).

यद्यपि नि.द्वैकेम और कुछ हद तक नि.रस्टिका में पर्याप्त परिवर्तन-शीलता पाई जाती है फिर भी प्राकृतिक अवस्थाओं में इन दोनों जातियों में उत्परिवर्तन की घटना दुर्लभ है। 'स्वैत बर्ली' तथा 'मैमथ' नामक केवल दो उत्परिवर्तियों की सफलतापूर्वक खेती होती है। अमेरिका में उपजायी जाने वाली तम्बाकू की किस्म में महत्व की दृष्टि से 'स्वैत बर्ली' का दूसरा स्थान है। दूसरी अपनी उच्च पत्ती-संख्या के लिए प्रसिद्ध है (Garner, 452; Indian Tob. Monogr., 108).

किरणन द्वारा उत्परिवर्तनों के प्रेरण के प्रयत्न किये गये हैं। भारत में स्थानीय किस्मों के संकरण की अपेक्षा प्रबल, फ्लू संसाधित किस्में उपलब्ध करने में विकिरण तकनीक अधिक सफल सिद्ध हो सकती है क्योंकि ऐसे संकरों में संसाधन ठीक से नहीं हो पाता (Indian Tob. Monogr., 108-12).

सारणी 3 में वरण तथा संकरण द्वारा प्राप्त उन्नत विभेदों की सूची दी जा रही है।

तम्बाकू की खेती

वताया जाता है कि भारत में तम्बाकू का प्रचलन सत्रहवीं शताब्दी के आरम्भ में पुर्तगालियों ने किया। तभी से इसकी खेती पूरी लगन के साथ की जाने लगी। व्यापार के उद्देश्य से तम्बाकू सर्वप्रथम गुजरात और महाराष्ट्र में उपजाई गई। देश के अन्य भागों में इसकी खेती कुछ समय बाद आरम्भ हुई। इस समय संसार के तम्बाकू उपजाने वाले देशों में भारत का तीसरा और निर्यात की दृष्टि से पाँचवां स्थान है (सारणी 4)। इस समय भारत से निर्यात होने वाली व्यापारिक फसलों में तम्बाकू का छठा स्थान है तथा राजस्व और व्यापार की दृष्टि से देश की अर्थव्यवस्था के लिए यह अत्यन्त महत्वपूर्ण है (Indian Tob. Monogr., 1; Brooks, J.E., 144, 209).

भारत में तम्बाकू की खेती करने वाले महत्वपूर्ण क्षेत्र आन्ध्र प्रदेश, गुजरात, महाराष्ट्र, मैसूर, तमिलनाडु, उत्तर प्रदेश, बिहार और पश्चिमी बंगाल में स्थित हैं। भारत में कुल मिलाकर जितने क्षेत्र में तम्बाकू की खेती होती है उसका 91.0% क्षेत्र और कुल उत्पादन का 93.0% इन्हीं प्रदेशों में होता है। सारणी 5 में विभिन्न प्रान्तों में तम्बाकू के क्षेत्रफल एवं प्रत्येक प्रान्त के तम्बाकू पैदा करने वाले प्रमुख जिलों के नाम दिये गये हैं तथा यह भी बताया गया है कि प्रान्त के कुल जितने क्षेत्र में तम्बाकू की खेती होती है उसका कितना प्रतिशत उस जिले में है।

जलवायु - तम्बाकू की खेती उष्णकटिबंधीय, उपोष्णकटिबंधीय और शीतोष्णकटिबंधीय जलवायु में बहुत अच्छी होती है। इसके तैयार होने में 100-120 दिन लगते हैं। इस अवधि में पाला नहीं

पड़ना चाहिये और तैयार होने के लिए औसत ताप 27° रहना चाहिये। भारत में समुद्र-तटीय क्षेत्रों से लेकर 900 मी. की ऊँचाई तक तम्बाकू की खेती विभिन्न अवस्थाओं में की जाती है। सूखे के दिनों में 35° से अधिक ताप पर इसकी पत्तियाँ झुलस जाती हैं। किन्तु जिन स्थानों का अधिकतम ताप बहुत अधिक होता है वहाँ भी सिंचाई के द्वारा कई प्रकार की तम्बाकू पैदा की जाती है। साधारणतया दक्षिण भारत में तम्बाकू की फसल अक्टूबर से मार्च तक उगाई जाती है। इन महीनों में वहाँ मामूली ताप रहता है। देश के पूर्वी और पश्चिमी भागों में तम्बाकू सितम्बर से जनवरी के मध्य पैदा की जाती है। पंजाब में यह ग्रीष्म ऋतु के आरम्भ में बोई जाती है (Indian Tob. Monogr., 30, 149).

मिट्टी - तम्बाकू, मिट्टी के भौतिक और रासायनिक गुणों के प्रति संवेदनशील है। इसकी खेती के लिए सबसे अच्छी मिट्टियाँ वे हैं जो खुली, अच्छे जल-निकास की हों और जिनका वातन भी यथेष्ट होता हो। उन हल्की मिट्टियों में जिनमें पोषक तत्व कम हों, पतली, पीली और हल्की पत्तियाँ निकलती हैं जिनमें गन्ध भी अपेक्षाकृत कम होती है किन्तु यदि मिट्टी में नाइट्रोजन और खनिज तत्वों की मात्रा अधिक हो जाए तो पत्तियों का रंग बदल कर भूरा हो सकता है और उनके रासायनिक-संघटन भी बदल सकते हैं। किन्तु यह आवश्यक नहीं कि इसके फलस्वरूप पत्तों का रंग गहरा हो ही जाए। सामान्य रूप से पत्तियाँ मोटी नहीं हो पाती हैं। दूसरी ओर भारी मिट्टी की फसल में मोटी, गहरे रंग की, भारी और अधिक गोंद वाली पत्तियाँ निकलती हैं जिनमें काफी स्पष्ट गन्ध होती है। तम्बाकू की खेती के लिए मिट्टी का पी-एच मान 5.0 से 6.0 के बीच ठीक रहता है। यद्यपि अनेक तम्बाकू उत्पादन क्षेत्रों की मिट्टी का पी-एच 8.0 या इससे भी अधिक होता है (Garner, 88, 61; Indian Tob. Monogr., 22, 149).

आन्ध्र प्रदेश की भारी और काली मिट्टियों में सिगरेट की तम्बाकू बारानी फसल के रूप में उगाई जाती है। इन मिट्टियों में नमी धारण करने की उच्च क्षमता होती है। किन्तु संयुक्त राज्य अमेरिका और दक्षिणी रोडेसिया की तुलना में उनमें उपज कम होती है और पत्तियाँ भी अपेक्षाकृत निम्न कोटि की निकलती हैं। मैसूर की हल्की मिट्टियों में अपेक्षाकृत उत्तम कोटि की तम्बाकू पैदा होती है। भारत में व्यापारिक तम्बाकू पैदा करने वाली विभिन्न मिट्टियों का विवरण सारणी 6 में दिया गया है (Indian Tob. Monogr., 22-30, 149-50, 297; Bhat, Indian Tob., 1957, 7, 15; Uppal, ibid., 1957, 7, 60).

प्रवर्धन - तम्बाकू का प्रवर्धन बीजों द्वारा होता है। फसल की गुणता और एकरूपता बीजों की शुद्धता पर निर्भर करती है। समानजीनी और इतरजीनी पौधों की उपस्थिति के कारण कृषि कार्यों, पक्वता, नाशकजीवों और रोगों का प्रतिरोध तथा तोड़ी हुई पत्तियों के संसाधन में बाधा पड़ती है। इतरजीनी बीजों के अकस्मात् मिल जाने से या खेत में प्राकृतिक पर-परागण के कारण बीजों में मिलावट आ जाती है। बीज के लिए कुछ पौधों को छोड़कर सभी अपलु-संसाधित तम्बाकूओं को खुदक दिया जाता है। बीजू पौधों में एक भी इतरजीनी पौधे के मिल जाने से अगली फसल में काफी मिलावट आती है (Indian Tob. Monogr., 289).

तम्बाकू के विभिन्न प्ररूपों में 4-20% तक प्राकृतिक पर-परागण होता है। दूसरे प्रकारों के साथ बहिःसंकरण अवांछनीय है और कोई भी प्ररूप उस समय सर्वोत्तम माना जाता है जब उसे फसल में होने वाले प्राकृतिक पर-परागण के कारण संकरता के स्तर पर बनाये रखा जाए। लगातार स्वसेचन के द्वारा अत्यन्त शुद्ध बीजों का उत्पादन भी ठीक नहीं रहता है क्योंकि अत्यधिक शुद्धता के कारण आनुवंशिक विनाश के

सारणी 3 — कृष्ट तम्बाकू के उन्नत विभेद*

तम्बाकू के प्रकार	उन्नत विभेद	कृष्ट क्षेत्र	विद्यमान विभेदों में सुधार
नि. टंबेकम			
पत्र-संमाधित मिगरेट	हेरिमन स्पेशल-9 हेरिमन स्पेशल	उत्तरी सरकार उत्तरी सरकार एवं मैसूर	अधिक उपज मिलती है; वृद्धि एवं परिपक्वता में अधिक एकलप उपज में हेरिमन स्पेशल-9 के तरह ही, प्रकृति तथा आकृतिक लक्षणों में मानकित
	चैत्यम	"	अनुकूल कृषि स्थितियों में हेरिमन स्पेशल से अधिक चटक श्रेणियाँ, विलंबित रोपण का बुरा असर नहीं पड़ता
	डेननेस्ट**	"	खुटकने की प्रतिक्रिया अच्छी होती है तथा हेरिमन स्पेशल या चैत्य में 20-35% अधिक अच्छे पत्ते पैदा होने हैं
मिगार लपेटक	रंगपुर सुमात्रा	बंगाल का रंगपुर क्षेत्र और कूचबिहार	सुमात्रा में लाई गई भूल किस्म में भी अधिक अच्छी तरह स्थानीय स्थितियों में ढल चुका है
	दीक्षी शेड**	"	रंगपुर सुमात्रा या अन्य स्थानीय किस्मों में गुण तथा उपज दोनों में ही उत्तम.
बीड़ी	केलियु-49	जिला-कैरा	दस दिन पहले परिपक्व, संमाधन में कम समय लगता है; अच्छी तरह पकता है. तैयार किस्म हल्के पीले-हरे रंग की होती है, जिसे सहेंगी होती है
	केलियु-20 गाडियु-6	" कैरा जिले में नाडियाड	केलियु-49 से अधिक उपज लेकिन गुण में नमन केलियु-49 की अपेक्षा अधिक उपज देने वाली, सिंचित अवस्था में उगाई जाने वाली किन्तु निरूप्य गुण वाली
बीड़ी तथा खैनी	सुरती-20 मैजपुरियु-57 पिलियु-98 रैमाल-43	कोल्हापुर और बेलगाँव जिले कैरा जिला कैरा जिले का पैटनाद तालुका "	स्थानीय विभेदों से अधिक उपज स्थानीय विभेदों में अधिक उपज वाला अच्छी तथा एकममान वृद्धि; स्थानीय किस्मों से उच्चतर उपज पिलियु-98 से जल्दी तैयार होने वाली
चुरट	डॉ. आर. आई.	कृष्णा, तथा पश्चिमी और पूर्वी गोदावरी जिले	स्थानीय प्ररूप (संका 27) का उन्नत विभेद, अधिक उपज तथा खाद देने, मिचाई तथा खुटकने में लाभ
हुक्का	टी-17**	पंजाब	स्थानीय विभेदों में 20-25% अधिक उपज
खैनी	एन. पी.-70	बिहार तथा उत्तर प्रदेश	स्थानीय विभेदों की अपेक्षा अधिक नमन वृद्धि तथा स्थानीय किस्मों में 10-15 दिन पहले तैयार होती है
हुक्का और खैनी	डॉ. पी.-401 (बोरी-भाराव-10)**	बिहार	स्थानीय विभेदों में 30-35% अधिक उपज तथा गुण में भी श्रेष्ठतर
नि. रस्टिका			
हुक्का और खैनी	एन. पी-18 टी. 26, टी. 218, टी. 238 नो. 302**	पंजाब, उत्तर प्रदेश तथा बिहार पंजाब पंजाब	नगमन 2 मज्जाह पूर्व तैयार होती है और उपज तथा गुण में श्रेष्ठतर स्थानीय विभेदों में उपज तथा निकोटीन की मात्रा में श्रेष्ठतर संवर्धित पुष्पक्रम वाली तथा देर में तैयार होने वाली; कम भूसूतारी टी. 238 में 20-35% अधिक उपज; त्रिगुण संतर में वरण द्वारा विकसित
	एन. पी. एम. 219**	उत्तर प्रदेश, पंजाब तथा बिहार	बड़ी पत्ती वाली; स्थानीय तथा एन. पी. 18 में निकोटीन में समृद्ध; उपज भी अधिक, भारतीय तथा कनाडा के विभेदों के संकरण में प्राप्त
	संवर टी. 31 x टी. 192**	पंजाब	उन्नत टी. 238 में भी 20-35% अधिक उपज तथा व्यापारिक रूप से उगाई जाने वाली

*Indian Tob. Monogr., 117-19.

**मेस्ट्रन टोर्बरो रिमर्च इंस्टीट्यूट, राजमहेन्द्री के निदेशक ने प्राप्त सूचना.

सारणी 4 — विश्व के प्रमुख देशों में तम्बाकू का क्षेत्रफल, उपलब्धि और उत्पादन*

(क्षेत्रफल : हजार हेक्टर; उपलब्धि : 100 किग्रा./हेक्टर; उत्पादन : हजार मेट्रिक टन में)

	क्षेत्रफल			उपलब्धि			उत्पादन		
	1962-63	1963-64	1964-65	1962-63	1963-64	1964-65	1962-63	1963-64	1964-65
ब्राजील	232	250	251	8.1	8.3	8.4	187.0	206.8	210.0
बुल्गारिया	120	124	131	8.9	8.5	11.4	106.7	105.2	146.9
कनाडा	53	46	35	17.4	19.8	19.7	92.1	91.2	68.2
ग्रीस	124	146	143	7.5	8.6	9.2	93.1	126.9	131.5
भारत	421	416	397	8.3	8.8	8.5	348.5	366.8	336.0
इंडोनेशिया	192	193	..	4.1	4.2	..	77.9	80.3	..
जापान	64	73	82	21.9	21.6	25.9	139.1	158.0	212.0
पाकिस्तान	89	89	85	8.9	11.5	12.2	102.0	101.7	103.6
फिलिपीन्स	97	96	83	7.0	6.8	6.6	67.7	65.0	54.6
द. रोडेशिया	89	105	98	9.2	13.1	12.9	82.5	137.7	126.3
तुर्की	82	235	272	10.0	5.6	6.4	82.0	131.6	175.2
अमेरिका	495	476	436	21.2	22.3	25.5	1,049.9	1,063.1	1,010.0
सोवियत देश	137	151	154	9.8	10.3	15.0	134.0	156.2	231.0

*Prod. Yearb. FAO, 1965, P-146.

सारणी 5 — भारत में तम्बाकू उगाने वाले प्रमुख जिले*

प्रदेश	भारत में उगाये जाने वाले कुल क्षेत्रफल का प्रतिशत	महत्वपूर्ण जिले	तम्बाकू की खेती का क्षेत्रफल (हेक्टर में) और प्रदेश में फसल के कुल क्षेत्रफल का प्रतिशत
आन्ध्र प्रदेश	36.7	गुण्टूर	81,640 (57.5%)
		पश्चिमी गोदावरी	12,440 (8.7%)
		कृष्णा	10,200 (7.2%)
		पूर्वी गोदावरी	9,760 (6.9%)
		खम्मामेट	6,680 (4.5%)
उत्तर प्रदेश	5.0	फर्रुखाबाद	6,018 (31.3%)
		एटा	1,871.6 (9.7%)
गुजरात	22.3	कैरा	62,436.4 (72.2%)
		बड़ौदा	16,800 (19.9%)
तमिलनाडु	4.4	कोयम्बटूर	11,120 (65.4%)
पश्चिमी बंगाल	4.5	कूच बिहार	12,760 (73.8%)
		जलपाइगुड़ी	2,640 (15.3%)
बिहार	4.0	मुजफ्फरपुर	5,355.6 (34.5%)
		दरभंगा	4,204.4 (27.0%)
		पूर्णिया	3,333.6 (21.5%)
महाराष्ट्र	5.6	कोल्हापुर	13,560 (63.0%)
		सांगली	3,400 (15.8%)
मैसूर	10.3	बेलगाम	23,392 (63%)
		मैसूर	7,248.4 (18.2%)
		कोलार	2,576 (6.5%)

*1960-61 के आँकड़े.

सारणी 6 — भारत में तम्बाकू उत्पादक क्षेत्रों की मिट्टियों के प्रकार*

तम्बाकू का प्रकार	प्रदेश जिसमें खेती होती है	मिट्टी
फलू-संसाधित	आन्ध्र प्रदेश	भारी काली मिट्टी जिसे काली कपास की मिट्टी कहते हैं। जल-निकास की सुविधाओं से युक्त जलोढ़-रेतीली या रेतीली-दुमट मिट्टी जो गोदावरी नदी के उच्च तल वाले डेल्टा द्वीपों में पाई जाती है लाल रेतीली दुमट मिट्टी।
बीड़ी	मैसूर चरोतर (उत्तर गुजरात)	जलोढ़ रेतीली या रेतीली दुमट मिट्टी जिसमें कार्बनिक पदार्थ और नाइट्रोजन की मात्रा बहुत कम होती है। उसमें 6-13.5% मृत्तिका तथा 50-80% बालू होती है।
	निपानी (मैसूर)	सिल्ट दुमट मिट्टी, जिसमें नमी धारण करने की पर्याप्त क्षमता होती है।
सिगार में भरी और बांधी जाने वाली	तमिलनाडु	रेतीली या दुमट मिट्टी। जल-निकास की सुविधाओं से युक्त और लाल या भरे रंग की। यह अभिक्रिया में क्षारीय होती है और इसमें मुक्त कैल्सियम कार्बोनेट रहता है।
हुक्का	उत्तरी भारत	अनेक प्रकार की मिट्टियों में उगाई जाती है। बंगाल में रेतीली-दुमट मिट्टी में; उत्तरी बिहार में रेतीली-सिल्ट दुमट जलोढ़ मिट्टी में; जो अभिक्रिया में क्षारीय, प्रायः फॉस्फोरस और पोटैश में न्यून होती है। उत्तर प्रदेश में लवणीय जलोढ़ मिट्टी में, पंजाब में रेतीली-दुमट मिट्टी में जो क्षारीय तथा पीछों के लिए आवश्यक पोषक पदार्थों से भरपूर होती है।
पैनी तम्बाकू	उत्तरी भारत	वैसी मिट्टी जैसी हुक्का-तम्बाकू के लिए काम में लाई जाती है।
	तमिलनाडु	हल्की पथरीली या रेतीली, जिसमें जल-निकास की सुविधा होती है। यह घूसर से लेकर लाल मित्र-मित्र रंगों में पाई जाती है और कुछ क्षेत्रों में इनमें समुद्र-तटीय मिट्टी मिली होती है।

*Indian Tob. Monogr., 22-30.

द्वारा कुछ विशेष अद्भुत महत्वपूर्ण अभिलक्षणों के नष्ट होने की सम्भावना रहती है। इससे किसी हद तक क्षय और अनुकूलनीयता में कमी भी आ सकती है। उपज और गुणता की दृष्टि से अपेक्षाकृत पर्याप्त समयक्षमता और स्थायित्व प्राप्त हो जाने के बाद यह आवश्यक है कि संतति थोक प्रजनन के द्वारा उसे बनाये रखा जाए (Indian Tob. Monogr., 291; Garner, 454-55).

भारत में वर्जीनिया सिगरेट तम्बाकू के प्रचलन के कई वर्षों बाद तक लोगों का यह विश्वास था कि उत्तम कोटि की फसलों को उगाने के लिए बीज को हर तीसरे साल उसके मूल स्थान से प्राप्त करना चाहिये। किन्तु जब 1936 में संयुक्त राज्य अमेरिका से बीजों के निर्यात पर पाबन्दी लग गई तो वर्जीनिया तम्बाकू के बीजों को देश में ही पैदा करना आवश्यक हो गया। अन्वेषणों से पता लगा कि बीजों का ह्रास मुख्य रूप से खेती करने, फसल काटने और संग्रह करने में असावधानी के कारण हुआ था, जिससे मंकर-प्रकारों और इतरजीनी पीछों, यहाँ तक कि देशी प्ररूपों के बीज भी आपस में मिल गये थे। तब से बीज के लिए गण्डों में बुवाई और बीज पैदा करने की ऐसी नई युक्तियाँ निकाली गयीं हैं जिससे सामान्य मिश्रण की सम्भावनाओं तथा दूसरे प्ररूपों के साथ

संकरण के द्वारा होने वाली मिलावट को समाप्त किया जा सके। केन्द्रीय तम्बाकू अनुसंधान संस्थान और भारतीय पर्ण तम्बाकू विकास कम्पनी द्वारा इस देश में शुद्ध वर्जीनिया तम्बाकू के बीजों की सभी आवश्यकताओं की पूर्ति की जा रही है (Pal & Rao, *Indian Fmg*, 1944, 5, 516; Kadam et al., *Indian Tob.*, 1952, 2, 81; Krishnamurty, *ibid.*, 1958, 8, 37; 1957, 7, 27).

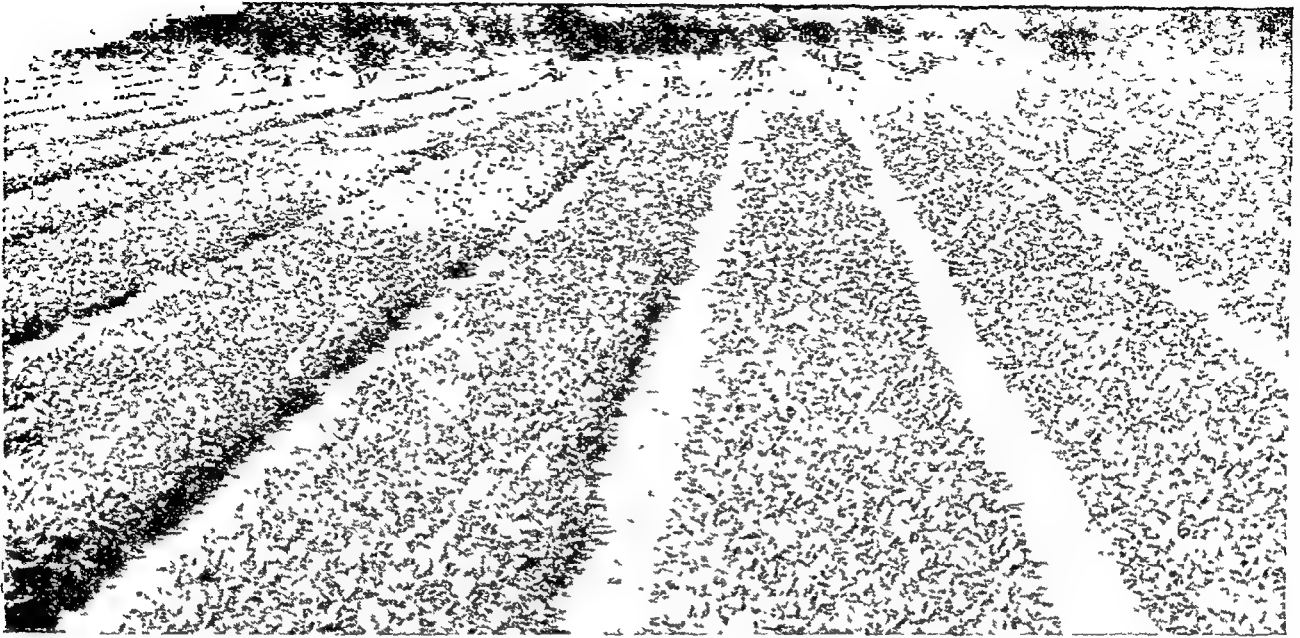
फसल काटने के बाद हल्के, अपरिपक्व या सिकुड़े बीजों, भूसा और अन्य अनावश्यक वस्तुओं को दूर करने के लिए बीजों को ओसाया जाता है। उसके बाद हल्के कूड़े को अलग करने के लिए उन्हें पानी में धोया जाता है। कूड़े के साथ हल्के बीज भी पानी की सतह पर तैरने लगते हैं। लेकिन ये बीज हर दृष्टि से भारी बीजों के समान ही या कभी-कभी उनसे भी अच्छे निकल सकते हैं। परीक्षण करने पर उनसे भारी बीजों की अपेक्षा अधिक पीछें प्राप्त हुईं। प्रायः बीजों को लगभग 10 मिनट तक 0.1% सिल्वर नाइट्रेट के विलयन से उपचारित किया जाता है, तत्पश्चात् उन्हें पहले छाया में और बाद में कुछ घंटों के लिए धूप में सुखाया जाता है। इसके बाद एल्कैथीन-थैलों में भर कर उन्हें ठंडे स्थान में संग्रह कर दिया जाता है (Indian Tob. Monogr., 295).

वताया गया है कि शुष्क अवस्था में साधारण ताप पर संग्रह करने से तम्बाकू के बीजों की अंकुरण क्षमता 20 वर्ष या उससे भी अधिक समय तक बनी रहती है किन्तु भारत में परीक्षण करने से पता चला है कि बीजों की अंकुरण क्षमता केवल 3 वर्ष तक ही संतोषजनक रहती है। चौथे वर्ष अंकुरण क्षमता बहुत कम हो जाती है और पाँचवें वर्ष तक तो लगभग पूरी तरह समाप्त हो जाती है (Patil, *Indian Tob.*, 1955, 5, 23).

अच्छी किस्म के बीजों में लगभग 90% अंकुरण होता है। अंकुरण के लिए अनुकूलतम ताप 24-30° है। बीजों की जो किस्में बहुत समय से भारतीय परिस्थितियों के अनुकूल हो गई हैं उनकी अपेक्षा हाल ही में प्रविष्ट की गयी किस्मों की अंकुरण क्षमता साधारणतया कम होती है। भारतीय परिस्थितियों के अनुकूल बीज किस्मों का अंकुरण उस ताप से भी ऊँचे ताप पर अधिक होता है जिसे विदेशों में अनुकूलतम वताया गया है (Garner, 310; Pal & Gopalachari, *J. Indian bot. Soc.*, 1957, 36, 262).

बीज तैयार करना — 1.2 से 1.4 मी. चौड़ी और किसी भी सुविधाजनक लम्बाई की क्यारियों में तम्बाकू की पौद उगाई जाती है। क्यारियाँ उथली अथवा भूमि सतह से 5.0-7.5 सेंमी. ऊँची बनाई जाती हैं जिससे पानी भरा न रहे। घासपात के बीजों, मिट्टी से उत्पन्न रोगों और हानिकारक कीटों को नष्ट करने के लिए क्यारी की मिट्टी को आंशिक रूप से निर्जमीकृत कर दिया जाता है। भारतीय परिस्थितियों में भूमि के ऊपर खोई जलाना (रैविंग) अथवा कवकनाशियों का छिड़काव आंशिक निर्जमीकरण की व्यावहारिक विधियाँ हैं। बताया जाता है कि रैविंग से भूमि संरचना और उर्वरता में सुधार होता है। रैविंग की क्रिया खाद डालने से पहले की जाती है (Garner, 116-20; Indian Tob. Monogr., 161-62).

तम्बाकू के बीजों में संग्रहीत पोषक बहुत कम मात्रा में रहते हैं जिससे बीजों की क्यारियों में पर्याप्त खाद डालनी पड़ती है। गोबर की खाद 25-125 टन प्रति हेक्टर की दर से और मूँगफली या कम्पोस्टित अंडी की खली 45-130 किग्रा. नाइट्रोजन प्रति हेक्टर की दर से डाली जाती है। तम्बाकू के बीज बहुत छोटे (12,500-14,500 बीज/ग्रा.) होते हैं; अतः बोते समय बीजों को किसी उर्वरक, मिट्टी या रेत के साथ मिलाकर अथवा बीजों को पानी में विलोडित करके उन्हें फुहारे की मदद से क्यारियों में छिंट देते हैं। कभी-कभी



चित्र 138 - निकोटिआना टैबेकम - पौधशाला

बीजों को मिट्टी के तेल के साथ मल कर बोते हैं जिससे उन्हें चीटियाँ न ले जा सकें (Indian Tob. Monogr., 164; Garner, 125; Yegna Narayan Aiyer, 422, 430).

फसल उगाने के मौसम और तम्बाकू की किस्म के अनुसार अधिकांश क्षेत्रों में बीजों की बोवाई जुलाई के पहले सप्ताह से लेकर सितम्बर के तीसरे सप्ताह तक की जाती है। पंजाब में नवम्बर और दिसम्बर में बोवाई की जाती है किन्तु उत्तर प्रदेश में फरवरी के मध्य से मार्च के मध्य तक बीज बोये जाते हैं। यदि बीज बोने के मौसम में मिट्टी का ताप बहुत अधिक ($31-41^{\circ}$) हो तो बोने से पहले बीजों को दस दिन तक कम ताप ($10-12^{\circ}$) पर रखा जाता है। पूर्वोपचारित बीजों को रेफ्रिजरेटर में से निकालने के बाद 2-3 घंटे के अन्दर बो देना चाहिये। पूर्वोपचारित बीजों के उपयोग से अकुरण अपेक्षाकृत शीघ्र और समान रूप से होता है और लगाने के लिए अधिक पौधे प्राप्त होती हैं। पौध लगाने के लिये बीजों की उपयुक्ततम मात्रा 2.75-3.5 किग्रा./हेक्टर है। नि. रस्टिका के बीजों का आकार बड़ा होता है इसलिए 4.5-6.7 किग्रा. बीज लगते हैं। लगभग 25-40 वर्मी. नर्सरी से सामान्यतया 0.5-1.0 हेक्टर भूमि में रोपे जाने के लिए पर्याप्त पौधे मिल जाती हैं। बीज बोने के बाद क्यारी की सतह को हाथ से या लकड़ी के बेलन से हल्का-हल्का दबा देते हैं तथा उसे घास-फूस या टहनियों के हल्के छप्पर से ढक देते हैं। बीज की क्यारी की सतह को नम रखने के लिए थोड़ा-थोड़ा पानी कई बार छिड़का जाता है जैसे-जैसे पौधे बढ़ती जाती हैं, वैसे-वैसे पानी देना कम करते जाते हैं। बहुत पानी डालने से पौधों के पीले पड़ने और मिट्टी से पोषक पदार्थ वह निकलने की सम्भावना रहती है। ऐसी अवस्था में 1% सोडियम नाइट्रेट विलयन (2.7 किग्रा./100 वर्मी.) का प्रयोग करने से अच्छे परिणाम मिलते हैं। बीज बोने के बाद नि. टैबेकम की 7-9 सप्ताह में और नि. रस्टिका की पौधे 5-6 सप्ताह में लगाने के लिए तैयार हो जाती है। पंजाब में, जहाँ नर्सरी ठंडे

मौसम में उगाई जाती है, पौधे 9-12 सप्ताह बाद लगाई जाती हैं। सारणी 7 में हमारे देश के विभिन्न तम्बाकू उत्पादक क्षेत्रों में तम्बाकू के विभिन्न प्ररूपों को बोने और पौधे लगाने का समय विस्तार से दिया गया है (Indian Tob. Monogr., 164-66; Pal et al., Indian Tob., 1959, 9, 65; Garner, 125-28).

भूमि तैयार करना - तम्बाकू की खेती के लिए भूमि की अच्छी तरह जोलाई होनी अत्यन्त आवश्यक है क्योंकि पत्ती के अभिलक्षणों पर मिट्टी के सामान्य गुणों का निश्चित प्रभाव पड़ता है। आन्ध्र प्रदेश और मैसूर में जहाँ प्लू-संसाधित तम्बाकू पैदा की जाती है वहाँ खेत को 4-6 बार जोत कर 7.5-12.5 टन प्रति हेक्टर के हिसाब से और अन्य प्रदेशों में जहाँ दूसरे प्रकार की तम्बाकू पैदा की जाती है, 25-30 टन प्रति हेक्टर के हिसाब से गोबर की खाद डाली जाती है। तमिलनाडु में, जहाँ खैनी तम्बाकू की सघन खेती की जाती है, प्रति हेक्टर 125 टन गोबर की खाद डाली जाती है। उत्तर प्रदेश के कुछ हिस्सों में जहाँ फसल को कुँआँ के खारे पानी से सीचा जाता है, वहाँ कोई खाद नहीं डाली जाती। बीड़ी, सिगार और बुरुट की तम्बाकू उगाने वाले क्षेत्रों में तिलहन की खली, गोबर की खाद की कमी को पूरा करने के लिए 60-175 किग्रा नाइट्रोजन प्रति हेक्टर के हिसाब से डाली जाती है (Indian Tob. Monogr., 177, 181, 187, 299, 313, 326, 346, 356).

उर्वरकों की मात्राएँ - यद्यपि पत्ती के विकास के लिए नाइट्रोजन आवश्यक है किन्तु नाइट्रोजन की बहुत अधिक मात्रा में तम्बाकू की गन्व और स्वाद में कमी आ जाती है। फॉस्फेट और पोटैश को मिलाने से पर्ण-शर्कराओं के निर्माण में अनुकूल प्रभाव पड़ता है। फॉस्फेट के प्रयोग से पत्ती का आकार सुधरता है और फसल समरूप में तैयार होती है। तम्बाकू के लिए पोटैश सबसे अधिक महत्वपूर्ण उर्वरक है। इसका प्रभाव तम्बाकू की कोटि और उपज पर पड़ता है साथ ही इसके प्रयोग

सारणी 7 — तम्बाकू को बोने, पौध लगाने और फसल काटने का समय

प्रकार	क्षेत्र	बोने का समय	पौध लगाने का समय	फसल काटने का समय	फसल काटने की विधि
मिगरेट : पलू-संसाधित वर्जीनिया	आन्ध्र प्रदेश	अगस्त	अक्तूबर से आधे दिसम्बर तक	जनवरी से मार्च तक	एक-एक पत्ती करके
"	मैसूर	फरवरी से अप्रैल तक	अप्रैल से जून तक	जून से अक्तूबर तक	"
मिगरेट : धूप में सुखाई गई नाटो	आंध्र प्रदेश	नितम्बर के आरम्भ में	अक्तूबर के दूसरे पखवाड़े से नवम्बर के आरम्भ तक	मार्च से अप्रैल तक	सभी पत्तियाँ एक ही बार
बीड़ी	गुजरात, महाराष्ट्र और मैसूर	जुलाई का पहला सप्ताह	आधे अगस्त से आधे दिसम्बर तक	दिसम्बर से जनवरी तक	एक-एक पत्ती करके या पूरा पौधा, जैसी भी स्थिति हो
मिगार	तमिलनाडु	अगस्त	आधे सितम्बर से अक्तूबर तक	आधे दिसम्बर से जनवरी तक	पूरा पौधा
मिगार लपेटने का चुस्ट और चुट्टा; लंका तम्बाकू	पश्चिमी बंगाल	अगस्त	अक्तूबर के आरम्भ में	दिसम्बर से जनवरी तक	एक-एक पत्ती करके
हुक्का और खैनी	आंध्र प्रदेश	अगस्त से नितम्बर तक	अक्तूबर के दूसरे पखवाड़े से दिसम्बर के आरम्भ तक	जनवरी से मार्च तक	पूरा पौधा
"	पंजाब	नवम्बर से दिसम्बर तक	मार्च	रस्टिका प्रकार: आधे मई से आधे जून तक टैबेकम प्रकार: एक महीने बाद	पूरा पौधा
"	बिहार	रस्टिका प्ररूप : सितम्बर के दूसरे पखवाड़े से आधे अक्तूबर तक टैबेकम प्ररूप : जुलाई के दूसरे पखवाड़े से आधे अगस्त तक	अक्तूबर के दूसरे पखवाड़े से नवम्बर तक	फरवरी से मार्च तक	"
"	उत्तर प्रदेश	जाड़ों की फसल के लिए अगस्त से सितम्बर तक गमियों की फसल के लिए फरवरी से मार्च तक	अक्तूबर से नवम्बर तक	अप्रैल	"
"	पश्चिमी बंगाल	रस्टिका प्ररूप : सितम्बर के दूसरे पखवाड़े से आधे अक्तूबर तक टैबेकम प्ररूप : अगस्त के दूसरे पखवाड़े से नितम्बर के आरम्भ तक	अक्तूबर के दूसरे पखवाड़े से आधे नवम्बर तक	फरवरी के बाद	एक-एक पत्ती करके
"	तमिलनाडु	अगस्त से दूसरे पखवाड़े से दिसम्बर तक	अक्तूबर के दूसरे पखवाड़े से नवम्बर-दिसम्बर तक	पौध लगाने के बाद 110-120 दिन में	पूरा पौधा
"	केरल	अगस्त	नितम्बर से अक्तूबर तक	"	"

मे कावक रोगों की प्रतिरोध क्षमता में वृद्धि और रंग, दाह्यता और गन्ध में सुधार होता है।

अलग-अलग क्षेत्रों में उर्वरकों की आवश्यकता भिन्न-भिन्न है। यह वहाँ की मिट्टी में विद्यमान पोषक पदार्थों की मात्रा, बोई गई तम्बाकू की किस्म, तथा सिचाई-सुविधाओं पर निर्भर करती है। साधारण रूप से प्रति हेक्टर 17-22 किग्रा. नाइट्रोजन, 67-90 किग्रा. फॉस्फोरिक अम्ल और 67-90 किग्रा. पोटैश डालने से वर्जीनिया तम्बाकू की बहुत अच्छी फसल होती है। तम्बाकू की दूसरी किस्मों के लिए उर्वरकों की इतनी मात्रा डाली जाती है जिससे एक हेक्टर भूमि को 45-57 किग्रा. नाइट्रोजन, 35-45 किग्रा. फॉस्फोरिक अम्ल

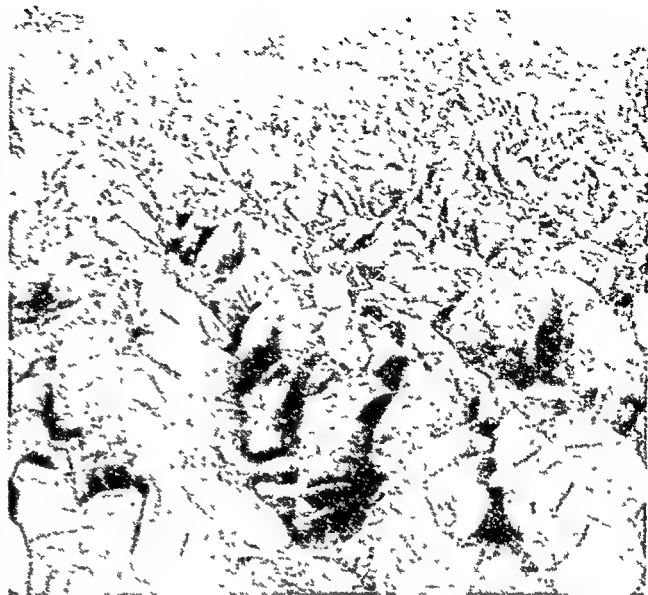
और 35-45 किग्रा. पोटैश प्राप्त हो सके। मिट्टी में अमोनियम क्लोराइड और पोटैश-स्यूरिएट नहीं डालना चाहिए क्योंकि तम्बाकू के दहन-गुण पर उनका अवांछनीय प्रभाव पड़ता है। पीधे लगाते समय मिट्टी में उर्वरकों की पूरी मात्रा मिलानी चाहिए [Indian Tob. Monogr., 139-45; Garner, 330-43; Jakate, *Fertil. News*, 1962, 7 (11), 15]।

प्रतिरोपण — भारत में सभी प्रकार की तम्बाकूओं की पीधें हाथ से लगाई जाती हैं। खेत को चिह्नित करने के बाद पौधों को उथली क्यारियों या मेंडू पर रोपते हैं। साधारणतया पौध वर्पा के दिन अथवा खेत को सीचने के बाद लगाई जाती हैं। उत्तर प्रदेश और पंजाब में पौध

सूखी मिट्टी में लगाकर तुरन्त सिचाई करते हैं। सिचाई करते समय मँड़े बनाना ठीक रहता है क्योंकि इससे पानी की बचत होती है और मिट्टी में वायु-संचार भी अधिक अच्छी तरह होता है। शुष्क अवस्थाओं और रेतीले क्षेत्रों में उथली क्यारियों में पौधे लगाना अच्छा होता है। पौधों के बीच का अन्तर बोई गई तम्बाकू के प्रकार और मिट्टी के अनुसार बदलता रहता है। एक हेक्टर भूमि में सिगरेट तम्बाकू और चौड़ी पत्ती की खेनी तम्बाकू की 12,500 पौधे तथा पंजाब में हुक्का तम्बाकू की 1,00,000 पौधे लगाई जाती हैं। खेनी, सिगार और हुक्का की तम्बाकूओं के साथ किये गये परीक्षणों से पता चला है कि पौधों के बीच अधिक अन्तर देने से पत्ती के आकार और मोटाई में पर्याप्त वृद्धि होती है और साथ ही पौधे के कुल भार में और संसाधित पत्ती की उपज में भी वृद्धि होती है। कम स्थान छोड़ने से उपज बढ़ती तो है किन्तु यह बहुतेरी पौधों की अधिक संख्या की समानुपाती नहीं होती। घनी पौधों का लगाना तभी ठीक रहता है जब पौधे देर में लगाई जायें। आन्ध्र प्रदेश और मैसूर में सिगरेट तम्बाकू, निपानी और चरोतर में बोड़ी तम्बाकू तथा तमिलनाडु में सिगार और खेनी तम्बाकू की पौधों के बीच दोनों ओर 75-100 सेंमी. का अन्तर रखा जाता है। पंजाब में हुक्का तम्बाकू के लिए 23 सेंमी. × 37 सेंमी. से 15 सेंमी. × 30 सेंमी. के बीच स्थान छोड़ा जाता है। पश्चिमी बंगाल और उत्तर प्रदेश में रस्टिका तम्बाकू की पौधों के बीच 50 सेंमी. × 60 सेंमी. स्थान छोड़ा जाता है।

तम्बाकू की फसल की गुड़ाई साधारण रूप से 15 दिन के अन्तर पर 3-4 बार की जाती है किन्तु पश्चिमी बंगाल में जहाँ तम्बाकू उगाने के मौसम में उपमदा जल की सतह काफी ऊपर होती है, पहले महीने में 3-4 दिन के अन्तर से और बाद में एक-एक सप्ताह के अन्तर से गुड़ाई की जाती है। इससे मिट्टी में अधिक नमी नहीं रहती है और वायु-संचार होता रहता है। सम्पूर्ण गुड़ाई का काम पौधे लगाने के बाद 2-2½ महीने में पूरा कर दिया जाता है क्योंकि बाद में गुड़ाई करने से बढ़ी हुई पौधों की जड़ों और पत्तियों के नष्ट होने की सम्भावना बनी रहती है (Indian Tob. Monogr., 169-73)।

शीर्ष खुटकना और दौजी निकालना — जब पौधे 90-100 सेंमी. ऊँचे या 5-6 सप्ताह पुराने हो जाते हैं तो उनको खुटक दिया जाता है। खुटकने के बाद पर्णकक्षों से प्ररोहों और दौजियों के रूप में कलिकाएँ निकलती हैं। इनको निकलते ही तोड़ दिया जाता है। कहा जाता है कि 2% सान्द्रता के नेफथेलीन ऐसीटिक अम्ल के प्रयोग से सिगार और खेनी तम्बाकू में दौजियाँ नहीं निकलती, खुटकने के फलस्वरूप पोषक पदार्थ पुष्प-शीर्षों से मुड़कर पत्तियों की ओर जाने लगते हैं। खुटकने के समय और उसकी ऊँचाई का पत्तियों के विकास पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। हाल के वर्षों में अमेरिका में देर से खुटकने की प्रवृत्ति चल पड़ी है, साथ ही खेतों में पर्याप्त उर्वरक भी दिये जाते हैं। ऐसा करने का मुख्य उद्देश्य एक सीमित क्षेत्र से इच्छित गुण वाली पत्तियों की अधिक उपज लेना है। भारत में प्रायः सिगरेट तम्बाकू को नहीं खुटका जाता किन्तु प्रेक्षकों से पता लगा है कि पुष्प-शीर्षों को अधिक खुटकने से फसल को लाभ पहुँचता है। नीचे की 3-4 पत्तियों को छोड़कर, जिन्हें हर प्रकार की तम्बाकू में तोड़ दिया जाता है, पेड़ पर रखी जाने वाली पत्तियों की संख्या भिन्न-भिन्न तम्बाकूओं में अलग-अलग होती है। पश्चिमी बंगाल में रस्टिका हुक्का तम्बाकू में 5-7, तमिलनाडु में खेनी तम्बाकू में 6-10, बीड़ी तम्बाकू में 11-12, तथा चौड़ी पत्ती की सिगार और कुछ अन्य हुक्का तम्बाकूओं में 12-14 पत्तियाँ छोड़ी जाती हैं (Indian Tob. Monogr., 173-176; Krishnamurthy. Indian Tob., 1959, 9, 244; Garner, 140-46)।



चित्र 139 — जती तम्बाकू की फसल, खुटकने के बाद

हेरफेर — भूक्षरण, रोग या कीट संक्रमण और भूमि उर्वरता के अपक्षय को रोकने के लिए तम्बाकू को दूसरी फसलों के साथ बारी-बारी से उगाया जाता है। संयुक्त राज्य अमेरिका में सिगरेट तम्बाकू के लिए फलीदार फसल का हेरफेर आवश्यक नहीं समझा जाता है क्योंकि इसके फलस्वरूप संग्रहीत अतिरिक्त नाइट्रोजन का पत्ती के गुण पर विपरीत प्रभाव पड़ता है। बताया जाता है कि हल्की मिट्टी में मक्का, कपास, टमाटर, शकरकंद की फसलें उगाने से मूलग्रंथियों के बढ़ने में मदद मिलती है। कुछ स्थानों पर मूँगफली, मिर्च, शकरकंद और टमाटर की फसलों से पौधों के मुरझाने की सम्भावना बढ़ जाती है। बताया जाता है कि किसी भूमि में फसल-चक्र की अपेक्षा तम्बाकू की लगातार फसल उगाने से अच्छे परिणाम निकलते हैं यदि खाद डालने पर ठीक-ठीक ध्यान दिया जाए। भारत में फसल-चक्र सम्बंधी प्राप्त प्रमाण संयुक्त राज्य अमेरिका में प्राप्त परिणामों का अनुमोदन करते हैं। अधिकांश क्षेत्रों में तम्बाकू अकेली उगाई जाती है और अनेक वर्षों तक लगातार उगाने पर भी इसकी उपज और गुणता पर कोई बुरा प्रभाव नहीं पड़ता किन्तु देखने में आया है कि सिगरेट तम्बाकू पैदा करने वाले इलाकों में लगातार फसल उगाने से पत्ती की कोटि पर विपरीत प्रभाव पड़ता है। ज्वार, धान, रागी या रागी-दाल का मिश्रण, गन्ना, कपास, मिर्च, कुलथी, रामतिल, जिजेली, हल्दी, प्याज और लहसुन आदि उन फसलों में से हैं जिन्हें हमारे देश में तम्बाकू के साथ हेरफेर कर बोया जाता है (Garner. 61-62. 92-100: Indian Tob. Monogr., 150-52; Yegna Narayan Aiyer. 420: Mudaliar, 490; Lucas, 28-31)।

रोग और नाशकजीव

रोग — नर्सरी में पौधों का आर्द्रगलन पिथियम एफ़नीडमैटम (एडसन) के कारण होता है। वर्षा ऋतु, अधिक आर्द्रता तथा पौधों की

सघनता में भी इस रोग के फैलने में सहायता मिलती है। हर 3-7 दिन पर बोर्डो-मिश्रण या पेरेनोक्स छिड़कने से इसका नियन्त्रण हो जाता है। फाइटोलान, कापेसान, गेल ताम्र और मिकाप जैसे ताम्र-कवकनाशी भी प्रभावशाली पाये गये हैं (Indian Tob. Monogr., 235).

फाइटोफथोरा कोलोकेसिई द्वारा उत्पन्न कृष्ण स्तम्भ गलन नर्सरी और खेत दोनों में ही तम्बाकू पर आक्रमण करता है। यह रोग जहाँ-तहाँ फैलता है तथा सिंचित फसलो और हल्की मिट्टियों में उगी फसलो को हानि पहुँचाता है। इसका सक्रमण जल, मिट्टी और वायु द्वारा उड़ाई हुई धूल से होता है। रोगग्रस्त पौधों की जड़ें और तने काले पड़ जाते हैं और पत्तियाँ मुरझा जाती हैं। नर्सरी में सप्ताह में 2-3 बार बोर्डो-मिश्रण अथवा पेरेनोक्स छिड़कने से और पौधों की जड़ के पास खेत की मिट्टी को बोर्डो-मिश्रण से सिक्त रखने से यह रोग बरा में रहता है। रोगग्रस्त जड़ों तथा तनों को जलाकर नष्ट कर देना चाहिये (Indian Tob. Monogr., 236-37; Butler, Bisby & Vasudeva, 20; Lucas, 115-39).

बीड़ी तम्बाकू को प्रभावित करने वाले एक मूल गलन रोग जिसे चितरी कहते हैं गुजरात में अत्यन्त व्याप्त है। नेमाटोड तथा साथ ही साथ फ्यूजेरियम तथा राइजोक्टोनिया की जातियाँ भी इस गलन रोग से सम्बन्धित होती हैं। रोगग्रस्त नये पौधों की सभी पत्तियाँ एक साथ मुरझा जाती हैं किन्तु अपेक्षाकृत पुराने पौधों में पत्तियाँ नीचे से मुरझाना शुरू होती हैं और ऊपर की ओर बढ़ती जाती हैं। रोगग्रस्त जड़ें भूरी हो जाती हैं और यह रोग तने के निचले भागों तक चढ़ सकता है। यह रोग मिट्टी द्वारा फैलता है अतः रोगग्रस्त तनों एवं जड़ों को निकाल देना चाहिये और एक ही खेत में लगातार कई वर्षों तक तम्बाकू की खेती नहीं करनी चाहिये (Indian Tob. Monogr., 238).

कहा जाता है कि ऐन्थ्रैकनोस रोग जो नर्सरी के पौधों में कोलेटोट्रिकम टोबैकम बीनिंग द्वारा उत्पन्न होता है, अत्यन्त उग्र होता है परन्तु खेतों में यह रोग शायद ही कभी देखा गया है। इसका संक्रमण पौधों की निचली पत्तियों से शुरू होता है और जल से सिक्त अनेक स्थलों के सम्मिलन से निमित्त वृत्ताकार क्षतों के रूप में दिखाई पड़ता है। कभी-कभी इस रोग से पूरा पौधा प्रभावित हो जाता है। रोगजनक, मिट्टी में, पौधों के अवशेषों में बने रहते हैं इसलिए पौधों के अवशेषों को निकाल कर जला देना चाहिये। एक सप्ताह अथवा वर्षा ऋतु में उससे भी कम अवधि पर पेरेनोक्स, बोर्डो-मिश्रण, डाइथेन अथवा फर्मेट के छिड़काव से इस रोग से सुरक्षा होती है (Indian Tob. Monogr., 239).

तम्बाकू की पत्तियों में मेडक-नेन पर्णधब्बा नामक रोग सर्कोस्पोरा निकोटिआनी एलिम और एक्टह द्वारा उत्पन्न होता है। यह परजीवी नर्सरी तथा खेत दोनों में ही तम्बाकू के क्षीण ऊतकों पर ही आक्रमण करता है किन्तु इस देश में यह एक गम्भीर रोग नहीं है। इस रोग से प्रभावित पौधों की निचली पत्तियों में पीले छल्लों द्वारा घिरे हुए मृत ऊतकों के भटमैले भूरे धब्बे पाये जाते हैं, जो बाद में भूरे से काले पड़ जाते हैं। यदि फसल की कटाई के कुछ पहले ही पत्तियों पर सक्रमण हुआ होता है तो पत्तियों के समाधन के समय खलियान में भी उस पर धब्बे प्रकट हो सकते हैं। तम्बाकू की कटाई के समय बरसाती मौसम होने पर इस रोग के प्रसार की सम्भावनाएँ बढ़ जाती हैं। बोर्डो-मिश्रण के छिड़काव में इस रोग का नियन्त्रण किया जाता है (Indian Tob. Monogr., 239; Lucas, 236-41).

नेतो में खड़ी, विंगेप कर मुटकी हुई, फसल में आल्टरनेरिया लॉगिपेस (एलिम तथा एक्टह) मसन के कारण भूरे धब्बे पड़ जाते

हैं। कहा जाता है, मिट्टी में इस रोग का जीवाणु पत्तियों एवं तने पर ग्रीष्म ऋतु वितरित है, अतः ग्रस्त पौधों के अवशेषों को हटाकर एवं किसी खेत में तम्बाकू की लगातार खेती न करके इस रोग के मूल सक्रमण को रोका जा सकता है (Indian Tob. Monogr., 240; Lucas, 228-35).

सभी किस्म की तम्बाकूओं में चूर्णी-फफूंदी अत्यन्त व्यापक है परन्तु आन्ध्र प्रदेश एवं मसूर के निचले क्षेत्रों में फलू-ससाधित तम्बाकू में यह रोग उग्र रूप से पाया जाता है। यह रोग एरोसाइफी सिकोरेसियरम वैर. निकोटिआने कोम्स द्वारा उत्पन्न होता है। इस रोग का आक्रमण परिपक्व होने वाले पौधों पर होता है। सक्रमण धूसराभ-श्वेत धब्बों के रूप में पौधों की निचली पत्तियों से प्रारम्भ होता है और फैलकर पत्ती के पूरे तल पर छा सकता है। ग्रस्त पत्तियाँ ससाधन के समय झुलस जाती हैं जबकि प्रारम्भिक सक्रमण, धब्बों के रूप में दिखाई पड़ते हैं। खेतों में अधिक उर्वरक नहीं डालना चाहिये और पौधों को घना नहीं होने देना चाहिये। निचली पत्तियों को तोड़ने से भी इस रोग के आपात की सम्भावना घटती है। मिट्टी में 45 किग्रा. प्रति हेक्टर गन्धक का प्रयोग करने से इस रोग का प्रभावशाली नियन्त्रण होता है (Indian Tob. Monogr., 242).

स्यूडोमोनास एगुलेटा (फ्रोमे तथा मुरे) हालैण्ड के द्वारा कोणीय-पत्ती धब्बा (लीफ-स्पॉट) नामक रोग ऐसे क्षेत्रों में पाया जाता है जहाँ पर तम्बाकू की खेती वर्षा ऋतु की खेती के रूप में की जाती है। यह रोग पौधों में काले अथवा गहरे भूरे धब्बों के रूप में प्रगट होता है जो अक्सर मिल जाते हैं। खेतों में खड़ी फसल के पौधों के पर्णों पर अपेक्षाकृत बड़े धब्बे दिखाई पड़ते हैं। इस रोग का जनक जीवाणु चरागाहों के घासपातों और कृष्य पौधों की जड़ों में पाया जाता है। साथ ही यह नर्सरी एवं खेतों के संक्रमित मूलकों में भी पाया जाता है। रोगग्रस्त पौधों के बीज भी सद्गुणित हो सकते हैं और वे दो वर्षों तक सद्गुणित बने रह सकते हैं। सिल्वर-नाइट्रेट (1 : 1,000) से 10-15 मिनट तक बीजों को उपचारित करने से कुछ सुरक्षा होती है। नर्सरी का स्थान प्रति वर्ष बदलते रहना चाहिये और पिछली तम्बाकू के अवशेषों को हटा देना चाहिये। बोर्डो-मिश्रण के छिड़काव से सुरक्षा हो सकती है। स्ट्रेप्टोमाइसिन के छिड़काव से श्रेष्ठतम फल प्राप्त होता है (Indian Tob. Monogr., 241; Garner, 258, Lucas, 328-50).

तम्बाकू में मौजैक एवं पर्णवेल्लन नामक रोग वाइरसों के द्वारा उत्पन्न होते हैं। मौजैक रोग निकोटिआना वाइरस-1 (भारमोर टैबेकाइ होल्म्स) के द्वारा फैलता है। प्रारम्भिक सक्रमण में उपज एवं गुणता में ह्रास होता है जबकि विलम्बित सक्रमण से कम हानि पहुँचती है। यह वाइरस संक्रमित गुच्छ पत्तियों तथा मिट्टी में कई वर्षों तक बना रहता है। बीज अथवा कीटों के द्वारा इस रोग का बहान नहीं होता है। सक्रमण से बचने के लिए खेतों में तथा नर्सरी में मच्छता के नियमों का कड़ाई से पालन होना चाहिये तथा समस्त रोग-ग्रस्त पौधों को नष्ट कर देना चाहिये। सभी प्रकार की कृष्ट तम्बाकूओं में रोग लग सकते हैं। नि. ग्लुटिनीसा नामक जंगली जाति काफी प्रतिरोधी है अतः इससे प्रतिरोधी प्रकारों के प्रजनन के यत्न किये जा रहे हैं (Indian Tob. Monogr., 243; Garner, 262; Lucas, 354-76).

निकोटिआना वाइरस-10 (रुगा टैबेकाइ होल्म्स) द्वारा उत्पन्न पर्ण वेल्लन रोग वेमेसिया टैबेकाइ नामक श्वेत मक्षिका के द्वारा मचारित होता है। रोग के लक्षणों के आधार पर पाँच प्रकार के पर्णवेल्लन पहचाने गए हैं। इस रोग का प्रकोप अन्य स्थानों की अपेक्षा गुजरात में एवं भारत के उत्तरी भाग में अधिक घटाया गया है। इस रोग के

नियन्त्रण के लिए एक-एक सप्ताह के अन्तर पर नर्सरी में कोई न कोई कीटनाशी छिड़कते रहने की सिफारिश की जाती है (Indian Tob. Monogr., 245; Lucas, 388-92).

फ्रेचिंग एक अपरजीवी एवं असक्रामक रोग है जो किन्हीं-किन्हीं ऋतुओं में क्यारियों में और खेतों के पौधों में तो विरले ही देखा जाता है. कभी-कभी मौसम से इसका भ्रम हो जाता है. रोग की अत्यन्त उग्र दशा में पौधा रोजेक अवस्था से आगे नहीं बढ़ पाता और अल्प-वर्धित पत्तियाँ रस्सी जैसी पतली होकर बड़ी संख्या में बनती रहती हैं. इस रोग का जनक सम्भवतः मिट्टी का एक कार्बिकी-कारक होता है. कुछ वैज्ञानिकों के अनुसार बैसिलस सिरिअस फ्रैकलैण्ड तथा फ्रैकलैण्ड का विसरित पदार्थ मृदा जीव-विष का कार्य करता है और वही इस रोग का मूल कारण होता है. नि. एकोलिस स्पेगैज़िनि तथा नि. शार्डसफ्लोरा विटर एक्स गुडस्पीड के अतिरिक्त अन्य सभी निकोटिआनाओं में फ्रेचिंग से ग्रस्त होने की प्रवृत्ति पाई जाती है. भूमि के उष्मा जीवाणुनाशन तथा फार्मैलिहाइड एवं अन्य रासायनिक पदार्थों के प्रयोग द्वारा इस रोग को रोका जा सकता है. फ्रेचिंग से पीड़ित पौधों को न रोपना और दूसरी फसलों के साथ हेरफेर कर के तम्बाकू की खेती करना इस रोग से बचाव के लिए आवश्यक है (Garner, 266; Indian Tob. Monogr., 246; Lucas, 316-22; Wark, J. Aust. Inst. agric. Sci., 1961, 27, 160).

नाशकजीव - नर्सरी में तम्बाकू के सर्वाधिक नाशकजीवों में पत्ती-इल्ली, कर्तक-कृमि, स्तम्भ-वेधक तथा ब्वेत मक्षिका प्रमुख हैं. प्रोडीनिया लिट्युरा फ्रैब्रीसिकस, लैफिमा एग्जिगुआ हुन्नर, प्लुसिया सिग्नाटा फ्रैब्रीसिकस तथा एग्रोटिस यस्सिलोन की इल्लियाँ रात में पौधों पर आक्रमण करती हैं तथा कोमल पत्तियों और रसयुक्त तनों को खाती हैं. इल्लियाँ पत्तों तथा तनों पर अड़े देती हैं और इनका प्यूपीकरण मिट्टी में होता है. यह संक्रमण नर्सरी में बढ़ता हुआ खेत में भी पहुँच सकता है. खेत की जुताई, नियमित अल्ट्रावैल्ट कृषि क्रियाएँ तथा पौधों के नीचे की मिट्टी को उलटते रहना आदि कार्य प्यूपा के विनाश में सहायक होते हैं. 50% डी-डी-टी, लेड आर्सेनेट या ग्युसरोल 550 के छिड़काव से प्रथम तीन जातियों की इल्लियों के नियन्त्रण में सहायता मिलती है 5% पेरिस ग्रीन अथवा बी-एच-सी के विष चारे में एग्रोटिस यस्सिलोन की इल्लियों का प्रभावशाली नियन्त्रण होता है. प्रोडीनिया लिट्युरा के लारवा के विरुद्ध डाइएलिड्रिन के प्रयोग से लाभदायक फल मिलता है (Indian Tob. Monogr., 252-56; Kadam, Farm Bull. Indian Coun. agric. Res., No. 10. 1956. 57; Joshi & Kurup, Indian Tob., 1960, 10, 165).

नोरिम्बोवेमा हेलियोपा लोअर नामक स्तम्भ-वेधक विशेषकर आन्ध्र प्रदेश के फूल-संसाधित तथा नाटू तम्बाकू और वम्बई (महाराष्ट्र) की बीड़ी तम्बाकू के लिए अत्यन्त हानिकारक नाशकजीव है. यह शलभ रात में अधिक सक्रिय रहता है और पत्तियों के निचले तल पर अण्डे देता है. इसका लारवा पत्तियों की मध्य शिरा से सुरंग बनाता हुआ तने तक पहुँच जाता है और वहाँ प्यूपा में बदल जाता है. इसमें पौधों की वाट का अलुआ मारा जाता है. पौधों के शीर्ष पर मुरझाई पत्तियाँ एवं फूला हुआ तना स्तम्भ-वेधक के आक्रमण का सूचक है. गस्त पत्तियों को तोड़ देना चाहिये तथा तने के फूले भाग को चीर करके लारवा को निकाल कर फेंक देना चाहिये. ग्रस्त पौधों पर बी-एच-सी अथवा डी-डी-टी के आर्द्र निलंबन के ड्रिज्जेकन द्वारा इस नाशकजीव पर नियन्त्रण प्राप्त होता है. नर्सरी या खेतों में पौधों पर पोगम तैल रेजिन, साबुन, लेड कैल्सियम आर्सेनेट, डी-डी-टी अथवा बी-एच-सी के छिड़काव की सिफारिश की जाती है. बीज की क्यारियों

को रात में महीन कपड़े से ढक देना चाहिए जिससे इन पर शलभ अण्डे न दे सके. पौधों की रोपाई के पूर्व इन्हें कैल्सियम आर्सेनेट विलयन में डुबोना तथा फमल की कटाई के बाद खेतों में बचे तम्बाकू के ठूँठ को जला देना आदि कुछ अन्य नियन्त्रक क्रियाएँ हैं (Indian Tob. Monogr., 256-58; Yegna Narayan Aiyer, 438).

ग्राइलोटेल्पा अफ्रिकाना पलास नामक एक मोल-सीगुर नर्सरी की मिट्टी को खोदकर उसमें घुसकर एवं पौधों के भूमिगत भागों को खाकर हानि पहुँचाता है. मिट्टी का कर्षण और अन्य कृषि-क्रियाएँ, अधिक ह्यूमस को कम करना तथा परिष्कृत जल-निकासी आदि क्रियाएँ लाभदायक होती हैं. बीज बोने के बाद आटा तथा पेरिस ग्रीन से तैयार किये हुए विष चारे का प्रयोग, छिड़काव करने वाले डिब्बों से पैराथियोन का उपयोग अथवा डी-डी-टी, एलिड्रिन, डाइएलिड्रिन, एण्ड्रिन अथवा फोर्डोल के छिड़काव आदि नियन्त्रक उपाय सुझाए गए हैं (Indian Tob. Monogr., 260-61).

तम्बाकू की नर्सरी के अन्य नाशकजीव भृंग (व्लेडियस प्रेसिलि-कानिस क्राट्ज, आक्सोटेल्स लैटियसकुलस क्राट्ज, राइसेमस ओरियण्ट-लिस मुल्साण्ट तथा आन्योफेगस जाति), घर की मक्खियों (मस्का डोमेस्टिका लिनिअस) के मैगट तथा काला सीगुर (ट्राइडेक्टिलस रिचैरियस सासरे) आदि हैं. इनके नियन्त्रण की विधियाँ वे ही हैं जिनके द्वारा मोल-सीगुर का नियन्त्रण किया जाता है (Indian Tob. Monogr., 261-62).

मेसोमौरफियस विलिजर ब्लैकार्ड, सेलेरोन लैटिपेस गुएरिन तथा ओपेट्रोइडीस फ्रेटर फेयरमेयर जातियों से सम्बंधित मृदा या कर्तक भृंग लगाई गई पौधों के कोमल तने को कुतर देते हैं. रोपनी की 50% डाइएलिड्रिन जल से सिंचाई करने से पर्याप्त नियन्त्रण हो जाता है. इस कार्य में क्लोरडेन, एलिड्रिन तथा एण्ड्रिन भी प्रभावशाली हैं. पौधों के चारों ओर गैमेक्सिन तथा बालू के मिश्रण फैलाने से भृंग पाम नहीं आते (Indian Tob. Monogr., 262-64; Kadam, Farm Bull. Indian Coun. agric. Res., No. 10, 1956, 58).

माइजस पसिकी सुल्जर नामक ऐफिड बढते हुए पौधों की पत्तियों पर आक्रमण करता है कहा जाता है कि यह कुछ वाइरस रोगों का भी संचार करता है गहरा आक्रमण होने पर पत्तियों का निचला भाग इन कीटों से बुरी तरह ढक जाता है तथा इनके शरीर से शर्करा जैसा तरल पदार्थ निकलता है जो एक काले फफूंद के विकास में, जिसे कज्जली फफूंद कहते हैं, सहायक होता है. तम्बाकू के काढ़े के छिड़काव द्वारा इनका नियन्त्रण एक पुराना और सतोपजनक ढग है. इस नाशक-कीट से बचने के लिए पैराथियोन के समान कीटनाशकों का छिड़काव सुझाया गया है राजमहेन्द्री में किये गये परीक्षणों से यह पता चला है कि 20% वासुडीन अथवा 50% डी-डी-टी के साथ 19.5% एण्ड्रिन मिलाने में पूर्ण नियन्त्रण हो सकता है ऐफिडों के विरुद्ध सर्वांगी कीटनाशियों का सफलतापूर्वक परीक्षण किया गया है (Indian Tob. Monogr., 264-67).

नये पौधों में रोमयुक्त इल्लियाँ (अस्सैवटा जाति) काफी हानि पहुँचाती हैं. इनसे बचने के लिए झाड़ियों, मेड़ों तथा नरपनवागों को जहाँ कहीं अडा देने की सभावना हो उनकी सफाई कर देना, दिखाई पड़ने पर इल्लियों को हाथ ने निकाल फेंकना तथा जून मान की प्रथम वर्षा के बाद शलभों को आकर्षित करने के लिए प्रकाश-जाल की व्यवस्था आदि बचने के उपाय हैं. पेरिस ग्रीन. या 5% बी-एच-सी अथवा डी-डी-टी का विष चारा तथा ग्रन्थित खेतों में मोडियम फ्लूओ-सिलिकेट का भुरकाव अथवा पाइरेथ्रम से छिड़काव की भी सन्तुनि की जाती है (Indian Tob. Monogr., 267).

होलियोथिस ग्रामिजेरा हुन्नर की इल्लियां तम्बाकू के पुष्पक्रमों तथा कोमल शाखाओं को खाती हैं तथा बढ़ने वाली सपुटिकाओं को वेध कर अपरिपक्व बीजों को खा डालती हैं। इन्हें हाथ से चुनकर नष्ट किया जा सकता है। फसल की कटाई के बाद खेत की जुताई करके प्यूपों को नष्ट किया जाता है। डी-डी-टी को छिड़कने अथवा प्रकीर्णन से भी नियन्त्रण प्राप्त होता है (Indian Tob. Monogr., 268-69)।

लैसियोडर्मा सेरिकोर्न फ्रेन्सिसकस नामक सिगरेट-भृंग का लारवा सभी प्रकार की संग्रहीत तम्बाकूओं का हानिकर नाशकजीव है। इसमें धूमन करना प्रभावशाली देखा गया है। तम्बाकू को 71.1-76.7° पर फिर से सुखाने से बयस्क भृंग पूरी तरह मर जाते हैं और ग्रन्थे, लारवे तथा प्यूपे भी प्रायः मर जाते हैं (Indian Tob. Monogr., 269-71)।

मेलायडोगाइन इंकानिटा (कोफोयड और ह्वाइट) तथा मे. ऐरेनेरिया (नील) इन दो जातियों के नेमाटोडों द्वारा उत्पन्न मूल-ग्रन्थि, गुजरात तथा मैसूर की हल्की बलुई मिट्टी तथा आन्ध्र प्रदेश के बलुई क्षेत्रों की कुछ नर्सरियां तक सीमित है। ग्रस्त पौधों की जड़ों पर पिटिका जैसी अथवा गोलाकार या अनियमित आकार की गांठें बन जाती हैं; गम्भीरता से ग्रस्त पौधे मुरझा जाते हैं, बौने हो जाते हैं और पीले पड़कर अन्त में नष्ट हो जाते हैं। जिन मिट्टियों में पहले मूल ग्रन्थिलता दिखाई पड़ी हो उनमें नर्सरियां नहीं बनानी चाहिए और रोगग्रस्त पौधों को नर्सरी में निकाल फेंकना चाहिये। मिट्टी में नेमाटोडों की संख्या कम करने के लिए तम्बाकू को किसी ऐसी फसल के साथ हेरफेर करके बोना चाहिये जिस पर यह रोग न लगता हो। डी-डी (डाइक्लोरोप्रोपेन-डाइक्लोरोप्रोपीन), डाऊ डब्लू-40 (एथिलीन डाइब्रोमाइड) अथवा मैथिल ब्रोमाइड जैसे धूमकों का मिट्टी पर प्रयोग करने से प्रभावशाली नियन्त्रण प्राप्त होता है। नर्सरी क्यारियों में घास-पात एवं कूड़ा जलाने से मिट्टी की ऊपरी 8-10 सेंमी. सतह में पाये जाने वाले नेमाटोडों का विनाश हो जाता है (Indian Tob. Monogr., 248; Lucas, 63-91)।

ओरोवेन्की (बूम रेप; हि. - टोकरा; म. - बम्बाकू; गु. - वाकुम्बा; ते. - वोडुमल्ले, जोगाकुमल्ले; त. - पोर्कलैकालन; क. - वोडुगिडा, वेकीगिडा) तम्बाकू का एक पुष्पोद्भिदमय परजीवी है जो भारत के सभी तम्बाकू उगाये जाने वाले क्षेत्रों में यदा-कदा पाया जाता है। इस परजीवी की दो जातियाँ ओरोवेन्की सर्न्था लोफिलग वैर. डेबर्टोरम बेक. सिन. ओ. निकोटिआनी वाइट तथा ओ. इजिप्टियाका पर्सून सिन. ओ. इंडिका बखनन-हैमिल्टन एक्स रॉक्सवर्ग पाई जाती हैं जिसमें से पहला परजीवी अधिक हानिकर है। ओरोवेन्की की कोपलें फूले हुए तलों से विकसित होती हैं जो एक भृंगुर संलग्नी के द्वारा परपोषी की जड़ों से जुड़ी हुई होती हैं। सिचाई से परजीवी के विकास और वृद्धि में सहायता मिलती है; रोपने के 5-6 सप्ताह के बाद कोपलें मिट्टी से फूटकर बाहर आ जाती हैं और 15-45 सेंमी. की ऊँचाई तक बढ़ जाती हैं। इससे तम्बाकू के पौधे आकार में छोटे हो जाते हैं और उनके पत्ते पीले पड़ने एवं मुरझाने लगते हैं। ओरोवेन्की में फूल लगते हैं और बीज अत्यन्त सूक्ष्म (तम्बाकू के प्रति ग्राम में 10,000 बीज की तुलना में ओरोवेन्की परजीवी में प्रति ग्राम 1,84,000 बीज होते हैं) तथा कई वर्षों तक उगने में सक्षम होते हैं। इनके नियन्त्रण का एकमात्र प्रभावशाली उपाय, कई वर्षों तक लगातार हाथ से परजीवी कोपलों को बीज उत्पन्न करने के पहले निकाल करके उन्हें जलाकर नष्ट कर देना है। त्रैग अपतृण नाशक के छिड़काव से ओरोवेन्की कम उगता है (Indian Tob. Monogr., 246-48)।

कटाई तथा उपज

परिपक्वता की जिस अवस्था पर फसल की सर्वाधिक अच्छी कटाई की जाती है वह तम्बाकू के प्ररूप पर निर्भर करती है। पलू-संसाधित रीति से तैयार किये हुए सिगरेट तम्बाकू के लिए हल्की पीताभ पत्तियों की कटाई की जाती है। बीड़ी तम्बाकू के प्ररूपों की फसल उस समय तैयार समझी जाती है जब अधिकांश पत्तियाँ चमकीली अथवा चितकवरी हो जाती हैं। सिगार तथा चुरट के लिए जब पत्तियाँ सिकुड़ने लगती हैं, और पीताभ हरी तथा भंगुर हो जाती हैं तथा हुक्का तम्बाकू में जब पत्तियों के ऊपर मोटे तथा चौड़े पीले-भूरे धब्बे दिखाई पड़ने लगते हैं तो कटाई का उपयुक्त समय समझा जाता है (Indian Tob. Monogr., 189-92)।

सिगरेट तम्बाकू की फसल की कटाई पहली पत्तियों को तोड़कर की जाती है। एक बार में केवल वे ही पत्तियाँ तोड़ी जाती हैं जो कटाई के लिए परिपक्व अथवा तैयार हों और पूरी फसल प्रायः एक सप्ताह के अन्तर पर 5 या 6 बार में चुन ली जाती है। सिगार के ऊपर लपेटने वाली तम्बाकू, तथा कुछ क्षेत्रों में बीड़ी तथा हुक्का में प्रयुक्त होने वाली तम्बाकू की चुनाई भी इसी प्रकार से की जाती है। अन्य सभी दशाओं में, फसल को भूमि की सतह के समीप से पौधों को काट कर खेत में रातभर म्लान होने के लिए छोड़ दिया जाता है। विभिन्न क्षेत्रों में तम्बाकू के विभिन्न व्यापारिक प्ररूपों की फसल की कटाई का समय तथा कटाई की रीति का विवरण सारणी 7 में दिया गया है (Indian Tob. Monogr., 190-92)।



चित्र 140 - निकोटिआना टेबैकम - फसल की कटाई

सारणी 8 — भारत में तम्बाकू की खेती करने वाले प्रमुख राज्यों में तम्बाकू की उपज (किलोग्राम प्रति हेक्टर)

	1959-60	1960-61	1961-62	1962-63
आन्ध्र प्रदेश	786	732	722	744
उत्तर प्रदेश	759	747	672	728
गुजरात	..	612	812	929
पश्चिम बंगाल	726	729	710	648
तमिलनाडु	1,416	1,307	1,326	1,334
बिहार	838	689	729	800
महाराष्ट्र	677	414	542	494
मैसूर	610	554	531	542
सम्पूर्ण भारत (औसत)	756	695	738	761

*अविभाजित बम्बई प्रान्त की औसत उपज.

सारणी 9 — संसार के महत्वपूर्ण देशों में तम्बाकू की उपज* (किलोग्राम प्रति हेक्टर)

	1959-60	1960-61	1961-62	1962-63
ब्राजील	790	760	740	800
बुल्गारिया	830	710	580	890
कनाडा	1,490	1,770	1,700	1,740
ग्रीन	780	670	720	730
भारत	730	770	780	830
इण्डोनेशिया	420	420	400	390
जापान	2,080	2,050	2,210	2,170
पाकिस्तान	1,840	1,080	1,070	1,150
फिलिपीन्स	570	660	690	700
दक्षिण रोडेशिया	1,290	1,190	1,180	940
तुर्की	730	720	730	1,000
अमेरिका	1,750	1,910	1,970	2,120
मोडियत देश	1,240	1,190	920	990

*Prod. Yearb. F.A.O., 1961, 15, 135; 1963, 17, 137.

संसाधित तम्बाकू की पत्तियों की उपज उनके प्ररूप तथा क्षेत्रों के अनुसार बदलती रहती है. आन्ध्र प्रदेश में फलु-संसाधित तम्बाकू की प्रति हेक्टर औसत उपज प्रायः 790 किग्रा. और मैसूर में प्रायः 1,125 किग्रा. है. तमिलनाडु में चौड़ी पत्ती वाली गिगार तम्बाकू के प्ररूपों की मुख्यवस्तुतः खेती ने 1,335 ने 1,680 किग्रा. प्रति हेक्टर उपज मिलती है जब कि पतली पत्ती से कुछ कम उपज होती है. गुजरात क्षेत्र में नाटू तम्बाकू की उपज प्रायः 1,680 किग्रा. प्रति हेक्टर और पश्चिम गोदावरी से 1,790 से 2,250 किग्रा. प्रति हेक्टर के बीच उपज देखी जाती है. हुक्का तम्बाकूओं में टोबैकम प्ररूपों की पत्तियों की उपज 890 से 1,110 किग्रा. के बीच पाई जाती है. रस्टिका प्ररूपों की डठलमहित पत्तियों की उपज 1,335 ने 1,610 किग्रा. प्रति हेक्टर के बीच है. भारत के विभिन्न प्रदेशों में सभी प्रकार की तम्बाकूओं की प्रति हेक्टर औसत उपज 390 से 1,465 किग्रा.

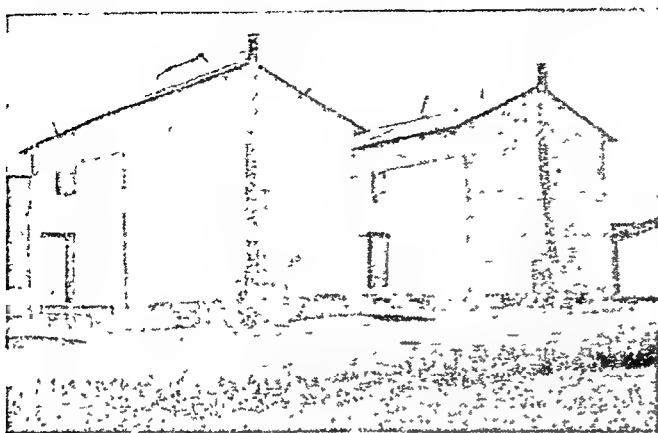
के बीच बदलती रहती है (सारणी 8). भारत के अतिरिक्त तम्बाकू का उत्पादन करने वाले संसार के अन्य महत्वपूर्ण देशों में अमेरिका, सोवियत देश, जापान, ब्राजील, बुल्गारिया, पाकिस्तान आदि हैं (सारणी 9) (Indian Tob. Monogr., 306, 329, 339, 340, 352; Kadam, Farm Bull., Indian Coun. agric. Res., No. 10, 1956, 32).

तम्बाकू सुखाना या संसाधन

बाजार में बेचने के पूर्व तम्बाकू की काटी गई पत्तियों को संसाधित किया जाता है. सुखाने या संसाधन की यह क्रिया मुख्यतः ऐसी अवस्थाओं में पत्तियों को सुखाना है जिससे बांझित गुण उत्पन्न होने के लिए सुखाने की क्रिया से रासायनिक संघटन में कुछ मान्य परिवर्तन हो जाए. सुखाने की क्रिया की चार विधियाँ हैं : (1) फलु-संसाधन, (2) धूप-संसाधन, (3) वायु-संसाधन. तथा (4) अग्नि-संसाधन (Garner, 399; Indian Tob. Monogr., 277, 358).

फलु-संसाधन — सिगरेट उत्पादन में काम आने वाली अधिकांश तम्बाकू विशेष रूप से निर्मित कोठारों में फलु-विधि से सुखाई जाती है. भारत में सामान्यतया दो आकार के कोठार, 5 मी. × 5 मी. × 5 मी. (ऊँचाई) तथा 5 मी. × 7.5 मी. × 5 मी. (ऊँचाई) काम में लाये जाते हैं जिनमें पहले कोठार में एक भट्टी तथा दूसरे में दो भट्टियाँ बनी रहती हैं. परीक्षणों से यह देखा गया है, भारतीय परिस्थितियों में 5 मी. × 6 मी. अनुप्रस्थ परिच्छेद का कोठार जिसमें एक भट्टी तथा फलु-नलिकाओं की उपयुक्त प्रणाली बनी हुई हो, संतोषजनक होता है. भट्टी (1.2 मी. × 0.4 मी.) में कोयला अथवा लकड़ी जलाई जाती है. फलु-नलिकाएँ भट्टी से चलकर कोठार की पार्श्व दीवारों से आगे बढ़ती हुई दीवार में से होकर चिमनी के रूप में बाहर निकलती हैं. कोठार का प्रवेश-द्वार भट्टी की विपरीत दिशा में रहता है. कोठार में आर्द्रता का नियन्त्रण उपयुक्त सवातन के द्वारा किया जाता है. कोठार में फर्ग से सटे झरोखे रहते हैं जिनसे वायु प्रवेश पा सके और छत में वायु निकलने के लिए एक बड़ा सा बहिर्गम बना रहता है. सुखरी हुई सवातन व्यवस्था में कोठार की दीवारों में फर्ग से सटे हुए चारो ओर 10 सेमी. की दूरी पर अनेक छेद बने रहते हैं छेदों का आकार बाहर से लकड़ी के तन्तों को खिनका कर छोटा बड़ा किया जाता है. इसके अतिरिक्त दो सवातायन, 1.8 मी. × 25 सेमी. उठे भाग के प्रत्येक ओर ऊपर की ओर बने हुए होते हैं जिनका नियन्त्रण घिरनी के द्वारा होता है. इस प्रकार के कोठार में पांच तलों में मोपानी प्रणाली बनी होती है जिन पर डोरी से बंधी हुई तम्बाकू की पत्तियों ने लदे हुए बांस की लाठियों (लम्बाई, प्रायः 1.5 मी.) को टिकाया जाता है. कोठार के बीच में एक शुष्क तथा आर्द्र वल्व थर्मामीटर लटका हुआ रहता है जिनमें एक लिङ्की की ओर खींचकर समय-समय पर कोठार में ताप तथा आर्द्रता नापी जा सकती है (Indian Tob. Monogr., 283-88; Garner, 162-67).

पत्तियों को बड़े मवरे काट लेते हैं तथा कटी हुई फलन को तत्काल कोठार के पान फून में छाये हुए शीतल मण्डप के नीचे में जाया जाता है जहाँ पर बांस की लाठियों के ऊपर पत्तियों को डोरी ने बांध दिया जाता है. प्रत्येक लाठी पर प्रायः एक सौ पत्तियों के लिए स्थान रहता है. 5 मी. × 5 मी. आकार के कोठार में 650 ने 750 बांस की लाठियाँ रखी जाती हैं जिन पर हरी पत्तियों का पूरा भार 1,500-2,000 किग्रा. होता है. डोरी ने बांधते समय यह बांछनीय है कि पत्तियों को उनकी परिपक्वता के अनुसार पीताम, हल्के हरे अथवा



चित्र 141 — तम्बाकू संसाधन कोठार

हरी श्रेणियों में अलग-अलग कर लिया जाए जिससे कोठार में अपेक्षाकृत अपरिपक्व पत्तियों को ऊपरी सोपान पर रखने से एकरूप सुखाई हो सके. पत्तियों को डोरी से बाँधने एवं कोठार में बाँस की लाठियों को रखने का कार्य यथासम्भव एक ही दिन में होना चाहिये (Indian Tob. Monogr., 304; Garner, 189).

फलू-संसाधन के अन्तर्गत मध्यम ताप तथा उच्च आपेक्षिक आर्द्रता में पत्तियों को पीला होने दिया जाता है और फिर ताप को बढ़ाकर तथा आर्द्रता को घटाकर पत्तियों के जाल तथा डंठलों को इस तरह सूखने दिया जाता है कि उनमें विवर्णता न आने पाये. पीला होने देने, पीले रंग को स्थिर बनाने तथा सुखाने इन तीन प्रमुख प्रावस्थाओं के लिए जो विधियाँ काम में लाई जाती हैं और जितना समय दिया जाता है वे कच्ची पत्ती की परिपक्वता तथा उस समय की मौसम परिस्थितियों पर निर्भर करते हैं. पत्तियों के पीले होने में 24 से 40 घंटे का समय लगता है. इस अवधि में ताप को 35° से कम और आपेक्षिक आर्द्रता को 80 से 90% रखा जाता है. इस प्रक्रम में संवातन की आवश्यकता बहुत कम अथवा नहीं के बराबर होती है. पीले होने की प्रावस्था में जैसे-जैसे प्रगति होती है ताप को क्रमशः (प्रायः 1° से 2° प्रति घंटे) तब तक बढ़ाया जाता है जब तक कि यह 40.5° तक पहुँच न जाए. इस अवस्था में कुछ संवातन किया जा सकता है. पीले होने की प्रावस्था उस समय तक चलती रहती है जब तक कि कोठार की अधिकांश पत्तियों का वर्ण मुनहला पीला न हो जाए और सापेक्ष आर्द्रता 75% तक पहुँच न जाए. उस प्रावस्था के बाद ताप को प्रायः 51.7° तक बढ़ाकर 7-10 घंटों की अवधि में रंग को स्थिर कर लिया जाता है. तब झरोखों को खोल दिया जाता है. इसके बाद ताप शीघ्रता से 65.5° कर दिया जाता है और इतने पर रखा जाता है कि पत्ती का फलक मुष्क हो जाये. प्रायः 50 घंटे बाद झरोखे बन्द करके ताप 68.3-71.1° तक बढ़ा दिया जाता है जिससे कि पत्तियों की मध्य गिरा सूख जाए. पत्तियाँ 100-125 घंटों में पूर्णतया सूख जाती हैं. सुखाने की एक सुधरी विधि में पीतकरण के अन्तर्गत ही पत्तियों को कुछ-कुछ सुखा लिया जाता है तथा कोठार के ऊपरी सोपानों में संवातन घटाकर तथा ताप बढ़ाकर पत्तियों के सूखने के समय में कमी की जाती है. कोठारों के निर्माण एवं सुखाने के योजना-क्रम में सुधारों के फलस्वरूप ऐसा कहा जाता है कि सुखाने

के समय में एवं ईंधन में बचत हुई है और उच्च स्तर की सुखाई पत्तियाँ प्राप्त हुई हैं. पौधे की ऊपरी पत्तियों के आधार को सुखाने से पूर्व कुछ घंटों तक पानी में डुबो कर रखने से उच्च एवं चटक श्रेणी की पत्तियों की उच्चतम प्रतिशत मात्रा प्राप्त की जा सकती है (Pal, *Indian Tob.*, 1957, 7, 219; Garner, 174-77; *Indian Tob. Monogr.*, 304-05; Kadam, *Farm Bull. Indian Coun. agric. Res.*, No. 10, 1956, 60; Ycna Narayan Aiyer, 431-33; Mudaliar, 498-500; Sastry & Rao, *Indian Tob.*, 1960, 10, 159).

सुखाने के बाद कोठार को ठंडा होने दिया जाता है तथा झरोखों को खोल दिया जाता है जिससे पत्तियाँ हवा में से आर्द्रता सोखकर कोमल हो जाएँ. इसके बाद मुट्ठे बनाकर पत्तियों को कुछ दिनों के लिए छोटे-छोटे ढके हुए ढेरों के रूप में समूहित कर दिया जाता है. इन ढेरों को दो-तीन बार उलट-पुलट कर पुनः ढेर बना लिया जाता है. इस उपचार से कुछ पत्तियों में उपस्थित हरित आभा समाप्त हो जाती है तथा फिर पत्तियाँ श्रेणीकरण और बिक्री के लिए तैयार होती हैं.

धूप में सुखाना — भारत में तम्बाकू के अनेक किस्मों को धूप में सुखाया जाता है. समूचे पौधे को काटकर कुछ दिनों तक खेत में सूखने देते हैं (भूमि पर सुखाना). कुछ भागों में कटी हुई फसल की ढेरियाँ बना ली जाती हैं तथा बीच-बीच में इन्हें ओस में खुला रखकर फिर से इनकी ढेरियाँ बना दी जाती हैं. कभी-कभी पत्तियों को लाठियों या रैकों में डोरी से बाँधकर धूप में सुखाया जाता है (रैक में सुखाना). तमिलनाडु में सिगार और खैनी तम्बाकू को सुखाने की भूमि तथा रैक की संयुक्त विधियाँ काम में लाई जाती हैं. आन्ध्र प्रदेश में नाटू तम्बाकू को रैक में सुखाया जाता है. सुखाने की इस रीति में डंठल समेत पत्तियों की कटाई करके सुतली से बाँधकर उन्हें खुली जगह में मचान पर से 1½-2 महीनों के लिए लटका दिया जाता है; डंठल रहने से सूखने में अधिक समय लगता है परन्तु इससे संसाधित



चित्र 142 — संसाधन के लिए लटके हुए तम्बाकू की पत्तियाँ



चित्र 143 — तम्बाकू की पत्तियों का धूप-संसाधन

पत्तियों के धूपपान गुणों में सुधार होता है। बिहार, उत्तर प्रदेश, पश्चिमी बंगाल की हुक्का एवं खैनी तम्बाकूओं को खेतों में पत्तियों को थोड़ा म्लान कर और फिर क्रम से ढेर बनाया और सुखाया जाता है। जब तक कि पत्तियाँ गहरे भूरे रंग की न हो जाएँ। पंजाब में हुक्का तम्बाकू का संसाधन खेतों में प्रारम्भिक मुरझावन के बाद 75-90 सेंमी. गहरे गड्ढों में गाड़कर एक सप्ताह तक किया जाता है। कोयम्बटूर में खैनी तम्बाकू के लिए कुछ हद तक गर्त-संसाधन विधि अपनायी जाती है (Indian Tob. Monogr., 280-83, 318; Mudaliar, 501-04)।

वायु-सुखावन — पश्चिम बंगाल में लपेटने वाली तम्बाकू तथा आन्ध्र प्रदेश की लंका तम्बाकू का वायु-सुखावन किया जाता है। इस रीति में लपेटने वाली तम्बाकू को हरी पत्तियों का कोटि-निर्धारण आकार के अनुसार किया जाता है तथा इन्हें लाठियों पर डोरी से बाँधकर लटका दिया जाता है। इन लाठियों को पुनः 70-80% आपेक्षिक आर्द्रता बनाये रखने वाले कोठारों में ले जाया जाता है। कोठार में आर्द्रता बनाये रखने के लिए आवश्यकतानुसार पानी का छिड़काव किया जाता है। इससे पत्तियाँ पहले पीली और फिर भूरे रंग की हो जाती हैं और 5-6 सप्ताहों में संसाधन पूर्ण हो जाता है। लंका तम्बाकू की पत्तियों को छाया में रस्सों पर 2-2½ महीनों तक रहने दिया जाता है तथा संसाधन क्रिया गड्ढों में पूरी की जाती है (Indian Tob. Monogr., 278-80; 335-36; Garner, 167-72)।

अग्नि-सुखावन — खैनी तम्बाकू के कुछ प्ररूपों का धूम्रकरण के द्वारा संसाधन होता है जैसा कि श्रीलंका में। भारत में बहुत सीमित मात्रा में धूम्रकरण रीति द्वारा तम्बाकू संसाधित की जाती है। इस रीति की विशेषता यह है कि धूम्रित पत्तियों को समुद्र के खारी जल अथवा गुड़ के विलयन से उपचारित किया जाता है जिससे विशेष स्वाद उत्पन्न हो सके (Indian Tob. Monogr., 280, 358)।

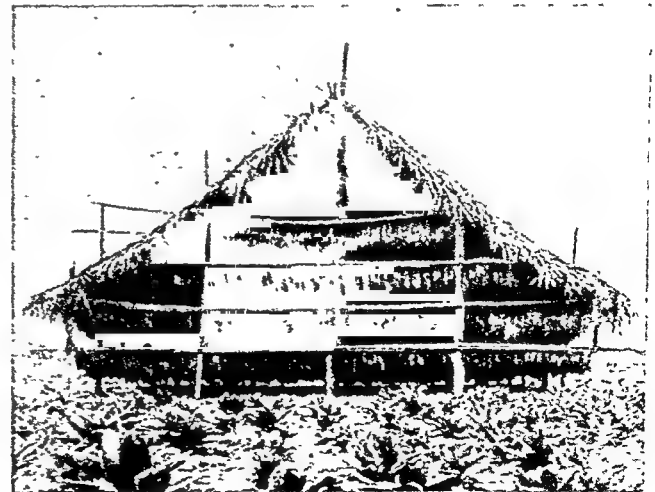
सुखावन के समय होने वाले परिवर्तन — फसल की कटाई के समय तम्बाकू की पत्तियों में 85% आर्द्रता रहती है जिसका अधिकांश भाग (60-75%) सुखाते समय निकल जाता है। सुखाने की पीतीकरण प्रावस्था में मुख्यतः श्वसन, अवयवों का स्थानान्तरण तथा ऑक्सिकरण और जल-अपघटन क्रियाओं के कारण रासायनिक परिवर्तन होते हैं। शुष्क पदार्थ की मात्रा में अधिक कमी आती है :

यह कमी फलू-संसाधन में 5 से 10% तथा वायु-सुखावन में 30% तक होती है।

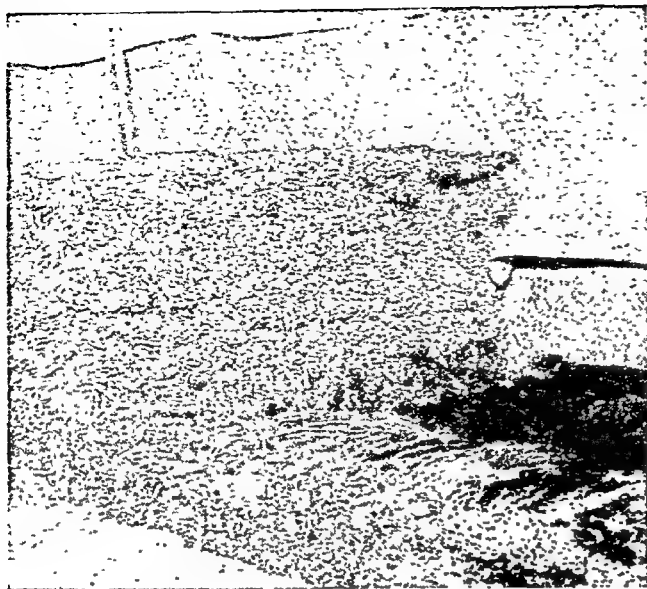
सुखाने की अवधि में पत्तियों के वर्णकों में उग्र परिवर्तन होते हैं तथा पत्तियों के ऊतकों का चटक हरा वर्ण अनेक वर्ण-छायाओं में परिवर्तित होता हुआ अन्ततः पीताभ-भूरा हो जाता है। पीतीकरण की अवधि में क्लोरोफिल अपघटन के कारण पीत वर्णक अधिक प्रमुख हो जाता है। फलू-संसाधन में पीत वर्ण स्थिर हो जाता है। सुखाने की अन्य विधियों में वर्णकों में इसके अतिरिक्त और अधिक परिवर्तन होता है और सुखाई पत्तियों का अन्तिम रंग जटिल संघनन तथा बहुलकीकरण उत्पादों का रंग होता है। संघनन तथा बहुलकीकरण के जटिल उत्पाद मुख्यतः मेलैनायडिन तथा टैनिन होते हैं जिनका उत्पादन पॉलिफिनॉल, कार्बोहाइड्रेट, ऐमीनो अम्ल तथा प्रोटीनों की अभिक्रियाओं द्वारा होता है।

फलू-संसाधन की अवधि में सर्वाधिक महत्वपूर्ण परिवर्तन स्टार्च का शर्करा में जल-अपघटन है। प्रायः 90% स्टार्च पीतीकरण प्रावस्था में परिवर्तित हो जाता है। स्थायीकरण की अवधि में अवकारक शर्कराओं की सान्द्रता में वृद्धि होती है तथा उसके बाद डंठलों के सूखने से इसमें कमी हो जाती है। तुरंत सुखाई पत्तियों में स्पूकोस पाया जाता है परन्तु विक्री के पूर्व संग्रह करने में प्रायः पूर्ण रूप से इसका प्रतीप शर्करा में परिवर्तन हो जाता है। सम्पूर्ण नाइट्रोजन तथा निकोटीन की मात्रा में कोई परिवर्तन नहीं होता है किन्तु जिन पत्तियों में कार्बोहाइड्रेट की मात्रा कम रहती है उनमें पीतीकरण की प्रावस्था में अमोनिया तथा ऐमाइड की मात्रा में विशेष वृद्धि होती है।

वायु-सुखावन विधि में होने वाले रासायनिक तथा भौतिक परिवर्तन कहीं अधिक व्यापक होते हैं। वायु में सुखाते समय पत्तियों में जल-विलेय नाइट्रोजन यौगिकों (ऐमीनो अम्लों तथा ऐमाइडों) की मात्रा में विशेष वृद्धि होती है। इसके बाद ऐमीनो अम्लों का ऑक्सीकारी विऐमीनीकरण होता है। सुखाने की पूरी क्रिया में सम्पूर्ण नाइट्रोजन की मात्रा में प्रायः 6% की कमी आ जाती है, स्टार्च और शर्करा का अधिकांश भाग समाप्त हो जाता है, तथा मैलिक अम्ल का अधिकांश सिट्रिक अम्ल में परिवर्तित हो जाता है। ये परिवर्तन



चित्र 144 — लंका तम्बाकू की पत्तियों का वायु-संसाधन



चित्र 145 - खैनी तम्बाकू का किण्वन

डंठलों के सुखाने में प्रारम्भिक पत्तियों के सुखाने की अपेक्षा अधिक मुस्पष्ट होते हैं (Kirk & Othmer, XIV, 249-50; Garner, 399; Indian Tob. Monogr., 202-12; Sastry, *Indian Tob.*, 1951, 1, 245; Sastry, *Proc. Indian Acad. Sci.*, 1953, 38B, 125).

रासायनिक संघटन

तम्बाकू का रासायनिक संघटन आनुवंशिक एवं वातावरण सम्बंधी कारकों से अत्यधिक प्रभावित होता है। तम्बाकू में निकोटीन की मात्रा और सुवास उसकी किस्म या विभेद के अनुसार घटती-बढ़ती है। यहाँ तक कि एक ही प्ररूप में काफी विभिन्नता पाई जाती है और यह विभिन्नता न केवल एक फार्म से दूसरे फार्म तक वरन् विभिन्न वर्षों की फसलों में भी देखी जाती है। न्यून वर्षा वाले मौसम में उत्पन्न फसल में निकोटीन अधिक रहता है और कुल कार्बोहाइड्रेट कम रहते हैं। अधिक वर्षा होने से उल्टा प्रभाव पड़ता है।

किसी पौधे की पत्तियों की संरचना, डंठल में उसकी स्थिति के अनुसार परिवर्तित होती रहती है। पलू-संसाधित तम्बाकू में, निकोटीन और नाइट्रोजनी अवयव की सामान्यता ऊपरी पत्तियों में अधिकतम और डंठल के बीच और निचले भागों में न्यूनतम होती है, विलेय शर्करा बीच की पत्तियों में सबसे अधिक रहती है। अव्याप्यशील कार्बनिक अम्लों की सामान्यता निचली पत्तियों में अधिक एवं बीच की पत्तियों में कम होती है। पोटाश का अंग प्रत्येक पत्ती में लगभग एक-सा रहता है। वायु में सुखाई तम्बाकू (जैसे वर्न और मैरीलैण्ड) की पत्तियों में कुल नाइट्रोजन और विलेय अम्लों की मात्रा आधार से ऊपर की ओर अधिक बढ़ती जाती है, निकोटीन और पेट्रोलियम ईथर निष्कर्ष की सामान्यता बीच की पत्तियों में उच्चतम और आधार की पत्तियों में न्यूनतम होती है। ऊपरी पत्तियों में सबसे अधिक सुवास रहती है (Garner, 328, 430-31; Kirk & Othmer, XIV, 243-47; Darkis

et al., *Industr. Engng Chem.*, 1936, 28, 1214; Darkis & Hackney, *ibid.*, 1952, 44, 284).

ताजी काटी गई तम्बाकू की पत्तियों में नमी की मात्रा औसतन 80-90% और सूखी पत्तियों में 10-15% होती है। कुल कार्बनिक अवयव (शुष्क आधार पर) 75-90% होते हैं जिसमें कार्बोहाइड्रेट, ऐल्कलायड और नाइट्रोजनी पदार्थ, कार्बनिक अम्ल, पॉलीफोनॉल और वर्णक, तैल तथा रेजिन, एंजाइम तथा अन्य अवयव सम्मिलित हैं। तम्बाकू पत्ती में 200 से अधिक तथा धूम्र में इससे भी अधिक यौगिक पहचाने जा चुके हैं [Thorpe, XI, 646; Indian Tob. Monogr., 197; Kensler, *Ann. N.Y. Acad. Sci.*, 1960, 90 (1), 43].

तम्बाकू में कुल कार्बोहाइड्रेट 25-50% पाये जाते हैं, जिनमें अपचायक शर्कराएँ, सुक्रोस, स्टार्च, पेक्टिन, सेलुलोज, लिग्निन और पेंटोस मुख्य हैं। डेक्सिट्रिन, माल्टोस, स्टैकियोस, रैफिनोस, रैमनोस, राइबोस, इनासिटाल और साविटाल की पहचान हो चुकी है। सिगरेट तम्बाकू में सिगार तम्बाकू की अपेक्षा कार्बोहाइड्रेट अधिक रहते हैं। पलू द्वारा सुखाई भारतीय तम्बाकू में स्टार्च, 1-2%; अपचायक शर्करा, 5-16%; और सुक्रोस, 7% रहते हैं। ढेर लगाते समय सुक्रोस का जल-अपघटन अपचायक शर्कराओं में हो जाता है। वायु द्वारा सुखाई तम्बाकू में कार्बोहाइड्रेट की मात्रा कम पाई जाती है (Indian Tob. Monogr., 197-98, 211; Johnstone & Plimmer, *Chem. Rev.*, 1959, 59, 885).

पत्तियों में प्रचुर मात्रा में पेक्टिक पदार्थ पाये जाते हैं, इनसे मुक्त पेक्टिक अम्ल तथा कैल्सियम मैग्नीशियम पेक्टेट पृथक् किये गये हैं। पर्ण-पेक्टिन के अम्लीय जल-अपघटन से गैलेक्टुरानिक अम्ल, गैलेक्टोस तथा ऐरैविनोस प्राप्त हुये हैं; तने में प्राप्य पेक्टिन पत्तियों के पेक्टिनों के समान हैं; जड़ों के पेक्टिन के जल-अपघटन से गैलेक्टोस और ऐरैविनोस के अलावा रैमनोस, मैनोस, फ्रुक्टोस, ज़ाइलोस और राइबोस प्राप्त होते हैं (Indian Tob. Monogr., 198; Johnstone & Plimmer, *loc. cit.*).

भारत में उगायी जाने वाली विशिष्ट सिगरेट तम्बाकू में नाइट्रोजन की मात्रा लगभग 2% होती है जबकि सिगार तम्बाकू में 4% होती है। प्रोटीन प्रधान घटक है और ऐमीनो अम्ल, अमोनिया, ऐमाइड तथा नाइट्रेट अल्प मात्रा में रहते हैं। हरी पत्तियों से दो प्रोटीन प्रभाज पृथक् किये गये हैं। इनमें से न्यूक्लियोप्रोटीन प्रधान प्रभाज है जिसमें ऑक्सिजन और फॉस्फेट्स सक्रियता पाई जाती है और सुखाते समय शीघ्र अपघटित हो जाता है, दूसरा प्रभाज, एंजाइम सक्रियता भी प्रदर्शित करता है और यह अपेक्षाकृत अधिक स्थायी है। हरी पत्तियों में पाये जाने वाले मुख्य ऐमीनो अम्ल हैं: ऐलानीन, α -ऐमीनो व्यूटिरिक अम्ल, ऐस्पैरैजिन, ऐस्पार्टिक अम्ल, ग्लूटमीन, लाइसीन, फेनिल ऐलानीन, प्रोलीन, सेरीन, ट्रिप्टोफेन और टाइरोसीन। नाइट्रेट मध्य गिरा और अन्य गिराओं में पाया जाता है, अल्प मात्रा में अमोनिया भी उपस्थित रहती है (Indian Tob. Monogr., 198; Johnstone & Plimmer, *loc. cit.*; Koenig *et al.*, *Science*, 1958, 128, 533; Garner, 314).

तम्बाकू में कार्बनिक अम्लों की उच्च प्रतिशतता (20% या अधिक) पाई जाती है जिनमें मैलिक, सिट्रिक और ऑक्सैलिक अम्ल मुख्य हैं। मैलिक तथा सिट्रिक अम्ल अधिकतर कैल्सियम, मैग्नीशियम और पोटासियम लवणों के रूप में पाये जाते हैं किन्तु ऑक्सैलिक अम्ल कैल्सियम लवण के रूप में रहता है। तम्बाकू में बहुत से अन्य अव्याप्य-योन और वाष्पशील अम्ल भी पहचाने जा चुके हैं, इनके अन्तर्गत

मैलिक, पयूमैरिक, लैक्टिक, मैलोनिक, टेरैफथैलिक, सक्सिनिक, ग्लाइ-आक्सैलिक, α -कीटो-ग्लूटेरिक, फार्मिक, ऐसीटिक, β -मेथिलवैलेरिक, D -ग्लिसरिक, ट्रांस-क्रोटोनिक, प्रापियानिक, मेथिल एथिल ऐसीटिक, आइसो-व्यूटिरिक, बेंजोइक, तथा 2-फूराइक अम्ल हैं। इनमें से कुछ अम्ल पत्तियों के सुखाते समय निम्नीकरण उत्पाद के रूप में उत्पन्न हो सकते हैं। इनके अतिरिक्त पामिटिक, ओलीक, लिनोलीक और लिनोलेनिक जैसे वसा-अम्लों के भी मिलने की सूचना है। वृद्धि और विकास काल में तम्बाकू की पत्तियाँ अम्लीय अभिक्रिया प्रदर्शित करती हैं। सुखाया पदार्थ भी अम्लीय होता है (Seshadri, *Indian Tob.*, 1951, 1, 199; Garner, 315; Johnstone & Plimmer, loc. cit.; Palmer, *Science*, 1956, 123, 415).

बढ़ती हुई पत्तियों में प्रधान वर्णक क्लोरोफिल ए और बी हैं और ये अधिकांश किस्मों में उपस्थित पीले वर्णकों को लगभग पूर्णतया ढक लेते हैं, हरे रंग की चमक-दमक के लिए पीले वर्णक ही उत्तरदायी होते हैं। सुखाने की अवधि में क्लोरोफिल की सान्द्रता तेजी से घटती जाती है तथा पीले वर्णक, कैरोटीन और जैन्थोफिल, प्रमुख बन जाते हैं। पत्ती के पीले रंग में रूटिन भी हाथ बढ़ता है। जिन कैरोटिनाइडों की पहचान की जा चुकी है वे हैं : β -कैरोटिन, नियो- β -कैरोटिन, ल्यूटेन, नियोजैन्थिन, वायोलाजैन्थिन और फ्लैवोजैन्थिन। वायु और धूप के समय उत्पन्न गहरे वर्णक आंशिक रूप से पॉलीफिनोल के ऑक्सिडेशन के कारण होते हैं [Garner, 316; Weybrew, *Tobacco*, N.Y., 1957, 144 (1), 18].

तम्बाकू में फिनोल, पॉलीफिनोल और टैनिन वर्ग के भिन्न पदार्थ अधिकतर ग्लाइकोसाइड के रूप में उपस्थित रहते हैं। मुख्य पॉली-फिनोल, रूटिन (क्वैसिट्रिन-3-रैमनोसाइडोग्लूकोसाइड) और क्लोरो-जिनिक अम्ल (3-कैफियोइलक्विनिक अम्ल) तथा इनके समावयवी हैं। रूटिन हरी पत्तियों में लगभग 1% पाया जाता है परन्तु इसकी सान्द्रता सुखाते समय मुख्यतः फल-संसाधन की अपेक्षा वायु-संसाधन की अवधि में अधिक घटती है; वायु-संसाधित पत्ती में रूटिन बिल्कुल नहीं होता है। सुखाने की अवधि में क्लोरोजिनिक अम्ल की सान्द्रता लगभग अपरिवर्तित रहती है। जिन अन्य पॉलीफिनोलों की सूचना है वे हैं, विक्विनिक अम्ल, शिकिमिक अम्ल, क्वैसिट्रिन, आइसो-क्वैसिट्रिन, स्कोपोलेटिन (7-हाइड्रॉक्सि-6-मेथाक्सि क्यूमैरिन) और इसका 7-ग्लूकोसाइड स्कोपोलिन, ऐस्कुलेटिन (6, 7-डाइहाइड्रॉक्सि क्यूमैरिन) और इसका 7-ग्लूकोसाइड सिकोरीन, कैम्फेरोल ग्लाइ-कोसाइड और तीन पीले फ्लेवोन। फिनोलिक यौगिकों में कैफेइक अम्ल, मेलिलोटिक अम्ल (4-हाइड्रॉक्सि क्यूमैरिक अम्ल), फिनोल, ग्वायाकाल, यूजिनल, आइसो-यूजिनल, p -ऐलिल कैटेकाल, m -क्विसाल और o -हाइड्रॉक्सि ऐसीटोफिनोन पाये जाते हैं। फल पत्ती के सार में लगभग 60 फिनोलिक यौगिक पहचाने गये हैं। फिनोलिक अवयव बढ़ती हुई पत्तियों के उप-अपचयन विधि में विशेष भूमिका निभाते हैं और सुखाई पत्तियों के रंग तथा, कुछ सीमा तक, ऐरोमैटिक गुणों पर भी प्रभाव डालते हैं (Johnstone & Plimmer, loc. cit.; Jensen, *Industr. Engng Chem.*, 1952, 44, 306; Dieterman *et al.*, *J. org. Chem.*, 1959, 24, 1134; Runeckles, *Chem. & Ind.*, 1962, 893; Garner, 315).

ग्रंथिल रोमों में उपस्थित सगन्ध तेल और पत्तियों की सतह को ढकने वाले रेजिन के कारण ही तम्बाकू में विशेष सुगन्ध होती है। ताजी सुखाई पत्तियों में वस्तुतः मन्द और असंचिकर गन्ध होती है और जलाने पर उत्तेजक तथा एक कड़वा स्वादयुक्त तीखा धूँआँ देती है। तम्बाकू में ग्राह्य सुगन्धता काल प्रभावन या किण्वन से उत्पन्न

होती है। तम्बाकू की मधुर गन्ध तम्बाकू की किस्म, मिट्टी और जलवायु के कारकों तथा किण्वन की परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तित होती रहती है। ऐरोमैटिक या पूर्वी (ओरियण्टल) तम्बाकू नि. टैबैकम प्ररूप के विशेष समूह से प्राप्त की जाती है। यह मुख्यतः पूर्वी भूमध्य सागर के निकटवर्ती प्रदेशों में उगाई जाती है। इनसे विश्व के कुल उत्पादन का आठवाँ भाग प्राप्त होता है और इनकी विशेषताएँ हैं : छोटे आकार की पत्तियाँ, ऐरोमैटिक सुरसता, तुरत दाह्यता और पूरक के रूप में उत्तमता। इनका प्रयोग अधिकतर मिलाने के लिए किया जाता है (Garner, 316, 327; Darkis & Hackney, *Industr. Engng Chem.*, 1952, 44, 284; Wolf, 10, 83, 192-94).

विश्वास किया जाता है कि वाष्पशील तेलों के ऑक्सिडेशन और संघनन द्वारा तम्बाकू-रेजिन बनते हैं; ये ईथर निष्कर्ष के अल्प वाष्प-शील यौगिकों में से हैं। प्रारम्भिक खोजों में तीन अववाष्पशील अ-क्रिस्टलीय रेजिन अम्लों, α -, β - और γ -टोबैसिक अम्ल, एक असंतृप्त ऐल्कोहल ($C_8H_{10}O$; ग. वि., 219°) और एक असंतृप्त डाइ-हाइड्रॉक्सि ऐल्कोहल ($C_9H_{16}O_2$; ग. वि., 86°) मिलगाये जाने की सूचना है। हाल ही में एथानाल से निष्कर्षित तम्बाकू-रेजिन के प्रभाजन द्वारा कोमल रेजिन और कठोर रेजिन ए और बी विलग किये गये हैं। यह प्रदर्शित किया जा चुका है कि प्रकाश और वायु के प्रभाव से कोमल रेजिन कठोर रेजिन ए और बी में परिवर्तित हो जाते हैं। कोमल रेजिन प्रभाज C_{28} - C_{31} -हाइड्रोकार्बन मोम, नियोफाइटेडाइन, पालीईन, C_{18} - C_{20} संतृप्त और असंतृप्त वसा-अम्लों (जो ग्लिसराइड या स्टेरॉल के एस्टर के रूप में स्वतंत्र या संयुक्त पाये जाते हैं), सोलेनेसोल अथवा वसा-अम्ल के साथ एस्टरीकृत और स्टेरॉल के बने होते हैं। यह सुझाया गया है कि कठोर रेजिन ए सम्भवतः कोमल रेजिन के बहुलकीकरण से बनता है जबकि कठोर रेजिन बी कोमल रेजिन ए के ऑक्सीकरण से बनता है। कठोर रेजिन जटिल पदार्थों के मिश्रण होते हैं जो प्रायः श्यान, सगन्ध और रंगीन होते हैं; कोई समांगी रचक पृथक् नहीं किया गया (Garner, 317; Wolf, 192-94; Shmuk, III, 177-184; Hellier, *Chem. & Ind.*, 1959, 260; Reid & Hellier, *ibid.*, 1961, 1489; Swain *et al.*, *ibid.*, 1961, 435).

रेजिन के साथ-साथ कई पैराफिन भी पाये जाते हैं जो साधारणतया तम्बाकू मोम (ग. वि., 63°) के नाम से जाने जाते हैं; हैप्टाकोसेन और हैक्ट्रैकोण्टेन मुख्य रचक हैं, C_{27} से C_{36} तक के समजात और समावयवी कम मात्रा में हैं। धूप में सुखाई भारतीय तम्बाकू (कोयम्बटूर से प्राप्त मीनामपलयम) के परीक्षण से छः अन्य मोमी यौगिकों के अतिरिक्त हैक्ट्रैकोण्टेन, नोनाकोसेन और हैप्टाकोसेन की उपस्थिति का पता चला है (Johnstone & Plimmer, loc. cit.; Divekar *et al.*, *Proc. Indian Acad. Sci.*, 1961, 54B, 57).

सुखाने के समय जो जीव-रासायनिक परिवर्तन होते हैं उनमें पत्ती के एंजाइमों का महत्वपूर्ण हाथ रहता है। सुखाई गई पत्ती में जिन एंजाइमों की पहचान हो चुकी है, वे हैं : प्रोटिएस, लाइपेस, इमल्सिन, ऐमिलेस, इन्वर्टेस, फॉस्फेटेस, ग्लाइकोलेस, पेक्टेस, कीटोन-एलिडहाइड म्यूटेस, ऑक्सिडेस, पर-ऑक्सिडेस, कैटेलेस और रिडक्टैस (Indian Tob. Monogr., 201).

अन्य फसलों की तुलना में तम्बाकू में खनिज अंश (12-25%, शुष्क भार के आधार पर) अधिक होता है जो किस्म, भूमि की प्रकृति और प्रयुक्त उर्वरकों के अनुसार घटता-बढ़ता रहता है। राख में 50% या अधिक पोटैशियम और कैल्शियम रहता है; मैग्नीशियम, फॉस्फोरस, सोडियम, सिलिकन, क्लोरीन और गन्धक काफी मात्रा

में पाये जाते हैं। आर्सेनिक केवल अल्प मात्रा में पाया जाता है, तम्बाकू में पहचाने गये अन्य सूक्ष्म मात्रिक तत्व हैं : ऐलुमिनियम, बेरियम, वोरान, सीज़ियम, क्रोमियम, ताँबा, लोहा, सीस, लिथियम, मैगनीज, स्वीडियम, स्ट्रॉन्शियम, टाइटेनियम, जिंक और आयोडीन। तम्बाकू के खनिज रचक पत्ती की दाह्यता और अन्य गुणों पर निश्चित प्रभाव डालते हैं (Garner, 317-18; Johnstone & Plimmer, loc. cit.).

तम्बाकू में अनेक विविध पदार्थ पाये जाते हैं जिनके अन्तर्गत इण्डोल, ऐसीटिक अम्ल के समान एक ऑक्सिजन, फॉस्फेटाइड, सेपोनिन, ग्लाइकोसाइड, ऐस्काविक अम्ल, बी समूह के विटामिन, न्यूक्लीइक अम्ल, सोलेनोक्रोमीन, प्यूरिन, टोकोफेरॉल और अनेक स्टेरॉल तथा उनके ग्लाइकोसाइड हैं। बताया गया है कि सिगार तम्बाकू में निकोटिनिक अम्ल, राइबोफ्लेविन, पैन्टोथेनिक अम्ल और थायमीन की मात्रा पर सुखाने का प्रभाव पड़ता है। स्टेरॉल की मात्रा (0.1-0.5%) किस्म के साथ घटती-बढ़ती है, स्टिग्मास्टेरॉल, β -साइटोस्टेरॉल और γ -साइटोस्टेरॉल मुख्य घटक हैं; एर्गोस्टेरॉल अल्प मात्रा में पाये जाते हैं। भारतीय खैनी तम्बाकू में γ -साइटोस्टेरॉल के एक ग्लूको-साइड की उपस्थिति बताई गई है। कोयम्बटूर से प्राप्त धूप में सुखाई गई तम्बाकू की किस्म में एक कोटोस्टेरायड ($C_{30}H_{52}O$, ग. वि, 263-64°) और चार स्टेरॉल (β -साइटोस्टेरॉल और C_{27} - C_{29} स्टेरॉल को मिलाकर) और उनके ग्लूकोसाइड की उपस्थिति प्रदर्शित की गई है (Johnstone & Plimmer, loc. cit.; Jensen, loc. cit.; Khanolkar *et al.*, *Science*, 1955, 122, 515; Divekar *et al.*, loc. cit.).

तम्बाकू के ऐल्कलायड - तम्बाकू में कई पिरिडीन ऐल्कलायड पाये जाते हैं (सारणी 10) जिनमें से निकोटीन (β -पिरिडाइल- α -N-मेथिल पाइरोलिडीन) सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। भिन्न-भिन्न किस्मों की तम्बाकू में ऐल्कलायडों की कुल मात्रा में काफी अन्तर देखा जाता है। नि. टैबेकम किस्म में प्रायः 4% कुल ऐल्कलायड रहते हैं और इसमें 6% से अधिक ऐल्कलायड नहीं पाये जाते हैं। नि. रस्टिका में ऐल्कलायडों की मात्रा इससे दूनी हो सकती है। जंगली जातियों में ऐल्कलायडों की मात्रा निम्न होती है। नि. टैबेकम और नि. रस्टिका में निकोटीन ही प्रधान ऐल्कलायड होता है; अन्य क्षारकों की उपस्थिति अत्यन्त सीमित होती है। नारनिकोटीन, निकोटिनामा की बहुत-सी जंगली जातियों (सारणी 1) में और एनावेसीन ग. ग्लाउका और कुछ जंगली जातियों का मुख्य ऐल्कलायड है; निकोटीन प्रायः गौण ऐल्कलायड की तरह पाया जाता है (Henry, 35; Garner, 314).

परिपक्व बीजों में निकोटीन नहीं रहता। अंकुरण की प्रारम्भिक अवस्थाओं में यह प्रगट होता है तथा पौधे के प्रत्येक भाग में पाया जाता है। पत्तियों में इसकी बहुलता रहती है। मध्य शिरा की अपेक्षा पत्तियों में अधिक निकोटीन होता है, सिरे और किनारे की ओर निकोटीन की मात्रा बढ़ती है। विकास की अवधि में निकोटीन का सतत संचय होता रहता है और पुष्पावस्था में अधिकतम स्तर पर पहुँच जाता है। परिपक्व होने पर पत्तियों में निकोटीन की मात्रा घट जाती है। यह प्रदर्शित किया गया है कि निकोटीन का संश्लेषण आनिथीन और निकोटिनिक अम्ल से होता है। यह निकोटीन मुख्य रूप से जड़ों में बनता है और फिर पत्तियों में चला जाता है। यह सूचित हुआ है कि जब अमोनियम सल्फेट या पोटैशियम नाइट्रेट के रूप में नाइट्रोजन उतक में पहुँचायी जाती है तो पत्तियों और तनों में निकोटीन का संश्लेषण होता है। पौधे में निकोटीन की पूरी मात्रा इस प्रकार विभाजित रहती है : पत्तियाँ, 64; तना, 18; जड़, 13; और फूल, 5%। परिपक्व बीजों में ऐल्कलायड नहीं के बराबर होते हैं [Garner,

सारणी 10 - तम्बाकू में उपस्थित ऐल्कलायड तथा अन्य क्षारक*

ऐल्कलायड	सूत्र	क्व. बि.
L-निकोटीन	$C_{10}H_{14}N_2$	246°
निकोटाइरीन	$C_{10}H_{10}N_2$	280°
निकोटिमीन	$C_{10}H_{14}N_2$	255°
L-नारनिकोटीन	$C_8H_{12}N_2$	267°
d-नारनिकोटीन	$C_8H_{12}N_2$..
पिपरीडीन	$C_5H_{11}N$	106°
पाइरोलिडीन	C_4H_9N	88°
N-मेथिल पाइरोलीन	C_5H_9N	80°
2, 3'-डाइपिरिडिल	$C_{10}H_8N_2$	294°
L-ऐनैवेमीन	$C_{10}H_{14}N_2$	276°
N-मेथिल-L-ऐनैवेमीन	$C_{11}H_{16}N_2$	268°
L-ऐनेटवीन	$C_{10}H_{12}N_2$	146°/10 मिमी.
N-मेथिल-L-ऐनेटवीन	$C_{11}H_{14}N_2$	120°/1 मिमी.
निकोटॉइन	$C_8H_{11}N$	208°
निकोटेलीन	$C_{15}H_{11}N_3$	148° (गलनांक)
मायोसमीन	$C_8H_{10}N_2$	45° (गलनांक)

निकोटिमीन एक अशुद्ध पदार्थ माना जाता है और निकोटॉइन की उपस्थिति संदेहपूर्ण है। साधारण क्षार, अर्थात् अमोनिया, मेथिल ऐमीन और आइसो-ऐमिलऐमीन और 3-पिरिडिल-मेथिल और 3-पिरिडिल-ऐथिल नाम के दो कोटोनों की भी उपस्थिति तम्बाकू में बताई गई है।

*Manske & Holmes, I, 257; VI, 132; Johnstone & Plimmer, *Chem. Rev.*, 1959, 59, 885.

442-43; Wolf, 188; Manske & Holmes, I, 35-37, 229-35; Dawson *et al.*, *Ann. N.Y. Acad. Sci.*, 1960, 90 (1), 7; Bose *et al.*, *Indian J. med. Res.*, 1956, 44, 81].

तम्बाकू में निकोटीन की सांद्रता तम्बाकू की किस्म, जलवायु और खेती की विधि के अनुसार घटती-बढ़ती है। धूम्रपान करने वालों के लिए निकोटीन और प्रोटीन की कम मात्रा वाली तथा कीटनाशी और निकोटिनिक अम्ल निर्माण के लिए निकोटीन की उच्च मात्रा वाली किस्मों के प्रजनन और वरण पर काफी कार्य किया गया है। ठंडे तथा अधिक वर्षा वाले वर्षों में उपजाई गई फसलों में उष्ण, शुष्क वर्षों की अपेक्षा निकोटीन की मात्रा कम होती है। नाइट्रोजनी खाद देने से निकोटीन की मात्रा बढ़ती है। भारतीय तम्बाकू की विभिन्न किस्मों में निकोटीन की मात्रा सारणी 11 में दी गई है (Garner, 442-43; Henry, 47; *Biol. Abstr.*, 1951, 25, 1093).

तम्बाकू में निकोटीन मुख्यतः कार्बनिक अम्लों के लवण के रूप में उपस्थित है। पौधे में निकोटीन तथा सिट्रिक अम्ल के बीच अत्यन्त निकट समानता पायी जाती है, निकोटीन के लवण दक्षिणावर्ती होते हैं। दो निकोटीन ग्लाइकोसाइडो : टैबेसीन और टैबेसीलीन की सूचना है, किन्तु उनकी पुष्टि नहीं हो पाई। निकोटीन एक रंगहीन द्रव है जो वायु में खुला रखने पर भूरा पड़ जाता है और तम्बाकू जैसी विषोप गंध प्राप्त कर लेता है। इसका स्वाद तीक्ष्ण और उत्तेजक होता है। यह 60° से कम व 210° से अधिक ताप पर जल के साथ प्रत्येक अनुपात में मिश्रणीय है। परन्तु इन तापों के बीच कम विलेय है। भाप के साथ सरलता से इसका वाष्पन हो जाता है। इसके ऑक्सीकरण से निकोटिनिक अम्ल बनता है (Manske & Holmes, I, 229, 235; Johnstone & Plimmer, loc. cit.).

सारणी 11 - भारत में उत्पादित संसाधित तम्बाकू की प्रमुख किस्मों की पत्ती में निकोटीन और राख की मात्रा*

(% नमी-रहित आधार पर)

किस्म	निकोटीन	राख
नि. टैबेकम सिगरेट वर्जीनिया फ्लू-संसाधित गुप्तर	1.22-2.96 (2.14)	13.87-16.66 (15.26)
मैसूर	0.60-1.17 (0.76)	11.44-13.31 (12.61)
नाटू धूप-संसाधित गुप्तर	1.38-3.00 (2.04)	17.37-19.96 (18.44)
सिगार तमिलनाडु	0.65-3.44 (2.25)	18.83-22.55 (21.06)
पं. बंगाल	2.76-3.49 (3.13)	16.04-17.93 (16.98)
चुस्ट तमिलनाडु	4.25-5.26 (4.75)	15.97-18.88 (17.43)
बीड़ी गुजरात	2.30-3.78 (3.13)	16.55-23.81 (18.91)
निपानी	2.96-5.01 (3.90)	16.00-21.24 (18.60)
हुक्का, खैनी, सुंघनी	1.63-4.13 (3.14)	16.18-22.48 (18.97)
नि. रस्टिका हुक्का, खैनी, सुंघनी पं. बंगाल	4.58-7.39 (6.10)	19.73-23.79 (22.35)
उत्तर प्रदेश और पंजाब	2.00-4.63 (3.82)	7.36-27.73 (22.63)

*Marketing of Tobacco in India, Marketing Ser., No. 123, 1960, 224-26, 72.

खैनी और सुंघनी के लिये कोई भी किस्म बड़ी मात्रा में कृष्ट नहीं की जाती। सामान्यतः इन कार्यों के लिये हुक्का तम्बाकू व्यवहृत होती है। औसत मान कोष्टक में दिये गये हैं।

उपयोग

भारत में उत्पादित तम्बाकू का अधिक परिमाण सिगरेट, बीड़ी, सिगार, चुस्ट और चूड़ा तथा चिलम और हुक्का में धूम्रपान करने के लिये प्रयोग में लाया जाता है। खाने और सूंघने के लिये भी काफी बड़ी मात्रा काम आती है। सिगरेट को छोड़ कर, जिसका निर्माण कारखानों में होता है भारत में अन्य उत्पाद कुटीर उद्योग के आधार पर तैयार किये जाते हैं। तम्बाकू प्राचीन काल से शामक, उद्वेष्टरोधी और क्रमिहर की तरह औषधि में तथा भिन्न जठरान्न विकारों, चर्म रोगों और स्थानीय व्रणों की चिकित्सा में अत्यधिक प्रयुक्त होती है परन्तु अब इसका स्थान विश्वस्त और अधिक प्रभावशाली औषधियों ने ले लिया

है। तम्बाकू की अधिक मात्रा खाने से निकोटीन विषाक्तता के फलस्वरूप मृत्यु हो सकती है। कभी-कभी पशु-चिकित्सा में तम्बाकू कृमिनाशक की तरह प्रयुक्त होता है (Patel, *Indian Tob.*, 1960, 10, 35; Larson *et al.*, 78-96).

तम्बाकू चूर्ण और तम्बाकू के निष्कर्ष कृषि कीटनाशकों की तरह अथवा जूँ तथा चीचड़ी के उन्मूलन में बड़ी मात्रा में व्यवहृत होते रहे हैं। तम्बाकू अवशिष्ट जो चूर्ण मध्यशिरा और तने तथा क्षतिग्रस्त तम्बाकू से मिलकर बनी होती है, निकोटीन के निष्कर्षण के लिए व्यवहृत होता है- यह प्रायः सल्फेट के रूप में कीटनाशक की भांति बड़े पैमाने पर काम में लाया जाता है। संश्लेषित निकोटिनिक अम्ल और निकोटिनैमाइड के उत्पादन में भी निकोटीन का उपयोग होता है। तने और डंठल बिना निष्कर्षित किये या निकोटीन निकाल देने के बाद, खाद के रूप में उपयोगी हैं, उनमें पोटैश की मात्रा अधिक होती है (Thorpe, XI, 644-45; Kirk & Othmer, XIV, 257; Blanck, 129).

तम्बाकू के बीज विप्ले ऐल्कलायड, निकोटीन से मुक्त होते हैं और पशुओं के आहार के रूप में प्रयुक्त होते हैं। आन्ध्र प्रदेश में भेड़ और बकरियाँ पौधे की पकी फलियों की तुल्य खा जाती हैं, लेकिन सामान्यतः इन्हें डंठलों के साथ ईंधन के रूप में जला देते हैं। बीज से एक कम सुलने वाला तेल मिलता है जो परिष्कृत करने के बाद खाने और रंगों तथा चार्निशों में प्रयोग के लिये काम में लाया जाता है। बीज की खली में प्रचुर प्रोटीन होने के कारण यह पशुओं के आहार के लिये प्रयुक्त होती है। यह एक नाइट्रोजनी खाद का भी काम देती है (Rao & Narasimham, *Indian J. agric. Sci.*, 1942, 12, 400; Eckey, 738).

हाल के वर्षों में फ्रांसीसी तम्बाकू की पत्तियों को वाष्पशील विलायकों द्वारा निष्कर्षित करके परिशुद्ध तम्बाकू तैयार की गई है। इसका इस्तेमाल साधारणतया रंगहीन रेजिनायड के रूप में तथा आधुनिक प्रचलित इत्रों में लुभाने वाली गमक प्रदान करने के लिये किया जाता है। तम्बाकू के डंठलों से निष्कर्ष प्राप्त करने की कुछ विधियों का विकास किया गया है जिसमें 95% एथेनाल का प्रयोग किया जाता है। सुगंधित प्रभाजों का उपयोग निम्न श्रेणी की तम्बाकूओं को सुधारने में या तम्बाकू उत्पाद की पैकिंग के काम आने वाले कागज, लकड़ी अथवा सामान्य वस्तुओं को तम्बाकू-सौरभ देने के काम में होता है (Poucher, I, 402; Badgett & Woodward, *Bur. agric. industr. Chem., U.S. Dep. Agric.*, AIC-298, 1951).

व्यापारिक तम्बाकू के गुण परिवर्तन

तम्बाकू की व्यापारिक महत्ता मूलतः उन विशिष्ट कार्यों के लिये उपयोगी होने के कारण है जिनमें रंग, रूप, संयोजन, गठन, प्रत्यास्थता तथा सौरभ जैसे अनेक गुणों की आवश्यकता होती है। आजकल तम्बाकू का गुण निश्चित करने के लिये केवल अनुभव का सहारा न लेकर रासायनिक विधियों तथा भौतिक मापों का सहारा लिया जाता है। विभिन्न किस्मों की पत्तियों के गुणों में अत्यधिक अन्तर हो सकता है; अतः प्रत्येक भिन्न प्ररूप (किस्म) के रासायनिक संघटन के लिये पृथक् मानकों की आवश्यकता पड़ती है, जैसे कि फ्लू-संसाधित और मेरीलैंड किस्मों की पत्तियाँ एक ही सिगरेट बनाने में मिलायी जाती हैं- साथ ही जहाँ शर्कराओं की अधिक मात्रा फ्लू-संसाधित तम्बाकू में अच्छे गुणों की सूचक है, वहीं मेरीलैंड तम्बाकू में इन्हीं उत्पादों के कारण असामान्य उत्पाद प्राप्त होते हैं (Garner, 320, 438).

निकोटीन की प्रतिशतता तथा वाष्पशील क्षारक प्रभाज में जिस अनुपात में यह रहती है, तम्बाकू के स्वाद और अन्य गुणों पर विशेष रूप

से प्रभावी होते हैं। 3% से अधिक निकोटीनयुक्त फल-संसाधित तम्बाकू साधारणतया अमान्य है किन्तु यदि 1.5% से कम निकोटीन हो तो भी सिगरेट पीने वाले इसे पसंद नहीं करते। धूँयें का सुवास तथा संरचना, दहन गुण पर निर्भर करते हैं। अच्छी किस्म की तम्बाकू को धीरे-धीरे और पूरी तरह जलना चाहिये। पीटैसियम के कारण आग सुलगाये रखने के गुण तथा क्लोरीन, गंधक और नाइट्रोजन के कारण आग बुझने के गुण आते हैं। फल-संसाधित तम्बाकू की उपयुक्तता तो उसमें उपस्थित अपचित शर्कराओं की समानुपाती तथा नाइट्रोजन की पूर्णमात्रा के उत्क्रमानुपाती होती है। सिगार तम्बाकूओं में नाइट्रोजन की अधिकता तथा कार्बोहाइड्रेट की न्यूनता होती है। तम्बाकू का वाष्पशील तेल ही मुख्य ऐरोमैटिक प्रभाज है। इसमें तेल की पूर्ण मात्रा की अपेक्षा उसकी संरचना अधिक महत्वपूर्ण होती है। तम्बाकू के धूँआ देने वाले उत्पादों के स्वाद तथा इससे उनके शामक प्रभाव के लिए एल्कोहल में विलेय तम्बाकू के रेजिन विशेष महत्वपूर्ण हैं। तम्बाकू मिलाते समय उत्पाद में नाइट्रोजन, कार्बोहाइड्रेट, खनिज पदार्थ और ऐरोमैटिक अवयवों के संतुलन पर ध्यान दिया जाता है (Kirk & Othmer, XIV, 248; Garner, 441)।

मुख्य किस्म की तम्बाकूओं की औसत संरचना में विशेष अन्तर पाया जाता है। सारणी 12 में भारत में उपजाई जाने वाली विभिन्न तम्बाकूओं की रासायनिक संरचना के आंकड़े दिये गये हैं। भारत की सिगरेट और सिगार तम्बाकूएँ अमेरिकी तम्बाकू की अपेक्षा निम्न श्रेणी की समझी जाती हैं।

फल-संसाधित तम्बाकू—फल-संसाधित तम्बाकू में शर्कराओं की अधिक मात्रा नाइट्रोजनी और अम्ल-अवयवों की सामान्य से मध्यम मात्रा तथा निकोटीन की साधारण मात्रा पाई जाती है। शर्करा की अधिक मात्रा होने से पत्तियाँ बेकार हो जाती हैं और सुलगी रहने की क्षमता तथा सौरभ कम हो जाते हैं। भारतीय तम्बाकू-पत्तियों में आवश्यकता से कम शर्करा तथा आवश्यकता से अधिक नाइट्रोजन की मात्रा पाई जाती है जैसा कि सारणी 13 में अमेरिकी पत्तियों की तुलना से स्पष्ट है। विदेशी पत्तियों की तुलना में भारतीय पत्तियों में नाइट्रोजन जटिल* की मात्रा अधिक होती है जिससे पता चलता है कि सुखाने समय प्रोटीनों का जल-अपघटन अधिक व्यापक रूप से होता है क्योंकि पत्तियों की रासायनिक तथा एंजाइमी संरचना उपयुक्त नहीं होती।

भारतीय तम्बाकू की निम्न कोटि होने का कारण पौधों की वृद्धि के समय मूला मौसम और भारी काली मिट्टी में तम्बाकू की खेती का किया जाना है। हल्की मिट्टी में अथवा वर्षाकाल में सिंचाई के समुचित साधनों का प्रयोग करके तम्बाकू में शर्करा तथा नाइट्रोजन की आवश्यक मात्रा प्राप्त की जा सकती है क्योंकि ऐसी ही परिस्थितियों में न्यूजीलैंड में उगाये जाने वाले हैरिसन स्पेशल नामक तम्बाकू में शर्करा की मात्रा अमेरिकी पत्तियों के समान पाई गई है। इस प्रकार विकल्प के रूप में तम्बाकू उपजाये जाने वाले क्षेत्रों की परिस्थिति के अनुसार विशेष किस्म की फल-संसाधित तम्बाकू का विकास किया जा सकता है (Indian Tob. Monogr., 222)।

भारतीय फल-संसाधित तम्बाकू के विश्लेषण से पता चलता है कि हरी पत्तियों में स्टार्च और आर्द्रता के कारण इसके गुण पर विशेष प्रभाव पड़ते हैं। 80% से 85% आर्द्रता तथा लगभग 13% स्टार्च-

युक्त पत्तियाँ सुखाने के बाद अच्छे किस्म की तम्बाकू देती हैं। यह सुझाया गया है कि पत्तियों में उपस्थित प्रारम्भिक स्टार्च भिन्न-भिन्न फल-संसाधित किस्मों के सुखाये जाने की क्षमता का सूचक हो सकता है। खेत में गोबर की खाद या नाइट्रोजन, फॉस्फोरस तथा पोटैश्वारी खादें डालने से शर्कराओं में कमी आती है और ऐमाइड या कुल नाइट्रोजन की मात्रा में पर्याप्त वृद्धि होती है। नाइट्रोजन, फॉस्फोरस तथा पोटैश के प्रयोग से पोटैश की मात्रा थोड़ी बढ़ जाती है (Sastry, *Proc. Indian Acad. Sci.*, 1953, 38B, 125; Sastry, *Indian Tob.*, 1951, 1, 249; Sastry & Sitapathi, *J. sci. industr. Res.*, 1959, 18A, 472; Sastry, *ibid.*, 1959, 18A, 566)।

हैरिसन स्पेशल के पौधों की हर एक पत्ती के अध्ययन से पता चलता है कि नीचे की चार पत्तियों में सुखाने पर स्टार्च की मात्रा कम और नाइट्रोजन की मात्रा कुछ अधिक तथा शर्करा की मात्रा कम होती है। स्टार्च, शर्करा तथा नाइट्रोजन संसंधित करने पर बीच की 8 या 9 पत्तियों में अधिक रहते हैं जबकि सबसे ऊपर की 5 या 6 पत्तियों में नाइट्रोजन की मात्रा अधिक, स्टार्च की कम और शर्करा की मात्राएँ कम होती हैं। वर्षा की विविधता के कारण प्रति वर्ष पत्तियों में इन अवयवों की मात्रा बदलती रहती है (Sastry & Kadam, *Indian J. Agron.*, 1959-60, 4, 1)।

सिगार तम्बाकू—भारत में बढ़िया कोटि के सिगार और चुष्ट वनाने के लिए वेल्लआई वझाई और काह वझाई किस्मों का इस्तेमाल किया जाता है। इनके रासायनिक संघटन सारणी 14 में दिये गये हैं। भारतवर्ष में पूरक तथा बन्धन कार्य के लिए भिन्न-भिन्न किस्म की तम्बाकू नहीं उगाई जाती, टूटी तथा खराब पत्तियाँ पूरक और साबुत बाँधने के काम में लाई जाती हैं। भारतीय सिगार-पत्ती में अमेरिकी पत्ती की अपेक्षा कुल नाइट्रोजन की मात्रा कम होती है (सारणी 14)। अमेरिका की भरने वाली और बाँधने वाली पत्तियों में उपलब्ध निकोटीन की मात्राओं की मध्यवर्ती मात्रा यहाँ के सिगार की पत्तियों में पायी जाती है। इससे यह प्रगट होता है कि भारत में प्रचलित किण्वन की विधियाँ, भरने वाली पत्तियों के लिए आवश्यकता से कम और बाँधने वाली पत्तियों की आवश्यकता से अधिक कठोर होती हैं। भरने और बाँधने वाली पत्तियों की अलग-अलग खेती करके इस कठिनाई को दूर किया जा सकता है। भारत में सिगार तम्बाकू की खेती अत्यधिक चूनेदार मिट्टी में होने के कारण भारतीय तम्बाकू में अमेरिकी तम्बाकू की अपेक्षा अधिक खनिज लवण (पोटैसियम, कैल्सियम और मैग्नीशियम) विद्यमान रहते हैं। सिंचाई में कुँए के खारे पानी के प्रयोग से यहाँ की तम्बाकू में क्लोरीन की मात्रा (2-4%, अमेरिकी सिगार तम्बाकू में अधिक से अधिक 1%) जरूरत से बहुत ज्यादा है। सिंचाई के लिए कम क्लोरीन युक्त पानी का प्रयोग सुझाया गया है। अत्यधिक नाइट्रोजन की खाद देने से वेल्लआई वझाई में सुलगने की क्षमता और धुँए के गुणों में सुधार होने पाये गए हैं (Indian Tob. Monogr., 27, 223-24; Ananth, *Allahabad Fmr*, 1959, 33, 420)।

सिगार तम्बाकू के पत्ते (वेल्लआई वझाई) की वृद्धि और उसके गुण डंठल में उनकी स्थिति पर निर्भर करते हैं। जब डंठल पर 14 पत्तियों को छोड़कर पौधे को खुटक दिया जाता है तो सबसे नीचे की चार पत्तियाँ जो खुटकने के समय लगभग पूरी तरह तैयार थीं, बाद में बहुत कम बढ़ती हैं और पौधे का ऊपरी आधा भाग वृद्धि कर पाता है। 5 से लेकर 12 तक की संख्या वाली पत्तियाँ सबसे अच्छी जलती हैं, 13वीं और 14वीं पत्तियाँ साधारण रूप से जलती हैं जबकि 1 से 4 तक की पत्तियाँ बहुत ही खराब जलती हैं। पत्तियों के साधारण

*कुल नाइट्रोजन में से प्रोटीन, निकोटीन तथा अमोनिया नाइट्रोजन घटाने से जो मान प्राप्त होता है उसमें ऐस्परेजीन के परिवर्तन गुणांक 4.7 से गुणा करके नाइट्रोजन जटिल का मान प्राप्त किया जाता है। इनमें ऐमीनो अम्लों तथा ऐमाइडों की मात्रा की सूचना मिलती है।

सारणी 12 - भारत की विभिन्न तम्बाकुओं की पत्तियों की रासायनिक संरचना* (आर्द्रतारहित आधार पर %)

क्रिम	उगाये जाने वाले स्थान	विलेय राख	अविलेय राख	कैल्शियम (CaO)	मैग्नीशियम (MgO)	पोटैशियम (K ₂ O)	फॉस्फोरस (P ₂ O ₅)	कुल नाइट्रोजन	कुल शर्कराएँ	क्लोरीन	निकोटीन
वर्जीनिया फ्लू-संसाधित,											
हैरिमन स्पेगल	गुजरात	16.58	2.48	3.82	1.98	1.14	1.58	1.50	18.82	1.76‡	1.20
सिगार तम्बाकू	वेदासंडुर (तमिलनाडु)	24.50	(अ)	5.72	2.19	6.61	0.66	3.55	(अ)	3.63	1.77
बीड़ी तम्बाकू	गुजरात	21.84	5.86	5.42	1.68	2.46	1.18	2.84	6.64	4.32‡	8.20
बीड़ी तम्बाकू	मैसूर	21.32	1.98	6.18	2.78	2.74	0.88	3.22	5.82	3.14‡	6.50
रैपर तम्बाकू	वीनहाटा (प. बंगाल)	21.66	(अ)	5.42	2.03	6.48	0.84	3.31	(अ)	0.30	1.33
नाटू तम्बाकू	आंध्र प्रदेश	12.65	1.93	5.89	1.77	1.85	0.44	2.64	7.67	2.34	3.39
लंका तम्बाकू	आंध्र प्रदेश	13.03	10.11	5.27	1.46	1.81	0.33	3.52	1.20	0.27	5.12
हुक्का तम्बाकू	पंजाब	17.57	14.60	4.88	2.08	4.19	0.75	2.98	0.43	2.17	2.87
हुक्का तम्बाकू	पूसा (बिहार)	19.77	6.34	9.38	1.17	3.35	0.76	4.12	0.89	0.57	4.21
हुक्का तम्बाकू	वीनहाटा (प. बंगाल)	15.03	7.86	4.92	1.66	3.36	0.92	4.24	0.39	0.26	6.02
खैनी तम्बाकू	वेदासंडुर (तमिलनाडु)	14.58	5.70	4.59	2.16	4.83	1.02	4.51	0.36	2.59	5.33
खैनी तम्बाकू	पूसा (बिहार)	17.30	9.79	7.30	2.27	3.20	0.67	4.19	0.57	2.40	4.64

*Information from the Director, Cent. Tob. Res. Inst., Rajahmundry; Indian Tob. Monogr., 225.

‡गुजरात से प्राप्त वर्जीनिया और बीड़ी तम्बाकुओं में तथा मैसूर की बीड़ी तम्बाकू में क्रमशः (आर्द्रतारहित आधार पर) वाष्पशील तेल - 0.01, 0.86, 0.88; मोम, 0.98, 0.98, 0.66; रेखिन, 1.38, 4.86, 2.74; ईयर निष्कर्ष, 5.28, 8.16, 5.48; और ऐल्कोहल निष्कर्ष, 27.7, 22.18, 18.64% पाये जाते हैं।
‡क्लोराइड के रूप में मान (NaCl).

(अ) - अनुपस्थित.

सारणी 13 - भारतीय, अमेरिकी और न्यूजीलैंड की फ्लू-संसाधित तम्बाकुओं की रासायनिक संरचना* (जलरहित आधार पर %)

	भारतीय (हैरिसन स्पेशल)	अमेरिकी (ग्रुप-13)	न्यूजीलैंड (हैरिसन स्पेशल)
स्टार्च	0.97- 1.47	6.38	11.90
अपचायक शर्कराएँ	3.57- 7.69	18.94	23.65
शर्कराओं की कुल मात्रा (ग्लूकोस के रूप में)	9.01-15.29	28.33	27.22
कुल नाइट्रोजन	1.91- 2.28	1.22	1.45
प्रोटीन	2.71- 4.78	3.70	4.16
अमोनिया	0.03- 0.05
ऐमाइड और ऐमीनो अम्ल	4.32- 6.10	2.02	2.51
निकोटीन	1.12- 1.59	1.12	1.47
राख	14.77-20.43	10.71	10.15

*Indian Tob. Monogr., 229.

सारणी 14 - भारतीय और अमेरिकी संसाधित सिगार तम्बाकू की रासायनिक संरचना* (आर्द्रतारहित आधार पर %)

	भारतीय		अमेरिकन	
	कारु वझाई	बेलाई वझाई	पेनसिलवेनिया सीड लीफ फिलर	कनेक्टिकट ब्राड लीफ वाइण्डर
कुल नाइट्रोजन	3.81	3.55	4.04	5.19
प्रोटीन	10.50	11.81	13.50	9.08
निकोटीन	2.49	1.77	1.04	3.43
अन्य विलेय नाइट्रोजन	1.70	1.35	1.70	3.15
राख	23.50	24.50	..	17.83
क्लोरीन	2.75	3.63	..	0.40
पोटैश (K ₂ O)	5.44	6.61	..	4.63
कैल्शियम (CaO)	5.41	5.72	..	4.95
मैग्नीशियम (MgO)	2.54	2.19	..	0.89

*Indian Tob. Monogr., 223.

सारणी 15 — विभिन्न श्रेणियों की बीड़ी तम्बाकूओं की संरचना*
(आर्द्रतायुक्त आधार पर %)

	बुक्का	गेरान	गलिया	लकड़ा
आर्द्रता	6.30	5.82	5.68	5.96
नाइट्रोजन	2.24	2.32	1.96	1.26
निकोटीन	7.91	5.28	6.97	0.965
स्टार्च	6.22	2.22	1.85	2.81
अपचित शर्कराओं के रूप में कुल शर्कराएँ	6.25	3.12	3.75	3.70
अनपचित शर्कराएँ	4.75	2.11	2.80	2.28
अपचित शर्कराएँ	1.25	1.00	0.80	1.30
कुल राख	17.50	20.03	23.08	21.35
अम्ल में अविलेय राख	3.52	1.40	4.08	4.28
कैल्सियम (CaO)	6.13	7.51	7.36	7.74
मैग्नीशियम (MgO)	1.89	1.81	2.18	2.44
फॉस्फोरस (P ₂ O ₅)	0.85	0.47	0.59	0.82
सोडियम (Na ₂ O)	0.135	0.192	0.195	0.322
पोटैशियम (K ₂ O)	0.94	0.846	0.882	1.09
क्लोरीन (NaCl)	0.61	1.34	0.789	1.15

* Indian Tob. Monogr., 229.

गुणों के निरीक्षण से पता चलता है कि 5वीं से 14वीं पत्तियाँ 1 से 4 पत्तियों की अपेक्षा अधिक अच्छी किस्म की होती हैं। सबसे नीचे की चार पत्तियाँ अधूरे संसाधन किण्वन तथा स्थानान्तरण और उनके अवयवों के अपक्षय के कारण खराब किस्म की हो सकती हैं (Tejwani et al., *Indian J. agric. Sci.*, 1958, 28, 199).

भारतीय सिगार और चूट तम्बाकू की रासायनिक संरचना और जलने के गुण में कुछ रोचक सम्बन्ध देखे गये हैं। चूट के जलने में पोटैशियम और कैल्सियम सहायक होते हैं जबकि नाइट्रोजन, क्लोरीन और मैग्नीशियम जलने में बाधक होते हैं। कनेक्टिकट सिगार-पत्तों में नम मौसम में उगाई गई फसल में सुलगने की क्षमता सूखे मौसम में उगाई गई फसल की अपेक्षा अधिक है। अच्छी जलने वाली तम्बाकू में राख की क्षारता अधिक होती है (Sastry & Kurup, *J. sci. industr. Res.*, 1958, 17B, 499; Indian Tob. Monogr., 220).

बीड़ी तम्बाकू — बीड़ी बनाने के लिए इस्तेमाल की जाने वाली तम्बाकू और फल-संसाधित वर्जीनिया तम्बाकू में विशेषतया निकोटीन, नाइट्रोजन कार्बोहाइड्रेट और वाष्पशील तैलों (सारणी 12) की मात्राओं में अधिक भिन्नता पाई जाती है। भारत में पैदा की जाने वाली विभिन्न किस्म की तम्बाकूओं में निकोटीन की सबसे अधिक मात्रा साधारणतः बीड़ी तम्बाकू में पाई जाती है। कुछ उन्नत किस्मों में निकोटीन की मात्रा निम्नलिखित है : सुस्ती-20, 5.59; सैजपुरियु-57, 3.89; कैलियु-49, 6.62; और गाडियु-6, 6.03%। प्रयोगों से पता चला है कि नाइट्रोजन उर्वरक डालने से बीड़ी की कुछ किस्मों में निकोटीन की मात्रा 8% तक बढ़ाई जा सकती है। निकोटीन और कुल नाइट्रोजन की मात्रा कार्बनिक खादों की अपेक्षा अकार्बनिक खादों के प्रयोग से काफी अधिक बढ़ जाती है किन्तु कार्बनिक खादों के देने से कार्बोहाइड्रेट की मात्रा अधिक होती है। साधारणतया अमोनियम सल्फेट और मूंगफली की खली अन्य उर्वरकों की अपेक्षा अधिक

उपयोगी सिद्ध हुई है। सिचाई के पानी में नमक रहने से तम्बाकू में निकोटीन और स्टार्च की मात्रा घट जाती है। बीड़ी तम्बाकू का गुण नाइट्रोजन और कैल्सियम की प्रतिशत मात्रा पर अधिकतम निर्भर करता है। अधिक नाइट्रोजन और कम कैल्सियम वाली बीड़ी तम्बाकू अच्छी किस्म की समझी जाती है। पौधों की ऊपरी पाँच पत्तियों से नीचे की पाँच पत्तियों की अपेक्षा ज्यादा अच्छी किस्म की बीड़ी तम्बाकू बनती है (Indian Tob. Monogr., 224-27; Patel, *Indian Tob.*, 1961, 11, 19).

बीड़ी तम्बाकू के गुण की महत्वपूर्ण कसौटी है प्रौढ़ पत्तियों में सितारे जैसी विन्दियों का प्रगट होना और यह गुण रासायनिक संरचना में होने वाले परिवर्तनों से सम्बंधित है। पत्ती के तैयार होते समय चमकीली विन्दियों के निकलने के पहले कार्बोहाइड्रेट की मात्रा अधिकतम हो जाती है और इसके बाद इसकी मात्रा, चमकीली विन्दियों के बनने की अवधि तक घटती जाती है। मोम और रेजिन इन विन्दियों के बनने के पूर्व बढ़ते हैं किन्तु पत्ती के तैयार होने पर इनकी मात्रा कुछ घट जाती है और पत्ती का ऊपरी भाग सूख जाता है। कुल नाइट्रोजन, निकोटीन और क्लोरीन तब तक बढ़ते जाते हैं जब तक पत्तियाँ में ये विन्दियाँ पूर्ण रूप से विकसित नहीं हो जाती हैं।

बीड़ी तम्बाकू चार अलग श्रेणियों में छाँटकर पत्रकों के रूप में बेची जाती है, ये श्रेणियाँ हैं : बुक्का (पत्ती के टुकड़े), 55-60%; लकड़ा (मध्य शिराएँ), 17-20%; गेरान (बुक्का निकालने के बाद पत्ती के छोटे टुकड़ों और मध्य शिराओं से मिलने वाली द्वितीयक नसों के मिश्रण), 8-10%; और गलिया (वालू पत्तियाँ), 10-15%। इनका अनुपात बीड़ी तम्बाकू की किस्म, फसल काटने के तरीके और समय तथा संसाधन पर निर्भर करता है। बुक्का सबसे अच्छी श्रेणी की तम्बाकू समझी जाती है। इसमें निकोटीन, स्टार्च और कुल शर्कराओं की मात्रा सबसे अधिक होती है (सारणी 15)। व्यापारिक बीड़ियों के अनेक नमूनों के परीक्षण से पता चला है कि तम्बाकू और लपेटन पत्तियों का अनुपात भार 0.57 से 1.48 तक, तम्बाकू में निकोटीन की मात्रा 2.35 से 6.31%, और पोटैश की मात्रा 0.34 से 0.98% के बीच बदलती रहती है। निम्न श्रेणी की बीड़ियों के पत्रदलों में मिलावट हुई जान पड़ती है (Patel, loc. cit.; Indian Tob. Monogr., 226-30, 319-21).

हुक्का तम्बाकू — हुक्का और सुंधनी तम्बाकूओं के रसायन विज्ञान का विस्तार से अध्ययन नहीं हुआ। व्यापारिक हुक्का तम्बाकू के परीक्षण से पता चला है कि कच्चे माल में निकोटीन की मात्रा 0.74 और 6.01% के बीच बदलती है। नि. टैंबेकम की अपेक्षा नि. रस्टिका में निकोटीन की मात्रा अधिक होती है (सारणी 11)। नाइट्रोजन-युक्त खाद देने तथा दीर्घियाँ तोड़ते रहने से निकोटीन की मात्रा बढ़ जाती है। समझा जाता है कुछ विशेष कुँआँ के पानी से पौधों को सींचने पर उत्तम कोटि की तम्बाकू पैदा होती है। रोहतक और गुडगांव जिलों में ऐसे कुँआँ के जल विश्लेषण से जल में प्रचुर क्लोराइड के साथ नाइट्रेट की मात्रा पायी गयी है (Indian Tob. Monogr., 203).

सुंधनी तम्बाकू — पंजाब में उगाई जाने वाली कच्ची सुंधनी तम्बाकू में निकोटीन, स्टार्च और अन्य कार्बोहाइड्रेट की मात्राएँ क्रमशः 3.2-4.48, 3.9-7.7 और 8.5-13% रहती हैं। संसाधित सुंधनी तम्बाकू की अच्छी किस्मों में निकोटीन की मात्रा 0.9-1.5% और घटिया किस्मों में 0.42% होती है। नम सुंधनी चूर्ण की शर्करा और हेमीसेलूलोस का अधिकांश भाग किण्वन की प्रारम्भिक अवस्था में ही व्यय हो जाता है। किण्वन की अन्तिम अवस्था में पी-एच मान

में वृद्धि होती है और मुक्त निकोटिन की मात्रा बढ़ जाती है (Indian Tob. Monogr., 230).

शरीरक्रियात्मक प्रभाव

तम्बाकू स्थानीय उत्तेजक है। सुँघनी के रूप में प्रयोग करने से जोरों की छींक आती है तथा नाक से काफी श्लेष्मा निकलता है। खाने पर मुँह की श्लेष्मा झिल्ली में उत्तेजना होती है और अधिक लार निकलने लगती है। अधिक मात्रा में खाने या अनभ्यस्त लोगों पर उग्र मचली और कभी-कभी उल्टी तक होती है, साथ ही काफी पसीना निकलता है और पेशियों में काफी निर्वनता प्रतीत होती है (U.S.D., 1955, 1904).

तम्बाकू की भेषज सम्बन्धी क्रिया इसमें उपस्थित प्रवल और तीव्र क्रियाशील विष निकोटिन के कारण होती है। विपैले निकोटिन की थोड़ी मात्रा के प्रयोग से अत्यधिक मिचली आती है, वमन की इच्छा होती है, दीर्घ शंका तथा लघु शंका की इच्छा होती है, पेशियों में कँपकँपी और ऐंठन होने लगती है। 40 मिग्रा. खा लेने पर आदमी की मृत्यु हो जाती है। यह क्षार श्लेष्म झिल्लियों तथा अक्षत चमड़ी द्वारा तैजी से अवशोषित हो जाता है किन्तु लवण (जैसे सल्फेट) अत्यन्त धीरे-धीरे अवशोषित होते हैं। निकोटिन का प्रमुख शरीरक्रियात्मक प्रभाव स्वसंचालित गण्डिकाओं और कुछ अन्तस्थ केन्द्रों पर विशेष रूप से वमनोत्कारी और स्वसन केन्द्रों पर कम मात्रा के प्रयोग से उत्तेजना के रूप में तथा अधिक मात्रा के प्रयोग से शिथिलता के रूप में पड़ता है। प्राथमिक उत्तेजना के कारण रक्तचाप अल्पकाल के लिए बढ़ जाता है, हृदय की गति धीमी पड़ जाती है, स्वसन क्रिया तेज होने लगती है और लार तथा अन्य लसदार पदार्थों का स्राव अधिक होने लगता है। द्वितीयक अवसादन के कारण रक्तचाप घट जाता है, नाड़ी तेज चलने लगती है, स्वसन गति अनियमित हो जाती है और श्वास अंगघात हो जाता है। सांघातिक मात्रा लेने से मस्तिष्क-सम्बन्धी तंत्रिका का पक्षाघात होने के कारण स्वसन क्रिया रुक जाती है और मृत्यु हो जाती है। *d*-नारनिकोटिन और ऐनाबेसीन दोनों ही निकोटिन की तरह काफी क्रियाशील, किन्तु इससे अधिक विपैले हैं। मायोसमीन निकोटिन से कम विपैला है किन्तु पृथक्कृत गिनी-सुअर आंत पर अधिक प्रभावकारी है। निकोटिन और नारनिकोटिन के *L*-रूप इनके *d*- और *dl*-रूपों की अपेक्षा अधिक प्रभावशाली हैं [U.S.D., 1955, 1904-05; Merck Index, 719; Travell, *Ann. N.Y. Acad. Sci.*, 1960, 90 (1), 13; Comroe, *ibid.*, 1960, 90 (1), 48; Henry, 50; Manske & Holmes, V, 118].

यह प्रमाणित नहीं हुआ है कि धूम्रपान करने से स्वास्थ्य पर कोई हानिकारक प्रभाव पड़ता हो किन्तु अत्यधिक धूम्रपान करने वाले हृदय सम्बंधी रोगों से पीड़ित होते पाये गये हैं। यह अभी भी अनिश्चित है कि स्वयं सिगरेट का पीना इसका भावनात्मक कारण है या भावनात्मक तनाव। धुँएँ के साथ-साथ अंदर जाने वाले निकोटिन की मात्रा को 0.2 से 8.5 मिग्रा. प्रति सिगरेट आंका गया है और शोषित निकोटिन की मात्रा 3.3 मिग्रा. है। सिगरेट तारकोल की मात्रा 10 से 20 मिग्रा. तक या उससे भी अधिक होती है। फिल्टर-सिगरेट के इस्तेमाल से या होल्डर के प्रयोग से बहुत कम निकोटिन और तारकोल मुँह में जा पाता है। निकोटिन का प्रभाव हृदयगति, रक्तचाप और वाहिका संकीर्णन पर सामान्य होता है और सिगरेट पीने के 10-30 मिनट के भीतर ही शमन हो जाता है। शरीर में निकोटिन का विपैलापन बड़ी तेजी से समाप्त हो जाता है और इसका संचयी प्रभाव नहीं होता है। परीक्षणों से पता चला है कि प्रायः सम्पूर्ण निकोटिन और इसके

उपापचयजात मूत्र के द्वारा बाहर निकल जाते हैं जिसमें से 10% अपरिवर्तित निकोटिन के रूप में और शेष उपापचय के फलस्वरूप वने उत्पादों के रूप में होता है (*Sci. News Lett.*, Wash., 1962, 82, 3; U.S.D., 1955, 1904; Kirk & Othmer, XIV, 259)

अत्यधिक और लगातार तम्बाकू के प्रयोग, विशेषतया सिगरेट के प्रयोग और फेफड़ा कैंसर में एक स्पष्ट सांख्यिकीय सम्बंध पाया गया है। पाइप और सिगार पीने वालों की अपेक्षा सिगरेट पीने वालों को फेफड़ा-कैंसर अधिक होता है और पाइप और सिगार पीने वालों को ओठ कैंसर अधिक होता है। तम्बाकू द्वारा कैंसर फैलने के सम्बंध में अब काफी खोज हो रही है। तम्बाकू के धुँएँ में उपस्थित सैकड़ों अवयवों में कासिनोजन 3, 4-बेन्जपाइरीन और इसी वर्ग के बहुचक्रीय ऐरोमैटिक हाइड्रोकार्बनों के कई कासिनोजन पाये जाते हैं। ये सब बहुत ही कम मात्रा में (10 अंग्र प्रति करोड़ अंग्र या कम) रहते हैं और यह अनिश्चित है कि इसकी इतनी कम मात्रा हानिकार होगी। सिगरेट के धुँएँ में सह-कासिनोजन या अर्बुद को बढ़ाने वाले ऐसे पदार्थों (जिनमें फिनाँल और दीर्घ शृंखल यौगिक हैं) का पता चला है जो कासिनोजन के योग से सक्रिय इसके प्रभावकारी गुण को बढ़ा देते हैं। सिगरेट के तारकोल से एक ऐसा उदासीन प्रभाव विलगाया गया है जो चूहे की चमड़ी पर प्रयुक्त करने पर कैंसर की तरह का घाव उत्पन्न करता है। तम्बाकू के ऐल्कलायडों में कासिनोजेनिक क्रिया से सम्बंधी गुण होने का अभी तक कोई प्रमाण नहीं प्राप्त हुआ है [Carruthers, *Discovery*, 1962, 23 (5), 8; U.S.D., 1955, 1905; *Chem. Engng News*, 1956, 34, 2242].

तम्बाकू-पत्ती के उपोत्पाद

खेतों और कारखानों में समान रूप से तम्बाकू की छाँटी हुयी पत्तियों, पत्रदलों, मध्य शिराओं, डंठलों और तनों के टूटे हुये टुकड़ों के रूप में वृहत् मात्रा में अपशिष्ट पदार्थ बचता है। आर्थिक दृष्टि से इन उत्पादों और तम्बाकू के बीजों का भलीभाँति उपयोग होना अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

निकोटिन — तम्बाकू के निरर्थक पदार्थों से प्राप्त निकोटिन बहुत ही महत्वपूर्ण उत्पाद है। इसका उपयोग कृषि कीटनाशकों के रूप में किया जाता है। हाल ही में संश्लिष्ट कार्बनिक फॉस्फेटों के स्थान पर इसका आंशिक उपयोग होने लगा है। पशुओं के लिए हानिकारक जीवों यथा जुँयेँ, डांस और निचड़ी को मारने में इसका उपयोग किया जाता है। निकोटिन का इस्तेमाल निकोटिनिक अम्ल और निकोटिन-माइड के औद्योगिक निर्माण में भी किया जाता है। अभी हाल ही में इसका प्रयोग अव्यधि पीयूषिका सम्बंधी या परिसरीय अनुकम्पी तंत्रिका क्रियाओं या समाकलन के आमापन में किया जाने लगा है (*Res. & Ind.*, 1956, 1, 161; Kirk & Othmer, XIV, 257; Larson *et al.*, 196).

भारत में विभिन्न स्रोतों से प्राप्त तम्बाकू के अपशिष्ट उत्पाद के विश्लेषण से पता चला है कि इसमें निकोटिन की औसत मात्रा 1-3% है। वाष्प आसवन, जल निष्कर्षण, कार्बनिक विलायक निष्कर्षण और आयन विनिमय विधियों द्वारा निकोटिन को पुनः प्राप्त किया जा सकता है। राष्ट्रीय रासायनिक प्रयोगशाला, पूना, में तम्बाकू के पदार्थों में विद्यमान निकोटिन की लगभग 95% मात्रा को पुनः प्राप्त करने के लिए एक सरल और सस्ती विधि विकसित की गई है। अवशिष्ट पदार्थ को महीन चूर्ण बनाकर चूने के पानी से धोने के बाद, लवण विलयन के साथ निष्कर्षित किया जाता है और प्राप्त यूप का पी-एच लगभग 11 और 11.5 के बीच रखा जाता है जिससे इसमें

चना और सोडा की राख डालने से निकोटीन अलग हो जाए। एक विशेष प्रकार से बनाई गई नली में यूप को मिट्टी के तेल द्वारा निष्कषित किया जाता है। मिट्टी के तेल के निष्कर्ष की तनु सल्फ्यूरिक अम्ल से अभिक्रिया के फलस्वरूप 40% व्यापारिक शक्ति का निकोटीन सल्फेट प्राप्त होता है। इस विधि का व्यापारिक प्रयोग गुण्टूर में प्रारम्भ हो गया है (Geddon & Goswami, *Indian Tob.*, 1952, 2, 77; *Indian Pat.*, 45,666, 46,994, 1953; Geddon, *J. sci. industr. Res.*, 1951, 10A, 153)।

निकोटीन संस्पर्श कीटनाशक समझा जाता है किन्तु मुख्यतया यह धूमक की तरह किया करता है और कभी-कभी आमाशय विष का काम करता है। सब्जी और फलों के नाशक-कीट, विशेषतया कोमल शरीर वाले छोटे-छोटे कीड़ों जैसे ऐफिड, सफेद मक्खियों, पत्ती के फुदककों, थ्रिप्स, लाल मकड़ी, घोंघों, स्लग और बंदगोभी में लगने वाली तितनियों के लारवों को मारने में सहायक होता है। शुद्ध निकोटीन या 40% निकोटीन सल्फेट से बनाए गए फुहारों (0.6-1.0) और प्रकीर्णकों (4% तक निकोटीन) के रूप में इसका इस्तेमाल किया जाता है। इसका प्रभाव अधिक काल तक नहीं रहता और बहुत ही तनु घोल के रूप में प्रयोग करने से मनुष्य की खाद्य-सामग्रियों पर इसका बुरा प्रभाव नहीं पड़ता है फिर भी इस ऐल्कलायड का प्रयोग करते समय सावधानी बरतनी चाहिये। हुक्के के पानी में घुला निकोटीन भी प्रभावकारी कीटनाशक है (*Colon. Pl. Anim. Prod.*, 1950, 1, 95; Mahant & Pandit, *J. sci. industr. Res.*, 1948, 7A, 362; Thorpe, XI, 645; Bal et al., *J. Sci. Club, Calcutta*, 1952-53, 6, 14)।

अन्य उपयोग — मद्रास में सुँधनी बनाने के लिए तम्बाकू के खुरचन का काफी मात्रा में उपयोग किया जाता है। कुछ देशों में तम्बाकू के डंठलों को बेलकर तथा काटकर तम्बाकू मिश्रण में मिलाने के काम में लाते हैं। पीसी हुई तम्बाकू को पुनःसंघटित करने की विधियों का विकास हुआ है जिसके अंतर्गत पीसी हुई तम्बाकू की पतली चादरें बना ली जाती हैं जिनसे धूम्र उत्पाद तैयार किये जाते हैं। निम्न श्रेणी की तम्बाकू को वासित करने के लिये तम्बाकू के डंठलों का सार प्रयोग किया जाता है। तम्बाकू के डंठलों तथा निरर्थक भागों का उपयोग कार्बनिक अम्ल, संगंध तेलों, पेक्टिन, रुटिन, प्रलेपों तथा प्लास्टिकों के लिए उपयुक्त रेजिन साबुन बनाने के लिए मोम और विद्युतरोधक बोर्ड के लिए रेजा आदि के निर्माण में हो सकता है पर इसका औद्योगिक उपयोग अभी तक नहीं हुआ। इसके डंठलों का उपयोग ताप मुन्य गुणधर्म वाले साँचे बनाने में किया गया है। इसके डंठलों में प्राप्त रेजा वस्त्र उद्योग कार्यों के लिए कमजोर और भंगुर होता है परन्तु इसे कागज बनाने के काम में लाया जा सकता है (Mahant & Pandit, loc. cit.; Kirk. & Othmer, XIV, 257-58; Copley et al., *Chem. Engng News*, 1942, 20, 1220)।

निकोटीन-निष्कर्षण सयंत्र से प्राप्त मध्य थिराओं, डंठलों और सूची तम्बाकू के अवशेषों में पोटैसियम की काफी मात्रा के साथ-साथ नाइट्रोजन और फॉस्फोरस की थोड़ी मात्रा पाई जाती है और इन्हें उर्वरक के रूप में काम में लाते हैं। डंठलों में 6.79% K_2O , 2.08% नाइट्रोजन, और 0.61% P_2O_5 पाये जाते हैं। मैसूर में तम्बाकू की रद्दी और निरर्थक भागों को कम्पोस्ट बनाने के बाद खाद के रूप में इस्तेमाल करते हैं। धान की खेती में हरी खाद के साथ डंठलों का प्रयोग करने में अच्छे परिणाम मिले हैं [Blank, 129; Nasiruddin, *Indian Fmg. N.S.*, 1959-60, 9 (4), 21]।

तम्बाकू के बीज

तम्बाकू के बीज हल्के भूरे से काले रंग और आकार में छोटे तथा कठोर होते हैं। इनमें निकोटीन नहीं रहता। इन्हें जानवरों की पौष्टिक भोजन के रूप में खिलाया जा सकता है। किन्तु खिलाने के पहले इन बीजों को पानी से भिगोकर पीस करके लेई बना लेनी चाहिये। गुण्टूर से प्राप्त वर्जीनिया तम्बाकू के बीजों के विश्लेषण से निम्नलिखित मान प्राप्त हुए : आर्द्रता, 6.05%; अशोधित प्रोटीन, 23.88%; वास्तविक प्रोटीन, 22.80%; ईथर निष्कर्ष (वसा), 35.77%; कार्बोहाइड्रेट, 13.77%; रेजा, 16.77%; राख, 3.76%; कैल्सियम, 0.15%; पोटैसियम, 0.78%; और फॉस्फोरस, 0.47%। बीजों में कोलीन, वीटेइन, ग्वानीन, ऐडनीन, एलेण्टाइन, टैनिन और रेजिन पाये जाते हैं। रुटिन, स्कोपोलेटिन, स्कोपोलिन और क्लोरोजेनिक अम्ल जैसे पॉलीफिनॉल भी बीजों में पाये जाते हैं (Garner, 309, 313; Rao & Ramanayya, *J. sci. industr. Res.*, 1948, 7B, 87; Rao & Narasimham, *Indian J. agric. Sci.*, 1942, 12, 400; *Indian Tob.*, 1961, 11, 192)।

एक ग्लोबुलिन क्रिस्टलीय रूप में विलग किया गया है। इसके ऐमोनो अम्लों का संघटन इस प्रकार है : आज़िनीन, 16.1; हिस्टिडीन, 2.2; लाइसीन, 1.6; टाइरोसीन, 4.1; ट्रिप्टोफेन, 1.5; फेनिल ऐलानीन, 5.7; सिस्टीन, 1.1; मेथियोनीन, 2.2; थ्रियोनीन, 4.2; ल्यूसीन, 10.5; आइसो-ल्यूसीन, 5.3%; और वैलीन, 6.7 ग्रा./16 ग्रा. N. लाइसिन सीमित ऐमोनो अम्ल है। बीज में उपस्थित कुल प्रोटीन का जैविक मान ग्रहण के 10% स्तर पर 51.4% है और इसका पचनीयता गुणांक 78% है (Garner, 313; Kuppaswamy et al., 83, 87, 92)।

तम्बाकू के बीजों का तेल — तम्बाकू के बीजों में विपैले पदार्थों से मुक्त अर्ध सूखे हुये तेल की मात्रा 33-41% है। कोल्डप्रेसों में ठंडी विधि द्वारा और हस्तदावकों के द्वारा गर्म विधि से तेल निकाला जाता है। परिष्कृत बीजों से ठंडी विधि द्वारा प्राप्त तेल सुगन्धित और स्वादिष्ट होता है और इसके गुण अच्छी किस्म की गिंगेली के तेल जैसे होते हैं जबकि गर्म विधि द्वारा प्राप्त तेल का स्वाद कुछ तीखा रहता है। तेल निकालने के लिए अधिक दाब आवश्यक है और बीजों को एक विशेष प्रकार से बनाये गये सम्पीडकों द्वारा चूर्ण कर दिया जाता है। हाथ से दबाने पर बहुत कम तेल निकल पाता है। सम्पीडक द्वारा औसतन 25% तथा हस्तदावक मशीन से 23% तेल निकाला जाता है (Eckey, 738; Rao & Narasimham, loc. cit.; Patel, *Indian Tob.*, 1952, 2, 25)।

विभिन्न प्रकार के तम्बाकू बीजों से प्राप्त तेल की मात्रा में ज्यादा भिन्नता नहीं पायी जाती है। कुछ नि. टैंबेकम किस्मों के बीजों में तेल की प्रतिशत मात्रा इस प्रकार है : गोल्ड डालर, 40.20; श्वेत बर्ली, 41.10; हैरिसन स्पेशल, 39.24; चैत्यम, 36; गांडियू-6, 38.80; कैलियु-49, 39.30; सैजपुरियु-57, 39.4; बलमोन्नई, 40; वेल्लाई व्हाई, 38; नाटु, 37; और सुरती-20, 37. नि. रस्टिका किस्म के बीजों में तेल की मात्रा लगभग इतनी ही होती है (Patel, loc. cit.; Kapadia & Aggarwal, *J. sci. industr. Res.*, 1954, 13B, 352)।

अशोधित तेल का रंग पीले से हरा तथा भूरा होता है और इसमें तम्बाकू की कुछ तेज महक रह सकती है। घोघन की साधारण विधियों द्वारा इसे गंधहीन और रंगहीन बनाया जा सकता है। इस तेल की विशेषताएँ इस प्रकार हैं। आ. घ.^{15°}, 0.923-0.925; n_D^{25} , 1.474-1.483; नाबु. मान, 186-197; आयो. मान, 129-

142; आर. एम. मान, <0.5; पोलेन्स्के मान, 3; और असावु. पदार्थ, <1.5%. इसके रचक वसा-अम्लों का संघटन निम्नलिखित है: संतृप्त (पामिटिक और स्टीऐरिक), 10-15; ओलीक, 15-30; और लिनोलीक, 55-75%. अल्प मात्रा में मिरिस्टिक, ऐराकिडिक और लिनोलेनिक अम्लों के मिलने की सूचना है. असाधारण रूप से एक स्थिर तेल के नमूने में 0.04% टोकोफेराल भी पाया गया है (Eckey, 738-39; Jordan *et al.*, 237, 70).

भारत के विभिन्न भागों में उगाई गई तम्बाकू के बीजों से प्राप्त तेल के 16 नमूनों के विश्लेषण से जो मान पाये गये वे इस प्रकार हैं: अम्लमान, 1.1-1.7; सावु. मान, 187.2-193.0; और आयो. मान, 134.5-142.4; लिनोलीक अम्ल, 62.0-70.0; और लिनोलेनिक अम्ल, 1.1-2.4%. देश के विभिन्न भागों से प्राप्त तेलों के नमूनों (आयो. मान, 129.7-140.2) के अन्य परीक्षण करने पर वसा-अम्ल की प्रतिशत मात्रा इस प्रकार निकली: संतृप्त, 12.8-19.5; ओलीक, 9.3-19.3; लिनोलीक, 63.6-72.6; और लिनोलेनिक, 1.1-2.0%. साधारणतया भारतीय तम्बाकू के बीज तेल में 66% से अधिक पॉली-एथेनायड अम्ल होता है. अतः प्रलेप उद्योग के लिए यह उपयुक्त है. गुण्डर से प्राप्त तेल और व्यापारिक तेल के नमूनों में आयो. मान (112.2) और लिनोलेनिक अम्ल की मात्रा (54.6%) असाधारण रूप से कम होने का कारण या तो बीज या तेल में मिलावट या परिपक्व होने के पहले ही बीजों को चुन लेना है. कच्चे बीजों से निकाले गये तेल कम असंतृप्त होते हैं (Kapadia & Aggarwal, loc. cit.; Chakrabarty & Chakrabarty, *Sci. & Cult.*, 1954-55, 20, 555; Venkata Rao *et al.*, *J. Indian chem. Soc.*, 1943, 20, 374).

भारत के एक व्यापारिक तेल के नमूने के रचक ग्लिसराइड (आयो. मान, 140.7; वसीय अम्ल संरचना: पामिटिक, 7.0; स्टीऐरिक, 2.9; ऐराकिडिक, 0.8; ओलीक, 17.2; लिनोलीक, 70.9; और लिनो-लेनिक, 1.2% मोल) निम्नलिखित है: द्विसंतृप्त लिनोलीन, 3; संतृप्त ओलियो-लिनोलीन, 3.3; संतृप्त लिनोलीयो-लिनोलीन, 0.3; संतृप्त डाइलिनोलीन, 22.5; ओलियो-डाइलिनोलीन, 48.2; लिनो-लेनो-डाइलिनोलीन, 3.4; और ट्राइलिनोलीन, 19.3% मोल (Crawford & Hilditch, *J. Sci. Fd Agric.*, 1950, 1, 230).

उपयोग — अनेक यूरोपीय देशों में तम्बाकू के बीजों से प्राप्त शोधित तेल का प्रयोग खाने के लिए किया जाता है जिससे कोई बुरा प्रभाव नहीं देखा गया. वनस्पति घी बनाने के लिए यह उपयुक्त है. यह मूँगफली के तेल की अपेक्षा सस्ता पड़ता है. दक्षिण भारत में मूँगफली के तेल में मिलावट के लिए इसका प्रयोग किया जाता है, भले ही इसकी मिलावट से पित्त-वर्धकता बढ़ती है. यह जलाने के लिए अच्छा तेल है और बिना धुआँ निकाले जलता है. हाइड्रोजनित तेल सावुन बनाने के लिए सस्ता कच्चा माल हो सकता है (Mahant & Pandit, *J. sci. industr. Res.*, 1948, 7A, 229; Rao & Ramanayya, *ibid.*, 1948, 7B, 87; Chakrabarty & Chakrabarty, *ibid.*, 1959, 18A, 530).

रंग और वानिष उद्योगों में तम्बाकू के बीज तेल का प्रयोग अधिक तेजी से हो रहा है. शोधन के बाद इसका प्रयोग अलसी, तुंग और निर्जलीय रेंडी जैसे सुखाने वाले तेल के साथ मिलाकर किया जाता है. इसमें सूखने का अच्छा गुण पाया जाता है, अकेले यह अलसी के तेल की अपेक्षा धीरे सूखता है. किन्तु सुखाने वाले तेलों के साथ, इसकी सूखने की गति उजाले हुये अलसी के तेल की गति के समान है. दुबारा उजाले गये तम्बाकू के बीज तेल की सतह में वैसे ही अलसी

तेल की अपेक्षा अधिक चमक और नम्यता होती है किन्तु इसे थोड़ी देर तक ऐसे ही छोड़ देने पर यह चिपचिपा हो जाता है. तम्बाकू के बीज का पुराना तेल अलसी के पुराने तेल के समान होता है. कुछ वानिषों में बीजू-तम्बाकू के बीज का तेल बहुलकीकरण अलसी के तेल की जगह काम में लाया जा सकता है. ऐसे समावयवी तम्बाकू बीज तेल, जिनमें जल्दी से सूखने का गुण होता है, कच्चे तेल को उत्प्रेरकों की उपस्थिति में गर्म करने से प्राप्त होते हैं. ऐसे तेलों की सतहें चिपचिपी नहीं होतीं और वे अलसी के तेल की सतहों से अधिक अच्छी होती हैं क्योंकि पानी में भीगने पर ये लाल नहीं होतीं और न पुरानी पड़ने पर पीली पड़ती हैं. इनमें नम्यता तथा टिकाऊपन अधिक होता है. परिष्कृत तम्बाकू के बीज-तेल को मिश्रित प्रलेप करने और वानिषों के बनाने या तो अकेले या अलसी के तेल या निर्जलीय रेंडी के तेल के साथ मिलाकर काम में लाया जाता है (Jordan *et al.*, 70, 237; Rao & Ramanayya, loc. cit.; Sharma *et al.*, *J. sci. industr. Res.*, 1951, 10B, 33; 1152, 11A, 109).

ऐलिकड रेजिनो के तैयार करने में अलसी के तेल में उपस्थित वसा-अम्लों की जगह तम्बाकू बीज तेल में उपस्थित वसा-अम्ल प्रयुक्त हो सकते हैं. ये रेजिन सुखाने पर अच्छी झुरियाँ बनाते हैं और इसका प्रयोग धातु, काँच, कपड़े, कागज और रबर की सतहों पर किया जा सकता है. समावयवी तम्बाकू तेल, जो 70-80% तक कमला बीज तेल या तुंग तेल का मिश्रण होता है, सूखी झुरियाँ डालने के लिए उपयुक्त होता है. तेल से प्राप्त बहुलकीकृत अम्लों के लवण एस्टर गोंद तथा जिक रेजिनेटों की तुलना में अच्छे वानिष रेजिन होते हैं. तम्बाकू के बीज तेल से रबर उद्योग में प्रयुक्त करने के लिए पूरक प्राप्त होता है. चमड़ा उद्योग के लिए सल्फेटोक्रुत तेल प्राप्त करने के लिए अनुकूलतम परिस्थिति का पता लगा लिया गया है, पानी के साथ यह श्वेत क्रीम सदृश्य पायस बनाता है तथा वसा-द्रावकारी अर्द्ध क्रोम खालों के लिए इससे संतोषजनक फल मिले हैं [Kapur & Sarin, *J. sci. industr. Res.*, 1951, 10B, 94, 168; Sharma & Aggarwal, *Paintindia*, 1951-52, 1 (11), 34; Sethi & Aggarwal, *J. sci. industr. Res.*, 1951, 10B, 205; Rao & Raghunath, *ibid.*, 1955, 14B, 425; Koshore, *Bull. cent. Leath. Res. Inst.*, Madras, 1955-56, 2, 329].

बीज की खली — तेल के बाद प्राप्त बीज की खली जिसमें प्रोटीन की अधिक मात्रा होती है जानवरों और घोड़ों को खिलाने के काम आती है. इसका संघटन गिंगेली बीज की खली जैसा ही होता है. कोयम्बदूर से प्राप्त ठंडी विधि से निकली खली के विश्लेषण से निम्न-लिखित मान प्राप्त हुये हैं (शुष्क आधार पर): अशोधित प्रोटीन, 30.58; शुद्ध प्रोटीन, 28.52; ईथर निष्कर्ष, 16.00; कच्चा रेखा 16.60; कार्बोहाइड्रेट, 26.53; और राख, 10.29%. तम्बाकू के बीजों की खली को जानवर बहुत अच्छी तरह खाते हैं तथा उन पर कोई बुरा प्रभाव नहीं पड़ता है. बीज चूर्ण में उपस्थित प्रोटीनों में लाइसीन की कमी होती है और इस कमी को केसीन, मलाईरहित दूध के महीन चूर्ण या लाइसीन को मिलाकर दूर किया जा सकता है. ऐम बीजों का आटा, जिनकी वसा विलायक द्वारा निकाल ली गई हो और जिनमें लाइसीन-युक्त प्रोटीन की काफी मात्रा हो, मनुष्य के लिए प्रोटीन के स्रोत के रूप में व्यवहार में लाया जा सकता है. अधिक प्रोटीन वाले बीज प्लास्टिक उद्योग में कच्चे माल के अच्छे साधन हैं (Rao & Narasimham, loc. cit.; Kuppuswamy *et al.*, 83; *Nutr. Abstr. Rev.*, 1946-47, 16, 881; Mahant & Pandit, loc. cit.).

बीज की खली का उपयोग एक अच्छी नाइट्रोजन-युक्त खाद के रूप में किया जा सकता है। इसमें रेंडी की खली की भाँति, खाद सम्बंधी गुण पाये जाते हैं। इसमें नाइट्रोजन, 4.89; फॉस्फोरस, 1.85; पोटैश, 1.13; और चूना (CaO), 0.65% रहता है (Rao & Narasimham, loc. cit.).

चिकी तथा व्यापार

भारत में तम्बाकू की फसल का 4/5 भाग तम्बाकू उपजाने वाले ग्रामीण किसानों द्वारा ही बेचा जाता है। निपानी क्षेत्र में खड़ी फसल भी बेची जा सकती है किन्तु गाँवों में साधारणतः सुखाने के बाद पत्तियों को बेचा जाता है। गुण्डूर में बर्जीनिया किस्म की तम्बाकू की हरी पत्तियाँ फसल काटे जाने के बाद ही व्यावसायिक संसाधन करने वाली को दे दी जाती हैं। मैसूर में बर्जीनिया फसल तथा स्वदेशी फसलों का अधिकांश भाग इसी प्रकार बेचा जाता है (*Agric. Marketing India, Rep. Marketing Tobacco, Marketing Ser., No. 76, 1953, 130-42; Indian Tob. Monogr., 363-70*).

तम्बाकू की खेती करने वाले या संसाधन करने वाले फल-संसाधित बर्जीनिया तम्बाकू को सात या आठ श्रेणियों में छाँटकर कच्ची गठरियाँ बाँध कर टाट से ढकते हैं, और इसे बैलगाड़ी द्वारा खरीद स्थानों में ले जाते हैं। गुण्डूर और गोदावरी क्षेत्र में तम्बाकू की फसल का 80% बड़ी पत्तियों का व्यवसाय करने वाली फर्मा द्वारा स्थापित 67 खरीदने वाली मण्डियों में बेचा जाता है। इन मण्डियों में प्रत्येक गठरी को खोलकर परीक्षा की जाती है, फिर इन्हें कई श्रेणियों में विभाजित करके लगभग 227 किग्रा. की एक कैंडी (दक्षिण भारत का एक मापदण्ड) की कीमत लगाई जाती है (*Rep. Marketing Tobacco, 1953, 135-37; Indian Tob. Monogr., 367-69*).

विभिन्न राज्यों में तम्बाकू के एकत्रीकरण तथा वितरण केन्द्रों का विवरण इस प्रकार है : गुजरात के चरोतर क्षेत्र में स्थित चिकोद्रा, नडियाड, पेतलाड, मोगरी और आनन्द; मैसूर तथा महाराष्ट्र के निपानी क्षेत्र में स्थित निपानी, सांगली तथा जयसिंगपुर; मैसूर राज्य स्थित गुलबर्गा, रायचूर, रावणदूर तथा साइरा; आन्ध्र प्रदेश में गुंटूर, काव्वूर, राजामुन्त्री, विजयवाड़ा, मंगलगिरि, चिलकलूरिपेट, पारचूर, बेंटापलम, ओंगोल, ताडीकोंडा, बारंगल, सामलकोट तथा काकीनाडा; तमिलनाडु में कोयम्बटूर, गुडियतम, इरोड, तिरुचिरापल्ली, और मडुराई; पश्चिमी बंगाल में कूचबिहार, जलपाईगुड़ी तथा कलकत्ता; बिहार में मुजफ्फरपुर, दरभंगा, दलसिंगसराय, खजौली, वाड़, शाहपुर-पटौरी और पटना; उत्तर प्रदेश में फर्रुखाबाद, वाराणसी, लखनऊ, बिस्वान, मैनपुरी, बदायूँ, कम्पिल, मेरठ, बहराइच और मुरादाबाद (*Rep. Marketing Tobacco, 1953, 150-52*).

श्रेणीकरण — किसान पत्तियों को सामान्यतः उनके भिन्न-भिन्न आकारों और गुणों के आधार पर पथक् नहीं करते अपितु उन सबों को ज्यों का त्यों वण्डल बनाकर व्यापारियों के हाथ बेच देते हैं; और व्यापारी व्यापार की आवश्यकता के अनुसार उनको मोटे-मोटे वर्गों में छाँट लेते हैं। पत्तियों को खरीदने वाले निर्यातक, तम्बाकू तथा विपणन नियमावली 1937 के अंतर्गत निर्धारित ऐगमार्क विशिष्टियों के अनुसार उनका पुनः वर्गीकरण करते हैं। जिन क्षेत्रों में तम्बाकू की उपज काफी एक समान होती है, वहाँ अनेक बड़े-बड़े निर्माता स्वयं दौरा करते हैं या अपने प्रतिनिधियों को भेजते हैं और वहाँ से एक भाव पर धोक में पत्तियों की खरीद करते हैं और बाद में अपनी आवश्यकता के अनुसार उनका श्रेणीकरण करते हैं (*Indian Tob. Monogr., 370*).

निर्यात की जाने वाली तम्बाकू का स्वेच्छा से श्रेणीकरण और चिह्नांकन करने की एक योजना सर्वप्रथम 1937 में चालू की गई थी किन्तु यह सफल नहीं हो पाई। 1945 में एक विशेष कानून का प्रवर्तन किया गया जिससे निर्यात की कोटि का नियन्त्रण किया जा सके। फल-संसाधित बर्जीनिया तम्बाकू तथा कुछ अन्य किस्मों के निर्यात पर तब तक प्रतिबन्ध है जब तक निर्धारित नियमों के अनुसार उनका वर्गीकरण और चिह्नांकन नहीं हो जाता। वर्गीकरण, डंठल निकालने और दुबारा सुखाने से लेकर माल पैक होने तक समस्त प्रक्रियाओं की देख-रेख करने के निमित्त निरीक्षण तथा वर्गीकरण कर्मचारी समुदाय नियुक्त किया गया है। प्रत्येक वेण्डन पर दो ऐगमार्क लेबिल लगे रहते हैं जिनमें तम्बाकू की किस्म और श्रेणी का नाम लिखा होता है। एक लेबिल वेण्डन के भीतर और दूसरा बाहर लगा होता है जिससे उसके स्रोत का पता लगाया जा सके। प्रत्येक ऋतु के आरम्भ में निर्देश के लिए फसल की औसत श्रेणी के अनुसार प्रत्येक श्रेणी के बानगी नमूने तैयार कर लिए जाते हैं और भारत सरकार के विदेश-स्थित बूतावासों तथा व्यापार प्रतिनिधियों को भी ये नमूने भेजे जाते हैं। इन उपायों के फलस्वरूप निर्यात के लिए श्रेणीकृत तम्बाकू की मात्रा में लगातार वृद्धि होती जा रही है (*Indian Tob. Monogr., 379-80, 391-94; Rep. Marketing Tobacco, 1953, 166-72*).

तम्बाकू की दस व्यापारिक किस्मों के लिए ऐगमार्क विनिर्देश तैयार कर लिए गए हैं, जिनमें फल-संसाधित बर्जीनिया अब तक सबसे महत्वपूर्ण मानी जाती है। इस किस्म के कोटि-निर्धारण में सबसे मुख्य बातें हैं : इसका रंग, गठन, आकार, धब्बों का फैलाव, कड़ापन और एक समान सफ़ेद राख के साथ जलना और उसकी सुवास। निर्यात और ऐगमार्क अंकन के लिए पत्तों को रंग, बनावट और उसके ऊपर धब्बों के फैलाव के आधार पर 20 श्रेणियों में वर्गीकृत किया जाता है। छाँटाई करते समय पत्तियों के आकार या पौधे में उनकी अवस्थिति पर ध्यान नहीं दिया जाता है। फल-संसाधित तम्बाकू के अतिरिक्त जिन अन्य महत्वपूर्ण व्यापारिक किस्मों के लिए श्रेणी विनिर्देश निर्धारित किये गये हैं वे इस प्रकार हैं : नि. टैबैकम के अन्तर्गत धूप-संसाधित नादू, बर्जीनिया, जटी और ह्वाइट बलें तथा नि. रस्टिका में से धूप-संसाधित सुलाई मोतीहारी (*Indian Tob. Monogr., 371, 381-85*).

सिगार बनाने के लिए उपयुक्त तम्बाकू में नीचे लिखे विशेष गुण होने चाहियें : उसका सिगार तम्बाकू में एक रूप भूरा रंग, महीन से मध्यम और लचकदार गठन, अच्छा आकार, मध्यम कड़ापन, द्रवत राख के साथ जलना और अच्छी सुवास; लपेटन-सिगार के लिए पत्ती लचकदार, चिकनी और लम्बी होनी चाहिये; बधनी-सिगार के लिए आकार अपेक्षाकृत कम महत्वपूर्ण होता है और भरनी-सिगार के लिये उसका तना और सुवास अधिक महत्वपूर्ण होते हैं। सिगार की तम्बाकू की छाँटाई के लिए इस देश में कोई विशेष पद्धति नहीं अपनाई जाती, अतः निर्माता अपनी आवश्यकता के अनुसार पत्तियों की छाँटाई कर लेते हैं। चुरट के लिये गहरे भूरे रंग की, मध्यम मोटी, मध्यम से तीव्र सुवास की, और सफ़ेद राख के साथ सरलता से जलने वाली पत्ती पसन्द की जाती है। चुरट बनाने के लिए धूप-संसाधित जाटी और जाटी विशापाय तम्बाकू के लिए ऐगमार्क विनिर्देश निर्धारित कर लिये गये हैं (*Indian Tob. Monogr., 373, 388*).

बीड़ी पत्तों में तीव्र और मनपसन्द धुआँ महत्वपूर्ण रचक है, रंग और मोटाई का दर्जा उसके बाद ही आता है। पत्ती मोटी किन्तु सुरदुरी न हो और उसका रंग नारंगी से लेकर हल्का हरा-सा खाकी हो जिस पर गहरे बादामी धब्बे हों। मुख्य बीड़ी तम्बाकू क्षेत्र, चरोतर या निपानी में विधिवत् श्रेणीकरण न करके मुख्य फगन, पेटी

फसल और वृक्षरित पत्तों को सुखाकर तथा पीसकर अलग-अलग बेचा जाता है। बीड़ी तम्बाकू के गुण-स्तर सम्बंधी कारकों के विषय में हाल ही में की गई खोजों से यह पता चला है कि इन कारकों में कुछ ऐसी प्रवणता होती है कि नीचे की अपेक्षा ऊपर वाली पत्तियाँ अधिक भारी होती हैं, और उनमें यथेष्ट तोतापंखी रंग विकसित होता है तथा निचली पत्तियों की अपेक्षा उनमें विन्दियाँ अधिक व्यापक होती हैं। वृक्षरित पत्तियों को छोड़कर, ऊपर की दस पत्तियों में से पाँच निचली तथा पाँच ऊपरी पत्तियों के हिसाब से पुंज बनाना इस तम्बाकू की पत्तियों को वर्गित करने का काफी व्यावहारिक तरीका प्रतीत होता है। मैसूर क्षेत्र में उपजायी जाने वाली बीड़ी तम्बाकू की छँटाई पत्तियों के आकार तथा पौधे पर उनकी स्थिति के अनुसार तीन समूहों में की जाती है (Indian Tob. Monogr., 373-74)।

हुक्का तम्बाकू के लिए, तेज गन्ध वाली मोटी खुरदुरी पत्तियाँ ठीक समझी जाती हैं और इसके लिए रंग तथा आकार जैसे अन्य कारकों की अधिक महत्व नहीं दिया जाता। सामान्यतः हुक्का तम्बाकू के वर्गीकरण का चलन नहीं है परन्तु उत्तरी विहार की देशी तम्बाकू को पौधों पर पत्तियों की स्थिति के अनुसार छाँटा जाता है। खैनी तम्बाकू के लिए मध्यम गठन की पत्ती अच्छी समझी जाती है किन्तु सोखने की क्षमता वाली कुछ मोटी पत्तियों को "खैनी" बनाने के लिए अधिक उपयुक्त बताया जाता है और सुखाई पत्तियों की सतह पर काफी सफेद-सी पपड़ी का पड़ना मैसूर तथा तमिलनाडु के कुछ भागों में अच्छाई का संकेत माना जाता है। सूंघनी तम्बाकू बनाने के लिए पत्तियों का रंग भूरा से गहरा भूरा होना चाहिये और पत्ती मोटी तथा भंगुर होनी चाहिये जिससे कि इसे कटकर इसका पाउडर बनाया जा सके (Indian Tob. Monogr., 374-76)।

पुनः सुखाना - वर्गीकरण के पश्चात् पल-संसाधित वर्जीनिया की चटक श्रेणियों और धूपशोषित संसाधित वर्जीनिया तथा संसाधित नाटू के कुछ वर्गों की पत्तियों के डंठल तोड़ने का कार्य हाथ से अथवा U के आकार के चाकू द्वारा मध्य शिरा की 1/2-2/3 लम्बाई तक निकाल कर किया जाता है। ब्रिटेन को निर्यात की जाने वाली अधिकांश तम्बाकू इसी प्रकार की होती है। श्रेणीकृत तथा डंठलरहित (कभी-कभी डंठलसहित) पत्तियों को पुनः सुखाते हैं। पुनः सुखावक-संयंत्र में तीन अलग-अलग हिस्से होते हैं। पहले हिस्से में तम्बाकू को 71-82° पर सुखाया जाता है जहाँ पत्ती प्रायः सूख जाती है और इसमें 6-8% तक ही नमी बाकी रह जाती है। दूसरे भाग में पत्ती को शीत कक्ष में 38° तक ठंडा किया जाता है। वहाँ से तीसरे कक्ष 'आर्डर' में भेजा जाता है जहाँ निम्न दाब पर भाप तथा पानी महीन फुहार के रूप में छोड़ी जाती है जिससे सुन्दर कुहरा-सा बन जाता है और पत्तियाँ आवश्यकतानुसार, साधारणतः 10.5-11.5% नमी सोख लेती हैं (Rep. Marketing Tobacco, 1953, 121-22; Garner, 424-26)।

सुखाई हुई तथा किण्वित पत्तियों को ढुलाई के लिए सामान्यतः गट्टरों, बोरी, गाँठों या विभिन्न आकार तथा धारिता वाली पेटियों के रूप में बाँधा जाता है। साधारणतः पत्तियों को पहले फैला दिया जाता है और उनके छोटे-छोटे मुठ्ठे बाँधे जाते हैं और इन मुठ्ठों को एक साथ बाँधकर 35 से 180 किग्रा. या कभी-कभी इससे भी भारी, 350 किग्रा. तक के, वेष्ठन (बंडल) बना लिये जाते हैं। चरोतर तथा निपानी क्षेत्र में बीड़ी तम्बाकू के चूरे को दो आकार के बोरी में भरा जाता है। छोटी में 45-55 किग्रा. और बड़ी में लगभग 90 किग्रा. तम्बाकू भरी जाती है। उत्तर प्रदेश तथा पंजाब में हुक्का तम्बाकू की सुखाई हुई पत्तियों को मरोड़ कर जूना या रस्सा-सा बना

लेते हैं जिसका भार 9-10 किग्रा. तक होता है। गुण्टूर-गोदावरी क्षेत्र से पुनः सुखाई हुई निर्यात की जाने वाली तम्बाकू को गाँठों, पेटियों या बड़े-बड़े पीपों में भरकर पैक किया जाता है। सर्वोत्तम श्रेणियों की सिगरेट तम्बाकू को पंजाब फायरवुड के 181 किग्रा. भार के बक्से में भरकर निर्यात किया जाता है। गाँठें बाँधने में जलरोधक कागज और चटाई अथवा दुहरे जलरोधक कागज का प्रयोग किया जाता है जिन पर सबसे ऊपर बोरे का आवरण चढ़ाया जाता है (Rep. Marketing Tobacco, 1953, 123-25)।

भंडारण - तम्बाकू के भंडारण का प्रभाव उसके धूम्रपान के गुण पर अत्यन्त महत्व रखता है। सुखाई हुई तथा श्रेणीकृत सिगरेट तम्बाकू को 24 माह से अधिक समय तक भंडार में रखने पर उसका किण्वन होने लगता है, उसका कच्चापन तथा खुरदुरापन समाप्त हो जाता है, तथा मनपसन्द सुगन्ध बढ़ने के साथ-साथ उसकी मादकता बढ़ जाती है। बीड़ी तथा हुक्का तम्बाकू को भी 6-12 माह तक भंडार में रखने पर उसकी गुणता सुधर जाती है। बड़ी-बड़ी मंडियों में व्यापारी तथा दलाल बिना तैयार तम्बाकू को लाइसेंस के अधीन निजी बन्धक गोदामों पर भंडारों में रखते हैं। ये भंडार और गोदाम कच्चे धूपपाई से लेकर पक्के फर्श वाले तथा लोहे या ऐस्वेस्टास की चादरों से छाये भलीभाँति बने मकानों तक में बनाये जाते हैं। लकड़ी के तख्ते या ईंटों के बने प्लेटफार्म पर तम्बाकू की पत्ती को बोरी, गट्टरों या गाँठों में बाँधकर रखा जाता है। सिगरेट बनाने वाली बड़ी-बड़ी फैक्ट्रियाँ तम्बाकू को वातानुकूलित कमरों में रखती हैं जिनमें 16-21° और 65-70% आपेक्षिक आर्द्रता रखी जाती है। पत्तियों को अधिकतर गाँठों में ही बाँधकर रखा जाता है। यद्यपि सामान्य धारणा यह है कि बड़े पीपों या पेटियों में पैक करने पर यह अच्छी पकती है। विदेशों से आयातित तम्बाकू को रखने के लिए मुख्य-मुख्य बन्दरगाहों पर, जैसे कि मद्रास, बम्बई, और कलकत्ता में, सरकारी बंधक गोदाम हैं। गुण्टूर तथा गोदावरी क्षेत्र में पैदा की जाने वाली वर्जीनिया तम्बाकू के निर्यात के लिए काकीनाडा बंदरगाह में भी ऐसे गोदाम बनाये गये हैं (Rep. Marketing Tobacco, 1953, 177-84)।

तम्बाकू के संचयन की अवधि में गुण-स्तर का ह्रास होता है, नमी घटने के साथ-साथ भार घटता है और कीड़ों के आक्रमण से काफी नुकसान पहुँचता है। जल्दतः से ज्यादा नम तथा दबाई गई तम्बाकू जल्दी खराब हो जाती है और इसका रंग भी शीघ्र नष्ट हो सकता है। अपरिपक्व पत्तियों पर जो हुरा उत्पाद देती हैं, अन्य वर्गों की अपेक्षा आसानी से कीड़ों का आक्रमण हो सकता है। पुनः सुखाई गई पत्तियों के संचयन के दौरान उनकी किस्म या गुण-स्तर में कोई गिरावट नहीं होती किन्तु पत्तियों को बड़े-बड़े पीपों या लकड़ी की पेटियों में भरकर वातानुकूलित कमरों में 1-2 वर्ष तक रखने पर भार में 1-1½% की ही कमी आती है (Rep. Marketing Tobacco, 1953, 186-88)।

निर्यात - यद्यपि प्रति वर्ष देश के कुल कृषिक्षेत्र के 0.35% क्षेत्र में ही तम्बाकू को खेती की जाती है तथापि व्यापारिक दृष्टि से निर्यातित उत्पाद के रूप में यह काफी महत्वपूर्ण है और इससे प्रति वर्ष 50-70 करोड़ रुपया उत्पादन-शुल्क के रूप में प्राप्त होता है। तम्बाकू उत्पादक देशों में भारत का स्थान तीसरा है किन्तु निर्यात करने वाले देशों में इसका स्थान पाँचवाँ है। प्रथम चार देश, अमेरिका, रोडेगिया तथा न्यासालैंड संघ, टर्की तथा ग्रीस हैं। उत्पादन की तुलना में भारत के निर्यात में कमी का कारण यह बताया जाता है कि उत्पादन का एक बड़ा हिस्सा देशी तम्बाकू का होता है जिसका अधिकांश सिगार, चरुट, तथा बीड़ी निर्माण में और हुक्का तथा खैनी के लिए प्रयुक्त कर लिया जाता है। निर्यात अधिकतर अनिमित तम्बाकू का होता है (1958-62

की अवधि के दौरान में कुल मात्रा 96% तथा मूल्यानुसार 93%)। भारतीय तम्बाकू का सबसे महत्वपूर्ण बाजार ब्रिटेन है जो हमारी तम्बाकू के कुल निर्यात का 40% और कुल मूल्य के लगभग दो-तिहाई के बराबर तम्बाकू खरीदता है। ब्रिटेन को निर्यात की जाने वाली तम्बाकू अधिकांशतः चमकदार नींबू या संतरे के रंग की फलू-संसाधित वर्जीनिया तम्बाकू है। संतरे के रंग की तम्बाकू को हाल के कुछ वर्षों में इसलिए पसन्द किया जाने लगा है कि इसकी पत्तियाँ साधारणतः मजबूत और सुडोल होती हैं (*Agric. Marketing India, Marketing of Tobacco in India, Marketing Ser.*, No. 123, 1960, 27; *Tobacco Commodity Ser.* 3, Econ. Division, State Tr. Corp., India, 18)।

बताया जाता है कि ब्रिटेन की मंडी में वर्जीनिया तम्बाकू के निर्यात में भारत को अमेरिका, रोडेशिया तथा न्यासालैंड संघ और कनाडा के साथ कड़ी प्रतियोगिता का सामना करना पड़ता है। भारत से वर्जीनिया तम्बाकू खरीदने वालों में सोवियत देश का अक्सर दूसरा स्थान रहता है और उसके बाद नीदरलैंड्स, बेल्जियम, आयरिश गणतंत्र तथा पश्चिमी जर्मनी का स्थान आता है। भारत की वर्जीनिया तम्बाकू के अन्य मुख्य आयातक देश हैं : सिंगापुर, मलाया, फ्रांसीसी पश्चिमी अफ्रीका तथा मिस्र। अनिमित तम्बाकू की जो अन्य प्रमुख किस्में निर्यात की जाती हैं उनमें खैनी तम्बाकू अदन को भेजी जाती है और सिगरेटों के निर्माण में प्रयुक्त फलू-संसाधित तम्बाकू में मिलाने के लिए घूप में सुखाई वर्जीनिया तथा देसी तम्बाकू का निर्यात ब्रिटेन तथा कुछ अन्य यूरोपीय देशों को किया जाता है।

तैयार तम्बाकू के निर्यात पदार्थों में बीड़ियों का प्रमुख स्थान है। ये मुख्यतः श्रीलंका तथा सिंगापुर को निर्यात की जाती हैं। हुक्के तथा बीड़ी तम्बाकू का निर्यात क्रमशः साज्जदी अरब तथा श्रीलंका को किया जाता है। सिगरेट, सुँघनी तथा अन्य प्रकार की निर्मित तम्बाकू की भी थोड़ी मात्राएँ निर्यात की जाती हैं।

आयात — सिगरेट बनाने के लिए भारत में आयातित होने वाली तम्बाकू में अमेरिका से प्राप्त अनिमित फलू-संसाधित वर्जीनिया तम्बाकू का प्रमुख स्थान है। युद्धोपरान्त वर्षों में इन आयातों के मान लगातार घटे हैं : 1947-48 में 460 लाख रुपये की लागत का आयात हुआ जबकि 1959 में यह घटकर 140 लाख रुपये और 1960 में केवल 23 लाख रुपये पहुँच गया।

उत्पादन-शुल्क — तम्बाकू पर 1943 से उत्पादन-शुल्क लगाया जा रहा है और वसूल की जाने वाली राशि केन्द्रीय राजस्व का एक मुख्य भाग होती है। यह शुल्क अनिमित तम्बाकू पर या सुखाई तम्बाकू पर लगाया जाता है, इसके अलावा इसकी कुछ निर्मित वस्तुओं पर भी शुल्क लगाया जाता है। इसके लिए एक लाइसेंस प्रणाली अपनायी गयी है जिसके अनुसार सुखाने वाले, दलाल, आइडिए, थोक व्यापारी, गोदाम मालिक, निर्माता और निर्यातक आदि सभी को केन्द्रीय राजस्व अधिकारियों से पहले लाइसेंस प्राप्त करना पड़ता है। यह कर, उपयोग स्थल के निकटतम स्थान पर उस मात्रा पर वसूल किया जाता है जिसका उपयोग देश के भीतर ही किया जाता है। भारत से बाहर भेजी जाने वाली अनिमित तम्बाकू पर कोई कर नहीं लगाया जाता और न ही डंटलों के चूरे और मानवीय उपयोग के अलावा अन्य कार्यों के लिए प्रयुक्त तम्बाकू पर कोई कर लगाया जाता है। शुल्क को दरें देने वाले की क्षमता के अनुसार निर्धारित की जाती है। यदि यह तम्बाकू फलू-संसाधित है और इसका प्रयोग पाइप तथा सिगरेटों के लिए धूम्रपान मिश्रण तैयार करने में किया जाता है तो केवल डंटलों या लकड़ी पर शुल्क लगाया जाता है। खेती के कार्यों में जिस तम्बाकू

का प्रयोग किया जाता है उस पर कोई उत्पादन-शुल्क नहीं लगाया जाता [*Indian Tob.*, 1952, 2, 59; *Indian Tob. Monogr.*, 11; *Tob. Bull.*, 1963, 13 (2), 69]।

निर्यात की गई तम्बाकू पर मामूली-सा कृषि उपकर और निर्यात के लिए वर्गित तम्बाकू की गाँठों पर वर्गीकरण उपकर भी लगाया जाता है। प्रथम उपकर अनुसंधान कार्य के लिए रखा जाता है और द्वितीय तम्बाकू वर्गीकरण के कोष में जमा कर दिया जाता है। भारत में आयात की जाने वाली सभी प्रकार की तम्बाकूओं पर अलग-अलग दर से आयात शुल्क लगाया जाता है (*Indian Tob. Monogr.*, 12)।

तम्बाकू के बीज और बीज तेल — तेल निकालने के लिए तम्बाकू-बीजों को इकट्ठा किया जा सकता है किन्तु इस प्रयोजन के लिए बीजों का उत्पादन केवल वर्जीनिया तम्बाकू तक ही सीमित है। इसका उत्पादन लगभग 196 किग्रा./हेक्टर अनुमाना गया है। बीज तथा इसके तेल का उत्पादन मुख्यतः आन्ध्र प्रदेश तक ही सीमित है जहाँ अधिकतर वर्जीनिया तम्बाकू की खेती की जाती है। इस तेल की अधिकांश मात्रा ब्रिटेन को निर्यात की जाती है।

N. paniculata Linn.; *N. knightiana* Goodspeed; *N. solanifolia* Walp.; *N. benavidesii* Goodspeed; *N. raimondii* Macb.; *N. cordifolia* Phil.; *N. glauca* Grah.; *N. thyrsiflora* Bitter ex Goodspeed; *N. rustica* Linn.; *N. tomentosa* Ruiz & Pav.; *N. tomentosiformis* Goodspeed; *N. otophora* Griseb.; *N. sechellii* Goodspeed; *N. glutinosa* Linn.; *N. tabacum* Linn.; *N. undulata* Ruiz & Pav.; *N. wigandoides* Koch & Fintelmann; *N. arentsii* Goodspeed; *N. trigonophylla* Dunal; *N. palmeri* A. Gray; *N. alata* Link & Otto; *N. langsdorffii* Weinmann; *N. bonariensis* Lehm.; *N. forgetiana* Hort. ex Hemsl.; *N. longiflora* Cav.; *N. plumbaginifolia* Viv.; *N. sylvestris* Spegazzini & Comes; *N. repanda* Willd.; *N. stocktonii* Brandegee; *N. nesophila* Johnston; *N. noctiflora* Hook.; *N. petunioides* (Griseb.) Millan; *N. ameghinoi* Spegazzini; *N. acaulis* Spegazzini; *N. acuminata* (Grah.) Hook.; *N. pauciflora* Remy; *N. attenuata* Toor. ex Wats; *N. longibracteata* Phil.; *N. corymbosa* Remy; *N. miersii* Remy; *N. linearis* Phil.; *N. spegazzinii* Millan; *N. bigelovii* (Torr.) Wats; *N. clevelandii* Gray; *N. nudicaulis* Wats; *N. suaveolens* Lehm.; *N. maritima* Wheeler; *N. velutina* Wheeler; *N. gossei* Domin; *N. exelsior* Black; *N. megalosiphon* Heurck & Muell. Arg.; *N. exigua* Wheeler; *N. goodspeedii* Wheeler; *N. ingulba* Black; *N. stenocarpa* Wheeler; *N. occidentalis* Wheeler; *N. rotundifolia* Lindl.; *N. debneyi* Domin; *N. benthamiana* Domin; *N. fragrans* Hook.; *N. glauca*; *N. glutinosa*; *N. longiflora*; *N. debneyi*; *N. sylvestris*; *N. megalosiphon*; *N. plumbaginifolia*; *White Burley*; *Mammoth*; *Pythium aphanidermatum* (Edson) Fitzp.; *Phytophthora colocasiae* Racib.; *Fusarium*; *Rhizoctonia*; *Colletotrichum tabacum* Bonning; *Cercospora nicotianae* Ellis & Everh.; *Alternaria longipes* (Ellis & Everh.) Mason; *Erysiphe cichoracearum* var. *nicotianae* Comes; *Pseudomonas angulata* (Fromme & Murray)

Holland; *Nicotiana virus 1* (Marmor tabaci Holmes); *Nicotiana virus 10* (Ruga tabaci Holmes); *Bemisia tabaci* Genn.; *Bacillus cereus* Frankland & Frankland; *N. acaulis* Spegazzini; *N. thyrsoflora* Bitter ex Goodspeed; *Prodenia litura* Fabricius; *Laphygma exigua* Hubner; *Plusia signata* Fabricius; *Agrotis ypsilon* Rott.; *Gnori-moschema heliopa* Lower; *Gryllotalpa africana* Pallas; *Bledius gracilicornis* Kraatz; *Oxytelus latiusculus* Kraatz; *Rhyssalus orientalis* Mulsant; *Onthophagus* sp.; *Musca domestica* Linn.; *Tridactylus riparius* Saussure; *Mesomorphius villiger* Blanchard; *Seleron latipes* Guerin; *Opatroides fraier* Fairmaire; *Myzus persicae* Sulzer; *Amsacta* sp. *Heliothis armigera* Hubner; *Lasioderma serricorne* Fabricius; *Meloidogyne incognita* (Kofoid & White); *M. arenaria* (Neal); *Orobanchae*; *Orobanchae cernua* Loefl. var. *desertorum* Beck syn. *O. nicotianae* Wight; *O. aegyptiaca* Pers. syn. *O. indica* Buch.-Ham. ex Roxb.

निक्टैन्थीज लिनियस (ओलिन्थी) NYCTANTHES Linn.

ले. — निक्टैन्थेस

यह इण्डो-मलायन प्रदेश में पाया जाने वाला झाड़ियों या छोटे वृक्षों का एक छोटा वंश है। भारत में इसकी एक जाति पायी जाती है।

Oleaceae

नि. आरबोर-ट्रिस्टिस लिनियस *N. arbor-tristis* Linn.

रात्रि चमेली, कोरल चमेली

ले. — नि. आरबोर-ट्रिस्टिस

D.E.P., V, 434; I, 432; III, 416; VI (I), 138; Fl. Br. Ind., III, 603.

सं. — पारिजात, शोफालिका; हिं. — हरसिंगार, सीओली; बं. — शोफालिका, सीओली; म. — खुरासली, पारिजातक; गु. — जयापावती; तै. — कपिला-नागदुष्ट, पगण्डमल्ले, पारिजातमु; त. — मंझपू, पवन्न-लामल्लिगै; क. — पारिजात; मल. — पविडामल्ली, पारिजातकम; उ. — गोडोकोडिको, गुंजोसीओली, सिंगारोहारो।

मुण्डारी — सापारोम, कुला मार्शल, चामगार.

यह भूरी या हरी-श्वेत छाल वाली, लगभग 10 मी. ऊँची, सहिष्णु, बड़ी झाड़ी या छोटा वृक्ष है। टहनियाँ चतुष्कोणीय, रूक्षरोमी; पत्तियाँ अण्डाकार, लम्बाय, पूर्ण अथवा दूर-दूर स्थित बड़े दाँतों से युक्त, ऊपर से रूक्ष और खुरदुरी, नीचे की ओर रोमिल; फूल छोटे, त्रिशाली ससीमाओं में व्यवस्थित, प्रत्येक शीर्ष पर 3-7 तक; दल सुगन्धित, श्वेत 4-8, नारंगी चमकीली नलियों युक्त, पालिगुक्त; सम्पुटिका उपमण्डलाकार, संयोजित, कागजी, दो चपटे एकबीजी स्त्रीकेसर में विलगित होती है।

नि. आरबोर-ट्रिस्टिस भारत का मूलवासी है। यह उप-हिमालय प्रदेश में, चिनाव से नेपाल तक, 1,500 मी. की ऊँचाई तक तथा छोटा-नागपुर, राजस्थान, मध्य प्रदेश और गोदावरी के दक्षिण की ओर जंगली अवस्था में पाया जाता है। यह अपने सुगन्धित फूलों

के कारण लगभग सम्पूर्ण भारत के उद्यानों में उगाया जाता है। अपने प्राकृतिक परिस्थान में, यह झुंडों में उगता है तथा सूखे ढालू पहाड़ी किनारों और पथरीले मैदानों को ढक लेता है। यह मन्द छाया-सहिष्णु है और प्रायः सूखे पर्णपाती वनों में झाड़-संखाड़ के रूप में पाया जाता है। इसका प्रवर्धन बीज तथा कलम द्वारा आसानी से किया जा सकता है। झाड़ी जल्दी बढ़ती है और इसे बकरियाँ नहीं चरतीं। अप्रैल-मई में यह पर्णरहित होता है। यह अगस्त से दिसम्बर तक खिलता है। फूल संख्या के समय खिलते हैं और प्रातः से पहले ही झड़ जाते हैं। चूर्णी गेरुई ओडियम जाति प्रायः पत्तियों पर आक्रमण करती है। यह रोग अधिक हानि नहीं पहुँचाता। पत्तियों पर गंधक छिड़क कर रोग पर नियंत्रण किया जा सकता है [Troup, II, 661; Gopalaswami-engar, 282; Benthall, 300; Ramakrishnan, S. Indian Hort., 1955, 3 (1) 9].

नि. आरबोर-ट्रिस्टिस के सुगन्धित पुष्प मंदिरों में मानी हुयी भेट के रूप में मूल्यवान समझे जाते हैं और इनकी मालाएँ बनाई जाती हैं। इसमें चमेली की तरह वाष्पशील तेल होता है। जल-आसवन विधि से प्राप्त किये गये तेल (उपलब्धि, 0.0045%) में निम्नलिखित लक्षण होते हैं: वि. घ.³⁵, 0.9044; n^{28} , 1.4825; $[\alpha]$, +2.4°; अम्ल मान, 8.2; एस्टर मान, 61.3; परिशुद्ध ऐल्कोहल के एक आयतन में थोड़े गंदलेपन के साथ विलेय। बेंजीन से निष्कर्षण करने पर 0.058% कंक्रीट मिलता है जिसके भाप-आसवन से 10.5% इत्र प्राप्त होता है। कंक्रीट के लक्षण इस प्रकार हैं: ग. वि. 33-34°; जमन बिन्दु, 30-31°; अम्ल मान, 23.5; और एस्टर मान, 38.19 (Gupta et al., Perfum. essent. Oil Rec., 1954, 45, 80).

फूलों की चमकीली नारंगी दलपुंज नलिकाओं में एक रंग-द्रव्य निक्टैन्थिन होता है जो केसर से प्राप्त α -क्रोसेटिन ($C_{20}H_{24}O_4$) के सर्वसमान है। इस द्रव्य में लगभग 0.1% निक्टैन्थिन मिलता है जो ग्लूकोसाइड के रूप में होता है। दलपुंज नलिकाएँ रेशम को रँगने के काम में लायी जाती थीं। यह कार्य कभी-कभी कुसुम, हल्दी, नील या काय के साथ दलपुंज नलिकाओं को मिलाकर किया जाता था। रँगने के लिए कपड़े को गर्म या ठंडे पानी में इस पदार्थ के व्वाथ में डुबो दिया जाता था। ऐसा करने पर वस्त्र पर सुन्दर किन्तु क्षणिक नारंगी या सुनहरा रंग चढ़ जाता है। ऐसा उल्लेख है कि रंजक अबगाह में नींबू का रस या फिटकरी मिलाने से अधिक स्थायी रंग प्राप्त होता है। रंजक द्रव्य के अतिरिक्त फूलों में d -मैनिटोल, टैनिन और ग्लूकोस होते हैं (Lal, Proc. nat. Inst. Sci. India, 1936, 2, 57; Mayer & Cook, 79; Burkill, Agric. Ledger, 1908, 7).

बीज की गिरियों (बीजों का 56%) से एक हल्का पीताभ भूग अवाष्पशील तेल (उपलब्धि, 12-16%) मिलता है जिसके लक्षण निम्नलिखित हैं: वि. घ.³⁰, 0.9157; n^{30} , 1.4675; साबु. मान, 185.5; आयो. मान (हैनस), 82.2; ऐसीटिलीकरण मान, 19.28; अम्ल मान, 15.75; आर. एम. मान, 0.1; और असाबु. पदार्थ, 2.4%। तेल में लिनोलीक, ओलीक, लिग्नोसेरिक, स्टीएरिक, पामिटिक और सम्भवतया मिरिस्टिक अम्ल के ग्लिसराइड होते हैं। असाबुनीकृत पदार्थ का मुख्य रचक β -साइटोस्टेरोल है। निक्टैथिक अम्ल (सम्भवतया $C_{30}H_{48}O_2$; ग. वि., 222.5-23.5) एक टेट्रा-साइक्लिक ट्राइटर्पेनाइड अम्ल है जो तेल को कई सप्ताह तक 0° पर रखने पर जम जाता है (Chem. Abstr., 1939, 33, 4447; Turnbull et al., J. chem. Soc., 1957, 569).

पौधों की पत्तियों में दैनिक अम्ल, मेथिल सैलिसिलेट, एक अक्रिस्टलीय ग्लाइकोसाइड (1%), मैनिटोल (1.3%), एक अक्रिस्टलीय रेजिन (1.2%), और वाष्पशील तेल का रंच होता है। उनमें ऐस्काविक अम्ल (30 मिग्रा./100 ग्रा.) और कैरोटीन भी होता है। पत्तियों का तेल में तलने से ऐस्काविक अम्ल का अंश बढ़ जाता है। छाल में एक ग्लाइकोसाइड (ग.वि., 86-88°) और दो ऐल्कलायड होते हैं: एक जल-विलेय और दूसरा क्लोरोफार्म विलेय। ग्लाइकोसाइड की अल्प मात्रा देने से मेंढकों में अनुशिक्षितनकाल तब तक कम होता जाता है जब तक हृदय अलिन्द निलय रोध से बन्द न हो जाए। यह केन्द्रीय नाड़ी संस्थान को भी दमित कर देता है। जल-विलेय ऐल्कलायड प्रसिका की पक्षमात्रिकी गति को उत्तेजित करता है; क्लोरोफार्म-विलेय ऐल्कलायड ऐसी क्रिया नहीं करता। ऐल्कलायड और ग्लाइकोसाइड रक्तचाप या श्वास क्रिया पर असर नहीं डालते (Van Steenis-Kruseman, *Bull. Org. sci. Res. Indonesia*, No. 18, 1953, 38; Lall & Dutt, *Bull. Acad. Sci. Unit. Prov.*, 1933-34, 3, 83; Basu et al., *J. Indian chem. Soc.*, 1947, 24, 358; Neogi & Ahuja, *J. sci. Res. Banaras Hindu Univ.*, 1960-61, 11, 196).

लकड़ी (भार, 880 किग्रा./घमी.) भूरी, घनी दानेदार और साधारण कठोर होती है। यह खपरैल या घास की छत छाने के लिए बत्ते का अच्छा आधार बनाती है। नयी शाखाएँ टोकरियाँ बनाने के लिए उपयुक्त होती हैं (Gamble, 469; Cowen, 122; Witt, 145).

वृक्ष की छाल चर्मशोधक पदार्थ के रूप में और पत्तियाँ कभी-कभी काष्ठ या हाथी दाँत पर पालिश करने के लिए प्रयोग में लायी जाती हैं। पत्तियाँ पित्तनाशक और कफोत्सारक हैं और ज्वर एवं गठिया में उपयोगी हैं। पत्तियों का काढ़ा ग्रन्थी के लिए दिया जाता है। पत्तियों का निकाला हुआ रस तीक्ष्ण और कड़वा होता है और पित्तवर्धक, मृदुविरचक, प्रस्वेदक और मूत्रवर्धक के रूप में उपयोगी है। यह बच्चों के गोल कृमि एवं अंकुश कृमि निकालने के लिए दिया जाता है। पीधे की छाल कफनिस्सारक होती है। चूणित बीज शिरोवल्क की पपड़ी की दवा के रूप में उपयोग में लाया जाता है (Kanjilal, P. C., 227; Kanny Lall Dey, 207; Kirt. & Basu, II, 1527-28).

निपा वूरम्ब (पामी) NYPA Wurmb.

ले. — निपा

यह ताड़ों का एकल प्ररूपी वंश है जो इण्डो-मलेशियाई क्षेत्र और ऑस्ट्रेलिया में पाया जाता है। कतिपय उष्ण और उपोष्ण देशों में भी इसे लगाना आरम्भ किया गया है।

नि. फ्रूटिकैन्स वूरम्ब N. fruticans Wurmb. निपा ताड़

ले. — नि. फ्रूटिकैन्स

D.E.P., V, 430; C.P., 776; Fl. Br. Ind., VI, 424; Blatter, 553, Pl. 106.

वं. — गुल्गा, गवना, गोलफन (फल), गोलपत्ता (पत्तियाँ); गु. — परदेयी-ताड़ियाँ.

अण्डमान — पुयाड़ा.

यह एक सुदृढ़ प्रगाथित, फैलने वाले, प्रकन्द से युक्त, भूगामी ताड़ है जो बंगाल में सुन्दरवन के ज्वारीय दलदलों और अण्डमान द्वीप

में पाया जाता है; सौराष्ट्र में भी इसके पाये जाने की सूचना है। पत्तियाँ सीधी, लम्बाई में 8 मी. तक, दीर्घतम पिच्छाकार; पर्णवृन्त सुदृढ़; पर्णक रेखाकार भालाकार, 1.2-1.5 मी. लम्बा; स्पेडिक्स अन्तस्थ, 1.2-2.1 मी. लम्बा, फलित अवस्था में क्लान्तिनत; फूल उभय-लिंगाश्रयी; फल गोलाकार, लगभग 30 सेंमी. व्यास के बहुत से अग्र अण्डाकार, एक कोशिकीय एकबीजीय अंडपों से युक्त; युक्तांडप, 10-15 सेंमी. लम्बा; फल-भित्ति गूदेदार, तन्तुमय और अन्तर्भित्ति स्पंजी; बीज भुरगी के अण्डे जैसा बड़ा, एक तरफ खाँचेदार, पकने पर कड़ा; भ्रूणपोष श्रंगी और खोखला होता है।

निपा ताड़ प्रायः मैग्रीव दलदलों और ज्वारीय जंगलों में यूथचारी रूप से बढ़ता है। बाढ़ द्वारा एकत्रित अधिक लवणयुक्त उपजाऊ मिट्टी में यह अच्छी तरह बढ़ता है और मिट्टी को बाँधे रहने में उपयोगी होता है। इसके लिए प्रकाश आवश्यक है। प्राकृतिक रूप से यह बीज द्वारा और प्रकन्द की अलग की हुई शाखाओं से प्रवर्धित होता है और प्रथम वर्ष में 1.5-2 मी. ऊँचाई प्राप्त कर लेता है। जलीय बागों के लिए निपा एक आकर्षक पौधा है और पानी में रखे गमलों में थोड़ी मात्रा में लवण मिलाकर उगाया जा सकता है (Troup, III, 973; Bhattacharji, *Indian For.*, 1916, 42, 509; Bor, 350; Gopalaswamiengar, 375).

स्पेडिक्स के डंठल में छेद करने से इसमें से एक मोठा रस निकलता है। फिलिपीन्स में इस रस के कारण यह ताड़ बहुत ही महत्वपूर्ण समझा जाता है। इसका प्रयोग गुड़, चीनी, ऐल्कोहल और सिरका बनाने में किया जा सकता है। पुष्पक्रम भूमि के समीप होता है। इससे रस एकत्रित करने में सुविधा होती है। दूसरे पुष्पन के बाद लगभग 5 वर्ष का हो जाने पर ताड़ रस के लिए तैयार हो जाता है। फिर 50 या अधिक वर्षों तक यह रस देता रहता है। यदि पीधे में एक से अधिक स्पेडिक्स होते हैं तो उनमें से केवल एक ही से रस प्राप्त किया जाता है और अन्य स्पेडिक्स काट दिये जाते हैं। फल लगने के कुछ समय पूर्व या तुरन्त पहले रस निकालना आरम्भ किया जाता है और रस एकत्र करने का कार्य तीन महीने तक चलता रहता है। प्रति मौसम रस का औसत उत्पादन प्रति पौधा 43 ली. तक सूचित किया गया है (Burkill, II, 1558; Brown, 1941, I, 321; Browne, 285).

ताजे निपा रस में लगभग 17% स्यूक्रोस और अपचायक शर्कराओं का लेश होता है। पहले यह व्यापारिक चीनी के लिए आशाजनक साधन माना जाता था। इसके रस का किण्वन तुरन्त होने लगता है अतः रस को ताजी अवस्था में उत्पादन केन्द्रों में भेजने में कठिनाई होती है। रस को दो सप्ताह तक रखकर किण्वन द्वारा 2-3% ऐसीटिक अम्लयुक्त सिरका प्राप्त किया जा सकता है। फिलिपीन्स में किण्वित निपा रस के आसवन द्वारा बड़ी मात्रा में ऐल्कोहल तैयार किया जाता है। अब गन्ने की खेती बढ़ जाने से सौरा सस्ता मिलने लगा है जिससे निपा का महत्व ऐल्कोहल में मूल स्रोत के रूप में घट गया है (Brown, 1941, I, 321, 323, 326-27; Browne, 286).

निपा की पत्तियाँ छप्पर छाने के लिए बहुत महत्वपूर्ण हैं और सुन्दर-वन में छप्पर के लिए बड़ी मात्रा में बेची जाती हैं। इसके लिए केवल परिपक्व पत्तियाँ ही काटी जाती हैं। पत्तियाँ, आसन और सामान्य चटाइयाँ, टोकरियाँ और झोले बनाने के लिए काम में प्रयुक्त होती हैं। मध्य गिरायें सामान्य झाड़ और घन के रूप में प्रयोग की जाती हैं (Burkill, II, 1557-58; Blatter, 556; Brown, 1941, I, 316; Trotter, 1940, 305; *For. Abstr.*, 1958, 19, 372).

कोमल तने की कलियाँ शाक के रूप में खायी जाती हैं; नये पुष्प-वृन्त और अपरिपक्व बीज (स्टार्च, लगभग 70%) कच्चे या पकाने



निकटेन्थीज आरबोर-ट्रिस्टिस - पुष्पित (हरसिंगार)

खाये जाते हैं। अधिक देर तक उवालने से बीज कड़े हो जाते हैं। पके हुए बीज कड़े होते हैं। इनसे बटन बनाने के प्रयत्न असफल सिद्ध हुये हैं क्योंकि इन पर फफूंद का आक्रमण शीघ्र हो जाता है (Burkill, II, 1560; Bhattacharji, loc. cit.; Dutta, *Indian For.*, 1928, 54, 302; *Bull. imp. Inst.*, Lond., 1933, 31, 5).

पर्णकों में लगभग 10.2% टैनिग और 15.2% हार्डटन होते हैं। ये हल्के चमड़े की टैनिग के लिए सीधे प्रयोग में लाये जा सकते हैं। पत्तियों और फलों के मध्य-स्तर से एक रेशा प्राप्त होता है। पिसी हुई पत्तियाँ फोड़ों में पुल्टिस या लेप के रूप में लगायी जाती हैं। नये प्ररोहों का अर्क पिया जाता है और बचा हुआ गूदा परिसर्प में बाहर से लगाया जाता है। जड़ और पत्तियों को जलाकर प्राप्त की गयी राख दंतपीड़ा में उपयोगी मानी गयी है [Das, *Tanner*, 1949-50, 4 (9), 12; Bhattacharji, loc. cit.; Kirt. & Basu, IV, 2590; Burkill, II, 1561].

निमेटोड — देखिए परभक्षी कृमि

निम्फायडीज — देखिए लिम्नैन्थेमस

निम्फिया लिनियस (निम्फिआ) NYMPHAEA Linn.

ले. — निम्फेआ

यह शीतोष्ण और उष्णकटिबंधीय भागों में दूर-दूर तक पाई जाने वाली बहुवर्षीय प्रकन्दीय जलीय वृष्टियों का वंश है। भारत में इसकी पाँच जातियाँ पायी जाती हैं। कुछ जातियाँ बागों में शोभा के लिए लगायी जाती हैं।

निम्फिया की बहुत-सी जातियाँ कुमुदिनी के नाम से जानी जाती हैं। इनके फूल सुन्दर होते हैं और जलीय उद्यानों में इनका महत्वपूर्ण स्थान है। इसकी बहुत-सी स्थानीय और कृष्ट संकर जातियाँ हैं। उनमें से कुछ दिन में खिलने वाली होती हैं जो सूर्य निकलने पर खुलती हैं। कुछ केवल रात में और सूर्यास्त के बाद खिलती हैं। इनमें से केवल कुछ जातियाँ सुगन्धित होती हैं। संकरण प्राकृतिक रूप से हो जाता है। भारत में उगाये गये उद्यानी प्रकारों में नि. ऐल्बा लिनियस, नि. मेक्सिकाना जुकारिनी, नि. ओडोरेटा ऐटन, नि. टेट्रागोना ज्योर्जी और अन्य प्रकारों के संकरण से प्राप्त मारिएक और लेडेकेरी संकर जातियाँ प्रमुख हैं। ये सहिष्णु हैं और इन्हें वृद्धि के लिए 60-90 सेंमी. जल चाहिये (Bailey, 1949, 382; 1947, II, 2306; Wood, *J. Arnold Arbor.*, 1959, 40, 97; Harler, 228; Gopala-swamiengar, 521; Percy Lancaster, 429).

Nymphaeaceae; *N. alba* Linn.; *N. mexicana* Zucc.; *N. odorata* Ait.

नि. ऐल्बा लिनियस *N. alba* Linn.

यूरोपीय श्वेत कुमुदिनी

ले. — नि. आल्बा

D.E.P., V, 436; Fl. Br. Ind., I, 114; Coventry, Ser. I, Pl. 12.

कश्मीर — त्रिमपोश, नीलोफर, कमुद; क. — विडी तावरे; ते. — तेल्लकलुवा;

यह कश्मीर की झीलों में 1,800 मी. से कम ऊँचाई पर पायी जाने वाली बहुवर्षीय जलीय वृष्टी है। पत्तियाँ गोल, हृदयाकार, सम्पूर्ण

प्रकन्द काला; फूल एकल, श्वेत 10-13 सेंमी. चौड़े, तैरने वाले; फल पानी में पकने वाली स्पञ्जी बेरी; बीज छोटे, धारीदार, चित्तीदार और गूदे में लगे होते हैं।

पौधे के स्टार्चयुक्त प्रकन्द और बीज दुर्भिक्ष के समय खाये जाते हैं। उपभोग करने के पहले प्रकन्द उवाले जाते हैं और बीज भूने जाते हैं। प्रकन्द में स्टार्च, 46.0; अपरिष्कृत तन्तु, 10.0; अपरिष्कृत प्रोटीन, 6.4; और राख, 10.8%; एक ऐल्कलायड, निम्फीइन ($C_{14}H_{23}O_2N$; ग. वि., 76-77°), जिसमें पाइरोल वलय होता है, पाये जाते हैं। ऐल्कलायड में एक ग्लूकोसाइड और टैनिन रहते हैं। बीजों में लगभग 47% स्टार्च होता है; बीजों के वसा-तेल में डाइ-ट्राइ और टेट्राइनोइक अम्ल होते हैं (Wehmer, I, 308; *Chem. Abstr.*, 1933, 27, 5782; 1949, 43, 137; 1945, 39, 5327; Henry, 758; Howes, 1953, 282).

निम्फीइन ऐल्कलायड बीजों के अतिरिक्त पौधे के हर एक अंग में होता है। यह मेटकों के लिए विपरीत होता है और उनमें धनुस्तम्भ के समान लक्षण पैदा करता है। प्रकन्द का ऐल्कोहलीय निष्कर्ष (ऐल्कलायड-युक्त) मंद शामक और उद्वेगहर होता है। यह हृदयगति में उल्लेखनीय मंदन नहीं करता, बड़ी मात्रा में देने पर यह मज्जा की अंगमारी करता है (Irvine & Trickett, *Kew Bull.*, 1953, 363; Henry, 758; *Chem. Abstr.*, 1945, 39, 5327).

पौधों की पत्तियों में एक प्लैवोन ग्लूकोसाइड, मिरिसिट्रिन, होता है। फूलों में से एक ग्लाइकोसाइड निम्फीलिन (ग. वि., 40°) पहचाना गया है जिसकी क्रिया हृदयरोग की औषधियों के समान होती है। पौधों के विभिन्न भागों में ऐस्काबिक अम्ल होता है। फल गुटिका और पत्तियों के मान क्रमशः 235 मिग्रा. और 170 मिग्रा./100 ग्रा. सूचित हैं (Hoppe, 606; *Chem. Abstr.*, 1943, 37, 5758; 1935, 29, 3735; 1937, 31, 3571, 3572).

उल्लेख है कि चर्मशोधन में पौधों के प्रकन्द प्रयोग में लाये जाते हैं। वे कषाय हैं, ताजे प्रकन्द का काढ़ा अतिसार में दिया जाता है। फूलों और फलों का फाँट प्रस्वेदक है और अतिसार के लिए प्रयोग किया जाता है (Howes, 1953, 282; Steinmetz, II, 318; Kirt. & Basu, I, 111).

नि. टेट्रागोना ज्योर्जी सिन. नि. पिग्मेया ऐटन *N. tetragona* Georgi

बौना कमल

ले. — नि. टेट्रागोना

Fl. Br. Ind., I, 115; Fl. Assam, I, 64.

यह एक बौनी जलीय वृष्टी है जो हिमालयी क्षेत्र में और खासी पहाड़ियों के दलदलों में 1,200-1,800 मी. की ऊँचाई तक पायी जाती है। मूलकांड शाखारहित, छोटा; पत्तियाँ अण्डाकार, सम्पूर्ण ऊपर हरी, नई अवस्था में लाल बादामी चकत्तेवाली, नीचे मन्द लाल; फूल श्वेत, 3-7 सेंमी. चौड़े होते हैं।

यह बौनी कुमुदिनी स्वच्छन्द खिलने वाली है और सीधे बीज से उगायी जा सकती है; यह जलाशयों में उगाये जाने के लिए उपयुक्त है। कुछ मारिएक और लेडेकेरी संकरों के लिए और कुछ जातियों के साथ संकरण के लिए इसका बहुत प्रयोग हुआ है (Bailey, 1947, II, 2313; Chittenden, III, 1389).

इस पौधे की पत्तियों की कलियाँ और बीज खाये जाते हैं। बीज की गिरी के विश्लेषण से निम्नलिखित मान प्राप्त हुए हैं: जल, 12.5; स्टार्च, 47.0; प्रोटीन, 21.3; वसा, 2.6; पेण्टोसन, 3.6; तन्तु,

2.8; और राख, 4.5%; बीज में फॉस्फोरस की मात्रा अधिक होती है। पत्तियों और जड़ों में एक ऐल्कलायड होने की सूचना है [Irvine & Trickett, *Kew Bull.*, 1953, 363; Webmer, I, 308; Krishna & Badhwar, *J. sci. industr. Res.*, 1947, 6 (2), suppl., 24; *Chem. Abstr.*, 1956, 50, 11441].
N. pygmaea Ait.

नि. नौचाली वर्मन पुत्र सिन. नि. प्यूवेसेन्स विल्डेनो; नि. लोटस हुकर पुत्र और थामसन नान लिनिग्रस; नि. रुब्रा राक्सवर्ग एक्स सेलिसवरी *N. nouchali* Burm. f.

भारतीय लाल कमल

ले.-नि. नौचाली

D.E.P., V, 436; III, 318; Fl. Br. Ind., I, 114.

हि. - कमल, कोका, कोई, भेंघट; बं. - शालुक, रक्तकमल, नाल; म. - लाल कमल, रक्त कमल; गु. - कमल, नीलोफल; ते. - अल्लितमरा तेल्ल-कलुवा; त. - अल्लितमरै, वेल्लम्बल; क. - नैदिले; मल. - पेरियाम्बल, नीराम्बल; उ. - धवलकै, रंगकैन.

पंजाब - छोटा कमल; मुण्डारी - पुण्डी सालुकिड; असम - मोकुवा, नाल.

यह एक बड़ी जलीय वृद्धि है जिसमें छोटा, सीधा गोल और कन्दिल प्रकन्द होता है। यह भारत के समस्त उष्ण भागों में झीलों, तालाबों, सरोवरों और गड्ढों में पाया जाता है। पत्तियाँ छत्राकार, 15-25 सेंमी. व्यास की, मंडलाकार, गुर्दाकार (नई पत्तियाँ, वाणाकार), तेज लहरदार दांतों वाली, नीचे रोमिल; फूल एकल, रंग में परिवर्तनशील, गहरे लाल से शुद्ध श्वेत तक; तथा फल स्पंजी बेरी, 3 सेंमी. व्यास के, पानी में ही पकने वाले; बीज छोटे, चौड़े दीर्घवृत्तीय, रक्ष और गूदे में लगे होते हैं।

यह जाति नि. लोटस लिनिग्रस (श्वेत मिस्री कमल का फूल) से भिन्न है जो भारत में नहीं पायी जाती है। नि. प्यूवेसेन्स और नि. रुब्रा भी, जो पहले इस जाति से फूल के रंग तथा पत्तियों के रोमिल होने के कारण भिन्न माने जाते थे, अब पर्याय माने जाते हैं। यह देखा गया है कि एक ही फूल में भी रंग की पर्याप्त भिन्नता पायी जाती है [Kirt. & Basu, I, 112; Santapau, *Rec. bot. Surv. India*, 1953, 16 (1), 7].

दुग्ध में पौधे के सभी भाग खाये जाते हैं। स्टार्चयुक्त प्रकन्द कच्चे या उबाल कर खाये जाते हैं। कभी-कभी पकाये भी जाते हैं। फिलीपीन्स से प्राप्त प्रकन्द के विश्लेषण से निम्नलिखित मान प्राप्त हुये: आर्द्रता, 53.95; अपरिष्कृत प्रोटीन, 5.87; वसा, 1.06; स्टार्च, 27.37; अपरिष्कृत तन्तु, 1.55; अन्य कार्बोहाइड्रेट, 9.07; और राख, 1.13%। फूल खिले हुए, डंठल और कच्चे फल शाक के रूप में प्रयोग किये जाते हैं। डंठलो को सलाद और सब्जी के रूप में प्रयोग किया जाता है (Paton & Dunlop, *Agric. Ledger*, 1904, 37; Valenzuela & Wester, *Philipp. J. Sci.*, 1930, 41, 85; Brown, 1941, I, 529).

बीज खाद्य हैं और इन्हें कच्चा या भून कर खाया जा सकता है। ये आटे के रूप में पीसे जा सकते हैं और इनकी रोटी बनायी जा सकती है या पानी और कांजी के साथ पकाये जा सकते हैं। जब अधिक मात्रा में प्रयोग किया जाता है तो वे विषैला प्रभाव उत्पन्न करते हैं। बीज के विश्लेषण से निम्नलिखित मान प्राप्त हुये: आर्द्रता, 12.05; अपरिष्कृत प्रोटीन, 7.95; वसा, 0.94; कार्बोहाइड्रेट, 77.86; तन्तु,

0.68; और राख, 0.52% (Paton & Dunlop, loc. cit.; Koch, *Trop. Agriculturist*, 1936, 87, 297).

प्रकन्द शामक समझा जाता है और पेचिश तथा अग्निमांश के लिए उपयोग में लाया जाता है। इसके फूल कषाय और हार्द टानिक होते हैं। उल्लेख है कि इसके फूलों से कुछ संपाक, जैसे घिल्लड, गुलकन्द आदि तैयार किये जाते हैं। बीज त्वचीय रोगों में ठंडक पहुँचाने वाली दवाई के रूप में उपयोग में लाये जाते हैं (Kirt. & Basu, I, 112; Fl. Delhi, 54).

N. pubescens Willd.; *N. lotus* Hook. f. & Thoms. non Linn.; *N. rubra* Roxb. ex Salisb.

नि. स्टेलैटा विल्डेनो *N. stellata* Willd. भारतीय नील कमल

ले. - नि. स्टेलैटा

D.E.P., V, 438; III, 318; Fl. Br. Ind., I, 114.

हि. - नील पद्म, नील कमल; बं. - नील शापला, नील पद्म; म. - कृष्ण कमल, पोयानी; गु. - नील कमल; ते. - नल्लकलवा, नीटिकलवा; त. - कारू नैतल, नीलोत्पलम; मल. - सीताम्बल; उ. - सुब्दिकेन; क. - नीलतावर.

पंजाब - वाम्भेर, नील पद्म; दिल्ली - छोटा कमल.

यह एक बड़ी, बहुवर्षीय जलीय वृद्धि है जिसके मूलकांड छोटे, अण्डाकार और निशिताग्र होते हैं। यह भारत के समस्त उष्ण भागों में तालाबों और गड्ढों में पाई जाती है। पत्तियाँ छत्राकार, 12-20 सेंमी. व्यास में, मंडलाकार या दीर्घवृत्तीय; सम्पूर्ण या कुंठाग्र से लहरदार दंतुर, दोनों सतहों पर अरोमिल, प्रायः नीचे दगीली, नील-लोहित; फूल एकल, नीले, श्वेत, नील-लोहित या गुलाबी; फल स्पंजी बेरी; बीज छोटे, लम्बवत् रेखित होते हैं। इस जाति में फूल के आकार और रंग में भिन्नता प्रदर्शित करने वाली बहुत-सी किस्में हैं। नि. केरलिया



चित्र 146 - निम्फिया स्टेलैटा - पुष्पित

सार्वि (मिख का नील कमल) तथा नि. कैपेन्सिस थनवर्ग (केप नील कमल) से इसके सम्बंध में भ्रम उत्पन्न होता है, किन्तु इनसे पत्तियों की दन्तुर प्रकृति, छोटे फूलों और सुगन्धि की अनुपस्थिति के कारण इसे उनसे पृथक् किया जा सकता है (Burkill, II, 1566; Firmin-ger, 626; Gopalaswamiengar, 521).

पीपे के विभिन्न भाग खाद्य हैं. नाशपाती जैसे अण्ड के आकार के प्रकन्द, कोमल पत्तियाँ और फूल के डंठल शाक के रूप में प्रयोग किये जाते हैं. श्रीलंका में इस जाति को धान के खेत में आर्थिक फसल के रूप में कृष्ट करने के उपाय किये गये हैं. ये खेत साधारणतया मानसून के समय में अकृष्ट छोड़ दिये जाते हैं. उपयुक्त अन्तर देकर प्रकन्दों के रोपने और उचित खाद देने से प्रति हेक्टर 2,500 किग्रा. प्रकन्द प्राप्त होते हैं. फसल को निम्फूला जातियों की इल्ली द्वारा नुकसान पहुँचता है जो पत्तियों और फूलों को खा जाती है (Irvine & Trickett, *Kew Bull.*, 1953, 363; de Soyza, *Trop. Agriculturist*, 1936, 87, 371).

प्रकन्द उवालकर अथवा तलकर खाये जाते हैं. अहमदाबाद से प्राप्त सुखई हुई जड़ों के विश्लेषण से निम्नलिखित मान प्राप्त हुए: आर्द्रता, 4.20; वसा, 0.45; प्रोटीन, 14.56; कार्बोहाइड्रेट, 67.49; तन्तु, 5.45; और राख, 7.85% (Irvine & Trickett, loc. cit.; Pathak, *Agric. J. India*, 1920, 15, 40).

दुग्ध में बीज खाये जाते हैं. इनके आटे को गेहूँ या जौ के आटे से मिलाकर रोटी बनाते हैं. इसके कारण रोटी में आपत्तिजनक गंध रहती है. बीजों में आर्द्रता, 5.40; वसा, 1.30; प्रोटीन, 11.31; कार्बोहाइड्रेट, 70.59; तन्तु, 7.45; और राख, 3.95% होती है (Irvine & Trickett, loc. cit.; Pathak, loc. cit.).

वृणित प्रकन्द अग्निमांश, अतिसार और अर्श में दिया जाता है. प्रकन्द और तने का निवेचन चमड़े को मुलायम करने वाला और भ्रूणवर्धक माना जाता है. यह पृथ्वीय स्राव और सूत्र मार्ग के रोगों में प्रयोग किया जाता है. मैलेगोसी (मेडागास्कर) में पत्तियाँ मुहंसी में स्थानीय रूप से लगायी जाती हैं. भिगोकर मुलायम की हुई पत्तियाँ विस्फोटक फफोले पड़ने पर ज्वर में मलहम के रूप में लगायी जाती हैं. फलों का अर्क स्वापक माना गया है. बीज भूख बढ़ाने वाले और पुनर्जीवनकर होते हैं (Kirt. & Basu, I, 114).

N. caerulea Sav.; *N. capensis* Thunb.; *Nymphula* spp.

नियोनौक्लिया मेरिल (रुबिएसी) NEONAUCLEA Merrill

ले. — नेओनाउक्लेआ

Fl. Br. Ind., III, 26.

वृक्षों का छोटा वंश है जिसके वृक्ष हिन्द-मलाया क्षेत्र से प्रशांत महासागर तट तक पाये जाते हैं. भारत में इसकी तीन जातियाँ पाई जाती हैं.

नि. गंगियाना (किंग) मेरिल, सिन. नौक्लिया गंगियाना किंग 36 मी. तक ऊँचा विशाल वृक्ष है जिसके तने की गोलाई 3 मी. होती है. यह अण्डमान द्वीपों में पाया जाता है. इससे एक उपयोगी लकड़ी प्राप्त की जाती है जो ऐडीना कार्डीफोलिया की लकड़ी से मिलती-जुलती है.

नि. परप्पूरिया रॉक्सवर्ग मेरिल, सिन. नौक्लिया परप्पूरिया रॉक्सवर्ग (म. — फूगा, विलूर; ते. — वगडा; क. — आनवु; वम्बई — देव-फनास) छोटे अथवा मध्यम आकार का वृक्ष है जो दक्षिणी प्रायद्वीप के अधिकांश भागों में 900 मी. की ऊँचाई तक उगता है. इसकी

लकड़ी पीले अथवा लाल रंग की, सम दानेदार, चिकनी तथा मध्यम कठोर और भारी (भार, लगभग 737 किग्रा./घमी.) होती है. यह फर्नीचर बनाने के लिए उत्तम है (Gamble, 405; Talbot, II, 90). *Rubiaceae*; *N. gageana* (King) Merrill; *Nauclea gageana* King; *Adina cordifolia*; *N. purpurea* (Roxb.) Merrill; *Nauclea purpurea* Roxb.

नियोबियम — देखिए टैंटेलम अयस्क

(परिशिष्ट — भारत की सम्पदा)

नियोलिड्सिया मेरिल (लॉरेंसी) NEOLITSEA Merrill

ले. — नेओलिटसेआ

इस वंश में आने वाले पेड़ तथा झाड़ियाँ हिन्द-मलाया क्षेत्र तथा चीन में पाये जाते हैं. भारत में इसकी लगभग 7 जातियाँ पायी जाती हैं. *Lauraceae*

नि. अम्ब्रोसा (नीस) गैम्बल सिन. लिड्सिया अम्ब्रोसा नीस
N. umbrosa (Nees) Gamble

ले. — ने. उम्ब्रोसा

D.E.P., V, 84; Fl. Br. Ind., V, 179.

कश्मीर — चिरिन्दी; पंजाब — चिरुदी, चिन्वी; कुमायूँ — चिरारा, चेर; नेपाल — पूतेली; खासी — डियेंग-सोह-टारटियाट.

यह एक सदावहार झाड़ी अथवा छोटा वृक्ष होता है जिसकी ऊँचाई 9 मी. तथा घेरा 1.4 मी. होता है. यह पूरे हिमालयी क्षेत्र, खासी पहाड़ियों और मणिपुर में 900–2,700 मी. की ऊँचाई तक पाया जाता है. इसकी छाल भूरी; पत्तियाँ दीर्घवृत्ताकार आयतरूप भाला-कार; फूल वृंत-रहित गुच्छों में, पीले और खुशबूदार; फल गोलाकार आयतरूप-अण्डाकार लगभग 1.25 सेंमी. लम्बे तथा कच्चे रहने पर नील-लोहित और पकने पर काले हो जाते हैं.

इस वृक्ष से भूरे-पीले तथा घूसर रंग की लकड़ी प्राप्त होती है. लकड़ी के मध्य में गहरी धारियाँ होती हैं जो ताजा बीरे जाने पर चमकदार रहती हैं, परन्तु समय के साथ धुंधली पड़ जाती हैं. यह चिकनी, सीधे रेशेदार, सम रचना वाली, मध्यम कठोर, मजबूत तथा हल्की (आ. घ., 0.47; भार, 481 किग्रा./घमी.) होती है. सुखाने पर इसके फटने अथवा सतह पर दरार पड़ने की सम्भावना रहती है. इसीलिए इसका हरा-रूपांतरण तथा खुले ढेरों में चट्टा लगाने की सलाह दी जाती है. यह लकड़ी घरेलू-निर्माण कार्य के लिए उपयुक्त है (Pearson & Brown, II, 855–57).

फलों से एक तेल निकलता है जो जलाने तथा चर्म-रोगों में लेप करने के काम आता है. पंजाब के पहाड़ी क्षेत्रों में पत्तियों को चारे के काम में लाया जाता है लेकिन इनका चारा मध्यम अथवा घटिया किस्म का होता है (Gupta, 402; Laurie, *Indian For. Leaf.*, No. 82, 1945, 15).

Litsea umbrosa Nees

नि. कैसिया (लिनिअस) कोस्टरमैन्स सिन. नि. जेलैनिका (नीस) मेरिल; नि. इनबोल्युक्रेटा (लामार्क) आल्सटन; लिड्सिया जेलैनिका नीस; हुकर पुत्र (फ्लो. ब्रि. इ.) अंशतः
N. cassia (Linn.) Kostermans

ले. — ने. कास्सिया

D.E.P., V, 85; Fl. Br. Ind., V, 178; Fyson, II, Fig. 440.

म. — कानवेल, चिड़चिड़ा; ते. — आकुपत्रिका; त. — मोलग शिम्ब-गपालै; क. — विड़िनिसिंग, मस्सीमरा; मल. — वायना.

यह छोटे अथवा मध्यम आकार का वृक्ष है जिसकी ऊँचाई 18 मी. तक तथा तने का घेरा 2.4 मी. होता है. यह पूर्वी हिमालय, असम की पहाड़ियों तथा दक्षिणी प्रायद्वीप में 2,100 मी. की ऊँचाई तक पाया जाता है. छाल घूसर अथवा घूसर-भूरी, चिकनी; पत्तियाँ लम्बोतरी अण्डाकार अथवा दीर्घवृत्तीय-भालाकार तथा शाखाओं के सिरे पर; फूल छोटे भुण्डों में; फल गोलाकार अथवा अण्डाभ, व्यास में लगभग 1.25 सेंमी. तथा पकने पर गहरे नील-लोहित रंग के होते हैं. इस जाति पर एक प्रकार का किट्ट (जेनोस्टेले इंडिका थिरुमलाचार) लगता पाया गया है (Thirumalachar, Curr. Sci., 1948, 17, 26).

ताजी पत्तियों के भाप-आसवन से एक सुगन्धित तेल, वेलारी पर्ण तेल (उपलब्ध, 0.4–0.6%) प्राप्त किया जाता है. इसकी गन्ध तीखी-मीठी होती है जो कच्चे आमों से मिलती है. इस तेल के भौतिक-रासायनिक लक्षण इस प्रकार हैं: आ. घ. 25° , 0.808; n^{25}_{D} , 1.4900; $[\alpha]_D$, $+1.05^{\circ}$; एस्टर मान, 24.6; ऐसीटिलीकरण के पश्चात् एस्टर मान, 71.6; अम्ल मान, 0.4; साबु. मान, 25.0; 90% ऐल्कोहल के 10 भागों में विलेय. दीर्घकाल तक रखे रहने पर इस तेल का रेजिनीकरण हो जाता है. इस तेल के निम्नलिखित रचक हैं: ओसीमीन, 35; α -टर्पिनीन, 20; डाइपेण्टीन, 5; p -साइमीन, 5; ऐरोमाडेण्ड्रीन, 2; ऐल्कोहल (हेप्टिल ऐल्कोहल, मेथिल हेप्टेनाल और हेक्सिल ऐल्कोहल), 25; तथा अनपहचाने पदार्थ, 8% (Sharma et al., J. sci. industr. Res., 1953, 12B, 243; Rao, J. Indian Inst. Sci., 1932, 15A, 71; Finnemore, 329).

फल से एक वसा (उपलब्ध, 36.5%) प्राप्त होती है जिसमें ट्रिलौरिन की मात्रा अधिक होती है. बीजों से प्राप्त यह वसा (फलों के भार का 64%) गहरे रंग की और सामान्य ताप पर ठोस होती है. कुछ समय तक संग्रहीत वसा के एक नमूने में निम्नलिखित गुण पाये गये हैं: ग. बि., $35-36^{\circ}$; आ. घ. 30° , 0.9230; n^{40}_{D} , 1.4451; आयो. मान, 15.1; साबु. मान, 258.6; एस्टर मान, 171.66; अम्ल मान, 86.94; हेनर मान, 82.35; ऐसीटिल मान, 16.74; तथा असाबु. पदार्थ, 1.3%. इस वसा में अम्लों का अनुपात इस प्रकार था: लारिक, 76.7; तथा ओलीक, 21.9%. श्रीलंका से प्राप्त फलों की गिरी से निकाले गये ताजा तेल (उपलब्ध, 66%; आयो. मान, 22.5; साबु. मान, 223.3; अम्ल मान, 10.4; तथा असाबु. पदार्थ, 2.1%) में वसा-अम्लों की मात्रा निम्न प्रकार थी: कैप्रिक, 3; लारिक, 85.9; गिरिस्टिक, 3.8; ओलीक, 4.0; तथा लिनोलीक, 3.3%; संतृप्त ग्लिसराइड, 87%; तथा ट्रिलौरिन, 66%. फलों के छिलके से 27% तेल प्राप्त हुआ (आयो. मान, 69.0; साबु. मान, 202.2; अम्ल मान, 162.0; तथा असाबु. पदार्थ, 4.3%) जिसका वसा-अम्ल संघटन निम्न प्रकार था: लारिक, 10.2; पामिटिक, 28.2; स्टीरैरिक, 3.1; हैक्साडेसेनाइक, 4.6; ओलीक, 43.6; तथा लिनोलीक, 10.3%. गिरियों का तेल लारिक अम्ल में समृद्ध होता है तथा इसका उपयोग सोडियम लारिल सल्फेट जैसे अपमार्जक बनाने में प्रारम्भिक पदार्थ के रूप में हो सकता है (Eckey, 442; Narang & Puntambekar, J. Indian chem. Soc., 1957, 34, 136; Puntambekar, Indian For., 1934, 60, 707; Gunde & Hilditch, J. chem. Soc., 1938, 1610).

इस वृक्ष से आकर्षक घूसर से हल्के भूरे रंग की सघन दानेदार एक सम लकड़ी प्राप्त होती है जो मध्यम कठोर और भारी होती है (भार, 753 किग्रा./घमी.). यह लकड़ी अच्छी सीमती है, टिकाऊ है और इसे कीटों से हानि नहीं पहुँचती. इसका उपयोग मकान, शहतीर तथा फर्नीचर बनाने में होता है. यह खराद के काम तथा घर की सजावट के लिए भी उपयुक्त है (Gamble, 573; Krishnamurti Naidu, 83; Howard, 310; Lewis, 329; Rao, loc. cit.).

इस वृक्ष की छाल और पत्तियाँ सिनैमोम जाति के पौधों से मिलती हैं तथा इन्हें सिनैमोम में मिलावट के लिए प्रयुक्त किया जाता है. जड़ें तथा छाल चोट तथा फोड़े-फुंसियों में लगाई जाती हैं. इनमें ऐल्कोलायड पाया जाता है. छाल में 7% टैनिन रहता है [Rao, loc. cit.; Krishnamurti Naidu, 83; Burkill, II, 1541; Webb, Bull. sci. industr. Res. org. Aust., No. 268, 1952, 47; Edwards et al., Indian For. Rec., N.S., Chem. & Minor For. Prod., 1952, 1 (2), 153]. *N. zeylanica* (Nees) Merrill; *N. involucrata* (Lam.) Alston; *Litsea zeylanica* (Nees) Hook. f.; *Xenostele indica* Thirumalachar; *Cinnamomum* sp.

नियोहोजेआ ए. कैमस (ग्रेमिनी) NEOHOUEAUA A. Camus

ले. — नेओहोजेओआ

यह बाँसों का एक छोटा वंश है जो हिन्द-मलाया क्षेत्र में पाया जाता है. भारत में इसकी दो जातियाँ पाई जाती हैं. *Gramineae*

नि. डुलूआ (गैम्बल) ए. कैमस सिन. टीनोस्टैकियम डुलूआ गैम्बल N. dullooa (Gamble) A. Camus

ले. — ने. डुलूआ

C.P., 104; Fl. Br. Ind., VII, 411; Fl. Assam, V, 21.

असम — डोल, डुलूआ, वाडरू, डोंगला, रूथाथला; लेपचा — पुक्सालू. यह मध्यम से ऊँचे आकार का शिखरधारी, कभी-कभी आरीही, शाखा-रहित बाँस है जो पूर्वी हिमालय, नेफा, असम, त्रिपुरा तथा मणिपुर में पाया जाता है. इसके कलम 20 मी. तक लम्बे, गहरे रंग के, गाँठ के नीचे सफेदी लिये हुये होते हैं; पौरी की लम्बाई 40–100 सेंमी. तक और व्यास 5–10 सेंमी. होता है; और पत्तियाँ आयताकार-भालाकार, प्रायः परिवर्तनशील होती हैं.

कागजी-लुगदी बनाने के लिए लोगों का ध्यान नि. डुलूआ की ओर आकर्षित हुआ है. इसके कलम नरम तथा पतली छाल वाले होते हैं. कलमों का विश्लेषण करने पर निम्नलिखित मान प्राप्त हुये (ऊष्मक-शुष्क आधार पर): गर्म-जलीय निष्कर्ष, 6.61; सोडियम हाइड्रॉक्साइड (1%) निष्कर्ष, 20.48; पेण्टोसोन, 18.10; लिग्निन, 23.82; सेलुलोस, 64.64; सिलिका, 0.93; तथा राख, 1.78%. लुगदी बनाने के परीक्षणों में द्विपदीय पाचन विधि के पश्चात् 45.5% अवि-रंजित तथा 42% विरंजित लुगदी प्राप्त हुई (रेखे की लम्बाई, 1–6 मिमी.; औसत, 3.63 मिमी.) जिससे छपाई तथा लिखने के कागज तैयार किये जा सकते हैं. इसके कलमों को दूसरे बाँसों के साथ मिलाया जा सकता है तथा प्रभाजित सल्फेट की पाचन विधि द्वारा सुगम विरंजन-शील लुगदी बनाई जा सकती है (Trotter, 1940, 345; Bhargava, Indian For. Bull., N.S., No. 129, 1945, 24, 20, 6).

पहाड़ी इलाकों में नदी के साथ लकड़ी बहाने के लिए भी डुलूआ बाँसों को तैरते बजरे बनाने के काम में लाया जाता है। इसके कलम को बाट्टी की तरह भी प्रयोग करते हैं। इनका छत्र डलिया तथा चटाई बनाने और निर्माण कार्य में भी प्रयुक्त किया जाता है (Prasad, *Indian For.*, 1948, 74, 129; Adhikari, *ibid.*, 1932, 58, 472).

नि. हेलफेरी (मुनरो) गैम्बल, सिन. टीनोस्टैकियम हेलफेरी गैम्बल (असम - वाली, टुमोह) एक शिखरधारी बाँस है, जिसके अभेद्य घने जंगल असम की पहाड़ियों में पाये जाते हैं। इसके पोरों की लम्बाई 1.2 मी. तक होती है और यह डलिया बनाने के काम आता है (Gamble, 754).

Teinostachyum dullooa Gamble; *N. helferi* (Munro) Gamble

निरविलिया कामरसन (आर्किडेसी) NERVILIA
Comm.

ले. - नेरविलिया

यह स्थलीय आर्किडों का वंश है जो अफ्रीका से भारत और चीन तथा मलेशिया से ऑस्ट्रेलिया तक पाया जाता है। भारत में इसकी लगभग 20 जातियाँ पायी जाती हैं।

Orchidaceae

नि. ऐरेगोआना गाडिशौ सिन. पोगोनिया फ्लेबेलिफार्मिस
लिण्डले *N. aragoana* Gaudich.

ले. - ने. अरागोआना

Fl. Br. Ind., VI, 121; Blatter, *J. Bombay nat. Hist. Soc.*, 1931-32, 35, 729.

यह एक उपगोलाकार, सफ़ेद कन्दों वाला, लगभग 2.5 सेंमी. व्यास एवं एकल अण्डाकार लम्बाय पत्तियों वाला स्थलीय आर्किड है जो उष्णकटिबंधीय हिमालय में गढ़वाल से पूर्व 1,200-1,500 मी. की ऊँचाई तक विहार, रम्पा और पालनी पहाड़ियों, कोंकण, उत्तरी कनारा और वावनकोर में पाया जाता है। इस आर्किड में हरिताम फूल आते हैं एवं फूलों के मुरझाने के बाद ही पत्तियाँ निकलती हैं (Fl. Malaya, I, 104).

मलाया में पत्तियों का काढ़ा प्रसव के बाद सुरक्षी औषधि के रूप में दिया जाता है। ग्वाम में कन्दों को प्यास मिटाने के लिए चूसा जाता है (Burkill, II, 1551).

निलम्बो ऐडेन्सन (निम्फोऐसी) NELUMBO Adans.

ले. - नेलूम्बो

यह जलीय वृष्टियों का अत्यन्त लघु वंश है जो एशिया, ऑस्ट्रेलिया और अमेरिका में पाया जाता है। इसकी एक जाति भारत में पायी जाती है।

Nymphaeaceae

नि. न्यूसीफेरा (गेर्तनर) सिन. निलम्बियम निलम्बो डूस;

नि. स्पेसिओसम विल्डेनो *N. nucifera* Gaertn.

पवित्र कमल, भारतीय कमल, चीनी जल लिली

ले. - ने. नूसीफेरा

D.E.P., V, 343; III, 318; Fl. Br. Ind., I, 116.

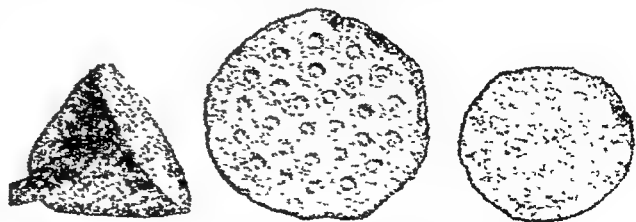
सं. - अम्बुज, पद्म, पंकज, कमल; हिं. - कँवल, कमल; वं. - पद्म; म. - कमल; गु. - सूर्यकमल; तै. - एरैतामरा, कलूगा कमलमू; त. - आम्वल, थामरै; क. - कमल, तावरे-गड्ड; मल. - थामरा, सेन्थामरा; उ. - पद्म;

कश्मीर - पम्पोश; पंजाब - कँवल, पम्पोश; मुण्डारी - सलुकिड वा, उपल वा, कम्बोल वा; असम - पोदुम; खासी - सोहलैपुडोंग.

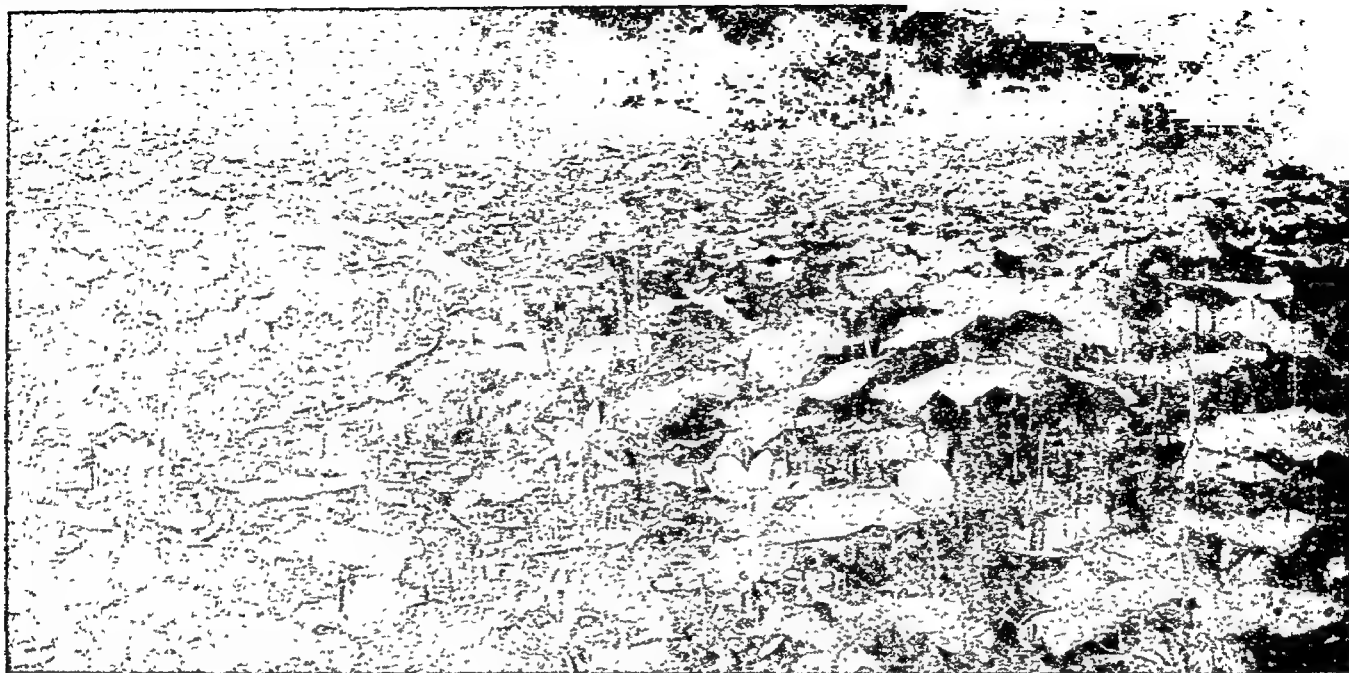
यह सुन्दर जलीय वृष्टी है जिसके प्रकंद विसर्पी तथा पुष्ट होते हैं। यह भारत में 1,800 मी. की ऊँचाई तक प्रत्येक स्थान में पायी जाती है। इसकी पत्तियाँ छत्रकाकार, 60-90 सेंमी. या इससे भी अधिक व्यास वाली, वर्तुल, नीलाभ; पर्णवृत्त काफी लम्बे, चिकने, छोटे तीक्ष्णवर्धो-युक्त; फूल एकल, बहुत बड़े, सफ़ेद या गुलाबी; फल आधार बड़ा, लट्टू के आकार वाले, व्यास में 5-10 सेंमी., स्पंजी होते हैं जिसमें बहुत (10-30) एकाण्डयी अण्डप होते हैं जो फल के ऊपरी भाग में अलग-अलग कोटरों में गड़े रहते हैं। अण्डप नट जैसी ऐकीनों में पकते हैं।

नि. न्यूसीफेरा चीन, जापान और सम्भवतः भारत का मूलवासी है। यह आमतौर पर तालाबों, गड्डों और झीलों में पाया जाता है। सुन्दर, मधुर-सुगन्धयुक्त फूलों के लिए इसे प्रायः लगाया भी जाता है। जापान में इसकी ऐसी कई प्रजातियाँ उगायी जाती हैं जिनके फूल सफ़ेद से गहरे गुलाबी होते हैं और पत्तियाँ भी विविध प्रकार की होती हैं। चीन और जापान में इसे सीढ़ीदार खेतों में लगाया जाता है क्योंकि इसके प्रकन्द और बीज खाये जाते हैं। साधारणतः इसे प्रकन्द से ही लगाया जाता है पर बीज से भी इसके पीछे उगाये जा सकते हैं। नाँदों में भी इसे उगाया जा सकता है पर तालाब में उगाने से इसके प्रकन्द एक वर्ष में 15 मी. के घेर में फैल जाते हैं। कमल के बीजों के उगने की क्षमता किसी भी फूलने वाले पीछे की अपेक्षा अधिक होती है। पंजाब में लगभग 60 हेक्टर भूमि में इसकी खेती की जाती है। प्रकन्दों को छोटे-छोटे टुकड़ों में काटकर अँखुओं को मिट्टी की सतह के ऊपर करके मार्च-अप्रैल में इसे लगाते हैं और यह ध्यान रखा जाता है कि तालाब में अक्टूबर तक पर्याप्त जल रह. जब इसे बीजों से उगाया जाता है तो एक हेक्टर के लिए लगभग 10-12 किग्रा. बीजों की आवश्यकता होती है। गर्मी और वर्षा ऋतु में इसमें काफी फूल खिलते हैं और वर्षा ऋतु के अन्त तक बीज पक जाते हैं। अक्टूबर में प्रकन्द खोदकर निकालने योग्य हो जाते हैं। प्रति हेक्टर 3,600-4,600 किग्रा. प्रकन्द मिलते हैं [Vavilov, 24; Bailey, 1947, II, 2117; Burkill, II, 1539; Irvine & Trickett, *Kew Bull.*, 1953, 363; Wood, *J. Arnold Arbor.*, 1959, 40, 105; Malik, *Indian Fmg, N.S.*, 1961-62, 11 (8), 23].

आमतौर पर सफ़ेद और लाल दो प्रकार के प्रकन्द पाये जाते हैं। इसके चूर्णमय प्रकन्द को एकत्र कर सब्जी (कमल ककड़ी, भेन) के रूप में बेचा जाता है। इसकी लम्बाई 60-120 सेंमी. और व्यास



चित्र 147 - निलम्बो न्यूसीफेरा - फलमान पुष्पासन (कमलगड्डा)



चित्र 148 — निलम्बो न्यूसीफेरा — एक कमल ताल

6-9 सेंमी. होता है. इसका रंग सफ़ेद से धूमिल-नारंगी. अनुप्रस्थ काट में कुछ बड़े गड्ढे होते हैं जिसके चारों तरफ छो-छोटे गड्ढे होते हैं. ये गूदेदार होते हैं तथा ताजे कटे हुये कन्दों में से लिसलिसा रस निकलता है. ये कुछ-कुछ रेशेदार होते हैं और काफी देर तक उवालते रहने पर भी नरम नहीं पड़ते. ताजे प्रकन्दों को भून कर खाया जाता है तथा सूखे कतलों को रसेदार सब्जी बनाने अथवा तलकर उपयोग किया जाता है. इन्हें अचार बनाने के काम में भी लाया जाता है. इनको शीत में दीर्घकाल तक रखा जा सकता है तथा पूर्व पाचित खाद्यों के साथ मिलाया जा सकता है. ताजे प्रकन्दों (मैसूर से) के विश्लेषण से निम्नलिखित मान प्राप्त हुये हैं : जल, 83.80; अपरिष्कृत प्रोटीन, 2.70; वसा, 0.11; अपचायक शर्कराएँ, 1.56; स्यूकोस, 0.41; स्टार्च, 9.25; रेशा, 0.80; राख, 1.10; तथा कैल्सियम, 0.06%. विटामिनों की मात्रा इस प्रकार थी (मिग्रा./100 ग्रा.) : थायमीन, 0.22; राइबोफ्लेविन, 0.06; नायसिन, 2.1; तथा ऐस्काविक अम्ल, 15. प्रकन्दों में ऐस्परेजीन (2%) भी पाया जाता है [Malik, loc. cit.; Irvine & Trickett, loc. cit.; Bhargava, *J. Bombay nat. Hist. Soc.*, 1959, 56, 26; Moorjani, *Bull. cent. Fd technol. Res. Inst., Mysore*, 1952-53, 2, 263; Shepherd & Neumann, *Chemurg. Dig.*, 1958, 17 (11), 6; *Handb. Inst. Nutr. Philipp.*, No. 1, 1957, 18; Wehmer, I, 307].

फलवान पुष्पासन (कमलगट्टा, चापनी) अक्सर बाजार में बेचा जाता है, क्योंकि इसके अन्दर जमे हुये अण्डप खाये जाते हैं. अण्डप गोल, अण्डाकार, अथवा दीर्घाणु, कठोर और भूरे रंग के होते हैं. इन्हें खाने से पहले ऊपरी खोल तोड़कर बाहर निकाल दी जाती है तथा भ्रूण निकाल लिया जाता है क्योंकि यह अत्यन्त कड़वा होता है. अण्डप मीठे तथा स्वादिष्ट होते हैं. इन्हें कच्चा, भूनकर, उवालकर, मीठा मिलाकर

अथवा आटा बनाकर खाने के काम में लाया जा सकता है. कमल (निलम्बो) के अण्डप पोषण की दृष्टि से अनेक खाद्यान्नों से उत्तम समझे जाते हैं. सूखे अण्डपों के विश्लेषण से निम्नलिखित मान प्राप्त हुये हैं : जल, 10.0; प्रोटीन, 17.2; वसा, 2.4; कुल कार्बोहाइड्रेट (अधिकतर स्टार्च), 66.6; रेशा, 2.6; तथा राख, 3.8%; कैल्सियम, 136; फॉस्फोरस, 294; और लोहा, 2.3 मिग्रा./100 ग्रा.; स्यूकोस (4.1%), अपचायक शर्कराएँ (2.4%) तथा ऐस्काविक अम्ल भी पाये जाते हैं (Moorjani, loc. cit.; Porterfield, *Econ. Bot.*, 1951, 5, 10; Wu Leung et al., *Agric. Handb. U.S. Dep. Agric.*, No. 34, 1952, 30; Irvine & Trickett, loc. cit.).

इसकी पत्तियों, अण्डप तथा प्रकन्दों में ऐल्कलायड भी पाये गये हैं. पत्तियों में तीन ऐल्कलायड होते हैं : न्यूसीफेरीन (5, 6-डाइ-मेथॉक्स ऐपोरफीन, $C_{18}H_{21}O_2N$; ग. बि., 165.5°), रोयेमेरीन (ग. बि., 100-101°) तथा नारन्यूसीफेरीन ($C_{18}H_{21}O_2N$; ग. बि., 195-96°). एक और ऐल्कलायड, नैलम्बीन, जो एक हार्द विष है, पर्णकवृत, वृत्तक तथा बीज के भ्रूण में पाया जाता है (Arthur & Cheung, *J. chem. Soc.*, 1959, 2306; *Chem. Abstr.*, 1956, 50, 11441; 1961, 55, 18015; Wehmer, I, 307).

नि. न्यूसीफेरा के फूल शृंगार करने तथा मंदिर आदि में चढ़ाने के काम आते हैं. अगर फूलों को खिलने से एक या दो दिन पहले कली की अवस्था में ही चुन लिया जाए तो तोड़े हुए फूल काफी दूर भेजे जा सकते हैं. पहले इन फूलों से इत्र बनाया जाता था जिसे 'कमल का इत्र' कहते थे और जो बड़ा मूल्यवान समझा जाता था. आधुनिक कमल का इत्र पचीली, बेन्जॉइन तथा स्टोरेक्स को फेनिल एथिल

तथा सिनैमिक ऐल्कोहलों के साथ मिश्रित करके बनाया जाता है। कमल के फूलों के पराग से संचित शहद शक्तिवर्धक (टानिक) होता है और नेत्र रोगों में लाभ पहुँचाता है। पत्तियों के डंठलों से एक पीताम्ब-वर्ण रंग का रेशा प्राप्त किया जाता है (Porterfield, *J.N.Y. bot. Gdn.*, 1941, 42, 280; Khan, *Pakist. J. For.*, 1958, 8, 342; Kirt. & Basu, I, 117).

नई पत्तियाँ, पर्णवृत्त तथा फूल सजी बनाने के काम आते हैं। मोटे प्रकटों से एक प्रकार का अरारोट प्राप्त किया जाता है, जो सुगन्धित तथा मीठा होता है। यह पौष्टिक होने के साथ-साथ शक्तिवर्धक भी होता है। दस्त आने पर यह वृक्षों को दिया जाता है तथा पेचिश, ग्रनिमांश में भी लाभकर होता है। प्रकटों का लेप दाद तथा दूसरे चर्मरोगों में किया जाता है। अण्डप विपायसीकारक तथा पोषक होते हैं एवं इन्हें उल्टी रोकने के लिए भी काम में लाया जाता है। पौधे से तैयार किया शरबत प्रशीतक के रूप में इस्तेमाल होता है। यह चेचक-उद्भेदन को रोकता है। पत्तियों तथा पुष्पवृत्त से निकलने वाला दूधिया रस दस्त रोकता है। तने, पत्तियाँ तथा फूलों से निकलने वाला लवणीय रस ग्रैम-ग्राही तथा ग्रैम-अग्राही जीवाणुओं की वृद्धि को रोकता है (Burkill, II, 1539-40; Porterfield, *Econ. Bot.*, 1951, 5, 10; Kirt. & Basu, I, 118-19; Nadkarni, I, 844; Nickell, *Econ. Bot.*, 1959, 13, 281).

Nelumbium nelumbo Druce; *N. speciosum* Willd.

निसा लिनियस (निसैसी) NYSSA Linn.

ले. — निस्सा

यह उत्तरी अमेरिका तथा इण्डो-मलायन भाग में पाये जाने वाले वृक्षों या झाड़ियों का एक छोटा वंश है। भारत में इसकी दो जातियाँ पायी जाती हैं।

Nyssaceae

नि. जावानिका वेंगेरिन सिन. नि. सेसिलीफलोरा हुकर पुत्र
N. javanica Wang.

ले. — नि. जावानिका

D.E.P., V, 438; Fl. Br. Ind., II, 747.

वं. — कलय, चिलौनी.

नेपाल — लेख-चिलौने; लेपचा — ह्लोसुमब्रुंग; असम — गहारीचोपा.

यह 24 मी. तक ऊँचा बड़ा वृक्ष है जिसका तना बेलनाकार, सीधा, लगभग 9 मी. तक लम्बा और 2.4 मी. घेरे का होता है। यह पूर्वी हिमालय में 1,500-2,400 मी. और असम में 1,500 मी. की ऊँचाई तक पाया जाता है। इसकी छाल भूरी या धूसर रक्त; पत्तियाँ दीर्घवृत्तीय, भालाकार, अण्डाकार या अघोमुख अण्डाकार, विन्दीदार; फूल शीपों में, एकलिंगी, हरे; बेरी अण्डाकार, 1.25 सेंमी. × 0.8 सेंमी. तथा बीज ऐल्बुमिनयुक्त होते हैं।

इस वृक्ष की लकड़ी काफी अच्छी किन्तु दिखावटी नहीं होती है और चाय बागानों में कृष्ट करने के लिए इसकी संस्तुति की गई है। पुराने काटने पर लकड़ी पीलापन लिए सफ़ेद होती है किन्तु पुरानी पड़ने पर भूरी, कुछ चमकीली, सम और मध्यम गठन की, चिकनी, सामान्य कठोर, और हल्की (वि. घ., लगभग 0.61; भार, 625 किग्रा./घमी.) हो जाती है। इसे सिझाना आसान है, किन्तु ऐसा करने पर धब्बे पड़ने की सम्भावना होती है। चोरी हुई लकड़ी की हवादार स्थान में चिनाई करने की सलाह दी गयी है। लकड़ी आवरण

में टिकाऊ मानी गयी है किन्तु यह कीड़ों के आक्रमण के लिए संवेदनशील है। इसे सरलता से चोरा जा सकता है और रंदने पर और चिकनी सतह मिलती है। इस पर पालिश अच्छी चढ़ती है। यह खराद के लिए अच्छी होती है और हाथ द्वारा बहुत थोड़ा परिसज्जन चाहती है (Pearson & Brown, II, 612-14; Macalpine, *Tocklai exp. Sta. Memor.*, No. 24, 1952, 163).

लकड़ी मकान बनाने और चाय की पेटी बनाने में प्रयोग की जाती है। यह फर्नीचर, विशेष रूप से पीछे के तख्ते, अलमारियों और दरारों के तले और पार्श्व भाग बनाने के लिए उपयोगी है। कहा जाता है कि फल खाद्य है। इसमें मीठी गन्ध, किन्तु स्वाद कड़वा अम्लीय होता है [Pearson & Brown, II, 614; Fl. Malesiana, Ser. I, 4 (1), 31].

नि. सिलवाटिका मार्शल सिन. नि. मल्टीफ्लोरा वेंगेरिन (काला द्यूपेल्लो), उत्तरी अमेरिका का मूलवासी लम्बा वृक्ष है जो दार्जिलिंग के लायड वनस्पति उद्यान में लाकर उगाया गया है। इससे उपयोगी लकड़ी प्राप्त होती है जो मुख्य रूप से टोकरी, वस्त, बेलन और कागज की लुगदी बनाने में काम आती है [Biswas, *Rec. bot. Surv. India*, 1940, 5 (5), 439; Record & Hess, 412].

N. sessiliflora Hook. f. & Thoms.; *N. sylvatica* Marsh. syn. *N. multiflora* Wang.

नीटम लिनियस (नीटैसी) GNETUM Linn.

ले. — ग्नेटम

यह सदाहरित वृक्षों अथवा आरोही झाड़ियों का एक वंश है जो उष्णकटिबंधीय एशिया, अफ्रीका तथा दक्षिणी अमेरिका में पाया जाता है। भारतवर्ष में लगभग 5 जातियों के पाये जाने का उल्लेख है।

Gnetaceae

नी. नीमॉन लिनियस *G. gnemon* Linn.

ले. — ग्ने. ग्नेमोन

D.E.P., III, 518; Fl. Br. Ind., V, 641; Corner, I, 726; II, Pl. 227-228.

यह सदावहार झाड़ी अथवा छोटा या मँडोले आकार का वृक्ष है जिसका शिखर सँकरा, शंक्रुष तथा शाखाएँ छोटी और क्लोतिनत होती हैं। यह असम, खासी और जयन्तिया तथा मणिपुर की पहाड़ियों में पाया जाता है। धूसर रंग के तने पर स्पष्ट अथवा हल्के पर्ण-दाग होते हैं। पत्तियाँ चौड़ी दीर्घवृत्तीय, लम्बाय, 6.3-23.8 सेंमी. लम्बी तथा 2.5-8.8 सेंमी. चौड़ी, पतली, चर्मिल; पुष्प-क्रम अक्षीय, नर और मादा कोन लगभग समान; फल दीर्घवृत्तज, विभिन्न आकार वाले, परन्तु अधिकांशतः 2.5 सेंमी. से कम लम्बे, पक जाने पर नारंगी या लाल रंग के तथा स्टांच्युक्त एकबीजी होते हैं।

यह जाति कई किस्मों में विभाजित है जिनमें से वैर. *द्रोनोनियानम* (त्रिफिय) मार्कग्राफ तथा वैर. *त्रिफियाई* (पालाटोर) मार्कग्राफ असम में पाई जाती हैं। मलाया, जावा तथा अन्य पूर्वी भारतीय द्वीपों में इसकी प्ररूपी किस्म, वैर. नीमॉन मार्कग्राफ फलों के लिए उगाई जाती है जो उबालकर या भूनकर खाये जाते हैं। कभी-कभी इसे फलों के उद्यानों में किन्तु अधिकांशतः मिश्रित उद्यानों में ही लगाया जाता है [Fl. Assam, IV, 333; Fl. Malesiana, Ser. I, 4(3), 337, 340].

नी. नीमॉन के बीज पकाकर या भूनकर खाये जाते हैं. फल के नारंगी या लाल रंग के गूदे को अलग करके बीज की गिरी को पीस कर केक बना लेते हैं जिन्हें घूप में सुखाकर और तेल में तलकर एक तरह का केक या विस्कुट बना लिया जाता है. गिरी में आर्द्रता, 30; प्रोटीन, 10.88; वसा (ईथर निष्कर्ष), 1.59; स्टार्च, 50.4; अन्य कार्बोहाइड्रेट, 4.54; कच्चा रेशा, 0.89; तथा राख, 1.7% पाये जाते हैं. नवीन पत्तियाँ तथा पुष्पगुच्छ सूप में पकाकर अथवा तरकारी की तरह खाये जाते हैं. अग्रतम भागों और नवीन पत्तियों के विश्लेषण से निम्नलिखित मान प्राप्त हुये : आर्द्रता, 81.9; राख, 1.33; फॉस्फोरस (P_2O_5), 0.24; कैल्शियम (CaO), 0.11; तथा लौह (Fe_2O_3), 0.01% (Howes, 1948, 217; Burkill, I, 1091; Brown, 1951, I, 76).

इस पेड़ की छाल से रेशा प्राप्त होता है जिससे रस्सियाँ बनाई जाती हैं. रेशा प्राप्त करने के लिए शाखाओं को छीलकर, छाल को पीटकर महीन तन्तुओं में विलग कर लेते हैं. यह रेशा समुद्री जल में टिकाऊ है. शुष्क और आर्द्र दोनों ही दशाओं में इसकी विखण्डन एवं तनन शक्तियाँ अच्छी होती हैं. नीटम का रेशा मछली पकड़ने की डोरी और जाल बनाने के लिए उपयोगी है. इससे बनी रस्सियाँ मजबूत, आनम्य तथा हल्की होती हैं. यह रेशा कागज बनाने के लिए उपयुक्त है. पुराने पेड़ों की लकड़ी गहरे रंग की और भंगुर होती है. खुली पड़ी रहने पर टिकाऊ नहीं रह पाती. यह जहाजों के लंगर, वेड़े और जंक बनाने के काम आती है. चीरी हुई शाखाएँ बन्दूक और तोप की नलियों की मरम्मत के काम आती हैं [King, Philipp. J. Sci., 1919, 14, 633; Burkill, I, 1092].

var. *brunonianum* (Griff.) Markgraf; var. *griffithii* (Parl.)

नी. मोण्डेनम मार्कग्राफ सिन. नी. स्कैण्डेन्स रॉक्सवर्ग; हुकर पुत्र (पलो. ब्रि. इ.) अंशतः; नी इंडिकम (लारीरो) मेरिल अंशतः *G. montanum* Markgraf

ले. - ग्ने. माण्डेनूम

D.E.P., III, 518 (in part); Fl. Br. Ind., V, 642 (in part); Fl. Assam, IV, 333.

असम - मामईलेट; लूशाई - थान पिंग रहुई; खासी - मई-लार-इम्रॉंगम.

यह एक विशाल सदाहरित, एकलिंगाश्रयी आरोही लता है जिसका तना काष्ठमय तथा छाल गहरे धूसर रंग की टुकड़ों में उतरने वाली होती है. यह हिमालय के उष्णकटिबंधीय प्रदेश में सिक्किम से पूर्व की ओर बंगाल खासी पहाड़ियों तथा भणिपुर तक 900 मी. की ऊँचाई तक पायी जाती है. इसकी पत्तियाँ दीर्घवृत्तीय अथवा अण्डाकार-दीर्घायत, मूयरी-लम्बाय, 7.5-20.0 सेंमी. तक लम्बी तथा 6-12.5 सेंमी. चौड़ी; फल वृत्ती, दीर्घवृत्तीय, 1.88-3.75 सेंमी. लम्बे तथा पक जाने पर लालिमायुक्त नारंगी रंग के होते हैं.

वहुत से लेखकों ने इस जाति को नी. यूला के साथ नी. स्कैण्डेन्स रॉक्सवर्ग के अंतर्गत वर्गीकृत किया है जबकि नी. मोण्डेनम विशेष रूप से उत्तरी भारत में पायी जाती है और नी. यूला दक्षिणी भारतीय प्रायद्वीप तक सीमित है. पहली जाति में मछलियों को मारने के गुण बताये जाते हैं (Chopra et al., J. Bombay nat. Hist. Soc., 1941, 42, 881).

नी. यूला ब्रांगनिअर्ट नान कार्स्टेन सिन. नी. स्कैण्डेन्स ब्राण्डिस; हुकर पुत्र (नान रॉक्सवर्ग) अंशतः; नी. फनीकुलेयर बी. स्मिथ एक्स वाइट *G. ula Brongn. non Karst.*

ले. - ग्ने. ऊला

D.E.P., III, 518 (in part); Fl. Br. Ind., V, 642 (in part); Markgraf, Bull. Jard. bot. Buitenz., Ser. III, 1928-30, 10, 469.

त. - आनपेण्डु, पेओडल; मल. - ओडल, ऊला; क. - कोडक-वड़ड़ी, नवुरुकट्टे; उ. - लोलोरी.

वम्बई - कुम्बल, उम्बली या टोलुम्बी.

यह विशाल एकलिंगाश्रयी आरोही लता है जिसकी छाल मोटी, शल्की तथा संघियाँ फूली हुई होती हैं. यह पूर्वी तथा पश्चिमी घाटों के आर्द्र एवं सदावहार जंगलों में 1,350 मी. की ऊँचाई तक तथा उड़ीसा और छोटा नागपुर में पाई जाती है. इसकी पत्तियाँ अण्डाकार-दीर्घायत या दीर्घवृत्तीय, कुंठाग्र-लम्बाय, 7.5 से 17.5 सेंमी. तक लम्बी तथा 3.75 से 10 सेंमी. तक चौड़ी; पुष्पगुच्छ 7.5 से 25.0 सेंमी. तक लम्बे; फल जैतून के आकार के, 2.5 से 3.75 सेंमी. तक लम्बे तथा पकने पर लालिमायुक्त नारंगी रंग के; बीज दीर्घायत और 2.5 सेंमी. लम्बे होते हैं. चावनकोर और नीलगिरि की पहाड़ियों में 1,500 मी. की ऊँचाई तक इसकी एक जाति नी. कानट्टेवटम मार्कग्राफ सिन. नी. स्कैण्डेन्स हुकर पुत्र (नान रॉक्सवर्ग) अंशतः पाई जाती है, जिसके वानस्पतिक भाग नी. यूला के समान होते हैं तथा दोनों में पहचान करना कठिन हो जाता है.

बीज की गिरी में (बीज के भार की लगभग 30%), 14.2% यौगिकीकृत तेल मिलता है जिसके गुण इस प्रकार हैं: आ. घ.³⁰, 0.9251; n_D^{20} , 1.4604; अम्ल मान, शून्य; साबु. मान, 198.9; आयो. मान, 92.9; हेनर मान, 86.2; ऐसीटिल मान, 26.98; तथा असाबुनीकृत पदार्थ, 0.81%. इस तेल के रचक वसा-अम्ल इस प्रकार हैं: ओलीक, 27; लिनोलीक, 3; पामिटिक, 14; तथा स्टीरैरिक, 56%. चावनकोर में इस तेल का उपयोग गठिया में मालिश के लिए, रोशनी के लिए तथा अल्प मात्रा में खाने के लिए भी होता है. अनाम में इसकी जड़ें और तने कालिक ज्वररोधी के रूप में प्रयुक्त होते हैं (Fl. Madras, 1885; Varier, Proc. Indian Acad. Sci., 1943, 17A, 195; Kirt. & Basu, III, 2375).

G. contractum Markgraf; *G. scandens* Hook. f.

नी. लेटिफोलियम ब्लूम सिन. नी. मैक्रोपोडम कुर्ज; नी. फनीकुलेयर ब्लूम; नी. इंडिकम (लारीरो) मेरिल (अंशतः) *G. latifolium* Blume

ले. - ग्ने. लाटीफोलिऊम

Fl. Br. Ind., V, 643; Markgraf, Bull. Jard. bot. Buitenz., Ser. III, 1928-30, 10, 458.

यह एक बड़ी सदाहरित आरोही लता है जो अण्डमान, निकोबार द्वीपों से होती हुई मलेयिया से फिलिपीन्स तक पाई जाती है. पत्तियाँ आकार और रूप में परिवर्तनशील, गहरी हरी और चर्मिल; फल गुलाबी, दीर्घवृत्तीय, 1.25-2.5 सेंमी. लम्बे, स्पष्टतः सबूत तथा बीज चौड़े-दीर्घायत होते हैं. यह जाति अत्यन्त परिवर्तनशील है. वैर. मैक्रोपोडम (कुर्ज) मार्कग्राफ तथा वैर. फनीकुलेयर (ब्लूम) मार्कग्राफ नामक दो उपजातियाँ अण्डमान और निकोबार द्वीपों में पाई जाती हैं.

इसकी प्ररूपी किस्म, वैर. लैटिफोलियम मार्कग्राफ प्ररूप लैटिफोलियम फिलिपीन्स तथा अन्य मलेशियाई द्वीपों में पाई जाती है तथा इसका उपयोग नी. नीमों के समान ही होता है. छाल का उपयोग रस्सियाँ और जाल बनाने में किया जाता है. जंगलों में लता का उपयोग पेय जल के छोट के रूप में किया जाता है. फल की गिरी उवालकर या भूनकर खाई जाती है. गिरी में आर्द्रता, 40-45; प्रोटीन, 4-6; वसा (ईथर निष्कर्ष), 0.79; स्टार्च, 35.47; अन्य कार्बोहाइड्रेट, 14.95; कच्चा रेशा, 1.14-1.29; तथा राख, 1.22-1.35% पाई जाती है [Fl. Malesiana, Ser. I, 4 (3), 342; Burkill, I, 1092; Brown, 1951, I, 77].

G. macropodium Kurz; *G. funiculare* Blume; *G. indicum* (Lour.) Merrill

नीबू - देखिए सिट्रस

नीम - देखिए अजैडिरेक्टा

नीमा लारीरो (मिरिस्टिकेसी) KNEMA Lour.

ले. - कनेमा

यह वृक्षों का एक वंश है जो दक्षिण-पूर्वी एशिया और मलेशिया में पाया जाता है. इसकी लगभग 4 जातियाँ भारत में पाई जाती हैं. *Myristicaceae*

नी. अंगुस्टिफोलिया (रॉक्सवर्ग) वारवुर्ग सिन. मिरिस्टिका लांगीफोलिया वालिश वैर. एरैटिका हुकर पुत्र (फ्लो.त्रि.इं.);

सि. गिबोसा हुकर पुत्र *K. angustifolia* (Roxb.) Warb.

ले. - क. अंगुस्टिफोलिया

D.E.P., V, 314; Fl. Br. Ind., V, 110 (in part); King, *Ann. R. bot. Gdns, Calcutta*, 1891, 3, 323, Pl. 162.

असम - मोटा-पसुती, तेजरंगा, मामुई; गारो - बोल-लानची; खासी - डियेंग-सोन-लांग-स्नम; नेपाल - रामगुवा.

यह एक सदाहरित, 19.5 मी. ऊँचा वृक्ष है जो सिक्किम हिमालय असम, गारो, खासी और जयन्तिया पहाड़ियों में पाया जाता है. टहनियाँ कभी-कभी घन-रोमिल; छाल कुछ भूरी सफ़ेद धब्बे लिये हुये, अनेक पतले पत्रकों में उपड़ने वाली, भीतर से रक्ताभ, प्रचुर मात्रा में गहरे लाल रंग का रस निकालने वाली; पत्तियाँ परिवर्ती, सामान्यतः भालाकार, 10-40 सेंमी. \times 3-8.75 सेंमी., पतली चमिल, नीचे से कुछ पीली और ऊपर से चमकती हुई; फूल एकलिंगी; फल 1.9-3 सेंमी. लम्बे, 2 या 3, कक्षों पर आश्रित, गुलिका लकड़ी से पूर्ण; बीजचोल झिल्लीमय होता है.

असम में वृक्ष का लाल द्रव बानिश के रूप में प्रयोग किया जाता है. लकड़ी पर इसके प्रलेप से लकड़ी में सीलन नहीं प्रवेश कर पाती. सूखे द्रव या काइनो में 33.6% टैनिन होता है और यह मालावार काइनो (टेरोकार्पस मार्सूपियम) से मिलता-जुलता है. यह कपाय होता है और असम में पेचिश में और मुँह के क्षतों पर लगाने के लिए प्रयुक्त होता है (Fl. Assam, IV, 45; Hooper, *Agric. Ledger*, 1900, No. 5, 44; 1902, No. 1, 49).

Myristica longifolia Wall. var. *erratica* Hook. f. (Fl. Br. Ind.); *M. gibbosa* Hook. f.; *Pterocarpus marsupium*

नी. अट्टेनुएटा (वालिश) वारवुर्ग सिन. मिरिस्टिका अट्टेनुएटा वालिश *K. attenuata* (Wall.) Warb.

ले. - क. अट्टेनुएटा

Fl. Br. Ind., V, 110; King, *Ann. R. bot. Gdns, Calcutta*, 1891, 3, 316, Pl. 152.

त. - चोर पात्री; क. - काडुपिंडी, रक्तमरा, हेडगाल, काइमरा; मल. - चोर पणा, चेन-नेली.

बम्बई - रागत्रोरार; व्यापार - जायिकाइ.

यह एक सीधा बेलनाकार तने वाला, 6 मी. लम्बा \times 1.5-1.8 मी. परिधि वाला, ऊँचा वृक्ष है जो पश्चिमी घाट के सदाहरित जंगलों में 900 मी. की ऊँचाई तक कोंकण से दक्षिण की ओर त्रावनकोर तक पाया जाता है. पत्तियाँ 7.5-22.5 सेंमी. लम्बी, दीर्घवृत्तीय या आयताकार-भालाकार, निशिताग्र या लम्बाग्र, ऊपर से नीलाभ और नीचे से मुर्चई रोमिल; पुष्पक्रम घनरोमिल; फूल एकलिंगी; फल अण्डाकार, 2.5-3.7 सेंमी. लम्बे छोटी चंचुयुक्त घने मुर्चई घनरोमिल; बीजचोल चमकीला किरमिजी, और केवल शिखर भाग को छोड़कर शाखाहीन होते हैं.

ताजी कटी लकड़ी गुलाबी से पीली-लाल होती है किन्तु काल-प्रभाव से हल्की रक्ताभ भूरी से पीली-भूरी हो जाती है और इसके दानों के सहारे गहरे भूरे रंग की वर्णरेखायें या अनियमित धब्बे उभर आते हैं. लट्ठे के रूप में यह तेजी से छीजती है परन्तु यदि हरी रहने पर ही इसे रूपान्तरित करके तख्तों को खुली जगह में चिन दिया जाए तो इसके गुणों में ह्रास आये बिना ही यह सीझ जाती है. यह साधारणतः



चित्र 149 - नीमा अट्टेनुएटा - काट की अनुप्रस्थ काट ($\times 10$)

कठोर, हल्की (भार, 512 किग्रा./घमी.) और सायवान के नीचे काफी टिकाऊ रहती है किन्तु इस पर कीटों का आक्रमण हो सकता है। यह आसानी से चिर जाती है और इससे चमकदार चिकनी सतहें मिलती हैं। लकड़ी के रूप में इसकी आपेक्षिक उपयुक्तता के आँकड़े सागौन के उन्हीं गुणों की प्रतिशतता के रूप में इस प्रकार हैं: भार, 75; कड़ी के रूप में सामर्थ्य, 55; कड़ी के रूप में कड़ापन, 75; खम्भे के रूप में उपयुक्तता, 60; प्रघात-प्रतिरोध क्षमता, 45; आकृति स्थिरण क्षमता, 65; अपरूपण, 90; और कठोरता, 50 [Pearson & Brown, II, 820-22; Limaye, *Indian For. Rec.*, N.S., *Util.*, 1944, 3 (5), 22].

इसकी लकड़ी उन समस्त कार्यों के लिए जहाँ हल्की, सुन्दर और आसानी से गढ़ी जा सकने योग्य लकड़ी की आवश्यकता होती है, उपयोगी है। इससे पट्टों के लिए और वस्त्रों के लिए उच्च श्रेणी की लकड़ी प्राप्त होती है और इसकी परीक्षा तीन-प्लाई के काम के लिये भी की जा सकती है। यह दियासलाई की डिब्बियों और खपच्चियों के लिए और हल्के और भारी सामान बाँधने वाले डिब्बों के लिए उपयुक्त बताई जाती है। लकड़ी प्रचुर मात्रा में तमिलनाडु, मैसूर, कुर्ग और त्रावनकोर के क्षेत्रों में मिलती है, यद्यपि इसको घने जंगलों में से निकालना कठिन होता है (Pearson & Brown, II, 820-22; Rama Rao, 340; IS: 399-1952, 33, 35).

पेट्रोलियम ईश्वर के साथ निष्कर्षित करने पर पीछे के कुटे हुये वीजों से एक स्थिर तेल मिलता है। निष्कर्ष को कमरे के ताप पर ठण्डा करने पर एक फाइटोटेरॉल (ग. वि., 123°) प्राप्त होता है। पेट्रोलियम ईश्वर के सार को 0° तक ठण्डा करने पर एक दूसरा क्रिस्टलीय पदार्थ (ग. वि., 98°) मिलता है जो शायद फीनोलिक अम्ल होता है। विलायक से मुक्त बीज की बसा का ग. वि. 34° होता है (Pillai & Nair, *Rep. Dep. Res. Univ. Travancore*, 1939-46, 488).
Myristica attenuata Wall.

नी. लिनफोलिया (रॉक्सवर्ग) वारवुर्ग सिन. मिरिस्टिका लिनफोलिया रॉक्सवर्ग; मि. लिनफोलिया वालिश अंशतः (पलो. त्रि. इं.) K. linifolia (Roxb.) Ward

ले. - क. लिनफोलिया

Fl. Br. Ind., V, 110; Fl. Assam, IV, 44; King, *Ann. R. bot. Gdns, Calcutta*, 1891, 3, 324, Pl. 164, 166.

असम - गारो-भाला; लुशाई - त्रिग-यी; खासी - डियेंग-टिरखोज; नेपाल - रामगुवा.

यह एक 18 मी. तक ऊँचा वृक्ष है जो उत्तरी बंगाल, नेफा, असम, लुशाई, गारो, खासी और जयन्तिया की पहाड़ियों में पाया जाता है। छाल रुख, कुछ भूरी गहरी गुलाबी चमकयुक्त, गहरे लाल रंग का अत्यधिक रस निकालने वाली; पत्तियाँ 30-50 सेंमी. × 6.25 सेंमी., दीर्घवृत्तीय-त्रायताकार, चमिल; फूल एकलिंगी; फल प्रायः एकल, दीर्घवृत्तज, मध्यमली, 3.7-5 सेंमी. लम्बे, और बीज के ऊपर पतला हल्का पीला बीजचोल होता है।

छाल से बहने वाला रस दाहक कहा जाता है। रस और जलती हुई छाल का धुंधला फफोले पैदा करने वाला बताया गया है। लकड़ी ग्रीम रंग की होती है जो मकान बनाने में काम आती है परन्तु भूमि या वर्षा के सम्पर्क में यह टिकाऊ नहीं होती (Fl. Assam, IV, 45).

नी. ग्लाउसेसेस जेक निन. मिरिस्टिका ग्लाउसेसेस हुकर पुत्र मेंडोले आकार का वृक्ष है जिसकी पत्तियाँ, रेखाकार-भालाकार और

फल कुछ-कुछ अण्डाकार लगभग 2.5 सेंमी. लम्बे होते हैं। यह असम, अण्डमान और निकोबार द्वीपों के सदाहरित जंगलों में पाया जाता है। इस जाति का सही नामकरण सन्देहपूर्ण है। कुछ इसको नी. मलायाना का पर्यायवाची मानते हैं जबकि कुछ के अनुसार ये दोनों भिन्न-भिन्न हैं। कहते हैं कि मलेशिया में नी. मलायाना की लकड़ी मकान बनाने के काम में लाई जाती है। यह कठोर (भार, 704-768 किग्रा./घमी.) होती है परन्तु सूखी लकड़ी पर दीमक लगती है। बीज और बीजचोल में काली मिर्च की गन्ध होती है और उन्हें कबूतर खाते हैं (Fl. Assam, IV, 45; Parkinson, 223; Burkill, II, 1283; Desch, 1954, II, 380; King, *Ann. R. bot. Gdns, Calcutta*, 1891, 3, 323).

Myristica linifolia Roxb.; *M. longifolia* Wall.; *K. glaucescens* Jack; *K. malayana* Warb.

नोरियम लिनियस (ऐपोसाइनेसी) NERIU Linn.

ले. - नेरियम

यह झाड़ियों का छोटा वंश है जो भूमध्यसागरीय तथा उपोष्ण-कटिबंधीय एशिया में पाया जाता है। भारतवर्ष में तीन जातियाँ पाई जाती हैं जिनमें से एक प्रविष्ट की गई है।

सामान्यतया ओलियंडर के नाम से ज्ञात ये पीछे दिखावटी फूलों के कारण शोभाकारी पौधों की भाँति लगाये जाते हैं। ऐसी अनेक किस्मों की खेती की जाती है जिनमें एकाकी या दुहरे फूल निकलते हैं जिनके रंग सफ़ेद-गुलाबी से लेकर किरमिजी रंग के होते हैं। इन्हें कलम अथवा दावकलम लगाकर प्रवर्धित किया जाता है। ओलियंडर विपैले होते हैं (Bailey, 1947, II, 2138-39; Chittenden, III, 1368; West & Emmel, *Bull. Fla. agric. Exp. Sta.*, No. 510, 1952, 32).

Apocynaceae

नी. इंडिकम* मिलर सिन. नी. ओडोरम सोलांडर N. indicum Mill.

भारतीय ओलियंडर, मीठी गंध वाला ओलियंडर

ले. - ने. इंडिकम

D.E.P., V, 348, 462; I, 167, 432; C.P., 49; Fl. Br. Ind., III, 655.

हि. - कनेर, कारवेर, कुरुवीर; बं. - कारोवी; म. - कनहेर, कानेरी; गु. - कानेर; ते. - गन्नेर, कस्तूरीपट्टिलू; त. - अरली; क. - कणगलू; मल. - अरली; उ. - कोनेरो, कोरोविरो.

मुण्डारी - कनाइली बा; संथाल - राजवाका.

यह क्षीरी रस वाली विशाल सदाहरित झाड़ी है जो हिमालय में नेपाल से लेकर पश्चिम में कश्मीर तक 1,950 मी. की ऊँचाई तक और गंगा के उपरी मैदान और मध्य प्रदेश में बहुतायत से पाई जाती है। दूसरे प्रदेशों में यह पलायित पाई जाती है। इसकी पत्तियाँ अधिकांशतः तीन के चक्रों में, कभी-कभी दो, रेखाकार-भालाकार, लम्बाय और चमिल होती हैं। पुष्प सफ़ेद, गुलाबी या लाल अंतिम बहुवर्ध्यां में और सुगन्धित; फल फोलिकी, 15-23 सेंमी. लम्बा संयुक्त; और बीज अत्यन्त छोटे, हल्के भूरे बालों के समान उल्टे लोमगुच्छ वाले होते हैं।

*यह जाति नी. ओलियंडर से केवल इस बात में भिन्न है कि इसमें सुगन्धित पूर पाते हैं परन्तु कुछ लोग इसे नी. ओलियंडर की किस्म मानते हैं।

नी. इंडिकम सम्पूर्ण भारतवर्ष में अपने सुगन्धित और दिखावटी फूलों के लिए उगाया जाता है. यह आड़ या वाड़ के रूप में भी उगाया जाता है. इसमें अप्रैल से जून या कभी-कभी साल भर तक फूल आते रहते हैं किन्तु फल जाड़ों में लगते हैं (Bor & Raizada, 200).

इस पौधे के समस्त भाग विषैले होते हैं. जड़, छाल तथा बीजों में हार्द-सक्रिय ग्लाइकोसाइड पाये जाते हैं जिन्हें पहले नीरिओडोरिन ($C_{22}H_{32}O_7$; ग. वि., 86-87°), नीरिओडोरिन ($C_{23}H_{34}O_{11}$; ग. वि., 106-107°), तथा काराविन ($C_{21}H_{30}O_6$) नाम से पुकारते थे. नीरिओडोरिन और काराविन डिजिटैलिन की भाँति हृदय पर पक्षाघात करते हुये और स्ट्रिक्निन की भाँति मेहरज्जु को उत्तेजित करते हुये बताये जाते हैं. नीरिओडोरिन कम प्रभावशाली है. वृक्ष की छाल पर किये गये अनुसंधानों से पता चलता है कि इसमें डिजिटैलिस की-सी सक्रियता वाले कई ग्लाइकोसाइड भी रहते हैं (सारणी 1). छाल में स्कोपोलीटिन और स्कोपोलिन भी पाये जाते हैं. छाल में थोड़ी मात्रा में टैनिन (ग. वि., 240°), एक गहरे लाल रंग का पदार्थ (ग. वि., 250°), सगन्ध तैल, तथा कार्बोविल-कोसीरेट के समान क्रिस्टलीय मोम (ग. वि., 97°), फ्लोवाफीन (ग. वि., 120-22°) तथा पीला अवाप्पशील तेल भी पाये जाते हैं (Chopra, 1958, 515, 568; Modi, 677; Schindler, 145; Rangaswami & Reichstein, *Helv. chim. acta*, 1949, 32, 939; Rittel & Reichstein, *ibid.*, 1954, 37, 1361; Rittel *et al.*, *ibid.*, 1953, 36, 434; Pendse & Dutt, *Bull. Acad. Sci. Unit. Prov.*, 1933-34, 3, 209).

पत्तियों का प्रमुख हार्द-पीष्टिक पदार्थ ओलिएण्ड्रिन ($C_{32}H_{48}O_9$; ग. वि., 250° अपघटन) पाया जाता है, जो नी. ओलिएण्डर की पत्तियों का भी सक्रिय पदार्थ होता है. अर्सोलिक अम्ल, ओलिएनोलिक अम्ल, नीरिओडिन (ग. वि., 238-39°), नीरियम D (ग. वि., 235-38°) और एक अज्ञात पदार्थ (ग. वि., 122-23°; विल्ली के लिए घातक मात्रा, 0.44 मात्रा./घ्रा. शरीर भार) भी पाया जाता है. ओलिएण्ड्रिन के जल-अपघटन से अग्लाइकोन ऐसीटिल जिटाक्सिजेनिन और शर्करा ओलिएण्ड्रोस (2:6-डाइडिऑक्सि ग्लूकोस) प्राप्त होते हैं. ओलिएण्ड्रिन की भाँति ही नीरिओडिन का प्रभाव होता है. यह डिजिटैक्सिन से दुगुना अधिक प्रभावशाली है. पत्तियों से हार्द सक्रिय पदार्थ निकालने की विधि पेटेण्ट की जा चुकी है. पत्तियों में रुटिन, एडाइनीरिन (नी. ओलिएण्डर में भी प्राप्य), नीरियम E (16-डिऐसीटिलऐनहाइड्रो-ओलिएण्ड्रिन, $C_{30}H_{44}O_7$; ग. वि., 222-24°) और नीरियम F (16-ऐनहाइड्रोडिजिटैक्सिजेनिन, $C_{23}H_{32}O_4$; ग. वि. 245-47°) पाये जाते हैं. एडाइनीरिन और नीरियम E अक्रिय होते हैं (Heilbron & Bunbury, IV, 19; *Chem. Abstr.*, 1959, 53, 22262; 1952, 46, 4183; 1951, 45, 9068; 1950, 44, 1977; 1953, 47, 1898, 1844, 4043; 1955, 49, 4233, 13512, 13605).

जड़, डंठल, पत्ती और फूलों के ऐल्कोहलीय निष्कर्ष में साइकोकोस पायोजीन्स बैर. औरियस और ऐशेरिशिया कोलाई के प्रति प्रतिजीवाणु सक्रियता होती है. जड़ का अर्क काले मखमली भुंग के लारवों के लिए विषैला होता है. ताजे फूलों के किरोसिन निष्कर्ष चावल के घुन, सिडोफितस ओराइजे, के प्रति सक्रिय होते हैं. ये निष्कर्ष पाइरेथ्रम निष्कर्ष से अधिक सक्रिय होते हैं. मूखे फूलों का ऐल्कोहलीय निष्कर्ष गुलाबी होता है किन्तु क्षार मिलाने पर हरा और अम्ल मिलाने पर पुनः गुलाबी हो जाता है. रंग परिवर्तन 5.4-5.7 पी-एच के मध्य होता है. इसका उपयोग साधारण अम्ल-क्षार अनुमापन में सूचक की भाँति किया जाता है. इसकी राख (3.6%) में विलेय पोटैसियम

सारणी 1 - नीरियम इंडिकम की छाल से प्राप्त ग्लाइकोसाइड*

ग्लाइकोसाइड	संघटन	विल्ली के लिये औसत घातक मात्रा (मिग्रा./ किग्रा. शारीरिक भार)
ओडोरोसाइड ए ($C_{30}H_{46}O_7$; ग. वि., 183°/198°)	डिजिटैक्सिजेनिन-β-D- डिजिनोसाइड	0.19
ओडोरोसाइड बी ($C_{30}H_{46}O_7$; ग. वि., 150°/200°)	यूजैरिजेनिन-β-D- डिजिनोसाइड	2.10
ओडोरोसाइड डी ($C_{36}H_{56}O_{12}$; ग. वि., 219°/254°)	डिजिटैक्सिजेनिन-β-D- ग्लूकोसाइडो-β-D- डिजिनोसाइड	0.59
ओडोरोसाइड एफ ($C_{36}H_{56}O_{13}$; ग. वि., 298°)	डिजिटैक्सिजेनिन-β-D- ग्लूकोसाइडो-β-D- डिजिटैलोसाइड	..
ओडोरोसाइड जी ($C_{44}H_{68}O_{19}$; ग. वि., 282°)	डिजिटैक्सिजेनिन-β-D- ग्लूकोसाइडो-β-D- ग्लूकोसाइडो मोनो ऐसीटिल-β-D- डिजिटैलोसाइड	0.62
ओडोरोसाइड एच ($C_{30}H_{46}O_8$; ग. वि., 236°)	डिजिटैक्सिजेनिन-β-D- डिजिटैलोसाइड	0.20
ओडोरोसाइड के ($C_{42}H_{68}O_{17}$; ग. वि., 196°/242-65°)	यूजैरिजेनिन-β-D-ग्लूको- साइडो-β-D-ग्लूकोसाइडो- डिजिनोसाइड	4.74
ओडोरोबायोसाइड के ($C_{36}H_{56}O_{12}$; ग. वि., 178°/220-55°)	यूजैरिजेनिन-β-D- ग्लूकोसाइडो-β-D- डिजिनोसाइड	2.29
ओडोरोसाइड एल (मोनोऐसीटेट : $C_{34}H_{48}O_{10}$; ग. वि., 178°)	D-डिजिटैलोस और 16- ऐनहाइड्रोडिजिटैक्सिजेनिन के व्युत्पन्न में विघटित होता है	..

ओडोरोसाइड एम (मोनोऐसीटेट) एल का समावयवी है ($C_{34}H_{48-50}O_{19}$; ग. वि., 219°/230°)

डिजिटैक्सिन की औसत घातक मात्रा 0.3-0.42 मिग्रा./किग्रा. जो पदार्थ पहले ओडोरोसाइड सी बताया जाता था वह अशुद्ध ओडोरोसाइड डी था. इसी प्रकार ओडोरोसाइड ई, ओडोरोसाइड एफ डिजिटैलोसिनम बैरम-16-मोनोऐसीटेट तथा 16-ऐनहाइड्रोडिजिटैक्सिनम बैरम का मिश्रण था. ओडोरोसाइड जे, ओडोरोसाइड एल और एम का मिश्रण था. ओडोरोसाइड डी ऐडोनियम मल्टोपेनोरम के बीज से प्राप्त प्रक्रिय के साथ जल-अपघटन पर ओडोरोसाइड ए प्राप्त होता है. ठीक इसी प्रकार ओडोरोसाइड के से ओडोरोसाइड बी और ओडोरोसाइड एफ से ओडोरोसाइड एच प्राप्त होता है.

*Rangaswami & Reichstein, *Pharm. Acta, Helvet.*, 1949, 24, 152; *Helv. chim. acta*, 1949, 32, 939; Rheiner *et al.*, *ibid.*, 1952, 35, 687; Rittel *et al.*, *ibid.*, 1953, 36, 434; Rittel & Reichstein, *ibid.*, 1953, 36, 554, 787; 1954, 37, 1361).

लवण काफी मात्रा में रहते हैं (George et al., *J. sci. industr. Res.*, 1947, 6B, 42; Jacobson, 20; Rao, *Econ. Bot.*, 1957, 11, 274; Sanyal & Das, *J. Instn Chem. India*, 1956, 28, 153; Mata Prasad & Dange, *Indian For. Leaflet*, No. 95, 1947, 5).

इस वृक्ष की जड़ तिव्र और विपैली होती है। इसमें एक तिव्र ग्लूकोसाइड, फीनोलीय यौगिक (ग. वि., 140–41°) और थोड़ी मात्रा में सगन्ध तैल (घ. वि., 0.8660; n_D , 1.40315; $[\alpha]_D$, -4.08°) तथा रेजिनी पदार्थ (7.5%) पाये जाते हैं जिससे α -एमाइरिन के सदृश एक ऐल्कोहल ($C_{30}H_{50}O$; ग. वि., 184–85°) विलग किया गया है। यह बाह्यतः पुनः विलायक और तनुकारक के रूप में प्रयुक्त किया जाता है। इसकी जड़ की लेई बाह्यतः अर्श, बोंकर और ब्रणोत्पत्ति के रोगों में लगायी जाती है। जड़ की छाल का तैलीय काढ़ा परतदार चर्मरोगों में उपयोग किया जाता है। पत्तियों का ताजा रस आँखों में आँसू लाने के लिए डाला जाता है। सुगन्धित फूल से मालायें बनाई और मन्दिरों में चढ़ाई जाती हैं (Kirt. & Basu, II, 1585; Garde, *J. Indian Inst. Sci.*, 1914–18, 1, 181; Nadkarni, I, 848).

नी. ओलिएण्डर लिनियस *N. oleander* Linn.

ओलिएण्डर, रोज़ वे

ले. — ने. ओलियाण्डर

Chittenden, III, 1368; Bailey, 1947, II, Fig. 2476.

यह सदाहरित, चिकनी, 6.0 मी. ऊँची झाड़ी है जो भूमध्यसागरीय क्षेत्र की मूलवासी है और ईरान तक पाई जाती है। भारतीय उद्यानों में प्रायः शोभाकारी पौधे के रूप में और कहीं-कहीं चहार-दीवारी या वायुरोधी के रूप में लगाई जाती है। पत्तियाँ सम्मुख, युग्मों में या तीन के आवर्त में, सकुंचित दीर्घायित, भालाकार 6–20 सेंमी. \times 1–3 सेंमी.; फूल दीपाकार, गुलाबी या सफ़ेद, गन्धहीन और अंतिम बहुवर्षीयता में; फालिकिल 8–15 सेंमी. लम्बे, सीधे, संलग्न अनुदैर्घ्य धारीदार, पीले-हरे से हल्के भूरे और बीज बहुत से भूरे वालों के गुच्छे वाले होते हैं।

नी. ओलिएण्डर की पत्तियाँ, फूल और तने की छाल में हार्द-पीष्टिक गुण पाये जाते हैं। पत्तियों में ओलोलिएण्डिन, नीराईफोलिन ($C_{30}H_{46}O_8$; ग. वि., 218–25°), एडाइनीरिन ($C_{30}H_{44}O_7$; ग. वि., 234°) और नीरिअनटिन ($C_{29}H_{42}O_9$; ग. वि., 206–08°) नामक ग्लाइकोसाइड होते हैं। इसका प्रमुख सक्रिय यौगिक ओलिएण्डिन है, जो कि हृदय को उत्तेजित करता है और निश्चित मूत्रवर्धक प्रभाव डालता है। नीराईफोलिन कुछ कम क्रियाशील है। जबकि एडाइनीरिन और नीरिअनटिन शारीरिक क्रियाओं की ओर निष्क्रिय हैं। पत्तियों में जिन अन्य ग्लाइकोसाइडों की सूचना है (मोनो, बायो और ट्रायोसाइड) उनमें डिजिटैलिनम वेरम, ओडोरोबायोसाइड जी तथा के, ओडोरो-ट्रायोसाइड जी तथा के, कोरनीरीन ($C_{29}H_{36}O_6$) और 4 फ्लैवोनॉल ग्लाइकोसाइड गटिन तथा कैम्फेराल-3-रैमनोग्लाइकोसाइड हैं। फ्लैवोनॉल ग्लाइकोसाइड संवहनीय प्रवेद्यता पर प्रभाव डालते हैं और उनमें मूत्रवर्धक गुण भी पाया जाता है। चिकित्सालय परीक्षाओं में कोरनीरीन हृदय सम्बंधी अव्यवस्था में प्रभावशाली होता है, विशेषतः हृदय मानपेशी के कार्य को और अधिक सुदृढ़ बनाता है (U.S.D., 1955, 1769; McIlroy, 82–83; Heilbron & Bunbury, III, 600–01; Schindler, 145; *Chem. Abstr.*, 1955, 49, 13512;

1960, 54, 15834; *Indian J. Pharm.*, 1957, 19, 62; *Biol. Abstr.*, 1957, 31, 1495; *Chem. Abstr.*, 1958, 52, 4018).

छाल और फूल में भी पत्तियों की ही भाँति हार्द-पीष्टिक गुण पाये जाते हैं। फूलों में डिजिटैलिनम वेरम के अतिरिक्त बहुत से ग्लाइकोसाइड पाये जाते हैं (Hoppe, 601; *Chem. Abstr.*, 1960, 54, 15834).

बीजों में ओलिएण्डिन, ओडोरोसाइड ए और एच, नीरिगोसाइड, 16-ऐनहाइड्रो-डिऐसीटिल नीरिगोसाइड, डिऐसीटिल नीरिगोसाइड और नीरिटैलोसाइड को मिलाकर 18-हार्द ग्लाइकोसाइड होते हैं। छिलकों में भी इसी भाँति बहुत से मोनोसाइड, बायोसाइड और ट्रायोसाइड रहते हैं। बीजों से 17% वसीय तेल (आयो. मान, 89.3) प्राप्त होता है जिसमें 12% संतृप्त और 88% असंतृप्त अम्ल रहते हैं (Jager et al., *Helv. chim. acta*, 1959, 42, 977; *Chem. Abstr.*, 1960, 54, 8650, 14577; Wehmer, II, 991; Chatfield, 123).

छाल से एक विपैला ग्लाइकोसाइड, रोसाजिनिन प्राप्त होता है। पत्तियों, तनों तथा फूलों में कम मात्रा में ऐल्कलायड रहते हैं। फूलों से 0.03% और पत्तियों से 0.025% वाष्पीय तैल प्राप्त होता है (Wehmer, II, 991; *Chem. Abstr.*, 1956, 50, 5240).

वृक्ष की पत्तियों का उपयोग त्वचा के फफोलों में किया जाता है। पत्तियों का काढ़ा घावों में पड़ने वाले कीड़ों को नष्ट करने के लिए उपयोग में लाया जाता है। पत्तियों, शाखों, जड़ों तथा फलों का जलीय निष्कर्ष विशेष कीड़ों के लिए विपैला होता है। इस वृक्ष का उपयोग दक्षिणी यूरोप में चूहे मारने के लिए किया जाता है। मकरन्दों का शहद भी विपैला हो सकता है (Hocking, 149; Van Steenis-Kruseman, *Bull. Org. sci. Res. Indonesia*, No. 18, 1953, 13; Jacobson, 20; U.S.D., 1955, 1769).

नीलगाय — देखिए गजेल

नेक्टरीन — देखिए प्रूनस

नेपेटा लिनियस (लैबियेटा) NEPETA Linn.

ले. — नेपेटा

यह बहुवर्षीय तथा एकवर्षी वृद्धियों का बड़ा वंश है, जो यूरोप, उत्तरी अफ्रीका तथा एशिया में पाया जाता है। भारत में इसकी लगभग 30 जातियाँ पाई जाती हैं।

Labiatae

ने. कटारिया लिनियस *N. cataria* Linn.

कैटनिप, कैटमिण्ड

ले. — ने. काटारिया

Fl. Br. Ind., IV, 662; Mukerjee, *Rec. bot. Surv. India*, 1940, 14 (1), 132; Blatter, II, 116, Pl. 52, Fig. 5.

यह एक सीधी, ध्वेत रोमिल, बहुवर्षीय वृद्धी है जिसकी ऊँचाई 60–100 सेंमी. होती है और जो पश्चिमी शीतोष्ण हिमालयी क्षेत्रों में उलहोजी से कश्मीर तक 1,500 मी. तक की ऊँचाई पर पाई जाती है। पत्तियाँ अण्डाभ, कुण्डती; फूल नील-सोहित विन्दियों सहित सफ़ेद; छोटे नट, चौड़े दीर्घायित, चिकने तथा भूरे-काले रंग के होते हैं।

ने. कटारिया की खेती उसकी सुगन्धित पत्तियों तथा फूलों के लिए की जाती है जिन्हें सुगन्ध प्राप्त करने तथा दवा के काम में लाया जाता है। इसका प्रवर्धन बीजों तथा जड़ की कलमों द्वारा किया जाता है। यह अच्छी जल-निकासयुक्त, मध्य उर्वर उद्यानी दुमटों में अच्छा उगता है। जब पौधे पूरी तरह फूलते रहते हैं तभी इनके फूल तथा पत्तियाँ एकत्रित कर लिये जाते हैं (Sievers, *Fmrs' Bull. U.S. Dep. Agric.*, No. 1999, 1948, 38).

कैटनिप की गन्ध तेज, कुछ-कुछ सौरभिक तथा अरुचिकर होती है जो पुदीना तथा पेन्नीरोयल की मिश्रित गन्ध-जैसी लगती है। इसका स्वाद तीखा, कड़वा तथा कपूर-जैसा होता है। पत्तियाँ तथा टहनियाँ चटनी तथा पकाये गये भोजन को सुगन्धित करने के काम में लाई जाती हैं। सूखी पत्तियाँ सूप तथा स्ट्यू के साथ शाक-मिश्रण में प्रयुक्त होती हैं। पत्तियाँ तथा फूल वातसारी, पौष्टिक, स्वेदकारी, प्रशीतकर तथा निद्रापक माने जाते हैं। दाँत में पीड़ा होने पर पत्तियाँ चबायी जाती हैं (Bentley & Trimen, III, 209; Muenscher & Rice, 119; Wren, 72; Steinmetz, II, 315; U.S.D., 1955, 1619).

बूटी के आसवन से बाष्पशील तेल (कैटनिप तेल; उपलब्ध, 0.3%) प्राप्त होता है। तेल में भी पौधे की महक रहती है तथा इसके भौतिक-रासायनिक गुण इस प्रकार हैं: आ. घ.¹⁰⁰, 0.986–1.083; n^{20}_D , 1.4872–1.4913; $[\alpha]^{20}_D$, +1.3° से 13.3°; अम्ल मान, 292.1–311.7; प्रायः 80% या अधिक ऐल्कोहल के 0.5–1 आयतन में विलेय तथा कुछ दूधियापन लिये और कभी-कभी पैराफिन विलग हो जाते हैं। अमेरिकी तेल के मुख्य रचक हैं: नेपेटालैक्टोन ($C_{10}H_{14}O_2$; व. बि., 67–70°) तथा नेपेटेलिक अम्ल ($C_{10}H_{16}O_3$; ग. बि., 74–75°), नेपेटेलिक ऐनहाइड्राइड ($C_{20}H_{30}O_5$; ग. बि., 139–40°), β -कैरियोफाइलीन तथा दो अज्ञात पदार्थ भी रहते हैं जो शायद ईयर तथा एस्टर हैं। सिसली से प्राप्त तेल के नमूने में नेपेटाल नामक ऐल्कोहल के अतिरिक्त कारबोकोल तथा थोड़ी मात्रा में प्युलेगोन और थाइमाल भी मिले। कैटनिप तेल विल्ली-कुल के जानवरों को आकर्षित करने का अच्छा साधन है। इसे पेट्रोलेटम के साथ तनु करने के बाद प्रयोग किया जाता है। नेपेटालैक्टोन ही वह पदार्थ है जिसकी गन्ध जानवरों को पौधे की ओर आकर्षित करती है। इस तेल की माँग सीमित है तथा इसे सस्ते संश्लिष्ट पदार्थों द्वारा प्रतिस्थापित किया जा चुका है (Guenther, III, 434–35; II, 607, 613, 690; *Chem. Abstr.*, 1942, 36, 5800; Sievers, loc. cit.).

ने. सिलिआरिस वेन्थम *N. ciliaris* Benth.

ले. — ने. सिलिआरिस

D.E.P., V, 345; Fl. Br. Ind., IV, 661; Mukerjee, *Rec. bot. Surv. India*, 1940, 14 (1), 131; Kirt. & Basu, Pl. 765C.

पंजाब — जुफा याविस.

यह एक सीधी, पतली नरम तथा हल्की घनरोमी वृद्धि है जिसकी ऊँचाई लगभग 30–100 सेंमी. होती है, तथा जो शीतोष्ण हिमालयी क्षेत्र में गढ़वाल से कश्मीर तक 1,800–2,400 मी. की ऊँचाई तक पाई जाती है। पत्तियाँ अण्डाभ, कुठवंती; फूल वकाइनी; छोटे नट चौड़े अण्डाभ और गहरे भूरे रंग के होते हैं।

इस पौधे की सूखी पत्तियाँ तथा पुष्पशीर्षों के भाप-आसवन से 0.54% सगन्ध तैल मिलता है (वि. घ.²⁰, 1.061; तथा n^{20}_D ,

1.499). पत्तियों तथा बीजों से प्राप्त शर्वत सर्दी और ज्वर में लाभदायक होता है [Handa *et al.*, *J. sci. industr. Res.*, 1957, 16A (5), suppl., 18; Kirt. & Basu, III, 2003].

ने. हिन्दोस्ताना (रॉथ) हेन्स सिन. ने. खडेरैलिस बुखनन-हैमिल्टन *N. hindostana* (Roth) Haines

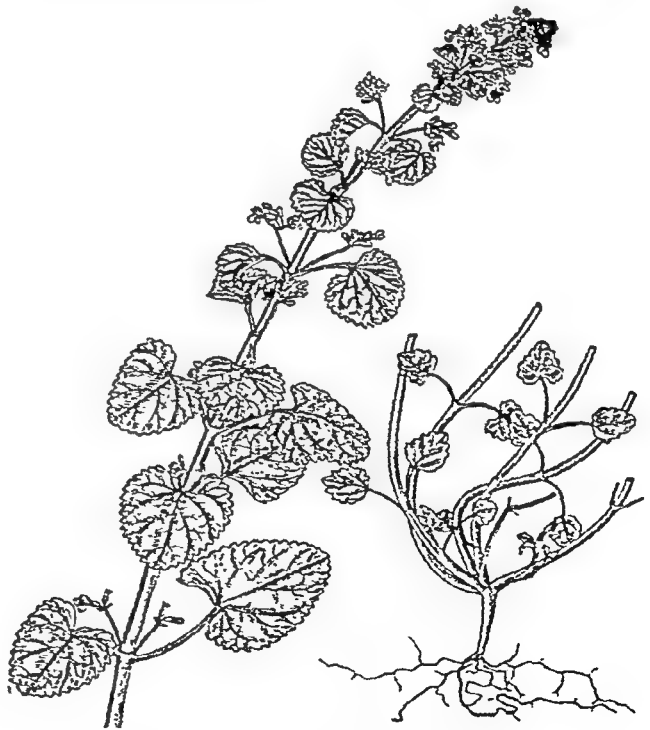
ले. — ने. हिण्डोस्ताना

D.E.P., 346; Fl. Br. Ind., IV, 661; Mukerjee, *Rec. bot. Surv. India*, 1940, 14 (1), 133.

पंजाब — विल्लीलोटन, बदराज बोया, बेन्नंग खटाई.

यह 15–40 सेंमी. ऊँची, खड़ी अथवा आरोही वृद्धि है जो पंजाब, ऊपरी गंगा मैदान, विहार, बंगाल, राजस्थान, डकन तथा कोंकण और हिमालय में 2,400 मी. की ऊँचाई तक पाई जाती है। इसकी पत्तियाँ चौड़ी, अण्डाकार अथवा मण्डलाकार दन्तुर; पुष्प नीले, बैंगनी तथा काष्ठ फल दीर्घायत, भूरे तथा सफ़ेद दाग वाले होते हैं।

पौधे की पत्तियों के भाप-आसवन से हल्के पीले रंग का तैल प्राप्त होता है, जिसमें निम्न विशेषताएँ होती हैं: आ. घ.²², 0.8684; n^{22}_D , 1.4775; $[\alpha]^{20}_D$, +16.08°; अम्ल मान, 8.5; साव. मान, 40.8; और ऐसीटिलीकरण के पश्चात् साव. मान, 81.7; तैल में *d*- तथा *l*-लिमोनीन, 20.8; मेथिल हेप्टेनोन, 9.1; सिट्रोनेलाल, 17.8; *l*-मेंथोन, 5.5; सिट्रोनेलॉल, 13.0; जिरेनिऑल, 7.6; जिरेनिल ऐसीटेट, 13.2; तथा अज्ञात सेल्बिक्टर्पीन, 4.5% होते हैं। प्राप्त तैल संघटन में नीबूघास से प्राप्त तैल की तरह होता है (Tayal & Dutt, *Proc. nat. Acad. Sci. India*, 1940, 10A, 79).



चित्र 150 — नेपेदा हिन्दोस्ताना — पुष्पित शाखा

यह पीवा ज्वर में काम आता है और हार्दटानिक बताया जाता है। नेपाल में सुजाक के इलाज में इसका आन्तरिक प्रयोग किया जाता है। गन्ना बराबर होने पर पीधे का काड़ा गरारे के लिए प्रयोग होता है (Kirt. & Basu, III, 2004).

ने. इलिप्टिका रायल एक्स वेंथम (पंजाब - तुल्मलंगा) 30-60 सेंमी. ऊँची, छोटी, आरोही अथवा प्रतिनत बूटी है जो पश्चिमी शीतोष्ण हिमालय में 1,500-2,700 मी. की ऊँचाई तक कश्मीर से लेकर कुमायूँ तक पाई जाती है। पीधे के बीजों का काड़ा पेचिश में दिया जाता है (Kirt. & Basu, III, 2002).

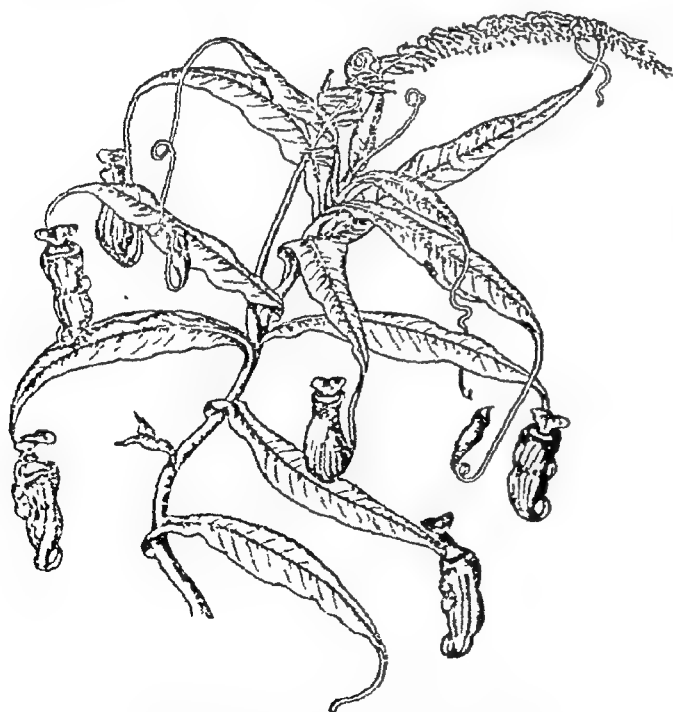
ने. फ्लोकोसा वेंथम (लद्दाख - चोंगमोंगो) लगभग 30 सेंमी. ऊँची रेजदार बूटी है जो कभी-कभी 100 सेंमी. तक ऊँची हो जाती है। यह कश्मीर और लद्दाख में 2,500-6,000 मी. की ऊँचाई तक पाई जाती है। भेड़े और चकरियाँ पीधे की कोपलें चरती हैं (Stewart, 170). *N. ruderalis* Buch.-Ham.; *N. elliptica* Royle ex Benth.; *N. floccosa* Benth.

नेपेन्थीज लिनिअस (नेपेन्थेसी) NEPENTHES Linn.

ले.-नेपेन्थेस

D.E.P., V, 345; Fl. Br. Ind., V, 68.

यह शयान, आरोही, यदाकदा ऊर्ध्व-स्तम्भी कीटभक्षी वृद्धियों, उप-झाड़ियों अथवा झाड़ियों का वंश है जो दक्षिणी चीन से पूर्वोत्तर ऑस्ट्रेलिया तथा न्यू कैलेडोनिया तथा पश्चिम की ओर सेयचेलस और मैलागोसी (मेडागास्कर) तक पाया जाता है। एक जाति, ने. खासियाना, असम में पाई जाती है।



चित्र 151 - नेपेन्थीज खासियाना - घटों सहित

नेपेन्थीज की जातियों में घटपर्णी वृक्ष सम्मिलित हैं, जिनमें पत्तियों के सिरे पर घट जैसे उपांग लगे होते हैं जो कीड़े पकड़ने का कार्य करते हैं। ये घटनुमा अवयव विभिन्न आकार-प्रकार तथा चटकीले रंगों के होते हैं जो लाल, हरे, नील-लोहित, पीले अथवा इन रंगों के अनेक मिश्रित रूप हो सकते हैं। इन घटों के ढक्कन के नीचे की सतह तथा मुँह के किनारे पर अन्दर की तरफ असंख्य मकरंदी ग्रन्थियाँ स्थित होती हैं। घट के अन्दर तली में अनेक ग्रन्थियाँ उपस्थित होती हैं जिनसे एक एंजाइम स्रावित होता है। मुँह पर बनी ग्रन्थियों तथा घटों के रंगों से कीट आकर्षित होते हैं और नीचे द्रवीय पदार्थ में फिसल कर गिर जाते हैं जहाँ उनका एंजाइम द्वारा पाचन हो जाता है और पाचन से प्राप्त पदार्थ पीधे द्वारा अवशोषित हो जाता है (Chittenden, III, 1363; Bailey, 1947, II, 2122-23; Encyclopaedia Britannica, XVII, 970; Neal, 326).

घटपर्णी वृक्ष नम जलवायु, जहाँ ताप 21° तथा 30° के बीच में अथवा सदियों में कुछ अंश नीचे रहता है, अच्छी तरह उगते हैं। यदि इन्हें पीट, पत्ती की खाद तथा स्फैन्म को बराबर-बराबर मात्रा में मिलाकर लगाया जाए तो ये डलियों में अत्युत्तम उगते हैं। इनका प्रवर्धन कलमों, दाब कलमों तथा बीजों द्वारा होता है। घटपर्णी का तना बड़ा कठोर होता है तथा मलेशिया में इससे रस्सियाँ बनाई जाती हैं (Firminger, 383; Bailey, 1949, 452; Burkill, II, 1543).

ने. खासियाना हुकर पुत्र (खासी - टियेव-राकोट) एक छोटी मजबूत शयान, उप-झाड़ी है जिसमें उपवेलनाकार घट होते हैं। यह असम की गारो, खासी, तथा जयंतिया पहाड़ियों में 1,200 मी. तक की ऊँचाई तक पाई जाती है। इस पीधे के घटों को कीटसहित घोट कर पानी में मिलाकर हेजा के रोगियों को दिया जाता है। मूत्राशय की बीमारियों में घड़े के तरल पदार्थ को मौखिक दवा के रूप में दिया जाता है तथा आँखों में खुजली तथा लाल होने पर आँखों में डाला जाता है (Fl. Assam, IV, 25; Rao, Pakist. J. sci. industr. Res., 1961, 4, 219).

Nepenthaceae; *N. khasiana* Hook. f.

नेप्ट्यूनिया लारीरो (लेग्यूमिनोसी; मिमोसेसी) NEPTUNIA Lour.

ले.-नेप्टूनिया

यह शयान अथवा तिरती वृद्धियों अथवा उपझाड़ियों का लघु वंश है जो उत्तरी तथा दक्षिणी अमेरिका, अफ्रीका, उष्णकटिबंधीय एशिया और ऑस्ट्रेलिया में पाया जाता है। भारत में इसकी तीन जातियाँ पाई जाती हैं जिसमें एक बाहर से लाई गई है।

Leguminosae; Mimosaceae

ने. ओलिरैसिया लारीरो सिन. ने. प्रोस्ट्रेटा वेलान *N. oleracea* Lour.

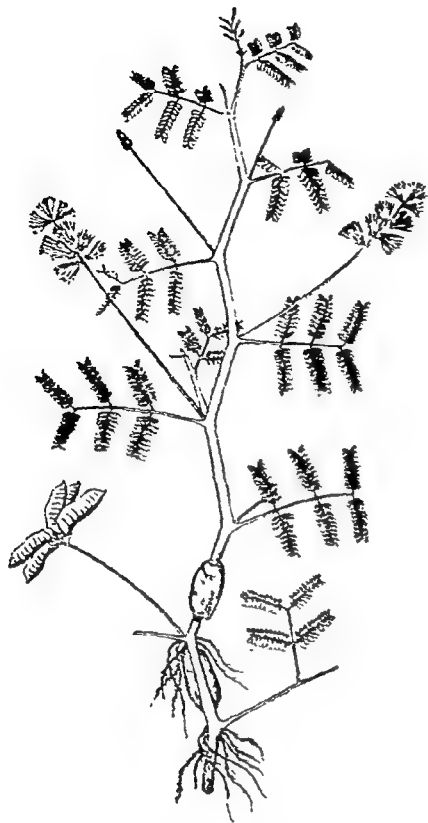
ले.-ने. ओलिरैसिया

D.E.P., V, 348; III, 318; Fl. Br. Ind., II, 285.

हि. - ताजालु; वं. - पानीनाजक; ते. - नीरुयत्तावणु, निद्रायाम्; त. - सदई, मुण्डईनिकरई; मल. - नितितोरावादी.

पंजाब - ताजालु, पानी लाजक; बम्बई - पानी लाजक.

यह एकवर्षी, पानी में तैरने वाली बूटी है जो साधारणतया दलदल, जलमग्न धान के खेतों में, झीलों के किनारे, तालाबों तथा अन्य स्थिर



चित्र 152 - नेलपारिस श्रोत्रिलेसिया - पुष्प और फलों सहित

पानी वाले स्थानों पर सम्पूर्ण भारतवर्ष में पायी जाती है। पत्तियाँ द्विपिच्छाकार; पर्णक छोटे तथा सुग्राही; पुष्प छोटे, पीले तथा अग्रस्थ; फली त्रिक, दीर्घायत; बीज 6-9, कुछ सपीडित, भूरे रंग के होते हैं।

नये डंठलों के नवीन सिरों की तथा कभी-कभी फलियों की तरकारी बनाई जाती है। पौधे को प्रशीतकर एवं कपाय माना जाता है। मलाया में तने से निष्कषित रस को कान के दर्द के इलाज के लिए कान में डाला जाता है। जड़ें सिफलिस की अन्तिम अवस्था में प्रयोग की जाती हैं (Kirt. & Basu, II, 904; Burkill & Haniff, *Gdns' Bull.*, 1929-30, 6, 197; Burkill, II, 1549)।

ने. टिक्वेटा वेन्थम नीचे फैलने वाली, पतली, बहुवर्षी वृष्टि है जो ऊपरी गंगा की तराई, छोटा नागपुर, तटीय आन्ध्र, केरल, कोंकण, डेकन तथा गुजरात में पाई जाती है। मुण्डा लोग पौधे की पत्तियों को तेल में उवालकर सिर दर्द में प्रयुक्त करते हैं (Bressers, 57). *N. prostrata* Baill.; *N. triquetra* Benth.

नेफेलियम लिनिअस (सैपिण्डेसी) NEPHELIUM Linn.

ले.-नेफेलिऊम

यह पौधों का छोटा वंश है जो इण्डो-मलेशिया क्षेत्र में पाया जाता है। इसकी 2 जातियाँ भारत में मिलती हैं जिनमें एक ने. लैप्पेसियम में

खाद्य फल लगते हैं। कुछ अन्य जातियाँ जो पहले इस वंश में सम्मिलित थीं अब यूफोरिया तथा लोबी वंश में स्थानान्तरित कर दी गयी हैं। *Sapindaceae*

ने. लैप्पेसियम लिनिअस *N. lappaceum* Linn.

रामवूतान, रामवूस्तान

ले.-ने. लाप्पासेऊम

D.E.P., V, 346; Fl. Br. Ind., I, 687; Ochs et al., I, 730.

यह एक मध्यम आकार का 15-25 मी. ऊँचा वृक्ष है जो मलेशिया का मूलवासी है और भारत तथा अन्य उष्णकटिबंधीय प्रदेशों में प्रविष्ट किया गया है। कुछ वृक्ष नीलगिरि के निचले ढलानों में कल्लर में उगाये जाते हैं। इसकी छाल स्लेटी भूरे रंग की; पत्तियाँ पक्षवत्; पर्णक दीर्घवृत्तीय, अधोमुख अण्डाकार; पुष्प बहुलिंगी, छोटे, सफ़ेद और पुष्पगुच्छों में; फल गोलाकार अथवा अण्डाभ, 3.5-8 सेंमी. × 2-5 सेंमी., मुलायम रेशेदार पीले से लेकर गहरे लाल रंग के काँटों से अच्छी तरह आच्छादित; फल-भित्ति पतली, चमिल और सरलता से निकलने वाली; बीज दीर्घायत, 2.5-3.5 सेंमी. लम्बे तथा एरिली; एरिल सफ़ेद अथवा हल्के गुलाबी, पारभासक, रसमय तथा अम्लीय होते हैं।

ने. लैप्पेसियम पूरे मलाया में उगाया जाता है जहाँ इसके अनेक उद्यान सम्बंधी प्ररूप ज्ञात हैं। इनमें से ग्यारह प्ररूप उद्यान के लिए चुने गये हैं। यह पौधा आर्द्र कटिबंधीय जलवायु में 300 मी. से कम ऊँचाई पर जहाँ प्रति वर्ष 250-300 सेंमी. वर्षा सालभर तक समान रूप से होती है, पाया जाता है। इसे अच्छे जल-निकास वाली बलुही दोमट अथवा मटियार दोमट की आवश्यकता पड़ती है जिनमें प्रचुर कार्बनिक



चित्र 153 - नेफेलियम लैप्पेसियम - फलित शाखा

पदार्थ होता हो। यह बीजों द्वारा प्रवर्धित किया जाता है परन्तु दाब-कलम, साटा कलम अथवा चश्मा चढ़ाकर कायिक प्रवर्धन की संस्तुति की गई है क्योंकि बीजों द्वारा प्रवर्धित करने पर वृक्ष पुंकेसरी तथा अनुत्पादक हो जाते हैं। यदि नवीन मारकोटों के विकास में सावधानी बरती जाए तो मारकोटीय विधि द्वारा कायिक प्रवर्धन भी लाभदायक सिद्ध हो सकता है। कल्लर में वृक्ष 6.0-7.5 मी. की दूरी पर पंक्तियों में लगाये जाते हैं। ये लगाये जाने के छः वर्ष पश्चात् फल देने के योग्य हो जाते हैं। फलने का समय सितम्बर से नवम्बर तक है। वृक्ष से एक वर्ष में लगभग 9 किग्रा. फल मिलते हैं (Chandler, 318; Whitehead, *Malay. agric. J.*, 1959, 42, 53; Milsum, *World Crops*, 1960, 12, 254; Ochse *et al.*, I, 734; Naik, 406-07; Popenoe, 329).

रामवृत्तान के फल लीची से बहुत कुछ मिलते-जुलते होते हैं, अन्तर केवल इतना है कि इनमें लम्बे गूदेदार रंगीन कांटे होते हैं। इसके एरिल (फल के लगभग 32%) मीठे तथा स्वादिष्ट होते हैं और कच्चे खाये जाते हैं। जब ये दूसरे फलों के साथ मिलाकर खाये जाते हैं तो अत्युत्तम लगते हैं। इनका प्रयोग मुरब्बे की तरह भी किया जाता है। श्रीलंका से प्राप्त एरिलों के विश्लेषण से निम्नांकित मान प्राप्त हुए: आर्द्रता, 82.3; प्रोटीन, 0.46; ईथर निष्कर्ष, 0.07; कुल कार्बोहाइड्रेट, 16.02; अपचायक शर्करा, 2.9; स्यूक्रोस, 5.8; तन्तु, 0.24; तथा खनिज पदार्थ, 0.91%; कैल्सियम, 10.6; फॉस्फोरस, 12.9; और विटामिन सी, 30 मिग्रा./100 ग्रा. फलावरण में टैनिन तथा एक विपैला सैपोनिन होते हैं (Naik, 406; Popenoe, 328; Ochse *et al.*, I, 733-35; Joachim & Pandittesekere, *Trop. Agriculturist*, 1943, 99, 14; Wehmer, II, 732).

इसके बीजों की गिरी पूरे बीज (भार, 1.4-2.0 ग्रा.) की 92% होती है। इससे 37-43% ठोस वसा प्राप्त होती है जिसे रामवृत्तान चर्बी कहते हैं जो कैंकाआ-मक्खन जैसी होती है। यह साधारण ताप पर कठोर और सफेद रंग की होती है। इसे गर्म करने पर पीले रंग का सुगन्धित तेल प्राप्त होता है। इस वसा की निम्न विशेषताएँ हैं: आ. घ. 93° , 0.859-0.863; n_D^{40} , 1.458-1.459; अम्ल मान, 0.5-5.0; साबु. मान, 193-195; आयो. मान, 39-44; असाबु. पदार्थ, 0.5%; ग. वि., 38-42°, तथा अनुमाप, 57°। तेल के रचक वसा-अम्ल इस प्रकार हैं: पामिटिक, 2.0; स्टीरैरिक, 13.8; ऐराकिडिक, 34.7; ओलीक, 45.3; ईकोसिनोइक, 4.2%। रामवृत्तान चर्बी में 1.4% संतृप्त प्लिसराइड होते हैं; मोनो-ओलि-ओडाइ-संतृप्त (सम्भवतः ओलियोस्टीरैरो-ऐराकिडिन और कुछ ओलियोडाइऐराकिडिन) तथा डाइ-ओलियोमोनो-संतृप्त (सम्भवतः स्टीरैरो या ऐराकिडो-डाइ-ओलीन और सम्भवतः कुछ ओलियो-ईको-सेनो-संतृप्त) ग्लिसराइड क्रमशः 43 और 55% होते हैं। यह वसा वास्तव में अधिक मात्रा में ऐराकिडिक अम्ल की उपस्थिति के कारण महत्वपूर्ण है। यह खाय है और साबुन और मोमवत्ती बनाने के योग्य बतायी गयी है। यह वसा शायद ही कोई आर्थिक महत्ता प्राप्त कर सके क्योंकि वर्ष में बहुत कम समय तक बीज प्राप्त हो पाते हैं (Eckey, 625-27; Burkill, II, 1545; Hilditch, 1956, 359).

लकड़ी कठोर, भारी, लाल से लालाभ-श्वेत या कुछ भूरे रंग की होती है और मुगने पर उपडु सकती है। यह साधारण निर्माण कार्य के लिए उपयुक्त है। इसके वृक्ष फलों के लिए उगाये जाने के कारण इमारती लकड़ी के लिए बहुत कम उपलब्ध हो पाते हैं (Burkill, II, 1543, 1546; Desch, 1954, II, 531).

फन कनैना, धुआवर्धक और श्मिहर ममज्ञा जाता है। बीज कड़वे,

संवेदनमंदक होते हैं। कभी-कभी इन्हें भूनकर खाया जाता है। पत्तियाँ सिर दर्द में पुलिस के रूप में प्रयोग की जाती हैं (Kirt. & Basu, I, 639; Burkill, II, 1545-46; Ochse *et al.*, I, 735; Burkill & Haniff, *Gdns' Bull.*, 1929-30, 6, 187).

नेफ्रोलेपिस शॉट (पॉलिपोडिएसी) NEPHROLEPIS Schott
ले.-नेफ्रोलेपिस

यह सुन्दर स्थलीय, अधिपादपी फर्न का छोटा वंश है जो सम्पूर्ण विश्व के उष्णकटिबंधीय तथा उपोष्ण कटिबंधीय भागों में पाया जाता है। भारत में इसकी 6 जातियाँ मिलती हैं और कुछ विदेशी जातियाँ बागों में उगायी जाती हैं।

ये फर्न सामान्यतया सजावट के लिए उगाये जाते हैं और गमलों अथवा डलियों में उगाये जाने के उपयुक्त हैं। ये सहिष्णु होते हैं तथा बड़ी सरलता से उपरिभूस्तारियों द्वारा प्रवर्धित किये जा सकते हैं (Bailey, 1947, II, 2131-32; Chittenden, III, 1365; Haines, VI, 1193; Gopalaswamiengar, 384; Firminger, 266).

ने. बिसेराटा शॉट सिन ने. ऐक्यूटा प्रेसल एक पुष्ट, गुच्छेदार झुका फर्न है जिसके प्रकन्द सीधे भूस्तारी प्रकृति के और पर्णांग पत्र लम्बे पिच्छाकार होते हैं। यह उत्तरी भारत, महाराष्ट्र एवं दक्षिणी भारत में पाया जाता है। फर्न के प्रकन्द न्युगिनी में तथा विकसित शाखाएँ जावा में खायी जाती हैं (Blatter & d'Almeida, 160; Chittenden, III, 1366; Burkill, II, 1549).

ने. कार्डिफोलिया प्रेसल एक सीधा गुच्छेदार तार-जैसा फर्न है जिसके प्रकन्द कन्द्रीय और पर्णांग पत्र लम्बे पिच्छाकार होते हैं। यह भारतवर्ष में लगभग 1,500 मी. की ऊँचाई तक पाया जाता है। ताजे पर्णांग पत्रों का काढ़ा खाँसी में पिलाया जाता है (Quisumbing, 66).
Polypodiaceae; *N. biserrata* Schott syn. *N. acuta* Presl;
N. cordifolia Presl

नेरौडिया हुकर पुत्र (प्रेमिनी) NEYRAUDIA Hook. f.

ले.-नेरौडिया

Fl. Br. Ind., VII, 305; Fl. Assam, V, 114; Bor, *Indian For. Rec.*, N.S., Bot., 1941, 2 (1), 155, Pl. 40 & 41.

यह ऊँची बहुवर्षी घासों का अत्यन्त छोटा-सा वंश है जो उष्णकटि-बंधीय तथा शीतोष्ण एशिया, अफ्रीका और मैलागोसी (मैडागास्कर) में पाया जाता है। भारत में इसकी दो जातियाँ पाई जाती हैं।

ने. अरुण्डीनेसिया (लिनिअस) हेनरी सिन. ने. मैडागास्केरिएन्सिस हुकर पुत्र (उत्तर प्रदेश - विछुर, बंसी, नालन्दा) एक ऊँची बहुवर्षी पत्तीदार घास है जो पंजाब, उष्णकटिबंधीय हिमालय में 1,500 मी. तक, असम की पहाड़ियों, उत्तरी बंगाल, बिहार और केरल में 1,800 मी. ऊँचाई तक पाई जाती है। कल्में 2.5 मी. लम्बी, चिकनी; पुष्पगुच्छ 30-90 सेंमी. लम्बे; स्पाइकिकाएँ पादव संपीडित, हल्की भूरी तथा बीज रेखीय लम्बोत्तरे होते हैं।

फ्रैगमाइड के सदृश यह एक सुन्दर घास है, जो चारे के उपयुक्त नहीं है, परन्तु इनके ताजे विकसित प्ररोहों को जानवर खाते हैं (Burkill, II, 2186).

ने. रेनौडियाना (क्यू) केंग एक्स हिचकाक सिन. ने. मैडागास्के-रिएन्सिस हुकर पुत्र बर. जॉलिगेरी हुकर पुत्र एक सम्वद्ध जाति है जिसमें रुपहले जैतूनी धूसर रंग के पुष्पगुच्छ होते हैं। यह बागों में उगायी जाती है।

Gramineae; *N. arundinacea* (Linn.) Henr.; *N. madagascariensis* Hook. f.; *Phragmites*; *N. reynaudiana* (Kunth.) Keng ex Hitchcock

नेवले (वर्ग — मैमेलिया, गण — कार्निवोरा, उपगण — एल्यू-रायडिया, कुल — विवेराइडी, उपकुल — हर्पेस्टिनी) MONGOOSES

Fn. Br. Ind., Mammalia, II, 1941, 1-61.

नेवले छोटे आकार के मांसभक्षी प्राणी हैं जो मिट्टी में बिल बनाकर रहते हैं और अन्य जीवों को मारकर खाने की आदत के लिए प्रसिद्ध हैं। इनके विशिष्ट लक्षण इस प्रकार हैं: लुकीला शूथनदार चौड़ा सिर, छोटे गोल कान, लम्बा शरीर, छोटी टांगें और लम्बी गुच्छेदार दुम, तथा शरीर पर खुरदुरे भूरे बाल। ये चुस्त, चौकसे और प्रायः निडर होते हैं। ये छोटे स्तनियों, पक्षियों एवं उनके अण्डों, साँप, चूहे, मेंढकों और कीटों को खाते हैं, तथा कभी-कभी पौधों की जड़ों और फलों को भी खा जाते हैं। ये दक्षिण-पश्चिम यूरोप, अफ्रीका और दक्षिण एशिया में पाये जाते हैं। भारत में इनकी छः जातियाँ पाई जाती हैं जो हर्पेस्टिस इलजर के अंतर्गत आती हैं।

भारत का धूसर नेवला (हर्पेस्टिस एडवर्डजाइ जियाफाय) समस्त भारत में पाया जाता है। यह खुली जमीन तथा झाड़ीदार जंगलों में रहता है। यह कभी-कभी कस्बों और गाँवों में भी देखा गया है जहाँ यह घरों की छतों और खपरैलों में रहता है या नालियों में छिप जाया करता है। इसकी खाल का रंग विशिष्टतः अधिक कालापन लिये हुये धूसर होता है। पीठ के कटुर बाल कुछ कड़े और लम्बे होते हैं जिनमें एक के बाद एक गहरी और हल्के रंग की पट्टियाँ-सी बनी होती हैं जिनके कारण खाल चित्तीदार दिखाई देती है। नेवले की तीन उपजातियाँ जात हैं।

(1) ह. ए. न्यूला हाजसन (हिं. — नेवला, न्यूल, नेउर, नेउरा, न्यूला; बं. — नेउल, वेजी; गु. — नरुलिया) नेपाल से लेकर असम और कच्छ से लेकर बंगाल तक कम ऊँचाई वाले भागों में पाया जाता है। यह घरों के आसपास अधिक होता है; (2) ह. ए. फेरिजिनियस ब्लनफोर्ड उत्तर-पश्चिमी भारत और विशेषतया राजस्थान के रेगिस्तानी इलाकों में पाया जाता है; यह ह. ए. न्यूला से भिन्न थोड़े हल्के पीले रंग का होता है; इसके शरीर पर बनी हुई चित्तियाँ लाल अथवा गहरे गेरु रंग की होती हैं और कभी-कभी पूरी तरह लाल नमूने भी मिल जाते हैं; तथा (3) ह. ए. एडवर्डजाइ जियाफाय (म. — मंगूस; ते. — येंतावा, मुंगिसा; त. एवं मल. — कीरी; क. — मुंगसी, मुंगिली; कुर्ग — करा हुंकरा; गोंड — कोरल) प्रायद्वीपीय भारत में नर्मदा के दक्षिण रत्नगिरि में ब्रावणकोर और मधुराइ तक तथा पूर्वी घाट में 1,370 मी. की ऊँचाई तक पाया जाता है। यह ह. ए. न्यूला से अधिक गहरे रंग का होता है और इस तरह उससे पृथक् पहचाना जा सकता है। इसमें काली पट्टियाँ मटियाली-सफ़ेद पट्टियों से ज्यादा विस्तृत होती हैं।

गुलाबी नेवले (हर्पेस्टिस स्मियाई ग्रे) की भारत में केवल एक ही उपजाति है। स्मि. स्मियाई ग्रे (ते. — कोंडा येंतावा; त. — इर्म-कीरी पिलै) पाई जाती है। यह नेवला राजस्थान से चलकर पूर्व में बंगाल तक और दक्षिण में पूर्वी और पश्चिमी घाट तक पाया जाता है। यह भारतीय धूसर नेवले का निकट सम्बंधी है, लेकिन उससे अपेक्षाकृत ज्यादा बड़े आकार का होता है। यह उससे दो और बातों में भी भिन्न होता है, एक तो इसकी दुम का सिरा काला होता है और दूसरे शरीर के रंग में ललाई की प्रवृत्ति अधिक होती है।

छोटा भारतीय नेवला [(हर्पेस्टिस औरोपंकटेडस) हाजसन = ह. जावानिकस (जियाफाय)] विलों में रहता और वहीं बच्चे देता है। साँपों के मारने में इसका विशेष महत्व है। यह छोटे आकार का होता है। इसकी दुम की लम्बाई सिर और शरीर की संयुक्त लम्बाई से कम होती है। खाल पर बने हुए बाल प्रायः रेशम-जैसे होते हैं। इसका रंग बदलता रहता है लेकिन उसमें सदैव ही चित्तियाँ रहती हैं। शरीर के बालों पर नियमित पाँच छल्ले बने होते हैं। इस नेवले की दो उपजातियाँ पाई जाती हैं। ह. औ. औरोपंकटेडस (हाजसन) (कश्मीर-नूल) जो उत्तर भारत में कश्मीर से भूटान तक, बंगाल, मणिपुर तथा असम में और बिहार में गंगा के दक्षिण में चिल्का झील तक पाई जाती है, तथा ह. औ. पैलिपीस विलथ उत्तर-पश्चिमी भारत के मरुस्थलों में पाई जाती है।

भारत का भूरे नेवले (हर्पेस्टिस फस्कस वाटरहाउस) की भारत में केवल एक ही उपजाति है। फ. फस्कस वाटरहाउस (कुर्ग-सैंदाली-करा) पाई जाती है। यह दक्षिणी भारत के पहाड़ी जंगलों में 900-1,800 मी. तक की ऊँचाई पर पाई जाती है और उस पर मटियाले तथा मटियालापन लिये हुये धूसर रंग की चित्तियाँ बनी होती हैं।

धारीदार गर्दन वाला नेवला (हर्पेस्टिस विटिकोलिस वेनेट) एशियाई क्षेत्रों का सबसे बड़ा प्राप्य नेवला है। इसकी सरल पहचान एक काली धारी है जो गर्दन के अगल-बगल कान के पीछे से लेकर कंधों तक चलती है। यह नियमतः जंगल में रहता है, लेकिन कभी-कभी अपने शिकार की तलाश में धान के खेतों तक में पहुँच जाता है। यह अपनी गुदा-ग्रंथियों से एक तेज कस्तूरी-जैसी गन्ध वाला स्राव निकालता है जिसकी गन्ध से इसके शत्रु घृणा के कारण पास नहीं फटकते। धारीदार गर्दन वाले नेवले की भारत में दो उपजातियाँ पाई जाती हैं: ह. वि. विटिकोलिस वेनेट (त. — मलम कीरी; कुर्ग — क्वोकी बालू, कटि-करा) पश्चिमी घाट में तथा कुर्ग से ब्रावणकोर तक 1,800 मी. की ऊँचाई तक पहाड़ी क्षेत्रों में पाई जाती है; दूसरी उपजाति ह. वि. इनान्टेस पोकाक उत्तरी कनारा में 4,800 मी. की ऊँचाई तक पाई जाती है।

केंकड़ा-भक्षी नेवला (हर्पेस्टिस उर्वा हाजसन) असम में 1,980 मी. की ऊँचाई तक पाया जाता है। बताया जाता है कि यह सूराखों और बड़ी दरारों में रहता है, लेकिन अन्य जातियों की अपेक्षा यह जल में अधिक रहता है और केंकड़ों, मछलियों तथा घोंघों को खाता है। गर्दन पर बनी धारी वाले नेवले की तरह यह भी अपने शत्रुओं को दूर रखने के लिए अपनी गुदा-ग्रंथियों से स्राव निकालता है [Sterndale, 109-14; Regan, 759-61; Pycraft, 872-73; Ellerman & Morrison-Scott, 279-98; Pocock, *J. Bombay nat. Hist. Soc.*, 1935-36, 38, (suppl.), 207; 1936-37, 39, 211; Prater, 74-77]।

नेवलों को साँपों के मारने में विशेष रूप से काम में लाया जा सकता है। ये सरीसृपों के न केवल अण्डे-बच्चों को ही नष्ट कर डालते हैं बल्कि विपले वयस्क साँपों को भी मार डालते हैं। ये चूहों, बिच्छुओं, कनखजूरों तथा अन्य पीड़क-जन्तुओं के मारने में भी उपयोगी हैं। लिखित प्रमाण मिलता है कि 1872 में कलकत्ता से जमैका को छोटे भारतीय नेवलों का एक दस्ता भेजा गया था ताकि वहाँ पर गन्ने की फसल को भारी नुकसान पहुँचाने वाले चूहों और साँपों को समाप्त किया जा सके। जमैका में नाशक-प्राणियों के नियन्त्रण में जो सफलता मिली उसे देखकर बाद में समीपवर्ती द्वीपों में भी यह नेवला लाया गया। आम धारणा है कि नेवले पर साँप के विष का असर नहीं होता लेकिन यह धारणा गलत है। यह अपनी फुर्ती के कारण साँप के विषदंत से बचता और

स्वयं साँप की गर्दन के ऊपरी हिस्से पर अपने दाँत गड़ाने का यत्न करता है। इतना ही नहीं, जब नेबला उत्तेजित होता है तो अपने लम्बे कड़े वालों को खड़ा कर लेता है और इस तरह साँप के लिए इन वालों में नेबले की मोटी खाल में अपने विपरीत चुभाना कठिन हो जाता है। अगर कम आयु में ही पकड़ लिया जाये तो नेबले को पालतू बनाया जा सकता है।

पीड़क-जंतुओं को मारने में नेबला बहुत उपयोगी है लेकिन कभी-कभी यह अपनी मौज में आकर मुँगे-मुंगियों पर भी हाथ साफ कर देता है। पालतू नेबले तक कभी-कभी इस अनियन्त्रित प्रहार करने के लालच से नहीं बच पाते (Prater, 69-73).

Mammalia; Carnivora; Aeluroidea; Viverridae, Herpestinae; Herpestes edwardsi Geoffroy; *H. e. nyula* Hodgson; *H. smithi* Gray; *H. auropunctatus* Hodgson; *H. javanicus* (Geoffroy); *H. a. auropunctatus*; *H. a. pallipes* Blyth; *H. fuscus* Waterhouse; *H. vitticollis* Bennett; *Herpestes urva* Hodgson

***नेसिया कामरसन एक्स जुस्यू (लियूसे) NESAEA**
Comm. ex Juss.

ले. — नेसेआ

यह एकवर्षी अथवा बहुवर्षी वृक्षों, अधो-झाड़ियों या झाड़ियों का वंश है जो उत्तरी तथा दक्षिणी अमेरिका, अफ्रीका, मैलागोसी (मेडागास्कर) भारत तथा ऑस्ट्रेलिया में पाया जाता है। भारत में इनकी 4 या 5 जातियों की सूचना प्राप्त है जिनमें से तीन प्रविष्ट की गई हैं और वगीचों में उगाई जाती हैं।

Lythraceae

ने. सैलिसिफोलिया हम्बोल्ट, वोनप्लांड और कुंथ = हीमिया
सैलिसिफोलिया लिंक N. salicifolia H. B. & K.

ले. — ने. सैलिसिफोलिया
Chittenden, II, 969.

यह सीधी, बहुशाखित, 0.6-1.8 मी. ऊँची झाड़ी है जो मैक्सिको में अज़ेन्टाइना तक की मूलवासी है तथा दार्जिलिंग के लायड वानस्पतिक उद्यान में उगायी जाती है। पत्तियाँ रेखीय भालाकार से भालाकार; पुष्प एकल, पीले और कक्षीय; फल गोलाकार या दीर्घवृत्तीय मम्पुट जिनमें छोटे-छोटे बीज होते हैं।

पौधे की पत्तियों में एक तिक्त पदार्थ, नेसिन, की उपस्थिति बतायी गयी है। ये ऐल्कलायड तथा मुक्त ट्राइटर्पिन का निद्वयात्मक परीक्षण देते हैं। पत्तियाँ वमनकारी, ज्वरनाशक, मूत्रवर्धक, भुदुविरेचक, पाँचक, मिफनिसरोधी, स्वेदक एवं स्तम्भक ममझी जाती हैं। पौधे के काड़े को पीने में हल्का नशा आता है जिसमें स्मृतिबोध तथा पीत दृष्टि हो जाती है (Wehmer, *Aust.*, No. 268, 1952, 59; Simes *et al.*, *ibid.*, No. 281, 1959, 16; Hocking, 103; Uphof, 182).

Heimia salicifolia Link

*हीमिया लिंक और प्रार्टों वंश को पुनर्मान्य करके उनमें नेसिया वंश की कुछ जातियों को भी सम्मिलित किया जाता है।

***नेल्सोनिया आर. ब्राउन (अकैन्थेसी) NELSONIA R. Br.**
ले. — नेल्सोनिया

यह एकल प्ररूपी वंश है जिसका प्रतिनिधि ने. कैंनेसेन्स है और जो अफ्रीका, एशिया तथा ऑस्ट्रेलिया में पाया जाता है। उष्णकटिबंधीय अमेरिका में इसे बाहर से लाकर लगाया गया है।

Acanthaceae

ने. कैंनेसेन्स (लामार्क) स्प्रेगेल सिन. ने. कैम्पेस्ट्रिस आर.
ब्राउन N. canescens (Lam.) Spreng.

ले. — ने. कानेसेन्स

Fl. Br. Ind., IV, 394; Bremekamp, *Reinwardtia*, 1954-56, 3, 248.

यह उष्णप्र भूभायी दीर्घ रोमिल प्रकन्दीय वृष्टी है जो पश्चिमी मरुस्थली प्रदेशों, हिमालय श्रेणियों में 1,200 मी. की ऊँचाई तक के भागों को छोड़कर शेष भारत में सर्वत्र पाई जाती है। इसकी पत्तियाँ दीर्घवृत्तीय-आयतरूप; नीचे वाली पत्तियाँ पर्णवृत्तीय, बहुत बड़ी-बड़ी; ऊपरी पत्तियाँ छोटी होती हैं। यह अर्धवृत्तीय या उप-अर्धवृत्तीय होती है। फूल नील-लोहित या सफ़ेद तथा अण्डाकार या बेलनाकार स्पाइकों में; फल अण्डाभ-शंकवाकार संपुटी जिसमें 8-12 बीज होते हैं।

इस पौधे का स्वाद आम्ल होता है और इसका उपयोग नमक के रूप में किया गया है। पश्चिमी अफ्रीका में यह वकरियों और भेड़ों के चारे के रूप में काम आता है। घाना (गोल्ड कोस्ट) में इस पौधे का रस आँखों में निचोड़ कर ज्वर दूर किया जाता है (Dalziel, 452).
N. campestris R. Br.

नेटसियाटम बुखनन-हैमिल्टन (इकैसिनेसी) NATSIATUM
Buch.-Ham.

ले. — नाटसीआटम
Fl. Br. Ind., I, 595.

यह आरोही झाड़ियों का एकल प्ररूपी वंश है जो हिमालय में नेपाल से असम तक तथा ब्रह्मा तक पाया जाता है।

नै. हरपेटिकम बुखनन-हैमिल्टन (मिरी-टारगेट-रियूवे; लेपचा - संगूरिक) हिमालय में नेपाल से सिक्किम, उत्तरी बंगाल, बिहार, असम और खासी पहाड़ियों पर 900 मी. की ऊँचाई तक तथा मुद्गर दक्षिण में उड़ीसा एवं उत्तरी सरकारों तक पाया जाता है। इसकी जड़ें कंदिल; तना प्रायः सफ़ेद; पत्तियाँ परतदार, हृदयाकार, अण्डाकार; फूल असीमाक्षों में एकलिगाथ्रयी; फल अण्डाकार गुठलीदार होते हैं। इसकी पत्तियाँ और कोमल प्ररोह पकाकर तरकारी की तरह, विशेषतया मछली के साथ, खाये जाते हैं (Fl. Assam, I, 253).
Isacinaeae; N. herpeticum Buch.-Ham.

नैटसिड - देखिए मोलस्क

नैनडाइना थनवर्ग (वॉरिडेसी) NANDINA Thunb.

ले. — नानडिना

*श्रेमेकैम्प इस वंश की ह्योफैलेरियेमी कुल के अन्तर्गत मानता है (*Reinwardtia*, 1954-56, 3, 157).

यह एकल प्ररूपी वंश है जिसका प्रतिनिधित्व नै. डोमेस्टिका द्वारा किया जाता है जो चीन तथा जापान का मूलवासी है और भारत में प्रविष्ट किया गया है. यह उद्यानों में उगाया जाता है.

Berberidaceae

नै. डोमेस्टिका थनबर्ग *N. domestica* Thunb.

ले. — ना. डोमेस्टिका

Chittenden, III, 1345; Steward, 124, Fig. 115.

यह एक सुन्दर सदावहार झाड़ी है, जिसकी ऊँचाई लगभग 0.9–2.4 मी., पत्तियाँ द्वि-अथवा त्रि-पिच्छिकी तथा पर्णक संकीर्ण भालाकार; पुष्प बहुसंख्यक, श्वेत, अग्रस्थ पुष्पगुच्छों के रूप में; फल बेरी, द्वि-बीजी, लाल या जामुनी तथा कभी-कभी श्वेत रंग के होते हैं.

नै. डोमेस्टिका वृत्त के समान बहुसंख्यक तनों के कारण देखने में वाँस के समान होता है और उद्यानों में अपने मनोहर पर्णसमूहों के कारण लगाया जाता है. इसे गमलों में भी लगाकर भीतरी सजावट के लिए काम में लाया जा सकता है. पौधे को बीज, कलम अथवा अन्तःभुस्तारियों के विभाजन द्वारा प्रवर्धित किया जाता है. यह आंशिक छाया में मध्यम ऊँचाई वाले स्थानों में भली-भाँति बढ़ता है. इसकी पकी लकड़ी पर्याप्त तृण सह सकती है (*Gopalaswamiengar*, 298; *Bailey*, 1947, II, 2105).

चीन में नै. डोमेस्टिका की लकड़ी का उपयोग वृत्तों तथा चीनी काटों के बनाने के लिए किया जाता है. जापान में इसके फलों का उपयोग जनसाधारण की चिकित्सा के लिए किया जाता है. पौधे के विभिन्न भागों के आसवन से ऐसीटोन तथा हाइड्रोसायनिक अम्ल प्राप्त होते हैं. कोमल पत्तियों से अपचित अवस्था में ऐल्काविक अम्ल (लगभग 10 मिग्रा./100 ग्रा.) प्राप्त होता है. इसके फलों, बीजों, जड़ों तथा तने की छाल में ऐल्कलायड पाये जाते हैं (बीजों में ऐल्कलायड की कुल मात्रा, लगभग 0.7%). आइसो-विनोलीन समूह के अन्तर्गत निम्नलिखित ऐल्कलायड पृथक् किये गये हैं: नैण्डिनीन ($C_{19}H_{19}O_4N$; ग. बि., 145–46°) तथा इसके समावयवी, डोमेस्टिसीन (ग. बि., 115–17°) तथा आइसोडोमेस्टिसीन; नाण्टेनीन (डोमेस्टिसीन मेथिल ईथर $C_{20}H_{21}O_4N$; ग. बि., 138.5°); नैण्डाजुरीन ($C_{29}H_{18}O_6N_2$), प्रोटोपाइन, बरबेरीन तथा जैटोराइजीन. अपरिष्कृत नैण्डेनीन जो प्रथम तीन ऐल्कलायडों का मिश्रण है आक्षेप विष है, तथा इसका प्रभाव लगभग डाइसेण्ट्रीन के समान होता है. नाण्टेनीन केन्द्रीय स्नायविक निकाय को प्रभावित करता है, जिससे प्रतिवर्त प्रतिक्रिया में वृद्धि होती है, हृदय मांसपेशियों में त्रैडिकार्डिया उत्पन्न हो जाता है, जिसके कारण हृदय क्षीण हो जाता है और रक्तचाप घट जाता है (*Neal*, 306; *U.S.D.*, 1947, 1529; *Chem. Abstr.*, 1944, 38, 3690; 1951, 45, 8087, 8208; 1950, 44, 4202; *Manske & Holmes*, IV, 86, 109, 128; *Henry*, 315–16, 329, 343).

इसके बीजों से (लगभग 9.4%) वसीय तेल प्राप्त होता है, जिसके स्थिरांक इस प्रकार हैं: आ. घ. 15° , 0.9355; n_D^{20} , 1.4742; अम्ल मान, 21.6; साबु. मान, 181.8; आयो. मान, 132.1; तथा असाबु. पदार्थ, 4.56%. इनसे निम्नलिखित वसा-अम्ल भी प्राप्त होते हैं; संतृप्त (पामिटिक तथा स्टीऐरिक), 32.3%; तथा असंतृप्त (लिनोलीक, और ओलीक तथा लिनोलेनिक की अल्प मात्रा), 67.7%. बीजों में फ्यूमेरिक अम्ल भी पाया जाता है (*Chem. Abstr.*, 1954, 48, 9717; 1952, 46, 1782; 1959, 53, 8542).

नैनोराप्स एच. वेण्डलैंड (पामी) *NANNORRHOPS* H. Wendl.

ले. — नात्रोरहाप्स

D.E.P., V, 317; C.P., 776; Fl. Br. Ind., VI, 429; Blatter, 81, Pl. 21 & 22.

यह पश्चिमी पाकिस्तान से फारस की खाड़ी तक फैले हुये झाड़ीदार भूस्तारीय ताड़ वृक्षों का लघु वंश है. उत्तरी भारत के उद्यानों में बहुधा एक जाति उपजायी जाती है.

नै. रिचीयाना एच. वेण्डलैंड (मजारी पाम) एक छोटा झाड़ीदार ताड़ है, जिसकी पंखे जैसी आकृति वाली पत्तियाँ गुच्छों के रूप में भूमिगत शाखित प्रकन्दों से उत्पन्न होती हैं. कभी-कभी इसके ऊर्ध्व तनों की ऊँचाई 7 मी. तक जाती है. इसके स्पेडिक्स बहुशाखित; फल एक-बीजी, गोलाकार; बीज कड़ा, गोलाकार अथवा अण्डाभ, 9–16 मिमी. व्यास का, गहरे भूरे रंग का तथा कहीं-कहीं सुरिदार होता है. यह ताड़ प्राकृतिक अवस्था में शुष्क पथरीली भूमि में यूथों में बढ़ता है. इसे बीज अथवा भूस्तारियों द्वारा प्रवर्धित किया जा सकता है (*Beccari & Martelli*, *Ann. R. bot. Gdn Calcutta*, 1931, 13, 35; *Troup*, III, 973–74).

इस ताड़ की पत्तियों का उपयोग चटाइयों, टोकरियों तथा पंखे बनाने में किया जाता है. इससे मटमले रंग का अपरिष्कृत, रक्त रेशा प्राप्त होता है, जो काफी मजबूत परन्तु भंगुर होता है. रेशों के विश्लेषण से निम्नलिखित मान प्राप्त हुए हैं: आर्द्रता, 10.3; राख, 2.0; α -जल-अपघटन हानि, 14.2; β -जल-अपघटन हानि, 20.7; अम्ल परिशोधन हानि, 3.8; सेलुलोज, 65.2%. इन रेशों का स्थानीय उपयोग रस्सी तथा मजबूत रस्से बनाने के लिए किया जाता है (*Bull. imp. Inst., Lond.*, 1906, 4, 251).

पत्तियों की कोमल कोपलों, पुष्पक्रमों तथा फलों का उपयोग खाद्य पदार्थ के रूप में किया जाता है. कोमल पत्तियाँ पशुचिकित्सा में रेचक के रूप में काम आती हैं. गुलाब की मालाओं के बीच में इसके बीज पोये जाते हैं (*Beccari & Martelli*, loc. cit.: *Kirt. & Basu*, IV, 2567).

Palmae; *N. ritchieana* H. Wendl.

नैपेलस, इण्डियन — देखिए ऐकोनाइटम

नैफैलियम लिनिअस (कम्पोजिटो) *GNAPHALIUM* Linn.

ले. — ग्नाफालिऊम

यह श्वेत रोमिल वृष्टियों का एक वंश है जो समस्त संसार में पाया जाता है. इसकी लगभग 9 जातियाँ भारत में पाई जाती हैं.

Compositae

नै. ल्यूटिओ-एल्बम लिनिअस *G. luteo-album* Linn.

जर्सी कडवीड

ले.—ग्ना. ल्यूटिओ-एल्बम

D.E.P., III, 517; Fl. Br. Ind., III, 228.

पंजव — वाल रक्षा.

यह परिवर्तनशील, प्रायः लोमग, 10–45 सेंमी. ऊँचा, एकवर्षी है जो समस्त भारत में तथा हिमालय पर्वत पर 3,000 मी. की ऊँचाई

तक पाया जाता है। शाखाएँ गुच्छ रूपी, सीधी अथवा उच्चाग्र भूशायी; पत्तियाँ एकान्तर, अवृत्त, दोनों ओर लोमश; निचनी पत्तियाँ दीर्घायत-स्पृन्धुवाकार और ऊपरी भालाकार; पुष्प-शीर्ष सुनहरे पीले या हल्के भूरे रंग के घने कोरिम्बोज गुच्छों में; तथा ऐकीन दीर्घायत, पैपिलामय होते हैं। पंजाब में इसकी पत्तियों का उपयोग कपाय तथा व्रणरोप की तरह किया जाता है। घनरोम गठिया में उत्तेजना-निरोधक के रूप में तथा शीघ्र-दाह्य पदार्थ के रूप में भी प्रयुक्त किया जाता है। यह पौधा ऐल्कलायडो का क्षीण परीक्षण देता है (Kirt. & Basu, II, 1350; Webb, *Bull. sci. industr. Res. Org., Melbourne*, No. 268, 1952, 34).

नै. इंडिकम निनिथस पतला अपतृण है जिस पर श्वेत लोम रहते हैं। यह भारत के अधिकांश मैदानी भागों में पाया जाता है। बताया जाता है कि बिहार में इसकी पत्तियाँ शाक-भाजी की तरह खाई जाती हैं (Bressers, 81).

G. indicum Linn.

नैफाइड — देखिए जेड

नोटोनिया द कन्दोल (कम्पोजिटो) NOTONIA DC.

ले. — नोटोनिया

यह वृक्षों अथवा छोटी झाड़ियों का एक छोटा वंश है जो अफ्रीका और एशिया के उष्णकटिबंधीय भागों में पाया जाता है। भारत में इसकी चार जातियाँ मिलती हैं।

Compositae



चित्र 154 — नोटोनिया ग्रैंडिफ्लोरा — पुष्पित

नो. ग्रैंडिफ्लोरा द कन्दोल *N. grandiflora* DC.

ले. — नो. ग्रैंडिफ्लोरा

D.E.P., V, 430; Fl. Br. Ind., III, 337.

म. — वाण्डर-रोटी; ते. — कुण्डलसेवियाकु; त. — मोसाकु तालै; वम्बई — गैदर.

यह एक रसीला, बहुवर्षी, 0.6–1.5 मी. तक का ऊँचा अर्ध-झाड़ीदार पौधा है, जो कोंकण, पश्चिमी घाटों, डेकन तथा दक्षिणी भारत की पहाड़ियों पर 1,500 मी. तक की ऊँचाई तक पाया जाता है। इसकी पत्तियाँ अवृत्त अथवा छोटे वृत्तों वाली, अण्डाकार दीर्घ-वृत्तीय भालाकार अथवा अर्धगोलाकार, अत्यन्त गूदेदार; फूल रंग में हल्के पीले तथा समशिली पुष्पक्रमों में होते हैं।

इस पौधे में हल्के विरेचक गुण भी बताये जाते हैं। इसका उपयोग मुहांसों के इलाज में किया जाता है। यह जल-संचास की औषध माना जाता था किन्तु अभी तक इसकी प्रभावोत्पादकता प्रमाणित नहीं हो पाई (Kirt. & Basu, II, 2407–08; Burkill, II, 1563).

नोथोपेजिया ब्लूम (ऐनाकार्डिएसी) NOTHOPEGIA Blume

ले. — नोथोपेजिया

D.E.P., V, 430; Fl. Br. Ind., II, 39.

यह वृक्षों का छोटा वंश है जो भारत, श्रीलंका तथा बोर्नियो में पाया जाता है। भारत में इसकी 6 जातियाँ पाई जाती हैं। नो. कोलेब्रुकियाना ब्लूम (म. — सोनेमाऊ; क. — अम्बट्टी, उडुगोरा; वम्बई — अम्बेरी) लगभग 4.5 मी. ऊँचा तिरक्त वृक्षीय रसयुक्त छोटा वृक्ष है। यह दक्षिणी प्रायद्वीप की पहाड़ियों में 1,500 मी. की ऊँचाई तक सदाहरित वनों में पाया जाता है। इसकी छाल भूरी और शल्की; पत्तियाँ दीर्घवृत्तीय-दीर्घायत; फूल छोटे, श्वेत, असीमाक्षों में, अष्टिफल लट्टू के आकार के नील-लोहित तथा लगभग 2.5 सेंमी. व्यास के होते हैं।

वृक्ष से अच्छी किस्म की लकड़ी मिलती है जो गुलाबी-पीली, चिकनी, चमकदार, कठोर, मजबूत और भारी (भार, 993–1,057 किग्रा./घमी.) होती है। कहा जाता है कि इसे श्रीलंका में खम्भों, टेकों तथा पाड़ बनाने के लिए काम में लाते हैं। फल खाद्य है। इसकी छाल से निकलने वाला पीला रस सूखने पर स्थायी काला पड़ जाता है अतः अदृश्य स्याही के रूप में इस्तेमाल किया गया बताया जाता है (Talbot, I, 361; Gamble, 222; Lewis, 128).

Anacardiaceae; N. colebrookiana Blume

नोथोलेना ग्रार. ब्राउन (पॉलिपोडिएसी) NOTHOLAENA R. Br.

ले. — नोथोलेना

Chittenden, III, 1380.

यह शानदार, बीने फलों का वंश है जो संसार के शीतोष्ण क्षेत्रों में पाया जाता है। भारत में इसकी 3 जातियाँ मिलती हैं। इसकी कई विदेशी जातियाँ यहाँ उद्यानों में उगाई जाती हैं।

* यह जाति छव चार विभिन्न जातियों में विभाजित कर दी गई है, किन्तु इन चारों जातियों के व्यावसायिक उपयोगों में अन्तर नहीं बताया गया है।

नौ. एक्लोनिग्राना कुंजो दक्षिणी अफ्रीका का मूलवासी, 2 या 3 दीर्घ पिच्छाकार पत्तों वाला अत्यन्त सुन्दर बौना फर्न है। इसे भारतीय उद्यानों में उगाया जाता है। दक्षिणी अफ्रीका के सुटो लोग छाती और सिर में ठंड लग जाने पर इसकी पत्तियों का धूस्रपान करते हैं (Firminger, 261; Watt & Breyer-Brandwijk, 1087).
Polypodiaceae; N. eckloniana Kuntze

नोथोसेरवा वाइट (अमेरेन्येसी) NOTHOSAERVA Wight

ले. — नोथोसेरवा

D.E.P., V, 430; Fl. Br. Ind., IV, 726.

यह एकवर्षी वृष्टियों का एकल रूपी वंश है जो अफ्रीका और एशिया के उष्णकटिबंधीय भागों में पाया जाता है।

नौ. ब्रेकिफ्टा वाइट (राजस्थान — धौला फिनडावरी) एक सीधा, 30-60 सेंमी. तक की ऊँचाई तक बढ़ने वाला, एकवर्षी पौधा है जो भारत के मैदानी क्षेत्रों में पाया जाता है। इसकी शाखाएँ अल्प-रोमिल फली; पत्तियाँ सिल्लीमय, अण्डाकार, कुंठित, अथवा हल्की नोकदार; फूल श्वेत, अतिसूक्ष्म तथा घनी कक्षीय स्पाइकों में; फल अति लघु, दीर्घायत और चपटे तथा बीज काले-भूरे और चमकीले होते हैं। मेरवाड़ा में इस पौधे की तरकारी बनाई जाती है।

Amaranthaceae; N. brachiata Wight

नोपेलिया — देखिए ओपेंशिया

नोल-कोल — देखिए ब्रैसिका

नोल्टिया राइखनवाख (रैमनेसी) NOLTEA Reichb.

ले. — नालटेआ

Chittenden, III, 1375.

यह एकल प्ररूपी वंश है जिसकी एकमात्र जाति नौ. अफ्रिकाना दक्षिणी अफ्रीका की देशज है। इसे सर्वप्रथम नीलगिरि में प्रविष्ट किया गया जहाँ अब यह प्रायः जंगली रूप में उगती है। यह 3.0-3.6 मी. ऊँची एक सदाहरित झाड़ी है। इसकी पत्तियाँ दीर्घवृत्तीय; फूल सफ़ेद, पुष्पगुच्छों में; और फल गोलाकार होते हैं। इसे शोभाकारी पौधे के रूप में अथवा कभी-कभी बाड़ के लिए भी उगाया जाता है (Fl. Madras, 225; Bailey, 1947, II, 2148).

पौधे में साबुनी गुण होने के कारण अफ्रीका में इसकी पत्तियों और दहनियों को भिगोकर धुलाई के काम में लाया जाता है। पत्तियों अथवा जड़ों का काढ़ा रोग-निरोधक और रोगोपचार में प्रयोग किया जाता है (Bailey, 1947, II, 2148; Watt & Breyer-Brandwijk, 883).

Rhamnaceae; N. africana Reichb.

नौविलया लिनियस (रुबिएसी) NAUCLEA Linn.

ले. — नाउक्लेआ

यह वृक्षों तथा झाड़ियों का वंश है जो अफ्रीका, भारत, मलेशिया क्षेत्र, चीन, जापान, ऑस्ट्रेलिया और पोलिनेसिया में पाया जाता है। इसकी तीन जातियाँ भारत में पाई जाती हैं।

Rubiaceae

नौ. ओरिएण्टलिस लिनियस सिन. साकोसेफैलस कार्डेंटस
मिक्वेले *N. orientalis* Linn.

ले. — ना. ओरिएण्टलिस

D.E.P., VI (2), 476; Fl. Br. Ind., III, 22; Benthall, 276.

यह मँझोले आकार का शोभाकारी वृक्ष है जो असम की कछार पहाड़ियों पर पाया जाता है। इसका छत्र झाड़ीनुमा तथा तना 9 मी. तक लम्बा और 2 मी. तक गोल होता है। यह बागों में लगाया जाता है। इसकी छाल चिकनी एवं कुछ-कुछ धूसर; पत्तियाँ बड़ी, अण्डाकार या हृदयाकार; फूल गोलाकार शिखरयुक्त, छोटे, पीले या नारंगी रंग के सुगन्धयुक्त; फल संग्रथित, गोलाकार, गूदेदार, 1.5-2.5 सेंमी. व्यास के; बीज छोटे और ऐल्बुमिनयुक्त होते हैं।

इस वृक्ष से हल्के नारंगी रंग की लकड़ी मिलती है जिसका रंग वृक्ष की आयु के साथ फीका पड़ता जाता है। लकड़ी मोम की तरह चिकनी, सीधे दानेदार, मध्यम स्थूल और समगठन वाली मुलायम तथा हल्की (आ. घ., 0.55; भार, 609 किग्रा./घ.मी.) होती है। सिंभाते समय यह उपड़ती तो नहीं किन्तु धक्के पड़ सकते हैं। लकड़ी को काटकर गिराने के तुरन्त बाद उसके पट्टे बनाकर हवादार सायबानों के नीचे चटटे लगा देना चाहिये। यह लकड़ी टिकाऊ नहीं होती है फिर भी प्रतिरोधी या क्रुड आयल पोतने से अधिक दिनों तक बनी रह सकती है। इसे आसानी से चीरा जा सकता है और इसमें अच्छी सज्जा आती है। लकड़ी का उपयोग दरवाजों के चौखटों और सामान्य गृह-निर्माण, फर्नीचर, पैक करने के डिब्बों और कैबिनेट बनाने के लिए होता है। खराद के काम और नक्काशी के लिए भी यह उपयुक्त है। इण्डो-चीन में यह कागज की लुगदी के लिए भी उपयुक्त समझी जाती है (Pearson & Brown, II, 617-19; Lewis, 222; Rodger, 26; Desch, 1954, II, 504).

छाल, पत्तियाँ और लकड़ी में तिक्त पदार्थ पाये जाते हैं। छाल में कैनरी-पीत रंग का रंजक पदार्थ भी पाया जाता है लेकिन इसमें ऐल्कलायड नहीं होता। यह टानिक और ज्वरनाशी के रूप में प्रयुक्त होती है। इसका काढ़ा ज्वररोधी है। पत्तियाँ फोड़ों पर लगाई जाती हैं। छाल का उपयोग मत्स्य-विष के रूप में किया जाता है। फल खाद्य है। कहा जाता है कि श्रीलंका वासी इसे खाते भी हैं। कच्चे फलों में स्किओसोफा चिओनोसिआ मेरिक नामक इल्ली लगती है (Kirt. & Basu, II, 1250; Quisumbing, 920; Wehmer, II, 1167; Webb, *Bull. Coun. sci. industr. Res. Aust.*, No. 232, 1948, 141; Webb, *Bull. sci. industr. Res. Org. Aust.*, No. 268, 1952, 73; Lewis, 222; Mathur et al., *Indian For. Bull.*, N.S., No. 223, 1958, 63).

Sarcocephalus cordatus Miq.; *Scaeosopha chionoscia* Meyrick

नौ. सेसिलिफोलिया रॉक्सवर्ग सिन. ऐडीना सेसिलिफोलिया
हुकर पुत्र *N. sessilifolia* Roxb.

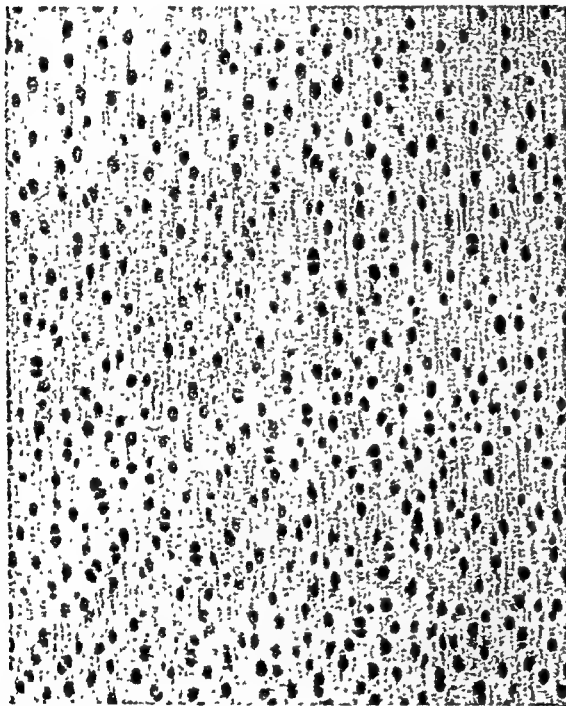
ले. — ना. सेसिलिफोलिया

D.E.P., I, 115; Fl. Br. Ind., III, 24.

यह असम में कछार में पाया जाने वाला मध्यम आकार का वृक्ष है जिसका तना सीधा और लम्बाई 9 मी. तथा घेरा 2 मी. तक होता है। इसकी छाल काली और अनुप्रस्थ रूप से विदरित; पत्तियाँ दीर्घवृत्तीय

आयतारूप या दीर्घायत या अण्डाकार; फूल सिरों पर रेशमी; तथा सम्पुटिकाएँ छोटी और फानाकार होती हैं।

इसके वृक्ष मुख्यतः पर्णपाती वनों में पाये जाते हैं। नदियों और नरिताओं के किनारे सपाट जलोढ़ भूमि पर इसका प्राकृतिक पुनरुत्पादन होता है। इसकी लकड़ी हल्के, पीले-भूरे रंग से लेकर फीके नारंगी रंग की होती है और इसमें गहरी धारियाँ होती हैं। लकड़ी बहुत कुछ चमकीली, चिकनी और गीजयुक्त होती है। सीधे से अन्तर्ग्रथित दानेदार मध्यम तथा समगठन वाली, प्रचुर मजबूत, कठोर तथा भारी होती है (आ. घ., 0.81; भार., 833 किग्रा./घमी.). यदि इसे हरित अवस्था में ही रूपान्तरित कर दिया जाए तो यह अच्छी सीझती है। संग्रहालय में रखे गये लकड़ी के नमूने चालीस वर्ष तक अच्छी अवस्था में रहे हैं। इमारती लकड़ी को चीरना आसान है लेकिन ऐडीना कार्डीफोलिया की तरह खरादने के लिए इसकी लकड़ी अच्छी नहीं होती। गृह-निर्माण



चित्र 155 — नीबिलया सेसिलिफोलिया—काष्ठ की अनुप्रस्थ काट ($\times 10$)

में इसका उपयोग तख्तों, लकड़ी के छोटे टुकड़ों और खम्भों के रूप में किया जाता है (Troup, II, 624; Pearson & Brown, II, 627-29).

छाल कपाय, टानिक और स्तम्भक समझी जाती है। यह पेट दर्द और ज्वर को कम करने के लिए काम में लाई जाती है। इसकी लकड़ी शोधक और टानिक समझी जाती है (Kirt. & Basu, II, 1255).

नी. मिसिओनिस वाइट और आर्नेट सिन. साकॉसेफैलस मिसिओनिस हैविलेण्ड (त. और मल. — अट्टू वञ्जि; क. — अनावु; वम्बई — फुगा) छोटे से लेकर मध्यम आकार का वृक्ष है। इसकी छाल चिकनी और गहरे रंग की; पत्तियाँ दीर्घवृत्तीय भालाकार; फूल पीले, सुगन्ध-युक्त तथा शिखर पर होते हैं। यह कोंकण से त्रावनकोर तक, विशेषतया नदियों और जलाशयों के किनारे-किनारे पाया जाता है। छाल का उपयोग चर्मरोग, आमवात और कब्जियत दूर करने में होता है। इससे पीली, साधारण रूप से कड़ी और हल्की लकड़ी मिलती है (भार., 545-93 किग्रा./घमी.). लकड़ी खुरदुरी और उल्टे रंगे वाली होती है (Kirt. & Basu, II, 1249; Bourdillon, 186-87).

Adina sessifolia Hook. f.; *Adina cordifolia*; *N. missionis* Wight & Arn.; *Sarcocephalus missionis* Haviland

न्यूराकन्थस नीस (अकैन्थेसी) NEURACANTHUS Nees

ले. — नेऊराकानथूस

यह वृष्टियों अथवा उपझाड़ियों का छोटा वृक्ष है जो अफ्रीका, मेसकरीन द्वीपसमूह, मैलागोसी (मेडागास्कर), अरब तथा भारत में पाया जाता है। भारत में इसकी चार जातियाँ मिलती हैं।

Acanthaceae

न्यू. स्फैरोस्टैकिअस डाल्जेल *N. sphaerostachyus* Dalz.

ले. — ने. स्फैरोस्टैकिअस

Fl. Br. Ind., IV, 491; Bole & Santapau, *J. Bombay nat. Hist. Soc.*, 1951-52, 50, 428, Pl. 1 & 2.

म. — गैथेरा, घोसवेल; गु. — गैथेरा.

यह 15-75 सेंमी. ऊँचा, द्विवर्षी अथवा बहुवर्षी है जिसकी पत्तियाँ उप-अवृत्तीय और फूल गहरे नीले रंग के गुच्छों में होते हैं। यह कोंकण, पश्चिमी घाट, डेकन तथा गुजरात के शुष्क पर्णपाती जंगलों में पाया जाता है।

पौधे की जड़ को चूर्ण करके लेई बनाई जाती है जो दाद के इलाज में प्रयोग की जाती है। यह अपच में भी प्रयुक्त होती है (Kirt. & Basu, III, 1883).

अनुक्रमणिका

अ	अनम (त.)	100	आमृत (पंजाब)	296
अंगारु (बं.)	अनातोडी (मल.)	209	आम्बल (त.)	389
अंगिलु (क.)	अनावु (क.)	406	आरम् (उ.)	25
अंगुडी (बंगाल)	अनासरिशा (बं.)	144	आरम्दारु (बिहार और उड़ीसा)	25
अंगुलि घास	अनुमुलु (ते.)	263	आरार (हिं.)	166
अंगोलम (त.)	अन्दर बोबी (हिं.)	179	आरिगा	139
अंडमान रक्तदारु	अन्दागन (त.)	296	आरिसिपिल्लु (त.)	275
अंडमान मार्बल वुड (व्यापार)	अपरंग (हिं.)	295	आर्गली (नेपाल)	317
अंसाले (बम्बई)	अपविपा (सं.)	308	आसर (बं.)	89
अकरूट (व्यापार)	अवनासि (क.)	237	आस्ट्रेलियन पी	263
अकलवीर (हिं.)	अभाल (हिं., डेकन)	166		
अकिल (मल.)	अभंगु (क.)	89		
अक्का सारली (क.)	अमदासी-आमसेल्लेगा (अमम)	329		
अक्किनिचिलम (त.)	अमरी (असम)	248	इंडियन गेम्बूज ट्री	19
अली (असम)	अमलोक (हिं.)	240	इंडियन जूनिपर	167
अबरोट (व्यापार)	अम्फु (असम)	145	इंडियन बटर ट्री	288
अबरोट:	अम्बट्टो (क.)	404	इंडियन बटरबीन	262
उपयोग	अम्बस्थ (बं.)	106	इंडियन विण्टरग्रीन	21
खोल	अम्बुज (सं.)	389	इंद्रायुध	193
तेल	अम्बरी (बम्बई)	404	इकार (ओटिया)	123
फल	अरनेल्ली (क.)	25	इटालियन जैसमिन	190
पत्तियाँ	अरली (त., मल.)	394	इटुल्ला (ते.)	114
लकड़ी	अरु (असम)	303	इन (ब्रह्मा)	285
प्रवर्धन	अरुनेल्ली (त.)	25	इन्दाई (म.)	115
व्यापार	अरेवियन जैसमिन	189	इबांस (हिं.)	230
संघटन	अर्क पुष्पिका (सं.)	144	इरागुडीमावु (क.)	270
अखीर (व्यापार)	अर्मलोचन (असम)	114	इरातिमधुरम (मन.)	110
अगई (हिं.)	अलगदई (सं.)	193	इरिमा (पंजाब)	347
अगरु (क.)	अलियार (हिं.)	317	इरी (ते.)	7
अगरुगंधमु (ते.)	अल्ला (हिं.)	155	इरुगुडु (ते.)	267
अगुनोवागिल (त.)	अल्लितमरा तेल्ला कलुवा (ते.)	386	इरुममुल्ले (त.)	188
अगरु (सं.)	अल्लितामरी (त.)	386	इरुम्बल्ली (त.)	236
अग्निमुखी (सं.)	अल्लिपायरु (ते.)	88	इरुवल्लिगे (क.)	189
अग्निशिखा (सं.)	अवरा (मल.)	262	इरुविल (मल.)	270
अग्निशिखे (क.)	अवरे (क.)	263	इम-कोरी पिल्ले (त.)	401
अच्छु (त.)	अवरी (त.)	262	इलकटा (मल.)	236
अजेरु (नेपाल)	अवा (हिं.)	155	इल्लचिविच्चा (मन.)	236
अज्जिगे (क.)	अश्व कान्ति (सं.)	329	इल्लंद (ते.)	233
अटंगी (त, मल.)	अश्वशकॉट (सं.)	100	इवशमिदि (ते.)	16
अटै (त.)	अश्वीरा (बं.)	100	इमकादतुकूरा (ते.)	23
अट्टा (मल.)	असन (म.)	213	इमनागदमरिक्कूरा (ते.)	23
अट्ट वन्जि (मल. और त.)	असबर्ग (हिं. और पंजाब)	308		
अडवा पनाल (मल.)	असोलिन (बम्बई)	89		
अडलई (त.)	अस्से डंगा (अमम)	299		
अडला (मल.)				
अडविनाभि (ते.)	आ			
अडविपगरि (ते.)	आंवी (महाराष्ट्र)	314	ईग (व्यापार)	285
अटविमल्ले (ते.)	आठले डवडवे (नेपाल)	25	ईग गुरजन पेड	285
अडवियामि-दम् (ते.)	आकुपत्रिका (ते.)	388	ईटी (त., मल.)	267
अडवीविके (क.)	आली (त.)	215	ईतिल (मल.)	296
अडिगम (त.)	आदिक्या धारान (यु.)	144		
अडुबकुमल्ली (त.)	आनपेण्डु (त.)	392	उडगेरा (क.)	404
अडुमरम् (ते.)	आनवाया (मल.)	16	उडा (क.)	139
अडलाई (त.)	आनविन (उत्तर प्रदेश)	114	उडिग टाट (अमम)	114
अणविडुम्प (ते.)	आनवु (क.)	387	उडिपान (त.)	151
अतिमधुर (क.)	आवनम् (हिं.)	230	उडिप्पे (क.)	92
अतिमधुरम् (ते., त.)	आमनोल (म.)	12	उडिसिभानु (हिं.)	141
			उडुम्प (ते.)	139

उट्टम (त., मल.)	..	139	ओनिनिखा (उ.)	..	115	कदल (मध्य प्रदेश)
उण्डई पानू (मल.)	..	151	ओटा (म.)	..	16	कहरी (ते.)
उल्लेगा (अमम)	..	291	ओट्टपिल्ल (त.)	..	142	कनक (सं.)
उत्तरागम (मल.)	..	117	ओडतरे (कं.)	..	246	कनक-चम्पा (हि., वं.)
उडुरे (क.)	..	265	ओडल (मल.)	..	392	कनक जरिया (हि.)
उडिकपट्ट (ते.)	..	117	ओडु (ते.)	..	265	कनको-चम्पा (उ.)
उडुतरुयो (मल.)	..	317	ओता (गु.)	..	16	कनवल (उत्तर प्रदेश)
उडू (त.)	..	88	ओराह (व्यापार)	..	297	कनविल्ल (त.)
उमत्त (मं.)	..	256	ओला (त., मल.)	..	28	कनाई (कुमायूँ)
उपगिमरा (क.)	..	14	ओलिण्डर	..	396	कनहेर (मं.)
उपल वा (मुण्डारी)	..	389				कनाइली वा (मुण्डारी)
उपुदाली (मल.)	..	282	औ			कनिश्रार (हि.)
उमत्त (त. और मल.)	..	256				कनेर (हि.)
उम्बनी (बम्बई)	..	392	ओलोटा (असम)	..	308	कन्यीन-नी (ब्रह्मा)
उम्बति (क.)	..	256				कपास (हि., वं., गु., म. और पं.)
उम्मेत्त (ते.)	..	256	क			अमेरिकी
उरकुनहुल्लु (क.)	..	243				अमेरिकी काटन
उमट बाडाल (वं.)	..	115	कंगार (महाराष्ट्र)	..	225	इंडो अमेरिकी-134-Co-2 एम
उलवालू (ते.)	..	260	कंचाउ (मध्य प्रदेश)	..	239	इंडो अमेरिकी-170-Co-2
उलसी (मं.)	..	227	कंयन (पंजाब)	..	316	इंदौर-1
उलूचा (अमम)	..	312	कंदवेर (बिहार और उड़ीसा)	..	25	इंदौर-2
उल्लू (नेपाल)	..	155	कंवल (हि., पंजाब)	..	389	उत्तर प्रदेश अमेरिकी
उवा (ते., त.)	..	291	ककई (पंजाब)	..	210	उत्तर प्रदेश देशी
उवू (उ.)	..	291	ककरौघा (हि.)	..	92	उत्तरी नन्दयाल-14
उल्ले (अमम)	..	299	कक्को (हि.)	..	88	उप्पम
			कखण (पंजाब)	..	210	ऊमर खानदेश
ऊ			कघूती (नेपाल)	..	317	जरीला
ऊना (मल.)	..	392	कचन्तराई (त.)	..	100	बौरम
ऊमिमल्लिगै (त.)	..	186	कजानयान-चिम्मीन (मल.)	..	196	वर्सीनगर
			कजुवी (लेपचा)	..	155	ऊमरा और कम्बोडिया
ए			कजगला (मणिपुर)	..	123	ऊमरा और बूढी
एगिल (त.)	..	124	कंजजी (त.)	..	154	60-ए-2
एड्डाटिमिल्ले (त.)	..	186	कटथामणकु	..	176	1027 ए एल एक
एड्डाप-गता (ते.)	..	239	कटकडुगु (त.)	..	144	एच-14
एण (सं.)	..	7	कटकोन्या (बिहार और उड़ीसा)	..	114	एच 190
एत्तातडा (ते.)	..	88	कटाट्टी (त.)	..	235	एच-420
एत्तपक्करी (ते.)	..	266	कटाम्भी (मं.)	..	12	एच. आर-6
एन्नै (त.)	..	283	कटालू (असम)	..	224	216-एफ
एवोनी (व्यापार)	230, 234,	237	कटु-काछिल (मल.)	..	228	320-एफ
एवोनी ममिमन	..	230	कटु किलंगु (त.)	..	227	एम. ए. II
एयर पोर्टेरी	..	228	कटुमल्लिगा (मल.)	..	181	एम. ए.-V
एरिमे (त.)	..	266	कटुमल्लिगै (त.)	..	181, 188	एम. ए. VI
एरिंगिल्लू (ते.)	..	270	कटुमुल्ल (त.)	..	181	एम. ए.-IX
एरतामरा (ते.)	..	389	कटुयोवरा (मल.)	..	236	एल. एल. एल.
एरापोगादा (ते.)	..	124	कट्टुकरणा (मल.)	..	28	कच्छ डोलैरा
एनीयामहकु (त.)	..	179	कट्टुकलिजन (मल.)	..	25	कम्बोडिया
एलुमुट्टमल्लिगे (क.)	..	189	कठालू (मं.)	..	228	कम्बोडिया-2, 3, 4
एवण्ण	..	157	कठंबु (त.)	..	89	कम्बोडियाई कपास Co ₂ , Co ₄
एगियाई रतानू	..	224	कडलअमणकु (त.)	..	176	कल्याण
			कडलस्रावणकु (मल.)	..	176	किडनीकाटन
ऐ			कडमाटी (त.)	..	265	किल
ऐरेंटागछ (वं.)	..	176	कडिकपन (महाराष्ट्र)	..	329	कुम्पदा
ऐननी (मं.)	..	115	कडुमपुली (मल.)	..	14	कुम्पदा धारवाड जोवाटोपा
			कडुमल्लिगे (क.)	..	181	कुम्पदा धारवाड सनहट्टी
ओ			कडुनंद (हि.)	..	228	कुम्पदा स्वामीय
ओरोरी शोनायो (उ.)	..	233	कटेट्टु (कं.)	..	118	के.-1, 2, 5
ओशरादि (मं.)	..	100	कपागलू (कं.)	..	394	केरुंगमी
			कपागा (कं.)	..	266	केरुंगमी-2-5
			कण्डू (पंजाब)	..	155	कोकण
			कर्तह (उत्तर प्रदेश)	..	243	कोकनाद
			कपान (पंजाब)	..	144	कोमिल्ला

गंगानगर-1	..	56	मध्य प्रदेश अमेरिकी	..	37	सोस्कापा	..	31
गाढाग-1	.. 48,	61	ऊमरा	..	31	हगारी पश्चिमी-1	..	58
गावोराणी-6	..	52	निमाड, वरा	..	38	हैदराबाद अमेरिकी	..	37
गावोराणी-6-ई-3	..	52	मालवी	..	31	हैदराबाद ऊमरा	..	31, 38
गावोराणी-12	..	52	मध्य प्रदेश बैरम	..	31	हैदराबाद गावोराणी	..	30, 37
गिजा-7	..	54	मध्य भारत ऊमरा	..	38	कपासी (पंजाब, कुमायूँ)	..	173
गिजा-12	..	54	मालवी	..	37	कपिला-नागदुष्ट (ते.)	..	383
चित्रापति	..	56	मालवी-1	..	55	कण्कुर्दी (बम्बई)	..	290
जरीला	..	31	मालिनी-5ए	..	52	कमरौ (गु.)	..	10
जरीला एन. बी.-56-3	..	48	मालीसोनी	..	31	कमल (सं., हिं., म., क. और गु.)	..	386, 389
जयधर	..	34	मालोसोनी-39	..	61	कमल गट्टा	..	390
जयवन्त	34, 37,	43	मालोसोनी-60-ए-2	..	61	कमुद (कश्मीर)	..	385
जादीस्थानीय	..	52	मिस्तीकाटन	..	32	कम्बोलीपिचिन (त.)	..	10
जी-16	..	56	मुंगारी	..	31	कम्बोमेना (क.)	..	10
डोलेरा कच्छ	..	38	मुगलई	..	31	कम्बोल बा (मुण्डारी)	..	389
डोलेरा कल्याण	..	38	मैययी स्थानीय	..	48	करंवल (म.)	..	142
डोलेरा गुजरात	..	38	मैयूर अमेरिकी	..	37	करकोता (बं.)	..	292
डोलेरा मेथियो	..	38	रायचूर कुम्पटा-19	..	52	करगाले (क.)	..	88
डोलेरा सौराष्ट्र	..	38	रायलसीमा-1 (881-एफ)	..	58	करडिकेभिनागदुडे (क.)	..	115
तिश्रवेली	..	58	रोजियम	..	52	करमवेल (गु. और म.)	..	291
घार कम्बोडिया	..	56	रोजिया-231	..	61	करमला (गु.)	..	16
घारवाड अमेरिकी	..	49	रोजी	..	30	करमाता (गोड)	..	291
घारवाड डोड्डापट्टी	..	49	लक्ष्मी (0-3)	..	48	करमानिके (त.)	..	144
विलायती	..	49	बागाड स्थानीय	..	48	करहर (मध्य प्रदेश)	..	11
घारवाड स्थानीय	..	48	बागाड-8	..	48	करगिला (गोड)	..	291
डोलेरा	..	31	बागोतार (4-1)	..	48	करिकाडी-चिम्मीन (मत.)	..	196
देशी कपास	..	37	बानी स्थानीय	..	56	करिनेकि (क.)	..	141
नन्दयाल-14	..	61	वारंगल कोंकण	..	40	करिनोच्चित (मत.)	..	141
नाडम	..	58	विजय	..	48	करियानाग (बम्बई, म.)	..	115
निमाड-2	..	55	विजाल्मा (2087)	..	48	करियारी (पंजाब)	..	115
निमाडी-2 (डी-48-154)	..	56	विभेद 2087	.. 43,	49	करिलिक (क.)	..	141
निमाडी स्थानीय	..	56	विरनार	..	43	करिहारी (हिं.)	..	115
पंजाब और अमेरिकी	..	37	विरनार (197-3)	..	48	करी (मल.)	..	236
पंजाब 216-एफ और जी	..	70	वीरम-262	..	51,	करीवेला (मत.)	..	236
पंजाब एल एस एल, एस जी	..	70	वीरम-434	..	61	करंगालि (त.)	..	230
परभणी अमेरिकी-1	..	52	वेल्डन (हगारी-1)	..	34	करबीरगम (मत.)	..	343
परसों अमेरिकी	..	61	श्वेत और लाल उत्तरी	..	58	करजीरगम (त.)	..	343
पेरुई काटन	..	32	सदन्त-उपम	..	38	करंदवरे (त.)	..	236
प्रताप	..	48	कुम्पटा	..	38	करंदुवरे (त.)	..	234
बंगाल	..	31	कोंकण	..	38	करकरिद (म.)	..	228
बंगाल पंजाब देशी	..	38	जयधर	..	37	करुमाण (क.)	..	236
बंगाल राजस्थान देशी	..	38	जयवन्त	..	37	करदोरविरल	..	267
बनीला	..	48	तिश्रवेली	..	38	करन-दुंदी (त.)	..	237
बर्तानगर ऊमरा	..	31	नाडम	..	38	करनोच्चि (त.)	..	141
बागाड	..	34	सदन्त बरंगली	..	37	करपकोडि (मत.)	..	344
बानी	..	52	मुंगरी	..	38	करकामपुली (मत.)	..	19
बाम्बे अमेरिकी	..	37	रेडनार्न्त	..	40	करमुल्ले (त.)	..	188
बूडी-107	..	51	वारंगल	..	38	करम्बा (राजस्थान)	..	11
बूडी-0394	..	51	वेल्डन्त	..	38	करूर (बिहार और उड़ीसा)	..	25
बरवान	.. 35,	58	बोरवेल	..	38	करुवाकपो (त.)	..	233
बोकार्पा	..	31	ह्वाइड	..	38	करेजीरगे (क.)	..	343
भाजिलीकाटन	..	33	सलेम	..	40	करेटुकिलगु (त.)	..	250
भडौंच देशी-8 (13 डी-8)	..	48	सी-7	..	59	करेमरा (क.)	..	230
भडौंच विजय	..	34	सी. 35/1-61	..	61	करमुत्ता (क.)	..	269
भडौंच स्थानीय	..	48	सी. 520-61	..	61	करेल (बं.)	..	298
भोज	..	43	सी भाईलैड	..	32	करैले (म.)	..	118
भोज (घार-43-5)	..	55	सुयोग	..	49	कर्कट पास	..	275
भद्रास अमेरिकी	..	37	सुयोग (संग. 8-1)	..	48	कर्दुकरदरे (क.)	..	8
भद्रास उगाण्डा-1	.. 49,	58	सूरती सुयोग	..	34	कर्नोच्चि (क.)	..	176
भद्रास उगाण्डा-2	..	58	सूरती स्थानीय	..	48	कर्पसन् (त.)	..	30
भद्रास उगाण्डा (Co-4/B-40)	..	61	सेल-69	..	54	कर्पातो (उ.)	..	30

कर्मल (म.)	292	काडुपुल्लमपुरसी (क.)	312	कुंग (भोटिया)
करपेपलमु (ते.)	224	काडुहाराडु (क.)	176	कुचिगनमरा (क.)
कर्वोश्रोधरद (गु.)	100	काडु (नेपाल)	145	कुमाइल (नेपाल)
कानई (हि.)	292	कानन एरंड (सं.)	176	कुकिलोपोट (कश्मीर)
कानदि (ते.)	92	काननमालिका (सं.)	181	कुकुरबिचा (हि.)
कानप्यागुडा (ते.)	115	कानफोडी (म.)	144	कुकुराल् (बं.)
कानमाशी (म.)	142	कानवेल (म.)	388	कुकुरो दाति (उ.)
कलमुंगिल (त., मल.)	298	कानेरी (म.)	394	कुजीयकेरा (असम)
कलम्ब-कचरी (बम्बई)	175	काप्सि (क.)	300	कुजी येकेरा (अ.)
कलम्ब की जड़ (हि.)	175	काफल (नेपाल)	15	कुटकी (हि. और बं.)
कलम्ब बेर (त.)	175	कामन जैमिन	182	कुटिला (पंजाब)
कलम्ब बेरु (ते.)	175	कामन रण	140	कुडक (म.)
कलय (बं.)	391	कायरा (मल.)	114	कुडमुल्ला (मल.)
कल-घिपि (अ.)	7	कारई (त.)	230, 237	कुडा-मल्लिग (त.)
कलाई पैककिजागु (त.)	115	कार-ईटी (मल.)	267	कुडालिया (हि., ब.)
कनालम (कुमायूँ)	24	कारखेर (हि.)	394	कुण्टगेणमु (क.)
कलिपाक्का (त.)	265	कारा चिम्मीन (मल.)	195	कुण्डलसेवियाकु (ते.)
कलुचुमा (बिहार और उड़ीसा)	114	काराबेला (मल.)	144	कुन्द (सं.)
कलूगा कामनमु (ते.)	389	कारी (मल.)	237	कुन्दफूल (हि.)
कलोजी (हि.)	343	कारु (हि., मल. और बं.)	230, 171	कुन्दमु (ते.)
कलोजी-जीरम (गु.)	343	कारु नैतल (त.)	386	कुन्दी (म.)
कल्लावी (म.)	115	कारेन पोर्टो	225	कुम्बड़मरा (क.)
कवकिमानु (ते.)	233	कारेवेम्बू (त.)	25	कुम्बल (बम्बई)
कवट्टुलु (त.)	92	कारोवी (बं.)	394	कुम्बाला (त.)
कवलकुडी (त.)	223	कार्की काफकी (कुमायूँ)	173	कुम्बै (त.)
कवाली (म.)	152	कार्नेशन	241	कुरली कलाइ (बं.)
कविकटाई (त.)	235	कालकम्बी (क.)	12	कुरा (हि.)
कश्मीर लार्कस्पर	307	कालपंच (हि.)	7	कुरिगेल (क.)
कम्बूरीपट्टिल (ते.)	394	काला मडुलता (म.)	141	कुरुक (म.)
कांटा आनू (हि.)	227	कालाजीरा (हि.)	243	कुरुकुत्तिमुल्ला (मल.)
काइमरा (क.)	393	काला तिल (हि.)	118	कुरुडुनन्दी (क.)
काउ (बं.)	15	कालालेंडु (हि.)	235	कुरुबिची (त.)
काफाई पालई (त.)	174	काला तेल (गु.)	118	कुरुवीर (हि.)
काफ कल्पयान (मल.)	283	कालागक (गु.)	267	कुलकयी (उ.)
कापलंगा (बम्बई)	312	काला लोमारी (कुमायूँ)	291	कुलधी (हि., म. और गु.)
कापड (म.)	25	कालिकारि (सं.)	115	कुलथ (म.)
काफी पमिमन	231	कालिचा कौचिया (उड़ीसा)	240	कुलवी (त.)
कागुरिया (उड़ीसा)	314	काली-करदोरी (म.)	152	कुला पन्नाई (त.)
कागजी बाँन (हि.)	299	काली कवली (बम्बई)	281	कुला माथल (मृण्डारी)
कागती (नेपाल)	317	कालीगावानी (गु.)	282	कुलित (गु.)
कागमुवा (सोराष्ट्र)	101	कालीछड़ (गु.)	345	कुलिय (म.)
कागी (नेपाल)	329	कालीजीरा (बं.)	343	कुलचन (मल.)
कागेर (गु.)	394	कालू कदुम्बेरिया (श्रीलंका)	237	कुलो (उ.)
काछिछन किलंगु (मल.)	224	कायत (मल.)	224	कुण (सं., क. और बं.)
काटचाट (लुगाई)	210	कावरी (बम्बई)	88	कुणदभा (ते.)
काटावणकु (मल.)	176	कावाकुला (क.)	141	कुयरथ (क.)
काटुकारयम् (मल.)	141	कामा घालू (हि.)	227	कुमुर (म.)
काटुमुम्बा (मल.)	141	किगनी (हि.)	154	कुमुरी (म.)
काटु नखेलम (त.)	179	किन्ना (पंजाब)	226	कृष्ण कामन (म.)
काटुगोचि (त.)	300	कियो (कश्मीर)	226	कृष्णमार (मं.)
काटु मगवा (उत्तर प्रदेश)	114	किन्दार (बिहार और उड़ीसा)	114	कृष्णपानी (उ.)
काटुकिरम्बु (त.)	141	किडु (पंजाब)	234	कृष्ण गाजर
काट-पम्पा (हि.)	218	किरगि (ते.)	300	कंद (बं.)
काठ बिमला (बं.)	88	किरकुंटी (म.)	179	कंदु (हि. और उ.)
काठ बेवाल (हि.)	88	किरमवुण्ड (त.)	141	कंदू (उ.)
काठरमल्लिय (बं.)	186	किरमिरा (म.)	100	कंधू (उ.)
काठावाई (त.)	144	किर्न (पंजाब)	246	कंधा-प्राणुड (कश्मीर)
काटुनापिगलू (क.)	292	किट्टी (कश्मीर)	226	कनर (बिहार, उड़ीसा)
काटुगंध (क.)	248	किन्स (कश्मीर)	226	कनटम गमिंग (धमम)
काटुगंटे (क.)	144	कीरि बिदोर (क.)	298	कन जैमिन
काटुगिरी (क.)	393	कीरी (त., मल.)	401	कम्पुगन्धा (क.)

411

गंधेरा (म., गु.)
 गंगर (ते.)
 गंगा भ्रातृ (बं.)
 गंदर (बम्बई)
 गंग प्लांट
 गंगीपादु (ते.)
 गोज (हि.)
 गोघ्राकुली (उड़ीसा)
 गोइंदु (म.)
 गोडोकोटिको (उ.)
 गोहा (क.)
 गोपुरी (असम)
 गोफल (बं.)
 गोरन-चौई (असम)
 गोर पड़े (म.)
 गोरगियाह (बं.)
 गोरगू (बम्बई)
 गोल कमीला (पंजाब)
 गोलपत्ता (पुत्तिया) (बं.)
 गोलफल (बं.)
 गोलावेत (असम)
 गोला-मोहनी (बं.)
 गोलुगु (ते.)
 गोल्डमोहर
 गोल्डा चिगडी (बं.)
 गोवली (म.)
 गौनी (गडवाल)
 गौरोकोसा (उ.)
 गौरोखोली (उ.)
 गोलमोनी (बं.)
 ग्रीष्म-मुन्दरक (सं.)
 ग्रज ग्राम
 ग्रैनेडीन
 ग्रैफाइट
 उत्खनन
 उत्पादन
 उपचार
 उपयोग
 प्राप्ति
 भविष्य
 वितरण
 ग्रैमिग्रन फाकमग्नव
 ग्नांब भमरंय
 ग्वालडारी (कुमायूं)
 ग्वालारादिम (पंजाब)
 ग्वालादार्दिम (हि.)

घ

घाटी-पित्तपापट्टा (बम्बई)
 घाफिज (पंजाब)
 घुगिया (हि.)
 घुगा चिगडी (बं.)
 घागर (हि.)
 घोगरी (म.)
 घोडा चिगडी (बं.)
 घोनाम (मं.)
 घोनामोघरद (गु.)
 घोगपेन (म.)
 घोनाम (हि. और बं.)

406
 12
 228 चंचलसोपु (क.)
 404 चंदन (नेपाल)
 275 चंचेली (सं., गु.)
 100 चंसारिउ (बम्बई)
 304 चकेंडिया (बं.)
 236 चटगांव वुड
 239 चडिचा (मल.)
 383 चतावली (म.)
 25 चपड़ा चिगड (बं.)
 221 चप्परदावर (क.)
 288 चबेली (पंजाब)
 344 चमगाई (अवध)
 139 चमानी (बिहार)
 266 चमारी (उत्तर प्रदेश)
 224 चमेली (हि. और बं.)
 114 चमेली कुन्द (हि.)
 384 चम्बा (हि., पंजाब)
 384 चरची (ते.)
 295 चलनगडा (अंडमान)
 291 चलिता (मल., असम)
 100 चल्ता (हि. और बं.)
 309 चल्ताने (क.)
 197 चालकुंग
 92 चागुल-वाटी (बं.)
 173 चामगार (मुण्डारी)
 154 चालत (बं.)
 236 चालाई (पंजाब)
 291 चिकारा (हि.)
 100 चिउड़ा (हि.)
 26 चिकटा (बम्बई)
 241 चिकनी (बिहार और उड़ीसा)
 94 चिकरी (हि.)
 96 चिकारा (मध्य प्रदेश)
 98 चिकककाडहरडु (क.)
 96 चिककुडिपे (क.)
 97 चिककुडु (ते.)
 94 चिकारी (बं., व्यापार)
 98 चिगडी (क.)
 94 चिगिरी (मल.)
 279 चिचिया (कुमायूं)
 28 चित्तामता (ते.)
 155 चिट्टिवोडो (ते.)
 155 चिड़चिड़ा (म.)
 155 चित्तुमिनि (ते.)
 चित्तोमि (ते.)
 चिनी एरंडी (म.)
 चिन्तिल पुलाय (त.)
 चिन्दी (पंजाब)
 चिन्न कसिंग (ते.)
 चिन्नकुत्तिलि (ते.)
 चिन्नपुनी (मल.)
 चिन्नपुवरे (त.)
 चिम्बारी (पंजाब)
 चिरते (क.)
 चिरातेतातीगा (ते.)
 चिरिन्दी (कश्मीर)
 चिन्तापुनी (ते.)
 चिर (तिब्बती)
 चिरुनई (त.)

च

चिरुदी (पंजाब)
 चिरुमल्ले (ते.)
 चिलोनी (बं.)
 246 चिशारा (कुमायूं)
 167 चीच रेनेट
 182 चीता (बं. और म.)
 275 चीनी जल कमल
 266 चीनी जूनीपर
 124 चूई (पंजाब और कश्मीर)
 88 चुकाव (सिक्किम)
 227 चुकु (तिब्बती)
 195 चुपरी भालू (हि. और बं.)
 262 चुरी (नेपाल)
 182 चुरीटा (हि.)
 291 चुल (तिब्बती)
 144 चुडान चिम्मीन
 114 चूना पत्थर
 182 उत्पादन
 187 उपयोग
 88 खनन
 212 भंडार
 291 माँग
 291 वितरण
 283 व्यापार
 29 चुन्येल (नेपाल)
 344 चंचलीकूरा (ते.)
 383 चैग्रोरो (उ.)
 16 चैक्के (क.)
 167 चेट्टुमल्ले (ते.)
 7 चेट्टुपट्टुम्मा (ते.)
 288 चैतकि (सं.)
 313 चैन नली (मल.)
 114 चैनुलु (ते.)
 155 चैप्पुतट्टा (ते.)
 314 चेर (कुमायूं)
 178 चेरुक्कुरिजा (त.)
 92 चेरुपिच्चाकम (मल.)
 262 चेरु किलंगु (मल.)
 124 चोंगमोंगो (लद्दाख)
 7 चोर पणा (मल.)
 19 चोर पात्री (त.)
 166 चोली हरनाचारा (गु.)
 10 चोका (हि.)
 265 चोलिया (सिंधाल)
 388 चोवलडुम्मा (उड़ीसा)
 234
 267
 179
 220 छापुं-तरशियाकु (ते.)
 387 छिपकली (हि.)
 292 छोटा प्रयिली (नेपाली)
 236 छोटा कमल (दिल्ली और पंजाब)
 123
 236
 314
 123 जंगलघटि (क.)
 302 जंगली भरंडी (हि.)
 387 जंगली एरंडी (हि., म.)
 123 जंगली गाजर
 8 जंगली चमेनी
 123 जंगली मंथी (म.)

छ

ज

जंडा (पंजाब और लद्दाख)	331	जैशबोमधु (वं.)	110	डिटानी	275
जखमी (बम्बई)	317	जॉक (हि., वं.)	192	डियूत (शिमला)	326
जगत्सदन (वं.)	141	जोगाकुमले (ते.)	366	डियंग-टिरखोऊ (खासी)	394
जजू (बम्बई)	242	जोनेरा (उत्तर प्रदेश)	242	डियंग-सोन-सांग-साम (खासी)	393
जटामाशी (त.)	345	ज्योतिष्क (सं.)	179	डियंग-सोह-टारटियाट (खासी)	387
जटामासी (सं., हि., गु., वं., नेपाल, भूटान)	345	ज्वारपात (असम)	24	डिलीनिया (व्यापार)	291, 292
जटामावशी (म.)	345			डोंग-आयोंग (असम)	231
जतामामशी (क. तथा मल.)	345			डोंग चरखेई (खासी पहाड़ियां)	158
जतामाशी (ते.)	345			डोंग छी (असम)	9
जदवार (फारसी, हि. और पंजाब)	308	झिनकोमडी (गु.)	99	डोंग जेटी (खासी पहाड़ियां)	114
जनतिया (उ.)	12	झरम्बी (म.)	16	डोंग-नोर-शा (खासी)	220
जना (क., ते.)	90, 92	झरासी (म.)	100	डोंग-पें-स्वांग (खासी)	220
जमालगोटा (गु.)	176	झूला (गढ़वाल)	173	डोंग सिरंगधुली (खासी पहाड़ी)	316
जयापार्वती (गु.)	383	झोरा (कुमायूँ)	166	डोंग-सोह-लकोर (खासी)	209
जरीजे (क.)	19			डीएंग-खिआंग (असम)	25
जर्दक (फारसी)	250			डीएंग-सोह-फेलिंग (असम)	145
जर्माई-जा-मेन (असम)	24			डोण्टलिऊह (खासिया)	317
जर्सी कडवीड	403	टकरी (हि.)	275	डुनकोटाह (नेपाल)	317
जलकुम्भी (वाटरजैम)	341	टकिआ (हि.)	275	डुलुआ (असम)	388
जलगलु (ते.)	192	टगलर (लेपचा)	91	डुरियन	326
जल-सपिणी (सं.)	192	टस्कन जैसमिन	189	डुंग-वांग-स्वेत (खासी)	218
जला (गु.)	192	टाग्रो (म.)	141	डेट्सम पसिमन	240
जलोका (सं.)	192	टारगेट-रियूवे (मिरी)	402	डेशिंग (भूटान)	317
जबनि गाले (क.)	88	टिंगथाप (खासी)	155	डैम्पल (हि.)	16
जट्टि मधु (वं.)	110	टिकटिकी (वं.)	138	डोंग-घारोमसि (खासी)	218
जहाजीगावा (जड़ोसा)	176	टिकूर (बंगाल)	16	डोंगला (असम)	388
जाजर (अरबी)	250	टिकूल (बंगाल)	16	डोडा (हि.)	8
जाजि (क., ते.)	182	टिटिरिया सोसोरोंग (मिकिर)	141	डोलपोडली (असम)	114
जाती (सं., हि., वं., क.)	182	टिडु (हि., पंजाब)	205	डोलू (असम)	388
जायिकाह (व्यापार)	393	टियेव-राकोट (खासी)	398	डिक (कश्मीर)	192
जापानी पसिमन	231	टुक-कुंग (लेपचा)	145	ढावनी (बिहार)	141
जार (पंजाब)	173	टुवबुमचिलोप (लेपचा)	344		
जालिल लार्कस्पर	308	टुमोह (असम)	389		
जालीदार (पंजाब)	89	टुला (असम)	209		
जालू	190	टेल्लारंट (ते.)	142		
जिका (ते.)	7	टैन्यम (खासी)	155	तंद्राजा (क.)	154
जिंगपे (क.)	192	टोडरसाड (हि.)	154	तंद्रासि (क.)	154
जिदु (ते.)	296	टोकरा (हि.)	366	तइवेला (त.)	144
जिप्पम :	146	टोटलीगिडा (क.)	179	तइवेला (मल.)	144
उत्पादन	150	टोपोसी (वं.)	234	तकिल (त.)	304
उपयोग	149	टोम्बुली (बम्बई)	392	तकोली (हि.)	266
उपस्थिति	146	टोल (म.)	205	तगलर (लेपचा)	87
खनन	149	ट्री जैसमिन	181	तटेडे मरा (क.)	209
वितरण	146	टिंग चेक-ने (असम)	173	तड़ा (ते.)	219, 220
जिबिलिके (ते.)	92			तड़ाची (त.)	90
जिम्सन बीड	256			ततरी (नेपाल)	292
जीमा (हि. और वं.)	100			तनसु (त.)	144
जीरहप (खासी पहाड़ियां)	21			तनवर (उत्तर प्रदेश)	345
जीवन्ति (सं., हि., वं., म.)	310	डवडावे (वं.)	25	तनुकु (क.)	144
जूई (उ.)	186	डमकुर् (उ.)	12	तमरुग (गु.)	237
जूई (हि.)	186	डरम्बा (मल.)	19	तमल (ते.)	16
जुफा याविम (पंजाब)	397	डलभारा (त.)	124	तमाकू (हि., वं., म. और गु.)	352
जूम (वं.)	25	डलोची (शिमला)	326	तमाल (हि., वं., सं. और म.)	16, 19, 239
जूही (हि.)	186	डहलोची (जौनपार)	326	तमालम (त.)	16
जूकू (पंजाब)	317	डॉइस (म.)	266	तम्बाकू (हि., वं., म. और गु.)	352
जूडी मधा (गु.)	110	डा	212	तरतारा (पंजाब)	246
जूडी-माड (हि.)	110	डाउनी जैसमिन	187	तलकार (पंजाब)	154
जूज बुड (व्यापार)	237	डाम (हि.)	311	तविदु (त.)	92
जूयामधा (म.)	110	डालमोन (गु.)	88	तशियारी (नेपाल)	300
जूतून (हि., वं. और गु.)	144	डिपंगकिर्बेड (असम)	249	ताखोन (मिस्मी पहाड़ियां)	9
जूरमाई-लामाम (खासी)	344	डिपंग बोडा (असम)	329	तालाबु (हि.)	398
		डिगरेलियारोंग (असम)	244	ताड़ान (क.)	88

ताइसाणा (क.)	..	90	तेप्यम (त.)	..	144	देतारा (बं.)
तानाच (गु.)	..	267	तेल-भंगा (ते.)	..	10	देत्ता (बं.)
तानुकु (त.)	..	144	तेलमुर (बं.)	..	329	देवोदार (उ.)
तापरि हल्लू (क.)	..	276	तेली-गुरजन (बं.)	..	284	देव (पंजाब)
तामा (नेपाल)	..	299	तेलकुलुवा (ते.)	..	385	देवगरिगे (क.)
ताम्बेदा चन्दन (म.)	..	215	तेलपुलिको (ते.)	..	23	देव चागल (असम)
तार (पंजाब)	..	226	तेलाकोक्कोता (ते.)	..	11	देवनबुली (क.)
तारा (बम्बई)	..	275	तेला-गिनिगडुलु (ते.)	..	228	देव-फनास (बम्बई)
तानी (पंजाब)	..	270	तोइतित (असम)	..	114	दोडा हराडु (क.)
तावरे-गडु (क.)	..	389	तोडेगडु (क.)	..	267	दोमदोमाह (अंडमान)
तावी (मल.)	..	210	तोपालि (मल.)	..	220	
तिदुकि (सं.)	235, 236		तोय्यकिरे (ते.)	..	246	
तिदुकि (ते.)	..	235	तोलपुलि (त.)	..	220	
तिदुरा (क.)	..	234	त्रायामान (महाराष्ट्र)	..	308	
तिदुरनी (हि.)	..	237	त्रिग-थी (लुशाई)	..	394	
तिदुरानी (क.)	..	234				
तिवराव (गु.)	..	239				
तिथुरी (म.)	..	235				
तिथुनी (म.)	..	235	थनेला (हि.)	..	11	
तिगत्रानुग (ते.)	..	302	थाडौ (त.)	..	219	
तिनपानी (म.)	..	345	थान पिग रहुई (लुशाई)	..	392	
तिप्प लीगा (सं.)	..	225	थामरा (मल.)	..	389	
नमर (म.)	..	239	थामरै (त.)	..	389	
तिराणी (त.)	..	304	थान एपिल	..	256	
तिरिया (नेपाल)	..	299	थिग-यांग (असम)	..	234	
तिलपनि (मल.)	..	215	थिडसल (क.)	..	87	
तिलोनि (क.)	..	144	थिरुदेनकोडी (त.)	..	304	
तिव्विलीगा (ते.)	..	225	थुरवाघ (कश्मीर, कुनावर)	..	123	
तिस्का (क.)	..	7	थनमारुम (त.)	..	117	
तीता बहक (असम)	..	141	थेने-चेट्ट (ते.)	..	117	
तीरयाल (क.)	..	187	थेलु (परिचमो हिमालय)	..	169	
तीली (नेपाल)	..	299	थोट मोला (असम)	..	25	
तुगचे श्रोगमानरिक (मिक्किम)	..	24	थोडाप्पेइ (मल.)	..	112	
तुवी (त.)	230, 234, 235, 237		थोरा (असम)	..	324	
तुग्म-फेरजीमिषक (हि.)	..	331	थोरिल्ला (त.)	..	28	
तुम्लगा (पंजाब)	..	398	थोगप्रकि-प्रारोण (असम)	..	89	
तुबाकी (त.)	..	117	थौरान्गुटी (असम)	..	92	
यम चरपात (बं.)	..	25				
तुमकि (क.)	..	235				
तुमपि (मध्य प्रदेश)	..	234				
तुमरि (क.)	..	237				
तुमरी (म., क., मध्य प्रदेश)	234, 237		दन्ति (ते.)	..	154	
तुमिपी (ते.)	..	237	दर्भ (सं., ते. और बं.)	..	311	
तुमुकि (ते.)	..	234	दवन (क.)	..	99	
तुम्पुगु (क.)	..	237	दाजागिपे (गारो)	..	141	
तुरीके (क.)	..	155	दामन (म.)	..	88	
तुरेपल्ले (त.)	..	100	दामनी (म.)	..	88	
तुवर (त.)	..	234	दास्नज-अफावी (पंजाब)	..	319	
तुगियारी (उत्तर प्रदेश)	..	300	दिपंग-सा-फोनिया (असम)	..	297	
तुगरी (उत्तर प्रदेश)	..	300	दिपंग-सोह-फो (खासी)	..	324	
तुनगेनग (क.)	..	224	दिपुनगोरी-ना-पिनो (असम)	..	297	
तुपि (नेपाल)	..	169	दिएनगला-रामफांग (असम)	..	300	
तान (हि., बं., गु., म. और पं.)	..	30	दिवरुमल्ली (क.)	..	10	
तेदु (हि., बं., पंजाब)	234, 235, 239		दीक-नल्ली (त.)	..	10	
तेदू (हि., म.)	..	237	दीरुमानी (हि., बं., गु. और म.)	10, 11		
तेपेरात (गारो पहाड़ियां)	..	143	दीपपवक (मं.)	..	237	
तेडरगा (असम)	..	393	दीधीनपु (ते.)	..	179	
तेजराज (बिहार)	..	101	दुयस्तेजाम (ते.)	..	227	
तेजीर (तेजरा)	..	114	दुधियो बन्नाग (गु.)	..	115	
तेनरनर (त.)	..	117	दुप्पेगोपामु (क.)	..	224	
तेमर (हि.)	..	234	दुर्वा (हि.)	..	311	
			दुमरामाग (बं.)	..	100	

नल्लामुल्ला (मल.)	..	189	नीलतावरे (क.)	..	386	पनीकावु (त.)	..	114
नल्लुति तुमिकि (ते.)	..	230	नील पम्प (हि., वं., पंजाब)	..	386	पन्नोर (त.)	..	24
नवनजीचपला (म.)	..	244	नीलभादी (बं.)	..	25	पन्नोरुचेट्टु (ते.)	..	24
नवमल्लिका (सं.)	..	181	नील शापला (वं.)	..	386	पन्नूकिलंगू (त.)	..	228
नबुरुकट्टे (क.)	..	392	नीलाकील (पंजाब)	..	171	पपीता (व्यापार)	..	217
नसवा (नेपाल)	..	345	नीलिवुड्डे गिडा (क.)	..	351	पव्वा (वं., म.)	..	124
नहानिगोरखमुडी (गु.)	..	99	नीली नारगंडी (हि.)	..	141	पम्पोश (पंजाब, कश्मीर)	..	389
नाइगर	..	118	नीलोत्पलम (त.)	..	386	पम्बरम (मल.)	..	219
नाइतेक (त.)	..	292	नीलोफल (गु.)	..	386	पलिसा (त.)	..	90
नाकदल्ली (मल.)	..	179	नीलोफर (कश्मीर)	..	385	परदेशी-ताड़ियां (गु.)	..	384
नागकरिया (म.)	..	115	नुम्बोंग (लेपचा)	..	218	परदेशी भांगरी (गु.)	..	101
नागट्टे (त.)	..	28	नुरईगणगु काडुगुम्बडा (क.)	..	227	परपत्का (क.)	..	100
नागमल्ली (त.)	..	181	नुरुनकिलंगू (मल.)	..	227	परपलानमु (ते.)	..	101
नागली (म.)	..	300	नूल (कश्मीर)	..	401	परशियन अखरोट	..	159
नागेंसा (क.)	..	28	नैउर (हि.)	..	401	परितजा (म.)	..	114
नानदुनाराई (त.)	..	154	नेउरा (हि.)	..	401	परुति (त. और मल.)	..	30
नामुती (वं.)	..	99	नेउल (वं.)	..	401	परेखडो (गु.)	..	89
नारकोयुद (भारतीय बाजार)	..	158	नेचुकड्डि (क.)	..	141	पनीई (त.)	..	210
नारन चिम्मोन (म.)	..	195	नेपाड़ुमु (ते.)	..	176	पवंतारंड (सं.)	..	176
नारिकेल (व्यापार)	210, 209	209	नेपाल एवोनी पसियन	..	234	पलवान (पंजाब)	..	242
नारूम वेडे सोप्पू (क.)	..	144	नेपाल जैसमिन	..	190	पलिसा (त.)	..	90
नारैट्टे (त.)	..	87	नेपाली क्रेनिसविल	..	156	पल्ली (त.)	..	138
नाल (वं. और असम)	..	386	नेरदपूती (त.)	..	142	पवझ-लामल्लिंग (त.)	..	383
नालदूरा (उत्तर प्रदेश)	..	400	नेलनारगम (मल.)	..	345	पवित्र कमल	..	389
निकल अयस्क:	..	347	नेलवाविल्लि (ते.)	..	141	पसपुवरणे (ते.)	..	19
उत्पादन	..	350	नेलानार्गू (क.)	..	345	पहाड़ी (असम)	..	209
उपचार	..	349	नेलाग्रभीडा (ते.)	..	178	पहाड़ी लता (असम)	..	221
खनन	..	349	नेवला (हि.)	..	401	पाँची (मल.)	..	100
गुणधर्म	..	350	नैसी (म.)	..	233	पांडु (म.)	..	12
वितरण	..	348	नैदिले (क.)	..	386	पाइपर सोयबीन	..	103
व्यापार	..	350	नोम्रालोता (वं.)	..	304	पाओ (लेपचा)	..	299
निगी (पंजाब)	..	317	न्याल (क.)	..	158	पाकुल गड्डी (त.)	..	276
नित्य मल्लिंग (क.)	..	186	न्युल (हि.)	..	401	पागजिओक (लेपचा)	..	299
नित्यमल्ले (ते.)	..	186	न्योला (हि.)	..	401	पाटपट्टला (पंजाब)	..	173
नित्तितोरावाडी (मल.)	..	398				पाडम (उत्तर प्रदेश)	..	167
निद्रायाम (ते.)	..	398				पाती (हि. और वं.)	..	159
निनाई (म.)	..	233				पानीनाजक (वं.)	..	398
निपाताड	..	384	पंकज (सं.)	..	389	पानी लाजक (पंजाब, बम्बई)	..	398
निपालतुंड (बं.)	..	117	पंजगुलिया (उ.)	..	115	पाथर फोड़ी (हि.)	..	281
निर्जनी (क.)	..	114	पंजी (त. और मल.)	..	30	पदीक	..	212
निर्विपा (सं.)	..	308	पगण्डमल्ले (ते.)	..	383	पानधारी तिनावान (म.)	..	144
निर्विपी (म. और गु.)	..	308	पगपप्पु (ते.)	..	345	पानलता (वं.)	..	302
निर्विसी (हि.)	..	308	पग्रियांग (लेपचा)	..	299	पानालवग (म.)	..	141
निलमपाला (मल.)	..	99	पन्चा अडविमल्ले (ते.)	..	190	पानीमुदी (असम)	..	114
निलोबिख (नेपाल)	..	308	पर्जिग नट	..	176	पानीलेवा (असम)	..	308
नीडबल्ली (त.)	..	344	पटाडा शेवरा (बम्बई)	..	313	पापरा (हि.)	..	12
नीकिरम्बु (त.)	..	141	पडरमल्लिंग (त.)	..	182	पापुर (म.)	..	12
नीटिकलवा (ते.)	..	386	पडेखडो (गु.)	..	89	पाफर (हि.)	..	166
नीपुण्णाली (मल.)	..	266	पटाकी (पंजाब)	..	155	पामा (पंजाब और कश्मीर)	..	345
नीरजेपे (नीलगिरि पहाड़ी)	..	316	पठारासुवा (म.)	..	101	पाम्मे (भटान)	..	118
नीरजेपे (क.)	..	316	पडहार (पंजाब)	..	144	पायेलु (ते.)	..	101
नीरपोन्न-अल्लिया (मल.)	..	265	पतंग (सं.)	..	205	पाखल रेत (बिहार)	..	14
नीराम्बल (मल.)	..	386	पतालगरुडी (सं.)	..	100	पारा (मल.)	..	383
नीरुयल्लावप्पु (ते.)	..	398	पत्ति (ते.)	..	30	पारिजात (सं., क.)	..	383
नीरुयामिन-बेन्द्रमु (ते.)	..	141	पलीजोकरा (असम)	..	103	पारिजातक (म.)	..	383
नीबेंट्टी (मल.)	..	114	पल्लंगम (मल.)	..	215	पारिजातकम (मल.)	..	383
नील (हि.)	..	8	पन्नोडी (मल.)	..	209	पारिजातमु (ते.)	..	220
नीलकंठ (कश्मीर)	..	171	पस (सं., वं., उ.)	..	389	पालक ऊनम (मल.)	..	242
नील कमल (हि., गु.)	..	386	पसवीज (क.)	..	166	पालमहा (उत्तर प्रदेश)	..	142
नीलकांत (पंजाब)	..	171	पनछी (मल.)	..	235	पाल्कोडी (त.)	..	383
नीलगाय	..	8	पनल (मल.)	..	100	पाविड़ामल्लो (मल.)	..	

प

पाकुरकुचु (ने.)
 पात्ता (म.)
 पाणिग (भुटान)
 पाषाणवेद (महाराष्ट्र)
 पाषाणवेद (महाराष्ट्र)
 पाप्मी (नेपाल)
 पिबो (पंजाब)
 पिडिफाया (मन.)
 पिडेमारिह (ने.)
 पिगोटी
 पिन्नाकमुल्ता (मन.)
 पिन्वागम (मन.)
 पिटेना (ड.)
 पिटीनु (ड.)
 पिठारी (मं.)
 पिन्डव (म.)
 पिन्डी (क.)
 पिन्डीगाई (क.)
 पित्तद (ने.)
 पितानु (हि.)
 पित्तभागडा (बम्बई)
 पित्तपापरा (मं.)
 पित्तवेन (म.)
 पित्त्याव (ब.)
 पित्राया (ते.)
 पित्रारुपनी (मन.)
 पिरिया हेनिम (पंजाब)
 पिरु (ने.)
 पिमिनिवा (ते.)
 पीत्र (बस्नोर)
 पीन जैमिन
 पीचैरेण्ट (ने.)
 पीना जैमिन
 पीनी चमेनी (हि.)
 पीनी जुई (हि.)
 पीर का ऐनिम
 पीमाग (नेपना)
 पीमारन (ने.)
 पीदना (पंजाब)
 पीरमान (नेपना)
 पीगंमिन (ने.)
 पीटी मानबिड (मुगगांगे)
 पीवानी (पंजाब)
 पीनिरा (ने.)
 पीनिरि (ने.)
 पीपाटा (पंजाबमान)
 पीनाति (क.)
 पीरा (मन.)
 पीरनी (ने.)
 पीरन (ने.)
 पीरिना (मन.)
 पीरगा (हि.)
 पीरनी (नेपाल)
 पीराव (ने.)
 पीरागी (मन.)
 पीरिधामाठु (ने.)
 पीरिमन (ने.)
 पीरिपुना (ने.)
 पीरिग (क.)
 पीरिटी (ने. मं.)
 पीरुनी (ने.)

144 पीनेवी (नेपाल)
 262 पीरुमुनी (मन.)
 299 पीवी भारतीय पाटन दान
 171 पीकीतीगा (ने.)
 171 पीनालनु (ने.)
 324 पीकाडा (खंडमान)
 300 पीचा (बं.)
 151 पीयो (पंजाब और कश्मीर)
 173 पीहकलिंग (मन.)
 241 पीहगि (ने.)
 182 पीहचिनु (ने.)
 182 पीह नेपाडुनु (ने.)
 144 पीहकलिंगुवा (ने.)
 236 पीहानापर (ने.)
 101 पीहबिकी (ने.)
 10 पीन्द्रा (मं.)
 151 पीरिपुनिजी (ते.)
 151 पीरियाम्बल (मन.)
 250 पीरगांमिन (ते.)
 228 पीरुवनी किङ्गु (ते.)
 142 पीओडल (ते.)
 345 पीकैनेकानन (ने.)
 345 पीगना (मन.)
 213 पीगाडु (ते.)
 20 पीटटी यान
 19 पीट्टाकांची (ते.)
 341 पीट्टुदुवराई (ने.)
 88 पीडवाकिनंगु (मन.)
 236 पीतिरिगे (ने.)
 8 पीयडि (ते.)
 190 पीदपत्री (ने.)
 228 पीदुम (अनम)
 170 पीनकु (ते.)
 190 पीनामवली (मन.)
 190 पीम्विल (ते.)
 351 पीयनी (मं.)
 123 पील्की (मं.)
 23 पीमरोक जैमिन
 114 पीाविनिन (ते.)
 388
 352
 386
 100 फंडायत (मं.)
 316 फनिज (मं.)
 92 फरवा (पंजाब)
 384 फरनिपा (हि. बुनाप)
 304 फारविग साकस्वर
 292 फारगा (हि. और बं.)
 23 फारगा कोली (ड.)
 248 फालना (हि. बं. गं.)
 248 फालनाटेगा (बं.)
 90 फालनी (मं.)
 300 फलिज नट
 220 फोन्ड बीन
 266 फुगा (बम्बई)
 179 फुनिसी (ने.)
 27 फुनवसुद (मुगाटी)
 228 फुनने डीविन
 23 फुनवाडा (हि.)
 311 फुनु (फनिनी रिमानन)
 296 फुनेन (हि.)

फ

387 फुनिन
 12 फुडुगा (अनम)
 267 फुगा (मं.)
 24 फ्रैट विन्टरगोन
 224 फिलकनवीड
 237 फनैकनवीड
 299 फनैक वायट फनेम वृक्ष
 166
 291
 213
 154
 176 बंगान (बं.)
 12 बंगी काठ (नेपाल)
 266 बंगे (क.)
 12 बंडुलगिडा (क.)
 11 बंता (ने.)
 233 बंदरे (क.)
 386 बंदेडु (ने.)
 12 बंसी (उत्तर प्रदेश)
 224 बडफोल (संयाल)
 392 बकरीपती (हि.)
 366 बकान (मं.)
 352 बगडा (ते.)
 352 बगरा (राजस्थान)
 228 बबनाग (बम्बई)
 282 बजराबंगा (पंजाब)
 230 बंजियो (अनम)
 228 बटर फुट
 87 बटवानी (नेपाल)
 219 बड (पंजाब)
 152 बडा रतातु
 389 बडवडी (गं.)
 23 बरडा (क.)
 304 बल्यम-कोली (ते.)
 142 बदनिवा (ते.)
 386 बदनिके (क.)
 23 बदरोज बोपा (पंजाब)
 188 बन बेना (बं.)
 296 बन नरिगा (हि और बं.)
 बन नीकु (हि.)
 बन पिहानु (हि.)
 बनमल्लिका (हि.)
 बनलुंग (हि. बं.)
 7
 100 बनातु (बं.)
 87 बनिग वृक्ष
 87.91 बन्ध (कं.)
 308 बम्बातु (मं.)
 88 बरमुडा मोटर
 90 बरोटा (अनम)
 90 बन्नार (हि.)
 92 बल्लि (ने.)
 90 बमन (मं.)
 176 बमन मूले (क.)
 263 बांदा (हि. मध्य प्रदेश)
 406 बांदीपुगी (अनम)
 90 बांम या बन (हि.)
 209 बांम मुद (हि.)
 289 बांमुक प्रमेग (नेपाल और अनम)
 288 बाउना (निमना)
 169 बास्मकटु पाटीनिया
 288 बागदा चिपटी (बं.)

ब

417

मनजुदा (ते.)	..	11	मिनयार (पंजाब)	..	242	मोतीतिलावान (म.)
मनावक (मल.)	..	139	मियोलाई (त.)	..	28	मोघुरो खालिज्या (उ.)
मनु-गोदू (क.)	..	8	मिरिचरी (उ.)	..	92	मोनक्योरिक (लेपचा)
मनुवु (त.)	..	144	मिगी चारा (उ.)	..	87	मोनबिर (असम)
मन्नवाटी (मल.)	..	266	मीठी गंधवाला ओलिण्डर	..	394	मोरंग (राजस्थान)
मन्मयवाणमु (ते.)	..	189	मीठो ओखरद (गु.)	..	100	मोरगोस (असम)
मन्मदवाणम (त.)	..	182	मीनुमारि (क.)	..	300	मोरां (असम)
मयेंग (जोनसार)	..	218	मुगसी (क.)	..	401	मोलग शिम्ब-नापालै (त.)
मरवि (क.)	..	8	मुगिली (क.)	..	401	मोसाकतु तालै (त.)
मरीला (पंजाब)	..	154	मुगिसी (ते.)	..	401	मोहरा (उड़ीसा)
मलंकारा (मल.)	..	11	मुतमन्दु (ते.)	..	312	मोही (उ.)
मलंगारी (त.)	..	11	मुकाउ (लुशाई)	..	220	मोहिता (असम)
मलङ्काय पेंडलमु (ते.)	..	228	मुक्की (त.)	..	16	म्बारी (हि.)
मलम कीरी (त.)	..	401	मुखतारी (हि.)	..	99	
मलय पादोक	..	211	मुग्घी (सं.)	..	186	
मलविरिघम	..	220	मुचकंद (हि., बं. और म.)	..	219	
मलाटमरा (मल.)	..	115	मुचकुन्द (हि.)	..	218	यष्टि-मधु (सं.)
मलामतोडालि (मल.)	..	220	मुडुदावुदरे (क.)	..	265	यष्टिमधुकम (ते.)
मलीवेम्बु (त.)	..	124	मुड्डुगेनु (क.)	..	225	यष्टि मधुक (क.)
मलैआमडकु (त.)	..	179	मुतीरा (मल.)	..	260	यिनमा (ब्रह्मा)
मलैपचै (त.)	..	16	मुतीवा (मल.)	..	260	युचेलु (त.)
मल्लाङ्गि (क.)	..	237	मुदरि (क.)	..	7	यूथिका (सं.)
मल्लिका (सं.)	..	189	मुरगल (त.)	..	12	यूरिम्बाई-कुडुग (खासी)
मल्लिगे (क.)	..	182	मुरगला (क.)	..	12	यूरोपीय अखरोट
मल्लिंग (त.)	..	187	मुर्चा (बं.)	..	344	यूरोपीय श्वेत कुमुदिनी
मल्ले (ते.)	..	187	मुलिपुलाव (त.)	..	220	यतावा (त.)
मशिपावो (म.)	..	99	मुलिम (पंजाब)	..	115	येनि (ते.)
मस्तारु (हि.)	..	99	मुलेठी (हि.)	..	110	येन्नेमरा (कुर्ग)
मस्सीमरा (क.)	..	388	मुल्लु किलगु (मल.)	..	225	येरीबिक्की (ते.)
महालिकिलगु (त.)	..	296	मुल्लै (त.)	..	182, 186	येरेवेगिरा (ते.)
महारीचोपा (असम)	..	391	मुशतुपी (मल.)	..	230	येरेंचन्दनमु (ते.)
माँची (महाराष्ट्र)	..	314	मुसाली (सं.)	..	138	येरेंवेगिस (ते.)
भाइ लांग फेट्सी (खासी)	..	187	मुस्कुन्दा (बं.)	..	218	येल्लागड्डा (ते.)
माउंटन पसिमन	..	239	मुस्तारु (माचिपल्ली (ते.)	..	99	यैकाडू (म.)
मागडू वेरु (क.)	..	296	मुलि (त.)	..	219	योद्धिका (बं.)
माडल (त.)	..	14	मुसिलम बल्ली किलगु (त.)	..	225	योनमल्लिगा (मल.)
मानकद (म.)	..	228	मुंग (सं.)	..	7	
मान बिजाल (असम)	..	87	महदी (बिहार)	..	317	
मानवान (व्यापार)	..	298	मेई-सोह-स्यांग (खासी)	..	187	
माबोला परिग्यन	..	234	मेढ़ामिगी (हि., बं. और म.)	..	152, 264	रंगकैन (उ.)
मामईलेट (असम)	..	392	मेतोनी (मल.)	..	115	रंगोली-लोटा (असम)
मामुई (असम)	..	393	मेदोनी (मल.)	..	115	रक्तकमल (बं., म.)
मायोरम (त.)	..	309	मेरमिगी (म.)	..	265	रक्त गंधमु (ते.)
मारग चारमती (बिहार)	..	144	मेरु (क.)	..	8	रक्त चंदन (हि., बं., क., उ. और कुमायूँ)
मारंगमाता (बिहार और उड़ीसा)	..	114	मेलमेल्ली (मल.)	..	27	रक्तप (सं.)
मारदामिगी (गु.)	..	152	मेपशुंगी (सं.)	..	152	रक्तपित्तचाली (उ.)
मारबेन (महाराष्ट्र)	..	243	मेहुल (नेपाल)	..	324	रक्तमरा (क.)
मारावा (मल.)	..	300	मेहुरिअफूनी (उ.)	..	115	रक्तगुरुनिगानू (असम)
माराहारानु (क.)	..	176	मैगोस्टीन प्रायल ट्री	..	12	रटाम्बा (म.)
मान-शंगुनी (क.)	..	154	मैडिंग रज	..	140	रतनजोत (गु.)
मानती (हि., मं., बं.)	..	182, 186, 190	मैड एपिल	..	256	रताजलि (गु.)
मानगुनी (त., मल.)	..	259	मोभकुरी (बंगाल)	..	244	रतानू (हि.)
मानावार श्यामकाष्ठ	..	269	मोयन्दर (मध्य प्रदेश)	..	142	रनएरडी (म.)
मानावेम्बु (मल.)	..	124	मोगुवा (असम)	..	386	रनमेथी (म.)
माप्पुनिल (मल.)	..	296	मोगरा (हि., मं., बं. और बम्बई)	..	187, 189	रन-मोगरा (बम्बई)
मागिपत्री (त.)	..	99	मोगली एरंट (म.)	..	176	रनुरल (मंयान)
मागी (गुजरात)	..	345	मोचा चिंगडी (बं.)	..	197	रवुदन (ते.)
मिशनलु (ते.)	..	205	मोच्चा कोटा (मल.)	..	263	रसगरी (नेपाल)
मिदाया (ते.)	..	205	मोच्चे (त.)	..	262	राई (उ., कश्मीर)
मिडिओ (क.)	..	205	मोटा-यगुती (असम)	..	393	राकेट लार्कसार
मिदोना-वरंग (असम)	..	173	मोतिमा (बं.)	..	189	

[illegible]

मुकरी (हि., बं.)	..	90	निगानि (नेपाल)	..	220	सेडी (ते.)
मुकर (पंजाब)	..	167	निगारीहारी (उ.)	..	383	सेतबुरा (हि.)
मुर (पंजाब)	..	167	सिसपा (उ.)	..	270	सेतबुरोसा (हि.)
मुम (निन्दती)	..	8	सिनुपा (ने.)	..	270	सेताकाठा अक (बिहार)
मनकुरानी (त.)	..	112	सिगरी (त.)	..	296	सेनम-सागडा (असम)
मोफानिका (सं., बं.)	..	383	सिट्टागैलुकरा (ते.)	..	124	सेन्यएरा (मल.)
मेरी (उ. प्र.)	..	276	सिट्टाविके (क.)	..	10	सेम (हि.)
मोदीगैदर (बम्बई)	..	287	मिर्तागा (संथाली)	..	92	सेमल्लिंग (त.)
मोन्ना (म.)	..	114	मितमाल (बं.)	..	267	सेम्पुलावो (त.)
ज्वेत गोल्टमोदर	..	309	मिताम्बु (उ.)	..	16	सेरी (हि.)
ज्वेत मान (बं.)	..	267	सितिएसिग (असम)	..	249	सेवाला (बम्बई)
			मिनाया (हि.)	..	317	सोचोपा-टंगा (असम)
			मिपोचिकांग (लेपचा)	..	249	सोजा
			सिमचिन्त (ते.)	..	14	सोनेमाऊ (म.)
			मिमलेन्देद दारु (बिहार और उड़ीसा)	..	114	सोमनी (पंजाब)
			सिन्धनिके (क.)	..	236	सोमपोत्री (उ.)
			सियाह (उत्तर प्रदेश)	..	300	सोया
			सिरगुजा (बं.)	..	118	सोयाबोन
			मिरिखसामानो (संथाल)	..	115	आटा
			सिरिखना (ते.)	..	92	दुग्ध
			मिरुसेरुपी (त.)	..	100	तन
			सिरुटेकू (ते.)	..	294	उपज
			मिरुपुल्लडी (त.)	..	312	कटाई
			सिरुवल्ली किलंगू (त.)	..	225	खली
			सिल्लीओक	..	93	उत्पाद
			सिल्वरओक	..	93	उपयोग
			सिवनारखेवु (त.)	..	143	नासक कीट
			सिबेट फूट	..	326	रोग
			सिसई (हि.)	..	270	जलवायु
			सिसवा (म.)	..	267	भूमि
			सिनुआ (मल.)	..	267	लैसियिन
			सिमु ईटी (त.)	..	270	सोलयपुली (त.)
			सिमु (म. और बम्बई)	267, 270	270	सोह-उम-सिनरांग (खानी पहाड़ियां)
			सिस्सू (ते.)	..	270	सोह-तांग-जोंग (असम)
			सीओली (हि., बं.)	..	383	सोह-फोह (खासी)
			सीताम्बन (मल.)	..	386	सोह-फोह-हेह (खामी)
			सीमहरडू (क.)	..	179	सोहसिग-थेट (खासी पहाड़ियां)
			सीमे हुणसे (क.)	..	14	सोह-सैपुडोंग (खासी)
			सीलकडुम्प (ते.)	..	225	स्ट्रिमोनियम
			सीलोन एवोनी	..	230	सैनिश जैनमिन
			सीसम (गु.)	..	270	स्फुट (सं.)
			सीन् (हि., उ., व्यापार)	..	270	स्मान फेनल
			मुण्डईविकरई (त.)	..	398	स्वर्णजुई (बं.)
			मुतोरोनो (उ.)	..	144	स्वर्णयुयिका (मं.)
			मुघाबूख (सं.)	..	154	स्वार आलू (बं.)
			मुब्दिकन (उ.)	..	386	स्वीट विनियम
			मुखडा (ते.)	..	174	स्टिक बीड
			मुखुजा (हि.)	..	118	
			मुखा (मध्य प्रदेश)	..	282	
			मुरालू (हि.)	..	228	
			मुनगियालू (बिहार और बंगाल)	..	225	
			मूकर (नेपाल)	..	158	हंगरिके (क.)
			मूचीमल्लिका (मं.)	..	186	हदियही (क.)
			मूजिमल्लिंगे (क.)	..	186	हट्टोपेना (नेपाल)
			मूषनी (बिहार और बंगाल)	..	225	हट्टि (क.)
			मूषेयमन (गु.)	..	389	हत्ति (क.)
			मूषेयत (मं.)	..	144	हयिपेना (व्यापार)
			मूह (कम्मीर)	..	123	हय्यमन्निग (क.)
			संदाली केरा (धुम)	..	401	हय्याना (क.)
			संविन (त.)	..	248	हरनी (हि.)
			मेनुम काटी (म.)	..	246	हरपा (सटिया)
						हरगिपार (हि.)

स

सगूरिक (नेपचा)	..	402
सगुदिये (क.)	..	89
संमार (उत्तर प्रदेश, पंजाब)	..	300
सगिपेल्हनाम (मुगाई)	..	220
सतचुन (नेपचा)	..	123
सतपुरा (हि.)	..	317
सतोतलवनी (गु.)	..	144
सदई (त.)	..	398
सदनपा बेदुग (ते.)	..	298
सदाचि (त.)	..	88
सन्नगेरानेहम्बू (क.)	..	152
सन्नजाजि (ने.)	..	182
सदापुष्प (स.)	..	187
सप्पना (सं.)	..	181
सफेद धरड (हि.)	..	176
सफेद देवदार (व्यापार)	..	248
सपा (सूटिया)	..	155
सपा बी मोली (म.)	..	139
सरट (सं.)	..	138
सरली (राजस्थान)	..	23
सन्धिया भांसा (उ.)	..	298
सन्धिकड वा (मुण्डारी)	..	389
सल्ले (क.)	..	114
सबकुमरम (त.)	..	93
सप्रेमिटा (क.)	..	114
साइक (लेपचा)	..	123
साचक (भोटिया)	..	123
सादा हुखुरिया (बं.)	..	144
साधारण फावमन्व	..	277
साने (नेपाल)	..	27
साफट	..	140
सापारोम (मुण्डारी)	..	383
सामा (पंजाब)	..	114
सामाग्य अछरोट	..	159
सामाग्य गुरजन पेट	..	284
सामाग्य हतो बोरुट	..	113
सारियन (हि.)	..	311
सानपन (हि.)	..	311
सानगनी (क.)	..	311
सान पानी (बं.)	..	311
सानपन (हि.)	..	311
सासारमग सोमुरोपिने (क.)	..	114
सानिम्बो भांगी (उ.)	..	298
सानोरोपि (उ.)	..	311
सादे (ते.)	..	99
सिगानाक (भुटान)	..	244
सिगन्यांगुम (नेपचा)	..	27

ह

हंगरिके (क.)	..	158
हदियही (क.)	..	186
हट्टोपेना (नेपाल)	..	186
हट्टि (क.)	..	225
हत्ति (क.)	..	389
हयिपेना (व्यापार)	..	144
हय्यमन्निग (क.)	..	123
हय्याना (क.)	..	401
हरनी (हि.)	..	248
हरपा (सटिया)	..	246
हरगिपार (हि.)	..	

हरा एवोनी पत्तिमन	..	233	हावुराणी (क.)	..	139	हलन-हिक (श्रीलंका)	..	124
हरिण (सं.)	..	7	हावुण (वं.)	..	166	हजिना-पोका (असम)	..	100
हर्गजा (वं.)	..	294	हिगुवा (नेपाल)	..	29	हेगोणसु (क.)	..	228
हर्ब वेनेट	..	157	हिगे (क.)	..	235	हेडगाल (क.)	..	393
हलवा तेंदू (हि.)	..	231	हितकुरा (असम)	..	304	हेडेहागाल (भूसुर)	..	151
हल्दी (म.)	..	20	हिमपुष्प (उ.)	..	24	हेबु अक्किवु कुल्लु (क.)	..	275
हसवा (नेपाल)	..	345	हिमानलयन पंसिल सिडार	..	167	हेबु (क.)	..	224
हसुरगन्नी (क.)	..	266	हिर दखान (गु.)	..	213	हेमपुष्पिका (सं.)	..	190
हसुरमल्लिगे (क.)	..	190	हिरन (हि.)	..	7	होगेसोप्पु (क.)	..	352
हाखा-ओझरमोना (असम)	..	294	हिरक-केटु (पंजाब)	..	239	होनिगा (क.)	..	123
हाइ पाट (बिहार)	..	142	होरा दाखन (म. तथा गु.)	..	295	होने चिगडी (वं.)	..	196
हातिपीला (असम)	..	218	होराडुखी (हि.)	..	295	होत्रे (क.)	..	213, 215
हानिके (नीलगिरि)	..	114	हुवट-पट (असम)	..	92	होमोला-पोटो (उ.)	..	92
हारे सहरा (नेपाल)	..	190	हुचुनेलावेरु (क.)	..	142	होलेतुपरी (क.)	..	235
हाई रश	..	140	हुचुनेड्डु (क.)	..	118	होशा (म.)	..	166
हासंगेम	..	260	हुइरडी (क.)	..	260	होवेरा (हि.)	..	166
हालावलगी (क.)	..	25	हुइरमावा (वम्बई)	..	154	होलेर (पंजाब और कश्मीर)	..	166
हालौग (असम)	..	285	हुइरिया (नागा)	..	123	ह्यासिय वीन	..	262
हालौग गुरजन पेड़	..	285	हुलुल (हि.)	..	144	ह्योसुम व्रंग (लेपचा)	..	391
हाल्ज (कश्मीर)	..	8	हुलेकरा (क.)	..	7			